

151402

151402



वैदिक धर्म

ओ३म्

जनवरी १९४० से दिसम्बर १९४० तक

१० अंक

सहायता करिये।

आपसे प्रार्थना है कि आप हमें वेदप्रचारमें निम्नलिखित सहायता दीजिये।

आपको जिन जिन ऐसे सज्जनोंके नामोंका पता हो कि जो वेद खरीद कर अपने पास रख सकते हैं, उनके नाम संपूर्ण पतोंके साथ हमारे पास शीघ्र भेजिये। जितने अधिक नाम संपूर्ण पतोंके साथ भेजें, उतनी अधिक कृपा होगी।

आपके सब इष्टमित्रों और परिचितों को वेदोंके सहूलियत के मूल्य से लाभ पहुंचाइये। जो सज्जन आपके अपरिचित हों, परन्तु वेदके और वैदिक धर्मके प्रेमी हों, उनके भी नाम संपूर्ण पतोंके साथ भेज दीजिये।

निवेदक--

मंत्री, स्वाध्याय-मण्डल, औंध, (जि. सातारा)

Aundh (Dist. Satara)

वैदिक धर्म का

उपहार अंक

नमस्ते।

"वेदका स्वाध्याय करना और कराना आपका परम कर्तव्य है।"

वेदका स्वाध्याय करने और कराने के लियेहि "वैदिक धर्म" मासिक है। अतः आप इस उपहार अंकको पढिये और "वैदिक धर्म" मासिकका नमूना अंक मंगवाइये। प्रतिमास इस "वैदिक धर्म" मासिकमें वेदके विषयोंका ही प्रतिपादन होता है। अतः आप इसका नमूना अंक अवश्य देखिये।

चारों वेदों के पुस्तक सुन्दर, सस्ते और उत्तम छपकर तैयार हैं। आप शीघ्र ग्राहक बनेंगे, तोहि आपको वे बहुतहि अल्प मूल्यमें मिल सकते हैं। पेशगी सहूलियत का मूल्य भेजनेका समय केवल एक महिना ही है। इसका लाभ आप शीघ्र लीजिये। वेदोंका नमूना-पृष्ठ आप इस उपहार अंक में देख सकते हैं।

तथा कई पुस्तकें वेदों की विद्याका प्रकाश करने के लिये लिखी हैं, जो आप इस अंक में देख सकते हैं। उनका प्रचार करनेमें सहायता करिये।

मन्त्री-स्वाध्याय-मण्डल,
औंध, [जि. सातारा]

सहसंपादक
...कान्तजी वेदालंकार

...शके लिये ६॥) रु.

२२
२२

१-८



वैदिक धर्म।

उपहार अंक

[मासिक पत्र]

संपादक
पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

सहसंपादक
पं० तडित्कान्तजी वेदालंकार

स्वाध्याय-मण्डल, औंध

वार्षिक मूल्य म. आ. से ५) रु. वी. पी. से ५।।) रु. विदेशके लिये ६।।) रु.

विषयानुक्रमणिका



'वैदिक धर्म' के पाठकोंसे प्रार्थना।

इस पत्रके साथ 'वैदिक धर्म' का उपहार अंक आपकी सेवामें भेजा है। उसे पढनेकी कृपा करिये।

स्वाध्याय-मण्डलने चारों वेदोंका शुद्ध और सस्ता मुद्रण करनेका कार्य प्रारम्भ किया है, तथा अन्यान्य शाखासंहिताएं तथा ब्राह्मणआरण्यकादि उपनिषद् पर्यंत के सब वैदिक वाङ्मय के ग्रंथ तथा वेदके अङ्गोपाङ्गादि सब ग्रंथ भी छापने हैं। इसका विवरण और वेदसंहिताका विवेचन आप 'स्वाध्याय-मंडलका परिचय इस लेखमें पढ सकते हैं। उसके पढनेपर आपको विदित होगा कि स्वाध्याय-मण्डल वैदिक धर्मका कितना महान् कार्य कर रहा है। अतः आप स्वाध्यायमंडलके स्थिर सदस्य बनकर मण्डलकी सहायता करिये। यदि केवल चारों वेदोंके उत्तम और सुन्दर ग्रंथही आपको चाहिये, तो केवल ९॥) साढे नौ भेजकर आप मंगवा सकते हैं।

अब 'यजुर्वेद' 'अथर्ववेद' और 'सामवेद' ये ३ संहिताएं तैयार हैं। 'ऋग्वेद-संहिता' भी छपकर तैयार हुई थी, परन्तु इसकी प्रथम बार की सब प्रतियां समाप्त हो गई हैं, इसलिये अब 'द्वितीय' बार का मुद्रण-कार्य चल रहा है।

हमारे यहां संपूर्ण सचित्र महाभारत छपकर तैयार है, नमूनापृष्ठ और विज्ञापन पढिये। आप सहूलियतसे यह मंगा सकते हैं। सहूलियतके नियम मंगाइये। मण्डल के अन्य सब ग्रंथों का सूचीपत्र अन्तमें है, उसे पढकर आप उसमेंसे चाहे सो पुस्तकें मंगा सकते हैं।

हमें दृढ आशा है कि आप अपनी आर्डर शीघ्र भेजकर अनुगृहीत करेंगे।

प्रबन्धकर्ता—स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि. सातारा)

वैदिक सम्पत्ति।

(द्वितीय संस्करण)

[लेखक- स्व० पं० साहित्यभूषण रघुनन्दन शर्माजी]

इस अपूर्व पुस्तकके विषयमें श्री० स्वा० स्वतन्त्रानंदजी महाराज, आचार्य उपदेशक महाविद्यालय, लाहौरकी संमति देखिये- "यह पुस्तक अत्यंत उपयोगी है। वेदकी अपौरुषेयता, वेदका स्वतःप्रमाण होना, वेदमें इतिहास नहीं है, वेदके शब्द यौगिक हैं, इत्यादि विषयोंपर बडी उत्तमतासे विचार किया है। मैं सामान्य रूपसे प्रत्येक भारतीयसे और विशेष रूपसे वैदिक धर्मियोंसे प्रार्थना करता हूं कि वह इस पुस्तकको अवश्य क्रय करें और पढें। इस पुस्तकका प्रत्येक पुस्तकालयमें होना अत्यंत आवश्यक है। यदि ऐसा न हो सके, तो भी प्रत्येक समाज में तो एक प्रति होनीहि चाहिये।"

विशेष सहूलियत।

वैदिक सम्पत्ति।	मूल्य ६)	डा० व्य० १।)	मिलकर ७।)
अक्षर-विज्ञान।	मूल्य १)	डा० व्य० ।=)	मिलकर १।=)

परन्तु मनीआर्डरद्वारा ७।) भेजनेसे दोनों पुस्तकें विना डाकव्यय मिलेंगीं।

वैदिकधर्म

उपहार अंक

ईश्वर ।

यत्र ऋषयः प्रथमजा ऋचः साम यजुर्मही ।
एकर्षिर्यस्मिन्नार्पितः स्कम्भं तं ब्रूहि ।
कतमः स्विदेव सः ॥

(अथर्व० १०-७-१४)

"(प्रथमजाः ऋषयः) प्रथम उत्पन्न हुए ऋषिगण, तथा ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और महती विद्या और एक ऋषि जिस में स्थिर हुए हैं, उसी को (स्कम्भं) सर्वाधार ईश्वर कहो, वही अत्यन्त सुख देनेवाला है ।"

सब ऋषि, सब ज्ञान और सब विद्याएं परमेश्वर में हैं वही सबका आधार है और सुखका आधार भी है ।

अपने पांवके पास देखो।

बहुत पाठक हमें वारंवार पूछते हैं कि, मुक्ति के पश्चात् क्या होता है? सृष्टिके प्रारम्भमें क्या था? इत्यादि। इस तरह के प्रश्न पूछनेसे लाभ क्या होता है, यह हमारे समझमें नहीं आता।

जिस समय मनुष्य बद्ध है, उस समय मुक्ति के साधन का ही विचार करना चाहिये। बद्ध स्थितिमें रहते हुए और अपनी मुक्तिके साधनों का विचार न करते हुए, केवल ऐसी अवस्था का विचार करना कि जो शीघ्र प्राप्त नहीं होगा, हमारे ख्यालमें केवल पिष्टपेषण है।

हमारा पाठकोंसे अनुरोध है कि पाठक ऐसे प्रश्न पूछनेमें अपना समय न गमावें। इससे कोई लाभ नहीं। परन्तु जिनकी आवश्यकता नहीं है, ऐसी बातोंमें समय व्यर्थ गवानेसे बहुत ही हानि है। इस प्रकारकी हानियोंसे पाठकों के कष्ट ही बढनेवाले हैं।

इसलिये पाठक सचमुच यदि विचार करना चाहते हैं, तो वे आजकी अपनी परिस्थितिका विचार करें, आज के कष्ट दूर करने का यत्न करें। अपने पांवके नीचे क्या है, इसका विचार करें, अपने सुधारका यत्न करें। इसी का नाम आत्मज्ञान है।

कई लोग कहते हैं कि आत्मज्ञान का अर्थ आत्मा का ज्ञान है। यह अत्यंत संकुचित अर्थ है। आत्मज्ञान का अर्थ है, अपने शरीर, इंद्रिय, मन, बुद्धि, आत्मा का ज्ञान, तथा अपने बाहर का जो विश्व है, उसका ज्ञान। यह सब आत्मज्ञानमें समाविष्ट होता है। अर्थात् आत्मज्ञान में सब विद्याएँ आ जाती हैं।

यदि पाठकों के शरीर रुग्ण हुए हैं, तो वह आत्मज्ञान न होनेके कारणहि रुग्ण हुए हैं। यदि उनको आत्मज्ञान होता, तो उनको शरीर का ज्ञान होता और शरीर नीरोग किस तरह रह सकता है, रोगी क्यों होता है, रोगनिवृत्ति किस रीतिसे होती है, यह सब शरीरविद्या से प्राप्त होने वाला ज्ञान उनको होता।

परन्तु आज ऐसा समझते हैं कि शरीरविद्या कुछ और है और आत्मज्ञान कुछ और है। इसलिये जिनको आत्मज्ञानी कहते हैं, उनको शरीरविद्या के साथ अपना कुछ भी संबंध नहीं है, ऐसा भ्रम होता है। यह सब अवैदिक प्रथा है और यही दुःखका हेतु है।

उसी तरह समाजव्यवस्था और राष्ट्रव्यवस्था भी आत्मज्ञानका ही भाग है। पाठकोंने 'विश्वं विष्णुः' यह संपूर्ण विश्वही विष्णु है, यह बात ईश्वरसाक्षात्कारके लेखमें जान ली होगी। यदि सब विश्वही विष्णु तथा आत्मा है, तब आत्मज्ञान में समाजव्यवस्था और राज्यव्यवस्था का समावेश नहीं होता, ऐसा किस तरह माना जा सकता है? अर्थात् यद्यपि आजकल समाज और राष्ट्रकी बातें आत्मज्ञानसे बाहर हैं, ऐसा समझा जाता है, तथापि वैदिक रीतिसे और ऋषियों की दृष्टिसे ये सब बातें आत्मज्ञान के अन्दर संमिलित हैं।

इससे पता चल सकता है कि आजकल के विचार वैदिक विचारसरणीसे कितने और कैसे दूर हैं। आत्मज्ञानमें संपूर्ण और अखण्ड मानवी जीवन का ही समावेश होता है, यह जानना चाहिये।

इस तरह आत्मज्ञान की व्याप्ति जानने के पश्चात् निःसन्देह विदित होगा कि, हमारा सब सुख तथा दुःख, आत्मज्ञान और आत्मज्ञान के अभाव के साथ संबंध रखता है। हरएक क्षेत्रमें आत्मज्ञान से सुख और उसके अभाव से दुःख होता है। इसलिए मुक्ति के पश्चात् और सृष्टि के आरम्भ की स्थिति का विचार करनेमें अपना समय गमाने की अपेक्षा यदि पाठक अपने पांवके पासकी स्थितिका अवलोकन करेंगे और उस स्थितिमें दुःखनिवृत्ति के लिये आत्मज्ञान की प्राप्ति का यत्न करेंगे, तो उनका अधिक हित होगा।

स्वाध्याय-मण्डल का परिचय।

स्वाध्याय-मण्डलके उद्देश्य।

(१) प्राचीन शुद्ध सनातन वैदिक धर्म के मूल आधारभूत वेदों को हिंदूमात्र के घर पहोंचाना।

(२) इसके लिए हिन्दू जनतासे आर्थिक सहायता प्राप्त कर जहाँतक हो सके वेदके ग्रन्थों को सस्ते से सस्ते छापकर प्रकाशित करना और हो सके, तो मुफ्त बांटने की व्यवस्था करना।

(३) सनातन वैदिक धर्म के अलभ्य ग्रन्थों को ढूंढना, व प्राप्त ग्रंथों को शुद्ध व सुंदर छापकर उनका सरल अनुवाद करवाकर प्रकाशित करना।

(४) वैदिक तत्त्वज्ञान का प्रचार करनेके लिए भिन्न भिन्न भाषाओंमें मासिक तथा पुस्तकें प्रकाशित करना व हो सके तो हिन्दुस्थान के अलग अलग प्रांतों में स्वाध्याय-मण्डल की शाखायें स्थापित करना।

(५) सनातन वैदिक धर्मपर होनेवाले आक्षेपों को दूर करना।

(६) सनातन वैदिक धर्म का देशदेशांतर में प्रचार करना।

प्रारंभिक कुछ शब्द।

विज्ञानके इस बढते हुए युगमें जडवादने चेतनवाद (अध्यात्मवाद) में प्रायः अनास्था पैदा कर दी है। आजकल के पाश्चात्य शिक्षण प्राप्त किए हुए लोग ईश्वर, आत्मा, धर्म आदि वस्तुओं को मानवजाति की एक निरी कल्पना समझते हुए उसे धतींग व ढकोसला मानने लगे हैं। ऐसी अवस्थामें धर्म का सत्य स्वरूप बतानेका प्रयत्न करनेवाली, प्राचीन ऋषिमुनियों के बौद्धिक व आध्यात्मिक चमत्कार दिखलाने का प्रयत्न करनेवाली संस्थाके प्रति पढी-लिखी जनता का अभीतक पूर्ण रूपसे ध्यान आकर्षित न हुआ हो, यह स्वाभाविक ही है।

परंतु अब जैसे जैसे केवल विज्ञान की सहायता से, जडवाद से होनेवाली हानियां प्रत्यक्ष होती जा रही हैं, वैसे वैसे लोगों का ख्याल अध्यात्मवाद की ओर स्वयमेव खींचता चला आ रहा है। जनता उसके अभाव को धीरे धीरे अनुभव करने लगी है।

प्रायः सभी लोगों का ख्याल है कि धर्म मनुष्य के केवल आध्यात्मिक पहेलू को सुलझाने का एकमात्र साधन है। परंतु यह ख्याल सरासर गलत है। धर्म व्यक्ति, समाज, जाति, देश, राष्ट्र व तमाम विश्व से सम्बन्ध रखता है और हरेकको अपना अपना कर्तव्य दिखलाता है। धर्म के बिना एक क्षण भी रहा नहीं जा सकता। अशांति का मतलब ही धर्म के विरुद्ध आचरण करना है। संगठन का एकमात्र साधन भी धर्म ही है। इसके प्रत्यक्ष उदाहरण इसलाम और ईसाइयत हैं।

स्वाध्याय-मण्डल की स्थापना का उद्देश्य धर्म का वास्तविक स्वरूप जनता के समक्ष रखने के अलावा यह भी था, कि प्रचलित मतमतांतरोंकी वजह से छिन्नभिन्न हिन्दू जाति को उसके वास्तविक धर्म का भान कराते हुए, उसे सनातन वैदिक धर्म की ध्वजा के नीचे एकत्रित व संगठित करना और इसके लिए वेद आदि धर्मग्रन्थों का प्रचार करके उससे हिंदूमात्र को परिचित कराना।

आजकल ईसाइयत के धार्मिक पुस्तकों का प्रचार करने के लिए बाईबल सोसायटी नामक एक जबरदस्त संस्था मौजूद है। उसकी १०० वर्ष की जिंदगीमें लगभग ५० करोड पौंड उसे बाईबल का देशदेशांतर में प्रचार करने के लिए दिया गया है। ईसाइयत का प्रचार न सिर्फ धार्मिक संगठन की दृष्टिसे ही होता है, बल्कि धर्मप्रचार की आडमें जबरदस्त राजनैतिक संगठन किया जाता है।

मुसलमान धर्म की वजह से कितने सुसंगठित हैं, यह तो किसी से भी छिपी हुई बात नहीं है। कुराने शरीफ को सुंदर से सुंदर छापने के लिए मुसलमान जनता तथा मुसलमानी रियासतें पानी की तरह पैसा बहाती हैं।

परन्तु जब हम हिन्दूओं की ओर दृष्टिपात करते हैं, तो सर्वथा विपरीत पाते हैं। यह बात नहीं है कि हिन्दूओंके पास धन नहीं है, यह भी बात नहीं कि हिंदू धार्मिक श्रद्धा से विहीन हैं, और नहीं यह बात कि हिन्दू लोगों में दान-वृत्तिकी कमी है। दान देने में हिंदू लोग शायद ही किसीसे पीछे रहते हों। परन्तु बात यह है कि हिंदू-धर्म की दान-धारा विपरीत बह रही है। उसमें धार्मिक ऐक्य का सर्वथा अभाव होनेसे आज ऐसी विकट परिस्थिति खडी हो गई है कि, प्राचीन सनातन वैदिक धर्म के मूल आधारभूत चार वेद भी शुद्ध छपे हुए भारतवर्षमें मिल नहीं सकते। उन्हें प्राप्त करने के लिए विदेशियों की शरण में जाना चाहिए। इससे ज्यादा हमारे लिए और शोकजनक बात क्या हो सकती है?

विदेशों में जो वेद मिलते हैं, वे इतने अधिक कीमती हैं कि उनका संग्रह करना जैसे तैसे आदमी का कार्य नहीं। उदाहरणार्थ—

प्रो० मोक्षमूलरभट्ट द्वारा ओक्सफोर्ड युनिवरासिटी में प्रकाशित मूल ऋग्वेद-संहिताका मूल्य १००) रुपये है; और संस्कृत सायणभाष्य सहित ऋग्वेदका मूल्य २५०) रुपये है।

इसी तरह जर्मनी में प्रकाशित स्वररहित अथर्ववेद-संहिताका मूल्य ५०) रुपये है;

और वहीं से अथर्ववेद की पिप्पलाद शाखा का मूल्य ३००) रुपये है।

इसी तरह अन्यान्य पुस्तकों की भी यही हालत है। पूर्ण रूप से तो कहीं से कुछ मिलता ही नहीं। भारतवर्ष में इस विषय में आजतक जो भी थोडा बहुत प्रयत्न किया गया है, वह अपूर्ण व असन्तोषजनक है।

हमारी इस विवशता व परवशता तथा लज्जास्पद स्थिति को दूर करने के लिए ही खास तौर से स्वाध्याय-मण्डल की स्थापना की गई थी। स्वाध्याय-मण्डल इस विषय में कहांतक सफल हुआ है, तथा उसे इस विषय में जनता ने कहांतक साथ दिया है, यह सब आगे दिए गए वृत्तांत से स्पष्ट हो जायगा।

इस वृत्तांत को पढने के बाद इस सम्बन्ध में सबका अपना अपना क्या धार्मिक कर्तव्य है, यह हरेक व्यक्ति स्वयमेव समझ सकता है। अतः उस विषय में यहांपर विशेष न कहते हुए आगे छपा हुआ स्वाध्याय-मंडलका परिचय पढनेकी हम पाठकोंसे प्रार्थना करते हैं।

स्वाध्याय-मण्डल।

(वैदिक तत्त्वज्ञानप्रचारक संघ)

स्थापना- संवत् १९७५, ई० सन १९१८.

वेद सब सत्य विद्याओंका मूल है। वेद का पढना पढना आर्योंका परम कर्तव्य है। मनु महाराज भी लिखते हैं कि-

वेदमेव सदाभ्यस्येत् तपस्तप्स्यन् द्विजोत्तमः।
वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते ॥
योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥

(मनु० २।१६६-६७)

वेदमेवाभ्यसन्नित्यं यथाकालमतन्द्रितः।
तं ह्यस्याहुः परं धर्ममुपधर्मोऽन्य उच्यते ॥

(मनु० ४।१४७)

सनातन वैदिक धर्मका मूल आधार-ग्रंथ अनादि पवित्र वेद हैं। उनको पढे बिना इस धर्मका ज्ञान होना संभव नहीं। इसीलिए वेदोंका पढना द्विजों (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) का अनादि कालसे परम धर्म माना गया है। तदनुसार अपने धर्मग्रन्थ पवित्र वेदोंका यथामति अध्ययन करके उसके पवित्र ज्ञानको दूसरों तक पहोंचानेके ज्ञानयज्ञ को कायम रखने के लिए व इस लेखके प्रारंभमें बताये गये उद्देश्योंको कार्यमें परिणत करने इच्छा से **वि० संवत् १९७५ तदनुसार ई० सन् १९१८ के मई मासकी २० वीं तारिखको स्वाध्याय-मण्डल की 'औंध' में स्थापना की गयी।**

औंध (Aundh)।

औंध, दक्षिणभारत के सातारा जिलेमें स्थित 'औंध' नामकी देशी रियासत की राजधानी है। पूनासे यह स्थल ९० मील है। औंध आनेके लिये औंध स्वयं रेल्वेस्टेशन न होनेसे मदरास एण्ड सदरन मराठा रेलवे के रहिमतपुर (Rabimatpur) नामक स्टेशनपर उतरन.

पडता है। बंबईसे आते हुए पूना गाडी बदलनी पडती है। बंबईसे पूना आनेवाली प्रायः सभी गाडियों का इस रेलवे से संबंध रहता है। अतः रास्तेमें कहीं भी ठहरनेकी तकलीफ नहीं पडती। बंबईसे सीधा रहिमतपूर का टिकिट लेनेसे सिर्फ ४।) लगते हैं। रहिमतपुर स्टेशन पर उतरतेहि वहांसे १४ मील दूर औंध आनेके लिए मोटर तैयार मिलती है, जो ।≈)में औंध ले आती है। इस प्रकार स्वाध्याय-मण्डलको देखने आनेवाले सज्जनों को किसी प्रकार का कष्ट उठाना नहीं पडता।

स्वाध्याय-मण्डल के लिये 'औंध' क्यों चुना गया?

भारतवर्षके बडे बडे समृद्ध शहर छोडकर औंध जैसे एकांत शहरको चुननेकी खास वजह एक तो यह थी, कि यहांपर शहरों जैसी चहलपहल तथा शोरशाबा नहीं था। वैदिक साहित्य का स्वाध्याय व संशोधन करने के लिये आवश्यक शांति तथा निश्चिंतता दोनोंहि यहांपर अनायास प्राप्त थे। यहांपर रहते हुए स्वाध्याय के लिये जहां समय पर्याप्त मिल सकता था, वहां बहुतहि थोडे खर्चसे सांसारिक व्यवहार चल सकते थे। औंध एक छोटीसी पहाडीपर बसा हुआ होनेसे प्रायः गरमियोंके दिनोंमें खास गरमी भी नहीं पडती।

इसके अलावा यह पसंद करनेमें एक मुख्य बात यही भी थी कि स्वाध्याय-मण्डल के प्रारंभिक दिनों में उसे ऐसे भी किसी आश्रयदाता की जरूरत थी कि जो समय समयपर सभी तरहसे प्रोत्साहन देता रहे व जिसकी इस कार्यके साथ सहानुभूति भी हो।

श्रीमान् नरेश श्री भवानराव श्रीनिवासराव पंडित, प्रतिनिधि, B. A., राजासाहेब संस्थान औंध, ऐसेहि एक यजुर्वेदी ब्राह्मण नरेश हैं, जो खुद विद्याविलासी होते हुए वेदप्रेमी व आर्यसभ्यता के पुरस्कर्ता हैं। उनकी सहानुभूति सर्वदा स्वाध्याय-मण्डलके साथ रही है और उन्होंने स्वाध्याय-मण्डल को एक अच्छी सी रकम देकर आर्थिक मदद भी की है।

स्वाध्याय-मण्डलके संस्थापक।

श्रीयुत श्रीपाद दामोदर सातवलेकरजी।

वैदिक धर्म व उसके साहित्य की दुर्दशा देखकर आपने अपने दिलमें दृढ निश्चय किया कि किसी भी तरह इसका उद्धार करना चाहिए और अन्य धर्मों के साहित्य की तरह वैदिक धर्म का साहित्य भी सुलभ होकर उसका हिंदुमात्र के घर घरमें प्रचार होना चाहिए। इसके लिए आपने सबसे पहले अपने प्राप्त आर्थिक प्रलोभनोंका त्याग करके, अपने पास जो कुछ भी था उससे, जैसे कि ऊपर कहा गया है, औंधमें आकर स्वाध्याय-मण्डलकी स्थापना की।

आप वर्तमान वैदिक विद्वानोंमें एक वेदके असाधारण विद्वान् समझे जाते हैं। इसीलिए जनताने अनेकवार वैदिक सम्मेलनों का सभापति बनाकर आपका अपूर्व स्वागत किया है। स्वाध्याय-मण्डल द्वारा प्रकाशित तमाम ग्रन्थ आपहीने लिखे हैं। उनके पढनेसे आपकी विद्वत्ता का ख्याल बडी आसानीसे आ सकता है।

शुरु शुरुमें आप अपने सतत ३० वर्षके वैदिक स्वाध्याय का लाभ लोगोंको घूमघूम कर देने लगे व स्वाध्याय-मण्डल का जनता को परिचय कराने लगे। अपने प्रचार को ज्यादा स्थिर बनानेके लिए आपने प्रारम्भमें 'संस्कृत-स्वयं-शिक्षक' तथा वेद पढनेके लिए 'वेदका स्वयंशिक्षक' ऐसी दो पुस्तकें लिखीं। इसके पश्चात् इस कार्य को और अधिक वेग देने के लिए आपने एक 'वैदिक धर्म' नाम का मासिक भी शुरू किया।

इस प्रकार जैसे जैसे जनता स्वाध्याय-मण्डल के परम उपयोगी कार्यों व सेवाओंसे परिचित होती गई, वैसे वैसे स्वाध्याय-मण्डलके कार्यको वेग मिलता गया। आज २१ वर्ष की इस संस्थाने कितना कार्य किया है तथा उससे वैदिक धर्म की कितनी सेवा हुई है, इसका अनुमान आगे दिये गये वृत्तांतसे कोई भी अनायास कर सकता है।

पुस्तक-प्रकाशन।

स्वाध्याय-मण्डल की स्थापना हुए २१ वर्ष हो गये। इस समय दर्म्यान इस मण्डलद्वारा प्राचीन वैदिक साहित्य-सम्बन्धी जो जो पुस्तकें प्रकाशित की गई हैं, वे सब

मौलिक (Original) होती हुई अत्यन्त लोकप्रिय तथा स्थिर साहित्य में अभिवृद्धि करनेवाली सिद्ध हुई हैं। इन पुस्तकोंके विषयमें जिन्हें विस्तारसे पता करनेकी इच्छा हो, वे स्वाध्याय-मण्डल द्वारा प्रकाशित पुस्तकोंका बडा सूचीपत्र देख सकते हैं। यहांपर कुछ का संक्षिप्त परिचय कराया जाता है।

(१) सचित्र संपूर्ण महाभारत- १८ पर्वोंका यह महाभारत जिसमें लगभग १ लाख जितनी श्लोकसंख्या है, शुद्ध व सरल हिन्दी भाषाके अनुवाद के साथ अलग अलग १० जिल्दोंमें पाठकोंके सुभीते के लिए प्रकाशित किया गया है। इस विशालकाय महाभारत की ११ हजार पृष्ठसंख्या है, तथा ३० सेर पक्का वजन है। इसके अलावा इसमें अनेक रंगीन तथा सादे भिन्न भिन्न घटनाओं को दर्शानेवाले चित्र हैं। संक्षेप में आजतक जितने भी महाभारत छापे गये हैं, उन सबमें यह अजोड है। महाभारत के शोखिनोंके लिये तथा पुस्तकालयोंके लिये वस्तुतः संग्रह करनेलायक पुस्तक है।

वैदिक साहित्य का अध्ययन करनेवाले तथा उसमें रस लेनेवालों के लिये महाभारत का पढना नितांत आवश्यक है। क्योंकि व्यासमुनिजीने वेदोंके अर्थों को सुगम व स्पष्ट करनेके लिये इस विशाल ग्रन्थकी रचना की थी। इसीलिये इसके विषय में कहा गया है कि 'भारतव्यपदेशेन ह्याम्नायार्थश्च दर्शितः'। इस प्रकार इसकी जितनी भी प्रशंसा की जाय थोडी है।

(२) महाभारत-समालोचना- महाभारतमें वर्णित अनेक घटनाओं, स्थलों तथा अनेक विवादास्पद जातियों पर इसमें युक्तियुक्त विद्वत्तापूर्ण प्रकाश डाला गया है। जिसने भी एक वार इस समालोचना को पढा है, उसने इसकी मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा की है।

(३) श्रीमद्भगवद्गीता- स्वाध्याय-मण्डल का दूसरा अजोड कार्य 'पुरुषार्थबोधिनी भाषाटीका समेत भगवद्गीता' का प्रकाशन है। लगभग १००० पृष्ठोंकी यह पुस्तक तीन भागों में विभक्त की गई है। आपने अनेक गीताओं के भाष्य देखे होंगे तथा अनेक पढ डाले होंगे, परंतु फिर भी इस में जो विशेषता है, वह आपको कहीं भी नजर नहीं आएगी। इस पुरुषार्थबोधिनीमें गीतावचनों के साथ तुलना करने के लिए अनेक वेदवचन स्थान स्थान पर उद्धृत किये गये हैं। यदि इनको क्रमशः इकट्ठा किया जाय, तो नई वेदगीता तैयार हो सकती है। यह इसकी एक खास विशेषता है। आजतकके अन्य गीता के भाष्यों में गीताके वचनोंकी तुलना सिर्फ उपनिषदों और स्मृतियों के वचनोंसे ही की गई है। वेदसे किसीने भी नहीं की। इस सबके अलावा भाषा आदि की सरलता के कारण यह गीता इतनी अधिक रोचक हुई है कि, एक वार पढना प्रारम्भ करनेपर फिर बीच में छोडने की जरा भी इच्छा नहीं होती।

(४) अथर्ववेद-भाष्य- वेदभाष्यके लिये वेदप्रेमियों की अवारनवार मांगें आती रहने से सबसे प्रथम अथर्ववेद का भाष्य तैयार किया गया। वेदोंके भाष्य तैयार करनेमें कितनी कितनी रुकावटें हैं, इस बात को विद्वान् पाठक भली भांति जानते हैं तथा समझते हैं। वेदोंके सच्चे भाष्य तैयार करने के लिए आवश्यक साधनग्रंथ कहीं भी उपलब्ध नहीं। फिर भी इन सब कठीनताओंमें से पसार होते हुए यह भाष्य तैयार करने का प्रयत्न किया गया है।

इस भाष्यमें मंत्रों का केवल शब्दार्थ न देते हुए भावार्थ तथा विशेष स्पष्टीकरण भी दिया गया है। इस से भाष्य अत्यन्त स्पष्ट और सरल हुआ है। इस में नानाविध विषय यथा रोगचिकित्सा, राजकारण, समाजकारण आदि लगभग तीनसौ विषयोंपर प्रकाश डाला गया है। वेदों के सम्बन्ध में नवीन शोध करने की इच्छा रखनेवालों के लिये तथा वेदोंमें क्या है, यह जानना चाहनेवालों के लिए यह भाष्य अत्यन्त उपयोगी है।

उपनिषद्-ग्रंथमाला- अबतक 'ईश' और 'केन' ये दो उपनिषदें भाष्यसहित तैयार हुई हैं। अन्य उपनिषदें भी इसी तरह प्रकाशित करने का प्रयत्न हो रहा है। इन उपनिषदों का भाष्य अपने ढंग का नया है, जो उपनिषदों के विषय में श्रद्धा उत्पन्न करता है।

केनोपनिषद् के भाष्य की विशेषता यह है कि, इस उपनिषद् की तुलना अथर्व-वेद के 'केन' सूक्त के साथ की गई है। इस प्रकार यह अथर्ववेदीय 'केन' सूक्त मौलिक अर्थ व वैदिक मूल सूक्त के साथ जनता के सामने रखने का प्रयत्न किया गया है। ये दोनों उपनिषदें अपनी

अपनी विशेषता लिए हुए खूब लोकप्रिय सिद्ध हुई हैं।

(६) योगसाधनमाला- इस मालाकी तमाम पुस्तकें एकसे एक बढिया हैं। इनकी जितनी भी प्रशंसा की जाय थोडी है। इस माला में संध्योपासना, ब्रह्मचर्य, आसन, योगसाधन की तैयारी, सूर्यभेदनव्यायाम इत्यादि पुस्तकों का समावेश होता है। इस माला की पुस्तकों की रातदिन सतत मांग ही सिद्ध करती है, कि वे जनता को कितनी अधिक प्रिय व लाभदायक सिद्ध हुई हैं।

उक्त पुस्तकों के अतिरिक्त स्वाध्याय-मण्डलने अन्यान्य बहुतसी छोटी मोटी पुस्तकें जैसे कि 'संस्कृत-स्वयं-शिक्षक', 'वेद-स्वयं-शिक्षक' इत्यादि का समय समय पर प्रकाशन किया है, जिनके बारेमें स्वाध्याय-मण्डलसे पता किया जा सकता है।

वैदिक धर्म (शुद्ध सनातनधर्म) के साहित्य के प्रचारार्थ स्वाध्याय-मण्डल 'वैदिक धर्म' नामक मासिक का भी प्रकाशन करता है। गत २० वर्षों में इस मासिक के द्वारा करीब करीब २५००० पृष्ठ वेदसम्बन्धी लेखों से भरे हुए जनता के सामने उपस्थित किये जा चुके हैं। जनताने भी इसका हार्दिक स्वागत किया है।

गत २१ वर्षों में साधारण से मूल धन से स्वाध्याय-मंडलने लगभग ६-७ लाख रुपयों की, ऊपर बताये अनुसार किताबें छापकर जनता में उनका प्रचार करते हुए वैदिक धर्मकी सेवा की है। इस समय भारतवर्ष के प्राय: सभी बडे बडे प्रांतों यथा महाराष्ट्र, मध्य-भारत, संयुक्त प्रांत, पंजाब, सीमाप्रांत, राजपुताना, बृहद् गुजरात, काठीआवाड, सिंध तथा बंगालके मुख्य मुख्य शहरोंमें स्वाध्याय-मण्डल की पुस्तकें पहोंच चुकी हैं। इतनाहि नहीं, अफ्रीका तक भी स्वाध्याय-मण्डल का नाम व कार्य पहोंच चुका है। इसके अलावा स्वाध्याय-मण्डल की कई भिन्न भिन्न पुस्तकों के हिंदुस्थान की अनेक उर्दू, सिंधी, गुजराती, कानडी, तेलगु आदि भाषाओंमें अनुवाद भी हुए हैं। ये सब बातें स्वाध्यायमंडल के प्रकाशन की कितनी ज्यादा लोकप्रियता है, यह सिद्ध करती हैं।

वेदभाष्य तैयार करनेमें कठिनता।

साधारण जनता को वैदिक साहित्य का महत्त्व दिखाते हुए इसकी ओर आकर्षित करने के पश्चात् स्वाध्याय-मण्डल के लिए अपने उद्देश्य के अनुसार यह आवश्यक था कि वह शीघ्रातिशीघ्र वेदों का भाष्य तैयार करके लोगोंके सामने रखे। स्वाध्याय-मण्डलने अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए सबसे प्रथम अथर्ववेद का भाष्य तैयार भी किया। परन्तु इस भाष्य को तैयार करते हुए जो जो अनेकविध कठिनतायें उत्पन्न हुईं, उनमें सबसे मुख्य तथा बडी यह थी कि वेदों की शुद्ध संहितायें कहीं से भी उपलब्ध नहीं होतीं थीं। इसी तरह वेदोंके शाखाग्रन्थ तथा भाष्य के लिये आवश्यक साधन-ग्रन्थों का भी अभाव था। ऐसी अवस्थामें भाष्य करने के कार्य को एक ओर रखकर सबसे पहले शुद्ध वेद तैयार करने का विचार किया गया।

शुद्ध वेद छापनेका कार्य।

वेदों की शुद्ध संहितायें छापनेसे पूर्व आजतक जहां जहां वेद छपे हैं, उनका पता किया गया। आश्चर्य और दुःख की बात तो यह है कि भारत वेद-धर्मानुयायियोंका गढ होते हुए भी भारतवर्ष की अपेक्षा युरोपमें ही अधिक शुद्ध तथा सुन्दर छपे हुए कुछ वेद प्राप्त हुए। परन्तु पूर्ण शुद्धता की कसौटी में वे भी उतर सकें ऐसे न थे। ऐसी हालत में स्वाध्याय-मण्डलने तमाम भारतवर्ष छानबीन-कर सौ सौ वर्षसे भी अधिक प्राचीन हस्तलिखित संहितायें प्राप्त कीं। वेदों को वंशपरंपरासे याद करते चले आनेवाले वेदपाठी तथा घनपाठियों को जमा किया और इन सबकी सहायता से हजारों रुपये खर्च कर बडी बडी कठिनताओं का मुकाबला करते हुए अन्तमें शुद्ध वेदों का पता कर उन्हें छापा। इस समय चारों वेद शुद्ध, सुन्दर तथा सस्ते छपे हुए, अच्छी जिल्दवाले, बहुतही थोडे मूल्यमें स्वाध्याय-मण्डल से मिल सकते हैं।

विदेशोंमें छपे हुए जो वेद मिलते हैं, वे इतने ज्यादा कीमती हैं कि सर्वसाधारण वेदप्रेमी भारतवासी उन्हें किसी भी सूरतमें खरीद नहीं सकते। भारतवर्षमें आजकल जो वेद छपे हुए मिलते हैं, वे जहां कीमतमें थोडे सस्ते हैं, वहां उनकी छपाई, जिल्द तथा शुद्धता किसी कामकी नहीं।

स्वाध्याय-मण्डलद्वारा प्रकाशित वेदों की लोकप्रियता का इसीसे अनुमान किया जा सकता है, कि ऋग्वेद छापने

के ३ महीने बाद ही समाप्त हो गया और इस कारण स्वाध्याय-मण्डल को उसे फिर दुबारा छापने की जरूरत पडी।

वस्तुतः हिन्दुओं की जनसंख्याको लक्ष्यमें रखते हुए तथा हिंदुमात्रके घरमें वेदों को पहोंचाने के लिए यह निहायत जरूरी है कि इन शुद्ध वेदोंके या तो तांबे के ब्लोक बनाये जायें अथवा तो स्टीरियो टाइपींग से वेदों का मुद्रण हो। परन्तु इन दोनोंही बातोंके लिए हजारों रूपयोंकी आवश्यकता है। यदि हिंदू धनवान् लोग अथवा हिंदू राजे महाराजे इस ओर दृष्टिपात करें, तो यह कार्य आसानी से व शीघ्रता से हो सकता है। स्वाध्याय-मण्डल इसके लिए अपनी ओर से यथाशक्ति प्रयत्न कर रहा है। यदि हिंदू जनताने इसमें पूर्ण रूपसे साथ दिया, तो निकट भविष्य में यह कार्य भी सम्पन्न हो जायगा।

वेद छप जाने के बाद अन्यान्य वैदिक शाखासंहितायें भी छापी जानी जरूरी हैं। इनके साथ साथ उपनिषदादि वैदिक वाङ्मय के ग्रन्थ तथा वेदों के अंग-उपांग भी छापनेही होंगे। इन ग्रन्थोंकी संक्षिप्त सूची इस प्रकार है-

(१) ऋग्वेद।

ऋग्वेद-संहिता, सांख्यायन-संहिता, ऐतरेय ब्राह्मण, ऐतरेयारण्यक, ऐतरेयोपनिषद्, सांख्यायन ब्राह्मण, सांख्यायनारण्यक, ऋग्वेदप्रातिशाख्य, ऋग्विधान, तथा चरणव्यूह आदि ऋग्वेद का वाङ्मय।

(२) यजुर्वेद।

(शुक्ल) यजुर्वेद वाजसनेयी संहिता, काण्व-संहिता, (कृष्ण) तैत्तिरीय-संहिता, कापिष्ठल-संहिता, काठक-संहिता, मैत्रायणी-संहिता इत्यादि संहिताग्रन्थ;

शतपथ ब्राह्मण (काण्व तथा वाजसनेय), तैत्तिरीय ब्राह्मण, तैत्तिरीयारण्यक, शुक्ल कृष्ण यजु-प्रातिशाख्य तथा उपनिषदादि यजुर्वेदीय वाङ्मय।

(३) सामवेद।

सामवेद-संहिता, सामगानके सब ग्रंथ, आरण्यक संहिता, जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण, ताण्ड्य महाब्राह्मण, दैवत तथा षड्विंश ब्राह्मण, पुष्पसूत्र इत्यादि सब सामवेदीय वाङ्मय।

(४) अथर्ववेद।

अथर्ववेद-संहिता, पिप्पलाद-संहिता, गोपथ ब्राह्मण, अथर्व-प्रातिशाख्य आदि सब अथर्ववेदीय वाङ्मय।

इन सब ग्रन्थों को शुद्ध तथा सुंदर छापने के साथ साथ इनका भिन्न भिन्न भाषाओं में अनुवादभी करना होगा।

साधन-ग्रन्थ।

वेदों के सरल अर्थ तथा मन्त्रों के तत्त्वज्ञान का विवरण देने के लिए ऊपर बताये गए ग्रन्थों के अलावा निम्नलिखित साधनग्रन्थों की भी अत्यंत आवश्यकता है। इनके बिना जल्दी व आसानीसे निश्चित वेदार्थ होना कठिन है।

(१) देवतामन्त्रसंग्रह।
(२) वेदमन्त्रों का वर्गीकरण।
(३) पुनरुक्त और अभ्यस्त मन्त्रों का संगतिकरण।
(४) समान या विरुद्ध विचारवाले मन्त्रों का संग्रह।
(५) सब वेदों के मन्त्रों की चरणसूची; हो सके तो, आद्याक्षर तथा अन्त्याक्षर की भी सूची।
(६) शब्दसूची, विषयसूची, नामसूची; इसमें भी हो सके, तो स्थाननामसूची, वस्तुनामसूची, ऋषिसूची, तथा विशेषणयुक्त देवतासूची इत्यादि।

इन साधनग्रन्थों के तैयार हो जानेपर वेदभाष्य करना बिलकुल आसान हो जायगा। फिर भाष्य में किसी भी प्रकार के संदेह को स्थान न रहेगा। वेदों की याज्ञिक, आध्यात्मिक, सामाजिक, राजकीय आदि अनेकविध दृष्टियों से खोज करना सुगम हो जायगा। वैदिक सिद्धांतों का निर्णय करने में भी फिर किसी प्रकार की तकलीफ नहीं होगी। आजकल के धार्मिक झगडे तब निश्चित रूपसे मिटाये जा सकेंगे।

ऊपर बताये गये तमाम कार्य को पूर्ण करने के लिए ५ से ७ वर्ष की अवधि चाहिये। परंतु इतने समय में भी यह कार्य तभी हो सकेगा, जब कि इस के लिये आवश्यक धनराशि जनता से जब जब जरूरत हो, समय पर मिलती रहे। इस कार्य के लिए कुल कितने धन की आवश्यकता है, इस के लिए निम्न अंदाजा लगाया गया है।

आवश्यक धन का अंदाज।

(१) वेदसंहिताओं की छपाई	रु० २५०००)
(२) ब्राह्मण, आरण्यक आदि ग्रंथों की छपाई	रु० २५०००)
(३) दैवत-संहिता, मंत्रोंका वर्गीकरण तथा अन्य सूचियां	रु० १५०००)
(४) आदि तथा अन्त्य अक्षरवाली चरणसूची	रु० १००००)
(५) शब्दसूची, विषयसूची आदि भिन्नभिन्न सूचियां	रु० १५०००)
	रु० ९००००)
(६) वेदभाष्य तैयार करवाकर व छपवाकर प्रकाशित करना	रु० २५०००)
	रु० ११५०००)

यह अंदाज लगभग १ लाख १५ हजार रुपये होता है। यह कमसे कम अंदाज लगाया गया है। परन्तु हमारा ख्याल है कि दसेक हजार रुपया इससे ज्यादा ही खर्च होगा, कम नहीं। अर्थात् सवालाख रुपये से यह सब कार्य पूर्ण रूपसे निर्विघ्न समाप्त हो सकेगा। उपर्युक्त अंदाजमें सब प्रकार के व्यय का अंदाजा लगा लिया गया है।

वेद तथा वेदभाष्य आदि की कीमत जहां तक हो सके, ऐसी रखी जायगी कि जिससे सर्वसाधारण हिंदूमात्र उससे लाभ उठा सके, क्योंकि धार्मिक प्रचार के लिए यह परमावश्यक है। परन्तु यह तभी हो सकेगा, जब कि वैदिकधर्मप्रेमी, दानी सज्जन इसकी जवाबदारी अपने सिर ले लें।

स्वाध्याय-मण्डल ने इस आवश्यक धन को प्राप्त करने के लिए निम्नलिखित योजना जनता के समक्ष रखी है। कोई भी धर्मप्रेमी हिंदु चाहे तो उसमें आसानी से भाग ले सकता है। देखें, जनता की ओरसे उसमें कितना सहकार प्राप्त होता है।

आवश्यक धन प्राप्त करनेके लिए योजना।

(१) प्रतिपालकवर्ग।

(अ) प्रथम प्रतिपालकवर्ग- जो सज्जन १० हजार रुपये [रु० १००००)] का दान देंगे।

(i) ऐसे सज्जन चाहेंगे, तो स्वाध्याय-मण्डल द्वारा निर्धारित कोई भी पुस्तक उनके नामसे छापकर उसमें उनका रंगीन चित्र दिया जायगा।

(ii) स्वाध्याय-मण्डल द्वारा प्रकाशित सब भाषाओं का प्रकाशन उन्हें कायम मुफ्त दिया जाया करेगा।

(आ) द्वितीय प्रतिपालकवर्ग- जो सज्जन ५ हजार रुपये [रु० ५०००)] का दान देंगे।

(i) ऐसे सज्जन चाहेंगे, तो उनके नामसे पुस्तक छापकर उसमें उनका सादा चित्र दिया जायगा।

(ii) स्वाध्यायमण्डलद्वारा प्रकाशित तमाम भाषाओं का साहित्य उन्हें मुफ्त दिया जाया करेगा।

(इ) तृतीय प्रतिपालकवर्ग- जो सज्जन ३ हजार रुपये [रु० ३०००)] का दान देंगे।

(i) ऐसे सज्जन चाहेंगे, तो स्वाध्याय-मण्डल द्वारा प्रकाशित होनेवाली किसी पुस्तकमें उनकी फोटो दी जायगी।

(ii) किन्हीं दो भाषाओंमें प्रकाशित पुस्तकें मुफ्त दी जायंगी।

(२) पालकवर्ग।

(ई) प्रथम पालकवर्ग- जो सज्जन २ हजार रुपये [रु० २०००)] का दान देंगे।

(i) ऐसे सज्जन चाहेंगे तो स्वाध्याय-मण्डलकी पुस्तक में उनकी छोटीसी फोटो दी जायगी।

(उ) द्वितीय पालकवर्ग- जो सज्जन एक हजार रुपये [रु० १०००)] का दान देंगे।

(i) ऐसे सज्जनों को किसी भी एक भाषाका तमाम साहित्य मुफ्त दिया जायगा व किसी एक पुस्तक में नाम छापा जायगा।

(ऊ) तृतीय प्रतिपालकवर्ग- जो सज्जन ५ सौ रुपये [रु० ५००)] का दान देंगे।

(i) ऐसे सज्जनों का किसी भी एक पुस्तकमें सहायक के तौरपर नाम रहेगा।

(३) पोषकवर्ग।

(ऋ) प्रथम पोषक-वर्ग- जो सज्जन ३ सौ रुपये [रु० ३००)] का दान देंगे।

(ऋ) द्वितीय पोषक-वर्ग- जो सज्जन २ सौ रुपये [रु० २००)] का दान देंगे।

(लृ) तृतीय पोषक-वर्ग- जो सज्जन सौ रुपये [रु० १००)] का दान देंगे।

(i) पोषकवर्गके सब सदस्यों को उनका धन आने के बाद जो जो पुस्तकें स्वाध्याय-मण्डलद्वारा प्रकाशित की जायंगी, वे सब मुफ्त दी जायंगी।

(ii) जो सज्जन एक साथ कमसे कम १००) रु० देनेमें असमर्थ हैं, परन्तु स्वाध्याय-मण्डल का पोषकवर्ग बननेकी प्रबल इच्छा रखते हैं, उनकी सुविधा के लिए ऐसा नियम बनाया गया है कि, वे यदि एक वर्ष के अंदर अपने सुभीते के अनुसार सौ रुपये पूरे कर देंगे, तो वे पोषक-वर्गके सदस्य लिए माने जायंगे। परन्तु सौ रुपया पूरा होनेपरही उन्हें पोषक-वर्गके तमाम हक प्राप्त होंगे।

(iii) विदेशमें रहनेवाले सज्जनों को पोषक-वर्गका सभासद बनने के लिए कमसे कम दो सौ शिलिंग (शि० २००) देने होंगे। केवल १५०) शिलिंग (रु० १००) देनेकी हालतमें पुस्तकें भेजने का डाकव्यय उनके जिम्मे रहेगा।

दान।

(१) धार्मिक साहित्यको सस्ता व सुंदर छापने के लिए अगर तो मुफ्त बांटने के लिए धनकी अत्यन्त आवश्यकता रहती है। अतः इस कार्यके लिए जो सज्जन यथाशक्ति हर-साल नियमित दान देते रहेंगे, उन्हें समय समय पर स्वाध्याय-मण्डल की ओर से पुस्तकें भेट दी जाया करेंगी।

(२) जिन सज्जनों के दिल में धार्मिक साहित्य के प्रति असीम प्रेम है, परन्तु वे बडी बडी रकमें दान के तौरपर नहीं दे सकते, वे हरसाल नियमित रूपसे १) रुपये से लेकर उन की इच्छानुसार जितना हो सके, दान देकर इस पवित्र यज्ञ में भाग लेकर पुण्यशाली बन सकते हैं।

अनामत।

स्वाध्याय-मण्डल ऐसे सज्जनों का भी हृदय से स्वागत करने के लिये तैयार है कि जो स्वाध्याय-मण्डल में धार्मिक साहित्य छापने के लिए अमुक धनराशि नियत समय के लिए रखनेको तैयार हों। इस प्रकार रखी हुई धनराशिपर ९) रु० सैंकडे के हिसाबसे जो व्याज होगा, उतनी कीमतकी पुस्तकें रेल या डाकव्यय मिलाकर उक्त सज्जन को उनकी पसंदगी के अनुसार दी जायंगी। इस प्रकारकी अनामत रकम निम्नलिखित शर्तोंसे स्वीकारी जायगी।

(१) कम से कम ३ वर्ष के लिए अनामत रकम ली जायगी।

(२) कमसे कम १००) रुपये तथा ज्यादा से ज्यादा १०००) रुपये अनामत रकमके तौरपर लिये जायंगे।

(३) अनामत रकम वापस लेनेके लिए कमसे कम एक मास अगाऊ सूचना देनी होगी।

(४) एक हजार रुपये [रु० १०००)] से अधिक रकम अनामत के तौरपर उसी हालत में ली जायगी जब कि प्रतिवर्ष एक हजार रुपयेसे ज्यादा वापस न ले जायंगे।

धरोहर।

जो सज्जन स्वाध्याय-मण्डल में कमसे कम १०) रुपया धरोहर के तौरपर पुस्तकें खरीद करने के लिए कायम जमा रखा करेंगे; उन्हें पुस्तकों का डाकव्यय माफ होगा।

वी० पी० पी० से मांग।

जो सज्जन कम से कम पुस्तकों के मूल्य का ॥ रुपया पहले भेजकर वी० पी० पी० से पुस्तकें मंगवायंगे, उन्हें आधा डाकव्यय माफ किया जायगा।

स्वाध्याय-मण्डलकी इस उपर्युक्त योजनामें हरेक धर्म प्रेमी सज्जन, चाहे वह गरीब हो या श्रीमान्, किसी न किसी तरह से भाग ले सकता है।

प्रमाणपत्र।

उपर्युक्त तीनों वर्गोंके सदस्यों को जिनका कि आवश्यक धन पूरेपूरा आ गया होगा, उन्हें स्वाध्याय-मण्डल की ओरसे प्रमाणपत्र दिया जायगा। प्रमाणपत्र का स्वरूप इस प्रकार होगा—

ॐ ।

स्वाध्याय-मण्डल (वैदिक तत्त्वज्ञान-प्रचारक संघ), औंध; (जि० सातारा)

प्रमाणपत्र ।

पश्य देवस्य काव्यं न ममार, न जीर्यति ॥
(अथर्व० १०।८।३२)

स्थापना-संवत् १९७५, ई० सन् १९१८ औंध ।

संख्या......   ता०......

यह प्रमाणित किया जाता है कि श्रीमान् ... ... रु० ... .. (अक्षरोंमें) .... रुपये देकर स्वाध्याय-मण्डल के नियमों के अनुसार प्रतिपालक-पालक-पोषकवर्गके सदस्य बने हैं। आजसे उन्हें प्रतिपालक-पालक-पोषक के अधिकार दिये जाते हैं।

....

प्रधान-संचालक   मंत्री

प्रतिपालक, पालक तथा पोषक, वर्गके नियम।

(१) कोई भी सज्जन सौ रुपये [रु० १००)] या उससे ज्यादा देकर प्रतिपालक, पालक व पोषक-वर्ग के सभासद बन सकते हैं।

(२) जो सज्जन एकही साथ कमसे कम सौ रुपये [रु० १००)] नहीं दे सकते, वे प्रथमवार कमसे कम बीस रुपये [रु० २०)] देकर शेष धन नियमित किश्तोंसे साल भरके अंदर पूरा कर सकते हैं। यदि वे एक वर्षमें उक्त रकम पूरी नहीं कर पायंगे, तो उन्हें पोषकवर्गका सभासद नहीं माना जायगा, और उनकी प्राप्त रकम दानमें जमा कर ली जायगी।

(३) प्रत्येक सदस्य को प्रमाणपत्र दिया जायगा।

(४) किश्तोंसे सौ रुपये पूरे करनेवाले सज्जनों को प्रमाणपत्र तभी दिया जायगा जब कि उनसे सौ रुपये पूरे वसूल हो जायंगे।

(५) प्रमाणपत्र प्राप्त किये बिना किसी भी सज्जनको सदस्य बननेके लाभ व अधिकार नहीं दिये जायंगे।

(६) प्रतिपालक, पालक व पोषकवर्ग का सदस्य बनने की इच्छा रखनेवाले सज्जनों को 'प्रतिज्ञापत्र' भरने होंगे।

(७) प्रतिपालक, पालक व पोषक वर्ग का सदस्य बनने के लिये दी गई धनराशि किसी भी हालतमें वापस न मिल सकेगी।

(८) पता ठीक न होनेपर या बदल जानेपर प्रकाशनके यथासमय न मिलने की अथवा सर्वथा न मिलने की जवाबदारी सदस्य के सिर रहेगी।

(९) कोई भी प्रकाशन रजिस्ट्रेशनसे मंगवानेवालों को रजिस्ट्रेशन का खर्च अलग देना होगा।

अधिकार।

(१) सौ रुपये या उससे ज्यादा देनेवाले सज्जन स्वाध्यायमण्डलके उक्त तीन वर्गोंमेंसे किसी एकके सदस्य होंगे और उन्हें उस सदस्यत्वको अपने सामने या अपने पीछे वंशमेंसे किसीके नाम परिवर्तित करने का हक होगा। परन्तु ऐसी स्थितिमें योग्य समयमें प्रमाणपत्र भी परिवर्तित करा लेना होगा।

(२) प्रतिपालक तथा पालक-वर्गके सदस्यों को स्वाध्याय-मण्डल का तमाम प्रकाशन मुफ्त लेनेका हक होगा; परन्तु पोषक-वर्गके सदस्यों को सदस्य बनने के पश्चात् का प्रकाशन ही मुफ्त दिया जायगा।

प्रतिज्ञा-पत्र ।

श्रीमान् प्रबन्धकर्ता, स्वाध्याय-मण्डल,
औंध, (जि० सातारा)

मैं आपके स्वाध्याय-मण्डलका रु० ....अक्षरोंमें रुपये......देकर सभासद बनता हूं। कृपया स्वीकार कर के प्रमाण-पत्र भेज दें।

तिथि   भवदीय

पूर्ण नाम ... ...   पूर्ण पता ... ...

जिला ... ...   देश ... ...

आफ्रिकामें प्रचारकार्य।

भारतवर्ष के भिन्न भिन्न प्रांतों में तो वैदिक धर्म के प्रचारार्थ श्री० पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकरजी अनेक वार चक्कर लगा चुके हैं तथा अब भी जरूरत पडनेपर जातेही रहते हैं। परन्तु आफ्रिकामें भी स्वाध्याय-मण्डल द्वारा वैदिक धर्म व उसके साहित्य के प्रचारार्थ वहां के

कुछ वेदधर्मप्रेमी सज्जनों के आमन्त्रण को स्वीकार करके १९३७ के आखिर में स्वाध्यायमण्डल के मंत्री श्री० पं० तडित्कांतजी वेदालंकार वहाँ भेजे गये थे। वहांकी धर्मप्रेमी जनताने राजनैतिक व आर्थिक परिस्थितिके ठीक न होते हुए भी पंडितजीका प्रेम से स्वागत किया, तथा अपना वैदिक धर्म के प्रति प्रेम व्यक्त करते हुए वैदिक साहित्य के प्रचार में रस लेकर अच्छी सहायता दी। पंडितजी वहां की खराब परिस्थितियों की वजह से ब्रिटिश ईस्ट आफ्रिका, पो० ई० आफ्रिका तथा साउथ आफ्रिका का कुछ हिस्सा भ्रमण कर के १९३९ के अगस्त में वापस आ गये।

स्वाध्याय-संघ।

सर्वसाधारण जनता अपने धर्म का सच्चा स्वरूप जानने के लिए वेदों का अपने घर बैठेही स्वाध्याय कर सके, तदर्थ स्वाध्याय-मण्डलने '**स्वाध्याय-संघ**' की स्थापना की है। आजकल प्रायः देखा जाता है, कि वेदों के अध्ययन के अभाव में वेदों के नाम से कुछ अनिच्छनीय कल्पनायें तथा सिद्धांत वैदिक धर्म में घुसेडे जा रहे हैं। कुछ लोग तो वेदों को बिना पढे तथा जाने ही किसी भी सिद्धांतको वैदिक या अवैदिक कहते हुए जराभी हिचकिचाते नहीं।

वस्तुतः वैदिक धर्म एक बडाही शास्त्रीय वैज्ञानिक धर्म है। ज्ञानविज्ञान के बिना तथा उसका उचित रीतिसे परिशीलन किये बिना उसमें गति नहीं हो सकती। वेद को ऊपर ऊपर से देखकर उसके बारे में कुछ भी कहना एकमात्र दुःसाहस ही है। ऐसी स्थिति में जिन्हें वस्तुतः वैदिक धर्म से प्रेम है, तथा जो दिलसे वेदों में क्यालिखा है, यह जानना चाहते हैं, उनके लिए वेदाध्ययन के साधनों की व्यवस्था होनी नितांत आवश्यक है।

जो सज्जन वेदोंका अध्ययन करने की कुछ कुछ इच्छा रखते हैं, उनके लिए आजकल कोई भी ऐसी व्यवस्था नहीं, कि जिससे वे अपने सांसारिक व्यवहारों में रहते हुए भी वेदाध्ययन कर सकें। अतः ऐसी किसी संस्थाकी खास आवश्यकता थी कि जो इस कमी को दूर करके जनता को वेदाध्ययन में सहायता करे। '**स्वाध्याय-संघ**' की स्थापना इसी कमी को दूर करने के लिए की गई है।

इस संघ में प्रविष्ट होनेवाले सज्जन ५-६ वर्षोंके अंदर ही वेदवेत्ता हो सकेंगे। जो प्रतिदिन नियमित अभ्यास से भी कर सकेंगे, वे भी १० वर्षों में वेदसम्बन्धी पर्याप्त ज्ञान हासिल कर सकेंगे। **स्वाध्याय-संघ के आश्रय के नीचे वेदाध्ययन करनेवालेको प्रतिदिन नियमपूर्वक सिर्फ आधा घण्टा ही स्वाध्याय के लिए देना होगा।** इतना थोडा समय चाहे तो हर कोई आसानी से निकाल सकता है।

स्वाध्यायसंघ के उद्देश्य व नियम।

वेद का स्वाध्याय करना और कराना, इस संघ का उद्देश्य होगा।

(१) प्रतिदिन नियमपूर्वक अपने घरमें ही रहते हुए आधा घण्टा वेदों का स्वाध्याय करनेवाले सज्जन इस संघ के सभासद बन सकेंगे।

(२) किसी भी शहर या गांव में कम से कम तीन सदस्य होनेपर वहां संघ की स्थापना की जा सकेगी। एक ही कुटुंब के तीन व्यक्ति अथवा तो एक ही पाठशाला के तीन विद्यार्थी भी इस संघ की स्थापना कर सकेंगे।

(३) सदस्य होने के लिए किसी भी प्रकार का आर्थिक चंदा नहीं लिया जायगा। परन्तु सदस्य को—

(अ) प्रतिदिन कम से कम एक मंत्र मननपूर्वक पढना होगा;

(आ) हप्ते में कमसे कम एक मंत्र याद करना होगा,

(इ) स्वाध्याय-संघ के साप्ताहिक सत्संग में कमसे कम महिने में एक वार उपस्थित होकर अपने मनन किए हुए मंत्र का आशय अन्य सदस्यों के सामने रखना होगा।

(४) प्रत्येक स्थानीय स्वाध्याय-संघ के अध्यक्ष और मंत्री ऐसे दो ही पदाधिकारी हुआ करेंगे, और इनका वार्षिक चुनाव हुआ करेगा।

(५) अध्यक्ष तथा मन्त्री के विशेष रूपसे निम्न लिखित कार्य होंगे—

(अ) यथासंभव लोगों में वेदों का स्वाध्याय करनेके लिए प्रेम उत्पन्न कर उन्हें संघ के सदस्य बनाना,

(आ) अपने संघ का मासिक वृत्तांत नियमित रूप से 'स्वाध्याय-मण्डल, (औन्ध) भेजना, तथा आवश्यक पत्रव्यवहार करते रहना।

(६) वेदों को पढने की इच्छा रखनेवाले किसी भी धर्म के किसी भी उमर के कोई भी पुरुष, स्त्री, या बालक स्वाध्याय-संघ के सभासद हो सकेंगे।

(७) स्वाध्याय-संघ का सदस्य किसी भी अन्य संस्था का सदस्य हो सकता है।

(८) स्वाध्यायसंघ की स्थापना होनेपर 'स्वाध्याय-मण्डल' (औन्ध) को सूचना देनेसे वह स्वाध्याय करने की आयोजनापर विचार कर समय समयपर योग्य परामर्श देता रहेगा।

सदस्यों की स्वतन्त्रता।

स्वाध्याय-संघ के सदस्यों के लिए ऐसा प्रतिबंध न होगा कि वे 'स्वाध्याय-मण्डल' द्वारा प्रकाशित पुस्तकों से ही वेदाभ्यास प्रारंभ करें अथवा तो उन पुस्तकों में प्रतिपादित सिद्धांतों को ही स्वीकारें। हरेक सदस्य को विचारस्वातन्त्र्य रखने का पूर्ण हक होगा। स्वाध्याय-मण्डल तो सिर्फ वेदाध्ययनमें यथासंभव मदद पहोंचाने का ही प्रयत्न करेगा। और इसके लिए स्वाध्याय-मण्डल अपनी ओर से स्वाध्याय में सहायक हो सकें, ऐसी पुस्तकें समय समय पर प्रकाशित कर उनकी सूचना स्वाध्याय-संघ के सदस्यों को देता रहेगा, ताकि उनसे जिनको लाभ उठाना हो, उठा सकें।

वेदाभ्यासके लिए प्राथमिक योग्यता।

(१) संस्कृत भाषा का ज्ञान प्राप्त करना।

वेद पढनेवालों के लिए सबसे प्रथम संस्कृत भाषा का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। अतः जिन्हें संस्कृत भाषा नहीं आती, उनके लिए 'संस्कृत-पाठमाला' के २४ भाग तयार किये गए हैं। सिर्फ आध घण्टा रोज इसका नियमित अभ्यास करते रहनेसे एक साल के अंदर संस्कृत के रामायण, महाभारत आदि स्वयमेव बिना किसी की सहायता के समझ सकने की योग्यता आ जाती है।

(२) वेद में प्रवेश।

संस्कृत भाषा से परिचय हो जानेपर भी वेद में प्रवेश करने के लिए कुछ विशेष तैयारी की जरूरत रहती है। अतः पाठकों को वेद में आसानी से प्रवेश कराने के लिए **'वेद का स्वयंशिक्षक'** (दोन भाग) नाम की पुस्तक तैयार की गयी है। इसको बुद्धिमान् विद्यार्थी ३-४ मासमें पूरा कर सकता है। और ये दोनों भाग समाप्त करनेपर उसकी गति वेद में प्रवेश करनेयोग्य हो जाती है। तब वह स्वयं चाहे तो वेद का अध्ययन कर सकता है।

जो सज्जन पहले से ही संस्कृत जानते हैं, तथा जिन्होंने वेद को पढने का कुछ विशेष प्रयत्न किया है, वे प्रारंभ से ही वेदाध्ययन शुरू कर सकते हैं।

(३) वेदपाठ।

वेदमंत्रोंको यथाविधि पढना, उनके स्वरादिक का ठीक ठीक तरीके से बोलना आदि वेद-मन्त्रोच्चारण के लिए बहुत जरूरी है। इसके लिए **'वेदोच्चारण-विधि'** नामक पुस्तक स्वाध्याय-मण्डल द्वारा तैयार की जा रही है। इसके छपकर तैयार होते ही सूचना दे दी जायगी। इस पुस्तक में निम्नलिखित बातों का स्पष्टीकरण होगा।

(१) ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद के मन्त्रों के उच्चारण करने की रीति;

(२) वेद-मंत्रों के उदात्तादि स्वरों के उच्चारण करने की रीति;

(३) सामगान करने की रीति;

(४) अन्य वेदमन्त्रों के उच्चारण की विशेषतायें।

इस पुस्तक की विशेषता यह होगी कि, **इसमें उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, प्रचय तथा सब प्रकारके साम-स्वर बोलने और सामगान करने की रीति विस्तार-पूर्वक दर्शाते हुए प्रत्येक स्वर की ऊंचाई, नीचाई तथा गहराई हारमोनियम के स्वरों के साथ मिलाकर बताई जायगी।** इससे पाठक हारमोनियम के स्वरों के साथ अपने कण्ठ को मिलाकर तमाम स्वरों का ठीक ठीक उच्चारण बिना किसी तकलीफ के कर सकेंगे।

इसी प्रकार **अक्षरों के काल, अक्षरों की मात्रायें, उनके उदात्तादि स्वर तथा कम्पनों का उच्चारण हारमोनियम के स्वरों की सहायता से कैसे किया जा सकता है, यह भी इसमें बताया जायगा।**

स्वरसाधन।

जिन्हें स्वयं 'सामगान' सीखने की इच्छा हो, उन्हें अपने कण्ठ को हारमोनियम के सप्त स्वरों के अनुकूल करने का प्रयत्न करना होगा। हारमोनियम के तीनों स्वर-सप्तकों के साथ जिसका कण्ठ चल सकता होगा, वही सामगान कर सकेगा। जिसे थोडासा गानेका अभ्यास होगा, उसे इसमें विशेष सुगमता रहेगी। सामगायक के लिए सबेरे ५ से ६ बजेतक स्वरसाधन करने के लिए अच्छा समय है। इस समय में उसे हारमोनियम के मंद्र सप्तक के स्वरों का अभ्यास करने से विशेष लाभ होगा।

सामगायन एक अपूर्व गायन है। इसका विस्तार भी बहुत ज्यादा है। हम यथासंभव ऐसा प्रयत्न करेंगे कि उक्त पुस्तक में ये सब बातें इस ढंग से दर्शाई जाय कि जिससे पाठक स्वयमेव अपना अभ्यास यथाशक्ति बढा सकें!

हम चारों वेदों के उच्चारण-विधि की तथा सामगायन की फोनोग्राफ प्लेटें भी लेने की तैयारियां कर रहे हैं। इससे सामगायन सीखनेवालों को तो पर्याप्त लाभ होगा ही, परन्तु साधारण वेदप्रेमी जनता भी उसका आसानी से श्रवण कर सकेगी। इन प्लेटों के तैयार होनेपर भी जनता को सूचित किया जायगा।

वेद की पाठविधि, परीक्षायें तथा प्रमाणपत्र।

उक्त पूर्व तैयारी करके जो सज्जन स्वाध्याय-मण्डल द्वारा नियत की गई पाठविधि के अनुसार वेदाभ्यास करेंगे, उनकी उस उस पाठविधि के समाप्त होनेपर परीक्षायें भी लेने की व्यवस्था की जायगी। जो सज्जन उनमें बैठकर उत्तीर्ण होंगे, उन्हें प्रमाणपत्र दिए जायंगे। परीक्षा के लिए भिन्न भिन्न विद्वान् नियत किये जायंगे, जिनके नाम भी यथासमय प्रकाशित होते रहेंगे। इस सम्बन्ध में विस्तृत विवरण इस प्रकार है—

वर्ष	नाम-परीक्षा	मन्त्र-संख्या	पुस्तक-संख्या
प्रथम	वेद-परिचय	३००	३
द्वितीय	वेद-प्रवेश	५००	५
तृतीय	वेद-प्राज्ञ	१०००	५
चतुर्थ	वेद-विशारद	२०००	५
पंचम	वेद-पारंगत	५०००	५
षष्ठ	वेदाचार्य	स्वतन्त्र खोजपूर्ण निबंध।	

वेदाचार्य की परीक्षा के लिए कोई नियत पाठविधि नहीं होगी। इस परीक्षा के लिए परीक्षार्थी को वेदसंबंधी खोजपूर्ण कमसे कम १०० पृष्ठों का निबंध लिखकर पेश करना होगा। वेदसंबंधी यही परीक्षा आखरी समझी जायगी।

उपर्युक्त पाठविधिके अनुसार अभ्यास करनेवालों के लिए पाठ्य पुस्तकें भी तैयार की जा रही हैं। इन पाठ्य पुस्तकों के लिए चुने गए वेदमन्त्रों का सरलता से अभ्यास हो सके, इसवास्ते हरेक मन्त्र का अर्थ, उसपर योग्य टीकाटिप्पणी तथा निरुक्त, ब्राह्मण, और उपनिषदों के वचन आदि तमाम सामग्री इन पुस्तकों में संग्रहित की जायगी। इस प्रकार इन वेदमन्त्रोंपर विचार करने के लिए अन्य पुस्तकोंको अलग खरीदने आदि की आवश्यकता नहीं रहेगी।

प्रथम वर्ष की परीक्षा के लिए ३ पुस्तकें तैयार की जायंगी, जिनमें प्रत्येकमें सौ सौ मन्त्र होंगे। शेष तमाम वर्षों के लिए पांच पांच पुस्तकें तैयार की जायंगी जिनमें उस उस वर्ष के लिए निश्चित मन्त्र संख्या होगी।

इन पुस्तकों की रचना इतनी सरल होगी कि, क्रमशः अध्ययन करनेवाले को किसी भी तरह की कठिनता प्रतीत न होगी।

इस तरह रोज नियमित सिर्फ आध घण्टा वेदों का स्वाध्याय करने से ५ वर्ष में न सिर्फ ८५०० मन्त्रों का ही ज्ञान हो सकेगा, बल्कि इनके साथ निरुक्त, ब्राह्मण, उपनिषदादिका भी खूब अच्छा ज्ञान हो जायगा। इस पाठविधि में लगभग चारों वेदों के आधे मन्त्रों का समावेश हो जाता है।

आशा है वैदिक धर्मप्रेमी सज्जन स्वाध्याय-संघ का पूर्ण रूपसे लाभ उठाते हुए वैदिक धर्म का सच्चा ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

स्वाध्याय-मण्डलकी संपत्ति।

स्वाध्याय-मण्डलकी स्थावर तथा जंगम मिलाकर कुल संपत्ति इस समय करीब करीब १,३२,७१५) रु० है, जिसका ब्योरा इस प्रकार है—

(१) मुद्रणालय के यंत्र (मशीने), जिनकी कुल मिलाकर १२१६५) रूपये कीमत है।

१. सिलिंडर मशीन— तमाम खर्च सहित	रु०	१७००)
२. अमेरिकन चाण्डलर ट्रेडल, तमाम खर्च-सहित	,,	११५०)
३. इंगलीश ट्रेडल, तमाम खर्च-सहित	,,	१७५०)
४. कटिंग मशीन	,,	१२००)
५. स्टिचिंग मशीन	,,	६००)
६. मशीन ड्राइव स्टॅड	,,	२००)
७. प्रूफ प्रेस	,,	२००)
८. दबानेका प्रेस	,,	२००)
९. लेट-कटर	,,	४०)
१०. नंबरिंग मशीन	,,	२५)
११. छोटा छोटे दबाव-प्रेस (लोहेके तथा लकडी के)	,,	१००)
१२. आठ अलमारियां	,,	१००)
	रु०	१२१६५)

(२) मकानात, इसमें मुद्रणालय के मकान तथा अन्य मकानात, कूंआ इत्यादि शामिल हैं। इनकी कुल मिलाकर कीमत २०५५०) रुपये है, जिसका ब्योरा इस प्रकार है-

(१) प्रेस बिल्डिंग	रु०	१२०००)
(२) अन्य मकान	,,	५५००)
(३) प्रेस-व्यवस्थापक का घर	,,	८००)
(४) कूंआ	,,	२०००)
(५) शौचकूप (संडास)	,,	२५०)
	रु०	२०५५०)

(३) इन सबके अलावा टाईप आदि के खोखे (केस), ..क, तथा पुस्तकें संग्रह करनेके लिए अन्य फुटकर सामान, जिसपर ७०००) रुपये व्यय हुआ है।

(४) पुस्तकें-इस समय स्वाध्याय-मण्डलके पास जो पुस्तकोंका स्टोक है, उसकी कीमत ९५ हजार रुपया है। ये सब पुस्तकें बिक जानेवाली हैं। ये जैसे जैसे बिकती जाती हैं, वैसे वैसे उनका स्थान नयी पुस्तकें या उन्हींके नये एडीशन लेते जाते हैं। पुस्तकालय की पुस्तकें, जिसकी कीमत ५०००) रु० है, इसीमें सम्मिलित हैं।

इस प्रकार स्वाध्याय-मण्डलकी स्थावर तथा जंगम संपत्ति का सर्वयोग निम्न है—

१. यंत्र (मशीनें)	रु०	१२१६५)
२. मकानात	,,	२०५५०)
३. अन्य सामान	,,	१५०००)
४. पुस्तकें	,,	९००००)
५. पुस्तकालय	,,	५०००)
	रु०	१,३२,७१५)

स्वाध्याय-मंडलके कार्यकर्ता।

स्वाध्यय-मण्डलके प्रमुख कार्यकर्ताओंके नाम निम्न लिखित हैं—

(१) पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकरजी- आप स्वाध्याय-मण्डलके संस्थापक तथा मुख्य संचालक हैं। आप का विशेष परिचय शुरुशुरुमें दिया जा चुका है।

(२) पं० तडित्कांतजी वेदालंकार, साहित्यमनीषी- आप स्वाध्याय-मण्डलके मंत्री तथा वैदिक धर्मके सह-संपादनके कार्यके साथ साथ हिन्दी विभागके अध्यक्ष हैं।

इनके साथ साथ स्वाध्याय-मण्डलके मुद्रणालय (प्रैस) विभाग, संशोधन-विभाग, पुस्तक-विक्री-विभाग आदि अनेक विभागोंमें कार्य करनेवाले लगभग ६० कार्यकर्ता गण इस समय स्वाध्याय-मण्डलमें कार्य कर रहे हैं। इन स्थानिक कार्यकर्ताओंके अलावा बहुतसे वैदिक विद्वान् पंडित-गण जिन्हें स्वाध्याय-मण्डल के अपने ही कार्यकर्ता कहा जा सकता है, स्वाध्याय-मण्डलके कार्यमें सहयोग दे रहे हैं। उनमेंसे कुछ मुख्य मुख्य विद्वानों की नामावलि यहांपर दी जा रही है।

स्वाध्याय--मण्डलके सहायकर्ता वैदिक विद्वान्।

ऋग्वेद-मुद्रणमें सहायक।

निम्न लिखित विद्वान् ऋग्वेदके अद्वितीय विद्वान् हैं, जिन्हें वैदिक ग्रंथोपग्रंथ (दशग्रंथ) कण्ठस्थ हैं। इनकी स्मरणशक्ति तथा वेदोंको याद रखनेकी पद्धति वस्तुतः

अद्वितीय है। इनके इस कार्य का ख्याल उन्हींको आ सकता है, जिन्हें इनसे मुलाकात करनेका सद्भाग्य प्राप्त हुआ हो। इन्हें देखकर यह बात आसानीसे समझमें आ जाती है, कि वेद आजतक सुरक्षित कैसे रह सके।

१. श्री. वेदमूर्ति सखारामभट्ट बालकृष्णभट्ट येद्रूरकर, वेदाचार्य नरसिंहवाडी (नरसोबावाडी, जि० कोल्हापुर)।

२. श्री. वेदमूर्ति गोविंदभट्ट भिकंभट्ट फाटक, वेदाचार्य, वेद-पाठशाला, पूना।

३. श्री. वेदमूर्ति बाळंभट्ट वासुदेवभट्ट माणगांवकर, वेदाचार्य, वेदपाठशाला, इचलकरंजी (जि० कोल्हापूर.)

४. श्री. वेदमूर्ति कृष्णभट्ट रामचंद्रभट्ट प्रभुणे, वेदाचार्य, याज्ञिक-भूषण, पूना।

५. श्री. वेदमूर्ति शंकरभट्ट गंगाधरभट्ट कशाळीकर, वेदाचार्य, वेदपाठशाला, भटवाडी-सावंतवाडी, जि० रत्नागिरी।

६. श्री. वेदमूर्ति वेदवाचस्पति शास्त्रपञ्चानन महादेवभट्ट गोपाळभट्ट पुरोहित, वेदाचार्य, वेद-पाठशाला मलकापुर, जि० कोल्हापूर।

७. श्री. वेदमूर्ति काशीनाथ नारायणभट्ट केळकर, वेदाचार्य, वैदिक चूडामणि, वेद-पाठशाला, सांगली।

८. श्री. वेदमूर्ति गणेशभट्ट नारायणभट्ट आठल्ये, वेदाचार्य, साखरपें, जि० रत्नागिरी।

९. श्री. वेदमूर्ति केशवभट्ट कृष्णभट्ट दामले, वेदाचार्य, वेद-पाठशाला, रत्नागिरी।

१०. श्री. वेदमूर्ति गोविंदभट्ट रामकृष्णशास्त्री माण्डवगणे, वेदाध्यापक, वेदपाठशाला, सांगली।

निम्न लिखित विद्वान् वेदशास्त्र के अद्वितीय पण्डित हैं और याज्ञिक, निरुक्त, मीमांसा, छन्दःशास्त्र, वेदांग, ज्योतिष् आदि शास्त्रोंमें अत्यंत प्रवीण हैं—

११. श्रीवेदशास्त्रसंपन्न अनन्त यज्ञेश्वरशास्त्री धुपकर, विद्यालंकार, छन्दोनिधि, विद्याविहार-मंदिर, माशेल-गोवा।

अथर्ववेदी पंडित।

निम्नलिखित अथर्ववेदी पण्डित अथर्ववेदके अद्वितीय विद्वान् हैं। इन्होंने अथर्ववेद-मुद्रणमें तथा अथर्ववेदसंबंधी संशोधनकार्यमें अत्यंत सहायता पहुंचाई है। स्वाध्याय-मण्डल इनका अत्यंत ऋणी है व शतशः धन्यवाद करता है।

१. श्री० वेदमूर्ति रामचन्द्रभट्ट रटाटे, आहिताग्नि, ऋग्वेदाचार्य तथा अथर्ववेदाचार्य, दरभंगा वेद-पाठशाला, काशी (बनारस)।

२. श्री० वेदमूर्ति सखारामभट्ट वैद्य, अथर्ववेदाचार्य गोयनका विद्यालय, काशी।

३. श्री० वेदमूर्ति नारायणभट्ट घुले, अथर्ववेदी, काशी।

४. श्री० वेदमूर्ति रामचन्द्रभट्ट गोपीनाथभट्ट आठवले, श्रौतभूषण, वैदिकरत्न, ऋग्वेदाथर्ववेदाचार्य, काशी।

५. श्री० वेदमूर्ति कृष्ण विद्याधरभट्ट दीक्षित लेले, अथर्ववेदी, अयोध्या।

६. श्री० पं० अमृतरामाचार्य पाण्डे, याज्ञिक-भूषण, उपाध्याय, धर्मशास्त्राचार्य, मथुरा।

यजुर्वेद वाजसनेयी शुक्ल-यजुर्वेद के सहायक।

१. श्री० वेदशास्त्रसंपन्न श्रीधर आण्णाशास्त्री वारे, नासीक।

यजुर्वेद तैत्तिरीय संहिताके सहायक।

१. श्री० वेदशास्त्रसम्पन्न धुंडिराज गणेश दीक्षित, आहिताग्नि, सोमयाजी, यजुर्वेदानुवादक, श्रौतमार्तंड; पाचवड, वाई, जि० सातारा।

सामवेद-सहायक।

१. श्री० वेदमूर्ति नारायणस्वामी दीक्षित, सामवेद-प्रधानोपाध्यायः श्रीमन्महाराज संस्कृत महापाठशाला, मैसूर।

२. श्री० वेदशास्त्रसम्पन्न आस्थान विद्वान् रामचन्द्र दीक्षित सामवेदाध्यापक, वेदमहापाठशाला, बंगलूर

३ श्री० प्रभाशंकर त्रिकमजी त्रिपाठी, सामवेदी बम्बई।

४. श्री० शास्त्री नरहरीशंकर भाईशंकर, सामवेदी, बडौदा।

५. श्री० लक्ष्मणशास्त्री द्रविड, सामगानाचार्य, पूना।

उपर्युक्त तमाम विद्वान् स्वाध्याय-मण्डलके वेद-मुद्रण-कार्यमें दिलचस्पीसे सहायता पहुंचाते रहे हैं। यही नहीं उन्होंने इस पवित्र कार्यमें जिस स्नेह व उत्साहसे हमें सहयोग दिया है, उसके लिए हम उनके अत्यंत आभारी हैं।

स्वाध्याय--मण्डलके सदस्य।

प्रतिपालक वर्ग।

१. श्रीमान् बालासाहेब पन्त प्रतिनिधि, B. A. राजासाहेब, सं० औंध रु० ५०००)
२. श्रीमती आर्यप्रतिनिधि सभा लाहोर (पंजाब) २४२५)

पालक वर्ग।

३. श्री० डॉ० लालचन्दजी वानप्रस्थी, ज्वालापुर २०००)
४. श्री० पं० नाथूलालजी, पेन्शनर अजमेर २०००)
५. श्री० बामन रामचन्द्र नाईक, हैद्राबाद द० ११००)
६. श्री० यशवन्त कृष्ण व महादेव कृष्ण, मुंबई ११००)
७. मेसर्स विठ्ठलदास हरिदास की कंपनी, १०००)
८. श्री० सेठ जुगल किशोरजी बिडला, कलकत्ता १०००)
८. म० राधाकिशनजी अमृतसर, (पंजाब) ७००)
९. पं० ठाकुरदत्त शर्माजी, लाहौर (पंजाब) ६५०)
१०. श्री० देवीप्रसादजी, द्वारका-भवन, अंबाला ५२५)
११. श्री० आर्यसमाज, वच्छोवासी, (लाहौर) ५००)
१२. श्री० कृष्णप्रसादजी, मुंबई ५००)
१३. श्री० गोस्वामी नरसिंगगिरजी धनराजगिरजी, हैद्राबाद द० ५००)
१४. श्री० केशवरावजी वकील, हैद्राबाद द० ५००)
१५. श्री० आर्यावर्त सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधि सभा, दिल्ली ५००)
१६. श्री० श्रीभूषण गुप्त, ट्रैफिक इन्स्पेक्टर, सोजत रोड ५००)
१७. डॉ० सौ० शान्ताबाई सातवळेकर, M. B. B. S. हैद्राबाद द० ५००)
१८. श्री० रामभाई एन्. पटेल ५००)
१९. श्री० सेठ मथुरादास कालीदास मेहता ५००)
२०. श्री० सेठ लीलाधर अमरसिंहजी ५००)

प्रथम पोषक वर्ग।

२१. श्रीमंत डॉ० अप्पा महाराज (कोल्हापूर-सिटी) ४००)
२२. बा० शिवप्रसादजी गुप्त, सेवा उपवन, (काशी) ३००)

द्वितीय पोषक वर्ग।

२३. श्री० मंत्री आर्यसमाज (गीदडबाह),
२४. श्री० ग्यानचन्दजी विद्याधर (न्यू दिल्ली)
२५. प्रो. डी. बी. परांजपे; बी. ई. (पूना ४)
२६. श्री. जसवन्तरावजी (कराची)
२७. श्री. म. रतिलालजी (मुंबई)
२८. श्री. सेठ मोतीलाल माणिकचन्दजी ऊर्फ प्रतापशेटजी (अमलनेर)
२९. म. नोतनदासजी गंभीर (लाहौर)
३०. ला. लालचन्दजी (सिमला)
३१. श्री. राय. ठाकुरदत्त धावन (डेरा इस्माएल-खाँ)
३२. श्री. बूधरामजी सूद (लाहौर)
३३. श्री. घेलाभाई मांडण पटेल

तृतीय पोषक वर्ग।

३४. श्री. मंत्री आर्यसमाज (डेरा-इस्माएल-खाँ)
३५. म. नारायणदत्तजी कॉन्ट्रॅक्टर (नयी दिल्ली)
३६. म. गुराँदित्ता भगवानदासजी आर्य
३७. पं. ठाकुरदत्तजी वैद्य मुलतानी (लाहौर)
३८. श्री. ना. वा. गुणाजी B. A., LL. B. (बेलगाँव)
३९. पं. रामचन्द्रजी B. A. (अंबाला-शहर)
४०. म. नरसोपंत बोरामणीकर (हैद्राबाद द०)
४१. श्री. दि. वा. कुलकर्णी (कराड)
४२. श्री. गो. शि. आपटे व सौ. राधाबाई आपटे (पूना २)
४३. श्री. पांडुरंग जावजी (मुम्बई)
४४. श्री. पुरुषोत्तम महादेव भावे (पूना २)
४५. डॉ. कु. ताराबाई जोगळेकर (पूना)
४६. श्री. शामराव विनायक वीरकर (विलेपार्ले)
४७. म. बाबरभाईजी पटेल, पीपलाद (आणन्द)
४८. श्री. विद्यारत्नजी (लाहौर)
४९. पं. मूलचन्दजी (दिल्ली)

५० श्री. लक्ष्मणदासजी आर्य (लायलपुर)
५१ पं. हरिशरणजी (गुरुकुल-इन्द्रप्रस्थ)
५२ म. भोजराज नायडू (हैदराबाद द.)
५३ श्री. राजा गोविंदप्रसादजी (बोलारम)
५४ श्री. गणपतराव भीमराव अफझुलपूरकर (मुंबई)
५५ श्री. सेठ देवीदिनजी (हैद्राबाद द.)
५६ श्री. रतनलालजी वकील (अम्बाला)
५७ श्री. दत्तात्रय विष्णु पिसोळकर (हैद्राबाद द०)
५८ श्री. मंत्री युवक वाचनालय (नसिराबाद)
५९ श्री. डी. एन्. नागरकट्टी, एम्. ए.; बी. एस्सी. (धारवाड)
६० श्री. डॉ. ह. रा. गोगटे (हैद्राबाद द.)
६१ श्री. ला. रामरखपालजी (हिसार-भिवानी)
६२ श्री. म. प्राणनाथजी, वकील (रुपाड)
६३ श्री. देवीसिंहजी (बोरिवली)
६४ श्री. मोतीभाई लक्ष्मीभाई, मु. घन्टोली (संखेडा)
६५ श्री. महादेव विष्णु परांजपे (इन्दोर शहर)
६६ म. कन्हयालाल ग्यारसीलाल जडिया (इंदोर शहर)
६७ श्री. वासुदेवराव मराठे (पूना २)
६८ श्री. रामराव दामोदर इंगळे रि० ऍकाउन्टंट P..W. D. (अकोला)
६९ मुंबईवैभव प्रेस (मुंबई)
७० श्री. अनंत नीलकंठ देशपांडे (यवतमाळ)
७१ श्री. कुलभूषण बबूता (लाहौर केंट०)
७२ श्री. नंदलालजी (धुनीवाला)
७३ ला. टेकचंदजी आर्य (लाहौर)
७४ म. रामचंद्रजी रि. सबडिव्हिजनल ऑफिसर (देहरा-दून)
७५ श्री. शंकर विष्णु गोळे (पूना)
७६ श्री. पु. ई. नारायणराव, (पूना)
७७ म. मगनलालजी जौहरी (मुंबई ४)
७८ म. जनार्दन प्रागजी व्यास (भुज)
७९ सौ. तापीबाई शिवगीरजी मोतीवाले (मुंबई)
८० श्रीमती कर्मदेवीजी (नानकानासाहेब)
८१ श्री. मंत्री-ढोंढाराम-आर्यपुस्तकालय, आर्यतोला (बेगमपुर)
८२ म. हरजीवन भगवानदासजी पटेल, बॉंबे पेपर मार्ट (अहमदाबाद)
८३ म. छत्रसिंह हमीरसिंह राणा (बडोदा)
८४ म. प्रभुदयालजी आर्य (नारनौल)
८५ म. प्रभुदास दालाभाई पटेल (करमसद)
८६ म. विष्णुचन्द्र सहगल ओवरसीयर लौली (बर्तल)
८७. म. रामजीलाल किशनसहायजी (दोहद)
८८. म. हिंमतलालजी गुप्त (सणसोली)
८९. श्री. सुशीला देवीजी अध्यापिका सावन आश्रम (झेलम)
९०. डॉ. साहबदयालजी (अमृतसर)
९१. श्री. पटेल मोहनदास झुबेरदास (काटोल)
९२. म. चंद्रकांत वेदवाचस्पति (सुरत)
९३. ठाकूरसाहेब श्री. केशरीसिंहजी (मोगर)
९४. श्री. दामोदर पीतांबर द्विवेदी (लुनावाडा)
९५ सेठ जीवरामजी कल्याणजी कोठारी (भद्रक)
९६. पू. महात्मा श्री. केशव शर्मा, आनंद-आश्रम (उपलेटा)
९७. श्री. गणपतराव बी. गोरे (कराची)
९८. शा. प्राणजीवन जमनादास (हांसोट)
९९. श्री. एन्. जी. शिखरे (फलूजा)
१००. श्री. महादेव बालकृष्ण आपटे, वकील (बडोदा)
१०१. श्री. भगवंत रामचंद्र देव, वकील (बडोदा)
१०२. श्री. त्रिभुवन क. ठक्कर, (अहमदाबाद)
१०३. श्री. सेठ सूरजी वल्लभदासजी (मुंबई ४)
१०४. श्री. परमात्मादयालजी (मेरठ)
१०५. म. कृष्णजी, बी. ए. (लाहौर)
१०६. सौ. कमलाबाई घारपुरे (पूना)
१०७. श्री. शंकर गणेश दीक्षित (पूना २)
१०८. श्री. रामजी धनजी पटेल (बंबई)
१०९ श्री. जानी गोविंदजी पुरुषोत्तम
११०. श्री. मंत्री-आर्यसमाज (शाहापुरा-राज)
१११. श्री. चुनीलालजी आर्य (सणसोली)
११२. श्री. पं. हरमुकुंद शास्त्री (जम्मु)
११३. श्री. सी. बी. सुरतवाला (सुरत)
११४. श्री. दीनानाथ धनपतरायजी (कराची)

११५. श्री. मंत्री–चरोतर प्रदेश आर्यसमाज (आणंद)
११६. श्री. त्र्यं. ग. काळे (पूना २)
११७. श्री. शंकर चूभानन्दतीर्थ स्वामी सुंदरीभवानी (माथक)
११८. श्री. तोलाराम मोहनदासजी (सक्कर)
११९. श्री. एल्. मेहरचंद सूद करोल (गर्ली)
१२०. श्री. कुलदीपचंद अग्रवाल (पठाणकोट)
१२१. श्री. धनीरामजी भल्ला, भल्ला शू कंपनी (कानपूर)
१२२. श्री. साधु आश्रम (होशिआरपूर)
१२३. प्रो. एस्. के. वेलवलकर (पूना ५)
१२४. श्री. ज. र. घारपुरे (पूना ४)
१२५. डॉ. यशवंत गोविंद आपटे (ग्वालीयर)
१२६. श्री. दत्तात्रय दीक्षित एस्. बंकापूर (हुबळी)
१२७. श्री. सेक्रेटरी-महाराष्ट्रसमाज (लाहौर)
१२८. श्री. गणपती शंकर जयशंकर शास्त्री (वडाली)
१२९. श्री. ग. स. मराठे, M. A. (Bom.) A. I. A. (London) (पूना ४)
१३०. श्री. सेक्रेटरी एम्. डी. सार्वजनिक पुस्तकालय, (धर्मज)
१३१. प्रो. एस्. व्ही. पुणतांबेकर, हिंदू युनिवार्सिटी (बनारस)
१३२ श्री. वकील नटवरलाल जेठालाल महेता (बडोदा)
१३३. डॉ. पु. वि. काणे (भावनगर)
१३४. श्री. हरीभाई वल्लभभाई ओझा (भावनगर)
१३५. श्री. विनायक अच्युत बर्वे (विरार)
१३६. श्री. गणेश गोविंद नवरे, (मुंबई २२)
१३७. श्री. मदनमोहन विद्याधर प्रेममंदिर (तेनाली,)
१३८. श्री. व्यंकटेश गणेश जावडेकर (पुणें २)
१३९ श्री. वासुदेव सदाशिव दामले (ठळकवाडी, बेलगाँव)
१४०. म. जटाशंकर सामळजी जोषी (भावनगर)
१४१. श्री. छोटाभाई शंकरभाई पटेल (बडोदा)
१४२. श्री. गोविंदलाल हरगोविंदलाल भट्ट, M. A. (बडोदा)
१४३. श्रीमंत कैप्टन् महाराज श्री. नरसिंहजीसाहब ऑफ छोटा उदेपूर.
१४४. श्री. मंत्री, सार्वजनिक केलवणी मंडळ, सिनोर.
१४५. श्री. जगन्नाथ शामराव देशपांडे, (दापोली)
१४६. श्री. तुलसीभाई एन्. पटेल
१४७. म. मगनभाई टी. पटेल
१४८. श्री. चतुरभाई लालजी पटेल
१४९. म. परमानन्द दुर्लभजी बावलिया
१५०. म. दयालजी भीमभाई देसाई
१५१. म. सेक्रेटरी आर्यसमाज, (जिंजा)
१५२. मे. गुलू कॉटन कंपनी
१५३. मेसर्स भगवानजी सुंदरजी की कंपनी
१५४. श्री. चन्द्रभाई के पटेल, बार-ॲट-लॉ
१५५. श्री. नरसीभाई के. पटेल
१५६. श्री. मगनभाई किशोरभाई पटेल
१५७. श्री. रामभाई लल्लूभाई देसाई
१५८ श्रीमती वीरमती ए. पटेल
१५९. डॉ. मूलजीभाई एस्. पटेल
१६०. श्री. छोटाभाई बी. पटेल
१६१. श्री. आर. यू. पटेल
१६२. श्री. अंबालाल एस्. पटेल
१६३. श्री. हरीभाई वी. पटेल
१६४. श्री. काशीभाई डी. पटेल
१६५. श्री. सी. जे. अमीन
१६६. श्री. सेक्रेटरी, आर्य समाज (कंपाला)
१६७. श्री. नाथालाल रुडाभाई
१६८. श्री. जेठाभाई एम्. पटेल
१६९. श्री. वी. बी. पंडित
१७०. श्री. सरदार वजीरसिंगजी
१७१. श्री. फुलाभाई बी. देसाई
१७२. म. अम्बालाल जे. पटेल
१७३. श्री. डी. एन्. शर्मा
१७४. म. वल्लभदासजी कारिया
१७५. श्री. सुखदेवजी भारद्वाज
१७६. म. जसभाई भाईलालभाई पटेल
१७७. म. एच्. बी. शर्मा
१७८, म. आर. बी. पटेल
१७९. म. सी. पी. पटेल
१८०. म. सी. सी. पटेल

❀

१८१. म. एम्. सी. पटेल
१८२. श्री. पुरुषोत्तम करमसदकर
१८३. म. डाह्याभाई के. पटेल
१८४. श्री. शिवाभाई गोवर्धनभाई अमीन
१८५. श्री. कानजी नारणजी
१८६. म. पटेल ब्रदरहुड
१८७. श्री. जे. एच्. गिडूमल
१८८. श्री. एन्. जे. दवे
१८९. श्री. चुनीभाई मगनभाई पटेल
१९० श्री. मंत्री-आर्यसमाज [किसुमु]
१९१. श्री लक्ष्मीविजय संगीत मण्डल
१९२. श्री. नौरिया रामजी
१९३. श्री. विठ्ठलजी एच्. जोबनपुत्रा
१९४. श्री. भानजी वालजी, सोंगोर स्टोअर्स
१९५. श्री. सेठ मूलजीभाई केशवजी
१९६. श्री. सेठ कानजीभाई जयराम
१९७. श्री. सेठ नारायणदास द्वारकादास
१९८. श्री. सेठ माधवजी विश्राम
१९९. श्री. सेठ केशवजी रामजी
२००. श्री. शरत्कुमार एम्. पारीख
२०१. श्री. शरत्कुमार व्यास
२०२. श्री. दुर्लभदेवजी
२०३. श्री. मंत्री, आर्यसमाज [दारेसलाम]
२०४. श्री. कबालाल रुखड नाया पटेल
२०५. श्री. मणीभाई मोतीभाई पटेल
२०६. श्री. एस्. के. वैष्णव
२०७. श्री. डी. के. पटेल
२०८. श्री. जसभाई पी. पटेल
२०९. श्री. मूलशंकर ओधवजी भट्ट
२१०. श्री. जूठालाल वेलजी
२११. श्री. मगनलाल लालाजी
२१२. म. मावजीभाई वल्लभदास
२१३. श्री. मंत्री, आर्यसमाज (झांजीबार)
२१४. म. कल्याणजी पुंजाभाई पटेल
२१५. डॉ. टी. के. गोराडिआ
२१६. श्री. मंत्री, बैरा हिंदू-सभा (बैरा)
२१७. म. वालजी दयालभाई
२१८. म. वसनजी मूलजी
२१९. मे. प्रीमिअर सिल्क बझार
२२०. मे. पीताम्बर एन्ड सन्स
२२१. म. भगवानजीभाई डाह्याभाई
२२२. मे. सवनीया एन्ड सन्स
२२३. मे. भारत स्टोअर्स
२२४. म. मोरारजी पी. पटेल.
२२५. मे. पटेल ब्रदर्स आणि कम्पनी
२२६. म. नगरजी डी. मेहता
२२७. मेसर्स डाह्याभाई की कम्पनी
२२८. म. जीणाभाई पी. नायक
२२९. म. नारणभाई पी. पटेल
२३०, म. प्रेमजी के. पटेल
२३१. मेसर्स नागर एन्ड रामजी
२३२. म. रामभाई जोगीभाई
२३३. म. बाबूभाई एम्. जमीनदार
२३४. म. अम्बालाल ए. त्रिवेदी
२३५. म. दयालभाई मदनजी वडेरा
२३६. म. नरसीदास एम्. बुद्धदेव
२३७. श्री. चन्दूभाई सी. पटेल
२३८. श्री. मगनभाई डी. मेहता
२३९. म. डाह्याभाई हांसजी पटेल
२४०. म. रामभाई डी. पटेल
२४१. मे. नायी ब्रद्रर्स
२४२. मे. छगनलाल एन्ड कंपनी
२४३. म. लल्लू नारायण
२४४. मे. युगांडा मशिनरी ट्रेडिंग कंपनी
२४५. मे. पंडितजी एण्ड कंपनी
२४६. म. के. आर. वशी
२४७. मेसर्स राणा ब्रदर्स
२४८. म. चन्दूभाई आर. पटेल
२४९. म. सेक्रेटरी टाऊन लाईब्रेरी (सोजित्रा)
२५०. म. भागूभाई डाह्याभाई पटेल
२५१. म. कंचनलाल एम्. खांडवाला
२५२. म. सी. पी. दलाल

151402

२५३. म. सोमाभाई वी. पटेल
२५४. म. भाईलालभाई अमथाभाई पटेल
२५५. म. मंत्री आर्यसमाज दीव (दीव)
२५६. म. गोकलदास हंसराज
२५७. म. नारायण जयराम
२५८. म. रामाभाई ढाणाभाई
२५९. म. मंत्री सरभोण सेवा समिति (सरभोण)
२६०. म. गुलाबभाई भुलाभाई पारेख
२६१. म. गंडाभाई गोपालजी नायक
२६२. वडाल हाईस्कूल लाईब्रेरी (वडाल)
२६३. म. भगवानजी गोविंद परमार (पारडी)
२६४. म. मगनभाई केशवभाई
२६५. श्री. मंत्री मोता सार्वजनिक लाईब्रेरी (मोता)
२६६. श्री. सोमाभाई जेठाभाई पटेल
२६७. श्री. गणेश रामचंद्र गोरे, लाहोर
२६८. पं. देवेन्द्रदत्तजी, ककराला
२६९. श्री. पंढरीनाथ आत्माराम इनामदार
२७० श्री. गंगाधर माधव ताम्बे, वकील, वकील
२७१. श्री. सावित्रीबाई कोम भाई रामचन्द्रजी (मुंबई)
२७२. श्री. शिवराजा राजारामजी, हैद्राबाद द०
२७३. श्री. मगनभाई एम्. पटेल
२७४. श्री. जसभाई मोतीभाई पटेल
२७५. श्री. कानजीभाई लक्ष्मण पटेल
२७६. श्री. गीजूभाई वसनजी देसाई
२७७. श्री. साधूराम मोतीभाई
२७८. श्री. सनातन धर्मसभा लाइब्रेरी (झांजीबार)
२७९. श्री. भाईलालभाई पटेल
२८०. श्रीमन्त ठाकोरसाहेब नटवरसिंहजी, (भादरवा)
२८१. श्री. नागेश रामचन्द्र भादेकर (पुणें २)
२८२. श्री. सोमाभाई फूलाभाई पटेल
२८३. श्री. मोलो स्टोअर्स (मोलो)
२८४. श्री. मगनभाई नाथाभाई पटेल
२८५. श्री. मगनभाई रणछोडभाई पटेल
२८६. श्री. नवनीतलाल नारायणदास शहा (बडोदा)
२८७. श्री. सुंदरजी भवानभाई (बडोदा)
२८८. श्री. चतुरभाई बी. पटेल (मोगरी)
२८९. श्री. मैनेजर- (नायब दीवानसाहेब)
श्री सजनकुंवर-संस्कृत-पाठशाला (लुणावाडा)
२९०. श्री. लक्ष्मी नारायण शास्त्री
२९१. श्री. हिमतसिंगजी शिवूभाई
२९२. श्री. सतीलाल गोविंदभाई
२९३. श्री. अनंत सखाराम वणीकर (अहमदाबाद)
२९४. महंत श्री रामदासजी महाराज (बडोदा)
२९५. श्री. देवराम लीलाधर
२९६. श्री. कालीदास लीलाधर
२९७. श्री. लल्लूभाई केशव बारडोलिया
२९८. श्री. मंत्री- डाहीलक्ष्मी पुस्तकालय, (नडीयाद)
२९९. श्री. परशुरामजी दुभात, (झरिया.)
३००. श्री. प्रभाशंकर के. त्रिवेदी
३०१. श्री. प्रमुख-सनातन-धर्म-मंडल, (लुणावाडा)
३०२. श्रीमान् नामदार ठाकोरसाहेब वढवाण स्टेट
३०३. मे० केशवजी आनंदजी ऐंड कं.
३०४. डा० एम्. के. शुक्ल, (वढवाण शहर)
३०५. श्री. हैडमास्तर- हाईस्कूल, (वढवाण)

शुद्ध वेद ।

वेद की चार संहिताओंका मूल्य यह है-

वेद	मूल्य	डाकव्यय	रेलचार्ज	विदेशका डाकव्यय
१ ऋग्वेद	५)	१)	॥)	१॥)
२ यजुर्वेद	२)	॥)	।)	॥।)
३ सामवेद	३)	॥)	।)	॥।)
४ अथर्ववेद	३)	१)	॥)	१॥)
	१३)	३)	१॥)	४॥)

इन चारों संहिताओंका पेशगी म० आ० से सहूलियतका मू० ६॥) रु० है, तथा डा० व्यय ३) रु० है । इसलिए डाकसे मंगानेवाले ९॥) सारे नौ रु० पेशगी भेजें। रेलचार्ज या डा० व्यय ग्राहकोंके जिम्मे है । इसलिये जो ग्राहक रेलसे चारों वेदों के एक या अनेक सेट मंगाना चाहते हैं, प्रति सेट के पीछे ७॥) रु० के अनुसार मूल्य भेजें। [इसमें ॥) दो बारका पैकिंग और ॥) दो बारकी रजिष्ट्रीके है।] उनके ग्रंथ To Pay रेलपार्सल से भेजेंगे ।

ऋग्वेद दूसरी वार छप रहा है । यह छपाई होनेतक ही चारों वेदसंहिताएँ ६॥) रु० में मिलेंगी । तत्पश्चात् ७॥) मूल्य होगा, इसलिये वेदप्रेमी ग्राहक शीघ्रता करें और अपना चन्दा शीघ्र भेजकर ग्राहक बनें ।

यजुर्वेद की चार संहिताएं ।

निम्नलिखित यजुर्वेद की चारों संहिताओं का मुद्रण शुरू हुआ है ।

	मूल्य	डा० व्यय	रेलव्यय	विदेशका डाक व्यय
१ काण्व संहिता (शुक्ल-यजुर्वेद)	३)	॥।)	।=)	१।)
२ तैत्तिरीय संहिता (कृष्ण-यजुर्वेद)	५)	१)	॥)	१॥)
३ काठक संहिता	५)	१)	॥)	१॥)
४ मैत्रायणी संहिता	५)	१)	॥)	१॥)
	१८)	३॥।)	१॥।=)	५॥)

वेदकी इन चारों संहिताओं का मूल्य १८) है । परंतु जो ग्राहक पेशगी मूल्य भेजकर ग्राहक बनेंगे, उनको ये चारों संहिताएं ९) नौ रु० में दी जायंगी । डा० व्यय अथवा रेलव्यय ग्राहकोंके जिम्मे होगा । मूल्य भेजने के समय यह प्रेषण- व्यय जोडकर मूल्य भेज दें । जिनको वेदों का अध्ययन करना है, उनके लिये यह अमूल्य अवसर है । ये ग्रंथ इतने सस्ते आजतक किसीने दिये नहीं और आगे भी इतने सस्ते यह ग्रन्थ नहीं मिलेंगे ।

जो सहूलियत का मूल्य ९) नौ रु० भेजकर यजुर्वेद की इन चार संहिताओं के ग्राहक होंगे, उनको "ऋग्वेद-यजुर्वेद (वाजसनेयी संहिता)-सामवेद-अथर्ववेद" ये चारों संहिताएंभी सहूलियत के मूल्यसेहि अर्थात् केवल ६॥) मूल्य सेही मिलेगी । प्रेषणव्यय डाकद्वारा ३) और रेलद्वारा १॥) है, वह ग्राहकों के जिम्मे रहेगा ।

इस सहूलियत का लाभ ग्राहक शीघ्र लेवें । ऋग्वेद का पुनर्मुद्रण होने तक ही यह सहूलियत रहेगी ।

-मंत्री- स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा)

उतो सहस्रभर्णसं वाचं सोम मखस्युवम् । पुनान इन्दवा भर ॥२६॥
पुनान इन्दवेषां पुरुहूत जनानाम् । प्रियः समुद्रमा विश ॥२७॥
दविद्युतत्या रुचा परिष्टोभन्त्या कृपा । सोमाः शुक्रा गवाशिरः ॥२८॥
हिन्वानो हेतृभिर्यत आ वाजं वाज्यक्रमीत् । सीदन्तो वनुषो यथा ॥२९॥
ऋधक्सोम स्वस्तये संजग्मानो दिवः कविः । पवस्व सूर्यो दृशे ॥३०॥[४१]१*(५१८)

॥ ६५ ॥

१-३० भृगुर्वारुणिर्जमदग्निर्भार्गवो वा । पवमानः सोमः । गायत्री ।

हिन्वन्ति सूरमुस्रयः स्वसारो जामयस्पतिम् । महामिन्दुं महीयुवः ॥ १ ॥
पवमान रुचारुचा देवो देवेभ्यस्परि । विश्वा वसून्या विश ॥ २ ॥
आ पवमान सुष्टुतिं वृष्टिं देवेभ्यो दुवः । इषे पवस्व संयतम् ॥ ३ ॥
वृषा ह्यसि भानुना द्युमन्तं त्वा हवामहे । पवमान स्वाध्यः ॥ ४ ॥
आ पवस्व सुवीर्यं मन्दमानः स्वायुध । इहो ष्विन्दवा गहि ॥ ५ ॥ [१]
यदद्भिः परिषिच्यसे मृज्यमानो गभस्त्योः । द्रुणा सधस्थमश्नुषे ॥ ६ ॥
प्र सोमाय व्यश्ववत्पवमानाय गायत । महे सहस्रचक्षसे ॥ ७ ॥
यस्य वर्णं मधुश्चुतं हरिं हिन्वन्त्यद्रिभिः । इन्दुमिन्द्राय पीतये ॥ ८ ॥
तस्य ते वाजिनो वयं विश्वा धनानि जिग्युषः । सखित्वमा वृणीमहे ॥ ९ ॥
वृषा पवस्व धारया मरुत्वते च मत्सरः । विश्वा दधान ओजसा ॥१०॥ [२]
तं त्वा धर्तारमोण्योः पवमान स्वर्दृशम् । हिन्वे वाजेषु वाजिनम् ॥११॥
अया चित्तो विपानया हरिः पवस्व धारया । युजं वाजेषु चोदय ॥१२॥
आ न इन्दो महीमिषं पवस्व विश्वदर्शतः । अस्मभ्यं सोम गातुवित् ॥१३॥
आ कलशा अनूषतेन्दो धाराभिरोजसा । एन्द्रस्य पीतये विश ॥१४॥
यस्य ते मद्यं रसं तीव्रं दुहन्त्यद्रिभिः । स पवस्वाभिमातिहा ॥१५॥ [३]
राजा मेधाभिरीयते पवमानो मनावधि । अन्तरिक्षेण यातवे ॥१६॥
आ न इन्दो शतग्विनं गवां पोषं स्वश्व्यम् । वहा भगत्तिमूतये ॥१७॥
आ नः सोम सहो जुवो रूपं न वर्चसे भर । सुष्वाणो देववीतये ॥१८॥
अर्षा सोम द्युमत्तमोऽभि द्रोणानि रोरुवत् । सीदञ्छ्येनो न योनिमा ॥१९॥
अप्सा इन्द्राय वायवे वरुणाय मरुद्भ्यः । सोमो अर्षति विष्णवे ॥२०॥ [४] (५३८)

इषं तोकाय नो दधदस्मभ्यं सोम विश्वतः । आ पवस्व सहस्रिणम् ॥२१॥
ये सोमासः परावति ये अर्वावति सुन्विरे । ये वादः शर्यणावति ॥२२॥
य आर्जीकेषु कृत्वसु ये मध्ये पस्त्यानाम् । ये वा जनेषु पञ्चसु ॥२३॥
ते नो वृष्टिं दिवस्परि पवन्तामा सुवीर्यम् । सुवाना देवास इन्दवः ॥२४॥
पवते हर्यतो हरिर्गृणानो जमदग्निना । हिन्वानो गोरधि त्वचि ॥२५॥ [५]
प्र शुक्रासो वयोजुवो हिन्वानासो न सप्तयः । श्रीणाना अप्सु मृञ्जत ॥२६॥
तं त्वा सुतेष्वाभुवो हिन्विरे देवतातये । स पवस्वानया रुचा ॥२७॥
आ ते दक्षं मयोभुवं वह्निमद्या वृणीमहे । पान्तमा पुरुस्पृहम् ॥२८॥
आ मन्द्रमा वरेण्यमा विप्रमा मनीषिणम् । पान्तमा पुरुस्पृहम् ॥२९॥
आ रयिमा सुचेतुनमा सुक्रतो तनूष्वा । पान्तमा पुरुस्पृहम् ॥३०॥ [६] (५४८)

॥ ६६ ॥

१-३० शतं वैखानसाः । पवमानः सोमः, १९-२१ अग्निः पवमानः । गायत्री, १८ अनुष्टुप् ।

पवस्व विश्वचर्षणेऽभि विश्वानि काव्या । सखा सखिभ्य ईड्यः ॥ १ ॥
ताभ्यां विश्वस्य राजसि ये पवमान धामनी । प्रतीची सोम तस्थतुः ॥ २ ॥
परि धामानि यानि ते त्वं सोमासि विश्वतः । पवमान ऋतुभिः कवे ॥ ३ ॥
पवस्व जनयन्निषोऽभि विश्वानि वार्या । सखा सखिभ्य ऊतये ॥ ४ ॥
तव शुक्रासो अर्चयो दिवस्पृष्ठे वि तन्वते । पवित्रं सोम धामभिः ॥ ५ ॥ [७]
तवेमे सप्त सिन्धवः प्रशिषं सोम सिस्रते । तुभ्यं धावन्ति धेनवः ॥ ६ ॥
प्र सोम याहि धारया सुत इन्द्राय मत्सरः । दधानो अक्षिति श्रवः ॥ ७ ॥
समु त्वा धीभिरस्वरन्हिन्वतीः सप्त जामयः । विप्रमाजा विवस्वतः ॥ ८ ॥
मृजन्ति त्वा समग्रुवोऽव्ये जीरावधि ष्वणि । रेभो यदज्यसे वने ॥ ९ ॥
पवमानस्य ते कवे वाजिन्त्सर्गा असृक्षत । अर्वन्तो न श्रवस्यवः ॥१०॥ [८]
अच्छा कोशं मधुश्चुतमसृग्रं वारे अव्यये । अवावशन्त धीतयः ॥११॥
अच्छा समुद्रमिन्दवोऽस्तं गावो न धेनवः । अग्मन्नृतस्य योनिमा ॥१२॥
प्र ण इन्दो महे रण आपो अर्षन्ति सिन्धवः । यद्गोभिर्वासयिष्यसे ॥१३॥
अस्य ते सख्ये वयमियक्षन्तस्त्वोतयः । इन्दो सखित्वमुश्मसि ॥१४॥
आ पवस्व गविष्टये महे सोम नृचक्षसे । एन्द्रस्य जठरे विश ॥१५॥ [९] (५६३)

कुमारैः सर्वशो वीरः सत्कारेणाऽभिचोदितः ।
समानवयसः सर्वानाश्लिष्य स पुनः पुनः ॥ २१ ॥
कृष्णस्य भवने रम्ये रत्नभोज्यसमावृते ।
उवास सह कृष्णेन बहुलास्तत्र शर्वरीः ॥ २२ ॥ [८११८]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वण्यर्जुनवनवासपर्वण्यर्जुनद्वारकागमने विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२० ॥ समाप्तं चार्जुनवनवासपर्व ।

अथ सुभद्राहरणपर्व ॥

वैशम्पायन उवाच—ततः कतिपयाहस्य तस्मिन्रैवतके गिरौ ।
वृष्ण्यन्धकानामभवदुत्सवो नृपसत्तम ॥ १ ॥
तत्र दानं ददुर्वीरा ब्राह्मणेभ्यः सहस्रशः ।
भोजवृष्ण्यन्धकाश्चैव महेन्द्रस्य गिरेस्तदा ॥ २ ॥
प्रासादै रत्नचित्रैश्च गिरेस्तस्य समन्ततः ।
स देशः शोभितो राजन्कल्पवृक्षैश्च सर्वशः ॥ ३ ॥
वादित्राणि च तत्राऽन्ये वादकाः समवादयन् ।
ननृतुर्नर्तकाश्चैव जगुर्गेयानि गायकाः ॥ ४ ॥
अलंकृताः कुमाराश्च वृष्णीनां सुमहौजसाम् ।
यानैर्हाटकचित्रैश्च चञ्चूर्यन्ते स्म सर्वशः ॥ ५ ॥

किया, और उनसे प्रणाम किये जाय और सब कुमारोंकी पावलगी ले सम अवस्थावालोंको बारबार गले लगाया। आगे कृष्णके साथ भांति भांतिके रत्न तथा भोग की सामग्रियोंसे भरे हुए सुन्दर भवनमें बहुत दिन काटे। (१७-२२) [८११५]

दोसौबीस अध्याय और अर्जुनवनवासपर्व समाप्त।

दोसौ इक्कीस अध्याय और सुभद्राहरणपर्व।

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि अनन्तर कुछ दिनों तक उस रैवतक पर्वत पर वृष्णि और अन्धकवंशियोंका उत्सव होने लगा। भोज वृष्णि और अन्धकवंशी वीर उस गिरि सम्बन्धी उत्सवमें सहस्रों ब्राह्मणोंको भांति भांतिकी सामग्री दान देने लगे। हे महाराज ! रैवतक पर्वतकी चारों ओरकी उपत्यका और अधित्यकायें रत्नोंसे सजे कल्पवृक्ष समान कामनाओं की वस्तुओंसे भरे गृहोंसे सुहाने लगी। बाजावाले नाचनेवाले और गानेवाले नाना भांतिके बाजे नाच और गीत आरम्भ कर दिये। अति वीर्यवन्त वृष्णिवंशी कुमारगण सज धज कर सुनैले रथों पर इधर उधर घूमते हुए सुहाने लगे। सैकडों सहस्रों पुरवासी पत्नी और साथियों

पौराश्च पादचारेण यानैरुच्चावचैस्तथा ।
सदाराः सानुयात्राश्च शतशोऽथ सहस्रशः॥ ६ ॥
ततो हलधरः क्षीबो रेवतीसहितः प्रभुः ।
अनुगम्यमानो गन्धर्वैरचरत्तत्र भारत ॥ ७ ॥
तथैव राजा वृष्णीनामुग्रसेनः प्रतापवान् ।
अनुगीयमानो गन्धर्वैः स्त्रीसहस्रसहायवान्॥ ८ ॥
रौक्मिणेयश्च साम्बश्च क्षीबो समरदुर्मदौ ।
दिव्यमाल्याम्बरधरौ विजह्रातेऽमराविव ॥ ९ ॥
अक्रूरः सारणश्चैव गदो बभ्रुर्विदूरथः ।
विशठश्चारुदेष्णश्च पृथुर्विपृथुरेव च ॥ १० ॥
सत्यकः सात्यकिश्चैव भङ्गकारमहारवौ ।
हार्दिक्य उद्धवश्चैव ये चाऽन्ये नाऽनुकीर्तिताः॥ ११ ॥
एते परिवृताः स्त्रीभिर्गन्धर्वैश्च पृथक्पृथक् ।
तमुत्सवं रैवतके शोभयाश्चक्रिरे तदा ॥ १२ ॥
चित्रकौतूहले तस्मिन्वर्तमाने महाद्भुते ।
वासुदेवश्च पार्थश्च सहितौ परिजग्मतुः ॥ १३ ॥
तत्र चंक्रममाणौ तौ वसुदेवसुतां शुभाम् ।
अलंकृतां सखीमध्ये सुभद्रां ददृशुस्तदा ॥ १४ ॥

समेत अनेकप्रकारके यान पर टहलने लगे। कोई कोई पैदलही घूमने लगा। (१-६)

हे भारत ! रेवतीके साथ प्रभु हलधर मधुसे मतवाले सहचर गन्धर्वोंसे घिरे जाय घूमने लगे। वैसेही सहस्र नारियोंके साथ वृष्णियोंके राजा प्रतापी उग्रसेन सहचर गन्धर्वोंसे घेरे जाय घूमने घामनेमें प्रवृत्त हुए। युद्धमें कठोर साम्ब और रुक्मिणीकुमार मधुसे मतवाले हो सुन्दर माला और वस्त्र पहिने देवोंकी भांति विहार करने लगे। अक्रूर, सारण, गद, बभ्रु, विदूरथ, निशठ, चारुदेष्ण, पृथु, विपृथु, सत्यक, सात्यकि, भङ्गकार, महारव, हार्दिक्य, उद्धव, और दूसरे बहुतेरोंने अलग अलग स्त्री और गन्धर्वों के साथ वहां टहलते हुए उस महोत्सवकी शोभा बढायी। (७-१२)

इस प्रकार उस मनोहर अति आश्चर्य कौतूहलके बर्त्ताव होने पर वासुदेव और पार्थ एकत्र हो टहलने लगे। उन्होंने इधर उधर घूमते समय सखियोंसे घिरी नाना आभूषणोंसे बनीठनी, शुभलक्षणों



स्वाध्याय-मंडल

औंध (जि० सातारा)

द्वारा प्रकाशित

पुस्तकोंका

सूचीपत्र।

प्रकाशक

स्वाध्याय--मण्डल, औंध, (जि० सातारा.)

Post- AUNDH, (Dt. Satara)

Station- RAHIMATPUR (M. S. M. RY.)

संवत् १९९६, शक १८६२, सन् १९४०



स्वाध्याय-मण्डल।

पुस्तक–विक्रीके नियम।

(१) उधार पुस्तक देना बन्द किया है। सब पुस्तक वी० पी० द्वारा ही भेजे जाते हैं, अथवा पेशगी मूल्य आनेपर रजिष्ट्री डाकसे भेजे जाते हैं। पैकिंग अच्छा करने का विशेष ख्याल किया जाता है।

(२) व्यौपारियोंके लिये निम्न लिखित प्रकार कमिशन दिया जाता है।

१००)	रु०	के	पुस्तकोंपर २०)	की	सैकडा
५०)	"	"	" १५)	"	"
२५)	"	"	" १०)	"	"
१०)	"	"	" ५)	"	"

१०) रु० से कम मूल्य की पुस्तकोंपर कमिशन नहीं मिलेगा।

(३) प्रायः एक रुपये के पुस्तकों के लिये दो या तीन आने डाकव्यय लगता है। किसी अवस्थामें कुछ न्यून वा अधिक भी होता है। परन्तु साधारण अनुमान यही है। पुस्तकों का जो मूल्य इस सूचीपत्रमें लिखा है, वह डाकव्यय के विना है। वी० पी० मंगवानेवालों को पुस्तकों के मूल्य के अतिरिक्त उक्त हिसाब से डाकव्यय देना पडेगा। किसी कारण भी वी० पी० मंगवानेवालों को डाकव्यय माफ नहीं होगा।

(४) कोई महाशय दूसरेके नामपर वी० पी० भेजने को न लिखें। हमारा अनुभव है कि इस प्रकार की वी० पी० याँ स्वीकृत नहीं होतीं। इसलिये ऐसी वी० पी० नहीं भेजी जायगी।

(५) बदलेमें पुस्तक नहीं दिये जाते, क्योंकि उनकी विक्री करनेका साधन यहाँ नहीं है।

पेशगी मूल्य भेजनेसे लाभ।

(६) जो लोग १०) रु० अथवा अधिक मूल्य की पुस्तकें, पुस्तकों का सब मूल्य पेशगी म० आ० द्वारा भेजकर मंगवायेंगे, उनको उक्त कमिशन के साथ पांच फी सैकडा कमिशन अधिक मिलेगा और प्रेषणव्यय भी माफ होगा। वी० पी० मंगवाकर लोग वापस करते हैं, इससे बहुत नुकसान उठाना पडता है, इसलिये म० आ० से पेशगी मूल्य भेजनेवालों को ही उक्त सहूलियत दी है। वी० पी० से पुस्तकें मंगवानेवालों को यह लाभ नहीं होगा। अर्थात् वी० पी० मंगवानेवालों को पूरा डाकव्यय देना पडेगा। ग्राहक इस बात का विचार अवश्य करें।

(७) एक रु० से कम मूल्यकी पुस्तकें वी० पी० से मंगवाने में डाकव्यय दुगना देना पडता है। अतः १) एक रु० से कम मूल्यकी पुस्तकें होंगी, तो ब्रिटिश पोस्टके टिकट भेजकर मंगवानेमें लाभ है। उदाहरण– दो आने की पुस्तकपर वी० पी० व्यय ।-) पांच आने लगता है और एक रु० के पुस्तकोंपर भी ।-) लगता है। पुस्तकें मंगवानेवाले इसका अवश्य विचार करें।

(८) पत्रव्यवहार कृपया संस्कृत, हिंदी या आर्य भाषा, मराठी या अंग्रेजी में कीजिये। अन्य भाषाओं के पत्र यहाँ पढे नहीं जाते। यहाँ उर्दू पढनेवाला कोई नहीं है।

(९) वापस आई हुई पुस्तकें पुनः मंगवानी होंगीं, तो डाकव्यय दुगना देना पडेगा।

(१०) एक समय भेजी हुई पुस्तकें पुनः किसी भी कारण वापस नहीं की जायंगी।

मंत्री– स्वाध्याय-मंडल, औंध।

शुद्ध चार वेदोंकी संहिताएं ।

ऋग्वेद	मू० ५)	डा० व्य० १)
यजुर्वेद (वाजसनेयी)	,, २)	,, ॥)
अथर्ववेद	,, ३)	,, ।॥)
सामवेद	,, ३)	,, ।॥)

यजुर्वेद-सर्वानुक्रम और पादसूची ये दोनों भी तैयार किये हैं। सर्वानुक्रमसे प्रत्येक मंत्र के ऋषि, देवता और छन्द विदित हो सकते हैं । मूल्य १) डा० व्य० ।-)

पादसूचीसे मंत्र का प्रत्येक पाद कहां है, इसका ज्ञान हो सकता है। मूल्य १) डा० व्य० ।-)

यजुर्वेदका स्वाध्याय ।

१. यजुर्वेद अ० ३० की व्याख्या ।
(नया संस्करण)

मनुष्योंकी सच्ची उन्नतिका सच्चा साधन (पूर्वार्ध) गृहव्यवस्था, समाज-व्यवस्था, ज्ञान के सुसंस्कार, सबका पालन, पोषण और संवर्धन आदिके वैदिक उपायोंका इसमें वर्णन है। चारों वर्णोंके कर्तव्य वैदिक मंत्रों के आधार से इस पुस्तक में बताये हैं । मू० १) डा० व्य० ।-)

२. यजुर्वेद अ० ३२ की व्याख्या।
(नया संस्करण)

एक ईश्वर की उपासना (पूर्वार्ध) इसमें ईश्वर के एकत्वका और उसके अनेक गुणोंका वर्णन है। ईश्वर की उपासना करनेकी विधि इसी पुस्तकके पढनेसे ज्ञात हो सकती है। मू० ॥) डा० व्य० =)

३. यजुर्वेद अ० ३६ की व्याख्या ।

'शांतिकरण' सच्ची शांतिका सच्चा उपाय । व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और जगत् में सच्ची शांति कैसी स्थापन की जा सकती है, इसके वैदिक उपाय इस पुस्तक में देखिये । मू० ॥=) डा० व्य० =)

४. यजुर्वेद अ० ४० की व्याख्या ।

केन उपनिषद् ।

केन-उपनिषद् का मनन, उपनिषद् ज्ञानका महत्त्व, उपनिषद् का अर्थ, सांप्रदायिक झगडे, 'केन' शब्दका महत्त्व, वेदान्त, उपनिषदोंमें ज्ञानका विकास, अग्नि शब्द का भाव, उपनिषद्के अंग, शांतिमंत्रोंमें तत्त्वज्ञान, तीन शांतियोंका भाव, ईश और केन-उपनिषद् इत्यादि विषय इस पुस्तक में आ गये हैं । मू० १।) ह० डा० व्य० ।-)

धर्मशिक्षाके ग्रन्थ ।

बालक और बालिकाओं की पाठशालाओं में तथा घरोंमें बालबच्चोंकी धार्मिक पढाईके लिये ये ग्रंथ विशेष रीतिसे तयार किये हैं ।

बालकोंकी धर्म-शिक्षा ।

(१) प्रथम भाग, प्रथम श्रेणीकी धर्मशिक्षाके लिये, मू० -) डा० व्यय -)

(२) द्वितीय भाग, द्वितीय श्रेणीकी धर्मशिक्षाके लिये, मू० =) डा० व्यय -)

वैदिक पाठमाला । (३) तृतीय श्रेणीकी धर्मशिक्षाके लिये, मू० ≡) डा० व्य० -)

वैदिक यज्ञ-संस्था ।

प्रथम भाग ।

इस पुस्तकमें निम्नलिखित विषयोंका विचार हुआ है— पिष्ट-पशुमीमांसा । लघुपुरोडाशमीमांसा (ले० श्री० पं० बुद्धदेवजी) । दर्श और पौर्णमास, अद्भुत कुमारसम्भव (ले० श्री० पं० चन्द्रमणीजी) । बुद्धके यज्ञविषयक विचार (संपादकीय) । यज्ञ का महत्त्व, यज्ञका क्षेत्र, यज्ञका गूढ तत्त्व, औषधियों का महामख (ले० श्री० पं० धर्मदेवजी)। वैदिक यज्ञ और पशुहिंसा। (ले० श्री० पं० पुरुषोत्तमलालजी) क्या वेदोंमें पशुओंकी बलि करना लिखा है ? मू० १) डा० व्यय० ।-)

[द्वितीय भाग समाप्त है ।]

तृतीय भाग- गोमेध ।

इस पुस्तक में निम्न लिखित विषयोंका विचार हुआ है- योगमें गोमांस, प्रकरणानुकूल अर्थ-विचार, ऋषिपंचमी, वेदका महासिद्धान्त, यज्ञकी पूर्व और उत्तरवेदी, मधुपर्क, कलिवर्ज्य-प्रकरण, बृहदारण्यक का वचन, गौके वैदिक नाम, गोमेध का विचार, चरककी साक्षी, विवाहमें गोमांस, अतिथि के लिये गौ, यज्ञमें मांस, अन्त्य यज्ञ, वेदमें अहिंसा, अवध्य गौ और बैल, यज्ञका तत्व, गौको खाना, इत्यादि अनेक विषय इसमें आगये हैं। हरएक विषयका प्रतिपादन करनेके लिये अनेक वेदमंत्रों के प्रमाण दिय हैं। जो कहते हैं कि " वैदिक समय में गोमांस-भक्षण की प्रथा थी " उनके लिये यह उत्तम उत्तर है। यह पुस्तक पढने के पश्चात् उक्त विषयमें कोई शंका नहीं रहेगी। मूल्य १) रु० डा० व्यय ।-)

अथर्ववेदका सुबोध भाष्य ।

	मू०	डा० व्य०
१ प्रथम काण्ड (सजिल्द)	२)	॥)
२ द्वितीय काण्ड "	२)	॥)
३ तृतीय काण्ड "	२)	॥)
४ चतुर्थ काण्ड "	२)	॥)
५ पंचम काण्ड "	२)	॥)
६ षष्ठ काण्ड "	२)	॥)
७ सप्तम काण्ड "	२)	॥)
८ अष्टम काण्ड "	२)	॥)
९ नवम काण्ड "	२)	॥)
१० दशम काण्ड "	२)	॥)
११ एकादश काण्ड "	२)	॥)
१२ द्वादश काण्ड "	२)	॥)
१३ त्रयोदश काण्ड "	१)	।-)
१४ चतुर्दश काण्ड "	१)	।-)
१५ १५से१८तकके ४ काण्ड"	२॥)	॥।)

येही काण्ड इस स्वरूप में भी तैयार हैं।

	मू०	डा० व्य०
१ से ५ काण्ड तक (सजिल्द)	८)	१॥)
६ से १० "	८)	१॥)
११ से १८ "	८)	१॥)

श्रीमद्भगवद्गीता ।

(टीकालेखक- पं० श्री० दा० सातवळेकर.)

इस 'पुरुषार्थबोधिनी' भाषाटीका में यह बात दर्शायी गई है कि वेद, उपनिषद् आदि प्राचीन ग्रन्थोंके ही सिद्धांत गीतामें नये ढंगसे किस प्रकार कहे हैं। अतः इस प्राचीन परंपरा को बताना इस 'पुरुषार्थबोधिनी' टीका का मुख्य उद्देश्य है, अथवा यही इसकी विशेषता है।

गीता- के १८ अध्याय ३ सजिल्द पुस्तकों में विभाजित किये हैं—

अध्याय	१ से	५	मू० ३)	डा० व्य०	॥=)
"	६ "	१० "	३) "	"	॥=)
"	११ "	१८ "	३) "	"	॥=)

इकट्ठा लेनेपर डा० व्य० सहित मू० ९) रु० होगा।

फुटकर प्रत्येक अध्याय का मू० ॥) आठ आणे और डा० व्यय=) है

भगवद्गीता-समन्वयः ।

'वैदिक धर्म' के आकार के १३६ पृष्ठ, चिकना कागज, मू० १), सजिल्द का मू० १॥) रु०, डा० व्यय ।=) डा० व्ययसहित मूल्य भेज दीजिये। यह पुस्तक श्रीमद्भगवद्गीताका अध्ययन करनेवालोंके लिये अत्यंत आवश्यक है।

भगवद्गीता-श्लोकार्धसूची ।

इसमें श्रीगीताके श्लोकार्धोंकी अकारादि क्रमसे आद्याक्षरसूची है और उसी क्रमसे अन्त्याक्षरसूची भी है। मूल्य केवल ।=) डा० व्य० =)

भगवद्गीता-लेखमाला ।

'गीता' मासिक में प्रकाशित गीताविषयक लेखों का यह संग्रह है। इसके सात भाग तैयार हैं, जिनका मू० ५॥) रु० और डा० व्य० १॥) है।

गीता-समीक्षा- मू० =) डा० व्य० -)

योगसाधन-माला ।

१. संध्योपासना ।

योगकी दृष्टिसे संध्या करनेकी प्रक्रिया। (इसमें हमारा 'संध्याका अनुष्ठान' यह पुस्तक संमिलित है) मू० १॥) डा० व्य० ।-)

२. वैदिक प्राणविद्या ।

प्राणायाम करनेके समय जिस प्रकार 'मनकी भावना' रखनी चाहिये उसका वर्णन । मू० ॥) डा० व्य० =)

३. ब्रह्मचर्य ।

इस सचित्र पुस्तकमें 'अथर्ववेदीय ब्रह्मचर्य--सूक्त' का विवरण है । ब्रह्मचर्य--साधन और योगसाधनके योगासन तथा वीर्यरक्षणके अनुभवसिद्ध उपाय इस पुस्तकमें बताये हैं। मू० १) रु०, डा० व्य० ।-)

४. आसन ।

इसमें आसनोंका वर्णन चित्रोंके समेत है। मू० २) रु० डा० व्य० ।≡)

आसनोंका चित्रपट २०×३० इंच कागजपर मू०) डा० व्य० -)

५ योगसाधनकी तैयारी ।

योगाभ्याससे उन्नति करनेका पुस्तक। मू० ।॥) डा० व्य० ।-)

६. सूर्यभेदन–व्यायाम ।

(सचित्र) बलवर्धक योगके व्यायाम। मू० ॥) डा० व्य० =)

७. इन्द्रशक्तिका विकास ।

मनुष्यमात्रमें इन्द्रशक्ति है; परंतु वह इतनी जाग्रत नहीं है। उसका संवर्धन करनेकी पद्धति इसमें दर्शायी है। मूल्य ॥) और डा० व्य० =) है।

स्वाध्याय–मण्डल द्वारा प्रकाशित

वैदिक धर्मके ग्रंथ ।

आगम–निबंध–माला ।

वेद अनंत विद्याओं का समुद्र है। इस वेदसमुद्रका मंथन करने से अनेक 'ज्ञानरत्न' प्राप्त होते हैं, इन रत्नों की यह माला है।

	मू०	डा० व्य०
१ वैदिक--राज्यपद्धति ।	।-)	-)
२ मानवी आयुष्य ।	।)	-)
३ वैदिक सभ्यता ।	।॥)	=)
४ वैदिक चिकित्साशास्त्र ।	।=)	=)
५ वैदिक स्वराज्यकी महिमा ।	॥)	=)
६ वैदिक सर्पविद्या ।	॥)	=)
७ मृत्युको दूर करनेका उपाय ।	॥)	=)
८ वेदमें चर्खा ।	॥)	=)
९ शिवसंकल्प का विजय ।	॥)	=)
१० वैदिक धर्मकी विशेषता ।	॥)	=)
११ तर्कसे वेदका अर्थ ।	॥)	=)
१२ वेदमें रोगजंतुशास्त्र ।	)	-)
१३ ब्रह्मचर्यका विघ्न ।	=)	-)
१४ वेदमें लोहेके कारखाने ।	।-)	-)
१५ वेदमें कृषिविद्या ।	≡)	-)
१६ इंद्रशक्ति का विकास ।	॥)	=)
१७ वेदोक्त प्रजननशास्त्र ।	)	-)

ईश उपनिषद् ।

इस उपनिषद् का सरल भाषानुवाद इस पुस्तकमें दिया है। प्रारंभमें अति विस्तृत भूमिका दी है, जिसमें ईशोपनिषद्के कई सिद्धांतोंका वैदिक प्रमाणोंसे विचार किया है और मन्त्रभागोंका अर्थ निश्चित किया है। मन्त्रका अर्थ देनेके पश्चात् अति विस्तृत टिप्पणी है। मू० १) डा० व्य० ।-)

छूत और अछूत ।

प्रथम भाग मूल्य १) डा० व्य० ।-)

द्वितीय भाग मूल्य ॥।) डा० व्य० ।-)

इस पुस्तकमें श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहास, धर्मसूत्र आदिके प्रमाणों से छूताछूतका विचार किया है ।

देवता-परिचय-ग्रंथ-माला ।

१ रुद्रदेवताका परिचय । मू० ॥) डा० व्य० =)

२ ऋग्वेदमें रुद्रदेवता । ,, ॥=) ,, =)

३ देवताविचार । ,,) ,, -)

४ वैदिक अग्निविद्या । ,, १॥) ,, ।-)

यज्ञोपवीत-संस्कार-रहस्य ।

(लेखक- कर्मयोगी गणेशानंदजी गीतार्थी ।)

यज्ञोपवीत वा उपनयन सोलह संस्कारों में दसवाँ संस्कार है और सनातनधर्म का मेरुदण्ड है । इस पुस्तक में विद्वान् लेखकने अपनी विशिष्ट लेखन-शैलीसे इस विषयकी राष्ट्रीय, धार्मिक और सामाजिक दृष्टिसे अत्यंत महत्त्वपूर्ण विवेचना की है । वैदिक और सनातनधर्मी पाठकोंद्वारा इसका पठन होना अत्यंत आवश्यक है । पृष्ठसंख्या १७५ मूल्य केवल १॥) रु० डा० व्यय ।) म० आ० से २) रु० भेज दीजिये ।

वेदका स्वयं-शिक्षक ।

जो पाठक प्रतिदिन आधा घंटा इसके अध्ययनके लिये देंगे, उनका प्रवेश वेदके मंदिरमें सुगमता से हो सकता है । इस समय दो भाग तैयार हैं । प्रति भाग का मू० १॥) डा० व्य० ।=)

शतपथ-बोधामृत ।

बोधसे ही हम सबकी उन्नति होनेवाली है । इसी कारण शतपथ के बोध-वचनोंका संग्रह इस पुस्तकमें किया है । मूल्य ।) डा० व्य० -)

संस्कृत-पाठ-माला ।

[संस्कृत- भाषाका अध्ययन करनेका सुगम उपाय ।]

संस्कृत-पाठमाला के अध्ययन से लाभ- (१) अपना कामधन्धा करते हुए फुरसद के समय आप किसी दूसरेकी सहायता के विना इन पुस्तकोंको पढकर अपना संस्कृतका ज्ञान बढा सकते हैं । (२) प्रतिदिन १ घंटा पढनेसे एक वर्षके अंदर आप रामायण-महाभारत समझने की योग्यता प्राप्त कर सकते हैं । (३) पुस्तक अत्यन्त सुगम हैं । विना नियमों को कंठ किये आपका संस्कृत भाषामें प्रवेश हो सकता है । (४) पाठशाला में जानेवाले विद्यार्थी भी इन पुस्तकों से बडा लाभ प्राप्त कर सकते हैं ।

इस पद्धतिकी विशेषता यह है- (१) प्रथम, द्वितीय और तृतीय भाग । इन तीन भागोंमें संस्कृत भाषाके साथ साधारण परिचय करा दिया गया है । (२) चतुर्थ भाग । इस चतुर्थ भागमें संधिविचार बताया है । (३) पंचम और षष्ठ भाग । इन दो भागों में संस्कृतके साथ विशेष परिचय कराया गया है । (४) सप्तमसे दशम भाग । इन चार भागोंमें पुल्लिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसकलिंग नामों के रूप बनानेकी विधि बताई है । (५) एकादश भाग । इस भाग में सर्वनाम के रूप बताये हैं । (६) द्वादश भाग । इस भागमें समासों का विचार किया है । (७) तेरहसे अठारहवे भाग तकके छः भाग । इन छः भागों में क्रियापद-विचार की पाठविधि बताई है । (८) उन्नीससे चोवीस तकके छः भाग । इन छः भागोंमें वेदके साथ परिचय कराया है ।

एक पुस्तकका मूल्य ।=) छः आने और डा० व्य० =)

३ पुस्तकों का मूल्य १) और डा० व्य० ।)

१२ पुस्तकोंका मूल्य ४) और डा० व्य० ॥)

२४ पुस्तकोंका मूल्य ६॥) रु० और डा० व्य० ॥।=)

संपूर्ण महाभारत तैयार है ।

अब संपूर्ण १८ पर्व महाभारत तैयार है । इस सजिल्द महाभारत का मू० ६५) रु० रखा गया है । तथापि यदि आप पेशगी म० आ० द्वारा संपूर्ण मूल्य भेजेंगे, तो यह ११००० पृष्ठोंका संपूर्ण, सजिल्द, सचित्र ग्रंथ हम ६०) रु० में दे सकते हैं । आपसे रुपया आतेही सब पुस्तकें आपको रेलवेपार्सल द्वारा हमारे व्ययसे भेजेंगे, जिससे आपको पुस्तक सुरक्षित पहुचेंगे । रुपया म० आर्डरसे भेज दें, जिसे आधा डाकव्यय माफ होगा । यदि आपके पास रेलस्टेशन नहीं है, तो डाकद्वारा भेज देंगे ।

सूचना- महाभारतका कोई भी फुटकर पर्व आप मंगवा सकते हैं । डाकव्ययसहित मूल्य भेज दीजिये ।

महाभारतकी समालोचना दो भाग । प्रत्येक भागका मू० ॥), डा० व्य० =)

महाभारत ।

आर्योंके विजयका प्राचीन इतिहास ।

पर्वका नाम	पृष्ठसंख्या	मूल्य	डा० व्य०	
१ आदिपर्व	११२५	६) छः	रु.	१।)
२ सभापर्व	३५६	२॥) अढाई	,,	॥।)
३ वनपर्व	१५३८	८) आठ	,,	१॥)
४ विराटपर्व	३०६	२) दो	,,	॥)
५ उद्योगपर्व	९५३	५) पांच	,,	१।)
६ भीष्मपर्व	८००	४॥) साढेचार	,,	१)
७ द्रोणपर्व	१३६४	७॥) साढेसात	,,	१॥)
८ कर्णपर्व	६३७	३॥) साढेतीन	,,	॥।)
९ शल्यपर्व	४३५	२॥) अढाई	,,	॥।)
१० सौप्तिकपर्व	१०४	॥।) बारह आने		।=)
११ स्त्रीपर्व	१०८	॥।) ,, ,,		।=)
१२ शांतिपर्व				
१ राजधर्मपर्व	६९४	४) चार	रु०	१)
२ आपद्धर्मपर्व	२३२	१॥) डेढ	,,	॥)
३ मोक्षधर्मपर्व	११००	६) छः	,,	१।)
१३ अनुशासनपर्व	१०७६	६) छः	,,	१=)
१४ आश्वमेधिकपर्व	४००	२॥) अढाई	,,	॥)
१५ आश्रमवासिकपर्व	१४८	१) एक	,,	।=)
१६-१७-१८ मौसलपर्व, महाप्रास्थानिकपर्व, स्वर्गारोहणपर्व ।	१०८	१) एक	,,	।=)

श्रीमद्भगवद्गीता ।

(प्रथम भाग)

(ले०- कर्मयोगी श्रीगणेशानंदजी गीतार्थी, प्रयाग ।)

इस पुस्तकमें विद्वान् लेखकने प्रसिद्ध कर्मयोगी श्रीमायानंदजी महाराजकी पद्धतिसे भगवद्गीताका विवरण किया है । इस अर्थके देखनेसे पाठक विज्ञान के नवीन क्षेत्र में अवतीर्ण होंगे । अर्थकी अपूर्वता प्रत्येक पृष्ठपर दिखाई देगी । इसके अध्ययनसे पाठकोंकी समझ में आ जायगा कि गीता समाजसेवाधर्म का उपदेश करती है, न कि समाजसेवा-निरपेक्ष ज्ञान, कर्म और भक्तिका । पृष्ठसंख्या १४० मू० १) डा० व्य० ।=)

सूर्यनमस्कार ।

श्रीमान् बालासाहेब पंत B. A. प्रतिनिधि, राजासाहब औंध रियासत, इन्होंने इस पुस्तक में सूर्यनमस्कार का व्यायाम किस प्रकार लेना चाहिए, इससे कौनसा लाभ होता है और वह क्यों; सूर्यनमस्कार का व्यायाम लेनेवालों के अनुभव; सुयोग्य आहार किस प्रकार होना चाहिए; योग्य और आरोग्यवर्धक पाकपद्धति, सूर्यनमस्कारों के व्यायाम से रोगोंको प्रतिबन्ध कैसा होता है, आदि बातोंका विस्तारसे विवेचन किया है । पृष्ठसंख्या १४० मू० केवल ॥) और डा० व्यय =) दस आनेके टिकट भेजें ।

सूर्यनमस्कारोंका चित्रपट साईज १०"×१५" मूल्य -॥) डा० व्यय -)

भक्तके भगवान् ।

(लेखक- श्री० रुलियारामजी कश्यप, M. Sc.)

इस पुस्तकमें ईश्वरीय चमत्कारोंका ही वैज्ञानिक सत्यता से विस्तृत वर्णन किया है । इस पुस्तकके पाठ से भगवान् की प्राप्ति की उमंग भक्त के हृदयोंमें उमड पडेगी । मूल्य ॥) डा० व्ययसहित ॥=) के टिकट भेज दें ।

वैदोक्त प्रजननशास्त्र ।

(लेखक- श्री० रुलियारामजी कश्यप, M. Sc.)

प्रजनन-विज्ञान उस विद्याका नाम है, जिसके द्वारा जितनी उत्तम सन्तति उत्पन्न करना संभव है, उतनी उत्तम सन्तति उत्पन्न की जा सके । पुस्तिका में इसी विषयका विवेचन वेदमंत्रों के आधार देकर किया है । मूल्य ≡) डा० व्य० -) चार आनेके टिकट भेजिए ।

वैदिक संपत्ति ।

यदि आपको अपने धर्म का अच्छा प्रकार अध्ययन करना है, तो आप यह पुस्तक मंगवाइये । यह पुस्तक आप प्रारम्भ से अन्ततक पढिये । एक बार यह पुस्तक आप पढेंगे, तो इसे आप छोड नहीं सकते । यह पुस्तक अपने साथ आजन्म रहनेयोग्य है ।

विशेष सहूलियत ।

वैदिक संपत्ति । मू० ६) रु० डा० व्य० १।) रु० मिलकर ७।) रु०

अक्षर-विज्ञान । मू० १) रु० डा० व्य० ।=) मिलकर १।=) रु०

परंतु म० आ० द्वारा ७।) रु० भेजनेसे दोनों पुस्तकें बिना डा० व्यय मिलेंगी ।

आसन

' योग की आरोग्यवर्धक व्यायाम-पद्धति '

अनेक वर्षोंके अनुभवसे यह बात निश्चित हो चुकी है, कि शरीरस्वास्थ्य के लिए आसनोंका आरोग्यवर्धक व्यायाम ही अत्यंत सुगम और निश्चित उपाय है । अशक्त मनुष्य इससे अपना स्वास्थ्य प्राप्त कर सकते हैं ।

इस पद्धतिका संपूर्ण स्पष्टीकरण इस पुस्तकमें है । मूल्य केवल २) दो रु० और डा० व्य० ।≡) सात आने है । म० आ० से २।≡) रु० भेजें ।

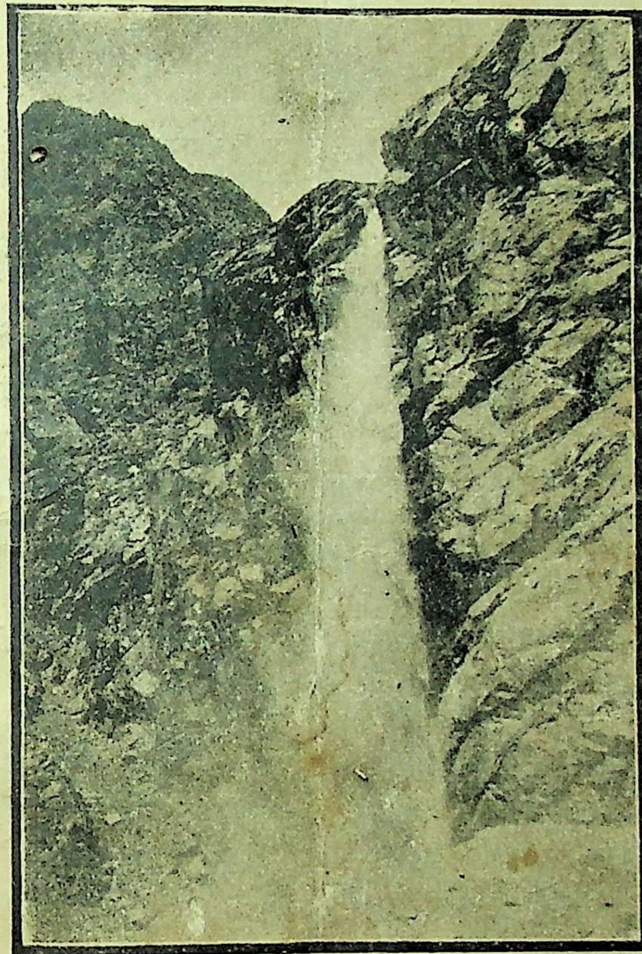
मंत्री- स्वाध्याय-मण्डल, औंध, (जि० सातारा)

मुद्रक- व० श्री० सातवळेकर, B. A. भारतमुद्रणालय, औंध (जि० सातारा)

मुद्रक और प्रकाशक— व० श्री० सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध

वैदिक धर्म।

जनवरी १९४०
मार्गशीर्ष १८६१



वसुधाराका दृश्य।

वर्ष २१, अंक १]

[क्रमांक २४१

वैदिक धर्म ।

[मासिक पत्र]

संपादक
पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

सहसंपादक
पं० तडित्कान्तजी वेदालंकार

स्वाध्याय-मण्डल, औन्ध

वार्षिक मूल्य म. आ. से ५) रु. विदेशके लिये ६॥) रु.

वर्ष २१] [अङ्क १

विषयानुक्रमणिका

वर्ष २१

अंक १

क्रमांक २४१



मार्गशीर्ष संवत् १९९६

जनवरी सन १९४०

संपादक- पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर। स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा)

सहसंपादक- पं० तडित्कान्तजी वेदालंकार। स्वाध्याय-मंडल (शाखा), मुंबई

वही सब होता है।

स वेद पुत्रः पितरं स मातरं स सूनुर्भुवत् स भुवत्पुनर्मघः।
स द्यामौर्णोदन्तरिक्षं स्वः स इदं विश्वमभवत्स आभवत्॥

(अथर्व० ७।१।२)

"(सः पुत्रः पितरं वेद) वह पुत्र अपने पिताको जानता है, (सः मातरं) वह माताको भी जानता है, (सः सूनुः भुवत्) वह पुत्र भी होता है, (सः पुनः मघः भुवत्) वह फिर धनवान् भी कहलाता है। (सः द्यां अन्तरिक्षं स्वः और्णोत्) वह द्युलोक और अन्तरिक्ष को अपनी महिमासे ढांप लेता है। (सः इदं विश्वं अभवत्) वही यह सब विश्व होता है और (सः आभवत्) वह सर्वत्र होता है।"

वह एकही आत्मा यह सब विश्वरूप बनता है और वही सर्वत्र फैला रहता है, वही पुत्र होता है और उस समय वही अपने मातापिताओं को जानता है और स्वयं पुत्र होने का आनन्द पाता है। वही धनवान् बनता है और दाता होने का आनन्द लूटता है। वही त्रिलोकी में व्यापता है और सर्वत्र अपना प्रभाव फैलाने का भी अनुभव लेता है।

वेदमुद्रण का कार्य।

सामवेद-मुद्रण ।

यह सामवेदमुद्रण का कार्य समाप्त हुआ है । सामवेद मंत्रोंकी करीब २२ सूचियां और गानमन्त्रोंकी सूचियां छप रही हैं, तथा जैमिनीय सामशाखा-संहिताके पाठ-विशेषका विस्तृत परिशिष्ट छप रहा है ।

इस एकहि संहिताके लेनेसे कौथुमी, राणायणी और जैमिनी ये तीन संहिताएं लेनेका श्रेय प्राप्त हो सकता है । तथा इन विविध सूचियोंसे कौनसे सामवेदमंत्रके गान कितने और कहां कहां हैं, इसका भी पता लग सकता है ।

दैवतसंहिता का मुद्रण ।

दैवतसंहितामें ऋग्वेदांतर्गत सब अग्निमन्त्र छप चुके हैं। संपूर्ण वेदचतुष्टय की सब शाखाओंमें जितने आप्रीसूक्त हैं, वे सब छप चुके हैं। अब अथर्ववेद के अग्निमन्त्र तथा अग्निदेवताके साथ जो अन्य देवताएं मिलकर रहती हैं, जैसा, अग्नाविष्णु, अग्नामरुतौ, आदि उनके मन्त्र छप जायंगे। और इसी महिने में अग्निदेवता का यह ग्रन्थ छपकर तैयार होगा।

इस ग्रन्थमें अग्निदेवता का मन्त्र तथा मन्त्रभाग कहां तथा किस देवता के प्रकरण में पुनः आया है, इसका विस्तृत परिशिष्ट दिया है। अग्नि की उपमाओं की विस्तृत सूची उपमाके प्रकरणानुसार दी है, तथा अग्नि के विशेष कैसे, कहां, किस रूप में आते हैं, वह एक प्रकरणमें दिया है और अन्त में मन्त्रों की सूची दी है।

इस प्रकार अग्निमन्त्रों का यह ग्रन्थ जैसा नित्यपाठके लिये वैसाहि अग्नि-देवता के अध्ययन के लिये अत्यंत उपयोगी सिद्ध होगा ।

जो पाठक वेदविद्या के प्रेमी हैं, वे इसको प्राप्त करके इसका पाठ करने लग जाय । इस के नित्य पाठ से कई वैदिक रहस्य खुलनेवाले हैं, जिनका पता इस ग्रन्थ का अध्ययन करनेवाले को ही लग सकता है ।

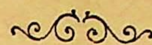
अग्निदेवताके मन्त्रों के ग्रन्थमें अग्निदेवता का परिचय करानेवाली एक अति विस्तृत भूमिका भी भाषामें दी जायगी, जिसमें अग्निदेवताके मंत्रोंमें जो विशेषताएं दीखती हैं, उनका विचार विस्तार से किया जायगा। इस भूमिकाका अध्ययन करनेसे अग्निदेवताकी कुछ कल्पना तो पाठकोंको अवश्य ही आ जायगी ।

अग्निमन्त्रों का ग्रन्थ जिनको अलग चाहिये, उनको ही अलग जिल्द करके दिया जायगा । अन्योंको इन्द्रके मंत्रों के साथ इसकी जिल्द बनकर दोनों देवताओंके मन्त्र इकट्ठे मिल जायंगे ।

जो ग्राहक अग्निके हि मन्त्र अलग लेना चाहते हैं, वे इसी समय अपनी आवश्यकता लिख भेजें । नहीं तो उन को इन्द्रके मन्त्र छपनेतक इन्तजार करना पडेगा ।

-प्रबन्धकर्ता

सामवेद-संहिता का परिचय ।



सामवेद ईश्वरकी विभूति है ।

भगवान् श्रीवासुदेव श्रीकृष्णजीने अपनी श्रीमद्-भगवद्गीतामें विभूतिवर्णन के प्रसङ्ग में कहा है कि–

वेदानां सामवेदोऽस्मि । (भ० गी० १०।२२)

अर्थात् वेदोंके बीचमें सामवेदही परमेश्वरकी विभूति है । भला सामवेदमें ऐसी विशेषता क्या है, कि जिसके लिये सामवेदकोही परमेश्वरकी विभूति कहा जाय ? देखिए–

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छत्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ॥
(भ० गी० १०।४१)

यह विभूति का लक्षण गीतामें कहा है । जहां जहां विशेष भूतिमत्ता होगी, जहां श्री अर्थात् शोभा होगी और जहां ऊर्जितता होगी, वहां परमेश्वरकी विभूति है, ऐसा मानना योग्य है, यह विभूति का लक्षण है । किस स्थानपर भगवान्की विभूति है, यह जानने की यह रीति है । इसी तरह सामवेदमें देखिए, यहां शब्दब्रह्मकी विशेष प्रकारसे भूति है, क्योंकि यहां मधुर आलापों के गान विशेष ही हैं, यहां शोभा भी बहुत है, क्योंकि मन्त्रों के छोटे छोटे टुकडे तानोंके साथ और आलापों के साथ गाये जाते हैं, और यहां ऊर्जितपन भी है, क्योंकि यहां विकार-विश्लेष-विकर्षण-अभ्यास-विराम-स्तोभोंका विशेष ही रमणीय अनुसन्धानसे गायन होता है ।

जिस प्रकार वाक्योंमें छन्द, छन्दोंमें काव्य, काव्योंमें गायन और गानोंमें तानोंके आलाप कुछ विशेषताका प्रकाश करते हैं, ठीक इसी तरह सब वाङ्मय में वेद, सब वेदोंमें सामवेद, सामवेदमें सामगायन की विशेषता कुछ विशषही है । इसीलिये कहा है–

वाच ऋग्रसः, ऋचः साम रसः, साम्न उद्गीथो रसः, स एष रसानां रसतमः । (छां० १।१।२।३)

इस तरह सामवेद सब वेदोंमें शब्दब्रह्मकी निःसंदेह विभूति है । अतः कहा है–

सामवेद एव पुष्पम् । (छां० उ० ३।३।१)

जिस तरह वृक्षके ऊपर फूल अत्यंत सुन्दरता प्रकट करता है, उसी तरह वेदवृक्षपर सामगानरूप फूलही खिले हैं । जो वेदवृक्षकी सुन्दरता प्रकट कर रहे हैं । सामवेद का अपूर्व रसमय गान होता है, इसलिए उसको ईश्वरकी विभूति कहा है, वह योग्यही है ।

सामवेद क्या है ?

यहां कई पूछते हैं कि सामवेद क्या है ? इस शंकाका तात्पर्य यह है कि, क्या केवल मन्त्रोंकोही सामवेद कहा जाता है अथवा सामगानों को सामवेद कहा जाता है ? क्योंकि छांदोग्योपनिषद् में कहा है कि—

या ऋक् तत् साम । (छां० उ० १।३।४)

'जो ऋग्वेद का मन्त्र होता है, वही साम कहलाता है ।' सामवेद दूसरा नहीं है, इसीलिये कहते हैं कि–

ऋचि अध्यूढं साम गीयते । (छां० १।६।१)

'ऋग्वेद के मन्त्रके आश्रयसे बना हुआ ही साम गाया जाता है ।' यह वचन भी उसी पूर्वोक्त बातको सुदृढ करता है । इसीलिये कहते हैं कि ऋग्वेद के आश्रयसेही सामवेद होता है, सामवेद ऋग्वेदसे भिन्न नहीं है ।

ऋग्वेद और सामवेद को दम्पति–जायापति–भी कहा जाता है, यह तो अथर्ववेद और बृहदारण्यकोपनिषद में भी कहा है—

अमोऽहमस्मि सा त्वं, सामाहं ऋक्त्वम् ।
द्यौरहं पृथिवी त्वं, ताविह संभवाव, प्रजामा
जनयावहै ॥ (अथर्व० १४।२।७१; बृ० उ०६।४।२०)

'मैं (अम) स्वर हूं, और तू वह ऋचा है, साम मैं हूं और ऋचा तू है।' मैं पति हूं और पत्नी तू है। सामका निर्वचन भी इसी बातको सिद्ध करता है—

सा च अमश्चेति तत् साम्नः सामत्वम्।
(बृ० उ० १।३।२२)

ऋक् और स्वर (तान या आलाप) मिलकर साम होता है। यहां स्वर का अर्थ जो गायनमें षड्ज, ऋषभ, गांधार अथवा 'सा-रे-ग' आदि हैं, वेही स्वर यहां अपेक्षित हैं, वह स्वर रहा तभी साम होता है, अर्थात् स्वर, आलाप, तानके विना साम नहीं होता। अतः सामकी विशेषता उसके गाने की तानोंमें है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद ये वेद केवल मन्त्रोंकेही संग्रह है, पर सामवेद वैसा नहीं है, क्योंकि वह गानमय है। यही सामवेद की विशेषता है, अतः कहा है-

गीतिषु सामाख्या। (जै० सूत्र० पूर्वमीमांसा)

गानों का ही नाम साम है, केवल मन्त्र साम नहीं है, यह सामका लक्षण जैमिनिने किया था। और भी देखिये—

का साम्नो गतिरिति ?
स्वर इति होवाच। (छां उ० १।८।४)

'सामकी गति कहां है।' उत्तरमें कहते हैं कि 'स्वर ही सामकी गति है।' यह प्रश्नोत्तर छांदोग्योपनिषद् में शालावत्यदाल्भ्य संवादमें है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि स्वरालापोंका नाम साम है। और भी कहा है-

तस्य हैतस्य साम्नो यः स्वं वेद
भवति हास्य स्वं, तस्य स्वर एव स्वम्। बृ.१।३।२५

जो साम का स्वर है, वही सामका निज असली रूप है। अर्थात् साम नाम स्वर-आलाप-का है। इस सामके स्वर-मण्डल का स्पष्टीकरण नारदीय शिक्षा में इस प्रकार मिलता है—

सप्त स्वराः, त्रयो ग्रामाः, मूर्च्छनास्त्वेकविंशतिः।
ताना एकोनपञ्चाशत्, इत्येतत्स्वरमण्डलम्॥
(नारदीय शिक्षा)

'सात स्वर, तीन ग्राम, इक्कीस मूर्छनाएं और पचास में एक कम इतनी ताने हैं।' यही सामस्वरमण्डल है, इस विषयमें नारदशिक्षामें तथा सामविधान ब्राह्मणमें जो कहा है, वह अब देखिये-

यः सामगानां प्रथमः स वेणोर्मध्यमः स्वरः।
यो द्वितीयः स गांधारः, तृतीयस्त्वृषभः स्मृतः॥
चतुर्थः षड्ज इत्याहुः पंचमो धैवतो भवेत्।
षष्ठो निषादो विज्ञेयः सप्तमः पंचमः स्मृतः॥
(नारदीय शिक्षा)

यहां नारदीय शिक्षाका सर्वत्र ऐसाहि पाठ मिलता है, इसलिये ऐसाही दिया है, परन्तु निषाद के पीछे धैवत आना चाहिए, पर यहां पहिले लिखा है, यह अशुद्ध ही प्रतीत होता है। जो गानविद्याके ज्ञाता हैं, वे इसका अधिक विचार करें। अस्तु। उक्त प्रकार सामस्वर जो ज्ञात होते हैं, वे ये हैं—

अतिक्रुष्ट		पञ्चम। प।
१. प्रथम	(वेणुका)	मध्यम। म।
२. द्वितीय		गांधार। ग।
३. तृतीय		ऋषभ। रे।
४. चतुर्थ		षड्ज। सा।
५. पञ्चम (मन्द्र)		निषाद। नि।
६ षष्ठ (अतिस्वार्य)		धैवत। ध।
७. सप्तम		पञ्चम। प।

यही बात सामविधान ब्राह्मण में इस तरह कही है—

(क्रुष्टः) तद्योऽसौ क्रुष्टतम इव साम्नः
स्वरः तं देवा उपजीवन्ति। प।

१. योऽवरेषां प्रथमस्तं मनुष्याः। म।
२. यो द्वितीयस्तं गंधर्वाप्सरसः। ग।
३. यस्तृतीयस्तं पशवः (ऋषभः, वृषभः)। रे।
४. यश्चतुर्थस्तं पितरो ये चाण्डेषु शेरते। सा।
५. यः पञ्चमस्तमसुररक्षांसि (निषाद)। नि।
(अन्त्यः) योऽन्त्यस्तमोषधयो
वनस्पतयश्चान्यज्जगत्। ध।
(सामविधान-ब्राह्मण)

यहां मनुष्य शब्दसे 'म', 'गन्धर्व' से 'ग', पशुओं में ऋषभ बैलका वाचक है, उससे 'रे', (शेरते) सोते हैं कहने से 'श या सा', असुर-राक्षस ये नीच होते हैं उनका

वाचक निषाद-चाण्डाल है, उससे 'नी', इससे अन्त्य 'ध', इस तरह सामस्वरोंका ज्ञान होता है। इसमें प्रथम 'क्रुष्ट, अतिक्रुष्ट' कहा है और दूसरेको 'प्रथम' कहा है, इसलिये 'क्रुष्ट' को सबसे ऊंचा स्थान दिया है । क्रुष्ट का अर्थ ही सबसे ऊंची आवाज है।

सामका यह स्वरमण्डल है और इसी स्वरमण्डल में सामगायन किया जाता है। सामगानमें केवल मन्त्र ही शुद्ध अक्षरों में कभी नहीं गाये जाते। मन्त्रों के शब्द विकृत रूपमें उच्चारे जाते हैं और उनका गान किया जाता है। ये विकार छः हैं, इनके नाम "विकार, विश्लेष, विकर्षण, अभ्यास, विराम और स्तोभ।" अब इनके उदाहरण देखिये—

१. विकार– इसमें मन्त्रके शब्दों का रूप विकृत होता है, जैसा 'अग्ने' का 'ओग्नाई' होता है।

२. विश्लेष, या विश्लेषण–इसमें शब्दोंके स्वर खींचे और ताने जाते हैं जैसे 'वीतये' का 'वोइ। तोयाऽइ' अथवा 'वायि तोयाऽयि' होता है।

३. विकर्षण–इसमें स्वरोंका और अधिक लंबा खिंचाव होता है जैसा 'ये' का 'याऽ२३यि' होता है।

४. अभ्यास– किसीके बार बार उच्चार करने को कहते हैं। जैसे 'तोयाऽयि। तोयाऽयि' एकही पद बारबार उच्चारा जाता है।

५. विराम–बीचमें ठहरनेको कहते हैं, जैसा 'गृणानो हव्यदातये' ये दो पद मन्त्रमें हैं, परन्तु इसका सामगानमें 'गृणानोह् । व्यदातये' ऐसा गान होता है; वस्तुतः ऐसे पद मन्त्रके नहीं हैं पर गायनमें किये जाते हैं, यह गायनकी मात्राएं ताल में लाने के लिये किया जाता है।

६. स्तोभ– ऋग्वेदमन्त्रमें जो अक्षर नहीं होते, परन्तु गायनकी शोभा अधिक बढाने के लिये जो बाहर से लेकर गायनमें बोले जाते हैं, उनका नाम स्तोभ है, जैसा 'औहोवा। हाऊ।' इत्यादि।

इन छः विकारोंके साथ ऋग्वेदमन्त्रोंपर सामगायन की रचना होती है। सामवेद में जो मन्त्र जैसे हैं वे वैसे ही कभी नहीं गाये जाते। यही सामगायन की विशेषता है। और इसीलिये कहा जाता है कि सामवेद गानमय है, वह केवल मन्त्रमय नहीं है।

इसी कारण शंका होती है, कि सामवेद क्या है, जो इस पुस्तक के रूपमें ग्राहकों के सामने रखा जाता है, वह सामवेद है, अथवा दूसरा गायनरूपी सामवेद कुछ और ही है? इसका उत्तर यह है कि जो सामवेद करके छापकर पुस्तकरूपसे ग्राहकोंके सम्मुख रखा जाता है, **वह केवल ऋग्वेदसे उद्धृत किये मन्त्रोंका संग्रह मात्र है,** वह साक्षात् गान करने के लिये है ही नहीं। सामवेद करके जो प्रसिद्ध है, उस में एक भी गान नहीं है। ये सामवेद के मंत्र केवल **'योनिमन्त्र'** अथवा **'गानयोनिमन्त्र'** ही हैं। इन मन्त्रोंके आधार पर ही परमपूजनीय ऋषिलोगोंने अनेक सहस्र गान रचे, जिन गानोंके नाम इस समय तक उन ऋषियों के नामोंके साथ बोले जाते हैं, जैसा **'गोतम ऋषिका पर्क, कश्यपका बर्हिष'** इत्यादि। ये सब गान हम सामगानके ऊह, ऊह्य आदि ग्रन्थोंके रूपोंमें छापकर प्रकाशित करेंगे। ये शीघ्रही छापे जांयगे। इनको ही **'साम'** करके कहा जाता है और ये गान सामवेद के मन्त्रोंसे पृथक् हैं, यद्यपि ये उन मन्त्रों के आधार पर ही रचे गये हैं। उदाहरण के लिये देखिये-

ऋग्वेद का मन्त्र—

अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये ।
नि होता सत्सि बर्हिषि ॥

(ऋ० ६।१६।१०)

सामवेद में यही मन्त्र लिया है, इसको सामगान का योनिमन्त्र कहा जाता है, इसपर सामके स्वरचिह्न लगाने से यह मन्त्र इस तरह का हो जाता है--

२ ३　१ २　३ १ २　३ २ ३ १ २
अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये ।
१　२र　३ १ २
नि होता सत्सि बर्हिषि॥

(सामवेद १।१।१।१।)

यद्यपि ऋग्वेद के स्वरचिह्न और सामवेद के स्वरचिह्न विभिन्न हैं, तथापि स्वर- उदात्त, अनुदात्त और स्वरित- वेही हैं, कोई फर्क नहीं है। इस सामयोनिमन्त्रके आधार से जो ऋषियों के बनाये गान हैं, वे ये हैं--

१. गोतमका पर्क।

ओ॑ग्नाइ। आयाहीइ वोइतोयारइ। तोयारइ।
गृणानोह। व्यदातोयारइ। तोयारइ।
नाइहोतासार२३। त्सार२इ। बा२३४औहोवा।
ही२३४षी ॥१॥

२. कश्यपका बर्हिष्य।

अग्न आयाही वी। तयाइ।
गृणानो हव्यदाता२३याइ।
नि होता सत्सि बर्हा२३इषि।
बर्हा२इषा२३४औहोवा।
बर्ही३षी२३४५ ॥२॥

गोतम का (द्वितीय) पर्क।

अग्न आयाहि। वा५इतयाइ। गृणानो हव्यदा
१ता३ये। नि होता२३४सा। त्सा २३४इवा३।
हा२३४इषो६हाइ ॥३॥

यहां सबसे प्रथम ऋग्वेदका मन्त्र दिया है, उसके पश्चात् सामवेदका उसी मन्त्र का रूप दिया है। इस सामवेदके मन्त्रपर जो अङ्क दिये हैं, वे उदात्त-अनुदात्त-स्वरित नामक स्वरोंके ही बोधक हैं। ऋग्वेदमें जहां अक्षर के नीचे रेखा अनुदात्त की होती है, उस अक्षरपर सामवेद में '३' तीन अंक होता है, ३ अंक जहां होगा, उसको अनुदात्त समझना चाहिये। ऋग्वेदमें अनुदात्त के बाद उदात्त होता है, यही प्रत्येक शब्दमें मुख्य स्वर होता है। ऋग्वेदमें इसका कोई चिह्न नहीं है, परन्तु सामवेदमें इसको बताने के लिये '१' एक अङ्क अक्षरपर रखा जाता है। अतः सामवेदके जिस अक्षरपर '१' एक अङ्क है, उसका स्वर उदात्त है, ऐसा समझना चाहिये, और उदात्तही शब्द में मुख्य स्वर होता है, इसकी मुख्यता दर्शाने के लिये '१' यह प्रथमाङ्क यहां प्रयुक्त होता है। ऋग्वेदमें उदात्तके पश्चात् स्वरित होता है और उसका चिह्न अक्षरके सिरपर खडी रेखा रहती है। सामवेदमें यह स्वरित '२' दो अङ्क से दर्शाया जाता है। इस विषयमें अधिक आगे बताया है। ये स्वर अब देखिये--

अ ग्न आ या॑ हि वी त ये॑।
२ ३ १ २ ३ १ २
अ ग्न आ या हि वी त ये।
उ अ उ स्व प्र अ उ स्व।

प्रारंभके उदात्तपर कभी कभी '२' अंक भी देते हैं, इस वैकल्पिक नियमानुसार प्रथमके 'अ' अक्षरपर '२' अंक आ गया है, यहां (उ) उदात्त, (अ) अनुदात्त, (स्व) स्वरित, (प्र) प्रचय, (स) सन्नतर ये स्वरोंके नाम हैं। उदात्त के पूर्व नियमसे अनुदात्त होता है, और परे स्वरित होता है। स्वरित के परे एक या दो अक्षर विनाचिह्न के कदाचित् आते हैं, उनके स्वर स्वरित ही समझने चाहिये, परन्तु उनके नाम क्रमशः 'प्रचय और सन्नतर' होते हैं, प्रचयका कोई चिह्न नहीं होता, परंतु स्वरित के पश्चात् विना चिह्न के जो अक्षर आते हैं, वे नियमसे येही स्वर होते हैं, इसलिये इनके समझने के लिये कोई कष्ट होने की संभावना नहीं। परंतु अन्तिम सन्नतरका चिन्ह अनुदात्त जैसाहि होता है।

ऋग्वेद और सामवेद के स्वरचिह्न दर्शाने के चिह्न विभिन्न होनेपर भी उनके स्वरोंमें तथा स्वरोच्चारण में कोई भेद नहीं होता। इसीलिये छान्दोग्योपनिषद् में 'या ऋक् तत् साम' जो ऋग्वेद-मन्त्र है, वही साममन्त्र है, ऐसा स्पष्ट कहा है, वह बिलकुल ठीक कहा है। कई लोग यह बात न समझकर, सामके मन्त्रोंपर अंक देखनेसे उन अंकोंको गानस्वरोंके अंक मानकर, साममन्त्रको गानेके स्वरोंमें बोलने लगते हैं, यह नितान्त भूल है। ये साममन्त्र साक्षात् गानेके लिये नहीं हैं, इनसे जो सामगान बने हैं, वे इनसे सर्वथा पृथक् हैं और वेही गाने के लिये हैं।

उक्त एक मन्त्र के तीन सामगान बने ऊपर दिये हैं। 'गौतमके दो हैं, और कश्यपका एक है' ये तीन साम गानेके लिये हैं जो ऊह, उह्य आदि गानग्रन्थोंमें प्रसिद्ध हैं। यह गान तान-आलाप-स्तोभ आदिके साथ गाया जाता है, इसीलिए उसीको 'सामगान' कहते हैं। केवल सामवेदसंहिता में संग्रह किये हुए मन्त्र इस तरह के गानेके लिये नहीं हैं। इसी कारण 'ऋचि अध्यूढं साम गीयते' ऐसा छान्दोग्य में कहा है। इससे यह स्पष्ट

हुआ कि जो मन्त्र सामवेदसंहिता में संगृहीत हुए हैं, वे केवल सामगान के योनिमन्त्रोंका संग्रहमात्र है। अतः इस सामवेदसंहिता का नाम **'सामयोनिमन्त्रसंहिता'** ऐसा होना योग्य है, परन्तु इतना लम्बाचौडा नाम बोलनेके स्थानपर **'सामवेदसंहिता'** ऐसा सरलताके साथ बोलने-लायक संक्षिप्त नाम दिया गया है।

पूर्वार्चिक और उत्तरार्चिक।

सामवेदमें पूर्वार्चिक और उत्तरार्चिक ऐसे दो भाग हैं। पूर्वार्चिक में (५८५ मन्त्र, आरण्यक पर्वमें ५५ और महानाम्नीके १० मिलकर) ६५० मन्त्र हैं और उत्तरार्चिक में-

एक	मन्त्रवाले	सूक्त	१३
दो	,, ,,	,,	६६
तीन	,, ,,	,,	२८७
चार	,, ,,	,,	९
पांच	,, ,,	,,	४
छः	,, ,,	,,	१०
सात	,, ,,	,,	२
आठ	,, ,,	,,	१
नौ	,, ,,	,,	३
दस	,, ,,	,,	३
बारह	,, ,,	,,	२
			४००

सब मिलकर चार सौ सूक्त हैं और इनमें मन्त्र १२२५ हैं।

इन ४०० सूक्तोंमेंसे २२६ सूक्तों के प्रारम्भ के मन्त्र पूर्वार्चिक से लिये हैं। पूर्वार्चिक का एक मन्त्र लेकर, वह मन्त्र जिस ऋग्वेद के सूक्तमें होगा, उसी सूक्तसे उस मन्त्र से आगेके कभी पीछेके भी दोतीन या अधिक मन्त्र लेकर उत्तरार्चिकके ये सूक्त बनाये गये प्रतीत होते हैं। इस तरह यह उत्तरार्चिक पूर्वार्चिकसेही बढाया गया विभाग प्रतीत होता है। उत्तरार्चिक के मन्त्रों के आगे ऋग्वेद के पते दिये हैं, उनको देखने से यह बात सबको स्पष्ट हो जायगी।

इस सामवेद के पौरुषेय-अपौरुषेय होनेके विषय में कई लोग प्रश्न पूछते हैं, उनको इतनाही कहना पर्याप्त है कि यदि ऋग्वेद अपौरुषेय है, तो सामवेदमें संग्रहित मन्त्र ऋग्वेद के ही होनेसे वे सब अपौरुषेय ही हैं। परंतु उन मन्त्रोंपर रचे गान ऋषियों के बनाये होनेसे पौरुषेय कहे जा सकते हैं, परन्तु उनमें भी मूल मन्त्र ऋग्वेद का ही है, जो अपौरुषेय कहा जा सकता है।

सामवेदकी शाखाएँ।

भगवान् पंतजलि ऋषिने अपने व्याकरणमहाभाष्यमें **'सहस्रवर्त्मा सामवेदः'** ऐसा कहा है। इस वचनसे बहुत लोग सामवेद की सहस्र शाखाएँ थीं, ऐसा कहते हैं, और इसका प्राचीन ग्रन्थमें आधार भी है। परन्तु यह कथन ठीक प्रतीत नहीं होता, क्योंकि **'वर्त्मा'** शब्द का अर्थ **'मार्ग'** है, **'शाखा'** ऐसा उसका अर्थ नहीं है। **'वर्त्मा'** शब्दसे **'मार्ग या पद्धति'** ऐसा अर्थ लेकर सामगानके सहस्रों मार्ग अथवा हजारहां गानकी पद्धतियां थीं, ऐसा माना जा सकता है। इससे गानपद्धतियों के सहस्रों भेद होनेपर भी मूल सामवेद की इतनी शाखाएँ माननेका कोई प्रयोजन नहीं है। दूसरा कारण यह है कि अन्य वेदों की शाखाओंके नाम कहीं न कहीं मिलते हैं और वे शाखाएं कहां थीं, इसका भी पता मिलता है; पर यदि सामवेद की सचमुच हजार शाखाएँ होतीं, तो उनके कमसे कम नाम तो किसी न किसी स्थानपर मिलनेही चाहिये थे, परन्तु ये नाम किसी जगह मिलते नहीं, इससे भी अनुमान हो सकता है कि, सामवेद की हजार शाखाएं तो नहीं थीं। सामतर्पणविधिमें सामशाखाओंके केवल १३ नाम मिलते हैं, संभवतः इतनीही सामशाखाएं होंगी, क्योंकि यह संख्या अन्य वेदों की संख्याके साथ मिलती जुलती है। देखिये सामतर्पणवचन-

[1]राणायण-[2]शाट्यमुग्र-[3]व्यास-[4]भागुरि-[5]औलुंडी-[6]गौल्गुलवी-[7]भानुमानौपमन्यव-[8]काराटि-[9]मशकगार्ग्य-[10]वार्षगव्य-[11]कुथुम-[12]शालिहोत्र-[13]जैमिनि। त्रयोदशैते मे सामगाचार्याः स्वस्ति कुर्वन्तु तर्पिताः॥ (सामतर्पणम्)

यहां केवल तेरह नाम सामगानाचार्योंके दीखते हैं। इनमें से आज केवल **'राणायणी-कौथुमी-जैमिनी'** ये तीनही शाखाएँ हैं और इनकी संहिताएं इस समय मिलती हैं।

चरणव्यूह में सामवेद की सहस्र शाखा होनेकी बात लिखी है, परंतु आजकल जो चरणव्यूह मिलता है, वह कोई बडा आर्षग्रन्थ नहीं है। वह पौराणिक काल की बनावट है, ऐसा बंगाल के प्रसिद्ध सामवेदी पूजनीय विद्वान् सत्यव्रत सामश्रमीजीने लिख दिया है। इसलिये चरणव्यूह का कथन भी गानपद्धतिभेद दर्शानेवाला माना जाय तो अच्छा है। इसके अतिरिक्त पुराणोंमें कुछ और नाम सामशाखाओं के मिलते हैं। इन सबका विचार करके इस का निर्णय करना विद्वानोंको उचित है।

यह संहिता 'राणायणी' शाखाकी है और 'कौथुमी' शाखाकी भी यही संहिता है। इन दोनों शाखाओं में मन्त्रोंका भेद नहीं है, केवल मन्त्रों की गणना करने की पद्धति अलग अलग है। एककी गिनती प्रपाठक-अर्ध-प्रपाठक-दशति से होती है और दूसरे की गिनती अध्याय-खण्डोंसे होती है। ये दोनों गिनतियां हमने इस सामवेद में यथास्थान दर्शायी हैं। इसीलिये कहा है कि यह साम-वेदसंहिता राणायणियों और कौथुमियों की है। जैमिनीय-संहिता में करीब करीब येही मन्त्र हैं, परन्तु बहुत मन्त्र आगेपीछे हुए हैं और कई नये भी हैं और कुछ कम भी हुए हैं। यह सब स्वतन्त्र परिशिष्ट में हमने बताया है। अर्थात् यह पुस्तक सामवेद के तीनों शाखाओं के लिये उपयोगी हो सकता है।

कौथुमी- राणायणियों के उच्चारण में कुछ थोडा भेद है जैसे—

कौथुमीय	राणायणीय
हाउ	हावु
राइ	रायि
वाजेषु णा	वाजेषु ना

ऐसे भेद हैं, परंतु इससे मन्त्रों में कोई भिन्नता नहीं होती। ये केवल उच्चारमात्रके भेद हैं। कई लोग 'कौथुम' शब्द का मूल रूप 'कुसुम' शब्द से जो 'कौसुम' बनता है, वह है ऐसा बताते हैं, यह बात विचारणीय है।

सामस्वरविचार।

ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेदके मन्त्र बोलने के समय केवल तीनही स्वरों का प्रयोग होता है, दीर्घ स्वरित के स्थान में क्वचित् दीर्घ भी सुनाई देता है, जैसा—

अग्निमीळे पुरोहितम्।

(ऋग्वेदमन्त्र)

अ^{3}ग्नि^{1}मी^{2}ळे पु^{3}रो^{1}हि^{2}तम्

(सामयोनिमन्त्र)

अ उ स्व प्र अ उ स्व प्र
नी सा रे रे नी सा रे रे

रे			मी	ई				हि	
सा		ग्नि			ळे		रो		तं
नी	अ					पु			

यहां निषाद-षड्ज-ऋषभ (नी-सा-रे) ये तीनही स्वर लगते हैं, दीर्घस्वरित 'मी' है, इस के उच्चारण में थोडासा दीर्घ स्वर भी श्रवण होता है। इस तरह वेदपाठ करने के समय केवल तीनही श्रुतियों-केवल तीनही स्वरों-का प्रयोग होता है। वेदमन्त्र प्रातः-सवन, माध्यदिन-सवन, और तृतीय (या सायं) सवन ऐसे तीन सवनों में बोले जाते हैं और ये सवन एक से एक ऊंचे स्वर के होते हैं। मन्त्र का उच्चार षड्जग्राममें होवे, या मध्यमग्राममें हो या इस से भी ऊंचा हो, स्वर तो तीनही लगेंगे; 'नी-सा-रे' ये स्वर प्रातःसवन के होंगे, 'ग-म-प' ये मध्यसवन के होंगे और 'ध-नी सा' ये तृतीय होंगे अथवा मंत्र बोलनेवाला अपनी शक्ति के अनुसार और अपने स्वरसामर्थ्य ने अनुसार कितना भी ऊंचा या नीचा मन्त्र बोले, वह केवल तीनही स्वरों में बोलेगा। यह तो ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद के मन्त्र कहने के विषय में कहा है।

सामगायन में तो सातों स्वर प्रयुक्त होते हैं। यही सामगान की अन्य वेदोंसे विशेषता है। नारदने अपनी शिक्षा में कहा है—

यः सामगानां प्रथमः स वेणोर्मध्यमः स्वरः।

(नारदशिक्षा)

जो सामगानोंपर प्रथम अर्थात् '१' अंकसे बताया स्वर होता है, वह वेणु-बांसरी-का मध्यम स्वर समझना

चाहिये। इस तरह पहले बतायी रीतिके अनुसार सामगान के जो ७ स्वर निश्चित होते हैं, वे ये हैं- १ मध्यम, २ गान्धार, ३ ऋषभ, ४ षड्ज, ५ निषाद, ६ धैवत, ७ पञ्चम। सामर्में किसी किसी समय 'म' से भी ऊपर का स्वर गाया जाता है, उसको 'क्रुष्ट' या 'अतिक्रुष्ट' कहते हैं। सामगानपर यह '११' चिह्नसे बताया जाता है। यही सामगायनकी श्रुतियों का निर्णय है। सामगान के ऊपर रखे अङ्कोंको देखकर कोई स्वरज्ञ गायक इस विधिसे यथायोग्य सामगान कर सकता है।

साम में कई अक्षरोंपर अंक होते हैं और कई अक्षरों पर अंक नहीं होते हैं। जिनपर अक्षर नहीं होते हैं, उनके स्वर उससे पूर्व अक्षरके स्वरके अनुरोधसे ही समझने चाहिये, जैसा—

३ १ २　३ १ २　३ २
सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः।

इस मन्त्रमें 'शी-षः-स-ह' ये अक्षर स्वरचिह्नरहित हैं, अतः इनके स्वर प्रचय और सन्नतर ही समझने चाहिये, क्योंकि इनसे पूर्व यहां स्वरितही है। गानोंमें और ही नियम है, वहां दूसरा अंक आने तक पहिला स्वर ही स्थिर रहता है। इस नियमसे अंकरहित अक्षरों-के स्वर सर्वत्र जाने जा सकते हैं।

सामवेद में 'र-क-उ' ये अक्षर मंत्रों के ऊपर रखे होते हैं। इनका तात्पर्य इस तरह समझना योग्य है। ये चिह्न सामवेद में तथा सामगायनोंमें होते हैं। सामवेदकी ही यह विशेषता है। पूर्वस्थानमें बताया है कि '२' यह चिह्न स्वरितका है, पर जहां अन्तमें स्वरित नहीं होता, वहां अन्तका उदात्त दर्शानेके लिये भी अनुदात्तके परे के उदात्तपर यह चिन्ह देते हैं, जैसे—

३ २
गिरा। (साम मन्त्र ८)

३ २
ऋञ्जसे गिरा। (साममन्त्र १२)

३ २
दिवि। (साममन्त्र २०)

३ २
रयिम्। (साममन्त्र २२)

३ २
बृहत्। (साममन्त्र ९८)

जहां एकके पीछे एक ऐसे दो उदात्त आते हैं, वहां के पहिले उदात्त पर '१' एक अंक रखा जाता है और अगला उदात्त चिह्नरहित रखा जाता है, उस चिह्न-रहित उदात्त के परे जो स्वरित आता है, उस पर '२र' दो का अंक रकारके साथ लिखा जाता है। इससे मालूम होता है कि इस के पूर्व दो उदात्त आ चुके हैं। जैसा—

३ २　३ १　२र
उत द्विषो मर्त्यस्य। (साममन्त्र ६)

३　१　२र
मूर्ध्नो विश्वस्य। (साममन्त्र ९)

३　१　२र
देवो ह्यसि। (साममन्त्र १०)

३　१　२र
वायोरनीके। (साममन्त्र १३)

२ ३　१　२र
प्रति त्यं चारु। (साममन्त्र १६)

अनुदात्त के परे के स्वरितपर विशेष अवस्थामें '२र' रखा जाता है, ऐसे स्थानोंपर पीछले अनुदात्तपर '३क' तीन अंकके साथ ककार रहता है। जैसा—

३क २र
तन्वा। (साममन्त्र ५२)

३क२र
देव्यै। (साममन्त्र ५६)

२३क २र　३क२ र
बलं न्युब्ज वीर्यम्। (साममन्त्र ९५)

३क　२र
दूढ्यम्। (साममन्त्र ११३)

२र　३क २र
वाज वाज्य। (साममन्त्र ६५५)

३क २ र
मख्वौ। (साममन्त्र ४९०)

जब दो उदात्त साथ साथ आते हैं, और उसके परे अनुदात्त होता है, तब उन उदात्तों को दर्शाने के लिये प्रथम उदात्तपर '२उ' यह चिह्न अर्थात् दो अंक के साथ उकार लिखा जाता है, जिससे यहां साथ साथ दो उदात्त हैं, ऐसा विदित हो, जैसा—

३ २उ　३
ऊत्या वसो। (साममन्त्र ४१)

२उ　३
त्वमित्स। (साममन्त्र ४२)

२उ　३
यो विश्वा। (साममन्त्र ४४)

२उ　३
त्यं विष्णुं। (साममन्त्र ९१)

२उ　३
ब्रह्मेति। (साममन्त्र ९४)

२उ　३
रं जनम्। (साममन्त्र ९६)

२उ　३
व्यं वचो। (साममन्त्र ९८)

यह सामस्वरचिह्नों की विशेषता है। कई स्थानोंपर इन नियमोंमें थोडेसे अपवाद भी हैं, परंतु सर्वसाधारण ये नियम हैं। इन चिह्नोंको हमने इस सामवेदमें यथा स्थान रखा है।

इस सामवेदमें हमने प्रत्येक मन्त्रका ऋग्वेदका पता दिया है। यद्यपि ये सामवेदके मन्त्र ऋग्वेदसेही उद्धृत किये हैं, तथापि कई मन्त्रोंमें पदभेद, स्वरभेद, पदोंका पूर्वापर स्थानभेद, अक्षरभेद तथा पादोंके अदल बदल होनेसे इन मन्त्रोंमें से कई मन्त्र सामवेदमें पाठभेदसे आ गये हैं। यह सामपाठभेद का विषय विशेष सावधानी के साथ विशेष रीतिसे अध्ययन करनेयोग्य है। ये मन्त्र जैसे आज हमारे पास के ऋग्वेद में हैं वैसे सामवेदमें नहीं लिये, यह बात तो इससे स्पष्ट हो रही है। संभव है कि ऋग्वेदकी किसी दूसरी शांख्यायन जैशी शाखासे ये मन्त्र सामवेद में लिये गये होंगे। अतः बडी खोज का यह विषय है और विद्वानों की दृष्टि इस ओर आकर्षित होनी चाहिये, इतना ही यहां कहना है।

सामवेदमें वालखिल्यसूक्तोंसे कुछ मन्त्र लिये गये हैं। इससे अनुमान हो सकता है कि, वालखिल्यसूक्तोंका संग्रह ऋग्वेदमें हो जानेके पश्चात् ही सामवेदकी यह रचना हुई होगी, किंवा जिस ऋग्वेद की शाखामें वालखिल्यसूक्त होंगे, उस संहितासे ये सामसंहिताके मन्त्र उद्धृत किये गये होंगे।

ऋग्वेद की शाकलसंहितामें **'अथ वालखिल्यं । इति वालखिल्यं ।'** ऐसा लिखकर बीचमें ही सब वालखिल्य-सूक्त लिखे हैं, इससे अनुमान हो सकता है कि इस शाकल-शाखाके ऋग्वेद में पाहिले वालखिल्यसूक्त नहीं थे। नहीं तो 'अथ-इति' लिखने का कोई प्रयोजन नहीं दीखता है। सामवेदमें वालखिल्यसूक्त के मन्त्र लिये हैं, इससे अनुमान हो सकता है कि, ऋग्वेदमें वालखिल्यमन्त्र स्थापित होने के पश्चात् सामवेद की रचना हुई है, अथवा सामरचना के पूर्वसमय में ही ऋग्वेद में वालखिल्यमंत्र संगृहीत हो चुके थे। दोनों अनुमानों का आशय एक ही है।

भगवद्गीतामें विभूतिवर्णनमें जो लिखा है कि **'वेदोंमें सामवेद ईश्वरकी विभूति है।'** इससे प्रतीत होता है कि भगवद्गीताके पूर्व समयमें ही सामवेद था और उसका महत्त्व विभूति माननेयोग्य समझा जाता था। भगवद्गीता का समय कोई भी क्यों नहीं माना जाय, पर वह कदापि दो सहस्र वर्षोंसे उरे नहीं माना जा सकता, इतना तो सत्य ही है। और यदि गीताका यह समय मान लिया जाय, तब तो इससे पूर्व सामवेद विभूतित्व की प्रतिष्ठाके योग्य समझा जाता था, इसमें कोई संदेह नहीं है। किसी ग्रन्थकी लोकमान्यता के लिये भी तो कुछ समय देना ही चाहिये। इसलिये सामवेद भगवद्गीतासे बहुतही पूर्वकाल का है, इसमें किसीको संदेह नहीं होना चाहिये।

इस सामवेदमें वालखिल्यसूक्तके मन्त्रोंका संग्रह देखकर यह अनुमान किया जा सकता है, कि शाकलीय ऋग्वेदमें भी वालखिल्योंकी आवश्यकता है। यदि इसमें वालखिल्यसूक्त न होते, तो सामवेदमें कहां से आ जाते? क्योंकि **'जो ऋचा है, वही साम है'** ऐसाहि उपनिषदोंमें कहा है। अतः ऋग्वेदमें वालखिल्यसूक्त अवश्य है, ऐसा सिद्ध हुआ। जो कहते हैं कि ऋग्वेदसे वालखिल्यसूक्तों को हटा देना चाहिये, उनका मत निर्मूल है, ऐसा इससे सिद्ध हो गया है।

इस सामवेदमें आये हुये १०५ मन्त्र आजके शाकलीय ऋग्वेदमें नहीं दीखते। महानाम्नी आर्चिक और आरण्यक के मन्त्र छोड दिये जाय, तो ७६ मन्त्र शेष रहते हैं। ये मन्त्र ऋग्वेदकी किसी अन्य शाखासे लिये होंगे। बहुधा शांख्यायन-शाखासे लिये होंगे, ऐसा प्रतीत होता है।

अन्य वेदोंमें सामों की प्रशंसा।

ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद के मन्त्रों में सामोंकी बहुत प्रशंसा है। अङ्गिरसों के सामोंकी प्रशंसा निम्नलिखित मन्त्रोंमें है--

(देवाः) अंगिरसां सामभिः स्तूयमानाः।

(ऋ० १।१०७।२)

अंगिरसो न सामभिः। (ऋ० १०।७८।५)

शकुनि एक पक्षी है, वह सामगान जैसे गानेके आलाप निकालता है, ऐसा निम्नलिखित मन्त्रोंमें है--

उभौ वाचौ वदति सामगा इव गायत्रं च त्रैष्टुभं चानु राजति॥ उद्गातेव शकुने साम गायसि, ब्रह्मपुत्र इव सवनेषु शंससि॥

(ऋ० २।४३।१-२)

शकुनि पक्षीके स्वरोंके समान सामगानके मधुर स्वर होते हैं, ऐसा इससे प्रतीत होता है। जो जागता है, उसी विद्वान् को सामगानमें प्रवीणता प्राप्त होती है, परन्तु जो सुस्त या आलसी होता है, वह सामगान में प्रवीण नहीं होता, ऐसा निम्नलिखित मन्त्र में कहा है—

यो जागार तमृचः कामयन्ते।
यो जागार तमु सामानि यन्ति॥ ऋ०५।४४।१४-१५

सामगायककीही सब लोक प्रशंसा करते हैं, इस विषय में निम्नलिखित मन्त्र देखिये—

तमेव ऋषिं तमु ब्रह्माणमाहुः।
यज्ञन्यं सामगामुक्थशासम्॥ (ऋ० १०।१०७।६)

गाया हुआ साम गानेवालेकी उत्तम रक्षा करता है, इस विषयमें ये मन्त्र देखिये—

उपगासिषत् श्रवत्साम गीयमानम् (ऋ० ८।८१।५)
यूयमृषिमवथ सामविप्रम्। (ऋ० ७।५४।१४)

(साम-विप्र) सामगानमें कुशल सामप्रवीण ज्ञाता का देव रक्षण करते हैं। शुद्ध देवताकी उपासना शुद्ध साम-गानोंसे ही करनी चाहिये। इस विषयमें देखिये—

एतो न्विन्द्रं स्तवाम शुद्धं शुद्धेन साम्ना।
(ऋ० ८।९५।७)

इन्द्राय साम गायत विप्राय बृहते बृहत्।
(ऋ० ८।९८।१, अथर्व० २०।६२।५)

बृहस्पतिः सामभिर्ऋक्वोऽर्चतु। (ऋ० १०।३६।५)

अर्चन्त एके महि साम मन्वत। (ऋ० ८।२९।१०)

अन्य प्रकारसे भी सामोंकी प्रशंसा है, जैसे—

आङ्गूष्यं शवसानाय साम। (ऋ० १।६२।२)
ऋतस्य सामन्रणयन्त देवाः। (ऋ० १।१४७।१)
गायत्रेण प्रतिमिमीते अर्कमर्केण साम त्रैष्टुभेन वाकम्। (ऋ० १।१६४।२४; अथर्व० ९।१०।२)
ये न परः साम्नो विदुः। (ऋ० २।२३।१६)
त्वष्टा जनयत्साम्नःसाम्नः कविः।
(ऋ० २।२३।१७)
साम कृण्वन् सामन्यो विपश्चित् क्रन्दन्नेति।
(ऋ० ९।९६।२२)

परावतो न साम तद्यत्रा रणंति धीतयः।
(ऋ० ९।१११।२)

स हि द्युता विद्युता वेति साम। (ऋ० १०।९९।२)

इस तरह का सामोंका वर्णन ऋग्वेद और अथर्ववेद में है। इस प्रकारके प्रशंसायोग्य साम परमात्मासे ही प्राप्त हुए हैं, ऐसा वेदमेंही कहा है—

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे॥
(ऋ० १०।९०।९)

ऐसे अनेक मन्त्र सामप्रशंसापरक वेदोंमें हैं। अब अथर्ववेद में देखिये—

सामगेभिर आदित्येभिः...इष्टापूर्तमवतु नः।
(अथर्व० २।१२।४)

ऋचं साम यजामहे याभ्यां कर्माणि कुर्वते।
(अथर्व० ७।५४।१)

बृहतः परि सामानि। (अ० ८।९।४)
षड् जाता भूता प्रथमजर्तस्य षडु सामानि षडहं वहंति। षड्योगं सीरमनु साम साम षडाहुर् द्यावापृथिवीः षडुर्वीः॥ (अ० ८।९।१६)
सामानि यस्य लोमानि। (अ० ९।६।२)
सपत्नह ऋक्संशितः सामतेजाः। (अ० १०।५।३०)
यत्र ऋषयः प्रथमजा ऋचः साम यजुर्मही।
(अ० १०।७।१४)
सामानि यस्य लोमानि स्कंभं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः। (अ० १०।७।२०)
साम्ना ये साम संविदुः। (अ० १०।८।४१)
सामानि बिभ्रती। (अ० १०।१०।१४)
ब्रह्मणा परिगृहीता साम्ना पर्यूढा।
(अ० ११।३।१५)
ऋक्साम यजुरुच्छिष्ट उद्गीथः प्रस्तुतं स्तुतम्।
...उच्छिष्टे स्वरः साम्नो मेडिश्च तन्मयि॥
(अ० ११।७।५)
ऋचः सामानि भेषजा। (अ० ११।८।)
शरीरं ब्रह्म प्राविशदृचः सामाथो यजुः।
(अ० ११।८।२३)
ऋचः सामानि च्छन्दांसि...उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे।
(अ० ११।९।२४)

ब्रह्माणो यस्यामर्चंत्यृग्भिः साम्ना यजुर्विदः।
(अ० १२।१।३८)

तमृचः सामानि च यजूंषि च ब्रह्म चानुव्यचलन्।
(अ० १५।६।८)

ऋचां च वै स साम्नां च ब्रह्मणश्च प्रियं धाम भवति।
(अ० १५।६।९)

इस तरह के अथर्ववेद के मन्त्र देखने से स्पष्ट पता लगता है कि, अथर्ववेद में सामप्रशंसा है। ऋग्वेद में भी जो है, वह इससे पूर्व बतायी जा चुकी है। ऋग्वेद के समयमें भी सामगानों की समृद्धि थी, ऐसा इससे कह सकते हैं। अथर्ववेद के समयमें भी वैसी ही समृद्धि थी, इसमें अब संदेह नहीं हो सकता।

ऋग्वेद में सामों के नाम निम्नलिखित दीखते हैं- वैरूपं, बृहत्, गौरिवीति, रैवतं, अर्क, गायत्रं, श्लोकं, भद्रं इ० साम ऋग्वेद में हैं; ये सामोंके नाम अथर्ववेद में भी हैं।

यजुर्वेदमें- रथन्तरं, बृहत्, वैरूपं, वैराजं, वैखानसं, वामदेव्यं, यज्ञायज्ञियं, शाक्करं, रैवतं, गायत्रं, गौरिवीतं, अभिवर्त, क्रोशं, सत्रस्यर्धि, प्रजापतेर्हृदयं, श्लोकं, अनुश्लोकं, भद्रं, राजन्, अक्षर्यं, इलांदं इ०।

ऐतरेय ब्राह्मणमें- बृहत्, रथन्तरं, वैरूपं, वैराजं, शाक्करं, रैवतं, गायत्रं, श्यैतं, नौधसं, रौरवं, यौधाजयं, अग्निष्टोमीयं, भासं, विकर्णम् इ०।

ये नाम उक्त ग्रन्थों में हैं। ऋग्वेदके समयमें ऋग्वेदोक्त साम गाये जाते थे, इसमें पूर्वोक्त मन्त्र देखने से कोई संदेह नहीं रह सकता। यजुर्वेद और ऐतरेय के समय तो यज्ञकर्म की बडी भारी समृद्धि हो चुकी थी, इसलिये उस समय सामों की बहुतही समृद्धि थी, इसमें किसीको सन्देह नहीं हो सकता, क्योंकि वह सब विद्वानों की मानी हुई बात है।

जो कहते हैं कि सामगान आधुनिक है, उनका कथन निर्मूल है, ऐसा इससे सिद्ध हो सकता है।

सामस्वरकी गणना।

सामवेद की स्वरगणना विशेष प्रकार से उत्तम है। इस तरह की स्वरों की गणना किसी अन्य वेद की किसी के द्वारा निर्माण ही नहीं हुई। इसलिये इस वेदकी स्वर-गणना के विषय में यहां थोडासा कहना योग्य है। देखिये इस गणना का स्वरूप ऐसा है—

३१ २ ३२३१२ ३१२
१०८४ रेवतीर्नः सधमाद इन्द्रे सन्तु तुविवाजाः।
३२ ३ २३१२
क्षुमन्तो याभिर्मदेम ॥१॥

२ ३ २ ३ १२ ३२ ३१ २
१०८५ आ घ त्वावान् त्मना युक्तः स्तोतृभ्यो
३२ ३२उ ३ २ ३क २र
धृष्णवीयानः। ऋणोरक्षं न चक्र्योः ॥२॥

१ २र ३१ २र ३ २
१०८६ आ यद् दुवः शतक्रतवा कामं जरितॄणाम्।
३ २उ ३ १ २र
ऋणोरक्षं न शचीभिः ॥३॥ (ठी)॥

(धा० १८। उ० २। स्व०४)

इन तीन मन्त्रों के स्वरों की गणना [ठी। धा० १८। उ० २। स्व० ४] है। अब इसका तात्पर्य यह है। मन्त्र में बीचके अक्षर, जिनपर कोई चिन्ह नहीं है, ऐसे ये हैं-

प्रथम मंत्रमें- 'र्नः। स। स। न्तु' ये चार,

द्वितीय मंत्रमें- 'धृ। ष्ण। वी। र' ये चार, और

तृतीय मन्त्रमें- 'य। दु। श। त। क्र। का। ज। रि। र। श। ये दस।

४+४+१० मिलकर १८ अक्षर स्वरचिन्हरहित हैं। यह बात 'धा० १८' संकेतद्वारा दर्शायी है। इन तीन मंत्रों में 'जाः। म। भिः' ये अन्त में तीन अक्षर ऐसे हैं कि जिनपर स्वरचिन्ह नहीं हैं, परन्तु स्वरचिन्हवाले अक्षर से बाहर, जितने भी अक्षर होंगे, वे सब गिनाये नहीं जाते, वे छोड देनेके हैं। अतः बीच के अक्षरही गिने जाते हैं। और यहां स्वर या स्वरयुक्त अक्षर ही गिने जाते हैं केवल व्यञ्जन स्वतन्त्र नहीं गिने जाते। अस्तु। इस तरह इन तीन मंत्रोंमें मध्यस्थित चिन्हरहित अक्षर १८ हैं। यह 'धा० १८' का अर्थ है।

आगे 'उ० २' है। उकारचिन्हित दो अक्षर इन मंत्रों में हैं, यह इसका अर्थ है। दूसरे और तीसरे मन्त्रमें 'णो' यही अक्षर उकार चिन्हवाला है। इसका अर्थ साथ-साथ यहां दो वार उदात्त आ गये हैं। यह गणना 'उ०२' से बतायी है।

तीसरी गणना 'स्व० ४' है। रकारचिन्हित स्वरितों की दर्शक यह संख्या है। इन तीन मन्त्रों में मिलकर रकार चिन्हवाले स्वरित ४ ही हैं। द्वितीय मन्त्र में 'क्र्यों'

२र २र. २र
एक है, तृतीय मन्त्र में 'वः। मं। चीं।' ये तीन हैं। ये मिलकर चार हुए। इनको गणनामें 'स्व० ४' से बताया है।

ऐसी व्यवस्थासे गणना करने के कारण स्वरोंका हेरफेर होना असंभव हुआ है। सब वेदों की इस तरहसे कोई विज्ञ विद्वान् गणना करेगा, तो अच्छा होगा। इन तीनों गणनाओं का संक्षेप 'ठीं' इस एक ही अक्षर में हो गया है। अर्थात् 'ठीं' इस एक ही अक्षर से यह सब गणना विदित हो जाती है। देखिये—

'ठीं' अक्षर में 'ठ' और 'ई' ये दो वर्ण हैं। इन दोनों में 'ई' स्वरों में 'अ-आ-इ-ई' चौथी है। 'स्व० ४' से चौथा स्वर जाना जाता है। जितनी 'स्व०'के आगेकी संख्या होगी, उतना स्वर अकार से समझनी चाहिये। इस तरह यहां 'स्व० ४' से चौथा स्वर 'ई' लिया गया।

'उ २' से ट-वर्ग का द्वितीय व्यञ्जन लिया जाता है। ट-ठ-ड-ढ-ण ये ट-वर्ग में अक्षर हैं। इन में दूसरा ठ है, वह यहां 'उ० २' से दर्शाया है। यह 'ठ' और ऊपरला 'ई' मिलकर 'ठी' अक्षर बन गया। अब ट-वर्ग कैसा लिया, यह देखना चाहिये।

'धा० १८' यह संख्या ऊपर की गिनती में है! इसको ५ संख्या से भागने से शेष ३ रह जाते हैं। इस ३ संख्या से वर्ग जाने जाते हैं। क-च-ट-त-प ये पांच वर्ग हैं। इनमें तीसरा ट वर्ग है, यह इस तरह प्राप्त हुआ।

अकेले 'ठीं' अक्षरसे इतने स्वरोंका ज्ञान इस पद्धतिसे हुआ। देखिये कि यह पद्धति कितनी उत्तम है और किस तरह नियमसे बनाई है। पांचोंसे धारी संख्या का विभाग करनेसे जो शेष संख्या रहती है, उससे निम्नलिखित रीतिसे वर्गोंके अक्षर जाने जाते हैं—

अवशिष्ट संख्या	वर्ग
१	क
२	च
३	ट
४	त
५	प

यहां यह समझना चाहिये कि जहां ५ से विभाग होता है, वहां कभी ५ शेष रह नहीं सकते, इसलिये जहां 'धा०' की संख्या १०।१५।२०।२५।३० ऐसी होती है, वहां 'पवर्ग' का अक्षर लिया जाता है। शेष ४ संख्या तक शेष ४ वर्ग पूर्वोक्त रीतिसे जाने जाते हैं। वर्गोंका ज्ञान होनेपर वर्गका कौनसा अक्षर लेना चाहिये, इसका ज्ञान 'उ०' चिन्हसे होता है जैसा—

उ० १	क	च	ट	त	प
उ० २	ख	छ	ठ	थ	फ
उ० ३	ग	ज	ड	द	ब
उ० ४	घ	झ	ढ	ध	भ
उ० ५	ङ	ञ	ण	न	म

इस तरह वर्ग के अन्दर के व्यंजन ज्ञात होते हैं। और 'स्व०' की संख्यासे स्वर जाने जाते हैं, जैसे—

स्व० १	अ
स्व० २	आ
स्व० ३	इ
स्व० ४	ई
स्व० ५	उ
स्व० ६	ऊ

जहां 'उ०नास्ति' (उदात्त नहीं) ऐसा लिखा रहता है, वहां धारी संख्यामें एक कम करके जो शेष रहेगा, उस अंकसे 'य-र-ल-व-श' इनमेंसे जो अक्षर आवे, वह लेना चाहिये। जैसे—

७१०-७१२ मंत्रोंकी गणना ऐसी है- [धा० १७ उ० नास्ति। स्व० ३ (यि)] 'उ० नास्ति' अर्थात् उदात्त नहीं है, इस लिये धारी संख्यासे एक कम करना है, अर्थात् 'धा० १७' के स्थानमें '१६' संख्या आ गई। यह ५ से विभक्त करनेसे शेष '१' रह गया। यह 'य-र-ल-व-श' में प्रथमाक्षर 'य' का दर्शक है। इसके आगे 'स्व० ३' है, यह तीसरे 'इ' स्वरका बोध बताता है। इस तरह 'यि' यह संकेत यहां सिद्ध हुआ। जहां उदात्त न हो, वहां यवर्ग ही लेना चाहिये।

जहां उ० न होते हुए धारी संख्या ५ से विभक्त करके कुछभी शेष न रहे, वहां 'ह' अक्षर संकेत के लिये लिया जाता है, जैसे—

मं०सं० ८८०-८८२ [धा० २१। उ० नास्ति। स्व० १ (ह)] यहां २१-१=२० हुए, क्योंकि उदात्त नहीं है। इस

ॐ

२० संख्या को ५ से विभक्त करनेसे कुछभी अवशिष्ट नहीं रहता। अतः 'ह' संकेत हुआ। 'स्व० १' है, इससे प्रथम स्वर 'अ' आया वह हमें मिलाने से 'ह' संकेताक्षर बन गया।

जहां उदात्त और स्वरित चिन्हवाले नहीं होते, वहां 'औ' स्वर आता है। जैसा-[धा० १५। उ० नास्ति। स्व० नास्ति। (वौ)] यहां धा० संख्या १५ है, इससे १ कम करनेसे १४ रहे। यह ५ से विभक्त करनेसे शेष ४ रहे। य-र-ल-व-श में चौथा व्यंजन 'व' है, वह इससे मिला। स्व० न होनेसे 'औ' स्वर लिया और दोनों के मिलापसे (वौ) संकेताक्षर सिद्ध हुआ।

इस तरह की यह स्वरगणना है। यह अत्यन्त उत्तम है, इसमें संदेह नहीं है। पर हमारे पास जितनी सामवेदकी छपी या लिखी पुस्तकें आयीं, उनमेंसे किसीमें भी संपूर्ण गणना परिशुद्धरूपमें हमें नहीं मिली। मुद्रणदोष और हस्तदोष से सर्वत्र गडबड ही दिखाई दी। यूरोपमें जर्मनमुद्रित पुस्तक में भी ये गणनादोष रह गये हैं। अजमेरवालोंने तो गणना दी ही नहीं है। इसी तरह अन्यत्र भी दोष दिखाई दिये। इसलिये यह गणना नये सिरे से करनी चाहिए, ऐसा हमें प्रतीत हो रहा है।

गानोंके छलाक्षर।

चारों प्रकारके सामगानोंमें अंतिम संकेत का अक्षर जाननेका प्रकार संक्षेपसे कहते हैं—

सामकी समाप्तिके पश्चात् जो संकेत का अक्षर दीखता है, उसे अंतिम अक्षर समझे। उस अक्षरकी उत्पत्ति निम्न प्रकार समझें। प्रथम वेय तथा आरण्य-गानका नियम—

मुद्रया लभते वर्गः पदच्छेदेन चाक्षरम्।
विकारैर्लभ्यते मात्रा अस्वरेण ह-वर्गकम्॥

मुद्रा (वाम हस्तके स्वरों) से वर्गका पता चलता है। ये वर्ग 'कु चु टु तु पु' ये ५ हैं। इनमें 'कु' से कवर्ग अर्थात् (क ख ग घ ङ); 'चु' से च-वर्ग अर्थात् (च छ ज झ ञ); 'टु' से ट-वर्ग अर्थात् (ट ठ ड ढ ण); 'तु' से त-वर्ग अर्थात् (त थ द ध न); और 'पु' से प-वर्ग अर्थात् (प फ ब भ म); इनका ग्रहण समझना चाहिए।

यदि साममें ६ स्वर हों, तो पुनः क-वर्ग और यदि ७ स्वर हों, तो फिर च-वर्ग, इस प्रकार स्वरोंकी संख्याके अनुसार क्रमशः अगला अगला वर्ग समझना चाहिए। इस प्रकार तमाम सामोंमें गिनती करें। इसके उदाहरण नीचे दिये जाते हैं-

वेय गानके (ओ४ग्नाई) इस प्रथम साममें वाम हस्त का ७ वां स्वर आता है। इसलिए ऊपर बताये अनुसार 'च' वर्ग हुआ।

अब पदच्छेद (साम के रेण) की गणनासे उस वर्गका कौनसा अक्षर है, यह पता करने के लिए ५ से अधिक पदोंकी संख्याको ५ से भाग देनेसे यदि १ शेष रहे, तो उक्त वर्गका प्रथम अक्षर, २ शेष रहे, तो दूसरा अक्षर और ३ शेष रहे तो तीसरा अक्षर, इसी प्रकार आगे समझे।

(ओ४ग्नाई) इस साममें ९ पदच्छेद (रेण) हैं। इन्हें ५ से भाग देनेपर ४ शेष रहते हैं, अतः उपर प्राप्त 'च' वर्गका ४ था अक्षर 'झ' हुआ।

अब विकार (विवृत्ति) से मात्रा (स्वर) प्राप्त होते हैं। यह विवृत्ति 'अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ' ये १४ स्वर, अनुस्वार, विसर्ग और व्यंजन इनको मिलाकर १७ प्रकारकी है।

इसमें अकारादि १४ स्वर यदि पद के आदिमें हों, तो उनका ग्रहण नहीं होता, किन्तु पदके मध्यमें या अंतमें हों, तो ही उनका ग्रहण होता है। और अनुस्वार, विसर्ग तथा व्यंजन (हल्) पदके अंतके ग्रहण करने चाहिए, मध्य तथा आदिके नहीं। जिस स्थानपर मात्रा (व्यंजन) का विशेष विधान किया हुआ हो, वहां मध्य की भी मात्रा ग्रहण करनी चाहिए। इस मात्रा के संबंधमें आगे आनेवाले संधिप्रकरणमें कहेंगे। उसका आठों स्थानोंमें अनुसंधान समझना चाहिए।

मात्राओंके उदाहरण निम्न हैं-

ओ४ग्नाई। आयाहि२र२र ३। इन दो पदोंमें अनुक्रमसे ओकार तथा आकारका ग्रहण नहीं होता। क्योंकि वे दोनों पदोंके आदिमें हैं। परंतु इनमें इकारका ग्रहण होता है, क्योंकि वह पदके अंतमें है। (वो इ तो या २ इ) इस पदमें

दोनों इकारोंका ग्रहण होता है, क्योंकि वे मध्य तथा अंतकी हैं। इसी तरह सर्वत्र समझें।

(त्व म ग्ने य ज्ञा नां) इस पदस्थ 'ना'के उपरके अनुस्वारका; (विश्वेषा ९ २३ इताः) पदस्थ 'ता' के आगे के विसर्गका; (श्व वेदस्साम्) इस पदस्थ अंतिम 'म्' कार का जो कि अर्धमात्रा है, ग्रहण होता है। इस प्रकार इन अंतिम अनुस्वार, विसर्ग और अर्धमात्रा का ग्रहण करना चाहिए।

(ऑ ग्ना २३ नात्) (अग्निं दूताम्) इन दो पदों में अनुक्रमसे आदिके तथा मध्यके अनुस्वारोंका ग्रहण नहीं होता, क्योंकि वे आदि तथा मध्यके हैं। इसी प्रकार सर्वत्र योजना समझें।

उपर्युक्त विवृत्तियां जिस साममें जितनी हों, उतनी संख्यावाली मात्रा, प्राप्त वर्ग के अक्षर के उपर होती है। जैसे यदि एक विवृत्ति हो, तो 'क,' दो हो तो 'का'। इसी प्रकार आगे समझें।

आ (ओग्नाइ) इस प्रथम साममें उपर बताये अनुसार गिनती करनेसे ९ विवृत्ति होती हैं। तदनुसार नवमी मात्रा (ओ) होती है। उस मात्रा का स्वरूप (अ आ इ ई उ ऊ ए ऐ ओ औ) इस तरह १० है।

उपर प्रथम प्राप्त 'ज्ञ' को 'ओ' में मिलानेसे (ज्ञो) अक्षर प्राप्त होता है। इस तरह यह सामकी अंतिम संख्या है।

जिस साममें विवृत्ति नहीं होती, उसमें अंतमें व्यंजन होता है।

जिस साममें स्वर नहीं होता, उसमें वर्गका ग्रहण नहीं होता। अतः उसमें 'ह' वर्ग (ह य र ल व) का ग्रहण होता है। उसमें अक्षर तथा मात्रा का ग्रहण पद और मात्रा द्वारा पहले बताये अनुसार करना चाहिए।

नीचे दिए गये ५ उदाहरणोंमें स्वर नहीं हैं, अतः उनमें वर्ग का ग्रहण न करके पदकी संख्यासे 'ह' वर्गका ग्रहण किया है। उदाहरण–

[१] साडे आठवें (८½) प्रपाठकके सताईसवें (२७ वें) 'इ म मी २३' साममें 'हे' का; [२] ४ थे प्रपाठकके बीसवें (प्रे वा २ इन्द्रा) साममें 'यी' का; [३] ग्यारहवें (११वें) प्रपाठकके सताईसवें (का इम्) साममें 'रो' का; [४] चौथे प्रपाठकके उन्नीसवें (१९वें) (प्र व इन्द्रा२) साममें 'लू' का और [५] साडे ग्यारहवें (११½) प्रपाठक के २६ वें (इन्द्रा२होइ) साममें 'वि' का ग्रहण होता है। इस तरह ये 'ह' वर्णके अक्षरों के उदाहरण हैं।

अध्यर्ध हीषि दंडानामूपानां लवयाः क्रमात्।
ऊवर्णे रेफ आदौ स्याद् इवर्णो रेफ अंतमः ॥

जिस साममें अध्यर्ध (ऊ ३२३४ या)। (उपा)। (ही षि) (ऊ २३४ पा) (उपा) और दंड (ऊ ३४ पा) 'उपा' हो, उस साममें अनुक्रमसे 'ल व य' इस प्रकार अक्षर आते हैं।

उपरके प्रथम अध्यर्ध 'उपा' का लक्षण तो 'वेय' गानके चौथे प्रपाठकके १६ वें (पात या वो अधसाः) साममें (ऊ ३२३४ पा) आता है। उसमें अंतिम अक्षर 'पो' आता है। उसे अध्यर्ध उपाके लक्षण से प्राप्त 'ल्' से जोडनेपर 'प्लो' अक्षर बनता है। इसे उस साममें देखें ॥१॥

॥हीषि॥ उपा का लक्षण प्रथम प्रपाठक में १९ वें (हुवा ३हो२३४इ। शन्नोदेवीः) साममें (ऊ२३४पा) आता है। उसमें आखिरी अक्षर 'हे' आता है। उसमें 'हीषि' उपा के लक्षणानुसार प्राप्त 'व्' को जोड देनेसे 'ह्वे' अक्षर प्राप्त होता है। यह उस साममें देखें ॥२॥

दंड उपा का लक्षण साडेतीन प्रपाठक (३½) में २९ वें (उ प ह्व रो इ) साममें (ऊ ३४ पा) आता है। उसमें अंतिम अक्षर (डे) आता है। उसमें दंड उपाके लक्षण द्वारा प्राप्त 'य्' को जोडनेसे (ड्ये) की प्राप्ति होती है। सो उसे उस साममें देखें।

जिस सामके अंतमें (ऊ २ ३ ४ ५) हो, उसके अंतके अक्षरके ऊपर रेफ (र) होता है और जिस सामके अंतमें (इ २ ३ ४ ५) हो, उसके अंतके अक्षरके नीचे रेफ (र) होता है। इन दो सामोंका उदाहरण निम्न है—

ढाइवें (२½) प्रपाठकके ३१ वें (त गू ३ र्धा ३ या सुवर्ण रोवा) साममें (ऊ २ ३ ४ ५) है और अंतका

अक्षर (डु) है। उसमें 'उ' वर्ण आदि है। उसका रेफ (र) 'डु' के उपर प्राप्त हुआ। और इस प्रकार 'डुं' अक्षर आया। सो उस उस साममें देखें।

डेढवें (१½) प्रपाठकके ४० वें (हाँवाइ मूर्द्धा हा इ) साममें अंतिम (इ २ ३ ४ ५) है। उसमें अंतिम अक्षर 'णी' है और उसमें 'इ' वर्ण के पहले अंतिम रेफ (र) आता है। सो वह अंतके अक्षर 'णी' के नीचे प्राप्त होकर (ण्री) ऐसा अक्षर बनता है, सो उस साममें देखें।

उपरके प्रकरणमें जो विशेष हो, वह अन्य ग्रंथोंसे समझें। अब ऊहगान तथा ऊह्यगान का विशेष नीचे दिए गये अनुसार है—

मुद्रया लभते वर्ग उद्घातैर्लभतेऽक्षरम्।
स्वरैश्च लभते मात्रा नोद्घातेन हवर्गकम्॥

मुद्रा (वाम हस्तके स्वर) द्वारा वर्गकी प्राप्ति होती है। यह विस्तार से पहले कह आए हैं। उसे उसी तरह समझें। उद्घातकी संख्यासे अक्षरकी प्राप्ति होती है, उद्घात का लक्षण यह है कि सामके सर्व पदोंमें पदके प्रारंभ से दूसरा स्वर और उस पदकी समाप्तिसे पूर्वका पहला स्वर जिस पदमें हो उसे उद्घात संज्ञावाला कहते हैं। इसके उदाहरण—

[१] ऊहगानके प्रथम साममें (१) द्विवो इसा १ न्न २; (२) उग्र छं शर्मा; (३) वरुणा १ या २; (४) द्युम्ना ना१ इमा२; (५) सिषा सन्ताः। इस प्रकार इन ५ उद्घातोंसे प्राप्त हुए हुए 'त' वर्गका प्रथम अक्षर (त) आता है, सो उसमें है। जब साममें उदात्त (उद्घात) पद न हो, तब प्रथम कहे हुए अनुसार 'ह' वर्ग आयगा। उसके उदाहरण—

नीचे के ५ उदाहरणों में स्वरद्वारा वर्गका ग्रहण नहीं है। तो भी उद्घातपदके अभावसे वर्गग्रहण छोड देते हुए, स्वरकी संख्याद्वारा 'ह' वर्ग का ग्रहण किया है।

[१] दूसरे प्रपाठकके ११ वें (त वा २ हछंसो३४) साममें, 'ही'; [२] ढाइवें (२½) प्रपाठकके १३ वें (प वा स्व वा ३) साममें 'यौ'; [३] तृतीय प्रपाठकके १० वें (औ३हो इ इ ह हा हो ३) साममें 'रे'; [४] प्रथम प्रपाठकके ह १७वें (प्र सु। न्वा ना ३। य अंधसा:) साममें 'ले'; [५] और ढाइवें (२½) प्रपाठकके दूसरे (इन्द्र। जुषा ३। स्व प्रवहा) साममें 'वे'; इस प्रकार 'ह' वर्ग आता है।

वर्गोपायो यदा नास्ति श-वर्गः कथ्यते तदा॥

जिस साममें वाम हस्त का स्वर नहीं होनेसे, वर्गका उपाय न हो, तब 'श' वर्ग (श ष स) का ग्रहण होता है। उसके उदाहरण—

साडे नवमे पप्राठक (९½) के ९ मे (प रि प्रा ३ ग्र) साममें स्वरके अभावसे वर्गका ग्रहण नहीं हुआ। अत: उसमें तीन उद्घात होनेसे 'ह' वर्ग छोडकर 'स' से तीसरा अक्षर 'सि' आता है। शकार और षकार का उदाहरण ऊह और ऊह्यगानमें नहीं हैं, अत: नहीं लिखे। इस प्रकार यह इतना विशेष है, शेष उपर्युक्तानुसार जानना योग्य है। यह सामगानोंके स्वरोंकी गिनती की रीति संक्षेपसे है।

सामवेदके गानग्रन्थ।

इस सामवेदमें जो मन्त्र हैं, उनके आधारपर ऋषियोंने सहस्रों गान निर्माण किये थे। उनके नाम ये हैं- (१) (ग्राम) गेयगान, किंवा प्रकृतिगान, (२) आरण्यक (गेय) गान, (३) ऊहगान, (४) ऊह्यगान किंवा रहस्य-गान ये चार ग्रन्थ उन सब गानों के हैं। इनमें अनेक उपप्रकरण हैं। इनमें जैमिनीय शाखापद्धतिसे गान ३६८१ हैं और कौथुमी तथा राणायणीय शाखाकी पद्धतिसे २७२२ गान हैं, जैसा–

	जैमिनीय गानसंख्या	कौथुमीय गानसंख्या
ग्रामगेयगान	१२३२	११९७
आरण्यक गेयगान	२९१	२९४
ऊहगान	१८०२	१०२६
ऊह्यगान	३५६	२०५
	३६८१	२७२२

ये सब गान विस्तार के साथ हम मुद्रित करके लोगोंके सामने रखेंगे। इस गानके विषय में जो कुछ लिखना

होगा, वह उन ग्रन्थों की भूमिकामें लिखेंगे और गानकी पद्धति भी वहां ही विस्तार के साथ लिखेंगे। यद्यपि जैमिनीय शाखा के गान ९५९ इतने अधिक हैं, तथापि जैमिनीय शाखा के सामवेद में १८२ मंत्र कम हैं। इनकी मन्त्रसंख्या यह है–

	जैमिनीय मंत्रसंख्या	कौथुमीय मंत्रसंख्या
पूर्वार्चिक	५८७	५८५
आरण्यक	६५	६५
उत्तरार्चिक	१०४१	१२२५
	१६९३	१८७५

इसमें महानाम्नी के १० मन्त्रों के चारही सूक्त कई नहीं गिनते, वैसा करनेसे तो संख्या क्रमशः १६८३ और १८६४ होती है। दोनों प्रकारकी गणनामें कोई दोष नहीं है। यद्यपि जैमिनियों के मन्त्र १८२ कम हैं, तथापि ९५९ गान अधिक बनाये हैं। यह जैमिनियोंकी विशेषता है। इस जैमिनीय शाखाका मंत्रक्रम और पाठभेद परिशिष्ट में दिया है।

सामवेदके ब्राह्मण।

सामवेद के आठ ब्राह्मणग्रन्थ हैं– (१) ताण्ड्य-ब्राह्मण [इसीको प्रौढ-ब्राह्मण अथवा पञ्चविंश-ब्राह्मण कहते है, क्योंकि इसमें २५ अध्याय हैं।] (२) षड्विंश-ब्राह्मण (यह २६ वां अध्याय ही है, इसी कारण इसका यह नाम हुआ है।] (३) सामविधान-ब्राह्मण, (४) आर्षेय ब्राह्मण, (५) देवताध्याय-ब्राह्मण, (६) उपनिषद्-ब्राह्मण, [इसीका नाम संहितोपनिषद्-ब्राह्मण अथवा मन्त्र-ब्राह्मण है] (७) वंश-ब्राह्मण, (८) उपनिषद्।

षड्विंश-ब्राह्मण तांड्य-ब्राह्मण काही २६ वां अध्याय है, इसलिये पूर्वार्ध को पञ्चविंश कहते हैं और अगले को षड्विंश कहते हैं। पहिला पञ्चविंशब्राह्मण जिसके २५ अध्याय हैं, दूसरा षड्विंश-ब्राह्मण जो २६ वां अध्याय है और छांदोग्योपनिषद् मिलकर तांड्य-महाब्राह्मण होता है। षड्विंश-ब्राह्मणमें अद्भुत कथाएं हैं, इस कारण उसको अद्भुत-ब्राह्मण भी कहा जाता है। अन्योंको अनुब्राह्मण ऐसा नाम है। जैमिनीयोपनिषद्-ब्राह्मणमें केन-उपनिषद् है, इसलिए जैमिनीय शाखाका एक नाम तलवकार-शाखा है, क्योंकि केन-उपनिषद् तलवकार-शाखा की है। वह जैमिनीय शाखाके अंतर्गत है।

सामसूत्रग्रन्थ– मशककल्प, क्षुद्रसूक्त, लाट्यायन-श्रौतसूत्र, गोभिल-गृह्यसूत्र, द्राह्यायण-श्रौतसूत्र, खादिर-गृह्यसूत्र, पुष्पसूत्र अथवा फुल्लसूत्र।

ये सब ग्रन्थ स्वाध्याय-मण्डलद्वारा शनैः शनैः छापे जांयगे।

परिचय-ग्रन्थ।

सामवेद के मुद्रण के समय निम्न लिखित मुद्रित ग्रन्थ देखे गये हैं–

१. लन्दन में रे० स्टिवनसन के द्वारा सन १८४३ में मुद्रित सामवेद-संहिता। इसमें आरण्यक पर्व नहीं छापा, स्वरचिन्ह नहीं दिये और पदच्छेद आदि के बहुत दोष रहे हैं। सौ वर्षपूर्व विलायत में छापा, इसलिये इसके संपादक प्रशंसा के योग्य हैं।

२. जर्मन देशमें बर्लिन नगरमें स० १८४८में श्री० बेन्फे महाशयने छापा सामवेद सब दृष्टियों से उत्तम और शुद्ध है। यहां सब स्वर दिये हैं, मंत्रोंके पदच्छेद अच्छे हैं। पाठभेदोंकी चिकित्सा खोजपूर्ण है। यह ग्रन्थ सब प्रकारसे आदर्श ग्रन्थ समझा जा सकता है।

३. डा० कलान्दजीने ब्रेस्लाउ नगरमें स० १९०७ में छापा जैमिनीय शाखाका सामवेद। यह उत्तम और शुद्ध पुस्तक आदर्शवत् है।

४. कलकत्तेमें स्व० सत्यव्रत सामश्रमीजीद्वारा सायण-भाष्यसमेत और गानों के साथ मुद्रित हुआ सामवेद।

५. कलकत्तामें श्री० पं० नरेन्द्रचन्द्र वेदान्ततीर्थद्वारा तथा श्री० प्रो० भवभूति भट्टाचार्यजीद्वारा मुद्रित हुए दो प्रकारके सामवेद।

६. लाहौरमें श्री० पं० डॉ० रघुवीरजी द्वारा मुद्रित जैमिनीय सामवेद।

७. अजमेरमें वैदिक यंत्रालय में मुद्रित सामवेद।

८. अजमेरमें आर्यसाहित्यमण्डलद्वारा प्रकाशित पं० जयदेव शर्माजीकी भाषानुवादसे युक्त सामवेद।

ये छपे हुए ग्रन्थ हमें प्राप्त हुए थे।

लिखित ग्रन्थ ।

लिखित ग्रन्थों में निम्नलिखित ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुए—

१. बडोदा से श्री० पं० नरहरिशंकर भाईशंकर शास्त्रीजी से वैदिक परंपरासे शोधित सामवेद-संहिता का ग्रन्थ ।

२. अष्टे नगरसे श्री० पं० शंभुराव गोविंदराव लिमये जी के यहां के संग्रह से प्राप्त हुआ साम का ग्रन्थ ।

३. जूनागढ से श्री० जयन्तीलाल दयाराम त्रिपाठीजीसे प्राप्त कौथुमीशाखाके ग्रन्थ और उनकी बनायी २० सूचियाँ ।

४. वरगूर नगरमें तंजावर जिलेमें श्री० नागेशराव द्वारा सामवेद और उसके सब गान ग्रन्थलिपिमें मुद्रित ग्रन्थ । ये ग्रंथ शुद्ध और कौथुमी-शाखाकी दाक्षिणात्य वैदिकपरिपाठी के अनुसार शुद्ध है ।

५. श्री०पं० लक्ष्मण शंकर द्रवीड, राणायणीय शाखावाले सामवेदी, गानविद्यामें प्रवीण, के यहां का शुद्ध सामसंहिता का ग्रन्थ ।

ये सब ग्रन्थ इस सामवेद की छपाईके कार्य में बडे उपयोगी सिद्ध हुए ।

संशोधक ।

निम्नलिखित धुरंधर विद्वानोंकी सहायता इस सामवेद के मुद्रण में हुई, अतः इनको शतशः धन्यवाद हैं—

१. श्री० नारायण दीक्षित, श्रीमन्महाराजा संस्कृतमहाविद्यालय में सामवेदके आचार्य, मैसूर ।

२. श्री० रामचन्द्र दीक्षित, आस्थान विद्वान्, सामवेदाचार्य, महाराजा वेदमहाविद्यालय, बंगलोर ।

३. श्री० पं० प्रभाशंकर त्रिकमजी त्रिपाठी, सामवेदी, भावनगरके गौरीशंकरवेदपाठशालाके अध्यापक ।

४. श्री नरहरिशंकर भाईशंकर शास्त्री, सामवेदी, बडोदा।

५. श्री० लक्ष्मण शङ्कर द्रविड, पूनानिवासी, राणायणीं सामगायक ।

इतने विद्वानों ने अपूर्व सहायता दी और वारंवार अनेक सूचनाएं कीं, तथा प्रूफ देखनेकी कृपा की, इससे यह कार्य अच्छी तरह समाप्त हुआ । इसलिये इन सबको हार्दिक धन्यवाद है ।

अनुनासिक का विचार ।

सामवेद का मुद्रण करने के समय कई विद्वानोंने सामवेद के अनुनासिक ꣳ इस रङ्ग चिन्ह से दर्शा दिये हैं और कईयोंने चिन्हरहित मुद्रण किया है, जैसा—

साममन्त्र क्रमांक	अनुनासिकचिह्न रहित मुद्रण	अनुनासिक चिह्नसहित	उत्तराक्षर
१५	स्तोमं रुद्राय	स्तोमꣳ रुद्राय	र
२७	अपां रेतांसि	अपाꣳरेताꣳसि	
२७८	शतं शतं	शतꣳशतं	श
२८१	त्रिं शत्	त्रिꣳशत्	
९८	ज्योतींषि	ज्योतीꣳषि	ष
२८१	ज्योतींष्यायवे	ज्योतीꣳष्यायवे	
१९	धियं सचन्ते	धियꣳसचन्ते	स
८७९	वंसते	वꣳसते	
२	यज्ञानां होता	यज्ञानाꣳहोता	ह
,,	विश्वेषां हितः	विश्वेषाꣳहितः	

इसी तरह सब अन्य अनुनासिकों के मुद्रण के विषयमें जानना योग्य है।

अनुनासिक का चिन्ह ꣳ यह अर्धचन्द्राकृति बिन्दुसहित है । इस चिन्हके साथ मुद्रण करनेवाले स० स्टिवन्सन, बेन्फे आदि युरोपीय विद्वान् तथा पं० सत्यव्रत सामश्रमीजी जैसे भारतीय विद्वान् हैं । अनुनासिक चिह्नके विना मुद्रण करने में प्रमुख विद्वान पं० भवभूति भट्टाचार्य, पं० नरेन्द्रचन्द्र, वेदान्ततीर्थ, कलकत्तानिवासी है ।

सामवेद के लिखित ग्रन्थोंमें भी कई ग्रन्थ चिन्हरहित हैं । परंतु बहुतसे अनुनासिक चिन्हसहितहि हैं । इस तरह द्विविध संमति होनेपर सामवेदका मुद्रण अनुनासिकचिन्ह रहित करना चाहिए, या चिन्हसहित करना चाहिए, यह प्रश्न खोज करनेवाले को सदा कष्ट देता रहता है ।

'या ऋक् तत् साम' ऐसा छान्दोग्य उपनिषद्में कहा है। इसका आशय यह है, कि 'जो ऋग्वेद का मन्त्र है वही साममन्त्र है ।' ऋग्वेदकाही मन्त्र सामयोनिमन्त्र है । ऋग्वेदभिन्न साममन्त्र नहीं है यह सिद्धान्त ही है । ऋग्वेदमें आप देखेंगे, तो आपको पता लग जायगा कि श-ष-स-ह-र के पूर्व का अनुस्वार बिन्दुरूप ही दिखाया जाता है, जैसा 'वंसते' ऋग्वेदमें कभी 'वꣳसते' इस प्रकार रङ्गचिन्हसे नहीं दर्शाया जाता । यह ऋग्वेदकी सर्वमान्य पद्धति है। अथर्ववेदमें भी इसी तरह दर्शाया जाता है।

सामवेदके योनिमन्त्र तो सब के सब ऋग्वेदकी शाखा-संहिताओंसे ही उद्धृत किये हैं, इसलिये उन साममन्त्रों का लेखन और मुद्रण ऋग्वेदकी तरह ही करना योग्य है। इस दृष्टिसे विचार करके हमने अपने मुद्रित इस सामवेद में सर्वत्र अनुनासिक-चिन्हरहित ही मुद्रण किया है। परन्तु जहां ऋग्वेदमें स्वरके पूर्वका अनुनासिक रङ्गचिन्ह से दर्शाया जाता है, वहां हमने सामवेद में भी वही रङ्गका चिन्ह मुद्रित किया है, जैसा, 'महाँ इन्द्रः' परन्तु रेफ और उष्मपूर्व अनुनासिक ऋग्वेद के समानहि बिन्दुरूप ही मुद्रित किया है, जैसा 'स्तोमं रुद्राय' इत्यादि।

सामगान यद्यपि सामयोनिमन्त्रों के आश्रयसे बनाये गये हैं, तथापि उनमें विकार-विश्लेषणादि होने के कारण वे तो सर्वथा पृथक् ही हैं, अतः वहां ॐकार ँ इसी चिह्न से दर्शाया जायगा।

जिस तरह उपध्मानीय और जिह्वामूलीय विसर्ग केवल विसर्गसे ही दर्शाये जाते हैं और व्याकरण में उन के पृथक् निर्देश होनेपर भी कोई पृथक् चिन्ह नहीं दर्शाते, जैसा-

'कः पदार्थः' लिखना चाहिये 'क॒ पदार्थ' ऐसा,

'कः किं' ,, ,, 'क॒ किं' " परन्तु ऐसा न लिखते हुए साधारण विसर्गसे ही 'कःपदार्थ' और 'कःकिं' ऐसा लिखा जाता है। यही बात यहां समझनी चाहिए।

कवर्ग तथा पवर्ग के पूर्व के विसर्ग का उच्चारण भिन्न होता ही है, कोई भिन्न चिह्न प्रयुक्त करे या न करे। इसी तरह श-ष-स-ह-र के पूर्व के अनुस्वार का उच्चारण अनुनासिक जैसा होना ही है, चाहे रङ्गचिन्ह रखा जाय या न रखा जाय।

जिस तरह केवल विसर्ग के उच्चारण से ऊपर बताये उपध्मानीय और जिह्वामूलीय विसर्ग के उच्चारण भिन्न हैं, उसी तरह केवल अनुस्वार और श-ष-स-ह-र के पूर्व का अनुनासिक इनके उच्चारणमें भिन्नता अवश्य है, परंतु यह उच्चारणकी भिन्नता रंगके चिन्हपर कदापि अवलंबित नहीं है। चिन्ह दिया अथवा न दिया तो भी श-ष-स-ह-र के पूर्व के अनुस्वारके अनुनासिक बनते ही हैं और उसका उच्चारण अनुस्वार से भिन्न होता ही है।

इस अनुनासिकका चिन्ह ँ यह है, और इसका उच्चारण देशभेदसे भिन्नभिन्न किया जाता है। इसका उच्चारण 'गँ, गुँ, गुं ग्वं, ग्वँ' इत्यादि अनेक प्रकार से होता है। हमारे विचार से ये सब उच्चारण अशुद्ध और अयोग्य ही हैं। अनुनासिक के उच्चारण में कण्ठस्थान का गकार और ओष्ठ्यस्थान के वकार या उकारके उच्चारण करने में कुछ भी प्रमाण नहीं है।

अनुस्वार का नासिकास्थान प्रसिद्ध है, अतः अनुस्वार का उच्चारण मुख बंद रहकर नासिका से ही केवल होता है, जैसा 'अं' का उच्चारण मुख बन्द रखकर नासिका से ही होता है।

परन्तु अनुनासिक का स्थान 'मुख+नासिका' है, 'मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः'। ऐसा भगवान् पाणिनि मुनि ने स्पष्ट शब्दों में कहा है। इस तरह अनुस्वार और अनुनासिक में भेद है। मुख खुला रखकर नासिका में गुंजन करने से अनुनासिक का ठीक उच्चारण होता है, वहां 'ग्वं' करने की आवश्यकता बिलकुल नहीं है। मुख-नासिका के उच्चारण में कण्ठ्य और ओष्ठ्य वर्णोंका 'ग्वं' जैसा उच्चार करना, यह निश्चय से अशुद्ध है।

व्याकरण के नियमों से 'ग्वँ' आदि उच्चारण का समर्थन करना संभव ही नहीं है। किसी अक्षर, वर्ण या चिन्ह का उच्चार करना हो, तो उस के शुद्धाशुद्ध होने के विषय में प्रमाण स्थानविचारहि है। उच्चारण इसी बलवत्तर प्रमाण से प्रमाणित होना चाहिये, इसीलिए अनुनासिक के उच्चारण के विषय में पाणिनीय शिक्षामें विस्तारपूर्वक और उदाहरणपूर्वक विशेष ही स्पष्टता के साथ कहा है।

अनुस्वारयमाणां च नासिकास्थानमुच्यते ॥२२॥
यथा सौराष्ट्रिका नारी 'तक्रँ' इत्यभिभाषते।
एवं रङ्गाः प्रयोक्तव्या खे अराँ इव खेदया ॥२६॥
रङ्गवर्णं प्रयुञ्जीरन्नो ग्रसेत्पूर्वमक्षरम्।
दीर्घस्वरं प्रयुञ्जीयात्पश्चान्नासिक्यमाचरेत् ॥२७॥
हृदये चैकमात्रस्तु अर्धमात्रस्तु मूर्धनि।
नासिकायां तथार्धं च रङ्गस्यैवं द्विमात्रता॥२८॥
हृदयादुत्करे तिष्ठन्कांस्येन समनुस्वरन्।
मार्दवं च द्विमात्रं च जघन्वाँ इति निदर्शनम् ॥२९॥

(पाणिनीय शिक्षा)

नासिका-स्थानीय अनुस्वार पांचों क-च-ट-त-प वर्गों के वर्ण आगे आनेपर परसवर्ण होता है, जैसा 'कंपते'

का 'कऽपते' होता है। यहां इसके उच्चारका इस तरह परसवर्ण होकर निश्चय ही हुआ और कोई शंका न रही। जब अन्तस्थ य-व-ल-वर्ण अनुस्वार के परे होते हैं, तब **'य-व-ल-परे यवला वा'** इस वार्तिक से 'संयन्ता' का 'सँय्यन्ता' ऐसा उच्चारण हुआ। य-व-ल के परे होनेपर इसका ऐसा ही उच्चार होगा, अतः इसमें भी कोई सन्देह नहीं रह सकता।

शेष रही बात 'श-ष-स-ह-र-' के परे होनेपर पूर्व के अनुस्वार का उच्चार किस तरह किया जावे, इस विषयमें

अनुस्वारस्य ५ इत्यादेशः शषसहरेफेषु।

(प्रतिज्ञापरिशिष्ट सूत्र ३।१)

'श-ष-स-ह-र' आगे होनेपर अनुस्वार के स्थानपर ५ यह रङ्ककार होता है। यह विशेष प्रकार का उच्चार है, जो आगे **'श-ष-स-ह-र'** आनेपर अनुस्वार का होता है। इसका उच्चारण करने की विधिहि ऊपर के पाणिनीय शिक्षा के श्लोकों में उदाहरण के साथ दर्शायी है।

'अतोऽटि नित्यं' इस पाणिनीय सूत्र से नित्य अनुनासिक होनेका विधान भगवान् पाणिनि करते हैं, तौभी यह ऋग्वेद में ही नित्य होता है, जैसा **'महाँ इन्द्रः'**। पर यही तैत्तिरीय शाखावाले **'महां इन्द्रः'** ऐसा पढते हैं अतः यह नित्य होनेपर वेद में वैकल्पिक सिद्ध हुआ है।

जब रङ्ग होता है, तब उसका उच्चारण कैसा करना चाहिये यह प्रश्न बडा महत्त्व का है। भिभिन्न उच्चारण होनेके कारण यह प्रश्न विचारकों को बहुत सताता है। मुखसहित नासिका से इसका उच्चारण करना चाहिये' ऐसा भगवान् पाणिनि मुनिका कहना है। इसीको उक्त शिक्षा में **'रङ्ग'** कहा है, इसीको प्रातिशाख्य में **'रक्त' राग'** कहा गया है। इसके न्हस्व, दीर्घ, गुरु ये तीन भेद भी कहे गये हैं।

इस रङ्ग के उच्चारण के विषय में पाणिनीय शिक्षा का उपदेश स्पष्ट है। उक्त श्लोकों में कहा है कि इस रङ्ग के पूर्वका स्वर थोडासा दीर्घ उच्चारा जावे, तत्पश्चात् नासिका में ही उच्चार किया जाय। यह अनुनासिक हृदय में एकमात्र, मूर्धामें द्विमात्र, और नासिकामें उसके आधा मिलकर दो मात्रों का यह रङ्ग होता है। सौराष्ट्र की छाछ बिकनेवाली स्त्री **'तक्रँ'** जिस तरह बोलती है, और जैसा कांसेके **'झंकार'** की ध्वनि आगे गूंजती है, वैसा इस रङ्ग का उच्चारण होना चाहिये।

'तक्रँ' कहनेवाली छाछबिक्री करनेवाली स्त्री **'तक्र-ग्रं'** कभी नहीं बोलती, परन्तु केवल 'तक्रँ' ऐसा कहती है। आजकल भी 'दहीँ लो दहीँ दही-ईँ-ईँ' कहाही जाता है। यही ठीक अनुनासिक का उच्चारण है। हिंदी भाषामें 'कहीँ, जहाँ, कहाँ, नहीँ' इनमें यही रङ्ग-चिन्हसे दर्शाया जानेवाला अनुनासिक है और यहीं अनुनासिक का ठीक उच्चारण होता है।

पाणिनीय शिक्षामें कहाही कांस्य घण्टी के झंकार जैसा उच्चारण हिंदी भाषामें अब भी प्रचलित है। इतना यह स्पष्ट होते हुए, उसका उच्चार 'ग्वं, ग्वँ, गुँ' आदि प्रकार विचित्र कठोर, स्थानव्यभिचार के दोष से युक्त करना सर्वथा अशास्त्रीय है, अतएव वह एकदम त्याज्यही है।

श-ष-स-ह-रेफ आगे आनेपर पूर्व अनुस्वार का अनुनासिक उच्चारण करना चाहिये। पूर्वस्वर दीर्घ होते पश्चात् नासिकामें ही अनुस्वार का गुंजन होता रहे, जैसा— **'वंसते'** का **'वाँऽसते'** इ०। यहां के 'ँ' का उच्चार 'कहाँ' के सदृश ही 'मुख खुला रख कर नासिकासे' ही करना चाहिये। यह उच्चार मुख और नासिकासे मिलकरही सदा हुआ करता है। हिंदी के 'कहीँ' के 'हीँ' का उच्चार मुख और नासिकासे ठीक प्रकार होता है, यही अनुनासिक का ठीकठीक उच्चार है। अत 'ग्वं' आदि उच्चारण अशुद्ध और अशास्त्रीय है।

५ यह चिन्ह लगाया अथवा न लगाया तो भी श-स-ह-र के पूर्व के अनुस्वार का वेद में या अन्यत्र ऐसा ही अनुनासिक उच्चारण होता है। ऋग्वेद में ५ या चिन्ह न रखा गया, तो भी इसके उच्चारण में को[ई] भिन्नता नहीं होती और यजु तथा साममें यह चिन्ह रखा गया, तो भी इसके उच्चारण में कोई भिन्नता नहीं होती। चिन्ह पर इसका उच्चारण अवलंबित नहीं है; इसका उच्चारण आगे 'श-स-ह--र' आनेके कारण ऐसा होता है। यह ध्यान में आनेपर ५ चिन्ह रखना या न रखना एक जैसाही है, यह बात ध्यान में आ जायगी।

हमने इस सामवेद में ये ऋग्वेद के ही मन्त्र हैं, इसलिये ऋग्वेदवत् चिन्हरहित (५ इस चिन्ह के विरहित) मुद्रण किया है।

विद्वान् इसका अधिक विचार करें।

औषधीशास्त्र के जमाने में अद्भुत नये प्रयोग ।

सूर्यकिरण और रंगोंसे

बिमारियोंपर प्रभाव।

(लेखक- श्री० योगीराज श्रीउमेशचन्द्रजी, संचालक-रामतीर्थ-योगाश्रम, बम्बई ४)

रंगीन जुदे जुदे पानी के प्रभाव से हरजात के रोग नष्ट करने की स्वदेशी पद्धति का विवरण। गहन विद्याओं से हिन्दी लोग ज्ञात हैं और उन प्रयोगों से भी असाधारण रोग अच्छे होते हैं।

सूर्यकिरण और रंगोंद्वारा रोग को नाबूद करने के शास्त्र को अंग्रेजी में क्रोमोपेथी (Chromopathy) कहते हैं, सूर्य की किरणों में कितनी शक्ति रही हुई है, इस विषय में अनेक पुस्तकों में दर्शाया है, तो भी कमी है।

सूर्य और उस के प्रकाश कितनी अगाध और गुप्त शक्तियां हैं, उसे आजके शिक्षणसे शोभायमान नर अक्सर कुछ नहीं जानते।

सूर्य की किरणों में सात प्रकारके रंगों का समावेश है, जैसे- लाल, पीला, हरा, नारंगी, आसमानी, बैंगनी, और नीला।

जिस प्रकार सूर्य के किरण में सात रंग हैं, उसी प्रकार अपने शरीर में सात धातुओं में सात रंग हैं। जब अपने शरीरमें खूनका हिस्सा कम हो जाता है, तब शरीर पीला पडने लगता है। खून को बढाने के लिये हवा, आहार, व्यायाम वगैरे साधन हैं तो भी दूसरे साधनों के बनिस्बत जो उपयोग करने की कला हो, तो सूर्यकिरणों में रहे हुवे लाल रंग अपने शरीर में प्रवेश कर अपन बिना मेहनत से और बिना खर्च से खून बढा सकते हैं। उसी प्रकार सूर्यकिरणों में रहे हुवे अन्य रंग अपने शरीर में प्रवेश करने में आवे, तो शरीर में रही हुई सप्त धातुओं को मजबूत बनाया जा सकता है।

गहन और महान् विद्या।

किसी समय हिन्दुस्थान में अखूट द्रव्य था, उसी प्रकार जिस का कथन नहीं कर सके, ऐसी अगम्य और महान् विद्यायें भी थीं। अभी जिस प्रकार अमेरिका, जर्मनी, इंग्लैंड, फरांस, जापान आदि देश नई नई शोध कर जनकल्याणार्थ प्रत्यक्ष अनुभव कर के प्रचार करते हैं, उसी प्रकार अपने पूर्वजों ने भी शोध खोल के लिये अपने जीवन को व्यतीत कर डाला। उसीके परिणाममें आज अपन उनके दिखलाये हुवे मार्ग का अनुकरण कर सुखमय जीवन व्यतीत कर रहे हैं।

किरणों का उपचार।

सख्त अफसोस तो यह है कि हिन्दुस्थान की प्रजा सुखी होने के बदले प्रतिदिन तन, मन, धन से दुःखी ही होती जाती है। इस को खूब गहराई से सोचनेपर मालूम हो जायगा कि एक वख्त जो मेहनत परिश्रम कर के प्रजा कुदरत की रीति के अनुसार जीती थी, वही प्रजा आज ऐषाराम और अकुदरती जीवन को प्राधान्य समझती है। आज अपनी प्रजा भिन्न भिन्न कई रोगों से पीडित है और इस का शांतिपूर्वक विचार करने से मालूम हो जायगा कि ऐसा होने का कारण अकुदरती जीवन ही है। उदाहरण मिसाल- यदि सरदी ही हुई तो दोनों नसकोरों में से पानी या श्लेष्म निकलता है। सिर भारी हो तब शीघ्र ही पेटेन्ट दवाएं, इन्जेक्शन या देशी दवाएं की शरण लेते हैं और काफी पैसा बरबाद करते हैं। परन्तु ऐसा न कर कुदरती उपाय सूर्यकिरणचिकित्सा का प्रयोग ही अजमाया हो, तो

सरदी हमेशा के लिये दूर हो जायगी। सुबह १० बजे के भीतर चार दिन तक पेट और छातीपर सूर्य-किरण पडे, इस तरह से बैठना चाहिये। आठ दिन तक सुबह उठकर और रात को सोते समय गरम पानी पीना चाहिये। दो पहर को दिन में एक ही मर्तबा भोजन करें। इस उपाय से सर्दी हमेशाके लिये मिट जायगी।

सूर्यकिरणों में रहे हुवे रंगो को किस प्रकार उपयोग में लेना ?

(१) पानी (२) तेल (३) शकर (४) गोंद (५) कांच

ऊपर दिखाये हुवे रंग की बोतल कुछ दाग न रहे, ऐसी साफ करना। अच्छी तरह पानी से धोना चाहिये। फिर उस बोतल को पौना हिस्सातक पानी से भर देना; फिर आस, छाया या गंधगी न हो, ऐसी स्वच्छ जगह धूप में लकडी के टुकडे पर बोतल को रख देना। प्रातःकाल १० बजे से दुपहर को तीन बजेतक धूप में बोतल रखना, फिर उठा लेना और दूसरा किसी प्रकार का प्रकाश न पडे, ऐसी अंधेरी जगह या कपाट-संदूक आदि में रखना। बोतल को धूप में लकडी के टुकडेपर रखने का कारण यह है कि सूर्य की गर्मी से जमीन भी गरम हो जाती है और बोतल भी गरम हो जाने से फूट जाना सम्भव है। दूसरा, सूर्यकिरणों में रही हुई शक्ति को जमीन (भूमि) खेंच लेती है। और बोतल को पौना हिस्सा भरने का कारण यह है कि, सूर्य-किरण लगनेपर उस में गैस पैदा होता है, उस से या तो बुच उड जाता है, या बोतल फूट जाती है। बोतल के मुंह को बुच से बराबर बन्ध करना चाहिये, नहीं तो पानीमेंसे रंग की शक्ति चली जाने का सम्भव है। कमसे कम धूप में ४ घण्टा रखनेपर पानी तयार हुवा समझा जाता है। बोतल रखने के बाद यदि बादल हो जाय तो बोतल शीघ्र हो उठा लेना और धूप निकलनेपर फिर रख देना चाहिए।

पानी तैय्यार होने के लक्षण।

बोतल का जो खाली भाग है, उस पर बराल के बारीक बिन्दु दृष्टिगोचर होते हैं।

तेल तैय्यार करने की रीति।

रंगीन बोतल में पौना हिस्सा तेल भरकर सुबह १० से ३ बजेतक रखना। धूप में इस तरह दो या तीन महिनातक रखनेमें आवे, तो उस तेल को रोग-निवारणार्थ काम में ला सकते हैं।

शक्कर बनाने की रीति।

शक्कर भी तेलके मुताबिक तैय्यार की जा सकती है; परन्तु शक्कर अच्छी शुद्ध हो तब ही गुणयुक्त होती है।

गोंद बनाने की रीति।

गोंद भी शकरके मुताबिक तैयार किया जाता है।

रंगीन कांच को उपयोग में लेने की रीति।

सूर्यकिरणचिकित्सा के लिये लगभग १॥ फूट के रंगीन कांच तैय्यार मिलते हैं, उसे लकडी के चाकठे में बिठाकर शरीर के जिस भाग को जिस रंग की जरूरत पडे, उस मुताबिक जमाना रोगी को सुबह ९ से ११ तक चटाई बिछाकर धूप में सुलाना, फिर कांच के चोकठे को शरीरपर रखना।

लगभग १० से २० मिनिटतक जरूरत पडे, तो ३० मिनिटतक रंगीन कांच रखकर इलाज करना रोगी को असर हुवा या नहीं, यह पसीने से समझना। ५ से १० मिनिट के अन्दर जो अधिक प्रमाण में पसीना आवे, तो ज्यादा देरतक सुलाना नहीं। कांच बिठाने का चोकठा त्रीकोण- आकार का होना चाहिये, नहीं तो कांच शरीर के भाग पर अड जाना सम्भव हैं।

किस रोगके लिये किस रंगके पानी की जरूरत है ?

मूर्छा रोग- नाक में भूरे रंग की बोतल में तैय्यार किया हुवा पानी रखना। १-२ घण्टे से १ या १॥ औंस पानी पीना चाहिये। बटाटा चने, मूठा, मोठ मटर आदि वस्तु नहीं खाना; चिन्ता और भय से दूर रहना, इस प्रकार २ से ३ महिनातक सूर्यकिरण से तैय्यार किए हुवे बोतल का पानी पीने से रोग जडमूल से निकल जायगा।

मेद-रोग- सुबह दररोज एक बखत कुनकुना पानी छे औंस में एक चमच शहद डालकर पी जाना। दूध, भात, कठोल, घी वगैरे का अल्पमात्रा से विशेष नहीं खाना। दररोज छे बखत पीली बोतल में तैय्यार किया हुवा पानी दो दो औंस पी जाना। रात को खाना नहीं और केले और सफरचन्द के सिवा हरे फ्रूट का यथायोग्य सेवन करना। सुबह दररोज एक बखत आधा घण्टेतक योग के आसन और पांच बार का प्राणायाम करना।

क्षय-रोग- यह रोग कष्टसाध्य है, तो भी सूर्यकिरणचिकित्सा का पानी रंगीन कांच द्वारा सूर्य के किरणों को छाती या पेटपर लेना, सूर्यपुटी तेल का मर्दन करना, योग के खास आसन, प्राणायाम, अनुकूल सात्त्विक आहार स्टीम बाथ (बाष्पस्नान) वगैरे कुदरती प्रचारों से खात्रीपूर्वक मिट सकता है। फेफडे का सूजन कम करने के लिये पीला, सुनहरी पानी दिन में ४ बार १ से २॥ औंस पीना व छाती ऊपर लाल रंग की बोतल का पानी दो बखत पांच पांच मिनीट मालिश करना।

कब्जियात- तांबाके लोटे में रखा हुवा पानी सुबह जल्दी उठकर पीना। नारंगी-पीला पानी पंद्रह दिनतक रोज ४ से ६ बखत दो दो औंस लेना। मयुरासन, करना, तांदुलकी भाजी विगैरे शाक भाजी, हरे फ्रूट थूली याने मोटे आटेकी रोटीवगैरका सेवन करना।

वीर्य का पतला होकर स्वप्नदोष होना।

विपरीत करणी आसन, पादांगुष्ठासन, वगैरः आसन करना; बादली रंग की बोतल का पानी एक महिनातक रोज ६ बखत दो दो औंस के प्रमाण से लेना; श्याम को सात बजे पहिले हल्का भोजन करना; सिरपर सूर्यपुटी ब्राह्मी का तेल पांच मिनीट मालीश करना, अण्डकोश, शिश्नेंद्रिय तथा पेडू के भाग को पांच मिनीटतक ठण्डे पानीसे धोना, फिर ईश्वर-ध्यान कर सो जाना। रात को सोते बखत आसमानी रंग के पानी में कपडे के टुकडों को भीजाकर नाभी के ऊपर रखना; हस्तमैथुन की कुटेव हो तो भी आसमानी पानी अच्छा असर करता है और थोडे ही दिनों में कुटेव मिट जाती है। शीर्षासन रोज १५ से ३० मिनिटतक करनेसे वीर्य घट्ट होकर शरीरमें अजब शक्ति आ जाती है।

पेशाब की थैली में अशक्ति याने बिना-मालुमपणे से पेशाब का होना- हरे रंग के पानी को दो महीनेतक रोज ५ बखत दो दो औंस के प्रमाण से सेवन करना। उडियान रोज ५ मिनिट तथा रोज सवारे ५ मिनीट सुधी अण्डकोष, शिश्नेंद्रिय और पेडू के भाग को संकोच तथा विकास करना। चौलाई तथा तांदलजौ की भाजी और दूध, घी यथेच्छ खाना। मिठाई विष्टान्न, फरसाणके शक्करवाले पदार्थ का सर्वथा त्याग करना। ब्रह्मचर्यका पालन करना।

शरदी- सुबह नीरे कोठे कुनकुने ६ औंस पानी में शहद डालकर ६ दिनतक पीना। छाती ऊपर लाल रंगके पानीको ४ से ६ मिनिटतक सुबह श्याम घसना, सूर्यभेदन-प्राणायाम १५ दिनतक रोज ५ बखत करना।

इस प्रकार कोई भी किसी प्रकार का असाध्य रोग क्यों न हो सूर्यकिरणचिकित्सा से मिट सकता है। यह लेख बढ जाने के भय से दूसरे कई रोग कौन से रंग की बोतलके पानी से मिट सकते हैं। यह उल्लेख प्रसंगोपात्त वाचकों के लाभार्थ फिर कभी रजु करने में आवेगा।

श्री अरविन्द क्या करते हैं ?

(लेखक- श्री अभय देवशर्मा विद्यालंकार, आचार्य, गुरुकुल, कांगडी)

यह जानकर कि मैं पाण्डिचेरी के अरविन्दाश्रम में बहुत दिन रहकर आया हूं, जो एक प्रश्न आम तौर पर पूछा जाता है, वह है- " यह तो बताइये कि श्री अरविन्द के फिर कार्यक्षेत्रमें आने की भी संभावना है ? वे अपनी साधना खतम करके फिर मैदान में कब आयेंगे ? वे अब कुछ काम क्यों नहीं करते ? "

इस प्रश्न को सुनकर मैं प्रायः मनमें कहता हूं (कभी कभी बोल भी पडता हूं) " इसका मतलब तो यह हुआ कि मानों श्री अरविन्द अबतक पाण्डिचेरी में निठल्ले पडे हुये हैं या चैन आराम से दिन बिता रहे हैं। " यह नहीं कि प्रश्नकर्ताओं का मतलब मैं नहीं समझता, पर मेरा ध्यान उस समय मनुष्य की उस दुर्बलता की तरफ आकृष्ट हो जाता है, जिसके कारण जिस प्रकार के कार्य को कुछ मनुष्य बडा जरूरी और उपयोगी समझकर स्वयं कर रहे होते हैं ! जब तक वैसे ही या उससे मिलते जुलते ही कार्य को दूसरे लोग भी न करते हों, तब तक वे मनुष्य उन दूसरे लोगों को निरर्थक काम करनेवाले मूर्ख या समय को निठल्ले खोनेवाले समझते हैं। अतः यदि श्री अरविन्द भी देशविदेशमें दौरे करें, उनके जलूस निकलें, वे भाषण देवें, सम्मेलनों का सभापतित्व करें और हररोज नहीं तो दूसरेतीसरे दिन अपने वक्तव्य प्रकाशित कराते रहा करें, तभी उन लोगों का मन सन्तुष्ट होगा कि " हां, श्री अरविन्द भी कुछ काम कर रहे हैं। "

यह भी मैं जानता हूं कि प्रायः उपर्युक्त प्रश्न लोग श्री अरविन्द में श्रद्धा रखने या उनसे आशा लगाने के कारण ही प्रेम और आदरभाव से पूछते हैं। कभी कभी उनमें बेशक उपकार करने के उनके अपने विचारों के कारण और श्री अरविन्द को वैसा उपकार करता हुआ न देखकर एक प्रकार का रोष भी होता है, पर उनका वह रोष भी इमानदारी का और हार्दिक होता है। अतः ऐसे लोगों के लिए ही मैं इस लेखद्वारा कुछ निवेदन करने का प्रयत्न करने लगा हूं।

मेरे इतना कहने से तो कुछ बनेगा नहीं कि " अकेले रहते हुए भी श्री अरविन्द बहुत भारी काम कर रहे हैं। " मुझे उनका काम दिखाना होगा, तो मैं पहले यह कहना चाहता हूं कि वे एक ऐसे योगाश्रम को चला रहे हैं, जिसमें लगभग २०० साधक (और साधिकायें) रहते हैं और जिनके खाने-पीने, रहने-सहने अर्थात् सब शारीरिक और भौतिक भी, न केवल मानसिक और आध्यात्मिक, आवश्यकताओं की पूर्तिकी जिम्मेवारी अपने ऊपर स्वभावतः ले रखी है।

यदि मेरे जैसे किसी संस्था को चलानेवाले के बारेमें यह कहा जा सकता है कि, मैं गुरुकुल का आचार्य या मुख्याधिष्ठाता होने के कारण बडा काम कर रहा हूं, (यद्यपि गुरुकुल के ब्रह्मचारियों के प्रति मेरी वैसी उच्च आध्यात्मिक जिम्मेवारी नहीं है- न आशा की जाती है और न मुझमें उसकी सामर्थ्य है, जैसी बडी दुःसाध्य, गहन और अवर्णनीय जिम्मेवारी वे अपने आश्रमवासी २०० साधकों की तथा अपने अन्य बाहर के शिष्यों की भी उठाते हैं) तो यह तो नहीं समझा जाना चाहिए कि वे कुछ काम नहीं कर रहे हैं। एक संस्था चलाना ही बहुत भारी काम है। यदि हम इस बात की तरफ न भी ध्यान दे कि वह संस्था अपने अति महान् उद्देश्य के कारण कितनी बडी और कितनी असाधारण है।

यह और बात है कि संस्था संचालन के इस काम को वे विना किसी बाहिरी प्रयत्न के चुपचाप, स्वाभाविक रूप से करते हैं। वे किसी साधक से बातचीत करना तो दूर रहा- साल में तीन दिन के सिवाय- कभी किसी साधक को दर्शन तक नहीं देते और उन दर्शन के तीन अवसरों पर भी मौन ही रहते हैं। फिर भी देशविदेश से आये २०० साधक उनके चरणों में बैठकर अपनी आध्यात्मिक उन्नति प्राप्त कर रहे हैं। उनको वहां कुछ

मिल रहा है, तभी तो वे लोग वहीं ठहरे हुये हैं। नहीं तो उन्हें आश्रम छोडकर चले जाने से रोकनेवाली अन्य कोई बात नहीं है। इन साधकों का श्री अरविन्द से सम्बन्ध जोडनेवाला यदि कोई भौतिक साधन है, तो वह चिट्ठीपत्री है। हरएक साधक चिट्ठीपत्री द्वारा श्री अरविन्द से प्रतिदिन बातचीत कर सकता है। श्री अरविन्द साधकों की चिठ्ठियों का जो रोज जवाब देते हैं, उसमें सुना है कि उनके ५, ६ घंटे खर्च हो जाते हैं।

यदि हम उनका इतना ही, ५-६ घंटे लिखने का ही काम देखें, तो भी वह पूरा काम है। क्योंकि दिन में ५-६ घंटे काम करना प्रोफेसरी, अध्यापकी, संपादकी अफ्सरी आदि बहुत से ऊँचे पेशों में भी पूरा काम समझा जाता है। और मैं तो यह भी कहना चाहता हूं कि हम लोग तो दिनरात में ७-८ घंटे सोकर भी अपना समय काट लेते हैं। पर श्री अरविन्द तो एक आध घंटा यौगिक विश्राम लेने के अतिरिक्त चौबीसों घंटे सोते भी नहीं है, कुछ काम ही करते रहते हैं। तो वे हमारी अपेक्षा कितना अधिक काम अधिक-रूप से करते हैं, इसका कुछ अन्दाजा लगाया जा सकता है। पर शेष समय वे क्या करते हैं? पाठक यह जानना चाहेंगे, पर इसका कुछ उत्तर देना कठिन है।

जो कुछ भी कहा जा सकता है, वह यह है कि यदि केवल आश्रम की दृष्टि से देखें, तो वे साधकों को उन्नत करने के लिए उनकी नानाविध कठिनाइयोंमें से उन्हें निकालने के लिए अपनी आध्यात्मिक शक्ति की सहायता पहुँचाया करते हैं; विश्व की दृष्टि से देखें, तो वे इस पृथ्वी पर एक नई सृष्टि रचने के काम में भगवान् की दिव्य विज्ञानमयी शक्ति को अवतरित कर जगत् का एक दिव्य रूपान्तर करने के बडे ऊँचे और अति विशाल कार्य में तत्पर हैं। पर इन बातों का यहां वर्णन करना निरर्थक हो जाता है, क्योंकि केवल लेखद्वारा इस कथन को समझा सकना संभव नहीं है। इसके लिए आध्यात्मिक जगत् का कुछ अनुभव होना आवश्यक है।

यहां कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर का एक गीत याद आता है। उन्होंने लिखा है "मां, तू आखिर मुझे मना क्यों करती है? यही न कि मैं कलम स्याही में डुबा डुबा कर कागज पर फेर रहा हूँ।

"मां, मैं तो आज ही यह करने बैठा हूं और एक ही कागज पर लकीरें कर रहा हूं और तू मुझे मना कर रही है।

"लेकिन अभी बताना तो जब बाप दिन भर बैठा बैठा कागजों पर स्याही फेरता रहता है, इतने कागज खराब करता है, पुलिन्दे पर पुलिन्दे काले करता है, तब तू कुछ नहीं कहती। तब तू शान्त बनी रहती है।

"मां, तू मुझे मना क्यों करती है?"

बच्चा अपनेद्वारा कागज खराब किये जाने को और अपने बापद्वारा या किसी विद्वान् महापुरुषद्वारा कोई आवश्यक कागज या कविता या ग्रन्थ लिखे जाने को एक ही बात समझता है। इनमें कोई भेद नहीं समझता। जैसे बच्चा यह नहीं जान सकता कि लेखनद्वारा वाणी-शक्ति का प्रसार होता है- किसी महापुरुष के काव्य और उनके ग्रन्थ लेखनद्वारा सारे जगत् में प्रभाव उत्पन्न होता है, अतः वह उनके लिखने को भी अपने जैसा कागज खराब करना समझता है, वैसे ही हो सकता है कि हम लोग भी अध्यात्म-जगत् से अनभिज्ञ होनेके कारण वहां की संभावनाओं और शक्तियों से अपरिचित होने से श्री अरविन्द के बडे भारी जगद्व्यापी आध्यात्मिक कार्य को (जो वह अकेले, जगत् से स्थूल संबन्ध तोडकर स्थूल दृष्टि से कुछ भी कार्य न करते हुवे) कर रहे हैं, उसे हम अपने आलस्य या व्यर्थ कालमापन की तरह व्यर्थ में समय बरबाद करना या अकर्मण्यता समझ रहे हैं।

और जैसे वह बच्चा बडे होकर लेखन का महत्त्व (उस पर भी रविबाबू जैसे महापुरुष के लेखन का महत्त्व) समझ सकता है, वैसे हम भी आध्यात्मिकतया विकसित होकर श्री अरविन्द के कार्य की महत्ता को अनुभव कर सकेंगे।

एक बार एक गांव का आदमी हम पढें-लिखे लोगों की मजाक उडाता हुआ कहता था, कि जब हम हल चलाते हैं, तो हमें यह काम करता देख कर आप जैसे लोग जिन्होंने कभी हल चलाकर नहीं देखा समझते हैं कि यह काम बडा आसान है - इसकी मूठपर, हाथपर,

रखे रखो और दूसरे हाथ से चाबुक से बैलों को हांकते जाओ-बस। पर फाल को जमीन में ठीक धंसाये रखनेमें जो बडा जोर पडता है- जो श्रम खर्च होता है- उसे तुम लोग नहीं जानते, वह कलम घिसना नहीं है। और वह ठीक कहता था। उसी तरह मैं कहता हूं कि जो लोग समझते हैं कि श्री अरविन्द या उनके शिष्य, (या कोई सच्चे योगी) आराम से संसार के संघर्ष से जुदा बन्द कमरे में या सुरक्षित आश्रम में रहते हैं, उनका जीवन इतना आसान है; वह यह नहीं जानते कि आन्तरिक जीवन में प्रविष्ट हो जाने पर ठीक दिशा में उसे चलने के लिए बलात् उन पर दिनरात कितना जोर पडता है -कितनी शक्ति खर्च होती है- जिससे बहुतसे लोग घबरा जाते हैं। वे यह नहीं जानते कि असल में सारी दुनिया अन्दर है, दुनिया का असली संघर्ष अन्दर है, अन्दर में दुनिया की लडाई सीधी है और बडी जबर्दस्त है, अतः वे यह नहीं जानते कि श्री अरविन्द एकान्तमें रहते हुये भी एक बडी भारी लडाई लड रहे हैं, सारे जगत् के कल्याणके लिए, मनुष्यजातिके दिव्य उत्थानके लिए दिनरात लडाईके मैदानमें हैं और विजय पर विजय कर रहे हैं।

यदि यह ठीक है, तो यह समझना अज्ञान है कि श्री अरविन्द कुछ उपकार नहीं कर रहे हैं। असल में तो उपकार करनेवाले परमेश्वर ही हैं, मनुष्य का तो केवल अहंकार ही है। पर यदि जिसद्वारा उपकार-कार्य होता है, उसे उपकारकर्ता समझा जायं, तो मैं जहां तक देखता हूं, इस समय भी अरविन्द जिस विश्वव्यापी महा कल्याण के साधन बन रहे हैं, उसकी दृष्टि से उन जैसा उपकारकर्ता दूसरा कोई नहीं।

तत्त्वज्ञान की गूढ बातें करना इस लेख का उद्देश्य नहीं है, अतः तत्त्वविवेचन में बिना पडे आम लोगों के अनुभव में आनेयोग्य भाषा में यह कहना चाहता हूं कि ज्यों ज्यों अन्दर सूक्ष्मता में प्रवेश किया जाता है, त्यों त्यों चंचलता (जिसे हम जरूरी कर्मण्यता या बडा भारी काम समझते हैं) घटती जाती है और सच्ची शक्ति, क्षमता, प्रभाव, बल बढते जाते हैं। जैसे सब जगत् में अपार कर्म करता हुआ, सब ब्रह्माण्ड को प्रतिक्षण अपनी शक्ति से हिलाता हुआ परमेश्वर बिलकुल शान्त, कुछ भी न करता हुआ 'न' के तुल्य दिखाई देता है, वैसे ही परमेश्वर के समीप पहुँचे हुये, जगत् की अन्तरात्मा के पास काम करनेवाले अन्तःप्रविष्ट विरल योगी यद्यपि बडा भारी काम कर रहे होते हैं, पर उनका कर्म हम स्थूल पुरुषों को दृष्टिगोचर नहीं होता। महात्मा गांधी को तो कोई अकर्मण्यता, अपरोपकार-रतता का दोषी नहीं ठहरा सकता।

पर ज्यों ज्यों वे अधिक मौन रहते हैं— आजकल तो वे मौन को बढाते जा रहे हैं और आधा दिन मौन रहते हैं-त्यों त्यों उनकी कार्यक्षमता, लेखों की शक्ति, आत्मिक बल बढता जाता है। यह उनके साथी भी अनुभव करते हैं। वे स्वयं तो कहते ही हैं। गांधीजी ने तो बहुत बार शांति और स्थिरता की महिमा गाई है। उन्होंने कहा है "शान्ति ही प्रकृति है," 'जो अपने आपको पत्थर की तरह बनाकर शांत रख सकता है, वह एक ही जगह बैठा हुआ सारे संसार को हिलाया करता है।' अपने विषय में भी वे कहा करते हैं कि ज्यों ज्यों मेरी आन्तरिक शक्ति बढती जायेगी, त्यों त्यों मेरी बाहरी क्रिया कम होती जायेगी; तो हमें भी एक ऐसे महात्मा पुरुषके अनुभव की सत्यता स्वीकार करनी चाहिए और उससे लाभ उठाना चाहिए, जिन्हें हमने अपनी समझ में आनेलायक बहुत भारी काम करते हुये साक्षात् देखा है और उनका भी अनुभव यही हुआ है।

और नहीं तो हम यह समझ सकते हैं कि जैसे भौतिक विज्ञान (Science)के वेत्ता लोग बीसियों वर्ष या जीवनभर किसी खोजमें लगे रहते हैं और उनके विषयमें यह नहीं समझा जाता कि वे निरर्थक समय खो रहे हैं, वैसे भौतिक विज्ञानसे बहुत अधिक विशाल, बहुत अधिक सच्चे और अतएव बहुत अधिक शक्तिशाली आध्यात्मिक ज्ञान-असली विज्ञान-के भारी परीक्षणोंमें लगे हुये श्री अरविन्द भी जगत् के लिए कुछ उपयोगी कार्य ही साध रहे हैं।

आशा है मेरे इस सब निवेदन से यह अनुमान लगाया जा सकेगा या इसका आभास मिल सकेगा कि श्री अरविन्द जो ३० वर्षों से पाण्डिचेरी में बैठे हुये हैं और १२-१३ वर्षों से उनके चारों ओर एक आश्रम भी बन गया है, वह सब बेकार नहीं है।

ऋषि पिप्पलाद की कथा।

(लेखक- श्री० पं० जयदेव शर्मा, विद्यालंकार, मीमांसातीर्थ, अजमेर)

अथर्ववेद की पैप्पलाद शाखा प्रसिद्ध है। आचार्य पिप्पलाद या ऋषि पिप्पलाद कब हुए, उनके पिता कौन थे, उनके सम्बन्ध में और अधिक जानकारी बहुत कम है।

अथर्ववेदीय प्रश्नोपनिषद् के प्रारम्भ में यह प्रसंग है। छः ब्रह्मनिष्ठ विद्वान् वेदज्ञ ब्रह्म की खोज करते हुए जिज्ञासा से भगवान् पिप्पलादके समीप आये थे। उन्होंने छःहोंके समाधान किये।

इससे अधिक ऋषि पिप्पलाद की कोई इतिहास नहीं मिलता। ब्रह्मपुराण में ११० अध्याय में 'पिप्पल तीर्थ' के वर्णन में पुराणकारने ब्रह्माके मुखसे पिप्पलाद ऋषि के सम्बन्ध में पर्याप्त जानकारी दी है, जिस को पाठकों के ज्ञानवृद्धि के लिये यहां देते हैं।

अथर्वा के पुत्र दध्यङ् (दधीचि) नामसे विख्यात थे। उनकी धर्मपत्नी का नाम गभस्तिनी था। वह प्रसिद्ध ऋषिका लोपामुद्रा की बहिन थी। इसका दूसरा नाम 'वडवा' था। वह बडी पतिव्रता, तपस्विनी थी, दधीचि ऋषि बडे अग्निहोत्री और उत्तम गृहस्थ थे। ये गोदावरी के तटपर अगस्त्य के समान ही प्रसिद्ध थे। अगस्त्य और इनके प्रभाव से शत्रुलोग इनके आश्रम में आक्रमण नहीं करते थे।

देवगण ने बडी भारी विजय प्राप्त की थी और असुरों को पराजित किया था। वे प्रसन्नचित्त दधीचि के आश्रम में आये, दधीचिने समस्त देवगण का यथोचित आतिथ्य किया। ऋषि को प्रसन्नचित्त देखकर देवताओंने निवेदन किया कि- 'भगवन्! आप इस पृथ्वीपर कल्पतरुके समान जब हम पर बडे कृपालु और प्रसन्न हैं, तो हमें क्या दुर्लभ है। हमारी आपसे एक विनय है, कृपाकर सुनिये। हम लोग दैत्यों और असुरों का विजय करके यहां आये हैं, आप के दर्शन से और भी आनन्द हुआ, अब हमें युद्ध के इन हथियारों का कोई प्रयोजन नहीं है' और सदा हम इनको अपनेपर लादे भी नहीं रह सकते। हे मुनिराज! हमें ऐसा कोई सुरक्षित देश नहीं मिल रहा, जहां इन शस्त्र-अस्त्रों को सुरक्षित रूपसे रख सकें। स्वर्ग और रसातल में भी इन को रख दें, तो हमारे शत्रु असुरगण वहांसे चुरा सकते हैं। भगवन्! इसलिये हमारी इच्छा है कि आप के आश्रम में हम इन अस्त्र-शस्त्रों को सुरक्षित रूप में रख दें।

'यहां कोई भय भी नहीं है, न राक्षसों का भय है, न दानवोंका, इस देशपर आप की आज्ञा चलती है, आप-सा तपस्वी दूसरा नहीं है। हमने अपने शत्रुओं को जीत लिया है, दैत्य सब नष्ट हो गये हैं, अब ये शस्त्र भी भाररूप हैं, ये अब आप की रक्षा में रहेंगे और हम नन्दनवन में आनन्दक्रीडा करेंगे।'

देवों का इस प्रकार वचन सुनकर दधीचिने उनका कथन स्वीकार कर लिया। परन्तु उसकी प्रिय धर्मपत्नी गभस्तिनी को यह बात अच्छी न लगी। उस ने अपने पतिदेव को देवों के अस्त्र-शस्त्र अपने गृह में रखने से मना किया। कहा-- "नाथ! मुने! शास्त्रज्ञ विद्वान् परमार्थ में लगे हुए संसार से विरक्त पुरुषों को दूसरों की आफतें झेलने से क्या लाभ? इस से न इस लोक में सुख होना है, न परलोक में। देवों के अस्त्रशस्त्रों को अपने आश्रम में स्थान देने से देवों के शत्रुगण दैत्य, असुरलोगों की हमपर अकारण द्वेषदृष्टि हो जावेगी। हमारे आश्रम से यदि ये अस्त्र-शस्त्र किसी प्रकार चोरी चले गये, तो देवगण हमारे शत्रु हो जावेंगे। इसलिये दूसरे के पदार्थ पर ममत्व बांधना ठीक नहीं है। जबतक द्रव्य रहता है, तबतक मित्रता रहती है, और जब द्रव्य नष्ट हो जाता है, तब लोग शत्रु हो जाते हैं। यदि तुम अन्यों को कुछ दे सको, तो याचकों को दीजिये, नहीं दे सकते, तो आप मन, वाणी, और कार्य द्वारा परोपकार कीजिये। दूसरेका धन अपने पर ले कर रखना सज्जनों ने रोका है, इसलिये आप देवों के शस्त्रास्त्र ग्रहण न कीजिये।"

अपनी प्रिय धर्मपत्नीके ऐसे वचन सुनकर दधीचि बोले- " भद्रे ! प्रथम जब देवगणों का हमने इतना मान-आदर किया, तब उनकी प्रार्थना के उत्तर में ' नकार ' मेरे मुँह पर नहीं आता । "

पतिकी ऐसी बात सुनकर बिचारी धर्मपत्नी चुप हो रही। और देवगण अपने समस्त अस्त्र-शस्त्र उतार कर वहांही डालकर मुनिको नमस्कार करके चले गये ।

बहुत काल बीत जाने पर भी देवोंने शस्त्रास्त्रसम्बन्ध में न बातचीत की, न मन से ही कुछ विचारा, वे तो मानो भूलही गये थे। परन्तु एक वार स्वयं दधीचि ने अपनी धर्मपत्नीसे कहा- "भद्रे ! देवोंके शत्रु असुरगण मुझसे द्वेष करने लग गये हैं, देवगण अपने अस्त्रशस्त्र यहां से ले जाना नहीं चाहते, अब क्या करना चाहिये । दैत्यों का बल बढ रहा है, वे तप भी कर रहे हैं, वे अवश्य इन उत्तम उत्तम अस्त्रशस्त्रों को यहीं से चुरा वा लूट ले जावेंगे ।"

शस्त्र-अस्त्रों की रक्षा करने के लिये दधिचि ने यह किया कि उनको पुण्य पवित्र जलोंसे धोकर उस अस्त्र-मय तेजस्वी जलको दधीचि ने स्वयं पान कर लिया, कालवश वे सब अस्त्र वीर्यरहित होकर नाश को प्राप्त हो गये ।

कुछ काल बाद देवगण आकर बोले, हम पर शत्रुओंका भारी संकट आ गया है। आपके पास हमारे अस्त्रशस्त्र रखे हैं । कृपाकर ! हे मुनिदेव ! वे आप हमें दे देनेकी कृपा करें ।

दधीचि बोले- "आप लोग चिर काल तक नहीं आगये तो दैत्योंके भयसे मैंने समस्त अस्त्रों का पान कर लिया है, अब तो वे सब मेरे शरीर के ही भीतर हैं, जो आपको उचित जान पडे कहिये ।"

दधीचि का वचन सुनकर देवगण ने बडे विनय से कहा "मुनिराज ! हम तो यही कह सकते हैं कि हमारे अस्त्र आप हमें दे दीजिये । उनके न होनेसे हमारे समृद्ध बलशाली शत्रु हमें पराजित कर देंगे । अब हम कहां जांय और आप से क्या कहें, अब देवों के स्वर्ग, पृथ्वी, और पातालमें भी कोई ठौर ठिकाना न रहेगा, आप तपस्वी हैं, आपके सामने और कुछ कहना भी ठीक नहीं।"

दधीचि बोले- "अस्त्र तो मेरी हड्डियों में हैं, आप उन्हें ले सकते हैं । "

देव बोले- " हमारा इससे क्या बनेगा, अस्त्रों के बिना तो हम अब अबलाओं के समान हो गये । "

मुनिने कहा- " मैं योगबलसे प्राण त्याग दूंगा, मेरी अस्थिओं के ही उत्तम उत्तम अस्त्र बना लेवें । "

देवोंने कहा- " बहुत अच्छा, आप ऐसा ही कीजिये । " उस समय दधीचि की धर्मपत्नी समीप नहीं थी, देवोंने उसीके भय से उसकी अनुपस्थिति में ऐसा कह दिया। इधर दधीचि ने अपने प्राण, अग्नि आदि सहित योग-बलसे दहराकाश में स्थापित किये, और देह देवोंको सौंप दिया । देवोंने विश्वकर्मा को कहा "भाई इसके अस्त्र जल्दी ही बना दो ।"

विश्वकर्मा बोले- "देवगण ! यह ब्राह्मण का शरीर है, इसको चीर फाड कर अस्त्र मैं क्योंकर बना दूं । ब्राह्मण-शरीर पर चीर-फाड काट-फाट का काम मैं नहीं कर सकता।" तब देवगणने गौओं को कहा- "गौओ! हम क्षण-भरके लिये आपके मुखों को वज्र बनाते हैं, आप दधीचि के शरीर को चीरफाड कर विशुद्ध हड्डियां हमें दे दें ।"

गौवोंने चाट चाट कर समस्त मांस तो पृथक् कर दिया और शुद्ध हड्डियां देवों को दे दीं । देवगण और गौवें, और विश्वकर्मा अस्त्र बनाकर अपने अपने स्थान चले गये।

इधर दधीचिकी धर्मपत्नी हाथ में जल भरी कलसी लिये फलपुष्पोंसहित पार्वती का दर्शन करके आई, आते ही, घरपर अग्नि, पति, और आश्रम की रेखदेख करने लगीं । आते समय मार्ग में उल्का पात हुआ, वह शीघ्रही आश्रम आयीं, वहां पति को न पाया, उसने बडे विस्मय से गृहपति-अग्नि से पूछा- ' पतिदेव कहां हैं ? '

अग्निने सब कथा कह सुनाई कि देवगण आये, उन्होंने अस्त्र मांगे और इस इस प्रकार से हड्डियां लीं, अस्त्र बनाये, चले गये ।

सुनकर वह अबला पछाड खाकर पृथ्वीपर गिर पडी। उस समय वह गर्भिणी थी । अग्निने उसे बहुत बहुत सान्त्वना दी । तो भी उसने अपने पति का अनिष्ट न सोचकर अग्नि में प्रवेश करने का निश्चय किया । बोली- "संसार में जो पदार्थ उत्पन्न होता है, उस का नाश भी

होता है, उस के लिये क्या शोक करना; वे धन्य ही हैं, जो अपने प्राणों को ब्राह्मण, गौ, देवों और दीनों के हित त्यागते हैं, मैंने तो बहुत बहुत रोका था, तो भी मुनिने अस्त्र धरही लिये, विधाताके मन की कौन जान सकता है ?" यह कह कर पति के त्वचा और लोमों-सहित देवी गभस्तिनी ने अग्निमें प्रवेश किया। अपने हाथों अपना पेट फाड कर गर्भस्थ बालक को निकालकर हाथ में ले कर कहा- 'इस बालक के माता, पिता, बन्धु गोती, कोई नहीं हैं। सब प्राणी, सब ओषधियां, सब लोकपाल इसकी रक्षा व पालन करें। माबाप से रहित बालक की जो अपने बालक के समान पालना करते हैं, वे देवों के भी पूज्य होते हैं।"

यह कहकर पिप्पलों के पास उस बालक को रखकर पति का ध्यान करके अग्नि की परिक्रमा कर वह यज्ञपात्रों-सहित अग्नि में प्रवेश करके स्वर्ग सिधार गई।

दधीचि और उसकी धर्मपत्नीने जिन वनवासी वृक्षोंको पुत्रवत् पालपोसकर बडा किया था वे और आश्रमवासी मृग, पक्षी, आदि सभी रोते उठे-बोले 'हमारी जितनी फिकिर दधीचि और उनकी गृहिणी करती थीं, उतनी रेखदेख तो हमारे मातापिता भी नहीं करते थे। हम भी निश्चय करते हैं कि यह बालकही, दधीचि, माता गभस्तिनी के तुल्य है, यही हमारा धर्म है।'

यह कहकर समस्त वृक्ष वनस्पतियोंने सोम राजा से अमृत की याचना की। उसने अमृत दिया। उस अमृत-रसका पान करके, वह बालक पुष्ट हुआ। पिप्पलों ने उस बालक की पालना की। इससे वह बालक 'पिप्पलाद' नामसे प्रसिद्ध हुआ।

पिप्पलाद जब बडे हो गये, तो विचारपूर्वक बोले- "मनुष्यों से मनुष्य, पक्षियोंसे पक्षी, बीजोंसे तरुलता आदि होते हैं। मैं क्योंकर वृक्षों से इस प्रकार का हाथ पैरवाला मनुष्य उत्पन्न हुआ।"

वृक्षोंने यह सुनकर सम्पूर्ण वृत्तान्त कह सुनाया; किस प्रकार दधीचि की मृत्यु हुई, इसकी माता गभस्तिनीने कैसे अग्नि में प्रवेश किया, देवगण दधीचि की अस्थियां क्योंकर ले गये, ये सब वृत्तांत सुनकर पिप्पलादजी को बडा दुःख हुआ, और पछाड खाकर भूमि पर गिर पडे। वृक्षोंने बडे आश्वासन दिये। होश में आकर पिप्पलाद बोले—

"जब तक पिता का घात करनेवालों को मैं नाश न कर लूंगा, तब तक जीवित नहीं रह सकता। जो पिता के शत्रु होते हैं, वे पुत्र के भी शत्रु होते हैं, और पिताके मित्र पुत्रके भी मित्र होते हैं, वही पुत्र होता है; जो पिता के शत्रुओं से भी वैर ले, नहीं तो वह भी पिता का शत्रु ही है।"

वृक्षगण उस बालक को लेकर सोम के समीप आये और बालक की कही बात सोमसे कही। सोम सुनकर बोले—

"पुत्र! मेरी आज्ञासे आप समस्त विद्या का अध्ययन करो। मेरी आशीषसे तुमको समस्त तप, सम्पत्ति, शुभ-वाणी, शौर्य, रूप, बल और बुद्धि प्राप्त होगी।"

पिप्पलाद बडे विनय से बोले- "जब तक मैं पिताके मारनेवाले से बदला न ले लूं, तब तक मैं विद्याध्ययन, तप, बल-प्राप्ति आदि सबको व्यर्थ समझता हूं। आप तो मुझे यह बतलाओ कि किस स्थान में किस समय, किस देव के आराधन से, किस मन्त्रसे और किस तीर्थमें मेरा संकल्प सिद्ध हो सकता है?"

चन्द्र ने बडे विचार से कहा कि 'योग और मोक्ष सब महेश्वर की उपासना से सिद्ध होता है।' बालकने पूछा-मैं बालक, बालबुद्धि हूं, महेश्वर को किस प्रकार देखूं, मुझमें न तप हैं, न सामर्थ्य?

चन्द्र बोला- "सज्जन बालक! आप गोतमी नदी के तट पर जाओ, वहां चक्रेश्वर हरकी स्तुति करो, वह अल्प परिश्रम से ही प्रसन्न होते हैं, शिव बडे करुणाजनक हैं। शक्तिशाली विष्णुने शिवका साक्षात् किया, शिवने प्रसन्न होकर देवपूजित चक्र विष्णुको दिया, हे महाबुद्धे! तुम गोतमी नदी के तट पर चक्रेश्वर तीर्थ को जाओ, वहां शंकर की उपासना करो, वह प्रसन्न होकर सब कामनाएं पूर्ण करेगा।"

राजा सोम के वचन सुनकर महामना पिप्पलाद मुनि उस स्थान पर आये, जहां चक्रदाता शिव थे। पिप्पल वृक्षों ने उस बालकको वहां पहुंचाकर अपने अपने आश्रमों को प्रस्थान किया। वह मुनि सब प्रकार से गोदावरी

के तटपर शिव को प्रसन्न करने लगे ।

नित्य अर्चनासे शिव प्रसन्न हो गये । बोले- 'तुम्हारा भला हो, वर मांगो । '

पिप्पलाद बोला- "महादेव ! मेरे पिताओंका देवताओंने वध किया था । मेरा पिता सच्चा, दम्भरहित था । मेरी माता पतिव्रता थी । देवों ने ही दोनों का नाश किया, दुःख और कोप के वश होकर मैं अधिक नहीं जी सकता । मुझे ऐसा सामर्थ्य प्रदान कीजिये, कि मैं देवों का नाश कर दूं । आपही ऐसे हैं, जिनका भक्त कभी नाश को प्राप्त नहीं हो सकता । "

ईश्वर बोले- "हे पापरहित बालक ! यदि तुम मेरा नयन देखने में समर्थ हो जाओ, तो आप अवश्य देवों का नाश करने में समर्थ हो जाओगे ।

पिप्पलाद ने तब शिव के तृतीय नेत्र का दर्शन करने का दृढ संकल्प किया, परन्तु वह उसे न देख सका । बोला- "भगवन् ! मैं उसे देख नहीं सकता ।" शंकर बोले- "बालक ! कुछ तप करो, तब तुम तृतीय लोचनका दर्शन कर सकोगे और तुम्हें अभीष्ट प्राप्त होगा । "

पिप्पलादने सुनकर तप करने का निश्चय किया । वे प्रातः स्नान करते, सब गुरुओं को नमस्कार करते सुषुम्ना में ध्यान लगाते, एकाग्र होकर ईश्वरीय तेज का ध्यान करने लगे । उन्हें देव के तृतीय चक्षु का साक्षात्कार हुआ । बडे विनय से हाथ जोडकर बोले-

" देवदेव शम्भुने मुझे वर दिया था कि जब तुम शम्भु के तृतीय लोचन का साक्षात् करोगे, तभी तुम्हें अभीष्ट सिद्ध होगा । "

तब पिप्पलवृक्षोंने कहा- "हे पिप्पलाद तुम्हारी माता श्रीमती वडवादेवी ने परलोक जाते समय कहा था- जो मनुष्य दूसरे का द्रोह करते, अपने आत्मा को भूल जाते हैं और इधर उधर भटकते हैं, वे नरक के गढे में गिरते हैं । "

इस प्रकार माता का वचन सुनकर, पिप्पलाद को बडा क्रोध आया । पिप्पलाद के हृदय में अभिमान प्रज्ज्वलित हो उठा, उसके नेत्रसे 'कृत्या' निकली । उसको बोली, 'दे, दे,' उस समय पिप्पलाद वडवा का स्मरण कर रहे थे, इस लिये वह 'कृत्या' भी वडवा रूप की थी । वह अपने गर्भ में अग्नि को धारण किये, सब प्राणियों को नाश करने के लिये उत्पन्न हुई । पिप्पलाद की माता गभस्तिनी के बालक गर्भ में था, इसी के ध्यानयोग से इस कृत्या के गर्भ में भी अग्नि बालकतुल्य था । वह बडी भयानक थी, मृत्यु की जिह्वाके समान वह सहस्रों प्राणियों को चाटने में समर्थ थी । प्रकट होकर उसने पिप्पलाद से कहा- "भगवन् ! कहिये मेरे लिये क्या कार्य है ?" पिप्पलाद बोले- "कृत्ये ! तू जा मेरे शत्रुओंको खाडाल ।" यह कहते ही उस कृत्याने सबसे पहले पिप्पलाद ऋषि को ही जा पकडा । इसपर पिप्पलादने कहा- 'हे कृत्ये ! यह क्यों ।' वह बोली- "तूने ही तो ऐसी आज्ञा दी थी । यह देह भी तो देवोंसे ही बनाया गया था, इसलिये उनको भस्म कर रही हूं । "

पिप्पलाद भयभीत होकर शिव की शरणमें गये, देवदेवको प्रसन्न किया । तब शंकर कृत्या से बोले- "मेरी आज्ञासे एक योजन के चारों ओर के आहाते तक के बीचके जीवोंको तू मत पकड इससे दूर ही तू अपना कार्य कर । "

इसके पश्चात् पिप्पलतीर्थ से एक एक योजन दूर तक ऋषि की बनाई कृत्या विराजती थी, उसमें ऐसी अग्नि उत्पन्न हुई थी, जो समस्त लोकों का संहार कर सकती थी । यह देखकर समस्त देवगण भयभीत होकर शम्भु के शरण में आये । उसी चक्रेश्वर, पिप्पलेश्वर की स्तुति करने लगे । बोले- " हे शंभो ! हमें अग्निमय कृत्या सता रही है, आप भयभीतों को शरण देनेहारे हैं, हमें शरण देवें । शिव ! सब प्रकार से हारे, पीडित, दुःखित, थकित चित्तवाले समस्त जन्तुओं के आप ही शरण हैं । तीनों लोकोंके आप ही रक्षक हैं, दूसरा नहीं । " इस पर शिव बोले- " इस आश्रम के योजन योजन चारों ओर यह कृत्या पीडित नहीं करती, इसलिये आप इसी के भीतर आ बसों । "

देवगण बोले- " देव ! आपने हमें निवास के लिये त्रिविष्टप (तिब्बत) दिया भी, उसको छोडकर हम यहां कैसे जीवेंगे । "

शिव बोले- " वह विश्वतोमुख, विश्वतः चक्षु, देव सूर्य

अपनी रश्मियों से सर्वत्र अग्नि बखेर रहा है। वही सब का पिता, सबका साक्षात् देव है, उसकी मूर्ति में समस्त प्रजाएं, समस्त लोक स्थिरता प्राप्त करेंगे।

देवोंने उसी प्रकार शंभु के वचन से पारिजात वृक्ष का सूर्य बनाया, तब विश्वकर्माने सूर्य से कहा– "हे जगत् के स्वामिन् सूर्य! तू यहां प्रतिष्ठित हो, इन सब देवोंकी तू स्वयं रक्षा कर। हम भी अपने अंशोंसे यहां शंभु के समीप विराजते हैं।

तबसे गंगागोदावरी के दोनों तीरपर चक्रेश्वर के एक एक योजन चारों ओर देवगण विराज गये। ३० करोड, ५०० तीर्थ उसी एक तीर्थस्थान में आधे आधे अंगुल पर बस गये। तब समग्र देवगण ने शिव से विनय की– "भगवन्! पिप्पलाद को शान्त कीजिये।' शिवने 'ओ३म्' ऐसे स्वीकार करके पिप्पलाद को कहा– 'हे मुनि पिप्पलाद! यदि तुम जब देवों का नाश भी कर दोगे, तो भी अब तुम्हारा पिता पुनः इस लोक में वापस नहीं आवेगा। तुम्हारे पिताने देवों के कार्यसिद्धि के लिये ही प्राणों का त्याग किया था। वह ऐसा दीन दुःखियोंका सहाय्यक था। वैसा कोई और क्या हो सकेगा? इसी प्रकार तुम्हारी पतिव्रता माता भी स्वर्ग सिधारी। उस के बराबर लोपामुद्रा और अरुन्धती भी न होंगी। जब तुम्हारे पिता की अस्थियों से समस्त देवगण सुखी हुए, तो इस से उस का विमल यश दिग्-दिगन्त फैल गया, उस यश को तुम्हारी माता ने अक्षय कर दिया। तुम उन के पुत्र हो, तुमने उनसे बढकर कोई काम नहीं किया, तुम्हारे प्रताप से देवगण स्वर्ग से भाग कर जान लिये लिये भाग रहे हैं, तुम उनकी रक्षा करो। दुःखियों की रक्षा और पालन से अधिक पुण्य और किसी अन्य कार्य में नहीं है।'

देवदेव शिव का इस प्रकार वचन सुनकर विनम्र हो, पिप्पलाद बोले—

'जिन मेरे हितैषियों ने वाणी, मन, और कर्मों से मेरा उपकार किया है, उनके हित के लिये सुरों के पूज्य सोम को नमस्कार करता हूं। जिन्होंने मुझे बडा किया, मैं जिन के समान गोत्र और समान धर्म का हूं। उन के अभीष्ट शिव पूर्ण करें। मैं शिव को नमस्कार करता हूं। जिन्होंने मेरा पालनपोषण किया, उनके नाम से हे देवदेव! यह तीर्थ प्रसिद्ध हो। उनको यश हो, तभी मैं उऋण होऊंगा। पृथ्वी, समस्त क्षेत्र और समस्त तीर्थ हैं। उन सबसे अधिक इस तीर्थ को देवगण माने, तो देवों का अपराध क्षमा करता हूं।'

तब सब के समक्ष देवोंने पिप्पलाद की यह बात स्वीकार की। बालक की बुद्धि, विनय, विद्या, शौर्य, बल, साहस, सत्यवाणी, मातापिता में भक्ति और शुद्ध भाव को देखकर शंकर ने पिप्पलाद से कहा– 'वत्स! जो तुम को प्रिय हो, वह कल्याण तुम्हें होगा, तुम अन्यथा चित्त न करो।'

पिप्पलाद बोले– 'गंगामें स्नान करनेवाले जो तेरे चरण का साक्षात् करें, उन की सब कामनाएं पूर्ण हों। देहावसान में वे शिवलोक को प्राप्त हों। पिता, माता, पिप्पलगण और अमर सभी आप का साक्षात् करके, सुख को प्राप्त हुए हैं, जो तेरा दर्शन करें, वे तुझे प्राप्त हों।'

शिवने-'तथास्तु' कहा। तब देवगण बोले– 'हे पिप्पलाद! आपने देवों का मनोरथ पूर्ण किया। आपने शंकर की आज्ञा का पालन किया है, आपने दूसरे के लिये ही वर मागा, अपने लिये कुछ नहीं। आप हमसे भी वर मांगो, हम देंगे।'

इस पर पिप्पलादने सबको नमस्कार करके, फिर उमा और पिप्पलों को नमस्कार करके कहा—

'मेरी इच्छा माता और पिता को देखने की है। वे प्राणी धन्य हैं, जो मातापिता के वशमें रहते, उनकी आज्ञा पालन करते हैं, उनकी सेवा करते, उनकी आज्ञा की प्रतीक्षा किया करते हैं। मनुष्य का धर्म है कि, वह शरीर, इंद्रिय, कुल, शक्ति, बुद्धि, रूप प्राप्त करके उनके कार्य में लगे और कृतार्थ हो। माता का दर्शन तो पशु-पक्षियों को भी सुलभ है। मेरा क्या पाप है कि मुझे माता के दर्शन प्राप्त नहीं हुए। यदि माता के दर्शन दुर्लभ है, तो अन्य किसी के लिये भी माता के दर्शन सुलभ क्यों हैं, तो मुझ से अधिक पापी कोई नहीं। यदि हे देवगण! उनके दर्शन मुझे प्राप्त हो, तो मुझे मन, वाणी और शरीर का फल प्राप्त हो जाय। जो इस जगत् में उत्पन्न होकर मातापिता के दर्शन नहीं करते,

उनके महापातकों की क्या गणना है ?

देवगण ने पिप्पलाद की बात स्वीकार की और उसे मातापिता के साक्षात् दर्शन कराये। देखकर पिप्पलाद गदगद हो गये, कुछ कह न सके। देवगण ने पिप्पलाद को धन्यवाद कहा ! स्वर्ग से पुष्पवृष्टि हुई, देवोंने जयकार किया। तब मातापिताने पुत्र को आशीर्वाद देकर कहा- 'पत्नीको प्राप्त करके शिव में भक्ति करके, गंगा का सेवन करके, पुत्रोंको उत्पन्न करके, विधिपूर्वक यज्ञ करके, कृतकृत्य होकर स्वर्गलाभ करना।'

विनय से पिप्पलाद ने यह स्वीकार किया। तब देवगण ने प्रार्थना की-'मुने ! अब आप कृत्या और उससे उत्पन्न अग्नि का शमन कीजिये।'

पिप्पलाद बोले- 'इसका निवारण मैं नहीं कर सकता, मैं असत्य नहीं कहता, तुम स्वयं कृत्या को कहो। मुझे देख कर, तो वह उलटा करेगी। देवोंने स्वयं कृत्या और अग्नि को शान्त होने को कहा- उन्होंने इनकार कर दिया। कृत्या बोली- 'मुझे तो ब्राह्मण ने सबको खानेके लिये ही उत्पन्न किया था, मेरेसे उत्पन्न अग्नि भी, सबके भक्षण के लिये उत्पन्न हुआ। पांचों महाभूत, स्थावर और जंगम सब हमारे मुखमें हैं, और कोई बात शेष नहीं, सब कहनेयोग्य बात भी मेरे से मन्त्रणा करके कही जाती हैं।' तब देवगण बोले- 'अच्छा! तुम यथाक्रम सब पदार्थों का भक्षण करो।' तब वडवा बोली- 'आप की इच्छा से मेरा सभी भक्ष्य हो।'

तबसे वडवा नाम नदी हो गयी, जो गोदावरी-गंगामें मिली है। उससे उत्पन्न अग्नि को सर्व भूतों का आदि कहा। देवगण बोले- आपः सर्व ज्येष्ठ हैं, इसी प्रकार आप हैं, तो आप ज्येष्ठ अपांपति समुद्र का भी भक्षण करें।

तब अग्नि बोला- 'समुद्र में तो जल (आपः) हैं। मैं वहां कैसे जाऊं, आप लोग ही मुझे वहां पहुंचा देवें।' देवगण बोले- 'हे अग्ने तुम कैसे जाना चाहते हो ?' अग्नि बोला- 'मुझे कोई गुणवती कन्या सुवर्णकलश में रखकरें ले जाय।'

तब देवोंने सरस्वती से कहा- 'आप इस अग्निको समुद्रमें ले जांय।'

सरस्वती बोली- 'मैं इसे धारण न कर सकूंगी। मैं और भी चार मिलकर उठायें। तब सरस्वती का वचन सुनकर देवों ने नर्मदा, तपती, गंगा, यमुना, को भी कहा। सरस्वती सबसे मिलकर अग्नि को सुवर्णकलश में रखकर समुद्र में वहां ले गई, जहां प्रभासतीर्थ है। वहां वह स्थित होकर शनैः शनैः जलपान करने लगा।

देवोंके प्रश्न करनेपर शंकरने देवों, अस्थियों और गौओं के पवित्र होने का प्रायश्चित्त कहा कि, उनको जल में स्नान कराओं। तब देवोंने जहां स्नान किया वह स्थान 'पापनाशन' नामसे प्रसिद्ध हुआ। जहां गौओं ने स्नान किया, वह 'गोतीर्थ' हुआ। जहां अस्थियां डाली गईं वह 'पितृतीर्थ' कराया।

तब आज्ञा पाकर सब सुरगण अपने अपने स्थान पर पधारे। यहां सूर्य प्रतिष्ठित है ही, तो हम भी इन के साथ है। तब देवगण ने पिप्पलाद से विदाई ली। पिप्पलाद ने गोतम की कन्या से विवाह किया, पुत्र उत्पन्न किये, यशस्वी होकर स्वर्ग को प्राप्त हुआ। तब से वह तीर्थ पिप्पलेश्वर कहलाया।

चक्रेश्वर और पिप्पलेश्वर दोनों ही शंकर के नाम हैं। सूर्य की प्रतिष्ठा होने से वहां सब देवों की प्रतिष्ठा हुई। अतः उस स्थान का नाम 'प्रतिष्ठान' (पैठाण) क्षेत्र नाम हुआ।

विचार-विमर्श।

पिप्पलाद ऋषिकी इस कथा में अनेक बातें विचारणीय हैं।

पुराणकारने तो अपने ढंगसे केवल इस कथा को तीर्थ माहात्म्य बतलाने के लिये उद्धृत किया है, और जैसे भी हो सका है, उस स्थान के चक्रेश्वर और आदित्य मन्दिर की स्थापना का सम्बन्ध प्राचीन ऋषिमुनियों के साथ संगत कर दिया है।

इसमें सन्देह नहीं कि यह स्थल अति प्राचीन था। इस स्थलपर नारायणने तप करके शिवनाम किसी शस्त्रास्त्रविज्ञ आचार्य से चक्रायुध का लाभ उसी प्रकार किया हो, जैसे अर्जुन ने पाशुपतास्त्र प्राप्त किया हो, फिर पिप्पलाद मुनिने तप करके, अग्निविद्या की साधना की हो, यज्ञ किया हो, और अग्निविद्या के दिव्य चमत्कारों को दिखलाने के लिये

पूर्व काल में अपने आश्रम के चारों ओर आग्नेय यन्त्र लगाये हों, मध्य में प्रकाशार्थ कृत्रिम सूर्य लगाया हो, बादमें कालधर्म से यह सब पदार्थ नष्ट हो गये हों। यज्ञ किया हो, और इसी कारण से इस स्थान का नाम 'प्रतिष्ठान' उसी प्रकार पडा हो, जैसे प्रयाग का प्रतिष्ठानपुर नाम पडा। यह स्थान दक्षिण में अब 'पैठण' नाम से प्रसिद्ध है। गोतमी नाम नदी को प्राचीन काल में गोदा, गोदावरी, नाम से कहा जाता था। उसी का एक प्राचीन नाम 'गोतमी' भी है। यह 'गोतमी' नाम पिप्पलाद की धर्मपत्नी 'गोतमी' के नाम से भी हो सकता है, परन्तु यह संदिग्ध है, क्योंकि गोतमकी धर्मपत्नी को भी गोतमीरूप से एक स्थान पर पुराणकारने परिवर्तित किया है।

गोदावरी नदी के तटपर ही नासिक के पास पंचवटी क्षेत्र है। उसी प्रकार जिस तीर्थस्थान या वसति में अधिक पिप्पलों का स्थान रहा हो, वहां पिप्पलतीर्थ हो, वहांही पिप्पलाद ऋषि की कल्पना की हो, और उसके पूर्व परम्पराप्राप्त इतिहास को इस तीर्थ महात्म्य से जोड दिया हो, ऐसा भी सम्भव है। हमें कथाके उस अंश से विशेष प्रयोजन नहीं है। हमारा ध्येय उस कथालेखन में आर्ष-जीवनी के अंशोंका स्पष्टीकरण करनाही मुख्य प्रयोजन है। इस जीवनीमें जो अंश मिथ्या कथा (Myths) के तुल्य हैं, उनपर कुछ विचार करना आवश्यक है।

(१) प्रथम दध्यङ् अथर्वण या दधीचि ऋषि अथर्वा के पुत्र थे। उनकी स्त्री गभस्तिनी थी। देवों ने विजय करने के उपरान्त अपने अस्त्रशस्त्र सब उनके आश्रम में रखें, तो ये देव कौन थे, असुर या राक्षस कौन थे, दधीचि का आश्रम सुरक्षित क्यों कर था, यह सब विचारणीय विजय हैं। 'देव' दिव धातुसे बना। 'दिव' का अर्थ विजिगीषा-जीतने की इच्छा है, इससे विजय के इच्छुक वीर सभी देव थे, उन्होंने दक्षिण देशपर विजय किया हो। ये उत्तर के विजयलिप्सु आर्य वीर देव होंगे। राक्षस। असुरवंशी जो शनैः भारत के दक्षिण में बल पकडते जा रहे थे। उन का पूर्व भी इस प्रकार विजय किया हो, और बहुत बहुत अस्त्रशस्त्रों का भारी बोझ कहां ले जांय। यह सोचकर दधीचि के आश्रम में ही डाल जाने की व्यवस्था की हो, दधीचिने उनको नश्वर जान उनकी अस्त्रयन्त्रकला जो उन की तत्त्व की बात थी, उस का भली प्रकार अध्ययन कर के सारमात्र ले कर अस्त्रोंशस्त्रों की उपेक्षा कर दी हो। पीछे जब देवों या विजयार्थी राजालोगों ने शस्त्र चाहे, तो वह न दे सका। तो उस से अस्त्रशस्त्रों के बनाने का उपाय पुनः सीखा, उसने वाणिरूप गौओं से ही उन को समस्त अस्त्रशस्त्रों का उपदेश किया और उसी के शिक्षण और रचनाओं में दधीचि ऋषि का जीवन किसी आग्नेय (Explosive) परीक्षणद्वारा दुर्घटनासे अवसान कर गया हो, इस प्रकार उसने साहसी वैज्ञानिक के तुल्य अपनी हड्डियां तक देकर योद्धा लोगों को अस्त्रशस्त्रों का उपदेश किया। इस का पौराणिक कथा प्रपंच में यही रूप रह गया, जैसा कथा में सुना जाता है।

पतिकी मृत्युको सुनकर फिर उसकी धर्मपत्नी ने भी शोकाघातसे प्राण दे दिये हों और गर्भगत बालक बादमें उत्पन्न हुआ हो, जिसका पालन पिप्पलोंने अर्थात् वृक्षोंके आश्रम में रहनेवाले वानप्रस्थ पुरुषोंने सोम अर्थात् राजाद्वारा, या ओषधिरसों द्वारा पालनपोषण किया। इससे वह बालक 'पिप्पलाद' कहाया।

पिप्पलाद ने जब अपने .मातापिता की मृत्यु का वृत्तान्त सुना, तो उसको उन क्षत्रियों पर रोष आया हो, जिनके कारण पिता की इस प्रकार उनके स्वार्थ में मृत्यु हुई हो, उसने फिर राम जामदग्न्य के समान क्षत्रियों का अन्त कर डालने का संकल्प करके आग्नेय कृत्या का निर्माण किया हो।

पुराणोंमें अग्नि को शिव का तृतीय नेत्र कहा है, उसने अग्नि की ही वैज्ञानिक साधना करके आग्नेय अस्त्रोंका परीक्षण किया हो, जिससे प्रथम सम्भवतः स्वयं उसी प्रकार आघात खाया, जिस प्रकार उसके पिता ने खाया, पुराणकारने इसको कृत्या का उसी पर आक्रमण बतलाया है, तब उसने इस प्रकार आत्मघाती दुर्घटना से बचने के लिये फिर गुरु शिव-आचार्य से परामर्श किया हो, उसने ऐसा साधन बतला दिया हो, जिससे उसके बनाये आग्नेय अस्त्रप्रयोक्ता के समीप न फूटकर प्रयोक्ता के स्थान से एक योजन (चार कोस=

या आठ मील दूर फूट तो हों और आग लगा देते हों। ऐसे आग्नेयास्त्रों से पिप्पलादने मोर्चाबन्दी करके फिर क्षत्रियों का विजय कर लेने का विचार किया हो। इससे वे भयभीत होकर उसके गुरुको शरण में गये, और उसीके नगरमें हाजिरी देकर उन्होंने साधनोंसे उसके आश्रमस्थान को अलंकृत कर दिया हो, और इस प्रकार प्रसन्न करके वे क्षत्रियगण अपने अपने स्थानपर पधारे होंगे। उससे क्षमा, याचना की हो, यज्ञ कराये हों, और बडी प्रतिष्ठा की हो।

इस प्रकार पैठण का स्थान अति प्राचीन काशी के समान शस्त्रास्त्रविद्या का कोई केन्द्रस्थान हो। बादमें कालयोग से सब नष्ट होकर अन्य तीर्थस्थानों के तुल्य यह स्थान भी केवल मन्दिरों का ही जमघट हो गया हो। फिर पुराणकारोंकी भाषाने जैसा वर्णन किया, वही उसका भाग्य उपलब्ध होता है।

सांप्रदायिक समस्या।

(लेखक०- श्री रामावतार विद्याभास्कर, रतनगढ, बिजनौर)

आज भारत हिंदू, मुसलमान, ईसाई, पारसी, यहूदी आदि अनेक झुण्डों में बटा हुआ है। सांप्रदायिक संकीर्णता ने इन लोगों को पृथक्-पृथक् ही नहीं, किंतु एक दूसरे के खून का प्यासा तक बना डाला है। यदि किसी प्रकार इन सब लोगों को सांप्रदायिक संकीर्णता से ऊपर उठने के लिए समझाया जा सके, तो सब झगडे एक क्षण में समाप्त हो जायँ और भारत में बसनेवाले सब एक ही जाति के मनुष्य हो जाएँ। तब भारत की अनेकता का कारण नष्ट हो जाए और वह एक होनेका गौरव भोग सके।

जो स्वार्थ भारत की पराधीनता का कारण है, उसीने सांप्रदायिक समस्या को जन्माया है। सबके ईश्वर भिन्नभिन्न हैं। सबके ईश्वर-प्राप्तिके मार्ग भिन्न हैं। सब, सबके ईश्वरों तथा उसे पाने के मार्गों को मिथ्या समझते हैं। ये सब पृथक् ईश्वर-कल्पना के आधार से पृथक् हुए हैं। सबकी जेबों में अपने-अपने स्वार्थों की सूची पडी है और सब अपने लिए औरों से अधिक भाग चाहते हैं। यह समस्या लगातार देश की चिंता का विषय बनी हुई है। इसे सुलझाने के लिए सैकडों बैठकें हो चुकने पर भी अब तक जो इसका समाधान नहीं हो रहा है, उसका एक विशेष कारण है। कारण यह है कि इस समस्या को जिस रूप में सुलझाना चाहा जा रहा है, उसमें समाधान हो सकना असंभव है। जो इस समस्या को सुलझाने बैठते हैं, वे सबसे प्रथम यह भूल कर लेते हैं कि वे अपने-अपने को हिंदु, मुसलमान आदि किसी संप्रदाय का अनुयायी प्रतिनिधि मानकर इसे सुलझाने बैठते हैं। वे अपने मनों मे संप्रदायों की सचाई (ईश्वरीय रचना) मानकर और उन्हें स्वतन्त्र भारत के लिए भी स्वीकरणीय मानकर इसे सुलझाना चाहते हैं। सब अपने-अपने संप्रदायों तथा सांप्रदायिक ग्रन्थों को ईश्वर का रचा हुआ मानते हैं। यही कारण है कि यह समस्या सुलझने के स्थान पर उलझती चली जाती है। सुलझानेवाले सब, न सुलझने के कारणों को बगल में रखकर इसे सुलझाना चाहते हैं। वे सबसे प्रथम अपने मन में मनुष्य-जाति के संप्रदायों में विभक्त हो बैठने का औचित्य स्वीकार करने की भूल कर लेते हैं और फिर इन संप्रदायों की एकता का दिखावटी प्रयत्न करते हैं। अर्थात् ये लोग देश के लोगों को पृथक् पृथक् संप्रदायों में बंटनेकी अनुमति देकर अर्थात् उन्हें अनेक रहने देकर फिर उन्हें एक बनाने का एसा प्रयत्न करते हैं कि जिसे असफल होना ही चाहिए। यदि मनुष्यजाति का ईश्वर के पवित्र नाम पर पृथक्-पृथक् झुण्डों में बंट जाना सचाई मान लिया जायगा, तो फिर उन झुण्डों के स्वार्थों को भिन्न होनेसे कौन रोक सकेगा? जब देश में अनेक स्वार्थ हो जायेंगे, तब देश में एकता कहाँसे आयेगी? और क्यों आयेगी? क्योंकि इस समस्या का आधार कोई सत्य सिद्धांत नहीं है। इसीसे साम्प्रदायिक एकतावाले असफल होते हैं।

यदि भारत अपने को इस व्याधि से मुक्त करना चाहे, तो भारत के हिंदू हिंदू न रहकर मनुष्य हो जाँय, मुसलमान मुसलमान न रहकर मनुष्य हो जाँय, ईसाई ईसाई न रहकर मनुष्य हो जाँय, इत्यादि। राष्ट्र को अपनी ओर से एक भी भारत-

वासी को संप्रदायों के अनुयायी होने की अनुमति न देनी चाहिए। राष्ट्र की ओर से भूलकर भी सांप्रदायिकता को कोई प्रोत्साहन न मिलना चाहिए। इस सांप्रदायिक संकीर्णता को साहस-पूर्वक राष्ट्रव्यापी विरोध होना चाहिए। जब कि राष्ट्र स्वतन्त्रता की सेवा करने जा रहा है, तब क्या वह अपने अधिवासियों को परतन्त्र रहने देकर, स्वतन्त्रता की सेवा कर सकेगा? राष्ट्र को इस स्वतन्त्रता की सेवा के समय अपने प्रत्येक बच्चे को सांप्रदायिक संकीर्णता के विष से सर्वथा मुक्त करके स्वतन्त्र मनुष्य बना लेना चाहिए। नहीं तो स्वतन्त्रता अप्राप्त रह जायगी क्योंकि सांप्रदायिक लोग अपने-अपने ईश्वरों के नाम पर झगडते रहेंगे और स्वतन्त्रता नहीं आने देंगे। स्वतन्त्र भारत में न तो कोई हिंदू होगा, न मुसलमान होगा, और न कोई ईसाई होगा आदि। तब भारत भारतीय स्वतन्त्रता की रक्षा करनेवाले मनुष्यों का स्वतन्त्र राष्ट्र होगा। स्वतन्त्र भारत में कोई भी मनुष्य अपने को इन सांप्रदायिक नामों से कहलाना अपनी बौद्धिक दासता का चिह्न मानेगा। स्वतन्त्र मनुष्य अपने को किसी संप्रदाय का अनुयायी कहता हुआ लजायेगा। मनुष्य का किसी संप्रदाय का अनुयायी होना, सूचना देता है, कि उसका मस्तिष्क स्वतन्त्र नहीं है। यदि राष्ट्र इस सांप्रदायिक संकीर्णता का विद्रोही नहीं बनेगा, तो देश सदा ही सांप्रदायिकता के नाम पर अखाडा बना रहेगा।

संसार की बहुत सी खून-खराबी, मारकाट आदि इन सांप्रदायिक लोगों की ही कृपा के फल हैं। सांप्रदायिकता के पेट में जो भाषा गूँज रही है, उसे यदि लिपिबद्ध किया जाय, तो उसे यह कहता हुआ पाया जायगा कि हम सच्चे, हमारा संप्रदाय सच्चा, दूसरे झूठे और उनका संप्रदाय झूठा। बताइये कि क्या यह मनोवृत्ति कभी किसी राष्ट्र को एक सूत्र में बंध जाने देगी। सांप्रदायिकता विषैली भावना है। यह एक ही आदि-पुरुष की संतान को परस्पर लडाती है। इसे राष्ट्र में सम्मान का स्थान कैसे दिया जा सकता है? दिया जाय तो राष्ट्र सुखी कैसे रह सकता है?

दूसरों पर निर्भर रहनेवाले मनुष्य ही संप्रदायों के अनुयायी बनते हैं। जो जिस संप्रदाय में अपनी आकांक्षा पूरी होना देखता है, वह उसी संप्रदाय को चुन लेता है। जिस संप्रदाय में अपनी इच्छा पूरी करनेवाला ईश्वर दीखता है, मनुष्य उसी संप्रदाय में जाकर मुंड जाता है।

ईश्वर को न पाया हुआ मानकर उसे किसी विशेष पद्धति से पाने की भावना रखना ही 'सांप्रदायिक मनोवृत्ति' है। संप्रदायों का उपास्य ईश्वर सार्वजनिक ईश्वर नहीं होता। वह केवल उसी संप्रदाय की रुचि पूरी कर सकनेवाला, केवल उसी संप्रदाय का घरेलू ईश्वर होता है। संप्रदायों की ईश्वर-कल्पना और उनकी उपासना का ढँग, एक दूसरे से सर्वथा भिन्न होते हैं। संप्रदायों ने नाना प्रकार के ईश्वर घड दिए हैं।

सांप्रदायिक भावना में मनुष्यमात्र के उपास्य बननेयोग्य ईश्वर का दर्शन नहीं मिल सकता। संप्रदायों के अधीन रहनेवाले मनुष्यों के मन में सदा अप्राप्त वस्तु की मांग और प्राप्त की चिंता करानेवाली फलाभिलाषा बनी रहती है। यह फलाशा मनुष्य के मन में कामनारूपी अग्नि को सुलगाती है और उसे बलवान् नहीं बनने देती।

स्वतन्त्रता की यही परम विशेषता है कि इसमें साम्प्रदायिक दुर्बल मनोवृत्ति की पूर्ण रूप से उपेक्षा की जाती है और मनुष्य को उसके मन में रहनेवाली अनासक्तिरूपी शक्ति का दर्शन कराया जाता है।

मनुष्य का ईश्वर कहीं बाहर ढूँढने की वस्तु नहीं है। मनुष्य का ईश्वर मनुष्य के हृदय में है। मनुष्य के मन की पवित्रता ही उसका ईश्वर है। ईश्वर-भक्त इसी पवित्रता का पूजन, इसी का उपासक, इसी का आराधक या भक्त होता है। भक्त

स्वयं ही अपना आराधक और स्वयं ही अपना आराध्य होता है। मनुष्य की मनुष्यता ही मनुष्य का आराध्य 'ईश्वर' है।

जिस दिन मनुष्य इस सच्चे ईश्वरको पहचानेगा, उस दिन उसका किसी संप्रदाय के ईश्वर से संबंध रखना असम्भव हो जायगा। उस अवस्था में पहुंचा हुआ मनुष्य अपने जीवन के प्रत्येक क्षण कर्तव्य का दर्शन करता रहेगा, उस कर्तव्य को अपने अधिकार की सीमा में रहकर पालता रहेगा और इसी को 'ईश्वर-दर्शन' मानेगा। यही उसकी 'ब्राह्मी स्थिति' कहायेगी। उसकी प्राप्त की हुई 'ब्राह्मी स्थिति' स्वयं ही अपनी रक्षा करती रहेगी। इस स्थिति में पहुंचा हुआ मनुष्य किसी कर्म से किसी भौतिक फल की आशा नहीं बांधेगा।

मन से फलाकांक्षा को त्याग देनेवाला ज्ञानी पुरुष ईश्वर को केवल अनासक्त मनोदशा के रूप में पाता है। ऐसा ज्ञानी किसी संप्रदाय के प्रवर्तक आचार्य को अपने मार्गदर्शक के रूप में कभी स्वीकार नहीं कर सकता। किसी सांप्रदायिक धर्मग्रन्थ का वचन मनुष्यमात्र के आराध्य— सार्वजनिक, सार्वभौम ईश्वर—का दर्शन नहीं करा सकता।

फलाकांक्षारहित मानसिक स्थिति एक ऐसी वस्तु है कि इसे सार्वजनिक रूप में समर्थन पाने का पूर्ण अधिकार है। इसको मानने में किसी भी विचारशील का मन विद्रोह नहीं कर सकता। स्वतन्त्रता के सेवकों को मनुष्य के मन की इस सार्वजनिक उदार अवस्था को अत्यन्त उज्ज्वल रूप में संसार के सामने रखना चाहिए, और इसी को देशवासियों का ईश्वर बनवाना चाहिए।

ईश्वर ने मनुष्य को केवल मनुष्य बनाकर भेजा है। उसने किसी को किसी संप्रदाय की भेड होने का चिन्ह लगाकर नहीं भेजा। सांप्रदायिक लोग अपने सार्वभौम मनुष्यता के अधिकारी बालकों के आसपास सांप्रदायिक संकीर्णता का मनुष्य को मनुष्य से पृथक् करनेवाला फैलाकर उनको विश्वव्यापी मनुष्यता का अधिकारी नहीं रहने देते। वे उन्हें भी संप्रदायों की भेड बना लेते हैं। यह मनुष्य की बौद्धिक दासता का ऐसा कुपरिणाम है, जिससे वह सबसे प्रथम अपने प्यारे बालकों को बाँध देता है।

यद्यपि ईश्वर ने मनुष्य को अपना मार्ग देखने की स्वतन्त्र बुद्धि देकर भेजा है, परन्तु मनुष्य इतना आलसी हो गया है कि वह अपना मार्ग स्वयं देखना नहीं चाहता। वह अपने मार्ग का निर्णय किसी धर्म-ग्रन्थमें से या देवदूतकी बातोंके सहारे करना चाहता है। जो मनुष्य प्रत्येक मनुष्य को सत्य-मार्ग दिखाने के लिए सदा सब के मन में उपस्थित रहनेवाले घट-घटवासी ईश्वर का नेतृत्व स्वीकार न करके किसी मनुष्य की समझ का भिखारी बनता है, वह कभी स्वतन्त्रता का आनंद नहीं भोगेगा।

संसार की किसी भी धर्मपुस्तक या किसी भी देवदूत को ईश्वर तथा मनुष्य का बिचौलिया या दुभाषिया मानना अपनी विचार-शक्ति तथा अपनी मनुष्यता का अपमान करना है। हम भी तो मनुष्य हैं। हमारे पास भी तो बुद्धि-रूपी ईश्वर की देन विद्यमान है। हमारे हृदय में भी तो ईश्वरीय वाणी गूंज रही है। फिर हम किसी को अपना और ईश्वर का बिचौलिया क्यों मानें ? ईश्वर ऐसी सत्ता नहीं है, जो मनुष्य से पर्दा करती हो और सर्वसाधारण से बोलती हुई डरती हो, तथा विशेष मनुष्यों पर कृपा करके उनके साथ बोलती हो।

ईश्वर मनुष्य से पृथक् सत्ता नहीं है। ईश्वर को देखना चाहो, तो सत्पुरुषों के मन में देखो। सत्पुरुषों के शरीर में ईश्वर ही मानव-लीला करता है। जिसने अपना सत्पुरुषपना सुरक्षित नहीं रखा, वह जीव है। जिसने रख लिया, वही ईश्वर है। मनुष्य की हार्दिक पवित्रता से ऊँचा संसार में कुछ भी नहीं है। उसकी हार्दिक पवित्रता ही ईश्वरनाम से सम्मानित की जाती है।

यह ईश्वर प्रत्येक मनुष्य की मनुष्यता के रूप में, प्रत्येक के भीतर पवित्र दृढ विचारों के रूप में, प्रत्येक धर्म-संकट के अवसर पर, कर्तव्य-अकर्तव्य के प्रत्येक दुराहे पर, जाग्रत रहकर प्रत्येक मनुष्य को कर्तव्य की सच्ची दिशा सुझाता रहता है। मनुष्य की हार्दिक-पवित्रता ही मनुष्य का ईश्वर और मनुष्य की धर्मपुस्तक है।

इस धर्मपुस्तक में धर्मसंकटों को पार करने के कोटिकोटि उपाय लिखे पडे हैं। परन्तु मनुष्य आलसी हो गया है कि वह इस अपनी स्वभाव-प्राप्त पुस्तक को न पढकर दूसरे की पुस्तक का दास बन गया है। किसी दूसरे की लिखी पुस्तक को अपनी धर्मपुस्तक मानना अपना मस्तिष्क गिरवी रख देने की स्थिति है। पुस्तक में से ज्ञान नहीं आता। पुस्तक तो जड है। ज्ञान चेतन है। ज्ञान हृदय की वस्तु है। अज्ञान से द्वन्द्व-युद्ध ही ज्ञान का स्वरूप है। यह ज्ञान ज्ञानी में से आता है और यह पुस्तकों में लिख दिया जाता है। परन्तु वहांसे इस ज्ञानी ही ले सकता है, अज्ञानी नहीं। ज्ञान-प्राप्ति के लिए पुस्तकों का कोई उपयोग नहीं है।

सँसार भर की पुस्तक अज्ञानी को ज्ञानी नहीं बना सकतीं। पुस्तक से ज्ञान नहीं लिया जाता। पुस्तक तो केवल सत्संग के साधन हैं। जिसके पास ज्ञान हो, वही पुस्तकों में ज्ञान को लिखा देखकर सत्संग का लाभ उठाता है। सन्तों के नश्वर देह अन्त होने पर भी समाज संतों से सत्संग कर सके, इसके लिए ग्रन्थों की रचना हुई। जिनके अन्दर में ज्ञान की ज्योति कुण्ठित हो जाती है, वे ज्ञान-ग्रन्थों को आद्योपांत पढकर उनमें से ज्ञान के स्थान पर अज्ञान ही अज्ञान बटोर लेते हैं। वस्तुतः ज्ञान पुस्तक की वस्तु नहीं है, वह तो ज्ञानी के हृदय की सम्पत्ति है। मनुष्य की हार्दिक पवित्रता ही ईश्वर का जीवित ज्ञान-ग्रंथ है।

जो मनुष्य इस ईश्वरीय ज्ञान-ग्रंथ की ध्वनि को काम, क्रोध आदि विकारों के कोलाहल में अनसुनी कर देता है, उसका सम्बन्ध इस ईश्वरीय पुस्तक से विच्छिन्न हो जाता है। जो मनुष्य इस ज्ञान-ग्रंथ की ध्वनि को काम, क्रोध आदि के कोलाहल में भी अपने हार्दिक कानों से सुनता है, वह ईश्वर को पा लेता है, अर्थात् ईश्वर हो जाता है। कहने का तात्पर्य यही है कि मनुष्य के तथा ईश्वर के बीच में किसी देवदूत या धर्म-पुस्तक या गुरु नामक मध्यस्थ की कोई आवश्यकता नहीं है। इस सम्बन्ध में किसी बिचौलिए, दुभाषिये, दलाल की आवश्यकता होना, मनुष्य के निपट अज्ञानी होने का चिन्ह है।

इसलिए भारतीय स्वतन्त्रता के सेवकों का यह भी एक कर्तव्य है कि वे अपनी दूरदृष्टि से देश में सम्प्रदायों के एक-छत्र अधिकार को दृढतापूर्वक अस्वीकार कर दें। उन्हें चाहिए कि सांप्रदायिक एकता के लिए कोई प्रयत्न न करके इस कल्पना को देश में से समूल नष्ट कर देने का प्रयत्न करें। उन्हें चाहिए कि मनुष्य के ऊपर से संप्रदायों के ईश्वर का आधिपत्य नष्ट कर डालें। उन्हें चाहिए कि मनुष्य को सार्वभौम ईश्वर का पता देकर 'मनुष्य को ही ईश्वर बन जाने का अधिकार है,' यह सुसमाचार सारे देश में फैला दें। अर्थात् देश में से सर्वव्यापी मनुष्यता की शत्रु सांप्रदायिकता को हटाकर मनुष्यता फैलाने का प्रयत्न करें।

यह बात बराबर देखी जा रही ह, कि जिस अनुपात से हिंदू-मुसलिम एकता के प्रयत्न बढते जा रहे हैं, उसी अनुपात से अनेकता को प्रोत्साहन तथा पुष्टि मिल रही है। जिस प्रकार 'मत डरो, मत डरो' कहने से डरका प्रचार होता है, इसी प्रकार 'मत लडो-मत लडो' कहने से लडने का ही प्रचार होता चला जा रहा है।

जो मनुष्य-जाति एकही आदि-पुरुष से उत्पन्न हुई है, उसके अनेक धर्म होना, और उन सब अनेक धर्मों में सचाई होना सर्वथा असम्भव है। एकता ही सचाई है। अनेकता तो मिथ्यापन

बनावट और मन-घडन्त है। संसारभर की मनुष्य-जाति का मनुष्यता ही एकमात्र धर्म हो सकता है। जिन लोगोंने मनुष्य-जाति को पृथक्-पृथक् धर्मोंमें विभक्त किया है, वे सब सांप्रदायिक हैं और वे सब अज्ञानी हैं। वे सब सार्वभौम मनुष्यता के शत्रु हैं। वे विश्वव्यापी मनुष्य--जाति के अपराधी हैं। मानव-हृदय की पवित्रता तथा उसपर डटने की दृढता ही सार्वभौम मनुष्यता का ऐसा रूप है, जो संसार भर के मनुष्यों को अच्छेद्य भ्रातृभाव मे जकड सकता है।

जो मनुष्य से मनुष्य को पृथक् बैठा देता है, जो उन्हें परस्पर मिलने नहीं देता, जो दूसरों के लिए घृणा और द्वेष उत्पन्न करता है, वही सांप्रदायिक है। मनुष्यजाति के टुकडे--टुकडे कर डालना ही सांप्रदायिक का काम है। सांप्रदायिक नास्तिक है। उसका ईश्वर से कोई सम्बन्ध नहीं है। वह ईश्वर के नामपर दूकानदारी करता है। सांप्रदायिक देशद्रोही है। वह स्वतन्त्रता का शत्रु है। वह संसार को अज्ञान में रखना चाहता है। वह कुछ लोगों का गुरु बनना चाहता है। वह धर्मपुस्तक और देवदूत के नामपर संसार को ठगना चाहता है। गुरु, ग्रन्थ तथा संप्रदाय (मजहब) इन तीनों ने मिलकर मनुष्यजाति की सुन्दरता को नष्ट कर डाला है।

जिस धर्म में अपने ही धर्मवालों को मनुष्य माना जाता है और दूसरे धर्मवालों को पतित और घृण्य बताकर मनुष्यता को संकुचित किया जाता है, वह धर्म धर्म नहीं है। राष्ट्र को ऐसे किसी भी मनुष्यता-द्वेषी धर्म (मजहब) को देश में प्रचार पाने का अधिकार स्वीकार नहीं करना चाहिए, जिसका सार्वभौम मनुष्यता से सम्बन्ध न हो, किंतु विरोध हो।

यदि सांप्रदायिक समझौते के नामपर सर्व-धर्म-समभाव की नीति स्वीकार कर ली जायगी, तो देश में से परतन्त्रता का कारण ही नहीं हटेगा। यदि भेद को सचाई मान लीजिएगा, तो फिर उसकी 'बौद्धिक एकता' करना असंभव हो जायगा। यह समता बनावटी समता होगी, जो कभी भी विषमता उत्पन्न करने में देर नहीं किया करेगी। धर्मों का भेद न होना ही धर्मों के सत्य होने की कसौटी है। स्वतन्त्र राष्ट्र को यह स्वाभिमान होना ही चाहिए कि, हमारे देश में मनुष्य बसते हैं, सांप्रदायिक नहीं।

सब धर्मों में सचाई हो सकती है। यह बडा भ्रमपूर्ण विचार है। सचाई के विषय में इस प्रकार संदिहान रहने से काम नहीं चलेगा। यदि सब धर्मों में सचाई होती, तो ये सब पृथक्-पृथक् ही क्यों बनते? इन सबका पृथक् पृथक् होना ही इन सब में सचाई के अभाव की घोषणा कर रहा है। सचाई कोई आकाश का तारा नहीं है कि वहां मनुष्य की पहुंच न हो सकती हो, सचाई ऐसी वस्तु नहीं है कि जिसकी मनुष्य के पास कसौटी न हो। मनुष्य-हृदय की पवित्रता ही सचाई है। हम पूर्ण हैं, हम अभ्रांत हैं, हम आनन्दरूप हैं— मनुष्य को इस प्रकार का आत्मबोध हो जाना ही सचाई है।

मनुष्य-मनका अप्रभावित, निर्विकार हो जाना-ही सचाई है। यह सचाई मनुष्य के लिए अगम्य नहीं है। यदि सचाई मनुष्य के लिए अगम्य, अर्धगम्य या अँशगम्य रहेगी, तो मनुष्यको अपना जीवन अन्धेरे में बिताना पडेगा। बताओ कि क्या ईश्वर ने मनुष्य को संसारमें अन्धेरे और अज्ञान में रहने के लिए उतारा है? क्या मनुष्य के ईश्वर ने मनुष्य के साथ कोई ऐसा ज्ञानदीपक जलाकर नहीं भेजा जिससे वह अपने धर्मसंकटोंके अवसर पर मार्ग देख सके। नहीं नहीं, मनुष्य के ईश्वर ने मनुष्य को सत्य के प्रकाश में जीवन बिताने के लिए हृदय की सावधान वाणी रूपी ज्ञान-दीपक जलाकर भेजा है। उसने मनुष्य के हृदय में एक ऐसी अनिवार्य, न बुझनेवाली अखण्ड ज्ञान--ज्योति जलाकर भेजी है, जो सत्य--असत्य या कर्तव्य-अकर्तव्य के प्रत्येक धर्मसंकट या प्रत्येक दुराहे

पर मानवीय गद्य-पद्य-भाषा के रूप में मार्गदर्शी मशाल बनकर जल उठती है और मनुष्य को सत्यमार्ग दिखा देती है । यही ईश्वरीय वाणी है । यही ईश्वर का धर्मग्रंथ है ।

इसके अनुसार जीवन बितानेकी दृढता ही सत्य-दर्शन है । इससे भिन्न सत्यदर्शन नाम की कोई और अवस्था समझी जाती हो, तो वह सत्य का धोका है । मनुष्य-हृदय की पवित्र ध्वनि ही सत्य है । मन की काम, क्रोध आदि से उठी हुई अवस्था ही सत्य है । जिस समय मनुष्य इस पवित्र मनोदशा में रहता है, उस समय वह संपूर्ण सत्य का साक्षात् कर्ता, ऋषि, ज्ञानी, स्थित-प्रज्ञ, ब्रह्मदर्शी तथा ब्रह्मीभूत हो जाता है ।

सत्य को प्राप्त करना प्रत्येक मनुष्य के जीवन का लक्ष्य है, प्रत्येकके लिए संभव है और प्रत्येकके लिए इतना सुलभ है कि जितना और कुछ नहीं । इतना सुलभ है कि सुलभता देखकर सहसा आश्चर्य करना पडता है और अपने विषयार्जन-परायण काठिन्यपूर्ण असत्य जीवन पर तरस आ जाता है । सत्य को छोडकर शेष जितने पदार्थ हैं, उन सबको मनुष्य को बाहर से लाना पडता है । वे सब कष्टदायक अनुचित श्रम से, अनेक अस्वाभाविक साधनों तथा प्रयत्नों से प्राप्त होते हैं । उन पर दूसरे विषयार्थी लोगों की श्येन-दृष्टि लगी रहने के कारण उन्हें प्राप्त करना संकट से शून्य नहीं होता ।

इसके विपरीत सत्य को प्राप्त करने में ऐसा एक भी भय नहीं है । उसे कहीं बाहर से लाना नहीं पडता । असत्य का अस्वीकार कर देना या असत्य से विपरीत चल पडना ही सत्य है । सत्य सब मनुष्यों के भीतर रहनेवाली, सबको जीवित रखनेवाली, प्राणदायिनी शक्ति है । सत्य को प्राप्त करने में कष्टदायक श्रम की, और प्रतियोगिता करानेवाले चोरी तथा छीना झपटी के लिए ललचानेवाले साधनों की अपेक्षा नहीं होती ।

इस पर किसी प्रतिपक्षी की दृष्टि नहीं पड सकती । जो पुरुष मिथ्या भाषण या मिथ्या व्यवहार करता है, वह सत्य को विपरीत करके बोलता है या सत्य से विपरीत व्यवहार करता है । इसका यह अभिप्राय हुआ कि सत्यनारायण की वाणी तो सब मनुष्यों के हार्दिक कानोंको सुनाई पड जाती है । केवल उसके अनुसार जीवन बिताने या न बिता सकने का प्रश्न रह जाता है, जो कि भले, बुरे मनुष्यों का निर्माता है । आवश्यकता केवल इस बात की है कि मनुष्य सत्य में अटल रहने का पक्का निश्चय कर ले ।

इस दृष्टि से सत्य से सुलभ कोई भी पदार्थ नहीं है । सत्य को कष्टसाध्य या लगभग असाध्य बताने से सत्य की कोई सेवा नहीं होती । प्रत्युत ऐसे विचार सुनने से सत्यविमुखता को ही उत्तेजना मिलती है और सत्यार्थी हृदयों का उत्साह तोडा जाता है ।

जो सत्य में यथासंभव पाने का बंधन लगाते हैं या सत्य का संपूर्ण दर्शन न होने की बात पर विश्वास करते हैं, वे सत्यारूढ नहीं हो सकते । सत्यारूढ मनुष्य का पूर्ण रूप से सत्य का पालन करना अनिवार्य है । सत्य अनन्त है । उसकी शक्ति भी अनन्त है । जब मनुष्य सत्यारूढ होता है, तब उसके पास सत्य की अनन्त शक्ति उतर पडती है । वह अनन्त शक्तिमान् होकर सत्य के अनन्त रूप को देखता है और कहता है कि संसार की कोई भी शक्ति मुझे मेरे सत्य से विचलित नहीं कर सकती ।

सत्य अनन्त है, परन्तु साथ ही अखण्ड भी तो है । यदि सत्य के संपूर्ण दर्शन न होने के सिद्धान्त पर विश्वास कर लें तो सत्य को खण्डित मान लेना पडेगा । सत्यको खण्डित होकर दीखता हुआ समझना असत्य को सत्य समझना या असत्य के धोके में आना है । सत्य जब जहाँ दर्शन देता है तब वहां सम्पूर्ण ही दर्शन देता है । सत्य का अधूरा दर्शन या अधूरा संस्करण आज तक कभी नहीं हुआ । आंशिक सत्य, असत्य का ही धोका होता है ।

जहाँ पवित्रता है, जहाँ पूर्णता है, जहाँ अभ्रांति है, तथा जहाँ सच्चे सुख से भरपूर जीवन है, वहाँ सत्यनारायण अपनी षोडश कला से क्रीडा करते रहते हैं। जहाँ मन में पूर्णता है, जहां निःस्वार्थ-भाव है, जहाँ निर्ममता और निःस्पृहता है, वहां पूर्ण सत्य का दर्शन हो रहा है। सत्यदर्शन का इससे ऊंचा और कोई स्वरूप नहीं है। इसलिए राष्ट्र को शायद सब धर्मों में कोई न कोई सचाई हो, इस प्रकार के संशयग्रस्त विश्वास से चंचल न होकर सांप्रदायिकता को अस्वीकार कर देना चाहिए।

संप्रदायों में जितनी परस्पर मिलती हुई अविरोधी बातें हैं, अर्थात् जितने सार्वभौम सत्य का वर्णन करनेवाले प्रसंग हैं, वे सब तो सांप्रदायिक चार दिवारी में न समा सकने वाला सत्य है। वह सत्य सांप्रदायिकों की वस्तु नहीं है। प्रत्येक संप्रदायको पृथक् पृथक् करनेवाले प्रसंग तो वे हैं जहाँ वे ईश्वर और मनुष्यके सम्बन्ध में दूसरों से पृथक् कल्पना और मार्गोंका वर्णन करते हैं। वे वर्णन ही उन संप्रदायों की विशेषता हैं।

सांप्रदायिक ग्रंथों में कुछ अच्छे वर्णन देखकर कोई भी स्वतन्त्रप्रज्ञ मनुष्य उन्हें मान्य स्वीकार नहीं कर सकता। एक भी बहकी हुई बात करनेवाले की सारी बातें ऊटपटाँग होती हैं। जैसे चोरी करने जाते समय पहना हुआ रामनामी दुपट्टा, गले में पडी हुई रुद्राक्ष की माला, तथा माथे पर लगा हुआ विशाल तिलक भी चोरी करने की भावना के अनुगामी होते हैं, इसी प्रकार मनुष्य की दृष्टि को संकुचित करनेवाले सांप्रदायिकों के अच्छे से अच्छे दीखनेवाले वचन भी, उनके संकुचित वचनों के समर्थक होने के कारण, सर्वथा त्याज्य हो जाते हैं। जिस प्रकार रामनामी दुपट्टे से चोर श्रद्धेय नहीं बनता, इसी प्रकार कुछ अच्छी बातों से सांप्रदायिकों के ग्रंथ किसी स्वतन्त्रप्रज्ञके लिए श्रद्धेय नहीं बन सकते। स्वतन्त्र मनुष्यों की बुद्धि कुछ अच्छे वाक्यों के भ्रम में फंसकर संप्रदायों के विष को राष्ट्र में फैलने का अधिकार स्वीकार नहीं कर सकती।

कोई भी मनुष्य धर्मों की बहुलता के सिद्धांतों को स्वीकार नहीं कर सकता। संसार के सारे मनुष्य एक ही आदि-पुरुषसे उत्पन्न हुए हैं। कोई किसी से पृथक् नहीं है। कोई किसी से ऊँचा-नीचा नहीं है। सब मनुष्य हैं। सब मनुष्यता के नाते भाई-भाई हैं। यदि मनुष्यजाति एक ही आदि पुरुष की संतान मानी जाती है, तो सारी मनुष्यजाति का एक ही धर्म होना अत्यावश्यक है! अनेक धर्मवाद अज्ञानियों की कल्पना है।

यदि धर्मों की अनेकता को राष्ट्र में सम्मान देकर घमने दिया जायगा, तो देश में से धर्मान्धता का नाश होना असम्भव रहेगा, सांप्रदायिक समस्या अनिर्णीत रहेगी और फलरूप में देश परतन्त्र रहेगा।

स्वतन्त्र मनुष्य सर्वधर्म-समभाव के नाम से सांप्रदायिकता के इस कडवे विष को कैसे पी सकता है? कोई सत्यसेवी सांप्रदायिकों की संकुचित बातों को ज्यों का त्यों कैसे पचा सकता है? सांप्रदायिकों की संकीर्णता से विद्रोह न होना मनुष्य मस्तिष्क की अस्वाभाविक अवस्था है। विद्रोह न होना मन पर एक प्रकार का दबाव है। किसी भी सांप्रदायिक पुस्तक में से सचाई अर्थात् ईश्वर के घर का भेद ढूँढना, धूल में से खाद्य टटोलने के बराबर है।

इस सम्बन्ध में जितना अधिक विचार किया जाता है, इसी परिणाम पर पहुंचना पडता है कि राष्ट्र को साहस करके हिंदू, मुसलमान, ईसाई, पारसी, यहूदी आदि सब संप्रदायों की वास्तविकता को अस्वीकार करके इस सांप्रदायिक समस्या को सदा के लिए सुलझा लेना चाहिए। और राष्ट्र में मनुष्यता को ही अपना धर्म माननेवाले मनुष्य तैयार करने चाहिएं। इस साहस को करते ही राष्ट्र देखेगा कि राष्ट्र में समभाव तथा मित्रता आ गई है और सारा राष्ट्र कंधे से कन्धा भिडाकर स्वतन्त्रता में सहयोग देने के लिए रणक्षेत्र में खडा है।

शुद्ध चार वेद।

चारों वेद अत्यन्त शुद्ध छापनेका कार्य स्वाध्यायमण्डलमें शुरू है। ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद छपकर तैयार हैं। ऋग्वेदका द्वितीय संस्करण छप रहा है। सामवेद भी तैयार हो रहा है। चारों वेदसंहिताओंके मूल्य इस प्रकार हैं-

वेद	मूल्य	डाकव्यय	रेलवेचार्ज	विदेशका डाकव्यय
ऋग्वेद	५)	१)	॥)	१॥)
यजुर्वेद	२)	॥)	।)	॥।)
सामवेद	३)	॥)	।)	॥।)
अथर्ववेद	३)	१)	॥)	१॥)
	१३)	३)	१॥)	४॥)

तथापि चारों वेदोंका पेशगी म० आ० से सहूलियतका मू० ६) रु० है, तथा डा० व्यय ३) रु० है। इसलिये डाकसे मंगानेवाले ९) नौ रु० पेशगी भेजें। रेलचार्ज या डा० व्यय ग्राहकों के जिम्मे है। इसलिये जो ग्राहक रेल से चारों वेदों के एक या अनेक सेट मंगाना चाहते हैं, प्रति सेट के पीछे ६॥) रु० के अनुसार मूल्य भेजें। [इसमें। पैकिंग और रजिष्ट्रीके हैं।] उनके ग्रंथ To Pay रेलपार्सल से भेजेंगे।

सामवेद छपनेतक ही चारों वेदसंहिताएँ ६) रु० में मिलेंगी। तत्पश्चात् ७॥) मूल्य होगा, इसलिये वेदप्रेमी ग्राहक शीघ्रता करें और अपना चन्दा शीघ्र भेजकर ग्राहक बनें।

मंत्री-स्वाध्याय-मण्डल, औंध, (जि० सातारा)

नया प्रकाशन! त्वरा कीजिये!

सूर्यनमस्कार

श्रीमान् बालासाहेब पंत B. A. प्रतिनिधी, राजासाहब औन्ध रियासत, इन्होंने इस पुस्तकमें सूर्यनमस्कार का व्यायाम किस प्रकार लेना चाहिए, इससे कौनसा लाभ होता है और वह क्यों; सूर्यनमस्कार का व्यायाम लेनेवालों के अनुभव; सुयोग्य आहार किस प्रकार होना चाहिए; योग्य और आरोग्यवर्धक पाकपद्धति; सूर्यनमस्कारों के व्यायाम से रोगोंको प्रतिबन्धक कैसा होता है, आदि बातोंका विस्तार से विवेचन किया है। पृष्ठसंख्या १४० मूल्य केवल ॥) और डा० व्यय ≈) दस आनेके टिकट भेजकर मंगाईये।

सूर्यनमस्कारोंका चित्रपट साईज १०-१५, मूल्य -॥) डा० व्यय -)

मन्त्री-स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा)

न्योऽन्योपपदाच्च । (१६) स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले (१।३।७२) शेषात् कर्तरि परस्मैपदम् । (१।३।७८)]

६. ईक्षतेः पश्यतेश्चापि भेदः सूक्ष्मोऽस्ति कश्चन ।
अभिसंधाय कार्यार्थं दर्शनं विदुरीक्षणम् ॥
अवेक्षे सुप्रजास्त्वाय तत्राहुश्च निदर्शनम् ॥

७. नियमः पश्यतेर्नास्ति नराशंसं सुधृष्टमम् ।
परस्मैपदी पश्यतिरन्यस्तेनात्मनेपदी ॥

'ईक्ष दर्शने' और 'दृश आलोचने' इन दोनों धातुओं का भी कोई सूक्ष्म भेद है, जिस कारण एक आत्मनेपदी और दूसरा परस्मैपदी है ।

करनेयोग्य प्रयोजन को चित्त में लक्ष्य कर के देखनेको 'ईक्षण' कहते हैं, इस में उदाहरण देते हैं, जैसे—

'अवेक्षे सुप्रजास्त्वाय'

'दृश्' धातु का कोई नियम नहीं है, जैसे—

नराशंसं सुधृष्टमम् अपश्यं सप्रथस्तमम् ।
(ऋ० १।१८।९)

'दृश्' धातु परस्मैपदी है और इस कारण दूसरा आत्मनेपदी है।

['दृश्' धातु आत्मनेपदी भी है, 'जैसे यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं' (श्वेता० उप०)]

८. भवन्ति चोभयविधाः प्रातारत्नं प्रातरित्वा ।
अञ्जन्ति त्वामध्वरे च चित्रैरञ्जिभिर्वपुषे च॥

ऐसे धातु भी हैं, जो उभयपदी अर्थात् परस्मैपदी और आत्मनेपदी दोनों हैं । जैसे—

[१] प्राता रत्नं प्रातरित्वा दधाति चिकित्वान् प्रतिगृह्या नि धत्ते । (ऋ० १।१२५।१)

[२] अंजन्ति त्वामध्वरे देवयंतो । (ऋ० ३।८।१)

[३] चित्रैरञ्जिभिर्वपुषे व्यञ्जते० ।
(ऋ० १।६४।४)

(इन ऋचाओं में प्रथम में 'दधाति' 'धत्ते', इस प्रकार उभयपदी प्रयोग हैं । (२,३) में 'अंजन्ति' और 'व्यञ्जते' उभयपदी प्रयोग हैं ।)

९. कर्तृगामिन्यपि फले न भवत्यात्मनेपदम् ।
अविवक्षयोपपदात् प्रतीतेश्च तथा क्वचित् ॥

क्रिया का फल कर्ता को प्राप्त होता हो, तो भी कहीं कहीं आत्मनेपद नहीं होता, इसके तीन कारण हैं (१) विवक्षा (कहने की इच्छा) न होना, (२) उपपद का योग, और कहीं कहीं (३) प्रतीति. ।

१०. आत्मनेपदमित्येषा संज्ञार्थं दर्शयत्यमुम् ।
पदिः प्रयोगकर्मा स्याद् आत्मने भाष्यते इति॥

आत्मनेपद संज्ञा इसी अर्थ को बतलाती है, पद धातु का अर्थ है प्रयोग करना; उसको अपने लिए कहा जाय, तो 'आत्मनेपद' है ।

११. अल्पभेदमनाश्रित्य परोक्षादौ लुङादयः ।
प्रयुज्यन्ते यथा तद्वत् संकरश्चापि दृश्यते ॥

जिस प्रकार थोडे थोडे से भेद की उपेक्षा करके परोक्ष आदि में भी लुङ् आदि लकारों का प्रयोग कर दिया जाता है, उसी प्रकार आत्मनेपद परस्मैपद संकर का दिखाई देता है ।

१२. वदन्ति वैयाकरणा इमम्भेदमुपग्रहम् ।
स चायं दुर्ग्रहो भेद-स्पष्टं तेभ्योऽवधार्यताम् ॥

व्याकरण के विद्वान् इस सूक्ष्म भेद को गुरुद्वारा जाननेयोग्य बतलाते हैं । यह भेद बडी कठिनतासे जाना जाता है, इसका निश्चयपूर्वक ज्ञान उनसेही प्राप्त करना चाहिए ।

॥ इति अष्टमोऽध्यायः ॥८॥

इति द्वितीयोऽष्टकः ।

तृतीयोऽष्टकः।

निपातानुक्रमणी।
प्रथमोऽध्यायः।

तृतीयोऽथाष्टकस्तस्मिन्नध्यायादिषु वक्ष्यते।
यद् वक्तव्यं निपातेषु ब्राह्मणैश्छान्दसैरिह॥

अब तृतीय अष्टक का भाष्य प्रारम्भ करते हैं। इस अष्टक के अध्यायों के आदि में वेदज्ञ विद्वानोंके निपातों के सम्बन्धमें जो विशेष कहनेयोग्य है वह कहा जायगा।

१. इयन्त इति संख्यानं निपातानां न शक्यते।
उपसर्गास्तुविज्ञेयाः क्रियायोगेषु विंशतिः॥

निपात इतने हैं, इस प्रकार निपात गिनकर नहीं कहे जा सकते। क्रियायोग अर्थात क्रियापद के साथ लगनेवाले उपसर्ग बीस जानने चाहियें।

[प्रादयः। उपसर्गाः क्रियायोगे॥ (पा० १।४।५८;५९)
प्र। परा। अप। सम्। अनु। अव। निस्।
दुस्। वि। आङ्। नि। अधि। अपि। अति। सु।
उत्। अभि। प्रति। परि। उप॥]

२. निपाताः खलु कामं वै पृथङ्नाच्छा सचा पुनः।
शश्वन्नक्तं दिवा माकिर्यथेदिति सदम्मुहुः॥

३. आदथाध मिथू शीभं वृथा संज्योग् वृथग्वषट्।
[हिरुक् श्रौषडरंबट्सु] किल हन्त नहिन्वहः॥

४. अथो यदि नमस्तेऽमी चत्वारिंशदुदाहृताः।
आद्युदात्ताश्च सर्वेऽमी सन्त्यन्येपि च तादृशाः॥

ये निम्नलिखित चालीस निपात आद्युदात्त हैं।

१ खलु। २ कामम्। ३ वै। ४ पृथङ्। ५ न।
६ अच्छा। ७ सचा। ८ पुनः। ९ शश्वत्।
१० नक्तम्। ११ दिवा। १२ माकिः।
१३ यथा। १४ इत्। १५ इति। १६ सदम्।
१७ मुहुः। १८ आत्। १९ अथ। २० अध।
२१ मिथू। २२ शीभम्। २३ वृथा।
२४ सम्। २५ ज्योक्। २६ ऋथक्।
[ऋधक्]। २७ वृथक्। २८ [हिरुक्।
२९ श्रौषट्। ३० अरम्। ३१ बट्। ३२ सु।]
३३ किल। ३४ हन्त। ३५ नहि। ३६ नु।
३७ अहः। ३८ अथो। ३९ यदि।
४० नमस्ते।

इसीप्रकार अन्य भी अनेक निपात हैं, जो यहां गिने नहीं हैं परंतु आद्युदात्त हैं।

५. नामोदाश्वो वषट् स्वाहा नाना जोषं समदन्तिकम्।
शनैः सामि हि मा वस्रि माकीमाकीं सनाऽति तात्॥

६. भूयस्तूयम्मृषा द्युः श्रन्नकीं वस्तोः षड्विंशतिः।
अन्तोदात्ता निपातेषु॥

ये २६ निपात अन्तोदात्त हैं—

१ नाम। २ उत्। ३ आशु। ४ वषट्।
५ स्वाहा। ६ नाना। ७ जोषम्। ८ समत्।
९ अन्तिकम्। १० शनैः। ११ सामि।
१२ हि। १३ मा। १४ वस्रि [१५ माकीम्।
१६ आकीम्। १७ सना। १८ अति। १९ तात्।
२० भूयः। २१ तूयम्। २२ मृषा। २३ द्युः।
२४ श्रत्। २५ नकीम्। २६ वस्तोः॥

ननु नूनं स्वयं पुरा।

७. उतापिरेव मक्षिवत्तथा पश्चादेवममा तिरः।
प्रातरुच्चाङ्ग सुष्टुवद्धा कुवित्सद्य इह मिथः।

तृतीयोऽष्टकः ।]

८. साकमारात् सह चिरमन्तराशु सनादृते ।
अन्तरा सनुतः स्वस्ति चनारेऽद्यानुषक् पुनः ॥
९. दोषा सायं चत्वारिंशत् सन्ति चान्येऽपि तादृशाः ।

ननु । नूनम् । स्वयम् । पुरा । उत । अपि । एव । मक्षु । इत्था । पश्चात् । एवम् । अमा । तिरः । प्रातः । उच्चा । अङ्ग । सुष्ठु । अद्धा । कुवित् । सद्यः । इह । मिथः । साकम् । आरात् । सह । चिरम् । अन्तरा । आशु । सनात् । ऋते । अन्तरा । सनुतः । स्वस्ति । चन । आरे । अद्य । आनुषक् । पुनः । दोषा । सायम् ।

ये ४० निपात अन्तोदात्त हैं । और भी इसी प्रकार हैं जैसे—

९. हिङ् सत्रा हुरुक् पराचैः शनैर्मिथुया तथा ।
१०. सस्वरोषं सना तेऽमी दश सन्ति तथाऽपरे ।

हिङ् । सत्रा । हुरुक् (हिरुक्) । पराचैः । शनैः । मिथुया । तथा । सस्वः । ईषत् (?) सना (?) ये दश निपात भी अन्तोदात्त हैं ।

[हस्तलिपियोंमें पाठ 'सस्वरोषं सना' है । तदनुसार 'सस्वः । ओषम् । सना ।' तीन अव्यय प्रतीत होते हैं । सम्भव है, यह पाठ 'सस्वरीदषदना' हो-। 'सस्वः । इषत् । अना ।']

स्वः केति स्वरितौ विद्याद् द्रष्टव्याश्च तथाऽपरे ॥

'स्वः । क ।' ये दोनों निपात स्वरित हैं, इसी प्रकार अन्य भी जानने चाहिये ।

११. सीमुदुःस्वित् स्मवाहेव द्वादशैते चिदीङ्घचैः ।
अमी च सर्वानुदात्ता द्रष्टव्याश्च तथापरे ।

'सीम् । उ । दुर् । स्वित् । स्म । वा । ह । इव । चित् । ईम् । घ । च ।' ये १२ निपात सर्वानुदात्त जानने चाहिये । इसी प्रकार अन्य भी सर्वानुदात्त हैं ।

१२. ऋचां निरीक्षणादेते निपाताः शतमुद्धृताः ।
त्रिंशच सूक्ष्मेक्षिकया समुद्धार्यास्तथापरे ।

ऋचाओंको सूक्ष्मतासे देखकर ये १३० निपात यहां उठाकर रखे हैं । और सूक्ष्मतासे देखनेपर अन्य भी निपात खोज लेने चाहिये ।

१३. वाक्यार्थेष्वप्रवृत्तेषु निपाताश्चेदनन्विताः ।
ऋक्पादपूरणास्ते स्युरिति यास्कस्य दर्शनम् ॥

*

अप्रवृत्त अर्थात् असमाप्त वाक्य के अर्थों में भी यदि निपातों का सम्बन्ध न प्रतीत हो, तो उनको ऋचा में पादपूरणार्थ जानना चाहिये, ऐसा यास्क का मत है ।

[अथ ये प्रवृत्तेऽर्थेऽमिताक्षरेषु ग्रन्थेषु वाक्यपूरणा आगच्छन्ति । पदपूरणास्ते मिताक्षरेष्वनर्थकाः कमीमिद्विति । नि० १।९]

[(परिसमाप्तेऽर्थेऽन्यैः शब्दैः प्रतिपाद्ये सर्वस्मिन् प्रतिपादिते इत्यर्थः । इति स्कन्दस्वामी) परिप्रापितेऽर्थे अन्यैरेव वाक्यगतैः पदैः । इति दुर्गः ।]

१४. न वै-किलनुनामाथ-खल्विदादधसीमुकम् ।
उतनूनमिवेङ्घस्मचिद्घचाः स्युरनर्थकाः ॥१४॥

न, वै, किल, नु, नाम, अथ, खलु, इत्, आत्, अध, सीम्, उ, कम्, उत, नूनम्, इव, ईम्, घ, स्म, चिद्, घ, च ये निपात, अनर्थक होते हैं ।

१५. अन्येषां तु निपातानां पूरणत्वं न दृश्यते ।
नादयः पूरणाश्च स्युर्यदा वाक्येष्वनन्विताः ॥

अन्य निपात पादपूरणार्थक नहीं देखे जाते । न आदि निपातों का जब वाक्यों में कहीं अन्वय (सम्बन्ध) नहीं होता, तो वे भी पादपूरणार्थक ही होते हैं ।

१६. अप्रवृत्ते तु वाक्यार्थे ब्राह्मणेष्वपि नन्वमी ।
दृश्यन्ते यत्र नापेक्षा विद्यते पादपूरणैः ॥

(प्रश्न)- ब्राह्मणग्रन्थों में भी ये अनेक निपात (न आदि) वाक्य-अर्थ नहीं होनेपर भी ऐसे स्थानोंपर दिखाई देते हैं, जहां पाद-पूर्ति आदि की भी अपेक्षा नहीं होती है । वहां उनका क्या अभिप्राय होता है ?

१७. माधवस्तत्र वदति स्फुटत्वोद्ग्रहणादिकम् ।
वाक्यार्थे जनयन्त्येते मन्त्रब्राह्मणयोरिति ॥

(उत्तर)- वहां माधव का उत्तर यह है कि ये निपात मन्त्र और ब्राह्मण दोनों स्थानोंपर वाक्य के अर्थ में स्फुटता और उत्कर्ष आदि गुणों को व्यक्त करते हैं ।

१८. स्फुटत्वोद्ग्रहणादिश्च कचित्सूक्ष्मः कचित् स्फुटः ।
यत्र स्फुटस्तदा सार्थाः सूक्ष्मे स्युः पूरणाः इति ॥

स्फुटता और उत्कर्ष आदि गुण कहीं तो सूक्ष्म (अस्पष्ट) और कहीं स्पष्ट होता है । जहां स्पष्ट होता है, वहां तो ये निपात सार्थक हैं, जहां स्पष्ट नहीं होता, वहां ये निपात पादपूर्ति या वाक्यपूर्ति करनेवाले होते हैं ।

१९. मधु ह स्म वा ऋषिभ्यस्त्रिभिः स्फुटतरो भवेत्।
तथैवोत वा घा स्यालाद् बहवः सन्ति तादृशाः ॥

"मधु ह स्म वा ऋषिभ्या" और 'उत वा घा स्यालाद्' इन स्थलोंपर तीन निपातों से अर्थ अधिक प्रकट हो जाता है। ऐसे और भी बहुतसे उदाहरण हैं।

२०. उकारो विनिग्रहार्थस्तथानेकत्र दर्शनात्।
तमु ष्टवाम य इमा तमु त्वा गोतमो गिरा ॥

'उ' निपात का अर्थ विनिग्रह (निश्चय) ऐसाही अर्थ अनेक स्थलोंपर देखा गया है। जसे—

[१] तमु ष्टवाम य इमा जजान०। (ऋ० ८।९५।६)
[२] तमु त्वा गोतमो गिरा०। (ऋ० १।७८।२)

[मूल हस्तलेख में (तृ० पाद) 'तमुस्तवाम यं गिरस्त' है।]

२१. अयमु ते समतसि न विनिग्रहसम्भवः।
उदु ष्य देवः सविताः पूरणस्तादृशेषु सः ॥

'अयमु ते समतसि०।' (ऋ० १।३०।४) और 'उदु ष्य देवः सविता०।' (ऋ० २।३८।१) और ऐसे ही अनेक स्थलोंमें 'उ' निपात का विनिग्रह (विशेष निर्धारण) अर्थ सम्भव नहीं है। ऐसे स्थलोंमें 'उ' निपात पादपूरणार्थक ही है।

२२. एवकारेण सदृश उकारोऽन्यत्र दृश्यते।
मन्त्रेष्वेषु तु तस्यार्थः स्फुटत्वोद्ग्रहणार्थकः ॥

२३. एतावता पूरणत्वं नानर्थाक्यादिति स्थितिः ॥

अन्य स्थलोंपर 'उ' 'एव' के समान दीखता है। उन मन्त्रमें उस का प्रयोजन, स्पष्टता और उत्कर्ष दिखलान आदि है। इसी प्रकार से वह पादपूर्तिभी करता है। वह अनर्थक होने से पादपूरणार्थ नहीं होता, ऐसाही निश्चय जाने।

आदानन्तर्यवचनो यथादह स्वधामनु ॥

२४. आत्सूर्यं जनयन् द्यामुषासमादित्ते हर्यता।
आदिद्धोतारं वृणते पूरणश्चापि विद्यते ॥

'आत्' निपात का अनन्तर्य (अनन्त अर्थात् पश्चात् होना) अर्थ है। जैसे—

आदह स्वधामनु० (ऋ० १।६।४)

परन्तु- 'आत्' निपात पूरणार्थ भी दिखाई देता है। जैसे—

[१] आत्सूर्यं जनयन् द्याम् उषासम्।
(ऋ० १।३२।४)
[२] आदित्ते हर्यता०। (ऋ० ८।१२।२५-२७)
[३] आदिद्धोतारं वृणते०। (ऋ० १।१४१।६)

२५. इदेवकारसदृशः स इद् भोजो यो गृहवे।
स इद्देवेषु गच्छति दृश्यते चापि पूरणः ॥

'इत्' निपात भी 'एव' के समान अर्थवाला है। जैसे—

स इद् भोजो यो गृहवे ददाति०।
(ऋ० १०।११७।३)

स इद् देवेषु गच्छति। (ऋ० १।१।४)

'इत्' पूरणार्थक भी देखा गया है।

२६. ईमिदं शब्दसदृशः एमा शुमाशवे भर।
स ईम्पाहि य ऋजीषी विद्यते चापि पूरणः॥

'ईम्' यह निपात 'इदम्' शब्द के समान अर्थवाला है, जैसे—

[१] एमाशुमाशवे भर०। (ऋ० १।४।७)
[२] स ईम् पाहि य ऋजीषी०। (ऋ० ६।१७।२)

उच्चावचेषु [नि] पततामर्थेष्वेषु यथायथम्।
हानोपादानविद् विप्रो न मन्त्रार्थेषु मुह्यति ॥

अनेक अर्थोंमें निपतन (गमन) करनेवाले इन निपातों का ठीक ठीक अर्थ ग्रहण और त्याग करना जाननेवाला विद्वान् मन्त्रों के अर्थोंमें कभी मोहको प्राप्त नहीं होता।

[निरुक्त १।४।११- अथ निपाताः उच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्ति उपमार्थेऽपि, कर्मोपसंग्रहार्थेऽपि पदपूरणाः एवमुच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्ति त उपेक्षितव्याः ॥११॥]

॥ इति प्रथमोध्यायः ॥१॥

द्वितीयोऽध्यायः ।

अथेच्छन्ति त्वा सोम्यासो व्याचिख्यासति माधवः। सङ्गतेषु निपातेषु वक्तव्यं सम्प्रदर्शयन्॥

इच्छन्ति त्वा सोम्यासो० नामक तृतीय अध्याय के द्वितीय अध्यायकी व्याख्या करने के पूर्व माधव आचार्य संगत निपातों के विषयमें अपना वक्तव्य कहते हैं ।

संगत निपात ।

१. पृथगर्थां [न्] निपातेषु संगतेषु प्रदर्शयेत् ।
आदह स्वधामनु तत्राहुश्च निदर्शनम् ॥

संगत, परस्पर मिले हुए निपातों में विद्यमान अर्थों को भी पृथक् पृथक् दिखाना चाहिये । जैसे—

आदह स्वधामनु पुनर्गर्भत्वमेरिरे। (ऋ० १।६।४)

'आत्-अह' यहां दो निपात एकत्र हैं ।

२. स्विदित्येको निपातोयमधः स्विदासीदुपरि ।
चनचेन्नन्वमी च स्युरभिन्ना इति निश्चयः ॥

'स्वित्' यह एक निपात है । जैसे—

अधः स्विदासी३दुपरि स्विदासी३त् ।
(ऋ०१०।१२९।५)

चन, चेत्, ननु. ये निपात भी एक एक ही हैं, समुदाय नहीं हैं, ऐसा वैदिकों का स्थिर सिद्धान्त है।

[स्वित् सु-इत्, च-न, च-इत्, न-नु इस प्रकार इन निपातों का अनेक निपातों का समुदाय मानते हैं। सो ठीक नहीं है।]

३. समुदाया निपातानां नामी नो मो अथो इति ।
अतस्तेषां प्रगृह्यत्वं पृथक् शास्ति हि पाणिनिः ॥

इसी प्रकार नो, मो. अथो, ये निपात भी निपात-समुदाय नहीं हैं। इसी कारण आचार्य पाणिनि इन निपातों का प्रगृह्य भाव विधान करता है ।

[ओत्- पा० १।१।१५ ओदन्तो यो निपातः स प्रगृह्य-संज्ञो भवति। अहो इति। उताहो इति। इन निपातों न+उ, मा+उ, अथ+उ इस प्रकार सन्धि च्छेदकर निपातसमुदाय नहीं मानना चाहिये ।]

४. मो अहं द्विषते रधं नो वयं मराम इति ।
समुदायत्वमनयोरित्थमर्थप्रतीतितः ॥

मो अहं द्विषते रधम् । (ऋ० १।५०।१३)
नो वयं मरामारे० । ऋ० (१।१९१।१०-१२)

इन स्थलोंपर 'मो, नो' ये दोनों निपात-समुदाय हैं। ऐसा अर्थ की प्रतीति से विदित होता है ।

[एक हस्तलेख में इन वेदवाक्योंका अर्थ स्पष्ट करने के लिये एक श्लोकार्ध इस प्रकार है –

मो अहं द्विषते रधम् मैवाहं द्विषते रधम् ।
एवं नो वयं मराम नैव वयं मरामेति ॥

अर्थात् 'मो अहम्'में 'मा-उ' और 'नो'में 'न-उ' ऐसा सन्धि छेद कर के निपातसमुदाय मानना उचित है; इन दोनों स्थलों पर 'उ' को एवार्थक मानना उचित है ।]

५. इच्छन्ति कवयः केचिद् द्वयोरेकः स्वरस्तथा ।
अनेक विद्वान् इन दोनों का एक ही स्वर बतलाते हैं ।

६. नहीत्येको निपातोऽयम् पृथगध्वर्यवस्तु तम् ।
अधीयतेऽप्युदात्तश्च नह्यस्या अपरं चन ॥

७. नहीत्यनेन योगे च स्मर्तव्यस्तिङुदात्तवान् ।
केवलेन हिना योगे शाब्दिकैः स्मर्यते तथा ।

अध्वर्यु (याज्ञिक-यजुर्वेदी) लोग 'नहि' इसको एक निपात आद्युदात्त पढते हैं । जैसे—

नह्यस्या अपरं चन। (ऋ० १०।८६।११)
तथा- (तै० सं० १।७।१३।१)

'नहि'के योगमें तिङन्तपद को उदात्तवाला विधान करना चाहिये, जिस प्रकार 'हि' के योगमें शाब्दिक (वैया० करण) विधान करते हैं ।

प्रश्न- बह्वृचा हिकमित्येकं किमिति द्वावधीयते ?

८. अयञ्च युज्यते ह्येकः एकोदात्तस्य दर्शनात् ।

बह्वृच (ऋग्वेद) आम्नाय के विद्वान् 'हिकम्' इस एक निपात को 'हि, कम्' ऐसे दो निपात क्यों बतलाते हैं?

यह एक निपात ही कहना चाहिये, क्योंकि यहां एक उदात्त स्वर दिखाई देता है।

(उत्तर)- राजा हि कंभुवनानान्तिष्ठा सु कंमघवन्मा।
९. येनानु कम्मानुषी च त्रयोऽमी निहताः कमः ।
सूक्ष्मेक्षिकापराः विप्राः कथयन्त्यत्र बह्वृचाः ।
१०. यथा समासे पदयोरेकार्थ्यमुपजायते ।
नञो हेश्च तथैकार्थ्यन्नहीत्यत्रोपजायते ॥
११. ह्यर्थस्य च प्रधानत्वादन्तोदात्तमभूत् पदम् ।
हिना योगे नुसुभ्याञ्च कमित्येतन्निहन्यते ॥
१२. पदेनानेन संयोगाद्यथा ख्यातं निहन्यते।
हिनु योगे कमित्येतदेवमेवेति बह्वृचाः ॥

राजा हि कं भुवनानाम्० । (ऋ० १।९८।१)
तिष्ठा सु कं मघवन्मा० । (ऋ०३।५३।८)
येना नु कं मानुषी । (ऋ० १।७२।८)

इन तीनों स्थलोंमें 'कम्' निपात अनुदात्त है। सूक्ष्म दृष्टिसे देखनेवाले ऋग्वेदीय विद्वानों का कथन है कि जिस प्रकार समास में दो पदों का एक अर्थ होता है, उसी प्रकार 'नञ्' और 'हि' इन दोनों निपातों का 'नहि' रूपमें एक अर्थ हो जाता है। 'हि' का अर्थ प्रधान होनेसे 'नहि' पद अन्तोदात्त होता है। उसी प्रकार 'हि' 'नु' और 'सु' के साथ 'कम्' पद भी अनुदात्त हो जाता है। और जिस प्रकार 'हि' के साथ योग होनेपर आख्यात (क्रिया) पद सर्वानुदात्त हो जाता है उसी प्रकार 'हि, नु' के योगमें कम् पद भी अनुदात्त हो जाता है, ऐसा बह्वृच विद्वानों का कथन है।

१३. अध्वर्यवस्तु नेच्छन्ति आशिषे वै कं यजमानः ।
इत्युदात्तमधीयानाः पृथक् चार्थं कमो विदुः ॥

अध्वर्यु अर्थात् यजुर्वेदी विद्वान्

'आशिषे वै कं यजमानः ।' (तै० सं०)

इस प्रकार 'कम्' को उदात्त पढकर उसका अर्थ भी पृथक् करते हैं।

॥ इति द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

अथ तृतीयोऽध्यायः ।

इन्द्र त्वा वृषभं वयं व्याचिख्यासति माधवः ।
निपातेष्वेव केषां चिद् वृत्तिभेदं प्रदर्शयन् ॥

निपातों में से कुछ निपातों का वृत्ति-भेद (भिन्न प्रकार का प्रयोग) दिखलाते हुए अब 'इन्द्र त्वा वृषभं वयं०' इस अध्याय की व्याख्या करते हैं।

कुछ निपातोंका वृत्तिभेद ।

१. निपाता ये विकल्पार्था ये समुच्चयवाचिनः ।
ये वा विनिग्रहार्थीया उपमार्थाश्च ये तथा ॥
२. सर्वे ते न प्रयुज्यन्ते ऋक्-पादादिष्विति स्थितिः
इव देवदत्त इति नहि लोके प्रयुज्यते ॥
३. वा देवदत्त इति वा तथा वेदे च दृश्यताम् ॥

जिन निपातों का विकल्प अर्थ है, और जो समुच्चयार्थक हैं, या जो विनिग्रहार्थक हैं, और जो उपमार्थक हैं, वे सभी ऋचा के चरणके प्रारम्भ में कभी प्रयुक्त नहीं होते। लोक में भी 'इव देवदत्तः' अथवा 'वा देवदत्तः' ऐसा प्रयोग नहीं होता, इसी प्रकार वेद में भी इव, वा, च आदि निपात वाक्य या चरण के आदिमें प्रयुक्त नहीं होते। [वा आदि निपात विकल्पाथक हैं; च, अपि आदि समुच्चयार्थक हैं, अह, ह, एव आदि विनिग्रहार्थक हैं, जो अवधारण या विशेष बल देते हैं, इव न आदि उपमार्थक हैं।]

प्रश्न--

नन्वेवकारसदृश उकारो दर्शनात् तथा ।
४. स दृश्यते च पादादावुलोकमग्ने कृणवः ।
उ लोककृत्नमीमहे उ लोककृत्नुमद्रिवः ॥
५. उ लोको यस्ते अद्रिवस्ते चत्वार उदाहृताः।

'उ' निपात 'एव' निपात के समानार्थक होता है, ऐसा दीखता भी है। मन्त्रों में उस 'उ' निपात का प्रयोग पाद के आदि में दिखाई भी देता है, जैसे---

[१] उ लोकमग्ने कृणवः । (ऋ० ५।४।११)

[२] उ लोक कृत्नुमीमहे । (ऋ० ९।२।८)
[३] उ लोक कृत्नुमद्रिवः । (ऋ० ८।१५।४)
[४] उ लोको यस्ते अद्रिवः (ऋ० ३।३७।११)

ये चार उदाहरण दिखला दिये हैं ।

नामी विनिग्रहार्थीया नह्येष्वस्ति विनिग्रहः ।
६. पूरणत्वञ्च नैतेषां नह्यादौ सन्ति पूरणाः ।
उ लोक उत्तमो लोक इति वक्तुं न युज्यते ।
७. शाकल्यो ह्यवगृह्णीयात् तद् नोम् दर्शयेत् ।
अथाप्युत्तमपर्यायं लोकात् प्राक् पर्युपस्थितम् ।
८. मन्यामहे कान्दिशीकास्तत्र वृद्धेषु निर्णयः ॥

(उत्तर)- उक्त उदाहरणों में सर्वत्र 'उ' विनिग्रहार्थक नहीं हैं, उन में विनिग्रह (विशेष अवधारण) नहीं है । वे पूरणार्थ भी नहीं हैं, पूरणार्थक निपात भी पादके आदि में प्रयोग नहीं किये जाते । 'उ लोकः' इसका अर्थ 'उत्तम लोक' ऐसा अर्थ भी नहीं कहा जा सकता । यदि ऐसा अर्थ होता, तो आचार्य शाकल्य पदकार सर्वत्र 'ॐ इति' ऐसा अवग्रह न दिखलाते । यहां 'उ' का अर्थ 'उत्तम लोक' है, इस कारण 'उ' लोकपद के पहले उपस्थित है । यदि भयभीत होकर हम ऐसी मान भी लें, तो भी विद्यावृद्ध जनोंसे इस का निर्णय जानना उचित है ।

['उ लोक'= उत्तम लोक, अर्थमें होता, तो 'उल्लोक' एक पद होता ।]

उपमार्थश्च नन्वादौ यथा शब्दः प्रयुज्यते ।
९. तथा तदस्तु सोमपा तथा त उश्मसीष्टये ।
प्रकारवचनः सोऽयं लौकिकाश्च प्रयुञ्जते ॥
१०. येन प्रकारेण कृतं तेनास्माकं करोत्विति ।
इव देवदत्तेन कृतं नतु दृष्टं तथा क्वचित् ॥

प्रश्न- उपमार्थक 'यथा' शब्द तो पाद के आदि में भी प्रयुक्त होता है । जैसे--

तथा तदस्तु सोमपाः सखे वज्रिन् तथा कृणु ।
यथा त उश्मसीष्टये ॥ (ऋ० १।३०।१२)

उत्तर- यहां 'यथा' शब्द उपमार्थक नहीं है, प्रत्युत प्रकार बतलानेवाला है । प्रकार बतलानेवाले पदका लोक में भी ऐसा प्रयोग करते हैं । जैसे—

"येन प्रकारेण कृतं तेन प्रकारेण अस्माकं करोतु"

अर्थात् जिस प्रकार से किया, उसी प्रकार से हमारा हो । यहां 'येन प्रकारेण' वाक्य के आदि में प्रयोग हुआ है । उसी प्रकार यथा पादके आदिमें वेदमें प्रयुक्त हुआ है । उपमार्थक पद पाद के आदि में प्रयुक्त नहीं होता, लोक में भी 'इव देवदत्तेन कृतम्' ऐसा कहीं प्रयोग नहीं देखा गया है । 'इव' उपमार्थक अव्यय का वाक्य के आदि में प्रयोग नहीं होता,उसी प्रकार उपमार्थक यथा का प्रयोग भी पाद के आदि में नहीं होता ।

११. तस्माद् यथेवौ भिन्नार्थाविति सूक्ष्मेक्षिका पराः ।
प्रयुज्यते यथा शब्दे क्रियापदमपेक्षितम् ॥
१२. उश्मसीत्यादिकं नैवम् इव योगे प्रयुज्यते ।

सूक्ष्म दृष्टिवाले विद्वानों के मतसे 'यथा' और 'इव' दोनों के भिन्न अर्थ हैं । 'यथा' शब्द के प्रयोग में अपेक्षित क्रियापदका प्रयोग किया जाता है । जैसे 'उश्मसि' इत्यादि क्रियापद का प्रयोग हुआ है, इस प्रकार 'इव' के योग में क्रियापद का प्रयोग नहीं किया जाता है ।

इवार्थक 'न' का प्रयोग ।

बहुष्वर्थेषु दृष्टो नञ् निषेधेऽथ समुच्चये ॥
१३. सम्प्रत्यर्थ इवार्थे च पूरणेऽपि च दृश्यते ।
प्रयुज्यते न वाक्यादावुपमार्थ इति स्थितिः ॥

'नञ्' बहुत से अर्थों में देखा जाता है, निषेध-अर्थ में, समुच्चय-अर्थ में, सम्प्रति (अब)-अर्थ में, इव (के समान) अर्थ में, और वाक्य वा पादपूरणार्थ भी देखा जाता है । उपमा (सादृश्य) अर्थमें नञ् वाक्य के आदिमें प्रयोग नहीं किया जाता है, यह निश्चित बात है ।

१४. उपमायां निषेधे च दृश्यन्ते बहवो नञः ।
तथा समुच्चयार्थीया अग्निमुषान्न जरते ।
१५. तस्मिन् त्साकं त्रिशता न होता मनुष्यो न दक्षः ।
अश्वे न चित्रे अरुषि सम्प्रत्यर्थे नञं विदुः ॥
१६. अस्मै भीमाय च तथा सन्ति चान्येऽपि तादृशाः ।
विपाज्ज्योतींषि बिभ्रते नकारस्तत्र पूरणः ॥

उपमा और निषेध अर्थोंमें बहुतसे 'नञ्' देख जाते हैं और समुच्चय अर्थ में भी बहुतसे 'नञ्' हैं जैसे—

[१] अग्निमुषां न जरते हविष्मान् ।
(ऋ० १।१८१।९)

[२] तस्मिन्त्साकं त्रिशता न शंकवोऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः। (ऋ० १।१६४।४८)

[३] होता मनुष्योऽन दक्षः। (ऋ० १।५९।४)

[४] अश्वे न चित्रे अरुषि। (ऋ० १।३०।२१)

सम्प्रति अर्थ में (वर्तमान अर्थ में भी नञ् का प्रयोग करते हैं, जैसे—

अस्मै भीमाय नमसा समध्वर उषो न शुभ्र आ भरा पनीयसे। (ऋ० १।५७।३)

इसी प्रकार अन्य भी अनेक 'नञ्'के प्रयोग हैं। और—

विप्रां ज्योतींषि बिभ्रते न वेधसे।

(ऋ० ३।१०।५)

इस स्थल में नकार पादपूरणार्थ है।

[नेति प्रतिषेधार्थीयो भाषायामुभयमन्वध्यायम्। नेन्द्रं देवममंसतेति। (ऋ० १०-८६-१)

प्रतिषेधार्थीयः पुरस्तादुपचारस्तस्य यत्प्रतिषेधति॥ दुर्मदासो न सुरायाम् इत्युपमार्थीयः। उपरिष्टादुपचारस्तस्य येनोपमीयते। (निरुक्त १·४)]

१७. पादादौ न प्रयुज्यन्ते हिस्मचेत्स्विद्धवैतवः।
कारणं तत्र वाक्यादावर्थस्यैषामनन्वयः॥

हि, स्म, च, इत्, स्वित्, ह, वै, तु, ये निपात पाद के आदिमें प्रयोग नहीं किये जाते, कारण इनके अर्थोंका वाक्यके आदि में सम्बन्ध नहीं होता।

१८. पादादावपि सद्भावः पूरणानामिपीच्छति।
यास्को यदाह नूनं सा नूनामित्येष पूरणः॥

पूरणार्थक निपातों का प्रयोग पादके आदि में भी हो सकता है, जैसा यास्कने बतलाया है कि-

नूनं सा ते प्रति वरं जरित्रे०। (ऋ० २।११।२१)

इस स्थलों में 'नूनं' पादपूर्तिके लिये है।

[अथापि पादपूरणः 'नूनं सा ते०' निरु० १।७]

१९. यथा न नूनमस्तीति सम्प्रति त्वस्य वाचकः।
तथैव संप्रत्यर्थत्वमन्नापीच्छन्ति केचन॥

जिस प्रकार—

'न नूनमस्ति नो श्वः०' (ऋ० १।१७०।१)

इस ऋचा में 'नूनम्' निपात 'सम्प्रति' अर्थ को बतलाता है, उसी प्रकार 'नूनं सा ते०' इस ऋचा में भी 'नूनं' का 'सम्प्रति' अर्थ में प्रयोग हुआ है, ऐसा कुछ विद्वानोंका कथन है।

[नूनम् इति विचिकित्सार्थीयो भाषायाम्, उभयमन्वध्यायं विचिकित्सार्थीयश्च पदपूरणश्च। अगस्त्य इन्द्राय हविर्निरूप्य मरुद्भ्यः सम्प्रदित्सां चकार, स इन्द्र एत्य परिदेवयांचक्रे। 'न नूनमस्ति नो श्वः०' न नूनमस्त्यद्यतनं नो एवश्वस्तनम्० इत्यादि (निरुक्त० १।६)]

२०. नू शब्दः क्षिप्रवचनो वाक्यादावपि दृश्यते।
नू मर्तो दयत इति मध्ये प्रशस्यवाचकः॥

'नू' निपात शीघ्रता अर्थ को बतलाता है। उसका प्रयोग वाक्य के आदिमें भी देखा गया है। जैसे-

नू मर्तो दयते सनिष्यन्०। (ऋ ७।१००।१)

'नू' जब वाक्य के मध्यमें प्रयोग किया जाता है, तब वह श्रेष्ठ अर्थका वाचक है।

निपातानां प्रयोगज्ञाः न मुह्यन्ति कदाचन।
अतो लोकानुसारेण निपातार्थं प्रदर्शयेत्॥

निपातों का प्रयोग जाननेवाले विद्वान् कभी मोह को प्राप्त नहीं होते, इसलिये लौकिक प्रयोग के अनुसार ही वेदमें भी निपातों का अर्थ दिखलाना चाहिये।

॥ इति तृतीयोऽध्यायः॥३॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः।

च, अह, अङ्ग निपातों का अर्थ।

न ता मिनन्ति मायिनो व्याचिख्यासति माधवः।
चाहाङ्गानां निपातानामर्थमादौ प्रदर्शयन्॥

'न ता मिनन्ति मायिनो०' (ऋ० मं० ३।५६।१) अध्याय की व्याख्या करने के पूर्व माधव आचार्य च, अह, अङ्ग इन निपातों का अर्थ अध्याय के आदि में दर्शाते हैं।

१. चकारः समुच्चयार्थश्चेदर्थे चापि वर्तते।
काकुः समुच्चये कश्चित् तं चेदर्थं विदुर्बुधाः॥

'च' समुच्चय (और) अर्थ में होता है, और चेत् (यदि) के अर्थ में भी होता है। समुच्चय अर्थ रहते हुए भी विशेष अभिप्राय रहने को चेत् का अर्थ विद्वान् बतलाते हैं।

समुच्चयार्थक और चेदर्थक चकार के लक्षण।

२. यद्योगे तिङ्ङुदात्तः स्यात् स चेदर्थः प्रकीर्तितः।
समुच्चयार्थं तं विद्याद् यद्योगे तिङ् निहन्यते॥

जिस 'च' के योग रहते हुए तिङ् उदात्त स्वरसहित रहता है, वह 'च' चेत् के अर्थ में प्रयुक्त कहा जाता है। और जिस 'च' के योग में तिङन्तपद सर्वानुदात्त होता है, उस 'च'को समुच्चयार्थक जानना चाहिये।

३. आ च त्वामेता वृषणा त्वं च सोम नो वचः।
इन्द्रश्च मृळयाति नश्चेदर्थाश्चा इमे स्मृताः॥

'चेद्' के यदि के अर्थ में ये चकार कहे गये हैं–

१. आ च त्वामेता वृषणा। (ऋ० ३।४३।४)
२. त्वं च सोम नो वशः। (ऋ० १।९१।६)
३. इन्द्रश्च मृळयाति नः। (ऋ० २।४१।११)

[निपातैर्यद्यदिहन्तकुविन्नेच्चेच्चण्कच्चिद्यत्रयुक्तम्।
(पा० ८।१।३०)

यत्, यदि, हन्त, कुवित्, नेत्, चेत्, चण्, कच्चित्, यत्र इन निपातों के योगमें तिङन्तपद अनुदात्त नहीं होता है। इस सूत्रमें 'चण्' निपात णित् 'च' कार है यह चेत्के अर्थ में होता है।

चिद् विशिष्टेऽर्थे चेदर्थे वर्तते।
अयं च मरिष्यति अयं चेन्मरिष्यतीत्यर्थः॥
(काशिका)।

चादिषु च। (पा० ८।१।५८)
चादिषु च परतः तिङन्तमगतेः परं नानुदात्तं भवति। च, वा, अह एव इति चादयः॥

चवायोगे प्रथमा॥ (पा० ८।१।५९)
च वा इत्येताभ्यां योगे प्रथमा तिङ् विभक्तिर्नानुदात्ता भवति॥

चाहलोप एवेत्यवधारणम्॥ (पा० ८।१।६२)
च लोपे अहलोपे च प्रथमा तिङ्विभक्तिर्नानुदात्ता भवति।
एवेत्येतच्चेदवधारणार्थं प्रयुज्यते।
कथं चास्य लोपो गम्यते?
यत्र गम्यते चार्थो, न च प्रयुज्यते तत्र लोपः।
तत्र च-शब्दः समुच्चयार्थः अहशब्दः केवलार्थ इति।
समानकर्तृके चलोपः, नानाकर्तृके अहलोपः।

चादिलोपे विभाषा॥ (पा० ८।१।६३)
चादीनां लोपे प्रथमा तिङ्विभक्तिर्नानुदात्ता भवति विभाषा। (काशिका)

यहां द्वितीय उदाहरणमें माधवानुक्रमणी का पाठ है
'त्वं च सोम नो वचः।']

४. एवकारेण सदृशौ हाहौ यास्केन भाषितौ।
यद्ध यान्ति मरुतो हकारः खलुना समः॥

यास्कने 'उ' और 'ह' ये दोनों निपात 'एव' के समान बतलाये हैं। परन्तु–

यद्ध यान्ति मरुतः०। (ऋ० १।३७।१३)

इस स्थलपर 'ह' निपात 'खलु' निपात के समान है।

[सब मूललिपियोंमें पाठ है– 'एवकारेण सदृशौ विहौ यास्केन भाषितौ' परन्तु यास्कने 'वि'–'ह' ऐसे दो निपात समानार्थक कहीं नहीं बतलाये हैं- यास्कने 'ह' 'अह' इनको 'उ' के समान बतलाया है। अतः पाठ होने चाहिये, 'शौ' 'हाहौ' या 'सदृशावुहौ।' एक हस्तलेखमें

'येहो' और एक हस्तलेखमें 'ए हो' है, जो सम्भवतः 'हाहौ' में पूर्व 'हा' अक्षर का व्यपपाठ 'ए' होकर अशुद्ध लिखा गया है। यास्क का पाठ है–

अह इति च ह इति विनिग्रहार्थीयौ पूर्वेण सम्प्रयुज्येते।...अथाप्युकार एतस्मिन्नेवार्थ उत्तरेण।
(निरु० अ० १। ख० ५)

डा० कुनहनराज का 'विहौ' पाठ का अनुमान निराधार है। निरु० १।३ में कोई आधार उपलब्ध नहीं है।]

५. कद्ध नूनङ्कथ प्रियः को ह कस्मिन्नसि श्रितः।
कथा ह तद्वरुणाय नैतेष्वस्ति विनिग्रहः॥

१. कद्ध नूनं कधप्रियः०। (ऋ० १।३८।१)
२. को ह कस्मिन्नसि श्रितः०। (ऋ० १।७५।३)
३. कथा ह तद् वरुणाय०। (ऋ० ४।३।५)

इन ऋचाओंमें ह का अर्थ विनिग्रह नहीं है।

[प्रथम उदाहरणामें माधवने 'कथप्रियः' पाठ माना है। मूलमें- 'कधप्रियः' है।]

६. तव ह त्यदिन्द्र विश्वं वर्तते हो विनिग्रहे।
स्फुटत्वोद्ग्रहणार्थीया ह अहाः बहवः श्रुताः॥

तव ह त्यदिन्द्र विश्वम्०। (ऋ० ६।२०।१३)

इस स्थलमें 'ह' निपात विनिग्रह अर्थ में है। 'ह, अह' इन निपातों के बहुत से प्रयोग स्फुटता और उद्ग्रहण (उत्कर्ष) अर्थ बतलाते हैं।

७. अत्राह तत्कण्व एषामत्राह दानुमातिरः।
अत्राह तदुरुगायस्य दिप्सन्त इद्रिपवो नाह।

८. अहा विनिग्रहार्थीयाश्चत्वारः समुदाहृताः।
दृश्यन्ते बहवोऽन्ये च सर्वेषु निहतास्तिङः॥

१. अत्राह तत्कण्व एषाम्०। (ऋ. १।४८।४)
२. अत्राह दानुमातिरः०। (ऋ. ४।३०।७)
३. अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः।
(ऋ. १।१५४।६)
४. दिप्सन्त इद् रिपवो नाह देभुः।
(ऋ. १।१४७।३)

ये चारों अह विनिग्रह अर्थ में प्रयुक्त हैं। और भी बहुत से 'अह' के प्रयोग दिखाई देते हैं, सर्वत्र तिङन्त पद सर्वानुदात्त हैं।

[अतिङन्त पदसे परे तिङन्तको सर्वत्र अनुदात्त विधान किया है। तिङ्ङतिङः। (अ. ८।१।२८) जहां उदात्तदान तिङ् पद अभीष्ट है, वहां अपवाद–निषेधसूत्र दर्शाए हैं।

९. पूजायां गम्यमानायामाख्यातन्न निहन्यते।
आदह स्वधामनु तन्नोदाहरणं विदुः॥

अह का उपयोग यदि पूजा अर्थ में हो, तो क्रियापद सर्वानुदात्त नहीं होता, जैसे—

आदह स्वधामनु पुनर्गर्भत्वमेरिरे।
(ऋ० १।६।४)

[तु पश्यपश्यताहैः पूजायाम्। (पा० ८।१।३९)
तु-पश्य-पश्यत- अह इत्येते युक्तं तिङन्तं नानुदात्तं भवति पूजायां विषये (काशिका)]

१०. अनन्तरमेव वृष्टेर्गर्भत्वं प्राप्नुवन्त्यमी।
न चासते क्षणं तूष्णीमिति पूजाप्रतीयते॥

वे मरुत् गण अनन्तर ही वृष्टिको गर्भमें धारण कर लेते हैं; क्षणभर भी चुप नहीं बैठते। यह पूजा (प्रशंसा) का भाव प्रतीत होता है।

११. अङ्गेति क्षिप्रवचनः सम्बोधयति चापरम्।

'अङ्ग' यह निपात शीघ्र अर्थ बतलाता है, और यह सम्बोधन भी बतलाता है।

१२. सो अङ्ग वेद यदि वा न त्वमङ्ग प्र शंसिषः।
एतौ सम्बोधनार्थीयौ,

[१] सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद।
(ऋ० १०।१२९।७)

[२] त्वमङ्ग प्र शंसिषः०। (ऋ० १।८४।१९)

इन दोनों स्थलों में अङ्ग सम्बोधन-अर्थ को बतलाता है।

...इन्द्रो अङ्गमहद्भयम्॥

१३. अत्राहुः क्षिप्रवचनम्;

इन्द्रो अङ्गमहद् भयम्। (ऋ० २।४१।१०)

इस स्थल में अङ्ग क्षिप्र (शीघ्र) अर्थ का वाचक है।

यद्वा सम्बोधनं भवेत्।

१४. तदानीं प्रातिलोम्यं चेदाख्यातं न निहन्यते ।
प्रातिलोम्योदाहरणञ्च दृष्टमधुना मया ॥

जब सम्बोधन भी हो और यदि प्रतिलोम अर्थ भी प्रतीत होता है, तब क्रियापद सर्वानुदात्त नहीं होता; प्रतिलोम अर्थ का उदाहरण अभी मैंने नहीं देखा है।

[पा०- अङ्गाप्रातिलोम्ये। (पा० अ० ८-१-३३) अङ्गइत्यनेन युक्तं तिङन्तं अप्रातिलोम्ये गम्यमाने नानुदात्तं भवति। (काशिका) अर्थात् प्रातिलोम्ये अनुदात्तम् भवति।

काशिकाके इस अभिप्रायसे माधवका अभिप्राय विपरीत पडता है। कदाचित् पाठ अपपाठ हो गया है।

"तदानीं प्रातिलोम्यं चेदाख्यातं तन्निहन्यते"

ऐसा पाठ पाणिनि के अनुसार होना उचित है।

अर्थात्—

सम्बोधनार्थक होते हुए भी प्रातिलोम्य, अर्थात् विरोध, या क्रोधभाव प्रतीत होता हो, तो क्रियापद सर्वानुदात्त होता है।]

॥ इति चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

अथ पंचमोऽध्यायः।

'हि' से युक्त तिङन्त पदोंपर विचार।

वैश्वानराय मीह्ळुषे व्याचिख्यासति माधवः।
आदौ प्रदर्शयन् वृत्तिं तिङां ये हिभिरन्विताः ॥

'वैश्वानराय मीह्ळुषे' (ऋ० ४।५।१) अध्यायकी व्याख्या करने के पूर्व माधव आचार्य आदि उन तिङन्तपदों के सम्बन्ध में बतलाते हैं, जिन के साथ 'हि' निपात का योग है।

१. वाक्यार्थस्य परार्थत्वे हिशब्दोऽयं प्रयुज्यते ।
उद्गृह्णाति च वाक्यार्थमिन्दवो वामुशन्ति हि ॥

वाक्य का अर्थ जब और भी दूसरा अर्थ बतलाता है, तब यह 'हि' निपात प्रयोग किया जाता है। और यह वाक्य के अर्थ का उद्ग्रहण करता, उसका उत्कर्ष बतलाता है, जैसे--

इन्दवो वामुशन्ति हि। (ऋ० १-२-४)

२. उद्गृह्यमाणो वाक्यार्थो न स्वस्मिन् पर्यवस्यति।
कामयन्ते हि वां सोमास्तस्मादागच्छतं युवाम् ॥

जिस वाक्यार्थ का उत्कर्ष होता है, वह अपने में ही समाप्त नहीं होता। उक्त उदाहरण में—

हे अश्वियो! तुम दोनों को सोम चाहते हैं, इससे आप दोनों आइये ॥

३. सुते हि त्वा हवामहे स हि नः प्रमतिर्मही ।
नहि त्वा रोदसी उभे तिङर्थोऽत्र हिना स्फुटः॥

[१] सुते हि त्वा हवामहे०। (ऋ० १।१६।४)

[२] स हि नः प्रमतिर्मही। (ऋ० ६।४५।४)

[३] न हि त्वा रोदसी उभे। (ऋ० १।१०।८)

इन स्थलों में 'हि' निपातसे तिङन्त पद का अर्थ स्पष्ट होता है।

[श्री० कुहनन राजकी संमतिमें चतुर्थ चरण का पाठ होना चाहिए-सर्वेषूद्ग्रहणं स्फुटम्।]

४. वाक्यान्तरेणान्वयार्थमव्ययं हिः प्रयुज्यते ।
असत्यपि च हेतुत्वे तथैवोद्ग्रहणेऽसति ॥

५. युक्ष्वा हि देवहूतमानुषो वाजं हि वंस्व ।
न हि ते क्षत्रं न सहो उरुं हि राजा वरुणः॥

६. अश्वान् रथे योजयित्वा तेनागत्य निषीद च ।
चित्रमन्नं प्रयच्छोषस्तेन यज्ञमुवाह च ॥

७. क्षत्रादीनि वयो नापुर्न चापो वेगवत्तमाः ।
विस्तीर्णमार्गकरणात् पादाऽङ्कः प्रतिघातवे ॥

८. अस्ति चोद्ग्रहणं तेषां सर्वेष्विति विनिश्चयः।

अन्य वाक्य से सम्बन्ध बतलाने के लिए 'हि' अव्यय का प्रयोग किया जाता है। चाहे हेतु और उद्ग्रहण अर्थ न भी हो। जैसे —

[१] युक्ष्वा हि देवहूतमाँ०। (ऋ० ८।७५।१)
[२] नहि ते क्षत्रं न सहो०। (ऋ० १।२४।६)
[३] उषो वाजं हि वंस्व। (ऋ० १।४८।११)
[४] उरुं हि राजा वरुणः। (ऋ० १।२४।८)

इन वाक्यों का अभिप्राय यह है कि- (१) अश्वोंको रथमें लगाकर उस रथसे आकर विराजो। (२) हे उषः! तू अद्भुत अन्न प्रदान कर, उससे यज्ञको धारण किया था। (३) हे अग्ने! तेरे क्षत्र, आदि को पक्षिगण और जलभी नहीं पा सके। (४) सूर्य के गमन करने के लिए इतना मार्ग चौडा बनाया है, कि अगम्य स्थानमें भी भली प्रकार पैर पड सके।

आश्चर्ये हिः प्रसिद्धयां च तथौचित्ये च दृश्यते।
९. परा हि मे विमन्यव आ हि ष्मा सूनवे पिता।
न हि वामस्ति दूरके आश्चर्यार्थ इमे हयः॥

'हि' निपात आश्चर्य अर्थमें प्रसिद्धि और औचित्य अर्थ में भी दीखता है, जैसे—

[१] परा हि मे विमन्यवः०। (ऋ० १।२५।४)
[२] आ हि ष्मा सूनवे पिता०। (ऋ० १।२६।३)
[३] नहि वामस्ति दूरके०। (ऋ० १।२२।४)

ये सब 'हि' के प्रयोग आश्चर्य अर्थ में है।

१०. स हि श्रवस्युरत्वं ह्यग्ने प्रसिद्धयां ही श्रुताविमौ।
तथा त्वं ह्यग्ने सदमिद् बहवः सन्ति तादृशाः॥

स हि श्रवस्युः०। (ऋ० १।५५।६)
त्वं ह्यग्ने०। (ऋ० १।४४।६)

ये दोनों 'हि' प्रसिद्धि अर्थमें सुने जाते हैं। 'त्वं ह्यग्ने सदमिद्' यहां भी 'हि' प्रसिद्धि अर्थ में ही है।

११. एवाँ ह्यस्य सूनृतेति तृचे दृष्टाहय स्त्रयः।
औचित्यार्था भवन्त्येत सन्त्यन्येऽपि च तादृशाः॥

एवाँ ह्यस्य सूनृता०। (ऋ० १।२।८)

इस तृच में तीन 'हि' के प्रयोग हैं। वे सब औचित्य अर्थमें प्रयुक्त हुए हैं। ऐसे ही और भी बहुतसे प्रयोग हैं।

१२. समुच्चये च हि दृष्टः स मन्दस्वा ह्यन्धसः।
तत्परश्चानुदात्तस्तिङ् सन्त्यन्येऽपि च तादृशाः॥

समुच्चय अर्थमें भी 'हि' का प्रयोग देखा गया है। जैसे-

स मन्दस्वा ह्यन्धसः०। (ऋ० ३।४१।६; ६।४५।२७)

समुच्चयार्थक 'हि' परे तिङन्त पद अनुदात्त होता है, इस प्रकार के और प्रयोग भी हैं।

[यद्धितुपरं छन्दसि॥ (पा० ८।१।५६) यत्परं हिपरं तुपरं च तिङन्तं छन्दसि नानुदात्तं भवति। (काशिका)

इस सूत्र से हि-परक तिङन्तपद अनुदात्त नहीं होता। परन्तु समुच्चयार्थक हि परे रहते अनुदात्त होता है, यही माधवकार का विशेष अभिप्राय है।

हेरर्थं यो विजानाति न स मन्त्रेषु मुह्यति।
तेन प्रदर्शितोऽस्माभिर्हेरर्थश्च प्रपञ्चितः॥

जो विद्वान् हि-के अर्थ को विशेषरूपसे जानता है, व मन्त्रों में मोह को प्राप्त नहीं होता, इसीसे हमने हि के अर्थ के सम्बन्धमें विस्तारसे कहा है।

॥इति पञ्चमोऽध्यायः॥५॥

अथ षष्ठोऽध्यायः।

निपातों के संबंधमें विशेष।

अथैवा त्वामिन्द्र वज्रिन् व्याचिख्यासति माधवः।
निपातेष्वेव वक्तव्यं प्रागनुक्तं प्रदर्शयन्॥

अब 'एवा त्वामिन्द्र वज्रिन्'. (ऋ० मं० ४।१९।१) अध्यायकी व्याख्या करने के पूर्व माधव आचार्य निपातों के सम्बन्ध विशेष रहस्य कहना चाहते हैं, जो पूर्व नहीं कहा गया है।

१. अथाद्येति समानार्थौ तौ पठन्ति च बह्वृचाः।
अवधानेन महता तौ यथा स्तः पृथक् पृथक्॥
[ज्ञायेते तौ यथा पृथक्]

'अथ' और 'अद्य' ये दोनों निपात समान अर्थवाले हैं। बह्वृच् (ऋग्वेद) आम्नाय के विद्वान् इन दोनोंका पाठ बडी सावधानी से ऐसे करते हैं, जिससे ये दोनों पृथक् पृथक् प्रतीत होते हैं।

२. न गुरुत्वं लघुत्वं वा वर्णैर्मात्राभिरेव च ।
भवत श्छन्दसां किन्तु प्रयत्नैश्च पृथग्विधैः ॥
३. यथा सर्षपमेयेषु करोति गुरुलाघवम् ।
त्रसरेणुस्तथा वेदे प्रयत्नो वर्णगोचरः ॥

इन दोनों निपातों के प्रयोग में, वर्णों और मात्राओं द्वारा छन्दों में न गुरुभाव और न लघुभाव ही होता है, तो भी भिन्नभिन्न प्रकार के प्रयत्नों से दोनों निपातों में भेद होता है।

जैसे सरसों के दानों से तोलनेयोग्य पदार्थों में एक त्रसरेणु (जर्रा) भी उसको भारी और हलका कर देता है, उसी प्रकार वर्णों में विद्यमान प्रयत्न भी छन्दोंमें गुरु-लघु-भाव उत्पन्न कर सकता है।

४. एवं हघौ च पर्यायौ प्रसिद्धेः प्रतिपादकौ ।
पृथक् पृथक् प्रयुज्येते बह्वृचैरवधानतः॥
५. परा ह यत्स्थिरं हथ यद्ध स्याते पनीयसी ।
आ घा गमद् यदि श्रवदा घा ये अग्निमिन्धते॥

इसी प्रकार प्रसिद्धि अर्थ को बतलानेवाले 'ह' और 'घ' दो निपात हैं, इन का भी बह्वृच आम्नाय के विद्वान् पृथक् पृथक् सावधान होकर प्रयोग करते हैं। जैसे—

[१] परा॑ ह॒ यत् स्थि॒रं ह॒थ। (ऋ० १।३९।३)
[२] यद्ध॒ स्या॑ ते॒ पनी॑यसी । (ऋ० ५।६१।४)
[३] आ घा॑ गम॒द् यदि॒ श्रव॑त्।(ऋ० १।३०।८)
[४] आ घा॒ ये अ॒ग्निमि॑न्ध॒ते। (ऋ० ८।४५।१)

६. इयत्तिका शकुन्तिका सूर्ये विषमा सजामि ।
अनयोरुत्तरेऽधर्चे द्वैविध्यं दृश्यते पदे ॥
७. अधीयते हि द्विविधं सो इत्यपि स इत्यपि ।
न तत्र वासनामेके वक्तव्यां मन्वते जनाः ॥

इ॒यत्ति॒का श॑कुन्ति॒का० । (ऋ० १।१९१।११)
और—
सूर्ये॑ वि॒षमा॒ सं॑जा॒मि॒० । (ऋ० १।१९१।१०)

इन दोनों ऋचाओं के उत्तरार्ध में एक ही पद के दो प्रकार के रूप दीखते हैं। जैसे—

[१] इ॒यत्ति॒का श॑कुन्ति॒का स॒का ज॑घास ते वि॒षम्।
सो चि॒न्नु न म॑राति॒ नो०। (ऋ० १।१९१।११)
[२] सूर्ये॑ वि॒षमा सं॑जा॒मि दृ॒तिं सु॒रा॑वतो गृ॒हे ।
सो चि॒न्नु न म॑राति॒ नो०। (ऋ० १।१९१।१०)

इन ऋचाओं में 'सा, सो' इस प्रकार दो रूप दिखाई देते हैं।

इसी प्रकार 'सो' और 'स' इस प्रकार दो प्रकार के रूप भी पढते हैं; इन स्थलोंमें कुछ आचार्य कहनेयोग्य वासना (सन्धि) को स्वीकार नहीं करते।

८. यथानुश्रुताममतिमर्कविहस्ता सुकृते ।
वरुणेळास्वन्तरिति पदद्वैविध्यदर्शनम् ॥

प्रश्न– इसी प्रकार–

'अनु॑ श्रु॒ताम॒मतिम्०।' (ऋ० ५।६२।५)
और—
'अर्क॑विहस्ता सु॒कृते॑०'। (ऋ०५।६२।६)
इन दो ऋचाओं में—
'व॒रु॒णेळा॑स्व॒न्तः।'
पाद में एक ही पद दो प्रकार का दीखता है।

९. न तत्र दोषः पूर्वस्यां पृथङ् मित्रश्च कीर्त्यते ।
वरुणेति द्वितीयस्यामेकेनोक्तावुभावपि ॥
१०. तस्मादत्रापि वक्तव्यं द्वैविध्यस्य प्रयोजनम् ।

उस में कोई दोष नहीं है, क्योंकि पूर्व ऋचामें मित्र और वरुण दोनों को पृथक् पृथक् सम्बोधन किया है और दूसरी ऋचा में दोनों को 'वरुणा' ऐसा सम्बोधन किया है।

वरुण । इळासु । अन्तः ॥ (ऋ० ५।६२।५)
वरुणा । इळासु अन्तः ॥ (ऋ० ५।६२।६)

इसी प्रकार यहां भी एकही पद के दो प्रकार के होने का प्रयोजन बतलाना चाहिये।

उत्तर—

११. तदुच्यते सा नो अमा सो चिन्नु भद्रा क्षुमती।
सो चिन्नु वृष्टिर्यूथ्या च त्रिपूकारः प्रदृश्यते।
स्पष्टीकरोति सस्त्रीत्वमुरित्याहुर्विपश्चितः ॥

इस सम्बन्ध में हमारा उत्तर यह है कि—

[१] सा नो॑ अ॒मा सो अर॑णे॒ नि पा॑तु।
(ऋ० १०।६३।१६)

[२] सो चि॒न्नु भ॒द्रा क्षु॒मती॑०।
(ऋ० १०।११।३)

[३] सो चि॒न्नु वृ॒ष्टिर्यू॒थ्या॒३॑०।
(ऋ० १०।२३।४)

इन तीनों ऋचाओं में 'सा' के साथ 'उ' निपात का प्रयोग दिखाई देता है। विद्वानों का कथन है कि वह 'उ' निपात 'सा' के स्त्रीलिंग को स्पष्ट करता है।

१२. ननु नाम्नामनेकस्मिन् वृत्तिरर्थेऽपि, युज्यते।
तानि ह्याख्यातजान्याहुर्यथा गौर्गमनादिति।

१३. गमनात् पृथिवी गौः स्यादादित्यः पशुरेव च।
वाग्वा सा गच्छति जलान्निम्नप्रत्येति सर्वदा॥

प्रश्न– नाम पद भी अनेक अर्थों में प्रयुक्त होते हैं, इसका क्या कारण है?

उत्तर– उनका अनेक अर्थों में प्रयुक्त होना भी उचित ही है, नाम सब आख्यातज हैं, जैसे–गमन करने (गम् धातुसे 'गौ' पद बना है। गमन (गति) करनेसे पृथिवी 'गौ' कहाती है, और इसी कारण पशु और आदित्य भी 'गौ' कहाते हैं। इसी कारण 'वाणी' भी गौ कहाती है, जल भी 'गौ' है, क्योंकि वह सदा नीचे की ओर गति करता है।

१४. निपाता उपसर्गाश्च दृश्यन्ते केन हेतुना।
बहुष्वर्थेषु येष्वेते दृश्यन्त उपमादिषु॥

१५. बहुष्वर्थेषु धातूनां वृत्तौ यत्कारणं भवेत्।
तदेवात्रापि भवति सा च शक्तिरिति स्थितिः॥

प्रश्न– निपात और उपसर्ग जिन उपमा आदि बहुत से अर्थों में प्रयुक्त हुए दिखाई देते हैं, इसका क्या कारण है?

उत्तर– जिस कारण से धातुओं का अनेक अर्थों में प्रयोग होता है, वही कारण यहां भी है, अर्थात् निपात और उपसर्गों के भी अनेक अर्थों में प्रयोग होनेमें कारण है। अनेक अर्थों में प्रयुक्त होनेका कारण ही 'शब्द की शक्ति' कहाती है, यही सिद्धान्त है।

॥ इति षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

अथ सप्तमोऽध्यायः॥

प्रऋभुभ्यो दूतमिव व्याचिख्यासति माधवः।
उपसर्गेषु वक्तव्यमादितः सम्प्रदर्शयन्॥

'प्रऋभुभ्यो दूतमिव' (ऋ० ४।३३।१) अध्याय की व्याख्या करने के पूर्व माधव आचार्य उपसर्गों के सम्बन्ध में विशेष कहते हैं।

१. अन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रकृतेः प्रत्ययस्य च।
पृथगर्थपरिज्ञानमिति शाब्दिकनिर्णयः॥

शब्दशास्त्र अर्थात् व्याकरण का यह सिद्धान्त है कि प्रकृति और प्रत्यय के अन्वय और व्यतिरेक से पृथक् पृथक् अर्थों का ज्ञान होता है।

२. उपसर्गेष्वपि तथा भवेदिति विनिश्चयः।
तदेतद्धातुसंज्ञायां स्पष्टमाह पतञ्जलिः॥

उपसर्गों में उसी प्रकार अर्थों का निश्चय, अन्वय और व्यतिरेक युक्ति से होना चाहिये, यह निश्चित सिद्धांत है। यही पतञ्जलि ऋषिने धातुसंज्ञाके प्रकरणमें स्पष्ट कहा है।

[तथा च भाष्यम्– अन्वयव्यतिरेकाभ्याम्॥ अन्वयाच्च व्यतिरेकाच्च। कोऽसावन्वयो व्यतिरेको वा? इह पचतीत्युक्ते कश्चिच्छब्दः श्रूयते पचशब्दश्चकारान्तः अति शब्दश्च प्रत्ययः। अथोऽपि कश्चिद् गम्यते विक्लित्तिः कर्तृत्व-मेकत्वं च पठतीत्युक्ते कश्चिच्छब्दो हीयते कश्चिदुपजायते, कश्चिदन्वयी। विक्लित्तिर्हीयते पठिक्रियोपजायते कर्तृत्वं चैकत्वं चान्वयी, तेन मन्यामहे यः शब्दो हीयते तस्यासावर्थः योऽर्थो हीयते यः शब्द उपजायते तस्या-सावर्थः योऽर्थ उपजायते, यः शब्दोऽन्वयी तस्यासावर्थो योऽर्थोऽन्वयी।
(महाभाष्यम् अ० १। पा० ३।१)

३. वदन्ति वाचकानेक उपसर्गान् विपश्चितः।
अर्थानान्तु निलीनानां द्योतकास्तु पतञ्जलेः॥

कुछ विद्वान् कहते हैं कि उपसर्ग भी विशेष अर्थों के वाचक हैं। और पतञ्जलिका मत है कि उपसर्ग निगूढ (भीतर छुपे हुए) अर्थों के द्योतक होते हैं। जैसे—

(क्रियाविशेषक उपसर्गः (वा०) पचतीति क्रिया गम्यते। तां प्रविशिनष्टि। (अदू०) यद्यपि तावद् अत्रैतच्छक्यते वक्तुं यत्र धातुरुपसर्गं व्यभिचरति, यत्र न खलु तं व्यभिचरति तत्र कथम् 'अध्येति' 'अधीते' इति? (स०) यद्यप्यत्र धातुरुपसर्गं न व्यभिचरति उपसर्गस्तु धातुं व्यभिचरति, तेन मन्यामहे, य एवास्याधेरन्यत्रार्थः स इहापीति। कः पुनरन्यत्राधेरर्थः? अधिरुपरिभावे वर्तते। (आ०) इह तर्हि व्यक्तमर्थान्तरं गम्यते, तिष्ठति, प्रतिष्ठते इति। तिष्ठतीति व्रजिक्रियायाः निवृत्तिः। प्रति इति व्रजिक्रिया गम्यते। तेन मन्यामहे उपसर्गकृतमेतद् येनात्र व्रजिक्रिया गम्यते इति। (स०)-प्रा यं दृष्टा प्रचारा आदि कर्मणि वर्तते न चेदं नास्ति-बह्वर्था अपि धातवो भवन्ति। तद्यथावपिः प्रकिरणे दृष्टः छेदने चापि वर्तते इत्यादि। महाभाष्यम् (अ० १, पा० ३, सू० १)]

४. प्रतिष्ठते तिष्ठतीति गमनं स्थानमेव च।
उभयन्तिष्ठतेरर्थः प्रस्तत्र द्योतको गतेः॥

५. बीजानि वपतीत्यत्र निवापे दृश्यते वपिः।
अधि पेशांसि वपते छेदने तत्र वर्तते॥

६. एवमन्येऽपि वर्तन्ते बहुष्वर्थेषु धातवः।
द्योत्यन्त उपसर्गैश्च धात्वर्था इति निर्णयः॥

'प्रतिष्ठते' और 'तिष्ठति' इन दोनों प्रयोगों में गमन (जाना) स्थान (ठहरना) ये दोनों ही अर्थ 'स्था' धातु के हैं। 'प्रतिष्ठते' में 'प्र' उपसर्ग गति का द्योतक है। इसी प्रकार 'बीजानि वपति' इस प्रयोग में 'वप' धातु का प्रयोग निवात (बोना) अर्थ में है। और—

अधि पेशांसि वपते। (ऋ० १।९२।४)

इस प्रयोग में 'वप' धातु का प्रयोग छेदन अर्थ में है। इस प्रकार और भी बहुतसी धातुएं बहुत बहुत अर्थों में हैं। सिद्धांत यही है कि उपसर्गों से धातुओं के अर्थ ही प्रकट होते हैं।

[बह्वर्थाधातवो भवंति। तद्यथा—वपिः प्रकिरणे दृष्टः छेदने चापि वर्तते केशश्मश्रु वपतीति। ईडिः स्मृतिचोदनायाञ्चास्य दृष्टः प्रेरणे चापि वर्तते,-अग्निर्वा इतो वृष्टिमीट्टे, मरुतोऽमुतश्च्यावयन्ति। इति। करोतिरभूतप्रादुर्भावे दृष्टः निर्मलीकरणे चापि वर्तते—पृष्ठं कुरु। पादौ कुरु। अमृदान इति गम्यते। निक्षेपणे चापि वर्तते-कटे कुरु घटे कुरु। अश्मानमितः कुरु स्थापयेति गम्यते एवमिहापि तिष्ठतिरेव व्रजिक्रियामाह तिष्ठतिरेव व्रजिक्रियाया-निवृत्तिम्॥ (महाभाष्यम् पा० १।३।१)

७. प्र यात शीभमाशुभिः प्र वो भ्रियन्त इन्दवः।
प्रारंभे प्रोऽनयोर्दृष्टः प्रकर्षे चापि दृश्यते॥

प्र यात शीभमाशुभिः०। (ऋ० १।३७।१४)

प्र वो भ्रियन्त इन्दवः०। (ऋ० १।१४।४)

इन दोनों ऋचाओं में प्रकर्ष अर्थ में 'प्र' उपसर्ग देखा जाता है।

८. अर्चत प्रार्चतेत्यत्र वैस्पष्ट्ये चापि दृश्यते।
अस्येदु प्र ब्रूहि पूर्व्या बहवः सन्ति तादृशाः॥

अर्चत प्रार्चत०। (ऋ० ८।६९।८)

अस्येदु प्र ब्रूहि पूर्व्याणि। (ऋ० १।६१।१३)

इन ऋचाओं में 'प्र' उपसर्ग बहुतसे हैं। ऐसे अन्य भी बहुतसे प्रयोग हैं।

९. प्रभुः प्रार्थयते कन्यांप्रशान्तः प्राञ्जलिस्तथा।
प्रसन्नमुदकञ्चेति भिन्नार्थाः प्रा इमे मताः॥

'प्रभुः' 'प्रार्थयते कन्याम्', 'प्रशान्तः', 'प्राञ्जलिः' 'प्रसन्नम् उदकम्' इन स्थलोंमें 'प्र' के प्रयोग भिन्न भिन्न अर्थोंमें हुए हैं।

१०. आङ् आभिमुख्यं वदति प्रपरौ तद्विपर्ययम्।
परा याहि मघवन्ना परा हि मे विमन्यवः॥

'आङ्' उपसर्ग आभिमुख्य अर्थ को कहता है। 'प्र' और 'परा' ये दोनों उपसर्ग आभिमुख्यसे विपरीत अर्थ को बतलाते हैं। जैसे—

परा याहि मघवन्ना०। (ऋ० ३।५३।५)
परा हि मे विमन्यवः०।(ऋ० १।२५।४)

११. समेकीभाववचनः पृथग्भावे व्यपौ स्मृतौ।
यत्रा नरः सञ्च वि चापद्वेषो अपह्वरश्च॥

'सम्' उपसर्ग एकी भावको बतलाता है। 'वि' और 'अप' उपसर्ग पृथक् भाव (जुदा होने) अर्थ में उपदेश किये हैं। जैसे--

यत्रा नरः सं च वि च द्रवन्ति। (ऋ० ६।७५।११)
अप द्वेषो अप ह्वरः०। (ऋ० ५।२०।२)

१२. अनुः सादृश्यवचनः पश्चाद् भावे च वर्तते।
उद् वर्तत उद्गमने न्यवौ नीचीनवृत्तिनौ॥

'अनु' उपसर्ग सादृश्य अर्थ को बतलाता है, और 'अनु' उपसर्ग पश्चाद् भाव अर्थ में भी रहता है। 'उत्' उपसर्ग उद्गमन अर्थ में होता है, और 'नि' और 'अव' ये दो उपसर्ग 'नीचे' होने अर्थमें प्रयुक्त होते हैं।

१३. सुम्पूजावचनं प्रादुर्विपरीतौ च निर्दुरौ।
अधेरुपरिभावार्थम् आभिमुख्यमभेर्विदुः॥

१४. अतेरर्थोऽतिक्रमणम्प्रातिलोम्ये प्रतिः स्मृतः।
अपिः संसर्गवचनः उपश्चोपजने स्मृतः॥

१५. वर्जने सर्वतोभावे परिम्प्राहुर्विपश्चितः।
एषामिमे प्रायिकार्था इत्थं यास्केन दर्शिताः॥

'सु' को पूजार्थक बतलाते हैं। 'निर्' और 'दूर' ये दोनों सु से विपरीत अर्थ के वाचक हैं। 'अधि' का अर्थ उपरि भाव है। 'अभि' का अर्थ आभिमुख्य है। 'अति' का अर्थ अतिक्रमण करना है, प्रति प्रातिलोम होने अर्थ में कहा जाता है। अपि संसर्ग (मिलने) अर्थमें हैं, उप उपजन उत्पन्न होने अर्थमें है, परि के दो अर्थ बतलाते हैं, वर्जना, सब ओर होना, प्रायः इनके ये अर्थ हैं, ऐसा यास्कने बतलाया है।

१६. पाणिनिश्चाह भगवान् अर्थान् एषां बहूंस्तथा।
उदाहरणमेतेषां बाहुल्यान्न प्रदर्शितम्॥

भगवान् पाणिनिने भी इन उपसर्गों के बहुतसे अर्थ बतलाये हैं, इन के उदाहरण बहुत होने से नहीं दिखाये हैं।

[ननिर्बद्धाः उपसर्गा अर्थान् निराहुरिति शाकटायनः। नामाख्यातयोस्तु कर्मोपसंयोगद्योतका भवन्ति॥

उच्चावचाः पदार्था भवन्तीति गार्ग्यः। [तद्य एषु पदार्थः प्राहुरिमे तम्। नामाख्यातयोरर्थविकरणम्। आ इत्यर्वागर्थे प्रपरा इत्यस्य प्रातिलोम्यम्। अभी इत्यस्याभिमुख्यम्, प्रति इत्येतस्य प्रातिलोम्यम्। अति, सु इति अभिपूजितार्थे निर्दुरित्येतयोः प्रातिलोम्यम्। न्यवेति विनिग्रहार्थीयौ, उदित्येतयोरनयोः प्रातिलोम्यम्। समित्येकीभावम् व्यपेत्ये तस्य प्रातिलोम्यम्। अन्विति सादृश्यापरभावम्। अपीति संसर्गम्। उपेत्युपजनम्। परीति सर्वतो भावम्। अधि इत्युपरि भावमैश्वर्यं वा। एवमुच्चावचानर्थान् प्राहुस्त उपेक्षितव्याः। (निरुक्त १।५)

पाणिनि व्याकरणे- तद्यथा- उदोऽनूर्ध्वकर्मणि। (अ० १। पा० ३ सू० २४) उपान्मन्त्रकरणे ॥२५॥ स्पर्धायामाङः ॥३१॥ अधेः प्रसहने ॥३३॥ आङ् उद्गमने ॥४०॥ वेः पादविहरणे ॥४१॥ सम्प्रतिभ्यामनाध्याने ॥४६॥ उपाद्यमः स्वकरणे ॥५६॥ अनुर्लक्षणे (अ० १। पा० ४। ॥८४) तृतीयार्थे ॥८५॥ हीने ॥८६॥ उपोऽधिके च। अपपरी वर्जने ॥८८॥ आङ्मर्यादावचने ॥८९॥ लक्षणेत्थंभूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्यनवः॥९०॥ अभिरभागे ॥९१॥ प्रतिः प्रतिनिधिप्रतिदानयोः ॥९२॥ अधिपरी अनर्थकौ ॥९३॥ सुः पूजायाम् ॥९४॥ अतिरतिक्रमणे च ॥९५॥ अपिः पदार्थसम्भावनान्ववसर्गगर्हासमुच्चयेषु॥ अधिरीश्वरे ॥९॥]

इसी प्रकार पतञ्जलिने समासप्रकरण में भी उपसर्गों के अनेक अर्थ प्रकट किये हैं, जैसे—

प्रादयः कार्थे ॥+॥ प्रादयः कार्थे समस्यन्त इति वक्तव्यम् प्रगत आचार्यः प्राचार्यः॥ प्रान्तेवासी, प्रपितामहः॥

स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा) की हिंदी पुस्तकें।

	मू.	डा०व्य०
१ ऋग्वेद-संहिता	५)	१)
२ यजुर्वेद-संहिता	३)	॥)
३ सामवेद (छप रहा है)	२)	॥)
४ अथर्ववेद।	३)	॥)
महाभारत आदिपर्व	६)	१।)
" सभापर्व	२॥)	॥।)
संस्कृतपाठमाला।	६॥)	॥।=)
वै. यज्ञसंस्था भाग १	१)	।)
अथर्ववेदका सुबोध भाष्य।		
१ प्रथम काण्ड सजिल्द	२)	॥)
२ द्वितीय काण्ड ,,	२)	॥)
३ तृतीय काण्ड ,,	२)	॥)
४ चतुर्थ काण्ड ,,	२)	॥)
५ पंचम काण्ड ,,	२)	॥)
६ षष्ठ काण्ड ,,	२)	॥)
७ सप्तम काण्ड ,,	२)	॥)
८ अष्टम काण्ड ,,	२)	॥)
९ नवम काण्ड ,,	२)	॥)
१० दशम काण्ड ,,	२)	॥)
११ एकादश काण्ड ,,	२)	॥)
१२ द्वादश काण्ड ,,	२)	॥)
१३ त्रयोदश काण्ड ,,	१)	॥)
१४ चतुर्दश काण्ड ,,	१)	॥)
१५ १५ से १८ तक ४ काण्ड	२॥)	॥)
छूत और अछूत।	१॥।)	॥)
भगवद्गीता (पुरुषार्थबोधिनी)	९)	१॥।)
महाभारतसमालोचना। (-२)	(१)	॥)
वेदस्वयंशिक्षक भा. (१-२-३)		॥।)
१ संध्योपासना।	१॥)	।-)
२ योगके आसन। (सचित्र)	२)	।≡)
३ ब्रह्मचर्य।	१)	।-)
४ सूर्यभेदन-व्यायाम (,,)	॥)	॥)
५ योगसाधनकी तैयारी।	।॥)	।)
यजु. अ. ३६ शांतिका उपाय	॥=)	≡)
शतपथबोधामृत।	।)	-)

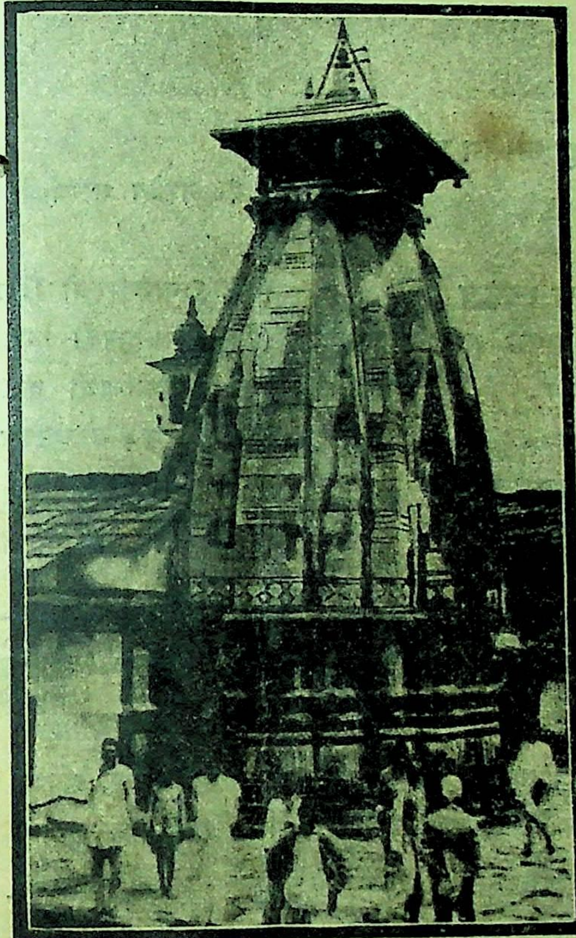
देवतापरिचय-ग्रंथमाला।		
१ रुद्रदेवतापरिचय	॥)	=)
२ ऋग्वेदमें रुद्रदेवता	॥=)	=)
३ देवताविचार	≡)	-)
४ अग्निविद्या	१॥)	।-)
बालकधर्मशिक्षा।		
१ प्रथम भाग	-)	-)
२ द्वितीय भाग।	=)	-)
३ वैदिक पाठमाला। प्रथम पुस्तक	≡)	-)
आगमनिबंधमाला।		
१ वैदिक राज्यपद्धति।	।)	-)
२ मानवी आयुष्य।	।)	-)
३ वैदिक सभ्यता।	।॥)	≡)
४ वैदिक चिकित्साशास्त्र।	।=)	-)
५ वैदिक स्वराज्यकी महिमा	॥)	=)
६ वैदिक सर्पविद्या।	॥)	=)
७ मृत्युको दूर करनेका उपाय।	॥)	=)
८ शिवसंकल्पका विजय।	॥)	=)
९ वेदमें चर्खा।	॥)	=)
१० वैदिक धर्मकी विशेषता	॥)	=)
११ तर्कसे वेदका अर्थ।	॥)	=)
११ वेदमें रोगजंतुशास्त्र।	≡)	-)
१३ वेदमें लोहेके कारखाने।	।-)	-)
१४ वेदमें कृषिविद्या।	≡)	-)
१५ ब्रह्मचर्यका विघ्न।	=)	-)
१६ इंद्रशक्तिका विकास।	॥)	-)
उपनिषद् माला। १ ईशोपनिषद्	१)	।-)
२ केन उपनिषद्।	१।)	।-)
१ वैदिक अध्यात्मविद्या	॥)	=)
२ गीता-लेखमाला १से७भाग	५॥)	१॥)
३ गीता-समीक्षा	=)	-)
४ यज्ञोपवीत संस्काररहस्य	१।)	॥)
५ भगवद्गीता (प्रथम भाग) (मायानन्दी भाष्य)	१)	॥)
६ भवतके भगवान्	॥)	=)
७ वेदोक्त प्रजननशास्त्र	≡)	-)

Regd. No. B. 1463

मुद्रक और प्रकाशक— व० श्री० सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध।

वैदिक धर्म ।

फर्वरी १९४०
पौष १९९६



उखीमठका मंदिर।

वैदिक धर्म ।

[मासिक पत्र]

संपादक
पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

सहसंपादक
पं० तडित्कान्तजी वेदालंकार

स्वाध्याय-मण्डल, औन्ध

वार्षिक मूल्य म. आ. से ५) रु. वी. पी. से ५॥) रु. विदेशके लिये ६॥) रु.

वर्ष २१] विषयानुक्रमणिका [अङ्क २

वैदिकधर्म

वर्ष २१ : : : : अङ्क २

पौष सं० १९९६

फर्वरी १९४०

सर्वाधार ईश्वर ।

यस्य शिरो वैश्वानरः । चक्षुरङ्गिरसोऽभवन् ।
अङ्गानि यस्य यातवः । स्कम्भं तं ब्रूहि ।
कतमः स्विदेव सः ।

[अथर्व० १०।७।१८]

" जिसका सिर वैश्वानर अग्नि है, जिसके चक्षु अङ्गिरस हुए हैं, जिसके अङ्ग और अवयव सब प्राणी हैं, उस ईश्वरको ' सबका आधार ' कह, वही पूर्ण आनन्दमय है । "

अग्नि, आप, वायु, पृथ्वी, सूर्य आदि जिसके मुखादि अवयव हैं, और प्राणिमात्र जिसके शरीरके अवयव हैं, वही ईश्वर सबका उपास्य है। (पृथ्वी पांव है, नदियां धमनियां हैं, अग्नि मुख है, वायु प्राण है, चन्द्रसूर्य आंखें हैं, द्युलोक मस्तक है, ब्राह्मण मुख है, क्षत्रिय बाहू है, वैश्य पेट है और शूद्र पांव है। इस प्रकारका सर्वभूतान्तरात्मा देव सबका उपास्य है।)

सामवेद की सूचियाँ।

सामवेदके विषयमें गताङ्कमें कुछ विवरण करनेके कारण ग्राहकोंसे कई पत्र आ गये हैं, जिनमें सामवेदके सम्बन्धमें कई प्रश्न पूछे हैं। इनके व्यक्तिशः उत्तर देना कठिन है, इसलिये यहां हमारे सामवेदग्रन्थका प्रारम्भसे वर्णन करते हैं।

१. इस सामवेद में प्रारम्भ में विस्तृत भूमिका है, जिसका भाषानुवाद गताङ्कमें दिया है, वही भूमिका का आशय है।

२. भूमिका के पश्चात् सामवेद का प्रारम्भ होता है। इस का नमूना यह है—

२३ १ २ ३१२ ३२ ३१२ १ २र ३१२

१ अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये। नि होता सत्सि बर्हिषि ॥१॥

(ऋग्वेदस्थान ६।१६।१०॥ सामवेदस्थान ६६०)

सामवेद का ऐसा बडा (टाइप) अक्षर है। ऊपर स्वरों के अङ्क हैं। सब से पहिले मन्त्रों का क्रमाङ्क है। इस तरह १८७५ अन्तिम क्रमाङ्क सामवेद में आया है। अर्थात् १८७५ मन्त्र सामवेदसंहिता में हैं। पूर्वार्चिक में ५८५ मन्त्र हैं, आरण्यककाण्ड में ५५ और महानाम्नी के १० मिलकर ६५० मन्त्र पूर्वार्ध में हैं। इस पूर्वार्चिक में प्रत्येक मन्त्र का एक एक स्वतंत्र सूक्त ही समझा जाता है और प्रत्येक मन्त्र के अलग अलग गान अनेक होते हैं।

सामवेद के उत्तरार्चिक में ६५१ से१८७५ तक के १२२५ मन्त्र हैं और इनके ४०० सूक्त हैं। प्रत्येक सूक्त में १, २, ३, ४, ऐसे १२ तक मन्त्र हैं। इस के मुद्रण में हमने ये सूक्त अलग अलग बताये हैं। कोई पाठक प्रत्येक सूक्त यहां अलग अलग देख सकता है। इसी तरह 'अध्याय-खण्ड-मन्त्र' तथा 'प्रपाठक-अर्धप्रपाठक-सूक्त-मन्त्र' की सब गणनाव्यवस्था प्रत्येक पृष्ठपर यथायोग्य दर्शायी है। यह २०० पृष्ठों में सामवेदसंहिता समाप्त हुई है।

इसके आगे सूचियां छपी हैं।

३. प्रथम सूची महानाम्नी मन्त्रों की है, इसमें वैदिक पठनक्रम के अनुसार सब मन्त्र दिये हैं।

४. द्वितीय सूची संक्षिप्त साममन्त्रों की है। पुनरुक्त मन्त्र संक्षेपसे पढे जाते हैं, जो संहितामें हमने संपूर्ण मन्त्र दिये हैं, अतः यहां वैदिक पाठानुसार संक्षेप दर्शाये हैं।

५. तीसरी सूची उन मन्त्रों की है कि जो ऋग्वेद में नहीं मिलते, ये कुल मन्त्र १०४ हैं, आरण्यक और महानाम्नी के २३ मन्त्र इस संख्या में मिलाये हैं।

६. चतुर्थ सूची ऋग्वेद के कौनसे मण्डलसे कौनसे मन्त्र लिये हैं, इन मन्त्रों की है। इसकी दो तालिकाएं हैं। आगे स्वतंत्र तालिकामें एक मंत्रके, दो मन्त्रोंके, तीन मंत्रोंके आदि प्रकार १२ मन्त्रों तक के सूक्त उत्तरार्चिक में किस प्रपाठकमें कितने हैं, यह दर्शाया है, तथा अध्यायमें सूक्त कितने हैं, यह भी इसके साथ दर्शाया है।

७. आगेकी विस्तृत सूचीमें कौनसे ऋग्वेदसूक्त से कितने मंत्र लिये हैं और वे सामवेदमें कहां हैं, इसकी तालिका है। आगे की तीन सूचियोंमें देवतासूची, गानसूची, आद्यक्षरानुसार मंत्रसंख्या और आग्नेयादि पर्वानुसार मंत्रसंख्या दर्शायी है। पश्चात् २५ से अधिक गान जिन मंत्रोंके हुए हैं, उनकी सूची है। तथा किस यज्ञमें कौनसे सामगान होते, इसकी भी एक विस्तृत सूची है।

८. यज्ञोंमें प्रत्येक दिन और दिनके प्रत्येक प्रहरमें कौनसे साम गाये जाते हैं, इसकी विस्तृत तालिका आगे है। इसके आगेपीछे इसी कार्यकी विस्तृत ४ सूचियां स्वतंत्र दी हैं।

९. आगे सामवेदके मंत्रोंकी वर्णानुक्रमसूची है, इसमें सामवेद के मंत्रका क्रमांक, प्रपाठकानुसार पता, और इस मंत्र से जो गान बने हैं, उनके गानग्रंथोंके पते दिये हैं। इस सूचीसे किस मंत्रसे कितने गान हुए हैं और वे कहां मिलेंगे, इसका ज्ञान होगा। इस एक सूचीने करीब ६० पृष्ठ लिये हैं।

१०. इसके आगे जैमिनीय शाखाके सामवेद के पाठ दिये हैं। इस तरह इस एक पुस्तक के लेनेसे कौथुमी, राणायणीय और जैमिनीय ऐसे तीनों सामवेद लेनेका श्रेय मिल सकता है।

इस सामवेदके प्रकाशित होने तक ही सहूलियत के मूल्यसे चारों वेद मिल सकते हैं।

ईश्वरसाक्षात्कार के लेखोंपर

"दो अंतिम शंकाएं"

(द्वादश लेख)

[१] पहिला पत्र

[प्रेषक- श्री० धर्मपालसिंह तेवितया, विद्यार्थी कक्षा १२, जाट कालेज, लखावटी, बुलन्दशहर]

दिसम्बर १९३९के 'वैदिक धर्म'में जो आपने मेरी शंकाओं का सविस्तर निराकरण किया है, उसके लिये मेरा हार्दिक धन्यवाद है। आप के उत्तरसे मेरा बहुत कुछ दूर तक समाधान हुआ है, किन्तु फिर भी आपद्वारा किये समाधान के आधार पर ही कुछ अन्तिम शंकाएं और शेष हैं। कृपया इनका भी विस्तारेण तथा सतर्क व सोदाहरण निराकरण कीजियेगा और आगामी अंकमें प्रकाशित करने की कृपा कीजायेगा। मैं उसके लिए आपका अत्यन्त कृतज्ञ रहूंगा-

पहली शंका।

द्वा सुपर्णा...। (ऋ० १।१६४।२०)
अजामेकां...। (श्वेता० उ० ४।५)

इन दो मन्त्रों की युक्तियुक्त संगति लगाकर अद्वैतवाद (सदैक्यवाद) परक व्याख्या कर दीजियेगा और पुण्यपाप-कर्म तथा सुखदुःख और ज्ञान-अज्ञान तथा बन्धनमोक्ष और पुनर्जन्म के सिद्धान्तोंको अद्वैतवाद में संगत करके घटा दीजियेगा। मुझको सदाचार की दृष्टिसे ईश्वर, जीव, प्रकृति तीनों भिन्न स्वरूप अनादि द्रव्य उपर्युक्त मन्त्रों में सिद्ध किये प्रतीत होते हैं, जैसा कि महर्षि दयानन्दजीने माना है। किन्तु आप अनादि द्रव्य एकही मानते हैं और जीव व प्रकृति को द्रव्य न मानकर गुण मानते हैं। मगर जीव व प्रकृति गुण कैसे हैं? द्रव्य क्यों नहीं हैं? क्या द्रव्य और गुण में कोई भेद नहीं? महर्षि कणाद व महर्षि दयानन्द ने द्रव्य और गुण में नित्य भेद माना है। द्रव्य गुण का भेद क्या कोई कल्पनाही है, यदि कल्पना ही है, तो ऐसी कल्पना भी क्यों है?

दूसरी शंका।

दिसम्बर १९३९ के 'वैदिक धर्म' में आप लिखते हैं—

त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत्। (श्वे० उ०)

"ये तीनों- अर्थात् ईश्वर-जीव-प्रकृति ये तीनों- जब मिल जाति हैं, तब उस मीलन से बननेवाली वस्तुको 'ब्रह्म' कहते हैं।" आप के उपर्युक्त अर्थ से यह तात्पर्य निकलता है कि जिस प्रकार जीव-प्रकृति ब्रह्मके अंश हैं, उसी प्रकार ब्रह्म का तीसरा अंश ईश्वर है और तीनों का योगफल ही ब्रह्मसत्ता है। किन्तु आप स्वयं ही ईश्वर व ब्रह्म शब्दों को पर्यायवाची के अर्थ में प्रयोग करते हैं। यह क्यों?

जब ईश्वरभाव, जीवभाव और प्रकृतिभाव ये तीनों भाव मिलकर एक ब्रह्मभाव को पैदा करते हैं, तो जिस प्रकार केवल जीवभाव वा केवल प्रकृतिभाव को पूर्ण ब्रह्मभाव नहीं कहा जा सकता, उसी प्रकार केवल ईश्वरभाव को (विना जीवभाव व प्रकृतिभावको साथ लिए हुए) पूर्ण ब्रह्मभाव कैसे कह सकते हैं? किन्तु आप स्वयं ब्रह्मके तीन भाव ईश्वर, जीव, प्रकृति बताते हैं और फिर ईश्वर के दो पहलू जीव प्रकृति को बता देते हैं और इस प्रकार आप एक बार ईश्वर को ब्रह्म का अंश बयान कर देते हैं और दूसरी बार ईश्वर को ब्रह्मका समानवाची मानते हैं। आप ऐसा क्यों कहते हैं?

यदि ब्रह्मके तीन नित्य भाव ईश्वर, जीव, प्रकृति हैं, तब तो ईश्वरभाव व ब्रह्मभाव का समानवाची कहना तर्कयुक्त व युक्तियुक्त नहीं कहा जा सकता और यदि ईश्वरभाव ब्रह्म का अंश न होकर ब्रह्म का समानवाची ही है, तो ब्रह्मके तीन भाव न होकर केवल जीव-प्रकृति दो ही भाव रह जाते हैं। उस अवस्था में "त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत्" का अर्थ आप का किया अर्थ नहीं ठहर सकता और उसका यह अर्थ होगा कि—

जब इस तीन के समुदाय (ईश्वर, जीव, प्रकृति) का ज्ञान प्राप्त हो जाता है, तभी इस ब्राह्म-कारण (ब्रह्म और उसके सम्बन्धी जीव व प्रकृति) का अर्थात् ब्रह्मचक्र वा संसारचक्र का ज्ञान हुआ कहा जाता है। यहां ब्राह्मम् के स्थान में ब्रह्मम् भी आर्ष प्रयोग है, न कि यहां केवल ब्रह्म शब्द है। आप ब्राह्मम् वा ब्रह्मम् शब्द के स्थान में केवल ब्रह्म शब्द मानकर अर्थ लगा रहे हैं।

ब्रह्मम् वा ब्राह्मम् शब्द यहां मानकर आप युक्तियुक्त तथा तर्कयुक्त और बुद्धिपूर्व अर्थ की संगति लगाकर दिखाने की महान् कृपा कीजियेगा। ब्रह्म के जड (प्रकृति) व चेतन (जीव) ये दो पहलू हैं, वा ईशता (प्रेरकता), जडता (भोग्य प्रकृति) और चेतनता (भोक्ता जीव) ये तीन पहलू हैं? यदि तीन पहलू हैं, तो ईशता ब्रह्मका एक पहलू है, न कि पूर्ण ब्रह्मत्व, क्योंकि सम्पूर्ण ब्रह्मत्व के अन्दर तो ईशता, जडता, चेतनता इत्यादि अनेक भाव हैं न कि केवल ईशता ही; अतः ईश्वरत्व और ब्रह्मत्व समानवाची शब्द नहीं मानने चाहिये। वरन् ईश्वर ही ईश्वर का अंश तथा अंशी दोनों ठहरता है, जो बात तर्कयुक्त नहीं कही जा सकती है। अबके आप कृपया मेरी इन दोनों शंकाओं का स्पष्टतया समूल नाश करने का अनुग्रह कीजिएगा।

संपादकीय उत्तर।

इस तरह की शंकाएं अनेक पाठकों से आयीं हैं, अतः इन शंकाओं का जितना हो सकता है, उतना समाधान करनेका यत्न करते हैं। परन्तु यहां इतना कहना चाहिए कि यदि किसीको विशेष शंकासमाधान की अपेक्षा हो, तो उनकी समक्ष बातचीत होगी, तोही ठीक हो सकता है, क्योंकि शब्द जड हैं, वे छपनेपर और अधिक जड हो जाते हैं। इसलिए इस विषय में जो सचमुच अधिक जाननेकी इच्छा करते हैं, वे समय निकालकर औंध में आवें और समक्ष बातचीत करें। अब उक्त शंकाओं का उत्तर यह है—

द्वैत के मन्त्र।

ऋग्वेद का 'द्वा सुपर्णा...... ।' (ऋ० १।१६४।२०) तथा श्वेताश्वतर उपनिषद् का 'अजामेकां...... ।' (श्वे० उ० ४।५) ये दोनों मन्त्र द्वैत का वर्णन करनेवाले निःसन्देह हैं। इसी तरह सर्वत्र द्वैत के वर्णनसेही प्रारम्भ किया जाता है, क्योंकि जिज्ञासु को द्वैतका अनुभव सदा रहता है। उस अनुभव से वेद और उपनिषदों के प्रारम्भ होते हैं। जिस सूक्तके 'द्वा सुपर्णा०' मन्त्र २० वां है, उसी सूक्त में ३९ वाँ मन्त्र यह है—

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्।
यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः॥
यस्तन्न वेद किं ऋचा करिष्यति।
य इत् तद्विदुस्त इमे समासते॥ (ऋ० १।१६४।३९)

"वेदमन्त्रों के प्रतिपादित परम अक्षर में सब देव रहते हैं, जो उस अक्षर को नहीं जानता, वह वेदमंत्र लेकर क्या करेगा? परन्तु जो उस (तत्) तत्त्व को जानते हैं, वे (सं-आसते) एक होकर बैठते हैं।"

यहां कहा है कि वेदमन्त्र में 'तत्' का प्रतिपादन है और यही एक वस्तु ज्ञेय-जाननेयोग्य है। उस एक वस्तुको जो नहीं जानते, उनके पास वेद रहे या न रहे, तो भी उसका तात्पर्य एक ही है। परन्तु जो उस एक वस्तुको जानते हैं वेही 'सं+आसते' (सं इत्येकी भावे, आसते) एक होकर बैठते हैं, एक बनकर रहते हैं। यहां वेद की ज्ञेय वस्तु एकही है, वही सबकी ज्ञेय है, उसीको जानना चाहिये और उसके जानने का फल 'सं' एक होना है। इसी एक वस्तु में सूर्यचन्द्रादि सब देव रहते हैं।

सत् एकही है।

यहां तीन ज्ञेय नहीं कहे; जो पहिले, बीसवें मन्त्रमें कहे थे, बीसवें मन्त्रसे यहां ३९ वे मन्त्र तक आते आते तीन वस्तुओं के ज्ञेयत्व से छुट्टी होकर, ज्ञेय एकही रह गया है। अब आगे जाईये, आगे ४६ वां मन्त्र देखिये—

इन्द्रं मित्रं वरुणं अग्निं आहुः।
अथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्॥
'एकं सत्' विप्रा बहुधा वदन्ति।
अग्निं यमं मातरिश्वानं आहुः॥ (ऋ० १।१६४।४६)

"(एकं सत्) एकही सत् तत्त्व है, जिसको ज्ञानी अग्नि, इन्द्र, मित्र, वरुण, दिव्य, सुपर्ण, यम, मातरिश्वा कहते हैं।"

'सत् एकही है' यह इसका मुख्य भाग है । एकही सत् के 'अग्नि, इन्द्र, यम, वायु' आदि रूप हैं, जैसे जलके 'भांप-जल-बर्फ' रूप होते हैं । सत् एकही है, उसी एक सत् के ये सब रूप हैं । यहाँ तीन सत् नहीं हैं । तीन सत् मानने के लिये कोई आधारही नहीं । यद्यपि बालबुद्धियों को समझाने के लिये 'द्वा सुपर्णा०' आदि प्रकार आरंभ किया था, तथापि आगे चलकर तीन सत् न कहते हुए 'एकही सत् है' ऐसा स्पष्ट कहा ।

वैदिक रीति ।

यह बात यहीं है ऐसा नहीं, सर्वत्र ऐसीहि व्यवस्था है । ईशोपनिषद् में 'यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मा एव अभूत् विजानतः । (ईश ७/वा० यजु० ४०।७) इस सातवें मन्त्र तक द्वैत का ही वर्णन है, पर जिज्ञासूको इस सातवे मन्त्रने समझा दिया कि "सब भूत आत्मा ही हैं ।" और ऐसा समझाकर एकत्व पर जिज्ञासु की बुद्धि को स्थिर किया । 'सर्वाणि भूतानि आत्मा एव' इसका अर्थ और क्या हो सकता है ? शब्दों को तोड-मरोडकर जो अर्थ किया जायगा, वह मन्त्रों का अर्थ नहीं होगा, वह तो उस मनुष्य का अर्थ होगा ।

इसलिये 'द्वा सुपर्णा०' तथा 'अजामेकां०' के अर्थ अद्वैतपर लगा दो, ऐसा कहना आपके लिये योग्य नहीं है, वेदमें द्वैतवाचक मन्त्र नहीं हैं, ऐसा जो कहेंगे उनको ऐसा कहना उचित है । वह पक्ष हमारा नहीं है । वेद और उपनिषदोंमें द्वैतप्रतिपादक मन्त्र हैं, परन्तु वे सिद्धान्त-मन्त्र नहीं हैं । सिद्धान्त तो अद्वैतवाले मंत्र हैं, क्योंकि द्वैतके प्रतिपादक सब मन्त्र उसी अद्वैतसिद्धान्त तक ही पहुंचा देते हैं ।

हमारा भी कई वर्षपूर्व ऐसा ही ख्याल था कि वेद में द्वैत का ही प्रतिपादन है, परंतु वेदको पढते रहनेसे वह ख्याल ठीक नहीं था, ऐसा अब हमें स्पष्ट प्रतीत हुआ । अद्वैत, निर्द्वन्द्व अथवा सदेकत्ववाद स्वीकारने से हि वेदके सूक्तोंकी संगति ठीक लगती है, यह हमारा अनुभव है । और यह बात गत ५० वर्षोंके निरन्तर किये अध्ययनसे हमारे समझ में अब आ गयी है ।

हमारा अधिकार ।

'द्वा सुपर्णा०' और 'अजामेकां०' ऐसे मन्त्रोंको सदेकत्ववादपरक लगाना अयोग्य है, क्योंकि ये तो निःसंदेह द्वैतप्रतिपादक है । द्वैतप्रतिपादक वर्णन किस अवस्थाका है और अद्वैतप्रतिपादक वर्णन किस अवस्था का है, यह जाननेसे 'इन मन्त्रोंको अद्वैतपरक लगाकर बताओ' ऐसा कहने की आवश्यकता नहीं रहेगी । संपूर्ण वेदमंत्रों को अद्वैत या द्वैतपरक लगाने का ठेका लेना अयोग्य है । यह तो वेदपर हुकुमत करना है, यह हमारा अधिकार नहीं है । वेद पढना, समझना और उसके उपदेश को अपनाना इतना ही हमारा अधिकार है ।

द्वन्द्वकी व्यवस्था ।

आपने आगे पूछा है कि 'पुनर्जन्म तथा बन्धमोक्ष की व्यवस्था लगाकर बताओ,' इस विषय में हमने कई बार पूर्व लेखोंमें कहा ही है, ये दोनों विषय इस लेखमालामें आगे बताये जायंगे । क्योंकि ये विस्तार से बताने से हीं समझ में आ सकते हैं ।

सुखदुःखादि विषय मनुष्य की मन की अवस्थापर अवलंबित हैं । कोई मनुष्य बडी सर्दीमें भी आनंदसे नंगा रहता है और दूसरा अनेक कोट पहन कर भी सर्दीसे दुःखी रहता है । इसका विचार करनेपर इस तरहके सुखदुःख भ्रामक हैं, ऐसा सहज दिखाई देगा। इस कारण सुखदुःखका विचार महत्त्व का नहीं है, इसी तरह अन्यान्य द्वन्द्वों के विषय में समझना उचित है ।

आपने सदाचार के विषय में विवरण करने को कहा है, तो सदाचार वही है कि जो 'सबका आत्मा एक है' ऐसा माननेपर योग्य आचार हो सकता है, देखिये पूंजीपति अपने पैसे के बलसे धान्यादि खरीद कर उस को अपने अधीन रखते और गरीबोंको वंचित रखते हैं । निःसंदेह यह पाप है, क्योंकि सब का आत्मा एक है और सब वस्तुएं सब के लिये निर्माण हुई हैं, अतः सब वस्तुओंपर सब का सांजा अधिकार है । उसमेंसे एक मनुष्य धनादि के बल से बहुत वस्तुओंपर अपना अधिकार स्थापित करे और दूसरों को वंचित रखे, यह घातक तो है ही, परन्तु यह पाप उसका अपना भी घात करनेवाला है । किसी न

किसी तरह धनियोंका भी घात होगा ही, क्योंकि सब मिलकर तत्त्व एक हि है और एक के सुखदुःख का सबपर असर होना ही है। यही विश्वमें देखिये, सर्वत्र यही प्रतिक्रिया हो रही है। यदि 'सबका आत्मा एक है और दूसरों का घात करनेका परिणाम अपने घात में होगा,' यह तत्त्वज्ञान जनताको सीखाया जायगा, तब जाकर मनुष्यों का आचार सुधरेगा। जबतक प्रत्येक मनुष्य विभिन्न है, यह भेद का तत्त्वज्ञान रहेगा, तबतक एक दूसरे को खाता ही रहेगा। इसीसे हिंसा बढती जायगी।

जब मैं अन्योंसे सर्वथा विभिन्न हूं, तब तो मैं अपनी शक्तिसे बढूंगा, शक्तिमान् होकर दूसरों को लूटकर समर्थ बनूंगा, आज मैंने यह कमाया, कल वह कमाऊंगा, मैं समर्थ हूं, दूसरे मेरे गुलाम हैं, ये सब भाव द्वैत के हैं, ये ही भाव इस समय सर्वत्र कार्य कर रहे हैं। इनका ही परिणाम विविध झगडे हैं।

वस्तुतः भारत को गुलाम करनेवाले अंग्रेज इसी गुलाम करनेवाली उनकी कृतिसे ही अन्य रीतिसे स्वयं गुलाम हो रहे हैं, यह यदि वे जान सकेंगे और यदि 'सब जीवों का आत्मा एक है,' यह वैदिक तत्त्वज्ञान उनके समझमें आ जायगा, तब तो भारतदेशको अपना उपास्य देव- ईश्वरका रूप मानकर इसकी सेवा निष्कामभावसे वे करेंगे, और उस अवस्थामें यह देश भी उनकी वैसी ही उपासना करेगा और दोनों देश सुखी होंगे। परन्तु आज दोनों देश एक दूसरेको खानेका भाव धारण करते हैं, क्योंकि 'सदेकत्ववाद' कहां है?

पूंजीपति और मजूरों के झगडे क्यों हो रहे हैं, राजा प्रजा क्यों लड रहे हैं, देशदेश में झगडे क्यों हैं, हिंदुओं को मुसलमीन क्यों पीट रहे हैं, सबका एक ही उत्तर है, सब समझते हैं कि मैं अन्योंसे भिन्न हूं और दूसरों को खाकर मैं पुष्ट हो जाऊंगा। परन्तु दूसरोंको खानेवाला प्रतिक्रिया (Reaction) से स्वयं दूसरोंके द्वारा खाया जाता है। यही वेदने समझा देनेका यत्न किया है कि, 'सबका एक ही जीवन है, यह समझकर बर्ताव करो।'

सदाचार परिपूर्ण तब हो सकता है, जब 'सबका आत्मा एक ही है' यह सबको समझेगा, 'सदेकत्ववाद' ही सत्यसदाचार का मूल है। इसीलिये 'द्वितीया द्वै भयं भवति' दूसरे से भय होता है, ऐसा उपनिषदोंने कहा है। एक भी उपनिषद् ऐसा नहीं है कि जो द्वैतवाद की सिद्धि कर सकता हो। द्वैतसिद्धान्त न वेदमें और नाहि उपनिषदों में माना है, इन माननीय ग्रंथोंमें सर्वत्र अद्वैतसिद्धान्त ही सिद्ध किया है। सर्वत्र द्वैत से प्रारम्भ कर अन्त में अद्वैत सिद्ध किया है।

तीनोंका मिलन।

द्रव्य, गुण आदि भेदों के विषयमें जो शंका लिखी गई है उस का कारण 'तीन पदार्थोंका मीलन' क्या है, यह समझ में नहीं आया, यही है। कृपा करके यह इस दृष्टिसे मनमें स्थिर करिये-

आप अपने सामने आम रखिये। वह हाथ में लीजिये। हाथसे उसका बोझ, आकार और कठिनता का अनुभव होगा। आमका यह एक रूप है। पश्चात् उसको खाईये, तब उसकी मीठास और खुश्बू का अनुभव होगा, यह अनुभव जिह्वा तथा नासिकासे हुआ। यह दूसरा अनुभव है। ये दो अनुभव विभिन्न हैं, कदापि एक नहीं हैं। एकही आमके ये दो अनुभव हैं, इन दोनों की एकरूपता आम में होती है। यहां बोझ, मिठास और आम ये कल्पना में तीन रहनेपर भी वस्तुरूप में एकही वस्तु है। इसी तरह काठिन्य आदि पृथ्वीरूप प्रकृतिभाव, चलनवलनादि जीवभाव, ये दो भाव वैसे ही परमेश्वर के रूपमें एकत्र मिलते हैं,-

त्रयं यदा विन्दते, ब्रह्मं एतत्।

तीनों जब मिलते हैं तब वह ब्रह्म कहलाता है। इसका भाव यह है। एकही वस्तु के ये तीन भाव हैं। हरएक वस्तु के ऐसे ही तीन भाव होते हैं। परन्तु वस्तु एकही होती है। ऊपर आम के दृष्टान्त में देखिये।

पाठकोंका प्रकृति-जीव-ईश्वर ये सर्वथा विभिन्न हैं, ऐसा जो एक अवैदिक भाव हुआ है, उस कारण ये सब शंकाएं उपस्थित होतीं हैं। घनता-मीठास-आम ये तीन भाव अलग मान लिये या एक स्थान में मान लिये, तो भी आम नाम की वस्तु एकही है, इसमें संदेह नहीं, इसी तरह जो 'ब्रह्म' नामक एक वस्तु है, उसमें घनत्व, गतिमत्व, आनन्दरूपत्व ये भाव भिन्न दीखनेपर भी ये एक ही वस्तु में हैं, जिसको ब्रह्म कहा जाता है।

पाठकों का जो कहना और मानना है कि पृथिव्यादि पांच भूत परस्पर पृथक् हैं, मनबुद्ध्यादि पृथक् हैं, जीवात्माएं पृथक् हैं, यह सब दार्शनिकों की कल्पनाओं के आविष्कार हैं। वेदोपनिषदों का सत्य सिद्धांत यही है कि आकाशवत् व्यापक एकही आत्मतत्त्व सत्य है और उसी के ये विभिन्न भाव हमारी इंद्रियों की अपूर्णता के कारण हमें दीख रहे हैं। यदि किसी युक्तिसे मनुष्य को ऐसा इंद्रिय मिल जाय, कि जिससे सम्पूर्ण ब्रह्म का अनुभव हो जाय, तब तो ये कोई भाव नहीं दीखेंगे, परन्तु केवल शुद्ध ब्रह्महीं दिखाई देगा। वेदमन्त्र इसी परम तत्त्व को युक्तिसे समझा रहे हैं, परन्तु मनुष्य पूर्वग्रहदोषके कारण समझने के लिये तैयार नहीं होते।

अर्थात् प्रकृति-जीव-ईश्वर ये तीन भाव एकही वस्तुपर अनुभूत हुए हैं, ये तीन भिन्न वस्तुएं नहीं हैं, जो एक बनती हैं और फिर विभक्त भी होती हैं। प्रकृति-जीव-ईश्वर की खिचडी ब्रह्म नहीं है और नाही घरसे ईंटें, चूना, लकडी अलग निकाली जाती है, वैसे ये अलग अलग होते हैं और फिर मिलते भी हैं। सहस्रों जेवरों में जेवर का भाव होते हुए जैसा सोनेपन का भाव अखण्ड स्थिर रहता है, जेवरपन में हेरफेर होनेपर भी सुवर्ण-भाव जैसा सर्वदा एकसा स्थिर रहता है, इसी तरह प्रकृति-जीव-ईश्वर-भाव तथा विश्वभाव होते हुए ब्रह्मभाव समानतया सदा स्थिर रहता है।

उपनिषद् के 'त्रयं यदा विन्दते' इस में 'विन्दते' पद से भिन्न वस्तुओंका मिलना न समझना। एक वस्तुपर भिन्न भाव देखना और भिन्न भावोंके आश्रयकी एक वस्तु देखना यह 'न विन्दते' और 'विन्दते' का क्रमशः आशय है।

'योगफल' का अर्थ यदि तीन स्थानसे तीन वस्तुओं का आना और उनका मिलना है, तब तो वह बात नितान्त अशुद्ध है। मनुष्य के चारों ओर से चार फोटो लिये, तो वह मनुष्य पहचाना जाता है, परन्तु चारों फोटो परस्पर पृथक् होते हैं, ये चारों एक ही मानवमें मिलते हैं, क्योंकि मानवमें वे चारों भाव पहिले से ही रहते हैं। इसी तरह प्रकृति-जीव-ईश्वर ये ब्रह्म के तीन फोटू हैं, जो तीनों भाव ब्रह्ममें पहिलेसे ही हैं और कभी पृथक् नहीं होते। ये उसी 'सत्' के ही रूप हैं जो सत् में ही सदा रहते हैं।

'ब्रह्म' शब्द के स्थानपर 'ब्राह्म' शब्द मानना यदि योग्य है तब तो अर्थका अनर्थ और कौनसा होगा? यदि यही वेद और उपनिषदोंपर श्रद्धा है, तब तो उनका वैर और कौनसा हो सकता है? शब्दों की हेरफेर, तोडमरोड न करते हुए जो अर्थ होगा, वही वेदका सत्य अर्थ होगा।

ईश्वर और ब्रह्म शब्द समानार्थक नहीं हैं। ब्रह्म नाम 'प्रकृति-जीव-ईश्वर' भाव जिसमें लीन होते हैं, उस 'सत्' तत्त्व का है। इसीको 'ब्रह्म, सत्, तत्, आत्मा' कहते हैं। ईश्वर नाम जीव की अपेक्षासे सापेक्ष है। कभी कभी ब्रह्म, परमात्मा, आत्मा, ईश्वर ये शब्द पर्याय करके बर्ते जाते हैं, परन्तु वह असावधानता ही है। ठीक रीतिसे देखा जाय, तो उस 'सत्' के लिये 'ब्रह्म' शब्द ही लगाना चाहिये।

इन शब्दों के प्रयोगों में हमसे भी अनेक वार असावधानी हो जाती है, यह स० धर्मपालसिंहजी का आक्षेप ठीक है। आगे सावधानी रखी जायगी। परंतु यह गडबड बहुत प्राचीन समय से चली आती है, तथापि उस कारण वह योग्य है ऐसा हम नहीं कहेंगे।

संभव है इतने विवरणसे यह विषय कुछ समझने योग्य हुआ होगा। वस्तुतः उक्त पत्र में इतने प्रश्न पूछे गये हैं कि प्रत्येक का विस्तार से उत्तर देने के लिये २०० पृष्ठ लिखने पडेंगे। परन्तु इनके उत्तर पूर्व लेखोंमें भी कुछ आ गये हैं, इसलिये कुछ शंकाओं का विचार यहां किया है।

इसी तरह और एक माननीय सज्जन का पत्र यहां देते हैं—

[२] दूसरा पत्र।

निवेदन है कि मेरी शंकाओं के समाधान में जो वैदिक धर्म दिसम्बर १९३९ के सफे ७८८ से ७९२ में श्वेताश्वतर उ० के प्रमाण (त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत्) से श्रीमान् ने यह दर्शाया है कि "जब तीनों अर्थात् ईश्वर, जीव और प्रकृति मिल जाते हैं, तब उस मीलन से बननेवाली वस्तु को ब्रह्म कहते हैं।" इस मन्त्रमें 'विन्दते'का अर्थ और भाव श्रीमान् ने एक हो जाना माना है, पर इस मन्त्र का अर्थ स्व० पं० तुलसीराम स्वामीजी, मेरठ, ने इस प्रकार किया है।

(ईशाऽनीशौ) समर्थ और असमर्थ (ज्ञाऽज्ञौ) सर्वज्ञ और अल्पज्ञ (अजौ) अजन्मा (द्वौ) दो हैं (हि) निश्चय (एका) एक (अजा) न जन्मनेवाली (भोक्तृ भोगार्थयुक्ता) भोक्ता, भोग और अर्थों से युक्त होनेवाली है (च) और (अनन्त) अनन्त (आत्मा) परमात्मा (विश्वरूपः) संसार को बनाता है (हि) तथापि (अकर्ता) कर्ता नहीं (यदा) जब कि (एतत्) इस (त्रयम्) तीन के समुदाय (ब्रह्मम्) ब्रह्मसम्बन्धी को (विन्दते) प्राप्त होता है। [तभी कारणका ज्ञान होता है।]

उपरोक्त अर्थ में शब्दों की खींचातानी भी प्रतीत नहीं होती, इसके अतिरिक्त इसी अर्थ और भाव की पुष्टि इसके आगे का दशवां तथा ग्यारहवां मन्त्र भी करता है और इन तीनों मन्त्रों का संहार बारहवें मन्त्र में इस प्रकार है-

एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नातः परं वेदितव्यं हि किञ्चित्। भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत् ॥

इस मन्त्र का अर्थ और भाव यही दर्शाता है, कि जीवात्मा, प्रकृति और नियन्ताको जानकर इससे आगे कुछ जानने को शेष नहीं रहता, यह सब तीन प्रकार का ब्रह्म-सम्बन्धी कारणत्रय है। इसके आगे १३-१६ वें मन्त्र में अग्नि, तिल, दुग्ध, दधि और झरने के दृष्टान्तोंसे परमात्मा का सर्वव्यापक होनेपर भी विना उपाय प्राप्त न हो सकना वर्णन किया गया है।

इस उपनिषद् के प्रथम मन्त्र (किं कारणं ब्रह्म) के प्रश्न का उत्तर इस प्रथम अध्याय के १६ मन्त्रों में समाप्त होता है, जिसका सार यही है कि ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों ही कारण ब्रह्म हैं, अर्थात् इनमेंसे यदि एक भी न हो, तो संसार की रचना असम्भव हो जावे; यथा ईश प्रकृति से ही संसार की रचना करता और कर सकता है और जिसका प्रयोजन जीवोंका भोग और मोक्ष है और हो सकता है। शास्त्रकारों ने प्रत्येक कार्य के चार अवयव होने अनिवार्य बताये हैं, यथा—

सिद्धार्थं सिद्धसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्तते।
शास्त्रादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः स प्रयोजनः॥

(विषय, प्रयोजन, अधिकारी, और सम्बन्ध।) इससे भी सिद्ध होता है कि सृष्टिरचना जीवों के अनादि अस्तित्व से ही सप्रयोजनीय हो सकती है। अद्वैत की पुष्टि में श्रीमानने दो दृष्टांत एक पहाडपर चढने व उतरनेवाले दो पथिकों का, दूसरा मिश्री के डले का जो दिया है, मेरी समझ में इनसे अद्वैत की पुष्टि नहीं होती, क्योंकि पहिला दृष्टांत केवल देशकालभेद की अवस्था का और दूसरा इन्द्रियों का केवल अपने अपने विषय के ग्राहक होने का सूचक है। इन दृष्टान्तों से यह कहां सिद्ध होता है कि, ईश, जीव और प्रकृति एक थे और एक हो जावेंगे।

रही यह बात कि, वेदोंमें द्वैत और अद्वैत के पर्याप्त मंत्र हैं, उनमें अद्वैतके ही मन्त्र सार हैं, सो इस विचार का निर्णय करे कौन? वेदोंको केवल श्रद्धाकी दृष्टिसे देखने-वाला या श्रद्धा और मेधा दोनों दृष्टियोंसे देखनेवाला, यह निश्चय है कि केवल श्रद्धाके आश्रयसे अंधपरंपरा और केवल मेधा (तर्क, बुद्धि) के आश्रय से नास्तिकता का जन्म हो जाता है, इस लिये दोनों का साथ साथ रहना कल्याणकारक है। द्वैत और अद्वैत के विषय में श्रद्धा और तर्क के आश्रयसे जो निर्णय प्रातःस्मरणीय पूज्य ऋषि दयानन्दजी ने किया है, वह मेरे विचार में सर्वोत्तम और अनुकरणीय है।

संस्कृतके विद्वान् वेदमन्त्रोंके शब्दार्थोंपर भले ही अपने अपने विचारानुकूल माथापच्ची करते रहें, यह उनके लिये शायद शोभा दे तो दे, पर मुझ ऐसे भाषा भाषियोंको उन से क्या लाभ? हां यदि वेद या अन्य स्थानके वाक्य (उपदेश) बुद्धिसे भी समझा दिये जावें, तो उनको सहर्ष धन्यवाद के साथ सभी ग्रहण करेंगे ही। वेद भी तो यही आज्ञा देते हैं-

अग्नये समिधमाहार्षं बृहते जातवेदसे।
स मे श्रद्धां च मेधां च जातवेदाः प्रयच्छतु ॥
(अथर्व० १९।६४।१)

इस मन्त्र में श्रद्धा और मेधा की प्राप्तिके लिये साथ साथ याचना है। श्रद्धा और मेधा होने पर भी आवश्यकता है निष्काम भाव से भक्ति अर्थात् आत्मसमर्पण की।

त्वां जना ममसत्येषु इन्द्र, सन्तस्थाना वि ह्वयन्ते समीके। अत्रा युजं कृणुते यो हविष्मान् नासुन्वता सख्यं वष्टि शूरः (ऋ० १०।४२।४, (अथ० २०।८९।४)

भावार्थ– ईशविषय में अपने अपने पक्षों में झगडनेवालों में वह प्रभु उसी को प्राप्त होता है, जो बलिदान (आत्मसमर्पण) के लिये सदा तैय्यार रहते हैं, औरों को नहीं।

कहा जाता है कि वेदोंपर केवल श्रद्धा रखनेवाले कुछ संस्कृत के विद्वानों ने पूज्य बौद्ध महाराज से कहा कि वेदों में हिंसा के पर्याप्त मन्त्र हैं, इस पर और कुछ न कहे; उस अहिंसा के पुजारी ने यही नम्र निवेदन किया कि यदि वेदोंमें हिंसा है तो मैं ऐसे वेदोंको नहीं मानता। ईश्वर न करे कि आज दिन (जब कि विज्ञान का प्रवाह उमड रहा है) भी किसीको यह कहने का साहस हो कि यदि वेदमंत्र तर्क (बुद्धि) की तराजू (धारा) पर नहीं तौले जा सकते, तो ऐसे वेदोंको मैं नहीं मानता। उपरोक्त निज हृदयभावों के लिखनेका यही प्रयोजन है कि श्रीमान् जी यदि अपना अमूल्य समय इस जिज्ञासु के शंकाओं का समाधान तर्क से भी करने का अनुग्रह करते, तो संभव है कि इस प्यासे की भी प्यास बुझ जाती। शमित्योम्।

कृपाकांक्षी
रामनारायण सिंह ग्राम–वांसी
पो० कटावा, सुलतानपूर (अवध).

संपादकीय उत्तर।

श्री रामनारायणसिंहजी का तर्कद्वारा समाधान करने की शक्ति 'वैदिक धर्म' के सम्पादक के पास नहीं है। यह पहिले भी कहा गया था और यहां भी पुनः कहा जाता है। जितना इस विषयपर लिखा गया है और जितने मन्त्रों के प्रमाण दिये हैं, उतने ईश्वर के विश्वरूप का ज्ञान यथावत् होनेके लिये पर्याप्त हैं, तथापि यदि कोई सज्जन उन प्रमाणों को न स्वीकारता हुआ, तर्क करना चाहे, तो वह यथेच्छ तर्क करता रहे।

अर्थ का अनर्थ।

ऊपर पं० तुलसीरामजी का अर्थ श्री रामनारायणजीने दिया है और उसमें खींचातानी नहीं है, ऐसा सार्टिफिकेट भी साथ दिया है। हमें उस अर्थ में बहुत खींचातानी दीख रही है, जैसा देखिये—

(१) 'अनन्तः आत्मा विश्वरूपः' = इसका अर्थ 'अनन्त परमात्मा संसार को बनाता है' ऐसा ऊपर दिया है। यह खींचातानी ही है। इसका अर्थ 'अनन्त आत्मा विश्वरूपी है' ऐसा होता है। आत्मा अनन्त अर्थात् अन्तरहित, विनाशरहित है और वही विश्वरूपी है अर्थात् उसका रूप विश्वका रूपही हैं, जो इस विश्व का–संसारका–रूप दीखता है, वह उसी अनन्त आत्मा का रूप है। यह भाव छोडकर पं० तुलसीरामस्वामीने उक्त प्रकार अर्थ करके उपनिषद् के सत्यसिद्धांत को बिगाडा है, क्योंकि अपने मनकी बात सिद्ध करना उनकी अभिलाषा थी। अपने मतलब के लिये उपनिषद् के वचन की खींचातानी करना पाप है और वह ऊपरके अर्थमें पं० तुलसीरामजीने किया था। श्री रामनाराणजी को यह अर्थ पसंद है, हम उन को क्या कहें? जो संस्कृत-व्याकरण जानता होगा, उसके साथ ही खींचातानी के सम्बन्धमें बातचीत हो सकती है। केवल भाषाभाषी खींचातानी के विषय में सारटिफिकीट देने लगे, तो उस स्थानमें संस्कृत जाननेवालों को चुपही रहना चाहिये।

(२) 'एतत् त्रयं ब्रह्म विन्दते' = इसका अर्थ 'इस तीन के समुदाय ब्रह्मसम्बन्धी को प्राप्त होता है, तभी कारण का ज्ञान होता है।' ऐसा पं० तुलसीरामजी करते हैं, ऐसा ऊपर आपने लिखा है। इस अर्थमें भी आधेसे अधिक शब्द मनसे लिये गये हैं। इसका शब्दार्थ "यह त्रिविध ब्रह्म होता है" इतनाही है। यह उपनिषद् का वचन स्पष्टही है देखिये– "त्रयं यदा विन्दते, ब्रह्मं एतत्" = 'तीन जब मिलते हैं, ब्रह्म वह होता है।' उपनिषद् इतना स्पष्ट रीतिसे कहता है, उसके शब्द आगेपीछे करके खींचातानी करना यह उनका अधिकार है, जो उपनिषत्कार ऋषियोंसे अपने आपको अधिक उच्च ज्ञानी समझते हैं। हममें उतना अधिकार नहीं है।

श्री रामनारायणजी भी उक्त पं० तुलसीरामजीके अर्थ को खींचातानी से रहित मान रहे हैं। यदि वे 'त्रयं यदा विन्दते, ब्रह्मं एतत्' ये पद बार बार अपने मनमेंहि दुहराते रहेंगे, तो सम्भव है कि विशेष तर्क के विनाही ऋषियों का अर्थ उनके मनमें कभी न कभी स्फुरित हो जायगा। इस वचनके विषयमें पहिले उत्तरमें लिखा ही है।

(३) आगे जाकर आपने उपनिषद् का एक मन्त्र दिया है, उस मन्त्रके अन्तिम चरण की ओर हम उन का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं। वह चरण यह है- 'सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्मं एतत्'='सब कहा गया त्रिविध ब्रह्म यही है,' यह उसका अर्थ है। तीनों भाव एक ही ब्रह्मके हैं, यह यहां स्पष्ट हुआ है। जैसे भांप-पानी-बर्फ यह त्रिविध जल ही है, ठीक इस तरह परमात्मा-आत्मा-प्रकृति यह त्रिविध ब्रह्महि है। उक्त उपनिषद् के शब्द कृपा करके पाठक देखें।

इन तीनों वचनों से तीनों स्वरूपतः एकही ब्रह्म के तीन रूप हैं, यह सिद्ध हुआ है। शेष जो आपने लिखा है उसके साथ हमारा विरोध नहीं है। श्री० रामनारायणजी वेद-वचनोंपर श्रद्धा रखनेवाले हैं, अतः निम्नलिखित वेदवचन उनके मनन के लिए उनके सामने रखते हैं।

एकके अनेक।

१. पुरुष एवेदं सर्वम्। (ऋ० १०।९०।२)
२. एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्। (ऋ० ८।५८।२)
३. स्कंभ इदं सर्वम् (अ० १०।८।२)
४. एकं अंगं सहस्रधा अकृणोत्। (अ० १०।७।९)
५. प्रजापतिः बहुधा विजायते। (अ० १०।८।१३)

१. (पुरुषः) ईश्वर ही (इदं सर्वं) यह सब संसार, यह सब विश्व है; २ (एकं) एक ही ब्रह्म (इदं सर्वं) यह सब संसार, यह सब विश्व (वि बभूव) विशेष रीतिसे हुआ है; ३ (स्कंभः) सर्वाधार परमेश्वर ही (इदं सर्वं) यह सब है; ४ परमेश्वरने अपने एक (अंगं) अंगको (सहस्रधा) सहस्रों विभागोंमें विभक्त कर, यह सब विश्व निर्माण किया है, ५ (प्रजापतिः) ईश्वर ही (बहुधा) अनेक प्रकार से (विजायते) जन्म लेता है।

क्या ये मन्त्र स्पष्ट और असंदिग्ध नहीं हैं। उपनिषदों में तो ऐसे वचन सैंकडो हैं। इन वचनों को तोडमरोड कर और उनकी खींचातानी करके अलग अर्थ निकालना यह बडा भारी पाप है। जो यह पाप करते हैं, वे अपनी जिम्मेवारी का विचार करें।

केवल पं०तुलसीराम स्वामीजी अकेलेने ही ऐसी खींचातानी नहीं की है। प्रायः उपदेशक-वर्ग ऐसा ही करता आया है। प्रथम अपना एकमत निश्चित करना और उसकी सिद्धता वचनों की खींचातानी करके करनी, यह तो प्रथा चली आयी है। इसी कारण जनता की आध्यात्मिक उन्नति रुक गई है और झगडे बढते हैं।

श्री शंकराचार्य, मध्वाचार्य, रामानुजाचार्य और वल्लभाचार्य इनमें मध्वाचार्य द्वैतसंप्रदाय के आचार्य हैं। वे 'अभेद माननेवाले सब के सब लोग नरक में जायेंगे,' ऐसा कहते थे। इनका निश्चित सिद्धान्त 'जीव- ईश्वर का सनातन भेद है' यही है। इसकी सिद्धता करनेके लिये इन्होंने उपनिषदों के वचन ऐसे तोडेमरोडे और अर्थ का अनर्थ किया कि यह अनर्थ देखकर मानवी दुराग्रही बुद्धिका आश्चर्य करना पडता है। देखिये इनकी खींचातानी—

'तत् त्वं असि' यह छांदोग्य उपनिषद्का वचन है। इसका अर्थ= 'वह ब्रह्म तू है' ऐसा होता है। यह अद्वैतपरक अर्थ इन को पसंद नहीं, इसलिये इन्होंने इसके पद ऐसे बनाये - 'तत्त्वं असि'='तू तत्त्व है'। कैसी अद्भुत लीला है देखिये। दूसरी रीतिसे भी इन्होंने 'अतत् त्वं असि' अर्थात् 'ब्रह्म से भिन्न तू है।' यह भी वचन का वध ही है!!

इस तरह जो करनेवाले हों वे करते रहें। हमें तो वेद और उपनिषद् के वाक्य शिरोधार्य हैं। हम उनपर श्रद्धा रखते हैं, उनका अर्थ स्वीकार करते हैं और स्वीकार करने के पश्चात् तर्क अनुभव और युक्तिसे उनके भावको अपनाने का यत्न करते हैं।

श्री० रामनारायणजीने अन्तमें तर्कसे न सिद्ध होनेवाले वेद को अमाननीय ठहराने की बात कही है। यह तो उनका अधिकार ही होगा। हमारा नहीं। हम तो पहिले

वेदवचन को धर्म मानते हैं, उनका मनन पश्चात् करते हैं, उनको समझनेका यत्न करते हैं, समझमें न आया तो वारंवार मनन करते हैं, अनुभवी मनुष्योंसे पूछते हैं और हरप्रकार का यत्न करके वैदिक आशय को अपनानेका यत्न करते हैं।

वैज्ञानिक खोजसे हमें डर नहीं है, क्योंकि सभी बडे बडे वैज्ञानिक 'सत्तत्त्व एक ही है,' ऐसा मानते हैं। डर तो उनको है कि जो द्वैत माननेवाले हैं, क्योंकि 'द्वितीयाद्वै भयं भवति'। द्वैतसेहि आत्मा की आध्यात्मिक उन्नतिमें बाधा होती है। सबका मिलकर एकही जीवन है, ऐसा मानने से ही निर्भय होना संभव है।

आत्म-समर्पण।

आपने जो 'आत्मसमर्पण' शब्द का प्रयोग किया है उसका क्या अर्थ है? स्वार्थत्याग, आत्मसमर्पण ये शब्द आजकल बहुत बोले जाते हैं, हम भी इन का उपयोग करने का पाप करते हैं, परंतु क्या ये शब्द हमारे वेद और उपनिषदों के अनुसार योग्य हैं? नहीं, योग्य नहीं हैं। देखिये—

'स्वार्थत्याग'का अर्थ 'स्व+अर्थ+त्याग'= अपने आत्माके प्राशस्त्य अर्थ का त्याग, क्या यह कभी हमारे शास्त्रकारोंने माना है? कभी नहीं। आत्मोन्नति, आत्माके प्राशस्त्य जो अर्थ हैं, वे सब अपने पासहि करने के हैं, वे त्यागने के नहीं, वे त्यागे जांय, यह हमारे धर्म का आशय नहीं है। 'स्व' की मर्यादाकी वृद्धि करनी है, 'स्व' जो अपने शरीर की मर्यादा में है, वह विश्वव्यापी बनाना है। स्वका त्याग करना नहीं है, स्वार्थ की व्याप्ति का विस्तार करना है। Self-sacrifice यह विदेशी और विधर्मी कल्पना है। हमारे धर्ममें वह नहीं है। हमारे धर्ममें 'मैं ही विश्वव्यापक आत्मा हूं' इस एकात्मतत्त्व को जानना ही है। अपना आत्मा उस विश्वव्यापक आत्मा से विभिन्न नहीं है, इसलिये स्व-अर्थ-त्याग की आवश्यकता ही नहीं है। सर्वात्मभाव माननेपर जो आचरण होता है, वह स्वार्थत्याग से सहस्रों गुण अधिक उच्च है।

'आत्म-समर्पण' भी विभिन्न आत्माओं की उपस्थिति माननेपर की बात है। एक आत्मा दूसरों के लिये आत्मसमर्पण करे या न करे, इस प्रश्नकी उत्पत्ति अनेक विभिन्न आत्मा माननेपर होती है। एकात्मवादी धर्म में 'आत्मसमर्पण' का कुछ भी प्रयोजन नहीं रहता। सबका आत्मा जो व्यापक है, वही मेरा आत्मा है, अर्थात् सबोंका मिलकर एकही आत्मा है, ऐसा एकात्मवाद स्वीकार करने पर कौन किसके लिये आत्मसमर्पण करे और कौन किसके लिये स्वार्थत्याग करे? वैदिक सिद्धांत में आत्मसमर्पण और स्वार्थत्याग की भाषाही नहीं है। सबका सुखदुःख ही मेरा सुखदुःख है। सबका सांजाही सुखदुःख है। यहां अलग कोई नहीं रहा, फिर वहां 'परोपकार, स्वार्थत्याग, आत्मसमर्पण' यह तो अनाडियोंकी भाषा है अनाडी वैसी भाषा बोलते रहें। 'पर' न रहनेपर 'परोपकार' कहां रहेगा? इन शब्दों को हम भी बर्त रहे हैं। यह इसलिये कि आजकल इसकी रूढि पडी है, पर वैदिक धर्ममें ये शब्द ही नहीं है।

द्वैतियों की भाषा 'अनेक सत्' है, वह 'एकं सत्' माननेवालों की कभी नहीं हो सकती, पर किया क्या जाय? आज जैनी और बौद्धों के विचार जनताने अपनाये हैं और वैदिक धर्मसे जनता कोसों दूर गयी है। इसलिये अवैदिक विचार सर्वत्र बोले जाते हैं।

यदि किसीमें सचमुच जिज्ञासा है, तब तो वह वेदके वचनोंका स्वयं मनन करे और उनको समझनेका यत्न करे। यदि श्रीरामनारायणजी ईश्वरसाक्षात्कार के ग्यारहबारह लेखोंमें कुछ भी युक्ति नहीं दी और तर्क से सहायता बिलकुलही नहीं ली, ऐसा मानते हैं, तब तो हम यह मानने को तैयार हैं कि हम तर्कसे किसीको समझा नहीं सकते। यह उनकी कृपाही है कि आपने तर्क का भयानक स्वरूप अपने पत्रमें स्वयंहि दर्शाया है। और श्रद्धान्वित तर्क की प्रशंसा की है। अतः प्रार्थना यह है कि वे अपना श्रद्धान्वित तर्क वेद के प्रमाणों के आश्रयपर ही चलाते रहें।

वेदोदय।



[श्री आचार्य पं० नरदेव शास्त्रीजी, वेदतीर्थ]

[वेदोदय तभी होगा जब कि आर्य-पुरुष केवल कर्तव्यबुद्धिसे वेदों को पढ़ेंगे, सांसारिक हानि उठाकर भी उधरही दृष्टि रक्खेंगे]

जैसे सूर्य का कभी उदय नहीं होता और न अस्त होता है, किन्तु पृथिवी के परिभ्रमण के कारण सूर्य के उदय और अस्त का व्यवहार होता है, इसी प्रकार यदि वेदोंके माननेवाले तेजस्वी, विद्यावान्, बलवान् हुए या रहे तो वेदों का उदय समझना चाहिए। नहीं तो अस्त ही जानना चाहिए। इसी दृष्टि से वेदों को सर्व धर्मों का आदि स्रोत समझनेवाले समाज से हम पूछना चाहते हैं, कि वेदोदय हो रहा है कि वेदास्त?

यो जागार तमृचः कामयन्ते,
यो जागार तमु सामानि यन्ति।
यो जागार तमयं सोम आह,
तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः ॥

क्या तुम जाग रहे हो, जो ऋग्वेद की ऋचाएँ तुम्हारी ओर प्रसन्नतापूर्वक दौड़ कर आवे, क्या तुम ऐसा जाग रहे हो, जो साम तुम्हारी खोज में फिरता हुआ, तुम्हारे पास आवे। क्या तुम ऐसे सजग हो कि प्रातिभ ज्ञान तुम्हारी मित्रता में अपने को कृतकृत्य समझने लगे- यदि यह नहीं तो तुम्हारे लिए वेदास्त ही है- क्या तुमने अभीतक इस पवित्र तत्त्व को अनुभव नहीं किया कि—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्,
आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्,
तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति,
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ (यजु० ३१।१८)

आपने इस ऋचा का सहस्र सहस्र वार पाठ किया होगा पर क्या इस ऋचा में ओत-प्रोत तत्त्व को एक वार भी आभासमात्र से अनुभव किया, सच तो कहो—

वेदों के निगूढ तत्त्वों के विषय की बात तो दूर रहे, वेदों के सरल, सुन्दर भावपूर्ण शब्दों में तुमने कभी यह प्रार्थना भी की—

सत्यं च मे। श्रद्धा च मे।
जगच्च मे। धनं च मे।
विश्वं च मे। महश्च मे।
क्रीडा च मे। मोदश्च मे।
जातं च मे। जनिष्यमाणं च मे।
यज्ञेन कल्पन्ताम्। (यजु० १८-५)

सच्चे हृदय से, शुद्ध भाव से भगवान् के चरणों में बैठकर सम्मीलित रूप में एक स्वर से अर्थज्ञानपूर्वक प्रार्थना करते, तो आज संसार में तुम्हें किस बात की कमी रहती- तुम इस तरह क्यों गिडगिडाते फिरते, जैसे कि आज अपाहज की भान्ति गिडगिडाते फिरते हो।

वेदों के यथार्थ ज्ञान के विना, उनके अनुसार आचरण के विना आप के शब्दों को निरर्थक समझकर देवता भी नहीं सुनते, मनुष्य भी नहीं सुनते— फिर आपकी यह प्रार्थना कि—

शृणोति मित्रो अर्यमा भगो नः।
तुविजातो वरुणो दक्षो अंशः। (यजु० ३४-५४)

कहां चरितार्थ होगी और उसका फल क्या होगा।

जिसने संसारमें आकर शरीर की इन्द्रियोंके तत्त्व को नहीं जाना, ये क्यों उत्पन्न हुईं, ये कैसे बनीं, इसका संचालक कौन है, उसका जन्म ही व्यर्थ है। आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक दुःख और उनके प्रतिकार के उपायों को नहीं जाना, उसका जन्म व्यर्थ है- जिसने मनुष्यजन्म में आकर वेदों के तत्त्वों को नहीं जाना उसका जन्म ही व्यर्थ है।

जिन वेदों की वाणी को सबसे पहिले ऋषियों ने प्रकट किया, जिस सामध्वनि को यहां के ऋषियों ने सबसे पहिले यहां के तपोवनों में बैठक कर मधुर स्वर से किया, उन वेदों की महत्ता को समझने के लिए कुछ तो त

करना ही पडेगा, जिस वेदमन्त्र को सृष्टि की आदि में अग्नि, वायु, आदित्य, अङ्गिराने पढा था, उसी मन्त्र को मैं पढ रहा हूं, यह पवित्र भावना जिस वैदिक पुरुष के हृदय में नहीं आई, उसके लिए वेदोदय की बात कहना व्यर्थ ही है।

वेदोदय तभी होगा जब कि आर्यपुरुष केवल कर्तव्य-बुद्धिसे वेदों को पढेंगे, सांसारिक हानि उठाकर भी उधरही दृष्टि रक्खेंगे।

वैदिक पुरुषों के गृहों में जब प्रातःकाल "प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे" इस प्रातरनुवाक् का पाठ होने लगेगा। जब वैदिक गृहस्थ "श्रद्धां प्रातर्हवामहे" इस श्रद्धासूक्त का पाठ करता रहेगा, तब समझना कि वेदोदय हुआ। जब वैदिक पुरुषों के गृहों में नित्य ही ऋग्वेद के विज्ञानसूक्त का पाठ होने लगेगा, तब समझना कि वेदोदय होने लगा। जब भारत की संस्कृति के उपासक सम्मीलित स्वर से यजुर्वेदके 'स्वराज्य-सूक्त' का पाठ करने लगेंगे तब समझ लेना कि वेदोदय होने लगा।

जरा एकतानतासे ऋग्-यजुः-साम-अथर्व के वाकोवाक् (प्रश्नोत्तररूप) भाग को तो पढिए, देखिये कितना आनन्द आता है। कैसे कैसे निगूढ प्रश्न अथवा संप्रश्न हैं, जिनका उत्तर किस सुन्दरता से दिया गया है। विप्रजन वेदों के अनभ्यास से ही मरे। संसार वेदपालित न रहने के कारण ही मरा। सारांश प्रत्येक आर्यसंस्कृति के अभिमानी पुरुष के घर में प्रतिदिन सूर्य की भान्ति वेदोदय हो और प्रत्येक व्यक्ति वेदपालित होने का प्रयत्न करे, तभी भारत-वर्ष पुनरपि स्वर्गतुल्य हो सकता है-

देखिए यजुर्वेद क्या कहता है। क्या तुम मरना नहीं चाहते ? क्या तुम देवों के दर्शन करना चाहते हो ? उस मार्ग पर जाना चाहते हो, जहाँ जाकर सुख ही सुख मिले ? तो सुनो वह उपाय यह है—

न वा उ एतन्म्रियसे, न रिष्यसि।
देवाँ२ऽ इदेषि, पथिभिः सुगेभिः॥
यत्रासते सुकृतो, यत्र ते ययुः।
तत्र त्वा देवः सविता दधातु॥ (यजुः० २३-१६)

न तो तू कभी मरेगा, न तुझे कभी हानि होगी और न तुझ से किसी को हानि पहुँचेगी। सरल मार्ग से तू अपने अभीष्टसिद्धि को प्राप्त करेगा, देवों के दर्शन करेगा, शुभ कर्म जहाँ जाते हैं, जहाँ तक साथ दे देते हैं, सविता देव तुझ को वहीं पहुँचावे।

जब इस तत्त्व को समझोगे, तभी वेदोदय होगा।

वैदिक स्वर।

[एक समय वैदिक भाषामें शब्दोच्चार और स्वरस्थ आघात इत्यादिके सम्बन्ध के शास्त्र तैयार किये गये थे और इस विषय को बडाभारी महत्त्व प्राप्त हुआ हुआ था।]

वैदिक भाषाके अन्दर ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत तथा उदात्त, अनुदात्त और स्वरित, इतने स्वर होते हैं ❀। जिनमें से ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत उच्चारण के लिए अपेक्षित काल पर अवलंबित हैं, जब कि उदात्त, अनुदात्त और स्वरित का सम्बन्ध आघात से है।

अ, इ, उ, ऋ और ऌ, ये ह्रस्व स्वर हैं। आ, ई, ऊ, ॠ, ए, ऐ, ओ और औ, ये दीर्घ स्वर हैं। ह्रस्व स्वर यदि अनुस्वार या विसर्गयुक्त हो, अथवा पद्य में चरण के अंत में आया हो, किंवा संयुक्त अक्षरसे ठीक पहले हो, तो वह दीर्घवत्× होता है। किंतु यदि आगे आनेवाला संयुक्ताक्षर 'प्र' या 'ह्र' हो तो ह्रस्व स्वर विकल्प से गुरु होता है। अर्थात् हवा के अनुसार उसे दीर्घ या ह्रस्व समझना चाहिए। ह्रस्व स्वर की एक, दीर्घकी दो और प्लुत की तीन मात्रा होती हैं। दीर्घ स्वरको और एक मात्रा लंबानेसे प्लुत होता है। उदाहरणार्थ 'अरेऽऽ देवदत्तऽऽ' इस संबोधनमें 'रे' और 'त्त' में 'ए' और 'अ' इन दो स्वरोंको हम अन्य स्वरोंकी अपेक्षा विशेष लंबाकर बोलते हैं। अतः वे प्लुत हैं।

ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत स्वरोंका सम्बन्ध उच्चारकालसे है। परन्तु उदात्त, अनुदात्त और स्वरित का संबंध आघात से है। इन स्वरोंका वास्तविक मूल स्वरूप क्या है, इसका इस समय संस्कृत भाषा मृत हो जानेसे पता चलना संभव नहीं। वैदिक मंत्रोंको लिखते हुए इन स्वरोंको अक्षरोंपर सीधी व खडी रेखायें लगाकर दिखाया जाता है और मुखसे बोलते हुए भी विशिष्ट प्रकारसे आघातपूर्वक उनका उच्चारण करनेकी पद्धति है। इनमेंसे उदात्तके लिए कोई चिह्न नहीं है। और उसका उच्चारण करते हुए उस पर कोई खास आघातभी दिया नहीं जाता। अनुदात्त का चिह्न अक्षरके नीचे '-' ऐसी सीधी रेखा कभीकभी होती है और स्वरित के लिए अक्षर के ऊपर '।' ऐसी खडी रेखा लगाई जाती है। समान्यतया प्रत्येक शब्दमें एक के सिवाय शेष सर्व स्वर अनुदात्त + होते हैं।

उदात्तका उच्चारण ऊंचा ✱ (ऊपरका), अनुदात्तका नीचा होता है। और दोनोंका मिश्रित उच्चार स्वरित कहलाता है। परन्तु इस वर्णन से उनका विशेष बोध नहीं हो पाता। जिस समय वैदिक भाषा प्रायः मौखिक थी, उस समय इन उच्चारोंका महत्त्व विशेष होना चाहिए, यह स्पष्ट है और इसीलिए आज जैसा अंग्रजीमें phonetics अर्थात् उच्चारशास्त्र पर अनेक पुस्तकें तैयार की गई हैं और उन के अनुसार अंग्रेजी शब्दों के उच्चारोंका और उनपर यथास्थान दिये जानेवाले आघातोंका बडा बडा वर्णन कर के बताया जाता है, ठीक उसी प्रकार एक समय वैदिक भाषा में भी शब्दोच्चार और स्वरस्थ आघात इत्यादि के सम्बन्ध के शास्त्र भी तैयार किये गये थे और इस विषयको बडा भारी महत्त्व भी प्राप्त हुआ हुआ था। अंग्रेजीमें एक ही शब्दका अर्थ आघात का स्थान बदल देने से भिन्नभिन्न हो जाता है। उदाहरणार्थ 'कंपाउण्ड' और 'ट्रॅन्सफर' इन शब्दों को लेते हैं। इन शब्दोंके पहले भागपर आघात देनेसे 1 (Com'pound और Trans'fer) नाम बनते हैं और दूसरे भागपर आघात देनेसे (Compound' और Transfer') क्रियापद हो जाते हैं। अंग्रेजी में प्रायः यह एक सामान्य

❀ उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च स्वरास्त्रयः। ह्रस्वो दीर्घः प्लुत इति कालतो नियमा अचि॥ (शिक्षा ११)

× सानुस्वारश्च दीर्घश्च विसर्गी च गुरुर्भवेत्। ह्रस्वः संयोगपूर्वश्च तथा पादांततोऽपि वा॥ प्रह्व वा॥

+ अनुदात्तं पदमेकवर्ज्यम् (पाणिनि ६. १. १२८)

✱ उच्चैरुदात्तः। नीचैरनुदात्तः। समाहारः स्वरितः॥(पाणिनि– अ. १। पा. २। सू. २९, ३०, ३१)

नियम है। इसी लिए इन शब्दों का उच्चारण करते हुए इस नियम की ओर दुर्लक्ष्य नहीं किया जा सकता।

वैदिक भाषा में भी यही प्रकार है। स्वरोंके ठीक ठीक उच्चारण का महत्व ध्यान में रख कर उत्तम गुरु से स्पष्टोच्चारणपूर्वक पद्धतिसर, उत्तम स्वरसहित, मुख-विकाररहित किया गया वेदपठनही शोभता है। और यदि इसके प्रतिकूल किया गया, तो वह निरर्थक होगा। यही नहीं, अपितु वैदिक मन्त्र, स्वर किंवा वर्णका योग्य उच्चारण न किया गया, तो वह न सिर्फ उद्दिष्ट अर्थ को ही व्यक्तही नहीं करता, उलटा वह वाणीरूप वज्र बनकर यजमान का भी नाश कर देता है, ऐसा बतलाते हुए 'इन्द्र-शत्रुः' का उदाहरण स्पष्टीकरण के लिए दिया हुआ है ×। उदात्तादि आघातों का संबंध स्वरों से होता है, व्यंजनों से नहीं, यह कहने की जरूरत नहीं। प्रत्येक शब्द में उदात्त स्वर एक से अधिक नहीं होता, यह सामान्य नियम पहले कहा जा चुका है। परन्तु समस्त शब्दोंमें कहीं कहीं उदात्त स्वर अधिक भी होता है। इस दृष्टिसे पाणिनीय शिक्षा में शब्दों के नव प्रकार दिए हुए हैं। (१) अन्तोदात्त, (२) आद्युदात्त, (३) उदात्त, (४) अनुदात्त, (५) नीच स्वरित, (६) मध्योदात्त, (७) स्वरित, (८) द्व्युदात्त, और (९) त्र्युदात्त। इनके उदाहरण क्रमशः —

(१) अ॒ग्निः, (२) सोम॑ः, (३) प्र, (४) वः, (५) वी॒र्यँ॑, (६) ह॒विषा॑ं, (७) स्व॑ः, (८) बृ॒ह॒स्पति॑ः, और (९) इन्द्रा॒बृ॒ह॒स्पती॑ हैं।

इन में से स्वरित स्वर के बहुत से प्रकार हैं और उन के भिन्न भिन्न नाम भी हैं। एकश्रुति, प्रचय, सन्नतर, अनुदात्ततर इत्यादि स्वरित के अलग अलग रूप होते हैं। इस सम्बन्ध में प्रथम थोडे से सामान्य नियम देकर फिर उनके उदाहरण लेकर स्पष्ट करेंगे।

किस शब्दमें कौनसा स्वर उदात्त, अनुदात्त किंवा स्वरित है, इस विषय में भाषा की परिपाठ ही नियम है। उस में भी कुछ ठोस नियम बनाकर तदनुसार शब्दोंके गण किये हुए हैं। सामान्यतया शब्दमें यदि एकही स्वर हो, तो वह उदात्त हुआ करता है। जैसे गौः, ग्माः, क्ष्मा, भूः, जाः, शं, पशु, धीः, आ, भाः, कः, यः, मा, तत्, यत्, ये इत्यादि शब्दों के स्वर उदात्त हैं। परन्तु अस्मत् और युष्मद् शब्दों के जो मा, त्वा, ते, मे, नः, वः, इत्यादि छोटे रूप हैं, वे और चित्, ईं, सीं, त्वः, इत्यादि अव्ययोंके स्वर अनुदात्त हैं, तथा स्व॑ः इत्यादिमें स्वरित स्वर होता है।

अब दो या अधिक अक्षरोंवाले शब्दों का विचार करें। संस्कृतमें सामान्यतया जो जो रूढ शब्द हैं, उनकी उत्पत्ति मूल धातु से हुई हुई होती है, ऐसा सामान्यतः निरुक्त-कारका मंतव्य है। उदाहरणार्थ अग्नि या वह्नि शब्दको लेते हैं। ये शब्द अग् और वह् धातु से नि प्रत्यय लगानेपर बने हैं, ऐसा निरुक्तकारका कथन है। अतः अग्नि किंवा वह्नि शब्दस्थ उदात्तादि स्वरों का विचार करते हुए मूल धातु और उसके प्रत्ययका विचार करना होता है। पाणिनीय गण-पाठ में इस प्रकार की दसों गणों को मिलाकर ७९७० दी हुई हैं। उसमें उनका गण अर्थात् विकरण, अर्थ, पद और उदात्तत्व या अनुदात्तत्व, इतनी बातें दी हुई होती हैं। इसी तरह उनके अलग अलग प्रत्यय उदात्त, अनुदात्त या स्वरित बताये हुए होते हैं। इस पर से वह शब्द सिद्ध करके उसका स्वर निश्चित ठहराया जा सकता है। अग् और वह् ये दोनों धातुयें उदात्त हैं। उनके आगे लगनेवाला 'नि' प्रत्यय भी उदात्त ही है। 'फिषोऽन्त उदात्त' इस सूत्रानुसार प्रातिपदिकस्थ अंत्य स्वर उदात्त होता है, अतः अ॒ग्नि ऐसा सस्वर शब्द तैयार हुआ। इसी तरह वह्नि भी। इस तरह धातु, प्रत्यय इत्यादि सम्बन्ध के नियम लगाकर सस्वर रूप सिद्ध होनेपर, उसका जब जब वाक्यमें उपयोग होता है, तब तब फिर और कुछ परिवर्तन होता है। इसके लिए एक ऋचा लेकर यह देखते हैं कि यह सब कैसे होता है—

ऋग्वेद की प्रथम ऋचा इस प्रकार है—

अ॒ग्निमी॑ळे पु॒रोहि॑तं य॒ज्ञस्य॑ दे॒वमृ॒त्विज॑म्।
होता॑रं रत्न॒धात॑मम् ॥

× मंत्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह। स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्र-शत्रुः स्वरतोऽपराधात् ॥ (शिक्षा ४९)

इस ऋचाका पदपाठ निम्न है—

अग्निम् । ईळे । पुरः । हितम् । यज्ञस्य ।
देवम् । ऋत्विजम् । होतारम् । रत्नऽधातमम् ॥

अब इन स्वरों का विचार करते हैं। संहिता और पद-पाठ के स्वरों में अन्तर है । उन के जो जो उदात्तादि स्वर हैं, वे वे वाक्य में जाकर बदल गये हैं । पहले उदात्त, अनुदात्त और स्वरित के जो जो चिह्न बताये थे, उनके अनुसार देखने से पदपाठस्थ अग्नि शब्द का अ अनुदात्त है । जब कि अग् धातु उदात्त है। परन्तु आगे नि प्रत्यय भी उदात्त आनेसे वह अन्त्योदात्त बन गया । अर्थात् नि उदात्त रहा और अ अनुदात्त हुआ । उसका चिह्न सीधी रेखाद्वारा अ के नीचे दिया हुआ है। ईळे यह क्रियापद है । क्रियापद प्रायः अनुदात्त हुआ करते हैं । वे कहांपर अनुदात्त नहीं होते, यह आगे देखेंगे । पुरः हितम् इसमें पु अनुदात्त है । रः उदात्त है । हिं स्वरित है और त अनुदात्त है, परन्तु उस के नीचे रेखा नहीं है । इसका कारण यह है कि वह ठीक अनुदात्त व स्वरितके आगे आया हुआ है । इस सम्बन्ध में ऐसा नियम है कि स्वरित के आगे अनुदात्त आवे, तो वह अनुदात्ततर या सन्नतर होता है और उसे कोई चिह्न नहीं लगता। उसे एकश्रुति भी कहते हैं । यज्ञस्य इसमें 'य' और 'स्य' ये अनुदात्त हैं। य के नीचे उसका चिह्न है । परन्तु 'स्य' स्वयं अनुदात्त होता हुआ ठीक उदात्त के पीछे आया है, अतः वह स्वरित बन गया है। देवम् में दे अनुदात्त और व उदात्त है। ऋत्विजम् में यज्ञस्य के अनुसार । होतारम् में हो उदात्त और ता अनुदात्त होनेपर भी, उदात्त के ठीक बाद में आनेसे वह स्वरित हुआ और उसके बाद का ' र ' अनुदात्ततर हुआ । रत्नधातमम् में धा उदात्त और उसके ठीक पीछे आया हुआ अनुदात्त ' त ' स्वरित हुआ है । और उसके बाद का ' म ' अनुदात्ततर है । सबसे पहले र और त्न अनुदात्त हैं ।

अब पदपाठवाली संहिता लेते हैं । उदात्त 'ग्नि'के बाद अनुदात्त भी आनेसे वह स्वरित हुआ । और उसके बाद का अनुदात्त 'ळे' अनुदात्ततर हुआ । उसके बादका 'पु' अनुदात्त ही है । पिछले नियमानुसार यह भी अनुदात्ततर होना चाहिए था, परन्तु उसके बाद उदात्त ' रो ' आनेसे वह अनुदात्त ही रहा । उसके बाद ' तं ' के साथ साथ ' य ' भी अनुदात्ततर होना चाहिए था, परन्तु अगला ' ज्ञ ' उदात्त होनेसे वैसा न होकर अनुदात्त ही बना रहा । यदि अगला ' स्य ' उदात्त होता, तो सीधा अनुदात्त हुआ होता। परन्तु ' दे ' अनुदात्त है । स्वरित ' स्य ' के बाद अनुदात्त ' दे ' आनेसे वह अनुदात्ततर होना चाहिए था, किन्तु अगला ' व ' उदात्त होनेसे वह वैसाही रहा । अनुदात्त ' मृ ' उदात्त ' ज्ञ ' के बादमें आनेसे स्वरित हुए हुए अनुदात्त ' स्य ' के अनुसार स्वरित होना चाहिए, किंतु अगले उदात्त ' त्वि ' की वजहसे न हुआ । अनुदात्त ' ज ' उदात्त के बादमें आनेसे स्वरित हुआ । ' होतारम् ' में ' हो ' उदात्त और ' ता ' तथा ' र ' अनुदात्त हैं । परन्तु उदात्त के बादमें आनेसे ' ता ' स्वरित हुआ और ' र ' स्वरित के पश्चात् आनेसे, तथा उसके बाद फिर उदात्त न होनेसे अनुदात्ततर हुआ । रत्न के 'र'की भी यही स्थिति है । यहांपर एकश्रुति बडी हुई है । त्न के आगे धा उदात्त होनेसे व सादा अनुदात्त बना रहा । त स्वरित क्यों है और म अनुदात्ततर क्यों है, यह अब समझमें आही गया होगा ।

पुरोहितं और रत्नधातमं इन दो शब्दोंके सम्बन्धमें कुछ और भी थोडासा स्पष्टीकरण करना आवश्यक है । ये शब्द संयुक्त हैं । पुरः और हितं ये दोनों शब्द अन्तोदात्त हैं । परन्तु वे मिलकर एक संयुक्त शब्द होने पर 'अनुदात्तं पदमेकवर्ज ' इस सामान्य नियमानुसार इन दोमेंसे एक का उदात्त मिट जाना चाहिए । समाससम्बन्धी सामान्य नियम ऐसा है कि उत्तरपद का अपना उदात्त स्वर कायम रहता है। यदि समास बहुव्रीहि हो, तो पूर्व-पदका उदात्त अथवा स्वरित स्वर कायम रहता है । इसी प्रकार तत्पुरुषमें भी बहुतसे स्थानोंपर ऐसा ही होता है । उसमें यदि कृदंत उत्तरपदमें हो, तो पूर्वपदस्थ उदात्त कायम रहता है । इसीलिए पुरःहितं के पुरः का उदात्त कायम रहा और हितं सबका सब अनुदात्त हुआ । रत्नधातमम् में रत्न, धा और तमम् ऐसे भाग हैं । इनमें रत्नं असलमें आद्युदात्त है, परन्तु आगे धा धातु आकर उपपद

तत्पुरुष हो जानेसे रत्नधा अन्तोदात्त हुआ है। तमप् प्रत्यय अनुदात्त होनेसे आगे प्रश्न रहताही नहीं। इसमें त पहले बताये नियमानुसार स्वरित हुआ और उससे अगला म अनुदात्ततर हुआ।

इस विषयके सम्बन्धमें विशेष विवेचन, अधिक अभ्यास करनेकी इच्छावालेके अतिरिक्त, दूसरोंके लिए अधिक उपयोगी नहीं है। तथापि और कुछ सामान्य नियम देकर इस समय इसको यहींपर समाप्त करेंगे।

संबोधन और क्रियापद भी प्रायः वाक्योंमें अनुदात्त होते हैं। परन्तु यदि वे वाक्यके या पदके प्रारम्भमें हुए, तो अन्य सामान्य नियमोंके अनुसार उनमें उदात्त या स्वरित जैसे होंगे, वैसेही रहेंगे। इसी तरह संबोधन (संबुधि) वाक्यके क्रियापदमें भी उदात्त कायम रहता है। उदात्त और अनुदात्त स्वरोंकी संधि होनेपर उदात्त का प्राबल्य होता है। उदाहरणार्थ आ + इह इनकी संधि एह उदात्त है। दिवेदिवे इत्यादि द्विरुक्त शब्दोंमें प्रथम भाग अनुदात्त होता है। अप्सु + अंतः की संधि होकर अप्स्व१न्तः ऐसा होता हैं। इसी प्रकार तन्वे + मम की संहिता तन्वे३ मम होती है। फिर कभी सुविधानुसार इन पर विशेष विचार करनेका प्रयत्न करेंगे। इस समय इस विषयको यहीं समाप्त करते हैं।

शुद्ध चार वेद।

चारों वेद अत्यन्त शुद्ध छापनेका कार्य स्वाध्यायमण्डलमें शुरू है। ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद छपकर तैयार हैं। ऋग्वेदका द्वितीय संस्करण छप रहा है। सामवेद भी तैयार हो रहा है। चारों वेदसंहिताओंके मूल्य इस प्रकार हैं—

वेद	मूल्य	डाकव्यय	रेलवेचार्ज	विदेशका डाकव्यय
ऋग्वेद	५)	१)	॥)	१॥)
यजुर्वेद	२)	॥)	।)	॥।)
सामवेद	३)	॥)	।)	॥।)
अथर्ववेद	३)	१)	॥)	१॥)
	१३)	३)	१॥)	४॥)

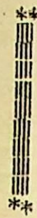
तथापि चारों वेदोंका पेशगी म० आ० से सहूलियतका मू० ६) रु० है, तथा डा० व्यय ३) रु० है। इसलिए डाकसे मंगानेवाले ९) नौ रु० पेशगी भेजें। रेलचार्ज या डा० व्यय ग्राहकों के जिम्मे है। इसलिये जो ग्राहक रेल से चारों वेदों के एक या अनेक सेट मंगाना चाहते हैं, प्रति सेट के पीछे ७) रु० के अनुसार मूल्य भेजें। [इसमें ॥) दो बारका पैकिंग और ॥) दो बारकी रजिष्ट्रीके हैं।] उनके ग्रंथ To Pay रेलपार्सल से भेजेंगे।

सामवेद छपनेतक ही चारों वेदसंहिताएँ ६) रु० में मिलेंगी। तत्पश्चात् ७॥) मूल्य होगा, इसलिये वेदप्रेमी ग्राहक शीघ्रता करें और अपना चन्दा शीघ्र भेजकर ग्राहक बनें।

मंत्री–स्वाध्याय–मण्डल, औंध, (जि० सातारा)

ईश्वरवाद का वास्तविक स्वरूप।

[पं० रामावतारजी विद्याभास्कर]



[ज्ञान का ही दूसरा नाम 'विश्वास' है। ईश्वर विश्वास का स्वरूप यही है कि ईश्वर से प्रेम करो, ईश्वरको अपनाओ, ईश्वर पर निर्भर रहो और ईश्वर के विषय में धोके में मत रहो।]

आजकल सर्वत्र ईश्वर के होने न होने का प्रश्न चिन्ता और चर्चा का विषय बना हुआ है। बहुतसे कहते हैं कि संसार में 'ईश्वर' नाम की वस्तु नहीं है। उनके कथनानुसार 'ईश्वर' और 'धर्म' भोले लोगोंको धोका देकर स्वार्थ-सिद्ध करने के उपाय हैं। ये लोग बीसवीं शताब्दिसे पहले ही पहले ईश्वर का जीवनकाल बताते हैं। ये 'धर्म' को अफीमसा घातक मानते हैं। लोग यह समझने लगे हैं कि 'ईश्वर' और 'धर्म' ने संसार में रक्तकी नदी बहाई हैं। बहुधा मनुष्य ईश्वर को न माननेवाले और उसका विरोध करना अपना कर्तव्य माननेवाले हो गये हैं।

इन लोगोंकी कभी न बुझनेवाली विषयभोगेच्छारूपी दावानलने इनकी विचारशक्ति को झुलस डाला है। इसीसे इनके मनमें ऐसे विचार उत्पन्न हो गये हैं। ये लोग देखते हैं कि ईश्वरको न माननेवाले लोग, ईश्वर को न मानकर भी विपुल ऐश्वर्यों के स्वामी बनते चले जा रहे हैं। इनको ईश्वरहीन लोगों के पास ऐश्वर्य देखकर यह धोका लग गया है, कि जो कंगाल हैं, वे ईश्वर को मानने से ही कंगाल हो गये हैं। इनकी समझ में ईश्वरको मानना शक्तिमान् होने का बडा भारी विघ्न है।

इस प्रकार के मस्तिष्क रखनेवाले लोगोंने गंभीरतापूर्वक ईश्वरकी समस्यापर कभी विचार नहीं किया। इन लोगोंकी विचारधारा को कुछ खोखले मस्तिष्कवाले लेखकों की पुस्तकों ने इस प्रकार विकृत कर दिया है कि 'संसार के सम्पन्न लोगोंने 'ईश्वर' और 'धर्म' को ठुकराकर विपुल ऐश्वर्य पाया है। इसलिये निर्धन लोग 'ईश्वर' और 'धर्म' का बहिष्कार करके निर्धनता से अपना पीछा छुडा लें।' ईश्वरविरोधी लोग प्राय: इसी प्रकारके विचार रखते हैं।

आइये, अब ईश्वरविश्वासी समझे जानेवालोंकी मनोवृत्ति की भी थोडीसी आलोचना करें– ईश्वरविश्वासियों में भी बहुत से ईश्वरविषय में इतने भारी भ्रम हैं कि उन्हें निःसंकोच भाव से 'ईश्वरहीन नास्तिक' कहा जा सकता है। बहुतसे ईश्वरवादी तो ईश्वर को भोग बांटनेवाली सत्ता मानते हैं, और अपने को उसके दरबार का भोगों का भीख मंगा समझते हैं। इन लोगों का यह विश्वास है कि ईश्वरप्रार्थना करने से और 'ईश्वराज्ञा' नामवाले कुछ अच्छे समझे हुए काम करने से, इनपर रीझ जायगा और इन्हें बहुतसी भोगसामग्री देकर, बहुत दिन सुखपूर्वक जीवन बिताने का अवसर देगा; और मरने के पश्चात् इन का किसी दूसरे सुखदायी स्थान में तबादला कर देगा, या इन्हें कोई ऐसा जन्म देगा; जहां ये अच्छे प्रकार भोग भोग सकेंगे तथा सुखी जीवन बिता सकेंगे।

इन ईश्वरवादी लोगोंको सदा यह डर लगा रहता है कि यदि हम ईश्वरप्रार्थना न करेंगे, तो वह हमपर अप्रसन्न हो जायगा, नाना प्रकार के कष्ट देगा, उत्पातों और महामारियों से हमारा सर्वनाश कर डालेगा, तथा मरनेके पश्चात् ऐसी योनि में भेजेगा, जिनमें नाना प्रकार के कष्ट भोगने होंगे। ये लोग इस डर के मारे जीवनभर अपने कल्पित 'ईश्वर' को रिझाने में लगे रहते हैं।

ईश्वरविश्वासी लोगों की एक और श्रेणी पायी जाती है। ये समझते हैं कि 'ईश्वर' प्रार्थना और धर्मकार्य करने से तथा ईश्वरप्राप्त्यर्थ कुछ अच्छे समझे हुए काम करनेसे प्रसन्न होता है और प्रार्थीको जन्ममरणके चक्रसे छुडाकर, किसी 'मुक्ति' नामवाली स्थिति या स्थानमें भेज देता है।

इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि मनुष्य के मन को अनादि काल से ईश्वर की प्यास है। यह और किसी वस्तु का प्यासा नहीं है। ईश्वर की प्यास ही मनुष्य के मनकी चंचलता का स्वरूप है। मनुष्य का मन दसों दिशाओं में, प्रत्येक पदार्थ में, प्रत्येक समय, ईश्वरदर्शन का प्यासा होकर घूमता रहता है। इसी कारण मन किसी एक स्थान,

व्यक्ति या वस्तु के साथ बन्धकर नहीं रहना चाहता। मन सर्वत्रचारी है। सर्वत्रचारी मन सर्वत्र विहारी अनासक्तिरूपी ईश्वरको देखना चाहता है। जब इसे अनासक्तिरूपी ईश्वर देखने को मिलते हैं, तब इसकी प्यास सदा के लिये मिट जाती है। तब इसकी चंचलता का अस्तित्व भी सार्थक हो जाता है।

परन्तु जो लोग मन की इस प्यास को नहीं पहचानते, वे इस प्यासे को विषयविष का कडवा घूंट मिलाकर, इस की प्यास बुझाना चाहते हैं। मन की यह अनन्त प्यास ही 'ईश्वर की समस्या' है। संसार के बहुत कम लोग इस ईश्वरीय समस्या पर ठीक ठीक विचार करते हैं।

वस्तुतः ईश्वर प्रसन्न होकर किसी को भोग बांटनेवाली, अप्रसन्न होकर किसी को कष्ट देनेवाली और किसीपर अति प्रसन्न होकर उसे मोक्ष नामवाली स्थिति या जन्मावकाश देनेवाली सत्ता नहीं है।

जो मन में भोगेच्छा रखकर भगवान् को भजता है, वह शैतान को ही भगवान् कहता है। संसार के साथ व्यवहार करते समय उत्पन्न होनेवाली लोभ, मोह आदि दुर्बलताओं को अपमानित करके, उपस्थित कर्तव्य को अपनी अनन्त शक्तिसे पालनेपर शान्तिकी जो अखण्ड धार बहती है, उसे अविच्छिन्न रूप में प्रवाहित होने देना 'मानवजीवन का साफल्य' है और यही 'ईश्वरभक्ति' है। अपने व्यावहारिक जीवन में बन्धन से बचकर रहना ही 'ईश्वरप्राप्ति का एकमात्र उपाय' और स्वरूप है। बिना बन्धे सन्तोष से न बैठना ही 'बन्धन' है। यही 'कामना' है। कामना का न रहना ही 'ईश्वरभक्ति' है।

पूर्ण ब्रह्म नारायण प्रत्येक मनुष्यके हृदयेश्वर हैं। वे प्रत्येक हृदय में हैं। उनका सिंहासन किसी बेदेखे वैकुण्ठ में नहीं है। इस नारायणको अपने हृदयमें जाकर रखना ही जप, तप, पूजा, त्याग, योग, होम, ईश्वरभक्ति आदि सब कुछ है।

भला रहना ही 'ईश्वरदर्शन' है। ईश्वर किसी भौतिक आकृतिमें नहीं दीखता। असत्य-मार्गपर कदापि जीवन-यात्रा करने का दृढ निश्चय ही 'मनुष्य का ईश्वर' है। पूर्ण विकसित मनुष्यता ही 'ईश्वर' है। मनुष्यता की पूरी चौकसी हो रही है, तो 'ईश्वरदर्शन' हो रहा है। मनुष्यता का विरोध करनेवाली दुष्ट चिन्तायें अकार्यकारी बना डाली गयी हों, तो 'ईश्वरदर्शन' हो रहा है।

ईश्वरदर्शी मनुष्य का जीवन ऐसा होना चाहिये कि उस पर कोई अक्रमण न कर सके, कोई कुदृष्टि न डाल सके, किसी का भोग्य न बन सके, किसी के लोभ की वस्तु न बने, कोई आधिपत्य न जमाने पाये, किसीका प्रभाव न पडे, किसीको अत्याचार करने को उत्साहित करनेवाला न हो, कोई उसकी ओर आंख उठाने का दुस्साहस न कर सके। जब जीवन को ऐसा अजेय बना लिया जाता है, तब ही मनुष्यदेह-धारणकी सार्थकता होती है। यही 'ईश्वरदर्शन' की अवस्था है।

जो तत्त्व ईश्वर, ब्रह्म, नारायण आदि सम्मानित नामों से पुकारा जाता है, उसमें और मानवहृदयवासी आत्मा में कोई अन्तर नहीं है। अर्थात् जो संपूर्ण प्राणियों का आत्मा है, वही मनुष्य में 'देही' है। कहने का भाव यह कि संसारभर के मनुष्यों का जो एकही स्वरूप है, वही 'ईश्वर' है। जो मनुष्य को ईश्वर से पृथक् मानकर, ईश्वर के ढोल बजाते हैं, यह उनकी मूढ-प्रवृत्ति है। यह अमृत की बात बनाते हुए विषपान करने की प्रवृत्ति है। मनुष्य इतना मूर्ख हो गया है कि, वह अमृतपान करने को भयानक समझता है, उससे डरता है और पतित, तुच्छ तथा अल्पज्ञ रहना चाहता है। वह विषपान करके सुख भोगना चाहता है।

ईश्वर वही है, जिसने अपने आपको जगद्रूपमें और हमतुमके रूपमें व्यक्त किया है। यह ईश्वर वृक्ष, लता, पशु, पक्षी, मनुष्य आदि रूपोंमें व्यक्त होता रहता है। जगद्रूप में व्यक्त होते रहना यह इस ईश्वर का स्वभाव है। यह ईश्वर अपनी अचिन्त्यशक्ति के द्वारा सृष्टि, स्थिति, प्रलयों की उधेड बुनमें अविराम लग रहा है। क्योंकि यह उधेड बुन उसका स्वभाव है। इसलिये इस सृष्टि का आदि और अन्त कहीं नहीं है। ये तीनों काम सदा से हो रहे हैं और होते रहेंगे।

इस ईश्वर को पहचानने के लिये भिन्न भिन्न सम्प्रदायों (मजहबों) की और उनके बताये भिन्न भिन्न मार्गोंपर सरपट दौडने की कोई आवश्यकता नहीं है। जब मनुष्य भिन्न सम्प्रदायोंमें प्रविष्ट होकर, अपने सम्प्रदाय को सच्चा तथा दूसरेके सम्प्रदाय को झूठा बताता है, तब ही अशांति

तथा कलह उत्पन्न होते हैं। परन्तु ईश्वर किसीसे यह नहीं कहता कि तुम अपने धर्म को सच्चा कहो, और दूसरे के धर्म को झूठा बताकर परस्पर वाग्युद्ध करो और एक दूसरे का सिर फोडो। परस्पर झगडना और एक दूसरे का सिर फोडना, यह काम ईश्वरभक्तों का नहीं है। यह तो भोगी मन रखनेवाले ईश्वरद्रोही लोगोंका काम है।

वस्तुतः ईश्वर को संसार के झगडों और रक्तप्रवाहों का कारण बताना, ईश्वरविषयक अज्ञान की बात है। जिस मनुष्य की बुद्धि झगडों के वास्तविक कारणों की खोज करने में असमर्थ होती है, वह इस दोषको ईश्वर के सिर मंढ कर, अपने अज्ञान का समर्थन करना चाहता है।

यद्यपि यह बात ठीक है कि, अपने विश्वासमें आये हुए लोगों को ईश्वर और 'धर्म' के नामपर धोका देकर संसार का आनन्द लूटनेवाले लोग सदा से होते आये हैं, और आज भी हैं। ऐसे लोगों की स्वार्थपरायण मनोवृत्ति ही संसार के झगडों की जड है। ईश्वर किसीसे अशांति फैलाने और झगडने के लिये नहीं कहता।

ईश्वर एक है, उसका स्वरूप एक है, और उसे पाने का मार्ग भी एक है। उस ईश्वरके एकमात्र स्वरूप से तथा उसे पाने के एकमात्र मार्ग से भिन्न कोई जो कुछ ईश्वर का स्वरूप या उसे पाने का मार्ग बताता है, वह सब अज्ञान की और अनीश्वरता की बात है। किसी भ्रांत मनुष्य से ईश्वर की भ्रान्त कल्पना सुनकर, निरीश्वरवादी (ईश्वरविरोधी) बनने की प्रवृत्ति विचारहीन मस्तिष्क का चिह्न है।

अपने स्वरूप को जानना ही 'ईश्वरको प्राप्त करना' है। इसीको 'ईश्वर होना' भी कहते हैं। जो मनुष्य अपने को जान जाता है, वह ईश्वरलाभ कर चुका होता है। ईश्वर-प्राप्ति किसी अप्राप्य वस्तु की प्राप्ति का नाम नहीं है। किंतु स्वभाव से प्राप्त ईश्वर को पहचान जाना ही 'ईश्वर-प्राप्ति' है। अर्थात् प्रत्येक मनुष्य को स्वभाव से प्राप्त रहनेवाले ईश्वररूपी अपने स्वरूप को जान लेना 'ईश्वर को प्राप्त करना' है। क्योंकि ईश्वर संसारके मनुष्यों का स्वरूप है, इसलिये वह किसी धर्म (मजहब) की चार दिवारी में कैद नहीं हो सकता। जब तक मनुष्य अपने आपको दूसरे धर्मवादियों से मतभेद रखनेवाला और एक विशेष मतवाद को अपनानेवाला रहा है, तबतक वह निश्चय ही ईश्वर से दूर है।

जो मनुष्य ज्ञानी बनकर, मतवाद के चश्मे को उतार कर फेंक देता है, वह देखता है कि वह और सर्वभूतस्थ आत्मा एक है। वह देखता है कि ईश्वर उसे सदासे प्राप्त है। ऐसे पुरुष को ही 'ईश्वर को प्राप्त कर चुका हुआ पुरुष' माना जाता है। इससे भिन्न किसी दूसरे ईश्वर को मानना भी 'नास्तिकता' है और न मानना भी 'नास्तिकता' है। अपने आपको ईश्वरीय सत्ता न मानकर अपने से भिन्न किसी ईश्वर के खण्डक और मण्डक दोनों 'नास्तिक' हैं। ईश्वरदर्शी मनुष्य किसी भी व्यक्ति से द्वेष नहीं रख सकते। आत्मदर्शी मनुष्य जब, जहां और जिससे व्यवहार करते हैं, सर्वत्र अपने भीतर विराजने वाले आत्मा का दर्शन करते हैं। ऐसे मनुष्य संसारमें अशांति नहीं फैला सकते और रक्तप्रवाह नहीं बहा सकते।

इससे यह स्पष्ट हो चुका कि, खून खराबी और देशों की परतन्त्रता का कारण 'ईश्वर' नहीं है। किन्तु भोगलोलुप दुष्ट मनुष्यों की भोगी मनोवृत्ति ही इन सब बुराइयों का कारण है।

इससे एक यह भाव भी निकालना चाहिये कि मनुष्य ईश्वर को अपना करही 'स्वतन्त्र' होता है और भोग-लोलुपतारूपी अनीश्वरता को अपनानेवाले मनुष्य 'पराधीन' हो जाते हैं। जिसने अपने जीवनपर इंद्रियों का नेतृत्व या शासनस्वीकार कर लिया, यही उसकी 'भोगासक्ति' या 'अनीश्वरभावना' है। जिसने अपने जीवनपर इंद्रियों का नेतृत्व नहीं माना और 'इंद्रियातीत आत्मस्थिति' या 'मनुष्यता' ने स्वाभिमान में रहना स्वीकार किया, उसकी मनोदशा को 'ईश्वरभावना' या 'अनासक्ति' कहा जाता है।

जो मनुष्य सचाई, ईमानदारी, शूरवीरता, स्वतन्त्रता आदि सद्गुणों को अपने जीवन का नेता बना लेता है, वह भोगेच्छा को पैरों से कुचलकर आत्मस्थिति को अपनानेवाला सच्चा 'ईश्वरवादी' हो जाता है।

जो मनुष्य असत्य, बेमानी, कायरता, परतन्त्रता आदि दुर्गुणों को अपना लेता है, वह आत्मविस्मृति में डूबकर 'अनीश्वरवादी' नास्तिक बन जाता है।

जो मनुष्य ईश्वरकी इस सच्ची परिभाषा को नहीं जानता, वही अपने को अनीश्वरवादी मानना स्वाभिमान की बात मान सकता है, जो कि उसका स्पष्ट अज्ञान है।

संसार का इतिहास बता रहा है कि, यदि मनुष्य की मनुष्यता का कोई संरक्षक है, तो वह 'ईश्वरवाद' है और यदि कोई मनुष्य की मनुष्यता का निर्दय संहार करके उसे पशु बना देनेवाला विचार है तो वह 'अनीश्वरवाद' है।

(२) ईश्वरविश्वास।

ज्ञान का ही दूसरा नाम 'विश्वास' है। ईश्वरविश्वास का स्वरूप यही है कि ईश्वर से प्रेम करो, ईश्वर को अपनाओ, ईश्वर पर निर्भर रहो और ईश्वर के विषय में धोके में मत रहो। ईश्वरविश्वास किसी वहम का नाम नहीं है। ईश्वरविश्वासका अभिप्राय ईश्वरको अपना बना चुका होने से ही पूरा होता है।

ईश्वरीय सम्पूर्ण गुणों या स्वरूपों पर दृढ आधिपत्य जमा लेने से ही, 'ईश्वरविश्वास' व्यावहारिक रूप धारण करता है। अपने जीवन को ईश्वरीय गुणों से परिपूर्ण किये बिना ईश्वरविश्वासी बनने की बात किसी प्रकार भी स्वीकार करनेयोग्य नहीं है। जब तक ईश्वरको ढूंढा जा रहा है, जब तक उसे ढूंढ निकालने की वस्तु बना रक्खा है, जब तक उसे आठों पहर के लिये अपने विचारनेत्र के सामने बांधकर खडा नहीं कर लिया गया है, तब तक ईश्वर के सम्बन्ध में धोका ही धोका है। ईश्वर अपना लिया जाकर ही, प्रेम करनेवाले का प्यारा बनता है, निर्भर रहनेवाले के निर्भर करनेयोग्य बनता है और ईश्वर से अपने को कभी पृथक् न होने देनेवाले से कभी पृथक् न होनेवाला स्वजन बनता है। ईश्वर को न अपना लिया गया हो, तो वह किसी का प्यारा नहीं बनता, उस पर निर्भर न हुआ जाय तो, वह निर्भर करनेयोग्य नहीं बनता, उससे पृथक् रहा जाय, तो वह उसका स्वजन नहीं बनता।

'ईश्वरविश्वास' किसी अंधेरी कोठरी में टटोलने के समान, या जुआ खेलकर जो कुछ हाथ लग जाय, उसे पा लेने के समान, अनिश्चित स्वरूपवाला नहीं है।

परमार्थप्रेम अन्धा किंवा अनिश्चित के लिये नहीं होता। परमार्थप्रेम भी हो और वह आंखों से न देखी हुई वस्तुके लिए भी हो, यह असंभव है। परमार्थप्रेम की पारदर्शी दिव्य आंखें देश और काल के व्यवधान को व्यर्थ करके अपने प्यारे को आठों पहर ताकती ही रहती हैं।

'ईश्वरविश्वासी' भी हो और वह ईश्वर को न पा चुका हो, यह एक अत्यन्त असम्भव घटना है। जो 'ईश्वरविश्वासी' है, उसे ईश्वरदर्शन कर चुका हुआ होना चाहिए। ईश्वर के विषय में अन्धा और अज्ञानी बने रहकर भी 'ईश्वर-विश्वासी' बने रहनेकी बात यद्यपि संसार में अधिकतासे कही और सुनी जाती है, परन्तु वह मानवीय मनोविज्ञान के बाहर की बात है। 'ईश्वरविश्वासी' को यह बात आठों पहर दीखती रहनी चाहिए, कि उसकी आँखों के सामने आते रहनेवाले इस विशाल जगत् में अपनानेयोग्य, प्रेम करनेयोग्य, निर्भर रहनेयोग्य, चक्षु कर्ण आदि से न दीखनेवाला परमात्मा ही है, यह जगत् या इसका कोई पदार्थ नहीं। परमात्मा के अतिरिक्त जो कुछ देखने में आता है, वह अपना त्याग करवाने के लिए आया हुआ धोका है।

'ईश्वरविश्वासी' धोके में रहना नहीं जानता। मनुष्य किसी हड्डी और मांस के पाँचभौतिक देह का मालिक बने रहने के वृथाभिमान में आकर, ईश्वरविमुख बना रहकर, रूप, रस, स्पर्श आदि विषयों के भोगों से उन्मत्त भी बना रहे और 'ईश्वरविश्वासी' होने का झूठा सन्तोष भी कमाता रहे, इसे 'विश्वास' न समझकर 'अविश्वास' या 'कट्टर नास्तिकता' समझना चाहिये। जो इस संसार में आकर इंद्रियों से दीखनेवाले पदार्थों की उपेक्षा करके और उस सब उपेक्षित संसार का उपयोग ईश्वर से मिला हुआ बने रहने में करेगा, वही 'ईश्वरविश्वासी' होने का दिव्य अधिकार पा सकेगा।

आज का 'ईश्वरविश्वास' अन्धे की टटोल या जुआरी के खेल से बढकर महत्त्व रखनेवाला नहीं है। आज का 'ईश्वरविश्वास' मनुष्यों को धोके में रखकर उत्तरदायित्व-हीन जीवन बितानेवाली वस्तु बन गया है और समाज को कर्तव्यभ्रष्ट तथा उत्तरदायित्वहीन जीवन बिताकर भी

अपनी ही मानसिक कल्पना के 'ईश्वर' को फुसला लेने का झूठा सन्तोष लेनेवाला बना रहा है। आज समाज में अपने मन को कामक्रोधादिकों से दूषित रखकर भी, 'ईश्वरविश्वास' 'ईश्वरभक्ति' और 'ईश्वरपूजा का पतित कर देनेवाला झूठा अभिनय मात्र किया जा रहा है। इस प्रकार के खोटे 'ईश्वरविश्वास' से बचकर उत्तरदायित्वपूर्ण जीवन बिताने लगना 'ईश्वरविश्वास' है। अपने निर्विकार अप्रभावित मन की सम्मति के अनुसार जीवन बिताने लगना 'ईश्वरविश्वास' है। ईश्वरविश्वास नाम के इस सार्वजनिक धोके से बचे रहना 'ईश्वरविश्वास' है।

यह कैसे सम्भव है कि हम जिसपर विश्वास करें, जिसे हमें प्रेम करें, हम जिसे छोडकर दूसरे को अपनाना असह्य मानें, उसीके सम्बन्ध में, धोके में रहें? 'ईश्वरविश्वास' का भाव ईश्वर के विषय में संदिग्ध रहना नहीं है। ईश्वर को देख चुकनेपर ही उसका विश्वास होना सम्भव है। ईश्वर को देखा भी न हो और उसका विश्वास भी हो, इस असम्भव बात का विश्वास, किसी भी विवेकी को, अपने मन को नहीं करने देना चाहिये। प्रत्येक समझदार को अपने मन से कह देना चाहिये, कि यदि तुझे 'ईश्वरदर्शन' नहीं हो रहा है, तो तू 'ईश्वरविश्वासी' होनेका झूठा सन्तोष धारण करके, 'ईश्वरदर्शन' के परम कर्तव्य से अपने को वञ्चित करके, अपने जीवन को व्यर्थ मत बना। जब तक ईश्वर के अस्तित्वपर सन्देह हो, जब तक उसकी ढूंढ की जा रही हो, जब तक उसे सिद्ध करने का प्रयत्न किया जा रहा हो, जब तक अपनेको साधक कोटि में समझा जा रहा हो, निश्चय जानो कि तब तक 'ईश्वरविश्वास' नहीं है। यह ईश्वर का अविश्वास काम कर रहा है।

आज संसार में अपने से पृथक् किसी ईश्वर नाम की काल्पनिक सत्ता को अपने मन से ही अस्तित्व देकर, उस अपने गढे हुए ईश्वर के विश्वासी बन जाने के झूठे सन्तोष के रूप में सर्वत्र आत्मवंचना चल रही है। अपने से पृथक् किसी तटस्थ ईश्वरको मानकर, उसीका विश्वासी बन बैठने का सीधा परिणाम यही हो रहा है कि, ईश्वर को अपने से दूर रख कर अपने को निरीश्वर बनाया जा रहा है।

तटस्थ ईश्वरवाद स्पष्ट कहता है कि "हे ईश्वर! हम अपने ऊपर तुमको मौखिक रूप में अस्वीकार करके 'नास्तिक' कहलाने का कलङ्क लगाना नहीं चाहते। कृपा करके तुमही हम से अलग खडे रहो। तुम हमारे जीवन में अपनाये जाने के लिये हमारे पास मत आओ। तुम हमारे विषयसम्भोगपर आक्रमण करके हमारे इस सम्भोगोद्यान को छिन्नभिन्न मत करो। तुम इस हरा भरा बनाये रखनेमें हमारी कुछ सहायता कर सकते हो, तो करते रहो। हमको तुम्हारी आवश्यकता नहीं है। क्योंकि तुमको अपनाने से हमें विषयभोग छोडने पडते हैं। हमें तो विषयभोगों की आवश्यकता है। हम तुमको तबही चाह सकते हैं जब तुम विषयभोग देनेवाले बनो। तुम हमें प्यारे नहीं हो। हमारे प्यारे तो रूपरसादि विषय हैं।" इस प्रकार का 'ईश्वरविश्वास' एक घृणा करनेयोग्य त्याज्य 'अविश्वास' तथा 'विश्वासघात' है।

मानव-मन की निर्बलताओं को हटा देनेवाली जो रामबाण महौषधि है, उसके अतिरिक्त 'ईश्वरविश्वास' का स्वरूप और क्या हो सकता है? 'ईश्वरविश्वास' करके मनुष्य इसके अतिरिक्त और कोई लाभ नहीं उठा सकता। जब 'ईश्वरविश्वास' कर लेने के कारण ईश्वर का स्वरूप और हमारा जीवन, दोनों एक वस्तु बन जायंगे, जब हम अपने जीवन को सत्यपूर्ण, ज्ञानपूर्ण और आनन्दपूर्ण बना चुके होंगे, तब ही हम 'ईश्वरविश्वासी' कहा सकेंगे। जब हमारे और ईश्वर के अस्तित्व में तिलमात्र भी अन्तर न रहेगा, तब ही हम 'ईश्वरविश्वासी' हो सकेंगे।

प्रश्न होता है कि मनुष्य का ईश्वर से अभिन्न स्वरूप या अस्तित्व कहां है? या कौनसा है? उसे मनुष्य कहां टटोले?

उत्तर यही है कि उसे इस (पांचभौतिक) देह में मत टटोलो। उसको 'विश्वास' की जगह ढूंढो। मनुष्यको इस पांचभौतिक देह का विश्वास नहीं है। यह तो आज है, कल को नष्ट हो जायेगा। इस संसार में जितने देह हैं, जैसे वे हैं, वैसा ही यह भी है। जो उन सब देहों का हो रहा है, वही इसका हो जायगा। इस में किसी से कोई विशेषता नहीं है। सब देह हो और मर रहे हैं। जो मनुष्य होकर नष्ट हो जानेवाले, अस्थिर और धोका देकर

भाग जानेवाले, पदार्थों को अपने जीवन की नींव मत बनाओ। उसका विश्वास करो जो तुझे कभी धोका न दे। यदि तू इस देह को अपनायेगा, तो इस संसार के दूसरे देहों को भी अपनाने में फंसेगा और इस विराट् धोके में फंसा रहकर अपनी अपनाने की शक्तिको व्यर्थ खोकर, वास्तविक प्यारे के मिलने सुख से वञ्चित रह जायगा। तुझे तेरा अस्तित्व इस तेरे देह में और किन्हीं दूसरे देहों में नहीं पायेगा। जब देह में रूपयौवनादि नाम के विषय विकार तथा जरा, व्याधि और मृत्यु के नामके परिवर्तन, उपस्थित होते हैं और वे मनुष्यपर अपना प्रभाव डाल कर उसे विचलित करना चाहते हैं, इसी प्रकार जब मनुष्य के मन पर शोक, मोह, मानापमान, सुखदुःख आदि के आक्रमण होते हैं और उसे कर्तव्यभ्रष्ट करके अपनी उपासना करवाना चाहते हैं; यदि मनुष्य उस समय देह के इन सबका रूपयौवनादि विकारों, इन जराव्याधि आदि परिवर्तनों तथा शोकमोहादि आक्रमणोंको स्वप्नमयी विकारलीला मान सके, तो वह समय उसके अस्तित्व या स्वरूपके दर्शन करनेका होता है।

जब मनुष्य इन विकारों का कहना नहीं मानता, जब इन भौतिक परिवर्तन की पूर्ण उपेक्षा करता है और इन परिवर्तनों का अभाव अपने ऊपर नहीं पडने देता, जब वह सब प्रकार के परिवर्तनों से प्रभावित न होना सीख लेता है, जब अप्रभावित रहना, उसका स्वभाव बन चुकता है, तब मनुष्य का 'अस्तित्व,' 'स्वरूप' या 'ईश्वर' उसके हाथ आ चुका होता है। जगत् के सम्पूर्ण प्रभावों से अप्रभावित रहनेवाली मनुष्य की अपनी मुट्ठी में आयी हुयी मनोदशा एक ऐसी अनुपम वस्तु है, जो मनुष्य को कभी धोका नहीं देती। जब मनुष्य इस अप्रभावित निर्विकार मनोदशा का स्वामी बन चुकता है, तब इसी को 'सत्य' कहा जाता है, इसी को 'ज्ञान' कहा जाता है, इसी को 'आनन्द' माना जाता है।' यही 'परमात्मा' है। यही घट घट वासी 'सच्चिदानन्द ब्रह्मतत्व है। इस स्थिति को अपना बनाना ही 'ईश्वरविश्वास' का सच्चा दिव्य स्वरूप है।

'ईश्वरविश्वास' नाम की स्थिति का स्वामी बन चुकाने के अनन्तर किसीको पिता, माता, पतिपत्नी, स्वजन-बान्धव, गुरुशिष्य, पुत्रपुत्री, आदि ने रूप में अपनाना असंभव हो जाता है। तब इन सबसे अप्रभावित रहकर व्यवहार करना, उसका स्वभाव हो जाता है। किसी को पिता-माता, पुत्रपुत्री, पतिपत्नी, गुरुशिष्य, नेता-अनुयायी आदि मानकर, स्वयं भी उसके बन्धन में रहना, और उसे भी अपने बन्धन में रखना, 'प्रभावित स्थिति' है, यह 'विश्वासघात' है, यह 'स्वार्थबुद्धि' नाम की 'नास्तिकता' है। 'ईश्वरविश्वास' 'स्वतंत्रता' का दूसरा नाम है। किसी को अपने बंधन में न रखना और स्वयं भी किसी के बन्धन में न रहना, यही 'ईश्वरविश्वास' नाम की उदार स्थिति है। किसी के पीछे चलना, किसी को पीछे चलाना, किसी को अपनी भौतिक सुखेच्छा की तृप्ति का साधन बना लेना, यह सब 'व्यावहारिक नास्तिकता' है। यह सब 'ईश्वर का अविश्वास' है। सर्वत्र उस विराट् अप्रभावित स्थिति का दर्शन करते हुये और उसकी मर्यादा को रखते हुये, स्वयं अप्रभावित बने रहे, यही सच्ची 'आस्तिकता' या 'ईश्वरविश्वास' है।

अपनी इस निर्विकार, निर्वैर, अप्रभावित, उदार, मानसिक स्थिति नाम के ईश्वर की आराधना अपने जीवन में न करके, उसे किसी मन्दिर में ढूंढना, किसी वृक्षमूल में बुलाना, किसी नदीतट पर सम्बोधन करना, किसी तीर्थक्षेत्र समझे जानेवाले भूखण्ड में जाकर पाना चाहना, या किसी वैकुण्ठ नाम रक्खे हुये अज्ञात स्वप्ननिकेतन की ओर आँखें फेंकते रहना, 'ईश्वरविश्वास' नहीं है। अपने मनसे जल, वायु, अन्न, फल, मूल, ऐश्वर्य, पुत्रकलत्रादि भोग्य पदार्थों का सदावर्त बांटनेवाली भौतिक सम्पत्ति के भण्डारी, ईश्वरनाम की किसी विपुलकाय सत्ता की कल्पना करके, उसी की स्तुति, पूजा, अर्चना, भोग और आरती उतारते रहने में और उससे डरते रहने में 'ईश्वरविश्वास' नहीं है। यह 'नास्तिकता' है। यह 'भोगलोलुपता' है। ईश्वर को अपनी माँग पूरी करनेवाली एक सत्ता मान बैठना, ईश्वर से डरकर काँपते रहना, अपने को ईश्वर के डर से कांपनेवाला मानते रहना, और चाहे जैसा अमर्यादित जीवन बिताते रहना, 'ईश्वरविश्वास' नहीं है।

ईश्वर के स्वरूप को अपने व्यावहारिक जीवन में प्रयुक्त करने लगना ही 'ईश्वर पर विश्वास करना' है। ईश्वर

धोके में आनेवाली सत्ता नहीं है। संसार में जितने मन हैं, उन सब की बागडोर जिस महा सत्ता के अपने हाथमें है, मनकी अस्पष्ट ध्वनि भी जिस महासत्तासे गुप्त नहीं है, वह विराट् सत्ता ही 'ईश्वर' है। शुद्ध निर्विकार मानस रखने से ही उस की 'उपासना' या 'विश्वास' होना संभव है। ईश्वर के दर्शन या विश्वास करने का दूसरा कोई उपाय नहीं है।

(३) ईश्वरभक्ति।

मन के अप्रभावित रहने के समय मनुष्य की जो निर्विकार स्थिति होती है, वही 'भक्ति' है। मनुष्य की इससे उत्तम स्थिति न कभी थी और न कभी होगी। संसार में निर्विकार रहनेसे उत्तम स्थितिका होना असंभव है। यही 'जीवनमुक्ति' की अवस्था है। कोई इससे भी उत्तम अवस्था होती होगी, इस अविचार से इस उत्तम अवस्था का महामांगल्यपना हलका नहीं किया जाना चाहिये। मनुष्य को इससे उत्तम अवस्था की अभिलाषा ही नहीं होनी चाहिये। उसे निश्चय होना चाहिये कि, संसार में इससे उत्तम कोई अवस्था नहीं है। किसी काल्पनिक अतिरंजित अवस्था के आने की प्रतीक्षा करते रहनेका परिणाम इस निर्लेप स्थिति के महत्त्व को घटाना, आशा का आखेट बनना, अपने को असफल मानकर दुःखी होते रहना, तथा अपनी ऐसी महत्त्वपूर्ण वर्तमान स्थिति को अस्वीकार करते रहना है। इससे वर्तमानमें भी काल्पनिक कामना की दासता में रहना पडता है।

जब इन्द्रियों के साथ रूप, रस आदि विषयों का संयोग हो और इन्द्रियां विषयोंकी मांग उपस्थित करें, तब मनको विकाराधीन होने की स्वीकृति दे देना मनकी विकारयुक्त, स्वभाव से च्युत, प्रभावित, और अपराधोन्मुख अवस्था है। मन इस प्रकार काम, क्रोध आदि रिपुओं के वश में फंस कर विकृत अवस्था का क्रीडाक्षेत्र बन जाता है। परन्तु मनुष्य का ईश्वरीय रचना की महिमा को नहीं भूलना चाहिये। उसने विकारकी प्रतीति के साथ ही निर्विकार स्थिति भी अंगांगि-भाव से जोड रखी है। जब रूप-रस आदि के साथ इन्द्रियोंका सम्पर्क होनेपर विकारों की उत्पत्ति होती है, उसी समय निर्विकार स्थिति के विजयोत्सव मनाने का अवसर भी आ जाता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, आदि रिपु ही उन सब विकारों का स्वरूप हैं। मन को इन सब रिपुओं से बचा लेना ही निर्विकार, स्वभावस्थ, अप्रभावित, तथा सत्यारूढ मानसिक स्थिति है। यही स्थिति 'शुद्ध मन' कहाती है। यही 'परमात्मा' है। यदि मनुष्यका मन शुद्ध है, तो वह निःशंक होकर डंके की चोट कह दे कि, 'मुझे परमात्मदर्शन हो चुका।' मन के शुद्ध हो जाने पर, इससे बडा 'परमात्मदर्शन' नाम का ऐसा कोई सौभाग्य जगत् में नहीं है जो मनुष्य को अप्राप्त रह जाता हो।

जो मन को शुद्ध नहीं रखता (अर्थात् उसे काम, क्रोध आदि शत्रुओं से ताडित, प्रभावित और विकारग्रस्त या अशुद्ध होने देता है) और अपने मनको ईश्वरीय रूप समझे जानेवाले किसी अलौकिक रूपविशेष को अचानक देख लेने की कौतूहलपूर्ण उत्सुकताका, आर्त वाणी निकालने का, या आँसू टपकानेका, अथवा भावोन्माद का अभिनय करना सिखा लेता है, वह केवल आत्मवंचन तथा परवंचन करता है। इस अभिनय में ईश्वरदर्शन कराने का सामर्थ्य नहीं है। सर्वदर्शी, सर्वज्ञ, सर्वरूप, सर्वभूत-गुहाशय, भावग्राही, अन्तर्यामी, जनार्दन की सूक्ष्म दृष्टिमें ऐसे अभिनयों का किसी व्यसनासक्त मन में नाटक या सिनेमा आदि देखने के मलिन उत्साह से अधिक महत्त्व नहीं है।

जबतक मन अशुद्ध है, तबतक रूपविशेष को देखने की लालसा मूल्यहीन है। जब मन शुद्ध है, तब रूप-विशेष को देखनेकी अभिलाषा शेष नहीं रहती। जब शुद्ध मनके अनिर्वचनीय सूर्य-कोटि-समप्रभ, चन्द्रकोटिसुशीतल रूप को देख लिया जाता है, तब वह भक्त को सच्चिदानन्द-सागर में आचूड स्नान कराकर, अनन्तकाल के लिये समाहित कर देता है। ऐसे ईश्वरभक्तोंका भगवान् चक्षु, कर्ण-त्वचा आदि का भोग्य (अर्थात् इनसे देखने, सुनने तथा स्पर्श करनेयोग्य) वस्तु नहीं रहता। ऐसा ईश्वर-भक्त, किसी विशेष स्थूल देहके दर्शन, ध्वनिश्रवण, ज्योतिर्दर्शन, या शून्यचिन्तन आदि किन्हीं शारीरिक विकारों को अपनी 'भक्ति' का आधार या सर्वस्व बनाकर, उसके पीछे निष्फल यात्रा करके श्रान्त नहीं होता। वह केवल अपने शुद्ध मनरूपी भगवान् का अनन्य उपासक रहता है। वह अपनी शुद्धतारूपी गौरवमयी, अटल,

अप्रभावित, मानसिक स्थिति की सुदृढ, अटल भित्ति पर खडा होकर डंके की चोट घोषणा कर देता है कि 'मेरा भगवान् मेरे हृदयरूपी वैकुण्ठ को छोडकर एक पैर भी इधर-उधर नहीं हट सकता।' उसके ऐसे दृढ विश्वास का यही कारण है कि उसकी निर्विकार मानसिक स्थिति सब प्रकार के परिवर्तनों के प्रभावों से बची हुई है। उसकी वह मनोवृत्ति जरा तथा यौवन से बची हुई है और सदा नवीन है।

अपने अप्रभावित, सदा नवीन, सुकुमार, अनन्त सुन्दर, शान्त तथा शुद्ध मनको ही अपना स्वरूप तथा उपास्य देव जाननेवाला भक्त, मूत्रपुरीष से भरे हुए नश्वर देह के रूपयौवनादि विकारों का अभिमान नहीं करता। वह उन्हें भोगने से घृणा करता है। वह अपनी ज्ञानज्योत्स्ना से अनन्त चन्द्रसूर्यों की ज्योत्स्ना को भी पराजित करनेवाले अपने शुद्ध मनके अनन्त, अमर, रूप-यौवनका दर्शन करता रहता है और इस स्थूल देह के रूप-यौवनों को यह समझता है कि ये रूप, यौवन सडनेवाली वृद्धावस्था की प्रारम्भावस्था हैं। इस स्थूल शरीर के रूप-यौवन को अपनाना अर्थात् उसका अहंकार करना, मनकी अशुद्धता, उसका बुढापन, उसकी नास्तिकता, या उसमें ईश्वर को न बसने देना है। अपने शुद्ध मन का सदा दर्शन करते रहनेवाला भक्त, काम, क्रोध आदि या जरा, यौवनादि व्याधियों के हाथ नहीं आता।

ऐसा नित्य शुद्ध, अपापविद्ध, निर्विकार मन ही 'ईश्वर-भक्ति' का सच्चा स्वरूप है।

वेदों से ही सबने अपने अपने नाम रक्खे।

(पं० मदनमोहनजी विद्याधर)

[वेदोंकी यह वर्णनशैली है, कि वह वर्णन करते समय 'ब्रह्माण्ड' तथा 'पिण्ड' दोनोंको सामने रखता है। इसी वर्णनशैलीका अनुसरण पिछले ऋषियोंने किया अर्थात् वेदोंके नामोंके आधारपरही अपने नाम रक्खे।]

अत्यंत प्राचीन कालसे भारतवर्षमें यह जनश्रुति चली आ रही है कि वेदोंके अध्ययनके लिये सर्वविद्यापारंगत होना चाहिए। यही कारण है कि प्रायः सारा का सारा भारतीय साहित्य (बौद्धों, चार्वाकों तथा जैनोंके साहित्य को छोडकर) वेदोंसे किसी न किसी रूपमें अवश्यमेव सम्बद्ध है। प्रायः सारेही साहित्यने वेदोंसे कुछ न कुछ लिया है-इसलिये वह उनका ऋणी है। इसको यों भी कह सकते हैं कि प्रायः सम्पूर्ण सनातन आर्यसाहित्य वेदोंके व्याख्यानरूपमें बनाया गया है। ब्राह्मणग्रंथ, उपनिषदें, सूत्रग्रंथ, महाभारत स्मृतिपुराणादि प्रायः सारेके सारे साहित्यमें वैदिक पहेलियाँही बुझाई गई हैं। इस सम्पूर्ण वेदेतर साहित्यको पढनेके पश्चात् वेदका अर्थ करनेमें पर्याप्त सरलता हो जाती है। क्योंकि वेदोंके अलंकारोंका रहस्य इनमें खोलनेका प्रयत्न किया गया है। ब्राह्मणग्रन्थ इस दिशामें विशेष तौर पर सहायक सिद्ध होते हैं।

इसका कारण क्या है? यही कि वेदोंकी उच्चतासे प्रत्येक प्राचीन आर्य विद्वान् परिचित था। वेदोंके रहस्य सरल प्रतीयमान होते हुए भी दुरुह थे। उसके लिये वेदों, व्याख्यानों तथा भाष्योंकी आवश्यकता थी। उन विद्वानोंने ब्राह्मणादि साहित्यका इस कठिनताको हटानेके लिए निर्माण किया। ब्राह्मणोंको एक प्रकारसे हम अति प्राचीन कालसे चला आ रहा वैदिक-कोषभी कह सकते हैं। इसके बाद ज्यों ज्यों समय बीतता गया वेदोंका अध्ययन बन्द होता गया और उसके आधारपर बने ग्रंथोंका प्रचलन अधिक हो गया। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि वेदोंके महत्त्वकोही विद्वान् भूल गये। क्योंकि प्रायः सभी ग्रंथकारोंने वेदोंकी स्तुति या किसी अन्य प्रकारसे महत्त्वका वर्णन किया है। समय आया ब्राह्मणग्रन्थभी दुरुह एवं दुर्बोध हो गये। उस समय वैदिक विधिविधानों एवं धार्मिक शिक्षाओंको स्मरण रखनेके निमित्त सूत्रोंका निर्माण हुआ। इनमें विधिविधानोंको एक सूत्ररूपसे बांधनेका प्रयत्न किया गया। उसी समय उपनिषद् (प्रभुके समीप बैठना = उपासना) इस नामसे नवीन ग्रन्थोंका निर्माण प्रारंभ हुआ। ये अध्यात्म या ब्रह्मविद्याविषयक उपदेश (तत्त्वज्ञान) देनेवाले ग्रन्थ थे। इनमेंभी वेदोंकी अध्यात्मविद्याही कूट कूट कर भरी हुई है। इसके बाद स्मृतियोंने उस प्राचीन लुप्त वैदिक धर्मकी रक्षाके निमित्त सरल शब्दोंमें उसकी शिक्षाको स्थिर रखनेका प्रयत्न किया। महाभारत तथा पुराणभी इसी उद्देश्यके लिये बने।

इस बातके विवेचनसे दो परिणाम निकलते हैं। एक तो यह कि वेदोंकी इन सारे ग्रन्थोंसे प्राचीनता, तथा दूसरा यह कि वेदोंके रहस्योंकी उसकी शिक्षाओंको सर्वसाधारण तक पहुंचानेके लिये ही इनका निर्माण हुआ। ऐसा भी हो सकता है कि पीछेसे इन ग्रन्थश्रेणियोंने अपना अपना पृथक् स्वत्व कायम कर लिया हो। व लोकमें हम देखतेही हैं कि एक आधारपर बनी हुई बडी बडी संस्थाएं जब अपने पैरोंपर खडी हो जाती हैं, तो उस आधारभूत वस्तुको भूल जाती हैं या उसे उपेक्षा की निगाहसे देखने लग जाती हैं। यदि यही प्रक्रिया इन ग्रन्थोंके विषयमें हुई हो, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। इतना होनेपर भी वे ग्रन्थ वेदोंके महत्त्वसे बिलकुल इन्कारी न कर सके। यही कारण है कि आज भी वेदोंका महत्त्व उसी रूपसे कायम है। इस महत्त्वको कायम रखनेमें इसी बडे भारी पिछले साहित्यने काम किया है।

वेदों में 'अहि और वृत्र' द्वारा मेघवर्षण को बताया गया था। साधारण जनता इस रहस्य को समझ नहीं सकती थी। यह समुदाय—मनोविज्ञान (Crowd-Psychology) का मुख्य सिद्धान्त है कि जनता को यदि कोई बात सरल ढंग समझानी हो, तो उसके सामने उस चीजका जहांतक भी हो सके स्थूल रूप दिखाना चाहिये।

जनता सरलसे कठिन तथा स्थूलसे सूक्ष्मको समझनेमें आदी होती है। ब्रह्मविद्याके गूढ रहस्य मोटे मोटे उदाहरणों से ही उसे समझाए जा सकते हैं। उनके सामने उस घटना या बातका एक चित्रसा बन' देना चाहिए। चित्र दिखानेके लिये अमूर्त को मूर्तका रूप, निराकारको साकार रूप दे देना चाहिए। यह मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है। उदाहरणार्थ सत्य बोलनेसे मुक्ति होती है। इसके लिये एक उदाहरण युधिष्ठिर का दे दिया जाता है। लोग इससे भी जब न समझे, तो साक्षात् सत्यदेव धर्मराजका (मनुष्य देहधारी रूपमें) युधिष्ठिरसे मेल कराया और लोगोंको बता दिया कि देखो यदि तुम सत्य बोलोगे, तो साक्षात् धर्मराज तुम्हें अपने आप विमान लेकर बुलाने आवेंगे और स्वर्गमें ले जावेंगे।

०

हमारे साहित्यमें देवताओं (प्राकृतिक शक्तियों, विषयों या गुणों) को मनुष्यदेहधारी कल्पना करनेका यही कारण है। इनके बिना साधारण जनता समझ ही नहीं सकती। ऐसा होना आवश्यक एवं अनिवार्य है। यही मनोवैज्ञानिक कारण है कि हमारे साहित्यमें ही नहीं अपितु विश्वके सम्पूर्ण साहित्यमें हम यही प्रक्रिया देखते हैं। प्रत्येक साहित्यमें ही गुणोंकी अलग अलग देवियां या देवता बने हैं। प्राचीन ग्रीक साहित्यमें 'म्यूजिस' विद्या या ज्ञानकी देवीका नाम था। उसी से 'म्यूजियम' शब्द बना है। भारतीय साहित्यमें विद्या की देवी सरस्वती, धनकी देवी लक्ष्मी, क्रोधकी मूर्ति चण्डी मानी जाती हैं। यह प्रक्रिया यहींतक जाकर समाप्त नहीं हो गई, परमेश्वरके गुणोंको भी देवीदेवता का रूप दे दिया गया। इस्लाम, ईसायत तथा पारसी धर्ममें इसका बहुतही स्पष्ट उदाहरण देख सकते हैं। पौराणिक साहित्य तो इसका उत्कृष्ट उज्ज्वल नमूना है। उदाहरणके तौरपर क्योंकि परमेश्वर उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलयका कर्ता है, अर्थात् उसमें यह तीन गुण हैं,इसलिये उसके तीन तीन सहायक बना दिये गये, ब्रह्मा-उत्पन्न करनेवाला, विष्णु- रक्षा करनेवाला, महेश-सृष्टि-संहारकर्ता। फिर इन देवोंके भी सहायक तथा इनकी स्त्रियोंको बनाया गया। शिवके गण तो अत्यन्त प्रसिद्ध ही हैं। इनके वाहन ही नहीं, इनकी स्त्रियोंतक के वाहनोंकी भी कल्पना कर ली गई। उदाहरणार्थ शिवका वाहन 'वृषभ' है। इसका मूर्तरूप मन्दिरोंमें है। परन्तु यदि विचारें, तो इसका अर्थ बहुतही सुन्दर है। वृषभका अर्थ मनुने धर्म बताया है। (जो कि सम्पूर्ण आनन्द की वृद्धिका हेतु होता है) जो मनुष्य धर्मपर आरूढ होता है, उसका सदा कल्याण होता है, अर्थात् वह शिवस्वरूप है।

सरस्वती का वाहन हंस है। सरस्वती= ज्ञान। हंस= सोऽहम्। इस कथानक में ज्ञान का सम्बन्ध 'सोऽहम्' इस भावनाका हृदय में जागरण करना है। अर्थात् अहर्निश इसको कायम रखना,यही इस कथानक का अभिप्राय है। शिवजीके सिरके जटाजूटमें गंगा कुछ समय तक चक्कर काटती रही। शिव का अर्थ पर्वत होता है, उसका जटाजूट वनस्पति जंगलादि। जिस पर्वत पर वनस्पति अधिक होती है, वहां पर पानी रहता ही है। इस सुन्दर घटना को ही उपरोक्त कथानक का रूप दिया गया है। इसी प्रकार हम प्रायः सभी कथाओंके विषय में समझ सकते हैं। ये सुन्दर सुन्दर आकर्षक, मनोरंजक देवीदेवताओंके रूपमें पुराणों या उनसे भी अत्यन्त प्राचीन साहित्य में पाई जानेवाली कथाएं वेदोंमें प्रतिपादित प्राकृतिक सृष्टिनियम के अनुकूल घटनाओंका स्थूल या साकार रूप है। ये सब कथानक सृष्टिके नियमोंके सर्वथा अनुकूल बैठते हैं।

इस प्रकार उत्तरोत्तर हम यह देख सकते हैं कि वैदिक रहस्यों को ही इन ग्रंथोंने खोलने का प्रयत्न किया है। इसी आलंकारिक कथाओं तथा पहेलियाँ के खोलते समय यह स्वाभाविक ही था,वैदिक शब्दोंकीही इनमें पुनरावृत्ति होती, और क्योंकि वेदों के (अदेहधारी) व्यक्तिरूप में किए गये वर्णनों को इन्होंने देहधारी व्यक्तिरूपमें चित्रित किया, इसलिये वे नाम जो कि शक्ति,गुण या किसी द्रव्यविशेष के थे, एक ऋषि या देवताका रूप पा गये। पिछला साहित्य इन विकसित देहधारी गुणों के आधार पर बना, इस लिये फिर वही जटिलता एक वार सामने आ गई।

वेदों के वर्णन अत्यन्त सूक्ष्म रूप में थे। जिन नामों, पदों व शब्दों में, वेदोंमें वर्णन किया गया था, ठीक उन्हीं नामों को लेकर उनमें कुछ अपनी कल्पनासे जोडकर (जैसे कि प्रायः सभी कवि या ग्रन्थकार किया करते हैं) वेदों से अर्वाचीन परन्तु इस वर्तमान युग से अत्यन्त प्राचीन ऋषियों ने–विद्वानों ने उसी उन्हीं वर्णनों को स्थूल रूप दे

दिया। इसी बीचमें अनेक ऋषियों तथा राजाओं ने अपने नाम वेदों से ले लेकर रख लिये। इस अत्यन्त जटिलता के कारण दोनों का सम्बन्ध टूट सा गया। विद्वानों ये कहा कि इनका सम्बन्ध तो था, पर अब दोनों के वर्णन अपनी पृथक् पृथक् सत्ता रखते हैं। इन दोनों वर्णनोंके भेद-साम्य को इस रूप में तो नहीं समझा गया कि ये अध्यात्म-गुत्थियों के प्रश्न और उत्तर हैं; पर मध्य में आए ऐतिहासिक नामों को जोडकर उनका इतिहास कल्पित कर लिया गया। इस जटिलता के कारण दो मत ही हो गये।

(१) वह मत जिसमें कि इन सब नामों को किसी विशेष देहधारी रूप में पृथक् सत्तावाला समझा गया। जैसे इन्द्र=देवताओं का राजा है। इसमें इतिहास मानने वाले हैं। उन्होंने बीच के ऋषि तथा राजाओं के नामों की तुलना करके इनको उन दोनों साहित्योंके वर्णनसे मिलाया और जहां नहीं मिला, उसमें कल्पनाद्वारा कुछ जोड दिया।

(२) दूसरे मतवाले वे हैं जो कि इन सबको आलंकारिक कथाओं का रूप देता है। वे वेदों के सूक्ष्म रहस्यों का स्थूल रूपसे वर्णन पिछले भारतीय साहित्य में मानते हैं। इन दोनों की पूरी संगति दिखाते हैं। परन्तु क्योंकि प्राचीन इतिहास के नामों की पूरी पूरी ठीक तुलना इनसे नहीं होती, इस मनु १।२१ के अत्यन्त प्राचीन मत को स्वीकार करते हैं। इनके मतानुसार वेदों की महत्ता एवं उच्चता पूर्ववत् कायम रहती है और ऐतिहासिक शृंखला में भी जोड तोड नहीं करना पडता।

यह ठीक है कि प्रथम मतवालों के पास अपनी स्थापना करने के लिए पर्याप्त दृढ प्रमाण हैं। हमें भी यह स्वीकार करना चाहिए कि जिन जिन व्यक्तियों, ऋषियों या देवताओं की कथाओं का वर्णन वे वेदों में नामरूप से पाते हैं; वे सबके सब नहीं तो उनमें से अधिकांश तो ऐतिहासिक हैं ही, अर्थात् जिनका नाम वेदों में बतलाया जाता है, वे इतिहास में हुए हैं। उनकी सचमुच सत्ता किसी समय में विद्यमान थी। परन्तु प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या वे वेदों के समय में या उनसे पहिले विद्यमान थे। यदि किसी प्रकार यह साबित हो जावे कि, जितनी ऐतिहासिक कथाओं का साम्य वैदिक मंत्रों में कहे जानेवाले नामोंसे मिलाया जाता है, वे वेदोंके प्राचीन समय में तथा वेदों के समय में घटी, तो तो समझ में आता है कि वेदों में भी उनकी कथाएं विद्यमान हो सकती हैं। मान लो कि संपूर्ण कथाएं वेदों से पहिले की, तथा तत्कालिक हैं। परन्तु अब प्रश्न यह है कि क्या इनकी पूरी कथा वेदों में मिलती है। परन्तु आश्चर्य है कि वेदों में ऐतिहासिक कथाएं निकालनेवाले आधी कथाएं अपनी ओर से जोड देते हैं। उदाहरण के तौरपर सायणभाष्य देखो। जरा से नामकी समता देखकर उसमें से इतिहास बताया गया है; परन्तु अधिकांश वर्णन अपनी ओर से जोड दिया गया है। इस दशा में उन कथाओंके इतिहास को वेदों में कैसे मानें? दूसरी बात यह है कि, वर्णनों का अध्यात्मरूप से यदि विवेचन करें, तो वे सर्वथा ठीक उतरती हैं। क्योंकि यह प्रश्न सीधा इस विषय से सम्बन्ध रखता है कि वेदों में इतिहास है या नहीं। इसलिये विवाद में न पड इस विषय को यहीं छोडते हैं और एक पृथक् लेख में इस विषय पर विस्तार से विचार करेंगे। यहां तो केवल इतना ही कह सकते हैं कि कमसे कम ऋषियों तथा राजाओं का इतिहास तो हम वेदों में पाते नहीं। यदि इतना साहस न करें, तो कह ही सकते हैं कि दोनों वर्णनों की समता पूर्णरूपसे नहीं है। तो फिर यह सब गडबड हुई क्यों? इसी का उत्तर इस निबन्ध में देने का प्रयत्न करेंगे।

वेदोंमें राक्षस, असुर तथा दस्युओंका वर्णन है। परन्तु इनका पृथक् वर्ण या जातिके रूपमें वर्णन नहीं। इसके लिये हमें कोईभी प्रमाण नहीं मिलता कि वेदोंमें इनका ऐतिहासिक वर्णन है। कई कहते हैं कि यह (ऐतिहासिक) अर्थभी तो निकलता है और वेदके वर्णनोंसे कुछ कुछ समता रखता है। परन्तु सवाल यह है कि, क्या वेदोंसे इसकी पूरी संगति लग जाति है? एक स्थानपर तो इन्द्र राजाके तौरपर उल्लिखित है, परन्तु दूसरे सूक्तमें 'इन्द्र' एक अलौकिक दिव्य शक्तिका रूप धरे हुए हैं। इसकी आपसमें संगति कैसी लगेगी? ऐतिहासिक 'ब्रह्मा' यदि कोई हुआ है, तो उसकी कुकर्म-लीलाका साम्य वैदिक ब्रह्मासे कैसे दिखाएंगे? वेदों में इतिहास माननेवाले उनकी पूरी पूरी संगति लगा ही नहीं सकते। कमसे कम अभीतक तो नहीं लगाई।

वेदोंमें कई भौगोलिक नामों तथा सात नदियोंका वर्णन है। प्रथम तो यह कि यह वर्णन ठीक ठीक घटता नहीं। इसके विपरीत जब हम इस वर्णनको शरीरसे घटाते हैं, तो वहां पर यह वर्णन पूरा पूरा ठीक उतरता है। सात नदियाँ ये शरीर की सात नाडियोंका वर्णन है। इसीको 'सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे' ऐसा कहा गया है। ऋषि शब्द द्वारा उनकी गति और नदी शब्दद्वारा उनमें होनेवाले नाद का वर्णन किया गया है। नदी और नाडी शब्द भाषाविज्ञान की दृष्टिसे हमें तो एकही प्रतीत होते हैं। इसीसे 'नाली' शब्द बना है, जो कि धाराके अर्थमें आता है। ये प्राणों की धाराएं हैं। इनको योगिजनही ठीक प्रकारसे समझ सकते हैं, क्योंकि ऐसा साक्षात् अनुभव हमें नहीं है, अतः इन्हें अध्यात्मपरक न कह कर ऐतिहासिक मानें, यह युक्ति प्रबल नहीं। यह मैं विद्वान् पाठकोंकी अपनी सम्मति पर छोडता हूं कि 'वेदोंके वर्णनोंकी अधिक संगति अध्यात्मसे है या कम संगति ऐतिहासिक कथानक से?' और यदि अध्यात्म से है, तो इनमेंसे किसे मानें? इस विषयमें अधिक जानने की इच्छावालोंको श्री० पं० चन्द्रमणिकृत निरुक्तभाष्य देखना चाहिये।

इस सबकी फिर संगति कैसी लगेगी? वेदोंकी यह वर्णन-शैली है कि वह वर्णन करते समय 'ब्रह्माण्ड' तथा 'पिण्ड' दोनोंको सामने रखता है। उसमें दोनों नामोंकी समानता है। इसी वैदिक शैलीका अनुसरण पिछले ऋषियोंने किया। अर्थात् वेदोंके नामोंके आधारपर ही अपने नाम रक्खे। यही कारण है कि ऐतिहासिक वर्णन अध्यात्मवर्णनोंसे भी किसी किसी अंशमें मिल जाते हैं। इसको कुछ और अधिक स्पष्ट करना चाहिए।

'सूर्यप्रकाश' की गति एक घण्टेमें कुछ नियत मीलोंमें है। इस वाक्यमें 'सूर्यप्रकाश' का अर्थ सूर्यका प्रकाश है। परन्तु सूर्यप्रकाश किसी व्यक्ति का नाम भी तो हो सकता है। 'मतिमान्' पुरुष कभी भी विपत्तिमें विचलित नहीं होते-उसे धीरजधर कर सहते हैं। इस वाक्यमें 'मतिमान्' शब्द 'पुरुष' शब्दका विशेषण है। परन्तु 'मतिमान्' पद किसीके नामके तौर पर भी तो प्रयुक्त होता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि हमारी इस वैदिक या संस्कृत भाषा के विशेषण भी नामके तौरपर भ्रमसे समझ लिए जा सकते हैं।

ऐसा भ्रम भी कदाचित् हो सकता है, ऐसा होना सम्भव है, असम्भव नहीं। यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि इस भाषामें बने विशेषणोंको देखकर यह उनमें यह विवेक करना कि, ये विशेषण वा विशेष्य (नाम) में क्या है, बहुत कठिन है। 'सप्तरश्मिः सूर्यः' में हम दोनोंको ही विशेषण तथा विशेष्य समझ सकते हैं। क्योंकि 'सूर्य' शब्द हमने पुनःपुनः सुना है, इसलिये हम इसे एकदम विशेष्य तथा 'सप्तरश्मि' पद को विशेषण कह देते हैं। परन्तु दोनोंका भाव एकही पदार्थ से है। 'सप्तरश्मि' अर्थात् सूरज सूर्य है-सरणशील होनेसे और सूर्य अर्थात् सूरज सप्तरश्मि है सात प्रकारकी किरणोंवाला होनेसे। हम इसे दोनोंही प्रकारोंसे कह सकते हैं। मेरा तो कहनेका केवल मात्र यही प्रयोजन है कि इस प्रकारका भ्रम हो सकता है। यदि ऐसा हो सकता है, तो क्या यह सम्भव नहीं कि इसी प्रकारका भ्रम वेदोंके विषयमें भी हो गया हो। वेदोंमें आए जिन पदोंको नामके तौरपर विद्वान् ग्रहण करके उनसे इतिहास निकालते हैं; सम्भव है कि वे 'पद' विशेषण ही हों।

दूसरी एक और बात भी स्मरण रखनी चाहिए। लोगोंमें यह प्रवृत्ति होती है, कि वे अपनी पुरानी कथाओंमें से नाम चुन चुन कर अपनी संस्थाओं तथा वंशवालोंके रक्खा करते हैं। भारतवर्षमें अब भी कई ऐसे परिवार होंगे, जिनके क्रमशः नाम राम, भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न होंगे। किसी किसी परिवारमें पांचों भाइयोंका नाम पांचों पाण्डवोंके अनुकरण में भी हो सकता है और होगा भी। 'प्रताप' कइयोंका नाम हो सकता है। अभिप्राय यह है कि "संसार में बसनेवाली जातियाँ अपने साहित्यमें से नाम ले लेकर अपने अपने नाम रक्खा करती हैं।" उसके निकटसे निकट जो साहित्य होता है, उसीको इस बातके लिए चुना जाता है। इस समयके नाम रखनेवाले अधिकसे अधिक एक हजार वर्ष पीछेके साहित्यमेंसे नाम लेकर रखते हैं— मध्य-कालके उनसे पिछले साहित्यके। अब इस वर्तमान युगमें बसनेवाला कोई भी मनुष्य हजारों वर्ष पुराने ऋषियोंके नामोंपर अपना नाम नहीं रखेगा। परन्तु महाभारतकालीन ऋषियों तथा राजाओंने अपनेसे अति प्राचीन ऋषियोंके नामोंपर अपने अपने नाम रक्खे। यही कारण है कि प्राचीन भारतीय ऋषि एक एक नामके ही कई कई हुए हैं। यदि वेदों

में इनका नाम मानें, तो यह निश्चय करना कठिन है कि किस ऋषिसे अभिप्राय है। इसका समाधान तो यही हो सकता है कि वेदोंमेंसे एकने अपना नाम रक्खा। उसके आधारपर अगलोंने भी अपने अपने नाम रख लिए। इसी प्रकार अति प्राचीन आर्योंने वेदोंमेंसे अपने नामोंको रक्खा।

संस्कृतमें समासपद्धतिके कारण सब विशेषण नाम जैसे ही प्रतीत होते हैं। 'मधुसूदन, कृष्णः' में 'मधुसूदन' इस विशेषणका अर्थ- मधु※ अर्थात् सांसारिक पदार्थोंका नाश करनेवाला अर्थात् विषयभोगोंसे ऊपर उठा हुआ व्यक्ति- यह है। अभिप्राय कि कृष्ण नामक व्यक्ति इस गुणवाला था। परन्तु मधुसूदन किसी व्यक्तिविशेषका नाम भी तो हो सकता है। किसी स्थानपर 'कृष्ण' यह विशेष्य (नाम), विशेषणके तौर पर भी प्रयुक्त हो सकता है। 'कृष्णः मधुसूदनः' मधुसूदन नामवाला एक काले रंग का व्यक्ति। हमारे साहित्यमें कृष्ण एक अत्यन्त प्रसिद्ध आदर्श महापुरुष हुआ है। 'मेरा पुत्र' भी उन्हीं गुणोंवाला हो, इस भावसे प्रेरित माता-पिता उसका नाम 'कृष्ण' या मधुसूदन धर देते हैं। कइयों ने अपने पुत्रोंका नाम 'राम' या 'पुरुषोत्तम' भी धर दिया है। क्या अपने प्राचीन साहित्यमें से नाम लेकर जातियां अपने नाम नहीं रखतीं? यदि हां, और यह प्रक्रिया स्वाभाविक है, तो आर्यजाति पर यह नियम क्यों लागू नहीं किया जाता? वे भी तो उन नामोंपर अपने अपने नाम धर सकते हैं।

वेद पढनेवालोंने 'मेधातिथि' यह नाम अवश्यमेव सुना होगा; परन्तु 'मेधातिथि' नामक एक ऐसा व्यक्ति भी है, जिसे हम भी जानते हैं। इसकी मृत्युके बाद यदि विद्वानोंने आज्ञा दी, तो हम भी इसका इतिहास वेदोंमें से निकाल देंगे। परन्तु यह सब ठीक नहीं। सन ३६ में मैसूर में हुई 'ओरियेण्टल कॉन्फ्रेन्स' में 'मध्व उत्सः' इस पद में मध्व शब्द को देखकर एक विद्वान् ने 'मध्वाचार्य' की झलक इसमें देख ली थी। क्या कोई भी गम्भीर विद्वान् इस बातको स्वीकार कर सकता है? इस प्रकार तो 'ईशावास्यं' से 'ईसा,' 'मदीनाः स्याम' से 'मदीना' की सत्ता भी वेदोंमें से निकाली जा सकती है। केवल नामोंकी समतासे अर्थका अनर्थ नहीं कर देना चाहिए।

इस सचाईको कि अपने साहित्यमें नामोंपर भी नाम रक्खे जाते हैं और प्राचीन आर्योंने रक्खे भी, हमारे प्राचीन पुरुष अच्छी प्रकारसे समझते थे। मनुने लिखा है कि "सृष्टि के प्रारम्भमें वेदके शब्दोंसे ही सबके पृथक् पृथक् नाम और कर्म नियत किए गए।" × ऐसाही महाभारतकार महर्षि व्यासका मत है। उन्होंने तो महाभारत बनानेका कारण वेदका स्पष्टीकरण बताया है। ※ इससे यह तो स्पष्ट है ही कि इस ग्रन्थसे पूर्व वेद विद्यमान थे। फिर हमें यह समझमें नहीं आता कि श्रीयुत बङ्किमचन्द्र जैसे स्वनामधन्य विद्वान् भी क्यों वेदोंमें कृष्णके नाम (उस महाभारतकालीन ऐतिहासिक व्यक्ति) की सत्ता स्वीकार करते हैं। प्रतीत तो यह होता है कि व्यासने धर्मग्रन्थ वेदका अर्थ समझानेके लिए महाभारतयुद्धकी उस ऐतिहासिक घटना को आधारमें रख महाभारत रची; परन्तु ऐतिहासिकोंने वेद में से ही महाभारत निकाल दिया।

उस घटनाके नायक कृष्ण तथा तात्कालिक एक दो ऋषियोंका नामही वेदोंमेंसे निकाला जा सका है। वेदोंमें तो 'वसिष्ठ' तथा 'विदेह'का नाम भी आया है। 'इन्द्र' ब्रह्मा शिवादिका नाम भी आया है। तो क्या 'वसिष्ठ' और 'श्रीकृष्ण' एक समयमें हुए? कोई कह सकता है कि वेद तो संग्रहमात्र है। उसके कुछ भाग पहिले बने कुछ पीछे। परन्तु व्यासने जो यह लिखा कि मैं वेदोंके व्याख्यानके तौरपर महाभारत बना रहा हूँ, यह अपूरे वेदोंको लक्ष्यमें करके कहा था। उसने वेदोंका संग्रह किया। इसका यही अभिप्राय था कि वेदोंका अध्ययन लुप्त हो गया था। उसका कुछ हिस्सा किसीको याद था और कुछ किसीको। उसने उन सबका संग्रह करके बडे परिश्रमसे 'पूरे वेदों'का संकलन कर दिया। इसका यह अभिप्राय कैसे निकल सकता है कि वेदोंकी रचना भिन्न भिन्न समयोंमें हुई है? आश्चर्य यह है कि प्रायः सम्पूर्ण साहित्यमें वेदोंके रचनाभेदसे चार तथा विषयभेदसे तीन भागोंका वर्णन

※ मधु=सांसारिक पदार्थ। कठोपनिषदः। सूदयति सूदकः- नाशकः।

× सर्वेषां तु स नामानि, कर्माणि च पृथक् पृथक्। वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे॥

※ भारतव्यपदेशेन ह्याम्नायार्थः प्रकीर्तितः।

है। वेदोंकी मंत्रसंख्यामें भी अधिक गडबडें नहीं हैं।सचमुच यदि यह क्रम जारी था, अर्थात् शनैःशनैः इस वेदसाहित्य का विकास हो रहा था, तो इसकी दशा भी उपनिषदों और स्मृतियोंकी सी हो जाती अर्थात् वेदोंकी संख्या भी बढती जाती। जितने वेद आज उपलब्ध होते हैं; उतने ही प्राचीन कालमें थे। जितना आकार पहले था उतनाही अबभी है। इसलिए इन्हें भिन्न भिन्न समयोंमें निर्मित कैसे मानें?

यह सब झमेला इसी कारण है कि मनुकी उपर्युक्त सचाईको सामने नहीं रक्खा गया। जिन सात नदियों का नाम वेदोंमें हैं,वे शरीरकी सात सुषुम्णादि नाडियोंसे बिलकुल साम्य रखते हैं। क्या यह सम्भव नहीं कि सात नदियोंका नाम यहींसे लिया गया हो। भारतवर्षेतर प्रदेशोंमें जो भारतीय नाम ऐसे पाए जाते हैं; बजाए इसके कि उनका इतिहास वेदोंमेंसे खींचे, यही क्यों न मान लें कि वे नाम भारतीयोंने अपने साम्राज्यविस्तारके समय वहां जा जा कर रक्खें। यदि हम मनुकी उस सचाईको अपने सामने रक्खें, तो कई कठिनाइयोंसे बच सकते हैं। वेदके ऋषि तथा देवता क्या हैं? सृष्टिके समय वेद बने या नहीं, इन समस्याओंका हल बडी आसानीसे हो सकता है।

कम से कम हमें एक वार इस श्लोकपर गौर तो करना ही चाहिए। मनु ने यह वाक्य क्यों कहा? क्या यह मनु का प्रलाप है? उसने तो इसे निश्चयात्मक तौर पर कहा है; अनिश्चित' तौर पर नहीं। मनु के ये शब्द झूट भी नहीं हो सकते, क्योंकि 'मनु' आप्तपुरुषों में गिना जाता है। और तो और तुलनात्मक धर्म का अध्ययन करनेवालों ने तो प्रायः सभी जातियों के आदिपुरुषों का 'मनु' से किसी न किसी रूपमें सम्बन्ध बतलाया है। इस प्रकार यदि हम मनु की प्रामाणिकता को स्वीकार करते हैं, तो इस श्लोक की सचाई को क्यों स्वीकार नहीं करते? इस सचाई का कोई उदाहरण होगा तभी तो मनु ने ऐसा लिखा। 'मनु' के सामने इस बात के नमूने होंगे। वे नमूने ही तो वे हैं, जिन्हें आज के विद्वान् वेदों की ऐतिहासिक घटनाएं कहते हैं। मनु का तो यह भी दृढ विश्वास था कि इस देशके ऋषियों से ही सम्पूर्ण पृथिवीतल के मनुष्यों ने शिक्षाएं प्राप्त की *। उसका यह कथन क्या झूटा है? इसकी संगति उस श्लोक से बिलकुल ठीक लगती है।

प्रसंगवश एक अन्य बात भी कह देना आवश्यक समझते हैं। मनु के उसी श्लोक में "वेद शब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे।" ऐसा वचन भी है। इसको यदि सामने रखें तो प्रायः सभी ऐतिहासिक समस्याएं सुलझ जाती हैं। किन्हीं किन्हीं ऋषियों के नाम जैसे गौतम रामायण में भी आते हैं और महाभारत में भी। इसको देखकर यह कहना कठिन है कि वेद रामायण के समय बने या महाभारत के। दूसरे इतनी लम्बी आयु तो किसी पुरुष की होती भी नहीं। इसका हल उपरोक्त पंक्ति में किया गया है। 'मनुष्यों (ऋषियों) ने' प्रारम्भ में वेदों में से नाम ले ले कर अपनी अपनी संस्थाएं कायम की। जैसे वर्तमान में भी 'व्यास' संस्था या गद्दी चली आ रही है। शंकर के नाम पर आज भी मठरूप से चार संस्थाएं बराबर चली आ रही हैं। ठीक इसी प्रकार प्राचीन ऋषियों के नामों पर कई मठों या संस्थाओं का स्थापन हुआ। वे नाम वेदों में से ही लिये गये। पीछे उनकी गद्दी या चेअर चल पडी और सब उत्तराधिकारी भी उसी नामसे कहे जाने लगे। ऐसा ही यदि ब्रह्मा, विष्णु, महेश, इन्द्रादि नामक कोई ऐतिहासिक व्यक्ति हैं,तो इनके विषय में समझ लेना चाहिए। भारद्वाज, गौतमादि भी ऐसी ही व्यक्तियोंकी शृंखला का नाम है।

अपनी स्थापनाको पुष्ट करनेके लिये हमें कुछ और प्रमाण भी देने चाहिए। अबतक हमने जो कुछ भी लिखा है, वह विवेचनात्मक ही है। अपनी इस विवेचनाको और भी अधिक दृढ बनानेके लिये कई प्रमाण लिखता हूं। वे सब प्रमाण प्राचीन ग्रन्थोंसे देंगे। इससे यह भी पता लग सकता है कि यह मत बहुत प्राचीन है। जिन पौराणिक कथानकोंकी समता देखकर वेदमें ऐतिहासिक सामग्री बनाई जाती है, वे पुराण भी हमारे पक्षके ही हैं। विष्णुपुराणमें लिखा है कि– "उस प्रभुने सर्गके प्रारम्भमें सब देवों (प्राकृतिक सूर्यादि शक्तियों) और (स्थावर जंगम) भूतोंके नाम कर्म और रूप वेदके शब्दकोषसेही रक्खे। साथही ऋषिओंकी (संस्थाओंकी) नामावलि भी जैसी

---

* एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः। स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

वेद द्वारा सुनी गई और जिस नियुक्तिके वह लायक थी, उसी प्रकारसे रक्खी। *''

श्री माधवाचार्यने महेश्वर की स्तुति करते हुए लिखा है कि–"मैं सब सत्यविद्याओंके तीर्थभूत महेश्वरकी वंन्दना करता हूँ। वेद जिसके श्वासरूप हो प्रकट हुए हैं और जिसने वेदोंसे ही सम्पूर्ण जगत् का निर्माण किया है।×" "जब मनुष्य कोई वस्तु बनाना चाहता है, तो सबसे पहले उस वस्तुका निर्देशक कोई शब्द या नाम तथा उसके रूपकी कल्पना अपने मनमें कर लेता है और पुनः कार्यको प्रारम्भ कर देता है" ऐसा वेदान्तभाष्य १-३-२४ में शंकराचार्यने अपने अनुभवके आधारपर लिखा है। अब उस श्लोक पर आइये। उसने वेदोंसे संसारकी रचना की, अर्थात् वेद-रूपमें संसारका नक्शा उसके मनमें आया और फिर उसने उसके अनुसार सम्पूर्ण विश्वको बना दिया। क्या इससे यह स्पष्ट साबित नहा होता कि वेदोंमें आए हुए नाम तथा रूपके अनुसारही सृष्टितत्त्वोंके नामरूप व्याकृत किये गये? वेदान्त-भाष्यमें शंकरने इसीकी पुष्टि की है।

ऋषीणां नामधेयानि याश्च वेदेषु दृष्टयः।
शर्वर्यन्ते प्रसूतानां तान्येवैभ्यो ददात्यजः॥
यथर्त्तावृर्त्तु लिंगानि नाना रूपाणि पर्यये।
दृश्यन्ते तानि तान्येव तथा भावा युगादिषु॥
यथाभिमानिनोऽतीताः स्तुत्यास्ते साम्प्रतैरिह।
देवा दैवैरतीतैर्हि रूपैर्नामभिरेव च॥ (१।३।३०)

शंकरने ही १।३।२८ में लिखा है कि– "भूतोंके नाम तथा रूप और सब कर्मो की प्रवृत्तियां, सृष्टि के प्रारम्भ में परमेश्वरने वेद के कोषसे ही ढूंढ ढूंढ कर प्रचलित की।"+

अपनी 'सिक्स सिस्टम्स ऑफ इण्डियन फिलॉसफी' ✍ में सुप्रसिद्ध विद्वान् मोक्षमूलरने शंकराचार्य की सम्मति इस विषय में निम्न शब्दों में दी है "सब वर्णों के भेदों तथा देवों (प्राकृतिक शक्तियों) मनुष्यों तथा पशुओं की जातियों के भेद कारण वेद हैं...।" (वेदान्तभाष्य १-१-३ तथा बृह० उप० २-४-१०)

ब्राह्मणग्रंथों में ऐसा लिखा है कि प्रभु की सृष्टि उत्पन्न करने की इच्छा पैदा हुई। उस समय उसके मन में 'भूः भुवः स्व,' इन शब्दों के प्रादुर्भूत होने पर पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौलोक भी उत्पन्न हो गये। इससे स्पष्ट है कि ब्रह्माण्ड की शक्तियों के नाम पहले उस प्रभु की वाणी वेद में थे। ☙

पंचविंशति ब्राह्मण § में इस पक्ष को सिद्ध करनेके लिये बहुत ही स्पष्ट उदाहरण दिया है। उसके मत में प्रजापति ने निम्न मंत्र को स्मरण कर के संसार की रचना की—

" एते असृग्रमिन्द्रवस्तिरः पवित्रमाशवः।
विश्वान्यभिसौभगा॥ (९.६२.१०)

'एते शब्द का मनन करके प्रजापति ने देव उत्पन्न किए।

असृग्रम्	,,	,,	मनुष्य
इन्द्रवः	,,	,,	पितरः
तिरः पवित्रम्	,,	,,	ग्रह
आशवः	,,	,,	स्तोत्र
विश्वानि	,,	,,	मंत्र
अभिसौभगः	,,	,,	अन्य प्रजाएं

इसी को तर्कसंग्रहकर्ता ने "अस्मात्यदादयमर्थो

---

* नामरूपं च भूतानां, कृत्यानां च प्रवर्तनम्। वेदशब्देभ्य एवादौ देवादीनां चकार स॥
ऋषीणां नामधेयानि यथा वेदे श्रुतानि वै। यथा नियोगयोग्यानि सर्वेषामपि सोऽकरोत्॥
(वि० पु० १।५।६२-६३)

× यस्य निश्वसितं वेदाः यो वेदेभ्योऽखिलं जगत्। निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थं महेश्वरम्॥

+ नामरूपं च भूतानां कर्मणां च प्रवर्तनम्। वेदशब्देभ्य एवादौ निर्ममे स महेश्वरः॥

✍ 'Six systems of Indian Philosophy' (पृ० १५०)

☙ स भूरिति व्याहरत् स भूमिमसृजत। (तै० ब्रा० २. २. ४. २) स्पष्ट है कि जिस संकेत अर्थात् नाम से सोचा वही नाम धर दिया।

रश्मिरित्येवादित्यमसृजत– रश्मि शब्द स्मरण करके आदित्य को उत्पन्न किया।

§ (पं० ब्रा० ९. १३. २२ तथा १२. १.३)

बोद्धव्य इतीश्वरेच्छा संकेतः शक्तिः॥'' ॐ वेदके द्वारा ही प्रभुने अपने पुत्रों को शब्दों के अर्थों का भी ज्ञान दिया और संकेत किया कि तुम इस संसार में वेदोक्त नाम पुरुषों और पदार्थों के रक्खो।

हमने ऊपर अपनी स्थापना की पुष्टिमें पर्याप्त प्रमाण दिये हैं। इनसे इतना स्पष्ट है कि प्राचीन विद्वान् इस मत को माननेवाले थे। अत्यन्त प्राचीन कालसे यह जनश्रुति चली आ रही है कि वेदवाणी नित्य है,× और उस प्रभुने सृष्टिको वैसाही बनाया जैसी कि वह इस प्रलयसे पहिले विद्यमान थी। + उनके इस विश्वासमें सम्भव है कि विद्वज्जन पूर्णरूपसे हिस्सा न बटाएं, परन्तु क्या वे उनके इस विश्वाससे 'वेदोंसे ही सबने अपने अपने नाम रक्खे, इस स्थापनासे भी इन्कार कर सकते हैं? एकही बातको बार बार कहा गया। इस लिए उनकी भी प्रामाणिकता हमें स्वीकार करनी चाहिये। यदि हम इस को स्वीकार करलें कि 'वेदोंसे भी कुछ नाम लेकर प्राचीन वैदिक आर्योंने अपने ऋषियों, कर्मों तथा संस्थाओंके नाम रक्खे, तो उनके इस विश्वासपर कि वेद मनुष्यकृत हैं, कोई आंच नहीं आती। आगे फिर कभी इस बातपर विचार विस्तारसे करेंगे कि इस नियमको स्वीकार करनेपर किस प्रकारसे वैदिक रहस्योंका उद्घाटन होता है।

इस प्रकार हमने युक्ति तथा प्रमाण दोनोंसे अपनी इस अत्यन्त प्राचीन कालसे चली आ रही स्थापनाको विद्वानोंके सामने रखनेका दुस्साहस किया है। हमारा यह विश्वास है कि, इसके आधारपर यदि हम वेदके विषयमें किसी भी प्रकारका निर्णय करने बैठें, तो कई ऐतिहासिक भूलें सुधर सकती हैं और कई भ्रमोंमें पडनेसे हम बच सकते हैं। कई वेदोंकी पहेलियोंके उत्तर मिलेंगे, उसका रहस्यवाद एकान्त न रहकर साफ हो जावेगा। नहीं तो अनन्तकाल तक यह विवाद द्रौपदीके चीरकी तरह या ज्ञानकी गंगाकी तरह बढता चला जावेगा। आश्चर्य तो इस बातपर है कि, क्यों विद्वज्जन इन प्रमाणों या साक्षियोंकी उपेक्षा करते हैं? यही क्यों नहीं समझ लेते कि, यदि हम इनको असत्य समझते हैं, तो कहीं हमही तो भूलमें नहीं? जिन ग्रन्थोंके आधारपर ही विद्वद्वृन्दने वेदोंका निर्णय करनेका प्रयत्न किया है, उन्हीं ग्रन्थोंमेंसे ही हमने चुन चुन कर ये प्रमाण दिये हैं। उनके मतमें तो पूर्ण संगति भी इन ग्रन्थोंकी नहीं लगती। परन्तु हमारे मतानुसार कहींपर भी खींचातानी करनेकी आवश्यकता नहीं पडेगी। वेदमंत्रों के पदोंको खींचतान तथा तोडमरोडकर जो उनके साथ अन्याय किया गया है या उसके पदरूपी कानोंको ऐंठ ऐंठ कर उसे डर धमकाकर जो उसके मुखसे सत्य न निकलवाकर असत्य निकलवाया जा रहा है, वह बन्द हो जावे। वेद अपना अर्थ स्वयं कह देवें। विद्वानोंके सम्मुख अधिक कहना सर्वथा उनका अपमान करना है। ''अक्लमन्दानां इशारा काफी।''

ॐ तर्कसंग्रह। (४८)

× 'नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।'

+ सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः।''

वैदिक धर्म की विशेषता।

[पं० तडित्कान्तजी, वेदालङ्कार]

[धर्म भी ऐसी ही वस्तु होनी चाहिए कि जो मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तिका पोषक हो। इतनाही नहीं अपितु इस स्वाभाविक प्रवृत्तिको शीघ्रतासे निःसंशय प्राप्त करानेमें न केवल उपयुक्त हो, अपितु उसके लिए सत्य व सरल मार्गोंका भी प्रदर्शक हो।]

१. धर्म की आवश्यकता।

मानवजातिके आजतक के इतिहास को देखने से यह बात निर्विवाद स्वयंसिद्ध हो जाती है कि मनुष्यजाति बिना धर्म के रह नहीं सकती। मानवजाति के लिए धर्म एक अनिवार्य अङ्ग है। संसारमें फैले हुए मतमतान्तर, संप्रदाय तथा धर्म इस में स्वयंप्रमाण हैं। संसार का इतिहास बताता है कि ज्यों ज्यों समय गुजरता जाता है, त्यों त्यों धर्म में कुछ क्षीणता आने लगती है, अर्थात् उस समय प्रचलित धर्म में कुछ आवश्यक पोषक तत्व नहीं रहते। या इसेही दूसरे शब्दों में योंभी कहा जा सकता है कि धर्म के वास्तविक स्वरूप को मनुष्यजाति भूलने लगती है और अतएव उसे वह धर्म धारण करनेलायक योग्य रुचिकर प्रतीत नहीं होता। धर्म के वास्तविक स्वरूप को भूल जाने से उसे एक प्रकार की असहनीय अशान्ति अनुभव होने लगती है। और इस प्रकार जब प्रचलित धर्म के ह्रास की अन्तिम अवस्था आ पहुंचती है, तब कोई न कोई उच्च आत्मा धर्म के वास्तविक स्वरूप को समझाने के लिए संसार में अवतरता है और उसके द्वारा पुनः धर्म की नये सिरे से संघटना होकर मनुष्यजाति का कार्य चलने लग जाता है। इसी बात की ओर निर्देश करते हुए गीता में श्रीकृष्ण महाराजने अर्जुनसे कहा था कि—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

संसार में जितने भी धर्मप्रवर्तक या संशोधक महात्मा हुए हैं, वे सब इसी की पुष्टि कर रहे हैं। यह मानवजाति कभी भी धर्मशून्य नहीं रही और उसके इस भूतकालीन अनुभव से निःसंदेह यह भी कहा जा सकता है कि, वह भविष्य में भी बिना धर्म के जी नहीं सकेगी।

इस प्रकार मनुष्यजाति के लिए धर्म की अनिवार्य आवश्यकता सिद्ध होनेपर प्रश्न यह उपस्थित होता है कि, संसार में प्रचलित अनेक धर्मों में से कौनसा ऐसा धर्म है, जो कि मनुष्यजाति के लिए परम शान्तिदायक या उसकी अभिलाषाओंको वस्तुतः पूर्ण सफल बनानेवाला है?

२. धर्म का लक्षण।

उपरोक्त प्रश्न पर ठीक ठीक विचार करने के पूर्व यह आवश्यक होगा कि हम पहले इस बात पर विचार कर लें कि धर्म क्या है? अर्थात् धर्म का लक्षण क्या है? धर्म किसे कह सकते हैं?

संसार का प्रत्येक मनुष्य, समाज, जाति, देश तथा सब प्राणिमात्र सुख के अभिलाषी हैं. इसमें तिलमात्र भी संदेह नहीं। अगर सूक्ष्मरूप से संसार के कार्योंका विश्लेषण किया जाय व उन प्रत्येक के पीछे जो उद्देश्य व प्रयोजन हैं, उनको ढूंढा जाय, तो अंत में जाकर इसी परिणाम पर पहुंचेंगे कि उन कार्यों के करने का हेतु उस प्राणीका अपना निजका सुख था। तब धर्म भी ऐसी ही वस्तु होनी चाहिए कि जो मनुष्य की इस स्वाभाविक प्रवृत्तिका पोषक हो। इतनाही नहीं अपितु इस स्वाभाविक प्रवृत्ति को शीघ्रतासे निःसंशय प्राप्त कराने में न केवल उपयुक्त हो, अपितु उसके लिए सत्य व सरल मार्गोंका भी प्रदर्शक हो। वस्तुतः जो धर्म यह कर सकेगा, वही इस संसार में अंत तक टिक सकेगा। उसीसे मनुष्यजातिका वास्तविक कल्याण हो सकेगा।

हमारे प्राचीन शास्त्रकारोंने जो धर्म के लक्षण किए हैं, वेभी इन्हीं बातोंकेही द्योतक हैं। वे लिखते हैं कि—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः॥

(वैशेषिक दर्शन)

धर्म का अर्थ है जो धारण किया जाय। और जिसके धारण करने से अभ्युदय अर्थात् ऐहिक-कल्याण यानि इस

जगत् में सुखशान्ति उपलब्ध हो सके व सुखशान्ति-पूर्वक इह लीला समाप्त करने पर संसार के दुःखबंधनों से सर्वदा के लिए मुक्ति मिले । मृत्यु के अनन्तर की चर्चा को अपरोक्ष होने से 'दुर्जनतोष' न्यायेन छोड भी दिया जाय, तो भी यहांपर जिस वस्तु के स्वीकार करने से मनुष्य-जाति का वास्तविक कल्याण हो सके, व उसकी सुख की अभिलाषायें हस्तामलक की तरह सुलभ हो जांय, वही वास्तविक धर्म है ।

इस अभ्युदय तथा निःश्रेयस् को उपनिषदों में अपरा व परा विद्या के नाम से कहा गया है। मुण्डक-उपनिषद् में लिखा है कि—

द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद्ब्रह्मविदो वदन्ति
परा चैवापरा च ॥४॥
तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः ।
अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते ॥५॥
(मुण्डक- उप० १)

ब्रह्मज्ञानी जिसको बतलाते हैं, ऐसी दो विद्यायें जाननी चाहिए। उनमें से एक विद्या का नाम अपरा है तथा दूसरी का नाम परा है।

अपरा विद्या ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद का नाम है। वेदों को अपरा विद्या क्यों कहा है, यह समझने के लिए थोडासा विद्या शब्दपर विचार करना जरूरी है। यहांपर विद्या शब्दका अभिप्राय ज्ञान है। और ज्ञान दो प्रकार का हुआ करता है। एक शाब्दिक व दूसरा अनुभवजन्य । अर्थात् एक ज्ञान तो ऐसा होता है, जिसको हम शब्द या वाणीद्वारा दूसरे को प्राप्त करा सकते हैं और दूसरा ज्ञान ऐसा होता है, कि जो अनिर्वचनीय होता है । वह केवल अनुभवगम्य ही होता है। इस को और भी अधिक स्पष्ट करने के लिए हम एक उदाहरण लेते हैं।

उदाहरणार्थ फर्ज कीजिये कि आप के कोई सम्बन्धी इंग्लेण्ड हो आये हैं। उनसे आपने इंग्लेण्डसम्बन्धी शाब्दिक चर्चा की । आपको जो कुछ इंग्लेण्डविषयक ज्ञान प्राप्त करना था वह वाणीद्वारा प्राप्त कर लिया। पर उससे ऐन्द्रियिक प्रत्यक्ष ज्ञान-अनुभव आपको वैसा नहीं आ सकता जैसा कि आपके उन सम्बन्धी को आया हुआ है। अतः इंग्लेण्डविषयक आपकी विद्या (ज्ञान) अपरा हुई ।

क्योंकि हम वेदादि शास्त्रों के शब्दों द्वारा हमारे कर्तव्यकर्मोंका ज्ञान प्राप्त करते हैं, इसवास्ते वे उपनिषदों की भाषा में अपरा विद्या है।

दूसरी विद्या जिस का कि नाम परा है, वह अनुभव-गम्य है। उस से परब्रह्म की प्राप्ति होती है। वही निःश्रेयस् (मुक्ति) देनेवाली है। पर वह अनिर्वचनीय है । शब्द या वाणी से अगम्य होने से परा विद्या है। वह सिर्फ अनुभवगम्य है ।

कठोपनिषद् में इसी को श्रेय तथा प्रेय के नाम से कहा है। ईशोपनिषद् में विद्या अविद्या तथा सम्भूति और असम्भूति के नाम से व्याख्या की गई है । कठोपनिषद् में लिखा है कि—

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषं
सिनीतः । तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति
हीयते अर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते ॥१॥ श्रेयश्च
प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ संपरीत्य विविनक्ति धीरः ।
श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो
योगक्षेमाद्वृणीते ॥२॥ (कठ. उप. अध्याय २, वल्ली २.)

इसी प्रकार ईशोपनिषद् में लिखा है कि—

अन्ध तमः प्रविशंति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ॥९॥
अन्यदेवाहुर्विद्यया अन्यदाहुरविद्यया ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१०॥
विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदो भयं सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥११॥
अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ संभूत्यां रताः ॥१२॥
अन्यदेवाहुः संभवादन्यदाहुरसंभवात् ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१३॥
संभूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा संभूत्याऽमृतमश्नुते ॥१४॥

यहांपर प्रयुक्त विद्या, अविद्या आदि शब्दों पर विवेचन नहीं करते । उनपर विशेष विवेचन आगे चलकर किया जायगा । इन सबका अन्तिम फल अभ्युदय और निःश्रेयस्

है। एक प्रकार का उन्हीं को प्राप्त करने का विशद वर्णन है। नीचे दिए हुए कोष्टक को देखने से पता चल जायगा कि, अभ्युदय तथा निःश्रेयस् के लिए कौन कौन से शब्द प्रयुक्त किये गये हैं।

अभ्युदय	निःश्रेयस्
अपरा विद्या	परा विद्या
अविद्या	विद्या
असंभूति (विनाश)	संभूति
प्रेयस्	श्रेयस्

मीमांसाकार जैमिनि मुनिने धर्म का लक्षण करते हुए लिखा है कि—

चोदना लक्षणोऽर्थो धर्मः॥ (मीमांसादर्शन)

धर्म उसका नाम है, जो कि मनुष्य को सुख व कल्याण की ओर प्रेरणा करता है। मनुष्य को उन्नति की और प्रेरणा करनेवाला, उसे सद्-असद् विवेक को सुझानेवाला धर्म ही है। दुःखी मनुष्यको सान्त्वना देकर जो परम शान्ति की प्राप्ति के लिए प्रेरणा नहीं दे सकता वह धर्म नहीं कहा जा सकता। धर्म एक ऐसी वस्तु है, जो कि मनुष्यसे कभी भी अलग नहीं होती। जो मनुष्य, जो समाज, जो जाति तथा जो देश धर्मका त्याग कर आगे बढनेका प्रयत्न करते हैं, वे कभी भी सफल नहीं हो सकते। क्योंकि उन के मार्ग के सत्यासत्य के निर्णायक व प्रेरक धर्मका साथ नहीं। जो लोक दूसरों को धर्मका त्याग करने के लिए कहते हैं, वे यही नहीं समझते कि, धर्म किसका नाम है? प्रायः लोक एकाध मत या पंथ अथवा संप्रदाय को ही धर्म समझकर उसका त्याग करके बडे अभिमान से कहते हैं, कि हम धर्मकर्म कुछ नहीं मानते; हमने सब धर्मोंका त्याग कर दिया। वस्तुतः संसारमें फैले हुए मत-मतान्तर तथा संप्रदाय धर्म नहीं है। वे किसी अंशमें धर्म के सहायक अङ्ग कहे जा सकते हैं। उनमें से किसी एक से भी विश्वको शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। उनमें से कोई भी एक विश्व का कल्याण नहीं कर सकता। उनमें से कोई भी एक संसार में एकता पैदा नहीं कर सकता।

संसार में कोई भी ऐसा मनुष्य नहीं है कि, जो अपना, अपनी समाजका तथा अपने देशका अभ्युदय न चाहता हो। ऐसे लोग नहीं के बराबर होंगे, जो कि संसार के साथ विश्वबन्धुत्व स्थापन करना पसन्द न करते हों। तब यह कैसे कहा जा सकता है कि, हम धर्मकर्म में कुछ नहीं मानते। धर्मादि सब कुछ ढकोसला और धतींग है। सम्प्रदाय व मतों को धर्म मान कर उनके बरखिलाफ खौलते रहने से अपनी ही मूर्खता जाहिर होती है। ऐसे लोकों के लिए तो यही न्याय चरितार्थ होता है कि- "नैष स्थाणोरपराधो यदेनं अन्धो न पश्यति।" आंख बन्द करके चलनेवाला अगर ठूंठसे टकरा जाय, तो उसमें ठूंठ का क्या दोष? इसी प्रकार धर्म को न समझने वाला धर्मके नाम से उबलता रहे तो इसमें धर्म क्या करे? अस्तु। हम समझते हैं कि धर्म के लक्षण का इतना विवेचन पर्याप्त होगा। अब हमें यह देखना है कि धर्म के उपरोक्त लक्षण की परीक्षा में वैदिक धर्म कहांतक उतरता है।

वैदिक धर्म का लक्षण।

इससे पहले कि वैदिक धर्म को परीक्षा की तराजू में तोला जावे। यह अच्छा होगा कि हम वैदिक धर्म किसे कहते हैं, यह पहले निश्चितरूप से जान लें।

वैदिक धर्म उस धर्म का नाम है, जिस में कि विश्व-मात्र के कल्याण के लिए वेदोंद्वारा सिद्धान्त व नियम प्रतिपादित किए हों। उपनिषदादि आर्ष ग्रन्थ तथा मनुस्मृत्यादि स्मार्त ग्रन्थ वहीं तक उपादेय समझे जायंगे, जहांतक कि वे वैदिक सिद्धांतो के अनुकूल व पक्षपोषक हों। सिद्धांत व नियम के विषय में इतना ख्याल करना जरूरी है, कि सिद्धान्त त्रिकाल अटल हैं। जब कि नियम स्थिर होते हुए अपवाद के लिए कभी कभी कहीं स्थान रखते हैं। उदाहरणार्थ यह एक अटल सिद्धान्त है कि जो जीव पैदा होता है, वह अवश्य मरता है। अथवा इस संसारका रचयिता एकमात्र परमात्मा है। इसी प्रकार ईश्वर एक है, व स्वयं अजर अविनाशी है, इत्यादि। ये सब अटल सिद्धान्त हैं। इनमें अपवाद को तिल मात्र भी स्थान नहीं।

धर्म शब्द की व्याख्या इतनी व्यापक है कि, वह विश्व की तमाम जडचेतन वस्तुओंको लागू पड सकती है। अतः हम प्रकृत विषयमें इतना अधिक गहरा न जाकर

सिर्फ मनुष्य व इतर प्राणीमात्र से जितना सम्बन्ध है, उतनाही प्रतिपादन करेंगे ।

वैदिक धर्मकी आवश्यकता ।

धर्म की आवश्यकता सिद्ध हो जाने पर अब सहसा यह प्रश्न उपस्थित होता है कि, वैदिक धर्ममें ऐसे कौनसे सिद्धांत हैं कि, जिससे मनुष्यजातिको उसके बिना चल नहीं सकता ? उसमें ऐसे कौनसे सिद्धांत व नियम हैं कि जिनसे मनुष्यमात्र का कल्याण होकर वे अभ्युदय व निःश्रेयस् को प्राप्त हो सकें ?

१. विश्वबन्धुत्व ।

परमात्माको सब मनुष्यमात्र का पिता मानना तथा प्रत्येक मनुष्य को अपना भाई समझना, यह विश्वबंधुत्व का आदर्श है। इस विश्वबंधुत्व के सिद्धांत के विषयमें ईसाई धर्मवालों का दावा है कि यह सिद्धांत बाईबलके सिवाय अन्यत्र उपलब्ध नहीं । इस सिद्धांतकी पुनीत भेट मनुष्यजातिको पवित्र बाईबल ने ही सबसे प्रथम की ! परन्तु जब हम वेदकी ओर दृष्टिपात करते हैं, तब हमें स्पष्ट प्रतीत होता है कि, उनका यह दावा वास्तविक सत्यांश से शून्य है।.वेद बाईबलसे पुराने हैं. यह तो निर्विवाद सिद्ध है। अत: उपरोक्त सिद्धांत अगर वेदोंमें बहुतायतसे मिलता हो, तो बाईबल का दावा अपने आप पीछे का ठहरता है और अतएव उसका महत्त्व स्वयं नीचा हो जाता है।

वेदों का निष्पक्षपात समालोचक यह भली भांति देख सकता है कि वेदोंमें एक स्थानपर नहीं अपितु अनेक स्थानों-पर और अनेक वार उक्त सिद्धांतका वर्णन खुलम खुला पाया जाता है । हम यहां पर ऐसेही कुछ उदाहरण पेश करेंगे, ताकि उपरोक्त वक्तव्यकी सत्यता अधिक स्पष्ट हो जाय ।

(१) ईश्वर मनुष्यमात्र का एक ही पिता है। या मनुष्यमात्र उस एक पिता परमात्माकी संतान हैं ।

शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः ॥ (ऋग्वेद १०।१३।१ यजु० ११।८)

अर्थात् हे अमृत के पुत्रो, सुनो " इत्यादि । यहांपर मनुष्योंका अमृत-परमात्माके पुत्र कहा गया है । यहांपर अमृत शब्द खास अभिप्रायपूर्वक प्रयुक्त है । वेदोंकी एक यह भी खासियत है कि- "बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्हि वेदे।" अर्थात् वेदोंमें जो वाक्यरचना है, वह बुद्धिपूर्वक-विचारपूर्वक बनाई गई है । प्रत्येक वाक्यरचना अपने अपने खास अभिप्राय व उद्देश्य को लिए हुए है। जैसा मनमें आया, वैसा बकवाद नहीं है । यहां पर मनुष्यको अमृतपिता का पुत्र बताया है। मनुष्यपुत्रको अमृत-पिताका वारसा है । पुत्र पिताके समान या पिताकी खासियतें लिए हुए तदनुरूपही हुआ करता है। यहांपर इस वाक्यरचनाद्वारा यह बताया है कि, हे ! मनुष्य तूभी अमृत है, अमर है। पितापुत्रके अनुरूपतासम्बन्धमें शतः ब्रा० तथा बृहत्-उपनिषद् में लिखा है कि-

अंगादंगात् संभवसि हृदयादधिजायसे ।
स त्वमङ्गकषायोऽसि दिग्धविद्धामिव मादय ॥
(शत० ब्रा० १४।९।४।८; बृह० उप० ६।४।९)

आत्मा वै पुत्र नामासि स जीव शरदः शतम् ॥
(शत० ब्रा० १४।९।४।२६)

अर्थात् हे पुत्र ! तू पिताके अङ्गअङ्गसे व हृदयसे पैदा हुआ हुआ है । तू पिता के अङ्ग का सत्व है। और मानो पिता ही की आत्मा पुत्र में अवतर कर आई है, इत्यादि ।

२. यो नः पिता जनिता यो विधाता॥ (ऋ. १०-८२-३)
३. त्वमग्ने प्रमतिस्त्वं पीतासि नः ॥(ऋ.१-३१-१०)
४. स नः पितेव सूनवे अग्ने सूपायनो भव॥(ऋ.१-१-९)

यहां सब जगह स्पष्ट शब्दों में पिता का प्रयोग हुआ हुआ है । इस प्रकारके अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। ऋग्वेद मं० ९८।११ में लिखा है कि-

त्वं हि नः पिता त्वं माता शतक्रतो बभूविथ ।
अधा ते सुम्नमीमहे ॥

यहांपर परमात्मा को न-सिर्फ पिता ही कहा है, अपितु माता शब्द से भी निर्देश किया है । वस्तुतः वही हमारा माता और पिता है। और अतएव उस से सुख व कल्याण की प्रार्थना की गई है ।

२. संसारके सब मनुष्य परस्पर भाई हैं।

यूं तो परमात्मा को पिता कहने से हम मनुष्यमात्र उसकी संतान ठरते हैं और एकही मातापिताकी संतान

होने से सब मनुष्य भाईभाई हैं, ऐसा स्वयंसिद्ध हो जाता है, फिर भी वेदोंमें ऐसे भी स्पष्ट विधान मिलते हैं, जिनके कि द्वारा यह सिद्ध होता है कि संसार के सब मनुष्य भाई भाई हैं, चाहे वे किसी देश में किसी जातिके नाम से निवास करते हों। ऋग्वेद में लिखा है कि–

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते। संभ्रातरो वावृधुः सौभगाय ॥ (ऋ० ५-६०-५)

इस का अर्थ है कि (एते) ये मनुष्यगण जो कि (भ्रातरः) भाई भाई हैं और जो कि (अज्येष्ठासः) परस्पर एक दूसरे से न तो बडे ही हैं और (अकनिष्ठासः) नहीं छोटे हैं, अर्थात् जिनमें छोटेबडे ऊंचनीचका भेदभाव नहीं है– जोकि सब एक समान हक रखते हैं, ऐसे ये मनुष्यगण (सौभगाय) ऐश्वर्यप्राप्ति के लिए (संवावृधुः) अच्छी तरहसे– समानरूपसे बढते रहें।

इस से ज्यादा और अधिक स्पष्ट विश्वबंधुत्व (Universal Brotherhood) का पुरावा क्या हो सकता है ? वैसे तो वेद में समान-भावसे सम्मीलित प्रार्थनायें स्थानस्थान पर हैं, जिन सब का यही अभिप्राय है। ऐसे जितने चाहें उद्धरण पेश किए जा सकते हैं।

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्। समानं मन्त्रमभि मन्त्राये वः समानेन वो हविषा जुहोमि ॥

अर्थात् तुम्हारी मंत्रणायें मिलकर हों। तुम्हारी सभायें मिलकर हों। तुम्हारे मन और चित्त भी एक हों। तुम्हारा ध्येय भी एक ही हो इत्यादि। यहांपर समानत्व व एकत्व पर कितना जोर दिया गया है। इसी प्रकार–

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥
(ऋ. १०।१९१।४)

अर्थात् (वः) तुम सब मनुष्योंका (आकूतिः) संकल्प-निश्चय (समानी) समान हो। (वः) तुम्हारे (हृदयानि समाना) हृदय एक से हों। (वः मनः समानं अस्तु) तुम सबका मन भी समान हो। (यथा) जिससे कि (वः सुसह असति) तुम्हारा सबका मिलकर अभ्युदय हो सके।

यजुर्वेदमें लिखा है कि—

यथा नः सर्व इज्जनोऽनमीवः सङ्गमे सुमना असत् ॥ (यजु० ३३।८६)

अर्थात् हम सबका व्यवहार इस ढंगका हो कि जिससे (सर्व इत् जनः) सबके सब मनुष्य (नः संगमे) हमारे संगमें (अनमीवः) रोगरहित हुए हुए अतएव (सुमनाः) उत्तम मनवाले यानि हमसे प्रीति करनेवाले– हमारे प्रति सद्व्यवहार-सद्विचार व सद्भाववाले (असत्) हो जांय।

इसी प्रकार अथर्ववेदमें लिखा है कि—

येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः।
तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः ॥
(अथर्व० ३।३०।४)

अर्थात् (येन) जिस ज्ञानको प्राप्त करके (देवाः) विद्वान् गण (न वियन्ति) परस्पर विरोध, लडाई, झगडे नहीं करते और (नोच मिथः विद्विषते) नहीं परस्पर ईर्ष्या–द्वेषही करते हैं, (तत् ब्रह्म संज्ञानं) ऐसे उस ब्रह्म-ज्ञान को (वः गृहे) तुम्हारे घरोंमें (पुरुषेभ्यः) पुरुष-मात्रके लिए (कृण्मः) भेट करते हैं।

ये सब मंत्र इतने स्पष्ट हैं कि उनके विषयमें कुछ भी विशेष कहना अनावश्यक होगा। इन सबसे विश्व-बन्धुत्वकी भावना का वेदोंमें कितने जोरसे प्रतिपादित किया गया है, यह भली भांति हरेकके ध्यानमें आ सकता है।

विश्वबंधुत्वके प्रश्न के साथ ही विश्वशांति का अत्यंत निकट सम्बन्ध है। परस्पर भाई भाई का नाता होते हुए भी तब तक शांतिलाभ नहीं हो सकती, जब तक कि परस्पर स्नेह रखने की भावना मनमें उत्पन्न न की जाय और अतएव वेद जहां विश्वबंधुत्वकी भावनाको बढानेका उपदेश देता है, वहां साथही साथ आपसके वैरभाव-द्वेष-ईर्ष्या आदि मिटानेके लिए भी उतनाही जोर देता है। हम अभी उपरही अथर्ववेदके एक मंत्रको उद्धृत कर आए हैं, जो कि इसी बातकी ओर निर्देश कर रहा है। यहांपर हम दोतीन औरभी मंत्र देकर उसकी पुष्टि करनेका प्रयत्न करेंगे।

यजुर्वेद के ३६ वें अध्यायके १८ वें मंत्रमें लिखा है कि–

मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम् ।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे ।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ॥

मुझे प्राणिमात्र मित्र की दृष्टि से देखे । अर्थात् कोई भी प्राणी मेरे से द्वेष न करे । वे मुझे मारें नहीं । मेरी मृत्यु से रक्षा करें । मित्र शब्द का अर्थ है ' मरणात् त्रायते इति मित्रः ' जो मरने से बचावे वह मित्र । इसी प्रकार मैं भी प्राणिमात्र को मित्र की दृष्टि से देखूं । उनकी प्राण-हानि कभी न करूं । मैत्री, द्वेष, ईर्ष्या आदि सापेक्ष हैं । जिस प्रकार एक हाथ से ताली नहीं बज सकती, ठीक इसी प्रकार सिर्फ एकही पक्ष की ओर से चाहने से मित्रता नहीं हो सकती । अतएव मन्त्र के अन्त में उपसंहार के रूप में कहा कि हम सब प्राणिमात्र आपस में एक दूसरे को मित्रकी दृष्टि से देखें । ताकि द्वेषादि की सम्भावना भी उत्पन्न न हो सके । ऐसेही-

विश्वा द्वेषांसि प्र मुमुग्ध्यस्मत् । (यजु० २१-३)
युयोध्यस्मद् द्वेषांसि । (यजु० १३-४६)
आरे द्वेषांसि सनुतर्दधाम । (ऋ० ५-४५-५)

इत्यादि ऐसे अनेक स्थल हैं, जो बार बार यही उपदेश दे रहे हैं कि सब अशान्ति के मूल द्वेष का त्याग करो । विश्वबन्धुत्व की भावना तभी कार्य में परिणत की जा सकती है । वेद में न सिर्फ इस पृथिवीलोक से द्वेष-भावना के विनाश का उल्लेख है, अपितु वेद तो कहते हैं कि-

अद्वेषे द्यावापृथिवी हुवेम ॥ (यजु० १२।२९)

द्युलोक और पृथिवीलोक दोनों में ही द्वेष का काम नहीं । दोनोंही द्वेषरहित हैं । और तुम भी उन्हें द्वेष-रहित बनाए रखो । इस प्रकार द्वेषरहित मानवसमाज होनेपर विश्व में भाईचारा व शान्ति उपलब्ध हो सकती है, पर यह अवस्था पैदा करने के लिए वेद भगवान् मार्ग बतलाते हैं कि ' अहिंसा और स्वार्थत्याग । '

आजकल संसार के सब बडे बडे दिमाग इस बातको मानते हैं कि संसार से दुश्मनावट नष्ट हो जानी चाहिए। संसार में विश्वबन्धुत्व की भावना पैदा करनी चाहिए और इस प्रकार सुखशान्ति से जीवन व्यतीत करना चाहिए । पर यह सब प्राप्त करने के लिए स्वार्थत्याग के लिए एक भी तैयार नहीं । उलटा बडा छोटे को खाने के लिए तरस रहा है । हिंसाकी प्रबल भावना दिल में घर किए हुए हैं । अहिंसाकी भावना पैदा किए बिना द्वेष नष्ट नहीं हो सकता । और स्वार्थत्याग की वृत्ति बनाए बिना हिंसा की भावना नष्ट नहीं हो सकती । अतएव वेद भगवान् कहते हैं कि-

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत् किं च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥
(यजु० ४०।१)

इस मंत्र का उपदेश मनुष्यके लिए अमृतसमान है । इसमें अनेक रहस्य भरे पडे हैं । पर हम यहांपर अधिक गहराई में न जाते हुए सिर्फ भावार्थ देकर ही आगे चलेंगे । इसकी विशेष व्याख्या देखनेकी जिन्हें इच्छा हो, वे स्वाध्यायमण्डल से प्रकासित " ईश-उपनिषद् " मंगाकर पढ सकते हैं । मन्त्रका भावार्थ है कि-

इस संसार के जर्रे जर्रे में वह ऐश्वर्यशाली सर्वशक्तिमान् परमात्मा व्याप्त है । अतः इस संसार में वही सुख से रह सकता है, सर्वत्र विचर सकता है, जो कि अपने आपको ईश अर्थात् सामर्थ्यवान् शक्तिशाली व बल-सम्पन्न बनावे । वस्तुतः संसार में अनुभव भी यही आता है। सर्वत्र " मत्स्यन्याय " प्रचलित है । संसार की बडी जातियां छोटी को हजम कर जाती हैं । बडा जीव छोटे जीव को खा जाता है । शक्तिशाली निर्बल पर निरंकुश राज्य करता है । ऐसी दशा में शक्तिसम्पन्न होने के सिवाय कोई भी चारा नहीं है । अतः वेदने कहा कि मनुष्यो ! शक्तिशाली बनो । बलवीर्ययुक्त होकर ऐश्वर्य प्राप्त करो ।

परन्तु ऐश्वर्यबलादि सम्पन्न करने तक ही तुम्हें छूट है। उसका उपभोग " मत्स्य-न्याय " की तरह करने की छूट नहीं है । उसका भोग तो त्यागपूर्वकही करना है। दूसरों को खिला कर ही खाना ही । दूसरों को दे करही बचे हुए का अपने लिए उपभोग करना है। यज्ञशेष परही तुम्हारा हक है । वास्तविक सुख त्याग में-दानमेंही है । इस के बिना विश्वबन्धुत्व-विश्वप्रेम-पैदा नहीं हो सकता । समर्थ के स्वार्थत्याग की ही वास्तविक कीमत है। तुम

समर्थ हो, अतः तुम्हें स्वार्थत्याग का उपदेश है। क्योंकि वास्तविक त्याग सिर्फ तुम्ही कर सकते हो। तुमने प्राप्त किया है, अतः तुम दे सकते हो। तुमने जिस प्रकार प्राप्त करने का सामर्थ्य अपने में उत्पन्न किया, उसी प्रकार तुममें देने का सामर्थ्य भी आना चाहिए, क्योंकि त्यागही उसकी शोभा है। इतना ही नहीं अपितु देने से तुम अपनी कमाने की शक्ति और भी अधिक बढा लेते हो। त्याग की महिमा महान् है। त्याग करने की इच्छा बहुतों को हो सकती है, पर त्याग के लायक हरेक का अपने को बनाना अत्यंत कठिन है।

त्याग की भावना मनुष्य में दोही प्रकार से उत्पन्न हो सकती है। या तो वह यह समझे कि अमुक वस्तु उसकी अपनी नहीं है, सिर्फ अमुक समय के लिए ही उसे सम्भालने को या उपभोग करने को दी गई है, या उसे उस वस्तु से उदासीन कर दिया जाय। अर्थात् उस वस्तु में से उसका ममत्व दूर कर दिया जाय। उस वस्तु की निःसारता प्रकट कर दी जाय। उपरोक्त मन्त्र के चतुर्थ पादमें भी यही दिखाया गया है। अत्यंत कठिन परिश्रम से उपलब्ध वस्तु एकदम मनुष्य कैसे छोडने के लिए तैयार हो सकता है? उसमें से बहुतसा हिस्सा दूसरों को बांट देने के लिए वह एकाएक कैसे राजी हो सकता है?

अतः उसके मनमें यह ठंसा देना नितान्त जरूरी है कि, उसने जो कुछ प्राप्त किया है, वह वस्तुतः उसका नहीं है। और उसे वह थोडी देर के लिए अपना समझ भी ले तो जब उसे यह पता चल जायगा कि वस्तुतः इसमें कुछ सार नहीं है, तो जिस तरह बंदरिया अपने मृत बच्चे को कई दिन छाती से लिपटाये हुए फिरते रहने के बाद यह निश्चय होने पर कि वह अब मर चुका है छोड देती है, निःसंदेह वह मनुष्य भी उसका सहर्ष त्याग करने को राजी हो जायगा। उसके इस महत्वपूर्ण त्यागसे संसारमें सुख व शान्ति व्याप्त हो जायंगे व उस मनुष्य की अवस्था पहिले से कहीं ज्यादा ऊंची हो जायगी।

(१) "कस्य स्विद्धनम्" यही कह रहा है। वह कहता है कि, हे मनुष्य! इस प्राप्त पदार्थ का त्याग कर के भोग कर, क्योंकि तुझे पता है यह धन किसका है? तुझे स्पष्ट मालूम होना चाहिए कि, वह धन तेरा नहीं है। उस पर तेरा अधिकार नहीं है। वह परमात्माका है। तुझे सिर्फ सम्भालने के लिए तथा संसार के आवश्यक कार्य चलाने के लिए दिया गया है। अतः तू अपने आपको सम्भाल, चेत और सावधान होकर सबको उन उन के हिस्से बांट दे। यह तेरी सख्त भूल है अगर तू उसे अपना निजका समझकर दबाना चाहता है!

(२) "कस्य स्विद्धनम्।" 'दुर्जन-तोष' न्यायके अनुसार थोडी देर के लिए मान भी लिया जाय कि उसे तूने कठिन परिश्रम से प्राप्त किया है और उसपर तेरा ही अधिकार भी है, तो भी यह तो विचार कर कि यह धन आजतक किसीका हुआ भी है? इसने कभी किसीका साथ भी दिया है? फिर इसके त्यागके लिए इतना मोह क्यों?

दुनिया में आजतक बडे बडे राजे महाराजे हुए। कुबेर जैसे अनेक धनी हो गये। पर कोई भी इस धनको अपने साथ न ले गया। उलटा जिसने यहांपर उसका त्याग-दान छूटसे किया, वह अपने आपको 'यावच्चन्द्रदिवाकरौ' अमर कर गया। वस्तुतः वही इसका सच्चा भोग कर गया। और वही सच्चा दान कर गया। यह अत्यंत विख्यात कथा है कि सिकन्दर बादशाहने बडे बडे पराक्रम कर के देशदेशान्तर को विजय कर अखूट धनभण्डार का संग्रह किया। अतुल वैभव सम्पत्ति बनाई। पर जब मौतका समय आया, तो उसने देखा कि उन सब में से कुछ भी वह अपने साथ ले नहीं जा सकता था। उसने अपनी अतुल सम्पत्ति का अपनी आंख के सामने ढेर लगवाया। एक तरफ दास-दासी, नौकर-चाकर, सेना आदि खडे किए। और आंखों में अश्रुभरके शोकसन्तप्त दिल से हाय भरते हुए प्राणविमोचन किए।

यह है वेदका स्वार्थत्याग के लिए अत्यंत सारगर्भित उपदेश। यह उपदेश कितना महान् है, इसकी हरेक को कल्पना आ सकती है। इसने ऊंचे स्वार्थत्याग के विना द्वेषभावना को त्याग कर वास्तविक मित्रता का होना असम्भव है। ऋग्वेद में एकस्थान पर स्पष्ट रूपसे उल्लेख है कि-

केवलाघो भवति केवलादी॥ [ऋ० १०।११७।६।]

अर्थात् अपने आप अकेला खानेवाला निःसंदेह पापी है। यहां खाने से अभिप्राय उपभोग का है। जो अपने साथी

संगाथी को छोडकर स्वार्थी बनकर सिर्फ अपने आप ही भोग करता है, वह निःसंदेह पाप करता है। क्योंकि उसके इस वर्तन से अन्य दुःखी होकर पापकी ओर प्रवृत्त होते हैं। अतः वह सब से ज्यादा पापी ठहरता है। दूसरों के पापका भी वही भागी बनता है।

द्वेषभावना का विनाश करने के लिए जितनी स्वार्थ-त्याग की जरूरत है, उतनीही अहिंसाकी भी जरूरत है। स्वार्थत्याग की भावनावाले में अहिंसावृत्ति की विशेष आवश्यकता है। जिसने स्वार्थत्याग की दृढ भावना को अपने में उत्पन्न कर लिया है, वही अहिंसावृत्ति पैदा करने में विशेष सफलता प्राप्त कर सकता है। स्वार्थांध मनुष्य जितनी हिंसा इस दुनिया में करता है, उतनी शायदही कोई अन्य करता होगा। संसार में बडे बडे महायुद्धों का वास्तविक कारण अगर ढूंढा जाय, तो सबकी तह में निःसंदेह स्वार्थवासनाही उपलब्ध होगी।

युरोप में कहो या विश्व में कहो, इस समय जो अशान्ति फैल रही है, उसका भी मुख्य कारण यही है कि कोई भी देश अपने छोटे से भी स्वार्थका त्याग करना नहीं चाहता। सभी चाहते हैं कि संसार में उन्हीं का साम्राज्य बढे। वेही संसार के ज्यादा भाग पर अपना आधिपत्य जमायें। वेही अकेले सब च्याऊँ कर जांय! यह किसीको भी सहन नहीं हो सकता। और अपनेही अपने में कोई सीमित रहना नहीं चाहता। ऐसी अवस्था में जो कुछ सम्भव हो सकता है, वही हो रहा है। विश्व-शान्ति व विश्वबन्धुत्व के पोले ढोल बजाकर उसकी आडमें सब अपने शिकार की तलाश में इन्तजारी कर रहे हैं। वस्तुतः उनका ध्येय स्वार्थत्याग नहीं है। वे तो शक्ति (might is right) ही के अन्ध उपासक बने हुए हैं। उन्होंने उपरोक्त वेदमन्त्र के सिर्फही पहले ही तत्वको अपनाया है। अभिमन्युकी तरह उन्होंने चक्रव्यूह में जाना तो सीख लिया है पर निकलना नहीं जानते। इसका जो विपरीत परिणाम होगा व बहुत शीघ्रही संसार के सामने आ जायगा। अगर वे " तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा " का सूत्रभी समझ जांय, तो आज इसी घडी में उनकी इस आफत से मुक्ति हो सकती है। वैदिक धर्मका कार्य मार्ग बतलाना है; जो वास्तविक सुखका अभिलाषी होगा, वह अपने आप ठोकरें खाकर अपने स्थान पर आ जायगा। नहीं तो उसकी हालत ठीक वैसीही होगी, जैसी कि "ईश-उपनिषद् " में आगे जाकर बताई गई है।

जो लोग कहते हैं कि, वेदों में हिंसा भरी पडी है। याज्ञिककाल में लोक यज्ञ में पशुहिंसा किया करते थे, उनसे हमारा इतनाही कहना है कि उनके ये आक्षेप सर्वथा निराधार हैं। जिन मन्त्रों के प्रमाण पेश करके हिंसा साबित की जाती है, उनका वास्तविक अर्थही समझा नहीं गया। जिन्हें इस विषय में विशेष रस हो, वे स्वाध्याय-मण्डल द्वारा प्रकाशित " वैदिक यज्ञसंस्था " की पुस्तकें, गोमेध, नरमेध आदि पुस्तकें मंगाकर अपना संशय मिटा सकते हैं। हिंसाविषयक विषय बहुत बडा होनेसे यहां पर उसकी विशेष चर्चा करना कठिन है। हम यहांपर कुछ प्रमाण देकर इतनाही दिखला कर बस करेंगे कि जिन वेदों का अपना असली सिद्धान्त अहिंसा है, उनमें हिंसा की कल्पना भी कैसे की जा सकती है। जो उसमें नहीं है, वह उसमें दिखाना सिवाय जबरदस्तीके और क्या हो सकता है। अपनी समझने की भूलसे वेदों पर हिंसा का दोष लगाना न्यायके सर्वथा प्रतिकूल है। अस्तु। [ऋग्वेद मं० ३-२०-१] में स्पष्ट लिखा है कि विद्वान् लोक कभी भी हिंसायुक्त व्यवहार पसन्द नहीं करते। मन्त्र इस प्रकार है-

सुज्योतिषो नः शृण्वन्तु देवाः। सजोषसो अध्वरं वावशानाः॥ (ऋग्वेद ३-२०-१)

अर्थात् (सुज्योतिषः) उत्तम ज्योतिवाले, (सजोषसः) परस्पर प्रेम करनेवाले तथा (अध्वरं वावशानाः) अध्वर की कामना करते हुए (देवाः) विद्वान् लोक (नः शृण्वन्तु) हमारी बातोंको सुनें।

यहांपर जो अध्वर शब्द का प्रयोग है, उसकी यास्क-मुनि निरुक्ति करते हुए लिखते हैं कि " ध्वरतिहिंसा-कर्मा तत्प्रतिषेधः " अर्थात् हिंसावाचक ध्वर धातु से निषेधार्थक अर्थमें अध्वर शब्द बनता है। अतः अध्वरका अर्थ हुआ अहिंसा।

इसी प्रकार अहिंसासम्बन्धी उल्लेख वैदिक धर्म के भिन्न ग्रथों में भी प्रचुरतासे उपलब्ध होता है। 'अहिंसा परमो-धर्मः' 'अहिंसा ब्रह्मचर्यं च त्यागः स्वाध्याय आर्जवं' आदि भिन्न धर्म के लक्षण दर्शाते हुए वर्णन मिलते हैं।

व्यक्ति, समाज तथा राष्ट्र की दृष्टि से वैदिक धर्म की उपयोगिता।

व्यक्ति, समाज तथा राष्ट्र ये तीनों परस्पर अटूट सम्बन्ध से जुडे हुए हैं। व्यक्ति के समुदाय से समाज बनता है व समाज का बडा स्वरूपही राष्ट्र है। कुछ गुणधर्मों की वृद्धि से एक से दूसरा नाम बदल जाता है। प्रथम के विस्तार से दूसरा व दूसरे के विस्तार से तीसरा बनता है। अतः जो नियम प्रथम पर लगते हैं, वे दूसरे पर तो लगतेही हैं, पर दूसरे के लिए उनके अलावा भी कुछ नियम तथा कार्यक्षेत्र बढ जाते हैं, क्योंकि उसकी काया बढ जाती है। यही बात तीसरे के साथ भी है।

जिस देशमें व्यक्तिगत सुख नहीं है व्यक्तिगत उच्छृंखलता विशेष है, उस देशका समाज भी अव्यवस्थित होगा। समाज अव्यवस्थित रहने से पराधीनता अनिवार्य है। इसी प्रकार व्यक्ति जैसे अपने शुभाशुभ कर्मोंका फल पाता है, उसी प्रकार समाज भी सामूहिक रूपसे किए कर्मोंका शुभाशुभ फल पाता है। राष्ट्र के बारेमें भी यही बात है। अतएव वेदों में वैयक्तिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय उन्नति के लिए जगह जगह पर विधान मिलते हैं। और इसी प्रकार वैयक्तिक, सामुदायिक तथा राष्ट्रसम्बन्धी प्रार्थनायें तथा शुभ कामनाओंका वर्णन पाया जाता है। वेदोंने वैयक्तिक, सामुदायिक तथा राष्ट्रीय क्षेत्रोंकी उत्तम व्यवस्था रखने के लिए न सिर्फ जोरही दिया है, अपितु यह भी बताया है कि उनकी व्यवस्था किस प्रकारसे करनी चाहिए।

समाज तथा राष्ट्र को सुचारुरूपसे चलाने के लिए तथा उसका संरक्षण करनेके लिए परमावश्यक है कि समाज जिन व्यक्तियों से संगठित है उन व्यक्तियों को उन उनकी योग्यतानुसार उन्हें कार्य सौंप दिए जांय। इसी दृष्टिसे वेदने मनुष्यजातिके चार विभाग किए हैं और उनका क्रमशः नाम ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र रखा है। इस भेदमें किसी भी प्रकारका पक्षपात नहीं है। किसी भी मनुष्य के ऊपर छाप नहीं लगाई गई कि वह ब्राह्मणही हो अथवा शूद्रही हो। सब अपनी अपनी कार्य की रुचिके अनुसार राष्ट्रमें व समाजमें भाग लेते हुए अपने आप अपनी श्रेणी बना लेते हैं। यदि सूक्ष्मरूपसे विचार किया जाय, तथा देखा जाय, तो आज भी जहां इन ब्राह्मणक्षत्रियादि के नामोंसे व्यवहार नहीं हो रहा, वहांपर भी उपरोक्त भेद है ही। क्योंकि यह निर्विवाद है कि सब मनुष्योंका एकसा स्वभाव नहीं हो सकता और अतएव सब एकसा कार्य नहीं कर सकते। इन कार्यभेदों से उन्हें ब्राह्मणक्षत्रियादि कहो या किसी और नामसे कहो बात एकही है। समाज या राष्ट्रमें ब्राह्मण कौन हो सकता है, तथा क्षत्रियादि कौन हो सकते हैं, इसका यजुर्वेद के पुरुषसूक्तमें अत्यंतही सुंदर वर्णन है। वहांपर राष्ट्र को एक शरीरधारी पुरुष की उपमा दी है। इस शरीर में कार्यविभाग से तथा देह-धारण करने की दृष्टिसे भिन्नभिन्न अंगोंकी भिन्न भिन्न जरूरत है। सब अंगों के भिन्न भिन्न कार्य हैं। परन्तु साथही में प्रत्येक अंग अपने अपने स्थानपर उतनाही आवश्यक और पूर्ण है, जितना कि दूसरा है। उसका कार्य वही कर सकता है। उसके बिना नहीं चला लिया जा सकता।

इस शरीर के मुख्य रूप से ४ भाग हैं। सिर, हाथ, ऊरु तथा पैर। शरीर के हानिलाभसम्बन्धी विचार करके कार्य का निश्चय करना सिर का काम है। शरीरपर आई हुई आफत से रक्षा करना हाथों का काम है। शरीर को धारण करना ऊरुओंका काम है व उसे इधर उधर ले जाना आदि परिचर्या का काम पैरों का है। तमाम देहकी रचना हाड, मांस, रुधिर, मज्जा आदि से हुई है। जैसा मांस, रुधिर आदि सिरमें है, वैसाही हाथोंमें है और वैसाही ऊरु तथा पैरों में है। इसमें कुछ फेर नहीं। पर कार्यभेद से उनकी भिन्न संज्ञा है और कार्यभेदसे उनका भिन्न भिन्न स्वभाव है। ठीक इसी प्रकार एकही मनुष्यजातिसे बने हुए समाज व राष्ट्रपुरुष की हालत है। जिस प्रकार इस शरीर के कार्य को ठीक ठीक चलाने के लिए भिन्न अवयवों की नितांत जरूरत है, वैसेही राष्ट्र व समाज को चलाने के लिए भी उसके भिन्न भिन्न अवयवोंकी जरूरत है। भिन्नभिन्न कार्य अख्त्यार करने से नीच ऊँच हो जाने की समझ पर्याप्त भ्रमपूर्ण है। क्योंकि उनमें से प्रत्येक अवयव या विभागकी उतनीही जरूरत है, जितनी कि दूसरे ऊँचे विभाग की हो सकती है। वेदने कहीं भी इन विभागों की नीच-ऊंच-दृष्टिसे तुलना नहीं की। नीचऊंचकी तुलना मनुष्यसमाज की अपनीही है।

ऊपर हम यजुर्वेदके जिस मंत्र के लिए निर्देश कर आए हैं, वह इस प्रकार है--

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥
(यजु० ३१।११)

अर्थात् उस विराट् पुरुष का मुख ब्राह्मण हैं। क्षत्रिय बाहू हैं। वैश्य ऊरु हैं, तथा शूद्र पैर हैं।

इस मंत्र का भाव तथा सारांश हम ऊपर दे आए हैं। राष्ट्रमें ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य और शूद्रोंकी कितनी समानरूपसे आवश्यकता है व इनमेंसे कोई भी अङ्ग न रहे अथवा ढीला पड जाय, तो उसकी क्या परिस्थिति हो सकती है, इसका प्रत्यक्ष उदाहरण इस समय हमारा भारतवर्ष तथा इतर पराधीन देश हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि संज्ञायें उनके अपने अपने विशेष कार्य की वजहसे हैं। हरेक देशमें इन्हीं चारोंके ठीक ठीक व्यवस्थित रहनेसे ही सुख व शान्ति उपलब्ध होती है। चाहे वहां इन्हें इन नामोंसे न पहिचाना जाता हो। नाम बदलनेसे कार्य नहीं बदलता। इन चारों वर्णोंको ठीक ठीक बनाए रखनेके लिए वेदोंमें अत्यंत सुन्दर उपदेश है। इनके बिना समाज व राष्ट्र उन्नत होना असंभव है।

यहां पर हम एक बात की ओर भी लक्ष्य खेंचना चाहते हैं और जो अत्यंत महत्वकी है; वह यह कि अगर वेदोंकी दृष्टिमें मनुष्यजाति के इस ब्राह्मणादि वर्णोंके प्रति ऊंचनीचादिका पक्षपात होता, तो वेदोंमें अवश्यही ऐसे मंत्र उपलब्ध होते, जिनमें कि प्रत्येक वर्णके स्तुति, प्रार्थना आदि के मंत्र या रीतिरिवाजों का अलग अलग वर्णन होता। वेदमें ऐसा एक भी मंत्र उपलब्ध नहीं होता कि जिसमें यह लिखा हुआ मिले कि अमुक मंत्रसे ब्राह्मण स्तुति, प्रार्थना, उपासना करे व अमुक मंत्रसे शूद्र करे। अतः इससे ज्यादा और क्या प्रमाण हो सकता है कि वेदोंने जो मनुष्यजातिके वर्णविभाग किए हैं, वह उन्हीं की सुगमताके लिए नहीं कि उन में भेदभाव उत्पन्न करनेके लिए। इसके साथ साथ यह भी ख्याल रखना चाहिए कि वेदोंने ब्राह्मण आदिकी परीक्षा उनके कार्यों से ही बताई है और किसी तरह से नहीं। अतः जिसे ब्राह्मण बननेकी इच्छा हो, वह उन कार्यों की योग्यता दर्शाकर करके दिखला देनेसे खुदब खुद ब्राह्मण बन सकता है। उसमें किसीके कहनेसुननेकी अपेक्षा की कहीं भी जरूरत नहीं।

सबको मिलकर एकही राष्ट्रभावनासे उन्नतिकी प्रार्थना करनी चाहिए व तदनुसार वर्तना चाहिए, यही वेदका मुद्दालेख है। इसी बातको यजुर्वेद का निम्न मंत्र जाहिर कर रहा है--

रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु नस्कृधि।
रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम्॥
(यजु० १८।४८)

इस मंत्रमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र सबके लिए समान तेज व प्रेमकी स्पष्ट शब्दोंमें प्रार्थना की गई है। इससे ज्यादा और अधिक स्पष्ट प्रमाण क्या हो सकता है?

ब्राह्मणादि के समाज व राष्ट्रमें क्या क्या कर्तव्य हुआ करते हैं, तथा वैदिक समाज व राष्ट्रपद्धति कैसी है, यह जिन्हें विशेषरूपसे जानना हो, वे अवश्यही स्वाध्याय-मण्डल से निम्नलिखित पुस्तकें मंगाकर देख सकते हैं। हम विस्तारभय से इस विषय में इतनाही लिखकर आगे चलते हैं। यह एक अत्यंत आवश्यक व महान् विषय है, अतः उसका हमने सिर्फ निर्देशही किया है। वे ग्रन्थ निम्न हैं-

१. वैदिक कर्तव्यशास्त्र; २. वैदिक राज्यपद्धति; ३. स्वराज्यकी महिमा; ४ वैदिक धर्मकी विशेषता; ५. वैदिक सभ्यता; ६. वैदिक सम्पत्ति।

सामवेदके स्तोभ।

[श्री० अनंत शंकर कोल्हटकर, बी. ए.]

'वैदिक धर्म ' मार्गशीर्षके अंकमें सामवेदसे परिचय करानेवाला आपका लेख पढा। बडी प्रसन्नता हुई।

धन्य हैं वे वैदिक जन जिन्होंने ऐसे अद्‌भुत नियमोंका आविष्कार करके वेदमंत्रोंको एक अक्षर या मात्रा के हेरफेरसे भी बचा रक्खा। धन्य हैं वे वेदपाठी ब्राह्मण जिन्होंने अब तक वेदग्रंथोंका, उन्हें कंठ करके संरक्षण किया, और धन्य है आप जो अत्यंत प्रतिकूल अवस्थामें वेदसंहिताओंके मुद्रणका कार्य करके उन्हें सुरक्षित बना रहे हैं। पर अभागे हैं मुझसरीखे नाममात्रके वेदधर्मी जो इस परिश्रमसे कुछ भी लाभ नहीं उठा सकते। अस्तु।

एक प्रश्न मेरे मनमें उठता है। ऐसा माना जाता आया है, कि वेद मंत्रग्रंथ हैं। उनमें एक " कानामात्रा" का भी बदल महा अनर्थकारी हो सकता है, जैसे इंद्रशत्रु का उदाहरण, फिर ऋषियोंने ऋग्वेदके मंत्रोंको सामगानोंके रूपमें क्यों विकृत किया, और इस विकृत रूपको श्रीकृष्णचंद्रजीने क्यों अपनी विभूति बताया ? आपके लेखमें इस शंकाका ठीक उत्तर मुझे नहीं मिला। अतः मैं अपनी समझके अनुसार इस प्रश्न पर विचार करता हूं। भगवान् निरे सिद्धांतवादी नहीं थे। उन्होंने न धर्मराज युधिष्ठिरको अपनी विभूति बताया, न सहस्र हाथियोंके बलवाले भीमको। अपितु सत्व और शक्तिका समन्वय करनेवाले अर्जुनको। ज्ञानकी भगवद्-विभूति वह ज्ञान है, जो अमर गीतोंके रूपमें विद्यमान हो। यह भगवान् का सामान्य आशय हो सकता है। पर विकृत वेदमंत्ररूप सामगानोंको अपनी विभूति बतानेका वैसाही कुछ अत्यंत महत्त्वपूर्ण कारण होना चाहिये। मेरी समझमें वह यह है। ऋषियोंका जीवनकार्य [मिशन] था वेदधर्मका प्रसार, वेदबाह्य जनोंको वेदानुयायी बनाना। अनार्योंको वृत्ति, उक्ति तथा कृतिसे आर्य, सभ्य, शिष्ट, संयत बनाना। वेदोंका आशय बताना पीछेकी बात है। पहले यक्ष, गंधर्व, किन्नर, गुह्यक, भूतपिशाच, राक्षस आदि मानवजातियोंमें वेदोंके लिये रुचि उत्पन्न करना था। इसी हेतु मूल मंत्र सुरक्षित रखकर उनके आधार पर, पर विभिन्न भाषाओंके अक्षरोंसे मिलतीजुलती शब्दावलिमें सामगान रचे गये। ' औहोवा " इस स्तोभपर विचार कीजिये। सूरत और नासिक जिलोंकी सीमापर एक भूभाग है, जिसे "अहोवा डांग" कहते हैं। संस्कृत शब्द "आहव-युद्ध" है। जिस भाषामें इस शब्दका प्राचुर्य या प्रियत्व था, उसके लिये ध्रुवपदके रूपमें इसकी पुनरुक्ति की गयी होगी। जिन सामगानोंने सहस्रों अनार्योंको आर्य, वेदबाह्योंको वेदानुयायी, हिंदुओंके शत्रुओंसे मित्र बनाया, उनको श्रीकृष्ण अपनी विभूति कहे, यह अत्यंत उचितही मालूम पडता है। यह मेरी कल्पना मात्र है। अस्तु।

× × ×

(संपादकीय सूचना- सामवेदके स्तोभ कई सौ हैं। वे छापे जांयगे। उनकी खोज करनी है। ये स्तोभ वेदोंमें नहीं हैं। 'वेदमें न मिलनेवाले वाक्य' यही उनका लक्षण है। यदि उनकी कोई संशोधक खोज करेगा, तो अच्छा होगा।]

आचार्य रामदेवजीका स्वर्गवास ।

(१)

(श्री० काका कालेलकर)

आचार्य रामदेवजी की मृत्यु से आर्यसमाज का एक बडा विद्वान् शिक्षाशास्त्री चल बसा है। हर एक जिन्दा समाज को धर्म, शिक्षा, राजनीति और अर्थनीति में जाग्रत रहना पडता है। इसमें भी प्रथम स्थान है शिक्षा का। अगर किसी समाज की शिक्षा, जीवित, तेजस्वी और सर्वांगीण है, तो उसके उत्कर्ष में को भी चीज सफलता-पूर्वक बाधा नहीं डाल सकती। स्वामी दयानन्द सरस्वतीने वैदिक पुनरुज्जीवन का जो सन्देशा देश को दिया, उसका राजनैतिक असर लाला लाजपतराय, लाला हरदयाल आदि समाजसेवकों पर तुरन्त हुआ। उसी सन्देशे का शैक्षणिक असर महात्मा हंसराज और महात्मा मुन्शी राम पर हुआ। मुन्शीरामजी ने अंग्रेजी विद्या और वेदविद्या के बीच समझौता करने का सस्ता और व्यवहार्य मार्ग न लेकर वैदिक संस्कृति का आधुनिक संस्करण तैयार करने की श्रद्धा से गुरुकुल खोला और उसीको उन्होंने अपना जीवन अर्पण किया। वैदिक संस्कृति पर श्रद्धा रख कर दीर्घ काल की तपस्या के अन्त में वे श्रद्धानन्द हुये और ईश्वर ने उनको उनके गुरु के समान अपने मरणद्वारा भी समाज और राष्ट्र की सेवा करने का मौका दिया।

स्वामी श्रद्धानन्दजी के इस राष्ट्रीय शिक्षणविषयक प्रयोग के सहचर आचार्य रामदेवजी थे। रामदेवजी ने बहुत दिन तक 'वैदिक मैगजीन' चलाया। आर्यसमाज को भारतवर्ष का इतिहास दिया। हिन्दी भाषा की उत्कृष्ट सेवा की। किन्तु उनका प्रधान जीवनकार्य तो गुरुकुल की सेवा ही है।

राष्ट्रीय शिक्षा की बुनियाद में आर्यपरम्परा होनी चाहियें, यह गुरुकुल का मुख्य सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त को सिद्ध करने के लिये आचार्य रामदेवजी ने एकाग्रता से कोशिश की। श्रद्धानन्दजी के गुरुकुल की हिफाजत अच्छी तरह से करके अन्त में वह संस्था उन्होंने श्रद्धानन्दजी के सुयोग्य शिष्य आचार्य देव शर्माजी के हाथों में सौंप दी और खुद कन्याशिक्षा का प्रश्न हाथ में लेकर देहरादून में एक कन्यागुरुकुल खोला।

आर्यसमाजी लोग संस्था खोलने में और चलाने में बडे सफल हुए हैं। सनातनी हिन्दु-समाज में जो दानश्रद्धा रही है, उसी का शिक्षा के चैतन्यदायी कार्य में परिवर्तन करने का श्रेय आर्यसमाजको है। ब्रह्मसमाज ने शिक्षाक्षेत्र में जो काम किया है, उससे कहीं अधिक आर्यसमाज ने कर दिखलाया है। इसका कारण यह है कि सुधारक होते हुये भी परम्परागत वैदिक संस्कृति के प्रति उन्होंने अपनी निष्ठा शिथिल नहीं होने दी।

आचार्य रामदेव का देहरादून का कन्यागुरुकुल मैंने कई बार देखा है। आर्यसमाज की शिक्षासंस्थायें देश के शिक्षाप्रयोग में अग्रगामी होनी चाहियें, ऐसी आचार्य रामदेव जी की महत्त्वाकांक्षा थी। कांगडी गुरुकुल में और देहरा-दून कन्यागुरुकुल में खादीविद्या का प्रवेश तो हुआ ही है। वर्धा-योजना और सेगांवशिक्षा-पद्धति के प्रयोग वहां पर होने चाहिये। आचार्य रामदेवजी इस बात को गम्भीरता से सोच रहे थे। किन्तु उनका शरीर जर्जरित हो गया था। स्वास्थ्यलाभ के लिये महाराष्ट्र में आकर यहां की किसी अच्छी शिक्षासंस्था में रहने का उन्होंने मेरे साथ निश्चय किया था। लेकिन उनको आराम देने के लिये यमधर्म ने उनको अपने यहां बुला लिया।

कन्या-गुरुकुल का भार आचार्या विद्यावतीजी योग्यता के साथ वहन करती ही हैं। कन्यागुरुकुल ही आचार्य रामदेवजी का चैतन्यपूर्ण स्मारक हो सकता है।

(२) चमकते सितारेका अस्त।

[प्र० स्ना० धर्मदेव सिद्धान्तालङ्कार, विद्यावाचस्पति, बंगलौर]

श्रीमान्य आचार्यजी के देहान्त होने से आर्यजगत् के अन्दर एक बडी भारी क्षति हुई है, जिसकी पूर्ति असम्भव-प्राय है। श्री आचार्य रामदेवजी का विशाल अध्ययन, उनका आर्यधर्म और संस्कृति के साथ अगाध प्रेम, उनकी सादगी और तपस्या, उनका त्याग, गुरुकुलशिक्षाप्रणाली में उनकी अविचल निष्ठा, उनकी अद्भुत भाषणशक्ति इत्यादि से उनके सम्पर्क में आनेवाला कोई भी व्यक्ति प्रभावित हुए बिना न रह सकता था। दिनरात वे आर्य-समाज, गुरुकुल काङ्गडी और कन्या–गुरुकुल को उन्नत करने के उपायों का चिन्तन करते रहते थे। गत २–३ वर्षों से अत्यन्त अस्वस्थ होते हुए भी उन्हें आर्यसमाज और आर्य-संस्थाओं की ही विशेष चिन्ता थी। उनका आशावाद अनुकरणीय और अदम्य था।

श्री आचार्यजी से गुरुकुल महाविद्यालय में आर्य-सिद्धान्त और मतों के तुलनात्मक अनुशीलन विषय पढने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ था। उनका बाईबल इत्यादि-विषयक ज्ञान इतना विस्तृत था कि एक बार [सम्भवतः मेरठ में] एक प्रसिद्ध अंग्रेज पादरी ने शास्त्रार्थ में अपनी हार स्वीकार करते हुए उन्हें कहा था "Mr. Ramadev you know my Bible more than myself" अर्थात् आपको मेरी बाइबल का मुझ से अधिक ज्ञान है। यद्यपि श्री आचार्यजी संस्कृत के विशेष ज्ञाता न थे, तो भी अनुवादों के आधार पर संस्कृत तथा वैदिक साहित्य का उन्होंने अच्छा अध्ययन किया हुआ था। इस स्वाध्याय-शीलता की आर्यों को बडी भारी आवश्यकता है।

(३) रमते राम।

[श्री ज्ञानी]

महात्मा गांधी ने एक बार कहा था, "मैं बहुत कम पढता हूं।" ठीक इसके विपरीत आचार्य रामदेवजी अत्यधिक पढते थे। उन्हें जीवन में दो ही व्यसन थे। बोलना और पढना। आप कभी भी उनके पास जांय या तो वह पढ रहे होंगे और या किसी से बातचीत कर रहे होंगे। खाली बैठना और चुप रहना उनकी तबीयत में ही न था। उनका दिमाग और उनका नर्वस-सिस्टम सदा काम में लगा रहता था। आराम व शान्ति उसे कभी मिली ही नहीं। इसलिये यदि उन्हें बरसों उन्निद्र रोग रहा हो, तो इसमें क्या आश्चर्य है। और पिछले तीन वर्षों से जिस बीमारी की उन्हें शिकायत थी, उसे दूर करने के लिये शारीरिक तथा मानसिक पूर्ण शान्ति की आवश्यकता थी। परन्तु आचार्य रामदेवजी अपनी आदत से मजबूर थे। गत ४०–५० वर्षों के निरन्तर अभ्यास को भला इतनी शीघ्रता से वे क्योंकर बदल सकते थे।

अन्तिम वार जब हमने उनके दर्शन किये, तो हमें उनकी दशा देखकर दया आई। हमें स्पष्ट प्रतीत हुआ कि उनका जीवन अब थोडे दिनों का मेहमान है। और शायद उनके दुःख-दर्द को दूर करने का इलाज सिर्फ मौत ही है। इसलिये उनकी मृत्यु का समाचार सुनकर हमें अधिक आश्चर्य नहीं हुआ, क्योंकि जिसने अपनी जीवन–बत्ती को एक ही समय में दोनों सिरों से जलाया हो, उसका अन्त शीघ्र ही होगा, इसमें क्या सन्देह है। मनुष्य भले ही अपने आपको अथवा समीपवर्तियों को यह विश्वास दिला दे कि, वे सामान्य नियमों से ऊपर हैं, परन्तु प्रकृति इस भुलावे में कभी नहीं आती। इसकी चक्की तो अपने अटल नियमों से सदा चलती है और जो भी उसकी लपेट में आ जाता है, पिसे बिना नहीं रहता।

कभी कभी अपने देश व समाज के नेताओं की दशा देखकर हृदय में दुःख होता है। वे अपनी शक्ति से अधिक परिश्रम करते हैं। शारीरिक स्वास्थ्य के सामान्य नियमों की भी उपेक्षा कर डालते हैं। खाना, पीना तथा विश्राम इनकी परवाह ही नहीं करते। परिणाम क्या होता है? आधि-व्याधि और अकाल-मृत्यु। हमारे बहुत कम नेता ६० वर्ष की आयु से अधिक कार्यक्षेत्र में डट सके हैं। देश और जाति का यह दुर्भाग्य ही समझना चाहिए कि उसके अनुभवी कार्यकर्ता अधिक समय तक अपनी सेवाओं से उसे लाभ नहीं पहुँचा सकते।

स्वाध्यायसंघ की वार्ता।

यह बडी आनन्द की बात है कि " स्वाध्याय-संघ " की प्रगति अच्छी तरह हो रही है। प्रतिदिन नये नये स्थानपर 'स्वाध्यायसंघ' की स्थापना हो रही है और वहां वेदों का स्वाध्याय हो रहा है ।

'स्वाध्यायसंघ ' में क्या होना चाहिये, इस विषयमें बहुत कुछ लिखा गया है, तथापि नवप्रविष्ठ सज्जन इसी विषयमें बार बार पत्र लिखते ही रहते हैं। इसलिये यहां फिर स्वाध्यायसंघके पाठक्रमके विषयमें पुनः लिखते हैं–

वेद्पाठ ।

स्वाध्यायसंघ के सदस्योंका पहिला कर्तव्य है कि वे नित्यप्रति वेदों का पाठ करें। कमसे कम सौपचास मन्त्र प्रतिदिन पढने का नियम करें। इस विषयमें बहुत ही सदस्य प्रश्न पूछते हैं कई पूछते हैं कि केवल मन्त्र-पाठ से क्या होगा ? दूसरे पूछते हैं न समझते हुए पढने से कौनसा लाभ होना है ? तीसरे पूछते हैं इसमें दिल नहीं लगता। इत्यादि। इस तरह के प्रश्न पूछे जा रहे हैं। परन्तु हमारे मतसे यही कार्य सबसे बडा और अत्यंत महत्वका है। प्रत्येक सदस्य वेद का पुस्तक हाथ में लेकर वेद का पाठ करे। अन्य बातें उससे हों या न हों, जो नागरी अक्षर पढ सकते हैं, वे अच्छी तरह वेदका पाठ कर सकते हैं। जो लोग इस समय ऐसे प्रश्न पूछते हैं, वे चारपांच बार वेद–पाठ होने के पश्चात् प्रश्न नहीं पूछेंगे। फिर इसका महत्त्व उनके ध्यानमें स्वयं आ जायगा।

यदि किसीको वेदों के सूक्त कण्ठ हैं, तो वे उनको बार बार दुहराते जांय । सबसे पहिला इससे लाभ यह होगा कि, मनकी एकाग्रता होती जायगी। मन्त्र की शब्द-रचना में एक विलक्षण शक्ति है, जो केवल मंत्रपाठसे भी अनुभव में आती है। बडी आवाजसे और शान्त स्वर के साथ मंत्र पाठ करनेसे मनकी शान्ति कैसी प्राप्त होती है, यह न पाठ करनेवालों को समझाना कठिन है। इस-लिये पाठकोंसे प्रार्थना यह है कि, वे संदेहरहित होकर वेद–पाठ करना प्रारंभ करें ।

वेदपाठसे दूसरा लाभ यह है कि, वेदपाठ करते करते स्वयं किस स्थानपर क्या है, इसका पता होता जाता है। और १०।२० बार वेदपाठ जिसने किया है, वह बडे पंडितसे भी वेदकी बातें विशेष प्रकार जाननेमें समर्थ होता है। उसको स्वयं वेदके उपदेश का पता लगता जाता है।

प्रतिदिन १०० मंत्रों का पाठ करनेवाला मनुष्य चारों वेदों को एक बार छःसात महिनों में पढ सकता है। मान लीजिये कि सर्वसामान्य मनुष्य तो एक वर्ष में एक बार चारों वेदों को पढ सकते हैं। जैसा अभ्यास बढता है, वैसा इससे जलदी भी पाठ होता है, यह हमारा अनुभव है। एक घंटे में २५० मंत्रों का पाठ करनेवाले मनुष्य यहां हैं, और इन का चारों वेदों का पारायण चार महिनों में होता है। यह कोई अत्युक्ति नहीं। यदि आपका धर्म वेद ही है, तब तो आपको उसका पाठ करना ही चाहिये ।

यदि आप न पढते हुए वेद के ज्ञानी बनेंगे, ऐसा आप समझते हैं, तब तो वह मार्ग हम नहीं जानते। हम तो प्रयत्नसे वेदज्ञान को प्राप्त करने का मार्ग जानते हैं। हमारा अनुभव यह है कि, प्रयत्न करनेवाला एक घंटे में सौ-दोसौ मंत्र पढने का अभ्यास विना आयास कर सकता है। और यही स्वाध्यायसंघ के सदस्यों को करना अत्यंत आवश्यक है।

मन्त्र कण्ठ करना।

हम यहांसे पुस्तकें भेजते हैं। पाठक उनको एक बार पढते हैं और दूसरा पुस्तक मंगवाते हैं। इस तरह के पठन से कोई लाभ नहीं है, और नाही इस तरह केवल एक बार पढने के लिये ये पुस्तक भेजे जाते हैं। इन पुस्तकों में आये सब मंत्र और उनके अर्थ जबानी याद होने चाहिये। स्वाध्यायसंघके सब सदस्य मंत्रों को प्रथम याद करें, सब मंत्र याद हुए, तो पश्चात् उनका अर्थ याद करें। मंत्र सामने रखकर मुखसे पद, अन्वय लगाकर अर्थ करना चाहिये। जब इतना अभ्यास होगा, तब आद्योपान्त संगति लगानी चाहिये।

संपूर्ण स्वाध्यायसंघों के पास यजुर्वेद का ३६ वा अध्याय विवरण के साथ भेजा है। कई तो बडी रुचीसे अध्ययन कर रहे हैं और कई तो २१४ दिनों के बाद हि

दूसरा ग्रन्थ मांग रहे हैं । हमारा ख्याल यह है कि, जो पुस्तक (यजुः० अ० ३६) भेजी है, उसका अच्छी प्रकार मन्त्रों को कण्ठ करके उक्त प्रकार अध्ययन करने के लिये दो मास अवश्य लगेंगे । एक सदस्य दूसरे सदस्य के मंत्र कण्ठ हुए हैं, या नहीं इसकी जांच करें और दूसरा पहिले की । इसी तरह एक दूसरे की सहायता होती रहेगी, तो ही वेदाध्ययन होगा । अन्यथा केवल पढनेमात्र से क्या हो सकेगा ?

पहिला पुस्तक भेजा हुआ इस तरह अधीत हुआ, ऐसा जो लिखेंगे, उनको ही द्वितीय ग्रन्थ भेजेंगे ।

स्वाध्यायसंघके सदस्य हजारों होनेसे लाभ नहीं है । जो इस तरह मंत्र कण्ठ करते रहेंगे, उतनेही सदस्य काम के होंगे । स्वाध्यायसंघ के सदस्य यदि अध्ययन स्वयं नहीं करेंगे, तब तो उनके सदस्य होनेका न उनको और न दूसरोंको लाभ हो सकता है ।

इस प्रकारके अध्ययन के लिये आवश्यक ग्रंथ निर्माण हो रहे हैं । और वैदिक धर्ममें 'वैदिक स्वर' 'सामवेद का स्वरूप', 'सामगणना' आदि लेख छप रहे हैं और आगे छपते जांयगे, उनका भी मनन स्वाध्यायसंघके सदस्य करेंगे, तो उनका लाभ होगा । क्योंकि ये विषय सुबोध रीतिसे सर्वसाधारणके बोधके लिये लिखे गये हैं ।

अशुद्ध विचार ।

वेदका अध्ययन करनेके विषयमें बडे अशुद्ध विचार जनतामें हैं । किसी वेदका सूक्त एक बार पढनेसे उसका अध्ययन हुआ, ऐसा कई लोग मानते हैं । यह कितनी भूल है ? वस्तुतः वेदके अधिक सूक्त पढनेकी कोई आवश्यकता नहीं है । यदि अध्ययन करनेकी वैदिक रीतिसे १०।२० सूक्त ही हो जांयगे, तो वैदिक सिद्धांत समझनेकी दृष्टिसे वे पर्याप्त हैं । इसलिए यहां अध्ययन की रीति सुबोधताके लिये लिखते हैं ।

वेदाध्ययनकी रीति ।

जिस सूक्तका अध्ययन करना हो, उस सूक्तके मंत्र क्रमपूर्वक याद करने चाहिये । यह सबसे प्रथम करनेका कार्य है । उसके पश्चात् उन मन्त्रोंके पदोंको याद करना आवश्यक है । मंत्रके पद कैसे होते हैं, यह स्मरण न हो, तो अर्थका अनर्थ होनेमें देरी नहीं लगती । पश्चात् अन्वय याद करना चाहिये और साथ साथ अर्थ भी याद करना चाहिये ।

यदि मंत्र और उसके पदोंके स्वरोंका ज्ञान होगा, तब तो अधिक अच्छा है । क्योंकि कई पदोंके अर्थ, विशेषकर समासोंके अर्थों का निश्चय उनके स्वरोंसे ही होता है । तथापि यह विषय पर्याप्त कठिन है और इसके जाननेके साधन भी अभीतक पूर्णतया प्रकाशित नहीं हुए, इसलिए इस पर विशेष बल, इस समय देना कठिन है । तथापि यह भी एक विषय विशेष अध्ययन करनेयोग्य है, इसमें कोई संदेह नहीं ।

इसके पश्चात् अर्थात् मंत्र कण्ठ हुए, पद याद हुए, उनका अर्थ अच्छी तरह अन्वयपूर्वक याद हुआ, और यह सब उपस्थित रहा, तब आधा कार्य हुआ । तत्पश्चात् उस सूक्तके सदृश विचारोंके जो मन्त्र या मन्त्रभाग हैं, उनको अर्थके साथ याद करना चाहिये और पूर्ववत् पद अन्वय-पूर्वक स्मरणमें रखना चाहिये । और सूक्त के जिन मन्त्रोंके साथ उनका सम्बन्ध होगा, उस सम्बन्ध को यथावत् जानना चाहिये ।

स्वाध्यायसंघके पास भेजे यजुर्वेद अध्याय ३६ के पुस्तक में ये सब साधन उपस्थित किये हैं । उसमें केवल कठिन होनेसे स्वरविचार नहीं लिखा है, परन्तु शेष सब साधन पर्याप्त प्रमाणमें दिये हैं । इनका अध्ययन करनेके लिये और उक्त प्रकार उसको यथावत् जानने के लिये संस्कृतज्ञोंके लिये एक मास लगेगा, फिर जो संस्कृत नहीं जानते, उनके लिये कितना समय लगेगा, यह कहा नहीं जा सकता ।

जिन्होंने पहिलेहि उन मन्त्रोंको अर्थज्ञानपूर्वक याद किया होगा, उनको भी सदृश उपदेशवाले मन्त्रोंके अर्थों को और उसकी संगतिको पूर्णतया याद करना सहज नहीं है । और इन सब मंत्रोंके पदपद को स्मरण करके उपस्थित रखना, यह एक महिनेका कार्य निःसंदेह है । फिर संस्कृत-शास्त्रज्ञोंको तो उन सब मंत्रोंका अपनी स्वतन्त्र विचार-धारासे मनन करनेका जो कार्य है, वह और है । क्योंकि प्रत्येक सदस्य स्वतन्त्र विचारक बने, यह इस संघका उद्देश्य है ।

अतः पाठक इस तरह अध्ययन करें और अधिकसे अधिक लाभ उठावें, यही यहां प्रार्थना है ।

तृतीयोऽष्टकः ।]

[शिष्यः प्राप्तः प्रगत आचार्यः । गुरुं प्राप्तः प्रगतः
शिष्यः । पितामहस्य पितृत्वं प्राप्तः प्रपितामहः]
एतदेव च सौनागैर्विस्तरतरकेण पठितम्—
स्वती पूजायाम् ॥×॥ सुराजा अतिराजा ॥
दुर्निन्दायाम् ॥+॥ दुष्कुलम् दुर्गवः । दुःकृच्छ्रार्थे
(उद्योतः)
आङीषदर्थे ॥ आकडारः । आपिङ्गलः । कुः
पापार्थे ॥ कुवृषलः कुब्राह्मणः ।
प्रादयो गताद्यर्थे प्रथमया (समस्यन्ते) ।
अत्यादयः क्रांत्याद्यर्थे द्वितीयया । अतिक्रान्तः
खट्वाम् अतिखट्वः । अतिमालः ।
अवादयः क्रुष्टाद्यर्थे तृतीयया ॥
अवक्रुष्टः कोकिलया अवकोकिलः ॥
पर्यादयो ग्लानाद्यर्थे चतुर्थ्या, परिग्लानोऽध्ययनाय पर्यध्ययनः ॥
निरादयः क्लान्ताद्यर्थे पञ्चम्या निष्क्रान्तः
कौशाम्ब्याः निष्कौशाम्बिः । निर्वाराणसिः ॥
अव्ययं प्रवृद्धादिभिः । पुनः प्रवृद्धं बहिर्भवति ।
पुनर्गतः पुनःसुखम् ॥ इत्यादि ।
(महा० अ० २। पा० २। सू० १८)

॥ इति सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

॥ अष्टमोऽध्यायः ॥

इदमु त्यत्पुरुतमं व्याचिख्यासति माधवः ।
उपसर्गेषु वक्तव्यम् अनुक्तं सम्प्रदर्शयन् ॥

"इदमु त्यत् पुरुतमं० ।"

इस अध्याय (ऋ० मं० ४।५१।१) की व्याख्या करने के पूर्व माधवाचार्य उपसर्गों के सम्बन्धमें विशेष कहते हैं।

१. आकारोऽधिपरी चोभौ स्पष्टीकुर्वन्ति कारके ।
अपादानाधिकरणे धनोरधि दिवस्परि ॥
२. आकारो दिव आ जाते,

आ, अधि, परि ये उपसर्ग अपादान और अधिकरण में अर्थ को अधिक स्पष्ट किया करते हैं, जैसे—

'अधि'— धनोरधि० (ऋ० १।३३।४; १।१४४।५; १०।४।३)

'परि'— दिवस्परि० (ऋ० १।१२१।१०; १०।४५।१)

'आ'— दिव आजाता दिव्या सुपर्णा०
(ऋ० ४।४३।३)

दृश्यन्ते चापि पूरणाः ।
सुश्च मो षूण इत्यादौ केचिदिच्छन्ति पूरणम् ।

आ, अधि, और परि ये उपसर्ग पादपूरणार्थ भी देखे जाते हैं।

मो षु णः परापरा"०। (ऋ० १।३८।६)
मो षु णः सोम मृत्यवे० (ऋ० १०।५९।४)

इत्यादि स्थलों में कुछ विद्वान् 'सु' को भी पादपूर्ति के निमित्त मानते हैं।

३. अभी किमुपसर्गाणां निपाताः प्रतिरूपकाः ।
भवेयुरुपसर्गा वा किंतु ते संज्ञयानया ॥

अधि, सु, परि, आ, इत्यादि क्या उपसर्गों के से रूपवाले निपात हैं या उपसर्ग ही हैं, उनकी उपसर्ग-संज्ञा से आपका क्या अभिप्राय है ?

४. अयन्ते अस्तु हर्यत आ या हि पूर्वीरति च ।
आकारौ पूरणावाहुर्बहवः संति तादृशाः ॥

[१] अयं ते अस्तु हर्यतः सोम आ
हरिभिः सुतः । (ऋ० ३।४४।१)
[२]आ याहि पूर्वीरति चर्षणीराँ। (ऋ० ३।४३।२)

इन दोनों ऋचाओं में 'आ' पादपूरणार्थक हैं । ऐसे बहुतसे उदाहरण हैं ।

५. यस्ते सखिभ्य आ वरम् इमे सोमास इन्दवः ।
नि नो होता वरेण्यः प्र यद्दिवो हरिवः स्थातः ।
६. यास्ते प्रजा अमृतस्य विश्वा यश्चर्षणीरभि ।
प्र प्रावो अस्मे स्वयशोभिरर्चन्ननु स्वराज्यम् ।

७. प्र देवयन् यशसः सं शुचिजन्मनो रज आ।
आक्षिप्यन्ते क्रियाशब्दाः सर्वेष्वेवोपसर्गतः॥

[१] यस्ते सखिभ्य आ वरम्। (ऋ० १।४।४)
[२] इमे सोमास इन्दवः सुतासो अधि बर्हिषि। (ऋ० १।१६।६)
[३] नि नो होता वरेण्यः०। (ऋ० १।२६।२)
[४] प्र यद्दिवो हरिवः स्थातरुग्र०। (ऋ० १।३३।५)
[५] यास्ते प्रजा अमृतस्य परस्मिन् धामन्नृतस्य मूर्धा नाभा सोम वेन आभूषन्तीः सोम वेदः॥ (ऋ० १।४३।९)
[६] विश्वा यश्चर्षणीरभि। (ऋ० १।८६।५)
[७] प्रप्रा वो अस्मे स्वयशोभिरूती०। (ऋ० १।१२९।८)
[८] अर्चन्ननु स्वराज्यम्०। (ऋ० १।८०।१)
[९] प्र देवयन् यशसः सं हि पूर्वीः। ऋ० १०।४६।१०
[१०] शुचिजन्मनो रज आ व्यध्वनः। (ऋ० १।१४१।७)

इन सब स्थलों में उपसर्गों द्वारा क्रिया शब्द का आक्षेप (अध्याहार) किया जाता है।

८. अन्तर्ण्यर्थांश्च कुर्वन्ति तेऽमी धातूनपि क्वचित्।
विश्वमाभासि रोचनम् आ नो भज परमेषु॥

किसी किसी स्थान में ये उपसर्ग धातुओं को अन्तर्ण्यर्थ अर्थात्-णि के अर्थ से गर्भित भी कर देते हैं, जैसे-

[१] विश्वमाभासि रोचनम्०। (ऋ० १।४९।४)
[२] आ नो भज परमेषु०। (ऋ० १।२७।५)

९. आ की सूर्यस्य रोचनाद् आवहत्विति गम्यते।
तस्मादाकारसदृशं निपातं तं विदुर्बुधाः॥
आकीं सूर्यस्य रोचनाद्०। (ऋ० १।१४।९)

इस ऋचा में 'आ वहतु' (प्राप्त करावे) ऐसा अर्थ प्रतीत होता है। ऐसे उपसर्ग को 'आ' के रूप में विद्वान् लोग निपात ही मानते हैं।

१०. विनश्यन्ति च धात्वर्था उपसर्ग-समन्वयात्।
अव ते हेळो वरुण सुन्वानो हि ष्मा यजति॥

११. अवपूर्वौ विनाशार्थौ वीयजौ अनयोर्ऋचोः।
रात्र्याश्चिदन्धो अतीति विनाशार्थस्तथा दृशिः॥

उपसर्ग के साथ सम्बन्ध होनेसे कभी कभी धातुओं अर्थलुप्त भी हो जाते हैं, जैसे—

[१] अव ते हेळो वरुण०। (ऋ० १।२४।१४)
[२] सुन्वानो हि ष्मा यजत्यव द्विषो०। (ऋ० १।१३३।७)

इन दोनों ऋचाओंमें 'अव' पूर्वक इ और यज धातु विनाशार्थक है, इसी प्रकार-'रात्र्याश्चिदन्धो अति' इस ऋचामें 'दृश्' धातु विनाशार्थक [न दीखने अर्थ में] है।

१२. व्यज्यन्ते तिरतेरर्था उपसर्गैः पृथग्विधाः।
मायाभिरिंद्र मायिनं सोम प्रतिरन्त आयुः॥

'तिरति' धातु के उपसर्गों से अनेक भिन्नभिन्न अर्थ प्रकट होते हैं, जैसे—

[१] मायाभिरिंद्र मायिनं त्वं शुष्णमवातिरः। (ऋ० १।११।७)
विद्दुष्टे तस्य मेधिरास्तेषां श्रवांस्युत्तिर॥
[२] सोम प्र तिरन्त आयुः। (ऋ० १०।१०७।२)

[अव-अतिरः— अव विनिग्रहार्थे। अवेति· विनिग्रहार्थीयः। (निरु० १।३) अतिरः शत्रुबलं प्लावयति॥
उत्-तिर— उत् उत्कृष्टार्थे तिर विस्तारय॥ (इति दया०)
अव अतिरः— हिंसितवानसि।
उत्तिर— वर्धयेति सायणः।]

१३. आख्यातशब्दैरस्माभिर्दृश्यते न दुरोऽन्वयः।
दूढ्यो दुर्धा दधातीति कृदन्तैर्दृश्यतेऽन्वयः॥

आख्यात (क्रियापदों) से हमें वेद में दुर् उपसर्ग का सम्बन्ध नहीं दीखता। 'दूढ्यः' 'दुर्धां' इत्यादि स्थलोंमें 'दधाति' [धा] धातुका कृदन्त प्रयोगों में 'दुर्' उपसर्गसे सम्बन्ध दिखाई देता है।

१४. तृतीयस्याष्टकस्येत्थमध्यायादिषु दर्शिताः।
उपसर्गनिपातार्थाः सर्वे वेदोपकारिणः॥

इस प्रकार तृतीय अष्टक के अध्यायों के आदि में उपसर्गों और निपातों के अर्थ दर्शाये गये हैं, ये सभी वेद के मर्मज्ञान के उपयोगी हैं।

॥इति अष्टमोऽध्यायः॥८॥
॥ इति तृतीयोऽष्टकः॥

॥ अथ चतुर्थोऽष्टकः ॥

शब्दावृत्त्यनुक्रमणी ।

प्रथमोऽध्यायः ।

चतुर्थोऽथाष्टकस्तस्मिन्नध्यायादिषु वक्ष्यते ।
शब्देष्वावर्तमानेषु यद्वाच्यमिह वैदिकैः ॥

आवर्तमान शब्दों का रहस्य ।

१. समानशब्दा आवृत्ता भवन्ति पादपूरणाः ।
पर्यायेषु तु निर्ब्रूयादिच्छयाऽन्यतमं बुधः ॥

मन्त्रोंमें एकसमान शब्दही पुनः दोहराये हुए आते हैं। वे पादपूरणार्थक होते हैं। बुद्धिमान् विद्वान् को उनमें से किसी एक का निर्वचन करना उचित है।

२. अप्रसिद्धः प्रसिद्धश्च संगच्छेते यदि क्वचित् ।
तत्राप्रसिद्धं निर्ब्रूयान्न प्रसिद्धमिति स्थितिः ॥

यदि किसी स्थलमें प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध दो प्रकारके पद एकसाथ पडे हों, तो वहां अप्रसिद्ध का निर्वचन करना चाहिये। प्रसिद्ध का नहीं।

३. 'जायते त्वष्टुरर्वाशुरश्वः' इत्यत्र संगताः ।
अर्वन्तमाशुन्निर्ब्रूयान्नत्वश्वं सार्वलौकिकम् ॥

"त्वष्टुरर्वा जायतऽआशुरश्वः" । (यजुः० २८।९)

इस मन्त्रमें अर्वा, आशु और अश्व ये अप्रसिद्ध और प्रसिद्ध शब्द एकसाथ पडे हैं, इनमेंसे 'अर्वा,' और 'आशु' इन दो पदोंका का निर्वचन करना चाहिये, परन्तु 'अश्व' शब्द सर्वत्र प्रसिद्ध है, उसका निर्वचन या पर्याय देना आवश्यक नहीं है।

४. ऋचि विश्वस्य हीत्यस्यां सूनरीत्यादिषु त्रिषु ।
उषसो नामधेयेषु निर्ब्रूयादिच्छया बुधः ॥

विश्वस्य हि०। (ऋ० १।४८।१०) इस ऋचामें 'सूनरी' इत्यादि तीन उषावाचक पर्याय पदोंमेंसे पंडित जिसका चाहे, निर्वचन करे।

विश्व॑स्य॒ हि प्राण॑न॒ं जीव॑नं॒ त्वे
वि यदु॒च्छासि॑ सूनरि ।
सा नो॒ रथे॑न बृह॒ता वि॑भावरि
श्रु॒धि चि॑त्रामघे॒ हव॑म् ॥ (ऋ० १।४८।१०)

इस मन्त्रमें 'सूनरि,' 'विभावरि,' 'चित्रामघे,' ये तीन संबोधनपद उषाके वाचक हैं।

५. नापेक्षंते निर्वचनं भिन्नास्वृक्षु यथा नरः ।
तथैव पादभेदेऽपि केचिन्नेच्छन्ति निर्वचः ॥

जिस प्रकार भाष्यकार लोग भिन्न भिन्न ऋचाओंमें भी एकही पद की पुनः व्याख्या करना उचित नहीं समझते, उसी प्रकार भिन्न चरणमें आये समान शब्दों की व्याख्या करना भी वे उचित नहीं समझते।

६. नामाख्यातोपसर्गाणां निपातानां तथैव च ।
पारुच्छेपीषु दृश्यंते बहवः पूरणाः सह ॥

परुच्छेप ऋषिके देखे मन्त्रोंमें नाम, आख्यात (क्रियापद) उपसर्ग और क्रियापदों का भी पुनः पुनः आवर्तन बहुत देखा जाता है। वे प्रायः पादपूर्ति के लिये हैं।
[पारुच्छेपी ऋचाएं देखो ऋ० मं०१। सू० १२७-१३९]

७. सहसो जातवेदसं विप्रं न जातवेदसम् ।
नान्यस्तत्रोभयोरर्थो द्वयो ह्यर्थोऽत्र कीर्त्यते ॥
८. जातप्रज्ञं विप्रमिव जातप्रज्ञमितीदृशी ।
वचनव्यक्तिरत्रास्ति ॥

सह॑सो जा॒तवे॑दसं॒ विप्रं॒ न जा॒तवे॑दसम् ।
(ऋ० १।१२७।१)

इस ऋचामें 'जातवेदसम्' दो बार पढा गया है, दोनों का भिन्न भिन्न अर्थ नहीं है। दोनों का अर्थ यहां इस प्रकार बतलाया जाता है। वाक्यका अभिप्राय ऐसा है कि-

"जातप्रज्ञं विप्रमिव जातप्रज्ञम्"— "बुद्धिमान् ब्राह्मण के समान बुद्धिमान् को।"

तस्यान्यावव्यपेक्षितौ

९. नैतच्च युज्यते यस्मात् कवितात्र प्रतीयते।
यदिन्द्राग्नी अवमस्यामित्यृचोः कविता यथा॥

१०. एवमत्रापि कविता विपर्यासात् प्रतीयते॥

इस पद के अन्य दो अर्थ भी लिए जा सकते हैं। परंतु यह ठीक नहीं। क्योंकि यहां कविता प्रतीत होती है। जैसी कि निम्नलिखित ऋचामें है।

यदिन्द्राग्नी अवमस्यां पृथिव्यां मध्यमस्यां परमस्यामुत स्थः। (ऋ० १।१०८।९)
यदिन्द्राग्नी परमस्यां पृथिव्यां मध्यमस्याम्-अवमस्यामुत स्थः। (ऋ० १।१०८।१०)

इन दोनों ऋचाओं के पूर्वार्ध-भाग में एकसमान पद क्रमभेद से विद्यमान हैं। उन में अर्थभेद नहीं है। इसी प्रकार—

'जातवेदसं विप्रं न जातवेदसम्'

में भी कवितामात्र है, अर्थभेद नहीं है।

ननु श्रद्धातिरेकोऽत्र पुनरुक्त्या प्रतीयते॥

११. आ द्वाभ्यां हरिभ्यामिन्द्र याहीत्यादौ यथातथा॥

(शंका)- 'जातवेदसं विप्रं न जातवेदसम्'

इस स्थलमें भी पुनरुक्ति से अधिक श्रद्धा प्रतीत होती है, जिस प्रकार निम्नलिखित ऋचा में है—

आ द्वाभ्यां हरिभ्यामिन्द्र याह्या चतुर्भिरा षड्भिर्हूयमानः। (ऋ० २।१८।४)

इस स्थानपर जैसे अधिक श्रद्धावश दो घोडों से, चार घोडों से, छः घोडों से, हे इन्द्र! तुम आओ। ऐसा कहते हैं, उसी प्रकार 'जातवेदसं' यह पद अधिक श्रद्धावश कहा जा सकता है।

सत्यर्थे कविता तस्मादसतीति विपश्चितः॥

(समाधान)- जब अर्थ (प्रयोजन) विद्यमान हो तब भी एक पद दूसरी बार पढा जाता है। यदि विशेष प्रयोजन नहीं है, तो कविता अर्थात् कविका स्वभाव ही समझना चाहिए, ऐसा विद्वानोंका मत है।

१२. एवं च पूरणः पादो नि स्थिराणि चिदोजसा।
अभ्यासात्।

इस ही प्रकार निम्नलिखित ऋचामें पदोंका पुनः पाठ है

स्थिरा चिदन्ना नि रिणात्योजसा नि स्थिराणि चिदोजसा। (ऋ० १।१२७।४)

इस ऋचामें नि, स्थिराणि, चित्, ओजसा, ये चारों पद पुनः पठित हैं। इन के अर्थ भिन्न नहीं हैं।

ननु चात्रापि भूयानर्थः प्रतीयते।

१३. नेति ब्रुवन्त्यप्रतीतेः पादोऽयं पूरणस्ततः।
ऋषिप्रयुक्ता ह्यावृत्तिर्नत्वन्यत्र तु दृश्यते॥

(शंका)- 'नि स्थिराणि चिदोजसा' इस स्थलमें भी अधिक अर्थ प्रतीत होता है।

(समाधान)- आचार्य कहते हैं कि 'नहीं;' क्योंकि अधिक अर्थ की प्रतीति नहीं होती। इस से यहां यह आवृत्ति पादपूर्ति करने के लिये ही है। ऋषि (वेद) में अन्य किसी स्थानपर पदों का आवर्तन नहीं दिखाई देता है। केवल परुच्छेपने पदोंकी आवृत्ति का प्रयोग किया है।

१४. अया रुचा हरिण्येति तृचस्तत्र निदर्शनम्।
परुच्छेपस्य तनयस्तमद्राक्षीदनानतः॥

(प्रश्न)- अया रुचा हरिण्या पुनानो विश्वा द्वेषांसि तरति स्वयुग्वभिः सूरो न स्वयुग्वभिः॥ धारा सुतस्य रोचते पुनानो अरुषो हरिः। विश्वा यद्रूपा परियात्यृक्वभिः सप्तास्येभिर्ऋक्वभिः॥ (ऋ० ९।१११।१)

इत्यादि तीनों ऋचाएं भी तो आवृत्ति के दृष्टान्त हैं। उन का दर्शन परुच्छेप के पुत्र अनानत ऋषि ने किया है।

१५. ततः पितृवदभ्यासस्तत्सुतस्यात्र युज्यते।

(समाधान)- इस स्थलपर तो पुत्र का पिता के तुल्य ही अभ्यास (पुनः समानपदों का आवर्तन) माननेयोग्य है।

१६. परुच्छेपोऽपि ननु च नावर्तयति तद्यथा।
उभे पुनामि रोदसी पिशङ्गभृष्टिमम्भृणम्॥

(प्रश्न)- परुच्छेप ऋषि भी कहीं कहीं पदों को नहीं दोहराता है, जैसे—

उभे पुनामि रोदसी० । (ऋ० १।१३३।१)

पिशङ्गभृष्टि मम्भृणं० । (ऋ० १।१३३।५)

इन दोनों मन्त्रों में पदों की आवृत्ति नहीं है ।

१७. तस्माच्छन्दः स्वभावोऽयमिति वृद्धेभ्य आगमः।
ऊर्ध्वं जगत्याश्छन्दांसि पूर्यन्ते सदृशैः पदैः ॥

१८. तानि द्रष्टुमशक्यानि वृत्तदैर्घ्याद् भवन्त्यतः ।
तैरेव शब्दैः पूर्यन्ते प्रायेणेति विनिश्चयः ॥

(उत्तर)- तो फिर यह छन्द की निजी विशेषता है, ऐसा वृद्ध आचार्योंसे शास्त्रसिद्धान्त ज्ञात हुआ है। जगतीसे अधिक अक्षरों के छन्दों को समान पदों से पूर्ण किया जाता है। उनका यहां दिखलाना हो नहीं सकता, वे छन्द बहुत लम्बे होने से प्रायः उनकी पूर्ति पूर्वपठित शब्दोंसे ही की जाती है, ऐसा निर्णय है ।

[माधवभट्ट ने छन्द का लम्बा होना शब्दावृत्ति में प्रमुख कारण बतलाया है, गौण कारण ऋषिस्वभाव बतलाया है, परन्तु यह भी व्यभिचरित है; १३३ सूक्त में २, ३, ४, ऋचाएं अनुष्टुप् छन्द हैं, तो भी उनमें शब्दावृत्ति देखी गई है। ऋषिस्वभाव का व्यभिचार १६ कारिकामें प्रश्नकर्ताने बतलाया ही है । इसलिये शब्दावृत्ति में केवल 'काव्य-सौंदर्य' या पादपूर्तिको कारण मानना ही पर्याप्त नहीं है।]

१९. वामदेवो मण्डलादावृचस्तिस्रो ददर्श ताः ।
अष्टि तथातिजगतीमर्थभेदात् प्रयुज्यते ॥
न पादपूरणाशङ्का तत्र कोऽयम् परिश्रमः ।

(प्रश्न)- चतुर्थ मण्डलके आदिमें ऋषि वामदेवने तीन ऋचाओं का साक्षात् किया है। जिनमेंसे प्रथम ऋचा अष्टि, द्वितीय ऋचा अतिजगती और तृतीय ऋचा अष्टि छन्द है । वक्तव्य अभिप्रायभेद से ही पदों का समानरूप से पुनः पाठ किया गया है । वहां आवृत्ति को पादपूरणार्थ मानने का संदेह नहीं है, तब आप समस्त आवृत्तियोंका प्रयोजन पादपूर्ति बतलाने का इतना परिश्रम क्यों कर रहे हैं ?

[चतुर्थमण्डल की आदि तीन ऋचाओं में आवृत्ति इस प्रकार है।

[१]० देवमरतिं न्येरिर इति क्रत्वा न्येरिरे ।
अमर्त्यं यजत मर्त्येष्वा देवमादेवं जनत
प्रचेतसं विश्वमादेवं जनत प्रचेतसम् ॥१॥

[२] ० सुमती यज्ञवनसं ज्येष्ठं यज्ञवनसम् ।
ऋतावानमादित्यं चर्षणीधृतं राजानं
चर्षणीधृतम् ॥२॥

[३] ० आशुं न चक्रं रथ्येव रंह्यास्मभ्यं
दस्म रंह्या । तोकाय तुजे शुशुचान शं
कृध्यस्मभ्यं दस्म शं कृधि ॥३॥

इन ऋचाओंमेंसे प्रथम ऋचा विनाव्यूहके भुरिग् अति शक्वरी है, व्यूहन से भुरिक् अष्टि है। द्वितीय अतिजगती और तृतीय अष्टि है, धृति नहीं है।

वामदेवदृष्ट इन ऋचाओं को दिखलाकर माधवभट्ट ऋषिस्वभाव के उत्तर को निर्बल कर दिया है।]

२०. पारुच्छेपीषु सर्वासु शक्यं द्वैरूप्यमञ्जसा ।
जातवेदः शब्द इव न प्रदर्शयितुं बुधैः ॥

२१. यथाकथञ्चिद् द्वैविध्यं प्रतिपादयितुं बुधाः।
नेच्छन्ति तेन सर्वेऽमी भवन्ति पादपूरणाः॥

परुच्छेप ऋषि-दृष्ट समस्त ऋचाओंमें 'जातवेदस्' शब्द के समान विद्वान् लोग सर्वत्र आवृत्त पदों में दो प्रकार का अर्थ नहीं दिखला सकते। विद्वान् लोग ज्यों त्यों करके अर्थ-भेद बतलाना भी नहीं चाहते। इससे निश्चित मत ऐसा ही जानें कि वे शब्दवृत्तियें सब पादपूर्तिके लिये हैं ।

[चाहे माधवभट्ट छन्दःस्वभाव माने या ऋषिस्वभाव, इनके मतसे ऋषि मन्त्रों के बनानेवाले सिद्ध होते हैं, द्रष्टा नहीं ।

२२. तमेवार्थं ब्रुवाणानां वचनव्यक्तयः पृथक् ।
मन्त्रेषु केषुचित् संति केषुचित्तु न संति च ॥

२३. इच्छन्ति काव्यवद् वृद्धा न वेदे बहुभाषणम्।
तस्माच्छन्दस्य तस्यार्यं तमेवाहुर्विपश्चितः॥

किन्हीं मन्त्रोंमें उसही अर्थ को बतलाने वाले शब्दों का पुनः आवर्तन है, किन्हीं में नहीं भी है। वृद्ध (प्राचीन

विद्वान्) जन काव्यके समान बहुत अर्थोंका कहना स्वीकार नहीं करते, इसलिये विद्वान् जन उस शब्द के उसी अर्थ को बतलाते हैं।

२४. पारुच्छेपीर्ऋचः सर्वा यदा पश्यति पंडितः।
न तदा प्रतिपाद्योऽस्य सोऽयमर्थ इति स्थितिः॥
२५. वेदमुद्रामजानन्तः कुतर्कगतमानसः।
आपाततो भाषमाणास्ते हास्या वैदिकैरिह॥

परुच्छेपसे दृष्ट समस्त ऋचाओं को देखनेसे विदित होता है कि आवृत्त पदों का भिन्न अर्थ नहीं, प्रत्युत वही अर्थ है। वेद की रचनाको न जानते हुए कुतर्कमें चित्त देकर अतिवाद करनेवाले लोग वैदिक विद्वानोंके उपहास-पात्र होते हैं।

२६. अभ्यासादाह भूयांसमर्थं यस्ककुलोद्भवः।
अन्यमर्थं न तु ब्रूते व्याख्यातारो वदंति यम्॥
२७. दर्शनीयो दर्शनीय इत्यभ्यासात् प्रतीयते।
भूयानर्थोऽस्त्यंतमिति निर्वाहोऽयं च केषुचित्॥

यस्ककुलमें उत्पन्न महर्षि यास्क अभ्यास (पुनरावृत्ति) से अधिक अर्थ का ग्रहण बतलाते हैं, व्याख्याकार विद्वान् जिस भिन्न अर्थ को बतलाते हैं, उस भिन्न अर्थ को यास्क नहीं बतलाते। जैसे-'दर्शनीयः दर्शनीयः' इस प्रकार एकही शब्द को दो बार कहनेसे दर्शनीय (देखनेयोग्य) अर्थ ही अधिकरूपसे पुष्ट होता है, अर्थात् वह बहुत ही दर्शनीय है; इसी प्रकार वेदमें आवृत्तिस्थलोंमें जानना चाहिये। और ऐसा भी किन्हीं स्थलों में होता है, सर्वत्र नहीं।

अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यंते यथाहो दर्शनीयाहो दर्शनीयेति। तत्परुच्छेपस्य शीलम्॥
(निरुक्त० अ० १०। ख० ४२)

विद्वान् लोग पदके अभ्यास में अधिक अर्थ मानते हैं। जैसे- 'अहो-दर्शनीया, अहो-दर्शनीया,' अर्थात् वह स्त्री बहुत अधिक दर्शनीय, सुन्दर है; वेदमन्त्रों में इस प्रकार की शब्दावृत्ति परुच्छेप ऋषिका स्वभाव है। तद्दृष्ट मन्त्रोंमें अर्थबाहुल्य के लिये पदावृत्ति हुई है। माधवभट्ट इसको ऋषिस्वभाव न मानकर छन्दःस्वभाव मानते हैं। इस सम्बन्धमें श्री दुर्गाचार्य लिखते हैं—

"शब्दाभ्यासे यत्रान्यो विशेषो नास्ति तत्रैवं विशेषमाचार्या. मंत्रार्थसत्तत्त्वविदो मन्यन्ते। यदुतार्थभूयस्त्वमिति, नह्यकस्मात्स एव शब्दः पुनरभ्यस्यते। लोकेऽपि चैतद् दृष्टम् + शब्दाभ्यासेऽर्थभूयस्त्वमिति; यथा अहो दर्शनीय अहो दर्शनीय इति गुणातिशयेहि स्त्रियाः शब्दाभ्यासः। तस्मान् मन्त्रेष्वपि तद्वदेवेति न्याय्यम्॥"

शब्द की आवृत्ति में जहां अन्य कुछ विशेष अर्थ नहीं हैं, वहां मन्त्रार्थतत्त्व को जाननेवाले आचार्य ऐसी विशेषता मानते हैं, अर्थात् वहां वही तात्पर्य अधिक जाना जाता है, विनाकारण शब्द को पुन: पुनः नहीं पढा जाता। लोकमें भी ऐसा देखा जाता है। जैसे कहते हैं अहो-दर्शनीय ! अहो-दर्शनीय ! स्त्रीमें कोई विशेष रूपगुण देखकर 'दर्शनीय' पदको पुनः पढा है, इससे मन्त्रों में भी इसी प्रकार अर्थाधिक्य जानना उचित है। अर्थात् दुर्गाचार्य के मतमें विशेष भिन्न अर्थ भी होना सम्भव है। जहां भिन्न अर्थ नहीं है, वहां विशेष अधिकार्थ जानना। पादपूर्तिप्रयोजन तो किसीमें नहीं माना, केवल माधवभट्ट ही पादपूर्ति-प्रयोजन बतलाते हैं।]

॥ इति प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः।

महि महे तवसोऽथ व्याचिख्यासति माधवः।
समासविषये वाच्यमादितः सम्प्रदर्शयन्॥

अब माधवभट्ट "महि महे तवस० (चतुर्थ अष्टक के द्वितीय अध्याय) की व्याख्या करने से पूर्व समास के विषय में कुछ वक्तव्य दर्शाते हैं।

समाससम्बन्धी शब्द-आवृत्ति।

१. समास उपसृष्टानां निवर्तन्ते विभक्तयः।
विस्पष्टमभिधानाय निर्दिश्यन्ते पुनश्च ताः॥
२. द्रविणोदा द्रविणसस्ता सोमं सोमपातमा।
गवां गोपतिरित्येवम्॥

समास में मिले हुए प्रथम पदों की विभक्तियां हट जाती हैं, परन्तु स्पष्टरूप से बतलाने के लिये उन विभक्तियों को पुनः लगाकर भी दिखलाया जाता है। जैसे—

द्रविणोदा द्रविणसः० । (ऋ० १।१५।७)

ता सोमं सोमपातमा० । (ऋ० १।२१।१)

यो गवां गोपतिर्वशी० । (ऋ० १।१०१।४)

ननु ते पादपूरणाः ॥

३. उपादातुमशक्योऽयं प्रत्ययः प्रकृतिं विना ।
ततोऽन्येन गतार्थापि प्रकृतिः सम्प्रयुज्यते ॥

४. वसोरिन्द्रं वसुपतिम्, पुरूतमं पुरूणां च ।
रथीतमं रथीनां च पादास्तत्र निदर्शनम् ॥

(प्रश्न)- क्या इस प्रकार समास में पदों का पुनः आना पादपूर्ति के लिये है?

(उत्तर)- प्रत्यय का प्रकृति के विना प्रयोग नहीं हो सकता, अन्य पद से भी प्रकृति का कार्य चल सकता है, तो भी प्रकृति का ही पुनः प्रयोग किया जाता है, जैसे—

वसोरिन्द्रं वसुपतिम्० । (ऋ १।९।९)

पुरूतमं पुरूणाम्० । (ऋ० १।५।२)

रथीतमं रथीनाम्० । (ऋ० १।११।१)

ये पाद इस बात के उदाहरण हैं।

५. वाजेभिर्वाजिनीवती वाजेभिरिति पूरणः ।
युक्तान्नैर्बहुभिः सेयं यज्ञं वष्टु धियावसुः ॥

वाजेभिर्वाजिनीवती० । (ऋ० १।३।१०)

इस ऋचा में 'वाजेभिः' यह पादपूर्ति के लिये है, इसका अभिप्राय है कि- बहुत से अन्नों से युक्त कर्मसे धनवाली सरस्वती यज्ञ की कामना करे।

६. नन्वत्र विग्रहः सोऽयमस्त्यस्या वाजिनीति यः ।
तृतीयान्तस्य सम्बन्धः पुंल्लिगस्य च तत्र कः ॥

(शंका)- 'वाजेभिर्वाजिनीवती' इस स्थल में 'वाजिनीवती' पद का विग्रह है- वाजः अस्य अस्तीति वाजिनी-वाज जिसके है, वह 'वाजिनी' है। वहां तृतीयान्त 'वाजेभिः' पद और पुल्लिंग का क्या सम्बन्ध है?

(समाधान)-

७. तस्मादन्नैरस्मदीयहविर्भूतैः सरस्वती ।
वहतामिति मन्त्रार्थो नत्वन्नैरन्नवतीति ॥

इसलिये हमारे हविःरूप अन्नोंसे सरस्वती यज्ञको धारण करे, ऐसा मन्त्र का अर्थ होता है, 'अन्नैः अन्नवती' 'अन्नोंसे अन्नवाली' ऐसा अर्थ नहीं होता है।

८. किमत्र तव वक्तव्यं त्वं सोम क्रतुभिरिति ।
किं वहे तव वाच्यं स्याद् यज्ञेभिर्यज्ञवाहसम् ॥

प्रश्न- त्वं सोम क्रतुभिः सुक्रतुर्भूः० ।
(ऋ० १।९१।२)

यज्ञेभिर्यज्ञवाहसम्० ॥ (ऋ० ८।१२।२०)

इन स्थलोंपर आपको क्या कहना है?

९. तर्ह्येवं विग्रहः कार्यो वाजिनीभिः समन्विता ।
या सा वाजिनीवतीति तृतीयान्तस्तथाऽन्वितः ॥

(उत्तर)- तो फिर इस प्रकार विग्रह करना चाहिये- 'वाजिनीभिः समन्विता या सा वाजिनीवती।'

वाजिनियों से समन्वित (सम्पन्न) सरस्वती 'वाजिनीवती' है, वह वाजों से यज्ञ की कामना करे। इस प्रकार 'वाजेभिः' इस तृतीयान्तपद की संगति हो जाती है।

१०. क्रतुभिर्युक्तः सुक्रतुर्बहुव्रीहिश्च विग्रहः ।
न त्वस्य सन्ति क्रतवः तृतीयाश्च तथाऽन्विताः ॥

११. क्रतवो यस्य संतीति सोऽयं लौकिकविग्रहः ।
सविस्पष्टाभिधानाय सत्त्वमात्रमपेक्षितम् ॥

त्वं सोम क्रतुभिः सुक्रतुर्भूः । (ऋ० १।९१।२)

इस ऋचा में 'सुक्रतुः' का विग्रह करेंगे- 'क्रतुभिर्युक्तः सुक्रतुः' उत्तम उत्तम क्रतुओंसे युक्त। 'क्रतवः अस्य संति' उसके उत्तम क्रतु हैं, ऐसा बहुव्रीहि समास नहीं करेंगे। इस प्रकार समस्त तृतीयान्त पदों का अन्वय हो जावेगा। लोकमें जो 'क्रतवः यस्य सन्ति' इस प्रकार का बहुव्रीहि समास कर दिया जाता है, वह केवल स्पष्ट बतलाने के लिए किया जाता है, वहां केवल वस्तुकी सत्तामात्र कहने का अभिप्राय होता है।

१२. अन्वयो वाजशब्देन पुल्लिङ्गेनापि सिद्ध्यति ।
वाजेभिरपि पुल्लिङ्गं तथा सति न दुष्यति ॥

१३. यद्वाम्नवन्तं बहुभिः क्रतुमन्नैस्तथा सति।
वृषा वृषत्वेभिरिति समीचीनो भविष्यति ॥

पुल्लिंग 'वाज' शब्दसे भी अन्वय हो जाता है, 'वाजेभिः' यह पद पुल्लिंग है। इस में भी कोई दोष नहीं आता। अथवा- 'बहुत से अन्नोंसे अन्नयुक्त क्रतु को' ऐसा अन्वय रखेंगे। इसी प्रकार 'वृषत्वेभिः वृषा' इत्यादि स्थल भी संगत हो जावेंगे।

[१२ कारिका का प्रथम चरण 'यद्वाम्नवत्वम् बहुभिः क्रतुम्' ऐसा पाठ है। जो अगली कारिकासे स्पष्ट है।]

१४. गोभिर्वपावान् मधुना तत्र स्पष्टं प्रतीयते।
क्रतोर्गोभिर्वपावत्त्वं गोभिरेवान्नवानिति ॥

गोभिर्वपावान् मधुना समञ्जन्०। (यजु० २०।३७)

इस ऋचा में स्पष्ट प्रतीत होता है कि क्रतु गौओं से वपावाला है। इसी प्रकार- 'वाजेभिर्वाजिनीवती यज्ञंवष्टु धियावसुः' इस मन्त्र में 'वाजों' से (गौओं=बैलों) से अन्नवान् होता है।

१५. यज्ञेभिर्यज्ञवाहसं सामेभिः सोमपातमम्।
यज्ञैर्यज्ञस्य वोढा यो यज्ञवाहा भवेदिति ॥

यज्ञेभिर्यज्ञवाहसं सोमेभिः सोमपातमम्।
(ऋ० ८।१२।२०)

इस ऋचा में यज्ञोंद्वारा जो यज्ञ को धारण करता है, वह 'यज्ञवाहस्' कहने योग्य है।

१६. अश्विना यज्वरीत्यस्याम्प्रत्ययार्थं विनिर्दिशेत्।
चनः शब्दमुपादत्ते सन्त्यन्येऽपि च तादृशाः ॥

अश्विना यज्वरीरिषो द्रवत्पाणी शुभस्पती।
पुरुभुजा चनस्यतम् ॥ (ऋ० १।३।१)

इस ऋचा में 'इषः चनस्तम्' हे आश्वियो ! आप दोनों (इषः) अन्नों को (चनस्यतम्) ग्रहण करो। यहां 'चनस्' शब्द का प्रयोग किया है। चनस् शब्द का अर्थ भी अन्न ही है, इस प्रकार क्रियापद में अन्न अर्थ की द्विरावृत्ति हुई है, वहां 'चनः' शब्द का अर्थ न कहकर केवल प्रत्यय का अर्थ ही करना चाहिए। क्योंकि 'चनः' का अन्न अर्थ पुनरुक्त है। इस प्रकार के अनेक प्रयोग हैं।

इति द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

तृतीयोऽध्यायः।

प्रयुञ्जती दिव एति व्याचिख्यासति माधवः।
द्विरुच्यमानशब्देषु वक्तव्यं सम्प्रदर्शयन् ॥

'प्रयुञ्जती दिव एति'० इत्यादि (ऋ० ५।४७।१) की श्रीमाधवभट्ट व्याख्या करना चाहते हैं, उसके पूर्व, दो बार कहे शब्दोंमें विशेष वक्तव्य बतलाते हैं।

पुनः कथित पद।

१. पदद्विर्वचने वीप्सा नित्यता वा प्रतीयते।
ततो द्वितीयं न पदं तत्र स्यात् पादपूरणम् ॥

किसी पद को दो वार कहनेसे वीप्सा वा नित्यता प्रतीत होती है। इसलिये वहां द्वितीय आवृत्ति पादपूर्तिके लिये नहीं होती।

[महर्षि पाणिनिने 'द्विर्वचन' के नियम अनेक अभिप्राय बतलानेके लिये (अ० ८। पा० १। सू० १-१५ तक) कहे हैं, जिनका स्थानपर उल्लेख करेंगे। अन्तमें सब नियमों को संक्षेपसे लिखेंगे।

नित्यवीप्सयोः (पा० ८।१।४) नित्ये चार्थे वीप्सायां च यद् वर्तते तस्य द्वे भवतः। (कारिका) नित्य अर्थ और वीप्सा में जो पद रहता है, उसको द्विर्वचन (दोवार पाठ) होता है।

अभीक्ष्ण्यम् इह नित्यता। अभीक्ष्ण्यम् इह क्रियाधर्मः। यां क्रियां कर्ता प्राधान्येन अनुपरमन् करोति तन्नित्यम्। पचति पचति। जल्पति जल्पति।

स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि॰ सातारा) की हिंदी पुस्तकें।

	मू.	डा॰व्य॰
१ ऋग्वेद-संहिता	५)	१)
२ यजुर्वेद-संहिता	३)	॥)
३ सामवेद (छप रहा है)	२)	॥)
४ अथर्ववेद	३)	॥)
महाभारत आदिपर्व	६)	१)
" सभापर्व	२॥)	॥)
संस्कृतपाठमाला।	६॥)	।॥=)
वै. यज्ञसंस्था भाग १	१)	।)
अथर्ववेदका सुबोध भाष्य।		
१ प्रथम काण्ड सजिल्द	२)	॥)
२ द्वितीय काण्ड ,,	२)	॥)
३ तृतीय काण्ड ,,	२)	॥)
४ चतुर्थ काण्ड ,,	२)	॥)
५ पंचम काण्ड ,,	२)	॥)
६ षष्ठ काण्ड ,,	२)	॥)
७ सप्तम काण्ड ,,	२)	॥)
८ अष्टम काण्ड ,,	२)	॥)
९ नवम काण्ड ,,	२)	॥)
१० दशम काण्ड ,,	२)	॥)
११ एकादश काण्ड ,,	२)	॥)
१२ द्वादश काण्ड ,,	२)	॥)
१३ त्रयोदश काण्ड ,,	१)	॥)
१४ चतुर्दश काण्ड ,,	१)	॥)
१५ १५ से १८ तक ४ काण्ड	२॥)	॥)
छूत और अछूत	१॥।)	॥)
भगवद्गीता। (पुरुषार्थबोधिनी)	९)	१॥।)
महाभारतसमालोचना। (१-२)	(१)	॥)
वेदस्वयंशिक्षक भा. १-२	३)	॥।)
१ संध्योपासना।	१॥)	।-)
२ योगके आसन। (सचित्र)	२)	।≡)
३ ब्रह्मचर्य।	१)	।-)
४ सूर्यभेदन-व्यायाम (,,)	॥)	॥)
५ योगसाधनकी तैयारी।	॥।)	॥)
यजु. अ. ३६ शांतिका उपाय	॥=)	≡)
शतपथबोधामृत	।)	-)

देवतापरिचय-ग्रंथमाला।		
१ रुद्रदेवतापरिचय	॥)	=)
२ ऋग्वेदमें रुद्रदेवता	॥=)	=)
३ देवताविचार	≡)	-)
४ अग्निविद्या	१॥)	-)
बालकधर्मशिक्षा।		
१ प्रथम भाग।	-)	-)
२ द्वितीय भाग	=)	-)
३ वैदिक पाठमाला प्रथम पुस्तक	≡)	-)
आगमनिबंधमाला।		
१ वैदिक राज्यपद्धति।	।)	-)
२ मानवी आयुष्य।	।)	-)
३ वैदिक सभ्यता।	॥)	≡)
४ वैदिक चिकित्साशास्त्र	।=)	-)
५ वैदिक स्वराज्यकी महिमा	॥)	=)
६ वैदिक सर्पविद्या।	॥)	=)
७ मृत्युको दूर करनेका उपाय।	॥)	=)
८ शिवसंकल्पका विजय।	॥)	=)
९ वेदमें चर्खा।	॥)	=)
१० वैदिक धर्मकी विशेषता	॥)	=)
११ तर्कसे वेदका अर्थ	॥)	=)
११ वेदमें रोगजंतुशास्त्र	≡)	-)
१३ वेदमें लोहेके कारखाने	।-)	-)
१४ वेदमें कृषिविद्या	≡)	-)
१५ ब्रह्मचर्यका विघ्न	=)	-)
१६ इंद्रशक्तिका विकास	॥)	८)
उपनिषद् माला। १ ईशोपनिषद्	१)	।-)
२ केन उपनिषद्	१।)	-)
१ वैदिक अध्यात्मविद्या	॥)	=)
२ गीता-लेखमाला १से७भाग	५॥)	१॥)
३ गीता-समीक्षा	=)	-)
४ यज्ञोपवीत संस्काररहस्य	१॥)	॥)
५ भगवद्गीता (प्रथम भाग) (मायानन्दी भाष्य)	१)	॥)
६ भक्तके भगवान्	॥)	=
७ वेदोक्त प्रजननशास्त्र	≡)	-)

Regd. No. B. 1463

संपूर्ण महाभारत।

अब संपूर्ण १८ पर्व महाभारत छाप चुका है। इस सजिल्द संपूर्ण महाभारतका मूल्य ६५) रु रखा गया है। तथापि यदि आप पेशगी म० आ० द्वारा संपूर्ण मूल्य भेजेंगे तो यह ११००० पृष्ठोंका संपूर्ण, सजिल्द, सचित्र ग्रन्थ हम ६०) रु० में दें सकतें हैं। आपसे रुपया आतेही सब पुस्तकें आपको रेल पार्सल द्वारा भेजेंगे, जिससे आपको सब पुस्तक सुरक्षित पहुंचेंगे। यदि रेल्वे स्टेशन आपके पास नही, तो डाकद्वारा भेज देंगे। रुपया म० आर्डरसे भेज दें, जिसे आधा डाकव्यय माफ होगा। वी० पी० से मंगावायेंगे तो सब डाकव्यय आपको देना होगा। **महाभारतका** नमूना पृष्ठ और सूची मंगाईये।

श्रीमद्भगवद्गीता।

इस **'पुरुषार्थबोधिनी'** भाषा-टीकामें यह बात दर्शायी गयी है कि वेद, उपनिषद् आदि प्राचीन ग्रन्थोंके ही सिद्धांत गीतामें नये ढंगसे किस प्रकार कहे हैं। अतः इस प्राचीन परंपराको बताना इस **'पुरुषार्थ-बोधिनी'** टीका का मुख्य उद्देश्य है, अथवा यही इसकी विशेषता है।

गीता— के १८ अध्याय ३ सजिल्द पुस्तकोंमें विभाजित किये हैं—

अध्याय १ से ५ मू ३) डा व्य ॥=)
,, ६ ,, १० ,, ३) ,, ,, ॥=)
,, ११ ,, १८ ,, ३) ,, ,, ॥=)

फुटकर प्रत्येक अध्याय का मू० ॥) आठ आने और डा व्य =) है।

आसन।

'योग की आरोग्यवर्धक व्यायाम-पद्धति'

अनेक वर्षोंके अनुभवसे यह बात निश्चित हो चुकी है, कि शरीरस्वास्थ्यके लिए आसनोंका आरोग्यवर्धक व्यायामही अत्यंत सुगम और निश्चित उपाय है। अशक्त मनुष्यभी इससे अपना स्वास्थ्य प्राप्त कर सकते हैं।

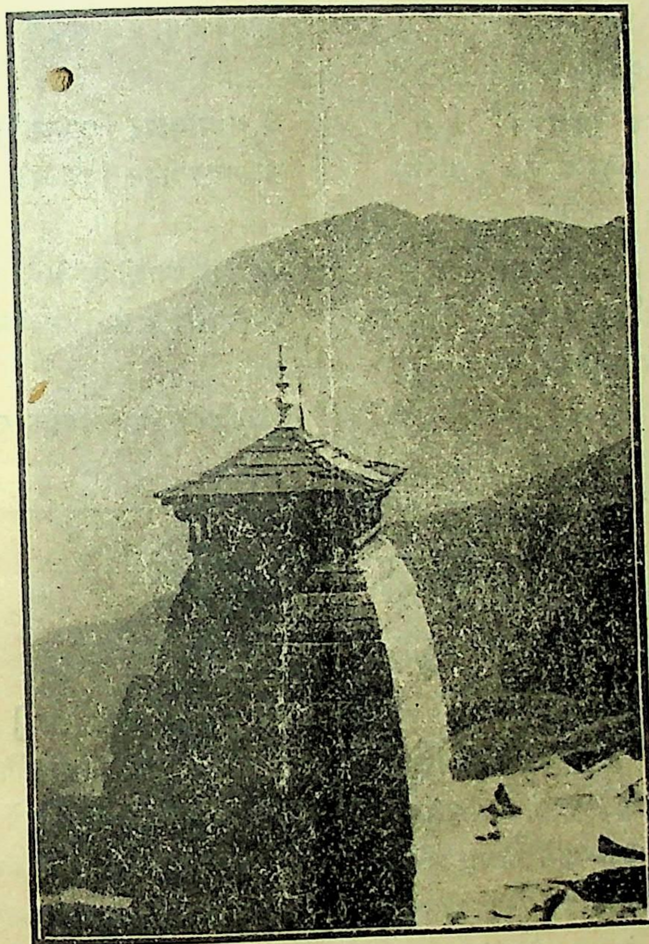
इस पद्धतिका सम्पूर्ण स्पष्टीकरण इस पुस्तकमें है। मूल्य केवल २) दो रु० और डा० व्य० ।=) सात आने है। म० आ० से २।=रु भेज दें।

मंत्री—स्वाध्याय-मण्डल, औंध, (जि० सातारा)

मुद्रक और प्रकाशक— व० श्री० सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध।

वैदिक धर्म ।

मार्च १९४०
माघ १९९६



श्री तुंगनाथ-मंदिर ।

वर्ष २१, अंक ३] [क्रमांक २४३

वैदिक धर्म ।

[मासिक पत्र]

संपादक
पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

सहसंपादक
पं० तडित्कान्तजी वेदालंकार

स्वाध्याय-मण्डल, औन्ध

वार्षिक मूल्य म. आ. से ५) रु. वी. पी. से ५।।) रु. विदेशके लिये ६।।) रु.

वर्ष २१] [अङ्क ३

विषयानुक्रमणिका

वैदिक धर्म

वर्ष २१ : : : : अङ्क ३

माघ संवत् १९९६

मार्च १९४०

ईश्वरस्वरूप ।

यस्मिन् भूमिरन्तरिक्षं द्यौर्यस्मिन्नध्याहिता ।
यत्राग्निश्चन्द्रमाः सूर्यो वातस्तिष्ठन्त्यार्पिताः ।
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥

[अथर्व० १०।७।१२]

"जिसमें भूमि, अन्तरिक्ष और द्यौ हैं, और जिसमें अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, वायु ठहरे हैं, वही सर्वाधार ईश्वर है और वही निश्चयसे आनन्दमय है।"

इस सब विश्वका आधार ईश्वर है, वही आनन्दकन्द है। उसी आधारपर पृथ्वी, अन्तराळ और आकाश रहते हैं और उसी में अग्नि, चन्द्र, सूर्य और वायु ठहरे हैं। यही ईश्वर सर्वाधार है।

सामवेद।

'सामवेद' की छपाई हुई है। अब सामवेदकी जिल्द बन रही है। जिल्द बनने पर वह ग्राहकोंके पास भेज जायगा। जब सामवेद ग्राहकों के पास पहुंचेगा तब चारों वेदों के सहूलियतके मूल्य की अवधि समाप्त होगी। इसलिये पाठक त्वरा करें और अपना मूल्य शीघ्र भेजकर सहूलियतसे लाभ उठावें।

यजुर्वेद की चार संहिताएं।

निम्नलिखित वैदिक संहिताओं का मुद्रण करने का प्रारम्भ किया गया है—

	मूल्य	डा० व्यय	रेलव्यय
१ काण्व संहिता (शुक्ल–यजुर्वेद)	३)	॥।)	।=)
२ तैत्तिरीय संहिता (कृष्ण–यजुर्वेद)	५)	१)	॥)
३ काठक संहिता	५)	१)	॥)
४ मैत्रायणी संहिता	५)	१)	॥)
	१८)	३॥।)	१॥।=)

वेदकी इन चारों संहिताओंका मूल्य १८) है। परन्तु जो ग्राहक पेशगी मूल्य भेजकर ग्राहक बनेंगे, उनको ये चारों संहिताएं ९) नौ रु० में दी जायगी। डा० व्यय अथवा रेलव्यय ग्राहकोंके जिम्मे होगा। मूल्य भेजने के समय यह भेजने का व्यय जोडकर मूल्य भेज दें। जिनको वेदों का अध्ययन करना है, उनके लिये यह अमूल्य अवसर है। ये **ग्रंथ इतने सस्ते आजतक किसीने दिये नहीं और आगे भी इतने सस्ते ये ग्रन्थ नहीं मिलेंगे।**

जो सहूलियतका मूल्य ९) नौ रु० भेजकर यजुर्वेद की इन चार संहिताओं के ग्राहक होंगे, उनको "**ऋग्वेद-यजुर्वेद (वाजसनेयी संहिता)-सामवेद-अथर्ववेद**" ये चारों वेदसंहिताएं सहूलियतके मूल्यसेहि अर्थात् केवल ६॥) मूल्यसे ही मिलेगी। प्रेषणव्यय डाकद्वारा ३) और रेलद्वारा १॥) है। वह ग्राहकोंके जिम्मे रहेगा।

इस सहूलियत का लाभ ग्राहक शीघ्र लेवें। ऋग्वेद का पुनर्मुद्रण होने तक ही यह सहूलियत रहेगी।

दैवत-संहिता।

'**दैवत-संहिता**' का अग्निमन्त्रों का प्रथम भाग इस महिनेमें छपकर तैयार होगा। उसकी विशेषणसूची, मंत्र-सूची, उपमासूची आदि सब सूचियां आगामी महिनेमें छप जायगी। तैयार होते ही यह दैवत-संहिता ग्राहकों के पास भेजी जायगी।

कई पाठक पूछते हैं कि क्या दैवत-संहिता का मुद्रण स्थगित हुआ है ? उत्तरमें निवेदन है कि सब वेदमुद्रण तथा दैवत-संहिता आदिके मुद्रण यथायोग्य त्वरासे हो रहे है। एक भी कार्य स्थगित नहीं है।

यद्यपि युद्ध के कारण कागजका मूल्य अत्यधिक बढ गया है और वेदमुद्रणमें निश्चय से सहस्त्रों रुपयों का घाटा होनेकी संभावना हमारे सामने उपस्थित होकर हमें डरा रही है, तथापि हमने परमेश्वर पर विश्वास रखकर वेदमुद्रण उसी त्वरासे जारी रखा है, जैसा युद्ध के पूर्व था। घाटे के प्रश्न का विचार पाठक करें। यह भार उनपर है। हमारा कार्य तो वेदसंहिताओं का मुद्रण करना है। व्यय का तथा घाटे का विचार करना वेदप्रेमी ग्राहकों का कर्तव्य है। ग्राहकों का विचार ग्राहक करें, हमारा कर्तव्य हम करेंगे।

ग्राहक अपना अग्रिम मूल्य शीघ्र भेज दें और ऊपर लिखी सहूलियत से लाभ उठावें।

ईश्वर-साक्षात्कार।

(त्रयोदशवाँ लेख।)

'ईश्वर-साक्षात्कार' के विषय में पाठक विविध शंकाएं करते हैं, यह बात बडी अच्छी है। शंका करनेसे ही सत्य ज्ञान प्राप्त होना संभव हो सकता है। यदि कोई पाठक शंका ही न करेंगे और अपने ज्ञान में ही संतुष्ट रहेंगे तो सत्यज्ञान होना अत्यन्त कठिन होगा। इसलिये शंका लिखकर भेजने की जो जो पाठक कृपा कर रहे हैं, उनको हम हार्दिक धन्यवाद देते हैं। तथापि हम सब शंका-विषयक पत्र यहां मुद्रित नहीं कर सकते। जितना अत्यन्त आवश्यक भाग होगा, उतनाही मुद्रित करेंगे, अथवा किसी की शंका न मुद्रित करते हुए ही उसका उत्तर छाप देंगे। इसलिए किसी का पत्र या संपूर्ण पत्र न छप गया, तो कोई क्रोध न करें।

ईश्वरके नाम।

प्रथमतः कई पाठकों ने ईश्वरनाम-विषयक शंकाएं पुनः पुनः लिखी हैं, उनके समाधान के लिए यहां निम्नलिखित स्थानपर हम अनेक ग्रंथों के वचन देते हैं—

'ओंकार' एवेदं सर्वम्। (छां० उ० २।२३।३)
'ओं' इतीदं सर्वम्। (तै० उ० १।८।१)
ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम्। (मांडू० १; नृ०पू० २।२, ४।१; नृ० उ० १।१; रामो० ३)
सर्वमोंकार एव। (नृ०पू०४।१; नृ०उ०१; रामो० ३)
'गायत्री' वा इदं सर्वं भूतम्। (छां० उ० ३।१२।१)
सर्वं खल्विदं 'ब्रह्म'। (छां० उ० ३।१४।१)
'प्राणो' वा इदं सर्वम् भूतम्। (छां० उ० ३।१५।४)
'प्राणो' ह्येवैतानि सर्वाणि भवति। (छां० उ० ५।१।१५; ७।१५।४)
'अहं' एवेदं सर्वम्। (छां० उ० ५।२।६; ७।२५।१; बृ० उ० ४।३।२०; ६।३।६)
एतदात्म्यमिदं सर्वम्। (छां० उ० ६।८।७)
'स' एवेदं सर्वम्। (छां० ७।२५।१)
'आत्मा' एवेदं सर्वम्। (छां० ७।२५।२; नृ० उ० ७)
आत्मत एवेदं सर्वम्। (छां० ७।२६।१)
एतत्सर्वं 'मन' एव। (बृ० उ० १।५।३; मैत्री ६।३०)
एतत्सर्वं 'प्राण' एव। (बृ० उ० १।५।३)
इदममृतं, इदं ब्रह्म, इदं सर्वम्। (बृ० २।५।१)
एतद्ब्रह्म, एतत्सर्वम्। (बृ० ५।३।१)
'पुरुष' एवेदं सर्वम्। (श्वे० उ० ३।१५; नृ० पू० ५।१; ऋ० १०।९०।२; वा० यजु० ३०।२; सामः आरण्य० अ० ६।४।५ अथर्व० १९।६।४)
एषो ह 'देवः' प्रदिशोऽनुसर्वाः। (श्वे० २।१६; म० ना० २।१)
'ब्रह्म' खल्विदं वाव सर्वम्। (मैत्री० उ० ४।६)
सर्वं 'आत्मा' जानीत। (मैत्री० ६।७)
'आपो' वा इदं सर्वम्। (म० ना० १४।१)
सर्वं ह्येतद्ब्रह्म। (माण्डू० २; नृ० पू० ४।१; नृ० उ०१; रामो० ३)
इदं सर्वं यदयं 'आत्मा'। (नृ० उ० ५)
सर्वं ह्ययमात्मा। (नृ० उ० ७)
ब्रह्मैवेदं सर्वं सच्चिदानन्दरूपम्। (नृ० उ० ७)
सच्चिदानन्दरूपमिदं सर्वम्। (नृ० उ० ७)
सद्धीदं सर्वं... चिद्धीदं सर्वम्। (नृ० उ० ७)
ब्रह्म ह वा इदं सर्वम्। (नृ० उ० ७)
आत्मा हीदं सर्वं सदेव। (नृ० उ० ८)
एष एव सर्वम्। (नृ० उ० ९)
सूक्ष्मः पुरुषः सर्वम्। (शिर० ३)
नारायण एवेदं सर्वम्। (नारा० उ० २)
वासुदेवः सर्वम्। (भ० गी० ७।१९)
ततोऽसि सर्वः। (भगी० ११।४०)

इन सब वचनोंमें क्रमशः 'ओंकार, ओं, गायत्री, ब्रह्म, प्राण, अहं, सः, आत्मा, मन, प्राण, अमृत, पुरुष,

वैदिक धर्म ।

देव, आपः, सच्चिदानन्दरूप, सत्, चित्, एषः, सूक्ष्म पुरुष, नारायण, वासुदेव' इतने नामोंका प्रयोग परमेश्वर के लिए किया गया है। वैदिक वाङ्मय ढूंढनेसे और भी शब्द इसी अर्थमें प्रयुक्त हुए प्रतीत होंगे। परन्तु इतने शब्द देखनेसे स्पष्ट प्रतीत होगा कि 'वासुदेव' शब्द भी जो कि 'वसुदेव के पुत्र' के लिये ही लगना चाहिए था, वह भी ईश्वर का पर्याय करके प्रयुक्त हुआ है। इस से स्पष्ट हो सकता है कि, यद्यपि प्रत्येक शब्द का दूसरा दूसरा अर्थ होना संभव है, तथापि सामान्यतः अनेक शब्द ईश्वरवाचक समझे जाते थे और उनमें 'नारायण, ब्रह्म, आत्मा, वासुदेव' आदि शब्द भी संमिलित थे।

इस विषयमें एक सुयोग्य पाठकका पत्र यहां देना योग्य है। जिनकी इस प्रकारकी शंकाएं होंगी, वे उक्त वचनोंसे अपनी शंका दूर कर सकते हैं—

× × ×

'सोजतरोड' से ता० ५।२।४० के पत्र में श्री० भूषण-गुप्तजी लिखते हैं—

पौष मास के "वैदिक धर्म" पृष्ठ ४९ पर ब्रह्म और ईश्वर शब्दों के विषय में आपके विचार जानकर अत्यन्त आनंद हुआ। आपके ईश्वर-साक्षात्कार लेखोंके प्रारंभ होनेपर ही मुझे इस विषय में भ्रम हुआ था। अतः मैंने आपको पत्र लिखकर सूचित किया था कि आपके लेख ईश्वर (ब्रह्म) के शरीर को बताते हैं, परन्तु जिस प्रकार किसी व्यक्ति के शरीर को ही देखकर उससे मैत्री अथवा शत्रुता नहीं बढती जाती, उसी प्रकार ईश्वर (ब्रह्म) के शरीर मात्र को देखकर उससे ऐकता स्थापित कैसी की जा सकती है। अतः आपसे अनुरोध किया था कि शरीर के अन्दर रहनेवाले भाव तथा प्रेरक ज्ञान, चित् और आनंद-शक्ति को दिखाने का प्रयत्न अगले लेखों में करें अर्थात् ब्रह्म के विराट् प्राकृतिक भाग को वर्णन करके अपनी लेख-माला बन्द न कर दें, परन्तु उसके 'पर' स्वरूप के विषय में जहां तक लिखा जा सकता है लिखें। ब्रह्म का अपर-भाव जहां साक्षात् इंद्रियों का विषय है वहां उसका पर-भाव केवल भावगम्यही है, ऐसा अनेक स्थलोंपर लिखा है। अतः आप पूर्ण सेवा तबही कर सकेंगे जब आप अपने लेखोंको उतना बढा दें। मेरे विचारसे कोई भी पुरुष बिना उस 'पर' भाव को जाने अर्थात् जीव और ईश्वर (ज्ञान, कर्म और आनंद-शक्ति) को जाने बिना इस 'अपर' भावमें एकता देखही नहीं सकता। यद्यपि यह भावगम्य है परंतु किसी पदार्थ से अलग कोई अलग भिन्न वस्तु नहीं है। यहां आप का उद्योग परम प्रशंसनीय है और आशा है आप इससे जिज्ञासुओं का प्रभूत कल्याण कर पायेंगे। मेरी प्रार्थना है कि जब अपने शब्दों के विषयमें सावधानी रखने का वचन ही दिया है तो आप अपने लेख के शीर्षक को भी शुद्ध कर दें और 'ईश्वर-साक्षात्कार' के बजाये 'ब्रह्म-साक्षात्कार' शब्द प्रयुक्त करें तो अच्छा हो।

मेरे विचार में तो यह बात बहुत दिनसे आई थी कि भारतवर्ष के अनेक वादों के परस्पर झगडे केवल वैदिक भाषा की इस प्रौढता पर ही निर्भर हैं कि जिसके द्वारा हम जैसे अज्ञानी 'ब्रह्म,' 'आत्मा,' 'पुरुष,' 'सत्,' 'ऋत' आदि अनेक शब्दों के जब जो चाहे अर्थ कर लेते हैं और अपने अज्ञान से आपस में लडते हैं। पूज्यपाद शंकराचार्यजी के ब्रह्माद्वैत में मुझे कुछ भी गडबड नहीं लगता, यदि वह अथवा उनके अनुयायी ब्रह्म और ईश्वर को एक न समझ बैठे होते और उन्होंने अपर-ब्रह्म को माया अर्थात् असत्- लौकिक भाषा में आस्तित्वहीन-मिथ्या न समझ लिया होता। ब्रह्म के दोनों स्वरूपोंपर और अपर-वैदिक भाषा के सत् और असत् में से एक को भी मिथ्या मानना स्वयं वेदसे इन्कार करना है। मैं तो ऐसा मानता हूं, वेदने इसी कारण इन सत् और असत् शब्दों को ठीक विचार से सुन्दररूपेण 'ऋत और सत्य' शब्दों से वर्णन किया है। न ऋत ही मिथ्या है और न सत्य।

श्रीधर्मपालसिंहजी के लिये ऋषि दयानंदकृत 'सत्यार्थप्रकाश' के सप्तम समुल्लासमें की गई 'अजामेकां' इत्यादि मन्त्र की व्याख्या मनन के योग्य है। उसमें ऋषिने शास्त्रीय दृष्टिसे ईश्वर क्या है यह बताया है और जिन शास्त्रों से नास्तिकता सिद्ध की जाती है उनमें ईश्वर के गुण से भूषित गुणी का होना बताकर ईश्वर का होना प्रमाणित किया गया है। उसपर मनन करनेसे आशा है श्री० धर्मपालसिंहजी को गुण और द्रव्य के सम्बन्ध का ज्ञान भी हो जायेगा और ब्रह्म में ईश्वर के स्थान का भान

भी होगा। स्वामीजी के मोक्षविषयक विचार भी इस रूप से पूर्ण विचारणीय हैं। यदि श्री० धर्मपालसिंहजी स्वामीजी के लेखों को इस दृष्टिकोण को सामने रख फिर से दुहरायेंगे तो मुझे विश्वास है उनके भ्रम दूर हो जायेंगे और आपको स्वामीजी जैसा प्रबल तार्किक पक्ष स्थापित करनेवाला प्राप्त हो जायेगा। अस्तु।

\+ \+ \+

(संपादकीय वक्तव्य)

ऊपरके पत्रमें 'ब्रह्म, ईश्वर, आत्मा' आदिके नामोंके विषयमें जो कहा है और हमने भी जो गत अंकमें सावधानीसे शब्दप्रयोग करनेके विषयमें लिखा था, वह सब शास्त्रीय तोलसे शब्द तोले जानेपर यद्यपि ठीक प्रतीत होगा, तथापि सामान्यतः उतनी शब्दों की परहेज करने की कोई आवश्यकता नहीं है। इसका कारण सब पाठकों को पताही है। संस्कृत के शब्द एक विशेष अर्थ को दर्शाते हैं, परन्तु सामान्यतः वेही शब्द विभिन्न अर्थोंमें भी प्रयुक्त होते हैं। ऐसी दशामें 'ईश्वर-साक्षात्कार' के स्थानपर 'ब्रह्म-साक्षात्कार' ऐसा लिखना ही चाहिये, ऐसी बात नहीं है। यद्यपि ब्रह्म-साक्षात्कार शब्द अधिक योग्य है, तथापि वही प्रयुक्त करना आवश्यक है और वैसा ईश्वर-साक्षात्कार शब्द योग्य नहीं है, ऐसी बात नहीं है।

दूसरी बात यह है कि, सब ही ब्रह्म विश्वमय है, विश्वरूप बना है, ब्रह्मपरहि विश्व दीखता है, इत्यादि बातें जानते हैं। हमें इस लेखमाला में ईश्वर का ही रूप दर्शाना है और 'ईश्वरहि विश्वरूपी है' यह वैदिक सिद्धांत इस लेखमालामें दर्शाना था। वेदमें ब्रह्म शब्द बहुत थोडी संख्यामें प्रयुक्त हुआ है, यह ब्रह्म शब्द उपनिषदों में बहुतवार आता है और तदुत्तर ग्रन्थोंमें तो विशेषवार प्रयुक्त हुआ है। वेदमें 'देव, इन्द्र' आदि अन्य ही शब्द ईश्वरवाचक होते हुए विभिन्न वस्तुओं के लिये भी प्रयुक्त हुए हैं। तथा गीतामें 'ईश्वर' शब्द का प्रयोग विशेषतः है और तदनुसार आधुनिक ग्रन्थोंमें 'ईश्वर' शब्द ही प्रयुक्त हुआ है।

इसीलिये हमें 'ईश्वर-साक्षात्कार' ऐसे शब्द प्रयुक्त करने पडे, यह कार्य 'ब्रह्मसाक्षात्कार' शब्दसे कदापि होनेवाला नहीं है। जो ईश्वर भगवद्गीता आदि ग्रन्थोंमें वर्णित हुआ है, जिसको हम सब 'ईश्वर' नामसे जानते हैं, उसका स्वरूप इस लेखमालामें हमें पाठकोंके सामने रखना है, इसीलिये हमने 'ईश्वर-साक्षात्कार' ऐसा शब्दप्रयोग किया। यह शब्द जानबूझकर किया गया है और थोडीसी शास्त्रीय सदोषता स्वीकार करके भी वही शब्द अत्यंत आवश्यक होनेके कारण प्रयुक्त किया गया है।

'ब्रह्म' नामक एकही 'सद्वस्तु' है, और उसीके ईश्वरवाचक अथवा आत्मावाचक सब नाम हैं। अन्य नामोंसे जैसा ईश्वर का विश्वके साथ सम्बन्ध प्रकट होता है वैसा 'ब्रह्म' नामसे नहीं होता। 'ब्रह्म' नाम यद्यपि शास्त्रशुद्ध और अर्थपूत है तथापि वह अत्यन्त निर्विकार है, अतः उसका प्रयोग होनेपर शब्द कुंठित ही होते हैं। 'ईश्वर' शब्द की वैसी अवस्था नहीं है। 'ब्रह्म' में जब 'अहं' का स्फुरण हुआ, विश्व बननेकी स्फूर्ति हुई, कर्तृत्वादि शक्तियों का प्रकटीकरण हुआ, अभेदसे विविध भेदों की व्यक्ति हो गयी, तब उस स्थितिमें उस ब्रह्म शब्दका प्रयोग करना योग्य भी नहीं है। इसीकारण 'ईश्वर-साक्षात्कार' ये शब्द विशेष हेतुसे ही प्रयुक्त किये हैं, यही यहां दर्शाना है।

पर और अपर स्वरूप।

ईश्वरका पर स्वरूप और ईश्वरका अपर स्वरूप जानने के विषय में इतनाही कहना पर्याप्त है कि, जो दृष्टिगोचर अथवा इंद्रियगोचर हो रहा है, वह अपर-स्वरूप है और जो भावगम्य है वह पर स्वरूप है, यह कहना ठीक है, इसीको क्रमशः 'क्षर-पुरुष' और 'अक्षर-पुरुष' गीतामें कहा है। क्षर-पुरुष इंद्रियगोचर है और अक्षर-पुरुष भावगम्य है। परन्तु 'क्षर+अक्षर' मिलकर ही जो 'पुरुषोत्तम' होता है, वही ब्रह्म का स्वरूप है।

मिश्रीका ढेला + मिठास = खांड या मिश्री।

यह उदाहरण देकर यहाँ अनेक वार दर्शाया गया है कि, जो एकहि सद्वस्तु है, उसीमें 'पर और अपर' ये दोनों स्वरूप सांजे ही रहते हैं। इसलिये ईश्वर का पर स्वरूप पृथक् है और अपर स्वरूप पृथक् है, एकके जानने के पश्चात् भी दूसरा अज्ञात रहता है, ऐसी बात नहीं

है। पर और अपर स्वरूप मिलकर ही ईश्वरका सत्यस्वरूप है। एक स्थानपर 'पर' और दूसरे स्थानपर अपर स्वरूप रहता है ऐसा भी नहीं है। इन दो स्वरूपों की कल्पना केवल अल्पमतियों को समझाने के लियेहि बुद्धिद्वारा मानी गई है। क्षर और अक्षर ये पृथक् रहनेवाले दो पुरुष नहीं है। ये कभी पृथक् न होनेवाले, सर्वदा एकमें ही सांजे रहनेवाले दो भाव मात्र हैं। दोनोंसे जो एक सद्वस्तु बनती है, वही सत्य वस्तु है। उसीके 'सत्, आत्मा, ब्रह्म' आदि नाम हैं।

बहुत लोग समझते हैं कि, इस विश्वमें जड करके कोई एक वस्तु है और दूसरी चेतन करके एक वस्तु उससे सर्वथा पृथक् है। यह सब दार्शनिक बुद्धिसे उत्पन्न हुआ मत सर्वथा वेदविरुद्ध है। दार्शनिकोंने तर्कद्वारा खोज करते करते बाल बुद्धियोंको समझाने के लिये ऐसी दो वस्तुओं की पृथक् सत्ता प्रारंभ में ही केवल मानी है, परन्तु अन्त में ब्रह्मदर्शन में 'सदेकत्ववाद' हि सिद्ध किया है। इस लिए प्रारंभ की दर्शनों की कल्पना केवल इसलिए थी कि, प्रकृतिसत्ता में सब प्रकार के क्षर-पदार्थोंका समावेश हो जावे और चेतन आत्मा में सब प्रकार के चेतन भावों का समावेश हो जावे। जब इस तरह केवल जड और चेतन, क्षर और अक्षर, प्रकृति और पुरुष, अपर और पर ये दोही पदार्थ रहेंगे, तो अन्त में-ब्रह्मदर्शनमें-ये दोनों एक ही सद्वस्तु के आश्रयसे रहनेवाले भाव हैं, केवल उसी एक सद्वस्तु के ये दो कल्पनागम्य भाव हैं, ऐसा बतलाकर वेदका 'सदैक्यवाद' साधक को समझाना।

पर जब परमार्थतः सार्वकालिक द्वैतवाद माननेवाले संप्रदाय चल पडे, तब ऊपर की प्रणाली लुप्त हुई और इन्होंने वेद और उपनिषदों के वचनोंको भी तोडनेमरोडने में कोई कसर न रखी; इस आवस्थामें पर और अपर भाव परमार्थतः विभिन्न माने जाने लगे, यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। तथापि ऊपर के पत्र के लेखक पर और अपर भावोंको एक में ही समाविष्ट मान रहे हैं, यह बडीहि अच्छी बात है।

वस्तुतः इस विश्व में परमार्थतः जड कोई वस्तु नहीं है, और परमार्थतः केवल चेतन भी कोई वस्तु नहीं है। जो है वह एक ही 'सत्' है और वही हमारी इंद्रियोंकी शक्तिके अनुसार हमें एक अवस्था में जड और दूसरी अवस्थामें चेतन दीखता है।

हम जडचेतनादि द्वन्द्वों को यदि ठीक तरह समझेंगे तो यह शंका उपस्थितही नहीं होगी। उदाहरणार्थ देखिए कि दोपहरका सूर्य १२ बजे जब चमकता है तब अधिक प्रकाश रहता है और जब रात्री के १२ बजते हैं तब अमावास्याकी रात्रीमें घन अन्धकार होता है। प्रकाश और अन्धकार ये दो भाव मानवी बुद्धिने अपनी कमजोरी के कारण अनुभव किये हैं। अब यहां विचार करिये कि इस विश्वमें क्या केवल प्रकाश और केवल अन्धकार ऐसे दो पृथक् पदार्थ हैं? रात्रीके घने अन्धकार में भी थोडासा प्रकाश रहता ही है और दिन के प्रकाश में भी थोडासा अन्धेरा रहता ही है। इसका मनन करने से किसी एक ही सत् के ये दो भाव हैं ऐसा प्रतीत होगा।

दिनके १२ बजे यदि १०० अंश प्रकाशके होंगे तो रात्री के निबिड अन्धेरेमें १ अंश प्रकाशका होगा। अर्थात् प्रकाश और अन्धेरा ऐसे दो पदार्थ यहां नहीं हैं, परन्तु अधिक और न्यून प्रकाशहि सर्वत्र भरा है, जिसको हम अपनी अल्प बुद्धि के कारण प्रकाश और अन्धकार संज्ञा देते हैं। इसी तरह अन्य द्वन्द्वोंके विषयमें जानना चाहिये और जड चेतन के विषय में भी यही बात जानने योग्य है। चेतन को १०० अंश चेतन कहना होगा तो जडको १ अंश चेतन कहना योग्य है, अथवा चेतन को पूर्ण जागृत चैतन्य कहेंगे तो जड को पूर्ण सुप्त चैतन्य कह सकते हैं। माण्डूक्योपनिषद्में आत्मा का जाग्रत-स्वप्न-सुप्त ऐसा तीन प्रकारका स्वरूप दर्शाया है, वहां 'सर्व आत्मा' कह कर चैतन्यको जाग्रत आत्मा' और जड को 'सुप्त आत्मा' कहा है। अर्थात् जड चेतन, क्षर अक्षर, अपर पर ये सब द्वैतभाव एक वस्तुके ही भाव हैं। वेदका यह मत अनेकवार इससे पूर्व वेदमन्त्रों द्वारा अनेक प्रकार से समझा दिया है। अतः उसको यहां वारंवार दुहराना नहीं चाहिए।

भारतवर्ष के मतमतान्तरों के झगडों की उत्पत्ति जो ऊपर के पत्रलेखक महाशयजीने बतायी है वही सत्य है। शब्दार्थसंबंध ध्यान में न लेने से और पक्षान्धताकी वृद्धि होनेसे अनन्त झगडे हुए हैं। सत्यज्ञानसे ही ये सब झगडे मिट सकते हैं। दूसरा कोई उपाय नहीं है।

× × ×

आगे हम एक और पत्र प्रकाशित करना चाहते हैं, वे है चोहरपुरनिवासी पं० देवदत्तजी शर्मा का। आप बडे दार्शनिक विचारमें प्रवीण हैं, जो जो लिखते हैं वह दार्शनिक भाषामें ही लिखते हैं। इनका यह पत्र है–

''आजकल 'वैदिकधर्म' में प्रकाशित होनेवाली 'क्या मनुष्य ईश्वरसाक्षात्कार कर सकता है' लेखमाला के प्रत्येक लेख व शंकाओं को मैंने पढा है। और पर्याप्त ज्ञानलाभ किया है। मैं अपने कुछ विचार आपकी सेवा में भेजता हूं। यदि आप उचित समझें तो इन्हें प्रकाशित कर दें।

सदेकत्ववाद।

१. संसार की प्रत्येक वस्तु को देखने से यह प्रतीत होता है कि वह नाम-रूपात्मक है। नाम-रूप का आधार यद्यपि सत् है। परन्तु नामरूप सत् नहीं है। लेकिन असत् भी नहीं है। क्योंकि यदि नामरूप सत् होता, तो त्रिकालाबाध्य होता। यानी भूत-वर्तमान और भविष्यत-तीनों कालों में वर्तमान रहता। परंतु नामरूप की सत्ता भूत और भविष्यत में न रहकर केवल वर्तमान में रहती है। और यदि नाम-रूप असत् होता तो वह तीनों कालों में वर्तमान न रहता-अर्थात् उसकी सत्ता वर्तमान में भी न होती। **'नासतो विद्यते भावः, नाभावो विद्यते सतः'** यही सत्कार्यवाद है। यदि नामरूप का कारण सत् प्रकृति मानी जावे-तब कारण के गुण कार्य में आते हैं। अथवा सत् कारण का कार्य सत् ही होता है- इस नियम से नामरूप भी सत् होना चाहिए था। लेकिन चूंकि नाम-रूप सत् नहीं है-अतएव प्रकृति भी सत् नहीं हो सकती। **इससे प्रकृति को सत्-आधार ब्रह्म से पृथक् रूप में नहीं माना जा सकता।**

२. ज्ञान अखण्ड तत्त्व है और अनन्त है। ज्ञान की विभिन्नता उपाधिकृत ही हो सकती है। यदि **जीवात्माएं नाना मानी जावें, तो ज्ञान अखण्ड तत्त्व नहीं रह सकता।**

३. आनन्द का अनुभव प्रत्येक मनुष्य करता है। जब केवल परमेश्वर ही आनन्दस्वरूप है, और वह जीवात्मा से स्वरूप से सर्वथा पृथक् है, तो जबतक मोक्ष न हो जावे, आनन्द का अनुभव नहीं होना चाहिये। लेकिन प्रत्येक मनुष्यको आनन्दका अनुभव होता है। **इससे यह सिद्ध है कि, प्रत्येक मनुष्य को ईश्वरसाक्षात्कार प्रत्येक समय हो रहा है। और जीवात्मा स्वरूप से परमेश्वर से पृथक् नहीं है।**

४. निमित्त कारण-अपने कार्य में कभी व्यापक नहीं होता, जैसे कुम्हार घडे में अथवा जुलाहा कपडे में व्यापक नहीं होता। **तो यदि ईश्वर जगत् का केवल निमित्त कारण होता तो जगत् में व्यापक न होता। परन्तु वह सर्वव्यापक है। इससे सिद्ध हुआ कि ईश्वर जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान-कारण है।** केवल निमित्त-कारण नहीं है। और चूंकि वह सच्चिदानन्दस्वरूप है, इसलिये जगत् की प्रत्येक वस्तु में (सत्) अस्ति, (चित्) भाति और (आनन्द) प्रियरूपता विद्यमान है।

५. पुण्य और पाप का हेतु सत्त्व-रज-तम तीनों गुणों की उथल पुथल है। परन्तु आत्मा में ये तीनों गुण नहीं हैं। इसलिये वह विकाररहित, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव है।

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥

६. मलिनता या विकार या तीनों दोष मल-विक्षेप-आवरण अन्तःकरण में ही होते हैं। आत्मा में नहीं। इसी का अनुभव होने से भ्रमनिवृत्ति का नाम ही-मोक्ष है। इति।

(संपादकीय वक्तव्य)

ऊपर के पत्र के प्रतिकूल हमें कुछ कहना नहीं है। हमने इससे पूर्व (दशम लेख में) विश्व और जगत् का भेद दिखाते हुए ईश्वरनिर्मित विश्व और मानवरचित जगत् है, ऐसा कहा था। प्रायः सब नाम और मानवकृत पदार्थों के सब रूप जगत् जैसे हि नश्वर हैं इसमें संदेह नहीं है। परन्तु विश्व प्रवाहरूप से सत्य है। जैसा गंगा का जल सतत

चलता रहनेपर और नश्वर होनेपर भी प्रवाहरूप से गंगा नदी का स्वरूप सत्य ही है, इसी तरह विश्वरूप प्रवाहरूपेण सत्य है। विश्वरूप परमेश्वरका ही प्रत्यक्ष रूप है, यही वेद का कथन है।

हमारा ऊपास्य देव परमेश्वर हमें दीख रहा है, हमारा सब व्यवहार परमेश्वर के साथ हो रहा है, यदि हम छल और कपट करते हैं तो परमेश्वर के साथ ही करते हैं, यह सत्यज्ञान यदि इस विश्व में रहनेवाले मानवों को मिल जायगा, और इस सत्य वैदिक ज्ञान की जाग्रति यदि सब के अन्तःकरणों में सदा रहेगी, तब ही 'वैदिक-स्वाराज्य' इस पृथ्वीपर होगा और इस पृथ्वी का स्वर्गधाम बनेगा। इस वैदिक ज्ञान की विस्मृति ही सम्पूर्ण अशान्ति का हेतु है। इतने वर्ष वेद इस भूमण्डलपर हैं परन्तु उनका प्रचार जैसा होना चाहिये वैसा हुआ नहीं। वेदप्रचार के मिषसे अवैदिक अपसिद्धान्तों का ही फैलाव हुआ है। इसी का परिणाम आज की अवस्था है।

ईश्वरवादका वास्तविक स्वरूप।

[पं० रामावतारजी विद्याभास्कर]

(गतांकसे आगे)

मानवप्राणी ईश्वरसे पृथक् नहीं है। यह उसी शक्तिमान् ईश्वर के अनन्त व्यक्त रूपों में से एक व्यक्त रूप है, इसलिये जो स्वभाव ईश्वर में है, वही स्वभाव इस मनुष्य में भी होना चाहिये।

(४) ईश्वरमिलन की विधि।

'अहं' को छोडना, या आपेको भूल जाना, प्यारेसे मिलने की सर्वोत्तम विधि है। 'अहं' का रहना प्रियमिलनका विघ्न है। जिसे अपने प्यारे सत्य रूपसे मिलना हो, उसे अपने 'अहं' को अर्थात् देहात्मबुद्धिरूपी वस्त्र को उतार डालना चाहिये और फिर उससे मिल जाना चाहिये। अहंकाररूपी वस्त्रको उतारनेकी जो विधि है, वही 'ईश्वरमिलनकी विधि' है। जब मनुष्य का 'अहं' अर्थात् 'अज्ञान' नष्ट हो जाता है, उस समय उसे जिस तत्त्वका साक्षात् अनुभव होता है, वही 'ईश्वर' है। ईश्वरका अस्तित्व किसीको बातोंसे नहीं दिखाया जा सकता। वह अनुभवसे देखनेकी वस्तु है। इन्द्रियोंके प्रभाव से अतीत मनकी दर्शनशक्ति 'अनुभव' कहाती है। अनुभव ही ईश्वर को दिखानेवाली आंख है। यदि कोई जन्मान्ध किसी आकस्मिक कारण से दिनमें चक्षुष्मान हो जाय, तो उसे यह बात बातों से नहीं समझायी जा सकती कि आकाश में नक्षत्र हैं। जब रात आयेगी तब नक्षत्रों से सजा हुआ आकाश ही उसे इस सत्यका दर्शन करायेगा कि आकाश में नक्षत्र हैं। इसी प्रकार जब मनुष्य अहंकार को त्याग देगा और उसकी हृदय की अनुभव करनेवाली आंख खुलेगी, तब ही ईश्वरतत्त्व प्रत्यक्ष ज्ञानगम्य होगा। ईश्वर युक्तियों से समझाने की वस्तु नहीं है। क्योंकि मन की पवित्रता का ही नाम 'ईश्वर' रख लिया गया है।

जो ईश्वरको युक्तियोंसे समझा रहा है, निश्चय जानो कि उसने ईश्वरको नहीं देखा। ईश्वर को बातों से समझना और समझाना दोनों अशक्य हैं।

अज्ञान को नष्ट कर डालना, अर्थात् सुखेच्छाका हिसाब-किताब रखनेवाले 'अहं' को मिटा देना ही 'ईश्वरसाक्षात्कार का उपाय' है। ईश्वरीय इच्छा से पृथक् अपनी कोई इच्छा न रखना ही 'ईश्वरसाक्षात्कार का स्वरूप' तथा उपाय है और इसी को 'आत्मसमर्पण की अवस्था' कहते हैं। इच्छा का न रहना ही 'ईश्वरकी चाह का स्वरूप' 'ईश्वरमिलन की सर्वोत्तम तथा सर्वसुलभ विधि' और 'ईश्वरप्राप्ति का अचूक चिह्न' है।

ईश्वरेच्छा काल्पनिक द्वन्द्व रच रही है। ये सब द्वन्द्व उसी द्वन्द्वातीत अखण्ड सच्चिदानन्द ईश्वर के स्वरूप दर्शनावसर बनाने के लिए किये जा रहे हैं। अग्नि और उसकी दाहिका शक्ति के समान ईश्वर और उसकी इच्छा दोनों अभिन्न हैं। इन दोनों की इस अभेदात्मक स्थिति के बीच में उसी की इच्छा ने अज्ञानरूपी पट क्षेप कर लिया है और उस अज्ञानपट को ज्ञानरूपी काल्पनिक हथियार से चीर कर अपने ही अखण्ड सच्चिदानन्द रूपका दर्शन, स्पर्शन, संभोग तथा अन्तमें फिर उसीमें तल्लीन हो जाने की विचित्र लीला कितने मार्गों से की जा रही है? इस का कोई ठिकाना नहीं है। इस सार्वत्रिक लीला में ईश्वरतत्त्व निर्लेप और साक्षिमात्र रहता है। यह लीला क्यों की जा रही है? इसका उत्तर मनुष्य इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं दे सकता कि, यह लीला स्वरूपदर्शनार्थ हो रही है। इस लीला को 'ईश्वरेच्छा' कहा जाता है। इस लीला को समझना और इसी के अनुसार जीवन बिताना यही 'ईश्वर-मिलन की' विधि है।

जो मनुष्य अपने आपको ईश्वर के चरणों में विलीन करके, सत्य के अधीन हो जाता है, संसार में उसका अपना कुछ नहीं रहता। जीवनयात्रा करते हुए सत्यसे भिन्न किसी को भी न अपनाना, ईश्वरदर्शी पुरुष की अहंकारहीन स्थिति कहाती है। जो मनुष्य इस स्थिति में पहुंच जाता है, उसके पास शक्ति की कमी नहीं रहती। वह अनन्त शक्तिमान्, सत्य स्वरूप, निरहंकार, ईश्वर-तत्त्व हो जाता है। अपने जीवनकी बागडोर सत्यके हाथों

में पकडा देनेवाले मनुष्य निःसंकोच होकर अपने आपको इस प्रकार का प्रमाणपत्र देना अपना पवित्र कर्तव्य मानते हैं कि, "हम पूर्ण हैं, हम पवित्र हैं, हम आनन्दस्वरूप हैं, हम सन्त हैं, हम परब्रह्म हैं और हम नारायण हैं।" सच्चे मनुष्य परमात्मा के वश में रहकर, सत्य की शक्ति को अपनी शक्ति मानकर, उससे अनंत शक्तिमान् बनकर, कभी किसी अपूर्णता, निर्बलता, पराधीनता, विकार, या शक्तिहीनता के वशमें नहीं आते।

दैनिक व्यवहारों की शुद्धता से पृथक् किसी ईश्वर-नामधारी के प्रति मनुष्य का कोई कर्तव्य नहीं है। मनुष्य का ईश्वर उससे पृथक् नहीं है। उसका शुद्ध मन ही उसका आराध्य देव सर्व शक्तिमान् परमेश्वर है। मनुष्य को चाहिये कि वह अपने दैनिक आचरणों को इस रीतिसे करे कि जिससे उसे उसका शुद्ध मनरूपी परमात्मा निरंतर अखण्डरूप से दीखता रह सके, जिससे उसमें किसी प्रकार की अपूर्णता, निर्बलता, पराधीनता, विकार या अशक्ति प्रविष्ट न होने पाये। इस मानव-हृदयस्थ ईश्वरकी चिंतामें रत रहनेवाला सच्चा ईश्वरभक्त मनुष्य, सदा यही चाहेगा कि मैं अपनी सत्यारूढ मानसिक स्थिति को अविचलित बनाये रहूं। इस मनोदशा को अविचलित बनाये रखना ही 'ईश्वरमिलन की विधि' है।

ईश्वर शक्तिमान् है। कर्म उस शक्तिमान् (ईश्वर) का स्वभाव है। क्योंकि कर्म उसका स्वभाव है, इसलिए उसका कर्तापन भी स्वाभाविक है। अर्थात् उसे अपने कर्तापन का अभिमान नहीं है। इस सृष्टि में जितने अनंत कर्म हो रहे हैं, उनके विषयमें यह कहनेवाला कोई नहीं है कि "इन्हें मैं कर रहा हूं।" सृष्टि में सब कुछ कर्तृत्वाभिमान के बिना स्वभाव से हो रहा है। इस सृष्टि का प्रभु अपने को 'प्रभु' कहने को उद्यत नहीं है। उसके पास 'प्रभु' होने का अभिमान नहीं है। यदि उसमें प्रभुता का अहंकार होता, तो उसकी प्रभुता योग्य पदार्थ हो जाती और फिर वह 'प्रभुता' न रहती। जिस प्रकार अयस्कान्त मणि की समीपतामात्रसे लोहों में गति आ जाती है, इसी प्रकार ईश्वरतत्त्व का अस्तित्व ही इस सकल जगत् के विराट् कर्म को चला रहा है। उसकी विद्यमानता ही कर्मोत्पादक है। उसे कर्मप्रवृत्ति के लिए कुछ भी करना नहीं पड रहा है। क्योंकि विरामशून्य कर्म करना ईश्वर का स्वभाव है, इस कारण ईश्वरोत्पादित जगत् में से कोई एक क्षणभर भी बिना कर्म किये नहीं रह सकता। जो मनुष्य जहां कर्म से बचना चाह रहा है, उसे कर्मसे बचने के लिये भी कर्म करना पडता है। कर्म से बचना भी कर्म ही है।

इस संसार के सृष्टि-स्थिति-प्रलय-ईश्वरीय स्वाभाविक कर्मप्रवृत्ति के परिणाम के रूपमें स्वभाव से होते चले जा रहे हैं। इनका न कहीं प्रारम्भ है और न कहीं अन्त है। ईश्वर अव्यक्त रहता है। वह अपने को अपनी अचिंत्य अव्यक्त शक्ति से संसार के रूपमें 'व्यक्त' करता रहता है। ईश्वर के समान उसकी शक्ति भी अविनाशिनी अव्यय और नित्य है। शक्तिमान् ईश्वर, इस संसार के रूप में, स्वयं ही अपनी शक्ति लीला कर रहा है और स्वयंही इसे देख रहा है। यद्यपि उसने जगत् बना लिया है, परन्तु उसने जगत् बनानेवाली शक्ति की अधीनता स्वीकार नहीं की है। जगत् की अधीनता न मानने में ही उसकी शक्तिमत्ता है।

यह मानवप्राणी ईश्वरसे पृथक् नहीं है। यह भी उसी शक्तिमान् ईश्वर के अनंत व्यक्तरूपों में से एक व्यक्त रूप है। इसलिये जो स्वभाव ईश्वर में है, वही स्वभाव उसीके व्यक्तरूप इस मनुष्य में भी होना चाहिये। मनुष्य को प्रत्येक क्षण 'विषयत्याग' या 'विषयभोग' इन दोनोंमें से किसी एक को छांटना पडता है और प्रत्येक क्षण कर्म करने की अवस्थामें रहना पडता है। मनुष्य की 'त्याग' या 'भोग' दोनों में से एक को अपनाने की स्वतन्त्रता ही उसका 'मन' है, और यही दूसरे प्राणियों से उसकी विशेषता है। उसकी 'मुक्ति' और 'बद्धता' उसकी मनोदशा में हैं। क्योंकि मनुष्य अपने जीवनकाल में ही मुक्ति को भोग सकता है, इसलिये उसकी 'मुक्ति' का स्वरूप यही है कि वह भोगेच्छा का कहना न माने किंतु शुद्ध जीवनेच्छा की आज्ञानुसार कर्तव्यबुद्धि से कर्म करे। जब तक मनुष्य जीवनेच्छा तक सीमित रहता है, तबतक उसका मन बंधन में नहीं फंसता। अर्थात् तबतक मनुष्य मुक्त बना रहता है। परन्तु जब उसका मन जीवन की सीमासे बाहर निकाल कर, अपनी इंद्रियोंके

सांसारिक लोलुपता की कुतृप्ति चाहता है, उस समय वह इन्द्रियों के साथ बन्धनग्रस्त हो जाता है । अर्थात् दूसरे शरीरों को भोगना चाहनेवाला मन 'बद्धावस्था' में चला जाता है। मनकी यह बद्धावस्था ही मनुष्य का 'संसारी-पन' या 'जीवभाव' है ।

जिस मनुष्य का मन जीवनसीमा से बाहर पैर नहीं डालता और आत्ममग्न रहता है, वह साक्षात् सच्चिदानन्द-स्वरूप ईश्वर होकर मुक्ति का परमानन्द लूटता है। भोग-सीमासे बचकर जीवनसीमा में रहना ही 'परमात्म-मिलन की विधि' है।

(५) ईश्वर, जीव तथा प्रकृति का स्वरूप। ईश्वरदर्शन।

इस संसार में तीनों कालों में एकरस रहनेवाला एक अविनाशी तत्त्व ओतप्रोत है। उसी को लौकिक भाषामें ईश्वर, आत्मा, परमात्मा, परब्रह्म, परमेश्वर, भगवान्, सच्चिदानन्द, आदि अनेक नामों से याद करते हैं। इस 'ईश्वर' और हमारे देहवासी 'देही' का एक ही स्वरूप है। हमारे देह के 'स्वामी' में और 'सर्वभूतस्थ आत्मा' में कोई अन्तर नहीं है ।

ईश्वर शक्तिमान् है। प्रकट (अर्थात् व्यक्त) होते रहना, इस शक्तिमान् का 'स्वभाव,' 'प्रकृति' या 'शक्ति' कहाती है। जिस प्रकार घडा कुम्हार का व्यक्तरूप है, इसी प्रकार यह संसार, 'ईश्वर' का व्यक्त-रूप है। घडा बनानेवाली भावना कुम्हार का अव्यक्तरूप है। इस भावना को व्यक्त करने का स्वभाव कुम्हार की 'शक्ति' है। 'घडा' इसी भावनानामवाले कुम्हार का 'व्यक्त-रूप' है। इस दृष्टिसे यह स्वीकार करना पडता है कि (१) शक्तिमान् (२) शक्ति तथा उसका (३) व्यक्तरूप ये तीनों अभिन्न पदार्थ हैं ।

जिस 'शक्तिमान्' ने अपने आपको जगत् के अनन्त भिन्न भिन्न पदार्थों तथा जीवजन्तु, ग्रह-नक्षत्र आदि अनन्त रूपोंमें 'व्यक्त' किया है, जो विभिन्न रूप धारण कर लेने-वाले अनन्त भूतों का एकही स्वरूप है, वही 'ईश्वर' है।

जो मनुष्य 'ईश्वरदर्शन' करना चाहे, वह स्वरूपमेंही 'ईश्वरदर्शन' करे। 'मनुष्यता' ही मनुष्य का स्वरूप है। मनुष्य का आराध्य 'ईश्वर' मनुष्य से भिन्न नहीं है। क्योंकि कोई भी मनुष्य मनुष्यता से हीन होकर आस्तिक नहीं हो सकता है और कोई भी मनुष्य आस्तिकता से रहित होने पर मनुष्यता की रक्षा नहीं कर सकता। इसलिये मनुष्य की मनुष्यताही मनुष्यका आराध्य ईश्वर है।

मनुष्य की मनुष्यता का परिचय उसके देह में नहीं है। किन्तु उसके मनमें है। मनकी मनुष्योचित भावनायें ही 'मनुष्य की मनुष्यता' है। शक्तिहीन न बनकर 'शक्ति-मान्' बने रहने की भावना ही 'मनुष्योचित शुद्ध भावना' या 'शुद्ध मन' कहाती है। शुद्ध मनही 'मनुष्यका स्वरूप' या 'मनुष्य का ईश्वर' है। शक्तिमान् देही, शुद्ध मन के रूपमें मनुष्यमें बस गया है। अपने देहके विकारोंमें, तथा अपने देहके सम्बन्धी दूसरे देहों और पदार्थों के विकारों में, निर्विकार अप्रभावित बने रहना, यही मनुष्य के मन की शुद्धता है और यही मनुष्य का आराध्य 'ईश्वर' है। जो पदार्थ विकाराधीन, अस्थिर और नाशवान् हैं, उनमें सुख ढूंढना 'मनकी विकारग्रस्तता' या 'अशुद्धता' है। शक्तिमान् बने रहना ही 'मनकी शुद्धता' या 'आनन्द' है। शक्ति की अधीनता स्वीकार करना 'अशक्तता,' 'अशुद्धता' और 'दुःख' है। मनको यदि कोई वस्तु सच्चा सुखी कर सकती है, तो वह मनकी शुद्धताही है। इसलिये मनकी शुद्धता ही ईश्वर है। जिसका मन शुद्ध है, वह सारे संसारके विरोधी होने पर भी दुःख नहीं मानता। जिसका मन अशुद्ध होगा, चाहे सारा संसार उसके अधीन हो जाय, तब भी उसे सुख नहीं मिलेगा।

जिसका मन शुद्ध होगा, वह सुखके लिये किसी 'ईश्वर' नामवाले के सामने हाथ नहीं फैलायेगा। जिसका मन अशुद्ध होगा, वह चाहे किसी सुख बांटनेवाले 'ईश्वर' की लाखों स्तुति करे, तोभी उसे सुख हाथ नहीं आयेगा।

शुद्ध मनको बाह्य सुख की आवश्यकता नहीं है। वह स्वयं ही सुखस्वरूप है। जैसे सूर्य अपनी ज्योति से चमकता है, इसी प्रकार शुद्ध मन अपनी शुद्धता से जग-मगाता रहता है और अपने आप ही अपनी शुद्धता का आनन्द भोगता रहता है। शुद्ध मनकी जगमगाहट ही 'आनन्द' है। शुद्ध मन वह श्रेष्ठ संपत्ति है, जिसे मनुष्य

को अपने जीवन में अपना लेना चाहिये । क्योंकि कोई भी ईश्वर शुद्ध मनसे अधिक सुख नहीं दे सकता, इसलिये शुद्ध मन ही ईश्वर है।

मनमें ही मनुष्य की पहचान है। मनुष्यका शुद्ध मन ही उसका अभ्रान्त स्वरूप है। अर्थात् मनुष्य का शुद्ध मनही मनुष्य का आत्मा है। क्योंकि अपना स्वरूपही सर्वोत्तम अपनानेयोग्य वस्तु है, इसलिये अपनानेयोग्य परमात्मा भी 'शुद्ध मन' ही है।

क्योंकि मनकी शुद्धता बाह्य वस्तुके होने न होने, घटने, बढने या विनष्ट होने आदि परिवर्तनोंसे नहीं घटती-बढती, इसलिये शुद्ध मनको ही त्रिकाल में एकसमान रहनेवाला 'अप्रभावित सत्य' कहा जाता है। यह 'सत्य' ही मनुष्य का 'आत्मा,' 'ईश्वर,' या 'स्वरूप' है।

मनुष्य का यह सत्य-स्वरूप आत्मा ही इस विनाशी जगत् का 'अविनाशी स्वरूप' है। जगत् के स्वरूप इस सर्वव्यापी 'सत्य' को ही 'परब्रह्म' कहा जाता है। क्योंकि सर्वभूतस्थ 'ब्रह्म' का दर्शन मनुष्यहृदय की अप्रभावित स्थिति के अतिरिक्त और कहीं भी होना संभव नहीं है, इसलिये कहना पडता है कि 'मनुष्य का शुद्ध मनही परब्रह्म है'।

यह विशाल सृष्टि जिसका ऐश्वर्य है, उस भगवान् का दर्शन-स्थान क्योंकि मानवहृदय है, इसलिये भगवान्-नामसे अपनाये जानेवाली महान् सत्ता मनुष्यहृदय में है और वह 'मनुष्य के मनकी शुद्धता' है। अर्थात् मनकी शुद्धतारूपी अप्रभावित स्थिति ही 'भगवान्' नामवाली यह सत्ता है।

मनकी शुद्धता ही ह्रासवृद्धिरहित पूर्णतारूपी त्रिकाला-बाधित 'सत्य' है। मनकी शुद्धता में आत्माविस्मृति नहीं है, किन्तु वह अभ्रान्त ज्ञानमयी स्थिति है। मनकी शुद्धता में क्योंकि भौतिक सुखदुःख का बंधन नहीं है, इसलिये वह स्वयं ही आनन्दस्वरूप आत्मा है। इस प्रकार मनकी शुद्धता ही सच्चिदानन्दस्वरूप परब्रह्म है।

शुद्ध मन में आठों प्रहर मैं पूर्ण हूँ, 'मैं पवित्र हूँ, मैं आनन्दस्वरूप हूँ, मैं महान् हूँ' आदि ध्वनियोंवाली स्वाभाविक पावनी अमृतधारा प्रवाहित होती रहती है। वह अमृतप्रवाह ही 'मानवहृदयवासिनी आत्मस्थिति' या 'ईश्वर' है। यह मानना ही पूर्णता अभ्रांति, आनन्द-रूपता और महत्ता का स्वरूप है कि वर्तमान मुहूर्त की अपेक्षा अधिक अनुकूल मुहूर्त मनुष्यजीवन में कदापि आनेवाला नहीं है। वर्तमान अवस्था से अच्छी अवस्था न कभी थी और न कभी होगी। हम किसी को भी वर्तमान वासस्थान से अच्छा वासस्थान नहीं मानेंगे। हम किसी को भी वर्तमान मित्रों से उत्तम मित्र नहीं समझेंगे। हम वर्तमान से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं चाहेंगे। हम जब जिसके संबंध में आयेंगे, वही हमारा सब से बडा कल्याणकारी आनन्ददायक परमात्मा होगा। अपनी पूर्णता, आनन्दरूपता, आदि की इस प्रकारकी स्मृतिही 'ईश्वरदर्शन' की स्थिति है।

मनुष्य की बनावट ही इस ढंग की है कि इस के मनके सामने सदा दो विरोधी अवस्था खडी रहती हैं। मनुष्य की इंद्रियां तो उसके मनको बाह्य रूपरसादि की ओर खींचती हैं और मनुष्य के आत्मतत्त्वका आनन्दमय रूप उसके मनको स्वभाव से अपनी ओर खींचता है। मनुष्य को इन दोनों आकर्षणों में से किसी एकको अपनाना पडता है और किसी एक को छोड देना पडता है। किसी एक आकर्षण को अपनाने से अर्थात् ही दूसरे आकर्षण की उपेक्षा हो जाती है। मनुष्यके मनके पास यही एक स्वतंत्रता है कि वह इन दोनों विरोधी आकर्षणोंमेंसे किसी एक आकर्षण को अपना ले और किसी एक की उपेक्षा करे।

जब मनुष्य का मन स्वेच्छा से इंद्रियसुख की ओर झुकता है, तब इंद्रियों के अधीन होकर 'परतंत्र' हो जाता है। जब मनुष्य का मन आत्मस्वरूपका पक्षपात करता है, तब आत्मस्थिति में पहुंचकर स्वतंत्रता के विमलानन्द का अधिकारी बन जाता है। दूसरे शब्दों में भोग को स्वेच्छा से अपनाना मनुष्य की 'परतंत्रता' है और आत्मतत्त्व में स्वभाव से अविचल रहना मनुष्य की 'स्वतंत्रता' है। 'स्वतंत्रता' वह स्थिति है, जो सुख-दुःख का बंधन कभी नहीं मानती। सुखदुःख के बंधन में फंस जाना 'परतंत्रता' है। सांसारिक क्षणिक सुख, पारमार्थिक स्थायी निर्विषय आनन्द को खण्डित कर देता

है और मनुष्यको अस्थायी सुखदुःख के बंधन में डाल देता है। मनकी आत्मस्थिति ही स्थायी आनन्द की स्थिति है । इसे छोडकर इंद्रियों के वश में आना, सुखदुःखरूपी परतंत्रता को स्वीकार करना है। मन इन दोनों स्थितियों में से किसी एक को अवश्य ही अपनाता है । परन्तु इन दोनों को एक साथ अपनाना सर्वथा असंभव है । मनुष्य इन दोनोंमेंसे किसीसे भी सम्बन्ध न रखे, यह भी असंभव है।

स्वतंत्रता का रहस्य मनुष्य के मनकी विचारशक्ति के सदुपयोगमें है। जब मनुष्य आत्मस्वरूप को जान लेता है, तब विचारशक्ति निर्मल होती है और उसका सदुपयोग होता है। निर्मल विचारशक्ति मनुष्यको 'स्वतंत्रता' का दिव्य आनन्द भुगाती है। यही 'स्वतंत्राका' स्वरूप है।

इस 'स्वतंत्रता' को पाकर मनुष्य के हृदय की प्यास बुझ जाती है। इसे पानेपर मनुष्यको एक अनुपम अमृतमय आनन्द मिलता है। इसे पानेवाले को कुछ प्राप्तव्य नहीं रहता। इसे पानेवाला मनुष्य कृतार्थ हो जाता है। यही मनुष्य से मनकी 'सत्यावस्था' या 'ईश्वरदर्शनावस्था' है।

मनुष्यके मनकी इस सत्यावस्था में और त्रिकालाबाधित अविनाशी 'ईश्वर' में कोई अन्तर नहीं है। जगत् में ओतप्रोत यही 'ईश्वर' मनुष्य में 'अहं' के रूपमें व्यक्त हुआ है। अपने शरीरस्थ 'अहं' को जगद्व्यापी सर्वभूतस्थ 'पूर्ण अहं' से अभिन्न देख लेनाही 'ईश्वरदर्शन' या 'सत्य ज्ञान' है।

जिस मनुष्यको इस एकता का साक्षात्कार हो जाता है, उसका मन स्वभाव से विषयों से अप्रभावित निर्विकार आनन्दमयी स्थिति में रहने लगता है। मनुष्य के मनकी यह आनन्दमयी स्थितिही 'सत्य' या 'ईश्वरदर्शन' है।

अपने आपको प्रत्येक क्षण पवित्र और प्रसन्न रखने का अधिकार मनुष्य के अपने ही हाथमें है। यह अधिकार ईश्वरके हाथमें नहीं है। जो अपने को भ्रान्त और पतित बना रहा है, उसे भ्रांतिशून्यता और पवित्रता का आनन्द कौन दे सकता है ? अपने को प्रसन्न पवित्र रखने की दृढ इच्छा ही पवित्र 'ईश्वरीय शक्ति' और 'ईश्वरीय भक्ति' है। इस शक्ति का वासस्थान मनुष्यका मन है। इसी को मनुष्यकी 'आत्मशक्ति' कहते हैं। यही 'घट घटवासी नारायण' है। यही 'ईश्वर' है। इससे भिन्न ऐसी कोई भगवान्-नामवाली बाह्य शक्ति नहीं है, जो केवल अपने को पतित कहनेवालोंके कण्ठ का आर्तनाद सुनते ही, कहीं से दौडी दौडी आती हो, और उनका हाथ पकडकर उन्हें पातित्य से उबारती हो तथा प्रसन्नता देती हो।

भगवान् को 'भावलोभी' कहा जाता है। इसका यही अर्थ है कि मनुष्य के हृदयमें बैठे हुए 'भगवान्' प्रत्येक मनुष्य की भावना को ताड लेते हैं। वे केवल किसी के कण्ठ की आर्तवाणी के धोके में नहीं फंसते। उनकी पतितपावनता यही है कि जब कोई पतित मनुष्य स्वयं उठना चाहता है, तब वे प्रसन्नता से उसके उत्थान को स्वीकार कर लेते हैं। वे फिर अनन्त मार्गोंसे उस उठनेवालेकी सहायता करनेमें व्यग्र हो जाते हैं। जिन्होंने शुद्ध भावनाको दृढता से पकडा है, उन्होंने 'भगवान्' को कैद कर लिया है।

यदि हम 'परमात्मा' नामकी किसी पूर्ण सच्चिदानन्द-स्वरूप सत्ता को मानें, तो उसे मानवहृदय से बाहर हृदयरहित स्थान में कहां ढूँढें ? 'मानवहृदय' और 'ईश्वरहृदय' नाम के दो हृदय कहां हैं ? बताइये कि 'मानवहृदय' को छोडकर ऐसी दूसरी कौनसी सत्ता है, जो पूर्णता, भ्रान्तिहीनता, आनन्दरूपता और सत्य पर अपना अधिकार रख सकती हो ? इसलिये मनुष्य की पूर्णता, भ्रान्तिहीनता और शाश्वत सुखरूपता ही 'ईश्वरदर्शन' है।

मन की अनासक्त-स्थिति ही 'ईश्वर' है। यदि किसी मनुष्य को अनासक्त रहना असंभव लगता हो, तो उसे अपने मनसे स्पष्ट कह देना चाहिये, कि हे मन ! तू ईश्वरदर्शन के बखेडे में पडकर आत्मवंचना मत कर। क्योंकि तेरा और ईश्वरका स्वभावविरोध है। तुम दोनों का परस्पर कोई संबन्ध नहीं है। तुझे ईश्वरदर्शन का अधिकार नहीं है। अनासक्ति ही 'ईश्वरदर्शन' का अधिकार है और अनासक्ति ही 'ईश्वर' है। आसक्ति का वध कर डालनेवाली मानसिक शक्ति ही 'अनासक्ति' है। मनुष्य की

अनासक्तिनामवाली स्वतंत्रताही 'ईश्वरदर्शन की अवस्था' है। जो मनुष्य संसारबन्धन में फंसा रहकर, केवल जिह्वा से 'ईश्वर' नाम लेता हो या उसकी प्रार्थना, उपासना, कीर्तन आदि करता हो, जान लो कि उसके ये सब व्यवहार आसक्त मनोदशा के विकार हैं।

यदि तुम अनासक्त होने में अपने को समर्थ समझते हो, तो इस कामको फिर के लिये क्यों टालते हो। तुम इसी क्षण अनासक्त बनकर दिखाओ, तुम इसी क्षण 'ईश्वर' बनो और 'ईश्वर' को प्राप्त करो।

मानवजीवन में या तो 'विषयासक्ति' या 'विषय-वैराग्य' येही दो स्थिति होनी संभव हैं। इन दोनों में से एक भी न रहे, या दोनों साथ रहें, यह कदापि संभव नहीं है। अर्थात् 'विषयसेवा' और 'ईश्वरभक्ति' एक साथ नहीं की जा सकतीं।

जैसे स्वभाव से सृष्टिव्यापी विराट् कर्म करने में लगा हुआ आत्मा निःस्पृह या अनासक्त है, इसी प्रकार आत्म-स्वरूपता को प्राप्त हुए ज्ञानीमें भी निःस्पृह-भाव स्वभाव से जागा रहता है। निःस्पृहताही आत्मा की पूर्णता है। निःस्पृहताही ज्ञानी को पूर्ण तृप्ति देनेवाला अमृतमय अखण्ड भोजन है। ज्ञानी प्रत्येक क्षण इस भोजन से तृप्त रहता है। वह कभी भूखा (अतृप्त) नहीं रहता।

निःस्पृहता ही 'ईश्वर' है। यह शरीर तो जीवित बना रहे, परन्तु इस शरीरको 'अपना' कहनेवाला मनुष्य का अज्ञान मर जाय, यही 'ईश्वर' या 'निः-स्पृहता' का स्वरूप है। जहां यह निःस्पृहतारूपी 'ईश्वर' रहता है, वहां जगत् की कामना नहीं रहती। अर्थात् वहां इंद्रियों की मांग नहीं रहती। ईश्वर के पडौस में इंद्रियों की सृष्टि बन्द हो जाती है। जहां जगत् की मांग रहती है, वहां से यह निःस्पृहतारूपी परमात्मा अनुपस्थित हो जाता है।

शुद्ध मन या निःस्पृहतारूपी 'ईश्वर' लाभहानि के दोनों अवसरों पर उत्सवमय जीवन बिताता रहता है। जिस प्रकार उत्सव में आनेवाले अतिथियों का भी सत्कार किया जाता है और उत्सव से लौटनेवालों को भी सत्कारपूर्वक बिदा किया जाता है, इसी प्रकार शुद्ध मन, जिस उल्लास से भौतिक लाभों का स्वागत करता है, उसी उल्लास से विनष्ट होनेवाले विषयों को बिदा भी कर देता है।

विषयों से वंचित रहने का कष्ट भोगना 'ईश्वर-दर्शन' नहीं है। किन्तु विषयों के आकर्षणों में न रहना ही 'ईश्वरदर्शन' है।

संसार के समग्र ज्ञानग्रन्थ एकस्वरसे शुद्ध मन को 'ईश्वर' घोषित कर रहे हैं। 'ईश्वर' का वर्णन करने-वाले सब प्रसंगोंमें सर्वत्र शुद्ध मनरूपी उदार स्थिति वर्णित पायी जाती है। किसी भी ज्ञानग्रन्थमें 'ईश्वर' की काया का वर्णन नहीं है।

यदि मनुष्य शुद्ध अनासक्त मनवाला हो चुका हो, और 'ईश्वर' नामवाला कोई महापुरुष उससे रुष्ट या विमुख हो जाय, तो बताओ कि उससे उसकी क्या हानि है? इसके विपरीत यदि मनुष्य का मन अशुद्ध या आसक्त हो, तो चाहे 'ईश्वर' उसे गोद में उठाकर खिलाता फिरे, या उसकी गोद में बैठकर स्वयं खेलता फिरे, तब भी उससे मनुष्यका कल्याण कैसे हो जायगा?

हे ईश्वर! यदि तुम हमारे शुद्ध अनासक्त मनसे पृथक् कोई 'ईश्वर' हो तो बताओ हम तुम्हें किस काम में लायें? बताओ कि यदि तुम हमारे शुद्ध मन से पृथक् हो तो हम तुम्हारा कहना क्यों मानें? और हम तुम्हारा कहना न मानें तो तुम हमारा क्या बिगाड सकते हो? तुम शरीर पर स्वभाव से होनेवाले रोग, दाह, आघात आदि से अधिक हमारा क्या कर सकते हो? वस्तुतः मनुष्य के शुद्ध अनासक्त मन से पृथक् ईश्वर नहीं है।

जीवभाव मनुष्यका अपराध है। यह मनुष्य का घोर अज्ञान है। उसका कारण यह है कि ईश्वर के साथ मनुष्य का स्वरूपसम्बन्ध है। जब मनुष्य इस सचाई को भूल जाता है कि मैं कौनसे सर्वव्यापी नियमसे बना हूं? तब वह अपने को संसारसे पृथक् एक स्वतंत्र अस्तित्व रखने-वाली देहमात्रमें सीमित क्षुद्र सत्ता समझ लेता है। यही मनुष्यका जीवभाव कहाता है। इस अपने सर्वव्यापी स्वरूप को न भूलना ही जीवका परमात्मभाव कहाता है।

यह बात सर्वथा मनुष्यकी मुट्ठी में है, कि वह चाहे, तो ईश्वर रहे और चाहे जीव हो जाय। जिन्होंने जीवेश्वर का भेद पहचाना है, उन्होंने अपनेकोही ईश्वररूपमें पाया है।

ज्ञानियों के मनोंसे भिन्न ईश्वरनामकी कोई वस्तु नहीं है। ज्ञानियों की मनोदशाही ईश्वरकी विद्या है। जब मनुष्य का मन ईश्वरभावमें रहता है, अर्थात् जब वह अपने मन पर बाह्य प्रभाव नहीं पडने देता, उस समय वह स्वरूपारूढ रहता है। उस समय उसे आत्मदर्शी ब्रह्मज्ञानी जीवनमुक्त ब्रह्म परमेश्वर आदि चाहे जिस नामसे कहा जा सकता है। जब मनुष्य अपने मनके ऊपर बाह्य संसार के अर्थात् रूपरस आदि भोगयोग्य समझे जानेवाले पदार्थों के प्रभाव पड जाने देता है, अर्थात् जब वह उनमेंसे सुख ढूंढने लगता है, तब वह सुखदुःखके चक्करके साथ घूमने लगता है। अपने मनको इस प्रकार बन्धनमें फंसनेसे न रोक सकना मनुष्यके मनकी सचमुच बडी दयनीय अवस्था है। यही मनुष्य का जीवभाव है। अपने को पतित, निर्बल, कामासक्त, नपुंसक बन जाने देना ही मनुष्य का जीवभाव है। यह मनुष्यकी सर्वव्यापी नियमसे पृथक् होकर बैठनेकी अज्ञानमयी स्थिति है।

अज्ञानी मनुष्य स्वरूपसुख का माधुर्य न भोगकर सुखको इंद्रियों से भोगना चाहता है और उसे बाहरसे ढूंढता है। इन्द्रियाँ सुख ढूंढनेके साधन हैं। वैसे तो इन्द्रियां केवल इतना चाहती हैं कि हमें जीवित रहनेके अनुकूल वस्तु मिलती रहें, तथा जीवित रहने के प्रतिकूल वस्तुओंसे हमारी भेट न हो। अर्थात् वे केवल जीवित रहना चाहती हैं। यह इच्छा उनका उचित अधिकार है। उनकी यह इच्छा कहीं राग और कहीं द्वेष इन दो रूपोंमें प्रकट होती है। रागद्वेष इंद्रियों के अपराध नहीं हैं। ये दोनों इन्द्रियों को मिले हुए जीवनाधिकार के स्वाभाविक परिणाम हैं। परन्तु इंद्रियों को स्वयं उचित-अनुचित का विवेक नहीं है। इनका संचालक होनेके नाते मनुष्यको इनके रागद्वेषों पर अपना विवेक का शासन रखकर राग-द्वेषोंके औचित्य-अनौचित्य को छांटकर उचितको स्वीकार करना तथा अनुचित को त्याग देना चाहिये। यदि मनुष्य इन्द्रियों की मांगके सम्बन्धमें विवेकसे काम लेना छोड देगा, स्वयंही इनके रागद्वेष के वशमें फंस जायगा, इंद्रियों के जीवित रहने की सीमाको लांघ देगा और उनसे विषयोंको भोगने की इच्छाको अपने पीछे चिपटा लेगा, तो वह सुखदुःखके बन्धनमें बंधकर 'जीव' अर्थात् आत्मतत्त्वको भूला हुआ अज्ञानी बन जायगा। इस जीवभावरूपी अपराधसे मुक्त रहने के लिये मनुष्यको अपनी मनुष्यतारूपी परमात्मभाव का भक्त बन जाना चाहिये।

मनुष्यको, जिस ईश्वरको अपने पवित्र मनमें मानसिक पवित्रता के रूप में पाना चाहिये, उसी ईश्वरने अपने स्वाभाविक कर्तापन से यह संपूर्ण सृष्टि बनायी है। वही इस समग्र सृष्टि का स्वरूप है। जैसे पवित्र मनुष्यों का पवित्र मन अपने शरीरके बंधनमें नहीं रहता अर्थात् शरीर का मोह नहीं मानता, अर्थात् जहां पवित्रताकी रक्षाका प्रश्न आता है, वहां शरीरको तिनके के समान असत्यविरोधरूपी यज्ञकी आहुति बना देता है। इसी प्रकार सर्वभूतस्थ ईश्वरतत्त्व या आत्मतत्त्व इस संपूर्ण संसारको बना कर भी इससे मोह नहीं रखता। वह सकल जगत् का स्रष्टा हो कर भी इसके सब परिवर्तनोंसे अप्रभावित रहता है। जिस शक्ति की महामहिमा से यह जगत् आ जा रहा है, जो इसे व्यक्त और अव्यक्त रूप दे रही है, उसको प्रकृति शक्ति या माया कहा जाता है।

संपूर्ण सृष्टि तथा इसके संपूर्ण पदार्थों के नाशवान् होने परभी यह जगत् कभी विनष्ट नहीं होता। यह सदा ज्यों का त्यों रहता है। जगत् बनानेवाली शक्ति सदा बनी रहती है। जगत् बनने की यह शक्ति ही शक्तिमान् परमात्मा है। शक्ति तथा शक्तिमानमें कोई भेद नहीं है। शक्तिमान् ही शक्ति बनकर जगत् बन जाता है। शक्तिमान तथा शक्ति दोनों अविनाशी, अव्यय तथा शाश्वत हैं।

दिनरात सृष्टि, स्थिति, प्रलय करते रहना उस विराट् अद्वितीय सत्यस्वरूप ईश्वर का स्वभाव है। यह कर्म शक्ति, प्रकृति तथा ऐश्वर्य आदि नामों से कहा जाता है। स्वभाव अत्याज्य होता है। क्योंकि ईश्वर अपने स्वभाव को नहीं त्याग सकता, इसलिये यह सृष्टि सदा रहती है। इस का सर्वप्रलय कभी नहीं होता। सचमुच सृष्टि, प्रलय दोनों कर्म सदा हो रहे हैं। ईश्वर समुद्र है, जगत् उसका बुद्बुद है। जैसे बुद्बुद थोडी देर रह कर फिर जल हो जाता है जिस प्रकार उस का पृथक् अस्तित्व नहीं रहता, जल का अस्तित्व ही बुद्बुद का अस्तित्व हो जाता है, जिस प्रकार बब्दुद का जीवनकाल भी अनित्य है, यही सब अवस्था सृष्टि की है। वह भी प्रकट हो होकर अव्यय ईश्वररूपी अनादि, अनन्त सागर में विलीन होती चली

जा रही है। इस सृष्टि के आदि कारण ईश्वर का काल से कोई संबन्ध नहीं है। वह काल से अछूता है। काल का सम्बन्ध केवल सृष्टि से है। प्रतिक्षण नवीन सृष्टि हो रही है और प्रत्येक क्षण लय भी हो रही है। सृष्टिप्रलय ऐसे दिनरात हैं, जो एक ही काल में हो रहे हैं।

जब इस दृश्य जगत् का कारण ढूंढा जाता है, तब पांचों भूतों से ढूंढना प्रारंभ करते हैं और इन्हीं तक ढूंढको समाप्त कर देना पडता है। समग्र जगत् पांचों भूतों से बनता है। ये आकाश आदि पांच भूत ही भिन्नभिन्न पदार्थों के रूप में प्रकट होते हैं। पदार्थों के नष्ट हो जाने पर भी ये पांच भूत शेष बने रह जाते हैं। इन का कारण अदृश्य है। ये अव्यक्त ईश्वर से उत्पन्न होते हैं। इन्हें इकट्ठा कर के पहले पदार्थों को रचना तथा फिर उन्हें अपने रूप में मिला लेना ये सब काम ईश्वर की शक्ति केवल उस की विद्यमानतारूपी कर्तृत्व से अविच्छिन्न रूप से करती रहती है। ईश्वर के होने मात्र से जगत् की अद्भुत लीला स्वयमेव होती चली जा रही है। उस का अस्तित्व ही कर्तृत्व है। यही मनुष्य का स्वरूप है। इसी को मनुष्य को अपना स्वरूप पहचानना है। इसी में मनुष्य को लीन होकर अपना पृथक् स्वतंत्र अस्तित्व या अपना जीवभाव अस्वीकार कर देना है। मनुष्य को सिन्धु में बिन्दु के समान इसी में घुसकर इसी की पूर्णता को अपना कर जीवन को धन्य करना है।

(६) ईश्वरदर्शन।

संसारमें (१) शक्तिमान् (२) शक्ति तथा (३) शक्तिमान का व्यक्त रूप, ये तीन पदार्थ हैं। ये तीनों मिलकर 'संसार' कहाते हैं। शक्तिमान् स्वयं अव्यक्त रहता है। उस 'अव्यक्त शक्तिमान्' का यही स्वभाव है, कि वह 'व्यक्त' रूपोंको धारण करता रहता है। क्यों धारण करता है? इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं है। यह उसका स्वभाव है, जो प्रत्यक्ष देखा जा रहा है। स्वभावमें क्यों का प्रश्न नहीं उठता। शक्तिमान् के इस स्वभाव को भाषाविद् लोग 'प्रकृति,' 'माया' 'शक्ति' या 'कर्म' आदि अनेक नामोंसे याद करते हैं।

शक्तिमान् शक्ति तथा शक्तिमान् का व्यक्त रूप ये तीनों पदार्थ मिलकर 'जगत्' नाम पाते हैं। होनेजाने की शक्ति नित्य अव्यक्त रहती है। उस शक्ति का शक्तिमान् भी नित्य अव्यक्त रहता है। शक्तिसे शक्तिमान् का अस्तित्व सिद्ध होता है। हम सब शक्तिमान् हैं। हम सब शक्तिमान् के पूर्ण अवतार हैं।

शक्तिमान् होनेके नाते शक्तिमान् का कर्तव्य है कि वह अपनी शक्तिपर अपना नियन्त्रण रक्खे। ऐसा न हो कि वह अपने स्वरूपमहात्म्य को भूल जाय और अपनीही शक्ति का दास (अर्थात् शक्तिजात पदार्थों का लोलुप) बन जाय। यदि मनुष्य शक्तिजात पदार्थोंके लालचमें फंस गया, तो उसे अपनी शक्तिमती स्थिति से हाथ धोना पडेगा। यदि मनुष्यकी शक्तिमती स्थिति उसके हाथमें न रही, तो वह अज्ञानी, अविवेकी, नास्तिक, कर्तव्यमूढ और अनीश्वर बन जायगा। शक्ति स्वयं अंधी और विवेकहीन है। वह नहीं जानती कि मुझे क्या करना और क्या नहीं करना है। वह जो काम सामने आता है उसी को कर लेना चाहती है। उदाहरणार्थ रेल के एञ्जिन की शक्ति केवल काम करना जानती है, उसे कर्तव्याकर्तव्य गन्तव्यागन्तव्यकी पहचान नहीं है। शक्तिके सदुपयोग के लिये सुचतुर शक्तिमान् नियामक के सुनियंत्रण की आवश्यकता है। यदि शक्तिपर नियन्त्रण न हो, तो वह अपने अभिव्यक्ति के केन्द्र (देह आदि) का अवश्य दुरुपयोग करती है। उसे अपने सदुपयोग के लिये जिस नियामक की आवश्यकता होती है वही 'शक्तिमान्' है। सुनियामक न मिलने पर 'शक्ति' अकार्यकारिणी बनकर, शक्तिनाम से कहनेयोग्य नहीं रहती। तबवह 'अशक्ति' कहाती है। सुनियामक मिल जाने पर शक्ति से केवल वेही काम हो सकते हैं, जिनसे शक्तिके स्वामीको आत्मबोध होता रहे। शक्तिमान् अपनी शक्तिमत्ता को जानता रहे और शक्तिमान् होने का आनन्द लूटता रहे, यही शक्ति का सर्वोत्तम उपयोग है। यह सर्वोत्तम उपयोग ही 'ईश्वरदर्शन' या 'विवेक' की अवस्था है।

शक्ति भौतिक शरीर की वस्तु नहीं है। यह मनकी दृढता है। पवित्र रहने के लिये मनकी दृढता ही शक्ति है। निःस्पृहता ही वास्तविक शक्ति है। निःस्पृहता सब

शक्तियों की माता है। भौतिक शक्ति दिखाने के लिये जिस मानसिक शक्ति की आवश्यकता होती है, वही 'शक्ति' है। मनुष्यके अतिरिक्त मानसिक दृढता नामकी शक्ति का स्वामी और कोई नहीं है। 'भोग' और 'त्याग' इन दोनोंमेंसे 'भोग' को लात मार कर 'त्याग' को अपनाना मानसिक शक्ति का स्वरूप है। शक्तिमान् 'ईश्वर' मनुष्य के मनमें अवतीर्ण होकर अपनी शक्ति-लीला दिखाता है। यों भी कह सकते हैं कि वह अपनी शक्ति-लीला का संयोग करनेके लिये ही मानवदेहावतीर्ण होता है। मनुष्यही शक्ति का सच्चा स्वामी है।

जब शक्ति का सच्चा स्वामी यह मनुष्य अपने इस स्वरूपमाहात्म्य को विस्मृति के गहरे गर्त में फेंक देता है, तब चाहता है कि 'शक्ति को किसी प्रकार अपने अधीन करूँ।' अर्थात् शक्ति को अपनी इच्छानुसार चलाऊँ? यह मनोदशा बताती है कि मनुष्य शक्ति के प्रभाव में आकर उस का दास बन कर विचलित और अशान्त हो गया है।

शक्ति का स्वामी बनने के लिये मनुष्य को कुछ भी करना आवश्यक नहीं है। मनुष्य स्वभाव से ही शक्ति का स्वामी है। वह बिना कुछ किये शक्तिका जन्मजात अधिष्ठाता और स्वामी है। 'त्याग' में ही 'शक्ति' की अभिव्यक्ति है। 'भोग' या उस के लिये 'उपार्जन' 'शक्ति' का कार्य नहीं है। वह तो मनुष्य की अशक्ति का अचूक चिन्ह है। दूसरे शब्दों में 'भोग' मनुष्य की 'अशक्ति' है और 'त्याग' मनुष्य' की 'शक्ति' है। 'त्याग' का अभिप्राय 'कर्तव्यत्याग' नहीं है। क्योंकि जीवनधारणार्थ कर्तव्यपालन आवश्यक है। इस लिये 'भोगत्याग' ही 'त्याग' शब्द का वास्तविक अर्थ है। जीवनधारणार्थ कर्तव्यपालन करते हुए जीवनरथ को भोग की सीमा में न जाने देना ही 'त्याग' है और यही 'शक्तिमान्' की 'शक्ति-लीला' है।

यदि स्वभाव से शक्तिमान् मनुष्य भूलमें पड जाय ... शक्ति को अपने अधीन करना चाहने लगे, अर्थात् उससे सत्यपूर्ण जीवनयात्रा से भिन्न कुछ सांसारिक लाभ उठाना चाहे, तो यह निश्चय है कि वह शक्ति के वास्तविक रूपको समझनेमें चूक कर रहा है। उसने संसारकी राखधूलको 'शक्ति' समझा है, उसने उसे संसारमें फैला हुआ भौतिक पदार्थ मान लिया है, और उसे वहां से बटोरना चाहता है। वह शक्तिके सच्चे स्वरूप और निवासस्थान को भूल गया है। वह शक्तिके सच्चे रूप को भूल कर अशक्ति को शक्ति समझ गया है। शक्ति वह वस्तु है, जो शक्तिमान् मनुष्य के अधिकार से बाहर कभी नहीं रहती। यदि उसे अपने अधिकार से बाहर और उपार्जन करनेयोग्य समझा जाता हो, तो यह निश्चय जान लो कि अशक्ति को शक्ति मान लिया गया है। जो उपार्जन करनेयोग्य है, निश्चय ही वह 'अशक्ति' है। अशक्ति की चाह मनुष्यकी शक्तिमत्ता को मार डालती है, और मनुष्यको अशक्त नपुंसक बना देती है।

शक्ति को अपने अधिकार से बाहर माननेवाला पुरुष ही शक्ति को अपने अधीन करने की इच्छा के अधीन हो जाता है। इच्छाओं के अधीन होकर अपने विवेकको खो देना ही शक्तिकी अधीनतामें आ जाना है। जो इच्छा कर रहा है, वह शक्ति की अधीनतामें फंस चुका है और निरीश्वर बन गया है।

जो मनुष्य इच्छा के अतीत है, जगन्निर्मात्री शक्ति उसी के अधीन रहती है। जिस पुरुष ने केवल इच्छाके अतीत होकर जगन्निर्मात्री शक्ति को अपनी अधीनतामें रहनेके लिये विवश कर लिया है, वही 'शक्तिमान्' है, वही 'ईश्वरवादी' है। शक्ति की अधीनता न मानना ही शक्तिमत्ता की बात है। शक्ति को अपने अधीन देखने की इच्छा शक्ति के अधीन हो जाने का पता देती है। आत्मविस्मृति ही 'शक्ति की अधीनता' 'अज्ञान' और 'नास्तिकता' है।

अपनी शक्तिमती स्थितिही विवेक की जननी है। शक्तिमान् मनुष्य अपने आपको और अपने अधिकार को स्पष्टरूप से समझता है। वह अपने अधिकार पर डट कर खडा रहता है। वह प्रकृति और उसके अधिकार को भी भले प्रकार समझता है।

... स्वरूपमाहात्म्य से ज्ञानी-अज्ञानी प्रत्येक मनुष्य के मन में 'कामना' उत्पन्न कर सक... ज्ञानी को उस कामना के उत्पन्न होते ही असत्य के साथ रणकौशल या ज्ञानगरिमा दिखाने का अवसर मिल जाता है। ज्ञानी पुरुष 'कामना' और 'काम्य पदार्थों'

के परस्पर मिलन की रुकावट बना रहता है। वह 'कामना' को चरितार्थ नहीं होने देता। 'कामना' और 'काम्य पदार्थों' का परस्पर सम्मेलन न होने देना ही 'ईश्वर-दर्शन' की या 'विवेक की अवस्था' है। 'कामना' को चरितार्थ न होने देना ही ज्ञानी की 'स्वतन्त्रता' का स्वरूप है। इस स्वतन्त्रता को भोगने में ज्ञानी किसी के अधीन नहीं है। ज्ञानी जैसे पतित न होने में स्वाधीन है, इसी प्रकार स्वतन्त्र रहने में भी स्वाधीन है। अपनी स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखना ही 'समझ' की बात है और यही 'ईश्वर-दर्शन' की स्थिति है।

प्रकृति के अधिकार को समझनेवाला ज्ञानी, प्रकृति का सेव्य नारायण बन जाता है और प्रकृति उसकी चरण-सेविका बन जाती है। प्रकृति से आत्मदर्शनरूपी सेवा लेनेवाला ज्ञानी शक्तिमान् बना रहता है। वह सदा प्रकृति को अपनी सेविका के रूप में देखता है। वह प्रकृति की अधीनता मानने को कभी उद्यत नहीं होता। अपने और प्रकृति के अधिकारों की सीमा को जानना और अपने अधिकार पर अटल रहना यही समझ की बात है। प्रकृति के अधिकार को पहचानना और उसे व्यर्थ बना देना, यही 'मनुष्य का परम पुरुषार्थ' या 'ईश्वरदर्शन' कहाता है। जब जब प्रकृति अपने अधिकार पर हस्तक्षेप करने को उद्यत हो, अर्थात् जब जब प्रकृति मनुष्य की अनासक्त-स्थिति पर वार करने का प्रयत्न करती पायी जाय, तब तब अपनी शक्तिमती स्थिति के सहारे से उसे व्यर्थ बनाते रहना, यही ज्ञानी का स्वभाव या कुलधर्म है। इसी को 'ज्ञानी की ज्ञानमयी ईश्वरदर्शनी स्थिति' कहा जाता है।

प्रकृति की अधीनता का स्वीकार करके अज्ञानी तथा परतन्त्र बन जाना मूढता की बात है। ज्ञानी लोग इस मूढता को त्याग कर, ज्ञानी बने रहने की स्वतन्त्रता को अपनाये रहकर, अपना पुरुषार्थ या रणचातुर्य दिखाते हैं। ज्ञानी होना मनुष्य का असाधारण [illegible]। ज्ञानी होना परम पुरुषार्थमयी उल्लासपूर्ण स्थिति है। ज्ञानी की स्थिति किसी विषयभोग नाम के लाभ से वंचित उदासीनमयी स्थिति नहीं है। जिसने परमार्थ का अनन्य साधारण दिव्य आनन्द प्राप्त किया है वही 'ज्ञानी' है। ज्ञानी संसार को खोकर टोटे में नहीं है। वह जब परमार्थ को पा चुका है तब उसे संसार त्याज्य दीखने लगा है, इसी लिये उसने उसे त्यागा है। अपनी ही आत्मशक्तिसे ज्ञानी बने रहने का दिव्य आनन्द ज्ञानी के हार्दिक कानों में प्रत्येक क्षण यह जपता रहता है, और ज्ञानी का ज्ञानोत्साह बढाता रहता है, कि हे ज्ञानी! तुम्हारा अस्तित्व महान् है। यही ज्ञानी के 'समझदार' या 'ईश्वरदर्शी' होने का मर्म है

जो कुछ शुभ है वही 'शान्ति' है, वही 'शुद्धि' है, वही 'स्वतन्त्रता' है, वही 'सत्य' है, वही 'अनासक्ति' है। जो अशुभ है, वही 'अशान्ति' है, वही 'अशुद्धि' है, वही 'परतन्त्रता' है, वही 'असत्य' है, और वही आसक्ति है। अपने को शान्त, शुद्ध, स्वतन्त्र, सत्य और अनासक्त रखना ही सत्य की रक्षा करना, और 'ईश्वर-दर्शन' करना है। शुद्ध मन ही 'ईश्वर' है। जिसका मन शुद्ध हो गया, वह अपने मन से निःशंक होकर कह दे कि तुझे ईश्वरलाभ हो चुका। ईश्वर शुद्ध मनवाले मनुष्यमें शुद्ध मनके रूपमें ही विद्यमान रहता है। ऐसाही 'ईश्वर' सर्वव्यापी है। यद्यपि संसार में ऐसा कोई स्थान नहीं है, जहां शुद्ध मनरूपी ईश्वर न हो, परन्तु ईश्वरदर्शन का क्षेत्र मानव-देह है। मन को शुद्ध रखने का स्वभाव पड जाने पर सर्व भूतोंमें सर्वत्र स्वयमेव ईश्वरदर्शन होने लगता है।

बेसमझी या बेहोशी ज्ञानी के स्वभाव से विरुद्ध है। अविचारशीलता ज्ञानी जीवन की असम्भव घटना है। जैसे समग्र भौतिक संसार प्रकृतिके अधीन है, इसी प्रकार ज्ञानी का शरीर भी प्रकृतिके अधीन है। यह नहीं हो सकता कि प्रकृतिगुण भौतिक सृष्टि पर अपना प्रभाव न डालें। ज्ञानी का शरीर भी प्राकृतिक प्रभावों से नहीं बच सकता। यदि ज्ञानी पर कामादि के आक्रमण न होते हों तो ज्ञानी का 'ज्ञानीपन' महत्वरहित हो जाय। काम, क्रोध आदिके आक्रमण होते [illegible] ज्ञानी [illegible] बनकर दिखाता है। ज्ञानी का 'ज्ञानीपन' इस बातमें नहीं है कि ज्ञानी के विरोधी ज्ञानी पर वार करना छोड दें। किन्तु इस बात में है कि, ज्ञानी प्राकृतिक गुणों के आक्रमणों को अस्वीकार करनेवाली अपनी स्वतन्त्रता को

प्रयोग में लाये और अपना परम पुरुषार्थ दिखाये।
हमें काम, क्रोध आदि प्रतीत होने बंद हो जाय इस प्रकार का काष्ठ-लोष्ठसम ज्ञानी बनने की इच्छा 'नपुंसकता' है। काम, क्रोध आदि सृष्टि की निष्फल रचना नहीं है। काम, क्रोध आदि विकारों की प्रतीति ही ज्ञानी में 'निष्कामता' तथा 'अक्रोध' आदि भावोंको जगाने-वाली बनती है। ज्ञानी ऐसा पागल नहीं होता कि उसे नर वानर-देह का पार्थक्य तथा गर्दभके हेषारव और कोयल के पंचम स्वर का भेद समझ में न आये।

ज्ञानी वह है, जो संसारी परिभाषाके 'सु' और 'कु' को भले प्रकार समझता है और समझकर अनासक्त रहने की स्वतन्त्रता दिखाता है। यदि मनुष्य आसक्ति को न पहचानता हो, तो अनासक्ति की स्वतंत्रता दिखाने की बात अर्थहीन शब्दाडम्बरमात्र हो जाती है। ज्ञानी जानता है कि मानव-देह मनुष्यमात्र को अपनी ओर आकृष्ट करता है। वह वानर या मण्डूक-देहके समान आकर्षणहीन वस्तु नहीं है। परन्तु साथ ही वह यह भी मानता है कि संसार का कोई भी मानव-देह मुझ ज्ञानी को अपने भौतिक आकर्षणसे अपनी ओर आकृष्ट करनेमें समर्थ नहीं है। जो पदार्थ अज्ञानियों को आकृष्ट कर लेते हैं, वे ही पदार्थ ज्ञानी को 'अनाकृष्ट' या 'अनासक्त' बनाये रखनेवाले बन जाते हैं।

जो मनुष्य अनासक्त रहने की स्वतन्त्रता का कौशल दिखाता है, वही 'ज्ञानी' है, वही 'स्वतन्त्र' है, वही 'समझदार' है और वही 'ईश्वरदर्शी' है।

किसी विशेष भौतिक रूप को भगवान् समझ कर, उसके दर्शनके प्रयत्न में लगे रहनेमें कोई महत्त्व नहीं है। क्योंकि भगवान् कोई भौतिक देहधारीरूप विशेष नहीं है। किन्तु मनुष्य के मन की निर्विकार-स्थिति ही उसकी आरा-धना के योग्य भगवान् है। जिस शान्त मानसिक स्थिति में कोई कामना, उत्तेजना, संग्राम या विकार नहीं है, वह मनोदशा ही मनुष्य का आराध्य भगवान् है। मनुष्य के भगवान् में इसके [illegible] देखने या सोचने योग्य कोई विशेष रूप नहीं है।

यों तो सृष्टि में अनन्तरूप हैं, और वे सब किसी न किसी से देखे भी जा रहे हैं। परन्तु जब किसी मन में यह उदार मानसिक स्थिति उतर पडती है, तब संसार के संपूर्ण रूपों का समान मूल्य हो जाता है। अपनी निर्विकार स्थिति की उपेक्षा, अवहेलना या इसपर अश्रद्धा करके किसी एक कल्पित पांच-भौतिक देह को देखने का यही अभिप्राय है कि दर्शनार्थी की मानसिक स्थिति को वह द्रष्टव्य रूप भी विकृत कर रहा है और उससे भिन्न जो रूप दीखते हैं, वे भी उसे विकृत कर रहे हैं। जब उसे उसके कल्पित भगवान् का रूप नहीं दीखता, तब भी उसका मन विकारग्रस्त होता है और जब उसे दूसरे रूप दीखते हैं, तब वे उसके कल्पित भगवद्दर्शन के विघ्न बन-कर उसके मनको विकृत बनाते हैं। भगवत्-रूप के दर्शन का यही अभिप्राय है कि उस दर्शन के सहारे से निर्वि-कार शान्त मानसिक स्थिति प्राप्त हो जाय। यह कैसा भगवद्दर्शन हुआ कि उससे भक्त का मन अशान्त बन गया? इस लिये भगवान् ने जितने अनन्त रूप धारण कर रखे हैं, उन सब से निर्विकार मानसिक स्थिति को जगाये रखने का प्रयत्न करो। वह इस प्रकार करो कि विकार उत्पन्न करनेवाले रूप-रसादि को त्यागते रहो और शुभचिन्तन के रूप में निरन्तर निर्विकार मानसिक स्थिति बनाये रहो। यही 'ईश्वरदर्शन' का अनादि प्रसृत राज-मार्ग है।

यह संपूर्ण जगत् इसी मानसिक स्थिति की रक्षा करने का साधन है। यह सब इसी मानसिक स्थिति को समझ लेने के लिये आत्मा का स्थूल देह है। मनुष्य का यहां अवतार धारण करके आना बडे भारी उत्तरदायित्व का काम है। उसे प्रत्येक पद पर विचार कर जीवन-यात्रा करनी है। उसे यह जानना है कि इस सृष्टि में, इसके स्रष्टा के कृपालु हाथों ने, मनुष्य को मुक्ति की स्थिति को समझने के लिये ही बन्धनों की रचना की है; जगत्स्रष्टाने मनुष्य को शान्ति का रस पिलाने के लिये अशान्ति का जाल फैलाकर उसपर बडी दया की है। इन्द्रिय तथा इन्द्रियग्राह्य रूपरसादि पदार्थों को ब्रह्मदर्शन के साधन के रूपमें उपयोग में लाना 'योग' या 'परम पुरुषार्थ' है। इन्द्रिय तथा इन्द्रियग्राह्य पदार्थों को भोग के उद[illegible] लाने के लिये विवश हो जाना, अथवा अपनी ब्रह्मदर्शन-शक्ति को और मानवजीवन के अभिप्राय को खण्डित करके ब्रह्म-सुख से वंचित रह जाना ही 'पौरुषहीन, नपुंसक तथा

अशान्त जीवन बिताना ' है ।

ईश्वर को किसी भौतिक रूप वाला समझकर, उसके उस भौतिक रूप का भक्त बन जाना, अपने को किसी एक भौतिक रूप से प्रभावित बनाना है। यदि कोई अपनी प्रवित्र मानसिक स्थिति की रक्षा करना चाहेगा, तो उसे जगत् के संपूर्ण रूपों को ही ईश्वरदर्शन का साधन बना लेना पडेगा। जैसे अग्नि इंधन का बहाना पाकर, अपने स्वरूप को प्रकट करता है, इसी प्रकार मनुष्य का परमात्मा (अर्थात् मनुष्य की निर्विकार अप्रभावित मनोदशा) जगत् के संस्पर्श का बहाना पाते ही, अपने स्वरूप को व्यक्त करता है। वह इस काम में इस संपूर्ण जगत् का उपयोग करके, आत्मदर्शन या अद्वैतोत्सव मनाता है। जैसे संसार का प्रत्येक काष्ठ अग्निके स्वरूप को प्रकाशित करने का साधन है, इसी प्रकार इस जगत् का तिनका तिनका और कण कण तक मनुष्यके मन में परमात्मा के स्वरूप को प्रकट करने का साधन है। वह परमात्मा मनुष्य के मनकी निर्विकार-स्थितिके रूपमें ही उसे दर्शन देता है। जब मनुष्य जगत् के संपूर्ण पदार्थों को अपने में उस ईश्वराग्नि को प्रज्वलित करनेवाला ईंधन बना लेता है, अर्थात् उन्हें ईंधन के रूप में अपनी ज्ञानाग्नि में भस्म कर देता है, अथवा उनका प्रभावित करनेवाला बल छीनकर उन्हें निस्तेज बना डालता है, तब मनुष्य के मनकी उस स्थिति में और परमात्मा में सिन्धुमग्न बिन्दु के समान अन्तर नहीं रहता।

जब मनुष्य सकल पदार्थों में अनुगत नारायण को नहीं देखता और पदार्थों को पृथक् पृथक् समझता है (अर्थात् जब पदार्थों के अभेद पर ध्यान न देकर, भेद पर ध्यान देता है) तब वह उन में से किसी को तो लेना चाहता है, और किसी को त्यागना चाहता है (अर्थात् किसी से राग करता है और किसी से द्वेष बांधता है)। इसका अभिप्राय यह है कि तब मनुष्यका मन अप्रभावित स्थितिमें नहीं रहता। तब मनुष्य परमात्मा से विच्छिन्न हो जाता है। [illegible] मनुष्य परमात्मा के दर्शन से वंचित रहता है। तब वह आत्मस्वरूप को भूल गया होता है।

जैसे इंधन न होनेपर आग का स्वरूप नहीं दीखता, इसी प्रकार जगत् के बिना आत्मस्वरूप नहीं दीखता। इस जगत् के साथ मनुष्य का आत्मस्वरूप के दर्शन करने का संबन्ध है। इस सम्बन्ध का अपमान करना, अर्थात् इसको विषयभोगों में दुरुपयुक्त करने लगना, मानव-मन की घोर मूढता है। इस सम्पूर्ण जगत् के साथ आत्मदर्शन का सम्बन्ध जोडे बिना किसी प्रकार भी आत्मस्वरूप का दर्शन नहीं हो सकता। आसन, प्राणायाम, जप, तप आदि कोटि कोटि उपाय वृषभदोहन मात्र है। इस जगत् से अपना निर्विकार सम्बन्ध रक्खे बिना, अथवा जगत् के प्रभाव से हीन बने बिना, अर्थात् इस जगत् को अपनी ज्ञानाग्नि में भस्म किये बिना, परमात्मा के स्वरूप में अवस्थान करना कहानियों की असंभव गाथा मात्र रह जाती है।

पहले ' अध्यारोप ' और फिर उसका ' अपवाद ' करने की युक्ति से ही अपने निर्विकार या निष्प्रपंच-रूप का दर्शन मिलता है। जब काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि निर्बलतायें रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द आदि विषयोंके आधार से मनुष्य के मन पर प्रहार करना चाहें, तब यदि मनुष्य तत्क्षण उन प्रहारों की उपेक्षा करने का धीरज दिखाये तो ये सब उपेक्षित निर्बलतायें मनुष्य के सामने आत्मदर्शन का सुअवसर उपस्थित करनेवाली बन जायें। उपेक्षित निर्बलतायें ही आत्मदर्शन की सामग्री बन जाती हैं। संसार में इसी अभिप्राय से सत्य तथा असत्य की दो कोटि हैं। असत्य-कोटि की उपेक्षा (अर्थात् उससे पूर्ण असहयोग) करनेवाले को ही सत्य का दर्शन होता है। असत्य के साथ समझौता करने की निर्बलता दिखानेवाले को सत्यदर्शन से वंचित रहना पडता है। इस लिये सृष्टिप्रबन्ध की अचिन्त्य इच्छा से जब तक यह जगत् मनुष्य के सामने रहे, तब तक मनुष्य को अपने पास इस सत्यनारायण नामक निर्लेप स्थिति को जीवित रखना चाहिये।

जो मनुष्य अपने देह को इस सम्पूर्ण जगत् से पृथक् पदार्थ मानकर, तटस्थरूप में परमात्मा का दर्शन करना चाहता [illegible] न फस गया है। ऐसे मनुष्य का जगत् के साथ मन को विकृत करने का संबन्ध कभी नहीं मिटेगा। ऐसे लोगों को जगत् के पदार्थों को बन्धन समझने की, और ईश्वरनाम की बन्धनहीन

कल्पित सत्ता के पास चले जाने की इच्छा बनी रहेगी । जगत् बन्धन नहीं है । जगत् को बन्धन समझना ही 'बन्धन' है और 'बन्धन में फंस जाना' है। जो जगत् को मुक्तावस्था भोगने का साधन बनाना नहीं जानता, वही जगत् को कोस कोसकर महात्मा बनने का अभिनय करता है। मुक्तिसुख का अन्तःस्वाद न चखनेवाला पुरुष जगत् को गाली देता है।

यह संपूर्ण संसार एक विशाल ज्ञानग्रन्थ है। इसे ईश्वर ने अपने हाथों से लिखा है। यही विशाल ज्ञानग्रन्थ इस संसाररूपी पाठशाला में पढाया जाता है। प्रत्येक मनुष्य को इस पाठशाला का विद्यार्थी बनना पडता है। सब को इसकी सांकेतिक अव्यक्त भाषा में इससे ज्ञान का पाठ लेना पडता है। उस पाठ को सबको अपनी अपनी हृत्-पुस्तक में संगृहित करना पडता है। यही सब का 'वेद' कहाता है। जगत् को बन्धन कहना इस ईश्वरीय पाठ-शाला की वेद पढाने वाली 'पाठविधि' को न समझना है। बन्धन के कारणों को गाली देने या उनके पास से भागकर जंगल या एकान्त में जाने की प्रवृत्ति दिखाने के हलके से मूल्य से महात्मापन मोल लेने की इच्छा करना अज्ञान का दौरात्म्य है। बन्धन के कारणों से कहीं दूर भाग जाने में तथा इस स्थानपरिवर्तन से अपने को मुक्त महात्मा मान लेने में कोई महत्व नहीं है। जहां बन्धन के कारण उपस्थित हैं, वे बन्धनमुक्ति का सुअवसर देने के लिये ही उपस्थित हैं। बन्धन के कारण ईश्वरीय रचना के भाग हैं। वे सब इसीलिये हैं कि सच्चे मनुष्य आगे आयें और बल दिखायें। वे सब बल दिखाने का अवसर देने की कृपापूर्ण ईश्वरीय प्रवृत्ति के सुपरिणाम हैं। इन बन्धनों से द्वन्द्व-युद्ध करके बन्धनमुक्त होकर रहने में ही 'मुक्ति' की उदार स्थिति है।

बन्धनों के कारणों के रहते ही रहते, उन कारणों के आस पास ही मुक्ति की स्थिति रहती है। मुक्ति सापेक्ष शब्द है। वह बन्धनों की उपस्थिति चाहती है। जब-तक 'बन्धन' सां... मुक्ति और उस के साधन समझ में नहीं आ सकते और तबतक उन के अनुष्ठान का सुअवसर तथा साहस भी प्राप्त नहीं हो सकता।

बन्धन मन में रहता है। इसे मन में से न काटकर, शरीरको बन्धन समझी हुई बाह्य परिस्थितिके पाससे पृथक् ले जाना, मन को बन्धन में रख देना है। बन्धन हो, परन्तु मन उस में न बंधता हो, तो कहना पडता है कि, इस का मन 'मुक्ति' की स्थिति का पूर्णोपभोग कर रहा है। बन्धन के कारण उपस्थित हों और उन्हें स्वीकार न किया जाय, यही 'मुक्ति' की स्थिति है। यह संपूर्ण जगत् इसी उदार स्थिति को प्रकट करने के लिये है। मनुष्य को इसी काम में इस जगत् का उपयोग करना चाहिये। भोग में इस का उपयोग किया जाना बडी बेसमझी की बात है। यह ईश्वरीय रचना का विद्रोह तथा मानवीय उच्च स्वभाव से विपरीत अवस्था है। कल्याण-कामी को इस जगत् का उपयोग भोग में नहीं करना चाहिये।

(७) ईश्वरीय वाणी।

ईश्वर कैसे बोलता है? इसका उत्तर यही है कि, ईश्वरीय वाणी वर्णात्मक या ध्वन्यात्मक नहीं है। ईश्वर ऐसी सत्ता नहीं है, जो किसीसे बोलती हो, बोल सकती हो, या बोलना चाहती हो। 'मनुष्यहृदय' से पृथक् 'ईश्वरहृदय' नाम का कोई 'हृदय' नहीं है, जहां कुछ बोलने के विचार उदय होते हों। प्रभाव, विकार, उत्सुकता, उत्ताप और उत्तेजना से रहित मनुष्य का मनही उसका 'ईश्वर' है। ऐसा पवित्र मनही 'ईश्वरहृदय' नाम पा लेता है। यही मनुष्य को मनुष्यता के नाम पर कुछ मन्त्रणा देता है। परन्तु यह 'ईश्वर' मनुष्य से किसी भाषा में नहीं बोलता। यह मनुष्य के मन में भाव उत्पन्न करके उसे सांकेतिक भाषा में कर्तव्य की आज्ञा देता है। अनुकूल भाव उत्पन्न करना उसकी, 'कर्तव्य की आज्ञा' है। प्रतिकूल भाव उत्पन्न करना उसकी 'निषेधाज्ञा' है। यह संकेतोंके द्वारा मनुष्यों को उनके कर्तव्य सुझाता है। इसलिये 'ईश्वरीय भाषा' को 'सांकेतिक भाषा' कहा जाता है।

ईश्वरीय सांकेतिक भाषा के भावों को समझनेवाले मनुष्य का मन ऐसी अवस्था में पहुंच ... है, जहां चिन्ता का विषयही लुप्त हो जाता है। क्योंकि उस सांकेतिक भाषा के भाव चिन्तक और चिन्तनीय का अद्वैत बना डालते हैं। तब उसकी चिन्ता का विषय केवल

अपना आप रह जाता है। ईश्वरीय भाषा के विशारद लोग निश्चिन्त होकर आठों पहर आत्मसंभोग करते रहते हैं।

चिन्ता सदा अपने से पृथक् वस्तु के संबन्ध में होती है। उदाहरण के लिये वर्तमान में होनेवाली चिन्ता वर्तमान से पृथक् भूतभावी के सम्बन्ध में होती है। 'ज्ञानी' वही है, जिसकी दृष्टि में भूतभावी वर्तमान से पृथक् नहीं है। जब अज्ञानी मनुष्य अपने मन में वर्तमान को भूतभावी का आवरण उडा देता है, तब भूतभावीही अज्ञानी की चिन्ता का विषय बनता है। अज्ञानी मनुष्य वर्तमान का सदुपयोग करने में अपने समय और शक्ति का उपयोग नहीं करता। वह वर्तमान में, वर्तमान का काम न करके, भूतभावी की चिन्ता में मग्न रहकर, वर्तमान को बिगाडता रहता है। अज्ञानी पुरुष कालमाहात्म्य को नहीं पहचानता। वह समय की समयोचित सेवा नहीं करता। वह प्रत्येक वर्तमान क्षण में अज्ञानयुक्त आचरण करता है। वह प्रत्येक वर्तमान क्षण अज्ञान से बंधा रहता है। ज्ञानी प्रत्येक वर्तमान क्षण ज्ञानरसपान में मग्न रहता है। अज्ञानी वर्तमान को छोडकर भूतभावी की चिन्ता में फंसकर अपनी स्थिर 'अद्वैत' स्थिति को तो भूल जाता है और काल्पनिक 'द्वैत' को स्थिरता देनेके झगडे में फंसकर अशान्ति मोल ले लेता है। परन्तु ज्ञानी अपनी 'अद्वैत' स्थिति की पूर्णता में रहता है। वह कभी भूतभावी की चिन्ता में नहीं रहता; वह सदा अपनी स्थिरता का दिव्य आनन्द भोगता रहता है। वह प्रत्येक वर्तमान क्षण में कर्तव्यपालन करता रहता है। वह प्रत्येक क्षण प्रेरणा देनेवाली 'ईश्वरीय सांकेतिक भाषा' को सुननेवाले कान खोले रहता है।

ज्ञानीको सुनाई देनेवाली 'सांकेतिक भाषा' यह है कि मुझ कर्तव्य करनेवालेमें और कर्तव्यमें कोई भेद नहीं है। ज्ञानी को 'कर्ता' और 'कर्तव्य' के अभेद का ज्ञान रहता है। वह जानता है कि कर्तव्य तात्कालिक शक्ति को [illegible] आता है, और कर्तव्यपालन करनेवाले के रूपमें अपना अभिप्राय पूरा करता है। ज्ञानी 'कर्तव्य' को कभी अपने से पृथक् नहीं समझता। वह अपनेको 'कर्तव्य'में मिटा डालता है। वह 'कर्तव्य' को आगे कर लेता और स्वयं उसका ऐसा 'पृष्ठपोषक' बन जाता है कि, वहां से किसी के हटाये नहीं हटता।

ज्ञानी कर्तव्याकर्तव्यनिर्णय करनेमें एक क्षणसे अधिक कभी नहीं लगाता। वह कर्तव्य आने के प्रथम क्षण में ही उसके विषयमें अपरिवर्तनीय निर्णय कर लेता है। वह इस चिन्तामें कभी नहीं डूबा रहता। जो इस चिन्तामें डूबा रहता है, वह अज्ञानी है।

ज्ञानी जानता है कि कर्तव्य ही अपने आपको करनेवालेके रूपमें प्रकट किया करता है। वह कर्तव्यमें और करनेवालेमें कोई अन्तर नहीं समझता। यद्यपि मनुष्य अपने आपको करनेवाला समझता है, परन्तु यह उसकी भूल है। क्योंकि मनुष्य कुछ कर्तव्यों का बृहत्पुंज है। बहुत से कर्तव्य एकत्रित होकर अपने आपको मानवदेहके रूपमें प्रकट कर देते हैं। यद्यपि मनुष्य यह समझता है कि मैं अपनी शक्ति से कर्तव्य करता हूं, परन्तु यह भी उसकी भूल है। क्योंकि कर्तव्य अपनी ही शक्ति से और अपने ही कर्तापन से किये जाते हैं। अज्ञानी पुरुष कर्तव्य की इस माहात्म्यपूर्ण अद्वैत-स्थिति को नहीं पहचानता। वह कर्तव्य के मर्म को नहीं समझता। वह इसलिये अपने को कर्ता माननेकी भूल कर बैठता है।

कर्तव्य आनेसे प्रथम उसके विषयमें कुछ मत सोचो। कर्तव्य आते ही मनमें सबसे प्रथम उस (कर्तव्य) के सम्बन्धमें जो विचार उदित होते हैं, वही 'ईश्वरीय वाणी' है। कर्तव्य आनेसे प्रथम उसके विषयमें सोचना भारी भूल है। कर्तव्य करने की रीति बतानेवाले ईश्वरीय संकेत भी उसी (कर्तव्य) के साथ उदित होते हैं। कर्तव्यकाल आने से प्रथम उसकी विधि बतानेवाले संकेत नहीं हो सकते। इसलिये कर्तव्य आने से प्रथम उसके लिये सोचना भ्रान्त-मस्तिष्क का काम है।

कर्तव्य आने से प्रथम उसके विषयमें कुछ न सोचने का दृढ संकल्प रखनेसे ही मनुष्य को 'ईश्वरीय वाणी' सुनने और समझने की योग्यता [illegible] होती है। [illegible] यह समझता है कि मैं कर्तव्य करनेवाला नहीं हूं, किन्तु कर्तव्य ने ही अपने को मेरे रूप में प्रकट किया है, वही 'ईश्वरीय वाणी' सुनने और समझनेका अधिकारी है।

'कर्तव्य' और 'कर्तव्यशास्त्र' दोनों मनुष्य के मनमें एक साथ उदय होते हैं । 'कर्तव्य' आने पर उसके विषयमें सबसे प्रथम जो कुछ सूझता है, वही 'ईश्वरीय वाणी' है । अपने आपको इस वाणी पर निछावर कर देना, इसी की आज्ञानुसार व्यवहार करना, इससे विपरीत आचरण न करना, किसी भौतिक लाभ के लिये इसकी आज्ञा को न टालना, ज्ञानियों का दृढ स्वभाव होता है । इससे भिन्न और कोई 'ईश्वरीय वाणी' नहीं है ।

(८) परमार्थलाभ का समय ।

बहुधा मनुष्य परमार्थ से पृथक् रह कर अपने दैनिक जीवन में से कुछ समय परमार्थ को दिया हुआ समझने की भूल में डूबकर, शेष समय में परमार्थ के प्रश्न को सर्वथा भुला कर, उसे अपनी इच्छानुसार व्यय करते हैं । उन्हें यह जानना चाहिए कि संसार में सुधरे हुए मनुष्य जीवन से पृथक् परमार्थ नामकी वस्तु नहीं है । जीवन सुधार प्रातः सायंकाल का या सम्पूर्ण दिन में से किसी विशेष काल का काम नहीं है । जीवनसुधार मनुष्य के सामने आठों पहर खडी रहनेवाली समस्या है । जब तक मनुष्य परमार्थ से पृथक् रह कर परमार्थ के लिए प्रयत्न करता रहेगा, तब तक निश्चित रूप में परमार्थ से पृथक् रहेगा। परमार्थसे पृथक् रहेगा, तो मनुष्य को परमार्थलाभ नहीं होगा । जब तक मनुष्य उन्मुक्त हस्तपाद होकर परमार्थ-हृद में डुबकी नहीं मारेगा, तब तक उसे परमार्थ-हृद के पेंदे में बैठे हुए मणिमुक्ता नहीं मिलेंगे । परमार्थ-लाभ भौतिक लाभ के समान नहीं है । क्योंकि मनुष्यका भला मानसपन या उसका शुद्ध पवित्र मन ही 'ईश्वर' है। यदि शुद्ध मन का ईश्वर होना समझ में आता हो, तो यह काम भविष्यत् के लिए कैसे टाला जा सकता है ? तब तो यह निश्चित रूप में वर्तमान क्षण में करने का काम रह जाता है। जिसे वर्तमान में परमार्थ नहीं मिल सकेगा, उसे परमार्थ मिलने की कोई आशा नहीं है ।

'भजन' 'ध्यान' 'ईश्वर-पूजन' और 'परमार्थ-लाभ' मनुष्य के व्यावहारिक कर्तव्यपरायण जीवन से पृथक् वस्तु नहीं है । ये काम व्यावहारिक जीवनसे पृथक् हैं, इस भ्रमपूर्ण धारणाने मनुष्यसमाज की अकथनीय हानि की है और कर रही है । वास्तविकता यह है कि 'ईश्वरभजन' और 'जीवनसुधार' दो बात नहीं हैं । सुधरा हुआ मानवजीवन ही 'भजन' 'ध्यान' 'ईश्वर-पूजन' और 'परमार्थ' है ।

संसार से व्यवहार करते हुए मनुष्य की मनोदशा इतनी सुधरी हुई होनी चाहिए कि, उसे निःशंक होकर 'मुक्त मनोदशा' या 'ईश्वरदर्शन' की दशा कहा जा सके । मनुष्यजीवन की वर्तमान मनोदशाही मुक्त पुरुष की मनोदशा बन जानी चाहिए । मुक्त पुरुष सांसारिक व्यवहार न करे, ऐसा कहनेवाले मनुष्य मुक्ति के स्वरूप को निश्चित रूप में नहीं जानते । मुक्ति के साथ काम रोकनेका प्रतिबन्ध लगाना, अज्ञान की बात है। जिसने कर्मशक्ति की विराटता को नहीं समझा, वही ऐसी बिना सिर-पैर की बात बनाता है । मुक्ति कर्म रोक देनेसे आने-वाली या भविष्यत् में आनेवाली स्थिति नहीं है । 'कर्म' को 'ज्ञान' का नियन्त्रण रखकर करना ही 'मुक्ति' है। मुक्ति को वर्तमान में ही आना चाहिए । वर्तमान को व्यर्थ खोनां ही भविष्य की आशा का स्वरूप है । जो स्थिति आज नहीं है, वह कल कहाँ से आ जायगी ? जिस मनुष्य का घर अर्थात् व्यावहारिक जीवन ही 'तपोवन' बन गया है, वह 'ईश्वरभक्ति' कर रहा है । वह पर-मार्थप्राप्तिरूपी 'मुक्ति' को भोग रहा है ।

भूल करने के अवसर ईश्वरीय सृष्टि की व्यर्थ घटना नहीं हैं । भूल करने के अवसरों परही 'ईश्वरदर्शन' का अवसर आता है । कारण यह है कि भूल करने के अवसर आते ही मनुष्य के सामने सत्यासत्य, कर्तव्याकर्तव्य या गन्तव्यागन्तव्य विचार करने का धर्मसंकटनामवाला अव-सर आकर खडा हो जाता है । तब यदि मनुष्य उस समय सदसद्विचार करने की धीरता दिखाए और अपने सत्यरूप (अपने संतरूप या अपने ईश्वररूप) को देख कर, उस पर मुग्ध हो जाय, तो यही उसकी 'ईश्वरदर्शन' की स्थिति हो जाय ।

विचारशील पुरुष का मैले वस्त्रोंसे सम्बन्ध असंभव हो जाता है । मैले वस्त्रों से सम्बन्ध न रखनेकी दृढता वस्त्रशोधन नामके धर्मके रूपमें प्रकट होती है । जब मनसे वस्त्र का शुद्ध रूप देख लिया जाता है,

तब वस्त्र के उस शुद्ध रूप के साथ अत्याज्य प्रेम उत्पन्न हो जाता है। उस समय मनुष्य की मैलान रहने नामकी सिद्धावस्था, अपने को वस्त्रशोधनवाले नाम के रूपमें अवश्य प्रकट करती है। ठीक यही बात मनुष्य की सिद्धावस्थाकी भी है। पहले मनुष्य मनमें अपने संतरूप को देख लेता है। फिर उस पर मुग्ध हो जाता है। इसी अवस्था को सिद्ध पुरुष की 'सांख्य-स्थिति' कहा जाता है। फिर वही सन्तरूप अपने आपको सत्यरक्षा या असत्य-पराजय नाम के कर्म के रूपमें अवश्य प्रकट करता है। इसी को सिद्ध पुरुष का 'कर्मयोग' कहा जाता है।

कर्तव्यपालनही 'कर्मयोग' है। कर्तव्यपालन करानेवाली अदम्य मानासिक दृढता 'ईश्वरपूजन' है। मनमें रागादि दोषोंका प्रभुत्व नष्ट करके कर्तव्यकर्म करना 'ईश्वर-पूजन' है। वाणी को अनृत भाषण आदि दूषणोंसे दूषित न होने देना 'ईश्वरपूजन' है। दुष्टों की दुष्टताका विरोध करनेसे न चूकना भी 'ईश्वरपूजन' है। अपने मनको दुष्टोंके प्रभावमें न आने देना 'ईश्वरपूजन' है। कर्तव्य प्रतीत होनेपर असत्य के विरोध के लिए अपनी प्राणाहुति डालकर सत्यसागर में समाजाना 'ईश्वरमिलनोत्सव' है। ईश्वरसे भिन्न सब कुछ को तिनका, धूल और कूडा मानकर की जानेवाली जीवनयात्रा 'ईश्वर-पूजन' है।

जिस मनुष्य को कर्तव्यपालन का संतोष मिल जाता है, उसके मनमें दूसरी कामना नहीं रहती। मनमें किसी कामना का शेष न रहना 'मनकी पूर्णता' और ईश्वरकी भक्ति' है। कर्म करते समय ईश्वरतत्व का ध्यान बने रहना (अर्थात् कर्म करते समय शुद्ध मनकी ईश्वरीय आज्ञाओं को न भूल जाना) 'ईश्वरार्थ कर्म करना' या 'कर्मयोग' है। कर्तव्य का अवसरही परमार्थलाभ का उपयुक्त समय है और कर्तव्यपालनही 'परमार्थलाभकी विधि' और 'स्वरूप' है।

[illegible]) संसार की ईश्वरप्राप्तिका परिभाषा का दूषण।

मनुष्य ने संसार के सब पदार्थों को परस्पर बांटकर उन्हें प्राप्त बना लिया। कुछ लाभ के लोभी मनुष्य इससे आगे बढे और अधिकाधिक लाभ ढूँढते ढूँढते, किसी लाभ बांटनेवाले ईश्वर की कल्पना करने लगे और उसे पाना चाहने लगे। परन्तु मनुष्य की इस प्रवृत्ति से उसके मस्तिष्क की विचारहीनता का परिचय मिला। क्योंकि वह यह नहीं समझ सका कि, जब तैने संसार के पदार्थों को प्राप्त बना लिया तब तुझे ईश्वर तो अर्थात् ही अप्राप्त रह गया। मनुष्य की भूलसे उसे संसार तो मिला, परन्तु ईश्वर नहीं मिल सका।

वैसे तो पदार्थों को प्राप्त करनेवाले मनुष्य को भी इस धोके में नहीं रहना चाहिये कि उसे पदार्थ प्राप्त हो गये। क्योंकि यह मनुष्य संसार के कुछ पदार्थों के साथ 'वासनाबद्ध' हो गया है, इसी को उसका उन (पदार्थों) को प्राप्त करना कहा जाता है। पदार्थों को प्राप्त करने का इससे भिन्न दूसरा कोई रूप होना संभव नहीं है। मनुष्य इस संसार में सर्वथा अधिकाररहित अवस्था में उतरा है।

जिस दिन मनुष्य इस अपने बन्धन के स्वरूप को पहचानेगा, उस दिन देखेगा कि संसार के पदार्थ उसे प्राप्त नहीं, किन्तु अप्राप्त हैं। उस दिन संसार के पदार्थों की यह 'अप्राप्ति' ही उसकी 'ईश्वरप्राप्ति' बन जायगी।

संसार विपरीत मार्ग पर चलता है। वह पहले तो विषयों को प्राप्त बना लेता है और पीछे से ईश्वर को पाया जा सके तो, उसे पानेका उद्योग करता है। परन्तु संसार यह नहीं चाहता कि उसे कभी संसार छोडने के संकट में पडना पडे, और संसार छुडानेवाला ईश्वर लेना पडे। संसारी पुरुष संसार सुरक्षित बना रहे, केवल इसी प्रतिबंध (शर्त) के साथ ईश्वर से परिचय बढाना और उसका दर्शन करना चाहता है। मनुष्य का भ्रम मनुष्यकी इस प्रवृत्तिका जन्मदाता है। इसका स्पष्ट कारण यह है कि किसी मनुष्य की विषयोंका मिल जाना ही उसे 'ईश्वरका अप्राप्त हो जाना' है। जिसे विषयभोग मिले हैं, निश्चय जानो कि उसे ईश्वर नहीं मिला। जिसे [illegible] रूप है, उसे विषयभोग प्राप्त नहीं रह सकते। संसारमें ऐसे मनुष्य का होना असंभव है, जिसे 'विषयभोग' और 'ईश्वर' दोनों एक साथ मिलें हों। 'विषयभोग' और 'ईश्वर' ये दो ऐसे विरोधी पदार्थ हैं, कि इनमेंसे एकके

पास एक ही रहता है । इन दोनोंमेंसे किसी एक की उपासना करना दूसरे को 'दूर हट' कह देने के बराबर है ।

यद्यपि संसारमें विषयों को प्राप्त बना लेनेवाले कुछ ऐसे पुरुष पाये जाते हैं, जो विषयसंभोग के साथ साथ ईश्वर-प्राप्ति का भी उद्योग करते हैं । परन्तु उनका उद्योग अनन्त काल तक सफल नहीं होता ।

जिस समय मनुष्य 'विषयप्राप्ति' को त्यागेगा, उस समय देखेगा कि मुझे ईश्वर प्राप्त हो चुका और अब मुझे ईश्वरप्राप्ति की कोई आवश्यकता नहीं है ।

(१०) ईश्वर अप्राप्य और कठिन प्राप्य नहीं है।

जो लोग ईश्वरवादी कहाते हैं, वे भी ईश्वर के विषय में बडे निराश हैं । ईश्वरवादी समझा हुआ संसार, ईश्वरप्राप्ति के विषय में पूर्ण हताश है । ईश्वरवाद की पुस्तकें वर्तमान जन्म में ईश्वरप्राप्ति को असंभव घोषित कर रही हैं । वे उसे जन्मजन्मान्तर का और अनन्त जन्मों का काम बताती हैं । वे अपने को ईश्वरप्राप्ति का निश्चित समय बतानेमें सर्वथा असमर्थ पा रही हैं । ईश्वर-वाद की पुस्तकों को ईश्वरविषय में इस प्रकार हताश देख कर उनकी ईश्वरविषयक बन्ध्य कल्पनापर बडा तरस आता है । इन लोगों ने दो शब्दों में ईश्वर को अप्राप्य बना दिया है और संसार को ईश्वर की ओर से निराश करके, उसे भोग की ओर जाने के लिए उत्साहित किया है । ईश्वरप्राप्ति के भिन्न भिन्न मार्गों के कोला-हलने, साधारण मनुष्य के मनको, ईश्वरप्राप्ति का विरोधी या उसकी ओर से उदासीन बना डाला है। इनकी ईश्वरकल्पना ऐसी बे-सिर-पैर की है कि, उसे सुन कर संसार कहने का अवसर मिल गया है कि संसार में ईश्वर नहीं है, और यह केवल कुछ विकृत मस्तिष्क लोगों की कल्पना ही कल्पना है ।

परन्तु विचारदृष्टि [illegible] कि ईश्वरप्राप्ति वर्तमान जन्म, वर्तमान काल और वर्तमान क्षण में अर्थात् अभी हो सकती है । यह निश्चित रूप में भविष्यत् का काम नहीं है । विचार यहांतक कहता है कि जो ईश्वर भविष्यत् में मिलता हो और जिसे प्रयत्न से मिलनेवाला समझा जाता हो, ऐसे ईश्वरनामधारी से अपना सम्बन्ध रखना या जोडना, मनुष्य की 'नास्तिकता' 'नपुंसकता' और 'आत्मवंचना' है ।

जो ईश्वर मनुष्य की मुट्ठी में है, जिसे वह प्रतिक्षण अपनी शक्ति से अपनी आंखों के सामने उपस्थित रखकर आनन्दमग्न रह सकता है, जो आपने शुद्ध मन के रूप में प्रत्येक के पास रहता है, उस ईश्वर को जान जानाही 'आस्तिकता' का स्वरूप है । यदि मनुष्य सच्चे हृदयसे ईश्वर को प्राप्त करना चाहे, तो उसे एक ही क्षण में ईश्वर प्राप्त हो जाना चाहिए । क्योंकि ईश्वर में सच्ची ईश्वरेच्छा के पास से अनुपस्थित हो सकने का सामर्थ्य नहीं है ।

मनुष्य का मन ही इसमें सब प्राणियों से विशेषता है। 'भोग' या 'त्याग' की अर्थात् 'नीचता' या 'उच्चता' को अपनाने की स्वतंत्रता ही 'मनुष्य के मन का स्वरूप' है । इस स्वतंत्रता में ही मनुष्य के 'ईश्वरविहीन' होने और 'ईश्वरलाभ' करने का रहस्य छिपा हुआ है । इंद्रियों में जीवित रहने की स्वाभाविक अभिलाषा है । इंद्रियां स्वभाव से जीवनदायक पदार्थों को लेना चाहती हैं, और जीवनविरोधी पदार्थों से बचना चाहती हैं । जीवनानुकूल पदार्थों को अपनाने की सीमामें रहनेवाला मनुष्य बन्धन में नहीं फंसता । मनुष्य बंधन में तब फंसता है, जब वह जीवित रहने की सीमासे बाहर घूमने लगता है । अर्थात् जब मनुष्य अपनी जीवनयात्रा के महान् लक्ष्य को भुला कर विषयों के साथ भोग का सम्बन्ध जोड लेना चाहता है, उस समय बंधनग्रस्त हो जाता है । तब उसे "ईश्वर से दूर हट गया" कहा जाता है । मनुष्य की विषयभोगेच्छा ही उस की ईश्वरविमुखता है । विषयभोगेच्छा को त्यागनाही उसकी 'ईश्वरा-भिमुखता' है ।

जो मनुष्य अपने जीवित रहनेके अधिकार से बाहर पैर रखना नहीं चाहता, और जीवन[illegible] कर भौतिक पदार्थों का उपयोग करता है, उसे आत्मस्थित, ईश्वरस्वरूप, ईश्वरलाभी, और विमलानन्दी जीवन्मुक्त कहते हैं । मनका विषयभोग में न जाकर आत्मस्थित हो

जाना 'ईश्वरप्राप्ति की अवस्था' है। इससे भिन्न ऐसी कोई अवस्था नहीं है, जिसे 'ईश्वरप्राप्ति' या आत्मदर्शन की अवस्था' कहा जा सकता हो और उसके लिए मनुष्य को दुःख उठाने की मन्त्रणा देना युक्तियुक्त तथा आवश्यक हो।

सारांश यही है कि किसी अतीत या वर्तमान युग के यशस्वी समझे जानेवाले व्यक्ति की बातों के आधार पर 'ईश्वर' की कल्पना करना सर्वथा त्याग दो। ईश्वरको अपने ही जीवनके अनुभवके आधारपर प्रतिष्ठित करो, यदि ऐसा नहीं करोगे तो ईश्वर को पाना और अपनाना सदा असंभव बना रहेगा।

(११) सृष्टिप्रबन्धकर्ता होना ईश्वर का लक्षण नहीं है।

मनकी अनासक्त स्थिति ही 'ईश्वर' है, यह कहा जा चुका है। तुम्हारे वर्तमान क्षणकी पवित्र मानसिक स्थिति ही तुम्हारा 'ईश्वर' है। यदि तुम 'ईश्वर' को देखना चाहते, तो उसे सृष्टिकर्ता मजदूर के रूपमें देखनेकी इच्छा क्यों करते हो ? तुम उसे निर्विकार मानसिक स्थितिके रूपमें देखो और ईश्वर को देखने का वास्तविक लाभ उठाओ। जिस ईश्वरका दर्शन करनेसे मानवजीवन-सार्थक होता है, वह 'ईश्वर' मन की अनासक्त स्थिति ही है।

जो मनुष्य ईश्वर को इस अनासक्त स्थिति के रूपमें नहीं देखता, किन्तु सृष्टि प्रबन्ध-कर्ता के रूपमें उससे पृथक् रहकर, केवल दूरसे उसकी झांकी लेना चाहता है, वह ईश्वर को कदापि नहीं देख पायेगा। ऐसे मनुष्य को यह जानना चाहिये कि उसका नाम 'ईश्वर' क्यों पडा है ? 'ईश्वर' शब्द समर्थ का पर्यायवाची है। अर्थात् सामर्थ्यशाली सत्ता को 'ईश्वर' कहा जाता है। असत्य का विरोध किये जाने पर ही 'सामर्थ्य' का परिचय मिलता है। असत्य का विरोध ही 'सामर्थ्य' का स्वरूप है। विरोध और प्रतिकूलता पर विजय पाते रहना ही 'सामर्थ्य' की वास्तवता है। असामर्थ्य को पददलित करना ही समर्थके 'सामर्थ्य' का उपयोग है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य आदि निर्बलतायें ही अशक्ति या असामर्थ्य हैं। इन निर्बलताओं का सफल विरोध करनाही 'सामर्थ्य' की अभिव्यक्ति कहाती है। दूसरे शब्दोंमें मनुष्य का शुद्ध, निर्विकार, अप्रभावित, अनुत्सुक, अपापविद्ध मनही 'सामर्थ्य' का विहारक्षेत्र 'ईश्वर' है। अपने समर्थरूप का संभोगही 'ईश्वर-दर्शन' की अवस्था है। क्योंकि इस 'ईश्वर-दर्शनमें' मनुष्य को पुरुषार्थ दिखानेका अवसर मिलता है और दिखाना पडता है, इसलिये यही यथार्थनामा शक्तिमान 'ईश्वर' है।

थोडी देर के लिये मान लेते हैं कि सृष्टिप्रबन्धकर्ता 'ईश्वर' किसी को दीख सकता होगा। परन्तु बताना चाहिये कि यदि कोई उस 'ईश्वर' को देख भी लेगा तो भी उसमें पुरुषार्थ दिखाकर अपना जन्म सफल करने का अवसर कैसे मिलेगा ? ईश्वर नाम तो हम उसी को दे सकते हैं जिसके दर्शनसे मनुष्य का जन्म सफल हो सकता हो। यह निश्चित है कि ऐसा 'ईश्वर' मनुष्य की अनासक्त स्थिति से दूसरा नहीं हो सकता।

जिसे सृष्टिप्रबन्धकर्ता 'ईश्वर' कहा जाता है वह तो एक विपुलकाय मजदूर है। वह 'ईश्वर' नहीं है ? सृष्टिप्रबन्धमें 'ईश्वरता' या 'सामर्थ्य' का प्रश्न नहीं है ? उसमें विकारविजय का 'सामर्थ्य' नहीं है। क्योंकि विकार-पराजय का सामर्थ्य केवल मनुष्य के शुद्ध मन में पाया जाता है, इसलिये मनुष्य का शुद्ध मन ही 'ईश्वर' है। सृष्टिप्रबन्ध करनेवाली तो ईश्वरीय माया है।

ईश्वर को सृष्टिप्रबन्धकर्ता के रूपमें देखने की इच्छा करना, ईश्वरदर्शन से मुंह मोडना है। यह मनुष्य इस विशाल ब्रह्माण्ड का तुच्छ यात्री है। उसका संसार के प्रबन्धसे कोई सम्बन्ध नहीं है। उसे अपनी यात्रामें रुकावट डालनेवाला, या यात्राके उद्देश्य को नष्ट करनेवाला कोई काम न करना चाहिये। मनुष्य रेल-यात्री के समान है और सृष्टिप्रबन्ध रेलवे-कम्पनी के समान है। रेल-यात्रीका रेलवे कम्पनीसे सम्बन्ध नहीं है। रेल-यात्री का रेलसे उतनाही सम्बन्ध है, जितना [illegible] यात्रा का सम्बन्ध है। रेल-यात्री का रेल की आय आदि बातों से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार मनुष्य का सृष्टि प्रबन्ध से कोई सम्बन्ध नहीं है। मनुष्य इस संसार में अधिकारहीन

अवस्थामें जीवन बिताकर चला जाता है। उसके इस स्वरूप जीवन का एक यह महान् लक्ष्य है कि वह अनासक्त जीवन बिताकर अपने जीवन को सार्थक करे। जब मनुष्य इसे न करके सृष्टिप्रबन्ध की लम्बीचौडी बातें हांकता है, तब अपनी यात्रा का विनाशक बन जाता है।

जो 'ईश्वर' को सृष्टिप्रबन्धकर्ता के रूप में देखना चाहता है, वह उसे स्थूल आंखों से देखना चाहता है। परन्तु ईश्वर कैसे दीखे? वह कोई मिट्टी पत्थर होता तो दीखता। माना कि 'ईश्वर' सर्वत्र है, परन्तु उस की अभिव्यक्ति या दर्शन का स्थान मानव हृदय को छोडकर दूसरा कहां है? ईश्वर तत्वशुद्ध मन के रूप में अपनी पूर्णता का सम्भोग करने के लिये मानव-हृदय में आता है। 'ईश्वर' जगत् में नहीं दीखता उस का दर्शन केवल मानव-हृदय में होता है।

जो ईश्वर को सृष्टिप्रबन्ध के द्वारा जानना चाहते हैं, वे सब 'नास्तिक' हैं। वे सब अपनी जीवन-यात्रा को बिगाडनेवाले और अकर्तव्यरत हैं। अपने बहुमूल्य जीवन-काल को, कल्पान्त कब होगा? सृष्टि कब बनी थी? इसकी आयु कितनी है? ईश्वर क्या काम करता है? इत्यादि बातों का हिसाब जमाने में बिताना, थोडे दिन के लिये दिये गये जीवन का दुरुपयोग है।

यद्यपि ईश्वर ने अपने को समग्र संसार के रूप में व्यक्त किया है, यद्यपि कुत्ते में कुत्तापन, वृक्ष में वृक्षपन, सूर्य में ज्योति, चन्द्र में शीतलता, जलोंमें द्रवता, अग्निमें उष्णता, नक्षत्रों में नियमित गति और समग्र संसार के उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय ये सब ईश्वर के व्यक्त रूप हैं। परन्तु ये रूप मानवीय हृदय की ज्ञानपिपासा और आनन्द बुभुक्षा को शान्त करने में समर्थ नहीं हैं। इनमें से कोई भी 'ईश्वरदर्शन' का क्षेत्र नहीं है। ईश्वरदर्शन का क्षेत्र केवल निर्विकार मानव-हृदय है। 'ईश्वर' केवल पवित्र मनवाले मनु[illegible]

हम यह नहीं कहते कि इस सृष्टि का कोई कर्ता नहीं है। हमारा कहना है कि सृष्टि के प्रबन्धकर्ता को 'ईश्वर' कहना उसे 'ईश्वर' होने का प्रमाण-पत्र देना है। सृष्टि प्रबन्धकर्त्री शक्ति से न तो मनुष्यकी मनुष्यता का विकास होता है और न उस में पूर्णता आती है। मनुष्य के 'ईश्वर' की यह महिमा नहीं है कि वह सृष्टिप्रबन्ध कर रहा है। ज्ञानी मनुष्य अपने 'ईश्वर' को 'सृष्टिप्रबन्धकर्ता' इस महत्वहीन नाम से सम्मानित करना नहीं चाहता। शुद्ध मन ही मनुष्य का 'ईश्वर' है। मनुष्य की मनुष्यता उसीके दर्शन-स्पर्शन-संभोग और उसी में तल्लीन होने से विकसित और पूर्ण होती है। इसलिये निर्विकार अप्रभावित शुद्ध मनही मनुष्य का 'ईश्वर' कहे जाने का अधिकार रखता है।

इस विश्वव्यापी सृष्टिप्रबन्ध से इस मानव का कोई सम्बन्ध नहीं है. इस के जितने भाग से मनुष्य की जीवनयात्रा का सम्बन्ध है, उतना ही मनुष्य का ज्ञेय है। अपने ज्ञेय की सीमा को लांघकर जिज्ञासा का वृथा विस्तार करना मनुष्य का अज्ञान है। ज्ञेय से अधिक जानना अशक्य और व्यर्थ है।

जो मनुष्य सृष्टिप्रबन्ध के द्वारा ईश्वर को जाननेवाला बनना चाहते हैं, उनके पास व्यर्थ जिज्ञासाओं के ढेर लग जाते हैं। वे अपनी जीवनयात्रा के लक्ष्य को भूल जाते हैं और अकर्तव्यमग्न हो जाते हैं।

जीवन असीम नहीं है। यह थोडे दिन के लिये है, और विनाश की ओर सरपट दौडा चला जा रहा है। इस भागते हुए क्षुद्र जीवन का सदुपयोग कर लेना ही मनुष्य की बुद्धिमत्ता है। यदि मनुष्य इस अपने क्षुद्र जीवन-कालको सृष्टिव्यवस्था का हिसाब किताब जमानेमें व्यय कर डालेगा, तो उसका जीवन सृष्टि की व्यर्थ घटना बन जायगा।

मनुष्य को इस बातमें निःशंक रहना चाहिये कि अपनी पवित्र मानसिक स्थिति से दूसरा कोई भी 'ईश्वर' नहीं है।

(क्रमशः)

वैदिक जीवन ।

[पं० मदनमोहन विद्याधर, बेझवाडा ।]

षष्ठ अध्याय ।

[१] स्वाध्याय या विद्याभ्यास ।

आज हमारे देश के विद्यार्थी विद्यालय की शिक्षा पूरी कर लेने के पश्चात् पुस्तकों का सर्वथा बहिष्कार कर देते हैं । या तो वे 'कवाडियों' की दूकान मे सजती हैं, और या दीमकें उन्हे चाट लेती हैं । वे समझते हैं कि उन का पढना लिखना, सदा के लिये समाप्त हो गया और वे अपने विषय के पूर्ण विद्वान् हो गये । परन्तु इस बात से हमारे देश की जो बडी भारीहानि हो रही है, वह उन्हीं की इस उपेक्षापूर्ण वृत्ति के कारण है ।

यह कह कर इससे छुटकारा नहीं मिल सकता कि 'रोटी के टुकडों' की खोज में निकले नौजवानों के पास विद्याभ्यास को स्थिर रखने का या स्वाध्याय को बढाने का अवकाश या समय ही नहीं । परन्तु इसका वास्तविक कारण यह है कि हमारे हृदयों में ऐसा अभ्यास करने की प्रबल इच्छा ही कभी उत्पन्न नहीं हुई ।

दिन भर में २४ घण्टे होते हैं । इन में से ८ घंटे काम करने के और ८ घंटे सोने के निकाल देनेपर आठ घंटे शेष रहते हैं । यदि हम इनमें से सिर्फ दो घण्टे भी प्रतिदिन अपनी विद्या के बढाने में लगावें, तो बहुत लाभ हो सकता है । इमें अपने समय का विभाग अच्छे ढंग से करना चाहिये और प्रत्येक कार्य के लिये कुछ समय नियत कर लेना चाहिये । ऐसा करने से हमारे स्वाध्याय का कार्य ठीक ठीक चलने लग जावेगा । पहले पहल तो इस प्रकार नियमित स्वाध्याय बड़ा थकानेवाला, [illegible] तथा [illegible] लगेगा, पर धैर्य से कुछ काल इसे जारी रखने पर ये सब बाधायें दूर हो जावेगीं । स्वाध्याय में एक अननुभूत अनुपम रस आने लगेगा, जो कि अन्त में सुखदायक होगा ।

इन भौतिक आंख, नाक, कान आदि इन्द्रियों को सदा तृप्त करने से जो आनन्द उत्पन्न होता है मजा आता है, वह बिजली की चमक सा क्षणिक है । ये इंद्रियां अपने विषयों का भोग करके उनसे तृप्त नहीं होती; परंतु वे हमें अधिकाधिक भोग करने की ओर ही प्रवृत्त करती हैं । ' तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः । ' और इस तरहसे परिणाममें हमारी हानि होती है । 'आपातरम्या विषयाः पर्यंतपरितापिनः ।' किन्तु विद्याविनोद बडी अच्छी चीज है । इस से समय का सदुपयोग होता है, ज्ञान में वृद्धि होती है और परिणाम सुखदायक होता है । इससे आत्मा और समाज दोनों का भला होता है ।

[२] स्वाध्याय और उसकी महिमा ।

प्रत्येक मनुष्यको स्वाध्यायशील होना चाहिए, स्वाध्याय से निम्न लाभ होते हैं—

(१) साधारण ज्ञान की वृद्धि होती है और इस ज्ञानवृद्धि से मनुष्य से संकोच (तंगदिली) दूर होती है और उदारता तथा सहनशक्ति आती है ।

(२) चित्तकी वृत्तियां अन्य साधनोंके सहयोगसे ऐसी बनने लगती हैं कि फिर बुराई की ओर नहीं जा सकतीं ।

(३) स्वाध्याय ब्रह्मचर्य का साधक है ।

(४) नियमपूर्वक स्वाध्याय से मनुष्य अनेक भाषायें और विद्यायें सीख सकता है ।

(५) एक घंटे के दैनिक स्वाध्यायसे मनुष्य भली भांति किसी पुस्तक के २० पृष्ठ पढ सकता है, वर्ष भर में सात [illegible] १२ ग्रंथों का अध्ययन कर सकता है ।

(६) वरमौण्ट (अमेरिका) के एक मोची (Shoe-Maker) चार्लस सी० फ्रास्ट (Charles C. Frast) ने अपने पेशे के काम से प्रतिदिन एक घंटा बचा कर गणित

के अध्ययन में १० वर्ष तक लगाया । फल यह हुआ कि वह उच्च कोटि का गणितज्ञ हो गया ।

(७) योगदर्शन के भाष्य में महर्षि व्यास ने लिखा है-

स्वाध्यायाद् योगमासीत योगात्स्वाध्यायमामनेत्।
स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते ॥
(योग० व्यासभाष्य १।२७)

अर्थात्- स्वाध्याय से मनुष्य योग को धारण करे । योग से स्वाध्याय का मनन करे । दोनों (स्वाध्याय+योग) के पालन से परमात्मा (हृदय में) प्रकाशित होता है।

यथा यथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति ।
तथा तथा विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते ॥

ज्यों ज्यों पुरुष शास्त्र का अध्ययन करता है, त्यों त्यों उसका ज्ञान बढता जाता है और विज्ञान रुचिकर होता जाता है।

योगदर्शन के अनुसार "मोक्षशास्त्र वा आत्म-शास्त्र का मनन करना" स्वाध्याय कहाता है । स्वाध्याय से मनुष्य ज्ञानमार्ग की ओर बढता है । इस प्रकार निरंतर उद्योगपूर्वक स्वाध्याय से, विद्याभ्यास से या आत्म-चिंतन से मनुष्य को यथार्थ ज्ञान हो जाता है और इसके होते ही आपसे आप मुक्ति का द्वार खुल जाता है।

इस प्रकार स्वाध्याय के करने से सब इष्ट पदार्थ प्राप्त हो जाते हैं। स्वाध्याय बुद्धि को तीव्र और आत्मा को उज्ज्वल बनाता है । ईश्वर की असंख्य अद्भुत शक्तियां स्वाध्यायशील मनुष्य की एन अवसरपर सहायता करती हैं। इससे हम वर्तमान में बैठे हुए भी सर्ग के प्रारम्भ में जिन ऋषिमुनियोंने ज्ञान का दीपक जगा, प्रेय और श्रेय, या अभ्युदय और निःश्रेयस् का मार्ग मनुष्यजाति के लिये ढूंढ निकाला, उन भूत में वर्तमान व्यक्तियों से आनन्दमय सम्मिलन कर सकते हैं।

सर जॉन हर्शल नामक एक पाश्चात्य विद्वान् ने कहा है [illegible] के संयोगों में मेरे साथ [illegible] पूर्वक रहे, मेरे सारे जीवन में मेरे लिये सुख और आनन्द का झरना बनी रहे, जीवन के दुःखों में मेरी ढाल बन जाय और जिस समय मेरे खिलाफ हवा चले तथा लोग मुझे धिक्कार दे रहे हों, उस समय मुझे बेपरवाह बना दे; इस प्रकार की रुचि बना देनेको यदि ईश्वर से प्रार्थना करने का मुझे मौका मिले, तो मैं निवेदन करूं कि प्रभो ! मुझे (उत्तम उत्तम) ग्रन्थों को पढते रहने की रुचि दीजिये ।"

यथार्थ ज्ञान हमें इस बात का पात्र बनाता है कि हम संसार के लिये अधिक से अधिक उपयोगी हों, जीवन की सार्थकता को समझते हों— महान् हों। समर्थ लेखक मिल ने लिखा है कि- "यदि हम अपना सादा जीवन भोगविलास की सामग्रियों को इकट्ठा करने में, या सामाजिक नसेनी की एक दो सीढियों के चढने में ही व्यतीत कर दें, तो समझना पडेगा कि हमारा यह मानवजीवन तुच्छ और निकम्मा है।" मिल सलाह देता है कि "तरुणों को अपनी दृष्टि अंतिम लक्ष्यपर रखनी चाहिये और उसे प्राप्त करने के यत्न में रहना चाहिये । इसीसे उनके विद्याभ्यास का मोल होगा और वे इष्टानिष्ट के संग्राम में विशेष विजयी योद्धा बनेंगे।"

यदि हम महापुरुषों के जीवन पढें, तो स्पष्ट हो जाता है कि गरीबी या काम की अधिकता उनके स्वाध्याय, ज्ञानवर्धन में कभी बाधक सिद्ध नहीं हुई।

[३] स्वाध्याय किन ग्रंथों का करना चाहिये।

(क)

अब प्रश्न यह है कि अभ्यास किस वस्तु का करना चाहिये । हमारा कहना है कि वकील और वैद्यादि भिन्न भिन्न पेशे के व्यक्ति तदनुसार अपने अपने कामसम्बन्धी ग्रन्थों के विचार करने में अपना समय अच्छी प्रकार से व्यतीत कर सकते हैं। परन्तु इनमें से भी बहुत सारे अपनी अपनी रुचि के अनुसार दर्शन, इतिहास, विज्ञान, साहित्य या ज्ञान के किसी अन्य शाखारूप विषय में प्रवीणता प्राप्त कर सकते हैं । प्रत्येक व्यक्ति को उसी विषय के ज्ञानवर्धन का प्रयत्न करना चाहिये, जिसमें उसकी अत्यन्त रुचि हो। वैसे तो किसी भी प्रकार के [illegible] की सीमा है ही नहीं। जितनी दूर तक दृष्टि दौडती है, दौडा देखिये ।

(ख)

प्रत्येक विद्या के इच्छुक-पढनेवाले का ध्यान हम इस विषय की ओर भी आकर्षित कराना चाहते हैं, कि वह

इस बात का भी विचार करें कि पहले हमारा देश किस हालत में था और अब उसकी क्या हालत है? यदि पहले से भी अधिक उन्नत हो गया है, तो इस उन्नति को स्थिर रखने तथा उसे और भी अधिक समृद्ध करने का विचार करे। और यदि हमारा देश अवनत हो गया है, तो सोचे कि, इसका क्या कारण है? हमारा देश पहले इतना उन्नत क्यों था? अब इसको कैसे उन्नत किया जा सकता है? इस प्रकार का ज्ञान देनेवाले साहित्य के विचार से हमें अपनी भौतिक दशा को उन्नत करने में बड़ी सहायता मिलेगी।

(ग)

इसके सिवा ऐसा कौन मनुष्य है, जिसे सृष्टि की आश्चर्यकारक रचना, प्रकृति के विलक्षण चमत्कार आदि विषयों पर लिखी हुई स्वदेशी और विदेशी भाषा की पुस्तकें पढने का अनुराग न हो। इस जगत् की रचना क्यों की गई और हमारा उसके प्रति क्या कर्तव्य है, यह जानना भी तो जीवन के कार्यों में से एक जरुरी कार्य है- जीवन के कार्यक्रम का आवश्यकतम भाग है।

इस प्रकार का ज्ञान देनेवाले साहित्य के विचार से हमारी मानसिक शक्ति का बहुत विकास होगा। इसके लिये हमें चाहिए कि हम अपनी धार्मिक प्रवृत्ति को तेजस्विनी बनाकर श्रवण, मनन, निदिध्यासन के द्वारा इस आध्यात्मिक तत्त्व की खोज करें।

(घ)

वेदों के मन्त्र जिनमें आत्मा और परमात्मासम्बन्धी इह तथा परलोकसम्बन्धी विषय हैं; उपनिषद्, योग तथा वेदान्तदर्शन, रामायण, महाभारत, गीतादि ये सब ग्रन्थ विशेष रूप से स्वाध्याय के लिये उपयोगी ग्रन्थ हैं।

इसके अतिरिक्त एतद्देशीय तथा विदेशीय विद्वानों द्वारा रचित उत्तमोत्तम ग्रन्थों का स्वाध्याय करना भी अत्यन्त श्रेयस्कर है।

वैदिक [illegible] प्रश्न [illegible] को [illegible] जिसे उपनिषदों का आदि स्रोत और ईशोपनिषद् भी कहते हैं, यहां अंकित किया जाता है- इसके स्वाध्याय से वेद और उपनिषद् दोनों के स्वाध्याय का फल मिलेगा, इसके सिवाय ऋषि दयानन्दकृत 'सत्यार्थ-प्रकाश' (आदि के १० समुल्लास), ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका, संस्कारविधि, आर्याभिविनय और गो-करुणानिधि आदि ग्रन्थों तथा अन्य ग्रंथों का भी, जिनसे अभ्युदय और निःश्रेयस् (लोक परलोक) की सिद्धि हो, स्वाध्याय करना चाहिए।

ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥१॥

यह सब जो कुछ पृथिवी पर चराचर वस्तु है, ईश्वर से आच्छादन करनेयोग्य अर्थात् आच्छादित है। उसी ईश्वर के दिये हुए पदार्थों से भोगकर, किसी के भी धन का लालच मत कर।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥२॥

यहां कर्मों को करता हुआ ही सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करे, इस प्रकार तुझ मनुष्य में कर्म नहीं लिप्त होता, इस से भिन्न और कोई मार्ग नहीं है।

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
ताँस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥३॥

जो कोई आत्मा के घातक (आत्मा के विरुद्ध आचरण करनेवाले) मनुष्य हैं, वे मरकर अंधेरे से आच्छादित हुए, प्रकाशरहित नामवाले जो लोग हैं, उनको प्राप्त होते हैं।

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्
पूर्वमर्शत्। तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मि-
न्नपो मातरिश्वा दधाति॥४॥

वह ब्रह्म अचल, एक और मन से अधिक वेगवाला है, क्योंकि सब जगह पहिले से पहुंचा हुआ है, उसी ब्रह्मको इंद्रियां वहीं प्राप्त कर सकती अर्थात् वह इंद्रियों से, उन इंद्रियों का विषय न होने के कारण, प्राप्त नहीं होता। वह अचल होने पर भी, दौडते हुए अन्योंका उल्लंघन किये हुए हैं। उसके भीतर वायु जलों को, मेघादि रूप में, धारण करता है।

[illegible]

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥५॥

वह ब्रह्म गति देता है, परंतु स्वयं गति में नहीं आता, वह समीप भी है, वह इस सब के अंदर और बाहर भी है।

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न वि चिकित्सति ॥६॥

जो कोई सम्पूर्ण चराचर जगत् को परमेश्वर में ही देखता है और सम्पूर्ण चराचर जगत् में परमेश्वर को देखता है, इससे वह निन्दित नहीं होता।

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः ॥७॥

जिस अवस्था मे विशेष ज्ञानी (योगी) की दृष्टि में सम्पूर्ण चराचर जगत् परमात्मा ही हो जाता है, उस अवस्था में ऐसे एकत्व को देखनेवाले को, कहां मोह और कहां शोक?

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धम-
पापविद्धम् । कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथा-
तथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥८॥

वह ईश्वर सर्वव्यापक है, जगदुत्पादक, शरीररहित, शारीरिक विकाररहित; नाड़ी और नस के बन्धन से रहित, पवित्र, पाप से रहित, सूक्ष्मदर्शी, ज्ञानी, सर्वोपरि वर्तमान, स्वयंसिद्ध, अनादि, प्रजा जीव के लिये ठीक ठीक कर्म का विधान करता है।

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाꣳरताः ॥९॥

जो कर्म का, ज्ञान की उपेक्षा करके सेवन करते हैं, गहरे अंधःकार में प्रवेश करते हैं और जो कर्म की उपेक्षा करके, केवल ज्ञान में रहते हैं, वे उससे भी अधिक अंधकार को प्राप्त होते हैं।

अन्यदेवाहुर्विद्याया अन्यदाहुरविद्यायाः ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१०॥

ज्ञान का और ही फल कहते हैं और कर्म का और ही फल कहते हैं। ऐसा हम धीर पुरुषों का वचन सुनते हैं। जो हमारे लिये उन वचनों का उपदेश करते हैं।

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयꣳ सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥११॥

जो ज्ञान और कर्म इन दोनों को साथ ही साथ जानता है, वह कर्म से मृत्यु को तैर कर ज्ञान से अमरता को प्राप्त होता है।

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याꣳरताः ॥१२॥

जो, कारण प्रकृति के कारण शरीर को, अन्य शरीरों की उपेक्षा करके सेवन करते हैं वे गहरे अंधकार में प्रवेश करते हैं और जो कार्य प्रकृति (सूक्ष्म) शरीर, स्थूल शरीर में, कारण शरीर की उपेक्षा करके, रमते हैं वे उससे भी अधिक अंधकार को प्राप्त होते हैं।

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात् ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचक्षिरे ॥१३॥

कार्य प्रकृति (सूक्ष्म + स्थूल शरीर) से और ही फल कहते हैं और कारण प्रकृति अर्थात् कारण शरीर से और ही फल कहते हैं; इस प्रकार धीर पुरुषों का वचन हम सुनते हैं जो हमारे लिये उन वचनों का उपदेश कर गये हैं।

सम्भूतिं च विनाशंच यस्तद्वेदोभयꣳ सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा संभूत्यामृतमश्नुते ॥१४॥

जो कोई कार्यरूप प्रकृति (सूक्ष्म+स्थूल शरीर) और कारणरूप प्रकृति (कारण शरीर) उन दोनों को साथ साथ जानता है, वह कारण शरीर से मृत्यु को तैर कर कार्य शरीर से अमरता को प्राप्त होता है।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥१५॥

सत्य का मुख स्वर्ण के पात्र से ढका हुआ है। हे पूषन्! उस सत्य धर्म के दिखाई देने के लिये तू उस आवरण को हटा दे।

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन्
समूह । तेजो यत्ते रूपङ्कल्याणतमन्तत्ते
पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥१६॥

हे सर्वपोषक, अद्वितीय, न्यायकारी, प्रकाशस्वरूप प्रजापते! ताप (दुःखप्रद किरणों) को दूर कर और (सुखप्रद) तेज को प्राप्त कर। जो अत्यंत मंगलमय रूप है, मैं आप के उस रूप का देखता हूं, [illegible] जो वह पुरुष है वह मैं हूँ।

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳ शरीरम् ।
ओ३म् क्रतो स्मर क्लिबे स्मर कृतꣳ स्मर ॥१७॥

शरीर में आने जाने वाला जीव अमर है। केवल यह शरीर भस्मपर्यंत है इसलिये अन्त समय में हे जीव ! 'ओ३म्' का स्मरण कर, बलप्राप्ति के लिये स्मरण कर और अपने किये हुए का स्मरण कर।

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्। युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठांते नम उक्तिं विधेम ॥१८॥

हे प्रकाशस्वरूप, तेजस्वी ईश्वर ! ऐश्वर्यप्राप्ति के लिये अच्छे मार्ग से हमको चलाइये। आप हमारे सम्पूर्ण कर्मों को जानते हैं। हमको उलटे मार्ग पर चलने रूप पाप से बचाइये, इसलिये आपको हम बार बार नमस्कार करते हैं।

(ङ)

स्वाध्याय का यह अभिप्राय कभी भी नहीं लेना चाहिये कि आध्यात्मिक विषयों का ज्ञानसंग्रह। किसी भी विषय का अभ्यास स्वाध्याय है, पर वह उपयोगी होना चाहिये। ऐसे ही कई विषयों की ओर मैं पाठकों का ध्यान आकर्षिक करना चाहता हूँ।

(१) भिन्न भिन्न भाषाओं का ज्ञान।

संसार में न जाने कितनी भाषायें। भिन्न भिन्न भाषाओं का अध्ययन भी एक बडा दिलचस्प विषय है। प्रतिदिन यदि एक एक घण्टा भी किसी भाषा के सीखने में दिया जावे तो एक वर्ष में उसको पढने, समझने तथा अपने भाव व्यक्त करने का समुचित ज्ञान हो जाता है।

(२) यात्रा तथा साहससम्बधी साहित्य का परिशीलन

यह प्रकृति नाना सौंदर्यों से सजी है; इस में न जाने कितनी विचित्रतायें भरी पडी हैं, इस में न जाने कितने रंगबिरंगे चित्र हैं, इनका परिज्ञान यात्रा विषयक तथा साहससम्बन्धी साहित्य के अध्ययन से ही हो सकती है।

(३) चित्रकला।

इस में भी मनुष्य अपने समय का अत्यंत सदुपयोग कर सकता है। मैं तो इसे भी स्वाध्याय का एक आवश्यक भाग समझता हूँ। इस में भी मनुष्य को मनुष्य के भावपरिज्ञान--विषय के विकासज्ञान का उत्तम अवसर हस्तगत होता है।

सप्तम अध्याय।

[क] पांच महायज्ञ।

प्रत्येक मनुष्य के लिये दिन में पांच यज्ञ=दैनिक परोपकार के कृत्य करने आवश्यक है। इस विषयपर ऋषि दयानन्द ने एक ग्रन्थ 'पंचमहायज्ञविधि' नामक लिखा है। इन पांचों का मनुस्मृति में वर्णन किया गया है;उनके नाम निम्न हैं-

(क) + ब्रह्मयज्ञ = अध्ययन-अध्यापन
पितृयज्ञ = तर्पण (श्राद्धादि)
देवयज्ञ (दैवः) = होम
भूतयज्ञ = भूतबलि, मनुष्येतर प्राणियों को अन्नदान
नृयज्ञ× =अतिथिपूजन (अतिथियज्ञ)

(ख)✻ अहुत = जप		ब्रह्मयज्ञ
हुत = होम		देवयज्ञ
प्रहुत = भूत बलि		भूतयज्ञ ❀
ब्राह्महुत × =ब्राह्मण की पूजा		अतिथियज्ञ
प्राशित = नित्यश्राद्ध		पितृयज्ञ

+ अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः, पितृयज्ञस्तु तर्पणम्। होमो दैवो, बलिर्भौतो, नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥
(अ० ३। श्लो० ७०)

✻ अहुतं च हुतं चैव, तथा प्र[illegible] ब्राह्मं हुतं प्राशितं च, पंचयज्ञान्प्रचक्षते ॥
[illegible]ऽहुतो हुतो होमः, प्रहुतो भौतिको बलिः। ब्राह्मं हुतं [illegible]शितं पितृतर्पणम् ॥
(अ० ३।७३-७४)

× इन दोनों को 'अतिथियज्ञ' नाम दे सकते हैं। प्राचीन काल में सत्य-धर्म के प्रचारक ब्राह्मण ही अतिथि हुआ करते थे।
❀ इसका प्रचलित नाम बलिवैश्वदेव यज्ञ है।

(ग) इस प्रकार ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, बलिवैश्वदेवयज्ञ और अतिथियज्ञ ये पांच नाम हुए।

[ख] उनकी व्याख्या तथा विधि।

(१-२) ब्रह्मयज्ञ तथा देवयज्ञ।

इन दोनों का विशेष व्याख्यान विस्तार से गत अध्यायों में किया जा चुका है।

(३) बलिवैश्वदेव यज्ञ (भूतयज्ञ)

(क) उसके लिये भोजन

यदन्नं पक्वमक्षारलवणं भोजनार्थं भवेत्तेनव बलिवैश्वदेवकर्म कार्यम्।

खाने के लिये जो अक्षारलवणान्न पकाया गया हो उसी से यह कर्म करना चाहिये।

(ख) यह कर्म किनके लिये किया जावे ?

शुनां च पतितानां च, श्वपचैः पापरोगिणाम्।
वायसानां कृमीणां च, शनकैर्निर्वपेद् भुवि॥

कुत्तों (आदि पशुओं); पतितों (समाजबहिष्कृत) या कंगालों; भंगी आदि चाण्डाल; कुष्ठि आदि रोगियों; काक आदि पक्षियों तथा (अन्य चींटी आदि) कृमी कीट के लिये...प्रतिदिन बलिवैश्वदेवयज्ञ करना चाहिये।

[ग] बलिवैश्वदेव यज्ञप्रमाण।

ओम्। अहरहर्बलिमित्ते हरन्तोऽश्वायेव तिष्ठते घासमग्ने॥ रायस्पोषेण समिषा मदन्तो मा ते अग्नेः प्रतिवेशा रिषाम॥

(अथर्व० वे० कां० १९। सू० ५५। मं० ६, २)

पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनसा धियः।
पुनन्तु विश्वा भूतानि जातवेदः पुनीहि मा॥

(यजु० १९।३९)

हे (अग्ने) अग्निस्वरूप परमेश्वर। (इव) जिस प्रकार (समिषा) सम्यग् शुद्ध इच्छा से (अश्वाय घासं तिष्ठते) घोड़े के सामने बहुत से खाने व पीने के [घास-तृणादि] पदार्थ रखे जाते हैं, वैसे ही शुभ इच्छा से आपकी आज्ञानुसार (अहरहः) नित्यप्रति (बलिं इत् हरन्तः) बलिवैश्वदेव कर्म को प्राप्त होते हुए (रायस्पोषेण) चक्रवर्ती राज्यलक्ष्मी और घृत दुग्धादि पुष्टिकारक पदार्थों से (मदन्तः) नित्य आनन्दोपभोग करते हुए [रहें]। हे परम गुरो! अग्ने परमेश्वर! (ते) आप तथा आपकी आज्ञा के विरुद्ध व्यवहारों में (मा प्रतिवेश) हम कभी प्रवेश न करें [अर्थात् आपके विरुद्ध कभी भी न चलें] और (मा रिषाम) अन्याय से किसी भी प्राणी को पीडा न पहुंचावें (किन्तु सबको अपना मित्र और अपने को सब का मित्र समझ कर परस्पर हित करते रहें।)

.......(मा) मेरे गृहस्थाश्रम (विश्वा भूतानि संसार के समस्त प्राणी (पुनन्तु) पवित्र करें।......

[घ] पूर्वोक्त ६ प्राणियों के लिये निम्न लिखित ६ मन्त्रों से ६ बलि भूमि पर धरें।

ओं श्वभ्यो नमः।
ओं पतितेभ्यो नमः।
ओं श्वपचेभ्यो नमः।
ओं पापरोगिभ्यो नमः।
ओं वायसेभ्यो नमः।
ओं कृमिभ्यो नमः। +

[ङ] होम-मंत्र।

भोजन बनने पर घृत और मिष्टान्नमिश्रित भात, यदि भात न बना हो तो खारी और लवणान्न को छोड कर जो कुछ ग्रास के समान हो, आगे लिखे दस मन्त्रों से अग्नि में डालें, जो चूल्हे से निकाल कर अलग रक्खी हो।

ओं अग्नये स्वाहा। ओं सोमाय स्वाहा। ओमग्नीषोमाभ्यां स्वाहा। ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा। ओं धन्वन्तरये स्वाहा। ओं कुह्वै स्वाहा। ओं अनुमत्यै स्वाहा। ओं प्रजापतये स्वाहा। ओं सह द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा। ओं स्विष्टकृते स्वाहा॥

१. अग्निस्वरूप परमेश्वर के लिये यह आहुति है।

२. जो सब पदार्थों को उत्पन्न और पुष्ट करने से संसार को सुख देने हारा है या शांतिस्वरूप है उस०।

+ नमः = अन्न = भोजन

५

३. प्राणापान = अग्निषोम । जो प्राण सब प्राणियों के जीवन का हेतु और अपान अर्थात् दुःख के नाश का हेतु है उस रूप परमेश्वर० ।

४. संसार को प्रकाश देनेवाले परमेश्वर के गुण अथवा विद्वान् लोगों के लिये अथवा संसार को जीवन देनेवाली प्रकृति की समस्त प्राकृतिक शक्तियों के लिये० ।

५. जो जन्ममरणादि तथा अन्य रोगों का नाश करनेवाला प्रभु है०... ।

६. अमावस्या के यज्ञपति के निमित्त यह०

७. जो पौर्णमास्येष्टि व सर्वशास्त्रप्रतिपादित परमेश्वर की चित् शक्ति है उसके० ।

८. जो सब जगत् का स्वामी जगदीश्वर = प्रजापति है, उस० ।

९. यह प्रयोग पृथिवी का राज्य और सत्य विद्या के प्रकाश के लिये है । इन दोनों के दाता के लिये०; अथवा सूर्यादि प्रकाशमान् और पृथिवी आदि प्रकाशरहित लोकों के साथ जो ईश्वर सदा वर्तमान होकर उनको धारण कर रहा है, उस के लिये० ।

१०. इष्ट सुख के दाता परमेश्वर के नामपर यह आहुति दी जाती है ।

[च] बलिके सोलह मन्त्र।

तत्पश्चात् निम्नलिखित सोलह मन्त्रों से सोलह दिशाओं आदि के लिये सोलह बलि पत्तलपर अथवा थाली में धरे। यदि बलि करते समय कोई अतिथि आजावे तो उसीको दे देनी चाहिये ।

ओं सानुगायेन्द्राय नमः । ओं सानुगाय वरुणाय नमः । ओं सानुगाय सोमाय नमः । ओं मरुद्भ्यो नमः । ओं अद्भ्यो नमः । ओं वनस्पतिभ्यो नमः । ओं श्रियै नमः । ओं भद्रकाल्यै नमः । ओं ब्रह्मपतये नमः । ओं वास्तुपतये नमः । ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यो नमः । ओं दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यो नमः । ओं नक्तंचारिभ्यो भूतेभ्यो नमः । ओं सर्वात्मभूतये नमः । ओं पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः ॥

भावार्थ- (ओं सा०) जो सर्वैश्वर्ययुक्त परमेश्वर और जो उसके गुण हैं, वे 'सानुग इन्द्र' शब्द से ग्रहण होते हैं । (ओं सा०) जो सत्य न्याय करने वाला ईश्वर और उसकी सृष्टि में सत्य न्याय के करनेवाले सभासद हैं वे ' सानुग इन्द्र ' शब्द में ग्रहण होते हैं। (ओं सा०) जो सबसे उत्तम परमात्मा और उसके धार्मिक भक्त हैं वे 'सानुग वरुण' शब्दार्थ से जानने चाहियें । (ओं सा०) जो पुण्यात्माओं को आनन्दित करनेवाला और जो पुण्यात्मा लोग हैं वे 'सानुग सोम' शब्द से ग्रहण किये हैं। (ओं मरुत्) जो प्राण अर्थात् जिनके रहने से जीवन और निकलने से मरण होता है, उनको 'मरुत्' कहते हैं । इनकी रक्षा अवश्य करनी चाहिए । (ओं अद्भ्यो०) इसका अर्थ (शन्नो देवी०) इस मन्त्र के अर्थ में लिखा है । (ओं व०) जिनसे वर्षा अधिक होती और जिनके फलादि से जगत् का उपकार होता है उनकी भी रक्षा करनी योग्य है। (ओं श्रि०) जो सबके सेवा करने योग्य परमात्मा है उसकी सेवा से राज्यश्री की प्राप्ति के लिये सदा उद्योग करना चाहिये। (ओं भद्र०) जो कल्याण करनेवाली परमात्मा की शक्ति अर्थात् सामर्थ्य है उसका सदा आश्रय करना चाहिये। (ओं ब्र०) जो वेद का स्वामी ईश्वर है उसकी प्रार्थना और उद्योग विद्याप्रचार के लिये अवश्य करना चाहिए। जो (ओं वा०) वास्तुपति, गृहसम्बन्धी पदार्थों का पालन करने हारा मनुष्य अथवा ईश्वर है इनका सहाय सर्वत्र होना चाहिये ।

(ओं विश्वे०) इसका अर्थ कह दिया है। (ओं दिवा०) जो दिन में विचरनेवाले प्राणियों से उपकार लेना और उनको सुख देना है सो मनुष्य-जाति ही का काम है। (ओं नक्तं०) जो रात्रि में विचरनेवाले प्राणी हैं इनसे भी उपकार लेता और उन्हें सुख देता है इसलिये यह प्रयोग है । (ओं सर्वात्म०) सब व्याप्त परमेश्वर की सत्ता को ध्यान में रखना चाहिए । (ओं पि०) माता, पिता, आचार्य, अतिथि, पुत्र, भृत्यादिकों को भोजन कराके पश्चात् गृहस्थ को भोजन करना चाहिये । 'स्वाहा' शब्दका

अर्थ पूर्व कर दिया है और 'नमः' शब्द का अर्थ आप अभिमानरहित होकर दूसरे का मान करना है।

दूसरा अर्थ।

(१) इन्द्ररूप ईश्वर के अनुयायी ऐश्वर्ययुक्त पुरुषों को नमस्कार हो या उनके लिये (मेरी ओर से श्रद्धापूर्वक) यह अन्न हो।

(२) यमरूप ईश्वर के अनुयायी सांसारिक न्यायाधीशों को०।

(३) वरुण नामवाले ईश्वर के अनुयायी संसारमें चुने (वृत) ईश्वरभक्तों को ०।

(४) सोम नाम० ... शान्तिस्थापक सुख, देनेवालों को०; या सुखदुःख, मानापमान, जयाजय, हानिलाभ में शान्त=सम रहनेवाले या सौम्य स्वभावयुक्त पुण्यात्माओं को०।

(५) मरुद्=क्षत्रिय। इनके रक्षक वीरों को०। या प्राणपति ईश्वर को०

(६) जल की तरह जाति में जीवनसंचार करनेवालों या सर्वव्यापक ईश्वर को०।

(७) वनस्पतियोंके स्वामी (कृषको या परमेश्वर) को०।

(८) पूजनीय धनैश्वर्ययुक्त (वैश्य या प्रभु को०।

(९) कल्याणकारक शक्ति को नमस्कार हो।

(१०) वेदके स्वामी प्रभु को, ब्रह्म को नमस्कार हो।

(११) संसार की निर्माणशक्ति को नमस्कार हो।

(१२) [अर्थ हो चुका है।]

(१३) दिन में विचरने वाले प्राणियों का सत्कार हो, उनके लिये अन्न हो।

(१४) रात्रि में०।

(१५) सर्वात्मभूत, सर्वव्यापक को नमस्कार हो।

(१६) ज्ञानियों और स्वधाहविदान के अधिकारियों को नमस्कार हो, उनको अन्नदान हो।

[४] पितृ-तर्पण ...

पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनसा धियः।
पुनन्तु विश्वा भूतानि जातवेदः पुनीहि मा॥

(य० अ० १९। मं० ३९)

द्वयं वाऽइदं न तृतीयमस्ति। सत्यं चैवानृतं च सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्या इदमहमनृतात्सत्य-मुपैमीति तन्मनुष्येभ्यो देवानुपैति॥

स वै सत्यमेव वदेत्। एतद्धि वै देवा व्रतं चरन्ति यत्सत्यं तस्मात्ते यशो यशो ह भवति य एवं विद्वान् सत्यं वदति।

(शत० कां० १। अ० १। ब्रा० १। कं० ४।६)

विद्वांसो हि देवाः॥

(शत० कां० ३। अ० ७। ब्रा० ६। कं० १०)

भावार्थ- अब तीसरा पितृयज्ञ कहते हैं। उसके दो भेद हैं- एक तर्पण, दूसरा श्राद्ध। तर्पण उसे कहते हैं जिस कर्म से विद्वान्रूप देव, ऋषि और पितरों को सुखयुक्त करते हैं। उसी प्रकार जो उन लोगों का श्रद्धा से सेवन करना है सो श्राद्ध कहाता है। यह तर्पण आदि कर्म विद्यमान अर्थात् जो प्रत्यक्ष हैं उन्हीं में घटता है, मृतकों में नहीं। क्योंकि उनकी प्राप्ति और उनका प्रत्यक्ष होना दुर्लभ है। इसी से उनकी सेवा भी किसी प्रकार से नहीं हो सकती। किन्तु जो उनका नाम लेकर देवें वह पदार्थ उनको कभी नहीं मिल सकता इसलिये मृतकोंको सुख पहुंचाना सर्वथा असम्भव है।

इसी कारण विद्यमानों के अभिप्राय से तर्पण और श्राद्ध वेद में कहा है। सेवा करने योग्य और सेवक अर्थात् सेवा करनेवाले इनके प्रत्यक्ष होने पर यह सब काम हो सकता है। तर्पण आदि कर्म से सत्कार करने योग्य तीन हैं, देव, ऋषि और पितर। उनमें से देवों में प्रमाण- (पुनन्तु०) हे जातवेदः! परमेश्वर आप सब प्रकार से मुझे पवित्र करें। जिनका चित्त आप में है तथा जो आप की आज्ञा पालते हैं वे विद्वान् श्रेष्ठ ज्ञानी पुरुष भी विद्या दान से मुझको पवित्र करें। उसी प्रकार आप का दिया जो ज्ञान व आपके विषय का ध्यान उससे हमारी बुद्धि पवित्र हो (पुनन्तु विश्वा भूतानि) और संसार के सब जीव आपकी कृपा से पवित्र और ... । (द्वयं वा०) दो लक्षणों से मनुष्यों की दो संज्ञा होती हैं, अर्थात् देव और मनु- वहाँ सत्य और झूठ दो कारण हैं (सत्यमेव०) जो सत्य बोलने, सत्य मानने और सत्य कर्म करनेवाले हैं वे 'देव' हैं और वैसे ही झूठ बोलने, झूठ मानने और

झूंठ कर्म करनेवाले मनुष्य कहाते हैं। जो झूंठ से अलग होके सत्यको प्राप्त होवें वे देववर्ग में गिने जाते हैं। और जो सत्य से अलग होके झूंठ को प्राप्त हों वे मनुष्य असुर और राक्षस कहे हैं, इससे सब काल में सत्य ही कहे, माने और करे। सत्य व्रतका आचरण करनेवाला मनुष्य यशस्वियों में यशस्वी होने से देव और उससे उलटे कर्म करनेवाला असुर होता है। इस कारण से यहां विद्वान् ही देव हैं।

अथर्षिप्रमाणम् ।

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः ।
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये ॥

(यजु० अ० ३१। मं ९)

अथ यदेवानुब्रुवीत । तेनर्षिभ्य ऋणं जायते तदेतेभ्य एतत्करोत्यृषीणां निधिगोपा इति ह्यनूचानमाहुः ॥ (शत० कां० १। अ० ४। कं० ३) अथार्षेयं प्रवृणीते। ऋषिभ्यश्च वनमेतद्देवेभ्यश्च निवेदयत्ययं महावीर्यो यो यज्ञं प्रापदिति तस्मादार्षेयं प्रवृणीते ॥

(शत० कां० १। प्रपा० ३। अ० ४। कं० ३)

भाषार्थ- जो सब से प्रथम प्रकट था, जो सब जगत् का बनाने वाला और जगत् में पूर्ण हो रहा है, उस यज्ञ अर्थात् पूजने योग्य परमेश्वर का हृदयरूप आकाश में अच्छे प्रकार से प्रेम, भक्ति, सत्य आचरण करके पूजन करता है वही मनुष्य है। ईश्वर का यह उपदेश सबके लिये है। उसी परमेश्वर के वेदोक्त उपदेशों से जो विद्वान्, ज्ञानी व ऋषि लोग वेदमंत्रों के अर्थ जानने वाले और अन्य भी जो मनुष्य परमेश्वर के सत्कारपूर्वक सब अच्छे ही काम करते हैं वे सुखी होते हैं।

अब इसके बाद सब विद्याओंको पढके जो पढाना है वह 'ऋषिकर्म' कहाता है और उसके पढने और पढाने से ऋषियों का ऋण अर्थात् उनको उत्तम उत्तम पदार्थ देने से निवृत्त होता है और जो उन ऋषियोंकी सेवा करता है वह उनको सुख करनेवाला होता है। (निधिगोपाः) यही [illegible] विद्या-कोष की रक्षा करनेवाला होता है। जो सब विद्याओंको जानके सबको पढाता है उसको 'ऋषि' कहते हैं (अथार्षेयं प्रवृणीते०) जो पढके पढाने के लिये विद्यार्थी का स्वीकार करता है सो 'अर्षेय' अर्थात् ऋषियों का कर्म कहाता है। जो उस कर्म को करते हैं इन ऋषियों और देवों के लिये प्रसन्न करनेवाले पदार्थों का निवेदन तथा सेवा करता है वह विद्वान् अति पराक्रमी हो के विशेष ज्ञान को प्राप्त होता है। जो विद्वान् और विद्या को ग्रहण करनेवाला है उसका 'ऋषि' नाम होता है, इस कारण इस आर्षेय कर्म को सब मनुष्य स्वीकार करें।

अथ पितृषु प्रमाणम् ।

ऊर्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः किलालं परिस्रुतम् ।
स्वधा स्थ तर्पयत मे पितॄन् ॥

(यजु० अ० २। मं० ३४)

भाषार्थ- (ऊर्जं वहन्ती०) पिता व स्वामी अपने पुत्र, पौत्र, स्त्री वा नौकरों को सब दिन के लिये आज्ञा दे के कहे कि (तर्पयत मे पितॄन्) जो पिता पितामह आदि, माता मातामह आदि तथा आचार्य और इनसे भिन्न भी विद्वान् लोग अवस्था अथवा ज्ञान से वृद्ध मान करके योग्य हों उन सब के आत्माओं को यथायोग्य सेवा से प्रसन्न किया करो। सेवा करने के पदार्थ ये हैं। (ऊर्जं वहन्ती०) जो उत्तम उत्तम जल (अमृतम्) अनेक विध रस (घृतं) घी (पयः) दूध (कीलालं) अनेक संस्कारों से सिद्ध किये, रोगनाश करने वाले उत्तम उत्तम अन्न (परिस्रुतम्) सब प्रकार के उत्तम उत्तम फल हैं इन सब पदार्थों से उनकी सेवा सदा करते रहो जिससे उनका आत्मा प्रसन्न होके तुम लोगों को आशीर्वाद देता रहे, कि जिससे तुम लोग भी सदा प्रसन्न रहो। (स्वधास्थ०) हे पूर्वोक्त पितर लोगो! तुम सब हमारे अमृतरूप पदार्थों के भोगों से सदा सुखी रहो। और जिस जिस पदार्थ की तुमको अपने लिये इच्छा हो जो जो हम लोग कर सकें उस उस की आज्ञा सदा करते रहो। हम लोग मन वचन से तुम्हारे सुख करने में स्थित हैं। तुम लोग किसी प्रकारका दुःख मत् पाओ। जैसा तुम लोगों ने बाल्यावस्था और ब्रह्मचर्याश्रम में हम लोगों को सुख दिया है वैसे हमको भी आप लोगों का प्रत्युपकार करना अवश्य चाहिये, जिस से हमको कृतघ्नता दोष न प्राप्त हो।

अथ पितृणां परिगणनम् ।

येषां पितृसंज्ञा ये सेवितुं योग्याश्च ते क्रमशो लिख्यन्ते। सोमसदः। अग्निष्वात्ताः। बर्हिषदः।

सोमपाः । हविर्भुजः । आज्यपाः । सुकालिनः । यमराजाश्चेति ।

भावार्थ- जो ईश्वर सोमयज्ञ में निपुण और शान्ति-दमादि गुणसहित हैं वे 'सोमसद्' कहाते हैं । (अग्नि०) अग्नि जो परमेश्वर वा भौतिक उनके गुण-ज्ञान करके जिन्होंने अच्छे प्रकार अग्निविद्या सिद्ध की है उनको 'अग्निष्वात्त' कहते हैं । (बर्हिदः) जो सब से उत्तम परब्रह्म में स्थिर होके शम, दम, सत्य, विद्यादि उत्तम गुणों में वर्तमान हैं उनको 'बर्हिषद्' कहते हैं । (सोमपाः) जो यज्ञ करके सोम-लता आदि उत्तम ओषधियों के रस के पान करने और कराने वाले हैं । तथा जो सोमविद्या को जानते हैं उनको 'सोमपा कहते हैं । (हविर्भुजः) जो अग्निहोत्रादि यज्ञ करके वायु और वृष्टि जल की शुद्धि द्वारा सब जगत् का उपकार करते और जो अन्न-जलादि को शुद्ध करने खाने पीने वाले हैं उनको 'हविर्भुज्' कहते हैं । (आज्यपाः) घृत, स्निग्ध पदार्थ और विज्ञान को 'आज्य' कहते हैं । जो उसके दान से रक्षा करनेवाले हैं, उनको 'आज्यपा' कहते हैं । (सुकालिनः) मनुष्य-शरीर को प्राप्त होकर ईश्वर और सत्यविद्याके ग्रहण और सदा उपदेश में ही जिनका श्रेष्ठ समय वर्तमान है, उनको 'सुकालिन्' कहते हैं । (यम०) जो पक्षपात को छोड के सदा सत्य व्यवस्था, न्याय ही करने में रहते हैं उनको 'यमराज' कहते हैं ।

पितृपितामहप्रपितामहाः । मातृपितामही-प्रपितामह्यः सगोत्राः सम्बन्धिनः ॥

जो वीर्य के निषेकादि कर्मों को करके उत्पत्ति और पालन करे और चौबीस वर्षपर्यंत ब्रह्मचर्य-आश्रम से विद्या को पढे उसका नाम 'पिता' और 'वसु' है । (पिता०) जो पिता का पिता हो और चालीस वर्षपर्यंत ब्रह्मचर्य-आश्रम से विद्या पढ के सब जगत् का उपकार करता हो उसको 'प्रपितामह' और 'आदित्य' कहते हैं, तथा जो [illegible] के [illegible] पुरुष हैं उनकी भी पित्रादिकों के तुल्य [illegible] सेवा करनी चाहिये । (सगो०) जो समीपवर्ती ज्ञाति के योग्य पुरुष हैं वे भी सेवा करने के योग्य हैं । (आचार्यादि सं०) जो पूर्ण विद्या के पढाने वाले और श्वशुरादि सम्बन्धी तथा उनकी स्त्री हैं उनकी यथायोग्य सेवा करनी चाहिये ।

जो सोमसदादि पितर विद्यमान अर्थात् जीवित हों उनको प्रीति से सेवनादि से तृप्त करना तर्पण और श्रद्धा से अत्यन्त प्रीतिपूर्वक सेवन करना है सो 'श्राद्ध' कहाता है । जो सत्य विज्ञानदान से जनों को पालन करते हैं वे 'पितर' हैं । इस विषय में प्रमाण—

'ये नः पूर्वे पितरः सोम्यासः''

इत्यादि मंत्र सोमसदादि सातों पितरों में प्रमाण हैं ।

समानाः समनसः पितरो यमराज्ये ।

इत्यादि मन्त्र यमराजों ।

पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः ।

इत्यादि मंत्र पितृपितामह प्रपितामहादिकों तथा —

नमो वः पितरो रसायेत्यादि ।

मंत्र पितरों की सेवा और सत्कार में प्रमाण हैं । ये ऋग्यजुर्वेद आदि के वचन हैं और मनुजी ने भी कहा है कि पितरों को वसु, पितामहों को रुद्र और प्रपितामहों को आदित्य कहते हैं, यह सनातन श्रुति है । (मनु० अ० ३ । श्लोक २८४)

इति पितृयज्ञविधिः ।

[५] अतिथियज्ञ

तद्यस्यैवं विद्वान् व्रात्योऽतिथिर्गृहानागच्छेत् ।
स्वयमेनमभ्युदेत्य ब्रूयात् व्रात्य क्वावात्सीर्व्रा-
त्योदकं व्रात्य तर्पयन्तु व्रात्य यथा ते प्रियं
तथास्तु व्रात्य यथा ते...निकामस्तथास्त्विति ॥
(अथर्व० कां० १५ । सू० ११ । मं० १-२)

अब जो पांचवां अतिथियज्ञ कहाता है उसको लिखते हैं जिसमें अतिथियोंकी यथावत् सेवा करनी होती है । जो पूर्ण विद्वान्, परोपकारी, जितेन्द्रिय, धार्मिक, सत्यवादी, छल-कपटरहित, नित्य भ्रमण करने वाले मनुष्य होते हैं उनको 'अतिथि' कहते हैं । इसमें अनेक वैदिक मंत्र प्रमाण हैं, [illegible] (तद्यस्यैवं विद्वान्) जिसके घरमें पूर्वोक्त गुणयुक्त विद्वान् (व्रात्यः) उत्तम गुणविशिष्ट सेवा करने के योग्य अतिथि आवे, जिसकी आने जाने की कोई भी निश्चित तिथि न हो, अकस्मात् आवे और जावे जब ऐसा मनुष्य गृहस्थों के घर में प्राप्त हो ॥१॥

(स्वयमेनम०) तब उसको गृहस्थ अत्यन्त प्रेम से उठ कर नमस्कार करके उत्तम आसन पर बैठा के पश्चात् पूछे कि आपको जल वा अन्य वस्तु की इच्छा हो सो कहिये, इस प्रकार उसको प्रसन्न कर और स्वयं स्वस्थचित्त होके उससे पूछो कि (व्रात्य क्वावात्सीः) हे व्रात्य, उत्तम पुरुष! आपने यहां आने के पूर्व कहां वास किया था? (व्रात्योदक) हे अतिथि! यह जल लीजिये। (व्रात्य तर्पयन्तु) और हम लोग अपने सत्य प्रेम से आप को तृप्त करते हैं और सब हमारे इष्ट मित्र लोग आपके उपदेश विज्ञानयुक्त हों के सदा प्रसन्न हों। (व्रात्य यथा०) हे विद्वान् व्रात्य! जिस प्रकार से आपकी प्रसन्नता हो वैसा ही हम लोग काम करें और जो पदार्थ आपको प्रिय हो उसकी आज्ञा कीजिये। (व्रात्य यथा०) जिस प्रकार से आपकी कामना पूर्ण हो वैसी आपकी सेवा हम लोग करें जिससे आप और हम लोग परस्पर सेवा और सत्संगपूर्वक विद्यावृद्धि से सदा आनन्द में रहें ॥२॥

इति संक्षेपतोऽतिथियज्ञः ॥

सोलह संस्कार।

(१) गर्भाधान- श्रेष्ठ संतान उत्पन्न करने के लिये यह संस्कार है। २५ वर्ष की आयु पुरुष की और १६ वर्ष की आयु कम से कम स्त्री की होनी चाहिये, तब यह संस्कार करना चाहिये। इससे पहले नहीं। गर्भाधान का समय रजोदर्शन के दिन से ४ रात्रि छोडकर १६ वीं रात्रि तक है।

(२) पुंसवन संस्कार- गर्भ के तीसरे मास के भीतर गर्भ की रक्षा के लिये यह संस्कार किया जाता है। किन्हीं का मत है कि जब यह इष्ट हो कि संतान पुत्र हो कन्या नहीं, तभी यह संस्कार करना चाहिये, परन्तु यह मत अल्प प्रतिष्ठित है। इस संस्कार में स्त्री-पुरुष प्रतिज्ञा करते हैं कि वे आज [illegible], जिससे गर्भ गिरने का भय हो।

(३) सीमन्तोन्नयन- यह संस्कार गर्भ से चौथे मास में बच्चे की मानसिक शक्तियों की वृद्धि के लिये किया जाता है। इसमें ऐसे साधन किये जाते हैं जिनसे स्त्री का मन संतुष्ट रहे।

(४) जातकर्म- यह संस्कार बालक के जन्म लेते ही किया जाता है। बालक का पिता उसकी जिह्वा पर सोने की सलाई के द्वारा घी और शहद से 'ओ३म्' लिखता है और उसके कान में 'वेदोऽसि' कहता है।

(५) नामकरण- जन्म से ग्यारहवें दिन या १०१ वें दिन या दूसरे वर्ष के आरम्भ में यह संस्कार किया जाता है। इसमें बालक का नाम रक्खा जाता है। नाम प्रिय तथा सार्थक रखना चाहिये।

(६) निष्क्रमण- यह संस्कार जन्म से चौथे महीने में, उसी तिथि में जिसमें बालक का जन्म हुआ हो, किया जाता है। इसका उद्देश्य बालक को उद्यान की शुद्ध वायु का सेवन और सृष्टि के अवलोकन का प्रथम शिक्षण है।

(७) अन्नप्राशन- छठे वा आठवें महीने में, जब बालक की शक्ति अन्न पचाने की हो जावे तब यह संस्कार किया जाता है।

(८) चूडाकर्म- अथवा मुण्डन-संस्कार पहिले अथवा तीसरे वर्ष में बालक के बाल काटने के लिये किया जाता है।

(९) कर्णवेध- कई रोगों को दूर करने के लिये बालक के कान वेधे जाते हैं। यह संस्कार तीसरे वा पांचवें वर्ष में करना चाहिये।

(१०) उपनयन संस्कार- जन्म के वर्ष से सातवें वर्ष में इस संस्कार से लडके और लडकी को यज्ञोपवीत पहनाया जाता है।

(११) वेदारम्भ संस्कार- उपनयन संस्कार के दिन या उससे एक वर्ष के भीतर गुरुकुल में वेदों का आरम्भ [illegible] से किया जाता है [illegible]

(१२) समावर्तन संस्कार- इस संस्कार से ब्रह्मचर्यव्रत की समाप्ति पर वेदशास्त्रों के पढने के पश्चात् ब्रह्मचारी गुरुकुल छोडकर गृहस्थाश्रम में जाता है।

(१३) विवाह-संस्कार- विद्या-समाप्ति के पश्चात् जब लडका लडकी घर आ जावे, तब यह संस्कार किया जाता है। हर प्रकार से योग्य लडके लडकी को इसका अधिकार है।

(१४) वानप्रस्थ- का समय ५० वर्ष के उपरान्त है। जब घर में पुत्र का भी पुत्र (पोता) हो जावे, तब गृहस्थ के धन्धों में फंसे रहना धर्म नहीं। उस समय वानप्रस्थ की तैयारी के लिये यह संस्कार किया जाता है।

(१५) संन्यास- वानप्रस्थ में बैठकर जब इंद्रियों को जीत ले, किसी के लिये मोह और शोक न रहे, तब केवल परोपकार के हेतु संन्यास-आश्रम में प्रवेश करने के लिये यह संस्कार किया जाता है।

(१६) अन्त्येष्टि संस्कार- मनुष्य-शरीर का यह अन्तिम संस्कार है, जो मरने के पश्चात् शव को जलाकर किया जाता है।

वैदिक वैश्वानराग्नि

अर्थात्

उत्तरारुण--प्रकाश।

(लेखांक १)

जिस सृष्टिचमत्कारको उत्तरारुणप्रकाश का नाम आजकल दिया गया है, उसे ही वैदिक ऋषि वैश्वानराग्नि कहते थे।

१९०३ में लोकमान्य तिलकने अपनी जगद्विख्यात 'आर्कटिक होम इन् दि वेदाज' अर्थात् आर्यों का उत्तर ध्रुव में निवास, अथवा 'वेदों की ऋचाओं के और कथाओंके अर्थ लगाने का एक नया साधन' नामक पुस्तक प्रसिद्ध करके, किसी समय में उत्तर ध्रुव-प्रदेश आर्यों की मूल भूमि थी, ऐसा उस में उन्हों ने सिद्ध किया है। ध्रुव-प्रदेश से विशेष रूप में संबंध रखनेवाली बातें, उषाकाल, दीर्घ दिवस, दीर्घ रातें, निरुद्धा आपः, गवां अयनम् इत्यादि प्रकरणों में अनेक साधक बाधक प्रमाणों पर विचार करके लगभग १० हजार वर्ष पहले आर्य उत्तरध्रुव के समीप में रहते थे यह बात लोकमान्य ने अति उत्तम प्रकार से सिद्ध की है।

पूनाके एक दूसरे विद्वान् सज्जन रा० सा० नानासाहब पावगी का इस संबंध में ऐसा मत है कि उत्तरध्रुव आर्यों का मूलस्थान नहीं है। वहां तो वे सिर्फ कुछ काल के लिए बसे ही थे। आदिस्थान या वसाहट के प्रश्न को एक ओर छोड दिया जाय तब भी अत्यंत प्राचीन काल से पहले, लोकमान्यजी के मतानुसार १०००० वर्ष पूर्व कभी आर्य लोग उत्तर ध्रुवप्रदेश में रहते थे और वहां से वे दक्षिण की ओर वापस लौट आये यह बात तो निर्विवाद स्वीकार करने लायक है। ऋग्वेद तमाम देशोंकी उपलब्ध भाषाओं से अत्यंत प्राचीन है, यह बात [illegible] होनेपर भी बहुत से आधुनिक पंडितों के गले नहीं उतरती। तथापि पहले कभी आर्यलोग ध्रुवप्रदेश में बसते थे यह बात ऋग्वेदपर से पूरी तरह सिद्ध होनेपर आर्य-संस्कृति कमसे कम १०००० वर्ष से पहले की होने से अत्यंत प्राचीनतम है, यह बात भी निर्विवाद सिद्ध हो जायगी।

ऋग्वेदके सूक्तोंकी रचना भिन्न भिन्न समयोंमें तथा भिन्न भिन्न स्थानोंमें हुई है, यह बात सबसे पहले अच्छी तरह ध्यानमें रखनी चाहिए। अर्थात् एक समय व एक स्थान में रहकर वर्णन की गई बातें दूसरे समय व स्थान में वर्णन की गई बातोंसे सर्वथा भिन्न होंगी। इसी प्रकार सूक्तोंके द्रष्टा ऋषि भी अनेक होनेसे उनके वर्णन भी अलग अलग प्रकार के दीखेंगे। इसवास्ते आगे प्रतिपादन किये जानेवाले विषय के लिए बाधक स्वरूप कुछ प्रमाण ऋग्वेदमें कहीं कहीं नजर भी आये तो भी उनकी ओर विशेष ध्यान देनेकी आवश्यकता नहीं। परन्तु जिस सूक्त से निष्कर्ष निकाला जायगा उसीमें यदि इस प्रकारके बाधक प्रमाण मिलेंगे तब तो उनपर अवश्यही ध्यान देना होगा।

ध्रुव के समीपस्थ प्रदेशमें और विषुववृत्तके निकटस्थ प्रदेशमें रातदिन, ऋतु, वर्ष आदि कालमानमें बहुत बडा अंतर है। सूर्योदयसे लेकर फिर सूर्योदयपर्यंत होनेवाले २४ घण्टे अथवा ६० घटिकायें किंवा एक दिन और एक रात मिलकर होनेवाला काल दिवस कहलाता है, इतनाही विषुववृत्त के प्रदेशमें रहनेवालों को ज्ञात है। इस प्रकारके ३६५ दिनोंका एक वर्ष होता है ऐसा साधारणतया [illegible] जाता है। परन्तु विषुववृत्तके उत्तर में अथवा दक्षिणमें ६६ अंशसे परे २४ घण्टे किंवा एक रातादिन का दिवस होता है यह हिसाब नहीं रहता। वहांपर एकवार विशिष्ट कालमें क्षितिजपर सूर्य आया कि फिर सैंकडों घण्टे निकल जाने

पर भी वह अस्त नहीं होता, और एकवार अस्त होनेपर सैंकडों घण्टे बीत जाने पर भी उगता नहीं ।

ध्रुव प्रदेशमें वर्षका कालमान कैसा होता है यह प्रथमतः यहांपर संक्षेपमें बतलाना ठीक होगा। वहांपर जनवरी की २९ तारिख को उषःकालका प्रारम्भ होता है। उस उषःकालका तेज लगातार बढता रहता है। इस तरह ४१ दिवस जितना काल बीतनेपर १६ मार्च के दिन सूर्योदय होता है। इसके बाद तारीख २५ सितंबर को सूर्यास्त होता है। परन्तु सूर्यास्त होने के बाद भी ४८ दिन तक उसका संधिप्रकाश दीखता रहता है। उसके बाद ता. १३ नवंबर से अंधेरा प्रारम्भ होता है और वह लगातार ७६ दिनतक रहता है। इस सारेका सारांश यह हुआ कि ध्रुव प्रदेशमें १९४ दिवस तक लगातार सूर्यप्रकाश अर्थात् दिन, ४८ दिनतक संध्याप्रकाश, ७६ दिनतक अंधेरा अर्थात् रात और ४७ दिनतक उषःप्रकाश होता है।

ध्रुव से नीचे १५ अंशपर अर्थात् ७५ अक्षांशपर नीचे दिये अनुसार वर्षका स्वरूप होता है। सादे दिनरात ३८; सूर्य क्षितिज के नीचे १६ अंश से अधिक नहीं जाने के कारण सायंकाल का संध्या-प्रकाश १२ घण्टे सतत रहता है। ये बारा घण्टे समाप्त हुए कि पुन: १२ घण्टे सूर्यप्रकाश पडता है। इस तरह के संध्यासूर्य-पर्याय ४४ होते हैं। इसके बाद लगातार १०३ दिन सूर्य कभी भी क्षितिज से नीचे नहीं जाता। अर्थात् वहांपर इतना बडा एक दिन होता है। इसके अनंतर पुनः सूर्य और संध्याकाल-उषः-कालके ४४ पर्याय होते हैं। तब फिर सदा की तरह ६० घटिकाओं के एक अहोरात्र के हिसाब से ३८ अहोरात्र होते हैं। उसके बाद अंधेरा और संध्याप्रकाश, ऐसे ९८ पर्याय होते हैं। इस क्रम से वर्ष समाप्त होता है।

ऊपर के विवेचनपर से रात इस शब्द से केवल गाढ अंधकार से आवृत कालभाग ऐसा अर्थ नहीं लेना है। सूर्यास्त के बाद का संधिप्रकाश, उसके बादका अंधेरा और उसके बादका सवेरा, ऐसे रात के ३ विभाग एकत्र समझने चाहिए। सायं... [illegible] ...लंबर के उषःकाल में बहुतसा भाग चला जानेसे केवल अंधकारमय रात्रि थोडी ही रह जाती है। उस अंधकारमय रात में भी एकवार चन्द्र क्षितिजपर आया कि वह सतत १५ दिवस अपने भिन्न भिन्न बढते हुए से प्रकाशित होता रहता है। इसके अलावा ऑरोरा बोरियालिस (Aurora-Borealis) अर्थात उत्तर-अरुण-प्रकाश नामका तेज भी उस प्रदेशमें बीच बीचमें प्रकाशित होता रहता है।

अब तक कही गई ध्रुवसम्बन्धी विशिष्ट बातोंमेंसे दीर्घरात, एक दूसरे जुडी हुई ३० उषायें और दीर्घदिन का उल्लेख यदि ऋग्वेद में है, तो उसी प्रदेश की विशिष्ट बात-'उत्तरारुण-प्रकाश' का भी ऋग्वेदमें उल्लेख होनाही चाहिए। उत्तरारुणप्रकाश एक ऐसा सृष्टिचमत्कार है कि वह दृष्टिमें पडते ही कविकी प्रतिभा जागृत होनी ही चाहिए। उषःकालके वर्णन करनेमें कविको जितनी धन्यता अनुभव होनी चाहिए अथवा जितना आनंद होना चाहिए उतनीही धन्यता अथवा उतना ही आनंद उत्तरारुण-प्रकाश के देखने से कविको हो यह न सिर्फ साहजिक ही है अपितु अपरिहार्य है। कविका ध्यान इस ओर विशेष रूपसे आकर्षित होनेमें भी कारण है। उषःकाल सूर्योदयसे ठीक पूर्व होता ही है परन्तु उत्तरारुणप्रकाशके बारेमें ऐसा नहीं है। वह प्रकाशभी चाहे उस प्रदेश की एक विशेष बात है तथापि उसका प्रारम्भकाल और अन्तकाल दोनोंही एकदम अनिश्चित से हैं। उत्तरारुण-प्रकाश का कब प्रारम्भ होगा और वह कबतक रहेगा यह कोई भी कह नहीं सकता। अतः कवि की उत्सुकता को विशेष रूपसे जागृत रखनेका सामर्थ्य उस में अधिक होना चाहिए यह स्पष्ट ही है। और अत्यंत प्रिय अतिथि की तरह अकस्मात् आकर द्यावा-पृथिवी को अपने तेजसे भर देनेवाले इस तेजका वर्णन प्रतिभासंपन्न कविने किया ही है यह बात स्पष्ट करके दिखलाना इस लेखका मुख्य हेतु है।

उषा की तरह-उत्तरारुण प्रकाश भी यदि हमारे पूर्वजों की आंखोंके सामने सर्वदा विद्यमान था तो फिर उषाकी तरह तद्वाचक शब्द, तत्कालीन व तदनंतरके वाङ्मयमें क्यों नहीं दीखते ऐसी शंकाका किसीके भी मनमें उपस्थित होना स्वाभाविक है। परन्तु इस शंकाका समाधान झटपट हो सकता है। उत्तरारुणप्रकाश उत्तर ... उनके प्रदेशमें होनेवाला एक सृष्टिचमत्कार है। उषा सर्वत्र सर्व स्थानमें दिखनेवाली होनेसे, ऋषियोंको चाहे स्थानांतरमें जाना पडा, फिरभी उषा सर्वत्र उनके साथ रहनेसे तद्वाचक

शब्द उनके मुखमें बना रहा । परन्तु ज्योंही उत्तर दिशा छूटी, त्यों ही उत्तरारुणप्रकाशका उनसे विशेष अंतर पड जानेसे वे इस चमत्कारको भूलते गये और इस प्रकार उसके नामकी भी विस्मृति हो गई । चाहे हम उस सृष्टि-वैचित्र्य से परिचित हो गये थे तथापि स्थानांतर हो जाने से पूर्वजोंद्वारा संपादित किये हुए ज्ञानको बनाये रखना हमारी आर्यसंस्कृति की आत्मा होनेसे हमारे पूर्वजोंद्वारा तैयार किए हुए तत्संबंधी सूक्त आज वैसे के वैसे ही सिद्ध हैं । इस तेजको आज कल चाहे **उत्तरारुणप्रकाश** का नाम दिया गया हो तथापि इस तेजका वैदिक कवियों द्वारा किया गया नामकरण '**वैश्वानराग्नि**' था । ऋग्वेदमें वैश्वानरीय सूक्त लगभग १४-१५ हैं । जिस सृष्टिचमत्कारको Aurora Borealis अथवा उत्तरारुणप्रकाश का नाम आज-कल दिया गया है उसेही वैदिक ऋषि वैश्वानराग्नि कहते थे ।

वैश्वानराग्नि ही उत्तरारुण-प्रकाश है यह बात पूरी तरह ध्यानमें आनेके लिए उत्तरारुण-प्रकाश का क्या मतलब है यह यहांपर संक्षेपसे किन्तु सहज ध्यानमें आ सके उस तरह स्पष्ट करके कहना नितांत आवश्यक है । " सूर्यास्तके बाद लोहचुंबक की याम्योत्तर दिशामें यह प्रकाश आकाशमें प्रथमतः अस्पष्टरूपसे दिखने लगता है । फिर धीरे धीरे यह प्रकाश बढकर हलकी पीले रंगकी चाप बनती है । चाप का अंतर्गोल भाग पृथिवीकी ओर होता है । फिर ये प्रकाशकिरण क्षितिजपर इधर उधर फैलने लगता है । फीके पीले रंगका रूपांतर होते होते वह गाढे हरे रंगमें तबदिल होकर फिर चकचकित जामनी हो जाता है । इस तरह यह प्रकाश पूर्ण होनेपर वह आकाशमें घुमट जैसा दीखने लगता है । फिर सभी रंग कम होने लगते हैं और धीरे धीरे यह चमत्कारजनक दृश्य अदृश्य हो जाता है । किंवा कभी कभी एकदम भी लुप्त हो जाता है । यह प्रकाश दीखने लगते ही तारयंत्रका कार्य एकदम बंद पड जाता है । उत्तर प्रदेशमें तो इसके कारण तारयंत्र का कार्य प्रायः रुक जाता है । बहुतसी वार इस शक्तिमें इतना अधिक स्थैर्य होता है कि तारयंत्र की [illegible] करने [illegible] द्वारा तारयंत्र का व्यवहार किया जा सकता है । " यह वर्णन ग्यानोकी सृष्टिपदार्थविज्ञानमें से लिया गया है ।

'उस प्रदेश में यह चमत्कार होने लगा कि उस के साथ कडकड आवाज होने लगती है । यह आवाज अग्नि से होनेवाली आवाज जैसी होती है ।' ऐसा भी ग्रन्थकारका कहना है ।

आधुनिक सिद्ध पदार्थविज्ञान शास्त्रज्ञों द्वारा किया हुआ उत्तरारुण-प्रकाश का वर्णन और मन्त्रद्रष्टा कवि का किया हुआ वैश्वानराग्निका वर्णन ये दोनों यदि एकसे हुए तो वे दोनोंही सृष्टिचमत्कारका ऐक्य है, यह बात सहज सिद्ध होगी ।

अब सबसे प्रथम 'वैश्वानराग्नि' शब्द का क्या अर्थ है यह देखें । लौकिक भाषा में तो 'अग्नि' और 'वैश्वानर' ये दोनों शब्द एक दूसरे के पर्यायवाचक हैं । 'अग्निर्वैश्वानरो वह्निः' ऐसा अमरकोश कहता है । अर्थात् अग्नि और वैश्वानर ये दोनोंही अग्नि किंवा आग के वाचक हैं । 'अहं वैश्वानरो भूत्वा' इस गीतावचन में 'वैश्वानर' का अर्थ जठराग्नि माना गया है । परन्तु आज हमें लौकिक भाषा में वैश्वानर के जो अर्थ होते हैं उनसे मतलब नहीं है । वैदिक भाषा में उसका क्या अर्थ होता है यही विशेष देखना है ।

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के ५९ वा सूक्त वैश्वानरीय है । ऋग्वेद में अग्नि के अनेक सूक्त हैं । उनमें से कईयों के देवता सिर्फ 'अग्नि' ही बताया है । परन्तु प्रस्तुत सूक्तका देवता 'वैश्वानरगुणकोऽग्निः' ऐसा बताया गया है । सर्वानुक्रमकारने यह स्पष्ट भेद किया है । वैश्वानरगुणकोऽग्निः का अर्थ हुआ जिसमें कि वैश्वानर अर्थात् इस विशिष्ट वस्तु के गुण हों ऐसी अग्नि । मतलब कि वैश्वानर नामक कोई एक वस्तु विशेष है जिसके कि खास भिन्न भिन्न गुण हैं, ऐसा सर्वानुक्रमकार को पता था । यास्क और सायण को वैश्वानर अर्थात्-अग्नि-दाहक शक्तियुक्त पदार्थ -आग, इतनाही ज्ञात होनेसे वैश्वानरीय सूक्तोंकी ऋचाओं का अर्थ करते हुए वे काफी अच्छी तरह गडबड़ा गये हैं । वैश्वानर पदकी निरुक्ति करते हुए यास्क जो बडी भारी संदिग्धतामें पडे गये हैं वह देखनेयोग्य है । यास्क के पूर्वकालसेही वेदोंके अर्थ समझने कठिन हो चुके थे । वेदोंकी ऋचाओं के अथवा पदोंके अर्थ लगानेके लिए किया गया प्रयत्न ब्राह्मणोंमें वारंवार नजर आता है । वैश्वानर अग्नि कौनसी है इस सम्बन्धमें मंत्र-व्याख्या[illegible] एकमत न थे, यह बात भिन्न भिन्न स्थानोंपर भिन्न भिन्न की गई उनकी व्याख्याओंपर से मालूम होती है । वैश्वानर शब्द के अर्थके विषयमें मंत्रकालके जमानेमें भी मतभेद होना चाहिए ऐसा कहनेके लिए स्थान है ।

ऋ० ४।१।१ में 'मा निंदत' 'निंदा मत करो' ऐसा मंत्रद्रष्टा कहते हैं। तीसरे मंडल का दूसरा सूक्त वैश्वानरीय है और उसमें कहा है कि 'यज्ञकी इच्छा करनेवाले अमर देवोंने महान् अग्निके तीन रूप शुद्ध किये।' ये तीन रूप पार्थिव, वैद्युत और सूर्य हैं ऐसा सायणाचार्य कहते हैं। मध्यम स्थान में रहनेवाली वायु किंवा इंद्र वैश्वानर है, ऐसा कईयोंका मत है, तो कई सूर्यकोही वैश्वानर कहते हैं; और अपने इस कथन के समर्थनमें वे प्रमाण इस बातका देते हैं कि सूर्यकांत मणिको यदि धूपमें रखा जाय तो उससे अग्नि गिरती है। बहुतसे आचार्य पार्थिव अग्निको ही वैश्वानर समझते हैं। इसके अतिरिक्त ब्राह्मणोंमें भी 'पृथ्वी वैश्वानरः। संवत्सरो वैश्वानरः। ब्राह्मणो वैश्वानरः' इत्यादि वाक्य पाये जाते हैं ऐसा याज्ञिकाचार्यने बतलाया है। निरुक्तकार द्वारा दर्शाये गये इन सब मतोंको जमा रखकर सायणाचार्यने अपने ऋग्वेद-भाष्यमें यास्क का मत मान्य रखकर 'अत्र वैश्वानर शब्देन मध्यमस्थानस्थो वैद्युदग्निरभीधीयते' ऐसा निश्चितकर 'प्र नू महित्वं' इत्यादि ऋचा पर भाष्य लिखा है। यह ऋचा इसी लेखमें आगे दी है।

ऊपर दिये हुए सायणाचार्य के इस उद्धरण में विद्यमान वैद्युदग्नि पद पर दृष्टि जापडने से तथा लोकमान्य द्वारा वेदोंके अर्थ लगानेके लिए बताये गये नवीन साधन के कारण वैश्वानराग्नि उत्तरारुणप्रकाश ही होना चाहिए ऐसी कल्पना सहसा मनमें आखडी हुई। लोकमान्य द्वारा बतायें गये वेदार्थ करने के नये साधनका उपयोग करके, उस दृष्टिसे ये सूक्त अनेकवार पढनेपर वैश्वानराग्नि उत्तरारुण-प्रकाश ही है ऐसा मेरा पूर्ण विश्वास है और मेरी इस कल्पनाको दुनियाके सामने रखनेका यह प्रयत्न कर रहा हूं-

यास्क को अनुसरते हुए सायणने चाहे वैश्वानर अग्निका अर्थ मध्यम स्थानीय विद्युत किया हो तथापि विद्युत्-शक्तिका से जिसका संबंध है ऐसा जो ध्रुवविशिष्ट अरुण-प्रकाश है उसकी सायण व यास्क दोनोंही को खबर नहीं थी। इसलिए आकाश से जब बिजली गिरता है तब जो अग्नि उत्पन्न होती है, उसको इन्धन मिलनेसे उससे लौकिकाग्नि अर्थात् आग पैदा होती है, ऐसी कल्पना करके "वैद्युदग्नि" पदके अर्थके विषयमें वे अपना समाधान कर लेते हैं। परंपरा को टूटने न देना यह एक हम आर्यों की विशेषता है। इसलिए वैश्वानराग्नि अर्थात् वैद्युदग्नि ऐसा परंपरागत अर्थ यास्कको पता था और सायणने भी वही स्वीकार किया। सायनाचार्य सर्वत्र यास्कके अर्थ को स्वीकृत करते हैं ऐसी बात नहीं है। वेदमंत्रोंमें उषस् शब्द बहुतवार बहुवचनमें आया हुआ है। यह बहुवचन का प्रयोग मानार्थी है ऐसा यास्क मानते हैं; परन्तु सायणके मतमें यह बहुवचन का प्रयोग मानार्थी न होकर अनेकत्व-दर्शक है। वेदार्थ करते हुए यास्क का वचन ही प्रमाण मानना चाहिए ऐसा सायण का मत न था, यह बात यहां पर बता देनी जरूर है।

अब सूक्तोंमें आये हुए वर्णनपरसे वैश्वानराग्निका स्वरूप किस प्रकार का प्रतीत होता है यह देखें। प्रथम मंडलके ५९ वें सूक्तमें वैश्वानराग्निकी स्तुति की हुई है। इस सूक्तमें ७ ऋचायें हैं। यह साराका सारा सूक्त सायण-भाष्यानुसार हिंदी तात्पर्य के साथ नीचे देते हैं—

> वया इदग्ने अग्नयस्ते अन्ये त्वे विश्वे अमृता
> मादयन्ते। वैश्वानर नाभिरसि क्षितीनां
> स्थूणेव जनाँ उपमिद्ययन्थ ॥ १ ॥

हे अग्नि ! जो अन्य अग्नियां हैं वे सब तेरी शाखायें हैं। तेरे अस्तित्वके कारण अमरणधर्मा सर्व देव आनंदित होते हैं। हे वैश्वानर ! तू मनुष्योंका व्यवस्थापक है अतएव तू वंशधारणार्थ गाढे हुए स्तंभकी तरह सर्व जनोंको धारण करता है।

> मूर्धा दिवो नाभिरग्निः पृथिव्या अथाभवदरती
> रोदस्योः। तं त्वा देवासोऽजनयन्त देवं वैश्वानर
> ज्योतिरिदार्याय ॥२॥

यह अग्नि द्युलोकका सिर है। पृथ्वी की नाभि है और द्यावा पृथिवी का अधिपति है। इस प्रकार के गुणोंवाले हे वैश्वानर ! तुझ आर्य को (विद्वान को, श्रेष्ठ को) सर्व देवोंने ज्योतिरूप से उत्पन्न किया।

> आ सूर्ये न रश्मयो ध्रुवासो वैश्वानरे दधिरेऽ-
> ग्ना वसूनि। या पर्वतेष्वोषधीष्वप्सु या मानु-
> षेष्वसि तस्य राजा ॥३॥

जिस तरह सूर्य में निश्चल किरणें होती हैं उसी तरह

तेरे में वसुओं की (किरणों की) स्थापना की हुई है। पर्वत, ओषधि, जल और मनुष्यों में जो तेज है उसका तू राजा है।

बृहती इव सूनवे रोदसी गिरो होता मनुष्यो३ न दक्षः। स्वर्वते सत्यशुष्माय पूर्वीः वैश्वानराय नृतमाय यह्वीः ॥४॥

(वैश्वानररूप) पुत्रको रहने के लिए स्थान मिले मानो इसी वास्ते द्यावापृथ्वी विस्तृत हुए ! इस होताने मनुष्य की तरह (मनुष्य जिस प्रकार राजा की स्तुति करते हैं वैसे) बहुत प्रकारकी बडी बडी स्तुतियों की वैश्वानर अग्नि के लिए योजना की। इस वैश्वानर का गमन शोभा-वाला है। इसका बल अकुंठित-अविफल-सत्य है और यह सबका नेता-मार्गदर्शक है।

दिवश्चित्ते बृहतो जातवेदो वैश्वानर प्र रिरिचे महित्वम्। राजा कृष्टीनामसि मानुषीणां युधा देवेभ्यो वरिवश्चकर्थ ॥५॥

हे जातवेद वैश्वानर ! तेरा महात्म्य विस्तीर्ण द्युलोकसे भी ज्यादा फैला हुआ है। तू मानवी प्रजा का राजा है और तू युद्ध करके देवोंका धन उन्हें फिरसे दिलवाता है।

प्र नू महित्वं वृषभस्य वोचं यं पूरवो वृत्रहणं सचन्ते। वैश्वानरो दस्युमग्निर्जघन्वाँ अधूनोत्काष्ठा अव शंबरं भेत् ॥६॥

इस वृषभ वैश्वानराग्नि का मैं थोडे से में वर्णन करता हूं। मनुष्य इस वृत्रहणकी सेवा करते हैं। इस अग्निने दस्युओं का हनन किया, दिशायें कंपाईं और शंबर का भेदन किया।

वैश्वानरो महिम्ना विश्वकृष्टिर्भरद्वाजेषु यजतो विभावा। शातवनेये शतिनीभिरग्निः पुरुणीथे जरते सूनृतावान् ॥७॥

यह वैश्वानर अपने महिमासे सब लोगों को अपनासा कर लेता है। जिस याग में पुष्टिकर हविर्द्रव्य हैं उसमें [illegible] करने योग्य है। विशेष प्रकार के प्रकाश से और सत्यवाचा से युक्त यह अग्नि शातवनेय और पुरुणीथ नामक दो राजाओं के राज्य में बहुतसी स्तुतियों द्वारा स्तुति किया जाता है।

इस सूक्त का प्रारंभ ' वया इदग्ने अग्नयस्ते अन्ये ' से हुआ है। अन्य अग्नियां तेरी शाखायें हैं ऐसा इस पद-समूह का अर्थ है। इस पदसमूह का बारीकीसे विचार करने पर ऐसा ध्यान में आयगा कि वैश्वानराग्नि का इतर अग्नियों से भिन्नत्व होने पर भी उसका अन्य अग्नियों से एकता सम्बन्ध करा देने का यहां पर कवि प्रयत्न कर रहा है। वैश्वानराग्नि लौकिकाग्नि से भिन्न एक विशिष्ट वस्तु कवि को दीख रही है। ' जमीन में गाडे हुए स्तंभ की तरह तू सब जनों का धारण करता है ' इस वर्णन में ' स्थूणेव ' इस उपमा का महत्त्व उत्तरारुण-प्रकाश के चित्र पर से अधिक स्पष्ट रूप से ध्यान में आ सकेगा। सायणने स्थूणा का अर्थ है छत का आधारभूत स्तंभ ऐसा किया है। इसके अतिरिक्त इसे प्रथम ऋचा में ' क्षितीनां नाभिः ' और दूसरी ऋचा में ' पृथिव्याः नाभिः ' ऐसा कहा है। प्रथम ऋचा का ' क्षितीनां ' पद बहुवचनांत होनेसे सायणने उस का अर्थ ' मनुष्यों का ' ऐसा किया है। परन्तु वहां पर भी इस का अर्थ पृथिवी लिया जा सकेगा। दूसरी ऋचा में तो ' पृथिवी की नाभि ' ऐसा स्पष्ट पद है ही। 'नाभि ' पदका अर्थ प्रथम ऋचा में सायणने अवस्थापक और दूसरीमें सन्नाहक रक्षणकर्ता किया है। परन्तु नाभिका अर्थ चक्र का मध्यभाग भी है। अतः यहांपर यही अर्थ युक्तियुक्त व ठीक बैठता है।

दूसरी ऋचामें इस अग्नि को ' मूर्धा दिवः ' और ' रोदस्योः अरतिः ' आकाश का मूर्धा (सिर) और, द्यावापृथिवी का अधिपति कहा हुआ है। क्षणभर चमक कर नष्ट होनेवाले बिजली के चंचल तेजको ऐसे विशेषण कोई भी प्रतिभासंपन्न कवि लगा नहीं सकता। इस प्रकारके विशेषण लगाकर जिसकी बडे भारी प्रसन्न अंतःकरण से स्तुति करनी है वह तेज वर्णनकर्ता की दृष्टि समक्ष कुछ समय तक तो स्थिररूपसे विद्यमान रहना ही चाहिए। यही नहीं उस वर्णनीय वस्तु का स्वरूप भी कुछ न कुछ निश्चित होना ही चाहिए। बिजली की चमक इतनी थोडी देर टिकती है कि उसका स्वरूप कैसा होता है, यह पूरा तौरपर ख्यालमें भी नहीं आता। बिजलीके चमकनेका स्वरूप ख्यालमें आता है ऐसा भी यदि मानलें तो भी वह स्वरूप प्रत्येकवार एकसा नहीं होगा। हरबार उसका स्वरूप अलग अलग होगा यह स्पष्ट ही है। परन्तु

अन्य सूक्तमें (पक्षस्य विष्णो इति सूक्ते) "स जायमानः परमे व्योम्नि व्रतानि अग्निः व्रपता अरक्षरत। व्यंतरिक्ष-ममिमीत सुक्रतुर्वैश्वानरो महिना नाकमस्पृशत्।" ऐसा उसका अन्तरिक्षव्यापी वर्णन किया हुआ है।

प्रस्तुत सूक्तकी तीसरी ऋचामें 'ध्रुवासः' यह पद 'निश्चलाः' के अर्थमें है। यद्यपि यह पद उपमानभूत सूर्य को लगाया हुआ है तथापि उपमानके गुणधर्म उपमेय में होने जरूरी होनेसे यह पद वैश्वानराग्नि को भी लगाया जा सकता है। इस तीसरी ऋचामें कवि कहता है कि 'जिस तरह सूर्य में निश्चल (ध्रुवासः) किरणें होती हैं उसी तरह वैश्वानर में भी 'वसूनि' अर्थात् किरणें हैं। इस सूक्त के भाष्य में सायणने 'वसु' पदका अर्थ द्रव्य दिया है। तथापि वही हमें भी स्वीकारना चाहिए ऐसा नहीं है। क्योंकि वैश्वानरके 'रश्मि' है यह बात तैत्तिरीय ब्राह्मणमें स्पष्ट पाई जाती है। 'वैश्वानरो रश्मिभिर्मा पुनातु' ऐसा (१-४-८-३) में और 'वैश्वानरो रश्मिभिर्वावृधानः' ऐसा (३-१०-८-१०) में कहा है। वावृधानः=वारंवार बढनेवाला। अपनी किरणोंसे वारंवार बढनेवाला वैश्वानर। बिजली का तेज 'वावृधान' होता है ऐसा कोईभी नहीं कह सकता। क्षण दृष्टनष्ट बिजली को अथवा उससे उत्पन्न अग्नि को सूर्य की उपमा शोभ नहीं सकती। इतना ही नहीं, चंचल बिजली की सूर्य से तुलना करने के लिए कोईभी प्रतिभासंपन्न कवि तैयार नहीं हो सकता। अतः इस ऋचा के 'वसूनि' पद का अर्थ किरण ही युक्तियुक्त है।

यह बात इस से भी आधिक स्पष्ट चतुर्थ ऋचा में होती है। यह वैश्वानर-अपना पुत्र-संचार कर सके, मानों इस-लिए द्यावापृथिवी विस्तृत हुई (बृहती इव सूनवे रोदसी) ऐसा कवि कहता है। इसपरसे इस वैश्वानर का तेज कवि को कितना व्यापक दीखता था, इसकी कल्पना हो सकती है। वैश्वानराग्नि मानो आकाश में क्षणभर चमकनेवाली बिजली अथवा उससे उत्पन्न हुई अग्नि होती तो फिर कवि को इस वर्णन से ठीक उलटा वर्णन करना पडा होता। उस बिचारी अशाश्वत बिजली का तेज दूसरेही क्षण में आकाश में कहीं का कहीं लुप्त हो जाता है। उसका ठाम ठिकानाभी नहीं मिलता! इस ऋचा में इस अग्नि को द्यावापृथिवी का जो पुत्र कहा है वह कितना अन्वर्थक है यह आरोरा बोरीयालीस का चित्र देखनेपर सुगमतया ख्याल में आ सकता है। इस वैश्वा-नरको जैसे कविने द्यावापृथिवी का पुत्र वारंवार कहा है वैसे ही उषाको द्यावापृथिवी की कन्या × कहनेका वैदिक कवियों का संप्रदाय है। उषा और वैश्वानराग्नि में भाई-बहन का नाता था। यह बात ध्यान में लेने जैसी है। वैश्वानर द्यावापृथिवी का पुत्र और उषा उनकी कन्या, यह कल्पना कितनी सुंदर, कितनी अर्थपूर्ण और कितनी प्रतिभायुक्त है यह बात अलग बताने की जरूरत नहीं।

तैत्तिरीयब्राह्मण में एक स्थानपर तो उषा, सूर्य और वैश्वानर का इकट्ठा उल्लेख किया हुआ है। 'समाववर्ति पृथिवी। समुषाः। समु सूर्यः। समु विश्वमिदं जगत्। वैश्वानर ज्योति र्भूयासम्। विभुं कामं व्यश्नवै। (२। ८। ५। ५) इस प्रतीकमें अंधकारका नाश करके प्रकाश देनेमें समर्थ उषा, सूर्य और वैश्वानर, ये अंतरिक्ष के तेज एकत्र ग्रथित किये हुए हैं। यह बातभी हमारे विवेचन को पुष्ट करती है।

दो या ढाई महिने की दीर्घ रात जिस प्रदेश में होती है उसमें अंधेरेका नाश करनेवाले अद्भुत तथा रमणीय तेजका वहांके निवासियों को आश्चर्यजनक महत्त्व प्रतीत होता हो और कवि उसपर स्तोत्र रचें यह बात सर्वथा कृतज्ञता के अनुकूल ही है। ५ वें मंत्र में कवि कहता है कि 'हे वैश्वानर! तेरा माहात्म्य द्युलोक से भी बडा है। (क्योंकि तू) युद्ध करके देवों का वैभव उन्हें वापस दिलवा दिया'। देव और आसुरोंमें युद्ध का मतलब प्रकाश तथा अंधकार में लडाई ऐसा वेदोंमें प्रसिद्ध ही है। इस सम्बन्धी विवेचन लो० तिलक के ग्रंथ में विस्तारपूर्वक किया गया है, अतः यहांपर विशेष विस्तार नहीं किया। जिज्ञासुगण चाहें तो व उस ग्रंथमें देख सकते हैं। [illegible]

× दिवो दुहिता, अष्टक १ (अध्याय ६, वर्ग २४); एषा दिवो दुहिता, (अष्ट. १, अ. ७, व. २); नूनं दिवो दुहिता, (अष्ट १, अ. ७, व. २); नूनं दिवो दुहितरः, (अष्ट. ३, अ. ८, व. १); रयिं दिवो दुहिता, (अष्ट. ३, अ. ८, व. २); दिवो अदर्शि दुहिता, (अष्ट ३: अ. ८; व. ३); और अन्य भी बहुतसे स्थलोंमें।

प्रस्तुत विषयके सम्बन्धमें इस सूक्तकी ६ ठी ऋचा का बहुत महत्व है । वैश्वानर के सम्बन्धमें सायणने जो ऊहापोह की है वह इसी ऋचाके भाष्यमें है । इसलिए वह ऋचा यहांपर पुनः देकर उस पर अधिक विचार करेंगे।

प्र नू महित्वं वृषभस्य वोचं यं पूरवो वृत्रहणं सचन्ते। वैश्वानरो दस्युमग्निर्जघन्वाँ अधूनोत्काष्ठा अव शंबरं भेत् ॥

'इस वृषभ-वैश्वानराग्निका मैं संक्षेपसे वर्णन करता हूं। मनुष्य इस वृत्रहणकी सेवा करते हैं। इस अग्निने दस्युओं का हनन किया। दिशायें विक्षुब्ध कीं और शंबर का भेदन किया।' ऐसा इस ऋचा का तात्पर्य है ।

इस मंत्र में वृषभ, वृत्रहण, शंबर और दस्यु, इन पदों का अर्थ मतभेद का स्थान है । वृषभस्य पदका 'अपां वर्षितुः वैश्वानरस्य' ऐसा अर्थ सायणने किया है। इस ऋचा में वैश्वानर का अर्थ मध्यमस्थानीय वैद्युदग्नि लेनेका सायणने निश्चित किया, इसलिए उसने पर्जन्यकी कल्पना-पर इस मंत्रकी संगति लगाई और ऊपर दिए हुए पदोंके अर्थ अपनी उस कल्पना के अनुसार जुटालिये हैं। आकाश में बादल बनते हैं। बादलोंसे बिजली उत्पन्न होती है और बिजली से अग्नि पैदा होती है, ऐसा उसने वैश्वानर का उत्पत्तिक्रम दिया है। यह अर्थ चाहे स्वीकार भी लिया जाय तो भी इस अग्निको वृषभ- वर्षा करनेवाला (पानी की)- यह विशेषण योग्य प्रतीत नहीं होता। क्योंकि बारिश जो पडती है वह बिजली या अग्नि से नहीं पडती। वह तो जिस बादल से बिजली होती है उस बादल से पडती है। अतः इस प्रक्रियानुसार वृषभ विशेषण बादलको लगाना योग्य होगा। यह अडचन सायण के भी ध्यान से बाहर नहीं थी।

इस से बचने के लिए उसने बीच में सूर्य का आह्वान कर के ऐसा सम्बन्ध जोडा कि अग्नि में दी गई आहुति सूर्य को पहोंचती है और सूर्य से वृष्टि होती है। इसके लिए प्रमाणके तौर पर अग्नौ प्रास्ताहुतीः सम्यगादित्यमुप- तिष्ठते। आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः। इस स्मृतिवचन को पेश किया है। वृषभ का अर्थ श्रेष्ठ किया होता, तो इतनी अडचन बाकी न रही होती। यास्कने इस ऋचा के इस पदका जो अर्थ किया है, सायणने उसेही स्वीकार किया है। इस ऋचा के दूसरे पद 'वृत्रहणम्' का अर्थ 'आवरकस्य मेघस्य हंतारं' ऐसा उसने अपनी सर्वदा की परिपाठीके अनुसार दिया है। ध्रुवोपपत्ति की कल्पना न होने से वृत्र, शंबर, दस्यु इत्यादि पद सूर्य को रुकावट पैदा करनेवाले मेघों के वाचक हैं, ऐसा मानते हुए बहुतबार पूर्वाचार्योंने काम निकाल लिया है। तथापि वृत्र के साथ युद्ध का अभिप्राय है अंधेरेसे युद्ध, यह कल्पना पूर्वाचार्यों को ज्ञात न थी ऐसी बात नहीं है।

वृत्र यानि 'आवरक अंधकार' ऐसा अर्थ प्रथम मंडल के ३२ वें सूक्तकी ५ वीं ऋचा के 'वृत्रतुरम्' पदके व्याख्यान के समय सायणनेही दिया है। सिर्फ बात यह है कि यह प्रकाश व अंधकारमें युद्ध ध्रुव प्रदेश का है ऐसी कल्पना ही न होनेसे उसने इस युद्धको विषुवप्रदेश का मान लिया। परन्तु प्रत्येक दिन जैसी छोटी अवधिमें होनेवाले युद्ध की कल्पना से उनका समाधान न होनेसे वृत्र यानि बादल, इस कल्पनाको प्राधान्य देकर सर्वत्र उसीको आगे किया है।

परन्तु लोकमान्य तिलकके वेदार्थ का नवीन साधन हमारे हाथोंमें सुपुर्द करनेसे इस ऋचाके इस प्रकारके खेंचातानीके अर्थसे समाधान कर लेनेकी जरूरत नहीं। कविने यहांपर इंद्र के गुणोंको वैश्वानराग्निमें जोड दिया है। इंद्रके गुण अग्निमें हैं ऐसा माननेकी वैदिक कवियोंकी प्रथा है। इतनाही नहीं अपितु इंद्र और अग्नि इन दो देवताओंको एकत्र करके उनकी स्तुति की है। इन्द्राग्नी देवतावाले अनेक सूक्त + ऋग्वेदमें हैं। शंबर को अथवा दस्युको इन्द्र के मारने का उल्लेख वेदोंमें अनेकवार आया हुआ है। यहांपर वैश्वानराग्निने अपने प्रकाशसे दस्युओं का नाश और शंबरका भेदन करके अर्थात् अंधकार दूर करके दिशाओंको क्षुब्ध किया, ऐसा अर्थ किया कि वह समाधानकारक प्रतीत होता है और उसपरसे मंत्रद्रष्टा कविको जिस देवता का वर्णन करना है उस देवता का महत्व भी पूर्णतया ध्यानमें आता है। (क्रमशः)

+ अथा सोमस्य प्रयती युवभ्यामिन्द्राग्नी स्तोमं जनयामि नव्यम्। इन्द्राग्नी नवतिं पुरो दासपत्नीरधूनुतम्।

प्राचीन आर्य-संस्कृति व पाश्चात्य देश।

[श्री० पं० शिवदत्तजी ज्ञानी, एम्. ए.]

> आजसे सहस्रों वर्षपूर्व भारत के व्यापारी अपना माल चीन, जपान, अरब, मिश्र, क्रीट, यूनान, रोम आदि भूमण्डलके विभिन्न भागोंमें ले जाते थे, साथही भारतीय सभ्यता का प्रचार और प्रसार भी करते थे।

भारतवर्ष एक बहुत बडा देश है। संसार के बहुत से देशों से विस्तार में बडा है। भौगोलिक दृष्टि से इसे 'छोटा महाद्वीप' भी कहते हैं, क्योंकि यहाँ भिन्न-भिन्न प्रकार का जल-वायु, ऊँचे से ऊँचे पर्वत तथा बडी-से-बडी नदियाँ वर्तमान हैं। प्रकृति देवी की जितनी कृपा इस देश पर है, उतनी कदाचित् ही किसी देश पर हो। काश्मीर आदि स्वर्ग-समान स्थली भी यहाँ पर विद्यमान है। यही कारण है कि भौगोलिक दृष्टि से इसे सर्वोत्तम देश कहा जाता है।

यदि प्राकृतिक दृष्टि से देखा जाय तो भारत के लिये रोटी का सवाल कठिन नहीं जान पडेगा। यहां की भूमि प्राचीनकाल से ही 'शस्यश्यामला' रही है। इसीलिये सर्व प्रथम सभ्यता का सूर्योदय भी इसी भूमि में हुआ। उदर-निर्वाह के लिये विशेष परिश्रम की आवश्यकता न होने से यहाँ के प्राचीनतम निवासी सरलतापूर्वक जीवन के अन्य पहलुओं पर भी विचार कर सके और इस प्रकार एक अद्वितीय संस्कृति को भी संसार के सन्मुख उपस्थित कर सके। इस संस्कृति ने तत्कालीन समस्त भूमण्डल को प्रभावित किया, जिसके अनेक चिह्न ऐतिहासिकों की सहायता से आज भी दृष्टिगोचर होते हैं।

यह बात तो निर्विवाद है कि प्राचीन भारत में सभ्यता का सर्वाङ्गीण विकास हुआ था। धर्म, दर्शन, विज्ञान, अर्थशास्त्र, गणित, राजनीति, साहित्य, कला, व्यापार आदि की आश्चर्यजनक उन्नति प्राचीन-भारत में हुई थी। इन सब का विकास बिलकुल ही वैज्ञानिक ढङ्ग पर हुआ था। इस कथन के मर्म को समझने के लिये प्राचीन साहित्य का-अवलोकन करना परमावश्यक है। वेद ही एक ऐसा अनोखा ज्ञानभाण्डार है कि जिसकी बराबरी का साहित्य कहीं भी नहीं है। विभिन्न विद्याओं तथा शास्त्रों के मौलिक सिद्धान्त हमें वेदों से ही प्राप्त हुए हैं। उपनिषद् तथा षड्-दर्शन आज भी दार्शनिक जगत् में पूजे जाते हैं। कौटिलीय अर्थशास्त्र तथा महाभारत के शान्तिपर्व को पढ कर हमें आश्चर्य होता है कि किस प्रकार प्राचीन काल में भी राजनीति, अर्थशास्त्र आदि सांसारिक जीवन से सम्बन्धित शास्त्रों का भी विवेचनात्मक दृष्टि से विकास किया जाता था। अर्थशास्त्र-प्रणेता विष्णुगुप्त कौटिल्य ने जिस शासन-व्यवस्था को चन्द्रगुप्त मौर्य के लिये बनाया था, वैसी व्यवस्था आज के 'सभ्य ब्रिटिश साम्राज्य' में भी अप्राप्य है। प्राचीन भारत का व्यापार भी पूर्णतया विकसित हुआ था। प्राचीन अरब, मिश्र, रोम आदि से भारत का घनिष्ट व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित था। रोम के प्राचीन सिक्कों का दक्षिण भारत में पाया जाना, तथा दक्षिण भारत का प्राचीन साहित्य उपरोक्त मन्तव्य की पुष्टि करता है। आज से सहस्रों वर्ष-पूर्व भारत के व्यापारी अपना माल चीन, जापान, अरब, मिश्र, क्रीट, यूनान, रोम आदि भूमण्डल के विभिन्न भागों में ले जाते थे, साथ ही भारतीय सभ्यता का प्रचार और प्रसार भी करते थे। प्राचीन भारतीय व्यापार का उल्लेख पाश्चात्य प्राचीन साहित्य में भी वर्तमान है। इस सम्बन्ध में एच्. जी. रॉलिन्सन अपनी पुस्तक "Intercourse [illegible] India and the Western World" [illegible] में लिखते हैं:—

"It has been claimed that the word 'Sindhu' found in the library of Assur-

banipal (668--626 B. C.) is used in the sense of Indian cotton and the word is said to be much older, belonging in reality to the Akkadian tongue. Assurbanipal is known to have been a great cultivator and to have sent for Indian plants, including the " wool bearing trees of India. " At any rate we know that the cotton trade of western India is of great antiquity "

अर्थात्- " इस बात का दावा किया जाता है कि असुर बेनीपाल (ई० पू० ६६८-६२६) के पुस्तकालय में प्राप्त ' सिन्धु ' शब्द भारतीय कपास के अर्थ में उपयुक्त हुआ है, और कहा जाता है कि यह शब्द बहुत पुराना है। यह यथार्थ में ' एकेडियन ' भाषा का शब्द है। असुर-बेनीपाल के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वह एक बडा कृषक था तथा उसने भारत से बहुत से पौधे मंगवाये थे, जिनमें ' ऊन वाले झाड ' भी थे। यथार्थ में यह स्पष्ट है कि पश्चिमी भारत का कपास-व्यापार बहुत ही प्राचीन है। " पुनः वे ही लेखक लिखते हैं—

" Logs of Indian teak have been found in the temple of the Moon at Mughar (the "Ur" of the Chaldees) and in the palace of Nebuchadnezzar .. The trade in teak, ebony, sandalwood and black wood between Barygaza and the Eupprates was still flourishing in the 2nd cent. A, D. .... On the, Obelisk of Shalmanesar III (860 B. C.) are apes, Indian elephants, and Backtrian camels. '

अर्थात्— " मुघर के चन्द्र-मन्दिर में और नेबुकेडनजर के महल में भारतीय इमारती लकडी पाई गई है... ......[illegible] की दूसरी [illegible]ब्द में बेरीगाजा (भरुकच्छ भरौंच) व यूफ्रेटिस तटवर्ती प्रदेश के मध्य इमारती लकडी, सागोन, शीशम, चन्दन, अञ्जन आदि का व्यापार उन्नत अवस्था में था......... । ' शलमनसर तृतीय (८६० ई० पू०) के स्तम्भ पर बन्दर, भारतीय हाथी व बेक्ट्रिया के ऊँटों के चित्र खुदे हुए हैं।"

प्राचीन भारतीय व्यापार के सम्बन्ध में कनिंघेम अपनी " Ancient Geography of India " में लिखते हैं—

"As for commercial intercourse, Von Ithering (in his ' Prehistoric Europeans') and J. Kennedy (in his I. R. A. S. 1898, p. 241--85) have shown the activity of the early Indians in trading with the Persian Gulf tribes. A couple of Kanarese sentences found embodied in the Greek farce in the Papyrus of Oxyrhynchus of the 1 st and 2nd century A. D., indicates commercial activity even in Germany. There are clear statements in Tamil literature supporting Fahien's mention of early Indian's voyage to Java, Sumatra and China. "

" व्यापार के सम्बन्ध में व्हॉन इथरिंग और जे. केनेडी ने बताया है कि 'प्राचीन भारतीय फारस की खाडी के निकटवर्ती लोगों से व्यापार करते थे।' कानडी भाषा के दो वाक्य जो कि ऑक्जिरिहङ्कस के 'पेपिरस' (प्रथम व द्वितीय शताब्दि) में पाये जाते हैं, सिद्ध करते हैं कि जर्मनी से भी प्राचीन-भारत का व्यापार होता था। तामिल-साहित्य में ' प्राचीन भारतीयों की जावा, सुमात्रा व चीन तक की समुद्र-यात्रा के फाइयान द्वारा उल्लेख की पुष्टि में बहुतसे वचन मिलते हैं।' रॉलिन्सन महाशय प्राचीन-भारत व रोम के व्यापारिक सम्बन्ध के विषय में इस प्रकार लिखते हैं—

" Abundance of Indian luxuries in the reign of Nero. "

" Pliny [1st cent. A. D.] says that India, China and Arabia absorbed between them one hundred million sesterces per anum. This sum is claculated by

Mommsen to represent £ 1, 100,000 of which nearly half went to India."

"नीरो के राज्य में (प्रथम शताब्दि)भारतीय भोग-विलास की सामग्री का बाहुल्य"

"प्लीनी (प्रथम शताब्दि) कहता है कि भारत, चीन व अरब प्रतिवर्ष एक करोड 'सेस्टेस' ले जाते हैं। मॉमसेन ने इसका हिसाब लगाया है जो कि ग्यारह लाख पाऊण्ड के करीब होता है। इसका आधा भारतमें जाता था।

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि प्राचीन कालमें टायग्रिस व युफ्रेटिस नदियों के मध्यवर्ती प्रदेश बेबिलोनिया में भारतीय वस्तुओं (कपास, इमारती लकडी, हाथी आदि) का पर्याप्त प्रचार था। रोम के इतिहासकार प्लीनी के वचनों से भी स्पष्ट है कि प्राचीन काल में रोम के साथ भी भारत का व्यापारिक सम्बन्ध बहुत घनिष्ट था। भारतीय-संस्कृति को सार्वभौम स्वरूप देने का बहुत-कुछ श्रेय व्यापारियों को भी देना चाहिये, क्योंकि जैसे जैसे भारतीय व्यापार का विकास हुआ, वैसे वैसे विभिन्न देशोंके निवासी भारतीय संस्कृति के संसर्ग में आने लगे, साथ ही उससे प्रभावित भी होने लगे। मिश्र, सुमेर, बेबिलोनिया, चीन, यूनान, रोम, क्रीट आदि प्राचीन देशों की संस्कृति और सभ्यता का विवेचनात्मक अध्ययन करने से स्पष्ट होता है कि किस प्रकार ये सब देश आर्य-सभ्यता से प्रभावित हुए थे।

आर्य-जाति व आर्य-संस्कृति के सार्वभौम विकास का सर्वप्रथम प्रमाण प्राचीन काल की भिन्न-भिन्न भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन से प्राप्त होता है। 'जेन्द' भाषा व वैदिक संस्कृत बहुत ही मिलती-जुलती है। लेटिन, केल्टिक, स्लेव्होनिक, ग्रीक आदि भाषाएँ भी परस्पर और वैदिक संस्कृत से बहुत मिलती हैं। निम्न-लिखित उदाहरणों से यह कथन अधिक स्पष्ट हो जायगा।

(१) शतम्

'सेंटम' (Centum)	संस्कृत
'सेतेम' (Setem)	लेटिन
	जेन्द
'जिमटस' (Szimatas) या एकेटन (Ekaton)	यूनानी
'हंड्रेड' व सेंचरी (Hundred & Century)	अंग्रेजी
'सेट' (Cet)	केल्टिक
हुंड (Hund)	जर्मन

(२) 'अहम्'

'अहम्'	संस्कृत
एजेम (.Azem)	जेन्द
एजे (Aze)	बल्गेरिया की प्राचीन भाषा
हेगो (Hego)	यूनानी
इगो (Ego)	लेटिन
इक (Ik)	गॉथिक

(३) द्वौ (द्वा)

द्वौ (द्वा)	संस्कृत
द्व	जेन्द
डुओ (Duo)	यूनानी
,, ,,	लेटिन
ट्वै (Twai)	गॉथिक
द्व (Dva)	स्लेव्होनिक
टू (Two)	अंग्रेजी

इसी प्रकार त्रि, चतुर, पंच का भी हाल है।

[भाषासामञ्जस्य के कुछ उदाहरण अगले पृष्ठमें दिये हैं।]

इस भाषा-सामञ्जस्य से स्पष्ट है कि इन विभिन्न भाषाओं का प्राचीन संस्कृत से घनिष्ट सम्बन्ध है। इस पर से कदाचित् यह भी कहा जा सकता है कि इन भाषाओं को बोलनेवाली जातियाँ किसी समय एकत्रित रहती थीं और धीरे-धीरे पृथक् हो गईं। ऐसे ही सबल प्रमाणों के आधार पर इतिहासकारों ने यूरोप के अधिकांश लोगों को आर्य जाति का सिद्ध किया है। इसी भाव से प्रेरित होकर जर्मनी का राष्ट्र-निर्माता तथा इंग्लैण्ड के राजनीतिज्ञ आज अपने को आर्य कहने में गौरव मानते हैं। आर्य-संस्कृति के इस प्रभाव की पुष्टि में अन्य कई ऐतिहासिक प्रमाण मिलते हैं।

ई० पू० १७६० वर्ष के शिलालेख व ताम्रलेखों से मालूम होता है कि उस समय बेबिलोनिया में 'केसाइट' जाति के लोग राज्य करते थे। उन लेखों में उनके बहुतसे इष्ट देवताओं के नाम दिये हुए हैं, उनमें से कुछ ये हैं। 'Surias' (सुरियस, सूर्य) 'Indas' (इन्दस, इन्द्र), 'Maruthas' (मरुथस्-मरुत)।

संस्कृत	जेन्द	लेटिन	गॉथिक	लिथ्युनियन	इंग्लिश
पितृ	पितर्	पेटर (Pater)	फॉडर (Fadar)		फादर (Father)
मातृ	मातर्	मेटर (Mater)		मोटे (Mote)	मदर (Mother)
भ्रातृ	भ्रातर्	फ्रेटर (Frater)	ब्रदर (Brother)	ब्रोटेरलिस (Broterlis)	ब्रदर (Brother)
स्वसृ	जोव्हेन्हर (Xvanhar)	सॉरर (Soror)	स्विस्टर (Swister)	सेसु (Sesu)	सिस्टर (Sister)
सूनु	हुनु (Hunu)		सुनुस (Sunus)	सूनुस (Sunus)	सन (Son)

उनके कुछ राजाओं के नाम भी आर्य ही थे। इससे स्पष्ट है कि 'केसाइट' लोग आर्य-संस्कृति के रंग में रँगे हुए थे।

ई० पू० १३६० वर्ष के लगभग उत्तर-सीरिया में 'मिट्टानी' जाति के लोग राज्य करते थे। उनमें व 'हिट्टाइट' जाति के लोगों में युद्ध होने के कारण संधिपत्र (ताम्रपत्र) लिखा गया। उक्त पत्र के प्रारम्भ में चौदह देवताओं की स्तुति की गई है। उनमें से दस बेबिलोनिया के व चार वैदिक देवता हैं। यथा—

'Indar' (इन्दर, इन्द्र), Uruvna (उरुव्न, वरुण) या Arun (अरुन), Mitra (मित्र), Na-sa-ti-ia (नसतीय-नासत्यौ)।

दूसरे लेख में घोडों के विषय में लिखते हुए उनकी गणना की गई है। उसमें भी आर्य-भाषा के ही शब्दों का उल्लेख है। यथा—

'Aika' (ऐक), 'Teras' (तेरस-त्रि), Panza (पंज, पञ्च) 'Satta' (सत्त, सप्त), Nava (नाव, नव)।

इसी प्रकार कुछ राजाओंके नाम भी दिये हैं। वे इस प्रकार हैं- '~~B[illegible]aswa~~' (~~[illegible]~~ बृहदश्व) 'Yasadata' (यशदत), 'Artamanya' (अर्तमन्य)।

'हिट्टाइट' शिक्षालेख सन् १९१७ ई० में विद्वानों द्वारा पढे गये और संस्कृत भाषा के समान ही एक भाषा ढूंढी गई। उस भाषा के 'नु' अन्तवाली क्रियाओं के कुछ रूप भी प्राप्त हैं। यथा—

	एकवचन	बहुवचन
प्रथम पुरुष	वह्नु मि	वह्नु ओनि
मध्यम ,,	वह्नु सि	वह्नु तेनि
अन्य ,,	वह्नु जि	वह्नु न्जि

इस सम्बन्ध में पी० जाईल्स (P. Giles) 'केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया' के तीसरे अध्याय में इस प्रकार लिखते हैं-

"To the same period as the Boghazkoi inscriptions belong the famous letters from Tel-el-Amarna. In these occur references to the people of Mitani in North West Mesopotamia, whose princes bear names like Artatama, Tusratta and Suttarva, which seem unmistakably Aryan in form."

"बोगेज कोई शिलालेखों के समय के ही टेल-एल-एमर्ना के प्रसिद्ध पत्र हैं। इनमें पश्चिमोत्तर मेसोपोटेमिया के मिटानी लोगों का उल्लेख है, जिनके राजाओं के नाम इस प्रकार हैं-'अर्ततम' 'तुसरत्त' 'सुत्तर्न'। ये सचमुच में ही आर्यनाम हैं।"

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि 'मिटानी' लोग आर्य ही थे। ये लोग सेमेटिक संस्कृति के हृदय में कैसे पहुँचे गये, यह बात ऐतिहासिकों के लिये एक पहेली बन गई है। इस सम्बन्ध में तीन सिद्धान्त रखे जाते हैं।

(१) जेकोबी, पार्जिटर और कनो—

'मिटानी' लोग भारतवर्ष से ही समुद्रद्वारा बेबिलोनिया में आकर बसे होंगे।

(२) मेकडॉनेल—

मध्य-यूरोप से भारतवर्ष जाते समय आर्यों की एक शाखा 'बेबिलोनिया' में बस गई होगी।

(३) कास्पियन-समुद्र के उत्तरस्थ प्रारम्भिक निवास-स्थान से आर्यों की एक शाखा भारत में गई व तत्पश्चात् दूसरी 'बेबिलोनियाँ' में गई।

इस प्रकार विद्वान् लोग समझ नहीं सकते कि इतने प्राचीन काल में आर्य लोग बेबिलोनिया में कैसे पहुंच गये? यदि निष्पक्षभाव से विचार किया जाय, तो हम प्रथम सिद्धान्त के तथ्य को भली भाँति समझ सकते हैं। इस सम्बन्धमें 'Cambridge History of India' के तीसरे अध्याय में जो कुछ लिखा है, वह भी विचारणीय है-

" There seems in any case to be specific evidence for the supposition that by the fifteen century B. C tribes of Aryan stock held or exercised influence over a wide area extending from northern Asia Minor over N. W. Babylonia to Media, and there seems to be nothing to prevent us from assuming that even then or soon after, the Aryans pushed their way still eastwards and northwards mainly confining themselves to the territories south of the Oxus, but occasionally occupying lands between that river and the Jaxartes.'

'यथार्थ ही में इस अनुमान के लिये स्पष्ट प्रमाण हैं कि ई० पू० १५०० वर्षपूर्व आर्यवंशोत्पन्न जातियों का प्रभुत्व उत्तरीय एशिया मायनर और पश्चिमोत्तर बेबिलोनिया से लेकर मिडिया तक के विस्तृत क्षेत्र पर था और इस अनुमान के लिये भी कोई बाधा नहीं है कि आर्य लोग पूर्व और उत्तर की ओर विशेषकर ऑक्सस नदी के दक्षिण में, तथा उसके और जेक्सरटीस के मध्य की ओर अधिकाधिक फैल गये।'

यदि इन स्थानों के प्राचीन साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन किया जाय, तो उसमें भी आर्य-संस्कृति के प्रभाव का स्पष्ट उल्लेख मिलेगा। प्राचीन अरबी साहित्य में (मुहम्मद के जन्म के २००० वर्ष पूर्व) कहीं-कहीं आर्यों का उल्लेख आता है। मुहम्मद पैगम्बर के दो सहस्त्र वर्ष पूर्व से ही अरब के मक्कानगरमें प्रतिवर्ष एक महान् कवि-सम्मेलन आयोजित किया जाता था, जिसमें देश भर के महान् कवि भाग लेते थे। इन कवियों की कुछ कृतियाँ भी उपलब्ध हैं। स्थानाभाव से उनका उल्लेख यहाँ नहीं किया जा सकता। उनसे भी स्पष्ट होता है कि प्राचीन अरेबिया में आर्यसंस्कृति का प्रभाव था।

उपरोक्त प्रमाणों से स्पष्ट है कि प्राचीन भारत का व्यापारिक सम्बन्ध बेबिलोनिया, सिरिया, अरब, फिनीशिया, मिश्र, रोम, यूनान आदि पाश्चात्य देशों से स्थापित था और आर्यसंस्कृति का प्रचार भी इन देशों में पर्याप्त था। प्राचीन भारतीय संस्कृति ने इन देशों तथा यहाँ की संस्कृति को भी अपने रंग में रँग लिया था। इससे स्पष्ट है कि प्राचीन आर्य 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' आदि वेद-वचन को चरितार्थ करने में सर्वदा प्रयत्नशील रहते थे।

(वाणी)

ऋग्वेदीय शब्द-निर्वचनों

का

ऋग्वेदीय आधार।

[श्री० पं० रुलियारामजी कश्यप, एम्. एससी.]

कई एक वेद के महा विद्वानों की प्रेरणा के कारण मैं इन वैदिक निर्वचनों के अनुसन्धान में पुनः प्रवृत्त होने पर बाधित हुआ हूं। उनकी आत्मा का सन्तोष तथा उनके भावी कार्यों में जो सहायता उनको इनसे मिलेगी, ये दो भाव मुझे विशेष प्रोत्साहन इस रूखे कठिन कार्य में देंगे। ऋग्वेद बहुत बडा वेद है, परन्तु अनुसन्धानकर्ता इसी में विशेष रुचि रखते हैं, अतः यद्यपि मेरा विचार सामवेद को करने का था, फिर भी उनकी इच्छापूर्ति-निमित्त ऋग्वेद से ही आरम्भ करता हूं। यह कहना निरर्थक ही सा है कि वेद का वास्तव अर्थ तो इन वैदिक निरुक्तियों द्वारा ही हो सकेगा। अतः वेद के स्वतःसिद्ध होनेवाले अर्थ का एकमात्र उपाय होनेके कारण भी ये निर्वचन परम उपयोगी सिद्ध होंगे। सत्य तो यह है कि इन निर्वचनों के प्रकाशित होनेके पश्चात् जो वेदभाष्य इन के आधारपर रचे जायंगे, वह वेद से ही वेदार्थ होंगे, अतः स्कालर चाहते हैं कि जितनी शीघ्रता से यह दुष्कर कार्य सिद्ध हो जावे, उतना ही अच्छा है। क्योंकि इस विषयका प्रोद्घाटन मैंने ही सन १९२६ में वैदिक धर्मद्वारा करके फिर पाश्चात्य विद्वानों के सम्मुख सन १९३५ में भी रक्खा, इस कारण दोनों ही अर्थात् पाश्चात्य तथा प्राच्य प्रकार के विद्वानों के शिरोमणियोंने मुझे ही इस कार्यकरण पर बाधित किया है। आशा है उनके आशीर्वाद मुझे सफल बनायेंगे।

ऋग्वेदीय निरुक्तियां॥

॥ ईड्यः ॥ १ ॥

ओ३म्। अग्निमीळे ... ॥ (ऋग्वेद १।१।१)
अग्निः ... ईड्यो ... ॥ (ऋग्वेद १।१।२)

ईड्य वही है, जिसके सम्बन्ध में ईळ क्रिया की जावे। जिस कारण अग्नि की स्तुति मैं भी करता हूं, इस कारण वह वास्तव में स्तुतियोग्य ही है और उसकी स्तुति सबको करनी ही उचित है।

॥ ऋषिभिः ॥ २ ॥

अग्निः .... ऋषिभिरीड्यः ...॥ (ऋग्वेद १।१।२)
अग्निना रयिमश्नवत् ... ॥ (ऋग्वेद १।१।३)

ऋषि वही है जो रयिका अश्नवन करे। प्राचीन अथवा नवीन ऋषियों के पास धन भागा चला आता है। पर्याप्त धन उनके उपभोगनिमित्त उन्हें मिलता है। ऋषि निर्धन कंगाल का नाम नहीं।

॥ अध्वरं ॥ ३ ॥

अग्ने यं यज्ञमध्वरं ... ॥ (ऋग्० १।१।४)
अध्वर यज्ञ का ही दूसरा नाम है।

॥ अग्निः ॥ ४ ॥

अग्निः ... आगमत् ॥ (ऋग्० १।१।५)

जिसके सम्बन्ध में आगमनक्रिया का प्रयोग हो सके, अर्थात् जो आ सके वही अग्नि है।

... मरुद्भिरग्न आ गहि ॥ (ऋग्० १।१९।१-९)

हे अग्नि ! मरुतों के साथ आप आइये। नौ बार अग्नि के साथ आगमनक्रिया का यहां प्रयोग आगमन से अग्नि का सम्बन्ध सर्वथा असन्दिग्ध कर देता है।

॥ अग्निः ॥ ५ ॥

यदङ्ग...त्वमग्ने... ॥ (ऋग्० १।१।६)

जैसे अक्षरक्रम के उलटने से हिंसा करनेवाला सिंह कहलाता है, वैसेही अक्षरक्रम विपर्यय से 'अङ्ग=प्रिय' होने

वेदका वास्तव अर्थ वैदिक निरुक्तियों द्वारा ही हो सकेगा। वेदके स्वतः सिद्ध होनेवाले अर्थ का एकमात्र उपाय होनेके कारण भी ये निर्वचन परम उपयोगी सिद्ध होंगे। जो वेदभाष्य इनके आधार रचे जायंगे, वह वेदसेही वेदार्थ होंगे

के कारणही अङ्ग और अग्निः प्रिय के ही वाचक हैं। अग्नि प्रिय होनेसे ही अङ्ग कहा गया है और अङ्ग प्रिय होनेसे ही अग्नि है। (अग् न इ – अग्नि; अन् ग-अङ्ग)

॥ अङ्ग ॥ ६ ॥

यदङ्ग... (त्वमग्ने)... ॥ (ऋग्० १।१।६)
(अग्निः)...आ गमत् ॥ (ऋग्० १।१।५)

अङ्ग ही अग्नि है; अग्नि आता है, आगमनक्रिया करता है, अतः अङ्ग आ+ गमसे ही सिद्ध होता है, जैसे कि निरुक्ति सं० ४ में अग्निः की व्युत्पत्ति आ + गमसे सुझायी गई है।

॥ अग्निः ॥ ७ ॥

उप त्वाग्ने....एमसि ॥ (ऋग्० १।१।७)

अग्नि 'आ + इण्'-गतौ से सिद्ध होता है, इस के समीप सभी ओर से हम पहुंचते हैं।

॥ देवम् ॥ ८ ॥

अग्निमीळे.. देवम्... ॥ (ऋग्० १।१।१)
उप त्वाग्ने दिवेदिवे... ॥ (ऋग्० १।१।७)
...ऋतस्य दीदिविम्... ॥ (ऋग्० १।१।८)

यथार्थ ज्ञान वेद के प्रकाश करनेवाले (दीदिविम्) प्रकाशक (देवम्) अग्नि की मैं स्तुति करता हूं। प्रति दिन उस तुझके हे अग्नि ! हम समीप सभी ओर से पहुंचने का यत्न करते हैं।

॥ क्रतुः ॥ ९ ॥

अग्निर्होता कविक्रतुः.... ॥ (ऋग्० १।१।५)
यदङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि... ॥
(ऋग्० १।१।६)

क्रतुः वही है जो करे। क्योंकि अग्नि दाता का 'भद्र= कल्याण' करता है, इसी कारण वह क्रतुः है॥

॥ देवः ॥ १० ॥

अग्निः...ईड्यो... ॥ (ऋग्० १।१।२)
अग्निः...देवो... ॥ (ऋग्० १।१।५)
उप त्वाग्ने दिवेदिवे दोषावस्तर्धिया वयम्।
नमो भरन्त एमसि ॥ (ऋग् १।१।७)
दिवेदिवे ईड्यः = देवः ॥
(ईड्यं एव) वयं नमो भरन्त उप एमसि ॥

प्रतिदिन जो स्तुति किये जानेयोग्य है, वही देव है। देवस्तुति का अर्थ नमस्कारसहित देवकी उपासना, भक्ति में भर कर उसमें समाधिस्थ होना है॥

टीप्पनी– उपरोक्त १० निरुक्तियोंके अतिरिक्त ऋग्० १।१ से हमें अन्य सूचनाएं भी वेदके स्वतःसिद्ध भाष्यकरण के लिये मिलती हैं, जिन में से कतिपय निम्नलिखित हैं–

(१) अग्निः पुरोहित सदासे यज्ञनेतृत्वद्वारा जन, 'हित साधता' रहा है; पुरः-अग्र ही जो 'निः' नेता होकर 'हितः' हित करता रहा हो, वही अग्निः, वही पुरोहित है।

(२) ऋत्विज होता वही हैं, जो हवनयज्ञ करें- करावें, हां समयानुकूल ही प्रतिऋतु उचित यज्ञ होना चाहिये।

(३) यज्ञस्य देवं – अध्वराणां दीदिविम् राजन्ते दाशुषे रत्नधातमम् अर्थात् अध्वर नाम यज्ञ के देव नाम दीदिवि अर्थात् प्रकाशक तथा स्वयं प्रकाशमान और दाता के लिये रत्न अर्थात् उत्तमोत्तम धन प्रदान करनेवालों में सर्वश्रेष्ठ देव अग्नि की स्तुति सब को करनी चाहिये।

(४) अग्निः प्रतिदिन स्तुत्य देव है।

(५) नेता वही बन सकता है, जो सच्चा प्यारा हो तथा यदि कोई विद्या, धर्म, धन आदि दान करना चाहे, उसका सदा वह भला ही करे, ऐसा नेता अग्निः संज्ञा प्राप्त कर सकता है। उस जितने रत्न अन्य किसके पास हो सकते हैं। उसे समयोचित व्यवहार ही सदा करना चाहिए।

(६) मंत्रद्रष्टा ऋषियों के लिये उसे प्रतिदिन रयि= ऐश्वर्य का दान करते रहना आवश्यक है, जिससे उनकी पुष्टि हो, वह कंगाल न रह कर धन से भी प्रसिद्धि पायें और उनका वीरभाव तथा उनकी जनसंख्या न्यूनता से दूषित न होवे।

(७) यजमान का ऋषियों को दान तथा ऋषियों का धनी– सम्मान और दोनों का मिल कर सर्वहित-साधन ये सब श्रेष्ठतम कर्म यज्ञ ही हैं; अग्निपूजाही है; शिवशक्तिकी वास्तविक आराधना यही हैं क्योंकि इस से सब की सामर्थ्य कल्याण करने में ही व्यय होती है तब कोई न कोई कुमार अग्निःरूप बनकर ऋषियों तथा धनियों दोनों को ही तार देता हैं।

शुक्ल-यजुर्वेदीय शब्द निर्वचनों

का

शुक्ल-यजुर्वेदीय आधार।

[श्री० पं० हलियारामजी कश्यप]

स्वाध्याय-मण्डल की विशेष रुचि शुक्ल यजुर्वेद में रही है। औंधनरेश भी इसीसे विशेष सहानुभूति रखते हैं। पूज्य स्वामिजी महाराज ने भी सब से पहिले इसी वेद का भाष्य किया था। इस कारण इसी वेद के शब्दों के इसी वेद के मन्त्रों के आधार पर निर्वचनपरक अर्थ हम अब वैदिक धर्म में छापने लगे हैं। आशा है स्वाध्यायमण्डल तथा वैदिक अनुसन्धानमय स्वाध्याय दोनों को ही इस से लाभ पहुंचेगा, तथा गवेषणाप्रिय वैदिक विद्वानों की आत्मा भी इस से तृप्त होगी। अस्तु।

अथ प्रथमोऽध्यायः।

पवित्र शब्द का जनसाधारण में प्रचलित अर्थ है "शुद्ध, पवित्र करनेवाला तथा जो स्वयंशुद्ध पवित्र हो" परन्तु देखिये वेद इस शब्द के अर्थ क्या कर रहा है।

॥ पवित्र ॥ १ ॥

... देवस्त्वा सविता पुनातु ... पवित्रेण ... ॥

(यजु० १।३)

सवितादेव तुम्हें पवित्र के द्वारा पवित्र करे।

तात्पर्य यह निकला कि कोई जिस के द्वारा किसी अन्य को पवित्र करे, वही साधन "पवित्र" का वाचक है।

अर्थात् वेदके अनुकूल पवित्र उसे भी कहा जाता है कि जिसके द्वारा कुछ शुद्ध, पवित्र किया जाय।

अतः "पुनाति येन साधनेन तदपि पवित्रं एव"

"पवित्र" शब्द इन्हीं अर्थों में प्रयोग यजु० १।१२ में इन शब्दों में हुआ है।

... वैष्णव्यौ .. वः उत्पुनामि ... पवित्रेण ... ॥

... मैं तुम दोनों को पवित्रकारक (जल आदि) साधनों के द्वारा उत्तमतया शुद्ध पवित्र करता हूं।

फिर इसी अध्याय के अन्तिम मन्त्र (अर्थात् यजु० १।३१) में भी यह "पवित्र" शब्द इन्हीं अर्थों में निम्न शब्दों में प्रयुक्त हुआ है यथा-

... सवितुस्त्वा प्रसवऽउत्पुनामि पवित्रेण ... ॥

... सवितुर्वः प्रसवऽउत्पुनामि ... पवित्रेण ... ॥

अर्थात् मैं तुमको तथा तुम दोनोंको पवित्रकारक साधन के द्वारा उत्तमतया शुद्ध, पवित्र करता हूं।

इन सब उद्धरणों से सुस्पष्टतया ज्ञात हो जाता है कि वेद "पवित्र" शब्द का प्रयोग "जिसके द्वारा शुद्ध, पवित्र किया जाय, वह साधन" इन अर्थों में भी बहुधा करता है।

॥ पवित्र ॥ २ ॥

वेद इसी शब्द का प्रयोग एक और अर्थ में भी करता है, वह अब दर्शाया जाता है, यथा-

पवित्रे स्थो वैष्णव्यौ ... वः उत्पुनामि ... ॥

(यजु० १।१२)

तुम दोनों पवित्र हो। मैं तुम दोनोंको उत्तम रीत्या पवित्र करता हूं।

तात्पर्य यह निकला कि "पवित्र" शब्द यहां उसका वाचक है, जिस को कोई पवित्र करता है।

अर्थात् जिसको पवित्र करना हो, वह भी पवित्र ही होता है, अपवित्र नहीं।

यम् उत्पुनाति तदेव पवित्रम् ॥

लौकिक प्रयोग से अतिरिक्त "पवित्र" शब्द का यह दूसरा प्रयोग है, जो उपरोक्त प्रथम प्रयोग से सर्वथा भिन्न है।

॥ पवित्र ॥ ३ ॥

पवित्र करनेवाले, शुद्ध करनेवाले, के अर्थ में 'पवित्र' शब्द का जो जनप्रचलित प्रयोग है, वैसा प्रयोग भी वेद में बहुधा मिलता है यथा—

वसोः पवित्रमसि... ॥ (यजु० १।२)

हे यज्ञ ! तू धन का पवित्र करनेवाला है।

वसोः पवित्रमसि शतधारं वसोः पवित्रमसि सहस्रधारम्। देवस्त्वा सविता पुनातु वसोः पवित्रेण शतधारेण... ॥ (यजु० १।३)

हे यज्ञ ! तू धन का पवित्र करनेवाला सैकडों हजारों प्रवाहों में बहनेवाला है। तू अत्यन्त पवित्रकारक है। हे मेरे यजमान ! सविता देव आप को सैकडों सहस्रों प्रवाहों में बहनेवाले तथा धन को अतिशय पवित्र करनेवाले यज्ञ के द्वारा पवित्र करें।

यहां पर एक बार मंत्र २ में तथा तीन बार मंत्र ३ में पवित्र शब्द का प्रयोग वेदमें जनप्रचलित "पवित्र करने–वाला" अर्थ में ही हुआ है। हां एकवार प्रयोग मं० ३ के उत्तरार्ध में "जिसके द्वारा पवित्र करता है" अर्थ में भी हुआ जैसा कि ऊपर निरुक्ति १ में भी पूर्ववर्णित हो चुका है।

॥ सुप्वा ॥ ४ ॥

...देवस्त्वा सविता पुनातु...सुप्वा...... ॥
(यजु० १।३)

शोभन पवित्रकर्ता सविता देव तुम्हें पवित्र करें।

सुप्वा वही है जो सुष्ठुतया (पुनाति) पवित्र करता है।

सु पुनाति इति सुप्वा ॥

जो सुन्दर रीत्या पवित्र करे, वही (सुप्वा) सुन्दरतया पवित्रकारक।

जनता में जो "पवित्र" का अर्थ प्रचलित है, वेदमें सुप्वा का वही सुन्दर पवित्र पावक अर्थ है।

सुप्वा पुनातेः शुद्धीकरणकर्मणः सु पूर्वात्।

॥ धूर् ॥ ५ ॥

धूरसि धूर्व धूर्वन्तं धूर्व तं योऽस्मान्धूर्वति तं धूर्व यं वयं धूर्वामः... ॥ (यजु० १।८)

नाशक हो आप, नष्ट कीजिये, नाश कर रहे को, नष्ट कीजिये, उस को जो हमको कष्ट देता है, उसको नष्ट करो, जिसको हम नष्ट करते हैं...।

परमात्मा उस दुष्ट का नाशक है, जो दुष्ट सज्जनों को नाश कर रहा हो।

धूर्वतीति धूर् धूर्वान् वा ॥

धूः वा धूर् वा धूर्वान् ये सब नाम उसके हैं जो धुर्वी–क्रिया करे अर्थात् नाशक वही हैं जो नाश करे।

धूर् धूर्वान् वा धूर्वतेः।

हिंसा–कर्मणः।

हम सज्जन जिस हिंसाशील को नाश करते हैं, हे सर्व-पापविनाशक भगवान् ! आप भी कृपया उसे नाश ही कर डालिये। हां उसे ही जो दुर्जन हम सज्जनों को मारता है।

॥ सुशमि ॥ ६ ॥

अग्नेस्तनूरसि...वानस्पत्यः सऽइदं देवेभ्यो हविः शमीष्व सुशमि शमीष्व... ॥
(यजु० १।१५)

अग्निः की देह हो...वनस्पति से उत्पन्न, वह यह देवोंके निमित्त आहुतिः (हो) शान्त करो। हे अच्छे प्रकार दुःख शान्त करनेवाली ! हे सुशमि ! (शमी वृक्ष की समिधा !) तुम (यज्ञ में प्रयुक्त होकर) (सर्वथा हमारे दुःख, दरिद्र) शान्त (ही) कर दो।

सुशमि शमतेः शान्तीकरणकर्मणः सु पूर्वात् ॥

सुष्ठुतया शमति इति सुशमि ॥

सुशमि शान्त करनेवाली का ही नाम है ॥

॥ धान्यम् ॥ ७ ॥

धान्यमसि...प्राणाय त्वोदानाय त्वा व्यानाय त्वा...आयुषे धां...चक्षुषे त्वा... ॥
(यजु० १।२०)

तू धान्य है, हे धारण किये जानेयोग्य धान (चावल) आदि अन्न ! (धान्यं असि) मैं तुझे प्राण, उदान, व्यान (आदि निज शरीरस्थ वायुओं) की पुष्टि के लिये तथा (लम्बी सुखमय) आयु के लिये और दृष्टि (की उत्तमता) के लिये (धाम्) धारण करता हूं ... ।

धान्यं दधातेर्धारणकर्मणः ॥

धान्य वही है, जिसके सम्बन्धमें धारणक्रिया की जाये ।

दधाति एव इदं तस्माद्धान्यं नाम ॥

॥ धान्यम् ॥ ८ ॥

धान्यमसि धिनुहि देवान् ... ॥ (यजु० १।२०)

हे धान् (चावल) ! तु तृप्ति करने में समर्थ है । (धान्यं असि) अतः देवों को तृप्त, सुप्रसन्न, पुष्ट कर ।

धान्यं धिनोतेः प्रीणनकर्मणः ॥

धान्य वही है, जो धिनोति क्रिया समर्थ हो प्रीणाम, तर्पण, कर्मकुशल है ।

धिनोति देवान् अन्यान् च तस्माद्धान्यमुच्यते ॥

॥ प्रसव ॥ ९ ॥

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवे ... सं वपामि ... ॥ (यजु० १।२१)

प्रसव में संवपन करता हूं अर्थात् प्रसव (सृष्टि) वही है, जिस में प्रकृष्टतया सम्यक् प्रकारेण वपनक्रिया की जाय, अर्थात् उत्तम विधि से बहुतही अच्छी तरह बीज बोया जाय (प्रसवे सं वपामि) ।

प्रसवः वपते प्र-सम्-पूर्वात् ॥

प्रकृष्टतया सम्यक्तया वपति ।

बीजम् क्षिपति धारयति च अस्याम् इति प्रसवः ।

॥ उरुप्रथाः ॥ १० ॥

...उरुप्रथाऽउरु प्रथस्वोरु ते यज्ञपतिः प्रथताम्... ॥ (यजु० १।२२)

हे बहुत विस्तृत ! (उरुप्रथाः) बहुत विस्तृत हो (उरु प्रथस्व) यज्ञ का रक्षक स्वामि तुम्हें बहुत विस्तृत करे । (ते ... प्रथताम्) उरुप्रथाः वही है, जो स्वयं बहुत विस्तृत हो सके तथा जिसे कोई बहुत विस्तृत कर सके ।

उरुप्रथाः प्रथतेः विस्तारकर्मणः उरु (बहु) पूर्वात् । उरु बहु प्रथति विस्तृतो भवति प्रथ्यते विस्तार्यते वा सः उरुप्रथाः ॥

आभीक्ष्ण्य को 'नित्य' कहते हैं, अर्थात् कर्ता का क्रिया को विना रुके करते ही चले जाना 'आभीक्ष्ण्य' कहाता है, उसीको 'नित्यता' कहा गया है।

अथ केषु वीप्सा ?— सुप्सु वीप्सा। का पुनः सा ? व्याप्तिविशेषविषया प्रयोक्तुरिच्छा वीप्सा। का पुनरसौ ? नानावाचिनामधिकरणानां क्रियागुणाभ्यां युगपत् प्रयोक्तुं व्याप्तुमिच्छा वीप्सा, नानाभूतार्थवाचिनां शब्दानां यान्यधिकरणानि वाच्यानि तेषां क्रियागुणाभ्यां युगपत् प्रयोक्तुमिच्छा वीप्सा।

वीप्सा किनमें होती है ? सुबन्तों में वीप्सा होती है। वीप्सा क्या होती है ? वाक्य कहनेवाले की व्यापकता बतलाने की इच्छा वीप्सा कहाती है ? वह क्या ? नाना पदार्थवाचक शब्दों के वाच्य पदार्थों में एकही बार सबमें एक प्रकार की क्रिया या गुणों के बतलानेकी इच्छा वीप्सा कहाती है।

आभीक्ष्ण्यं क्रियाधर्मः। वीप्सा च प्रयोक्तुर्धर्मः॥
आभीक्ष्ण्यं तिङन्तेष्वव्ययसंज्ञककृदन्तेषु च
क्त्वाणमुलोर्लोटश्च द्विर्वचनापेक्षायामेव पौनः
पुन्यप्रकाशने शक्तिः। यङ् तु तन्निरपेक्षः, तत्रापि
क्रियासमभिहारे पौनःपुन्यं द्रष्टव्यम्॥

आभीक्ष्ण्य अर्थात् नित्यता क्रिया का धर्म है और व्याप्ति बतलाने की इच्छा वक्ता का धर्म है। उदाहरण जैसे— नित्यता। पचति पचति। जल्पति जल्पति। लुनीहि लुनीहि। स्मारं स्मारं रोदिति। लोकमें वह पकाही पका रह है। बकही बक रहा है। काटही काट रहा है। याद कर-करके रोता है। यङ् प्रत्यय स्वयं विना द्विर्वचन के ही पुनः पुनः का अर्थ बतलाता है। यदि वहां भी क्रिया-समभिहार हो, तो वहां भी द्विर्वचन हो जाता है, जैसे- पापच्यते पापच्यते। पकाताही पकाता रहता है। इत्यादि। वीप्सा जैसे- ग्रामो ग्रामो रमणीयः। गांव गांव सुन्दर है। इसी प्रकार वेदके पुनः शब्दप्रयोगों में भी नित्यता और वीप्सा का अभिप्राय जानना चाहिये। इति दिक्॥

२. पथस्पथः परि पतिं धीवतो धीवतः सखा।
शृण्वे वीर उग्रमुग्रं पन्यं पन्यमित्सोतारः॥

यज्ञा यज्ञा वो अग्नये गिरा गिरा च दक्षसे।
विशो विशो वो अतिथिं वीप्सा सर्वेषु विद्यते॥

[१] पथस्पथः परिपतिं वचस्या० ....
०धियंधियं सीषधाति प्र पूषा॥
(ऋ० ६।४९।८)

[२] धीवतोधीवतः सखा। (ऋ० ६।५५।३)

[३] शृण्वे वीर उग्रमुग्रं दमायन्नन्यमन्य-
मतिनेनीयमानः। (ऋ० ६।४७।१६)

[४] पन्यंपन्यमित्सोतार आ धावत
मद्याय। (ऋ० ८।२।२५)

[५] यज्ञायज्ञा वो अग्नये गिरागिरा च
दक्षसे (ऋ० ६।४८।१)

[६] विशोविशो वो अतिथिं वाजयन्तः
पुरुप्रियम्। (ऋ० ८।७४।१)

इन समस्त ऋचाओंमें वीप्सा है।

४. प्रायेण व्यक्तिभेदस्य वीप्सैकस्या अपि क्वचित्।
अग्निमग्निं हवीमभिरिति तत्र निदर्शनम्॥
५. देवंदेवं वो अवसे चेन्द्रमिन्द्र गृणीषणि।
६. तन्तमिद्राधसे महे पादाश्चात्र निदर्शनम्॥
सुबन्तस्य द्विर्वचने।

प्रायः भिन्नभिन्न पदार्थोंमें वीप्सा (अर्थात् एक गुण या एक क्रियाको एक साथ कहनेकी इच्छा) होती है, परन्तु कहीं कहीं एक पदार्थ में भी वीप्सा होती है। जैसे-

[१] अग्निमग्निं हवीमभिः सदा हवन्त
विश्पतिम्। (ऋ० १।१२।२)

यहां 'अग्नि' एकही तत्त्व है, तो भी वीप्सा का प्रयोग है।

देवंदेवं वोऽवस इन्द्रमिन्द्रं गृणीषणि।
(ऋ० ८।१२।१९)

तंतमिद्राधसे मह इन्द्रं चोदामि पीतये।
(ऋ० ८।६८।७)

ऋचाओंके ये चरण भी इसी बातके दृष्टान्त हैं कि इनमें एक व्यक्तिमें भी वीप्सा विद्यमान है। परन्तु ये सब वीप्साएं सुबन्त-पदोंमें हैं।

तिङन्तस्यात्र नित्यता।

एवं विधेऽपि नित्यार्थे द्विरुक्तिरिति केचन।

७. वदन्त्यन्ये कालभेदाद् अग्निरेकोऽपि भिद्यते।
विद्यते तत्र वीप्सेति देशभेदाद् अथापरे।

यहां तिङन्तपदमें नित्यता (आभीक्ष्ण्य) अर्थ होता है। इसी प्रकार नित्य पदार्थ में भी द्विर्वचन किया जाता है, ऐसा कुछ विद्वानों का मत है; अन्य आचार्य कहते हैं कि कालभेदसे एकही पदार्थ में वीप्सा होती है, कालभेदसे अग्नि एक भी अनेक हो जाता है, अन्योंके मतसे एकही पदार्थ देशभेदसे भिन्न हो जाता है, इस कारण वीप्सा होती है।

[वीप्सा के लिये नाना पदार्थ होने आवश्यक हैं, परन्तु अग्नि, देव, तत्, इन्द्र आदि पदार्थ एक होनेपर भी द्विर्वचन है। इससे वहां शंका उत्पन्न हुई, इसका समाधान तीन प्रकार से आचार्यों ने दिया है। (१) क्रिया के आभीक्ष्ण्य के समान पदार्थ में भी 'पौनः पुन्य' या आभीक्ष्ण्य होना सम्भव है। (२) कालभेद से एकही अग्नि कई प्रकार का होना सम्भव है, (३) देशभेदसे।

भाष्यकारोंने एकही पदार्थ का पदार्थभेदभी एक चौथा प्रकार माना है- जैसे- 'अग्निमग्निं हवीमभिः।' (ऋ० १।१२।२)में ऋषि दयानन्द पदार्थभाष्यमें लिखते हैं, 'अग्निम्। अग्निम्॥'

'अग्निम् परमेश्वरम्। अग्निम् विद्युद्रूपम्।' भावार्थ में लिखते हैं-

हे मनुष्या युष्माभिर्विद्युदाख्यस्य प्रसिद्धस्याग्नेश्च सकाशात् सुखानि भोक्तव्यानि।

इसी प्रकार स्कन्दस्वामी लिखते हैं—

'अग्निमग्निम्' भावान् कश्चिदग्निः तं सर्वम्।

इस लेखसे देशभेद, स्थानभेद, और पदार्थभेद सभी गृहीत हो सकते हैं। एक 'अग्निपद'से आत्मा, परमेश्वर, प्राण, विद्वान्, अग्नि, विद्युत्, सूर्य आदि सब वाच्यपदार्थ ग्रहण हो सकते हैं, इस प्रकार यह वीप्सा स्वतः नाना पदार्थोंमें हो जानी सम्भव है। इसी प्रकार अन्य दृष्टान्तों में भी समझें। सायण लिखते हैं-

यद्यप्यग्निः स्वरूपेण एक एव तथापि प्रयोगभेदाद् आहवनीयादिस्थानभेदात् पावकादि विशेषणभेदाद् वा बहुविधत्वमभिप्रेत्य 'अग्निमग्निम्' इति वीप्सा।

अग्नि स्वरूप से एक है, तो भी प्रयोगभेदसे, स्थान भेदसे पावक आदि विशेषणभेद से नानाविध जानकर वीप्सा का प्रयोग है

अथवा- लोक में स्वार्थ में भी द्विर्वचन देखा गया है। और संबोधन में सम्मति अर्थात् पूजा, आदरातिशय में भी द्विर्वचन का विधान है, वेद में सब विधियें विकल्प से होती हैं। इस लिए 'अग्निम् अग्निम्' वीप्सा न होकर आदरातिशय, पूजा वा स्वार्थ में भी द्विवर्चन संगत है। जैसा वार्तिक है-

स्वार्थेऽवधार्यमाणेऽनेकस्मिन् द्वे भवत इति वक्तव्यम् स्वार्थे एतद्द्विवचनं न वीप्सायाम्॥ (पा० ८।१।१२ वा० काशिका)

वाक्यादेरामन्त्रितस्यासूया-संमति-कोपकुत्सनभर्त्सनेषु (पा० ८।१।८) संमतिः पूजा (काशिका) तथा च दीक्षितः सर्वं बाहुलकेन समाधेयम्]

८. सम्प्रोपोदां द्विर्वचने स्मर्यते पादपूरणे।
संसमिद्युवसे वृषन् प्रप्रयज्ञं पृणीतन॥

९. उपोप मे परा मृश किं नोदुदु हर्षसे च।

सम्, प्र, उप, उद् इन उपसर्गों का द्विर्वचन पादपूर्ति के निमित्त विधान किया है। जैसे—

[१] संसमिद्युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य आ। (ऋ० १०।१९१।१)

[२] प्रप्र यज्ञं पृणीतन। (ऋ० ५।५।५)

[३] उपोप मे परा मृश०। (ऋ० १।१२६।७)

[४] किं नोदुदु हर्षसे दातवा उ। (ऋ०४।२१।९)

[प्रसमुपोदः पादपूरणे (पा० ८।१।६) सामर्थ्यात् च्छन्दस्यैवैतद् विधानं। भाषायां अनर्थकं स्यात् प्रयोगाभावात्। काशिका। उपसर्गों का द्विर्वचन लोकमें नहीं दीखता, केवल वेद में ही इसका प्रयोग है।]

न पादपूरणा अन्ये परापाभीति ते त्रयः ।
१०. अपाप शक्रोऽभ्यभि हि मो षु णश्च परा परा ॥
वीप्साविशेष एतेषु द्विरुक्तेरवगम्यते ॥

परा, अप और अभि ये तीन उपसर्ग द्विरुक्त होकर भी पादपूर्तिके लिए नहीं होते। निम्नलिखित ऋचाओं में द्विर्वचन का अभिप्राय वीप्सा विशेष प्रतीत होता है।

[१] अपाप शक्रस्ततनुष्टिमूहति। (ऋ०५।३४।३)

[२] अभ्यभि हि श्रवसा ततर्दिथोत्सं न कं चिज्जनपानमक्षितम्। (ऋ० ९।११०।५)

[३] मो षु णः परापरा निर्ऋतिर्दुर्हणा वधीत्। (ऋ० १।३८।६)

११. अधोधो निर्ऋतिर्मास्मान् सर्वथा दुर्हणा वधीत्।
एवमभ्यभिहीत्यत्र पुनःपुनरभिक्रमः ॥
१२. योऽलङ्करिष्णुः पुरुषस्ततनुष्टिः स उच्यते।
मघवा यजमानं तं पुनः पुनरपोहति ॥

दुःख से नाश होनेवाली 'निर्ऋति' नीचे ही नीचे हमें न मारे। 'मो षु णः' ऋचा का यह तात्पर्य है। इसी प्रकार 'अभ्यभि हि' ऋचा में भी पुनः पुनः क्रिया का प्रारम्भ प्रतीत होता है। जो पुरुष अलंकार धारण करनेवाला है, वह 'ततनुष्टि' कहाता है। इन्द्र उस यजमान को पुनः चाहता है।

[माधवभट्ट की कारिका में- "अधोधो निर्ऋर्मास्मान् दुर्हणा वधीत्" ऐसा पाठ है। वर्तमान में उपलब्ध ऋग्वेद-संहिताका पाठ 'दुर्हणा' है। सायण लिखते हैं—

"दुर्हणा केनापि हन्तुं दुःशक्या"

जिसे कोई भी सुगमता से न मार सके। स्कंदस्वामी के भाष्य में पाठ है—

निर्ऋतिर्मृत्युदेवता दुर्हणा। दुःखं हन्तीति दुर्हणा।

सम्भवतः माधवभट्ट और स्कन्दस्वामी के ऋग्वेद का पाठ 'दुर्हणा' है। पाठ दोनों सम्भव हैं, दोनों प्रकार के पद विद्यमान हैं जैसे—

[१] अवं स्म दुर्हणायतो मर्तस्य तनुहि स्थिरम्। (ऋ० १०।१३४।२)

[२] त्वं नो अस्या इन्द्र दुर्हणायाः पाहि०। (ऋ० १।१२१।१४)

'दुर्हणा' जैसे—

[१] यो नो मरुतो अभि दुर्हणायुः०। (ऋ० ७।५९।८)

[२] शिमीवतो भामिनो दुर्हणायून्। (ऋ० १।८४।१६)

दोनों पाठों में धातुभेद है।

दुर्हणायुः परैर्दुःसहेन क्रोधेन युक्तः हृणीयतिः क्रुध्यति कर्मा। (सायणः)

'परापरा' अत्यन्तपरा युष्मत् प्रसादादेव दूरवर्तिनीत्यर्थः। (स्कंदस्वामी)

'परापरा'- उत्कृष्टादप्युत्कृष्टा अतिबला इत्यर्थः। (इति सायणः)

'परापरा' या परा उत्कृष्टा चासावपराऽनुत्कृष्टा च सा। (इति दयानन्दः)

इस प्रकार सायण के मत में 'परा' उपसर्ग के द्विर्वचन नहीं। प्रत्युत परा शब्दको द्विर्वचन है। ऋषि दयानन्द के मत में 'पराऽअपरा' पाद पाठ होना चाहिये। इस रीतिसे द्विर्वचन है ही नहीं हैं।]

१३. इन्द्रावरुण नू नु वामिति नुः पूरणो यथा।
तद्वत् सर्वानिमानाहुरपरे पादपूरणान् ॥
१४. उदाहरणबाहुल्यात्प्रादीनामेव पाणिनिः।
अनुशास्ति द्विर्वचनमिति केचिद्व्यवस्थिताः ॥

इन्द्रावरुण नु वां०। (ऋ० १।१७।८)इस ऋचामें 'नु' पद द्विरावृत्त है, वह पादपूर्ति के लिये हैं। इसी प्रकार दूसरे विद्वान् इन सब द्विर्वचन प्रयोगों को पादपूर्ति के लिये मानते हैं।

कुछ आचार्यों का मत है कि उदाहरण तो अनेक उपसर्गों के हैं, परन्तु उनके बहुत होनेसे पाणिनि आचार्य ने प्र, सम्, उप, उद् इनका ही द्विर्वचन विधान किया है, यह उपलक्षण समझना चाहिये। ऋषि दयानन्द के मत में नु, नु दोनों क्रमसे क्षिप्रार्थ और हेत्वपदेशमें हैं। पादपूर्त्यर्थक नहीं हैं।

द्विर्वचनसम्बन्ध में पाणिनीके अनुसार द्विर्वचन के नियम संक्षेपतः इस प्रकार हैं—

(१) नित्यवीप्सयोः ॥४॥ (२) परेर्वर्जने ॥५॥
वर्जन् अर्थ में 'परि' को द्विर्वचन होता है।

(३) **उपर्यध्यधसः सामीप्ये**। समीप अर्थ में उपरि, अधि, अधः, तीनको द्विर्वचन होता है। (४) **वाक्यादेरामन्त्रितस्यासूया-संमति-कोप-कुत्सन-भर्त्सनेषु**। ॥८॥ वाक्यके आदिमें सम्बोधन पद द्विर्वचन होता है, और इससे असूया, पूजा, कोप, कुत्सन, और भर्त्सना (डांट, डपट) के अर्थ प्रतीत होते हैं। (५) **एकं बहुव्रीहिवत्**॥९॥ 'एक' पद को द्विर्वचन होता है, एकैकम्। (६) **आबाधे च** ॥१०॥ पीडा बतलाने अर्थमें द्विर्वचन होता है। (७) **प्रकारे गुणवचनस्य**॥११॥ भेद और सादृश्य अर्थमें गुणवाचक पद को द्विर्वचन होता है। (८) **आनुपूर्व्ये द्वे भवतः** ॥वा॥ आनुपूर्वी अर्थमें द्विर्वचन होता है। जैसे- अग्रे अग्रे सूक्ष्माः। (९) **स्वार्थेऽवधार्यमाणेऽनेकस्मिन्द्वे भवतः** ॥वा॥ स्वार्थ में अवधारण हो तो द्विर्वचन होता है। जैसे 'माषं माषं देहि।' (१०) **चापले द्वे भवतः** ॥ वा ॥ **नावश्यं द्वावेव शब्दौ प्रयोक्तव्यम्। किं तर्हि यावद्भिः शब्दैः सोऽर्थोऽवगम्यते तावन्तः प्रयोक्तव्याः**॥ चापल अर्थात् घबराहटसे कहनेमें द्विर्वचन होता है, इस अभिप्राय से दो तीन चार जितनी वार कहनेसे प्रयोजन सिद्ध हो उतनी वार कहा जा सकता है। जैसे-अहिः अहिः, अहिः बुद्ध्यस्व। चेत सांप, सांप, सांप, । (११) **क्रियासमभिहारे द्वे भवतः**। ॥वा॥ क्रियाके पुनः पुनः होनेमें द्विर्वचन होता है। जैसे- भोजं भोजं व्रजति। खा खाकर जाता है। (१२) **अव्यक्तानुकरणे डाचि द्वे भवतः**।वा०। अव्यक्त शब्दके अनुकरण बतलाने अर्थमें डाच् प्रत्यय हो तो द्विर्वचन होता है, जैसे-पटपटा करोति। पड पड करता है। (१३) **कर्मव्यतिहारे सर्वनाम्नो द्वे भवतः** ॥ वा० ॥ परस्पर कर्मके अदलाबदले अर्थमें द्विर्वचन होता है, जैसे- **अन्योन्यम् इतरेतरान् परस्परम्**। (१४) **अकृच्छ्रे प्रियसुखयोर्वा**। प्रिय, सुख शब्दोंको दुःखाभाव अर्थमें द्विर्वचन होता है- **प्रियाप्रियेण ददाति सुखसुखेन ददाति**। (१५) **यथास्वे यथायथाम्** ॥१४॥ **द्वन्द्वं रहस्य-मर्यादा-वचनव्युत्क्रमणयज्ञपात्रप्रयोगाभिव्यक्तिषु**। ॥१५॥ ठीकठीक अर्थ में 'यथायथम्' और रहस्य, मर्यादावचन, पृथक् रहना, यज्ञपात्रों के प्रयोग, और अभिव्यक्ति अर्थ में 'द्वन्द्व' निपातन हैं।

इसी प्रकार वेदों में आये द्विर्वचनोंपर विचार करके अर्थों का यथावत् निश्चय कर लेना चाहिये, सबको पादपूरणार्थ नहीं मान लेना चाहिये।]

इति तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः।

ऋतस्य गोपावध्यायं व्याचिख्यासति माधवः।
पूरणत्वापूरणत्वे वाच्यमेव प्रदर्शयन्॥

'ऋतस्य गोपावधि०' (ऋग्वेद मं० ५।६३।१)

(ऋ० अष्टक ४, अध्याय ४)

अध्याय की व्याख्या करनेके पूर्व माधवभट्ट पूरणार्थक और अपूरणार्थक पदोंके सम्बन्धमें विशेष प्रवचन करते हैं।

पूरणार्थक और अपूरणार्थक

१. अवान्तरेषु वाक्येषु बहुष्वावर्तते क्रिया।
अश्याम तं काममग्न इत्याद्यत्र निदर्शनम्॥

बहुत से अवान्तर वाक्योंमें क्रिया पुनः दोहराई जाती है। जैसे—

[१] अश्याम तं काममग्ने तवोती अश्याम रयिं रयिवः सुवीरम्। अश्याम वाजमभि वाजयन्तोऽश्याम द्युम्नमजराजरं ते॥ (ऋ० ६।५।७)

इस ऋचा में 'अश्याम' क्रियापद चार वार पठित है।

२. येनाव तुर्वशं यदुं येन कण्वं धनस्पृतम्।
एवंविधेऽनुषङ्गेण वाक्यार्थस्य प्रदर्शनम्॥

३. अनुषङ्गाय येनेति पुनरावर्तते पदम्।
तादृशेष्वस्ति पूरणत्वमिति स्थितिः॥

येनाव तुर्वशं यदुं येन कण्वं धनस्पृतम्।

(ऋ० ८।७।१८)

वतुर्थोऽध्यायः ।]

ऐसे स्थलमें अनुषङ्ग से वाक्यका अर्थ बतलाया जाता है। अनुषङ्ग (प्रकरण) से 'येन' पद पढा गया है। ऐसे स्थलों में पद की पुनः आवृत्ति पादपूरणार्थक नहीं है।

४ नहि ते क्षत्रं न सहो न जातो न जनिष्यते ।
एवमन्वह मासाश्च तादृशाश्च न पूरणाः ॥

१. नहि ते क्षत्रं न सहो न मन्युं वयश्चन नामी पतयन्त आपुः । नेमा आपो अनिमिषं चरन्तीर्न ये वातस्य प्रमिनन्त्यभ्वम् ॥
(ऋ० १।२४।६)

२. न त्वावाँ इन्द्र कश्चन न जातो न जनिष्यतेऽति विश्वं ववक्षिथ॥ (ऋ० १।८१।५)

३. न त्वावाँ अन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते । (ऋ० ७।३२।२३)

इन ऋचाओं में न कितनीही वार पठित है। इसी प्रकार अनु, अह, मा, सः इत्यादि पदों की आवृत्ति है। परन्तु वे पादपूरणार्थक नहीं है।

५. भवन्तु नः सुत्रात्रासः सुगोपा इति दृश्यते ।
त्राणगोपनयोर्भेदान्न गोपा इति पूरणः ॥

भवन्तु नः सुत्रात्रासः सुगोपाः॥(ऋ० ६।५१।११)

इस ऋचा में 'सुत्रात्रासः' और 'सुगोपाः' ये दोनों पद एकार्थक प्रतीत होते हैं, यहां एकार्थक पद की आवृत्ति सी हुई है। तो भी यहां द्वितीय 'सुगोपाः' पद पादपूरणार्थक नहीं है। क्योंकि त्राण और गोपन में भेद है।

[त्रैङ् पालने (भ्वादिः)। गुप गोपने भ्वादिः। गुपव्याकुलत्वे। दिवादिः। गुप भाषार्थः। चुरादिः। गुपू रक्षणे। भ्वादिः।

धात्वर्थ- की दृष्टि से 'पालन' का अर्थ है भोजन, वस्त्र, औषध, अभय आदिदान द्वारा संकटसे बचाना और बढाना, 'त्राण' कहाता है; आपत्तिविपत्तियोंसे बचाना 'गोपन' कहाता है; यदि 'सुगोपाः' पद का निर्माण सु उपपद से युक्त गो पदसे 'पा' धातु से क्विप् करने से 'सुगोपाः' पद बन सकता है। यहां सुतरां पूर्व के 'सुत्रात्रासः' पद से 'सुगोपाः' पद और भी भिन्न हो जाता है। इससे भी 'सुगोपाः' पद पूरणार्थक नहीं है।]

६. समानो वां जनितेति ततश्च भ्रातरा युवम् ।
इत्यर्थो भ्रातरेत्येतत् ततश्चात्र न पूरणम् ॥

समानो वां जनिता भ्रातरा युवं यमाविवेहेहमातरा ॥
(ऋ० ६।५९।२)

इस ऋचा में 'समानो वां जनिता' तुम दोनों का 'जनिता' उत्पादक समान है, ऐसा कहकर आगे कहा 'युवं भ्रातरा' तुम दोनों भ्राता हो, तुम दोनों माता-पिता के समान 'यम' (जोडे) के तुल्य भी हो। यहां इन्द्र, अग्नि की स्तुति है। यहां 'भ्रातरौ' के समान अर्थ एक 'समान जनक' होने की बात ही प्रकारान्तर से कथित है तो भी यहां 'भ्रातरौ' 'यमौ' आदि पद पदार्थ द्विरुक्त नहीं है। क्योंकि- आख्यातज नामार्थ लेने से 'जनिता- उत्पादक।' भ्रातरौ=पालक, धारक, पोषक' इस प्रकार वे पुनरुक्त पद पादपूरणार्थ नहीं है।

७. सूर्याश्वानामियं संज्ञा या भद्रा अश्वा हरितः।
हरिं नामधेया अश्वा अस्येत्यर्थं प्रदर्शयेत् ॥

भद्रा अश्वा हरितः सूर्यस्य०। (ऋ०१।११५।३)

इस ऋचा में 'अश्वा' 'हरितः' ये पर्याय एकसाथ पढे हैं। इस स्थलपर यह पुनरुक्ति पूरणार्थक नहीं है प्रत्युत 'हरित्' नाम के अश्व सूर्य के हैं। अतः इस स्थानपर ऐसा ही अर्थ करना चाहिये कि सूर्य के जो अश्व सुखदायी, कल्याणकारक 'हरित्' नामक हैं। (अश्वाः किरणाः। हरितः दिशः, इति दया०)

८. एवंविधेषु नैकस्य प्राज्ञा इच्छन्ति निर्वचः।
तूयं श्येनेभिराशुभिर्निर्ब्रूयात्तादृशानिति ॥

पूर्वोक्त प्रकार के सदृश स्थलोंमें विद्वान्-गण एक का निर्वचन करते हैं, एक का नहीं। परन्तु-

आ नः स्तोममुप द्रवत्तूयं श्येनेभिराशुभिः ।
यातमश्वेभिरश्विना ॥ (ऋ० ८।५।७)

इस ऋचा में भी 'श्येनेभिः', 'आशुभिः,' 'अश्वेभिः, ये तीनों अश्व के ही पर्याय हैं। सब एकत्र पढे गये हैं। ऐसे स्थलों में सब पदों का निर्वचन करना चाहिये।

९. पशुं न नष्टमिवेति दृश्येते नञिवौ सह ।
विशेषणे विशेष्ये च पशुमिव नष्टमिव ॥

१०. तत्रैकं पूरणं केचिदिच्छन्त्यन्ये तु मन्वते ।
ऋषिस्वभावाद् दृश्येते विशेषण-विशेष्ययोः॥

'पशुं न नष्टमिव दर्शनाय०' (ऋ० १।११६।२३)

इस ऋचा में नञ् और इव दोनों उपमा वाचक अव्यय पद एकसाथ पठित हैं। एक विशेषणमें और एक विशेष्यमें लगा है। जैसे 'पशुमिव नष्टम् इव'। इन दोनोंमें से कुछ विद्वानोंके मत में एक पादपूर्त्यर्थक है। वस्तुतः ऋषि का स्वभाव ही ऐसा है कि वह विशेषण और विशेष्य दोनो में ही उपमावाचक पद का प्रयोग करता है।

[इव शब्दोऽत्र नेत्यनेन पौनरुक्त्यात् अस्त्युपमार्थस्य सम्प्रत्यर्थं प्रयोगः इति पदपूरणः। इति स्कन्दस्वामी।) पशुं न नष्टमिव। एकः उपमार्थीयः पूरकः। (इति सायणः) पशुं न इव। नष्टमिव यथाऽदर्शनं प्राप्तं वस्तु। यथा प्रत्यक्षं गवादिकं अदृष्टं वस्तु वा अत्रोपमालंकारौ। (इति दया०)

स्कन्द और सायण एक उपमावाचक पद को पूरणार्थक मानते हैं, दयानन्द दो भिन्न उपमानों में लगे पृथक् पृथक् दो वाचक शब्द मानते हैं, विशेष्य विशेषण नहीं मानते। इस प्रकार का ऋषिस्वभाव भी नहीं है। क्योंकि कक्षीवान् दृष्ट मन्त्रों में ऐसा प्रयोग अन्यत्र देखने को नहीं मिलता।]

११. अर्चन्तस्त्वा हवामहेऽर्चन्तः समिधीमहि ।
तृतीयोऽर्चन्त इत्येषः केषाञ्चित् पूरणो मतः।
१२. दानं समिन्धनं चैव कुर्महेऽर्चनपूर्वकम् ।
रक्षणायेति मन्त्रार्थस्तत्रैक अतिरिच्यते ॥

अर्चन्तस्त्वा हवामहेऽर्चन्तः समिधीमहि ।
अग्ने अर्चन्त ऊतये ॥ (ऋ० ५।१३।१)

इस ऋचा में तृतीय 'अर्चन्तः' पद को पूरणार्थक कुछ आचार्य मानते हैं।

हम रक्षा प्राप्त करनेके लिये दान और समिन्धन अर्चनापूर्वक करते हैं, इस प्रकार एक 'अर्चन्तः' पद अधिक है। (१२ कारीका में 'पानं' पाठ है। 'दानं' चाहिये।)

१३. न ते वर्तास्ति राधस इन्द्र देवो न मर्त्यः ।
पादस्य प्रथमस्यात्र प्रपञ्चस्तदनन्तरः॥

१४. एवं पादो द्वितीयोऽत्र न पूरणा इति स्थितिः।
देव-शब्दस्य पादेन मुख्येनैकेऽन्वयं विदुः ॥

न ते वर्तास्ति राधस इन्द्र देवो न मर्त्यः ।
यद् दित्ससि स्तुतो मघम् ॥ (ऋ० ८।१४।४)

इस ऋचा में प्रथम पाद का ही आशय शेष मन्त्र में विस्तारसे कहा है। इस प्रकार द्वितीय पाद छन्दः-पूर्तिके लिये नहीं है। कुछ आचार्यों के मत में 'देवः' पद का प्रथम पादसे ही सम्बन्ध है। अर्थात् 'हे इंद्र! ते राधसः देवः वर्ता नास्ति, न मर्त्यः' तेरे दिये धनको न देव रोक सकता है, न मर्त्य। जब तू धन देना चाहता है, कृपापात्रको वह अवश्य प्राप्त होता ही है।

१५. शिक्षेयमस्मै दित्सेयं शचीपते मनीषिणे।
दयामपि च दित्सेयमेवं चात्र न पूरणम् ॥

शिक्षेयमस्मै दित्सेयं शचीपते मनीषिणे।
यदहं गोपतिः स्याम् ॥ (ऋ० ८।१४।२)

इस ऋचा में ये एकार्थ के दो धातु पठित हैं। वहां कोई पद पूरणार्थक नहीं है। अभिप्राय यह है कि– हे शचीपते! मैं विद्वान् पुरुषको ही दान दूं और सदा दान देना चाहूं यदि मैं गोपति होऊं।

१६. विश्वे गन्त मरुतो विश्वे विश्वे अद्य मरुतः।
आवर्तते विश्वशब्दस्तं चेच्छन्ति न पूरणम्।

१. विश्वे गन्त मरुतो विश्व ऊती। (ऋ०५।४३।१०)
२. विश्वे अद्य मरुतो विश्व ऊती विश्वे भवन्त्वग्नयः समिद्धाः। (ऋ० १०।३५।१३)

उक्त दोनों ऋचाओं में 'विश्वे' पद दो वार पढा है। विद्वान् जन उसको भी पूरणार्थक नहीं मानते। क्योंकि–

१७. गमने रक्षणे चैव सर्वेषां ह्यन्वयो मतः।
व्युत्पत्त्यर्थमृचोऽस्माभिरित्थं बह्वयः प्रदर्शिताः॥

सब 'विश्वे' पदों का अन्वय गमन और रक्षण में माना गया है। इसप्रकार शिष्यों की व्युत्पत्ति बढाने के लिये हमने बहुतसी ऋचाएं दृष्टान्त के रूप में दर्शाई हैं।

इति चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

पञ्चमोऽध्यायः ।

त्वं ह क्षैतवद्यशो व्याचिख्यासति माधवः ।
पादभेदे पूरणेषु वक्तव्यं सम्प्रदर्शयन् ॥
'त्वं ह क्षैतवद्यशो०' । (ऋ० ६।२।१)
(अष्टक ४ अध्याय ५)

अध्यायकी व्याख्या करनेके पूर्व माधव यह भिन्न पादों में आनेवाले पूरणार्थ पादों के सम्बन्धमें अपना प्रवचन करते हैं ।

भिन्न भिन्न पादोंमें छन्दःपूर्तिके निमित्त पद ।

१. अवान्तराः केचिदर्था ऋक्पादेषु व्यवस्थिताः ।
समुदायस्तु तेषां यः स वाक्यार्थ इति स्थितिः ॥

ऋचाओं के पादों में कुछ अवान्तर अर्थ भी रहते हैं, उन सबका समुदायही पूर्ण वाक्यार्थ हुआ करता है ।

२. क्रियापदान्वयः पादे यावतापीह सिद्ध्यति ।
अवान्तरार्थं तम्प्राहुरग्निमीळे पुरोहितम् ॥

पादमें जितने से क्रियापद का अन्वय हो जाय उसको 'अवान्तरार्थ' कहते हैं । जैसे-

अग्निमीळे पुरोहितम्० । (ऋ० १।१।१)

३. अपेक्षा जायते पादे यज्ञस्य देवमृत्विजम् ।
कं किञ्च तस्य कर्तव्यं तत्रैतदुपतिष्ठति ॥

यज्ञस्य देवमृत्विजम् । (ऋ० १।१।१)

इस चरणमें यह अपेक्षा होती है कि उस क्रियापद का किसके प्रति क्या कर्तव्य है वहां वह उपस्थित हो जाता है ।

४. पुरोहितेन रहितमग्निमीळे पदद्वयम् ।
पश्येत् तयोरन्यतरत् पादेऽन्यस्मिन्नवस्थितम् ।
५. नापेक्षते पदं पूर्वं नतरामुभयं यदि ।
तस्मात्पदान्तरेणैतदुभयं पूरणं विदुः ॥

'पुरोहितं' पदसे रहित 'अग्निम्', 'ईळे' इन दोनों पदों को देखें, इन दोनोंमेंसे एक भी पद अन्य पादमें विद्यमान पद की अपेक्षा नहीं करता । न पहला पद अपेक्षा करे, न दोनों पदही तो, अन्य पदसे इन दोनों की पूर्ति जाननी चाहिये ।

६. ता मित्रस्य प्रशस्तय इन्द्राग्नी ता हवामहे ।
न पूरणोऽत्र तच्छन्दः पादे यस्मिन् व्यवस्थितः ॥

ता मित्रस्य प्रशस्तय इन्द्राग्नी ता हवामहे ।
(ऋ० १।२१।३)

इस मन्त्रमें 'ता' पद दो बार आया है । तब वह जिस पादमें स्थित है उसमें पूरणार्थक नहीं, प्रत्युत दूसरे पाद में पूरणार्थक जानना चाहिये ।

७. अस्माकमद्य वामयं स्तोमो वाहिष्ठो अन्तमः ।
पुनर्युवाभ्यामित्युक्तं न तदिच्छन्ति पूरणम् ॥

अस्माकमद्य वामयं स्तोमो वाहिष्ठो अन्तमः ।
युवाभ्यां भूत्वश्विना ॥ (ऋ० ८।५।१८)

इस ऋचामें प्रथम पादमें वाम् और तृतीय पादमें 'युवाभ्यां' पद उसी अर्थ को बतलाने वाला पठित है, चरणभेदसे पठित होनेसे पृथक् अन्वय हो सकता है अतः विद्वान् आचार्य युवाभ्यां पद को पादपूरणार्थ नहीं मानते ।

८. यदा ते मारुतीर्विशस्तुभ्यमिन्द्र नियेमिरे ।
आवर्तते पदं तेऽत्र नोभयोः पूरणे पदे ॥

यदा ते मारुतीर्विशस्तुभ्यमिन्द्र नियेमिरे ।
आदित्ते विश्वा भुवनानि येमिरे ॥
(ऋ० ८।१२।२९)

द्वितीय चरणमें 'तुभ्यम्' पद है, और तृतीय चरण में 'ते' पद समानार्थक है । तो भी इन दोनों का अन्वय भिन्न भिन्न चरणों मी पृथक् पृथक् होनेसे दोनों पादोंमें भी पूरणार्थक नहीं है ।

९. वत्था हि वेधो अध्वनः पथश्च देवाञ्जसेति ।
पथोऽध्वनश्च भेदोऽत्र चकारेण प्रतीयते ॥

वेत्था हि वेधो अध्वनः पथश्च देवाञ्जसा।
(ऋ० ६।१६।३)

इस ऋचामें 'अध्वनः' प्रथम चरणमें और द्वितीय चरण में 'पथः' समानार्थक पद पढे हैं। तो भी पाद पूरणार्थक नहीं हैं, इनका भेद 'च' कारसे स्पष्ट प्रतीत हो रहा है।

१०. प्रोतये वरुणं मित्रमिन्द्रं कृष्वावसे इति।
पुनः प्रयुज्यते तत्र भेदः सूक्ष्मोऽस्ति कश्चन॥

प्रोतये वरुणं मित्रमिन्द्रं मरुतः कृष्वावसे नो अद्य। (ऋ० ६।२१।९)

इस ऋचामें 'ऊतये' 'अवसे' भिन्न भिन्न पादों में एक अर्थवाचक हैं, ऐसा प्रतीत होता है। तो भी यह पुनरुक्ति नहीं है क्योंकि 'ऊतिः' और 'अवः' दोनों में कुछ सूक्ष्म भेद अवश्य है।

[अवः इत्यन्ननाम। (निघ० २।७)
ऊतिः पदनामसु पठितम्। अवतेर्गत्यर्थस्य क्तिप्रत्यये ज्वरत्वरस्रिव्यविमनामुपधायाश्चेत्यूड भावः। ऊतिः गतिः-अव-रक्षण-गति-कान्ति-प्रीति-तृप्ति-अवगम-प्रवेश-श्रवण-स्वाम्यर्थ याचन-क्रियेच्छा-दीप्त्यालिंगन-हिंसा-दान-भागवृद्धिषु। भ्वादिः॥

'अव्' के इतने अधिक अर्थों में से जो जो अर्थ जिस जिस देवता के शक्तिके अनुरूप हो वहही 'अवसे' और 'ऊतये' पद की व्याख्या के लिये समझना चाहिये। जैसे- 'वरुणं श्रेष्ठं प्रभुं ऊतये ज्ञानाय।' 'मित्रो मरणात् त्रायते यः तं ऊतये रक्षणाय' इत्यादि उदाहर्तव्यम्॥

११. स नो नियुद्भिरापृण कामं वाजेभिरश्विभिः।
स्त्री-पुंविभेदादत्रापि नास्तिकश्चन पूरणः॥

स नो नियुद्भिरा पृण कामं वाजेभिरश्विभिः। गोमद्भिर्गोपते धृषत्॥ (ऋ० ६।४५।२१)

इस ऋचामें 'नियुद्भिः' 'अश्विभिः' दोनों पद समानार्थक भिन्न भिन्न पादोंमें पठित हैं। इनमें लिंगभेद स्पष्ट है, अतः पादपूर्ति के निमित्त नहीं है।

१२. पुरूण्यग्ने पुरुधेति मन्त्रान्ते श्रूयते पदम्।
त्वे इत्येतत् पादभेदाद् बहवः सन्ति तादृशाः॥

पुरूण्यग्ने पुरुधा त्वाया वसूनि राजन्वसुता ते अश्याम्। पुरूणि हि त्वे पुरुवार सन्त्यग्ने वसु विधते राजनि त्वे॥ (ऋ० ६।१।१३)

इस ऋचामें 'त्वे' तृतीय और चतुर्थ दोनों पादोंमें एकार्थक है। परन्तु पादभेदसे है। इस प्रकार के उदाहरण बहुतसे हैं।

१३. वयं शूरेभिरस्तृभिरिन्द्र त्वया युजा वयम्।
आवर्तते वयमिति सन्ति चान्येऽपि तादृशाः॥

वयं शूरेभिरस्तृभिरिन्द्र त्वया युजा वयम्। सासह्याम पृतन्यतः॥ (ऋ० १।८।४)

इस ऋचामें प्रथम और तृतीय चरणोंमें 'वयम्' पद पुनः पठित है। प्रति पादमें पृथक् पृथक् क्रियासे अन्वय होता है, इस प्रकार के भी बहुतसे अन्य उदाहरण हैं।

१३. इत्थं व्युत्पत्तिसिद्ध्यर्थमृचोऽस्माभिरुदाहृताः।
तासामाकृतिविद् विप्रो न मन्त्रार्थेषु मुह्यति॥

इस प्रकार व्युत्पत्ति (योग्यता) बढाने के लिये हमने बहुतसी ऋचाओं को उद्धृत कर उदाहरणरूपसे प्रस्तुत किया है। उनका आकार प्रकार जाननेवाला विद्वान् मन्त्रों के अर्थोंमें भ्रम में नहीं पडता।

इति पञ्चमोऽध्यायः॥५॥

इमं बिभर्मि वरणमायुष्मान्छतशारदः। स मे राष्ट्रं च क्षत्रं च पशूनोजश्च मे दधत्॥३९२॥ (अथर्व० १०।३।१२)

(वरणं) इस श्रेष्ठताको (बिभर्मि) मैं धारण करता हूं, जिससे मैं (आयुष्मान्) दीर्घायुषी तथा (शतशारदः) सौ वर्ष जीनेवाला बना हूं, इससे मुझे राष्ट्र, शौर्य, पशु और बल प्राप्त होवें, अर्थात् श्रेष्ठताके साथ दीर्घ आयु प्राप्त होता है। यदि दीर्घ आयु प्राप्त करनेकी इच्छा है, तो सबसे प्रथम अपने मनमें श्रेष्ठ सद्गुण बढाने चाहिये। तथा राष्ट्रीयता और क्षात्र तेज अपने अंदर बढाना चाहिये।

आयुषे त्वा वर्चसे त्वा ओजसे सहसे त्वा। यथा हिरण्यतेजसा विभासासि जनां अनु॥३९३॥ (अथर्व० १९।२६।३)

"(आयुषे) दीर्घ आयुष्य, (वर्चसे) तेज, (ओजसे) बल, (सहसे) सहनशक्ति इन गुणोंकी प्राप्ति के लिये (त्वा) तुमको धारण करता हूं। जिस प्रकार सुवर्णके तेजसे तुम (विभासासि) चमकते हो, उसी प्रकार (जनां अनु) लोकोंमें मैं तेजस्वी बनूंगा।"

दीर्घ आयु प्राप्त करके तेजस्विता, बल और शत्रुको दबाने की शक्ति अपने अंदर बनानी चाहिये।

जीवतां ज्योतिरभ्येह्यर्वाङ् त्वा हरामि शतशारदाय। अवमुञ्चन् मृत्युपाशानशस्तिं द्राघीय आयुः प्रतरं ते दधामि॥३९४॥ (अथर्व० ८।२।२)

"(जीवतां ज्योतिः) जीवित लोगोंके तेजके (अभि एहि) पास आओ। तुमको (शतशारदाय) सौ वर्षके दीर्घ आयु. तक (हरामि) चलाता हूं। (मृत्युपाशान्) मृत्युके पाशोंको तथा (अशस्तिं) अप्रशस्तताको दूर करके (ते) तेरे लिये (द्राघीय आयुः) दीर्घ आयु (दधामि) अर्पण करता हूं।"

रोगी मनुष्यको इस प्रकार विश्वास उत्पन्न करानेसे वह दीर्घ आयु प्राप्त करनेयोग्य बनता है।

कृणोमि ते प्राणापानौ जरां मृत्युं दीर्घमायुः स्वस्ति। वैवस्वतेन प्रहितान् यमदूतांश्चरतोऽप सेधामि सर्वान्॥३९५॥ आरादरातिं निर्ऋतिं परो ग्राहिं क्रव्यादः पिशाचान्। रक्षो यत्सर्वं दुर्भूतं तत्तम इवाप हन्मसि॥३९६॥ (अथर्व० ८।२।११-१२)

"तेरे लिये मैं प्राण और अपान, (जरां मृत्युं) वृद्धावस्थाके पश्चात् मृत्यु, दीर्घ आयुष्य, (स्वस्ति) आरोग्य देता हूं। वैवस्वत यमसे भेजे हुए यमदूतोंको मैं (अपसेधामि) दूर करता हूं। (अरातिं) ईर्ष्या, द्वेष, द्रोह, (निर्ऋतिं) रीति और विधिके विरुद्ध आचरण, (ग्राहिं) बडी देर तक चलनेवाली बीमारी, (क्रव्यादः) मांसको क्षीण करनेवाले रोग, (पिशाचान्) रक्तदोष करनेवाले रोगबीज, (रक्षः-क्षरः) क्षय उत्पन्न करनेवाले रोगबीज, (दुर्भूतं) बुरी रीतिसे रहनेका अभ्यास, आदि जो कुछ है, उसको मैं दूर करता हूं, जैसे प्रकाश अंधेरेको दूर करता है।"

उक्त रीतिसे व्यवस्था करनेपर दीर्घ आयु प्राप्त हो सकती है।

उदेहि मृत्योर्गम्भीरात् कृष्णाच्चित्तमसस्परि॥३९७॥ सूर्यस्त्वाधिपतिर्मृत्योरुदायच्छतु रश्मिभिः॥३९८॥ (अथर्व० ५।३०।११,१५)

"(कृष्णात् तमसः) जिस प्रकार अंधेरा छोडकर (परि) ऊपर प्रकाशमें आते हैं, उस प्रकार (गम्भीरात्) गहन मृत्युसे (उदेहि) ऊपर उठो। अधिपति सूर्य (रश्मिभिः) अपने किरणोंसे (त्वा) तुझको (मृत्योः) मृत्युसे बचावे।"

मृत्युका स्थान नीच अवस्थामें है। वहांसे उन्नत होनेपर उच्च अवस्थामें आनेसे अमरत्व प्राप्त होता है। सूर्यकिरणोंकी सहायतासे मृत्युका भय दूर हो सकता है। सूर्यकिरणोंका उपयोग और प्रयोग करके मृत्युको हटानेकी विधि प्राप्त हो सकती है। वेदमें अनेक स्थानपर सूर्यकिरणोंका संबंध दीर्घ आयु, आरोग्य और मृत्यु हटानेके साथ जोडा है। इससे स्पष्ट होता है कि मनुष्य सूर्यप्रकाशके साथ अपना संबंध अधिकसे अधिक जोडे और आरोग्यप्राप्तिपूर्वक दीर्घ आयु प्राप्त करे।

अघशंसदुःशंसाभ्यां करेणानुकरेण च। यक्ष्मं च सर्वं तेनेतो मृत्युं च निरजामसि॥ ॥३९९॥ (अथर्व० १२।२।२)

(अघशंसदुःशंसाभ्यां) पाप और दुराचारके कारण बनी हुई सब (यक्ष्मं) बीमारी (करेण) कृति और (अनुकरेण) अनुकृति द्वारा दूर करता हूं और मृत्युको हटाता हूं।"

इस मंत्रमें रोगोंकी उत्पत्तिके कारण दिये हैं, पाप और दुराचार के कारण विविध रोग होते हैं। अर्थात् जो धार्मिक जीवन व्यतीत करेंगे और दुराचारमें प्रवृत्त नहीं होंगे, वे रोगी नहीं हो सकते।

विवस्वान् नो अमृतत्वे दधातु परैतु मृत्युरमृतं न एतु। इमान् रक्षतु पुरुषाना जरिम्णो मो ष्वेषामसवो यमं गुः ॥४००॥ (अथर्व० १८।३।६२)

"(विवस्वान्) सूर्य हम सबको (अमृतत्वे) अमृतमें (दधातु) रखे, मृत्यु (परा एतु) दूर होवे और अमृत हमारे पास आवे। (इमान्) इन (पुरुषान्) पुरुषोंकी (जरिम्णः) वृद्धावस्था तक (रक्षतु) रक्षा होवे, और इनके (असवः) प्राण (यमं) यमके प्रति न जावें।"

इस मंत्रमें भी सूर्यका अमृतत्वके साथ संबंध वर्णन किया है। वह विचारकी दृष्टिसे देखने योग्य है।

अयं लोकः प्रियतमो देवानामपराजितः॥ यस्मै त्वमिह मृत्यवे दिष्टः पुरुष जज्ञिषे॥ स च त्वानु ह्वयामसि मा पुरा जरसो मृथाः ॥४०१॥ (अथर्व० ५।३०।१७)

(अयं) यह (लोकः) मनुष्यदेह (देवानां) देवोंको (प्रियतमः) अत्यंत प्रिय और (अपराजितः) अपराजित है। हे (पुरुष) मनुष्य! जब तू (जज्ञिषे) जन्म लेता है, तब तू यहां मृत्युके लिये (दिष्टः) समर्पित होता है। इसलिये तुमको (अनुह्वयामसि) कहता हूं कि, तू (जरसः पुरा) वृद्धावस्थाके पूर्व (मा मृथाः) मत् मरो।

अपने अंदर देवोंका निवास देखकर अपना बल बढाना चाहिये। और स्वयं अपराजित होकर, अपमृत्युको दूर करके वृद्धावस्थाके पूर्व न मरनेके लिये योग्य धर्मनियमोंका अनुष्ठान करना चाहिये।

स नो विश्वाहा सुक्रतुरादित्यः सुपथा करत्। प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥४०२॥ (ऋ० १।२५।१२)

(सु-क्रतुः आदित्यः) उत्तम कर्म करनेवाला आदित्य (विश्व-हा) सर्वदा (नः) हमारे लिये (सुपथा करत्) उत्तम मार्ग करे और (नः आयूंषि) हमारे आयुष्य (प्र तारिषत्) बढावे। हमें दीर्घायु देवे।

सूर्य अपने प्रकाशद्वारा सबको अपने अपने मार्ग उत्तम प्रकारसे बताता है, तथा अपने प्रकाशकी जीवनशक्ति प्रदान करके सबके आयुष्य बढाता है। इसी प्रकार हर एक मनुष्य दूसरोंका मार्गदर्शक बने और आरोग्य के नियमादि बताने द्वारा उनके दीर्घ आयु बननेका हेतु बने।

दीर्घायुत्व की प्रार्थना।

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं शृणुयाम शरदः शतं प्र ब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ॥ ४०३ ॥ (यजु० ३६।२४)

"(तत्) वह (देव-हितं) ज्ञानियोंका हित करनेवाला (शुक्रं) शुद्ध, पवित्र (चक्षुः) ज्ञाननेत्र (पुरस्तात्) पहिलेसेहि (उत् चरत्) उदित हुआ है। उसकी सहायतासे (शरदः शतं पश्येम) सौ वर्षपर्यंत देखें, (शरदः शतं जीवेम) सौ वर्ष जीते रहें, (शरदः शतं शृणुयाम) सौ वर्ष सुनें, (शरदः शतं प्रब्रवाम) सौ वर्ष प्रवचन करें, (शरदः शतं अ-दीनाः स्याम) सौ वर्ष दीन न होते हुए रहें (शरदः शतात् भूयः च) और सौ वर्षोंसे अधिक आनन्दसे रहें।"

जिससे सबका हित होता है, उस ज्ञानकी प्राप्ति पहिले करनी चाहिये; उसी ज्ञानसे हमारी आयु बढेगी, हमारी इन्द्रियोंकी शक्तियां सबकी सब मृत्युके समयतक अच्छी अवस्थामें रहेंगी, और सौ से भी अधिक आयु होगी।

नन्दाम शरदः शतम्। मोदाम शरदः शतम्। भवाम शरदः शतम्। अजीताः स्याम शरदः शतम् ॥४०४॥
(तै० आ० ४।४२)

सौ वर्ष तक आनन्दसें जीवित रहें, सौ वर्ष तक प्रीतिपूर्वक हर्षमें रहें, सौवर्षतक सर्वत्र विजय प्राप्त करते रहें, अर्थात् दुर्भाग्यरहित होकर रहें, इतनाही नहीं परंतु सौ वर्षोंसे अधिक भी जीते रहकर पुरुषार्थ करते रहें। यह आशय उक्त मंत्रका है। सौ वर्षसे अधिक आयुकी कल्पना यहां निःसंदेह है। अर्थात् मनुष्य सदाचारपूर्वक पुरुषार्थ करके सौ से भी अधिक आयु प्राप्त कर सकता है।

पश्येम शरदः शतम्। जीवेम शरदः शतम् ॥ ४०५ ॥ (ऋ० ७।६६।१६)
पश्येम शरदः शतम्। जीवेम शरदः शतम्। बुध्येम शरदः शतम्। रोहेम शरदः शतम्। पूषेम शरदः शतम्। भवेम शरदः शतम्। भूयसीः शरदः शतात् ॥ ४०६-१२ ॥
(अथर्व० १९। ६७। १-६, ८)

"सौ वर्ष तक देखें, जीते रहें, ज्ञान लेते रहें, बढते रहें, पुष्ट होते रहें, संपन्न होते रहें, संपन्न होते रहें, इतनाही नहीं परंतु सौ वर्षसेभी अधिक जीते रहें और उन्नत होते रहें।" यह आशय इस मंत्रका है। 'भूयसीः शरदः शतात्।' यह मंत्र पूर्व मंत्रकाही आशय स्पष्ट कर रहा है। 'रोहेम, बुध्येम, पूषेम, ये तीन शब्द सौ वर्षपर्यंत शरीर की वृद्धि करनेका तथा ज्ञानकी वृद्धि करनेका उपदेश कर रहे हैं। यह उपदेश ध्यानमें धरकर हरएक मनुष्यको अपनी आयुकी वृद्धि करनी उचित है।

जडका धारक चेतन।

को ददर्श प्रथमं जायमानमस्थन्वन्तं यदनस्था बिभर्ति। भूम्या असुरसृगात्मा क्व स्वित्को विद्वांसमुप गात्प्रष्टुमेतत्।
॥ ४१३ ॥ (ऋ० १।१६४।४)

इस प्रपंच के कारणभूत परमेश्वर को तथा प्रकृत्यादि को इस मन्त्र से दिखलाते हैं (प्रथमम) प्रथम (जायमानम्) उत्पद्यमान इस विश्व को (कः ददर्श) किस ने देखा कौन जानता है, अर्थात् यह उत्पद्यमान जगत् दुर्विज्ञेय है, (यत्) क्योंकि (अस्थन्वन्तं) अस्थिवाले इस संसार को (अनस्था) अस्थिरहिता= शरीररहिता प्रकृति देवी (बिभर्ति)धारण करती है, (भूम्याः) पृथिवी से यह स्थूल शरीर (असुः) प्राण और तदुपलक्षित सूक्ष्म शरीर आदि होते हैं। (असृग्) शोणित यह शब्द सप्तधातूपलक्षक है। यद्यपि शरीर पंचभूतात्मक है तथापि भूतद्वय की प्रत्यक्षता के कारण वैसा कहा गया है। (आत्मा) किंतु यह शरीर से सम्बद्ध चेतन जीव (क्व स्वित्) कहांसे होता, (कः) कौन मनुष्य (विद्वांसम्) ईश्वर, प्रकृति और जीव इन तीनों के तत्त्व जाननेवाले विद्वानसे (एतत् प्रष्टुम्) इस विषय को पूछने के लिये (उपगात्) विद्वान् के समीप जाता है।

इस का अक्षरानुवाद इस प्रकार है। प्रथम जायमान को किस ने देखा ? क्योंकि अस्थिरहिता अस्थियुक्त को धारण करती। भूमि से प्राण और शोणित होते, किन्तु आत्मा कहां से होते ? कौन विद्वान् के निकट इस विषय की जिज्ञासा करनेके लिये जाता है।

आशय--यह जगत् प्रथम कैसे बना, इस दृश्यरूप में कैसे आया इत्यादि विषय अत्यंत गंभीर है, तथापि अन्वेषणीय है। अस्थिरहिता पद से अदृश्य जगत् कारण प्रकृति का ग्रहण है। यद्यपि यह शरीर पृथ्वीजन्य अन्नादिक से पुष्ट होता और इस में शोणित, मांस, मज्जा आदि होते हैं, किंतु यह जीवात्मा इस पार्थिव अंश से नहीं होता, अतएव यह प्रश्न है कि "यह जीवात्मा कहां से होता ?" यह नित्य है, इस विषय को अच्छे विद्वान् के निकट जाकर पूछ सकते हैं और आत्मा के अमरत्व और नित्यत्व जान कर उस के उद्धार के लिये हम तत्पर हों।

पाकः पृच्छामि मनसाविजानन् देवानामेना निहिता पदानि। वत्से बष्कयेऽधि

सप्त तन्तून्वि तत्निरे कवय ओतवा उ । ॥ ४१४ ॥ (ऋ० १।१६४।५)

(पाकः) मैं अपक्वमति अर्थात् हमारी बुद्धि परिपक्व नहीं, इसलिये (पृच्छामि) पूछता हूं (मनसा) मनसे वारंवार विचार करने पर भी (अविजानन्) न जानता हुआ मूढसा हो रहा हूं, क्योंकि (एना पदानि) ये जिज्ञासाके विषयभूत पद (देवानां) केवल विद्वानों के निकट में ही (निहिता) स्थापित है, इसलिये मैं उन विद्वानोंसे जिज्ञासा करता हूं कि कौन विषय जिज्ञास्य है, सो आगे कहते हैं (कवयः) कविगण (ओतवै उ) तिर्यक् तन्तुओं को बूननेके लिये (बष्कये) सत्यस्वरूप (वत्से अधि) वत्स के ऊपर (सप्त तन्तुम्) सात तंतुओं को (वि तत्निरे) विस्तीर्ण करते हैं । क्यों ?

आशय–कवयः=यहां कविपद से निज कृतकर्मका ग्रहण है अथवा ईश्वरीय नियम का ग्रहण है। बष्कय वत्स वह नाम सत्य का है, उस सत्य से जो युक्त उसको बष्कय कहते हैं। वत्स= यहां जीवात्मा को कहा है। सप्ततन्तु= दो चक्षु, दो कर्ण, दो नासिकाएं और एक मुख ये सप्त सप्ततन्तु कहलाते हैं। भाव यह है कि इस सत्यस्वरूप जीवात्मा के वेष्टन के लिये अर्थात् बन्धन के लिये ये नयनादिक सात तन्तु ईश्वरीय नियम बनाते हैं। ऐसा क्यों करते, इस जीवात्माको बन्धन में क्यों डालते और यह जीवात्मा किस अपूर्व कर्म के अनुसार बद्ध होता, इत्यादि विषय परम निगूढ और जिज्ञास्य हैं।

अचिकित्वाश्चिकितुषश्चिदत्र कवीन्पृच्छामि विद्मने न विद्वान् । वि यस्तस्तम्भ षडिमा रजांस्यजस्य रूपे किमपि स्विदेकम् ॥४१५॥ (ऋ०१।१६४।६)

(अचिकित्वान्) पृथिव्यादि तत्वों को न जानता हुआ मैं (चिकितुषः) विशेष रूपसे तत्त्व जाननेवाले (कवीन्) परमार्थदर्शी विद्वानों से (अत्र) इस तत्त्वविषयमें (पृच्छामि) पूछता हूं। क्यों ? (विद्मने) परमार्थज्ञानके लिये क्या मैं जानता हुआ ही पराभवार्थ पूछता हूं ? नहीं, किन्तु (विद्वान् न) जानता हुआ नहीं पूछता अपि तु अज्ञान से ही पूछता हूं (यः) जिस अजन्माने (इमाः) इन (षट्) छः (रजांसि) लोकों को (वि तस्तम्भ) विशेषरूप से धारण किया है। (अजस्य) उस जननादिरहित अजनमा के (रूपे) स्वरूपमें (किमपि एकम्) कुछ अचिंत्य एक सामर्थ्य (स्वित्) क्या विद्यमान है, जिस से यह सकल भुवन यथास्थान में स्थित हैं ।

आशय– परमार्थज्ञान के लिये जिज्ञासा अवश्य है। सब कोई तत्त्ववित् नहीं होते, अतः तत्त्ववित् पुरुष के निकट जाकर निज सन्देह मिटाना उचित है। किस प्रकारका प्रश्न प्रष्टव्य है, इस एक उदाहरण दिखलाते हैं। प्रथम छः लोक कौन हैं, इनको किसने स्तम्भन कर रक्खा है। छः लोक प्रत्यक्ष स्वरूप से दीखते हैं किंतु लोक सात कहे जाते हैं। तब वह एक सप्तम लोक कहां है ? क्या इस अजके स्वरूप में वह स्थित है। छः लोक में हैं– दो नयन, दो कर्ण और दो नासिकाएं, ये छः प्रत्यक्ष हैं, किन्तु सप्तम लोक कौन हैं, निःसन्देश सप्तम लोक मुख हैं, जिस में दन्त और जिह्वा स्थित हैं, जिस मुखसे वेदका उच्चारण भगवान् का भजन करते और जिससे नाना वस्तुओंको चबाकर उदर में रखते, जिससे शोणित आदि अनेक पदार्थ बन कर यह एक शरीर सुपुष्ट होता है। अज नाम यहां जन्मरहित जीवात्माका है। इसी जीवात्माके स्वरूप में यह अचिंत्य शक्ति स्थित है, क्योंकि यह शरीर अचेतन जड है, इसमें चेतन आत्मा आकर इस अचेतन को भी चेतन बनाता है। इस हेतु अजके स्वरूप में एक लोक स्थित है, ऐसा कहा है।

मनुष्य की अज्ञानता।

न वि जानामि यदि वेदमस्मि निण्यः सन्नद्धो मनसा चरामि। यदा मागन् प्रथमजा ऋतस्यादिद्वाचो अश्नुवे भागमस्याः ॥ ४१६ ॥ (ऋ० १।१६४।३७)

(यदिव) जो (इदम्) यह वस्तु (अस्मि) मैं हूं (न वि जानामि) इसको मैं नहीं जानता हूं, अर्थात् मैं कौनसी वस्तु हूं, यह मैं नहीं जानता, क्योंकि मैं (निण्यः) मूढचित्त हूं, (सन्नद्धः) अविद्यासे सम्यक् बद्ध होकर (मनसा चरामि) विक्षिप्त मनसे विचरण करता हूं। (यदा) जब (ऋतस्य) सत्य ज्ञान का (प्रथमजाः) प्रथम उन्मेष (मा आगन्) मुझ को प्राप्त होता, (आत् इत) तदन्तर (अस्या वचः) इस वचन का (भागं) प्राप्य अर्थ (अश्नुवे) समझता हूं।

अनुवाद—निश्चय मैं कौनसी वस्तु हूं, यह विस्पष्ट रूपसे

मैं नहीं जानता, क्योंकि मैं मूढचित्त हूं। सम्यग् बद्ध होकर विक्षिप्त मनसे विचरण करता हूं। अब ज्ञानका प्रथम उन्मेष होता तब ही मैं वाक्य का अर्थ समझता हूं।

आशय– प्रत्येक मनुष्यका यह निज अनुभव है कि वह अपने को नहीं जानता। जबसे मानव भाषा का साहित्य पाया जाता है तब से यह एक विवाद चला आता है कि इस शरीर से पृथक् कोई जीवात्मा है वा नहीं। जीवात्मा के पृथक् अस्तित्व मानने वाले आस्तिकों में भी अनेक मतभेद हैं, कोई इस जीवात्मा को अणु, कोई विभु मानते हैं और कई वेदान्ती जीव और ईश्वर में किंचित् भेद नहीं मानते। इस प्रकार देखनेसे विदित होता है कि जीवात्मा के सम्बन्ध में वास्तव ज्ञान क्या है, हम लोग नहीं जान सकते, क्योंकि मनुष्य अत्यन्त अल्पज्ञ है, हां, यदि ईश्वर की कृपा हो, तो यत् किंचित् इसको जान सकते हैं।

आत्मा और शरीर।

अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः। ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता न्यन्यं चिक्युर्न नि चिक्युरन्यम् ॥४१७॥ (ऋ० १।१६४।३८)

(अमर्त्यः) अमरण-धर्मा नित्य यह आत्मा (मर्त्येन) मरणधर्मा भौतिक देह के साथ (सयोनिः) एक स्थान में रहनेवाला होता है, जहां परिच्छेदक यह देह है, वहां सर्वत्र यह आत्मा भी रहता अथवा सयोनिका अर्थ समानोत्पत्ति है, सहवास से अपने में उत्पत्ति का उपचार है, एवं भूतात्मा (स्वधया) अन्न से अर्थात् अन्नोपलक्षित भोग से (गृभीतः) गृहीत है। यद्वा–स्वधा शब्दसे अन्नमय शरीर लक्षित होता है, इस से गृहीत होकर (अपाङ्एति) अशुभ कर्म करके नीचे जाता है (प्राङ् एति) शुभ कर्म करके ऊपर जाता है (ता) वे भूतात्मशरीर और आत्मा दोनों (शश्वन्ता) विभागपूर्वक सर्वदा वर्तमान रहते। यद्वा-सूक्ष्म शरीरपक्ष में सर्वदा सहवास उपपन्न है, स्थूल शरीरपक्षमें भी सात्विक जातिका सहवास उपपन्न है, क्योंकि तत् तत् कारणभूत सूक्ष्म के होने से वहां शरीर सम्पन्न होता है; (विषूचीना) लोक में सर्वत्र गमन करनेवाले (वियन्ता) तत् कर्मफल-भोग के लिये लोकान्तरों में गमन करते रहते हैं। मनुष्यगण (अन्यम्) भूतात्माको (नि चिक्युः) विशेष रूपसे जानते हैं, (अन्यम्) अन्य जीवात्मा को देहातिरिक्त (न नि चिक्युः) नहीं जानते। कोई पामर देह-व्यतिरिक्त आत्मा को नहीं जानते। कोई विवेकी पुरुष कर्तृत्व, भोक्तृत्वयुक्त, देहातिरिक्त आत्मा है, वैसा अनुमान करते हैं। कोई भी देहत्रयव्यतिरिक्त आत्मा को नहीं जानते, अतः आत्मज्ञान दुर्लभ है।

आशय—नित्य अनित्य के साथ एक स्थान में अवस्थान करता। अन्नमय शरीर प्राप्त कर वह कभी अधो देश में जाता और कभी ऊर्ध्व देश में गमन करता। वे दोनों सर्वदा एकत्र अवस्थिति करते (इस लोक में) सर्वत्र एकत्र गमन करते (परलोक में भी) सर्वत्र एकत्र गमन करते। लोक में उनमें से एक को जानते, दूसरेको नहीं जानते।

प्रेमवाणी का आविर्भाव।

बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत्प्रैरत नामधेयं दधानाः। यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत्प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः ॥४१८॥ (ऋ० १०।७१।१)

(बृहस्पते) हे वेदाधिपते अन्तरात्मन् महेश ! आप की कृपा से (प्रथमम्) उत्पत्त्यनंतर इतर वाणियों के उच्चारणके पूर्व ही (नामधेयम्) पदार्थों के भिन्नभिन्न नाम धारण करते हुए ब्राह्मणगण (यत् प्रैरत) जो जो वचन प्रेरित करते हैं (वाचः अग्रम्) वह वचनका अग्रभाग है। जिस हेतु हे तात, हे तत्, हे पितः, इत्यादि वाक्य प्रथम कह कर पश्चात अन्य वचन को बोलते, इसलिये इस को वाचोग्र= प्रशंसनीय कहते हैं। इस दशामें अवस्थित बालकों को देख। तथा अब (एषां श्रेष्ठं) इनके श्रेष्ठ (यत् यत्) जो जो (अरिप्रम्) पापरहित पदार्थज्ञान है (तत् एषाम्) उनका वह ज्ञान (गुहा) हृदयरूप गुप्तस्थान में (निहितम्) गोप्य था (प्रेणा) वह अब प्रेमसे (आविः) आविर्भूत होता है। अर्थात् बालक सर्व प्रथम वस्तुओं का नाममात्र उच्चारण करते हैं, वही उनका भाषाशिक्षाका प्रथम सोपान है। उनके जो कुछ उत्कृष्ट और निर्दोष ज्ञानहृदयके निगूढ स्थानमें सञ्चित रहता है, वह क्रमशः प्रेम से आविर्भूत होता रहता है।

आशय– इसमें सन्देह नहीं कि मनुष्योंका अन्तःकरण निखिल ज्ञान का पात्र है। ज्यों ज्यों सकल अवयवोंके साथ शरीरकी वृद्धि होती है और सांसारिक पदार्थोंके साथ संसर्ग होता जाता है, त्यों त्यों हृदयपात्र से ही ज्ञानस्रोत निकलने

लगता है। बालक इसके लिये दृष्टान्तरूप है। प्रथम एक-मात्रिक शब्द उच्चारण करता। तत्पश्चात् उसके उच्चारणा की वृद्धि होती जाती है और अपने परितः स्थित पदार्थों का नाम और ज्ञान पूछ पूछ कर पढने लगता है। अन्ततो गत्वा यही बालक वेदार्थ का ज्ञाता होता है और संसारमें उसकी प्रसिद्धि होती है। यह सब प्रेम और प्रयत्न से होता है, अतः प्राथमिक शिक्षा बडी चातुरी से मातृद्वारा होनी चाहिये।

आशय- बालक सर्वप्रथम वस्तुओंका नाममात्र उच्चारण करते, वही उनका भाषाशिक्षा का प्रथम सोपान है। उनके जो कुछ उत्कृष्ट और निर्दोष ज्ञान हृदयके निगूढ स्थान में सञ्चित रहता है,वह क्रमशः प्रेमसे आविर्भूत होता रहता है।

वाणी कैसी बोलनी चाहिये।

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत। अत्रा सखायः सख्या-नि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि ॥ ॥४१९॥ (ऋ० १०।७१।२)

जैसे कोई (तितउना) सूपसे (सक्तुम्+इव) सत्तूके साफ करे, तद्वत् प्रकृति और प्रत्ययोंके विचारसे (पुनन्तः) शब्दोंको संग्रह करते हुए (धीराः) धीमान् विद्वान् (यत्र) जिस कालमें अथवा विद्वत्संघमें (मनसा) प्रज्ञायुक्त मनसे (वाचं अक्रत) वचन बनाते हैं (अत्र) उस काल अथवा विद्वत्संघमें (सखायः) उसके मित्रगण (सख्यानि जानते) शास्त्रादि विषयज्ञान जानते हैं, जिस हेतु (एषां वाचि) इनके वचनमें (भद्रा) कल्याणी (लक्ष्मीः) लक्ष्मी (अधि-निहिता) स्थापित होती है।

अनुवाद-जैसे चालनी द्वारा सत्तुके परिष्कार करें, तद्वत् बुद्धिमान् बुद्धिबलसे परिष्कृत भाषा प्रस्तुत करते हैं। उस भाषासे बन्धुगण बन्धुत्व अर्थात् प्रचुर उपकार प्राप्त करते। उनकी वचनरचनासे अतिचमत्कृत कर्णमधुर वाग्देवी प्रकाशित होती है।

आशय-बाल्यावस्थामें आवश्यक शब्दोंका परिचय लोगों-को होता है। जब वे शास्त्र पढने लगते हैं, तब शब्दोंके अङ्गप्रत्यंग विचार कर, उनकी वृद्धि करते जाते हैं और उससे उनका आनन्द भी बढता जाता है। सभामें शुद्ध उच्चारण कर प्रशंसनीय होते हैं। संगी और साथी उनकी विद्वत्ता जान प्रसन्न होते हैं। लोक भी उन्हें सर्वथा लाभ पहुंचानेके लिये यत्न करते रहते हैं,इस हेतु सार्थ सांग वेदाध्ययन कर्तव्य है। और ऐसी मधुरा वाणीओंका सदैव प्रयोग करे, कि इतर जन सुन कर प्रसन्न हुआ करें।

भाषाका विस्तार।

यज्ञेन वाचः पदवीयमायन्तामन्वविन्द-न्नृषिषु प्रविष्टाम्। तामाभृत्या व्यदधुः पुरुत्रा तां सप्त रेभा अभि सं नवन्ते। ॥४२०॥ (ऋ० १०।७१।३)

विद्वद्गणोंने (यज्ञेन) यजनीय परमात्मा के कृपासे अथवा यज्ञ करके (वाचः पदवीयम्) वचनसम्बन्धी मार्ग को (आयन्) पाते हैं (ऋषिषु) और अतीन्द्रियार्थदर्शी ऋषियों में (प्रविष्टां ताम्) प्रविष्ट उस वाणी को (अन्वविन्दन्) लाभ करते हैं, अनंतर (ताम् आभृत्य) उस वचन को लाकर (पुरुत्रा) बहुत देशों में (व्यदधुः) फैलते हैं, अर्थात् सब मनुष्यों को पढाते हैं (ताम्) उस ऐसी वाणी को (रेभा) शब्दायमान (सप्त) गायत्र्यादि सप्त छन्द (अभि सं नवन्ते प्राप्त करते हैं।

वह वाणी गायत्र्यादि सप्त छन्दों में विभक्त होती है। बुद्धिमान् गण यज्ञद्वारा भाषा का पथ प्राप्त करते हैं। ऋषियों के अंतःकरण में जो भाषा स्थापित रहति है,उस को वहां ही छात्रगण प्राप्त करते हैं। उस भाषा को लाकर नाना प्रदेशों में विस्तार करते। उन से ही सप्त छन्द और नानाविध काव्यादि गीतगान बनते रहते हैं।

आशय-भाव इसका यह है कि साधारण मनुष्यगण वेदार्थ-दर्शी ऋषियों के निकट जा अध्ययन कर अपने अपने देश लौट कर उसे फैलाते हैं। तब उस विद्या को गायत्र्यादि नाना छन्दों में बद्धकर गीतरूपसे विस्तार करते और काव्य-रूप से कथाकहानीमें लाते हैं। अतः गुरुकुलादि विद्या-स्थानों में जाकर सुशिक्षा प्राप्त कर अपने अपने देश को उससे भूषित और अलंकृत किया करें तब ही मनुष्यसमाज में कल्याण की वृद्धि, अशान्ति का ह्रास और अन्याय का मुख-चूर्ण हुआ करे।

सब मनुष्य बोद्धा नहीं होते ।

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम् । उतो त्वस्मै तन्वं वि सस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः ॥४२१
(ऋ० १०।७१।४)

(त्वः) कोई कोई (पश्यन् उत) मनसे पर्यालोचना करते हुए भी (वाचं न ददर्श) वाणी नहीं देखते अर्थात् दर्शनसे कुछ फल न पाकर व्यर्थ ही वे देखते हैं, (त्वः) कोई कोई (शृण्वन् उत) सुनते हुए भी (एनाम् न शृणोति) उसको नहीं सुनते हैं, क्योंकि सुनने का फल इन्हें प्राप्त नहीं होता। इस अर्ध ऋचा से अविद्वान् का गुण दिखलाया गया है। तृतीय चरण से वेदार्थज्ञ पुरुषोंका गुण दिखलाते हैं (त्वस्मै उत) किसी वेदज्ञ पुरुषों को स्वयं वाणी (तन्वम्) अपना शरीर अर्थात् अपना आशय (वि सस्रे) दिखला देती है। यहां दृष्टान्त देते हैं, (सुवासाः) सुन्दर परिच्छद-धारिणी (उशती) प्रेमपरिपूर्ण (जाया इव) जैसे भार्या निजस्वामी के निकट निजदेह समर्पित करती है तद्वत् ।

कोई कोई कथा देखकरभी कथाका भावार्थ ग्रहण नहीं कर सकते। कोई सुनते हुए भी नहीं सुनते। जैसे प्रेम-परिपूर्ण सुंदर परिच्छदधारिणी भार्या निजस्वामी के निकट निजदेह प्रकाशित करे, तद्रूप वाग्देवी किसी किसी व्यक्तिके निकट प्रकाशित होती है।

आशय-संसार में बहुत से पुरुष अन्यान्य को पढते, विचारते और प्रशंसित होते देखते हैं, किन्तु उठाकर देखना व्यर्थ है, क्योंकि वे न उनको स्वयं जानते और न समझते, अतएव उनका श्रवण भी व्यर्थ ही है, क्योंकि उस वाणीका अर्थ उन्हें कुछ भी प्रतीत नहीं होता। और कोई भूयो भूयः श्रवण, मनन और निदिध्यासन करने से वाणीके पूर्ण तत्त्व को समज जाते हैं। मानो वाणी स्वयं प्रसन्ना होकर अपना अङ्ग उस विद्वान् के निकट सब प्रकार से दिखला देती है, इससे यह सिद्ध हुआ कि जो कुछ पढे, उसके अर्थका भी अभ्यास करे। और सर्वदैव मननद्वारा पदार्थों के तत्त्व जानने के लिये प्रयत्न किया करे।

मूर्खजन ।

उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु । अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम् ॥ ४२२ ॥
(ऋ० १०।७१।५)

(त्वं उत) किसी किसी पुरुषको (सख्ये) विद्वत्सभा में (स्थिरपीतम्) उत्तम भावग्राही (आहुः) कहते और मानते हैं (एनम्) इस पुरुष को (वाजिनेषु अपि) किन्हीं शुभ कर्मों में उन्हें नहीं त्यागते, किन्तु अग्रसर बनाते हैं। कोई कोई (अधेन्वा) दुग्धरहित गौ के समान (मायया) केवल छल, कपटयुक्त वाणीसे (चरति) विचरण करते हैं, अर्थात् मूढ प्रजाओं में अपनी मिथ्या विद्वत्ता दिखला ठगा करते हैं (एषः) वह मनुष्य (अफलां) फलरहिता (अपुष्पाम्) पुष्पविहीना (वाचम्) वाणी को (शुश्रुवाम्) सुनते हैं।

आशय-अपने अपने समाज में प्रत्येक पुरुष ऐसी योग्यता प्राप्त करें कि उनकी सर्वत्र शुभ कर्म में उपस्थिति अपेक्षित हो। और छलकपट कर के कदापि प्रजाओं को न ठगा करे। ठग धूर्त जनों से प्रजा को सदैव पृथक् और सचेत रहना चाहिये।

पण्डितसमाज में किसी किसी व्यक्ति की यह प्रतिष्ठा होती है कि,वह उत्तमावग्राही, कहलाता है उसको त्याग कोई शुभ कार्य नहीं किया जाता, कोई पुष्पफलविहीन अर्थात् असार वाक्य अभ्यास करते उन के जो वाक्य वे मानो वास्तविक दुग्धप्रदा गौ नहीं, किन्तु काल्पनिक मायामयी गोमात्र है।

मित्रत्याग की निन्दा।

यस्तित्याज सचिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति। यदीं शृणोत्यलकं शृणोति नहि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम् ॥ ॥४२३॥ (ऋ० १०।७१।६)

(यः) जो अज्ञानी (सचिविदं) प्रेमी, ज्ञानी (सखायम्) अपने मित्रको (तित्याज) निष्कारण त्याग देता है, (तस्य) उस पुरुष का (वाचि अपि) किसी वचन में कोई विश्वास नहीं करता। लोग उसको मिथ्यावादी समझने लगते हैं। (ईम्) यह पुरुष (यत् शृणोति) जो कुछ सुनता है, (अलकं शृणोति) व्यर्थ ही सुनता है, वह (सुकृतस्य पन्थां) सत्कार के मार्ग को (नहि प्रवेद) नहीं जानता है। अर्थात् विद्वान् बंधुको जो त्यागता है, उस की कथा में कोई फल नहीं, वह जो कुछ

सुनता है वृथा ही सुनता । वह सत्कर्म के पथ को जान नहीं सकता ।

आशय–बहुतसे स्वार्थी पुरुष निज स्वार्थ सिद्ध कर अपने सखा को निष्कारण त्याग देते । किंतु उस कुत्सित कर्म से लोक में निंदा और अपयश होता है । वे अविश्वसनीय होकर लोक में दुःखभागी होते हैं, अतः स्वार्थ की मात्रा न्यून कर अंगीकृत पुरुष का त्याग करना एक प्रकार पाप है ।

विद्वान् बंधु को जो त्यागता उसकी कथा में कोई फल नहीं । वह जो कुछ सुनता वृथा ही सुनता, वह सत्कर्म का मार्ग नहीं जान सकता ।

सब मनुष्य समान नहीं ।

अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवे-ष्वसमा बभूवुः । आदघ्नास उपकक्षास उ त्वे ह्रदा इव स्नात्वा उ त्वे ददृश्रे ।॥४२४॥ (ऋ० १०।७१।७)

सब मनुष्य (अक्षण्वन्तः) नेत्रवाले और (कर्णवन्तः) कानवाले होते हैं, अर्थात् नयन, कर्ण, नासिका, हस्त, चरणादिक सब को होते हैं और इप में (सखायः) सब प्रायः तुल्य दिखते हैं । किन्तु (मनो जवेषु) मनोवेगों में अर्थात् बुद्धि, विवेक, विचार इत्यादि अंशों में (असमाः बभूवु) वे अतुल्य होते हैं । आगे अतुल्यता दिखलाते हैं । उन में से कोई (आदघ्नासः)मुखपर्यंत जलवाले (ह्रदाः इव) सरोवर के समान होते हैं,इससे मध्यम पुरुष दिखलाए गए हैं (त्वे उ) कोई कोई (उपकक्षासः) कक्षपर्यन्त जलवाले सरोवर के समान होते हैं,इस से अल्पज्ञ पुरुष सूचित किए गए हैं (त्वे) कोई कोई (स्नात्वा) स्नानार्ह अक्षोभ्योदक ह्रदों के समान (ददृश्रे) देख पडते हैं, इससे महाप्रज्ञ पुरुष दर्शाए गये हैं ।

आशय–यह प्रत्यक्ष है कि प्रत्येक मनुष्य शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक अंश में समान नहीं हैं, केवल मनुष्य ही नहीं किंतु सब प्राणियों में ऐसी अवस्था विद्यमान है । अतएव मानवसमाज में वैषम्य अथवा पारस्परिक मनोमालिन्य और असामञ्जस्य देखकर आश्चर्यान्वित होना नहीं चाहिए । यही शिक्षा इससे दी गई है ।

अनुवाद–जिनके चक्षु हैं, कर्ण हैं, ईदृग् बन्धुगण मन के भावप्रकाश करने में असाधारण होते हैं । जिस ह्रद के जल में केवल मुख वा कक्षपर्यन्त निमग्न होता, जैसे वह अगमीर वैसे कोई कोई अगमीर होते । कोई कोई स्नानार्ह उपयुक्त सुगमीर ह्रद के समान देख पडते हैं ।

अज्ञानी का त्याग ।

ह्रदा तष्टेषु मनसो जवेषु यद्ब्राह्मणाः संयजन्ते सखायः । अत्राह त्वं वि जहुर्वेद्याभिरोहब्रह्माणो वि चरन्त्यु त्वे ॥४२५॥ (ऋ० १०।७१।८)

(सखायः) समान योग्यतावाले (ब्राह्मणाः) ब्रह्मवित् पुरुष (यत्) जब (ह्रदा तष्टेषु) बुद्धिमानों के हृदय से विनिश्चित (मनसः जवेषु) मनोवेगों में गुणदोषनिरूपण करने के लिये (सं यजन्ते) एकत्रित होते हैं (अत्र) तब इस सभा में (त्वम्) अविज्ञातार्थी वेदानभिज्ञ (पुरुष) को (वि जहुः) त्याग देते हैं । वे वेदविद्या में अपूर्ण पाए जाते हैं (अह) और (त्वे) कोई (ओह ब्रह्माणः) जिन की विद्या, बुद्धि और ब्रह्मज्ञान परिपक्व पाए जावे, वे (वेद्याभिः) वेदितव्य विद्याओं के द्वारा (विचरन्ति) स्वतंत्रतया प्रजाओं में विद्याप्रचार के लिये विचरण करते हैं, (उ) यह बात प्रसिद्ध है ।

आशय–विद्वान् ब्राह्मणों को उचित है कि वे सभा कर के विद्या की परीक्षा करें । जो परीक्षोत्तीर्ण हो, वे ही प्रजाओं में उपदेश करनेके लिये योग्य समझे जांय और जो वेदार्थतत्त्ववित् नहीं और आचार से भी ही न हों, वे उपदेशार्थ कहीं न भेजे जाय । ऐसी सुव्यवस्था होने से ही समाज का मंगल और विद्यादि की वृद्धि होती रहती है । अन्यथा विपरीत ज्ञान फैलकर बहुत हानि पहुंचती है और अविद्या के विस्तार से ब्राह्मणसमूह की भी अवनति होती है ।

अनुवाद– जब अनेक ब्राह्मण एकत्र होकर मन का भाव हृदय में आलोचनापूर्वक अवधारित करने को प्रवृत्त होते, तब किसी किसी अनभिज्ञ को त्याग देते और कोई कोई ब्रह्मवित् पुरुष परिचित होकर सर्वत्र विचरण करते हैं ।

स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा) की हिंदी पुस्तकें ।

	मू.	डा०व्य०
१ ऋग्वेद-संहिता	५)	१)
२ यजुर्वेद-संहिता	२)	॥)
३ सामवेद (छप रहा है)	३)	॥)
४ अथर्ववेद	३)	॥)
महाभारत आदिपर्व	६)	१।)
„ सभापर्व	२॥)	॥)
संस्कृतपाठमाला ।	६॥)	।॥=)
वै. यज्ञसंस्था भाग १	१)	।)
अथर्ववेदका सुबोध भाष्य।		
१ प्रथम काण्ड सजिल्द	२)	॥)
२ द्वितीय काण्ड „	२)	॥)
३ तृतीय काण्ड „	२)	॥)
४ चतुर्थ काण्ड „	२)	॥)
५ पंचम काण्ड „	२)	॥)
६ षष्ठ काण्ड „	२)	॥)
७ सप्तम काण्ड „	२)	॥)
८ अष्टम काण्ड „	२)	॥)
९ नवम काण्ड „	२)	॥)
१० दशम काण्ड „	२)	॥)
११ एकादश काण्ड „	२)	॥)
१२ द्वादश काण्ड „	२)	॥)
१३ त्रयोदश काण्ड „	१)	॥)
१४ चतुर्दश काण्ड „	१)	॥)
१५ १५ से १८ तक ४ काण्ड	२॥)	॥)
छूत और अछूत	१॥।)	॥)
भगवद्गीता (पुरुषार्थबोधिनी)	९)	१॥।)
महाभारतसमालोचना। (१-२)	(१)	॥)
वेदस्वयंशिक्षक भा. १-२	३)	॥)
१ संध्योपासना ।	१॥)	।-)
२ योगके आसन । (सचित्र)	२)	।≡)
३ ब्रह्मचर्य ।	१)	।-)
४ सूर्यभेदन-व्यायाम („)	॥)	॥)
५ योगसाधनकी तैयारी ।	॥।)	॥)
यजु. अ. ३६ शांतिका उपाय	॥=)	≡)
शतपथबोधामृत	।)	-)

देवतापरिचय-ग्रंथमाला ।		
१ रुद्रदेवतापरिचय	॥)	=)
२ ऋग्वेदमें रुद्रदेवता	॥=)	=)
३ देवताविचार	≡)	-)
४ अग्निविद्या	१॥)	-)
बालकधर्मशिक्षा ।		
१ प्रथम भाग।	-)	-)
२ द्वितीय भाग	=)	-)
३ वैदिक पाठमाला प्रथम पुस्तक	≡)	-)
आगमनिबंधमाला ।		
१ वैदिक राज्यपद्धति ।	।)	-)
२ मानवी आयुष्य ।	।)	-)
३ वैदिक सभ्यता ।	॥)	≡)
४ वैदिक चिकित्साशास्त्र	।=)	-)
५ वैदिक स्वराज्यकी महिमा	॥)	=)
६ वैदिक सर्पविद्या।	॥)	=)
७ मृत्युको दूर करनेका उपाय।	॥)	=)
८ शिवसंकल्पका विजय।	॥)	=)
९ वेदमें चर्खा ।	॥)	=)
१० वैदिक धर्मकी विशेषता	॥)	=)
११ तर्कसे वेदका अर्थ	॥)	=)
११ वेदमें रोगजंतुशास्त्र	≡)	-)
१३ वेदमें लोहेके कारखाने	।-)	-)
१४ वेदमें कृषिविद्या	≡)	-)
१५ ब्रह्मचर्यका विघ्न	=)	-)
१६ इंद्रशक्तिका विकास	॥)	८)
उपनिषद् माला। १ ईशोपनिषद्	१)	।-)
२ केन उपनिषद्	१।)	-)
१ वैदिक अध्यात्मविद्या	॥)	=)
२ गीता-लेखमाला १से७भाग	५॥)	१॥)
३ गीता-समीक्षा	=)	-)
४ यज्ञोपवीत संस्काररहस्य	१।)	॥)
५ भगवद्गीता (प्रथम भाग) (मायानन्दी भाष्य)	१)	॥)
६ भक्तके भगवान	॥)	=
७ वेदोक्त प्रजननशास्त्र	≡)	-)

Regd. No. B. 1463

मुद्रक और प्रकाशक— व० श्री० सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध।

3-8-40

वैदिक धर्म।

फाल्गुन, सं० १९९६
अप्रैल १९४०

सान् फिरेन्त्सेका चौक, फ्लॉरेन्स



क्रमांक
२४४

वैदिक धर्म ।

[मासिक पत्र]

संपादक
पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

सहसंपादक
पं० तडित्कान्तजी वेदालंकार

स्वाध्याय-मण्डल, औन्ध

वार्षिक मूल्य म. आ. से ५) रु. वी. पी. से ५।।) रु. विदेशके लिये ६।।) रु.

वर्ष २१] [अङ्क ४

विषयानुक्रमणिका

वैदिक धर्म

क्रमांक २४४

वर्ष २१ : : : : अंक ४

फाल्गुन संवत् १९९६

अप्रैल १९४०

ईश्वर ।

यत्र ऋषयः प्रथमजा ऋचः साम यजुर्मही ।
एकर्षिर्यस्मिन्नार्पितः स्कम्भं तं ब्रूहि ।
कतमः स्विदेव सः ॥

(अथर्व० १०-७-१४)

"(**प्रथमजाः ऋषयः**) प्रथम उत्पन्न हुए ऋषिगण, तथा ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और महती विद्या और एक ऋषि जिस में स्थिर हुए हैं, उसी को (**स्कम्भं**) सर्वाधार ईश्वर कहो, वही अत्यन्त सुख देनेवाला है।"

सब ऋषि, सब ज्ञान और सब विद्याएं परमेश्वर में हैं वही सबका आधार है और सुखका आधार भी है।

अपने पांवके पास देखो।

बहुत पाठक हमें वारंवार पूछते हैं कि, मुक्तिके पश्चात् क्या होता है? सृष्टिके प्रारम्भमें क्या था? इत्यादि। इस तरह के प्रश्न पूछनेसे लाभ क्या होता है, यह हमारे समझमें नहीं आता।

जिस समय मनुष्य बद्ध है, उस समय मुक्ति के साधन का ही विचार करना चाहिये। बद्ध स्थितिमें रहते हुए और अपनी मुक्तिके साधनों का विचार न करते हुए, केवल ऐसी अवस्था का विचार करना कि जो शीघ्र प्राप्त नहीं होगा, हमारे ख्यालमें केवल पिष्टपेषण है।

हमारा पाठकोंसे अनुरोध है कि पाठक ऐसे प्रश्न पूछनेमें अपना समय न गमावें। इससे कोई लाभ नहीं। परन्तु जिनकी आवश्यकता नहीं है, ऐसी बातोंमें समय व्यर्थ गवानेसे बहुत ही हानि है। इस प्रकारकी हानियोंसे पाठकों के कष्ट ही बढनेवाले हैं।

इसलिये पाठक सचमुच यदि विचार करना चाहते हैं, तो वे आजकी अपनी परिस्थितिका विचार करें, आज के कष्ट दूर करने का यत्न करें। अपने पांवके नीचे क्या है, इसका विचार करें, अपने सुधारका यत्न करें। इसी का नाम आत्मज्ञान है।

कई लोग कहते हैं कि आत्मज्ञान का अर्थ आत्मा का ज्ञान है। यह अत्यंत संकुचित अर्थ है। आत्मज्ञान का अर्थ है, अपने शरीर, इंद्रिय, मन, बुद्धि, आत्मा का ज्ञान, तथा अपने बाहर का जो विश्व है, उसका ज्ञान। यह सब आत्मज्ञानमें समाविष्ट होता है। अर्थात् आत्मज्ञान में सब विद्याएँ आ जाती हैं।

यदि पाठकों के शरीर रुग्ण हुए हैं, तो वह आत्मज्ञान न होनेके कारणहि रुग्ण हुए हैं। यदि उनको आत्मज्ञान होता, तो उनको शरीर का ज्ञान होता और शरीर नीरोग किस तरह रह सकता है, रोगी क्यों होता है, रोगनिवृत्ति किस रीतिसे होती है, यह सब शरीरविद्या से प्राप्त होने वाला ज्ञान उनको होता।

परन्तु आज ऐसा समझते हैं कि शरीरविद्या कुछ और है और आत्मज्ञान कुछ और है। इसलिये जिनको आत्मज्ञानी कहते हैं, उनको शरीरविद्या के साथ अपना कुछ भी संबंध नहीं है, ऐसा भ्रम होता है। यह सब अवैदिक प्रथा है और यही दुःखका हेतु है।

उसी तरह समाजव्यवस्था और राष्ट्रव्यवस्था भी आत्मज्ञानका ही भाग है। पाठकोंने 'विश्वं विष्णुः' यह संपूर्ण विश्वही विष्णु है, यह बात ईश्वरसाक्षात्कारके लेखमें जान ली होगी। यदि सब विश्वही विष्णु तथा आत्मा है, तब आत्मज्ञान में समाजव्यवस्था और राज्यव्यवस्था का समावेश नहीं होता, ऐसा किस तरह माना जा सकता है? अर्थात् यद्यपि आजकल समाज और राष्ट्रकी बातें आत्मज्ञानसे बाहर हैं, ऐसा समझा जाता है, तथापि वैदिक रीतिसे और ऋषियों की दृष्टिसे ये सब बातें आत्मज्ञान के अन्दर संमिलित हैं।

इससे पता चल सकता है कि आजकल के विचार वैदिक विचारसरणीसे कितने और कैसे दूर हैं। आत्मज्ञानमें संपूर्ण और अखण्ड मानवी जीवन का ही समावेश होता है, यह जानना चाहिये।

इस तरह आत्मज्ञान की व्याप्ति जानने के पश्चात् निःसन्देह विदित होगा कि, हमारा सब सुख तथा दुःख, आत्मज्ञान और आत्मज्ञान के अभाव के साथ संबंध रखता है। हरएक क्षेत्रमें आत्मज्ञान से सुख और उसके अभाव से दुःख होता है। इसलिए मुक्ति के पश्चात् और सृष्टि के आरम्भ की स्थिति का विचार करनेमें अपना समय गमाने की अपेक्षा यदि पाठक अपने पांवके पासकी स्थितिका अवलोकन करेंगे और उस स्थितिमें दुःखनिवृत्ति के लिये आत्मज्ञान की प्राप्ति का यत्न करेंगे, तो उनका अधिक हित होगा।

स्वाध्याय-मण्डल का परिचय।

स्वाध्याय-मण्डलके उद्देश्य।

(१) प्राचीन शुद्ध सनातन वैदिक धर्म के मूल आधार-भूत वेदों को हिंदूमात्र के घर पहोंचाना।

(२) इसके लिए हिन्दू जनतासे आर्थिक सहायता प्राप्त कर जहाँतक हो सके वेदके ग्रन्थों को सस्ते से सस्ते छापकर प्रकाशित करना और हो सके, तो मुफ्त बांटने की व्यवस्था करना।

(३) सनातन वैदिक धर्म के अलभ्य ग्रन्थों को ढूंढना, व प्राप्त ग्रंथों को शुद्ध व सुंदर छापकर उनका सरल अनुवाद करवाकर प्रकाशित करना।

(४) वैदिक तत्त्वज्ञान का प्रचार करनेके लिए भिन्न भिन्न भाषाओंमें मासिक तथा पुस्तकें प्रकाशित करना व हो सके तो हिन्दुस्थान के अलग अलग प्रांतों में स्वाध्याय-मण्डल की शाखायें स्थापित करना।

(५) सनातन वैदिक धर्मपर होनेवाले आक्षेपों को दूर करना।

(६) सनातन वैदिक धर्म का देशदेशांतर में प्रचार करना।

प्रारंभिक कुछ शब्द।

विज्ञानके इस बढते हुए युगमें जडवादने चेतनवाद (अध्यात्मवाद) में प्रायः अनास्था पैदा कर दी है। आज-कल के पाश्चात्य शिक्षण प्राप्त किए हुए लोग ईश्वर, आत्मा, धर्म आदि वस्तुओं को मानवजाति की एक निरी कल्पना समझते हुए उसे धतींग व ढकोसला मानने लगे हैं। ऐसी अवस्थामें धर्म का सत्य स्वरूप बतानेका प्रयत्न करनेवाली, प्राचीन ऋषिमुनियों के बौद्धिक व आध्यात्मिक चमत्कार दिखलाने का प्रयत्न करनेवाली संस्थाके प्रति पढी-लिखी जनता का अभीतक पूर्ण रूपसे ध्यान आकर्षित न हुआ हो, यह स्वाभाविक ही है।

परंतु अब जैसे जैसे केवल विज्ञान की सहायता से, जडवाद से होनेवाली हानियां प्रत्यक्ष होती जा रही हैं, वैसे वैसे लोगों का ख्याल अध्यात्मवाद की ओर स्वयमेव खींचता चला आ रहा है। जनता उसके अभाव को धीरे धीरे अनुभव करने लगी है।

प्रायः सभी लोगों का ख्याल है कि धर्म मनुष्य के केवल आध्यात्मिक पहेलू को सुलझाने का एकमात्र साधन है। परंतु यह ख्याल सरासर गलत है। धर्म व्यक्ति, समाज, जाति, देश, राष्ट्र व तमाम विश्व से सम्बन्ध रखता है और हरेकको अपना अपना कर्तव्य दिखलाता है। धर्म के बिना एक क्षण भी रहा नहीं जा सकता। अशांति का मतलब ही धर्म के विरुद्ध आचरण करना है। संगठन का एकमात्र साधन भी धर्म ही है। इसके प्रत्यक्ष उदाहरण इसलाम और ईसाइयत हैं।

स्वाध्याय-मण्डल की स्थापना का उद्देश्य धर्म का वास्तविक स्वरूप जनता के समक्ष रखने के अलावा यह भी था, कि प्रचलित मतमतांतरोंकी वजह से छिन्नभिन्न हिन्दू जाति को उसके वास्तविक धर्म का भान कराते हुए, उसे सनातन वैदिक धर्म की ध्वजा के नीचे एकत्रित व संगठित करना और इसके लिए वेद आदि धर्मग्रन्थों का प्रचार करके उससे हिंदूमात्र को परिचित कराना।

आजकल ईसाइयत के धार्मिक पुस्तकों का प्रचार करने के लिए बाईबल सोसायटी नामक एक जबरदस्त संस्था मौजूद है। उसकी १०० वर्ष की जिंदगीमें लगभग ५० करोड पौंड उसे बाईबल का देशदेशांतर में प्रचार करने के लिए दिया गया है। ईसाइयत का प्रचार न सिर्फ धार्मिक संगठन की दृष्टिसे ही होता है, बल्कि धर्मप्रचार की आडमें जबरदस्त राजनैतिक संगठन किया जाता है।

मुसलमान धर्म की वजह से कितने सुसंगठित हैं, यह तो किसी से भी छिपी हुई बात नहीं है। कुराने शरीफ को सुंदर से सुंदर छापने के लिए मुसलमान जनता तथा मुसलमानी रियासतें पानी की तरह पैसा बहाती हैं।

परन्तु जब हम हिन्दूओं की ओर दृष्टिपात करते हैं, तो सर्वथा विपरीत पाते हैं। यह बात नहीं है कि हिन्दूओंके पास धन नहीं है, यह भी बात नहीं कि हिंदू धार्मिक श्रद्धा से विहीन हैं, और नहीं यह बात कि हिन्दू लोगों में दान-वृत्तिकी कमी है। दान देने में हिंदू लोग शायद ही किसीसे पीछे रहते हों। परन्तु बात यह है कि हिंदू-धर्म की दान-धारा विपरीत बह रही है। उसमें धार्मिक ऐक्य का सर्वथा अभाव होनेसे आज ऐसी बिकट परिस्थिति खडी हो गई है कि, प्राचीन सनातन वैदिक धर्म के मूल आधारभूत चार वेद भी शुद्ध छपे हुए भारतवर्षमें मिल नहीं सकते। उन्हें प्राप्त करने के लिए विदेशियों की शरण में जाना चाहिए। इससे ज्यादा हमारे लिए और शोकजनक बात क्या हो सकती है?

विदेशों में जो वेद मिलते हैं, वे इतने अधिक कीमती हैं कि उनका संग्रह करना जैसे तैसे आदमी का कार्य नहीं। उदाहरणार्थ—

प्रो० मोक्षमूलरभट्ट द्वारा ओक्सफोर्ड युनिवरसिटी में प्रकाशित मूल ऋग्वेद-संहिताका मूल्य १००) रुपये है; और संस्कृत सायणभाष्य सहित ऋग्वेदका मूल्य २५०) रुपये है।

इसी तरह जर्मनी में प्रकाशित स्वररहित अथर्ववेद-संहिताका मूल्य ५०) रुपये है;

और वहीं से अथर्ववेद की पिप्पलाद शाखा का मूल्य ३००) रुपये है।

इसी तरह अन्यान्य पुस्तकों की भी यही हालत है। पूर्ण रूप से तो कहीं से कुछ मिलता ही नहीं। भारतवर्ष में इस विषय में आजतक जो भी थोडा बहुत प्रयत्न किया गया है, वह अपूर्ण व असन्तोषजनक है।

हमारी इस विवशता व परवशता तथा लज्जास्पद स्थिति को दूर करने के लिए ही खास तौर से स्वाध्याय-मण्डल की स्थापना की गई थी। स्वाध्याय-मण्डल इस विषय में कहांतक सफल हुआ है, तथा उसे इस विषय में जनता ने कहांतक साथ दिया है, यह सब आगे दिए गए वृत्तांत से स्पष्ट हो जायगा।

इस वृत्तांत को पढने के बाद इस सम्बन्ध में सबका अपना अपना क्या धार्मिक कर्तव्य है, यह हरेक व्यक्ति स्वयमेव समझ सकता है। अतः उस विषय में यहांपर विशेष न कहते हुए आगे छपा हुआ स्वाध्याय-मंडलका परिचय पढनेकी हम पाठकोंसे प्रार्थना करते हैं।

स्वाध्याय-मण्डल।

(वैदिक तत्त्वज्ञानप्रचारक संघ)

स्थापना- संवत् १९७५, ई० सन १९१८.

वेद सब सत्य विद्याओंका मूल है। वेद का पढना पढना आर्योंका परम कर्तव्य है। मनु महाराज भी लिखते हैं कि-

वेदमेव सदाभ्यस्येत् तपस्तप्स्यन् द्विजोत्तमः।
वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते ॥
योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥

(मनु० २।१६६-६७)

वेदमेवाभ्यसन्नित्यं यथाकालमतन्द्रितः।
तं ह्यस्याहुः परं धर्ममुपधर्मोऽन्य उच्यते ॥

(मनु० ४।१४७)

सनातन वैदिक धर्मका मूल आधार-ग्रंथ अनादि पवित्र वेद हैं। उनको पढे बिना इस धर्मका ज्ञान होना संभव नहीं। इसीलिए वेदोंका पढना द्विजों (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) का अनादि कालसे परम धर्म माना गया है। तदनुसार अपने धर्मग्रन्थ पवित्र वेदोंका यथामति अध्ययन करके उसके पवित्र ज्ञानको दूसरों तक पहोंचानेके ज्ञानयज्ञ को कायम रखने के लिए व इस लेखके प्रारंभमें बताये गये उद्देश्योंको कार्यमें परिणत करने इच्छा से **वि० संवत् १९७५ तदनुसार ई० सन् १९१८ के मई मासकी २० वीं तारिखको स्वाध्याय-मण्डल की 'औंध' में स्थापना की गयी।**

औंध (Aundh)।

औंध, दक्षिणभारत के सातारा जिलेमें स्थित 'औंध' नामकी देशी रियासत की राजधानी है। पूनासे यह स्थल ९० मील है। औंध आनेके लिये औंध स्वयं रेल्वेस्टेशन न होनेसे मदरास एण्ड सदर्न मराठा रेल्वे के रहिमतपुर (Rahimatpur) नामक स्टेशनपर उतरना

पडता है। बंबईसे आते हुए पूना गाडी बदलनी पडती है। बंबईसे पूना आनेवाली प्रायः सभी गाडियों का इस रेलवे से संबंध रहता है। अतः रास्तेमें कहीं भी ठहरनेकी तकलीफ नहीं पडती। बंबईसे सीधा रहिमतपूर का टिकिट लेनेसे सिर्फ ४।) लगते हैं। रहिमतपुर स्टेशन पर उतरतेहि वहांसे १४ मील दूर औंध आनेके लिए मोटर तैयार मिलती है, जो ।≈)में औंध ले आती है। इस प्रकार स्वाध्याय-मण्डलको देखने आनेवाले सज्जनों को किसी प्रकार का कष्ट उठाना नहीं पडता।

स्वाध्याय-मण्डल के लिये 'औंध' क्यों चुना गया?

भारतवर्षके बडे बडे समृद्ध शहर छोडकर औंध जैसे एकांत शहरको चुननेकी खास वजह एक तो यह थी, कि यहांपर शहरों जैसी चहलपहल तथा शोरशाबा नहीं था। वैदिक साहित्य का स्वाध्याय व संशोधन करने के लिये आवश्यक शांति तथा निश्चितता दोनोंहि यहांपर अनायास प्राप्त थे। यहांपर रहते हुए स्वाध्याय के लिये जहां समय पर्याप्त मिल सकता था, वहां बहुतहि थोडे खर्चसे सांसारिक व्यवहार चल सकते थे। औंध एक छोटीसी पहाडीपर बसा हुआ होनेसे प्रायः गरमियोंके दिनोंमें खास गरमी भी नहीं पडती।

इसके अलावा यह पसंद करनेमें एक मुख्य बात यही भी थी कि स्वाध्याय-मण्डल के प्रारंभिक दिनों में उसे ऐसे भी किसी आश्रयदाता की जरूरत थी कि जो समय समयपर सभी तरहसे प्रोत्साहन देता रहे व जिसकी इस कार्यके साथ सहानुभूति भी हो।

श्रीमान् नरेश श्री भवानराव श्रीनिवासराव पंडित, प्रतिनिधि, B. A., राजासाहेब संस्थान औंध, ऐसेहि एक यजुर्वेदी ब्राह्मण नरेश हैं, जो खुद विद्याविलासी होते हुए वेदप्रेमी व आर्यसभ्यता के पुरस्कर्ता हैं। उनकी सहानुभूति सर्वदा स्वाध्याय-मण्डलके साथ रही है और उन्होंने स्वाध्याय-मण्डल को एक अच्छी सी रकम देकर आर्थिक मदद भी की है।

स्वाध्याय-मण्डलके संस्थापक।

श्रीयुत श्रीपाद दामोदर सातवलेकरजी।

वैदिक धर्म व उसके साहित्य की दुर्दशा देखकर आपने अपने दिलमें दृढ निश्चय किया कि किसी भी तरह इसका उद्धार करना चाहिए और अन्य धर्मों के साहित्य की तरह वैदिक धर्म का साहित्य भी सुलभ होकर उसका हिंदुमात्र के घर घरमें प्रचार होना चाहिए। इसके लिए आपने सबसे पहले अपने प्राप्त आर्थिक प्रलोभनोंका त्याग करके, अपने पास जो कुछ भी था उससे, जैसे कि ऊपर कहा गया है, औंधमें आकर स्वाध्याय-मण्डलकी स्थापना की।

आप वर्तमान वैदिक विद्वानोंमें एक वेदके असाधारण विद्वान् समझे जाते हैं। इसीलिए जनताने अनेकवार वैदिक सम्मेलनों का सभापति बनाकर आपका अपूर्व स्वागत किया है। स्वाध्याय-मण्डल द्वारा प्रकाशित तमाम ग्रन्थ आपहीने लिखे हैं। उनके पढनेसे आपकी विद्वत्ता का ख्याल बडी आसानीसे आ सकता है।

शुरु शुरुमें आप अपने सतत ३० वर्षके वैदिक स्वाध्याय का लाभ लोगोंको घूमघूम कर देने लगे व स्वाध्याय-मण्डल का जनता को परिचय कराने लगे। अपने प्रचार को ज्यादा स्थिर बनानेके लिए आपने प्रारम्भमें 'संस्कृत-स्वयं-शिक्षक' तथा वेद पढनेके लिए 'वेदका स्वयंशिक्षक' ऐसी दो पुस्तकें लिखीं। इसके पश्चात् इस कार्य को और अधिक वेग देने के लिए आपने एक 'वैदिक धर्म' नाम का मासिक भी शुरू किया।

इस प्रकार जैसे जैसे जनता स्वाध्याय-मण्डल के परम उपयोगी कार्यों व सेवाओंसे परिचित होती गई, वैसे वैसे स्वाध्याय-मण्डलके कार्यको वेग मिलता गया। आज २१ वर्ष की इस संस्थाने कितना कार्य किया है तथा उससे वैदिक धर्म की कितनी सेवा हुई है, इसका अनुमान आगे दिये गये वृत्तांतसे कोई भी अनायास कर सकता है।

पुस्तक-प्रकाशन।

स्वाध्याय-मण्डल की स्थापना हुए २१ वर्ष हो गये। इस समय दर्म्यान इस मण्डलद्वारा प्राचीन वैदिक साहित्य-सम्बन्धी जो जो पुस्तकें प्रकाशित की गई हैं, वे सब

मौलिक (Original) होती हुई अत्यन्त लोकप्रिय तथा स्थिर साहित्य में अभिवृद्धि करनेवाली सिद्ध हुई हैं। इन पुस्तकोंके विषयमें जिन्हें विस्तारसे पता करनेकी इच्छा हो, वे स्वाध्याय-मण्डल द्वारा प्रकाशित पुस्तकोंका बडा सूचीपत्र देख सकते हैं । यहांपर कुछ का संक्षिप्त परिचय कराया जाता है ।

(१) सचित्र संपूर्ण महाभारत– १८ पर्वोंका यह महाभारत जिसमें लगभग १ लाख जितनी श्लोकसंख्या है, शुद्ध व सरल हिन्दी भाषाके अनुवाद के साथ अलग अलग १० जिल्दोंमें पाठकोंके सुभीते के लिए प्रकाशित किया गया है । इस विशालकाय महाभारत की ११ हजार पृष्ठसंख्या है, तथा ३० सेर पक्का वजन है। इसके अलावा इसमें अनेक रंगीन तथा सादे भिन्न भिन्न घटनाओं को दर्शानेवाले चित्र हैं । संक्षेप में आजतक जितने भी महाभारत छापे गये हैं, उन सबमें यह अजोड है । महाभारत के शोकिनोंके लिये तथा पुस्तकालयोंके लिये वस्तुतः संग्रह करनेलायक पुस्तक है ।

वैदिक साहित्य का अध्ययन करनेवाले तथा उसमें रस लेनेवालों के लिये महाभारत का पढना नितांत आवश्यक है । क्योंकि व्यासमुनिजीने वेदोंके अर्थों को सुगम व स्पष्ट करनेके लिये इस विशाल ग्रन्थकी रचना की थी । इसीलिये इसके विषय में कहा गया है कि 'भारतव्यपदेशेन ह्याम्नायार्थश्च दर्शितः' । इस प्रकार इसकी जितनी भी प्रशंसा की जाय थोडी है ।

(२) महाभारत-समालोचना– महाभारतमें वर्णित अनेक घटनाओं, स्थलों तथा अनेक विवादास्पद जातियों पर इसमें युक्तियुक्त विद्वत्तापूर्ण प्रकाश डाला गया है । जिसने भी एक बार इस समालोचना को पढा है, उसने इसकी मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा की है ।

(३) श्रीमद्भगवद्गीता– स्वाध्याय-मण्डल का दूसरा अजोड कार्य 'पुरुषार्थबोधिनी भाषाटीका समेत भगवद्गीता' का प्रकाशन है । लगभग १००० पृष्ठों की यह पुस्तक तीन भागों में विभक्त की गई है । आपने अनेक गीताओं के भाष्य देखे होंगे तथा अनेक पढ डाले होंगे, परंतु फिर भी इस में जो विशेषता है, वह आपको कहीं भी नजर नहीं आएगी । इस पुरुषार्थबोधिनीमें गीतावचनों के साथ तुलना करने के लिए अनेक वेदवचन स्थान स्थान पर उद्धृत किये गये हैं । यदि इनको क्रमशः इकट्ठा किया जाय, तो नई वेदगीता तैयार हो सकती है । यह इसकी एक खास विशेषता है । आजतकके अन्य गीता के भाष्यों में गीताके वचनोंकी तुलना सिर्फ उपनिषदों और स्मृतियों के वचनोंसे ही की गई है । वेदसे किसीने भी नहीं की। इस सबके अलावा भाषा आदि की सरलता के कारण यह गीता इतनी अधिक रोचक हुई है कि, एक बार पढना प्रारम्भ करनेपर फिर बीच में छोडने की जरा भी इच्छा नहीं होती ।

(४) अथर्ववेद-भाष्य– वेदभाष्यके लिये वेदप्रेमियों की अवारनवार मांग आती रहने से सबसे प्रथम अथर्ववेद का भाष्य तैयार किया गया । वेदोंके भाष्य तैयार करनेमें कितनी कितनी रुकावटें हैं, इस बात को विद्वान् पाठक भली भांति जानते हैं तथा समझते हैं । वेदोंके सच्चे भाष्य तैयार करने के लिए आवश्यक साधनग्रंथ कहीं भी उपलब्ध नहीं । फिर भी इन सब कठीनताओंमें से पसार होते हुए यह भाष्य तैयार करने का प्रयत्न किया गया है।

इस भाष्यमें मंत्रों का केवल शब्दार्थ न देते हुए भावार्थ तथा विशेष स्पष्टीकरण भी दिया गया है । इस से भाष्य अत्यन्त स्पष्ट और सरल हुआ है । इस में नानाविध विषय यथा रोगचिकित्सा, राजकारण, समाजकारण आदि लगभग तीनसौ विषयोंपर प्रकाश डाला गया है । वेदों के सम्बन्ध में नवीन शोध करने की इच्छा रखनेवालों के लिये तथा वेदोंमें क्या है, यह जानना चाहनेवालों के लिए यह भाष्य अत्यन्त उपयोगी है ।

उपनिषद्-ग्रंथमाला– अबतक 'ईश' और 'केन' ये दो उपनिषदें भाष्यसहित तैयार हुई हैं । अन्य उपनिषदें भी इसी तरह प्रकाशित करने का प्रयत्न हो रहा है । इन उपनिषदों का भाष्य अपने ढंग का नया है, जो उपनिषदों के विषय में श्रद्धा उत्पन्न करता है ।

केनोपनिषद् के भाष्य की विशेषता यह है कि, इस उपनिषद् की तुलना अथर्व-वेद के 'केन' सूक्त के साथ की गई है । इस प्रकार यह अथर्ववेदीय 'केन' सूक्त मौलिक अर्थ व वैदिक मूल सूक्त के साथ जनता के सामने रखने का प्रयत्न किया गया है । ये दोनों उपनिषदें अपनी

अपनी विशेषता लिए हुए खूब लोकप्रिय सिद्ध हुई हैं ।

(६) **योगसाधनमाला**- इस मालाकी तमाम पुस्तकें एकसे एक बढिया हैं । इनकी जितनी भी प्रशंसा की जाय थोडी है । इस माला में संध्योपासना, ब्रह्मचर्य, आसन, योगसाधन की तैयारी, सूर्यभेदनव्यायाम इत्यादि पुस्तकों का समावेश होता है । इस माला की पुस्तकों की रातदिन सतत मांग ही सिद्ध करती है, कि वे जनता को कितनी अधिक प्रिय व लाभदायक सिद्ध हुई हैं ।

उक्त पुस्तकों के अतिरिक्त स्वाध्याय-मण्डलने अन्यान्य बहुतसी छोटी मोटी पुस्तकें जैसे कि 'संस्कृत-स्वयं-शिक्षक', 'वेद-स्वयं-शिक्षक' इत्यादि का समय समय पर प्रकाशन किया है, जिनके बारेमें स्वाध्याय-मण्डलसे पता किया जा सकता है ।

वैदिक धर्म (शुद्ध सनातनधर्म) के साहित्य के प्रचारार्थ स्वाध्याय-मण्डल 'वैदिक धर्म' नामक मासिक का भी प्रकाशन करता है । गत २० वर्षों में इस मासिक के द्वारा करीब करीब २५००० पृष्ठ वेदसम्बन्धी लेखों से भरे हुए जनता के सामने उपस्थित किये जा चुके हैं । जनताने भी इसका हार्दिक स्वागत किया है ।

गत २१ वर्षों में साधारण से मूल धन से स्वाध्याय-मंडलने लगभग ६-७ लाख रुपयों की, ऊपर बताये अनुसार किताबें छापकर जनता में उनका प्रचार करते हुए वैदिक धर्मकी सेवा की है । इस समय भारतवर्ष के प्रायः सभी बडे बडे प्रांतों यथा महाराष्ट्र, मध्य-भारत, संयुक्त प्रांत, पंजाब, सीमाप्रांत, राजपुताना, बृहद् गुजरात, काठीआवाड, सिंध तथा बंगालके मुख्य मुख्य शहरोंमें स्वाध्याय-मण्डल की पुस्तकें पहोंच चुकी हैं । इतनाहि नहीं, अफ्रीका तक भी स्वाध्याय-मण्डल का नाम व कार्य पहोंच चुका है । इसके अलावा स्वाध्याय-मण्डल की कई भिन्न भिन्न पुस्तकों के हिंदुस्थान की अनेक उर्दू, सिंधी, गुजराती, कानडी, तेलगु आदि भाषाओंमें अनुवाद भी हुए हैं । ये सब बातें स्वाध्यायमंडल के प्रकाशन की कितनी ज्यादा लोकप्रियता है, यह सिद्ध करती हैं ।

वेदभाष्य तैयार करनेमें कठिनता ।

साधारण जनता को वैदिक साहित्य का महत्व दिखाते हुए उसकी ओर आकर्षित करने के पश्चात् स्वाध्याय-मण्डल के लिए अपने उद्देश्य के अनुसार यह आवश्यक था कि वह शीघ्रातिशीघ्र वेदों का भाष्य तैयार करके लोगोंके सामने रखे । स्वाध्याय-मण्डलने अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए सबसे प्रथम अथर्ववेद का भाष्य तैयार भी किया । परन्तु इस भाष्य को तैयार करते हुए जो जो अनेकविध कठिनतायें उत्पन्न हुईं, उनमें सबसे मुख्य तथा बडी यह थी कि वेदों की शुद्ध संहितायें कहीं से भी उपलब्ध नहीं होतीं थीं । इसी तरह वेदोंके शाखाग्रन्थ तथा भाष्य के लिये आवश्यक साधन-ग्रन्थों का भी अभाव था । ऐसी अवस्थामें भाष्य करने के कार्य को एक ओर रखकर सबसे पहले शुद्ध वेद तैयार करने का विचार किया गया ।

शुद्ध वेद छापनेका कार्य ।

वेदों की शुद्ध संहितायें छापनेसे पूर्व आजतक जहां जहां वेद छपे हैं, उनका पता किया गया । आश्चर्य और दुःख की बात तो यह है कि भारत वेद-धर्मानुयायियोंका गढ होते हुए भी भारतवर्ष की अपेक्षा युरोपमें ही अधिक शुद्ध तथा सुन्दर छपे हुए कुछ वेद प्राप्त हुए । परन्तु पूर्ण शुद्धता की कसौटी में वे भी उतर सकें ऐसे न थे । ऐसी हालत में स्वाध्याय-मण्डलने तमाम भारतवर्ष छानबीन-कर सौ सौ वर्षसे भी अधिक प्राचीन हस्तलिखित संहितायें प्राप्त कीं । वेदों को वंशपरंपरासे याद करते चले आनेवाले वेदपाठी तथा घनपाठियों को जमा किया और इन सबकी सहायता से हजारों रुपये खर्च कर बडी बडी कठिनताओं का मुकाबला करते हुए अन्तमें शुद्ध वेदों का पता कर उन्हें छापा । इस समय चारों वेद शुद्ध, सुन्दर तथा सस्ते छपे हुए, अच्छी जिल्दवाले, बहुतही थोडे मूल्यमें स्वाध्याय-मण्डल से मिल सकते हैं ।

विदेशोंमें छपे हुए जो वेद मिलते हैं, वे इतने ज्यादा कीमती हैं कि सर्वसाधारण वेदप्रेमी भारतवासी उन्हें किसी भी सूरतमें खरीद नहीं सकते । भारतवर्षमें आज-कल जो वेद छपे हुए मिलते हैं, वे जहां कीमतमें थोडे सस्ते हैं, वहां उनकी छपाई, जिल्द तथा शुद्धता किसी कामकी नहीं ।

स्वाध्याय-मण्डलद्वारा प्रकाशित वेदों की लोकप्रियता का इसीसे अनुमान किया जा सकता है, कि ऋग्वेद छापने

के ३ महीने बाद ही समाप्त हो गया और इस कारण स्वाध्याय-मण्डल को उसे फिर दुबारा छापने की जरूरत पडी ।

वस्तुतः हिन्दुओं की जनसंख्याको लक्ष्यमें रखते हुए तथा हिंदुमात्रके घरमें वेदों को पहोंचाने के लिए यह निहायत जरूरी है कि इन शुद्ध वेदोंके या तो तांबे के ब्लोक बनाये जायें अथवा तो स्टीरियो टाइपींग से वेदों का मुद्रण हो । परन्तु इन दोनोंही बातोंके लिए हजारों रूपयों की आवश्यकता है। यदि हिंदू धनवान् लोग अथवा हिंदू राजे महाराजे इस ओर दृष्टिपात करें, तो यह कार्य आसानी से व शीघ्रता से हो सकता है। स्वाध्याय-मण्डल इसके लिए अपनी ओर से यथाशक्ति प्रयत्न कर रहा है। यदि हिंदू जनताने इसमें पूर्ण रूपसे साथ दिया, तो निकट भविष्य में यह कार्य भी सम्पन्न हो जायगा।

वेद छप जाने के बाद अन्यान्य वैदिक शाखासंहितायें भी छापी जानी जरूरी हैं। इनके साथ साथ उपनिषदादि वैदिक वाङ्मय के ग्रन्थ तथा वेदों के अंग-उपांग भी छापनेही होंगे । इन ग्रन्थोंकी संक्षिप्त सूची इस प्रकार है-

(१) ऋग्वेद ।

ऋग्वेद-संहिता, सांख्यायन-संहिता, ऐतरेय ब्राह्मण, ऐतरेयारण्यक, ऐतरेयोपनिषद्, सांख्यायन ब्राह्मण, सांख्यायनारण्यक, ऋग्वेदप्रातिशाख्य, ऋग्विधान, तथा चरणव्यूह आदि ऋग्वेद का वाङ्मय ।

(२) यजुर्वेद ।

(शुक्ल) यजुर्वेद वाजसनेयी संहिता, काण्व-संहिता, (कृष्ण) तैत्तिरीय-संहिता, कापिष्ठल-संहिता, काठक-संहिता, मैत्रायणी-संहिता इत्यादि संहिताग्रन्थ;

शतपथ ब्राह्मण (काण्व तथा वाजसनेय), तैत्तिरीय ब्राह्मण, तैत्तिरीयारण्यक, शुक्ल कृष्ण यजु-प्रातिशाख्य तथा उपनिषदादि यजुर्वेदीय वाङ्मय ।

(३) सामवेद ।

सामवेद-संहिता, सामगानके सब ग्रंथ, आरण्यक संहिता, जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण, ताण्ड्य महाब्राह्मण, दैवत तथा षड्विंश ब्राह्मण, पुष्पसूत्र इत्यादि सब सामवेदीय वाङ्मय।

(४) अथर्ववेद ।

अथर्ववेद-संहिता, पिप्पलाद-संहिता, गोपथ ब्राह्मण, अथर्व-प्रातिशाख्य आदि सब अथर्ववेदीय वाङ्मय ।

इन सब ग्रन्थों को शुद्ध तथा सुंदर छापने के साथ साथ इनका भिन्न भिन्न भाषाओं में अनुवादभी करना होगा।

साधन-ग्रन्थ ।

वेदों के सरल अर्थ तथा मन्त्रों के तत्त्वज्ञान का विवरण देने के लिए ऊपर बताये गए ग्रन्थों के अलावा निम्न-लिखित साधनग्रन्थों की भी अत्यंत आवश्यकता है। इनके बिना जल्दी व आसानीसे निश्चित वेदार्थ होना कठिन है ।

(१) देवतामन्त्रसंग्रह ।

(२) वेदमन्त्रों का वर्गीकरण ।

(३) पुनरुक्त और अभ्यस्त मन्त्रों का संगतिकरण ।

(४) समान या विरुद्ध विचारवाले मन्त्रों का संग्रह।

(५) सब वेदों के मन्त्रों की चरणसूची; हो सके तो, आद्याक्षर तथा अन्त्याक्षर की भी सूची ।

(६) शब्दसूची, विषयसूची, नामसूची; इसमें भी हो सके, तो स्थाननामसूची, वस्तुनामसूची, ऋषिसूची, तथा विशेषणयुक्त देवतासूची इत्यादि ।

इन साधनग्रन्थों के तैयार हो जानेपर वेदभाष्य करना बिलकुल आसान हो जायगा । फिर भाष्य में किसी भी प्रकार के संदेह को स्थान न रहेगा । वेदों की याज्ञिक, आध्यात्मिक, सामाजिक, राजकीय आदि अनेकविध दृष्टियों से खोज करना सुगम हो जायगा । वैदिक सिद्धांतों का निर्णय करने में भी फिर किसी प्रकार की तकलीफ नहीं होगी । आजकल के धार्मिक झगडे तब निश्चित रूपसे मिटाये जा सकेंगे ।

ऊपर बताये गये तमाम कार्य को पूर्ण करने के लिए ५ से ७ वर्ष की अवधि चाहिये । परंतु इतने समय में भी यह कार्य तभी हो सकेगा, जब कि इस के लिये आवश्यक धनरादि जनता से जब जब जरूरत हो, समय पर मिलती रहे । इस कार्य के लिए कुल कितने धन की आवश्यकता है, इस के लिए निम्न अंदाजा लगाया गया है।

आवश्यक धन का अंदाज।

(१) वेदसंहिताओं की छपाई	रु० २५०००)
(२) ब्राह्मण, आरण्यक आदि ग्रंथों की छपाई	रु० २५०००)
(३) दैवत-संहिता, मंत्रोंका वर्गीकरण तथा अन्य सूचियां	रु० १५०००)
(४) आदि तथा अन्त्य अक्षरवाली चरणसूची	रु० १००००)
(५) शब्दसूची, विषयसूची आदि भिन्नभिन्न सूचियां	रु० १५०००)
	रु० ९००००)
(६) वेदभाष्य तैयार करवाकर व छपवाकर प्रकाशित करना	रु० २५०००)
	रु० ११५०००)

यह अंदाज लगभग १ लाख १५ हजार रुपये होता है। यह कमसे कम अंदाज लगाया गया है। परन्तु हमारा ख्याल है कि दसेक हजार रुपया इससे ज्यादा ही खर्च होगा, कम नहीं। अर्थात् सवालाख रुपये से यह सब कार्य पूर्ण रूपसे निर्विघ्न समाप्त हो सकेगा। उपर्युक्त अंदाजमें सब प्रकार के व्यय का अंदाजा लगा लिया गया है।

वेद तथा वेदभाष्य आदि की कीमत जहां तक हो सके, ऐसी रखी जायगी कि जिससे सर्वसाधारण हिंदूमात्र उससे लाभ उठा सके, क्योंकि धार्मिक प्रचार के लिए यह परमावश्यक है। परन्तु यह तभी हो सकेगा, जब कि वैदिकधर्मप्रेमी, दानी सज्जन इसकी जवाबदारी अपने सिर के लें।

स्वाध्याय-मण्डल ने इस आवश्यक धन को प्राप्त करने के लिए निम्नलिखित योजना जनता के समक्ष रखी है। कोई भी धर्मप्रेमी हिंदु चाहे तो उसमें आसानी से भाग ले सकता है। देखें, जनता की ओरसे उसमें कितना सहकार प्राप्त होता है।

आवश्यक धन प्राप्त करनेके लिए योजना।

(१) प्रतिपालकवर्ग।

(अ) प्रथम प्रतिपालकवर्ग- जो सज्जन १० हजार रुपये [रु० १००००)] का दान देंगे।

(i) ऐसे सज्जन चाहेंगे, तो स्वाध्याय-मण्डल द्वारा निर्धारित कोई भी पुस्तक उनके नामसे छापकर उसमें उनका रंगीन चित्र दिया जायगा।

(ii) स्वाध्याय-मण्डल द्वारा प्रकाशित सब भाषाओं का प्रकाशन उन्हें कायम मुफ्त दिया जाया करेगा।

(आ) द्वितीय प्रतिपालकवर्ग- जो सज्जन ५ हजार रुपये [रु० ५०००)] का दान देंगे।

(i) ऐसे सज्जन चाहेंगे, तो उनके नामसे पुस्तक छापकर उसमें उनका सादा चित्र दिया जायगा।

(ii) स्वाध्यायमण्डलद्वारा प्रकाशित तमाम भाषाओं का साहित्य उन्हें मुफ्त दिया जाया करेगा।

(इ) तृतीय प्रतिपालकवर्ग- जो सज्जन ३ हजार रुपये [रु० ३०००)] का दान देंगे।

(i) ऐसे सज्जन चाहेंगे, तो स्वाध्याय-मण्डल द्वारा प्रकाशित होनेवाली किसी पुस्तकमें उनकी फोटो दी जायगी।

(ii) किन्हीं दो भाषाओंमें प्रकाशित पुस्तकें मुफ्त दी जायंगी।

(२) पालकवर्ग।

(ई) प्रथम पालकवर्ग- जो सज्जन २ हजार रुपये [रु० २०००)] का दान देंगे।

(i) ऐसे सज्जन चाहेंगे तो स्वाध्याय-मण्डलकी पुस्तक में उनकी छोटीसी फोटो दी जायगी।

(उ) द्वितीय पालकवर्ग- जो सज्जन एक हजार रुपये [रु० १०००)] का दान देंगे।

(i) ऐसे सज्जनों को किसी भी एक भाषाका तमाम साहित्य मुफ्त दिया जायगा व किसी एक पुस्तक में नाम छापा जायगा।

(ऊ) तृतीय प्रतिपालकवर्ग- जो सज्जन ५ सौ रुपये [रु० ५००)] का दान देंगे।

(i) ऐसे सज्जनों का किसी भी एक पुस्तकमें सहायक के तौरपर नाम रहेगा।

(३) पोषकवर्ग।

(ऋ) प्रथम पोषक-वर्ग- जो सज्जन ३ सौ रुपये [रु० ३००)] का दान देंगे।

(ऋ) द्वितीय पोषक-वर्ग- जो सज्जन २ सौ रुपये [रु० २००)] का दान देंगे।

(लृ) तृतीय पोषक-वर्ग- जो सज्जन सौ रुपये [रु० १००)] का दान देंगे।

(i) पोषकवर्गके सब सदस्यों को उनका धन आने के बाद जो जो पुस्तकें स्वाध्याय-मण्डलद्वारा प्रकाशित की जायंगी, वे सब मुफ्त दी जायंगी।

(ii) जो सज्जन एक साथ कमसे कम १००) रु० देनेमें असमर्थ हैं, परन्तु स्वाध्याय-मण्डल का पोषकवर्ग बननेकी प्रबल इच्छा रखते हैं, उनकी सुविधा के लिए ऐसा नियम बनाया गया है कि, वे यदि एक वर्ष के अंदर अपने सुभीते के अनुसार सौ रुपये पूरे कर देंगे, तो वे पोषक-वर्गके सदस्य लिए माने जायंगे। परन्तु सौ रुपया पूरा होनेपरही उन्हें पोषक-वर्गके तमाम हक प्राप्त होंगे।

(iii) विदेशमें रहनेवाले सज्जनों को पोषक-वर्गका सभासद बनने के लिए कमसे कम दो सौ शिलिंग (शि० २००) देने होंगे। केवल १५०) शिलिंग (रु० १००) देनेकी हालतमें पुस्तकें भेजने का डाकव्यय उनके जिम्मे रहेगा।

दान।

(१) धार्मिक साहित्यको सस्ता व सुंदर छापने के लिए अगर तो मुफ्त बांटने के लिए धनकी अत्यन्त आवश्यकता रहती है। अतः इस कार्यके लिए जो सज्जन यथाशक्ति हर-साल नियमित दान देते रहेंगे, उन्हें समय समय पर स्वाध्याय-मण्डल की ओर से पुस्तकें भेट दी जाया करेंगी।

(२) जिन सज्जनों के दिल में धार्मिक साहित्य के प्रति असीम प्रेम है, परन्तु वे बडी बडी रकमें दान के तौरपर नहीं दे सकते, वे हरसाल नियमित रूपसे १) रुपये से लेकर उन की इच्छानुसार जितना हो सके, दान देकर इस पवित्र यज्ञ में भाग लेकर पुण्यशाली बन सकते हैं।

अनामत।

स्वाध्याय-मण्डल ऐसे सज्जनों का भी हृदय से स्वागत करने के लिये तैयार है कि जो स्वाध्याय-मण्डल में धार्मिक साहित्य छापने के लिए अमुक धनराशि नियत समय के लिए रखनेको तैयार हों। इस प्रकार रखी हुई धनराशिपर ९) रु० सैंकडे के हिसाबसे जो व्याज होगा, उतनी कीमतकी पुस्तकें रेल या डाकव्यय मिलाकर उक्त सज्जन को उनकी पसंदगी के अनुसार दी जायंगी। इस प्रकारकी अनामत रकम निम्नलिखित शर्तोंसे स्वीकारी जायगी।

(१) कम से कम ३ वर्ष के लिए अनामत रकम ली जायगी।

(२) कमसे कम १००) रुपये तथा ज्यादा से ज्यादा १०००) रुपये अनामत रकमके तौरपर लिये जायंगे।

(३) अनामत रकम वापस लेनेके लिए कमसे कम एक मास अगाऊ सूचना देनी होगी।

(४) एक हजार रुपये [रु० १०००)] से अधिक रकम अनामत के तौरपर उसी हालत में ली जायगी जब कि प्रतिवर्ष एक हजार रुपयेसे ज्यादा वापस न ले जायंगे।

धरोहर।

जो सज्जन स्वाध्याय-मण्डल में कमसे कम १०) रुपया धरोहर के तौरपर पुस्तकें खरीद करने के लिए कायम जमा रखा करेंगे; उन्हें पुस्तकों का डाकव्यय माफ होगा।

वी० पी० पी० से मांग।

जो सज्जन कम से कम पुस्तकों के मूल्य का $\frac{1}{3}$ रुपया पहले भेजकर वी० पी० पी० से पुस्तकें मंगवायंगे, उन्हें आधा डाकव्यय माफ किया जायगा।

स्वाध्याय-मण्डलकी इस उपर्युक्त योजनामें हरेक धर्म-प्रेमी सज्जन, चाहे वह गरीब हो या श्रीमान्, किसी न किसी तरह से भाग ले सकता है।

प्रमाणपत्र।

उपर्युक्त तीनों वर्गोंके सदस्यों को जिनका कि आवश्यक धन पूरेपूरा आ गया होगा, उन्हें स्वाध्याय-मण्डल की ओरसे प्रमाणपत्र दिया जायगा। प्रमाणपत्र का स्वरूप इस प्रकार होगा—

ॐ ।

स्वाध्याय-मण्डल (वैदिक तत्त्वज्ञान-प्रचारक संघ), औंध; (जि० सातारा)

प्रमाणपत्र ।

पश्य देवस्य काव्यं न ममार, न जीर्यति ॥
(अथर्व० १०।८।३२)

स्थापना-संवत् १९७५, इ० सन् १९१८ औंध ।

ता०......

संख्या......

यह प्रमाणित किया जाता है कि श्रीमान् ... ... रु० ... .. (अक्षरोंमें) .... रुपये देकर स्वाध्याय-मण्डल के नियमों के अनुसार प्रतिपालक-पालक-पोषकवर्गके सदस्य बने हैं । आजसे उन्हें प्रतिपालक-पालक-पोषक के अधिकार दिये जाते हैं ।

....

प्रधान-संचालक मंत्री

प्रतिपालक, पालक तथा पोषक, वर्गके नियम ।

(१) कोई भी सज्जन सौ रुपये [रु० १००)] या उससे ज्यादा देकर प्रतिपालक, पालक व पोषक-वर्ग के सभासद बन सकते हैं ।

(२) जो सज्जन एकही साथ कमसे कम सौ रुपये [रु० १००)] नहीं दे सकते, वे प्रथमवार कमसे कम बीस रुपये [रु० २०)] देकर शेष धन नियमित किश्तोंसे साल भरके अंदर पूरा कर सकते हैं । यदि वे एक वर्षमें उक्त रकम पूरी नहीं कर पायंगे, तो उन्हें पोषकवर्गका सभासद नहीं माना जायगा, और उनकी प्राप्त रकम दानमें जमा कर ली जायगी ।

(३) प्रत्येक सदस्य को प्रमाणपत्र दिया जायगा ।

(४) किश्तोंसे सौ रुपये पूरे करनेवाले सज्जनों को प्रमाणपत्र तभी दिया जायगा जब कि उनसे सौ रुपये पूरे वसूल हो जायंगे ।

(५) प्रमाणपत्र प्राप्त किये बिना किसी भी सज्जनको सदस्य बननेके लाभ व अधिकार नहीं दिये जायंगे ।

(६) प्रतिपालक, पालक व पोषकवर्ग का सदस्य बनने की इच्छा रखनेवाले सज्जनों को 'प्रतिज्ञापत्र' भरने होंगे ।

(७) प्रतिपालक, पालक व पोषक वर्ग का सदस्य बनने के लिये दी गई धनराशि किसी भी हालतमें वापस न मिल सकेगी ।

(८) पता ठीक न होनेपर या बदल जानेपर प्रकाशनके यथासमय न मिलने की अथवा सर्वथा न मिलने की जवाबदारी सदस्य के सिर रहेगी ।

(९) कोई भी प्रकाशन रजिस्ट्रेशनसे मंगवानेवालों को रजिस्ट्रेशन का खर्च अलग देना होगा ।

अधिकार ।

(१) सौ रुपये या उससे ज्यादा देनेवाले सज्जन स्वाध्यायमण्डलके उक्त तीन वर्गोंमेंसे किसी एकके सदस्य होंगे और उन्हें उस सदस्यत्वको अपने सामने या अपने पीछे वंशमेंसे किसीके नाम परिवर्तित करनेका हक होगा । परन्तु ऐसी स्थितिमें योग्य समयमें प्रमाणपत्र भी परिवर्तित करा लेना होगा ।

(२) प्रतिपालक तथा पालक-वर्गके सदस्यों को स्वाध्याय-मण्डल का तमाम प्रकाशन मुफ्त लेनेका हक होगा; परन्तु पोषक-वर्गके सदस्यों को सदस्य बनने के पश्चात् का प्रकाशन ही मुफ्त दिया जायगा ।

प्रतिज्ञा-पत्र ।

श्रीमान् प्रबन्धकर्ता, स्वाध्याय-मण्डल,
औंध, (जि० सातारा)

मैं आपके स्वाध्याय-मण्डलका रु० ....अक्षरोंमें रुपये......देकर सभासद बनता हूं । कृपया स्वीकार कर के प्रमाण-पत्र भेज दें ।

तिथि भवदीय

पूर्ण नाम ... ... पूर्ण पता ... ...

जिला ... ... देश ... ...

आफ्रिकामें प्रचारकार्य ।

भारतवर्ष के भिन्न भिन्न प्रांतों में तो वैदिक धर्म के प्रचारार्थ श्री० पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकरजी अनेक वार चक्कर लगा चुके हैं तथा अब भी जरूरत पडनेपर जातेही रहते हैं । परन्तु आफ्रिकामें भी स्वाध्याय-मण्डल द्वारा वैदिक धर्म व उसके साहित्य के प्रचारार्थ वहां के

कुछ वेदधर्मप्रेमी सज्जनों के आमन्त्रण को स्वीकार करके १९३७ के आखिर में स्वाध्यायमण्डल के मंत्री श्री० पं० तडित्कांतजी वेदालंकार वहाँ भेजे गये थे। वहांकी धर्मप्रेमी जनताने राजनैतिक व आर्थिक परिस्थितिके ठीक न होते हुए भी पंडितजीका प्रेम से स्वागत किया, तथा अपना वैदिक धर्म के प्रति प्रेम व्यक्त करते हुए वैदिक साहित्य के प्रचार में रस लेकर अच्छी सहायता दी। पंडितजी वहां की खराब परिस्थितियों की वजह से ब्रिटिश ईस्ट आफ्रिका, पो० ई० आफ्रिका तथा साउथ आफ्रिका का कुछ हिस्सा भ्रमण कर के १९३९ के अगस्त में वापस आ गये।

स्वाध्याय-संघ।

सर्वसाधारण जनता अपने धर्म का सच्चा स्वरूप जानने के लिए वेदों का अपने घर बैठेही स्वाध्याय कर सके, तदर्थ स्वाध्याय-मण्डलने '**स्वाध्याय-संघ**' की स्थापना की है। आजकल प्रायः देखा जाता है, कि वेदों के अध्ययन के अभाव में वेदों के नाम से कुछ अनिच्छनीय कल्पनायें तथा सिद्धांत वैदिक धर्म में घुसेडे जा रहे हैं। कुछ लोग तो वेदों को बिना पढे तथा जाने ही किसी भी सिद्धांतको वैदिक या अवैदिक कहते हुए जराभी हिचकिचाते नहीं।

वस्तुतः वैदिक धर्म एक बडाही शास्त्रीय वैज्ञानिक धर्म है। ज्ञानविज्ञान के बिना तथा उसका उचित रीतिसे परिशीलन किये बिना उसमें गति नहीं हो सकती। वेद को ऊपर ऊपर से देखकर उसके बारे में कुछ भी कहना एकमात्र दुःसाहस ही है। ऐसी स्थिति में जिन्हें वस्तुतः वैदिक धर्म से प्रेम है, तथा जो दिलसे वेदों में क्यालिखा है, यह जानना चाहते हैं, उनके लिए वेदाध्ययन के साधनों की व्यवस्था होनी नितांत आवश्यक है।

जो सज्जन वेदोंका अध्ययन करने की कुछ कुछ इच्छा रखते हैं, उनके लिए आजकल कोई भी ऐसी व्यवस्था नहीं, कि जिससे वे अपने सांसारिक व्यवहारों में रहते हुए भी वेदाध्ययन कर सकें। अतः ऐसी किसी संस्थाकी खास आवश्यकता थी कि जो इस कमी को दूर करके जनता को वेदाध्ययन में सहायता करे। '**स्वाध्याय-संघ**' की स्थापना इसी कमी को दूर करने के लिए की गई है।

इस संघ में प्रविष्ट होनेवाले सज्जन ५-६ वर्षोंके अंदर ही वेदवेत्ता हो सकेंगे। जो प्रतिदिन नियमित अभ्यास न भी कर सकेंगे, वे भी १० वर्षों में वेदसम्बन्धी पर्याप्त ज्ञान हासिल कर सकेंगे। **स्वाध्याय-संघ के आश्रय के नीचे वेदाध्ययन करनेवालेको प्रतिदिन नियमपूर्वक सिर्फ आधा घण्टा ही स्वाध्याय के लिए देना होगा।** इतना थोडा समय चाहे तो हर कोई आसानीसे निकाल सकता है।

स्वाध्यायसंघ के उद्देश्य व नियम।

वेद का स्वाध्याय करना और कराना, इस संघ का उद्देश्य होगा।

(१) प्रतिदिन नियमपूर्वक अपने घरमें ही रहते हुए आधा घण्टा वेदों का स्वाध्याय करनेवाले सज्जन इस संघ के सभासद बन सकेंगे।

(२) किसी भी शहर या गांव में कम से कम तीन सदस्य होनेपर वहां संघ की स्थापना की जा सकेगी। एक ही कुटुंब के तीन व्यक्ति अथवा तो एक ही पाठशाला के तीन विद्यार्थी भी इस संघ की स्थापना कर सकेंगे।

(३) सदस्य होने के लिए किसी भी प्रकार का आर्थिक चंदा नहीं लिया जायगा। परन्तु सदस्य को—

(अ) प्रतिदिन कम से कम एक मंत्र मननपूर्वक पढना होगा;

(आ) हसे में कमसे कम एक मंत्र याद करना होगा;

(इ) स्वाध्याय-संघ के साप्ताहिक सत्संग में कमसे कम महिने में एक वार उपस्थित होकर अपने मनन किए हुए मंत्र का आशय अन्य सदस्यों के सामने रखना होगा।

(४) प्रत्येक स्थानीय स्वाध्याय-संघ के अध्यक्ष और मंत्री ऐसे दो ही पदाधिकारी हुआ करेंगे, और इनका वार्षिक चुनाव हुआ करेगा।

(५) अध्यक्ष तथा मन्त्री के विशेष रूपसे निम्न लिखित कार्य होंगे—

(अ) यथासंभव लोगों में वेदों का स्वाध्याय करनेके लिए प्रेम उत्पन्न कर उन्हें संघ के सदस्य बनाना,

(आ) अपने संघ का मासिक वृत्तांत नियमित रूप से 'स्वाध्याय-मण्डल, (औन्ध) भेजना, तथा आवश्यक पत्रव्यवहार करते रहना।

(६) वेदों को पढने की इच्छा रखनेवाले किसी भी धर्म के किसी भी उमर के कोई भी पुरुष, स्त्री, या बालक स्वाध्याय-संघ के सभासद हो सकेंगे।

(७) स्वाध्याय-संघ का सदस्य किसी भी अन्य संस्था का सदस्य हो सकता है।

(८) स्वाध्यायसंघ की स्थापना होनेपर 'स्वाध्याय-मण्डल' (औन्ध) को सूचना देनेसे वह स्वाध्याय करने की आयोजनापर विचार कर समय समयपर योग्य परामर्श देता रहेगा।

सदस्यों की स्वतन्त्रता।

स्वाध्याय-संघ के सदस्यों के लिए, ऐसा प्रतिबंध न होगा कि वे 'स्वाध्याय-मण्डल' द्वारा प्रकाशित पुस्तकों से ही वेदाभ्यास प्रारंभ करें अथवा तो उन पुस्तकों में प्रतिपादित सिद्धांतों को ही स्वीकारें। हरेक सदस्य को विचारस्वातन्त्र्य रखने का पूर्ण हक होगा। स्वाध्याय-मण्डल तो सिर्फ वेदाध्ययन में यथासंभव मदद पहोंचाने का ही प्रयत्न करेगा। और इसके लिए स्वाध्याय-मण्डल अपनी ओर से स्वाध्याय में सहायक हो सकें, ऐसी पुस्तकें समय समय पर प्रकाशित कर उनकी सूचना स्वाध्याय-संघ के सदस्यों को देता रहेगा, ताकि उनसे जिनको लाभ उठाना हो, उठा सकें।

वेदाभ्यासके लिए प्राथमिक योग्यता।

(१) संस्कृत भाषा का ज्ञान प्राप्त करना।

वेद पढनेवालों के लिए सबसे प्रथम संस्कृत भाषा का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। अतः जिन्हें संस्कृत भाषा नहीं आती, उनके लिए 'संस्कृत-पाठमाला' के २४ भाग तैयार किये गए हैं। सिर्फ आध घण्टा रोज इसका नियमित अभ्यास करते रहनेसे एक साल के अंदर संस्कृत के रामायण, महाभारत आदि स्वयमेव बिना किसी की सहायता के समझ सकने की योग्यता आ जाती है।

(२) वेद में प्रवेश।

संस्कृत भाषा से परिचय हो जानेपर भी वेद में प्रवेश करने के लिए कुछ विशेष तैयारी की जरूरत रहती है। अतः पाठकों को वेद में आसानी से प्रवेश कराने के लिए 'वेद का स्वयंशिक्षक' (दोन भाग) नाम की पुस्तक तैयार की गयी है। इसको बुद्धिमान् विद्यार्थी ३-४ मासमें पूरा कर सकता है। और ये दोनों भाग समाप्त करनेपर उसकी गति वेद में प्रवेश करनेयोग्य हो जाती है। तब वह स्वयं चाहे तो वेद का अध्ययन कर सकता है।

जो सज्जन पहले से ही संस्कृत जानते हैं, तथा जिन्होंने वेद को पढने का कुछ विशेष प्रयत्न किया है, वे प्रारंभ से ही वेदाध्ययन शुरू कर सकते हैं।

(३) वेदपाठ।

वेदमंत्रोंको यथाविधि पढना, उनके स्वरादिक का ठीक ठीक तरीके से बोलना आदि वेद-मन्त्रोच्चारण के लिए बहुत जरूरी है। इसके लिए 'वेदोच्चारण-विधि' नामक पुस्तक स्वाध्याय-मण्डल द्वारा तैयार की जा रही है। इसके छपकर तैयार होते ही सूचना दे दी जायगी। इस पुस्तक में निम्नलिखित बातों का स्पष्टीकरण होगा।

(१) ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद के मन्त्रों के उच्चारण करने की रीति;

(२) वेद-मंत्रों के उदात्तादि स्वरों के उच्चारण करने की रीति;

(३) सामगान करने की रीति;

(४) अन्य वेदमन्त्रों के उच्चारण की विशेषतायें।

इस पुस्तक की विशेषता यह होगी कि, **इसमें उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, प्रचय तथा सब प्रकारके सामस्वर बोलने और सामगान करने की रीति विस्तारपूर्वक दर्शाते हुए प्रत्येक स्वर की ऊंचाई, नीचाई तथा गहराई हारमानियम के स्वरों के साथ मिलाकर बताई जायगी।** इससे पाठक हारमोनियम के स्वरों के साथ अपने कण्ठ को मिलाकर तमाम स्वरों का ठीक ठीक उच्चारण बिना किसी तकलीफ के कर सकेंगे।

इसी प्रकार अक्षरों के काल, अक्षरों की मात्रायें, उनके उदात्तादि स्वर तथा कम्पनों का उच्चारण हारमोनियम के स्वरों की सहायता से कैसे किया जा सकता है, यह भी इसमें बताया जायगा।

स्वरसाधन ।

जिन्हें स्वयं 'सामगान' सीखने की इच्छा हो, उन्हें अपने कण्ठ को हारमोनियम के सप्त स्वरों के अनुकूल करने का प्रयत्न करना होगा। हारमोनियम के तीनों स्वर-सप्तकों के साथ जिसका कण्ठ चल सकता होगा, वही सामगान कर सकेगा। जिसे थोडासा गानेका अभ्यास होगा, उसे इसमें विशेष सुगमता रहेगी। सामगायक के लिए सबेरे ५ से ६ बजेतक स्वरसाधन करने के लिए अच्छा समय है। इस समय में उसे हारमोनियम के मंद्र सप्तक के स्वरों का अभ्यास करने से विशेष लाभ होगा।

सामगायन एक अपूर्व गायन है। इसका विस्तार भी बहुत ज्यादा है। हम यथासंभव ऐसा प्रयत्न करेंगे कि उक्त पुस्तक में ये सब बातें इस ढंग से दर्शाई जाय कि जिससे पाठक स्वयमेव अपना अभ्यास यथाशक्ति बढा सकें।

हम चारों वेदों के उच्चारण-विधि की तथा सामगायन की फोनोग्राफ प्लेटें भी लेने की तैयारियां कर रहे हैं। इससे सामगायन सीखनेवालों को तो पर्याप्त लाभ होगा ही, परन्तु साधारण वेदप्रेमी जनता भी उसका आसानी से श्रवण कर सकेगी। इन प्लेटों के तैयार होनेपर भी जनता को सूचित किया जायगा।

वेद की पाठविधि, परीक्षायें तथा प्रमाणपत्र।

उक्त पूर्व तैयारी करके जो सज्जन स्वाध्याय-मण्डल द्वारा नियत की गई पाठविधि के अनुसार वेदाभ्यास करेंगे, उनकी उस उस पाठविधि के समाप्त होनेपर परीक्षायें भी लेने की व्यवस्था की जायगी। जो सज्जन उनमें बैठकर उत्तीर्ण होंगे, उन्हें प्रमाणपत्र दिए जायंगे। परीक्षा के लिए भिन्न भिन्न विद्वान् नियत किये जायंगे, जिनके नाम भी यथासमय प्रकाशित होते रहेंगे। इस सम्बन्ध में विस्तृत विवरण इस प्रकार है—

वर्ष	नाम-परीक्षा	मन्त्र-संख्या	पुस्तक-संख्या
प्रथम	वेद-परिचय	३००	३
द्वितीय	वेद-प्रवेश	५००	५
तृतीय	वेद-प्राज्ञ	१०००	५
चतुर्थ	वेद-विशारद	२०००	५
पंचम	वेद-पारंगत	५०००	५
षष्ठ	वेदाचार्य	स्वतन्त्र खोजपूर्ण निबंध।	

वेदाचार्य की परीक्षा के लिए कोई नियत पाठविधि नहीं होगी। इस परीक्षा के लिए परीक्षार्थी को वेदसंबंधी खोजपूर्ण कमसे कम १०० पृष्ठों का निबंध लिखकर पेश करना होगा। वेदसंबंधी यही परीक्षा आखरी समझी जायगी।

उपर्युक्त पाठविधिके अनुसार अभ्यास करनेवालों के लिए पाठ्य पुस्तकें भी तैयार की जा रही हैं। इन पाठ्य पुस्तकों के लिए चुने गए वेदमन्त्रों का सरलता से अभ्यास हो सके, इसवास्ते हरेक मन्त्र का अर्थ, उसपर योग्य टीकाटिप्पणी तथा निरुक्त, ब्राह्मण, और उपनिषदों के वचन आदि तमाम सामग्री इन पुस्तकों में संग्रहित की जायगी। इस प्रकार इन वेदमन्त्रोंपर विचार करने के लिए अन्य पुस्तकोंको अलग खरीदने आदि की आवश्यकता नहीं रहेगी।

प्रथम वर्ष की परीक्षा के लिए ३ पुस्तकें तैयार की जायंगी, जिनमें प्रत्येकमें सौ सौ मन्त्र होंगे। शेष तमाम वर्षों के लिए पांच पांच पुस्तकें तैयार की जायंगी जिनमें उस उस वर्ष के लिए निश्चित मन्त्र संख्या होगी।

इन पुस्तकों की रचना इतनी सरल होगी कि, क्रमशः अध्ययन करनेवाले को किसी भी तरह की कठिनता प्रतीत न होगी।

इस तरह रोज नियमित सिर्फ आध घण्टा वेदों का स्वाध्याय करने से ५ वर्ष में न सिर्फ ८५०० मन्त्रों का ही ज्ञान हो सकेगा, बल्कि इनके साथ निरुक्त, ब्राह्मण, उपनिषदादिका भी खूब अच्छा ज्ञान हो जायगा। इस पाठविधि में लगभग चारों वेदों के आधे मन्त्रों का समावेश हो जाता है।

आशा है वैदिक धर्मप्रेमी सज्जन स्वाध्याय-संघ का पूर्ण रूपसे लाभ उठाते हुए वैदिक धर्म का सच्चा ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

स्वाध्याय-मण्डलकी संपत्ति।

स्वाध्याय-मण्डलकी स्थावर तथा जंगम मिलाकर कुल संपत्ति इस समय करीब करीब १,३२,७१५) रु० है, जिसका ब्योरा इस प्रकार है—

(१) मुद्रणालय के यंत्र (मशीनें), जिनकी कुल मिलाकर १२१६५) रुपये कीमत है।

१. सिलिंडर मशीन— तमाम खर्च सहित	रु०	६७००)
२. अमेरिकन चाण्डलर ट्रेडल, तमाम खर्च-सहित	,,	११५०)
३. इंगलीश ट्रेडल, तमाम खर्च-सहित	,,	१७५०)
४. कटिंग मशीन	,,	१२००)
५. स्टिचिंग मशीन	,,	६००)
६. मशीन ड्राइव स्टेंड	,,	२००)
७. प्रूफ प्रेस	,,	२००)
८. दबानेका प्रेस	,,	२००)
९. लेट-कटर	,,	४०)
१०. नंबरिंग मशीन	,,	२५)
११. छोटा छोटे दबाव-प्रेस (लोहेके तथा लकडी के)	,,	१००)
१२. आठ अलमारियां	,,	१००)
	रु०	१२१६५)

(२) मकानात, इसमें मुद्रणालय के मकान तथा अन्य मकानात, कूंआ इत्यादि शामिल हैं। इनकी कुल मिलाकर कीमत २०५५०) रुपये है, जिसका ब्योरा इस प्रकार है-

(१) प्रेस बिल्डिंग	रु०	१२०००)
(२) अन्य मकान	,,	५५००)
(३) प्रेस-व्यवस्थापक का घर	,,	८००)
(४) कूंआ	,,	२०००)
(५) शौचकूप (संडास)	,,	२५०)
	रु०	२०५५०)

(३) इन सबके अलावा टाईप आदि के खोखे (केस), स्टूल, तथा पुस्तकें संग्रह करनेके लिए अन्य फुटकर सामान, जिसपर ७०००) रुपये व्यय हुआ है।

(४) पुस्तकें—इस समय स्वाध्याय-मण्डलके पास जो पुस्तकोंका स्टोक है, उसकी कीमत ९५ हजार रुपया है। ये सब पुस्तकें बिक जानेवाली हैं। ये जैसे जैसे बिकती जाती हैं, वैसे वैसे उनका स्थान नयी पुस्तकें या उन्हींके नये एडीशन लेते जाते हैं। पुस्तकालय की पुस्तकें, जिसकी कीमत ५०००) रु० है, इसीमें सम्मिलित हैं।

इस प्रकार स्वाध्याय-मण्डलकी स्थावर तथा जंगम संपत्ति का सर्वयोग निम्न है—

१. यंत्र (मशीनें)	रु०	१२१६५)
२. मकानात	,,	२०५५०)
३. अन्य सामान	,,	१५०००)
४. पुस्तकें	,,	९००००)
५. पुस्तकालय	,,	५०००)
	रु०	१,३२,७१५)

स्वाध्याय-मंडलके कार्यकर्ता।

स्वाध्यय-मण्डलके प्रमुख कार्यकर्ताओंके नाम निम्न लिखित हैं—

(१) पं० **श्रीपाद दामोदर सातवलेकरजी**- आप स्वाध्याय-मण्डलके संस्थापक तथा मुख्य संचालक हैं। आप का विशेष परिचय शुरुशुरुमें दिया जा चुका है।

(२) पं० **तडित्कांतजी** वेदालंकार, साहित्यमनीषी- आप स्वाध्याय-मण्डलके मंत्री तथा वैदिक धर्मके सह-संपादनके कार्यके साथ साथ हिन्दी विभागके अध्यक्ष हैं।

इनके साथ साथ स्वाध्याय-मण्डलके मुद्रणालय (प्रेस) विभाग, संशोधन-विभाग, पुस्तक-विक्री-विभाग आदि अनेक विभागोंमें कार्य करनेवाले लगभग ६० कार्यकर्ता गण इस समय स्वाध्याय-मण्डलमें कार्य कर रहे हैं। इन स्थानिक कार्यकर्ताओंके अलावा बहुतसे वैदिक विद्वान् पंडित-गण जिन्हें स्वाध्याय-मण्डल के अपने ही कार्यकर्ता कहा जा सकता है, स्वाध्याय-मण्डलके कार्यमें सहयोग दे रहे हैं। उनमेंसे कुछ मुख्य मुख्य विद्वानों की नामावलि यहांपर दी जा रही है।

स्वाध्याय--मण्डलके सहायकर्ता वैदिक विद्वान्।

ऋग्वेद-मुद्रणमें सहायक।

निम्न लिखित विद्वान् ऋग्वेदके अद्वितीय विद्वान् हैं, जिन्हें वैदिक ग्रंथोपग्रंथ (दशग्रंथ) कण्ठस्थ हैं। इनकी स्मरणशक्ति तथा वेदोंको याद रखनेकी पद्धति वस्तुतः

अद्वितीय है। इनके इस कार्य का ख्याल उन्हींको आ सकता है, जिन्हें इनसे मुलाकात करनेका सद्भाग्य प्राप्त हुआ हो। इन्हें देखकर यह बात आसानीसे समझमें आ जाती है, कि वेद आजतक सुरक्षित कैसे रह सके।

१. श्री. वेदमूर्ति सखारामभट्ट बालकृष्णभट्ट येड्डूरकर, वेदाचार्य नरसिंहवाडी (नरसोबावाडी, जि० कोल्हापुर)।

२. श्री. वेदमूर्ति गोविंदभट्ट भिकंभट्ट फाटक, वेदाचार्य, वेद-पाठशाला, पूना।

३. श्री. वेदमूर्ति बाळंभट्ट वासुदेवभट्ट माणगांवकर, वेदाचार्य, वेदपाठशाला, इचलकरंजी (जि० कोल्हापूर.)

४. श्री. वेदमूर्ति कृष्णभट्ट रामचंद्रभट्ट प्रभुणे, वेदाचार्य, याज्ञिक-भूषण, पूना।

५. श्री. वेदमूर्ति शंकरभट्ट गंगाधरभट्ट कशाळीकर, वेदाचार्य, वेदपाठशाला, भटवाडी-सावंतवाडी, जि० रत्नागिरी।

६. श्री. वेदमूर्ति वेदवाचस्पति शास्त्रपञ्चानन महादेवभट्ट गोपाळभट्ट पुरोहित, वेदाचार्य, वेद-पाठशाला मलकापुर, जि० कोल्हापूर।

७. श्री. वेदमूर्ति काशीनाथ नारायणभट्ट केळकर, वेदाचार्य, वैदिक चूडामणि, वेद-पाठशाला, सांगली।

८. श्री. वेदमूर्ति गणेशभट्ट नारायणभट्ट आठल्ये, वेदाचार्य, साखरपें, जि० रत्नागिरी।

९. श्री. वेदमूर्ति केशवभट्ट कृष्णभट्ट दामले, वेदाचार्य, वेद-पाठशाला, रत्नागिरी।

१०. श्री. वेदमूर्ति गोविंदभट्ट रामकृष्णशास्त्री माण्डवगणे, वेदाध्यापक, वेदपाठशाला, सांगली।

निम्न लिखित विद्वान् वेदशास्त्र के अद्वितीय पण्डित हैं और याज्ञिक, निरुक्त, मीमांसा, छन्दःशास्त्र, वेदांग, ज्योतिष् आदि शास्त्रोंमें अत्यंत प्रवीण हैं—

११. श्रीवेदशास्त्रसंपन्न अनन्त यज्ञेश्वरशास्त्री धुपकर, विद्यालंकार, छन्दोनिधि, विद्याविहार-मंदिर, माशेल-गोवा।

अथर्ववेदी पंडित।

निम्नलिखित अथर्ववेदी पण्डित अथर्ववेदके अद्वितीय विद्वान् हैं। इन्होंने अथर्ववेद-मुद्रणमें तथा अथर्ववेदसंबंधी संशोधनकार्यमें अत्यंत सहायता पहुंचाई है। स्वाध्याय-मण्डल इनका अत्यंत ऋणी हैं व शतशः धन्यवाद करता है।

१. श्री० वेदमूर्ति रामचन्द्रभट्ट रटाटे, आहिताग्नि, ऋग्वेदाचार्य तथा अथर्ववेदाचार्य, दरभंगा वेद-पाठशाला, काशी (बनारस)।

२. श्री० वेदमूर्ति सखारामभट्ट वैद्य, अथर्ववेदाचार्य गोयनका विद्यालय, काशी।

३. श्री० वेदमूर्ति नारायणभट्ट घुले, अथर्ववेदी, काशी।

४. श्री० वेदमूर्ति रामचन्द्रभट्ट गोपीनाथभट्ट आठवले, श्रौतभूषण, वैदिकरत्न, ऋग्वेदाथर्ववेदाचार्य, काशी।

५. श्री० वेदमूर्ति कृष्ण विद्याधरभट्ट दीक्षित लेले, अथर्ववेदी, अयोध्या।

६. श्री० पं० अमृतरामाचार्य पाण्डे, याज्ञिक-भूषण, उपाध्याय, धर्मशास्त्राचार्य, मथुरा।

यजुर्वेद वाजसनेयी शुक्ल-यजुर्वेद के सहायक।

१. श्री० वेदशास्त्रसंपन्न श्रीधर आण्णाशास्त्री वारे, नासीक।

यजुर्वेद तैत्तिरीय संहिताके सहायक।

१. श्री० वेदशास्त्रसम्पन्न धुंडिराज गणेश दीक्षित, आहिताग्नि, सोमयाजी, यजुर्वेदानुवादक, श्रौतमार्तंड, पाचवड, वाई, जि० सातारा।

सामवेद-सहायक।

१. श्री० वेदमूर्ति नारायणस्वामी दीक्षित, सामवेद-प्रधानोपाध्यायः श्रीमन्महाराज संस्कृत महापाठशाला, मैसूर।

२. श्री० वेदशास्त्रसम्पन्न आस्थान विद्वान् रामचन्द्र दीक्षित सामवेदाध्यापक, वेदमहापाठशाला, बंगलूर।

३ श्री० प्रभाशंकर त्रिकमजी त्रिपाठी, सामवेदी गुरुजी, बम्बई।

४. श्री० शास्त्री नरहरीशंकर भाईशंकर, सामवेदी, बडौदा।

५. श्री० लक्ष्मणशास्त्री द्रविड, सामगानाचार्य, पूना।

उपर्युक्त तमाम विद्वान् स्वाध्याय-मण्डलके वेद-मुद्रण-कार्यमें दिलचस्पीसे सहायता पहुंचाते रहे हैं। यही नहीं उन्होंने इस पवित्र कार्यमें जिस स्नेह व उत्साहसे हमें सहयोग दिया है, उसके लिए हम उनके अत्यंत आभारी हैं।

स्वाध्याय--मण्डलके सदस्य।

प्रतिपालक वर्ग।

१. श्रीमान् बालासाहेब पन्त प्रतिनिधि, B. A. राजासाहेब, सं० औंध रु० ५०००)
२. श्रीमती आर्यप्रतिनिधि सभा लाहोर (पंजाब) २४२५)

पालक वर्ग।

३. श्री० डॉ० लालचन्दजी वानप्रस्थी, ज्वालापुर २०००)
४. श्री० पं० नाथूलालजी, पेन्शनर अजमेर २०००)
५. श्री० बामन रामचन्द्र नाईक, हैद्राबाद द० ११००)
६. श्री० यशवन्त कृष्ण व महादेव कृष्ण, मुंबई ११००)
७. मेसर्स विट्ठलदास हरिदास की कंपनी, १०००)
८. श्री० सेठ जुगल किशोरजी बिडला, कलकत्ता १०००)
८. म० राधाकिशनजी अमृतसर, (पंजाब) ७००)
९. पं० ठाकुरदत्त शर्माजी, लाहौर (पंजाब) ६५०)
१०. श्री० देवीप्रसादजी, द्वारका-भवन, अंबाला ५२५)
११. श्री० आर्यसमाज, वच्छोवासी, (लाहौर) ५००)
१२. श्री० कृष्णप्रसादजी, मुंबई ५००)
१३. श्री० गोस्वामी नरसिंगगिरजी धनराज-गिरजी, हैद्राबाद द० ५००)
१४. श्री० केशवरावजी वकील, हैद्राबाद द० ५००)
१५. श्री० आर्यावर्त सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधि सभा, दिल्ली ५००)
१६. श्री० श्रीभूषण गुप्त, ट्रैफिक इन्स्पेक्टर, सोजत रोड ५००)
१७. डॉ० सौ० शान्ताबाई सातवळेकर, M. B. B. S. हैद्राबाद द० ५००)
१८. श्री० रामभाई एन्. पटेल ५००)
१९. श्री० सेठ मथुरादास कालीदास मेहता ५००)
२०. श्री० सेठ लीलाधर अमरसिंहजी ५००)

प्रथम पोषक वर्ग।

२१. श्रीमंत डॉ० अप्पा महाराज (कोल्हापूर-सिटी) ४००)
२२. बा० शिवप्रसादजी गुप्त, सेवा उपवन, (काशी) ३००)

द्वितीय पोषक वर्ग।

२३. श्री० मंत्री आर्यसमाज (गीदडबाह),
२४. श्री० ग्यानचन्दजी विद्याधर (न्यू दिल्ली)
२५. प्रो. डी. बी. परांजपे, बी. ई. (पूना ४)
२६. श्री. जसवन्तरावजी (कराची)
२७. श्री. म. रतिलालजी (मुंबई)
२८. श्री. सेठ मोतीलाल माणिकचन्दजी ऊर्फ प्रताप-शेटजी (अमलनेर)
२९. म. नोतनदासजी गंभीर (लाहौर)
३०. ला. लालचन्दजी (सिमला)
३१. श्री. राय. ठाकुरदत्त धावन (डेरा इस्माएल-खाँ)
३२. श्री. बूधरामजी सूद (लाहौर)
३३. श्री. वेलाभाई मांडण पटेल

तृतीय पोषक वर्ग।

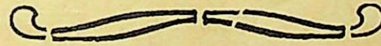
३४. श्री. मंत्री आर्यसमाज (डेरा-इस्माएल-खाँ)
३५. म. नारायणदत्तजी कॉन्ट्रॅक्टर (नयी दिल्ली)
३६. म. गुराँदित्ता भगवानदासजी आर्य
३७. पं. ठाकुरदत्तजी वैद्य मुलतानी (लाहौर)
३८. श्री. ना. वा. गुणाजी B. A., LL. B. (बेलगाँव)
३९. पं. रामचन्द्रजी B. A. (अंबाला-शहर)
४०. म. नरसोपंत बोरामणीकर (हैद्राबाद द०)
४१. श्री. दि. वा. कुलकर्णी (कराड)
४२. श्री. गो. शि. आपटे व सौ. राधाबाई आपटे (पूना २)
४३. श्री. पांडुरंग जावजी (मुम्बई)
४४. श्री. पुरुषोत्तम महादेव भावे (पूना २)
४५. डॉ. कु. ताराबाई जोगळेकर (पूना)
४६. श्री. शामराव विनायक वीरकर (विलेपार्ले)
४७. म. बाबरभाईजी पटेल, पीपलाद (आणन्द)
४८. श्री. विद्यारत्नजी (लाहौर)
४९. पं. मूलचन्दजी (दिल्ली)

५० श्री. लक्ष्मणदासजी आर्य (लायलपुर)
५१ पं. हरिशरणजी (गुरुकुल-इन्द्रप्रस्थ)
५२ म. भोजराज नायडू (हैदराबाद द.)
५३ श्री. राजा गोविंदप्रसादजी (बोलारम)
५४ श्री. गणपतराव भीमराव अफझुलपूरकर (मुंबई)
५५ श्री. सेठ देवीदिनजी (हैद्राबाद द.)
५६ श्री. रतनलालजी वकील (अम्बाला)
५७ श्री. दत्तात्रय विष्णु पिसोळकर (हैद्राबाद द०)
५८ श्री. मंत्री युवक वाचनालय (नसिराबाद (
५९ श्री. डी. एन्. नागरकट्टी. एम्. ए.; बी. एस्सी. (धारवाड)
६० श्री. डॉ. ह. रा. गोगटे (हैद्राबाद द.)
६१ श्री. ला. रामरखपालजी (हिसार-भिवानी)
६२ श्री. म. प्राणनाथजी, वकील (रुपाड)
६३ श्री. देवीसिंहजी (बोरिवली)
६४ श्री. मोतीभाई लक्ष्मीभाई, मु. घन्टोली (संखेडा)
६५ श्री. महादेव विष्णु परांजपे (इन्दोर शहर)
६६ म. कन्हयालाल ग्यारसीलाल जडिया (इंदोर शहर)
६७ श्री. वासुदेवराव मराठे (पूना २)
६८ श्री. रामराव दामोदर इंगळे रि० ऍकाउन्टंट P. W. D. (अकोला)
६९ मुंबईवैभव प्रेस (मुंबई)
७० श्री. अनंत नीलकंठ देशपांडे (यवतमाळ)
७१ श्री. कुलभूषण बबूता (लाहौर कॅंट०)
७२ श्री. नंदलालजी (धुनीवाला)
७३ ला. टेकचंदजी आर्य (लाहौर)
७४ म. रामचंद्रजी रि. सबडिव्हिजनल ऑफिसर (देहरा-दून)
७५ श्री. शंकर विष्णु गोळे (पूना)
७६ श्री. पु. ई. नारायणराव, (पूना)
७७ म. मगनलालजी जौहरी (मुंबई ४)
७८ म. जनार्दन प्रागजी व्यास (भुज)
७९ सौ. तापीबाई शिवगीरजी मोतीवाले (मुंबई)
८० श्रीमती कर्मदेवीजी (नानकानासाहेब)
८१ श्री. मंत्री-ढोढाराम-आर्यपुस्तकालय, आर्यतोला (बेगमपूर)
८२ म. हरजीवन भगवानदासजी पटेल, बॉंबे पेपर मार्ट (अहमदाबाद)
८३ म. छत्रसिंह हमीरसिंह राणा (बडोदा)
८४ म. प्रभुदयालजी आर्य (नारनौल)
८५ म. प्रभुदास दालाभाई पटेल (करमसद)
८६ म. विष्णुचन्द्र सहगल ओवरसीयर लौली (बर्तल)
८७. म. रामजीलाल किशनसहायजी (दोहद)
८८. म. हिंमतलालजी गुप्त (सणसोली)
८९. श्री. सुशीला देवीजी अध्यापिका सावन आश्रम (झेलम)
९०. डॉ. साहबदयालजी (अमृतसर)
९१. श्री. पटेल मोहनदास झुबेरदास (काटोल)
९२. म. चंद्रकांत वेदवाचस्पति (सुरत)
९३. ठाकूरसाहेब श्री. केशरीसिंहजी (मोगर)
९४. श्री. दामोदर पीतांबर द्विवेदी (लुनावाडा)
९५ सेठ जीवरामजी कल्याणजी कोठारी (भद्रक)
९६. पू. महात्मा श्री. केशव शर्मा, आनंद-आश्रम (उपलेटा)
९७. श्री. गणपतराव बी. गोरे (कराची)
९८. शा. प्राणजीवन जमनादास (हांसोट)
९९. श्री. एन्. जी. शिखरे (फलूजा)
१००. श्री. महादेव बाळकृष्ण आपटे, वकील (बडोदा)
१०१. श्री. भगवंत रामचंद्र देव, वकील (बडोदा)
१०२. श्री. त्रिभुवन क. ठक्कर, (अहमदाबाद)
१०३. श्री. सेठ सूरजी वल्लभदासजी (मुंबई ४)
१०४. श्री. परमात्मादयालजी (मेरठ)
१०५. म. कृष्णजी, बी. ए. (लाहौर)
१०६. सौ. कमलाबाई घारपुरे (पूना)
१०७. श्री. शंकर गणेश दीक्षित (पूना २)
१०८. श्री. रामजी धनजी पटेल (बंबई)
१०९. श्री. जानी गोविंदजी पुरुषोत्तम
११०. श्री. मंत्री-आर्यसमाज (शाहापुरा-राज)
१११. श्री. चुनीलालजी आर्य (सणसोली)
११२. श्री. पं. हरमुकुंद शास्त्री (जम्मु)
११३. श्री. सी. बी. सुरतवाला (सुरत)
११४. श्री. दीनानाथ धनपतरायजी (कराची)

११५. श्री. मंत्री-चरोतर प्रदेश आर्यसमाज (आणंद)
११६. श्री. त्र्यं. ग. काळे (पूना २)
११७. श्री. शंकर चूभानन्दतीर्थ स्वामी सुंदरीभवानी (नाशक)
११८. श्री. तोलाराम मोहनदासजी (सक्कर)
११९. श्री. एल्. मेहरचंद सूद करोल (गर्ली)
१२०. श्री. कुलदीपचंद अग्रवाल (पठाणकोट)
१२१. श्री. धनीरामजी भल्ला, भल्ला शू कंपनी (कानपूर)
१२२. श्री. साधु आश्रम (होशिआरपूर)
१२३. प्रो. एस्. के. बेलवलकर (पूना ५)
१२४. श्री. ज. र. घारपुरे (पूना ४)
१२५. डॉ. यशवंत गोविंद आपटे (ग्वालीयर)
१२६. श्री. दत्तात्रय दीक्षित एस्. बंकापूर (हुबळी)
१२७. श्री. सेक्रेटरी-महाराष्ट्रसमाज (लाहौर)
१२८. श्री. गणपती शंकर जयशंकर शास्त्री (वडाली)
१२९. श्री. ग. स. मराठे, M. A. (Bom.) A. I. A. (London) (पूना ४)
१३०. श्री. सेक्रेटरी एम्. डी. सार्वजनिक पुस्तकालय, (धर्मज)
१३१. प्रो. एस्. व्ही. पुणतांबेकर, हिंदू युनिवर्सिटी (बनारस)
१३२ श्री. वकील नटवरलाल जेठालाल महेता (बडोदा)
१३३. डॉ. पु. वि. काणे (भावनगर)
१३४. श्री. हरीभाई वल्लभभाई ओझा (भावनगर)
१३५. श्री. विनायक अच्युत बर्वे (विरार)
१३६. श्री. गणेश गोविंद नवरे, (मुंबई २२)
१३७. श्री. मदनमोहन विद्याधर प्रेममंदिर (तेनाली,)
१३८. श्री. व्यंकटेश गणेश जावडेकर (पुणें २)
१३९ श्री. वासुदेव सदाशिव दामले (ठळकवाडी, बेलगाँव)
१४०. म. जटाशंकर सामळजी जोषी (भावनगर)
१४१. श्री. छोटाभाई शंकरभाई पटेल (बडोदा)
१४२. श्री. गोविंदलाल हरगोविंदलाल भट्ट, M. A. (बडोदा)
१४३. श्रीमंत कैप्टन् महाराज श्री. नरसिंहजीसाहब ऑफ छोटा उदेपूर.
१४४. श्री. मंत्री, सार्वजनिक केलवणी मंडळ, सिनोर.
१४५. श्री. जगन्नाथ शामराव देशपांडे, (दापोली)
१४६. श्री. तुलसीभाई एन्. पटेल
१४७. म. मगनभाई टी. पटेल
१४८. श्री. चतुरभाई लालजी पटेल
१४९. म. परमानन्द दुर्लभजी बावलिया
१५०. म. दयालजी भीमभाई देसाई
१५१. म. सेक्रेटरी आर्यसमाज, (जिंजा)
१५२. मे. गुलू कॉटन कंपनी
१५३. मेसर्स भगवानजी सुंदरजी की कंपनी
१५४. श्री. चन्द्रभाई के पटेल, बार-ॲट-लॉ
१५५. श्री. नरसीभाई के. पटेल
१५६. श्री. मगनभाई किशोरभाई पटेल
१५७. श्री. रामभाई लल्लूभाई देसाई
१५८ श्रीमती वीरमती ए. पटेल
१५९. डॉ. मूलजीभाई एम्. पटेल
१६०. श्री. छोटाभाई बी. पटेल
१६१. श्री. आर. यू. पटेल
१६२. श्री. अंबालाल एस्. पटेल
१६३. श्री. हरीभाई वी. पटेल
१६४. श्री. काशीभाई डी. पटेल
१६५. श्री. सी. जे. अमीन
१६६. श्री. सेक्रेटरी, आर्य समाज (कंपाला)
१६७. श्री. नाथालाल रुडाभाई
१६८. श्री. जेठाभाई एम्. पटेल
१६९. श्री. वी. बी. पंडित
१७०. श्री. सरदार वजीरसिंगजी
१७१. श्री. फुलाभाई बी. देसाई
१७२. म. अम्बालाल जे. पटेल
१७३. श्री. डी. एन्. शर्मा
१७४. म. वल्लभदासजी कारिया
१७५. श्री. सुखदेवजी भारद्वाज
१७६. म. जसभाई भाईलालभाई पटेल
१७७. म. एच्. बी. शर्मा
१७८, म. आर. बी. पटेल
१७९. म. सी. पी. पटेल
१८०. म. सी. सी. पटेल

१८१. म. एम्. सी. पटेल
१८२. श्री. पुरुषोत्तम करमसदकर
१८३. म. डाह्याभाई के. पटेल
१८४. श्री. शिवाभाई गोवर्धनभाई अमीन
१८५. श्री. कानजी नारणजी
१८६. म. पटेल ब्रदरहुड
१८७. श्री. जे. एच्. गिडूमल
१८८. श्री. एन्. जे. दवे
१८९. श्री. चुनीभाई मगनभाई पटेल
१९०. श्री. मंत्री-आर्यसमाज [किसुमु]
१९१. श्री लक्ष्मीविजय संगीत मण्डल
१९२. श्री. नौरिया रामजी
१९३. श्री. विठ्ठलजी एच्. जोबनपुत्रा
१९४. श्री. भानजी वालजी, सोंगोर स्टोअर्स
१९५. श्री. सेठ मूलजीभाई केशवजी
१९६. श्री. सेठ कानजीभाई जयराम
१९७. श्री. सेठ नारायणदास द्वारकादास
१९८. श्री. सेठ माधवजी विश्राम
१९९. श्री. सेठ केशवजी रामजी
२००. श्री. शरत्कुमार एम्. पारीख
२०१. श्री. शरत्कुमार व्यास
२०२. श्री. दुर्लभदेवजी
२०३. श्री. मंत्री, आर्यसमाज [दारेसलाम]
२०४. श्री. कबालाल रुखड नाया पटेल
२०५. श्री. मणीभाई मोतीभाई पटेल
२०६. श्री. एस्. के. वैष्णव
२०७. श्री. डी. के. पटेल
२०८. श्री. जसभाई पी. पटेल
२०९. श्री. मूलशंकर ओधवजी भट्ट
२१०. श्री. जूठालाल वेलजी
२११. श्री. मगनलाल लालाजी
२१२. म. मावजीभाई वल्लभदास
२१३. श्री. मंत्री, आर्यसमाज (झांजीबार)
२१४. म. कल्याणजी पुंजाभाई पटेल
२१५. डॉ. टी. के. गोराडिआ
२१६. श्री. मंत्री, बैरा हिंदू-सभा (बैरा)
२१७. म. वालजी दयाळभाई
२१८. म. वसनजी मूलजी
२१९. मे. प्रीमिअर सिल्क बझार
२२०. मे. पीताम्बर एन्ड सन्स
२२१. म. भगवानजीभाई डाह्याभाई
२२२. मे. सवनीया एन्ड सन्स
२२३. मे. भारत स्टोअर्स
२२४. म. मोरारजी पी. पटेल.
२२५. मे. पटेल ब्रदर्स आणि कम्पनी
२२६. म. नगरजी डी. मेहता
२२७. मेसर्स डाह्याभाई की कम्पनी
२२८. म. जीणाभाई पी. नायक
२२९. म. नारणभाई पी. पटेल
२३०. म. प्रेमजी के. पटेल
२३१. मेसर्स नागर एन्ड रामजी
२३२. म. रामभाई जोगीभाई
२३३. म. बाबूभाई एम्. जमीनदार
२३४. म. अम्बालाल ए. त्रिवेदी
२३५. म. दयालभाई मदनजी वडेरा
२३६. म. नरसीदास एम्. बुद्धदेव
२३७. श्री. चन्दूभाई सी. पटेल
२३८. श्री. मगनभाई डी. मेहता
२३९. म. डाह्याभाई हांसजी पटेल
२४०. म. रामभाई डी. पटेल
२४१. मे. नायी ब्रदर्स
२४२. मे. छगनलाल एन्ड कंपनी
२४३. म. लल्लू नारायण
२४४. मे. युगांडा मशिनरी ट्रेडिंग कंपनी
२४५. मे. पंडितजी एण्ड कंपनी
२४६. म. के. आर. वशी
२४७. मेसर्स राणा ब्रदर्स
२४८. म. चन्दूभाई आर. पटेल
२४९. म. सेक्रेटरी टाऊन लाईब्रेरी (सोजित्रा)
२५०. म. भागूभाई डाह्याभाई पटेल
२५१. म. कंचनलाल एम्. खांडवाला
२५२. म. सी. पी. दलाल

२५३. म. सोमाभाई वी. पटेल
२५४. म. भाईलालभाई अमथाभाई पटेल
२५५. म. मंत्री आर्यसमाज दीव (दीव)
२५६. म. गोकलदास हंसराज
२५७. म. नारायण जयराम
२५८. म. रामाभाई ढाणाभाई
२५९. म. मंत्री सरभोण सेवा समिति (सरभोण)
२६०. म. गुलाबभाई भुलाभाई पारेख
२६१. म. गंडाभाई गोपालजी नायक
२६२. वडाल हाईस्कूल लाईब्रेरी (वडाल)
२६३. म. भगवानजी गोविंद परमार (पारडी)
२६४. म. मगनभाई केशवभाई
२६५. श्री. मंत्री मोता सार्वजनिक लाईब्रेरी (मोता)
२६६. श्री. सोमाभाई जेठाभाई पटेल
२६७. श्री. गणेश रामचंद्र गोरे, लाहोर
२६८. पं. देवेन्द्रदत्तजी, ककराला
२६९. श्री. पंढरीनाथ आत्माराम इनामदार
२७० श्री. गंगाधर माधव ताम्बे, वकील, वकील
२७१. श्री. सावित्रीबाई कोम भाई रामचन्द्रजी (मुंबई)
२७२. श्री. शिवराजा राजारामजी, हैद्राबाद द०
२७३. श्री. मगनभाई एम्. पटेल
२७४. श्री. जसभाई मोतीभाई पटेल
२७५. श्री. कानजीभाई लक्ष्मण पटेल
२७६. श्री. गीजूभाई वसनजी देसाई
२७७. श्री. साधूराम मोतीभाई
२७८. श्री. सनातन धर्मसभा लाइब्रेरी (झांजीबार)
२७९. श्री. भाईलालभाई पटेल
२८०. श्रीमन्त ठाकोरसाहेब नटवरसिंहजी, (भादरवा)
२८१. श्री. नागेश रामचन्द्र भादेकर (पुणें २)
२८२. श्री. सोमाभाई फूलाभाई पटेल
२८३. श्री. मोलो स्टोअर्स (मोलो)
२८४. श्री. मगनभाई नाथाभाई पटेल
२८५. श्री. मगनभाई रणछोडभाई पटेल
२८६. श्री. नवनीतलाल नारायणदास शहा (बडोदा)
२८७. श्री. सुंदरजी भवानभाई (बडोदा)
२८८. श्री. चतुरभाई बी. पटेल (मोगरी)
२८९. श्री. मैनेजर-(नायब दीवानसाहेब)
श्री सजनकुंवर-संस्कृत-पाठशाला (लुणावाडा)
२९०. श्री. लक्ष्मी नारायण शास्त्री
२९१. श्री. हिमतसिंगजी शिवूभाई
२९२. श्री. सतीलाल गोविंदभाई
२९३. श्री. अनंत सखाराम वणीकर (अहमदाबाद)
२९४. महंत श्री. रामदासजी महाराज (बडोदा)
२९५. श्री. देवराम लीलाधर
२९६. श्री. कालीदास लीलाधर
२९७. श्री. लल्लूभाई केशव बारडोलिया



शुद्ध चार वेद-संहिताएं।

चारों वेद शुद्ध छापने का कार्य स्वाध्याय-मंडलमें शुरू है। ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद छपकर तैयार हैं। ऋग्वेद का द्वितीय संस्करण छप रहा है। सामवेद भी छपकर तयार है। चारों वेदसंहिताओं के मूल्य इस प्रकार है--

वेद	मूल्य	डाकव्यय	रेलचार्ज	विदेशका डाकव्यय
ऋग्वेद	५)	१)	॥)	१॥)
यजुर्वेद	२)	॥)	।)	॥।)
सामवेद	३)	॥)	।)	॥।)
अथर्ववेद	३)	१)	॥)	१॥)
	१३)	३)	१॥)	४॥)

तथापि चारों वेदोंका पेशगी म० आ० से सहूलियतका मू० ६) रु० हैं, तथा डा० व्यय ३) रु० है। इसलिए डाकसे मंगानेवाले ९) नौ रु० पेशगी भेजें। रेलचार्ज या डा० व्यय ग्राहकों के जिम्मे है। इसलिये जो ग्राहक रेल से चारों वेदों के एक या अनेक सेट मंगाना चाहते हैं, प्रति सेट के पीछे ७) रु० के अनुसार मूल्य भेजें। [इसमें ॥) दो बारका पैकिंग और ॥) दो बारकी रजिष्ट्रीके है।] उनके ग्रंथ To Pay रेलपार्सल से भेजेंगे।

ऋग्वेद छपनेतक ही चारों वेदसंहिताएँ ६) रु० में मिलेंगी। तत्पश्चात् ७॥) मूल्य होगा, इसलिये वेदप्रेमी ग्राहक शीघ्रता करें और अपना चन्दा शीघ्र भेजकर ग्राहक बनें।

यजुर्वेद की चार संहिताएं।

निम्नलिखित वैदिक संहिताओं का मुद्रण करने का प्रारम्भ किया गया है—

	मूल्य	डा० व्यय	रेलव्यय
१ काण्व संहिता (शुक्ल-यजुर्वेद)	३)	॥।)	।=)
२ तैत्तिरीय संहिता (कृष्ण-यजुर्वेद)	५)	१)	॥)
३ काठक संहिता	५)	१)	॥)
४ मैत्रायणी संहिता	५)	१)	॥)
	१८)	३॥।)	१॥।=)

वेदकी इन चारों संहिताओं का मूल्य १८) है। परंतु जो ग्राहक पेशगी मूल्य भेजकर ग्राहक बनेंगे, उनको ये चारों संहिताएं ९) नौ रु० में दी जायंगी। डा० व्यय अथवा रेलव्यय ग्राहकोंके जिम्मे होगा। मूल्य भेजने के समय यह भेजने का व्यय जोडकर मूल्य भेज दें। जिनको वेदों का अध्ययन करना है, उनके लिये यह अमूल्य अवसर हैं। ये ग्रंथ इतने **सस्ते आजतक किसीने दिये नहीं और आगे भी इतने सस्ते यह ग्रन्थ नहीं मिलेंगे।**

जो सहूलियत का मूल्य ९) नौ रु० भेजकर यजुर्वेद की इन चार संहिताओं के ग्राहक होंगे, उनको "ऋग्वेद-यजुर्वेद (वाजसनेयी संहिता)-सामवेद-अथर्ववेद" ये चारों वेदसंहिताएं सहूलियत के मूल्यसेहि अर्थात् केवल ७) मूल्य से ही मिलेगी। प्रेषणव्यय डाकद्वारा ३) और रेलद्वारा १॥) है, वह ग्राहकों के जिम्मे रहेगा।

इस सहूलियत का लाभ ग्राहक शीघ्र लेवें। ऋग्वेद का पुनर्मुद्रण होने तक ही यह सहूलियत रहेगी।

—मंत्री-स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा)

आर्य-आदर्श और गुणत्रय।

[योगी श्री अरविंद]

(अनुवादक- श्री मदनगोपाल गाडोदिया)

रामकृष्ण परमहंसने एक बार कहा था ' देश में एक ऐसा स्रोत आ रहा है, जिस के प्रभाव से अल्पवयस्क बालक भी मात्र तीन दिन साधना कर के सिद्धि प्राप्त करेगा।

" कारागृह और स्वाधीनता " शीर्षक लेख में कई निरपराध कैदियों के मानसिक भावका वर्णन कर मैंने यही प्रतिपादित करनेकी चेष्टा की है कि, आर्य-शिक्षा के प्रभाव से जेल में भी भारतवासियों की आंतरिक स्वाधीनतास्वरूप जो बहुमूल्य पैत्रिक संपत्ति है, वह नष्ट नहीं होती- बल्कि घोर अपराधियों के बीचमें भी हजारों वर्षों से संचित किया हुआ आर्य-चरित्रगत देवभाव, भग्नावशिष्टरूप में वर्तमान रहता है। आर्य-शिक्षाका मूल मंत्र है सात्विक भाव। जो सात्विक है वह शुद्ध है। साधारणतया मनुष्यमात्रही अशुद्ध है। रजोगुण का प्राबल्य होनेसे, तमोगुणी घोर अंधकार के छा जाने से, यह अशुद्धि परिपुष्ट होती और बढती है। मन का मालिन्य दो प्रकार का होता है — जडता अथवा अप्रवृत्तिजनित मालिन्य, यह तमोगुण से उत्पन्न होता है। दूसरा उत्तेजना या कुप्रवृत्तिजनित मालिन्य, यह रजोगुण से उत्पन्न होता है। तमोगुण के लक्षण हैं अज्ञान, मोह, बुद्धि की स्थूलता, चिंताकी असंलग्नता, आलस्य, अतिनिद्रा, कर्म में आलस्यजनित विरक्ति, निराशा, विषाद, भय, एक शब्द में जो भाव निश्चेष्टता के पोषक हैं, वे सभी। जडता और अप्रवृत्ति अज्ञान के फल हैं और उत्तेजना तथा कुप्रवृत्ति भ्रान्त ज्ञान से उत्पन्न हैं।

परन्तु तमोमालिन्य को यदि हटाना हो, तो वह रजोगुण के उद्रेक के द्वारा ही हो सकता है। रजोगुण ही प्रवृत्ति का कारण है और प्रवृत्ति ही निवृत्ति की पहली सीढी है। जो जड है वह निवृत्त नहीं है, कारण जड-भाव ज्ञानशून्य है और ज्ञान ही निवृत्ति का मार्ग है। कामनाशून्य होकर जो कर्म में प्रवृत्त होता है, वही निवृत्त है- कर्मत्याग का नाम निवृत्ति नहीं है। इसी लिये भारत की घोर तामसिक अवस्था को देखकर स्वामी विवेकानंद कहा करते थे कि, " रजोगुण की आवश्यकता है, देश में कर्मवीरोंकी आवश्यकता है, प्रवृत्ति का प्रचंड स्रोत बह जाय, ऐसा होने में यदि पाप भी आ घुसे, तो भी वह तामसिक निश्चेष्टताकी अपेक्षा हजार गुना अच्छा होगा।"

सचमुच हम लोग घोर तम में निमग्न हैं, फिर भी सत्वगुण की दुहाई देते हुए महासात्विक सजकर, हम अपनी बढाई करते फिरते हैं। बहुतों का यह मत है कि सात्विक होने के कारण ही, हम राजसिक जातियों द्वारा पराजित हैं, सात्विक होने के कारण ही, हम इस प्रकार की अवनत और अधःपतित दशा को प्राप्त हैं। ये लोग इस तरह की युक्तियों द्वारा ईसाई धर्म से हिंदू धर्म की श्रेष्ठता प्रमाणित करने की चेष्टा करते हैं।

ईसाई जाति प्रत्यक्ष फलवादी है, इस जाति के लोग धर्म का ऐहिक फल दिखाकर धर्म की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करने की चेष्टा करते हैं; इनका कहना है कि ईसाई जाति ही जगत् में प्रबल है, अतएव ईसाई धर्म ही संसार का श्रेष्ठतम धर्म है। इधर हम में से कितनोंही का कहना है है कि यह भ्रम है। इनके मतानुसार धर्म की श्रेष्ठता का निर्णय, उस के ऐहिक फलको देखकर नहीं किया जा सकता, इसके लिये हमें धर्म के पारलौकिक फलको देखना होगा। हिंदु जाति अधिक धार्मिक है, इसीलिये वह असुरप्रकृति बलवान् पाश्चात्य जाति के अधीन हुई है। परन्तु इस युक्ति के अंदर एक ऐसा घोर भ्रम भरा पडा है, जो आर्यज्ञान के विरुद्ध है।

सत्वगुण कभी भी अवनति का कारण नहीं हो सकता, सत्वप्रधान जाति दासत्वकी श्रृंखला में बंधकर नहीं रह सकती। सत्वगुण का मुख्य फल है ब्रह्मतेज और क्षात्रतेज है ब्रह्मतेज की भित्ति। आघात पाकर शांत ब्रह्मतेज से क्षात्रतेज का स्फुलिंग बाहर निकलता है, चारों ओर

प्रज्वलित हो उठता है। जहां क्षात्रतेज नहीं है, वहां ब्रह्मतेज नहीं टिक सकता। देश में यदि एक भी सच्चा ब्राह्मण हो, तो वह एक सौ क्षत्रियों की सृष्टि कर लेता है। देश की अवनति का कारण सत्त्वगुण की अधिकता नहीं, बल्कि रजोगुण का अभाव और तमोगुण का प्राधान्य है।

रजोगुण के अभाव के कारण हमारा अंतर्निहित सत्त्व म्लान होकर तमके अंदर छिप गया। आलस्य, मोह, अज्ञान, अप्रवृत्ति, निराशा, विषाद, निश्चेष्टताके साथ-ही-साथ देशकी दुर्दशा और अवनति भी बढने लगी। यह मेघ पहले हलका और विरल था, किंतु कालकी गति से क्रमशः इतना अधिक निबिड हो गया, अज्ञान और अंधकारमें डूबकर हम इतने निश्चेष्ट और महत्त्वाकांक्षा से विमुख हो गये कि भगवान् द्वारा प्रेरित महापुरुषोंके उदय होनेपर भी यह अंधकार पूर्ण रूपसे दूर नहीं हुआ। जब यह दशा हुई तब सूर्य-भगवान्ने रजोगुणजनित प्रवृत्तिके द्वारा देशकी रक्षाका संकल्प किया।

जागृत रजःशक्ति प्रचंड रूप से कार्यशीला होनेपर तम पलायनोद्यत हो जाता है सही, परंतु दूसरी ओरसे स्वेच्छाचार, कुप्रवृत्ति और उद्दाम उच्छृंखलता प्रभृति आसुरी भावोंके घुस आने की आशंका हो जाती है। रजःशक्ति यदि अपनी ही प्रेरणा से, उन्मत्तताकी विशाल प्रवृत्तिके पोषणको ही लक्ष्य बनाकर कार्य करे, तो उपर्युक्त आशंकाके लिये यथेष्ट कारण भी पैदा हो जाता है। उच्छृंखल भावसे स्वपथगामी होनेपर रजोगुण अधिक कालतक नहीं टिक सकता, उसमें क्लांति आ जाती है, तम आ जाता है, प्रचंड तूफान के बाद आकाश निर्मल और परिष्कृत न होकर, मेघाच्छन्न और वायुस्पंदन से रहित हो जाता है।

राष्ट्रविप्लवके बाद फ्रांस की यही दशा हुई। उस राष्ट्रविप्लव में रजोगुणका भीषण प्रादुर्भाव हुआ, पुनः राष्ट्रविप्लव पुनः क्लांति, शक्तिहीनता, नैतिक अवनति- यही गत सौ वर्षोंका फ्रांसका इतिहास है। जितनी बार साम्य-मैत्री-स्वाधीनतारूपी आदर्शजनित सात्त्विक प्रेरणा फ्रांस के प्राणोंमें जागरित हुई, उतनी ही बार क्रमशः रजोगुण प्रबल होकर, सत्त्वसेवाविमुख आसुरी भावमें परिणत होकर, स्वप्रवृत्ति को पूर्ण करने के लिये सचेष्ट हुआ है। फलतः तमोगुण के आविर्भाव के कारण फ्रांस अपनी पूर्वसंचित महाशक्तिको खोकर म्रियमाण विषम अवस्थामें त्रिशंकुकी नाईं न तो स्वर्गमें और न मर्त्यमें ही पड़ा हुआ है।

इस प्रकार के परिणाम को दूर करने का एकमात्र उपाय है, प्रबल रजःशक्ति को सत्त्वकी सेवामें नियुक्त करना। यदि सात्त्विक भाव जागृत होकर रजःशक्ति का परिचालन करे, तो तमोगुण के पुनः प्रादुर्भाव का भय भी जाता रहेगा और उद्दाम शक्ति भी शृंखलित और नियंत्रित होकर, उच्च आदर्श से संचालित होकर देश और जगत् का हित साधन करेगी। सत्त्वकी वृद्धि का साधन है धर्मभाव-स्वार्थ को डुबाकर परमार्थसाधन में समस्त शक्तिको अर्पण कर देना- भगवान् को आत्मसमर्पण करके समस्त जीवनको एक महान् और पवित्र यज्ञ में परिणत कर देना।

गीता में कहा गया है कि सत्त्व और रज दोनों मिलकर ही तम का नाश करते हैं, अकेला सत्त्व कभी भी तम का पराजय नहीं कर सकता। इसी लिये भगवान्ने संप्रति धर्म का पुनरुत्थान करा कर, हमारे अंतर्निहित सत्त्व को जगा कर, तब उसके बाद रजःशक्ति का समस्त देश में संचार किया है। राममोहन राय प्रभृति धर्मोपदेशक महात्मागण सत्त्व को पुनरुद्दीपित कर नवयुग का प्रवर्तन कर गये हैं। उन्नीसवीं शताब्दि में धर्म- जगत् में जितनी जाग्रति हुई, उतनी राजनीति और समाज में नहीं हुई। कारण क्षेत्र प्रस्तुत नहीं था, अतएव प्रचुर प्रमाण में बीज बोनेपर भी अंकुर दिखायी नहीं दिये।

इसमें भी भारतवर्षपर भगवान् की दया और प्रसन्नता ही दिखायी देती है। कारण राजसिक भाव से उत्पन्न जो जागरण होता है, वह कभी भी स्थायी या पूर्ण कल्याणप्रद नहीं हो सकता। इस जागरण से पहले उस जाति के अंतर में ब्रह्मतेज का उद्दीपन हो जाना आवश्यक है। इसीलिये इतने दिनोंतक रजःशक्ति की धारा रुकी हुई थी। १९०५ ई० में रजःशक्ति का जो विकास हुआ है, वह सात्त्विक भाव से युक्त है। इसीलिये इसमें जो उद्दाम या उच्छृंखल भाव है, वह शीघ्र ही नियमित और शृंखलित हुए बिना न रहेगा। किसी बाह्य शक्ति के द्वारा नहीं, बल्कि भीतर जो ब्रह्मतेज, जो सात्त्विक भाव जागरित हुआ है, उसी के द्वारा यह वशीभूत और नियमित होगा।

धर्मभाव का प्रचार कर के हम इस ब्रह्मतेज और इस सात्विक भाव का पोषणमात्र कर सकते हैं।

ऊपर कहा जा चुका है कि परमार्थ में समस्त शक्ति को लगा देना सत्त्वोद्रेक का एक उपाय है। और हमारे राजनैतिक जागरण में इस भाव का यथेष्ट प्रमाण भी पाया जाता है। परन्तु इस भाव की रक्षा करना कठिन है। यह बात व्यक्ति के लिये जितनी कठिन है, जाति के लिये उसकी अपेक्षा और भी अधिक कठिन है। परमार्थ के अंदर स्वार्थ अलक्षित भाव से घुस जाता है, और यदि हमारी बुद्धि शुद्ध न हो, तो हम ऐसे भ्रम में गिर जा सकते हैं कि हम परमार्थ की दुहाई देकर और स्वार्थ को आश्रय बनाकर परहित, देशहित और मनुष्यजाति के हितको डुबा देंगे, तथापि हमारा भ्रम किस जगह है, यह हमें मालूम न होगा।

भगवत्-सेवा सत्त्वोद्रेक का दूसरा उपाय है। परन्तु इस मार्ग में भी हो सकता है कि परिणाम विपरीत हो। भगवत्-सान्निध्यरूपी आनन्द को पाकर हम में सात्विक निश्चेष्टता का प्रादुर्भाव हो जा सकता है, उस आनन्द का स्वाद भोग करते-करते हम दुःखकातर देश के प्रति तथा मानवजाति की सेवा के प्रति उदासीन हो जा सकते हैं। यही है सात्विक भाव का बंधन।

जिस प्रकार राजसिक अहंकार है, उसी प्रकार सात्विक अहंकार भी है। पाप जैसे मनुष्य को बंधन में डालता है, वैसे ही पुण्य भी उसे बंधन में डालता है। संपूर्ण वासनाओंसे शून्य होकर अहंकार को त्यागकर भगवान् को आत्म-समर्पण किये बिना पूर्ण स्वाधीनता नहीं मिलती। इन दोनों अनिष्टों का त्याग करने के लिये सब से पहले जिस चीज की आवश्यकता है, वह है विशुद्ध बुद्धि। देहात्मक बुद्धि का वर्जन कर मानसिक स्वाधीनता का अर्जन करना ही बुद्धि को सोधने की पूर्ववर्ती अवस्था है। मन जब स्वाधीन हो जाता है, तब वह जीवके अनुकूल हो जाता है, और इसके बाद मनको जीतकर और बुद्धिके आश्रयमें जाकर मनुष्य स्वार्थ के पंजे से बहुत कुछ छुटकारा पा जाता है।

यह सब हो जाने पर भी स्वार्थ हमें संपूर्ण रूप से नहीं छोड़ता। अंतिम स्वार्थ है मुमुक्षत्व, परदुःखको भूलकर अपने ही आनन्द में विभोर होकर रहने की इच्छा। इसका भी त्याग करना होता है। समस्त भूतों में नारायण का साक्षात्कार, समस्त भूतों में स्थित जो नारायण हैं उसकी सेवा ही, इसकी दवा है। यही है सत्त्वगुण की पराकाष्ठा। इससे भी उच्चतर अवस्था होती है, वह है सत्त्वगुण का भी अतिक्रमण कर, गुणातीत होकर संपूर्ण भाव से भगवान् को आश्रय बनाना। गुणातीत अवस्था का गीता में इस प्रकार वर्णन है-

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टाऽनुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥
गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते॥
प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति॥
उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते॥
समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते॥
मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

(गीता १४।१९-२०, २२-२६)

"जब जीव साक्षी होकर गुणत्रयको, अर्थात् भगवान् की त्रैगुण्यमयी शक्ति को ही एकमात्र कर्ताके रूपमें देखता है, तथा इस गुणत्रय के भी ऊपर इस शक्ति के प्रेरक ईश्वरको जान पाता है, तब वह भागवत साधर्म्य लाभ करता है। तब देहस्थ जीव स्थूल और सूक्ष्म दोनों देहोंसे संभूत गुणत्रयका अतिक्रमण कर जन्म-मृत्यु-जरा-दुःखसे मुक्त होकर अमरत्व भोग करता है। सत्त्वगुणजनित ज्ञान, रजोगुणजनित प्रवृत्ति या तमोगुणजनित निद्रा, निश्चेष्टता, भ्रमरूपी मोहके होनेपर, वह क्षुब्ध नहीं होता, गुणत्रयके आगमन और निर्गमनमें समान भाव रखकर उदासीनकी भांति, वह अपने आसनपर स्थिर रहता है, गुणग्राम उसे विचलित नहीं कर सकते, इन सबको गुणों की स्वधर्मजात वृत्ति जानकर, वह अपने स्थानपर दृढ रहता है।

"जिसके लिये सुख और दुःख समान हैं, कांचन और

मट्टी दोनोंही पत्थरके समान हैं, जो धीर स्थिर अपने ही अंदर अटल है, जिस के निकट मान और अपमान दोनों एक ही बात है, जिसे मित्रपक्ष और शत्रुपक्ष दोनों ही समान भाव से प्रिय हैं, जो स्वयं प्रेरित होकर किसी कार्य का आरंभ नहीं करता, बल्कि समस्त कर्मों को भगवान् के अर्पण कर उन्हीं की प्रेरणा से करता है, उसी को गुणातीत कहते हैं । जो निर्दोष भक्तियोगद्वारा मेरी सेवा करता है, वही इन तीनों गुणों का अतिक्रमण कर ब्रह्मप्राप्ति के उपयुक्त होता है । ''

यह गुणातीत अवस्था सब के लिये साध्य न होनेपर भी इसकी पूर्ववर्ती अवस्था को प्राप्त कर लेना सत्वगुणप्रधान पुरुष के लिये असाध्य नहीं है। सात्विक अहंकार का त्याग कर जगत् के सभी कार्यों में भगवान् की त्रैगुण्यमयी शक्ति की लीला को देखना इसका सब से पहला उपक्रम है। इस बात को समझकर सात्विक कर्ता कर्तृत्व-अभिमान से अलग होकर भगवान् को संपूर्ण आत्मसमर्पणपूर्वक कर्म करता है ।

गुणत्रय और गुणातीत के संबंध में मैंने जो कुछ कहा, वह गीता की मूल बात है । परन्तु यह शिक्षा साधारणतया अंगीकृत नहीं हुई है। अभीतक जिसको हम आर्य-शिक्षा के नाम से संबोधित करते आये हैं, वह प्राय: सात्विक गुण का अनुशीलन ही है। रजोगुण का आदर तो इस देश में क्षत्रिय-जाति के लोप होने के साथ-ही-साथ लोप हो गया है । अथ च जातीय जीवन में रजःशक्ति का भी अत्यंत प्रयोजन है ।

इसीलिए आजकल गीता की ओर लोगों का मन आकृष्ट हुआ है। गीताकी शिक्षाने पुरातन आर्य-शिक्षाको भित्ति बनाकर भी, उसका अतिक्रमण किया है। गीतोक्त धर्म रजोगुण से भय नहीं खाता, उसमें रजःशक्ति को सत्वकी सेवा में नियुक्त करने का साधन है, प्रवृत्तिमार्ग में मुक्ति का उपाय प्रदर्शित है । इस धर्म का अनुशीलन करने के लिये जाति का मन किस प्रकार तैयार हो रहा है, इस बातको पहले- पहल मैंने जेलमें ही हृदयङ्गम किया। अभी भी स्रोत निर्मल नहीं हुआ है, अभी भी वह कलुषित और मलिन है, किंतु इस स्रोत का अतिरिक्त वेग जब कुछ प्रशमित होगा, तब उसके अंदर जो विशुद्ध शक्ति छिपी हुई है, उसका निर्दोष कार्य आरम्भ होगा।

जो मेरे साथ कैद थे और एक ही अभियोगमें अभियुक्त थे, उनमें से बहुत से निर्दोष कहकर छोड दिये गये, बाकी लोगों को यह कहकर सजा दी गयी कि, वे षड्यन्त्र में लिप्त थे। मानवसमाज में हत्या से गुरुतर अपराध और कोई नहीं हो सकता। जातीय स्वार्थ से प्रेरित होकर जो हत्या करता है, उसका व्यक्तिगत चरित्र चाहे इतना कलुषित न हो, किंतु इससे सामाजिक हिंसा बसे, अपराधी का दोष कम नहीं होता। यह भी स्वीकार करना होगा कि अंतरात्मापर हत्या की छाया पडने से मनपर मानो रक्त का दाग पड जाता है, उसमें क्रूरता का संचार हो जाता है। क्रूरता बर्बरोचित गुण है, उन्नति के क्रमविकास में मनुष्य जिन सब गुणों से धीरे-धीरे दूर हो रहा है, उन सब क्रूरताप्रधान है।

इस का यदि पूर्णरूप से त्याग हो जाय, तो मानव-जाति की उन्नति के मार्गमें से एक विघ्नकारी कंटक नष्ट हो जाय। अभियुक्तों के दोष को देखनेपर यही समझना होगा कि यह रजःशक्ति की क्षणिक उद्दाम उच्छृंखलतामात्र है। परन्तु उनके अंदर ऐसी एक सात्विक शक्ति निहित है कि इस क्षणिक उच्छृंखलता के द्वारा देश का स्थायी अमंगल होने की कोई आशंका नहीं है।

अंतर की जिस स्वाधीनता की बात मैं ऊपर कह आया हूं, वह स्वाधीनता मेरे साथियों का स्वभावसिद्ध गुण है। जिन कई दिनोंतक हम लोग एक संग एक बडे से दालानमें रखे गये थे, उन दिनों में मैंने उन के आचरण और मनोभावोंको मनोयोगपूर्वक लक्ष्य किया है। केवल दो व्यक्तियों को छोडकर अन्य किसी के भी मुंह या जबानपर भय की छाया तक देखने को नहीं मिली। प्रायः सभी नौजवान थे, बहुत से अल्पवयस्क बालक थे, जिस अपराधमें वे पकडे गये थे, वह प्रमाणित होनेपर उसका दण्ड जैसा भीषण होगा, इसकी कल्पनामात्र से दृढमति पुरुष का विचलित हो जाना भी कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। इसके अतिरिक्त, इस मुकदमे से रिहाई पा जायंगे, इसकी ये लोग बहुत आशा भी नहीं रखते थे। विशेषतः, मेजिस्ट्रेट की अदालत में गवाहियों का जैसा भीषण आयोजन होने लगा, उसे देखकर कानून से अनभिज्ञ व्यक्ति के मन

में सहज ही यह धारणा होने लगी कि, निर्दोषी के लिये भी, इस फंदे से निकलने का उपाय नहीं है।

फिर भी उनके मुंहपर भय या विषाद के बदले, केवल प्रफुल्लता, सरल हास्य, अपनी विपद्‌को भूलकर धर्म और देश की बात ही थी। हम लोगों के वार्ड में, हरेक बंदी के निकट दोचार किताबें होने के कारण, एक छोटीसी लाइब्रेरी बन गयी थी। इस लाइब्रेरी की अधिकांश किताबें धर्मसंबंधी थीं। गीता, उपनिषद्, विवेकानंद-पुस्तकावली, रामकृष्ण-कथामृत और जीवनचरित, पुराण, स्तोत्रमाला, ब्रह्मसंगीत इत्यादि। अन्य पुस्तकों में बंकिम ग्रंथावली, स्वदेशी गानसंबंधी बहुतसी छोटी-छोटी पुस्तिकाएं और थोडीसी युरोपीय दर्शन, इतिहास और साहित्य की पुस्तकें थीं। प्रातःकाल कोई साधना करने बैठते, कोई पुस्तकें पढते और कोई धीरेधीरे गान करते।

प्रातःकाल की इस नीरवता के अंदर बीच-बीचमें हंसीकी लहरें भी उठ जाती थीं। जिस दिन कचहरी का दिन नहीं होता, उस दिन कुछ लोग सोते और कुछ लोग खेलते-जिस दिन जो भी खेल हो जाय, किसी खास खेल के लिये किसी को कोई आग्रह नहीं था। किसी दिन एक गोल मंडल बनाकर कोई शांत खेल होता था, तो किसी दिन दौडा-दौडी या कूद-फांद, कुछ दिन फुटबाल चला, अवश्य ही यह फुटबाल किसी अपूर्व सामग्रीद्वारा बनायी गयी थी। कुछ दिन आंख-मिचौनी चली। कभी कभी अलग अलग दल बनाकर एक ओर जुजुत्सु शिक्षा होती थी, तो दूसरी ओर हाई जम्प और लांग जम्प, किसी ओर ड्राफ्ट या चौपड के खेल। दोचार गंभीर प्रौढ व्यक्तियों को छोडकर प्रायः सभी बालकों के अनुरोध से, इन खेलों में शरीक होते थे।

मैंने देखा कि इन में जो बडे बूढे थे, उनका स्वभाव भी बालकों जैसा ही था। शामको गाने की मजलिस जुटती। गानविद्या में निपुण उल्लास, शचीन्द्र और हेमदास के चारों ओर बैठकर हम सभी लोग गाना सुनते। स्वदेशी या धर्मके गानों के अतिरिक्त और कोई गाना नहीं होता था। किसी किसी दिन केवल आमोद करने की इच्छा से उल्लासकर हंसी के गाने, अभिनय, दूरागतशब्दानुकरणविद्या (Ventriloquism), अनुकरण या गंजेडियों की गप आदि के द्वारा शाम का समय बिताता। * * * मुकदमें में कोई जी नहीं लगाता था, सभी धर्म या आनंद में दिन बिताते थे। इस प्रकार का निश्चिन्त भाव कठिन दुष्क्रियाभ्यस्त हृदय के लिये असंभव है, इनके अंदर काठिन्य, क्रूरता, दुष्क्रियासक्ति, कुटिलता लेशमात्र भी नहीं थी। क्या हंसी, क्या बात-चीत, क्या खेल-कूद, इनका सभी कुछ आनंदमय, पापहीन और प्रेममय था।

इस मानसिक स्वाधीनता का फल शीघ्र ही विकसित होने लगा। इस प्रकार के क्षेत्रमें ही धर्म-बीज के बोने से सर्वांगसुंदर फल संभव होता है। ईसामसीहने कई एक बालकों को दिखाकर अपने शिष्यों से कहा था, कि " जो इन बालकों की तरह हैं, वे ही ब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं। " ज्ञान और आनन्द सत्वगुण के लक्षण हैं। जो दुःख को दुःख नहीं समझते, जो सभी अवस्था में आनंदित और प्रफुल्लित रहते हैं, वे ही योग करने के अधिकारी हैं। जेलमें राजसिक भावको प्रश्रय नहीं मिलता, इसके अतिरिक्त निर्जन कारागार में प्रवृत्ति का परिपोषक कुछ भी नहीं होता। ऐसी अवस्था में असुर का मन चिरभ्यस्त रजःशक्ति की सामग्री के अभाव में आहत व्याघ्र की भांति स्वयं अपना ही नाश करने लगता है।

पाश्चात्य कविगण जिसको ' Eating one's own heart ' (" तीव्र संतापसे जी को जलाना ") कहते हैं, ठीक वही अवस्था घटती है। परन्तु भारतवासी का मन इस प्रकार की निर्जनता में, इस बाह्य कष्ट की अवस्था में पुरानी टान से आकृष्ट होकर भगवान् की ओर दौड पडता है। हम लोगों की भी यही अवस्था हुई। न मालूम कहां से एक स्रोत आकर सभी को बहा ले गया। जिसने कभी भी भगवान् का नाम नहीं लिया था, वह भी साधना करना सीख गया और उस परम दयालुकी दया का अनुभव कर आनंदमय हो गया। अनेक दिनों के अभ्यास से योगियों की जो अवस्था होती है, वह इन बालकों की दोचार महीने की साधना से हो गयी।

रामकृष्ण परमहंसने एक बार कहा था " अभी तुम लोग क्या देखते हो— यह तो कुछ भी नहीं है, देश में एक ऐसा स्रोत आ रहा है, जिस के प्रभाव से अल्प-वयस्क बालक भी मात्र तीन दिन साधना कर के सिद्धि

प्राप्त करेगा । " इन बालकोंको देखकर उनकी भविष्य-वाणी की सफलता में जरा भी संदेह नहीं रह जाता। ये मानो उस प्रत्याशित धर्मप्रवाह के मूर्तिमान पूर्वपरिचय हैं। इस सात्त्विक भाव की तरंग, ठसा ठस भरे हुए कठघरे के निवासियों में से चारपांच को छोडकर बाकी सभी के हृदय को, महान् आनंद से उत्प्लावित कर देती थी। इस स्वादको जिसने एक बार चखा है, वह इसको कभी भी भूल नहीं सकता। यह सात्त्विक भाव ही देश की उन्नति की आशा है। भ्रातृभाव, आत्मज्ञान, भगवत्-प्रेम, जिस सहज भाव से भारतवासी के मन पर अधिकार कर कार्य में प्रकट होते हैं, उसी सहज भाव से और किसी जाति में उनका प्रकाश पाना संभव नहीं। होना चाहिये तमोवर्जन, रजोदमन और सत्त्वप्रकाश। भगवान् की गूढ अभिसंधि के फलस्वरूप भारतवर्ष में यही अवस्था प्रस्तुत हो रही है।

(" जगन्नाथ का रथ से ")

पारसियों की धर्मपुस्तक तथा वेद।

[श्री० हलियारामजी कश्यप, एम्० एस्सी०, लाहौर]

भूमिका।

डी० ए० वी० कालिज, लाहौर ने मुझ से एक पुस्तक लिखवाई है- "पारसी मतका वैदिक स्रोत" (A Vedic Basis of the Parsee Religion)। आजकल वह प्रेस में है। मेरा प्रयत्न ऐसा होना चाहिए कि जो उनका अधिकार है, वह इस लेख का अंश न बने ताकि मैं उन के प्रति दोषी न ठहरूं। अस्तु। मेरा प्रयत्न तो ऐसा ही होगा, फिर भी यदि उन के अधिकार की कोई बात इस लेख में आ जावे, तो आशा है कालिज-कमेटी मुझे क्षमा करेगी।

अवेस्ता का ठीक ठीक मुद्रण पहिले वैस्टरगार्ड ने किया था, वह सब प्रतियां बिक गयीं अथवा जनता की भेंट हो गयीं, इस कारण अगला संस्करण गैल्डनर महोदयने किया, जो आजकल प्रचलित है। इस में पीछे से प्राप्त हुई मैनुस्क्रीप्ट्स से भी लाभ उठाया गया है। भाष्यों में से प्रामाणिक पारसी भाष्य कान्गा महोदय का है, जिन्होंने अवेस्ता-व्याकरण भी लिखी, कोष भी तैयार किया, तथा भाष्य भी समग्र अवेस्तापर किया। बीचमें भाडूचा महोदय ने संस्कृत ग्रन्थ पारसियों के रचे प्रकाशित किये। और १९३२ में चैटर्जी जो कि एक आई०सी० एस्० तथा भक्त विद्वान हैं, उन्होंने हिन्दी अक्षरों में मूल गाथा तथा अंग्रेजी में उस का अनुवाद साथ ही भरपूर टिप्पणियां पाणिनी-व्याकरण के आधार पर दे कर तथा बिल्लीमोरिया महोदय से गुजराती अनुवाद लिखवा कर अच्छी सेवा पारसी धर्म की कर दी है। कुछ वर्ष हुए जब सर जे. जे. मोदी महोदय ने पारसियों के संस्कारों तथा रीतियों पर बड़ी ही उत्तम पुस्तक लिखी है। १९३८ की छपी एंकलसारियाकी Talks on Zoroastrianism (पारसी धर्म पर व्याख्यान) बहुत ही सुन्दर है। मैं चाहता हूं कि वैसी ही सुन्दर Talks on Vedism हम भी छपवाएं।

ईरान के ऋषि जरथुश्त्र ने तो केवल गाथाभाग ही अवेस्ता का गाया था। उसके शिष्यों ने अवेस्ता का शेष भाग रचा। पीछे मोबिदों ने जन्द अर्थात् पहलवी अनुवाद उसका कर डाला। तत्पश्चात् नैरयोसंग एक पारसी संस्कृतज्ञ ने संस्कृत अनुवाद उस के एक बड़े भाग का किया। गुजराती भाषा में भी अवेस्ता पर भाष्य एक पुराना भी विद्यमान है।

वेद के विषयसे तो वैदिक धर्मी सुपरिचित हैं ही, यथा ऋग्, यजुः, साम, अथर्व चार वेद हैं, पर शाखा अनेक हैं। शतपथ, गोपथ, ताण्ड्य, ऐतरेय चार मुख्य ब्राह्मण हैं। एक कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीय संहिता है, जिसे हम आर्यसमाजी ब्राह्मण मानते हैं वेद नहीं, परंतु जो ही कृष्णानुयायिओं का सर्वस्व है, वेद भी तथा ब्राह्मण भी।

इस लेखमाला में वेद और पारसी धर्मपुस्तक अवेस्ता सामने सामने रखने का यत्न किया जावेगा।

पारसियों की धर्मपुस्तक तथा वेद।

(१)

श्री. जतीन्द्र मोहन चैटर्जी ने एक महत्त्वपूर्ण कार्य अपने ऊपर ले रक्खा है, वह है पारसी, बौध, जैन, सीक्ख ऐक्यता का समन्वय करना; इसके लिये उन्हों ने इन मतों की धर्म० पुस्तकों में से उच्च भाग एकत्र कर भारत की जातीय एक धर्मपुस्तक तय्यार करने का यत्न किया है। उस का एक भाग अथर्ववेद के कुछ सूक्तों तथा जरथुश्त्र (पारसी पैगंबर) की गाथाएं मिलाकर उन्हों ने पृश्नि-गाथा नाम से प्रकाशित करवाया है। चैटर्जी महोदयका यह कार्य प्रशंसनीय है। हम भी उन के इस यज्ञ में निम्न आहुति डालते हैं।

ओ३म् इदं जनासो विदथ महद् ब्रह्म वदिष्यति॥
(अथर्व० १।३२।१)

सज्जनवृन्द, यह जान लीजिये कि महद् ब्रह्म कुछ (स्वयं) उच्चारने लगा है।

महद् ब्रह्म कौन है, हम इस को बड़ा वेद चाहे कह लें, परन्तु वास्तव में महद्+ब्रह्म तो भगवान् स्वयं ही हैं। भारत में हम उन्हें ब्रह्म कहने के अभ्यस्त हो गये, ईरान में उन्हों ने मज्द (जंद में ह का ज हो जाता है और ह का भ वहां से उठकर द् में जा लगा है। इस कारण ह का ज रह गया और द् का द बन गया) कहना आरम्भ कर दिया। परिणाम यह हुआ कि हमारे उपनिषद्, ब्राह्मण आदि ब्रह्म भक्त प्रतीत होते हैं और उनकी अवस्ता मज्द के ही गुणानुवाद गाती है।

परंतु हर्ष का विषय है कि जैसे महद् ब्रह्म अथर्ववेद में विद्यमान है, उसी प्रकार मज्दब्रह्म गाथामें भी है। (अवस्ता में ब्रह्म का वह्म बन गया, केवल र उडकर तथा ब का व होकर)।

उश्तवइति गाथ यस्न हा ४५ फकरों ८ में इस मज्द ब्रह्म का अतीव सुंदर आराधन किया गया है। पाठकों के लाभ तथा मनोरंजन साथ ही उनकी ज्ञानवृद्ध्यर्थ हम वह गाथावाक्य यहां उद्धृत करते हैं, वह वाक्य निम्न लिखित है—

तेम् ने स्तओताइश नेमंघ्हो आ वीवरेषो।
नू जीत् चष्मइनि व्याद्रेसेम्।
वंघ्हेउश् मन्येउश् श्यओथनह्या उख्धख्याचा।
वीदुश् अषा येम् मज्दाम् अहुरेम्।
अत् होई वह्मंग् देमाने गरो नीदामा॥

स्तुतियों तथा नमस्कार के द्वारा मैं उस (प्रभु) का (स्वीकार) वरण करता हूं (सम्पूर्णतया उसे अपनाता हूं), क्योंकि मैंने उसे अपनी आंखों से देख लिया है। (उत्तम) वसु मन (से किये) शुभ कर्मों तथा वचनों के द्वारा (प्राप्त हुई) शांति, पवित्रता जिस (प्रभु) अहुर मज्द को जानती है, अब उसी ब्रह्म (वह्म) को हम गरुत्मान् (गिरः धामन्) (स्तुतिओं के निधान्) (आत्मभाव तथा वद भगवान्) में हम स्थापित करते हैं।

यदि शुद्ध वैदिक अर्थ उपरोक्त पारसी गाथा का किया जाय, तो ऊपर लिखे अनुसार होना चाहिये। पारसी आजकल चैटर्जी महोदय के गाथाज्ञान पर मुग्ध हो रहे हैं, उसका प्रमाण है, बिलिमोरिया महोदय का उनके गाथा के अंग्रेजी उलथेके साथ अपना गुजराती उलथा जोडना। देखिये, वह चैटर्जी महोदय इसी गीत का क्या अर्थ लेते हैं। उनके अंग्रेजी अनुवाद का हिन्दी अनुवाद इसविध किया जा सकता है—

स्तुति तथा आदर के साथ मैं उसको पहुंचना चाहूंगा। आत्मा (की ध्वनि) के (अनुकूल) किये कर्मों तथा (बोले हुए) वचनों के द्वारा, सच्चाई जिसे पहुंच सकती है, उस अहुर मज्द को मैं अपनी आंखों से देखूंगा। मैं राग के घर में ब्रह्म को स्थापित कर पाऊं।

गाथा का छन्दोबद्ध अनुवाद मिल्ज महोदय ने अंग्रेजी में १९०० सन् में प्रकाशित कराया, जिस की १०० कापियां बम्बई की "बउमे जइने रुजे अहुर मज्द" ने खरीदी थीं। देखिये वह इस का अनुवाद क्या करते थे—

उसको अपने स्तुतिभजनों के द्वारा मैंने पूजना है। जिसको विवेकदृष्टि से अब मैं सुस्पष्टतया देखता हूं। अच्छे मन (तथा भाव) का प्रभु, वचन तथा कर्म का। अषा की कृपा से अहुर मज्दको जानता हुआ। इस विविध राग-गृहमें मैं स्तुतियां, धारण करूंगा (अर्थात् दिव्य कीर्तन-मंदिर में प्रभुकीर्तन मैं करूंगा)।

इस प्रकार केवल ब्रह्म का अर्थ स्तुतियां करने में ही वास्तव भेद मिल का चैटर्जी से है।

अब पाठकों को पता चल गया होगा कि किसविध जरथुश्त्र की गाथा वेद की ही व्याख्या करती है। केवल एक हा (अध्याय) गाथा में ऐसा है, जिस के विषयमें मुझे भ्रम पडता है कि यदि यह किसीने पीछे से प्रक्षेप न किया हो, तो इसका अर्थ अवश्य अनर्थतया किया गया है, उसका भी मेरे पास तो शुद्ध वैदिक अर्थ किया रक्खा है, जिसके अनुसार उसमें भी देवों को गालियां निकाली नहीं गई, परन्तु जैसा अर्थ चैटर्जी महोदय करते हैं, तथा यूरोपियन महानुभाव करते हैं, अर्थात् पारसी विद्वान् करते हैं, वह अर्थ गाथा की पवित्रतापर कलङ्क लगाता है। ऐसी गालियां देवों को उसके द्वारा निकलती हैं, कि कोई देवयाजी गाथा के आगे सिर झुका नहीं सकेगा। यदि हिंदू-पारसी ऐक्य की आवश्यकता हो, तो गाथाका वह हा या तो प्रक्षिप्त मानना पडेगा अथवा उसका शुद्ध वैदिक अर्थ जो मैं करता हूं, वही लेकर उसका भरपूर प्रचार पारसियोंमें करना पडेगा।

शेष गाथा बडी सुंदर है। एक उच्च कोटि की वैदिक उपनिषद् कहलाने की अधिकारिनी है।

अस्तु। गाथा जितनी और जैसी हो, इस बातको यहीं छोडकर अब हमें उसी मज्द - बह्म = महद्--ब्रह्मका आनन्द लूटना चाहिये, जो बोलनेवाला जीवित जाग्रत भगवान् है, क्योंकि तभी तो अथर्ववेदने ऊपर कहा है कि लोगों, समझ लो महद् ब्रह्म कुछ बोलने लगा है।

वेदने कहा कि वह बोलने लगा है, गाथा का कर्ता कहता है कि, मैंने उसको अपनी आंखों से भली प्रकार देख लिया है। इससे सिद्ध हुआ कि भक्त भगवान् को देख सकता है और ऋषि के साथ भगवान् वचनविलास करता है।

इन्हीं दो भावों का उलथा हमारी गायत्री है कि, हम ध्यान करें उस प्रभु का जो हमारी बुद्धियों को प्रेरणा करें। भगवान् का दर्शन हमारे ध्यान में उसका आविर्भूत होनाही हो सकता है और उसका बोलना हमारी बुद्धियों में फुरने विकसित करना ही हो सकता है।

प्रतीत होता है कि आदि पवित्रात्मा अग्नि, वायु, आदित्य, अङ्गिरा कुछ ऐसी सात्त्विक बुद्धिसम्पन्न थे कि उन्हें अपने ध्यान में भगवान् को आविर्भूत करने तथा उस भगवान् को उनकी निर्मल बुद्धियों में फुरने उठाने में किञ्चित् भी कठिनाई नहीं होती थी, तभी तो भगवान् ने अपनी सर्वज्ञता वेद के रूपमें उन्हीं की बुद्धियों में फुरनेरूपेण विकसित कर दी और चारों वेद इस संसार में प्रसिद्ध हो गये।

अस्तु। हमें ब्रह्म + महद् का आनंद उठाना चाहिये। उसकी क्या रीति है? जरथुश्त्र ठीक कह गये हैं कि, उस प्रभुका स्वीकार करना हो, तो उसको भरपूर नमस्कार करो। भगवान् कृष्णने भक्त अर्जुन को गीतामें यही विधि बतलाई है और विश्वरूप देख कर अर्जुनने कृष्ण को बार बार नमस्कार ही किया है। जरथुस्त्र कहता है, कि मैंने उसे आंखों से देख लिया, तो मैं तो अब उसीको ही वरूंगा नमस्कारों के द्वारा तथा उसकी स्तुतियों के कीर्तनद्वारा।

अर्जुनने जब भगवान् कृष्ण के विराट् रूप का दर्शन किया, तो वह भी विवश हो भगवान् की स्तुतियाँही उच्चारने तथा बार बार नमस्कार ही करने लग गया था।

परन्तु प्रश्न उठता है कि भगवान् के दर्शन कैसे हो और कैसे भगवान् हमारे अंदर बोलने लगें?

उत्तर जरथुश्त्र देता है कि उत्तम मन के कर्मों तथा बचनों द्वारा पवित्रताई जिस अहुर मज्द को जानती तथा प्राप्त होती है उसी ब्रह्मको गुरु आत्मा में, भक्तिसंगीत के स्रोतस्थान में धारण हम भक्तजन करें, तोही वह आंखों से हमें दिखेगा और हमारे साथ बातें करेगा।

अर्थात् शुद्ध मन अथवा हमारी अन्तरात्मा जिस कर्म तथा वचन का अनुमोदन करे, उस कर्म के करने तथा उस वचन के बोलने से मनुष्य पवित्रता प्राप्त करता है, शांत हो जाता है, सच्चा बन जाता है, तब उसे भगवान् मिल जाता है, वह भगवान् को जान जाता है। यदि उसे उस समय गुरु माने, उसी आत्मतत्त्वको ब्रह्म पहिचाने और सर्वथा उस अवस्था में धारणा-ध्यानसमाधि जोड छोडे, विचलित उससे न हो जावे, तो शीघ्रही उसकी श्रद्धा भगवान् को मूर्तस्वरूप में सामने उसके खडा कर देगी और ज्यों ज्यों उसका ध्यान दृढता पकडता जावेगा, वही मूर्त भगवान् उस भक्त से बातें करने लग जावेगा।

यदि ब्रह्म का अर्थ स्तुतियां भी ले लें, तो यह आयेगा कि शुद्ध मन से सुकर्म तथा सुवचन सम्पादन कर हृदय पवित्र करके यदि ध्यान से असुर महद् सवितादेव भगवान् की स्तुतियां भक्त गावे और उसी जगद्गुरु, ब्रह्मात्मा, महान् जीवन, महाज्ञानी प्रभु में सर्वथा अपना ध्यान स्थिर कर लेवे (धीमहि) तो भगवान् उसकी बुद्धि में प्रेरणा करेंगे अर्थात् उसकी कल्पना में मूर्त स्वरूप-धार बैठेंगे और उसके हृदयके फुरने के रूप में उससे प्रेमालाप आरम्भ कर देंगे जैसे कि अथर्वा तथा वरुण का अथर्ववेद में विद्यमान है।

(२)

एंकलसारिया, चैटर्जी तथा अन्य सभी विद्वानों के अनुसार अमेरेताइति (अमृतत्व) ही उच्चतम आदर्श पारसी मत का है, ठीक जैसे वैदिक विद्वानों की सम्मति में मुक्ति मनुष्यजीवन का परम पुरुषार्थ है, इस कारण जब गाथा किसी के लिये बहिश्त मांगती है, तो मानना पडेगा कि वास्तव में अभिप्राय वहां भी अमेरेताइति ही से है। अथर्व-

वेद में ब्रह्मचारी अपने आचार्य के लिये अमृतत्व मांगता है यथा -

अमृतत्वं आचार्याय ।

गाथा में भी गुरु के लिये कुछ पदार्थ उस का शिष्य मांगता है वह सुन्दर गाथ वाक्य में यहां पाठकों के आनन्दार्थ उद्धृत करता हूं । देखिये चैटर्जी की पृश्निगाथा, गाथा मूल भाग यस्नहा ३१ वाक्य ६ । यह अहुनवइति वाक्य इसविध है—

अह्माइ अंहत् वहिश्तेम् ये मोई विद्वाओ-
कप्रोचत् हइथीम मांथ्रेम् यिम् हऊर्वतातो
अषह्या अमेरेतातश्चा मज्दाइ अवत क्षथ्रेम् ।
यत् होइ वोह वक्षत् मनंहा ।

वह स्वयं इसका अर्थ अंग्रेजी में करते हैं, उस का भाषांतर होगा—

उस मुनि के लिये सब से उत्तम ही हो, जो मुझे सिखाता है सत्य नियम आत्मा, सत्य तथा अमृतत्व के विषय में । वह जो अंतरात्मा को प्रदान करता है, (वास्तव में) मज्द की निज शक्ति ही है ।

प्रसिद्ध यूरोपियन गाथा-विद्वान् मिल्ज महोदय के इसी वाक्य के अंग्रेजी अनुवाद का भाषांतर इसविध किया जायगा—

सब बरकतों से उत्तम वह उस के लिये थी, जिस विवेचक ने मुझे (तथ्य) सत्य बतलाया, वह मंत्र जो शब्द था स्वास्थ्य, सत्य तथा अमर जीवन का । मज्दा के लिये वह राज्य होगा, जो उसी के पवित्र मनद्वारा वृद्धि पायगा ।

अब यदि हम इसका सरल अर्थ करें, तो इस प्रकार हो सकेगा—

जिस विद्वान् ने मुझे सच्चा मंत्र दिया, उस आचार्य) के लिये सर्वोत्तम भगवद्दान (अर्थात् अमृतत्व) प्राप्त होवे । जिस मंत्र तथा वहिश्त में भगवान् तथा सत्य की सामर्थ्य है और अमृतत्व तथा सर्वताति (अर्थात् सब उत्तम भावों का बाहुल्य है) तथा जो मंत्र स्वयं भगवान् अपने ही वसुमन के द्वारा उच्चारण करता है, (तथा निजी ज्ञान-प्रकाशद्वारा जिसे उत्तम प्रमाणित करता है) ।

आगे के वाक्यों से यह स्फुट हो जाता है कि जरथुश्त्र का संकेत यहां स्वयं वेद की ओरही है ।

इस गाथा-वाक्य को भी अथर्ववेदीय ' अमृतत्वं आचार्याय ' की ही उपनिषदिक् व्याख्या मानना ठीक जंचता है और यह भी गाथा के इस हा (अध्याय) से प्रतीत होता है कि जिस आचार्य ने ऋषि जरथुश्त्र को वेद पढाया होगा। जरथुश्त्र उसके प्रति कितनी अगाध श्रद्धा रखते होंगे। तभी तो अथर्ववेद की शिक्षा के अनुसार अपने उस पूज्य शिक्षक के लिए उन्होंने वहिश्त मांगी और साथही उसका लक्षण भी कर दिया कि बहिश्त जो मैं अपने उस्ताद के लिये भगवान् से मांगता हूं. उसमें सर्वोत्तम पदार्थों का बाहुल्य है, अमृतत्व है, तथा सत्य, और पवित्रताका सामर्थ्य है, अर्थात् भगवान् के निजी राज्य में ही मैं अपने पूज्य आचार्य के लिये स्थान मांगता हूं कि जहां वसुमन के माध्यम के द्वारा उनका तथा भगवान् का सदा आनंद-विहार परस्पर होता रहे । कारण कि उस पूज्य गुरुने मुझे वह सत्य मन्त्र प्रदान किया है, जिसके द्वारा मैं इस संसार में सत्य, धर्म, पवित्रता, शांति का ही प्रचार नहीं करता, वरञ्च महद् भगवान् की सामर्थ्य पाकर उसीके दिये उत्तम मन के द्वारा सभी उत्तमोत्तम पदार्थ प्राप्त करता हुआ अमृतत्व का अधिकारी स्वयं बनता हूं, तथा अपने शिष्यों को भी पवित्र शांति, सच्चाई सिखलाकर मैं उन्हें भी उत्तमोत्तम पदार्थ प्राप्त करवाकर अमृतत्व का अधिकारी भी बनाता हूं, उनके मनों वसुमनमें परिणत करके ।

इस प्रकार बडा आनंद प्राप्त होता है, जब एक वेद का विद्यार्थी गाथा को अपने वैदिक दृष्टिकोन से पढकर उसे वेद की व्याख्यात्मिक उपनिषद् ही अनुभव करता है ।

जैसे मैंने ऊपर लिखा है गाथामें एक हा ही चाहे प्रक्षिप्त चाहे असत्य व्याख्यात है, अन्य भाग वेद की ही व्याख्या-सी है । हां, शेष अवस्ता को दूर परे जा पडती है, विशेष कर वेन्दीदाद भाग ।

(३)

परमात्मा और आचार्य के पीछे अब वेद के विषय में गाथा क्या कहती है, यह आवश्यक है । यहांपर एक सोच लेना चाहिये कि इस लेखक ने पहिले अकेले चटर्जी को छोडकर अन्य सबने वेद शब्द अवेस्ता में या देखा नहीं, या देखकर एकदम चुप्पी ही साध ली । चैटर्जीने भी वेद को हमारे धर्मपुस्तक वेद की ओर संकेत के रूप में गाथा में बहुतही कम देखा, यदि देखा भी तो । इससे आगे जब

हम आये तो हमें स्थान स्थान गाथा वेद की महिमा गा रही दिखाई देती है। यहां हम केवल एक प्रमाण ही उद्धृत करते हैं, क्योंकि शेष प्रमाण कालिजवाली पुस्तक में आ जाने के कारण उनके अधिकार की वस्तु हो गयी। अस्तु। हमारी इस लेखमाला के लिये वह एक प्रमाण भी पर्याप्त है, देखिये—

अत् यैग अषअत् चा वोईस्ता वंहेऊस् चा
दाथेम् मनंहो। परेथ्वंग मज्दा अहूरा अपव्यो
वेरेना आपनाईस् कामेम् ॥ अत् वेक्षमइव्या
अशूना वपदा खरइत्या वइन्त्या-श्रवाओ।
(चैटर्जीकी पृश्नि-गाथा उपक्रमणिका यस्न २८॥१०
अहुनवइती गाथा १ ॥१०)

चैटर्जीके अंग्रेजी अनुवादका भाषांतर इसविध होगा—
जो अषा (सत्य) तथा वोहमनंघ (आत्मध्वनि) से प्रेरित हैं, उनको अपने वाञ्छित पदार्थ प्राप्त करने दे। अहुर मज्द। मैं जानता हूं कि आप अच्युत तथा अपनी शान में सुसुन्दर हो।

मिल्ज महोदय के अंग्रेजी अनुवाद का भाषांतर इसविध कर सकते हैं—

सत्य के जो नियम तू जानता है, ऋत में आंतरिक दृष्टि के द्वारा तथा शुभ मनमें। कमाई के लिये इन्हीं को लाभ रूप (मान) इनके द्वारा हे अहुर! हमारी इच्छा पूर्ण कर। इसविध मैं तेरी आज्ञाओं की शिक्षा पाता हूं, पूर्ण हमारी बहुतायत तथा शुभ उत्साह निमित्त।

देखने की यह बात है कि इन दोनों धुरन्धर विद्वानों ने वेद शब्द देखते हुए उसके अर्थ उलट दिये, यह अच्छा नहीं किया, विद्वानोंके योग्य कार्य नहीं किया। जब मिल्ज महोदय को भगवान् की आज्ञायें तथा सत्य के नियम ऋत के नियम इसमें दिख पड़े, तो फिर वह वेद शब्द को कैसे छुपा गये, यह बहुतही आश्चर्यजनक है। चैटर्जी महोदय का तो कहनाही क्या? वह तो भक्त ठहरे जिधर को चल निकले चल निकले।

अस्तु। हमें अब वेद के विद्यार्थी होते हुए, इसका वैदिक अर्थ समझने का यत्न करना चाहिये। सबसे प्रथम यहां वेदाः शब्द पड़ा है, अर्थात् वेद। ये वेद कैसे हैं? वोहुमन की दाथ अर्थात् उत्तम मन की दात्। ऋषियों के उत्तम मनने वह वेद मनुजों के कल्याणनिमित्त दिये हैं। हम उनको कैसे समझ सकते हैं? अषअत् अर्थात् शांति तथा सत्य के द्वारा। वेद की प्राप्ति विद्यार्थी केवल सत्यप्रियता तथा शांति, पवित्रता आदि के द्वारा ही कर सकता है, जब उसकी आत्मा में आचार्य आस्तिक धारणा गायत्रीद्वारा स्थिर कर देता है, तब उसके अन्तःकरणमें ज्ञानप्रकाश उदय होता है, तभी वह सत्यप्रिय पात्र शांत होकर वेदोपदेश ग्रहण करने योग्य होता है।

इन वेदोंसे क्या प्रयोजन सिद्ध होता है? हे ऋत्विज् भगवन् असुर महत्! अपनी निजी कामना इन के द्वारा पूर्ण करो तथा हम भक्तों की कामना भी इन्हीं के द्वारा पूर्ण करो। अर्थात् ऋतु परिवर्तन कर्ता तथा संसाररूप यज्ञ का कर्ता महाज्ञानी विश्वजीवन भगवान् अपना वह कार्य भी जिस के निमित्त वह सृष्टि रचता है, वेदों के द्वारा ही साधता है, तथा जो जो शुभ कामना उस के भक्तों के हृदयों में प्रस्फुरित होती हैं, उनकी पूर्ति का साधन भी यही वेद ही हैं।

वेद शून्य नहीं, परंतु आप की स्वरमयी विनती-श्रवण है ऋषियों के लिये। जो तत्त्व को देख सकते हैं, उन ऋषियों की दृष्टि में तो वेद कोरा शून्य नहीं, 'वरंच ध्वन्यात्मक' शब्दमय हैं, जिन में भगवान्के आगे विनतियां की गयी हैं, तथा भगवान् जिन विनतियों को सुनते हैं।

इस एक ही गाथावाक्य से पता चलता है कि वास्तविक जरथुश्त्र तो वेद का अनन्य भक्त था। उसे परमात्मा की शब्दमयी वाणी मानता था, जो वोहुमन (वास्तवमें ब्रह्मन्) (नैरयोसंघ धवल भी इसे ब्रह्मन लिखता है) मुख से भगवान् बोलते हैं तथा ऋत, सत्य, शम् के द्वारा जिसे विद्यार्थी ग्रहण करता है। भगवान्ने ब्रह्म बनकर अपने निज मुख से शब्दरूप में इन्हें उच्चारा है, अतः यह शून्य नहीं। शब्दमय, मंत्रमय, सूक्तमय आदि हैं। इन में परस्पर वार्तालापरूप भाग भी हैं, जहां भक्त भगवान् से विनती करता है, तथा भगवान् उसे श्रवण कर प्रेम से उत्तर देते हैं। इत्यादि। भगवान् ने अपना सृष्टि-यज्ञ के साफल्यनिमित्त वेद रचे हैं। दूसरा प्रयोजन इस में भक्तों की शुभ कामनाओं की पूर्ति है।

इस प्रकार जिन वेदों के गीत ईरान के ऋषि जरथुश्त्र ने अपनी प्रेमसनी गाथाओं में गाये हैं, आओ, हम उन वेदोंके

आगे उस वेद-प्रदाता भगवान् के आगे, उस गाथा-रचयिता जरथुश्त्र ऋषि के आगे तथा उस गाथा-वेदज्ञ आचार्य के आगे जो हमें अमृतत्व सिखला सके सत्य गुप्त ब्राह्म माजद मंत्रद्वारा, आओ हम इन सब के आगे अपना माथा नवाकर अपने आपको कृतार्थ करें।

(४)

कभी कभी ऐसा भी हुआ है कि गाथाने केवल संकेत ही किसी प्रसिद्ध वेदमंत्र की ओर किया है, जैसा हम सभी जानते हैं कि—

ओरेम् अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि
देव वयुनानि विद्वान् । युयोध्यस्मज्जुहुरा-
णमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ॥

यह मंत्र कितना प्रसिद्ध है। इस में रयि के निमित्त प्रार्थना भगवान् से की गयी है कि, हे अग्रगामी सर्वज्ञ प्रभु! हमें उस उत्तम मार्ग से चलाईये, जिससे कि हम रयि प्राप्त कर सकें। कारण कि हमारे समस्त अच्छे बुरे कर्मोंसे तो आप परिचित ही हैं, अतः आप ही हमारे समस्त पाप, कुटिलता आदि दुराचरणों को भस्मसात् कर हमें सुपथ पर चला सकते हैं। इस निमित्त हम बार बार आपको नमस्कार-वाक्य उच्चारणद्वारा तृप्त करते हैं।

इस प्रसिद्ध मंत्र की ओर संकेत यदि आप देखना चाहें, तो आपको जरथुश्त्र की दूसरी गाथा उश्तवइती में मिलेगा। उसका प्रथमही वाक्य जो पारसी भाई बडे महत्त्वका मानते हैं, इस प्रकार चैटर्जी की पृश्निगाथा से उद्धृत किया जा सकता है—

उश्ता अह्माई यह्माई उश्ता कह्माई चीत् ।
वसे- क्ष्यांस् मज्दाओ दायात् अहुरो ।
उतयूईती तेवीषी गत् तोइ वशेमी ।
अषेम् देरेग्याइ तत् मोइ दाओ आर्मइति ।
रायो अशीष् वंहेउस् गयम् मनंहो ॥

चैटर्जी महोदय ने जो इस का अंग्रेजी अनुवाद किया है उसका भाषांतर इसविध किया जा सकता है—

एक व्यक्ति के लिये उचित वही है, जो अन्य हर किसी के लिये उचित हो। मज्द प्रभु मुझे वह शक्ति तथा एकतानता (एकतार भाव) दे, जिस के लिये मैं प्रार्थी हूं। सत्य को धारण के लिये मुझे वह कर्मनिष्ठा दो, जो आत्मा का धर्म है तथा विश्व के लिये (आशीर्वाद) बरकत है (दुनियां के लिये)।

उपरोक्त गाथा-वाक्य का अंग्रेजी में जो अनुवाद मिल्स महोदय ने किया है, उसका हिंदी में यह अर्थ होगा—

मुक्ति का आवाहन उस के निमित्त हो
चाहे वह कोई ही हो।
सर्वाधिष्ठाता वह भेजे, वह जो
युद्ध का सर्वेश है (उत्तम प्रभु है)।
स्थायी शक्ति हमारी हो,
तुम से मैं यह मांगता हूं।
धारण करने सत्य के निमित्त यह,
पवित्र जोश हमें दे।
धनयुत शक्ति, पवित्र पुरस्कार,
वसु (उत्तम) मनसम्बन्धी जीवन ॥

मैं इसका अर्थ स्वयं इस प्रकार करता हूं।

इसके लिए; किसके लिये? जिस किसके लिये! वषट् हो। सभीके लियेही आशीर्वादमय वषट् होवे॥ सुशासक प्रभु मज्द भगवान् सर्व शक्तिमान् रक्षक अहुर महान्। सभी को स्थायी सामर्थ्य प्रदान करे। आप सभी उससे (निज) रक्षाके लिये प्रार्थना करो॥ तुम सभी के लिये मैं भी उससे वही चाहता हूं। सत्य धारण के निमित्त, सत्य ज्ञान॥ आशीर्वाद रूप में, नवविध अत्यन्त सुन्दर धन-दौलत (रयि) उत्तम मनसम्बन्धी जीवन, इतना उत्तम। ये समस्त मुझे प्रदान करे, हे भगवन्! तथा मेरे समस्त साथियों को। पवित्र सज्जनों को अरमति (जितेन्द्रियता) तथा गाथा अश (शांतिः पवित्रता)।

इस उत्तम गाथा वाक्य की अंतिम पंक्ति के आदिम शब्द—

रायो अशीष् ।

ध्यान देनेयोग्य हैं। "रयि का आशीर्वाद" यह है जो ईरान का ऋषि मांगता है। प्रश्न होता है, कि कहां से पता

लगे कि संकेत उसका किस की ओर है ? उत्तर है कि जो धर्म इसके आगमन से पूर्व होगा, उसके अनुयायियों में कोई ऐसी आशीष् प्रचलित होगी । अब अवेस्ता से पहिले तो वैदिक धर्म ही था , इसलिये इस रायो आशीष की गुत्थी वेद से ही सुलझ सकती है, इसी कारण हम इस परिणामपर पहुंचते हैं कि यहां संकेत रयिसम्बन्धी प्रसिद्ध मन्त्र 'अग्ने नय सुपथा' की ओर होना अवश्य है।

अब इस गाथा-वाक्य का थोडा आनंद भी उठाना चाहिये । यह वाक्य कहता है कि गयम् अर्थात् गय नाम प्राण, जीवन वसु मन, बहु मन, उत्तम मन से ही प्रेरित रखना चाहिये, न कि अकाममन अर्थात् दुष्ट, अल्प, अकं मन से । दूसरी बात इस वाक्य से यह सिद्ध होती है कि अपा के धारणनिमित्त अरमति आवश्यक है, अर्थात् पवित्र शांति, ऋत, सत्य आदि की प्राप्ति वही कर सकता है, जो जितेंद्रिय हो, जो उत्तम कर्म, कोमल न कि कठोर दुष्ट कर्म में ही दत्तचित्त हो, वही पाप से बच धर्मप्रवण रह सकता है, अन्य दुष्कर्मी तथा अकर्मी नहीं । तीसरा नियम इस वाक्य से यह प्राप्त होता है, कि स्थायी शक्ति की इच्छा हो, तो परमात्मा से ही उसकी कामना करो । परमात्मा की दी हुई शक्ति ही स्थायी रहेगी । अन्य बल सम्भव है समय पडनेपर साथ न दे सके । चौथी बात यह है कि यदि आप ऐसा सुख अपने लिये चाहो, जिसमें न केवल आपको वरञ्च अन्य सभी व्यक्तियों को भी आनंद ही मिले । आपके सुख के कारण अन्य किसी को दुःख न हो, तो ऐसा आनंद तो केवल वह महान् विश्वजीवन महाज्ञानी प्रभु अहुर मज्द (असुर महद् सवितादेव) ही प्रदान कर सकते हैं, क्योंकि वह इष-क्षत्र है, उनका राज्य ऐसा है, जहां उनकी अपनी इच्छा ही चलती है । स्वेच्छा-पूर्वक राज्य चलानेहार तो केवल भगवान् स्वयं ही हैं, वही ऐसा सांसारिक तथा मुक्तिसुख हमें प्रदान कर सकते हैं, जो असंबाध हो, जिससे किसी भी अन्य के सुख में बाधा न पडे ।

यह चार बातें हो जायें, तो रयि का आशीर्वाद सिद्ध आपसे आप ही हो जावेगा ।

वर्तमान साईंसपर श्रीमान् विद्यावचस्पति—

पं. मधुसूदन झा का विचार।

(वैद्यरत्न पं० सभाकान्त झा आयुर्वेदशास्त्री, स० सम्पादक "माला")

[श्रीमान् विद्यावाचस्पतिजीने वैदिक विज्ञान का कहांतक अध्ययन कर, जनताको उपकार किया है। इस लेखमें यही दिखाया गया है। आपने वर्तमान साईंस को वैदिक विज्ञान द्वारा किस तरह खण्डन कर अपने वैदिक विज्ञान को श्रेष्ठ बतलाया है, यह पढनेयोग्य है। हम अपने पाठकों से आग्रह करेंगे कि, इस लेखको एक वार अवश्य पढे।

—सम्पादक]

संसार में किसी भी जातिकी उन्नति विद्यापरही निर्भर है। वह विद्या चाहे किसी भी भाषा की हो, यदि वह सत्य विद्या हो, तो वही जाति या समाज को उन्नत कर सकती है। वह विद्या क्या वस्तु है? इसपर यदि विचार करें, तो स्पष्ट होगा कि प्रत्येक वस्तु के तत्त्व को जान लेने का नाम ही विद्या है। अथच यों कहिये कि 'वस्तुतत्त्व-विज्ञान और विद्या' दोनों समानार्थक शब्द हैं। विज्ञान को ही अंग्रेजी में साईंस कहा जाता है। इस साईंस की आजकल पाश्चात्य देशोंमें बहुत कुछ उन्नति हुई है। और पाश्चात्योंसे सीखकर भारतवासी भी साईन्सकी आलोचना करते हैं। हमारे देशवासियों का भी आजकल प्राय: यही विश्वास है कि साईंस की आश्चर्यजनक उन्नति पाश्चात्य देशों में ही हुई है।

परन्तु वह नहीं जानते कि हमारे यहां भी साईंस है, और वह इतने ऊँचे दर्जे का है कि पाश्चात्य साईंस को वहांतक पहुंचनेमें कई सहस्र वर्ष लग जायेंगे।

पाश्चात्य जगत का साईंस अभीतक अस्थिर ही है। यह बात जरूर है कि उसने अपनी चटकिली चालढालसे जनता को अवश्य चका चौंधमें डाल दिया है। परन्तु उसकी बुनियाद बहुतही कच्ची है। अतएव नित्यही उसकी थ्यूरियां बदलती रहती हैं। इसके विपरीत हमारा विज्ञान बिल्कुल अडिग और स्थिर तथा सुनिश्चित है। यह इतना सुदृढ है कि इसमें परिवर्तन का किसी तरह गुंजाईशही नहीं है।

परन्तु दुःख है कि हमारे भारतीय वैज्ञानिक, अपने विज्ञान की तरफ ध्यान ही नहीं देते। आधुनिक पाश्चात्य वैज्ञानिक यदि परीक्षा कर हमारे विज्ञान को दोषी बताते, तो हमें हर्ष होता। परन्तु ऐसा न कर वे लोग सिर्फ उपहास कर बैठते हैं, इसके लिये बहुत दुःख होता है।

हमारे विज्ञान की निधि 'वेद' है। वह केवल अब पूजामात्र की किताबें रह गयी हैं। उनमें क्या है, यह कोई नहीं सीखता। आधुनिक सभ्य संसार तो उन्हें उपेक्षणीय दृष्ट्या देखता है। दुर्भाग्यवश इस दरिद्र तथा पराधीन देशमें आज हमारे पास कोई सामग्री भी नहीं मौजूद है, जिससे हम अपने सिद्धांत को प्रयोगरूप में लाकर प्रत्यक्ष दिखा सकें। किंतु जहांतक बुद्धि का व्यापार हो सकता है, वहांतक मैं दावे के साथ कह सकता हूं कि हमारे प्राचीन विज्ञानकी अपेक्षा सांप्रतिक विज्ञान बिल्कुल अधूराही है। उदाहरणरूपके लिये मैं थोडा वैदिक सिद्धांत आप लोगोंके समक्ष रखता हूं।

'तत्त्वविचार'।

प्रथम तत्त्वविचार को ही लीजिये। आधुनिक साईंस 'हाईड्रोजन' 'ओक्सिजन' आदि को मौलिक तत्त्व मानता है और इन्हीं के आधार पर उसका सुविशाल प्रासाद खडा है।

किंतु वैदिक विज्ञान के अनुसार ये 'हाइड्रोजन' आदि कभी मौलिक तत्त्व नहीं हो सकते हैं। ये सब यौगिक हैं। कई संयोगोंसे बने हैं। वैदिक विज्ञान के अनुसार ये सब विराट् हैं। जो वस्तु इंद्रियों से वा यन्त्रों से जानी जा सकती है, वे सब एक एक विराट् हैं। 'विराट्' शब्द एक छन्द का नाम है। यह उस छन्द को कहते हैं, जिसमें

संसार के समस्त पदार्थ परिच्छिन्न हैं। प्रत्येक छन्दों का स्वरूप जिनके द्वारा अभिव्यक्त होता है, उनको 'अक्षर' कहते हैं। दश अक्षरवाले छन्द को 'विराट्' कहते हैं। जो विराट् शब्दवाचक है, उनमें दश अवयव होना परमावश्यक है। जगत् के प्रत्येक पदार्थ में दश प्राणों का समुच्चय है। भृगु, अंगिरा, अत्रि आदि दश प्राणोंका घनही एक एक पदार्थ है। अतः ये सब पदार्थ एक 'विराट्' हैं। विराट् का उत्पादक 'यज्ञ' है। 'यज्ञ' उस बल को कहते हैं। जिससे एक तत्व दूसरे तत्व से मिलते हैं। भिन्न तत्वों के परस्पर मिलकर एक नया रूप धारण करने की अलौकिक शक्ति ही करे, 'यज्ञ' समझना चाहिये।

विना यज्ञ के दश प्राणों का घन हो नहीं सकता। अतः विराट् का कारण 'यज्ञ' है। अतएव 'यज्ञ' इन सब पदार्थों का अन्तरात्मा है। ये सब पदार्थ यज्ञ से ही उत्पन्न होते हैं और इसीसे यौगिक हैं। और वह यज्ञ 'पुरुष' द्वारा उत्पन्न होता है। अतः यज्ञ की अपेक्षा पुरुष मौलिक तत्व है।

यज्ञ एक प्रकार का व्यापार या व्यापारविशेष का हेतुभूत बल है। यह बल अवश्यही किसी मौलिक तत्वमें होना सम्भव है। उसी मौलिक तत्व को 'पुरुष' कहते हैं। यद्यपि कोई भी मौलिक तत्व हो, वह अखण्ड एक द्रव्य ही वैज्ञानिकों के सिद्धांत में माना जाता है। तथापि यह पुरुष मौलिक तत्व होनेपरभी अखण्ड अनवयव नहीं है। यह पंचदश कलावाला त्रिधातुमय एक द्रव्य है। पुरुषके तीन भेद हैं। यथा—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥

(गीता० अ० १५ श्लो० १६-१७)

अर्थात्- क्षर, अक्षर, अव्यय, ये तीन तरह के पुरुष होते हैं। और प्रत्येक में ५-५ कलायें होती हैं। इस प्रकार १५ कलाओं से युक्त ये तीन धातु यद्यपि संयुक्त ही रहते हैं। इनका परस्पर वियोग कदापि नहीं होता, परंतु इनमें भी पूर्वापेक्षा सूक्ष्म हैं। यानी क्षर से अक्षर, अक्षर से अव्यय सूक्ष्म है। यहांतक विज्ञानगम्य विषय है।

अव्यय पुरुष के आगे भी एक गम्य विषय है। जो कि असीम और 'परात्पर' कहा जाता है। अव्यय नाम 'पर' है। उससे भी जो पर हो, उसको 'परात्पर' कहते हैं। उसमें भी 'रस' और 'बल' दो का योग है। वहांसे आगे अविज्ञेय और अनिर्वाच्य रस केवल एक तत्व है, जो कि निर्विशेष कहा जाता है। उसीका उपलक्षणरूपसे परिचय देकर हमारा वैदिक विज्ञान समाप्त होता है। वहीं पहुंचकर कहा जाता है कि—

यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते॥

इसे जानने के बाद कोई जानने की बात बाकी नहीं रह जाती है।

आप इस 'परात्पर' तत्व को 'ईथर' न समझ बैठें, 'ईथर' उससे बहुत नीचे दर्जे की वस्तु है। 'ईथर' के आविष्कार पर पाश्चात्य जगत् को गर्व है। परन्तु हमारा विज्ञान 'ईथर' से बहुत ऊँचा है।

ईथर तो हमारे यहां का 'इन्द्र' शब्द है, यह शब्द इंद्र शब्द से ही बना प्रतीत होता है। जैसे सुन्दर 'शब्द' से 'सुथरा' शब्द बन गया है। उसी प्राकृत से इन्द्र शब्द से 'ईथर' शब्द बनना सम्भव है। अस्तु। इन्द्र एक देवता है, और वह अक्षर पुरुष का एक कला है। वेद में १४ प्रकार के इन्द्र माने गये हैं। उनमें से एक 'ईथर' है। यह उसका क्षरसम्बन्धी रूप है।

जिस विद्युत् पर आजकल के वैज्ञानिक का दारमदार है, वह भी इन्द्र का ही एक रूप है। आधुनिक वैज्ञानिक आज तक पता नहीं लगा सके हैं कि 'विद्युत्' क्या वस्तु है। वे इससे काम लेते हैं, किन्तु तात्विक रूप से नहीं पहचानते कि यह क्या वस्तु है। परन्तु हमारे यहां इसका ही नहीं, इसके मूल का ही पूरा पता लगा कर तात्विक निर्णय हो चुका है।

'परात्पर' तत्व की परिभाषा हमारे यहां यह बताई गई है कि— 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' छोटे से भी छोटा और बडे से भी बडा। तात्पर्य यह है कि जितने छोटे से छोटे पदार्थ का अनुमान हम कर सकते हैं, उसमें भी वह अनुस्यूत है। अतः इससे भी छोटा है और उसे 'अणिमा' कहते हैं। इसी प्रकार जितने बडे से बडे पदार्थ की हम कल्पना कर सकते हैं, वह भी उसी 'परात्पर' का आधार है। अतएव वह 'परात्पर' बडे से भी बडा है, और इसे

भूमा कहते हैं भूमा और अणिमा इन दोनों विरुद्ध धर्मों का विचित्र रूप से उसमें समावेश है। दोनों दशाओं में वह एक है, उसका जान लेनाही विज्ञान की पराकाष्ठा है।

आधुनिक गणित-विज्ञान में भी छोटे से छोटा और बडे से बडा तत्व माना जाता है। बडे से बडा तत्व को 'इन्फिनिटी' वहां कहते हैं। यह शब्द संस्कृत भाषा के 'अत्यनपिनद्धम्' का अपभ्रंश ज्ञात होता है, अपिनद्ध-अर्थात् बंधा हुआ। दिक् देश की सीमा में जो बद्ध हो, जिसकी लिमिट हो, वह कहा जाता है अपिनद्ध। और जो अपिनद्ध न हो अर्थात् जिसकी सीमा न हो वह कहाता है अनपिनद्ध और इस निःसीमता के ख्याल में भी जो सबसे आगे हो, उसे कहते हैं 'अत्यनपिनद्ध'। 'अत्यनपिनद्धम्' यह इस का विभक्त्यन्त रूप है। और उसी का निगडकर-'इन्फिनिटी' बन जाना सम्भव है।

छोटे से छोटे को गणित-विज्ञान में आजकल 'पोइन्ट' कहते हैं, हमारे यहां उसे 'बिन्दु' कहते हैं।

इन दोनों में जहां तक शब्द-सादृश्य पाया जाता है, उससे सम्भव है कि 'पोइन्ट' शब्द 'बिन्दु' शब्द से ही बना हो। अस्तु, बिन्दु पदार्थ अणु से भी अणु है, और इस की परिभाषा गणित-विज्ञान में यही बतायी जाती है कि जिसमें लम्बाई चौडाई कुछ न हो। यद्यपि बिन्दु का आकार ब्लैकबोर्डपर गोल गोल बनाया जाता है जिसमें लम्बाई चौडाई दोनों होती है, किन्तु वह बिन्दु नहीं है, यह सब ही वैज्ञानिक जानते हैं।

अब मैं वैदिक विज्ञान के अनुसार इस पृथ्वी की उत्पत्ति का थोडासा विवरण आप लोगों के सामने रखता हूं।

पृथ्वी की उत्पत्ति हमारे यहां जलसे मानी गयी है। भूतों में यानी मैटीरियल दृश्य पदार्थों में सबसे पहले जलही उत्पन्न होता है। इससे पहले के जितने तत्व हैं वे 'गैस' रूपमें हैं। इस बात की आधुनिक वैज्ञानिक मजाक उडाते हैं। वे सिद्ध करते हैं कि जल दो तत्वों का यौगिक रूप है, उसे तत्व कहना भारी भूल है।

परन्तु आश्चर्य है, वे हमारा सिद्धान्त नहीं समझ रहे हैं। जिस जल को वे यौगिक सिद्ध करते, उसे हमने तत्व कब मान रखा हैं। जब कि इस जल को पंचीकृत पंचमहाभूतोंमें से एक भूत मानते हैं, तो निःसंदेह सिद्ध हो जाता है कि जल में कई पदार्थों का संयोग स्पष्ट बतलाया गया है।

जिस मौलिक जल के आधारपर यह यौगिक महाभूत जल उत्पन्न होता है, वैदिक विज्ञान में उस जल की चार अवस्थाएं मानी जाती हैं।

१- अम्भः, २- मरीचिः, ३- मरः, ४- आपः।

इनमें अम्भः पहिली अवस्था है, इसे ही हम तत्व कहते हैं, इसी को आजकल 'हाईड्रोजन' कहते हैं। यह सर्वत्र आकाश में व्याप्त है। इस को वेद में महासमुद्र कहते हैं। इसी समुद्र के भीतर जब सूर्य का गोला पैदा हुआ तब सूर्य के किरणों से एक वर्तुल वृत्त यानी गुम्मज का प्रकाशमण्डल भी सिद्ध हो गया। इसी महामण्डल को ब्रह्मांड कहते हैं। और इसे ही पाश्चात्य विद्वान् 'सोलर सिस्टम्' कहते हैं। यह ब्रह्मांड भी उस महासमुद्र के अम्भोजल से खाली नहीं है। किंतु जिस प्रकार इस ब्रह्माण्ड से बाहर वह अधिक मात्रा में परिव्याप्त है, उस तरह इस ब्रह्माण्ड में नहीं है, ब्रह्मांड के बाहरी प्रदेश से इस ब्रह्माण्ड में ज्यों ज्यों वह अम्भः प्रवेश करता है, त्योंहि सूर्यके प्रचण्ड उत्तापसे उत्तप्त होकर हलका होनेसे बाहर हो जाता है।

यदि सूर्य ऐसा न करता तो यह पृथ्वी उस अम्भो जल के महासमुद्र में निमग्न हो लवलीन हो जाती। फिर भी सूर्य के इतने प्रयत्न करनेपर भी थोडी बहुत मात्रा में वह जल इस ब्रह्माण्ड-कटाहको फोडकर इसके भीतर प्रवेश कर ही जाता है। वह सूर्य-प्रताप से हलका होता हुआ शीतप्रधान चन्द्रमण्डल में प्रवेश करके संचित होता है। उसी जलसे चन्द्रमा चारों ओरसे घिरा हुआ है, जैसा कि वेद में कहा हुआ है—

चन्द्रमा अप्स्वन्तरा सुपर्णो धावते दिवि।
(ऋ० सं०)

आजकल के साइन्सवाले बडी भूल करते हैं, कहते हैं कि चन्द्रमा में न जल है, न वायु है, न कई प्राणी है। उन्हें अब वेद से शिक्षा लेनी चाहिये कि चन्द्र में उपरोक्त सब वस्तु तथा प्राणी भी हैं। उन्हें यदि इस दूरबीन से न दीखता हो तो अन्य भी दूरदर्शक यन्त्र बनावें। इस ब्रह्माण्ड में कोई भी पिण्ड जल वायु से शून्य नहीं है। जब कि इस पृथ्वी पर पूर्ण मात्रा में जलवायु वर्तमान है, तो उसके

समीपवर्ती चन्द्रमा में जलवायु का सर्वथा न होना यह युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता।

वैदिक काल के अत्यन्त सूक्ष्मदर्शी यन्त्रसे यह देखा जा चुका है कि नाना प्रकार के जल होते हुये भी दो प्रकार के जल अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में हैं। एक श्रद्धाजल, दूसरा वही अम्भोजल, जो ब्रह्माण्ड से बाहर से आकर सोलर सिस्टम् में चक्कर खाता हुआ इस चन्द्रमा में संचित होता है। अतः चन्द्रमा इतना शीतल है।

सूर्य के सम धरातल में पृथ्वी का विषुवमण्डल है। पृथ्वी अपनी विषुवरेखा के सम धरातल से २३½ अंश ऊपर नीचे चढा उतरा करती है। किन्तु उसका साथी चन्द्रमा करीब २८ अंश तक ऊपर चला जाता है। अतएव सूर्यातप से हलका होकर ऊपर उठा हुआ हल्का यह अम्भोजल चन्द्रमा में जमा हो जाता है और उसी चन्द्रमा के द्वारा सूर्यरश्मिविहीन उस समय की पृथ्वी के उत्तर सुमेरुपर वह जल अवतीर्ण होता रहता है। उसी को भारतवर्ष के पुराणों में 'गंगाजल' कहते हैं। वही जल उत्तर मेरू प्रान्त में शीतलता पाकर जमकर बरफ के रूप में आता है।

निरन्तर इसी प्रकार ऊपर से जलावतरण के कारण नीचे का बरफ दब कर पृथ्वी के नीचे पानी के रूप में कुछ प्रवेश कर जाता है। कुछ गर्मी से गलकर नदीरूप में तिर्छा होकर बहने लगता है। कुछ ऊपर को भी उडा करता है। इस तरह तीन मार्गका अनुसरण करनेसे गंगा 'त्रिपथगा' कही जाती है। सूर्य के मंडल में रहने से स्वर्गगामिनी। चन्द्रमा में व्याप्त होने से 'अन्तरिक्षगामिनी' और पृथ्वीपर आनेसे 'मर्त्यलोकगामिनी' कही जाती है। अतएव गंगा त्रिपथगा है।

यद्यपि यह गंगाजल अब उस अम्भोजल के रूप में नहीं है। क्योंकि सूर्यचंद्रमादि स्थानों में भ्रमण करने से उसमें अन्यान्य कतिपय रासायनिक पदार्थों का संयोग होता रहता है। अतः कुछ परिवर्तित अवश्य हो गई है। तथापि यह निःसन्देह है कि गंगाजल ब्रह्माण्ड के बाहर से आया हुआ है। और इसका मूल कारण वही अम्भोजल है।

इसमें जो कुछ पवित्रता पाई जाती है, वह 'ब्रह्मणस्पति' के रसके रासायनिक संयोग से है। ब्रह्मणस्पति और अम्भोजल की उत्पत्ति-स्थान एकही है। जिसे वेदमें 'परमेष्ठी' कहते हैं। इस ब्रह्मणस्पतिको अभीतक आधुनिक साइन्सवाले नहीं जान पाये हैं। यह भी हाईड्रोजन के अनुसार एक मौलिक रूढ पदार्थ है। इसकी पवित्रता के विषयमें वेद कहता है-

'पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः॥' इत्यादि

इसी रासायनिक संयोग से पवित्र होनेके कारण हमारे महर्षियोंने अन्य सब जलों से गंगाजल को विलक्षण और पवित्र माना है।

आधुनिक वैज्ञानिक लोग लोहे, तांबे आदिसे सोना बनना विश्वास नहीं करते थे। उनकी युक्ति यह थी कि लोहा तांबा सोना यदि आपस में बदलते तो इस तीनों का वजन यानी गुरुत्व एकही रहता, परन्तु विचार से देखनेपर भिन्न भिन्न वजन होना एक तुच्छ दलील है।

ग्राविटी पदार्थ की अवस्थाविशेषसे सम्बन्ध रखती है। एकही जलकी घनावस्था, तरलावस्था और बाष्पावस्थाके भेद से तीन अवस्था में बदल जाती है। जो ही जलबिंदु ऊपरसे पृथ्वीपर गिरते हैं, वे ही भाफ की हालत में ऊपर को उडते हैं। अतएव सम्भव है कि लोह की अवस्था में और सोने की अवस्था में वजन भिन्न हो जावे, और यह ग्राविटी पदार्थ 'डिनसीटी' यानी जमावटसे सम्बन्ध रखती है। जो तूल हलका है, वही सूत की हालत में भारी हो जाता है। अतः सम्भव है कि लोहे, तांबे और सोने की 'डिनसीटी' भिन्न भिन्न प्रकार की है, जिससे उन तीनों का वजन भिन्न भिन्न है।

दूसरी बात यह भी है कि लोहे तांबे सोने आदि को साइन्सवालोंने रूढ तत्व माना है। किंतु वैदिक विज्ञान में धातु मूल और जीव इस प्रकार भूत प्राणी के तीन भेद हैं। इनको भूत इसलिये कहते हैं कि, इसमें बहुतसे तत्वोंका समावेश है। अतः ये यौगिक रूढ तत्व नहीं। लोहा, तांबा सोना आदि की धातु संज्ञा है। और उनमें नाना रूढ तत्वों का योग है। तो ऐसी दशामें जब लोहा से सोना बनाया जाता है, तो बहुत सम्भव है कि लोहेमें से कुछ

रूढ तत्त्व निकल जाते हों और उनके स्थान में कोई नये रूढ तत्त्व प्रविष्ट हो जाते हों। इस प्रकार रूढ तत्त्वों के परिवर्तन से तीनों का वजन बदल जाना कोई आश्चर्य नहीं है। क्योंकि भिन्नजातीय पृथ्वी के आकर्षण में तारतम्य होता है और उसी आकर्षण का परिणाम गुरुत्व है।

हर्ष की बात है कि अब वैज्ञानिकों की आँख खुली है। और उन्होंने तांबे आदिसे सोना बनाना स्वीकार कर लिया है। हमारे यहां तो साधारण बुद्धिवाले किमियां लोगों में 'रसायन' बनाना प्रसिद्ध है। तन्त्रशास्त्रमें सोना का नाम ही लोह रखा गया है। अतः सोना चांदी और तांबे को 'त्रिलोह' कहा है। श्रुतिभी लोहे का परिणाम हिरण्य बताती है।

वैदिक विज्ञान अगाध समुद्र है। अपनी आयु का बहुत बडा भाग ब्रह्मचर्य में बिताकर ऋषि लोक इस विज्ञान का एक भाग ही प्राप्त कर पाते थे। थोडे से समय में इस विज्ञान पर कुछ लिखना विनोदी मात्र ही कहा जा सकता है। तथापि कुछ नमूने के तौरपर आप लोगों के सामने कुछ रखने का प्रयत्न किया है। अन्त में फिर मेरा विनय विद्यानुरागी वैज्ञानिक सज्जनों से यही है कि विज्ञान का उद्धार का उत्कट प्रयत्न होना चाहिये, जिससे की हमारा आर्य विज्ञान और आर्य सभ्यता सुरक्षित रह सके।

साथही वैज्ञानिकों को भी इस प्राचीनतम विज्ञानके आश्रयसे बहु बडा लाभ होगा। पाश्चात्य वैज्ञानिक अपनी स्वतंत्र बुद्धि के आधारपर चलते हुये बहुत समयमें जहां पहुचेंगे, वैदिक विज्ञान का आश्रय लेकर उसकी सहायतासे परीक्षा-क्रममें वे आगे बढें तो कम समयमें ही वहां पहुंच सकते हैं। यह हमारा दृढ विश्वास है। सर्वशक्तिमान् परमात्मा उन्हें सुबुद्धि देवें। +

+ यह लेख श्रीमान् विद्यावाचस्पतिजी के एक व्याख्यानाधारपर उनकी स्मृतिमें लिखा गया है।

ईश्वरवादका वास्तविक स्वरूप ।

[पं० रामावतारजी विद्याभास्कर]

(गतांकसे आगे)

ईश्वर से पृथक् रहकर ईश्वर के विषय में कल्पनाओं का जाल फैलाते रहना मनुष्यबुद्धि का व्यर्थ प्रयास है । जिन मनुष्यों ने सच्चे हृदय से ईश्वर को ढूंढा है, उन्होंने उसे अपने ही शुद्ध मनके रूपमें पाया है। शुद्ध मन ही ईश्वर है ।

(१२) 'ईश्वर–जिज्ञासा' नास्तिकता है, 'ईश्वर-ज्ञान' ही आस्तिकता है।

जानने की इच्छा 'इन्द्रियों का स्वभाव' है । इन्द्रिय–ग्राह्य पदार्थों को ही जानने की इच्छा होती है। क्योंकि ईश्वर इन्द्रियग्राह्य पदार्थ नहीं है, इस लिए 'ईश्वर–जिज्ञासा' शब्द निरर्थक शब्द है ।

किसी बात को जानने की इच्छा के अधीन हो जाना, इन्द्रियों के कहने में आ जाना है । मनुष्य को जिस विषय को जानने की इच्छा होती है, उसकी वह इच्छा उस विषय का अज्ञान है। क्योंकि अज्ञान होनेपरही उसकी इच्छा बनती है । जहां ज्ञान है वहां इच्छा का अवसर नहीं है। 'इच्छा' और 'अज्ञान' एकार्थवाचक शब्द हैं। 'इच्छा' जिस के साथ लग जाती है, उसी के अज्ञान का पता देने लगती है । ईश्वर को जानने की इच्छा ईश्वर का अज्ञान है। जो ईश्वर को नहीं जानता, वह ईश्वर को जानने की इच्छा करे, यह बात मनोविज्ञान के विरुद्ध है । वस्तुतः 'ईश्वर--जिज्ञासा' मनुष्यबुद्धिकी केवल वन्ध्य प्रवृत्ति है ।

ज्ञानी वही है, जिसकी ईश्वर को जानने की इच्छा नष्ट हो चुकी है । जिसे ईश्वर को जानने की इच्छा है, वह निश्चित रूप में 'अज्ञानी' है। यही 'ज्ञानी' 'अज्ञानी' का प्रधान अन्तर है । अज्ञानी सदा ईश्वर को जानने की इच्छा में रहना चाहता है। वह ईश्वर को जान चुकने की अवस्था में न तो स्वयं जाना चाहता है और न किसी को इस अवस्था में गया हुआ देखना चाहता है । वह किसी की ईश्वरदर्शन की अवस्थापर विश्वास करने को उद्यत नहीं है । अज्ञानी सर्वत्र इसी बात का समर्थन देखना चाहता है कि 'ईश्वर को कभी किसी ने नहीं देखा।'

ज्ञान की यही कसौटी है कि मनुष्य माननेवाले तथा माने जानेवाले के एकत्व को जाना जाय । ईश्वर से पृथक् रहना और ईश्वर को माननेवाला बने रहना 'अज्ञान' है । अपना अस्तित्व ईश्वर से पृथक् रखना ही इस अज्ञान का स्वरूप है ।

ईश्वर को मानना 'नास्तिकता' है। ईश्वर को जान जाना ही 'आस्तिकता' है। ईश्वर को माननेवाला उसे भविष्य में द्रष्टव्य मानता है। परन्तु ईश्वर भविष्य में द्रष्टव्य वस्तु नहीं है । उसे भविष्य में देखने की इच्छा करना मनुष्य का अज्ञान है। जिसके दर्शन भविष्य में होंगे, वह ईश्वर नहीं होगा ।

यद्यपि ईश्वर मनुष्य के पास प्रत्येक समय उपस्थित है, परन्तु मनुष्य का वर्तमान इसी लिए ईश्वरहीन बीत रहा है कि उसने भूल से ईश्वरदर्शन को भविष्य का काम मान लिया। क्योंकि मनुष्य उसका दर्शन इस समय न करके भविष्य में करना चाहता है, इस लिए वह (तत्व) मनुष्य की मूर्ख धारणासे उसके हाथ आने से रह जाता है। ईश्वर मनुष्य के हाथ इसी लिए नहीं आता, कि वह उसे भविष्य में चाहता है। वर्तमान में मनुष्य को विषयों का मिठास मिल रहा है, इस लिए वर्तमान में तो उसे ईश्वरदर्शन के लिए अवकाश नहीं है । मनुष्य ईश्वर को पाने के लिए संसार खोने की हानि उठाने को उद्यत नहीं है। वह 'विषय-विरोधी ईश्वर' को नहीं चाहता। उसे तो विषय–सहायक ईश्वर की आवश्यकता है। इसी लिए उसने ईश्वर के लिए अनिश्चित भविष्य काल नियत

किया है और ईश्वर के विषय में अपनी ज्ञानपिपासा को सदा धोका दिया है। उसने उसे जहां तक टाला जा सकता था, वहां तक टाला है।

मनुष्य का अस्तित्व इस लिए नहीं है, कि वह तुच्छ जीवन बिताकर चला जाय। उसका अस्तित्व महान् बनने के लिए है। उसकी बुद्धि में महान् तत्त्वदर्शी बनने की पूरी योग्यता है। मनुष्य का अस्तित्व ईश्वर-लाभ करने या ईश्वर बनने के लिए है। इसका कारण यह है कि मनुष्य स्वयं ही ईश्वर है।

अपनी स्थितिका अपने अधिकार में होना ही मनुष्य का 'ईश्वर-दर्शन' या 'स्वरूपावस्थान' है। जो मनुष्य ईश्वर की पृथक् सत्ताको अस्वीकार कर देता है, वह ईश्वर की विराट् सत्तामें विलीन हो जाता है और पूर्ण मनुष्य हो जाता है। इसीको 'अद्वैतस्थितिका दर्शन होना' कहते हैं।

जानने की इच्छा का समाप्त हो जाना ही 'जानने की परिभाषा' और 'जानने की पहचान' है। जिसे जानने की इच्छा है, वह इंद्रियों के बन्धन में है और अज्ञानी है। क्योंकि जाननेकी इच्छा इंद्रियों का बन्धन है। इंद्रियां अपने स्वरूप से भिन्न पदार्थों को ही जान सकती हैं। आंखसे आंख भिन्न वस्तु देखी जा सकती है, जिह्वा से जिह्वा भिन्न वस्तु चाखी जा सकती है, वाणी अपने से भिन्न को ही प्रकट कर सकती है। परन्तु जिस सत्ताने आंखोंमें दृष्टि, रसना में रस और वाणी में ध्वनि बन कर अपने को प्रकट कर रक्खा है, यदि कोई मनुष्य उस चक्षु, जिह्वा और वाणी से अतीत सत्ता को अपना स्वरूप जान जाय, तो वह उसे इंद्रियों से कैसे जानना चाहेगा? उस समय उसके सम्बन्धमें इंद्रियों की जिज्ञासा अवश्य समाप्त हो जायगी। तब तक 'आत्मा' या 'ईश्वर' को इंद्रियों से जानना चाहा जायेगा, जब तक ईश्वरेच्छाको 'विषयभोगेच्छा' या 'अज्ञान' इन दो नामोंसे कहा जायगा।

ईश्वर चाहने की वस्तु नहीं है। वह तो मनुष्य का स्वरूप है। इस लिए मनुष्य को चाहिए कि वह ईश्वर की चाह के धोकेमें न पडकर स्वयं ईश्वररूप हो जाय।

इस संसारमें दो प्रकार के 'ईश्वर-जिज्ञासु' पाए जाते हैं- (१) एक वे जो अपने भोगों को समाप्त होता देख कर उनके स्थान पर दूसरे भोग पाने के लिए, किसी भोग बांटनेवाले 'ईश्वर' को ढूंढते हैं। (२) दूसरे वे जो भोगों से अपनी अरुचि अनुभव करके इन से श्रेष्ठ आनन्दको ढूंढने लगते हैं।

इन पिछले लोगों की भी दो श्रेणियां हैं—

(१) एक वे जिनकी विषयों की अरुचि स्थायी नहीं है, किन्तु क्षणिक है। इनकी आसक्ति किन्हीं दूसरे विषयों की ओर चली गई है और ये उसके लौटने की प्रतीक्षा कर रहे हैं। (२) दूसरे, वे जिनको बिना किसी कारण के अनासक्त स्थिति का आनन्द प्राप्त हो गया है और भोगासक्ति के प्रति उपेक्षा हो गई है। यद्यपि ये लोग 'ईश्वर-जिज्ञासु' शब्दसे व्यवहृत होते हैं, परन्तु वस्तुतः ये लोग 'ईश्वरदर्शी' हैं। यही कारण है कि जब ये अनासक्त-स्थितिको अपनाने-वाले पिछली श्रेणी के लोग, किसी अनुभवी सन्तसे बात करते हैं, तब उसकी बातों में अपने स्वरूपको कहा जाता हुआ पाते हैं। ये देखते हैं कि, सन्त उनके हृदयसे सलाह ले लेकर बात कह रहा है। इन लोगों की मनोदशा और सन्त की वाणीमें पूर्ण तादात्म्य होता है। ये अपने हृदयमें सन्त की बातों का अनुमोदन पाते रहते हैं। इस श्रेणी के लोगों को देखकर सन्तोंकी वाग्धारा स्तनंधय शिशु के लिए माता के स्तन्यप्रस्रवण के समान उन्मुक्त प्रवाह होकर बहने लगती है। इस श्रेणी के लोगों को पाकर संतों की वाक्संयम नामकी स्थिति को तोड देने का उचित समय आ जाता है। जिस मनुष्य के पास अनासक्त-स्थिति नहीं होती, उसके साथ किया गया वार्तालाप व्यर्थ विवाद बन जाता है। इस लिए सन्त लोग अपनेको पहली श्रेणी के लोगों के साथ बात करने के लिए अधिकारहीन पाते हैं, चुप रहते हैं, या बात को टालते रहते हैं।

जो ईश्वर से पृथक् रह कर ईश्वर को चाहते हैं, वे दूसरे शब्दों में यह घोषित कर रहे हैं कि आज तक उनका काम ईश्वर के बिना चला है, और यदि उन्हें ईश्वर न मिला तो उनका काम आगे भी इसी प्रकार चल सकता है। उन्हें ईश्वर की चाह ही चाह है। उन्हें ईश्वरप्राप्ति की अवस्था में जाने की इच्छा नहीं है। वे ईश्वर से पाने का सम्बन्ध जोडना नहीं चाहते।

इतने पर भी यदि किसी प्रकार से उन्हें ईश्वर मिल जाय और उससे कुछ लाभ उठाया जा सके, तो वे उसे उठा लेना चाहते हैं और यदि उन्हें ईश्वर न मिल सके तो भी वे इसे अपनी हानि समझने को उद्यत नहीं हैं।

ईश्वर से पृथक् रहकर ईश्वर के विषयमें कल्पनाओं का जाल फैलाते रहना मनुष्यबुद्धि का व्यर्थ प्रयास है। जिन मनुष्योंने सच्चे हृदय से ईश्वर को ढूंढा है, उन्होंने उसे अपने ही शुद्ध मनके रूपमें पाया है। शुद्ध मन ही ईश्वर है। इस ईश्वर का दर्शन करना ही 'आस्तिकता' है। इससे भिन्न दूसरे किसी महाकाय ईश्वर का जिज्ञासु बनना 'नास्तिकता' है।

(१३) ईश्वरदर्शन का कारण कोई नहीं है।

मन की शुद्धता का ही दूसरा नाम 'भगवत्कृपा' या 'ईश्वरप्राप्ति' है। मनकी शुद्धता का कोई सांसारिक कारण या उपाय नहीं है। यह स्वयं ही 'उपेय' है और स्वयं 'उपाय' है। शुद्ध रहने की अत्याज्य दृढता ही 'शुद्ध रहने का उपाय' या कारण है। इसीलिये विवेकी लोगों ने इसे 'अहेतुक' रूपमें पाया है। यद्यपि संसार ईश्वरप्राप्ति के अनेक उपाय बताता है, परन्तु वस्तुस्थिति ईश्वरप्राप्ति के सब उपायों को निष्फल कहती है। जब तक मनुष्य ईश्वरप्राप्ति के वास्तविक रूपको नहीं समझता, तब तक ही उसके उपायों की मिथ्या सृष्टि में फंसा रहता है। शुद्ध मनरूपी ईश्वर के दर्शन हो जाने पर मनुष्य को प्रतीत हो जाता है, कि ईश्वरदर्शन का कोई उपाय नहीं है और 'उपायवाद' अनीश्वरदर्शी पुरुषों की मिथ्या कल्पना है और ईश्वरहीन रहने का एक बहाना है। ईश्वर-दर्शन अकारण अवस्था है।

कुछ लोगोंका विश्वास है कि भोगजन्य दुःखों से 'भोग-जिज्ञासा' का जन्म होता है। अर्थात् मनुष्य सांसारिक कष्ट मिलने से परमात्माकी ओर चलता है, और तब उस पर भगवत्कृपा होती है। परन्तु यह विचार अज्ञान से भरा हुआ है। जो मनुष्य भगवत्कृपा को दुःखानुभूति का परिणाम मानते हैं, उन्हें यह सोचना चाहिये कि क्योंकि सारे संसार को भौतिक दुःख मिलते रहने पर भी सबको ईश्वराभिमुख होने की प्रेरणा नहीं मिलती, इसलिये इस कल्पना का आधार 'सत्य' नहीं है। मनुष्य भौतिक दुःखों से तंग आकर ईश्वरकी ओर चला जाता है, यह बात विश्वास करने योग्य नहीं है। दुःखानुभव तो मनुष्य को इंद्रियसुख की ओर आने की प्रेरणा देता है। जिस दुःख से इंद्रियसुखेच्छा उत्पन्न होती है, उसी से ईश्वरदर्शन का जन्म हो, यह कल्पना अस्वाभाविक है। दुःखानुभवसे इंद्रियातीत भगवान् के दर्शन की इच्छा का जन्म होना युक्तिविरुद्ध है।

ईश्वरदर्शन ऐसी वस्तु है, जो सुखमय और दुःखमय दोनों भौतिक भोगोंको अस्वीकार या अपमानित करा देती है। 'भगवत्कृपा' या 'ईश्वरदर्शन' का तथा 'दुःखा-नुभूति' का परस्पर कार्यकारणभाव नहीं है।

भौतिक सुखोंकी चाह ऐसी वस्तु नहीं है, जो भोगते भोगते मिट सकती हो। भौतिक दुःखानुभवके परिणाम के रूपमें त्याग का जन्म नहीं होता। भोगों की चाह त्यागसे अपने कान पकडवाकर और त्यागके धक्के खाकर ही भागती है। भोग अपनी इच्छा से त्याग को बसने के लिये स्थान छोड दे, अर्थात् 'असत्य' स्वेच्छा से सत्य को बसनेका निमन्त्रण दे, यह कभी सम्भव नहीं है। 'त्याग' को 'भोग' का परिणाम मानना समझ की भूल है।

'रत्नाकर' आदि किन्हीं मनुष्यों की व्यक्तिगत कहा-नियों के आधार से, यह सिद्धान्त बनाना ठीक नहीं है, कि मनुष्य के मनमें भोगों का दुःख देखकर, त्याग को अपनाने की या ईश्वराभिमुख होने की भावना उत्पन्न हो सकती है। किन्हीं कहानियों के आधार से 'सत्य' की स्थापना मत करो। प्रत्युत 'सत्य' की कसौटि पर कहानियों को परखो। कहानी 'सत्य' की जन्मदात्री नहीं है। अपनेही अनुभव के आधार से 'सत्य' की स्थापना होनी चाहिये। अनुभव बताता है कि 'ईश्वरदर्शन' अहेतुक अवस्था है। यह भद्र लोगों की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। भला होनाही 'ईश्वरदर्शन' है।

(१४) ईश्वर दर्शन देने में स्वतंत्र नहीं है।

जब कि अनासक्त होना ही ईश्वरदर्शन का स्वरूप निर्णीत हो चुका है, तब दर्शन देना या न देना ईश्वर के

वश की बात नहीं रहती । अनासक्त बनना निश्चय ही मनुष्य के वश में है । अनासक्त होने में ईश्वर की सहायता की कोई आवश्यकता नहीं है । कोई भी स्वाभिमान रखनेवाला मनुष्य अनासक्त होने की बात को ईश्वर के हाथ में नहीं छोड सकता ।

यह बडे आश्चर्य की बात है कि जब मनुष्य अपनी आत्मशक्ति से अनासक्त-स्थिति में स्थित होकर कृतार्थ हो चुका है, फिर भी एक स्वेच्छाचारी अज्ञात ईश्वर, उसे दर्शन देकर कृपा करनेवाला या सर्वथा दर्शन न देनेवाला बनकर घमंडी आसन पर बैठा रहे, वह मनुष्य को अपने दर्शन का प्रतीक्षक बनाये रहे, उसे जीवन भर उसकी स्तुति प्रार्थना उपासना करनी पडे और उसकी चाटुकारिता ' ईश्वर-भक्ति ' कहलाये ।

भारत का वर्तमान ' ईश्वरविश्वास ' नपुंसकता है । कोई भी विदेशी बाहर से आकर भारतवासियों को पद-दलित करने में समर्थ हो जाता है। भारतवासी अपमानित जीवन बिताने पर भी अपने ईश्वर-विश्वास को खंडित हुआ नहीं समझता। भारत का ईश्वरविश्वास विदेशी लुटेरों के आक्रमण को भी ' ईश्वर की करनी ' और ' कोप ' मानता है और ईश्वर को दण्डदाता मानकर रोता है ।

संसार में कुछ ऐसे ईश्वरभक्त नामधारी हैं, जो अनासक्त होने में भी ईश्वर के अधीन रहना चाहता है। जो मनुष्य अपनी शक्ति से अनासक्त होकर शक्तिसम्पन्न हो जाते हैं, वे ऐसी नपुंसकोचित ईश्वरभक्ति के भ्रम में कभी नहीं पडते । सच्चे भक्त ही सच्ची ईश्वर-भक्ति करने में समर्थ होते हैं । जो विषयासक्ति के मिठास के बन्धन से बंधा हुआ मनुष्य अपने को अनासक्त होने में असमर्थ मानकर, विषयभोगरत होता है और अपने को अनासक्त बनाने का कर्तव्य भी ईश्वर के ही हाथों में सोंप देता है, वह अनासक्ति का झूठा उम्मेदवार भक्त बन कर ईश्वरभक्ति के नामपर आत्मवंचना करता है ।

आस्तिक मनुष्य कभी परमुखापेक्षी, भविष्य के लिए अनिश्चित आशा करनेवाला, दीन या निर्बल नहीं होता। आस्तिक का ईश्वर आनन्दमय, पूर्णकाम और शूरवीर का अनुचारी होता है । ईश्वर का दुखियों, मंगतों और चाटुकारों से कोई सम्बन्ध नहीं है। दुखियापन और मंगतापन ' नास्तिकता ' है ।

आस्तिक का ईश्वर उसे दर्शन देने या न देने में स्वतंत्र नहीं होता । आस्तिक लोग ऐसे यथेच्छाचारी ईश्वर से अपना सम्बन्ध नहीं रखते, जो उन्हें दर्शन देने की आशा में जीवन भर रुलाता हो और कभी दर्शन देता हो और कभी न देता हो । आस्तिक अपने आप अपनी शक्ति से ईश्वर को आठों पहर अपने ज्ञाननेत्रों के सामने उपस्थिति रखने में समर्थ होता है। ईश्वर ही आस्तिकों के वश में रहता है । आस्तिक ईश्वर के वश में नहीं रहते ।

आस्तिक लोगों की अद्वैतनिष्ठा सर्वशक्तिमती बनकर ईश्वर से आस्तिक वांच्छा पूरी करने की लीला कराती है। आस्तिकों के कर्तापन से ईश्वर-लीला होती है । आस्तिकों के लिये ही ईश्वर है। नास्तिकों के लिये ईश्वर नाम की वस्तु नहीं है ।

अंडवृद्धिपर शीर्षासनकी सफलता।

[आयुर्वेदमनीषी वैद्यराज पं० देवकरणजी बाजपेई, वैद्यशास्त्री, कानपूर]

अंडकोषवृद्धि का निदानादि विशेष विषय न लिख कर साधारणरूप से कुछ ज्ञान करा कर हम अपना निजी अनुभव हमारे प्रिय पाठकों के सम्मुख रखते हैं, और आशा भी करते हैं, कि ऐसे कठिन अवसर पर यह लेख आप लोगों को अवश्य सहायक होगा।

कारण—अंडकोष बढने के कई कारण हैं। साधारणतः अंडकोष बालक के जन्म-समय पेडू में चढ़े रहते हैं। और पीछे से नीचे "कोष" में उतरते हैं। उतरने का मार्ग (छिद्र) सिकुड जाता है, पर कभी कभी उसके कुछ चौडे रह जाने से उस मार्ग द्वारा आंत अण्डकोष में उतर आती है, और अण्डकोष बढ जाता है। उस अण्डवृद्धि के लिये, सेंक, लेप, पुल्टिस आदि उपचार न करें। कुशल वैद्य हाथ का सहारा देकर आंत ऊपर चढा दे। और फिर कुछ समय तक लंगोट या अंत्रवृद्धिहर पेटी पहिनाये रक्खे। पेटी नाप के अनुसार मंगा लेनी चाहिये। इस आंत उतरने की दशा में भी "शीर्षासन" का प्रयोग अत्यन्त ही लाभकारी मेरे यहां सिद्ध हुआ है।

कभी कभी उपदंश सुजाक आदिके विषविकार या अन्य आघात से अण्डकोषोंमें जल या रक्त भर जाता है। अथवा अंड ही सूज कर बढ जाते हैं। ऐसी दशा में अंडवृद्धि-हर औषधों का सेवन, लेप आदि करने चाहिये। रोग बढने पर बहुत ही कुशल एवं अनुभवी डाक्टर या वैद्य से आपरेशन भी कराया जा सकता है। दोनों दशायें कठिन और खतरनाक हैं। पर शीर्षासन से प्रत्येक दशा में आशातीत लाभ होता है। ऐसी ही भयानक दशा में शीर्षासन का अनुभव पाठकों के सम्मुख रखते हैं।

एक रोगी फरवरी सन १९३३ में अस्पताल में अण्डवृद्धि का आपरेशन कराने को भर्ती हुआ। वे महाशय मेरे मित्रों में थे, मगर इन की रुचि आपरेशन की ओर अधिक देख कर मैंने भी अनुमति दे दी, क्योंकि उस समयके अस्पताल के वर्तमान डा० साहब भी एक योग्य और प्रतिष्ठित व्यक्ति थे। अण्डकोष करीब १४-१५ वर्ष से बढा हुआ था। जिस में एक अण्डकोष तो बिलकुल ही नाकाम हो गया था। आपरेशन करवा दिया, उस में पानी न निकल कर करीब ६ या ७ पौंड काला रक्त निकला। यह हालात देख कर डा० साहब ने अफसोश जाहिर करते हुए यह कहा कि "यदि ऐसा मुझे प्रथम ज्ञात हो जाता तो भूल कर भी आपरेशन न करता।"

फिर क्या था, मरहम पट्टी वगैरेह २-२ और ३-३ बार डा० साहब अपने हाथों से ही करते रहे। ऐसी हालत में ज्वर, पाखाना, पेशाबबन्दी आदिके जैसे जैसे प्रकोप रोगी पर हुए उस का हाल वे ही विचारे जानते हैं, यानी देखने और सुननेवाले भी परेशान थे। खैर, एक महीना भर तक यह सब शिकायतें रहीं, बादको शिकायतें रफा हो गईं। मगर रोगी के जख्म के अन्दर से नित्य प्रति २-३ औंस पीव बराबर निकलता रहा, और दाहिनी ओर जंघा की सन्धि में एक अण्डधारी नस-सी ऐसी चढ गई, जिस का दर्द हर समय बना रहता था। मगर बाहर से जख्म के सडने आदि का कुछ भी पता न चला। डा० साहब भी हैरान हो गये। आखिर को दूसरे मास में उस के नीचे एक आपरेशन और किया गया, मगर उस से भी कुछ नतीजा न निकला, पीव और अण्डधारीवाला दर्द बराबर बना रहा।

ऊपर के आपरेशन में टांका देकर घाव प्रायः बन्द कर दिया गया, कुछ इस लिये खुला रक्खा गया, कि पीव बराबर निकलता जाय।

रोगी को एक बार डा० साहब बडे अस्पताल में भी ले गये, और डाक्टरों से राय लेकर फिर लौट आये। इसी तरह बराबर ३ महीने पूर्ण चिकित्सा होती रही। मगर अण्डधारीवाला दर्द और पीव न बन्द हुआ, अब भी पीव करीब करीब एक औंस रोज निकलता था।

आखिर को ता० १२-५-३३ को वे सम्पूर्ण सहारे त्याग

मेरे पास आये। मैंने स्पष्ट कह दिया कि मैं पूर्ण आश्वासन नहीं देता। धन्वन्तरी भगवान् का आसरा लगा कर कुछ प्रयत्न अवश्य करता हूँ—आगे आप का भाग्य!

उस के एक सप्ताह पूर्व मेरे पास धन्वन्तरी का १० वां अंक आया था, इसमें "आरोग्य-दर्पण" सम्पादक (वैद्य गोपीनाथ गुप्त) ने शीर्षासन पर अपना तथा डाक्टर गुट्टूलालजी का अनुभव प्रकाशित कराया था।

उस शीर्षासन का प्रयोग मैंने उन्हें कई बार समझा कर फिर अपने सामने २-३ बार कराया और साथ में खाने को "अंडवृद्धिनाशक वटी" भी दी। यह क्रिया दोनों प्रहर करते रहे। प्रथम उन्हें तीसरे ही दिन ज्वर का सामना करना पडा, पर उन्होंने क्रिया बन्द न की। ज्वर इस गलती से आ गया था, कि मैंने उन से प्रथम ५ मिनट तक ही खडे रहने को कहा था, पर वे दूसरे दिन से आध घन्टे तक खडे होने लगे, क्योंकि यह जवानी अवस्था की इन्हें बिच्छू चाल आदि खूब मश्क थी, इससे इन्हें शीर्षासन में विशेष अभ्यास नहीं करना पडा था। जब हमें पता चला, तो उन्हें फिर समझा कर ५ मिनट तक ही कराने लगे।

प्रथम सप्ताह में ही--उनका अण्डकोष घटकर आधा रह गया, और सप्ताह में दो बार ही पीव निकला मगर अंडधारीवाला दर्द कम नहीं हुआ।

दूसरे सप्ताह में— बार बार दबाने पर भी पीव का कहीं पता न चला और दोनों घाव भर कर पूरे हो गये, कि दूर से कोई नहीं कह सकता था, कि ओपरेशन कहां हुआ है। अंडकोष का वजन घट कर एक चौथाई रहा। जो कि ओपरेशन के बाद, जैसा पहिले था वैसा ही फिर भारी हो गया था, किन्तु दर्द कम न हुआ।

तीसरे सप्ताह में—अण्डधारी का दर्द आधा रह गया, वही शीर्षासन की क्रिया और दवा चालू रही।

चौथा सप्ताह में-उनका वहभी दर्द बिल्कुल ऐसा रफा हो गया, कि मानों इनको यह रोग कभी हुआ ही न था और अंडकोषों की हालत साधारण मनुष्यों की सी हो गई। इसके बाद एक साल वे शीर्षासन का प्रयोग बराबर करते रहे, फिर बन्द कर दिया। अब उनके अंडकोष ही क्या सारी तन्दुरुस्ती इतनी अच्छी हो गई, कि जिसका कहना ही क्या?

आशा है कि हमारे पाठक इससे अवश्य लाभ उठावेंगे, तथा जो बात समझ में न आये, वह -) का टिकट भेजकर पूछ सकते हैं।

अण्डवृद्धिहर वटी— इसका प्रयोग इस प्रकार है (वह योग मेरा पेटेन्ट था, किंतु सम्पादक, आरोग्य-दर्पण के विशेष आग्रह से प्रकाशित कर दिया गया है। आशा है, कि आप लोग भी इससे अच्छा लाभ उठायेंगे।)

शुद्ध पारद १ तोला, शुद्ध गंधक आंवलासार १ तोला, स्वर्णमाक्षिक भस्म २ तोला, मोचरस २ तोला। प्रथम पारद गंधक की २४ घण्टे खूब घुटाई करके कज्जली तैयार करें फिर मोचरस का चूर्ण मिलाकर १ दिन खूब घोटें तत्पश्चात् स्वर्णमाक्षिक भस्म मिला एक दिन की फिर अच्छी तरह घुटाई करें। और फिर मोचरस के क्वाथ की ७ भावनायें दे, हर भावना में खूब घुटाई करनी चाहिये। अन्त में झरबेर सम गोलियाँ बना, छाया में सुखा कर रख लें।

मात्रा—५ या ७ वटी। समय प्रातः सायं, अनुपान-ताजा जल। **गुण**—यह औषधि अण्डवृद्धि की सम्पूर्ण शिकायतों को दूर करने में रामबाण है।

शीर्षासन की साधारण विधि—

किसी दीवार के नजदीक एक मुलायम गद्दी बिछावे। दोनों हाथों की अंगुलियों को एक दूसरे में फसाले और दीवार की तरफ को मुंह करके हाथों को गद्दी पर रक्खे। सरको दोनों हथेलियोंके बीच में रख कर पैरोंको ऊपर उठा कर पंजे दीवार से लगा लें और पैर बिल्कुल सीधे कर दे। शुरु में पैरों को ऊपर उठाने के लिये किसी दूसरे व्यक्ति की सहायता ले सकते हैं।

अभ्यास हो जाने पर सहायता की आवश्यकता नहीं पडती, और न दीवार का सहारा लेने की ही जरूरत पडती है। पहिले दिन १ मिनट खडा रहना काफी है, और फिर रोजाना १—१ मिनट पर बढाते हुये आध घण्टे तक खडे रहने का अभ्यास कर लेना चाहिये।

शीर्षासन के प्रथम और बाद में ३—३ प्राणायाम अच्छी तरह से अवश्य कर लेवे।

('राकेश' से)

विन्ध्याचल की कथा।

(१)

[धर्मवीर स्व० विष्णु रघुनाथ करंदीकर, बी० ए०]

[हिमाचलसे स्पर्धा करते हुए विंध्याचल बढ गया था और उसने सूर्य के रथ को रोका था, इत्यादि कथा बहुत प्रसिद्ध है। इस तरह की कथाओं के मूल में कुछ ऐतिहासिक भाग और कुछ गूढ तत्त्व हुआ करते हैं। निम्न लेख से इस बात का पता चलता है कि **विन्ध्याचल की कथा से पृथ्वी के विषुववृत्त से होनेवाले कोण में फरक पडता है, ऐसा बताया गया है। वह कोण २३ अंश से लेकर ३० अंश तक कमज्यादा होता रहता है। इस कथा के साथ साथ सूर्य और सरेण्यू अथवा सूर्य और संज्ञा की कथाओं का भी विचार करने से उक्त प्रतिपादन को और भी जोर मिलता है।** आजतक लोगों की धारणा ऐसी थी कि पुराण केवल ऐतिहासिक हैं और इसीलिये उनकी कथाओं पर दुर्लक्ष किया गया। इस प्रकार हजारों वर्षों से उपलब्ध ये कथाएं कोने में पडी रहीं। **विंध्याचल की कथासे जो प्रमेय निकलते हैं, उनसे भूगर्भशास्त्रकी बहुतसी बातें सिद्ध हो सकती हैं,** ऐसा हमें विश्वास है। उन कथाओं की योग्य संगति लगानेके लिये अनेक विद्वान् लोगों के सहाय्य की जरूरत है। इस कथा में यह तो मालूम होता है कि विषुववृत्त का कोण बदलता है; परन्तु उसको बदलने के लिये कितना काल लगता है, यह जानने के लिये उच्च दर्जे के गणितज्ञ की जरूरत है। **यदि गणित करके काल निश्चित हो सका, तो पुराण के अनेक कथाभागों का काल ठीक ठीक निश्चित कर सकेंगे** और ज्योतिषशास्त्रके ज्ञानमें वृद्धि हो सकेगी। इस तरह का कार्य सबका सहयोग प्राप्त होनेपर ही हो सकता है। आशा है कि वैदिक धर्म के पाठक इसमें मनःपूर्वक सहाय्य करेंगे।]

मानी विन्ध्याचल।

हिमाचल से मत्सर उत्पन्न होने के कारण विंध्याचल उससे बराबरी करने लगा; इस कथा से प्रायः छोटेसे लेकर बडेतक सभी जानते हैं। सूर्य हिमाचल के आसपास, विशेषतः हिमाचल का मुख्य भाग जो मेरु पर्वत है, उस के आसपास प्रदक्षिणा करता है. यह देखकर विंध्याचल ने दिलमें सोचा, कि इसी तरह सूर्य मेरे आसपास भी प्रदक्षिणा करें और वैसा उसने सूर्यसे कहा। परन्तु सूर्यने जवाब दिया कि "मेरी गति मेरे स्वाधीन नहीं है। जिसने चराचर सृष्टि उत्पन्न करके जो नियम बनाये हैं, उन्हीं के अनुसार मुझे चलना पडता है और इसलिये तुम्हारी इच्छा के अनुसार मैं तुम्हारे आसपास प्रदक्षिणा कर नहीं सकता।" यह सुनकर विंध्याचल को बडा क्रोध आया और वह ऊंचा बढने लगा। वह यहां तक बढा, कि उससे सूर्य का रथ रुक गया। यह परिस्थिति देखकर देव, ऋषि, गंधर्व इत्यादियों को चिंता हुई और इस संकट से जगत् का निवारण करने के हेतु से वे सब अगस्त्य ऋषि के पास गये। पहिले तो अगस्त्य ऋषिने यह कहते हुए आनाकानी की कि काशीवास छोडना मन के विरुद्ध है; परन्तु अंत में देवों और ऋषियों के शब्दों को मान देकर काशीवास छोडना मंजूर किया और दक्षिण में जानेको तैयार हो गये।

अगस्त्य ऋषि।

दक्षिण में जाने के लिये विन्ध्याचल का लांघना आवश्यक था। अगस्त्य ऋषि जब विन्ध्याचल के समीप आये, तब उनके तपःसामर्थ्य से डरके विंध्याचल ने अपना मस्तक नीचे नमाया और महर्षि को साष्टांग प्रणाम किया। अगस्त्य ऋषिने उसके मस्तकपर हाथ रखकर आशीर्वाद दिया और यह आज्ञा दी कि 'जबतक मैं दक्षिणसे लौट न आऊं तबतक तुम ऐसे ही पडे रहो।' दक्षिण में पहुंचकर वहीं उन्होंने मुकाम किया और आजतक वे उत्तरमें वापिस नहीं लौटे। उनकी आज्ञानुसार विंध्याचल अब वैसा ही नम्र होकर पडा हुआ है।

यह महत्कार्य करने के पहिले अगस्त्य ऋषिने समुद्रमें वास करनेवाले कालकेय राक्षसों का नाश करनेके लिये समुद्र का पान किया और कालकेयोंके नगरपर चढाई करने के लिये देवोंको भूमार्ग तैयार कर दिया। समुद्रपान तथा विंध्याचल को नम्र करना, इन दो महत्कार्यों से संतुष्ट होकर देवों ने अगस्त्य ऋषि से कहा कि "आपको जो प्रिय है सो कहें, हम वहीं करेंगे।" अगस्त्य ऋषि बोले "दक्षिण गोलार्ध में अपने तेज से चमकनेवाले इस तारे को (जो कि आंग्ल ज्योतिषशास्त्र में कॅनॉपस् Canopus नाम से प्रसिद्ध है) हमारा नाम दिया जावे और इस तरह हमारा नाम अजरामर किया जावे।" उस दिनसे यह तारा अगस्त्य के नाम से सुप्रसिद्ध है।

अश्रद्धाका कारण।

अगस्त्य ऋषि और विंध्याचल की यह कथा इस प्रकार से वर्णित है और आजतक वह आबालवृद्धों के मन में आश्चर्य उत्पन्न कर रही है। कोई एक पहाड बढ जाय और सूर्य का मार्ग रोक देवे, यह बात तो आश्चर्यकारक तो है ही, परन्तु साधारण दृष्टि से वह बिलकुल असंभव ही लगती है। मुख्यतः इसी कारण से श्रोताओं के दिल में भी वह अचंभा उत्पन्न करके गोंद सी चिपकी रहती है। हिंदू लोगों के अंतकरण में चुभनेवाली यह कथा परकीयों के अंतःकरण में अश्रद्धा उत्पन्न करती है। हिंदू लोगों का ऐसी कथाओंपर विश्वास देखकर परकीयों को लगता है कि हिंदुओं की बुद्धि बालिश है और जिन पुराणों में इस तरह की कथाएं मिलती हैं वे पुराण भी अश्रद्धेय हैं। पाश्चात्य पद्धति से सुशिक्षित हमारे लोग भी इसी विचारसरणी का अवलंबन करते हैं और परकीयों के सदृश ही पुराणविषयक बातों के संबंध में अश्रद्धा रखते हैं।

यह निर्विवाद है कि पृथ्वी पर का पहाड चाहे कितना भी ऊंचा हो, कितना भी बढ जाय, तो भी वह सूर्य के मार्ग में रुकावट नहीं डाल सकता। यदाकदाचित् उससे सूर्य का मार्ग रुक भी जाय, तो भी जिसके सामर्थ्यसे सूर्य तक पराजित हुआ था, वह किसी एक मानव के सामर्थ्य से डर जाय, यह तो बिलकुल संभव नहीं। इस तरह केवल बाह्य विचार करनेवाले को यह बात सर्वथा अग्राह्य तथा तर्कशुद्ध विचारसरणी से त्याज्य मालूम होती है।

मानवजाति का इतिहास।

आज हजारों वर्षोंसे बहुत जतनसे जो पुराण सुरक्षित रखे गए हैं, क्या वे सर्वथैव त्याज्य हैं? पुराणकर्ता ऋषि कहते हैं कि **मानवजाति का पूरा इतिहास उसमें है। सृष्टि के आरंभसे लेकर आजतकके सब कालों का वर्णन उसमें है। भूगर्भशास्त्र, ज्योतिःशास्त्र, मानवसमाजशास्त्र इत्यादि सब बातें पुराणों में भरी हुई हैं।** सकृद्दर्शन में उनमें असंभाव्य बातें दीख पडती हों, तो उससे विचारी मनुष्य के दिलमें यह भावना जरूर उत्पन्न होगी, कि सारे प्राचीन ग्रन्थों को आमूलाग्र त्याज्य समझना चाहिये। परन्तु फिर एकबार विचार करके देखेंगे तो ऐसा प्रतीत होगा, कि इनमें भी कुछ सत्य का भाग है सही। इनकी खोज करना केवल इष्ट ही नहीं, प्रत्युत सर्वथा आवश्यक है। बाह्यतः एकही स्वरूप की दीखनेवाली इन बातों का यदि दूसरी किसी अकल्पित दृष्टि से इनकी संगति लगाई जाय, तो क्या इनसे और किसी तरह का शास्त्रीय ज्ञान उपलब्ध हो सकता है, या नहीं? इस बातका विचारपूर्वक पता करनेका प्रयत्न होना चाहिये।

महाभारत के आरम्भ में भगवान् वेदव्यासने जिस भाषा में ग्रन्थ लिखा है, उस ब्राह्मी भाषा का वर्णन करते हुए ऐसा कहा है—

संस्कारोपगतां ब्राह्मीं नानाशास्त्रोपबृंहताम्।

अर्थात् भिन्न भिन्न रीतिसे इस ब्राह्मी भाषाका अध्ययन किया जाय, तो भिन्न भिन्न शास्त्रों का उपबृंहण (विस्तार) अवगत होता है। इस रीतिसे हम यह विचार करें, कि अगस्त्य और विन्ध्याचल की कथा के मूल में क्या कोई तत्त्व निगडित है?

विन्ध्यकथा का पृथक्करण।

इस कथा का इस तरह पृथक्करण हो सकता है। प्रथम इसके दो विभाग होते हैं—

(१) विंध्याचल का बढना,

(२) अगस्त्य ऋषि का विन्ध्याचल को लांघकर दक्षिण में जाना।

इनमें से प्रथम विभागपर पहिले विचार करें।

विंध्याचलने ऊंचा होकर सूर्य के रथ को रोका, यह मुख्य मुद्दा है; सूर्य के रथ को रोकना, यही प्रमुख विचार है। इस रुकावटसे जो कार्य होनेवाला है, उसका निदर्शन करना ही इस कथा का मुख्य हेतु है। इतना स्पष्ट है कि मार्ग रुकने से सूर्य की गति का निरोध हुआ। सूर्य की दैनंदिन गति रोज दिखती है; इसलिये सूर्य की गति का निरोध हुआ, ऐसा कहतेही स्वाभाविक ऐसा मालूम होगा, कि जिस गति का निरोध हुआ, वह यही (दैनंदिन) गति होनी चाहिये। यह गति कभी बंद नहीं होती; इसलिये जिस कथामें गति-निरोध बतलाया है, वह आश्चर्यकारक कथा अपने असंभवता के कारण स्मृतिपटल में चिपक जाती है। परन्तु यह भी विचार अयोग्य न होगा, कि **कथा यदि असंभव न हो, तो उसके अंतर्भूत कुछ गूढ तत्व होना चाहिये और इसी गरज से यह कथा सब पुराणों में ग्रथित की गई होगी।**

विचार करनेपर दो बातें रह जाती हैं- (१) **पूर्वपश्चिम ऐसी दैनंदिन गति के अतिरिक्त क्या सूर्यकी और भी कोई गति है? (२) अगर है, तो क्या उस गति की रुकावट होना संभव है?** ऐसी स्थिति होनेपर भी यह बात जो असम्भव मालूम होती है, वह संभव ठहर जाय तो विंध्याचल की इस कथा का सच्चा महत्व हमारे ध्यानमें आजायगा।

सूर्य का मार्ग रुकने का क्या मतलब है?

सब लोगों को विदित है, कि दक्षिणायन में सूर्य दक्षिण की ओर जाता है, और उत्तरायण में उत्तर की ओर जाता है और इस कारण दिन छोटे बडे होते हैं। इस बात का मतलब इतनाही है, कि सूर्य की जैसी पूर्वपश्चिम दैनंदिन गति है, उसी तरह उसकी दक्षिणोत्तर दूसरी भी एक गति है। आजकल सूर्य भूमध्य-रेखाके ऊपर २३ अंश २७ कला तक उत्तरायण में उत्तर को जाता है और कर्क-संक्रांति में फिरसे नीचे आने लगता है। लगभग चार सौ वर्ष पहिले वह २३॥ अंशतक जाता था। **अमुक एक स्थानने सूर्य का मार्ग रोक दिया इसका यही अर्थ है, कि उस स्थान के आगे सूर्य जा न सका।**

विंध्याचल का मुख्य भाग अमरकंटक है। **अमरकंटक भूमध्यरेखा के ऊपर ठीक २३ अंशपर है।** अर्थात् किसी समय अमरकंटकके आगे, अथवा २३ अंशसे अधिक उत्तर को सूर्य न जा सका। इसी बातका इस तरह प्रतिपादन हो सकता है, कि '**अमरकंटकने अर्थात् विंध्याचलने सूर्य का मार्ग रोक दिया।**' चार सौ वर्ष पहिले पृथ्वी का विषुववृत्त से २३॥ अंश का कोण होता था, अर्थात् सूर्य भूमध्यरेखा के ऊपर उत्तरायण में २३॥ अंश जा सकता था। यह कोण अब २३ अंश २७ कला हुआ है; अर्थात् चारसौ वर्ष में तीन कला कम हुआ। इसी तरह यह कोण कम होता जाय, तो वह कदाचित् पूरे २३ अंश ही रह जायगा और पुराणों में लिखे अनुसार विंध्याचल सूर्य को फिरसे रोक सकेगा। आधुनिक ज्योतिषशास्त्रज्ञ इतना कबूल करते हैं, कि इस तरह पृथ्वी के विषुववृत्त से होनेवाले कोण में फरक होता जाता है। परन्तु कितना होता है, यह बतलानेके लिये वेध लेकर अनुभव करनेलायक सबूत नहीं मिला; इसलिये शास्त्रीय दृष्ट्या सुसंगत रीतिसे प्रतिपादन करना कठिन है।

प्राचीन कालमें प्रत्यक्ष देखकर जो ये बातें लिखी अथवा कथाभाग में ग्रथित हैं, वे यदि प्रमाण के लिये विचारार्ह ठहरें, तो ज्योतिषशास्त्र के विकास में निःसन्देह उनसे अत्यन्त लाभ होगा।

इस तरह पृथ्वी के विषुववृत्तसे होनेवाले कोण में यदि फरक होता है, और होता है तो कहांतक होता है, इत्यादि बातोंपर प्रकाश डालनेवाली अन्य कथाएं यदि पुराणों में मिल सकें, तो विंध्याचल की इस कथा का उपर्युक्त रीति से रूपांतर करना शास्त्रशुद्ध होगा। ऐसी कथाएं न केवल पुराणों में किंतु वैदिक वाङ्मय में भी मिलती हैं और इस कथा से उनका समन्वय कर सकते हैं। निम्न विवेचन से उक्त बात ध्यान में आजायगी।

त्वष्टा और सरेण्यू।

ऋग्वेद में ऐसी कथा है कि त्वष्टा नामक अमर (देव) की लडकी सरेण्यू विवस्वतको ब्याही थी। यह विवस्वत चाक्षुष मुनिके कुल में उत्पन्न हुआ था। सरेण्यू नाम सूर्य-वाचक है और कथाभाग में कहा है, कि यह सूर्य को दी गई। पुराण में सरेण्यू का नाम संज्ञा है। इसका विवाह होने

पर तीन अपत्य हुए। बादमें अपने पतिके तेज से वह डर गई और उसने अपनी प्रतिकृति छाया बनाकर उसको सूर्य के पास रखा और वह अपने बाप के पास चली गई। कालांतर से यह बात सूर्य के ध्यान में आई और उसने त्वष्टा के पास जाकर अपनी पत्नी को तलाश किया।

त्वष्टाने बतलाया, कि संज्ञा (सरेण्यू) घोडी का रूप धारण करके उत्तरकुरुमें रहती है और उससे मिलना हो तो सूर्य को अपने तेज कम करके घोडे का स्वरूप धारण करके वहां जाना चाहिये। यह बात सूर्यने मंजूर की। त्वष्टाने उसको चक्रपर चढाया और उसका तेज घिसकर कम कर दिया। तब घोडे का रूप लेकर सूर्यने उत्तरकुरुमें जाकर अपनी पत्नीसे भेट की। दोनोंने एक दूसरे को सूंघा और उनसे अश्विनीकुमारों की उत्पत्ति हुई। वायुपुराणमें यही कथा है, परन्तु उत्तरकुरु के बदले वह कुरुदेशमें गई, ऐसा कहा है। मत्स्यपुराणमें कहा है, कि वह मरुदेश में गई। अश्विनीकुमारों की उत्पत्ति की कथा सर्वत्र है।

उत्तरकुरु प्रदेश मानस सरोवर के दक्षिणमें अर्थात् भूमध्यरेखा के ऊपर ३१ वें अंश से शुरू होता है। कुरु-देश अथवा कुरुक्षेत्र भूमध्यरेखाके ऊपर २८-२९ अंशपर है और मरुदेश २६-२७ अंशपर आता है।

संयमन नगरी।

महाभारत के वनपर्व में वर्णन है, कि युधिष्ठिर जब हिमालयपर अष्टिषेण ऋषि के आश्रम में रहते थे, तब धौम्य महामुनिने वहां की ऊंची पर्वतराजि से उन्हें मंदार पर्वत के उपनिवेशों का हाल बतलाया था। उसमें कहा है, कि मन्दार पर्वत के दक्षिण भाग में विवस्वान् के पुत्र -यम-की संयमन नामक नगरी है।

यं प्राप्य सविता राजन् सत्येन प्रतितिष्ठति।
अस्तं पर्वतराजानं एनमाहुर्मनीषिणः॥
(महाभारत वनपर्व)

यह श्लोक हमारे उक्त कथाभाग की दृष्टि से अत्यंत महत्त्व का है। इसमें स्पष्ट कहा है, कि संयमन नगरीतक सूर्य आता है। यह नगरी मंदारपर्वतके दक्षिण भाग में परन्तु पर्वत के भूभागपरही है। मंदार पर्वत की दक्षिण-तम सीमा तुंगनाथ है। इस तुंगनाथपर अथवा तुंगनाथ के नीचे संयमन नगरी होनी चाहिये। यह स्थान भूमध्य रेखा के ३१ वें अंश के आरम्भ में आता है। अर्थात् उत्तरायण में सूर्य ३१ अंश के प्रारम्भतक जाता था। **'सत्येन प्रतितिष्ठति'** यह वाक्य बहुत महत्वपूर्ण है। 'प्रतितिष्ठति' के मायने वहां मुंह करके खडा रहता है और 'सत्येन' के मायने उस स्थान के आगे वह नहीं जाता, वहीं ठहरता है। इससे यह सिद्ध होता है, कि संयमन नगरी सूर्य की उत्तरीय गति की अंतिम मर्यादा है।

अस्तपर्वत के मायने मेरुपर्वत। यह बद्रिकेदार और बद्रिनारायण के पीछे उत्तरदिशा में है। इसीको कुछ पुराणों में मर्यादापर्वत कहा है। जब यह मालूम हुआ, कि इस पर्वत के आगे सूर्य उत्तर में नहीं जाता, तभी मेरुपर्वत को मर्यादा-पर्वत का नामाभिधान प्राप्त हुआ होगा। **'एनमाहुर्मनीषिणः'** ऐसा कहकर धौम्य ऋषिने पुराने विद्वान् लोगों का निर्णय बतलाया है; इसका यही कारण है, कि युधिष्ठिर के काल में सूर्य उस स्थानतक नहीं जाता था, परंतु उसके पहिले किसी अनिर्दिष्ट काल में वहांतक जाता था, यह बात परंपरा से मालूम होनेके कारण धौम्य ऋषिने इस तरह युधिष्ठिर को बतलाया और प्रत्यक्ष प्रत्यन्तर न होने से पुराने विद्वान् लोगों का आधार बतलाया।

इसी अध्याय में कहा है, कि सूर्य मर्यादापर्वततक आने के बाद पर्वत को प्रदक्षिणा करता है और **'दक्षिणायां दिशि परिवर्तते'** अर्थात् दक्षिण दिशा को जाता है और इससे उत्तरीय देशोंमें शीतकाल उत्पन्न करता है। इस में संदेह नहीं कि यह कथा कर्कसंक्रमण की है और इस संक्रमणकालमें सूर्य भूमध्यरेखाके ऊपर ३१ अंशतक जाता था, ऐसा स्पष्ट रीति से वर्णन किया गया है।

अश्विनीकुमार।

अब इस बात का स्पष्टीकरण होना बाकी रहा, कि इन कथाभागों में अश्विनीकुमारों की उत्पत्ति का वर्णन किस लिये किया गया। इतना स्पष्टीकरण होनेपर यह कह सकेंगे कि ज्योतिषशास्त्र की दृष्टि से इस कथाभाग की रचना तर्कशुद्ध रीतिसे युक्त हुई। अश्विनीकुमारों के नाम नासत्य और दस्र हैं। ये दो नाम उन दो तारकोंको दिये गए हैं, जो सांप्रत कॅस्टर (Castor) और पॉलक्स (Pollux)

के नामों से पहचाने जाते हैं। ये दोनों तारे कर्कराशि के विभाग में देखने मिलते हैं; अर्थात् इन बातों का संबंध कर्कसंक्रमण से हुआ और यह कहना पडता है, ये सब कथाएं कर्कवृत्त के संबंध में ही हैं।

आजकल के ज्योतिर्विदों को उपर्युक्त बातें मालूम नहीं हैं। उनके दिलोंमें यह शंका भी न आई होगी, कि पुरातन काल में प्रत्यक्ष देखी हुई बातों का स्मरण पुराण-सरीखे ग्रन्थों में निर्दिष्ट किया हुआ होगा। इसी कारण पुराणों में ग्रथित बातों की ओर आजतक दुर्लक्ष्य हुआ। परन्तु ऊपर कहे अनुसार भिन्न भिन्न कथाभागों को एकत्र करें, तो उन में से कुछ महत्वके प्रमेय निकल सकेंगे और ऐसे प्रमेयोंसे ज्योतिर्विद् नयी रीतिसे संशोधन कर सकेंगे। ज्योतिःशास्त्र को जो आधुनिक पद्धति का शास्त्रीय स्वरूप प्राप्त हुआ है, वह अभी अभी का है। उस के बाद वेध लेकर टांचन रखनेके लिए अवसर नहीं मिला। ऐसे टांचन (Record) के अभाव में ज्योतिर्विदों के सामने वह सबूत नहीं है, जिसकी उन्हें ज़रूरत है। पुराणों की उपर्युक्त कथाएं हमारे आगे ऐसे विचार रखती हैं, जो ज्योतिःशास्त्र के लिए बहुत उपयोगी हैं। इन कथाओं से पृथ्वीपर की बहुतसी घटनाओं की शास्त्रीय उपपत्ति लग सकती है और उनका विवरण शास्त्रशुद्ध तथा तर्कशुद्ध दृष्टि से किया जा सकता है। अब यह देखें, कि इन कथाओं से जो प्रमेय निकलते हैं उन से, विरुद्ध प्रमाण के अभाव में कौन कौनसी बातें सिद्ध हो सकती हैं। बाद में यह भी विचार कर सकेंगे, कि उनके द्वारा गणित की सहायता से इन कथाओं के कालमान के संबंध में क्या कोई अनुमान निकल सकेंगे?

वनपर्व की उपर्युक्त कथा से यह स्पष्ट होता है, कि उत्तरायण में सूर्य किसी समय 'सत्येन' अर्थात् अंतिम प्रदेश तक तुंगनाथ के दक्षिण भाग में स्थित यमधर्म की संयमन नामक नगरीतक- ३१ अंश के प्रारंभतक जाता था। इसी तरह इस के किसी पिछले काल में वह विंध्य पर्वत के अमरकंटक शिखरतक अर्थात् २३ अंश के आरंभही तक जाकर सूर्य वापिस होता था; यह बात ग्राह्य दिखती है। इससे यह प्रमेय बांधने में कोई बाधा नहीं है, कि सूर्य २३ अंश के आरंभ से ३० अंश के अंततक घूमता है। यह गति अत्यन्त मंद है, इसको हजारों वर्ष लगते हैं; ठीक ठीक कितनी अवधि लगती है, यह गणित से निकालना पडता है। २३ अंश के आरंभ से ३० अंश के अतन्तक पूरे आठ अंश होते हैं। इन आठ अंशों को आक्रमण करने के लिए सूर्य को कितने वर्ष लगेंगे? सूर्य की गति घडी के लंबक (Pendulum) सरीखी है; आरंभ में धीरे और मध्यपर पूर्ण गति आती हैं, फिर वह घटती है, अंत में ठहरती है और फिर धीरे धीरे लौटने लगती है। चार सौ वर्ष के पहिले पृथ्वी का विषुववृत्त से होनेवाला कोण २३ अंश २७ कला का है, अर्थात् ४०० वर्ष में ३ कला कम हुआ। ऊपर बतलाया हुआ प्रमेय को गृहीत धरा जाय, तो भी घटने की गति कम होते होते २३ वें अंशतक वह गति शून्य होकर फिरसे कोण बढने लगेगा।

इस विचार को गणितज्ञों के सामने रखने के लिए एक उदाहरण दे सकते हैं। लंबक की गति के अनुसार ४८० कला का मार्ग आक्रमण करना है। एक बाजू के अंत में मार्गक्रमण करते हुए तीन कला का आक्रमण ४०० वर्ष में होता है; इसके सिवाय और २७ कला का आक्रमण होने पर मार्ग पूरा होकर गति स्थगित होती है। यह गति धीरे धीरे किसी एक प्रमाण में घटती जाती है और फिरसे उलटी गति शुरू होनेपर उसी प्रमाण में बढते बढते मध्य भाग में आकर अधिकतम होती हैं; और फिर घटते घटते ४८० कला का फिरसे आक्रमण करनेपर स्थगित हो जाती है। अब प्रश्न यह है, कि एक ज्ञात विभागपर ३ कला आक्रमण करने को ४०० वर्ष की अवधि लगती है; पूरी ४८० कला आक्रमण करने में कितनी अवधी लगेगी?

अपने वाचकों में से यदि कोई इस सवाल को हल कर ले तो हमारे पुराणों के अनेक कथाभागों की तालिका बन सकेगी। इसी तरह यह भी बतला सकेंगे कि हिमप्रलय (Glacial Periods) इत्यादि कब हुए थे और फिर आगे कब होंगे।

अब आगे यह देखना है, कि 'हिरण्मय अण्डे' की कथा का क्या स्वरूप है; और उससे यह भी स्पष्ट हो जायगा, कि उपरिनिर्दिष्ट प्रमेय का इस कथापर क्या परिणाम होता है।

हिरण्मय अंडे की कथा।

(२)

ऊपर विंध्याचल की हिमाचल से स्पर्धा और सूर्य के रथ का चक्र रोकने की कथा आ गई है। उस कथा का आशय वाचकों के ध्यान में आगया होगा, कि पृथ्वी का विषुववृत्त से होनेवाला कोण २३ से लेकर ३० अंश तक बदलता है। उक्त कथा के अनुषंग से हिरण्मय अंडे की कथा भी ठीक ठीक ध्यान में आ सकेगी। इसलिये अब हिरण्मय अण्डे की कथापर विचार करते हैं।

हिरण्मय अण्डे की आश्चर्यकारक कथा हरिवंश में भीष्मपर्व के ३४ वें अध्याय में आई है, वहांसे यहांपर उपर्युक्त कथाभाग के श्लोकों का अवतरण नीचे दिया जाता है; इससे वाचकों के ध्यान में यह भी आवेगा, कि ऐतिहासिक अथवा शास्त्रीय दृष्ट्या अर्थ लगाना हो, तो श्लोकों की रचना किस प्रकार करनी पडती है-

श्री वैशम्पायन उवाच--

जगदण्डमिद पूर्वमासीत्सर्वं हिरण्मयम्।
प्रजापतेर्मूर्तिमयमित्येवं वैदिकी श्रुतिः ॥१॥
ततो वर्षसहस्रान्ते बिभेदोर्ध्वमुखं प्रभुः।
लोकसंजननार्थाय बिभेदाधोमुखं पुनः ॥२॥
भूयादष्टधा बिभेदाण्डं प्रभुर्वै लोकयोनिकृत्।
चकार जगतश्चात्र विभागं सर्वभागवित् ॥३॥
यच्छिद्रमूर्ध्वमाकाशं परा सुकृतिनां गतिः।
विहितं विश्वयोगेन यदधस्तात्तद्रसातलम् ॥४॥
यदण्डमकरोत्पूर्वं देवलोकसिसृक्षया।
समन्ताद्दष्टधा यानि छिद्राणि कृतवान्तु सः ॥५॥
विदिशस्ता दिशः सर्वा मनसैवाकरोद् द्विधा।
नानारागविरागाणि यान्यण्डशकलानि वै ॥६॥
बहुवर्णधराश्चित्रा बभूवुस्ते बलाहकाः।
यदण्डमध्ये स्कन्नं तु द्रवमासीत्समाहितम् ॥७॥
जातरूपं तदभवत्तत्सर्वं पृथिवीतले।
तस्य क्लेदार्णवौघेन प्राच्छाद्यत समंततः ॥८॥
पृथिवी निखिला राजन् युगान्ते सागरैरिव ॥९॥
यच्चाण्डमकरोत् पूर्वं देवलोकचिकीर्षया।
तत्र तत्सलिलं स्कन्नं सोऽभवत्कांचनो गिरिः॥१०॥
तेनाम्भसा प्लुताः सर्वा दिशश्चोपदिशस्तथा।
अन्तरिक्षं च नाकं च यच्चान्यत्किंचिदन्तरम्॥११
यत्र यत्र जलं स्कन्नं तत्र तत्र स्थितो गिरिः।
शैलैः समस्तैर्गहना विषमा मेदिनी भवत् ॥१२॥
तैः सा पर्वतजालोघैर्बहुयोजनविस्तृतैः।
पीडिता गुरुभिर्देवी पृथिवी व्यथिताभवत् ॥१३॥
महीतले भूरि जलं दिव्यं नारायणात्मकम्।
हिरण्मयं समुद्दिष्टं तेजो विमलरूपितम् ॥१४॥
अशक्ता वै धारयितुमधस्तात् प्रविवेश ह।
पीड्यमाना भगवतस्तेजसा तेन सा क्षितिः॥१५॥
पृथिवीं विशतीं दृष्ट्वा तामधो मधुसूदनः।
उद्धारार्थं मनश्चक्रे लोकानां हितकाम्यया ॥१६॥
(हरिवंश-भविष्यपर्व अध्याय ३४)

यह कथाभाग भूगर्भशास्त्रदृष्ट्या अत्यन्त महत्त्व का है। श्वेतवराह का अवतार होकर दक्षिणतरफ रसातल का भाग पानी में डूब गया और जो रसातल से युक्त जनलोक अस्तित्व में था, उसपर (उत्तरकी ओर एकार्णवीभूत पृथ्वीपर) श्वेतवराहके प्रयत्नसे भूमि ऊपर आ गई, ऐसी कथा आती है। तदनन्तर मधु और कैटभ की नारायणस्वरूपी श्रीविष्णु से लडाई हुई। इन कथाओंका भूगर्भशास्त्र की दृष्टिसे जो समन्वय होता है, उसके बारे में यथावकाश विवेचन करेंगे। फिलहाल तो इतना ही ध्यान में रखें कि भूलोक तथा भुवर्लोक की प्रस्थापना हो गई थी, तबतक स्वर्गलोक का निर्माण नहीं हुआ था।

यह स्वर्गलोक आधिभौतिक दृष्टया कौनसा भाग है, इस संबंध में पुराणों में बिलकुल स्पष्ट लिखा मिलता है। अलकनन्दा नदी के किनारे दक्षिणोत्तर में फैला हुआ मंदार पर्वत, भागीरथी और अलकनन्दा नदियों के बीच नन्दनवन, उसके उत्तर में स्थित मेरु और सुमेरु पर्वत, उनके पश्चिम में स्वर्गीय गंगा का उगमस्थान गंगोत्री, मानस सरोवर तथा उसीके पास कैलास पर्वत और तत्समीप वैकुंठ और इस विभाग में फैला हुआ बदरीवन, यह सारा

का सारा प्रदेश इस स्वर्गलोक की कक्षा में आता है। युरोप खंड में सब से अच्छा, अत्यन्त रमणीय, प्रकृति के लिये उत्तम आल्प्स् पर्वत के आसमंतात् जैसा स्विट्जरलँड देश है, वैसा यह स्वर्गलोक नितान्त रमणीय है। परन्तु इस को जो यह रमणीयता प्राप्त हुई है, उसका कारण वहां का सादा भूप्रदेश नहीं है, प्रत्युत वहां के अत्यंत उच्च हिमगिरि हैं। प्रचंड हिमराशि के कारण इस सम्पूर्ण प्रदेश को नैसर्गिक रीत्या जो मनोवेधक स्वरूप प्राप्त हुआ है और उससे जीवन के लिए परम आवश्यक निर्मल वातावरण तैयार हुआ है, उसी के कारण उस विभाग को स्वर्ग की संज्ञा प्राप्त हुई है। जबतक ये हिमराशि वहां आईं न थीं तबतक यह प्रदेश स्वर्ग कहलाने के पात्र नहीं हुआ था।

उस समय (कितने हजार वर्ष बीते होंगे, यह जानना कमसे कम आज संभव नहीं, तथापि अतिशय प्राचीन काल में) इस भूभाग को स्वर्गलोक बनाने की इच्छा से परमेश्वर ने जो घटना की, उस घटना का वृत्तान्त हिरण्मय अण्डे की कथा में बतलाया हुआ है। ज्वालामुखी का स्फोट होकर हिमाचल के बर्फमय होने से पहिले जो उच्च पर्वतों की पंक्तियां थीं, और बर्फ जमने से पूर्व उनकी जो हालत थी, उसीका हिरण्मय अण्डे की कथा में वर्णन है।

ऊपर जो हरिवंश के श्लोक उद्धृत किये हैं, उनका भूगोल शास्त्र को दृष्टि में रखते हुए भाषांतर इस तरह होता है—

अर्थ [भूगर्भशास्त्रदृष्ट्या]

१. पहिले पहल यह संपूर्ण जगत् अण्डेकासा था और वह हिरण्मय (अर्थात् द्रवरूप पदार्थ का बना हुआ) था। यह हिरण्मय तत्व, प्रजापति (भगवान्) का पार्थिव रूप ही है। वैदिक वाङ्मय में कहा है, कि उसी तत्व से यह अंडा बना था।

२. इस के बाद हजारों वर्ष बीतनेपर प्रभु ने ऊपर से यह अंडा फोड डाला और प्राणिमात्र की अभिवृद्धि के अर्थ नीचे से वह अण्डा फिरसे फोडा।

३. लोगों का उत्पत्ति-स्थान तैयार करनेके हेतु प्रभु ने यह अण्डा आठ जगह से फोडा। समूचे भागों का जिस प्रभु को पूर्ण रीति से ज्ञान है, उस प्रभु ने जगत् के विभाग किये।

४. ऊपर की ओर आकाश की तरफ जो छिद्र किया था, वह सत्कर्म करनेवालों का स्थान (भूमि) बन गया। संपूर्ण विश्व से युक्त रहनेवाले जो छिद्र नीचे की ओर किया था, वह रसातल बना।

५. जो अण्डा परमेश्वर ने देवलोक निर्माण करने की इच्छा से बनाया था, उस अण्डे में समन्तात् (सब तरफ) प्रभु ने आठ छिद्र किये।

६. प्रभु ने मन ही से दिशाओं को द्विधा करके उन की विदिशायें बनाईं। उस अण्डे के टुकडे हो जानेपर उस में से अनेक प्रकार के रागरंगों की छटा उठने लगी।

७. अनेक प्रकार के रंगों की छटा से चित्रविचित्र हुए हुए वे टुकडे बलाहक (जल को ले जानेवाले मेघ) बन गये, [जिस तरह मेघोंद्वारा पानी अन्य रूप में लाया जाता है, और फिर वह पानी सर्वत्र फैलता है और पर्जन्यरूप से फिर पानी बनकर पृथ्वीपर गिरता है; उसी तरह चित्रविचित्र रंगों से मंडित ये टुकडे पानी को अन्यरूप से बर्फ बनाकर ले जाते हैं, और सर्वत्र फैला देते हैं। वह बर्फ अगर गल गया, तो उसका पानी सारी पृथ्वीपर बह जाता है।] उस अण्डे में इतने वर्षोंतक जो द्रव जमा था।

८. वह सब पृथ्वीतलपर जातरूप हुआ। [जातरूप सोने का नाम है। सुवर्ण का अर्थ, (१) सोना भी होता है और (२) अच्छे रंग का चमकदार, ऐसा भी होता है। जातरूप का यह भी अर्थ शक्य है, कि जिसको रूप प्राप्त हुआ है, अर्थात् जिसको पार्थिव, जड अथवा मूर्त स्वरूप प्राप्त हुआ है। पानी द्रवरूप, चंचल, और अस्थिर होता है। पानीका अगर बर्फ बन गया, और वह उच्च भूभागपर इकट्ठा होकर रहे तो वह कायम बना रहता है। इस अण्डे में अनेक वर्षोंतक जो पानी जमा था, उसमें से बहुतसा हिस्सा पृथ्वीतलपर एकत्रित हुआ; वह पानी-सरीखा अस्थिर न रहा और हिरण्मय होने से सुंदर वर्ण का चमकदार बना रहा; अतएव वह सु-वर्ण अर्थात् जात-रूप ही हुआ।] उसमें से गलने के कारण समुद्रकासा पानी का ओघ निर्माण हुआ और सर्वत्र भाग पानी से भर गया।

९ मानो युगान्त के समय पृथ्वी को समुद्र ने डुबा दिया हो [ऐसा प्रलयकारक पानी, इस द्रव के गलने से सारे भूभागपर फैल गया।

१०. पहिले पहिल देवलोक निर्माण करने की इच्छा से जो अण्डा परमेश्वर ने निर्माण किया था, उस अण्डे में विद्यमान जल वहां से स्कन्न अर्थात् खिसक जानेसे (जहां वह जाकर गिरा वहां) वह कांचनगिरि बन गया। [फिर से कांचन शब्द (जिसका अर्थ सोना है) सुवर्ण (चमकने वाला, अच्छे वर्ण रंगका) अथवा हिमयुक्त ऐसे पर्वत का वर्णन जानकर यहां प्रयुक्त किया है।]

११. उस जलसे संपूर्ण दिशायें और उपदिशायें अच्छी तरह से भरपूर हो गईं। इसके सिवाय अन्तरिक्ष और नाक (स्वर्गलोक का हिम, जिसपर वह भूमिभाग स्थिर हुआ और जहां जहां अंतर अर्थात् अवकाश अथवा गहराई थी, वहां सब जगह यह पानी भर गया।)

१२ जिन जिन स्थानों से पानी बह गया, वहां वहां पर्वत रहे गये। ऐसे (सर्वत्र स्थित) पर्वतों के कारण पृथिवी विषम तथा आकलन के लिए दुर्गम हो गई।

१३. अनेक योजनों तक फैले हुए पर्वत जालों के कारण अथवा पर्वतराशियों के ओघों के कारण व उनकी जडताके कारण, पृथिवी त्रसित हुई।

१४. इस पृथिवीतलपर तेजस्वी नारायण का प्रत्यक्ष पार्थिव रूप, अत्यंत निर्मल जिसका स्वरूप है, ऐसा यह जल फैला है; उसको हिरण्मय- अर्थात् चमकीला अथवा सुवर्ण-मय- कहा है।

१५. (यह तेज) बरदाश्त न हुआ, इस लिए पृथिवी भगवान् के तेजसे इतनी पीडित हुई, कि वह नीचे गिरी।

१६. (इस तरह) पृथिवी को डूबती हुई देखकर मधुसूदन प्रभु ने, लोकों का हित करने की इच्छा से, उसको ऊपर उठाने की मनशा की।

ऊपर वर्णन किया हुआ यह कथाभाग कितना चित्ताकर्षक है? सर्वसाधारण लोगों की यह धारणा है, कि देवलोगों का स्वर्ग सब संपत्ति का आगार है! वहां सब भांति के सुख प्राप्त होते हैं; यज्ञयागादि करनेवालों को तथा क्षत्रिय होकर धारातीर्थमें अपना देहपात करनेवालों को इस तरह की पुण्य और सुख देनेवाली भूमि प्राप्त होती है। इस धारणानुसार स्वर्गलोक की रचना की कथा बहुतही अच्छी मालूम देती है। सुवर्णगिरि मेरु स्वर्गलोक में रहने के कारण सोने का कैसे हुआ, यह वर्णन आबाल-वृद्धोंको निःसंदेह कुतूहल उत्पन्न करेगा। साधारण जनता में जो स्वर्गमूलक कल्पनाएं होती हैं; उन कल्पनाओं के अनुरूप इस कथाकी रचना है। परंतु यह हुआ सामुदायिक स्वरूप। पुराणों में सृष्टि की उत्पत्ति के संबंध में कथाभाग विद्यमान है, परन्तु उसका शास्त्रीय दृष्ट्या विचार होना चाहिये।

इस रीतिसे विचार करना हो, तो उस कथा में शब्द की रचना ही ऐसी होनी चाहिये, कि एकही श्लोकमें से जैसा लौकिक अर्थ निकलता है वैसाही शास्त्रीय अर्थ भी निकलना चाहिये। ऊपर उद्धृत किया हुआ कथाभाग और उसका नयी तरह से भूगर्भशास्त्रीय दृष्टया लगाया हुआ अर्थ देखें तो यह स्पष्ट होगा, कि अनेकार्थवादी शब्दों का प्रयोग करने से दोनों हेतु किस प्रकार सिद्ध हुए हैं। वाईके लेलेशास्त्री महोदयने हरिवंश का मराठीमें भाषान्तर करते हुए आध्यात्मिक अर्थ भी उसीमेंसे दरसाया है। इस तरह अनेकार्थी शब्दों का प्रयोग जहां किया गया है, वहां उनसे वही अर्थ लेना चाहिये, कि जो भूगर्भशास्त्र की पद्धति से उपयुक्त हो। जो उस शास्त्र के संदर्भ से मिलताजुलता हो और यही परंपराके अनुसार भी है।

इस कथा के प्रारम्भ ही में, वर्णित घटनाओं का मुख्य हेतु देवलोक अथवा स्वर्ग को निर्माण करनाही है। इसमें सन्देह नहीं, कि यह वर्णन भूगर्भशास्त्र का ही है। पीछे हम कह चुके हैं, कि स्वर्ग के मायने वह प्रदेश है, जो हिमालय पर्वत के वायव्य हिस्से में है। पहिले इस जगह में हिमपर्वतका भाग नहीं था। भूगर्भशास्त्रविदोंने आधुनिक पद्धतिसे कोई सिद्धांत अभीतक उपस्थित नहीं किया, जिससे यह मालूम हो, कि हजारों फूट ऊंची बर्फ की राशि इस जगह किस तरह आई होगी।

हिमालय के किसी किसी विभागों में शंख वगैरे ऐसे पदार्थ मिलते हैं, जो क्षीरोदधि में उत्पन्न होते हैं; इससे आधुनिक शास्त्रज्ञ ऐसा प्रतिपादन करते हैं, कि पूर्वकाल में यह प्रदेश समुद्रतल में होगा; उसके बाद हिमप्रलय हुआ होगा। इस तरह के विचार उन्होंने Glacial period नामक एक सिद्धांत प्रस्थापित करते हुए कहे हैं। परन्तु किसी भी तरह से आधुनिक पद्धति के भूगर्भशास्त्र की रचना में यह किसीने नहीं बतलाया, कि हिमाचल आदि उच्च भूभागपर हिम का समुच्चय किस तरहसे हुआ।

इस विषयमें यदि किसीने कभी कोई प्रमेय रखे हैं, तो वे हरिवंशपुराण कीं इस कथाही में मिलेंगे।

जब कोई हिंदी मनुष्य ऐसा प्रतिपादन करने लगता है, कि प्राचीन वाङ्मय में, वेदों में, स्मृति में, पुराणों में अमुक अमुक शास्त्रसंबन्धी ज्ञान निगडित किया है, तब कई लोग इस प्रकार टीकाटिप्पणी करते हैं, कि यह तो वही बात हुई, कि जब कोई मनुष्य किसी बात का आविष्कार कर ले, तब यह कहना, हमें पहलेसे ही पता था। पीछे लिखी विंध्याचल की कथामें और इस समय जिसका वर्णन हो रहा है उस हिरण्मय अण्डे की कथा में जो तत्त्व ग्रथित किये गए हैं और किये जा रहे हैं, उनको यह टीका लागू नहीं होती। इसमें जो प्रमेय निर्दिष्ट किये हैं, वे नये हैं, आधुनिक शास्त्रज्ञों को अज्ञात हैं।

ये प्रमेय जिन शास्त्रों में बतलाये गए हैं, वे शास्त्र निःसंदेह अत्यंत महत्त्व के होने चाहिये। ये प्रमेह निकालने के लिये पूर्वकालीन ऋषियों के पास कौनसे साधन थे, इस सम्बन्ध में भी विचार होना आवश्यक है। संस्कृति किस तरह की है, उसकी रचना किस प्रकार की है, अन्य शास्त्रीय ज्ञान के मुकाबले में यह संस्कृति किस दर्जे की है, इत्यादिपर जब विचार किया जायगा, तब यह कह सकेंगे, कि हमने अपनी संस्कृति का मान रखा है, हमने उस से विश्वासघात नहीं किया। इसी लिये प्राचीन ग्रन्थों में नये प्रकार के शास्त्रों का ज्ञान कहाँ पर और किस तरह का है, इसका संशोधन अवश्य करना चाहिये। जिस तरह योगका लोप होनेपर श्रीकृष्णने फिरसे वह प्रस्थापित किया उसी तरह हमारे यहां के और भी अनेक शास्त्र जो लुप्त हो गये हैं, उनका फिरसे प्रस्थापन होना अखिल मानवजाति की दृष्टि से बहुतही आवश्यक है। पुराणों में अनेक शास्त्रों का उल्लेख आता है। उनमें भूगर्भशास्त्रसम्बन्धी कथा और प्रमेय अत्यंत उद्बोधक हैं, ऐसा जानकर इस लेखमाला का उपक्रम किया है। ऊपर दी हुई कथा से और श्लोकों के भाषान्तर से यह ध्यान में आही गया होगा, कि असली बात क्या है। अब हम उसी कथा की फिर से सादी भाषा में रचना करके देखते हैं कि उसमें से किस प्रकारके प्रमेय निकलते हैं, तब हम भूगर्भशास्त्र के आधारपर जान सकेंगे, कि प्राचीन काल में पृथ्वीतलपर किस प्रकार घटना विघटना होती गई होंगी। तब हमें यह भी पता चल जायगा कि इस विषयमें प्राचीन ऋषिवर्योंने जो तर्क बांधे थे, वे आजकल के भूगर्भशास्त्र को भी कहांतक मान्य हो सकेंगे।

प्राचीन कालमें अनेक वर्षोंतक पृथ्वी के उत्तर और दक्षिण ध्रुवों के पास पानी का बर्फ बनकर वहीं संचित रहता था। इस तरह अनेक वर्षोंतक एकके ऊपर एक बर्फ के स्तर दोनों ध्रुवों के पास जमते गये और बढते गए। हिंदुस्थान के उत्तर विभाग में और इतरत्र ज्वालामुखी में से बहकर आए हुए रससे अनेक पहाड बन गए। ध्रुवसे बढते बढते यह भूभाग १०००० से लेकर १४००० फुट तक ऊंचा हो गया। कालांतर में ध्रुवों के पास उष्णता भासमान होने लगी और असंख्य वर्षोंतक जमा हुआ वहां का बर्फ यकायक पिघलने लगा। बर्फ की बनी हुई जमीन में उष्णता के कारण दरें पडने लगे और बर्फ की राशियां सब ओरसे खिसकने लगीं। उनमें से बहुतसे हिमखण्ड एक दूसरे से संयुक्त रहनेपर भी अत्यंत वेगसे नदी के पूर के सदृश बहने लगे। ये राशियां अनेक हजार फुट ऊंची थीं। उष्णता के कारण ये राशियां मूल की बर्फमय जमीन से फूटकर आरम्भ से ही जोर से बहने लगीं और बर्फ की सफाई के कारण अप्रतिहत वेगसे मध्य एशिया खण्डमें से होती हुई तिब्बत के उच्च प्रदेशपर जा पहुंचीं। कुछ हिस्सा बहते बहते बंगाल, मध्यप्रांत, गुजराथ, काठियावाड के प्रदेशतक आ गया। यहां का भूभाग बहुत ऊंचा न था और बर्फ पिघल गया। परन्तु आजकल का हिमालय इन बर्फराशियों के समुदाय से अवश्यही सच्चा हिमालय बन गया। पहिले ही से १२००० से लेकर १५००० फुट तक ऊंचा पहाड था, उसके ऊपर यह स्तर आकर जम गया और जो बर्फ पिघल चुका था, वह आसपास के विभागों में फैल गया। अब यह बर्फ पिघलने के बजाय वहीं स्थिर हुआ।

बाकी के भूभागों में जहां जहां गहरी जगह थी, वहां वहां यह पानी फैल गया। प्रायः सारा गहरा विभाग इस पानी से भर गया। पुराण जिस भूभाग को स्वर्ग कहते हैं, वहां की हवा इस हिमराशि के कारण और तदंगभूत फैले हुए जल के कारण जीवन के लिए अत्यन्त सुखावह हो

गई। इस तरह सच्चा स्वर्ग निर्माण हो गया।

परन्तु अनेक योजनोंतक फैली हुई इन हिमराशियोंका बोझा यकायक अकल्पित रीति से पृथ्वी के विवक्षित हिस्से पर पड जानेसे जमीन उस बोझे को बरदाश्त न कर सकी; वहां का भूभाग नीचे धंसने लगा और इससे पृथ्वी कहीं ऊंची तो कहीं नीची उबडखाबड-सी बन गई। इस तरह भूकंप होकर पृथ्वीपर भूभागका क्षेत्र नया बन गया। इसके बाद अनेक पर्वत, नदियां, समुद्र इत्यादि विभाग उत्पन्न हुए। आजकल जो जमीन का आकार दिखता है, वह तैयार होने से पहिले यह हिरण्मय प्रलय हुआ था। बर्फ के बडे बडे स्तर पृथ्वीपर फैले और उन के भार के कारण भूकंप आदि घटनाएं होकर बिलकुल भिन्न परिस्थिति निर्माण हो गई। इन सब बातों का वर्णन हिरण्मय अण्डे की कथा में आया है। उस कथा के मुख्य प्रमेय इस प्रकार हैं-

१. पृथ्वीका आकार अण्डे के सदृश है।

२. पृथ्वीपर हवा की परिस्थिति ऐसी है, कि कुछ काल तक दोनों ध्रुवों के पास बर्फ इकट्ठा होता रहता है।

३. यह बर्फ यकायक पिघलता है और बर्फ की राशियां फूटकर पृथ्वीपर इतस्ततः बिखर जाती हैं।

४. जहां बर्फ के स्तर ज्यादा मोटे और स्थिर होते हैं, वहां पृथ्वी के ऊपर का जमीन का हिस्सा दबकर नीचे धंस जाता है और उससे भूकंप होता है।

५. मेरु, हिमाचल इत्यादि उत्तुंग पर्वत श्रेणीपर आजकल जो हजारों फूट ऊंचा बर्फ जमा हुआ दिखता है, उसका कारण हिमप्रलय के समय फैला हुआ बर्फ है।

६. इसी प्रलय के समय बर्फ के पिघलने से जो पानी बह निकला था, उससे पृथ्वीतल की सारी गहरी जगह भर गई।

७. ये और इसी तरह पृथ्वीपर होनेवाली प्रत्येक घटना-विघटना परमेश्वर किसी विशिष्ट हेतुसे करता है।

ऊपर विंध्याचल की कथा दी है, उसमें ऐसा प्रतिपादन किया गया है, कि पृथ्वी का विषुववृत्त से होनेवाला कोण ३१ अंश के आरम्भ से २३ अंश के आरंभतक बदलता जाता है, इस तरह बदलते बदलते हिरण्मय अण्डे के सदृश हिमप्रलय क्यों होता होगा, यह स्पष्ट ध्यान में आ गया होगा। जब ३० अंश का कोण होता होगा, तब यह परिस्थिति उत्पन्न होती होगी। आजकल जहां उत्तरायण में उत्तरध्रुव और दक्षिणायन में दक्षिणध्रुव है, उससे उस समय ७॥ अंश निकट होगा और उस समय वहां की हवा गरम होगी और जमा हुआ बर्फ का समुदाय पिघल जायगा।

इसी तरह सूर्य का प्रवास जब विन्ध्याचल से हिमालय तक होता है, तब उसकी गति घडी के लंबक के सदृश होने से, मध्य में आनेपर वह बहुत शीघ्र हो जाती है, और ध्रुव की तरफ उष्णता एकदम फैलती है, तब बर्फ धीरे धीरे नहीं पिघलता, किंतु एकदम फूटता है। अनेक हजार वर्षोंतक बर्फसमुदाय के जो बडे बडे पहाड बने हुए होते हैं, उनमें बडे बडे दर्रे पड जाते हैं और अनेक हजार फुट ऊंचाईवाले और मील मील तक लंबे हिम के पहाड बडे वेग से इतस्ततः बहने लगते हैं। बर्फ अत्यंत चिकना होने फिसलना होने के कारण उसे रुकावट कहीं नहीं होती और वह सारी पृथ्वीभर फैलने लगता है। इस तरह Glacial Periods बार बार क्यों आते हैं, इसका भी समर्थक कारण प्राचीन ऋषियोंने अपने वेद, पुराण इत्यादि वाङ्मय में दिया है।

पृथ्वी की कोण बदलने की गति लंबकों के आंदोलन-कीसी है; यह ध्यानमें आनेपर इस आंदोलनात्मक गतिको Vibration ॐ कार स्वरूपमें मिला दिया और यह सिद्ध किया, कि सृष्टि की घटना विघटना इस मूलभूत तत्त्वपर अधिष्ठित है। आर्य महर्षियोंने सर्वोत्कृष्ट अनुपमेय धार्मिक-कृत्य यह किया, कि उन्होंने इस ॐकार तत्त्वका ज्ञान प्राप्त करके लोगों को वह भली भांति समझा दिया।

इस तरह प्राचीन ऋषियोंका यह सिद्धान्त है, कि सृष्टि पर होनेवाली बडी बडी घटनाविघटनाएं उपर्युक्त ॐकार-रूपी तत्त्वों के अनुसार होती हैं और आंदोलन अथवा Wave-length के नियमानुसार नियमित काल से ये घटनाएं बार बार होती रहेंगीं। इस सिद्धांत के अनुसार उन्हों ने भूत और भावी बातों के संबन्ध में अपना अन्दाज बांधा और उसी के अनुरूप अपना आचरण रखा।

षष्ठोऽध्यायः ।

अथ पिबा सोममभि इत्याद्विव्यासति माधवः ।
पादे समाने वक्तव्यं पूरणेषु प्रदर्शयन् ॥

अब माधवभट्ट 'पिबा सोममभि०' (ऋ० अष्टक ४। अ० ६, मं० ऋ० ६।१९।१) इत्यादि अध्याय की व्याख्या करनेके पूर्व समान पादमें पूरक पदों के सम्बन्ध में प्रवचन करते हैं ।

समान पादमें पूरक पद ।

१. तस्मिन् पादे यदा पश्येत् तमेवाविकृतं पुनः ।
तं पादपूरणं ब्रूयाद् इति वृद्धेभ्य आगमः ॥

उसही चरणमें एकही पदको विना किसी भेदके ज्यों का त्यों पुनः देखें तो उसे पादपूरक पद कहना चाहिये, ऐसा वृद्ध (विद्वान्) गुरुजनों का उपदेश है ।

[अथ ये प्रवृत्तेऽर्थेऽमिताक्षरेषु मन्त्रेषु वाक्यपूरणा आगच्छन्ति, पदपूरणास्ते मिताक्षरेष्वनर्थकाः । कमीमिद्विति । (नि० १।९)]

२. किमुदाहरणं तत्र न याति देवः प्रवता ।
याति देव उद्वतेति भिन्ने वाक्ये यतस्ततः ॥

यातिं देवः प्रवता यात्युद्वता यातिं शुभ्राभ्यां यजतो हरिभ्याम् । (ऋ० १।३५।३)

इस ऋचामें 'याति' पद एकही पादमें पुनः पढा है । तो भी यहां याति पादपूरक पद नहीं है । क्योंकि वह भिन्न वाक्य में अपना अभिप्राय दे रहा है ।

३. आ याहि पूर्वीरतीति पादो नात्र निदर्शनम् ।
दृश्यते पूरणो ह्येष आकारः केवलोऽपि सन् ॥

आ याहि पूर्वीरति चर्षणीराँ अर्य आशिष उप नो हरिभ्याम् । (ऋ० ३।४३।२)

इस ऋचामें 'आ याहि पूर्वीरति चर्षणीराँ ' इस पदमें 'आ' उपसर्ग पुनः पठित है । तोभी यह पादपूरणार्थ होने का दृष्टान्त नहीं है । क्योंकि इसका भी भिन्न वाक्यमें संबंध है । पादपूर्ति करनेवाला 'आ' निपात अकेला भी देखा जाता है ।

४. त्वमग्ने व्रतपा असि मन्त्रस्तत्र निदर्शनम् ।
तत्र प्रथम आकारो निरर्थक इति स्थितिः ॥

त्वमग्ने व्रतपा असि देव आ मर्त्येष्वा ।
त्वं यज्ञेष्वीड्यः ॥ (ऋ० ८।११।१)

इस ऋचामें द्वितीय पादमें प्रथम आकार निरर्थक है ।

५. ननु देवस्त्वमागत्य मर्त्येष्वपि च वर्तसे ।
इति सार्थोऽत्र आकारः ॥

(प्रश्न)– 'त्वमग्ने व्रतपा असि देव आ मर्त्येष्वा ।' इस उक्त ऋचामें 'आ' निरर्थक नहीं है, वह सार्थक है, क्योंकि ऋचाका अभिप्राय है– तू देव आकर मर्त्योंमें भी रहता है । (समाधान)–

इदं तस्मिन्निदर्शनम् ॥
अयन्ते अस्तु हर्यतः को वो वर्षिष्ठ आ नरः ।
निपातो व्यतिरेकेण तस्माद् द्वौ च निदर्शनम् ॥

[१] अयं ते अस्तु हर्यतः सोम आ हरिभिः सुतः । (ऋ० ३।४४।१)

[२] को वो वर्षिष्ठ आ नरो दिवश्च ग्मश्च धूतयः । (ऋ० १।३९।६)

इन दोनों ऋचाओं में 'आ' निपात वाक्यार्थ से भिन्न हैं, इससे ये दोनों 'आ' पादपूरण हैं ।

७. स यन्ता विप्र एषां स यज्ञानामथा हि षः ।
पादे द्वितीये तच्छब्द एकस्तद्वांस्तु पूरणः ॥

स यन्ता विप्र एषां स यज्ञानामथा हि षः । (ऋ० ३।१३।२)

इस ऋचामें द्वितीय चरणमें 'सः' पद दो बार पठित है, इन दोनों में से एक 'सः' पद पादपूरक होना चाहिये ।

८. अस्मा एतन्मह्याङ्गूषमेको अस्मा इति पूरणः ।
सर्वनामनिपातेषु समानेष्विति पूरणम् ॥

अस्मा एतन् मह्याङ्गूषमस्मा इन्द्राय स्तोत्रं मतिभिरवाचि । (ऋ० ६।३४।५)

इस मन्त्रमें 'अस्मा' पद प्रथम पादमें दो बार पढा हैं, वह पादपूर्त्यर्थ प्रयुक्त हुआ है। इसी प्रकार सर्वनाम पद और निपात जब एक समान एकही पादमें आ जाते हैं, उनको पादपूरक समझना चाहिये।

९. नास्ति निर्वचनं येषां रूपभेदेऽपि तान् विदुः।
पूरणानेव कवय एमेनं सृजता सुते॥

जिनका निर्वचन या व्याख्या नहीं होती, उनका रूपभेद भी हो तो भी उनको विद्वान् लोग पादपूरक ही जानते हैं। जैसे—

एमेनं सृजता सुते मन्दिमिन्द्राय मन्दिने।
(ऋ० १।९।२)

इस मन्त्रमें 'ईम्. एनं' ये दोनों एकार्थक हैं, परन्तु रूपभेद है। इससे 'ईम्' यह अनर्थक निपात पादपूरक है।

१०. स याजयेत् सेदु होतेति समानार्थाविदू श्रुतौ।
तत्रैकं पूरणं विद्याद् बहवः सन्ति तादृशाः॥

अग्निर्विद्वान्त्स यजात्सेदु होता०।
(ऋ० १०।२।१)

इस मन्त्रमें 'इत्' 'उ' दोनों निपात समान अर्थवाले एक ही पादमें विद्यमान हैं; उनमें से एक निपात को पादपूरक जानना चाहिये। इस प्रकारके बहुत से स्थल हैं।

११. अद्धेत्थेति द्वौ पठितौ सत्यनामसु वैदिकैः।
न तावत्यन्तपर्यायौ सत्येनेति विपश्चितः॥

१२. सत्यमद्धा नकिरन्यः सत्यमित्था वृषेदसि।
सत्यन्तथा सत्यमित्थमित्यर्थस्तत्र दर्शितः॥

'अद्धा' और 'इत्था' दो पद वैदिक आचार्योंने पढे हैं। वे सत्य के पूरे पूरे पर्याय नहीं हैं। ऐसा विवेकशील विद्वानों का मत है।

०सत्यमद्धा नकिरन्यस्त्वावान्॥
(ऋ० १।५२।१३)

इस स्थलमें 'सत्यम्' 'अद्धा' दोनों पर्याय पद एक साथ पढे हैं और—

सत्यमित्था वृषेदसि० (ऋ० ८।३३।१०)

इस मन्त्र में 'सत्यम्' 'इत्था' दोनों पर्याय एक साथ पठित हैं। हम (माधवभट्ट) ने इन स्थलोंपर भाष्यमें क्रम से 'सत्यं तथा' और 'सत्यं इत्थं' इस प्रकार दो भिन्न भिन्न अर्थ दर्शाये हैं, अर्थात् एकसाथ पठित पर्यायोंमें से कोई भी पादपूरक या अनर्थक नहीं है।

[प्रथम ऋचा इस प्रकार है।

विश्वमाप्रा अन्तरिक्षं महित्वा सत्यमद्धा
नकिरन्यस्त्वावान्॥ (ऋ० १।५२।१३)

सायण लिखते हैं—

अन्तरिक्षं अन्तरा क्षान्तं द्यावापृथिव्योर्मध्ये वर्तमानमाकाशं विश्वं सर्वमपि महित्वा महत्त्वेन सत्यम् आ प्राः निश्चयेन आसमन्तादपूरयः। अतः त्वावान् त्वत्सदृशः अन्यः कश्चित् नकिः अस्ति नास्तीति यदेतत् तत् अद्धा सत्यमेव।

अर्थात्— द्यौ और आकाशके बीच के समस्त आकाशको हे इन्द्र! तू अपनी महिमासे सत्यही पूर्ण कर रहा है। और तुझसा दूसरा कोई नहीं है, यह ठीक ही है। इस प्रकार 'सत्यम्' और 'अद्धा' दोनोंकी दो पृथक् पृथक् वाक्यों में योजना की है।

दयानन्द—

हे जगदीश्वर! यस्त्वं विश्वं सर्वं जगद् अन्तरिक्षं सत्यं अव्यभिचारि सुपरीक्षितं वेदचतुष्टयं च महित्वा महत्या व्याप्त्या अभिव्याप्य अद्धा साक्षात् आ समन्ताद् अप्राः प्रपूर्द्धि तस्माद् अन्यः कश्चिदपि द्वितीयस्त्वावान् त्वत्सदृशः नकिः नैव विद्यते।

अर्थात् हे जगदीश्वर! जो तू समस्त जगत्, अन्तरिक्ष और सत्य अर्थात् अव्यभिचारि, सुपरीक्षित चारों वेदों को भी अपनी बड़ी भारी व्याप्तिसे व्याप कर साक्षात् सब ओर से पूर रहे हो, अर्थात् सत्यके प्रकाशक हो, अतः तुम्हारे सदृश दूसरा कोई न हुआ है, न होगा।

ऋषि दयानंद ने 'सत्य' का अर्थ वेदों का ज्ञान और 'अद्धा' का अर्थ साक्षात् किया है।

निघण्टु में—

बट्, श्रत्, सत्रा, अद्धा, इत्था, ऋतम् इति षट् सत्य नामानि॥ (३।१०)

स्कंदस्वामी—
सत्यम् अद्धा द्वे अप्येते सत्यनामनी । अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते यथाहो दर्शनीयाहो दर्शनीय इत्येवमर्थभूयस्त्वेनापुनरुक्तिः । अत्यन्तसत्यमेतत् । नकिः न कश्चिदन्यस्त्रैलोक्ये त्वावान् त्वत्सदृश इत्यर्थः ।

सत्य और अद्धा दोनों सत्यके पर्यायवाचक हैं। अभ्यासमें अधिक अर्थ मानते हैं। जैसे अहो दर्शनीय, अहो दर्शनीय। इत्यादि। इस प्रकार पुनरुक्तिदोष नहीं है। अर्थात् यह बहुत ही सत्य है कि तेरे सदृश दूसरा कोई नहीं है।

इस प्रकार तीन भाष्यकारोंने तीन प्रकार से समाधान किया है।]

१३. पुत्रिणा ता कुमारिणा कुमारा अर्भका इति ।
न पौनरुक्त्यमत्रास्ति तेनैको नात्र पूरणः ॥

पुत्रिणा ता कुमारिणा विश्वमायुर्व्यश्नुतः ।
(ऋ० ८।३१।८)

इस मंत्र में 'पुत्रिणा' और 'कुमारिणा' दोनों पद एक समान अर्थवाले प्रतीत होते हैं। इन दोनों पदों के अर्थों में यह भेद है कि 'कुमार' शब्द से बहुत छोटे बालकों का ग्रहण होता है। इस प्रकार उनमें पुनरुक्ति नहीं है, इससे उन दोनोंमें से एक भी पादपूरक नहीं है।

१४. उदाहरणविद्विप्रः परिषत्सु न सीदति ।
प्रदर्शितास्ततोऽस्माभिरित्थं नानाविधा ऋचः ।

उदाहरणों को जाननेवाला विद्वान् विद्वानों की परिषदों में खिन्न नहीं होता, इसलिये हमने इस प्रकारकी अनेक ऋचाएं उदाहरणरूप से दिखाई हैं।

॥ इति षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

सप्तमोऽध्यायः ।

इन्द्रं वो नरः सख्याय व्याचिख्यासति माधवः ।
मत्वर्थीयेषु वक्तव्यं पूरणेषु प्रदर्शयन् ॥

'इन्द्रं वो नरः सख्याय०' (ऋ० अष्टक ४। अध्याय।७; ऋ० मं० ६।२९।१)

इत्यादि अध्याय के व्याख्यान करनेके पूर्व माधवभट्ट मत्वर्थीय पादपूरकों के सम्बन्ध में प्रवचन करते हैं।

१. मत्वर्थीयान्मत्वर्थीयो नतु लोके प्रदृश्यते ।
प्रयुज्यते स वेदे तु पादं पूरयितुं पुनः ।

मत्वर्थीय प्रत्ययान्त पदसे पुनः मत्वर्थीय प्रत्यय का प्रयोग लोकमें दिखाई नहीं देता। वेदमें इसका प्रयोग किया जाता है, वह भी पादपूर्तिके लिये हुआ है।

२. वाजेभिर्वाजिनीवती रक्षोहत्याय वज्रिवः ।
मा यातुर्यातुमावतामिति पादा निदर्शनम् ॥

[१] वाजेभिर्वाजिनीवती । (ऋ० १।३।१०)
(ऋ० ६।६१।४)

[२] रक्षोहत्याय वज्रिवः । (ऋ० ६।४५।१८)

[३] मा यातुर्यातुमावताम् । (ऋ० ८।६०।२०)

ये ऋक्पाद इस बात के नमूने हैं।

[श्री व्यङ्कट माधव के मतमें 'वाजिनीवती' 'वज्रिवः' और 'यातुमावताम्' इन पदों में एक बार मत्वर्थीय प्रत्यय होनेपर पुनः मत्वर्थीय प्रत्यय हुआ है। और वह पादपूर्ति के लिये है। जैसे 'वाजेभिर्वाजिनीवती' इस चरणमें 'वाजिनीवती' पदमें—

वाजा अस्याः सन्ति इति 'वाजिनी' वाजिनी एव वाजिनीवती वाजवती इत्यर्थः ।

अर्थात् वाज जिसके हैं वह वाजिनी और पादपूर्तिके लिये पुनः 'मतुप्' करके 'वाजिनीवती' पद सिद्ध हुआ। यह माधव का मत है। अन्य आचार्यों का ऐसा मत नहीं है। जैसे—

सायण (१) वाजो अन्नम् आस्विति वाजिन्यः क्रियाः अत इनिठनौ । (पा० ५।२।११५)

इति 'इनि' प्रत्ययः। ताः क्रिया यस्याः सन्ति सा सरस्वती वाजिनीवती। छन्दसीरः।
(पा० ८।२।१५)

इति मतुपो वत्वम् ॥ (ऋ० १।३।१०)

२. वाजो अन्नमस्या अस्तीति वाजिनी क्रिया। मत्वर्थीय इनिः। 'ऋन्नेभ्यः०' इति ङीप्। तादृशी क्रिया यस्याः सा। तदस्यास्तीति मतुप्। संज्ञायाम् इति मतुपो वत्वम् (१।४८।६)

३. वाजो हविर्लक्षणमन्नम् तद्युक्ता क्रिया वाजिनी तया क्रियया युक्ता वाजिनीवती॥ ऋ० १।९२।१३

४. वाजिनीवान् । वाजोऽन्नम् तद्वती क्रिया वाजिनी तया तद्वान् भवति यद्वा एको मत्वर्थीयप्रत्ययच्छान्दसः (ऋ० १।१२२।८)

५. वाजिनीवतोः। वाजः अन्नं बलं वा तद्वत्क्रियावतोः
(ऋ० १।१२०।१०)

इन सब स्थलोंमें मत्वर्थीय प्रत्ययान्तसे पुनः मतुप् प्रत्यय होकर भी पादपूर्त्यर्थ 'मतुप्' सायणने स्वीकार नहीं किया।

१. स्कन्द स्वामी– हे वाजिनीवति! उषो नामैतत्। सम्बन्धिशब्दो वा उषस एव विशेषणम्। वाजिनी शब्दोऽन्न नामधेयम्। अन्नवती। अथवा वाजीत्यश्वनाम। तस्मात् क्रियामीकारः। वाजिन्यो वडवास्तद्वती वाजिनीवती।
(ऋ० १।४८।१६)

२. वाजिनीवति । वाजमन्नम् तद्वती वाजिनी अन्नसंहतिः । तद्वती वाजिनीवती। अन्नसमूहवतीत्यर्थः। स्वार्थिको वा मत्वर्थीयः। अन्नवतीत्यर्थः। (ऋ० १।९२।१३)

३. वाजिनीवतोः। वाजो बलम्। तद्वती सेना वाजिनी। अन्नं वा हविर्लक्षणं वाजम्। तद्वती। सत्र-अहीनादियागसन्ततिर्वाजिनी तद्वतोः। स्वार्थिको वा एको मत्वर्थीयः। बलवतोरन्नवतोर्वा। (ऋ० १।१२०।१०)

वज्रिवः। वज्रो ऽस्यास्तीति वज्री हस्तः तद्वान् वज्रिवान्। छन्दसीरः इति मतुपो वत्वम्।
(ऋ० १।१२१।१४)

इति सायणः ॥ वज्रो यस्मिन् अस्ति स वज्री आयुधसमूहस्तद्वान्। इति स्कन्दः॥

यातुमावतः। यातवो यातनाः। तान् मिमते निर्मिमते इति राक्षसव्यापारा यातुमाः आतोऽनुपसर्गे कः इति कः। तदेषामस्तीति मतुप्। मतौ बह्वचोऽनजिरादीनाम्। (पा० ६।३।११९) इति दीर्घत्वम् ॥ संज्ञायाम् (पा० ८।२।११) इति वत्वम्। मतुपः पित्त्वादनुदात्तत्वे कृदुत्तरपदप्रकृतित्वम्। (ऋ० १।३६।२०) इति सायणः। तत्र ऋषिर्दयानन्दस्तु–

(१) वाजिनीवती । वाजिनः क्रियाप्राप्तिहेतवो व्यवहारास्तद्वती। वाजिन इति पदनामसु पठितम्। (निघ० ५।६) अनेन वाजिनीति गमनार्था प्राप्त्यर्था च क्रिया गृह्यते।
(ऋ० १।३।१०)

(२) वाजिनीवती। बहवो वाजिन्य क्रियाः विद्यन्ते यस्यां सा। (ऋ० १।४८।६)

(३) प्रशस्ता विज्ञानादियुक्ता सभा सेना च विद्यते ययोस्तयोः वाजिनीवतोः। (ऋ० १।१२०।१०)

(४) वज्रिवः। प्रशस्ता वज्रयो विज्ञानयुक्ता नीतयो विद्यन्ते ऽस्य तत्संबुद्धौ। वजधातो रौणादिक इः प्रत्ययो रुडागमश्च ततो मतुप् च।
(ऋ० १।१२१।१४)

यातुमावतः– यान्ति प्राप्नुवन्ति ये ते यातवः। मत्सदृशा इति मावन्तः। यातवश्च ते मावन्तश्च तान्। अत्र सायणाचार्येण यातुरिति पूर्वपदं मावान् इत्युत्तर पदं चाविदित्वा, यातुमपदान्मतुप् कृतः तदिदं पदपाठविरुद्धत्वादशुद्धम्।

इस प्रकार माधव के दर्शाये तीनों स्थानों में भाष्यकारों ने सर्वसम्मतिसे मत्वर्थीय से मत्वर्थीय प्रत्यय पादपूरणार्थ या स्वार्थिक नहीं माना है।

३. मत्वर्थीयो बहुव्रीहेर्नेष्यते शाब्दिकैरिह।
अर्यमा सुदानव इति दृष्टो वेदेषु तादृशः॥

वैयाकरण लोग बहुव्रीहिसमास रहते मत्वर्थीय प्रत्यय की अपेक्षा नहीं करते। परन्तु वेदों में वैसा भी देखा जाता है, जैसे--

मित्रः शाशद्रे अर्यमा सुदानवः। (ऋ० १।१४१।९)

[इस स्थलपर- 'सुष्ठु दानं यस्य स सुदानः'। इतने से ही उत्तम दानवाला, ऐसा अर्थ आता है, तब 'मतुप्' पादपूरक है ऐसा माधव का अभिप्राय है। अन्य आचार्य 'सुदानवः' में किसी भी स्थानपर मतुप् प्रत्यय स्वीकार नहीं करते। जैसे सायण—

अर्यमा सुदानवः शोभनदानो भवति। व्यत्यये‌न बहुवचनम्। यद्वा एते वरुणादयः सुदानवः शोभनदानाः॥ प्रकृते च-

त्वया ह्यग्ने वरुणो धृतव्रतो मित्रः शाशद्रे अर्यमा सुदानवः॥ हे अग्ने त्वया वरुणः मित्रः अर्यमा एते सुदानवो देवा शाशद्रे इति पदान्वयः।]

४. दस्रा दंसिष्ठेति पदे तथा रथ्या रथीतमा।
दस्रा रथ्येति तत्राहि पूरणेनेति माधवः॥

इन्द्रतमा हि धिष्ण्या मरुत्तमा दस्रा दंसिष्ठा रथ्या रथीतमा। (ऋ० १।१८२।२)

इस ऋक् में 'दस्रा' और 'रथ्या' पद पूरणार्थक नहीं हैं। क्योंकि--

५. स्तुतिर्विरम्याभिधानादर्थाभेदेऽपि गम्यते।
दर्शनीयाविमौ देवावित्युक्ता भाषते पुनः॥

६. न दर्शनीयावपि तु दर्शनीयतमाविति।

चाहे अर्थ भिन्न नहीं है तो भी एक बार विराम करके कहने से स्तुतिविशेष प्रतीत होती है। जैसे इस स्थल में- 'दर्शनीयौ इमौ' ये दोनों देव दर्शनीय हैं, ऐसा कहकर फिर कहता है, दर्शनीय ही नहीं परन्तु दर्शनीयतम हैं। इसी प्रकार 'दस्रादंसिष्ठा' 'रथ्या रथीतमा' दोनों में अतिशय द्योतन का भाव स्पष्ट होता है।

[कई स्थानोंपर 'पूरणे इति माधवः' ऐसा पाठ भी है।]

७. दूरप्रयुक्तोपसर्गस्मरणार्थं पुनः क्वचित्।
उपसर्गाः प्रयुज्यन्ते न ते केवल पूरणाः॥

८. आ वामश्वासः शुचय आ भारती भारतीभिः।
पादे चतुर्थ आकारः प्रयुक्त उभयोरपि॥

९. अभि त्वा गोतमो गिरा बहवः सन्ति तादृशाः।
प्रागाख्यातात् प्रयुज्यन्ते ततः प्रागपि केचन॥

दूर प्रयुक्त हुए उपसर्ग को पुनः याद कराने के लिये उपसर्गों का प्रयोग किया जाता है, वे केवल पादपूर्ति या छन्दःपूर्ति के लिये नहीं होते। जैसे--

[१] आ वामश्वासः शुचयः पयस्पा ०।०
एह स्वराजो अश्विना वहन्तु॥ (ऋ० १।११८।२)

[२] आ भारती भारतीभिः सजोषा ०।०
बर्हिरेदं सदन्तु॥ (ऋ० ३।४।८)

इन स्थलोंपर प्रथम पाद में 'आ' है और चतुर्थ में भी 'आ' है। इसी प्रकार दो में प्रथम पाद में 'आ' है और 'बर्हिः आ इदम्।' यहा चतुर्थ पाद में भी कहा है। इसी प्रकार--

अभि त्वा गोतमा गिरा जातवेदो विचर्षणे
द्युम्नैरभि प्र णोनुमः॥ (ऋ० १।७८।१)

इस मन्त्र में 'अभि' प्रथम और तृतीय पाद में पठित है। इस प्रकार के बहुत से उदाहरण हैं, जिनमें क्रिया के पूर्व उपसर्गों का प्रयोग होता है, और इससे भी पूर्व उपसर्ग प्रयुक्त हैं।

१०. त्वं नो अग्ने तव देव मरुतो मारुतस्य नः।
एवंविधेषु मन्त्रेषु पूरणत्वं न विद्यते॥

त्वं नो अग्ने तव देव पायुभिः ०। (ऋ० १।३१।१२)

मरुतो मारुतस्य नः ०। (ऋ० ८।२०।२३)

इन और इनके सदृश मन्त्रोंमें एकसमान पदों वा अर्थों का पाठ पादपूर्ति के लिये नहीं है।

॥ इति सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

अष्टमोऽध्यायः।

यज्ञायज्ञा वो अग्नये व्याचिख्यासति माधवः।
आवृत्तेषु वदन् वाच्यमृगर्धर्च पदेष्वथ॥

'यज्ञा यज्ञा वो अग्नये।' (ऋ० अष्टक ४, अध्याय ८; मं० ६, सू० ४८)

इत्यादि अध्याय की व्याख्या करने के पूर्व माधव ऋचा, ऋचा के आधे अंश वा पादों में पुनः आवृत्त पदों के संबंध में प्रवचन करते हैं।

आवृत्त-ऋचा, आवृत्त अर्ध-ऋचा, आवृत्तपाद

१. ऋचोऽर्धर्चाश्च पादाश्च सूक्तान्तेषु पुनः पुनः।
आवर्तमाना दृश्यन्ते सूक्तमध्येष्वपि क्वचित्॥

२. ये स्तोतृभ्यो नू ष्टुत चास्मभ्यं तद्वसो दानाय।
ब्रह्मणस्पते त्वमस्य चतस्रश्च निदर्शनम्॥

पूर्ण ऋचा, या आधी ऋचा या पूर्ण पाद सूक्तों के अंतों में बार बार आवृत्त हुए दिखाई देते हैं। कहीं कहीं सूक्त के मध्य में भी हैं। जैसे--

[१] ये स्तोतृभ्यो ०। (ऋ० २।१।१६)

यह ऋचा (२।२।१३) अगले सूक्त के अन्त में पुनः पठित है।

[२] नू ष्टुत इन्द्र ०। (ऋ० ४।१६।२१)

यह ऋचा १६, १७, १९, २०-२४ सूक्तों के अन्त में पुनः पुनः पठित है।

[३] अस्मभ्यं तद्वसो दानाय ०। (ऋ०२।१३।१३)

यह मन्त्र १३, १४ सूक्तों के अन्त में पठित है।

[४] ब्रह्मणस्पते त्वमस्य ०। (ऋ० २।२३।१९)

यह मन्त्र २२ और २४ सूक्तों के अन्त में पठित है। इसी प्रकार—

नूनं सा ते ०। (ऋ० २।१५।१०)

यह ऋचा १५, १६, १७, १८, १९, २० इन छः सूक्तों के अन्त में पुनः पुनः पठित है।

३. अथार्धर्चस्तन्नो मित्रः सन्त्यन्ये च तादृशाः।

तन्नो मित्रो वरुणो० (ऋ० १।९४।१६)

यह आधी ऋचा ९५, ९६, ९८, १००- १०३, १०५- ११५ इन १८ सूक्तों के अन्त में पुनः पुनः पठित है। इसी प्रकार और भी अनेक आधी ऋचाएं हैं।

प्रातर्मक्ष्विति पादः स्यात्सन्त्यन्ये ऽपि च तादृशाः॥

प्रातर्मक्षू धियावसुर्जगम्यात्॥ (ऋ० १।५८।९)

यह एक पाद ५८, ६०- ६४ इन ६ सूक्तों के अन्त में पुनः पठित है। इसी प्रकार के और भी उदाहरण हैं।

४. स्तुत्वाऽन्यमन्यदेवानान्तत्तदाशासते पुनः।
ऋषयो यद् यदिच्छन्ति तदर्थस्ते न पूरणाः॥

भिन्न भिन्न देवों में से किसी एक देवता की स्तुति करके भी ऋषि लोग जिस जिस वस्तु की इच्छा करते हैं वे उसी की पुनः पुनः आकांक्षा करते हैं। इस कारण वे पूर्णार्थ नहीं हैं।

५. आवर्तयन्ति सूक्तीश्च यथार्चन्ननु स्वराज्यम्।
आवर्तन्ते विधेयाश्च मरुद्भिरग्न आगहि॥

अनेक सूक्तियों का भी आवर्तन करते हैं, जैसे—

अर्चन्ननु स्वराज्यम्॥ (ऋ० १।८०।१-१६)

यह सूक्ति सूक्त की प्रत्येक ऋचा के अन्त में दोहराई गई है।

विधेय पदको भी पुनः पढते हैं जैसे—

मरुद्भिरग्न आ गहि ॥ (ऋ० १।१९।१-९)

यह पाद सूक्त की प्रत्येक ऋचा का अन्तिम पाद है ।

६. सकृत्-प्रदर्शितपदान्मन्त्रान्नाधीयते पुनः ।
अधीयते पुनः कांश्चित् किंनुस्यात्तत्र कारणम् ॥

प्रश्न—

जिन मन्त्रोंके पद एक बार दिखा दिये जाते हैं उन मंत्रों को पुनः नहीं पढते । और कई मन्त्रों को पढते भी है । इस में क्या हेतु है ?

७. नू मे ब्रह्माण्यग्न इति पुनश्चाधीयते पदम् ।
यज्ञेन यज्ञमिति च दशमे मण्डले पुनः ॥

८. तत्राहुः कारणं वृद्धा तस्मिन्नेव पुनः श्रुता ।
नू म इत्यृगियं सूक्ते नैवमन्यत्र दृश्यते ॥

९. एवं विधाया आवृत्तेरन्वेष्टव्यं प्रयोजनम् ।
इति वक्तुं पदावृत्तिः काकुर्ह्यावृत्तितो भवेत् ॥

उत्तर—

नू मे ब्रह्माण्यग्न उच्छशाधि ० । (ऋ० ७।१।२०)

यह ऋचा ज्यों की त्यों इसी सूक्त (ऋ० ७।१।२५) में पुनः पठित है । और—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः ० । ऋ० १।१६४।५०

यह ऋचा भी पुनः (ऋ० १०।९०।१६) में पठित है ।

इस प्रकार के पुनः पठित होने में वृद्ध गुरुजन कारण बतलाते हैं कि– 'नू मे ब्रह्माण्यग्न' यह ऋचा उसी सूक्त में पुनः पठित है, अन्य किसी स्थल में ऐसा नहीं दीखता । इस प्रकार का कारण व प्रयोजन अवश्य खोजना चाहिये, कि इस विशेषता को बतलाने के लिये पदों या ऋचाओं की आवृत्ति होती है । आवृत्ति से 'काकु' अर्थात् वक्ता का विशेष अभिप्राय विदित होता है ।

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः० । (ऋ० १।१६४।५०)

इस ऋचा का अभिप्राय है कि– पुत्र का भी वेद में ऐसा वर्णन है, जैसा इसी ऋचा से पुरुषसूक्त में (ऋ० १०।९०।१६) पुरुष का वर्णन किया गया है । मन्त्र को देखने से ऐसा विदित होता है ।

१०. तिलमात्रे भिद्यमाने पुनश्चाधीयते पदम् ।
सुसूक्ष्मः शक्यते ज्ञातुं नाप्राज्ञैरिति निर्णयः ॥

तिलमात्र भी भेद प्रतीत हो, तो मन्त्र को पुनः पढ़ दिया जाता है, वह अत्यन्त सूक्ष्म भेद प्रज्ञाहीन पुरुषों को विदित नहीं होता ।

११. पुनान इन्दवा भर सोम द्विबर्हसं रयिम् ।
पुनरागतमधर्चं पुनश्चाधीयते पदम् ॥

पुनान इन्दवा भर सोम द्विबर्हसं रयिम् ।
(ऋ० ९।४०।६)

यह आधी ऋचा पुनः (ऋ० ९।१००।२) में पठित है । और सोम द्विबर्हसं रयिम् । यह पद पुनः (ऋ० ९।४।७) में पठित है।

१२. आवेष्ट्य योजना कार्या त्वं वसूनि पुष्यसि ।
द्विबर्हसं रयिं तस्मात् पुनानोऽस्मभ्यमाभर ॥

पुनान इन्दवा भर सोम द्विबर्हसं रयिम् ।
त्वं वसूनि पुष्यसि विश्वानि दाशुषो गृहे ॥
(ऋ० ९।१००।२)

इस मन्त्रमें पदों की योजना आगेपीछे लपेट कर करनी चाहिये। पीछे के पद आगे और आगे के पद पीछे के जाने चाहियें जैसे—

त्वं विश्वानि वसूनि पुष्यसि सोम द्विबर्हसं रयिं पुष्यसि अतः दाशुषो गृहे पुनानः इन्दो अस्मभ्यं आ भर ॥

हे सोम ! तू समस्त ऐश्वर्यों को बढाता है, तू धनको दुगुना कर देता है, अतः तू यजमान के गृह में पवित्र होता हुआ । हमें ऐश्वर्य प्राप्त करा ।

१३. जिघृक्षितो यथान्धः स्याद्बको विक्षिप्तमानसः ।
संदिग्धे च यथा काकः शाकल्योऽपठत्तथा ॥

मत्स्य पकडने की इच्छावाला बक जिस प्रकार विक्षिप्त चित्त होकर अन्धा हो जाता है, और जिस प्रकार काक संदेह-

युक्त पदार्थ में भ्रम में पड़ता है, उसी प्रकार पदकार शाकल्य भी वेदमन्त्रों में कई स्थानोंपर ठोकर खा गया है।

[माधव का यह कथन इस मंत्र को लक्ष्य करके किस प्रकार चरितार्थ होता है, यह स्पष्ट नहीं है। कहनेका अभिप्राय ऐसा प्रतीत होता है, कि पुनः पठित ऋचाओं या अर्ध-ऋचाओं के भीतर विद्यमान पदोंके छेदन में शाकल्य को विशेषता दर्शानी चाहिये थी, सो नहीं दिखाई, इससे पुनः पठित मंत्र की विशेषता लक्षित नहीं होती। वेद के पदच्छेद या पदपाठ में प्राचीन आचार्यों में भेद रहा है, यास्क ने इस संबंध में शाकल्य के पदपाठ पर आक्षेप किया है, और स्वरदोष बतलाया है, जैसे—

वने न वा यो न्यधायि चाकन्। (ऋ० १०।२९।१)

इस ऋचा में शाकल्यकृत पदपाठ है—

वने। न। वा। यः। निऽअधायि। चाकन्।

और यास्कसम्मत पदपाठ है--

वने। न। वायो। निऽअधायि। चाकन्।

यास्काचार्य ने लिखा है—

१४. वेति च य इति च चकार शाकल्यः उदात्तं।
त्वेवमाख्यातमभविष्यदसुसमाप्तश्चार्थः॥
(निरु० ६।२८)

१५. पूरणेष्विति वक्तव्यमध्यायादिषु दर्शितम्।
व्युत्पत्त्यर्थं बह्वृचानां चतुर्थेऽस्माभिरष्टके॥

पूरक पदों के संबंध में चतुर्थ अष्टकके अध्यायों के आदि में बह्वृच् (ऋग्वेद) के पढनेवालों के विशेष ज्ञान के लिए प्रवचन कर दिया।

॥ इत्यष्टमोऽध्यायः॥८॥

॥ इति चतुर्थोऽष्टकः॥४॥

संज्ञानसूक्तम्।

(ऋ० १०।१९१।१—४)

(ऋषिः— १-४ संवनन आङ्गिरसः। देवता-अग्निः, २-४ संज्ञानम्। छन्दः- अनुष्टुप्, ३ त्रिष्टुप्)

संसमिद्युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य आ। इळस्पदे समिध्यसे स नो वसून्या भर ॥ १ ॥ ४२६

पदानि- संऽसं। इत्। युवसे। वृषन्। अग्ने। विश्वानि। अर्यः। आ ॥

इळः। पदे। सं। इध्यसे। सः। नः। वसूनि। आ। भर ॥१॥

अन्वयः- (हे) वृषन् अग्ने! (त्वं) अर्यः विश्वानि सं सं इत् युवसे, इडः (इळः) पदे सं इध्यसे, सः (त्वं) नः वसूनि आ भर।

अर्थ— हे (वृषन्) बलवान् (अग्ने) प्रकाशक देव अग्ने! तू (अर्यः) स्वामी-प्रभु-होता हुआ (विश्वानि) सबको (इत्) निश्चयपूर्वक (सं) उत्तम योग्य रीतिसे तथा (सं) मिलकर (आ युवसे) सब प्रकारसे मिश्रित करता है, तथा पृथक् भी करता है। और (इळः) भूमिके अथवा वाणीके (पदे) स्थानमें (सं इध्यसे) उत्तम रीतिसे प्रकाशित होता है। (सः) वह तू (नः) हमें (वसूनि) धनों से (आ) सब ओर से (भर) भरपूर कर।

भावार्थ— प्रकाशक देव सबसे बलवान् और सबका प्रकाशक है, वही प्रभु यहाँ हमारे सामने अग्निरूपसे विद्यमान है। वह ईश्वर सबको योग्य रीतिसे मिलाता है और आवश्यकता होनेपर पृथक् भी करता है। वह प्रभु इस भूमिपर अग्निरूपसे प्रदीप्त होता है और वाणीकी जडमें भी उसी प्रेरक देव की प्रेरणा है। उसी ईश्वर की हम उपासना करते हैं। वह देव हमें सब आवश्यक और सहायक धनोंसे सदा भरपूर करे।

(वृषन्) Mighty (अग्ने) FIRE! Thou art real (अर्यः) Lord, and (युवसे) unitest (विश्वानि) all things (सं) with real fitness and (सं) preciousness and (युवसे) separate them all (इत्) as well. Thou (सं इध्यसे) art enkindled on (इळः पदे) the place of libation on this earth, as well as in (इडः पदे) the root place of our speech. (भर) Bring (नः) us all (वसूनि) real treasures (आ) from all sides.

मन्त्रके पदोंका अर्थ।

सम्- एकीभावे, सद्भावे, साधुभावे (एक होना, मिलाना, उत्तम अवस्था)।

इत्- निश्चयपूर्वक, निश्चित पद्धतिसे।

वृषन्- शक्तिमान्।

युवसे- यु मिश्रणे अमिश्रणे च (मिलाना, पृथक् करना)।

अग्नि- तदेवाग्निः (यजुः ३२।१) अग्नि ही वह ब्रह्म है।

अर्यः- श्रेष्ठ स्वामी प्रभु।

इळः- इडः- (इड्, इर्, इल्) पृथ्वी, यज्ञभूमि, वाणी।

समिध्यसे- सं इध्यसे= उत्तम प्रकारसे प्रकाशित होता है।

वसूनि- वासयतीति वसु; जिससे प्राणिमात्रका निवास उत्तम रीतिसे हो सकता है वह संपद् वसु कहलाती है।

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्। देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥ २ ॥ ४२७

पदानि— सं। गच्छध्वं। सं। वदध्वं। सं। वः। मनांसि। जानतां।

देवाः। भागं। यथा। पूर्वे। संऽजानानाः। उपऽआसते ॥ २ ॥

अन्वयः— सं गच्छध्वम् । सं वदध्वम् । वः मनांसि सं जानताम् । यथा पूर्वे संजानाना देवाः भागं उपासते ।

अर्थ- (सं गच्छध्वं) मिलकर चलो, मिलकर अपनी हलचल करो, (सं वदध्वं) मिलकर वार्तालाप करो, (वः मनांसि) अपने मनों को आप सब (सं जानतां) मिलकर जानो, (यथा) जिस प्रकार (पूर्वे संजानानाः देवाः) पूर्व समयके एकमतसे रहनेवाले देव जन (भागं) भजनीय-सेवनीय-कर्तव्यके भागको (उपासते) मिलकर, एक स्थान-पर बैठकर करते थे, [उसी प्रकार आप भी अपना कर्तव्य मिलकर करते रहो]।

भावार्थ— मिलकर चलो, मिलकर संभाषण करो, मिलकर अपने सब विचारोंको जानो, सबकी एकता विचार, उचार, आचार में करो। जैसे प्राचीन कालके ज्ञानी जन आपना कर्तव्य कर्म मिलकर करते थे, वैसे ही तुमभी अपना कर्तव्य करते रहो।

देवता Subject of this stanza is "Agreement or Unanimity in assembly" संज्ञानम्।

(सं गच्छध्वं) Assemble and (संवदध्वं) speak together. Let (वः) your (मनांसि) minds (सं जानतां) be all of one accord. (यथा) As (पूर्वे) ancient (देवाः) divines (संजानानाः) used to be unanimous, and (आसते) used to sit (उप) together for doing their appointed (भागं) share in work, [do ye accordingly.]

मन्त्रस्थ पदोंके अर्थ।

संगच्छ्- (सं) मिलकर (गच्छ) चलना, मिलकर हलचल करना ।

संवद्- मिलकर, एक होकर बातचीत करना, जिससे विरोध न हो इस रीतिसे वार्तालाप करना ।

संजानतां- मिलकर एक होकर जानो, ठीक प्रकारसे जानो ।

देवाः- दैवी संपातिसे युक्त लोग, दिव्य जन, व्यवहार करनेवाले लोग ।

भागः- कर्तव्य का भाग ।

संजानानाः- एक होकर कर्तव्यकर्म करनेवाले ।

उपास्- समीप समीप बैठना, एक होकर करना, मिलकर करना ।

समानो मन्त्रः समितिः समानी
समानं मनः सह चित्तमेषाम् ।
समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः
समानेन वो हविषा जुहोमि ॥३॥ ४२८

पदानि- समानः । मन्त्रः । सम्ऽइतिः । समानी । समानं । मनः । सह । चित्तं । एषां । समानं । मन्त्रं । अभि । मन्त्रये । वः । समानेन । वः । हविषा । जुहोमि ॥३॥

अन्वयः— मन्त्रः समानः । समितिः समानी । मनः समानम् । एषां चित्तं सह । वः समानं मन्त्रं अभिमन्त्रये । वः समानेन हविषा जुहोमि ।

अर्थ - आप सबका (मन्त्रः) विचार (समानः) सबके लिए समान हो, आप सबकी (समितिः) सभा (समानी) सबके लिए समान हो, आप सबका (मनः समानं) मन समान हो, (एषां चित्तं) इन सबका चित्त (सह) साथ साथ, समान हो, (वः) आप सबके लिये (समानं मन्त्रं) एकही समान विचार (अभि मन्त्रये) मैं निश्चयपूर्वक देता हूँ। (वः समानेन हविषा) आप सबको मैं समान, एकही हवि द्वारा (जुहोमि) हवन करनेका आदेश देता हूँ ।

भावार्थ— आप सबका विचार सबके लिये एक जैसा हितकारी हो, कभी विरोधी न हो; आपकी सभामें सबकी समानता रहे, विषमता कभी न हो; आपके मन में यही समभाव सदा रहे, कभी विषम भाव न उठे; आपके सब लोगोंका चित्त एकही समान हितकारी विचारसे भरा हो, कभी मतभेद होकर पक्षभेद न बनें; आप सबको एकही ध्येयसे

मैं प्रेरित करता हूँ, ऐसेही आपभी सबको एकही विचार की प्रेरणा करते रहें, विरोध न खडा करें; आपके पास यज्ञके समान साधन उपस्थित हों और सबके सब मिलकर एकही यज्ञमें संमिलित हों और सब मिलकर यज्ञकी पूर्णता करें।

May your (मन्त्रः) idea be (समानः) common, your (समितिः) assembly be (समानी) common, your (मनः) mind be (समानं) common, so may (एषां) their (चित्तं) thoughts (समानं) be united. A (समानं) common (मन्त्रं) purpose (अभिमन्त्रये) do I lay before (वः) you, ye therefore (जुहोमि) worship with (वः) your (समानेन) common (हविषा) oblation.

मन्त्रस्थ पदोंके अर्थ।

समानः- सबके लिये एक जैसा।

समितिः-सभा, ग्रामसभा, राजसभा, धर्मसभा, न्यायसभा।

चित्तं- चित्त, मन।

मन्त्रः- विचार, ध्येय, निश्चित मत।

सह- साथ साथ रहनेवाला।

हविष्- अन्न, हवन करनेके पदार्थ, पूजा करनेके साधन।

जुहोमि- हु- दानादानयोः= देना, लेना, अर्पण करना, यज्ञ करना।

समानी व आकूतिः
समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो
यथा वः सुसहासति ॥४॥ ४२९

पदानि- समानी। वः। आऽकूतिः। समाना। हृदयानि। वः।
समानं। अस्तु। वः। मनः। यथा। वः। सुऽसह। असति ॥४॥

अन्वयः-- वः आकूतिः समानी। वः हृदयानि समाना (समानानि)। वः मनः समानं अस्तु। यथा वः सुसह असति।

अर्थ- (वः आकूतिः) आपका संकल्प (समानी) समान हो (वः हृदयानि समाना = समानानि) आपके अन्तःकरण समान हों। (वः मनः समानं) आपका मन समान (अस्तु) हो, (यथा) जिससे (वः) आप सब (सु-सह) उत्तम प्रकारसे साथ साथ (असति) मिलकर रह सकें- एक बनकर कार्य कर सकें।

भावार्थ- सबका सबके लिए समान हितकारी निश्चित प्रस्ताव हो, उसमें किसी प्रकारकी विषमता न रहे। आपके हृदय समान रीतिसे परस्पर हितकारी विचार करते रहें, कभी विरोधी भाव न उठे। आपका मन सबका हित करनेका समान विचार सदा धारण करे, विरोधी विचार वहाँ न रहे। इस प्रकार आप सबकी एकता सुगमता से हो और आपसमें कभी विरोध न हो।

May one and (समानि) the same be (वः) your (आकूतिः) resolve, and may (वः) your (हृदयानि) hearts be of (समाना) one accord. (समानं) United (अस्तु) be (वः) your (मनः) thoughts (यथा) by which all of (वः) you (सु-सह असति) may live happily in unity.

मन्त्रस्थ पदोंके अर्थ।

आकूतिः- संकल्प, निश्चित मत, ध्येय।

हृदयम्- अन्तःकरण।

मनः- मनन करनेकी इन्द्रिय, अन्तरिन्द्रिय।

सुसह- साथ साथ कार्य करनेकी उत्तम अवस्था।

असति- अस् = होना, बैठना, मिलना।

इस सूक्तके सुभाषित।
ध्यानमें रखने योग्य वाक्य।

१. **वृषन् अर्यः विश्वानि संयुवते (युवसे)**- बलशाली समर्थ ही सबको संघटित करता है।

२. **वृषन् अर्यः इळस्पदे समिध्यते (समिध्यसे)**- बलिष्ठ श्रेष्ठ ही इस भूमिपर चमकता है।

३. **वृषन् अर्यः वसूनि आ भर (ति)**-महाबली श्रेष्ठ

वीर ही सब धनोंको इकट्ठा करता है।

४. संगच्छध्वम्- संगठन करो।

५. संवदध्वम्- मिलकर उत्तम बातचीत करो।

६. वः मनांसि संजानताम्- अपने मनों को ठीक प्रकार से जानो, सुसंस्कारसंपन्न करो।

७. यथा पूर्वे भागं उपासते-जैसे अपने पूर्वज अपना कर्तव्य करते रहे (वह इतिहास जानकर वैसा आचरणकरो)।

८. वः मन्त्रः समानः- आप सबका विचार एकसा हो।

९. वः समितिः समानी- आपकी सभा सबके लिए समान हो।

१०. वः मनः समानम्- आपका मन सबके विषयमें समभाव धारण करे।

११. एषां चित्तं समानम्- इन सबका चित्त समान-समभावसे युक्त हो।

१२. वः समानं मन्त्रं अभिमन्त्रये-आप सबके लिये समान विचार की प्रेरणा करता हूं, आप सब समभावसे प्रेरित हों।

१३. समानेन हविषा जुहोमि- समान हवनसामग्रीसे हवन करता हूँ। (सब इकट्ठे बैठकर एकही द्रव्यसे समान भावके साथ एक यज्ञको पूर्ण करते रहें।)

१४. वः आकूतिः समानी-आप सबका संकल्प एक हो।

१५. वः हृदयानि समानानि- आपके अन्तःकरण एक हो।

१६. वः मनः समानं अस्तु- आपका मन एक हो।

१७. वः सु-सह असति- आपका उत्तम रीतिसे परस्पर सहवास हो।

सांमनस्यम्।

(अथर्व० ३।३०।१-७) (पिप्पलाद ५।१८।१-७)
(ऋषिः- अथर्वा। देवता- सांमनस्यम्। छन्दः-१-४ अनुष्टुप्, ५ विराड् जगती, ६ प्रस्तारपंक्तिः, ७ त्रिष्टुप्।)

**सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥१॥ ४३०**

पदानि- सऽहृदयम्। साम्ऽमनस्यम्। अविऽद्वेषम्। कृणोमि। वः।
अन्यः। अन्यम्। अभि। हर्यत। वत्सम्। जातम्ऽइव। अघ्न्या ॥१॥

अन्वयः- वः सहृदयं, सांमनस्यं अविद्वेषं कृणोमि। अन्यः अन्यं (तथा) अभि हर्यत, अघ्न्या जातं वत्सं इव ॥

अर्थ- (वः) आप सबको (सहृदयं) समान अन्तःकरण, और (सांमनस्यं) समान मन धारण करने का तथा (अ-वि-द्वेषं) परस्पर विद्वेष न करनेका उपदेश (कृणोमि) करता हूँ। आपमें से (अन्यः) प्रत्येक (अन्यं) दूसरेके साथ ऐसा (अभि हर्यत) प्रेमपूर्वक व्यवहार करे कि (इव) जैसी (अ-घ्न्या) गौ (जातं वत्सं) जन्मे हुए बच्चेके साथ प्रेम करती है।

भावार्थ- आप सब परस्परके व्यवहार में हृदयमें शुभ भाव तथा मनमें शुभ संकल्प धारण करें और कभी परस्पर द्वेष न करें। एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के प्रति ऐसा प्रेम करे, कि जैसे गौ अपने नवजात बछडे पर प्रेम करती है।

This hymn is for securing love and concord.

I (कृणोमि) do make for (वः) you (सहृदयं) concord (सांमनस्यं) unanimity, and (अ-वि-द्वेषं) freedom from hate. (अभि हर्यत) Do ye show affection (अन्यः) the one (अन्यं) towards another, (इव) as (अ-घ्न्या) the un-violable [cow] does towards (वत्सं) the calf (जातं) just born.

अथर्व-पिप्पलाद-संहिताका पाठ।

**सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्योऽन्यमभि नवत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥** (पिप्पलाद ५।१८।१)

सायनभाष्यपाठः- सांमनुष्यं- परस्परप्रीति करनेवाले मनुष्य ' संमनुष्य ' कहलाते हैं ।

मन्त्रस्थ पदोंके अर्थ ।

सहृदयं- समभावयुक्त अन्तःकरण का होना ।

सांमनस्यं- सम बुद्धिसे युक्त मनका होना ।

अ-वि-द्वेषः- किसीका विशेष द्वेष न करना, निर्वैरभाव का धारण करना ।

अभिहर्यत- अभि+हर्य (हर्य् गतिकान्त्योः) सब प्रकार से प्रेम करना ।

अघ्न्या- अ-हननीय, अवध्य, गौ ।

अभिनवत- अभि+नु=प्रेमसे पुकारना ।

अनुव्रतः पितुः पुत्रो
मात्रा भवतु संमनाः ।
जाया पत्ये मधुमतीं
वाचं वदतु शन्तिवाम् ॥४३१॥

पदानि- अनुऽव्रतः । पितुः । पुत्रः । मात्रा । भवतु । सम्ऽमनाः ।

जाया । पत्ये । मधुऽमतीम् । वाचम् । वदतु । शन्तिऽवाम् ॥२॥

अन्वयः- पुत्रः पितुः अनुव्रतः भवतु । (पुत्रः) मात्रा संमनाः (भवतु) । जाया पत्ये मधुमतीं शन्तिवां वाचं वदतु ।

अर्थ- (पुत्रः) लडका (पितुः) पिताके (अनुव्रतः) अनुकूल कार्य करनेवाला (भवतु) हो, तथा पुत्र (मात्रा) अपनी माताके साथ (संमनाः) मिलते जुलते मनवाला हो । (जाया) पत्नी (पत्ये) अपने पतिके साथ (मधुमतीं) मीठा और (शन्तिवां) शान्तियुक्त (वाचं) वचन (वदतु) बोले ॥

भावार्थ- पुत्र अपने मातापिताकी इच्छा के अनुकूल कार्य करे, उनका विरोध न करे । पत्नी अपने पतिसे मीठा और शान्ति बढानेवाला भाषण करे, न लडे ।

(पुत्रः) the son (अनुव्रतः भवतु) should act agreeable to (पितुः) his father and (संमनाः) be one-minded with his mother. Let the (जाया) wife (वदतु) speak (पत्ये) to her husband (मधुमतीं) sweet (शन्तिवां) calm and gentle (वाचं) words.

पिप्पलाद-संहितापाठः ।

अनुव्रतः पितुः पुत्रो
मात्रा भवति संयतः ।
जाया पत्ये मधुमतीं
वाचं वदतु शान्तिवाम् ॥

मन्त्रस्थ पदोंके अर्थ ।

अनुव्रतः- अनुकूल कार्य करनेवाला, अनुकूल नियमोंसे चलनेवाला ।

संमनाः- जिसका मन मिलता हो, अनुकूल मनवाला ।

जाया- पत्नी ।

मधुमती- शहदसे युक्त मीठा ।

शन्तिवां- शान्त, सभ्य ।

पिप्पलाद-संहिताके मन्त्रस्थ पदोंका अर्थ—

भवति- होता है ।

सं-यतः- संयमी, उत्तम रीतिसें मिला हुआ ।

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्
मा स्वसारमुत स्वसा ।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा
वाचं वदत भद्रया ॥४३२॥

पदानि- मा । भ्राता । भ्रातरम् । द्विक्षत् । मा । स्वसारम् । उत । स्वसा । सम्यञ्चः । सऽव्रताः । भूत्वा । वाचम् । वदत । भद्रया ॥३॥

अन्वयः- भ्राता भ्रातरं मा द्विक्षत् । उत

वसा स्वसारं मा (द्विक्षत्) । (सर्वे) सम्यञ्चः सव्रताः भूत्वा, भद्रया वाचं वदत ॥

अर्थ- (भ्राता) भाइ (भ्रातरं) भाईसे (मा) न (द्विक्षत्) द्वेष करे । (उत) और (स्वसा) बहिन (स्वसारं) बहिनसे (मा) न (द्विक्षत्) द्वेष करे। सब (सम्यञ्चः) मिलजुलकर (सव्रताः) एक कार्य करनेवाले (भूत्वा) होकर, (भद्रया (कल्याणकारक (वाचं) भाषण (वदत) बोलो ॥

भावार्थ- भाई, बहिन आपसमें किसीका द्वेष न करें, भाई-भाई, बहिन बहिन भी आपसमें न झगडे । सब मिलकर आनन्दसे रहें, एक कार्य करते जाएँ और आपसमें कल्याण करनेवाला भाषण करें ॥

(मा) No (भ्राता) brother (द्विक्षत्) should hate his (भ्रातरं) brother, (उत) so also (मा) no (स्वसा) sister to (स्वसारं) her sister be unkind. (भूत्वा) Being (सम्यञ्चः) unanimous and (सव्रताः) with one intent (वदत) speak ye (वाचं) your speech (भद्रया) auspiciously.

मन्त्रस्थ पदोंका अर्थ ।

द्विक्षत्- (द्विष्,) द्वेष करना ।
स्वसा- (स्वसृ) = बहिन ।
भ्राता- (भ्रातृ) = भाई ।
सम्यञ्चः- मिलजुलकर रहनेवाले ।
सव्रताः- एक कार्य मिलजुलकर करनेमें दक्ष ।
भद्रा- कल्याणकारक ।

येन॑ दे॒वा न वि॒यन्ति॒
नो च॑ विद्वि॒षते॑ मि॒थः ।
तत्कृ॑ण्मो॒ ब्रह्म॑ वो गृ॒हे
सं॒ज्ञानं॒ पुरु॑षेभ्यः ॥४॥ ४३३

पदानि-- येन॑ । दे॒वाः । न । वि॒ऽयन्ति॑ । नो इति॑ । च॒ । वि॒ऽद्वि॒षते॑ । मि॒थः । तत् । कृ॒ण्मः॒ । ब्रह्म॑ । वः॒ । गृ॒हे । स॒म्ऽज्ञान॑म् । पुरु॑षेभ्यः ॥४॥

अन्वयः--येन देवाः न वियन्ति । मिथः च नो विद्विषते । तत् संज्ञानं ब्रह्म वः गृहे पुरुषेभ्यः कृण्मः ।

अर्थ- (येन) जिससे (देवाः) दिव्य जन (न वियन्ति) विरोध नहीं करते, तथा (मिथः) परस्पर (नो विद्विषते) द्वेष भी नहीं करते (तत्) उस (सं-ज्ञानं ब्रह्म) उत्तम ब्रह्मज्ञान का उपदेश (वः गृहे) आपके घरके (पुरुषेभ्यः) सब मनुष्योंको (कृण्मः) करते हैं ।

भावार्थ- जिस ज्ञानसे आपसका विरोध नहीं बढता और जिससे परस्पर वैर घटता है, वह ब्रह्मज्ञानही है। वह ज्ञान घरमें, ग्राममें, राष्ट्रमें और विश्वमें रहनेवाले स्त्रीपुरुषोंको होना चाहिए, जिससे विश्वमें शान्ति रहेगी और कलह नहीं होंगे ।

(येन) By which (देवाः) divines (न वियन्ति) do not sever (नो) nor (विद्विषते) hate (मिथः) each other, (कृण्मः) we make (तत्) that (संज्ञानं ब्रह्म) real knowledge (पुरुषेभ्यः) for men (वः गृहे) in your house.

मन्त्रस्थ पदोंका अर्थ ।

वियन्ति- वि+या = विरुद्ध दिशासे जाना, विरोध करना ।
संज्ञानं- उत्तम ज्ञान, एकताका ज्ञान ।
ब्रह्म- यथार्थ ज्ञान ।
पुरुषः- पुरुष, मनुष्य, मानव ।

ज्याय॑स्वन्तश्चि॒त्तिनो॒ मा वि यौ॑ष्ट
सं॒रा॒धय॑न्त॒ः सधु॑रा॒श्चर॑न्तः ।
अ॒न्यो अ॒न्यस्मै॑ व॒ल्गु वद॑न्त॒ एत॑
स॒ध्रीचीना॑न्वः॒ संम॑नसस्कृणोमि ॥४३४॥

पदानि- ज्याय॑स्वन्तः । चि॒त्तिनः॑ । मा । वि । यौ॒ष्ट । स॒म्ऽरा॒धय॑न्तः । सऽधु॑राः । चर॑न्तः । अ॒न्यः । अ॒न्यस्मै॑ । व॒ल्गु । वद॑न्तः । आ । इ॒त । स॒ध्री॒चीना॑न् । वः । सम्ऽम॑नसः । कृ॒णो॒मि ॥५॥

अन्वयः– ज्यायस्वन्तः, चित्तिनः, संराधयन्तः, सधुराः चरन्तः, मा वि यौष्ट । अन्यः अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत । सध्रीचीनान् वः संमनसः कृणोमि ॥

अर्थ– (ज्यायस्वन्तः) श्रेष्ठोंके साथ रहते हुए, (चित्तिनः) स्वयं विद्वान् होकर, (सं-राधयन्तः) सम्यक् रीतिसे कार्य सिद्धिके प्रयत्नमें तत्पर रह कर, (सधुराः) कार्यकी धुरा सिर पर लेकर, (चरन्तः) आगे बढते हुए (मा वि-यौष्ट) जुदा मत होओ । (अन्यः अन्यस्मै) एक दूसरेके साथ (वल्गु) मीठा (वदन्तः) भाषण करते हुए (एत) आगे बढो । (सध्रीचीनान्) एक उद्देश्यसे कार्य करनेवाले (वः) आपको (संमनसः) उत्तम एक विचारवाले मनसे युक्त (कृणोमि) मैं करता हूँ ॥

भावार्थ- जो श्रेष्ठ आप्त पुरुष होंगे, उनके साथ रहो, अपने मनोंको सुसंस्कारसंपन्न करो, एक कार्य को मिल-जुलकर एक विचारसे करो, कार्यका भार अपने सिरपर लेनेको सदा उद्यत रहो, आपसमें विरोध न खडा करो, परस्पर मीठा भाषण करो, एक ध्येयकी सिद्धिके लिये तत्परता के साथ लगो, एक मनोभावसे एकताके लिए यत्न करो; यही सत्यज्ञान है, अतः सबको यही ज्ञान दो ।

(मा वियौष्ट) Be ye not divided, (ज्यायस्वन्तः) having superiors (चित्तिनः) intentful, (संराधयन्तः) accomplishing together (सधुराः चरन्तः) moving on with joint labour (एत) come hither (वदन्तः) speaking what is (वल्गु) agreeable to (अन्यः अन्यस्मै) one another. I (कृणोमि) make you (सध्रीचीनान्) united and (संमनसः) like-minded.

पिप्पलाद-संहिता-पाठः ।

ज्याय॑स्वन्तश्चि॒त्तिनो॒ मा वि यौ॑ष्ट संरा॒धय॑न्तः सु॒धि॑रा॒श्चर॑न्तः । अ॒न्यो ऽन्यस्मै॑ व॒ल्गु वद॑न्तो॒ यात॑ सम॒ग्राः स्थ स॒ध्री॒चीना॑न्वः॒ संम॑नसस्कृणोमि ॥

मन्त्रस्थ पदोंका अर्थ ।

जायस्वन्तः-ज्यायस्-वन्तः; श्रेष्ठोंसे युक्त, जिनमें बडे महात्मा रहते हैं ऐसे ।

चित्तिनः-चित्तिन्;=शुभ संस्कारोंसे युक्त चित्तवाले, जिनके अन्तःकरण शुभ हैं ।

वियौष्ट-वि+यु = जुदा होना, पृथक् होना ।

संराधयन्तः-सं= एक होकर, मिलकर । (राधयन्तः) सिद्धिके लिये प्रयत्न करनेवाले । राध् सिद्ध करना ।

सधुराः-धुराको उठानेवाले, मुख्य कार्यका भार सिरपर लेनेवाले ।

वल्गु-मधुर, मीठी, आनन्द देनेवाली ।

सध्रीचीनः- सध्र्यञ्च् =एक उद्देश्यसे कार्य करनेवाले, एक केन्द्रके अनुगामी ।

संमनसः—एक मनवाले ।

सुधिराः-सुधीराः उत्तम बुद्धिमान्, उत्तम संमति देनेवाले ।

समग्राः- सं अग्राः = जिनका एक अन्तिम स्थान है ।

स॒मा॒नी प्र॒पा स॒ह वो॑ऽन्नभा॒गः स॑मा॒ने योक्त्रे॑ स॒ह वो॑ युनज्मि । स॒म्यञ्चो॒ऽग्निं स॑पर्यता॒रा नाभि॑मि॒वा॒भितः॑ ॥ ६ ॥ ४३५

पदानि- स॒मा॒नी । प्र॒ऽपा । स॒ह । वः॒ । अ॒न्न॒ऽभा॒गः । स॒मा॒ने । योक्त्रे॑ । स॒ह । वः॒ । यु॒न॒ज्मि॒ । स॒म्यञ्चः॑ । अ॒ग्निम् । स॒प॒र्य॒त॒ । अ॒राः । नाभि॑म्ऽइव । अ॒भितः॑ ॥६॥

अन्वयः– वः प्रपा समानी । वः अन्नभागः

सह । वः समाने योक्त्रे सह युनज्मि । सम्यञ्चः अग्निं सपर्यत । नाभिं अभितः अराः इव ॥

अर्थ-(वः) आप सबकी (प्रपा) प्याऊ (समानी) समान-सबकी एक-हो । (वः) आप सबका (अन्न भागः) अन्नसेवन (सह) साथ साथ मिलकर, हो । (वः) आप सबको (समाने योक्त्रे) एक ही बंधनसे (सह) साथ साथ (युनज्मि) जोडता हूँ । (सम्यञ्चः) इकट्ठे होकर (अग्निं) अग्निकी (सपर्यत) उपासना करो । (इव) जैसे (नाभिं अभितः) नाभिके चारों ओर (अराः अरे होते हैं ।

भावार्थ— आप सबका जलपान करनेका स्थान एक हो। आप सब साथ साथ बैठकर भोजन करो । आप सब एक कार्य सिद्ध करनेके लिए मिलकर लग जाओ। आप सब एक स्थानपर मिलकर उपासना करो । अग्निमें हवनके लिये अग्निके चारों ओर ऐसे बैठ जाओ,जैसे नाभिके चारों ओर अरे होते हैं।

(वः) your (प्रपा) drinking place be (समानी) the same (वः) your (अन्नभागः) share of food be (सह) in common; (समाने) in the same (योक्त्रे) harness do I (युनज्मि) join (व) you (सह) to-gether. (सपर्यत) worship ye (अग्निं) the fire (सम्यञ्चः) united, (अराः इव) like spokes (नाभिं अभितः) about a nave.

पिप्पलाद-संहिता-पाठः ।

समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि । सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभृताः ॥

मन्त्रस्थ पदोंका अर्थ ।

प्रपा- पियाऊ, पानी पीनेका स्थान ।

अन्नभागः-अन्नका भाग, भोजन ।

योक्त्रं-जिससे धुराके साथ पशु बाँधे जाते हैं,वह रस्सी, या चमडेकी पट्टी ।

सम्यञ्चः- मिलकर ।

सपर्यत- उपासना करो, पूजा करो ।

नाभिः-चक्रका मध्य भाग जिसमें अरे लगे होते हैं।

अराः-अरे, आरे ।

आभृता-चारों ओर अच्छी तरहसे भरे हुए ।

सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोम्ये-कश्नुष्टीन्त्संवननेन सर्वान् । देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायंप्रातः सौमनसो वो अस्तु ॥७॥ ४३६

पदानि--सध्रीचीनान् । वः । सम्ऽमनसः । कृणोमि । एकऽश्नुष्टीन् । सम्ऽवननेन । सर्वान् । देवाः । इव । अमृतम् । रक्षताणाः सायम्ऽप्रातः । सौमनसः । वः । अस्तु ॥७॥

अन्वयः--वः सर्वान् संवननेन सध्रीचीनान्, संमनसः, एकश्नुष्टीन् कृणोमि । अमृतं रक्षमाणाः देवा इव वः सायंप्रातः सौमनसः अस्तु ॥

अर्थ-(वः) आप (सर्वान्) सबको (संवननेन) आपसके प्रेमसे (सध्रीचीनान्) एक कार्य में तत्पर, (संमनसः) एक मनवाले, और (एकश्नुष्टीन्) एक संगठन में रहनेवाले (कृणोमि) करता हूँ । (अमृतं रक्षमाणाः) अमृतकी रक्षा करनेवाले (देवाः इव) जैसे देव एक मतसे रहते हैं, वैसे (वः) आप सबका (सायं प्रातः) सायंप्रातः (सौमनसः) उत्तम मन (अस्तु) रहे ।

भावार्थ-आप सब परस्पर सहायता करते हुए प्रेम करो, एक कार्य में लग जाओ, एक विचार मनमें रखो, एक संगठन में रहो, मनमें उत्तम विचार धारण करो। ऐसा करने से तुम वैसे दिव्य बनोगे, जैसे अमृतके रक्षक होते हैं ।

I (कृणोमि) make (वः सर्वान्) ye all (सध्रीचीनान्) united, (संमनसः) like-minded and (एकश्नुष्टीन्) of one union or obeying one sole leader (संवननेन) by consiliation (इव) as (देवाः) the Devas (रक्षमाणाः) who guard, (अमृतं) immortality, at (प्रातः) morn and (सायं) eve. May (वः) ye (अस्तु) be (सौमनसः) kind-hearted.

स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि॰ सातारा) की हिंदी पुस्तकें।

	मू.	डा०व्य०
१ ऋग्वेद-संहिता	५)	१)
२ यजुर्वेद-संहिता	२)	॥)
३ सामवेद (छप रहा है)	३)	॥)
४ अथर्ववेद	३)	॥)
महाभारत आदिपर्व	६)	१।)
,, सभापर्व	२॥)	॥)
,,	६॥)	।॥=)
संस्कृतपाठमाला।		
वै. यज्ञसंस्था भाग १	१)	।)

अथर्ववेदका सुबोध भाष्य।

१ प्रथम काण्ड सजिल्द	२)	॥)
२ द्वितीय काण्ड ,,	२)	॥)
३ तृतीय काण्ड ,,	२)	॥)
४ चतुर्थ काण्ड ,,	२)	॥)
५ पंचम काण्ड ,,	२)	॥)
६ षष्ठ काण्ड ,,	२)	॥)
७ सप्तम काण्ड ,,	२)	॥)
८ अष्टम काण्ड ,,	२)	॥)
९ नवम काण्ड ,,	२)	॥)
१० दशम काण्ड ,,	२)	॥)
११ एकादश काण्ड ,,	२)	॥)
१२ द्वादश काण्ड ,,	२)	॥)
१३ त्रयोदश काण्ड ,,	१)	॥)
१४ चतुर्दश काण्ड ,,	१)	॥)
१५ १५ से १८ तक ४ काण्ड	२॥)	॥)
छूत और अछूत	१॥)	॥)
भगवद्गीता (पुरुषार्थबोधिनी)	९)	१॥)
महाभारतसमालोचना। (१-२)	(१)	॥)
वेदस्वयंशिक्षक भा. १-२	३)	।॥)
१ संध्योपासना।	१॥)	।-)
२ योगके आसन। (सचित्र)	२)	।≡)
३ ब्रह्मचर्य।	१)	।-)
४ सूर्यभेदन-व्यायाम (,,)	॥)	॥)
५ योगसाधनकी तैयारी।	।॥)	॥)
यजु. अ. ३६ शांतिका उपाय	॥=)	≡)
शतपथबोधामृत	।)	-)

देवतापरिचय-ग्रंथमाला।

१ रुद्रदेवतापरिचय	॥)	=)
२ ऋग्वेदमें रुद्रदेवता	॥=)	=)
३ देवताविचार	≡)	-)
४ अग्निविद्या	१॥)	-)

बालकधर्मशिक्षा।

१ प्रथम भाग।	-)	-)
२ द्वितीय भाग	=)	-)
३ वैदिक पाठमाला। प्रथम पुस्तक	≡)	-)

आगमनिबंधमाला।

१ वैदिक राज्यपद्धति।	।)	-)
२ मानवी आयुष्य।	।)	-)
३ वैदिक सभ्यता।	।॥)	=)
४ वैदिक चिकित्साशास्त्र	।=)	-)
५ वैदिक स्वराज्यकी महिमा	॥)	=)
६ वैदिक सर्पविद्या।	॥)	=)
७ मृत्युको दूर करनेका उपाय।	॥)	=)
८ शिवसंकल्पका विजय।	॥)	=)
९ वेदमें चर्खा।	॥)	=)
१० वैदिक धर्मकी विशेषता	॥)	=)
११ तर्कसे वेदका अर्थ	॥)	=)
१२ वेदमें रोगजंतुशास्त्र	≡)	-)
१३ वेदमें लोहेके कारखाने	।-)	-)
१४ वेदमें कृषिविद्या	≡)	-)
१५ ब्रह्मचर्यका विघ्न	=)	-)
१६ इंद्रशक्तिका विकास	॥)	=)
उपनिषद् माला। १ ईशोपनिषद्	१)	।-)
२ केन उपनिषद्	१।)	।-)
१ वैदिक अध्यात्मविद्या	॥)	=)
२ गीता-लेखमाला १से७भाग	५॥)	१॥)
३ गीता-समीक्षा	=)	-)
४ यज्ञोपवीत संस्काररहस्य	१।)	॥)
५ भगवद्गीता (प्रथम भाग) (मायानन्दी भाष्य)	१)	॥)
६ भक्तके भगवान	॥)	=)
७ वेदोक्त प्रजननशास्त्र	।॥)	-)

मुद्रक और प्रकाशक— व० श्री० सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध

वैदिक धर्म ।

मई १९४०
संवत् १९९६



विश्वविख्यात कवि रवीन्द्रनाथ टागोर ।

वर्ष २१, अंक ५]

[क्रमांक २४५

वैदिक धर्म ।

[मासिक पत्र]

संपादक
पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

सहसंपादक
पं० तडित्कान्तजी वेदालंकार

स्वाध्याय-मण्डल, औन्ध

वार्षिक मूल्य म. आ. से ५) रु. वी. पी. से ५।।) रु. विदेशके लिये ६।।) रु.

वर्ष २१] **विषयानुक्रमणिका** [अङ्क ५

वैदिकधर्म

क्रमांक २४५

वर्ष २१ : : : : अंक ५

चैत्र संवत् १९९६

मई १९४०

सन्तोष ।

मनो मे तर्पयत, वाचं मे तर्पयत, प्राणं मे तर्पयत, चक्षुर्मे तर्पयत, श्रोत्रं मे तर्पयत ।
आत्मानं मे तर्पयत, प्रजां मे तर्पयत, पशून्मे तर्पयत, गणान्मे तर्पयत, गणा मे मा वितृषन् ॥

(वा० यजु० ६-३१)

मन, वाणी, प्राण, चक्षु, और कानों को सन्तुष्ट करो, आत्माका संतोष करो, संतति, प्रजा, पशु तथा अनुयायी इन सबका संतोष करो, अनुयायियोंमें विरोध खडा न हो ।

व्यक्तिमें संतोष, समाजमें संतोष रहे, अनुयायोंमें विरोध न बढे, इतनाही नहीं अपि तु पशुपक्षी भी सन्तुष्ट रहें और सब आनन्दमें रहें ।

सामवेद की खोज के लिये दक्षिण देश की यात्रा।

स्वाध्याय-मण्डल-द्वारा '**सामवेद**' का मुद्रण हुआ, सामवेद का ग्रन्थ तैयार हुआ। अब सामगान तथा अन्य सामशाखाओं की छपाई करने का संकल्प किया है। परन्तु बंगाल, काशी, प्रयाग, मथुरा, राजस्थान, गुजरात-शुक्ल-तीर्थ आदि स्थानों के सामवेदियों के अन्दर जितने सामवेदी हैं, वे सब के सब कौथुमी शाखा के ही हैं। उत्तर भारत में अन्य शाखा के सामवेदी नहीं हैं। तथा जो सामपाठी उत्तर भारत में हैं, वे तो सब कौथुमीहि है।

पूना में राणायणीय शाखा के सामवेदी हैं। वे सामगान करने में बडे प्रवीण भी हैं। उन का नाम पं० लक्ष्मण शंकर द्रवीड है। पर ये मद्रासी द्रविड देश के रहनेवाले हैं। ये ३०० वर्षों के पूर्व मद्रास के तिन्निवेल्ली जिलेके तेंकाशी नगरसे यहां आकर रहे हैं। अतः इन का नाम भी 'द्रविड' ही यहां प्रसिद्ध है।

उत्तर भारत में जहां सामवेदी हैं, वहां वे सब कौथुमी शाखा के ही हैं, जहां कहां अन्य शाखाके सामवेदी हैं, वहां वे दक्षिण भारत से आये हुए हैं। इसलिये साम-वेद की अन्य शाखाओं के लिये दक्षिण भारत की खोज करनी चाहिये, यह निश्चित हुआ।

चारपांच सों वर्षों के पूर्व महाराष्ट्र में हजारहां सामवेदी रहते थे। उन के वंशज इस समय हजारों की संख्या में ईसाई हो चुके हैं। जो बचे हैं, वे अपने आपको ऋग्वेदी कहलाते और यदि वे वेदाध्ययन करते हैं, तब तो वे ऋग्वेद का ही अध्ययन करते हैं। महाराष्ट्रमें सामवेदी हैं, परन्तु वे नाममात्र सामवेदी हैं, और जो दसपांच सामवेदी करके मान्यता पाये हैं, वे यज्ञ के उपयोगी दस-वीस साम ही केवल गाते हैं। इस से अधिक सामवेद का अध्ययन महाराष्ट्र में नहीं है।

गुजरात के शुक्लतीर्थ में साम का अध्ययन अच्छा है, तथा भावनगर, जामनगर आदि स्थानों में परंपरा के अनुसार सामवेद का अध्ययन करनेवाले आज भी बहुत मिलते हैं। अर्थात् सामवेद की रक्षा महाराष्ट्र की अपेक्षा गुजरातने अधिक की है और जैसे अच्छे पढिक सामवेदी गुजरातमें मिलते हैं, वैसे काशी के सिवाय अन्यत्र किसी जगह इस समय नहीं मिलते। तथापि यहां केवल कौथुमी शाखा का ही अध्ययन है, अन्य शाखाओं का नाम तक उत्तर में नहीं है।

महाराष्ट्रमें बहुत सामवेदी थे, उनमें से दसपांचों के ही घरों में सामवेद के ग्रंथ मिले हैं। पर वे सब के सब कौथुमी शाखा के ही हैं। महाराष्ट्रमें बडी खोज करने पर भी अन्य शाखा के सामवेद मिले नहीं। इससे अनुमान हो सकता है कि, महाराष्ट्र के सामवेदी कौथुमी शाखा के ही थे। इस कारण सामवेद की खोज के लिये दक्षिण दिशा की यात्रा करना आवश्यक हुआ, और इस यात्रा का प्रारंभ (ता. १५ मार्च) फाल्गुन शुक्ल ६ के दिन हुआ।

विजयानगर।

हम पहिले धारवाड, हुबली के विद्वानों का दर्शन करके विजयानगर के राज्यमें गये। विजयानगर-राज्यका अवशेष हम्पी में देख कर मन बडा ही दुःखी हुआ। हम्पी का **विष्णु-मन्दिर** (विठ्ठल-मन्दिर) देखकर किसका दिल दुःख-से व्याप्त न होगा? **इस मन्दिर के समान श्रेष्ठ कारीगरी का मन्दिर विश्वमें दूसरा नहीं है।** परन्तु वह मोहमदियों के आघातों से टूटा हुआ भग्न अवस्थामें पडा है!! यहां यदि कोई २५-३० हजार रु० का व्यय करेगा, तो सीमेंटकांक्रीट का छत बन सकता है और थोडे से व्यय से ५०० छात्रों का एक रमणीय ऋषिकुल या गुरुकुल यहां बन सकता है। साथ रमणीय नदी है, संपूर्ण दृश्य अत्यन्त मनोहारी है। परन्तु यह

सब इस समय निर्जन वन ही है ।

आज नदी पार एक छोटीसी नाममात्र रियासद आनागोंदी नाम की है । वहां कुछ सामवेदी रहते थे, परन्तु इस समय उनमें अध्ययन कुछ भी नहीं रहा है । तीन सौ वर्ष पूर्व जिस विजयानगरमें चारों वेदोंके और वेदशाखाओंके सहस्त्रों ब्राम्हण थे, वहां आज एक भी पण्डित नहीं रहा, और जहां विद्यादेवी जागती थी, वहां विद्या का नाम तक नहीं रहा ! कैसी करुण अवस्था है देखिये ।

तिरुपति ।

यहां से हम '**तिरुपति**' में गये । क्योंकि बीचमें कोई ऐसा नगर नहीं है, कि जहां वेदोंके विद्वान् मिल सकते होंगे । **तिरुपति** यह तामिळ भाषा का शब्द है । श्रीपति मूल संस्कृत शब्द है, उसको '**तिरुपति**' रूप बना है । यह वैष्णवोंका केन्द्रस्थान है । श्रीपति विष्णुका नाम है । श्री का तामीळ भाषामें रूप 'त्री' या 'तिरु' होता है ।

तामील शब्द का अर्थ भी 'तामी' (प्रत्येकमें) 'ळ' ऐसा होता है । प्रायः प्रत्येक वाक्यमें 'ळ' होता है, कई बार तो प्रत्येक शब्द में भी 'ळ' आता है । इसलिये इस भाषाको '**तामीळ**' कहते हैं । वेदमें 'ड' के स्थान में 'ळ' और 'ढ' के स्थान पर 'ळह' आता है । पर तामील के 'ळ' का उच्चारण और ही है और **यही तामीळ 'ळ' का उच्चारण जैमिनीय सामवेदमें प्रायः सर्वत्र किया जाता है,** यह बात हमें इस इलाकेमें भ्रमण करने से ज्ञात हुई । यह बात इस शाखा का द्राविड देश के साथ निकट सम्बन्ध है, इस बात की सिद्धता करती है ।

जैमिनीय सामशाखा उत्तर भारत में नहीं है, और तामिळ भाषा बोलनेवालों के देशमें ही है, और उस सामगानमें तामिळ के 'ळ' कारक उच्चारण होता है, यह बात विशेष महत्व की है । जैसा मराठी भाषामें 'च-छ-ज-झ' के दो उच्चारण हैं, एक संस्कृत जैसा और दूसरा खास मराठी का । मराठी का 'च' कोई दूसरे बोल ही नहीं सकते । इसी तरह तामीळवालों का 'ळ' कार है, वह 'र-ड-ल-ळ' न होता हुआ 'र और ळ' के बीच का उच्चार है । हमने २०।२५ दिन यत्न किया, परन्तु न तामीळ जैसा अथवा न जैमिनीय सामवेदियों जैसा ळकार का उच्चारण हम करनेमें सफल हुए । यह जैमिनीय सामवेद की विशेषता यहां मालूम हुई ।

संस्कृत का 'ळ' गानोंमें खटकता है, पर जैमिनीयोंका यह तामीळ 'ळ' न खटकते हुए, गानस्वरोंके साथ मेल खाता हुआ उच्चारा जाता है ।

अस्तु । इस तरह हम तिरुपति में वैष्णवोंके अड्डेमें चल गये । **तिरुपति के पहाड की ७ मील चढाई है और उनमें ४ मैल ऐसी है कि जिसको बिलकुल खडी चढाई कही जा सकती है** । इस समय ७० वर्षोंकी हमारी आयुमें ऐसी खडी चढाई चढना संभवही नहीं है । इसलिये हमने ४।) रु० देकर डोली की । प्रातः ३ बजे चढने लगे तो डोलीसे ८॥ बजे तिरुपति पहुंचे । वहां पहिले लिखापढी की थी । इसलिये विद्वानों के दर्शन होनेमें देरी नहीं लगी । परन्तु ऐसे समर्थ केन्द्रमें भी वेदोंके बडे वैदिक दुष्प्राप्य ही हैं, यह यहां आकर पता लगा ।

यह स्थान बडा रमणीय है और यहां ३ मैल के फासले पर आकाशगंगा और पाताळगंगा ये दोनों जलस्थान नितान्त रमणीय हैं । यहां पूर्व कालमें तपस्वी तप करते थे और ज्ञानी ब्रह्मज्ञान का विचार करते थे । वहां आज निरक्षर लोग रहते हैं !! तिरुपति का देवस्थान बडा ही समृद्ध है और लाखों रु० की आमदनी वर्ष में होती है । ७ मील तक पौडियां हैं और नीचे से मन्दिर तक बिजली की रौशनी पौडियोंपर प्रकाश डालती है। इसलिये रातके १२ बजे भी यात्री विना डर होकर ऊपर चढते रहते हैं ।

कुष्टरोगी ।

परन्तु यह सब मार्ग कुष्टरोगियों से भरा है । प्रत्येक पौवडी पर एक दो कुष्टरोगी विकलांग होकर भीक मांगने के लिये बैठे हैं । दोनों ओरसे भीक मांगने के लिये यात्री के ऊपर ये दौडते हुए आते हैं । ये यहीं रहते हैं, यहीं मलमूत्रविसर्जन करते हैं और इनके स्पर्शसे और संसर्ग से कितना कुष्टरोग यहां फैलता है, इसकी कल्पना करना कठिन है ।

यदि तिरुपति देवस्थान की आमदनीसे महारोगियों का बडा हास्पीटल इन पहाडियों में खोला जाय और

इस मार्ग पर कोई रोगी न बैठे, ऐसा प्रबंध किया जाय, तब तो यात्रियों को सुख हो सकता है। इस समय यह तो विद्या का केन्द्र होनेके स्थान पर '**महारोग-कुष्ट का केन्द्र**' बना है!! यात्रापर विशेष कर रखकर इन रोगियों का उत्तम प्रबंध होगा, तभी ठीक हो सकता है।

मन्दिर के पास भी रोगी बैठे रहते हैं। सरकारी प्रबंध होनेपर भी और बिजली की रोशनी होनेपर भी मंदिर के अन्दर बिलकुल स्वच्छता नहीं है। पिंजरे में यात्रियों को रखते हैं और जेल या हवालात जैसा दृश्य यहां प्रतीत होता है। यहां नाममात्र वेदपाठशाला और अध्यापक वगैरे हैं, परन्तु किसी वेदविद्या का कुछ पता यहां नहीं है।

जहां जाओ वहां स्त्रीपुरुषों के बाल काटनेवाले हजामों की भरमार है। यहां तक गलीज परिस्थिति है कि जो मुख्य तालाव है, उसका पानी खराब होकर बिलकुल हरा हुआ है, तथापि यात्री वहीं स्नान करते हैं, और कोई स्वच्छता की फिक्र नहीं करते। हमने तो आकाशगंगामें यहांसे ३ मील पर जाकर स्नान किया। सामवेदी एक भी यहां न मिला। इसलिये हमें यहां रहने का कोई प्रयोजन न था, अतः यहां से चलकर रात की गाडीपर सवार हुए और दूसरे दिन मद्रास पहुँचे।

मद्रास और अड्यार।

मद्रास में तथा अड्यार में थियोसफी का बडा पुस्तकालय है और उसमें लिखित ग्रन्थ बहुत हैं। इन सब ग्रन्थालयों का हमने निरीक्षण किया, परन्तु यहां जैमिनी और राणायणीय शाखा का नाम भी जाननेवाला कोई नहीं था। वैसे यहां वेदों और शास्त्रों के विद्वान् बहुत हैं, परन्तु सामवेद की और और भी शाखाएं हैं, इतना जाननेवाले भी यहां कोई नहीं है! यहां अच्छे विद्वान्, अच्छे खोज करनेवाले, अच्छे सात्विकवृत्ति से रहनेवाले और धर्मसेवामें जीवन व्यतीत करनेवाले बहुत सज्जन हैं। विशेष कर अड्यारमें थियोसफी की संस्थामें बडाहि प्रशान्त रमणीय वायुमण्डल है। यहीं हमें दक्षिण भारत में स्थान स्थान के वैदिक विद्वानों को देने के लिये पर्याप्त परिचयपत्र मिले। हमने इनसे पाहिले पत्रव्यवहार भी किया था, इस कारण यहां से आगे कहां जाना चाहिये, इस मार्ग का अच्छी तरह पता लगा।

मद्राससे चिदंबर, कुंभकोणं से तंजावर पहुंचे। कुंभकोणं में वैदिक विद्वान् बहुत ही हैं और श्रावणमास में श्रावणी के समय जो यज्ञोपवीतधारणविधि होता है, उस समय यहां की नदीके किनारे पर हजार हजार ब्राह्मण बैठकर एक उच्च स्वरसे वेदघोष करते हैं, वह दृश्य तो एक वार अवश्य देखनेलायख है। श्रावण शुक्ल पूर्णिमा अथवा जिस दिन श्रवणनक्षत्र हो, उस दिन यह महोत्सव होता है। उस समय ऋषियों के आश्रमोंकी कल्पना यहां आती है। यहां भी संपूर्ण शाखाओंके सामवेदी जो आज भी सब प्रकार का सामगायन कर सकते हैं, ऐसे बहुत नहीं हैं, और जो हैं वे कौथुमी शाखावालेहि हैं। यहां के विद्वानों से पता लगा कि, इससे भी दाक्षिणमें जैमिनीय और राणायणीय शाखावाले सामवेदी हैं। हमें जो हस्तलिखित ग्रन्थ चाहिये थे, वे यहां भी नहीं मिले। कौथुमी ग्रन्थ यहां पर्याप्त हैं। ऋग्वेद-यजुर्वेदी यहां पर्याप्त हैं। अथर्ववेदी यहां कोई नहीं है।

तंजावर का ग्रंथसंग्रह।

तंजावर पहुंचने पर हमने वहां का '**सरस्वती महाल**' नामक जो बडा ग्रंथसंग्रह है, और छत्रपति शिवाजी महाराजे के भाई व्यंकोजी के समय से विख्यात है, वह देखा। यहां हमने ताडपत्र पर लिखे ग्रंथोंको पर्याप्त संख्यामें देखा और उससे मन संतुष्ट हुआ। यहां के ग्रंथालय में स्थान स्थानसे ग्रंथ लाने के लिये कई विद्वान् नियुक्त हुए हैं, और वे नगर नगर में भ्रमण करते हैं और नया ग्रंथ मिला तो अवश्य लाते हैं। प्रतिवर्ष इस तरह के लिखित ग्रंथ लेनेके लिये इनके पास धन भी पर्याप्त है। परन्तु अब इस दिशासे होनेवाला व्यय कम करनेका सरकारका विचार हुआ है, यह शोकसमाचार हमें यहां विदित हुआ।

यहां के राजा नाममात्र राजा है। वे तो धनका व्यय करही नहीं सकते। सब कर्ताधर्ता अंग्रेज ही है, पर उनके पास वैदिक ग्रंथसंग्रह के लिये अब धन नहीं है। इस कारण आगे इस ग्रंथभण्डार की हालत अच्छी नहीं रह सकेगी। जो हमारी आशा का एकमात्र केन्द्र था, वह भी नष्ट होनेवालाहि है।

यहां ताडपत्र पर लिखे कई सामवेद-ग्रन्थ देखे, पर वे सब कौथुमी शाखा के ही थे। बहुत से ग्रन्थ सामचिह्नोंसे विरहित थे। बहुत थोडे स्वरचिह्नसहित थे। अतः इन ग्रन्थों से हमारा कार्य होनेवाला नहीं था। तथापि यहांके मुख्य विद्वान् प्रबंधकर्ताओंने कहा कि "राणायणी और जैमिनीय शाखा के ग्रन्थ मलयाळं प्रांत में नंबुद्री ब्राह्मणों के पास देखे हैं, पर वे स्वयं विद्वान् होते हुए भी मुद्रण के लिये अपने ग्रन्थ देनेके लिये तैयार नहीं हैं"। इस तरह यहां उक्त ग्रंथों के स्थानों का पता मिला और इन विद्वानोंने कहा कि वे इन ग्रन्थों को इकट्ठा करने की तथा ग्रन्थलिपि को देवनागरी में लिखवाने की सहायता करेंगे। इस रीतिसे यहां हमारे कार्य का अल्पसा प्रारंभ हुआ। और यद्यपि प्रत्यक्ष ग्रन्थ न दीख पडा तभी ग्रन्थ देखने की संभावना तो निःसन्देह प्रतीत होने लगी।

तंजावर से हमें और भी स्थानस्थान के विद्वानों को परिचय पत्र मिले और हमारा मार्ग खुलता गया। तंजावर का राजा का महाल, कीला और मन्दिर अत्यंत प्रेक्षणीय है। परीघ की दृष्टीसे यहां का मन्दिर बडा ही विस्तीर्ण है। ३।४ मील की मन्दिर की परिक्रमा होती है। मन्दिर सुन्दर और कलाकौशल्य का उत्तम नमूना है। यहां का नन्दी बहुत बडा है, कमसे कम ३०।३५ फूट ऊंचा होगा।

श्रीरंगम् ।

यहांसे हम श्रीरंगं पहुंचे। श्रीरंगं में अनेक शाखाओंके ब्राह्मण हैं। बडे विद्वान् हैं। मन्दिरमें दोसौ तीनसौ ब्राह्मण प्रतिदिन सुभे शाम सुस्वर में वेदपाठ करते हैं। हम गये उस समय बडा उत्सव चल रहा था। इतने वेदपाठी ब्राह्मण का ऐसा बडा समुदाय हमने कभी अन्यत्र देखा नहीं था। इनमें अथर्ववेदी कोई नहीं है, तथापि सब अन्य वेदोंकी शाखावाले अनेक ब्राह्मण हैं। यहां और जंबुकेश्वर में मिलकर ८।१० वेदपाठ शालायें हैं और ब्राह्मणों के घरों में छात्र पढते हैं, वे और हैं। यहां सामवेद की दो पाठ-शालाएं हैं। पर यहां के अध्यापक कौथुमी शाखा के ही हैं। हमने सब पाठशालाएं देखीं, अध्यापकों का दर्शन किया, आचार्यों के मठों में जाकर तालाशी की, तब जाकर एक जैमिनीय पण्डित का पता लगा।

श्री आचार्य उत्तमशीली रंगास्वामी अय्यंगार ये जैमिनीय सामवेद के महापण्डित यहां रहते हैं। इनका दर्शन हुआ और इनके घरके ताडपत्र पर लिखित जैमिनीय-संहिता के समग्र ग्रन्थ सब स्वरचिह्नों के समेत और वैदिक परंपरा से शुद्ध अद्भुत ग्रन्थ देखकर प्रवास के हमारे सब श्रम दूर हो गये। इनसे बडी वार्तालाप हुई और इन्होंने सामगान मुद्रण में हरप्रकार की सहायता देनेका वचन दिया और अपने ग्रन्थ भी देनेका वचन दिया। करीब करीब जैमिनीय संहिता का हमारा सब कार्य यहां हुआ और धन्यता प्रतीत हुई।

बहुतसे अन्य विद्वान् भी यहां मिले। यहां विद्वानों का बडा संघ है और यहां का श्रीरंगं देवस्थानभी बडा है, जो इन विद्वानों का पोषण करता है। शेषशायी नारायण का यह स्थान हैं और मूर्ति बडी विशाल तथा मंदिर अद्भुत कारीगरीसे परिपूर्ण है।

इस तरह श्रीरंग, जंबुकेश्वर आदि क्षेत्रों में सामवेद का बडा भारी केन्द्र है और हमें जिन ग्रन्थों की आवश्यकता थी, वे एक शाखाके ग्रन्थ यहां पर्याप्त मिले, यह अच्छा हुआ। इसके आगे त्रिचिनापल्ली के विद्वानों का दर्शन करके मनमदुरा और मण्डप तथा पवन (पम्बन) होते हुए रामेश्वर पहुंचे। ता० २४।४।४० के दिन सबेरे रामेश्वर स्टेशनपर उतरे। पंवन स्टेशन शुद्ध वायु के लिये प्रसिद्ध है, मण्डप भी उससे अच्छी समुद्रकी शुद्ध वायु होने के कारण पवनसे भी रहने योग्य है। परन्तु हमें हवाखोरी के लिये समय न था। मण्डप और मनमदुराई में कारीगरी के मंदिर अच्छे हैं। परन्तु वहां हमारा प्रयोजन सिद्ध होने की संभावना नहीं थी, इसलिये हम यहां विशेष न ठहरते हुए रामेश्वर पहुंचे।

रामेश्वर ।

रामेश्वर रेत का ही स्थान है। यहां उपजाऊ भूमि नहीं है। थोडेसे नारियल के पेड हैं और शेष रेत ही रेत भरी पडी है। रामेश्वर का ५० मील का टापू है और रामेश्वर प्रदक्षिणा के लिये ३।४ दिन लगते हैं। यात्री लोग यहां केवल मन्दिर में जाते, देव दर्शन करते और वापस जाते हैं, इसलिये रामेश्वर का स्थान किस तरह ईसाईयों द्वारा

घेरा जा रहा है, इस का कोई हिंदू विचार तक नहीं करता। यहां हिंदू-मंदिर एक ही रामेश्वर का महादेव का मंदिर है। श्रीरामचन्द्रने स्थापन किया ऐसा यहां के पण्डे कहते रहते हैं। पर रामेश्वर के मंदिर में प्रथम प्राकार में सब दुकान मुसलमानों के ही हैं। यहां के पण्डों में बडी फूट है और यह फूट सैकडों वर्षोंसे चली आ रही है। इस कारण यह मंदिर १०० वर्ष पूर्व एक मुसलमान के आधिपत्य में गया था और ५० वर्षोंसे अधिक देर तक उनका ही अधिकार इसपर था। उसके जमाने में ये मुसलमीन दुकानदार अन्दर घुसे और वहीं दुकानदारी करते हैं। तथापि इससे अधिक अन्दर वे गये नहीं और उस मुसलमान अधिकारीने अधिक आक्रमण नहीं किया, यह भी एक उनकी कृपा ही समझने योग्य है। अब यह मंदिर ट्रस्टियों के अधीन है और सरकारद्वारा नियंत्रण होता है।

रामेश्वर में हिंदूमंदिर यह एकहि है। जो अन्य छोटे मोठे मंदिर हैं वे सब इसी के साथ संबंधित हैं। पर इस हिंदुओं की पवित्र भूमि में आज १५ ईसाईयों के गिरजाघर खडे हुए हैं और जोरों का ईसाई महजब का प्रचार हो रहा है। हिंदुदेवतापर चढाने के लिये नारियल कपूर आदि जो वस्तु लायी जाती है वह सब धन मुसलमान और ईसाईयों के घर में जाता है, क्योंकि वह व्यापार हिंदुओं के हाथ में नहीं है। आगे ५० वर्षों में यहां हिंदु कितने रहेंगे यह भी एक बडाभारी प्रश्न है। पर यहां के पण्डे अथवा हिंदु यात्रिक इस बात का बिलकूल विचार नहीं करते!! ऐसी घोर निद्रा में हिंदु सो रहे हैं।

रामेश्वर का महत्त्व।

रामेश्वर यात्रा का महत्त्व क्या है, यह भी यहां विचारणीय है। यहां इस समय हजाम यात्रियों के क्षौर करते हैं और ब्राम्हण दर्भ और तिल लेकर श्राद्ध कराते हैं। इस कारण जिधर देखो उधर उदासीनता का वायुमण्डल दीखता रहता है। हवा अत्यंत गर्म है; चारों ओर रेत है, हरियावल बिलकूल नहीं है। और दर्भ तिल श्राद्ध और मुण्डन यही दृश्य चारों ओर है।

२४ तीर्थों में स्नान करके ७८ उपतीर्थों में उपस्नान करके यात्री अपनी यात्रा करते हैं। उनको यहां की परिस्थिति का विचार करने के लिये फुरसतहि कहां है? इन सब तीर्थों में स्नान करने के लिये २।३ घण्टे लगते हैं, तब तक गीला रहना भी एक कठिन कार्य है। पर बहुत लोग यह सब करते हैं। जो तो तीर्थ मन्दिर में और मंदिर के पास ट्रस्टियों के अधीन हैं, वे स्वच्छ और सुन्दर पानी के रहे हैं, पर जो जरासे दूर हैं वे इतने खराब हैं कि उसमें दृष्टिपात करना भी असंभव है। पर धर्मभाव से यात्रिक इनमें भी स्नान करते हैं!!

रामेश्वर पर गंगाजी का अभिषेक करनेके लिये २) फीज है। तथा अन्यव्यय भी २।३) रु० का है। यह सब करके यात्रिक शीघ्रहि वापस भाग जाते हैं और ईसाईयों के आक्रमण का विचार तक नहीं करते!!!

रामेश्वर में समुद्र स्नान मुख्य है और वहीं मीठे कूवे भी समुद्र के पासहि हैं। वे भी अच्छे ही है। पर वहां भी अन्दर उतर कर लोग गंधगी करते ही हैं। समुद्रस्नानके पूर्व धनुष्यदान का विधि करते हैं। यह सब देखकर हमें बडा आनंद हुआ और यह प्रथा श्रीरामचन्द्रजी के दक्षिण दिग्विजय के साथ अवश्य संबंध रखती है, ऐसा हमारा निश्चय हुआ। अतः इसका वृत्तान्त हम यहां लिखते हैं जिसका विचार पाठक अवश्य करें।

राक्षसोंके साम्राज्यका नाश।

श्रीरामचन्द्रजीने रावण का पराभव किया और उसके भ्राता बिभीषण को लंका का राज्य दिया। तथापि संपूर्ण राक्षसजाति पर रामचन्द्रजी का संपूर्ण विश्वास नहीं हुआ था, इस लिये सेतू तोड दिया और रामेश्वरमें पशुपति महादेव की सेना रखी, तथा आर्यवीरोंका कुछ दल भी वहां रख दिया। **यह रामेश्वरमें रहनेवाला आर्यसैन्य और भूतसैन्य लंकास्थानीय राक्षसोंकी हलचल पर दिन-रात निग्राणी करने के लिये ही रख दिया था।** इस सेनाकी निग्राणी में रहते हुए लंकानिवासी राक्षस विशेष प्रबल न हों, और आर्यावर्त या भारतवर्ष पर फिर रावण के समान पुनः पुनः आक्रमण न करें, यह उद्देश्य श्रीरामचन्द्रजी का इस रामेश्वर में सेनानिवेश के रखने में स्पष्ट प्रतीत होता है।

जैसे आजकल हैदराबाद आदि बडी बडी भारतीय रियासतों पर निग्राणी करने के लिये अंग्रेजों के रेसिडेंट रखे

होते हैं, कैंटोन्मेंट और वहां सेना भी रखी होती है। ये अंग्रेजोंके प्रतिनिधि रियासतों के नबाबों, राजामहाराजाओं की हलचल पर दृष्टि रखते हैं और उनको मर्यादा से अधिक हलचल करने नहीं देते। ठीक इसी दृष्टिसे भगवान् रामचंद्र-जीने लंकादिविजय के पश्चात् विभीषण तथा उसके पुत्र-पौत्रोंकी हलचल पर नजर रखने और उनको मर्यादा से बाहर जानेसे रोकने के लिये रामेश्वर में अपनी सेनाका एक भाग रखा था। इसकी सूचना रामेश्वरयात्राकी विधिमें मिलती है।

जो समझते हैं कि, बिभीषण को राज्य देनेपर रामचन्द्र-जी चुपचाप सोते रहे होंगे, वे रामायण के राजकारण से बिलकुल अनभिज्ञ ही हैं। बिभीषण के साथ सुलाह हुई, उनको राज्य दिया, यह सब ठीक ही है। पर राक्षसोंका साम्राज्य तोडनेपर राक्षसों का कोई दल फिर संघटना करके नहीं उठेगा, इतना विश्वास राक्षसों पर श्रीरामचन्द्रने कभी नहीं रखा था, और कोई सच्चा क्षत्रिय दूसरोंका साम्राज्य तोडनेपर आराम से सो ही नहीं सकता।

भगवान् श्री रामचन्द्रने अत्यंत दूर दृष्टिसे रामेश्वरसे कन्याकुमारीतक-बीच में धनुष्कोटी भी है- इन सब भागों में अपने सेना-विभाग रखे थे। और आर्यों को इन स्थानोंपर अवश्य जाना चाहिये, तथा यहां प्रत्येक स्थानमें एक धनुष्य, कुछ बाण, तूणीर तथा कुछ दक्षिणा और गंगाजल का घडा देना चाहिये, ऐसा नियम किया था। देखिये—

१. रामेश्वर, धनुष्कोटीमें आर्यसैनिक रखे हैं,

२. उनको प्रत्येक यात्री आर्यावर्त से आकर कमसे कम एक धनुष्य और १०० बाणोंका एक तूणीर देता है,

३. उसके व्ययके लिये कुछ धन देता है, (कमसे कम ५) रु० देता है)

४. पीनेके लिये गंगाजल का घडा स्वयं लाकर देता है, (कावड की प्रथा)

५. और वापस जाते समय वहां से थोडीसी रेत (सेतु) आर्योंके विजय का चिन्ह समझकर उत्तर भारतमें लेकर जाता है।

पाठक जरा इस घटना का मनमें विचार करें। इससे वहां के सैनिकों को भी कितना उत्साह आता होगा। अपने पीछे संपूर्ण आर्यावर्त है, यह विश्वास इन सैनिकोंमें जागेगा, उनका वीर्य बढेगा, तथा प्रतिवर्ष लाखों यात्रियों को अपने सैनिक वहां है, उनको शस्त्र अस्त्र तथा धन देना हमारा कर्तव्य है, इसका ध्यान होगा, यह विचार आर्यजनता के अन्तःकरण में जागता रहेगा, तो वह कितना कार्य करनेमें समर्थ होगा, यह पाठक भी विचार करके जान सकते हैं।

रामेश्वर में कमसे कम एक लाख से अधिक यात्रिक प्रतिवर्ष जाते हैं। प्रत्येकने एक धनुष्य दिया तो एक लाख धनुष्य वहांके सैनिकोंके पास प्रतिवर्ष मिलते जांयगे। उतने ही तूणीर तथा उसके सौगुणा बाण प्रतिवर्ष रामेश्वर की सीमापर आर्यजाति की रक्षा के लिये जमा होते रहेंगे। प्रत्येकने कमसे कम ५) देने चाहिये, इस रीति का विचार करनेपर कमसेकम ५ लक्ष रु. का खजाना वहां प्रतिवर्ष जमता जायगा।

पाठकों में जिन पाठकों को सरहद की रक्षा के प्रबंध का थोडासा ज्ञान है, वे जान सकते हैं कि इस आर्यप्रथा में कितना जीवित और जाग्रत वीरता का इतिहास है। यहां आकर इस प्रथाको प्रत्यक्ष देखकर हमें श्रीरामचन्द्र की दूर-दृष्टि का ज्ञान हुआ। और रामायण के इस इतिहासिक सत्यकथा का भी परिज्ञान हुआ।

हमने मुण्डन श्राद्ध और २४ स्नान किये नहीं, परन्तु यहां के सब कार्य और सब प्रथाका अवलोकन, निरीक्षण और मनन अच्छी तरह किया। तब विचार आया कि विजयी आर्यों की योजना कैसी थी, और हमने आज यहां दर्भ-तिल-मुण्डन के सिवाय और कुच्छ भी रखा नहीं है, वह आज की हमारी प्रथा कैसी है?

कौन इस घटना का विचार करनेवाला है? कहां राम-चन्द्रजी का विजय और कहां आज का व्यवहार? हिंदुओं को इस का बडा गहरा विचार करना चाहिये।

इतिहासिक रमणीयता इतनीहि नहीं है। पीछे हमने श्रीरंगके शेषशायी नारायण के मंदिर का थोडासा वर्णन किया ही है। पर वह मूर्ति दक्षिण की ओर मुख करके

बैठी है। क्यों ? विचार करिये। कोई अन्य मूर्ति दक्षिण की ओर मुखवाली नहीं है। यही क्यों ऐसी है।

सर्पपर नारायण सो रहे हैं और दक्षिणपर दृष्टि लगा रहे हैं। दक्षिण दिशा में जो सेना रामचन्द्रने रखी है और जिस सेना के पास प्रतिवर्ष १ लाख धनुष्य, पांच लाख रुपये और एक लाख गंगाजल के घडे तथा एक करोड बाण पहुंचाये जाते हैं, वह सेना क्या सो रही है या जाग रही है, तथा लंकाके राक्षस उठ रहे हैं या दब गये हैं। दक्षिण दिशा में क्या हलचल हो रही है, इस की निग्राणी करने के लिये श्रीरंग की दक्षिण की ओर दृष्टि रखने की योजना है।

शेषपर सोना, सर्पपर सोना यह **'सर्पजातीपर आर्यों के दिग्विजय का चिह्न'** है। सर्पजाति पूर्ण तया स्वाधीन हुई, अब निश्चित रह कर सोने में कोई प्रतिबंध नहीं है। यह भाव शेषशायी नारायण का है।

सर्पजाती का उपद्रव परीक्षिती तक उत्तर भारत में होता था। परीक्षिती का वध सर्पजाती के युवकने संन्यासी के वेष में राजसभा में गुप्त रीतिसे प्रविष्ट होकर किया था। उत्तर भारत की सर्पजाती दबी नहीं थी। परन्तु दक्षिण भारत की सर्पजाती दब चुकी थी। राक्षसों-का पूर्ण पराभव हुआ था। अब केवल उनका पुनः उपद्रव न हो इतना ही निरीक्षण करने का कार्य करना था। इस तरह सब देवस्थानों की व्यवस्था सोचने योग्य है। इन में उस समय का राजकारण है और वह आजभी बोधप्रद है। पर यात्रियों को इसका कोई ज्ञान नहीं, वे बिचारे मुण्डन और दर्भ में ही हैरान होते रहते हैं।

एक रामेश्वरके टापूमें १५ गिरजाघर।

अस्तु। इस तरह प्राचीन इतिहास का विचार करते हुए हमने रामेश्वर का भ्रमण किया, तो उनके १५ गिरजाघर रामेश्वरके चारों और घेरकर खडे हैं, इसका ज्ञान हुआ। और हिंदुओं की देवता पर चढाने योग्य सब भोग मुसल-मान और ईसाईयों के पास से ही मंदिर में आते हैं, यह जब हमने देखा तब हमें बडी लज्जा हुई। वास्तवमें हिंदुओंको अपने मन्दिरोंकी रक्षा करनेका ज्ञान ही नहीं है। प्राचीन लोगोंने जो किया था, वह इस समय तक चला आ रहा है, परन्तु विधर्मियोंका आक्रमण चारों ओरसे बढ रहा है, उसकी तुलनासे हिंदुओंके स्वकीय रक्षा के व्यापार बिलकुल कच्चे हैं, यह देखकर भविष्यके विषय में बडा ही संदेह हुआ और उदासीनता बढ गयी। ये सब लोग प्रथम हिंदु ही थे। अब वे मुसलमीन और ईसाई बने हैं और जिनसे नारियलादि लिये जायं ऐसा हिंदु रहा नहीं है। हिंदुओंकी उदासीनता का पता इससे लगता है।

रामेश्वर के १।२ मैल इधर उधर अनेक तीर्थ बताये जाते हैं, परन्तु एक तीर्थमें केवल मिट्टीहि है, और बाकी १०।१२ तीर्थ इतने खराब अवस्थामें हैं कि उनका प्रबन्ध क्यों नहीं किया जाता, यह हमारी समझमें नहीं आता। तात्पर्य, पण्डोंमें आपसमें फूट है, ईसाई जोरमें है, मुसलमीन भी संघटित है। हिंदु पूर्ण उदासीन और क्या हो रहा है इसकी ओर बिलकुल देखते तक नहीं। इस लिये रामेश्वर में प्रतिदिन हिंदु घटते हैं और ईसाई बढ रहे हैं। एक लाख यात्री इसका विचार तक नहीं करते।

सरकारका प्रबन्ध, ट्रस्टी आदी कानून व्यवस्था जो हो सकती है वह जैसी वैसी चलाई जा रही है, परन्तु उसमें जीवन बिलकुल नहीं है। रामेश्वर की वेदपाठ-शाला मदुरामें २०० मील पर दूर रखी है, जो रामेश्वरमें ही रखनी चाहिये थी। व्यय यहां से होता है और पाठ-शाला वहां है।

मन्दिर में ही बिजली का यन्त्र और इंजन रखा है। इसलिये इंजन का 'धड्, धड्, धड्,' आवाज रात के समय मंदिर को **'वर्क-शॉप'** का स्वरूप देता है। प्रशान्त गंभीर मंदिर होना चाहिये। **मंदिर कोई रेल का वर्क-शॉप नहीं है।** बिजली की रोशनी भी इतनी तीव्र और प्रखर है कि, वह भी मन्दिर में सजती नहीं। प्रकाश पडे पर दीप न दिखे ऐसी योजना हो सकती है। पर देखनेवाला कोई भी तो वहां होना चाहिये ना ? हिंदु यात्रियों को आंखें बिलकूल नहीं होती।

इस तरह रामेश्वर के लिये सब प्रकार से हानिकीहि संभावना है। यन्त्र और इंजिन के धक्कों से मन्दिर के पत्थरोंपर भी कालान्तर से अनिष्ट परिणाम होने की संभावना स्पष्ट दीख रही है। पर हिंदुओं के मस्तिष्क में

यह कैसा प्रकाश पडे ?

इस तरह के विचार हमारे मनमें यहां आये। यहां रामेश्वरमें राणायणी शाखा के सामवेदी रहते हैं, यह पता हमें लगा ही था। पहिले यहां बहुत घराने थे, अब केवल ८।१० ही हैं और उनमें केवल छे ही ब्राह्मण कुछ सामगान कर सकते हैं। उनको बुलाया और कुछ दक्षिणा देकर सामगान सुने। परन्तु उनकी प्रवीणता अच्छी नहीं थी। उनकी शाखा पूछी तो वे कहने लगे कि उनकी 'सामशाखा' है। यह उत्तर अशुद्ध था। फिर पूछनेपर 'गोतमीशाखा' अपनी है, ऐसा कहा। पर यह भी अशुद्ध ही है, ऐसा कहनेपर, एक वृद्धने कहा कि अपनी 'राणायणीय शाखा' है। अर्थात् यहांके सामवेदियों की अवनति यहां तक हो चुकी है कि, इनको अपनी सामशाखा का भी पता नहीं है।

इनकी 'राणायणीय शाखा' है यह हमें अन्यत्र रहने वाले विद्वानोंसे पता लगा था। अतः इनकी शाखा यही है, इसमें संदेह नहीं है। इन के पास के सब ग्रन्थ देखे, पर सबों के पास जो ग्रंथ मिले, वे सबके सब कौथुमी शाखाके ही थे। अर्थात् रामेश्वर में राणायणीय शाखा के ब्राह्मण हैं, पर उनके पास एकभी ग्रंथ इस शाखा का नहीं है। कहां तक हमारी धार्मिक अधोगति हुई है, देखिये।

जब हमारा उद्देश्य यहां सफल होनेकी संभावना निश्चय से नहीं है, इसका ज्ञान हुआ, तब हम रामेश्वरको छोडकर आगे चलने लगे। रामेश्वर जैसे बडे क्षेत्रमें ब्राह्मण ऐसे हों कि जिनको स्वशाखा के नामका भी पता न हो, उन के पास स्वशाखाके ग्रन्थ भी न हों, और वे अपने धर्मकी परिस्थिति अपने स्थान में कैसी है, यहभी न जान सकते हों, तो उन से स्वधर्मरक्षा कहां और कैसी हो सकती है? इसीलिए **सब वेदादि ग्रन्थ शुद्ध मुद्रित करके स्वल्प मूल्य से देनेका यत्न करना चाहिये,** यही कार्य स्वाध्याय-मण्डलद्वारा हो रहा है।

धनुष्कोटी।

रामेश्वर में हमें पूर्ण निराशा हुई। अतः हम वहां से धनुष्कोटीपर आ गये। रेलका प्रवास करीब ३० मील का है। धनुष्कोटी स्टेशन है। यहीं से लंका जाते हैं स्टेशनसे धनुष्कोटी ३।४ मील दूर है। धनुष्कोटीमें पूर्व और पश्चिम समुद्र मिलते हैं। यहां भी धनुष्यदान करने की प्रथा है। जैसी रामेश्वर में है। पण्डितों के पास छोटे छोटे चांदी के धनुष्य-बाण होते हैं जो केवल दानके लिए ही होते हैं। केवल प्राचीन प्रथा का स्मरण रहनेकी दृष्टि से यह भी अच्छा है।

धनुष्कोटी में थोडे से ब्राह्मण थे, परंतु वे केवल धनुष्य का दान लेनेका संकल्प मात्र जानते हैं। कई ब्राह्मण रामेश्वर से भी यहांतक आते हैं। हम गये थे उस समय एक सहस्र यात्री यहां जमा हुए थे। इतने यात्री भक्तिभावसे आते हैं, दान भी देते हैं, पण्डोंको धन भी मिलता है, पर थोडेसे ज्ञान की प्राप्तिका भी ये पण्डे यत्न करेंगे, तो अधिक अच्छा होगा। पर करेगा कौन ?

धनुष्कोटी में छोटासा मन्दिर है, पर समुद्रस्नान का ही यहां महत्त्व समझा जाता है। रामेश्वर और धनुष्कोटी मिलकर रामेश्वर की यात्रा होती है। हमें ऐसा प्रतीत हुआ था, कि धनुष्कोटीमें भी ब्राह्मणोंके घर बहुत होंगे, पर वैसी बात यहां अब नहीं है।

प्रत्यक्ष रामेश्वरका मन्दिर श्रीरामचन्द्रने स्थापन किये महादेव का मन्दिर है। यहां राम के मन्दिर का महत्त्व नहीं है। रामेश्वर नाम से रामचन्द्र का यहां स्थान होगा, ऐसा प्रतीत होता है, पर 'रामेश्वर' का अर्थ 'रामने स्थापन किए ईश्वर का स्थान' ऐसा है। यहां ईश्वर शब्द शंकर का वाचक है।

मन्दिर की अस्वच्छता।

इस मन्दिर में बिजली है, ट्रस्टी नियत हैं, सरकारी नियंत्रण है, सब कुछ है। पर जैसी व्यवस्था चाहिए वैसी अब भी हुई नहीं है। सब मन्दिर चूना और गेरुवा रंग लगा लगा कर खराब किया है, मन्दिर की बनावट बडी ही उत्तम है और यह मन्दिर एक श्रेष्ठ कारीगरीका उत्तम नमूना है। पर प्रत्येक स्तंभ पर एक एक देवता है, उसपर जहां तेल डाला है वहां कभी साफ भी नहीं किया जाता। इस तरह सेकडों स्तंभ खराब और कीचड जैसे होकर पडे हैं। चूनेसे भी कई स्तंभ भर गये हैं, जिस कारण कारीगरी और नकशीकाम दीखता भी नहीं।

प्रत्यक्ष मंदिरमें भूमी भी इतनी कीचडमय हुई रहती है कि, वहां गर्भगृहमें जानेसे पावोंके तलवोंको काले काले दाग पडते हैं। कभी अन्दरका स्थान साफ भी नहीं होता। दीपों के धूवों से गर्भगृह सदा भरा रहता है, अतः वहां कोई भी जाकर ध्यान लगाकर दसवीस मिनिट भी बैठ सके, ऐसा संभव ही नहीं है। ऐसी अवव्यस्था यहां बहुतही है। ट्रस्टियोंकी व्यवस्था होनेपर भी यह अनवस्था है। क्या किया जावे ?

जिस समय हम गये थे, उस समय छोटेसे मंदिर की साफसफाई एक महाराष्ट्र ब्राह्मणने अपने व्यय से चलाई थी। इस मंदिर का अन्दर का स्थान ५ फूट × ४ फूट ही था, अर्थात् मूर्तिके पास एक आदमी मुष्कील से बैठ सके इतना ही स्थान था। इस की साफसफाई करके सब मिट्टी तेल और वैसे पदार्थ, जो सडे हुए थे, निकाले गये, तो सब कचरा दस बालटियाँ भरकर निकला !! यह अत्युक्ति नहीं है। इतना करने से मूर्ति सुंदर दीखने लगी, जो पहिले दीखती भी नहीं थी। इतना सफाईका कार्य यहां होने योग्य है। यह कौन करे और कैसा हो ? हरएक स्तंभ बहुत कीचड से भरा है।

यह अव्यवस्था यहीं नहीं, श्रीरंग, तिरुपति आदि सभी स्थानों में ऐसे ही अत्यंत मलीन गर्भगृह हैं। श्रीरंग जैसे स्थान की मूर्तिपर जो सुगंधी तैल अभिषेक के समय चढाया जाता है वह कभी धोयातक नहीं जाता, और उस तेलके थर के थर कभीसे उस स्थानपर जमा होते रहे हैं, इसका किसीको पता तक नहीं है। सर्वत्र यही अस्वच्छता का भयानक राज्य है! देखनेवाला कोई नहीं है। सब यात्रिक वन्दन करके वापस चले आते हैं।

रामेश्वरमें कई पण्डे महाराष्ट्रीय हैं। अन्य प्रान्तों के भी बहुत हैं। पर महाराष्ट्रीय होने से उन में कोई विशेषता नहीं है। और सब की एकता भी नहीं है। पण्डे मंदिरकी अव्यवस्थाको देखने की अकल तक रखते नहीं, यात्रिलोग दर्शन लेकर भाग जाते हैं, ट्रस्टी अधिकार के मदसे अन्धे हुए हैं। केवल ईसाई ही बडे जागते हुए हिंदुओंको घेरते जाते हैं।

हिंदु-महासभाका कर्तव्य ।

हिंदुमहासभाको चाहिये कि वह एक ४।५ विद्वानोंकी एक देवस्थान समिति (अर्थात् डेप्युटेशन) सब देवस्थानों का निरीक्षण करने के लिये निर्माण करे। यह समिति एक एक देवस्थान का पूर्ण रीतिसे निरीक्षण करे, और वहां कैसा सुधार करना चाहिये इसका एक कार्यक्रम निश्चित करे, और वैसा सुधार किया और कराया जावे। जब इस तरह कार्य किया जाय, तब जाकर मंदिरोंका सुधार हो सकता है। शिखोंने अपने गुरुद्वारोंका सुधार किया है। मुसलमीनों और ईसाईयोंके देवस्थान उनको जैसे चाहिये वैसे हैं। केवळ हिंदु ही ऐसे हैं कि, जिनको स्वच्छता और अस्वच्छता का भी बिलकुल पता नहीं, बाकी बातों का पता होना तो दूरकी बात है। शुचित्व और अशुचित्व यह बालक भी समझ सकता है, पर हिंदुपुजारीके मस्तिष्क ऐसे बने हैं कि, उन में यह ज्ञान बिलकुल ही नहीं घुसता।

मदुरा-मीनाक्षी ।

अस्तु। इस प्रकार हम रामेश्वर छोडकर त्रिचनापल्ली से मदुरा पहुंचे। मदुराकी मीनाक्षीका मंदिर बडाही विशाल और दिव्य कारीगरीका आदर्श समझने योग्य है। प्रत्येक स्तंभ घण्टों तक देखते रहने योग्य सुन्दर है। ऐसे सेकडों स्तंभ यहां हैं। इस मंदिर में कई बडी बडी सभाएं एक साथ हो सकती हैं और यह एक विद्याका उत्तम केन्द्र भी यहां बन सकता है।

यहां वेदकी विद्या इस समय रही नहीं है। वही मन्दिर की बात और वही मलीनता, और वही अस्वच्छता यहां है। यहां ब्राह्मणोंका समुदाय बडा है, परंतु यह मन्दिर कांग्रेस की प्रेरणासे हरिजनोंको खुला करनेसे इसपर हिंदुओंने बहिष्कार डाल दिया है और इस कारण जैसी रौनक पहिले होती थी, वैसी अब नहीं रही है। मन्दिर हरिजनोंके लिये खुला तो ट्रस्टियोंने किया, पर न अब वहां हरिजन जाते हैं और न जातीय हिंदु जाते हैं। थोडे तो अब भी जाते हैं। पर पहिले जैसी भीड नहीं रहती, इस कारण मन्दिर की आमदनी भी बहुतहि घट गयी है। इससे हमें यहां विद्वान् ब्राह्मणोंसे सहायता मिलने की आशा नहीं रही। हमने यहां के बहुत विद्वानोंसे लिखा-पढी की थी। यहीं रामेश्वर देवस्थान की वेदपाठशाला है, उनके अध्यापक और आचार्य बडे योग्य विद्वान् हैं, उनसे हमारा मेल मिलाप

भी हुआ । यहां और भी विद्वानों से परिचय हुआ । पर वेदपाठशालाके आचार्यजीने कहा कि दक्षिण भारतमें केवल कौथुमी सामवेदीहि हैं । पर यह अशुद्ध था । क्योंकि श्रीरंग और तिन्निवेल्लीमें क्रमशः जैमिनीय और राणायणीय सामवेदी हैं, और उनके पास उक्त शाखा के ग्रन्थ भी हैं, यह सब हमने स्वयं देखा था। पर वेदशाला के अध्यक्ष के पास इस की खबर तक नहीं थी । तथापि इनके द्वारा मदुराके सामवेदियोंका अच्छा परिचय हुआ । यहां के लोक केवल कौथुमी शाखाकेहि अनुयायी हैं । यहां हमारा कोई प्रयोजन सिद्ध होनेकी आशा नहीं थी । इस लिये यहां के विद्वानों से मिलनेके पश्चात् हमने त्रिवेंड्रम के लिये प्रस्थान किया ।

त्रिवेंड्रम ।

ता. २९ की सबेरे हम त्रिवेंड्रम को पहुंचे । यह बडा ही रमणीय स्थान है । चारों ओर हरियावल है और यहां चावल की उपज सालमें ३ वार करते हैं । इस समय चावलों के खेत चारों ओर हरेभरे थे । रामेश्वरकी श्वेत रेतीके पश्चात् आज ऐसी हरियावल दीखी कि सर्वत्र उद्यान का ही दृश्य दीखने लगा । त्रिवेंड्रम पहाडीपर बसा है और यहां रेल-मार्ग है वैसा जलमार्ग भी है । यहां का मन्दिर बडा प्रसिद्ध है । मूर्ति इतनी बडी है कि उसका सिर एक दर-वाजेसे दीखता है, बीचके द्वारसे छाती दीखती है और तीसरे द्वारसे पांव दीखते हैं । यहां प्रतिदिन हजार द्विजों को मुफ्त भोजन मिलता है । इस व्यय से ४।५ बडे गुरुकुल और ऋषिकुल चलाये जा सकते हैं । बडा विद्याका केन्द्र यहाँ हो सकता है । पर करे कौन ?

यह मन्दिर बडा है और कारीगरी की दृष्टिसे उत्तम है । सब अच्छा है, पर व्यवस्था अच्छी नहीं है । यहां मन्दिर में कोई भी कुडता पहनकर नहीं जा सकता । केवल धोती पहननेसे अन्दर जानेमें रुकावट नहीं होती । हम प्रथम दिन वहां ९ बजे गये, उस समय करीब १०० ब्राह्मण यहां वेद पाठ कर रहे थे । यह दृश्य अच्छा दीख पडा । परंतु इन १०० ब्राम्हणोंमें एक भी संस्कृतमें बातचीत कर सकनेवाला नहीं था । परंतु यहां अच्छे वेदपाठी थे । हमने इनसे संस्कृतमें कुछ पूछा, तो उत्तर अंग्रेजीमें आया । यहां शहरमें संस्कृत बोलनेवाले भी बडे बडे पण्डित बहुत हैं । यहां हमने सामवेदियोंकी खोज की । यहां बहुत सामवेदी हैं, तथा तीनों शाखाओंके सामवेदी यहां है । अतः यह स्थान हमारी खोज के लिये बडा अच्छा है ।

पं० कृष्णशर्मा श्रौती करके एक जैमिनीय शाखा के विद्वान् है; इनसे मेल हुआ और इन्होंने कहा कि सामगान छापनेमें उनके ग्रन्थ तथा उनकी विद्याकी सहायता मिल जायगी । इसी तरह राणायणीके भी यहां विद्वान् पर्याप्त मिल गये । यहांसे ही मलियाळं देश वेदविद्याके लिये प्रसिद्ध है । नंबुद्री ब्राम्हण बडे विद्वान् होते हैं, रातदिन वेदाभ्यास में और तपमें रत रहते हैं । उनकी आमदनी भी पर्याप्त होती है और वे तपस्वी जैसे रहते हैं । जगत् के व्यवहार की उनको पर्वा नहीं रहती ।

पर इनमें मूढता ऐसी है, कि मुद्रण का नाम सुनते ही ये लोग चिड जाते हैं, फिर ये बोलते भी नहीं, और ग्रन्थ बताना तो दूर रहा । हमने अपने मुद्रित ग्रन्थ साथ रखे थे । उनको देखते ही हमारी गणना पिशाचोंमें हो गयी । और सब मामला बिगड गया । किसी प्रकार सुधरनेका उपाय नजर नहीं आया । इस तरह नामुद्रियोंके घर हमारे लिये स्थिररूपसे बंद हुए । मुद्रित ग्रन्थ उनको बताने नहीं चाहिये थे । और वेदमुद्रण का नाम भी नहीं लेना चाहिये था । वह पाप हमने किया । इसका दण्ड हमें अच्छी तरह से यहाँ मिला ।

अब हमने फिर दूसरे तरीके से इनके ग्रन्थोंकी खोज करनी है । इस कार्य के लिये फिर आना पडेगा । अथवा हमने यहां के विद्वानों के द्वारा भी प्रयत्न चलाया है । वह सफल हो सकता है । मलयाळं प्रान्त बडा है और उसकी खोज के लिये छः महिने यहां रहना चाहिये । उतना समय हमारे पास इस समय नहीं था और जिनके घरोंमें हमें प्रवेश मिल गया था, वहांका कार्य हमारीहि गलतीसे उक्त प्रकार बिगड बैठा !

तथापि हमें यहींके कई विद्वानोंने कहा कि वे इस वैदिक ग्रन्थ संबंध की खोज हमारे लिये करेंगे । और हमें आव-श्यक सहायता देंगे । नंबूद्री ब्राम्हणों के घरोंमें प्रवेश होना भी कठिन है, ग्रन्थ देखना तो अत्यंत कठिन कार्य है । परन्तु इनमें अच्छे सामवेदी हैं, अतः इनको संतुष्ट करके इनसे कार्य लेना ही चाहिये ।

त्रिवेंड्रम का संस्कृत नाम 'श्री अनन्तपुरं' है। श्री का त्री बनता है। अनन्तपुरं का वेंड्रम हुआ है। यह भयानक भाषा है इसमें संदेह नहीं।

त्रावणकोर का संस्कृत ग्रन्थभण्डार बडा दर्शनीय है। वह हमने सब देखा। ताडपत्रपर के ग्रन्थ यहां बहुत हैं। पर यहां भी जैमिनीय सामवेद नहीं था। यद्यपि इस ग्राम में और इस राज्य में जैमिनीय सामवेदी बहुत हैं और ग्रन्थ भी उनके पास पर्याप्त है। यहां ताडपत्रपर देवनागरी अक्षरोंमें भी ग्रन्थ हैं और यहां देवनागरी अक्षरोंमें कई ग्रन्थ लिखनेके लिये कई लेखक नियुक्त किये हैं। इस ग्रन्थालयसे हमें बडी सहायता मिल सकती है।

यहां के ग्रन्थ दो तीन लिपियोंमें होते हैं, उनको देवनागरी लिपिमें लिखना यहीं हो सकता है। यहां त्रिवेंड्रम में हमारा कुछ कार्य बिगडा, तथापि बहुत ही कार्य हुआ। ऐसे धुरंधर विद्वानोंसे परिचय हुआ कि जिनसे पर्याप्त सहायता सामवेद-गानमुद्रणमें हो सकती है। और नाममुद्रियोंका द्वार जब खुलेगा, तब तो पर्याप्त सहायता हो सकती है। यहां की रियासत के ग्रंथालयाध्यक्षोंने हमें बहुत ही मदद करनेका वचन दिया है। यह महत्त्व की बात है और दूसरे विद्वानों की भी सहायता मिलनेकी संभावना हुई है।

कन्याकुमारी।

त्रिवेंड्रम के कार्य से हमारा दाक्षिणका दौरा सफल और सुफल हुआ, ऐसा हम कह सकते हैं। इससे भी आगे हमें जाना था। आगे रेलका मार्ग नहीं है, पर मोटारें जाती हैं। भारतवर्ष का दक्षिण बिंदु, अन्तिम सीमा 'कन्याकुमारी' है। वहां भी वैदिक ब्राह्मणोंकी बस्ती है। इसलिये कन्याकुमारी (केप कामोरिन) के लिए हम मोटार से चले। त्रिवेंड्रम से ४ घण्टोंका मार्ग है, करीब ६० मील है। बीचमें भी दो स्थान ऐसे हैं कि जहां विद्वान् वेदवेत्ता रहते हैं। पर इन स्थानों में पहुंचने से पता चला कि यहां वेदवेत्ता थे। अब उनके वंशज तो हैं, परंतु वे वेदाध्ययन से खाली हैं। वैसे तो कुछ न कुछ वेदाध्यायी हमें मिले भी, पर वैसे लोगों से हमारा कुछ कार्य होने वाला नहीं था। ३०।४० वर्षपूर्व यहां कन्याकुमारीमें अच्छे वेदज्ञाता थे। इसीतरह सर्वत्र ही वेदविद्याका ऱ्हास हो रहा है।

कन्याकुमारी-देवी का मन्दिर बिलकुल समुद्रके तीर पर है। मंदिरसे केवल दस हाथके अन्तरपर समुद्रस्नान किया जा सकता है। बिलकुल समुद्रतटपर मंदिर करके बडी कारीगरी दर्शायी है। मंदिर पर्याप्त बडा है। मूर्ति भी ३ हाथ ऊंची और अच्छी है, और सायंकाल की समुद्रशोभा तथा मंदिर की शोभा बहुत ही अच्छी रमणीय दीखती है। एकवार यह स्थान देखने योग्य है। यहां की स्वच्छता भी अच्छी है। यहां बडे विद्वान् न होने से हम उसी रातको वापस आगये। अर्थात् त्रिवेंड्रम से अन्यत्र वेदविद्वान् यहां नहीं है।

मल्याळं के ग्रामों में जहां नंबूद्रि ब्राह्मण है वहीं विद्या है, परंतु उनको मिलना विशेष युक्तिसे ही साध्य हो सकता है।

अब यहां से तिन्निवेल्ली और तेंकाशी आदिस्थानों के प्रति प्रस्थान किया। यहां राणायणीयोंके ग्राम के ग्राम हैं। प्रायः सभी ब्राह्मण राणायणीय शाखा के हैं। यहांके सभी ग्रंथ ग्रंथलिपिमें होते हैं। तामिल लिपिमें 'ख-घ-छ-झ' आदि महाप्राणाक्षर नहीं है। इसलिए ग्रन्थलिपि उसी तामील के अक्षरोंकी संख्या बढाकर नयी बनायी है, जिसमें वेद आदि लिखे जाते हैं। आजकल छापते भी हैं। देवनागरीसे यह लिपी बडी ही कठिन है। पर जिसको सामवेद का मुद्रण करना हो, उसको इसका अध्ययन अवश्य करना चाहिये। क्योंकि इस लिपी में जो ग्रंथ हैं, वे अन्य लिपी में नहीं है। अस्तु इस तरह यहां हमें राणायणीके ग्रंथ पर्याप्त मिले और भी मिल सकते हैं।

बंगलूर और म्हैसूर।

अब इतना होनेतक हमारे १७-१८ दिन व्यतीत हुए और हमें अधिक रहने के लिए समय भी नहीं है, इसलिए हम वहां से चलकर म्हैसूर राज्य में आये। एकदम बंगलूरको आये। यहां म्हैसूर सरकारी संस्कृत कॉलेज है, और वेद-महापाठशाला भी है। दोनों स्थानोंपर बडे विद्वान् पंडित हैं। यहां कई शाखाओं के अच्छे पंडित हैं। सब से मेलजोल हुआ। यहां के सामवेदाचार्य रामचन्द्र दीक्षित पहिले से ही परिचित थे। परंतु उनके द्वारा काण्व शाखा, तैत्तिरीय शाखा आदि के अनेक पंडितों के साथ

अच्छा परिचय हुआ। सबोंने वेदमुद्रण की सहायता करने का वचन दिया। यहां के सब सामवेदी कौथुमी शाखाके ही हैं। २।३ दिन यहां की खोज कर के हम म्हैसूर की राजधानी में गये। यहां भी वेदमहाविद्यालय है और अच्छे विद्वान् हैं। उनकी सत्संगति में २-३ दिन व्यतीत किये।

यहां के सामवेदी पंडित नारायण स्वामी करके हैं। संपूर्ण सामगान इनको कण्ठस्थ हैं, तथा सामवेदके सब सूत्रग्रंथोंका अध्ययन इन्हों ने अच्छी तरह किया है। ये कौथुमी शाखा के हि हैं, और बहुत ही अच्छे विद्वान् है। हमारे सामगान-मुद्रण में इनकी हार्दिक मदत होनेवाली है, यह एक बडीहि अच्छी बात है। सामवेदकी अन्यान्य शाखाओं के ग्रन्थोंके साथ भी इनका परिचय अच्छा है।

राजधानी होनेके कारण यहां वैदिक विद्वान् अच्छे हैं और श्री महाराजासाहेब से वार्षिक दक्षिणादि प्राप्तिद्वारा ब्राह्मणों का संमान भी यहां होता है, इसलिए यहां इन की बस्ती टिकी है। यहां सब कौथुमी शाखावाले ही हैं और इनके पास ग्रन्थसंग्रह भी अच्छा है। यहां के ग्रन्थ कागजपर लिखे हैं। दक्षिण देशके ग्रंथ ताडपत्रपर थे। यहां से कागज के ग्रंथ देखने में आये। यहां एक के पास करीब एक हाथ लंबा, पौना हाथ चौडा और उतना ही ऊंचा सामवेद का ग्रन्थ है। इतने बडे पृष्ठोंपर लिखा ऐसा सुंदर ग्रंथ हमने आजतक देखा नहीं था। अक्षर देवनागरी हैं। यह ग्रन्थ पूनामें लिखा गया था। दो सौ वर्षके पूर्व का लिखा है। बडा शुद्ध और अत्यंत उत्तम यह ग्रन्थ है। सामवेद के संपूर्ण ग्रंथ इसमें लिखे हैं। मुद्रण के लिये ऐसा ग्रन्थ मिलना चाहिये। पर इसका मूल्य दो सहस्र कहा गया है। यह कोई अधिक मूल्य नहीं है। पर हमारे पास इतना धन नहीं था।

इस तरह के उत्तमोत्तम ग्रन्थ इस प्रान्तमें बहुत ही हैं। पर यह धनसे साध्य होनेवाली बात है। यदि पर्याप्त धन पास हो, ग्रन्थोंकी खोज करनेके लिये पर्याप्त समय हो, तब तो दक्षिण देशमें वेदके ग्रन्थ पर्याप्त संख्यामें इस समय में भी मिल सकते हैं। पर ऐसे पवित्र कार्य के लिये धन और समय किसके पास है?

हमारे करीब एक मासके दौरे से हमारा निश्चय हुआ कि यह कार्य ऐसी द्रुतगतिसे सिद्ध होनेवाला नहीं है। प्रति स्थानमें ७।८ दिन रहना चाहिये, और ग्रन्थका मूल्य देनेके लिये हाथ में धन भी चाहिये। दोनों हमारे पास नहीं थे। तथापि इस दौरे में कहां क्या है, और वहां प्रवेश कैसा करना चाहिये, इसका ज्ञान हुआ। और कई विद्वानों का परिचय भी हुआ, जिनसे सहाय्य हो सकता है। इससे अधिक सहाय्य होना धन के साथ संबंधित है।

वास्तवमें यह कार्य अत्यन्त आवश्यक है। इसके विना सच्ची वैदिक ग्रन्थोंकी खोज होना असम्भव है। यह कार्य अत्यन्त महत्त्व का भी है। पर इस कार्य के लिये इतना धन लगेगा कि जो कार्य का महत्त्व न जाननेवालोंसे वसूल होना असंभव है। यह कार्य जब होगा तब होगा। होनेपर ही वैदिक अन्वेषण होनेवाला है। आजकल अनेक पुस्तक मिलते ही नहीं हैं। वे दक्षिण देशमें है। सामवेदकी जैमिनीय शाखा दक्षिणमें ही है। जब तक दक्षिण दिशा की खोज हुई नहीं थी, तबतक इसका पता तक नहीं था। इसी तरह अन्यान्य बहुत ग्रन्थ मिल सकते हैं।

सामवेद के जैसे उत्तमोत्तम ग्रन्थ हम ने दक्षिण में देखे वैसे न मध्यभारत में और न उत्तर भारत में हमारे दृष्टि-गोचर हुए। उत्तरमें कुछ ग्रन्थ जहां तहां त्रुटित दिखाई देते हैं, पर दक्षिणमें ग्रंथोंकी इतनी अधिक संख्या है और ग्रन्थों की अखण्डता इतनी है कि, उनको देखकर चित्त प्रसन्न हो जाता है। इसलिये जिनको वैदिक धर्म की खोज करना है, उनको दक्षिण दिशाकी खोजमें कुछ मास व्यतीत करना अत्यन्त आवश्यक है।

म्हैसूर में बहुत सामग्री हमें प्राप्त हुई, और अनेक विद्वानों के साथ भी अच्छा परिचय हुआ। इसके पश्चात् म्हैसूर रियासत तथा कानडा जिलेके गोकर्ण आदि स्थान देखनेका यत्न किया। यहां तो ग्रामों के ग्राम सामवेदियों के हैं और प्रतिग्राम में अच्छे विद्वान् भी हैं। इनकी खोज करते हुए पता लगा कि, इस प्रान्तके सामवेदी केवल कौथुमी शाखाके ही है। यहां कईयों के कहने से पता लगा कि, ये कौथुमी शाखावाले जैमिनीय सामवेदियों को अपने से नीचे मानते हैं और अपने आपको उच्च समझते हैं!! परन्तु दक्षिण दिशामें ऐसी भावना प्रतीत नहीं हुई। हमारे पूछने पर भी वहां किसीने ऐसा भाव हमें नहीं कहा। हमारी खोज के अनुसार जैमिनीय ही

व्यास शिष्यों में महत्वका स्थान रखते थे,अतः इनपर किसी प्रकार भी धब्बा नहीं लगाया जा सकता। अस्तु। इस देशमें यह प्रवाद है इतना ही यहां कहना है।

इस प्रान्तमें सभी सामवेदी कौथुमी हैं, उनकी पद्धति समान ही है, उनके ग्रन्थभी समान ही हैं, अतः दिन और धन व्यतीत कर अधिक भ्रमण इस प्रान्तमें करने की आवश्यकता नहीं है। इसलिये हम अब वापस आने का विचार करने लगे।

श्रीरंगपट्टण

म्हैसूर के पास श्रीरंगपट्टण एक अच्छा क्षेत्र है। यह प्राचीन समयमें विद्या का बडा केन्द्र था। यह स्थान देखा। यहां टिपू सुलतान का राज्य था। उसके अवशेष यहां इस समयमें भी प्रेक्षणीय हैं। म्हैसूर के पास 'वृंदावन' करके एक जलस्थान बडा प्रेक्षणीय हैं। यहां शाम के समय ७ से ९ बजे तक रंगी बेरंगी जल के फवारों की शोभा बडीहि आल्हाददायक है। इस स्थान को पूर्णतया देखने के लिये २ घण्टे अच्छी तरह भ्रमण करना पडता है। करीब देड मील लम्बा और आधा मील चौडा यह क्षेत्र दृश्यों से भरा है। स्वर्ग में रहने का आनन्द यहां आता है। यहां शनिवार और रविवार की ही रात्री में ७ से ९ बजे तक बिजली की रोशनी होती है। इसलिये इन दो दिनों में ही यहां दर्शकोंकी भीड होती है। सप्ताह में केवल दो ही दिन यहां स्वर्गधाम का आनन्द लूटा जाता है। साल में दो तीन लाख तक मनुष्य यहां आते हैं और प्रति मनुष्य एक आना कर यहां लेते हैं, उसकी आमदनी प्रतिवर्ष करीब १७-१८ हजार रु० म्हैसूर सरकार को मिलती है। म्हैसूर से यह स्थान १०-१२ मील दूर है और सायंकालमें खास इसी दृश्य के लिये रेलें चलती हैं। इस कारण रेल को भी पर्याप्त प्राप्ति होती है।

म्हैसूर राजा की देवी 'चामुण्डी' है, म्हैसूर की पहाडी पर उत्तम मन्दिर है। सब प्रबन्ध अच्छा है। मन्दिर में बिजली की रौशनी है। स्वच्छता मन्दिरकी देखकर चित्त प्रसन्न होता है। यह चामुण्डा देवी का मन्दिर पहाडपर है, रात्रीके समय पर्वतपर बिजलीके दीप प्रदीप्त होते हैं और मन्दिर आदि रोशन होते हैं, वह शोभा बडी आनन्ददायक है।

पहाडीपर पैदल मार्ग है और मोटार का भी रास्ता है। सब प्रबंध उत्तम है। यहां म्हैसूरके तीन राजभवन देखने योग्य हैं। एक में चित्रोंका संग्रह है, वहां दो आने फी लेते हैं। शेष दोनों राजभवन केवल आज्ञा प्राप्त करनेसे बताये जाते हैं। श्रीमहाराजासाहेब के प्रायवेट आफिस से राजभवन की आज्ञा मिलती है। ये सब राजवैभव से वैभवसंपन्न होनेसे दर्शनीय हैं।

बेलूर और हळिबिड।

म्हैसूरसे थोडी दूरीपर हसन नामक इलाकेमें बेलूर और हळिबिड ये दो स्थान हैं, यहां के मन्दिर दर्शनीय हैं। बेलूरमें केशवका मन्दिर है और हळिबिडमें शंकरका मन्दिर है। इन मन्दिरोंकी कारीगरी का वर्णन हो नहीं सकता। सब युरोपीयन वास्तुशास्त्रज्ञोंने एकमतसे लिखा है कि, इन मन्दिरों के समान ये ही मन्दिर विश्वमें हैं। जगत् में ऐसे सुन्दर मन्दिर दूसरे नहीं है। सचमुच अद्भुत कारीगरी का नमूना है। पत्थरमें नकशी का काम ऐसी अद्भुत हुन्नर से किया है कि, देखनेवाला आश्चर्यचकित हो जाता है। मूर्तियोंपर के पत्थर के कंकण हिलते हैं, नकशी खोखली है और उसके अन्दर दूसरी नकशी है।

हिंदू शिल्पकला का यह अद्भुत नमूना है। यहां मंदिरों में खास बिजली का प्रबंध सरकार की ओर से किया गया है। चार आने देनेपर सब दीप जलाये जाते हैं और सब बताया जाता है। बेलूर और हळिबिड में ३० मील का अंतर है। यहां रहनेका उत्तम प्रबंध है। जो इस प्रान्तमें आवे उसको ये स्थान अवश्य देखने योग्य हैं। हळिबिड का मंदिर सूक्ष्मदृष्टिसे देखने के लिये कमसे कम ४ दिन चाहिये। और बेलूरका दो दिन में देखा जा सकता है। चित्रकार तो यहां मुग्ध हो जाते हैं।

श्रवणबेलगुडा करके इसी रास्तेमें एक जैनियों का मंदिर है। यह पहाडीपर है। पहाडी एकही बडे पत्थर की है। चढाई बडी खडी है। चढनेके लिये हमें करीब करीब एक घण्टा लगा। ऊपर मंदिर अच्छा है। श्रवण की मूर्ति ६० फूट (४० हाथ) ऊंची है। मूर्ति खडी है, नंगी है। कारीगरी की दृष्टिसे मूर्ति अच्छी है। इस मूर्तिके हाथपांव, अंगुलियां, नाखून, आंख, नाक, कान, मुख मूर्ति इतनी बडी होनेपर भी बडे अच्छे हैं। यहां २४ तीर्थंकरों की मूर्तियां

कमरों में रखी हैं। सब प्रबंध अच्छा है। मेला होकर ८।१० दिन ही हुए थे। मेलेके समय मूर्तिपर दूध दही घी आदि का अभिषेक करने के लिये मूर्ति के तीनों ओर लकडियोंके बारह मज्जिल खडे किये थे। एक एक मज्जिल ५ फूट ऊंचा है। अंदर से चढने के लिये सीडियां हैं।

मेले में दूधदही का बहुत स्नान मूर्तिपर हुआ। मूर्ति अभीतक धोकर साफ नहीं की थी। इसलिये दुर्गंध आती है। जो मूर्ति शीघ्र ही साफ और स्वच्छ की जायगी ऐसा पुजारीने कहा। कारीगरी की दृष्टिसे यह मूर्ति देखने योग्य है। इतनी बडी मूर्ति भारतवर्षमें दूसरी नहीं है। इस पहाडी के सामने की पहाडीमें भी ७ मंदिर हैं, आस-पास २।३ तालाव हैं। रहने के स्थान अच्छे हैं। सब दृश्य देखने योग्य है।

इन सब क्षेत्रों में वेदके विद्वान् हमें नहीं मिले। हलिबिड और बेलूर में कुछ विद्वान् मिलेंगे ऐसी आशा थी, पर वह असफल ही हुई। बेलूर में ब्राह्मणों की बस्ती अच्छी है, पर वेदवेत्ता कोई नहीं है। मन्दिरों में म्हैसूर सरकार का प्रबंध अच्छा है। म्हैसूर सरकार के प्रबंधमें जितने मंदिर हैं उनमें स्वच्छता बडीहि अच्छी है और मद्रास सरकार के ट्रस्टियों का प्रबंध जहांसे है, वहां तो मंदिरों में मलीनता मर्यादासे अधिक है। मंदिरों की स्वच्छता रखने का पाठ म्हैसूरसरकार मद्रासरकार को दे सकती है।

हरिहर।

म्हैसूर प्रान्त में कौथुमी सामवेदी सहस्रों की संख्यामें हैं और अधीतवेद भी अच्छी संख्यामें हैं। मंदिरों का प्रबंध अच्छा है। इसलिये हम म्हैसूरवालों को धन्यवाद दिये विना नहीं रह सकते। म्हैसूर से हम हरिहर आये। हरिहर में अच्छे वैदिकों की बस्ती है और हरिहर का मंदिर भी विशेष महत्त्व का है। हरि विष्णु को कहते हैं और हर नाम शंकर का है। इस प्रान्तमें शैव और वैष्णवोंके झगडे भयंकर होते थे और अब भी हैं। इनका मेलमिलाफ करने के लिये यह हरिहर का मन्दिर बनाया है। यहां की मूर्ति में आधी दायें हाथ की मूर्ति का भाग विष्णु का है और बायें हाथ का भाग शंकर का है।

शिव-विष्णुका मेल इस मूर्ति में दिखाकर शैववैष्णवों को आपस में लडना उचित नहीं है, ऐसा उपदेश किया है। परन्तु इससे भी झगडे नहीं मिटे और अब तक चलते ही हैं। यहां की 'हरिहर' की मूर्ति चार फूट ऊंची अच्छी है। मन्दिर भी अच्छा है। उत्तम कारीगरी के स्तम्भ है और छत भी अच्छा है।

म्हैसूर सरकार की ओरसे सब प्रबन्ध है। यह मंदिर भी चूनेसे लीप लीप कर खराब किया था, और उस कारण सब कारीगरी छिप चुकी थी। अब सरकारी प्रबंध द्वारा सब चूना हटाया जा रहा है और सब पत्थर स्वच्छ करके पालिश करने का काम चल रहा है। इस प्रकार अन्यान्य दक्षिणकी मन्दिरों के ट्रस्टी कुछ बोध लेंगे,तो अच्छा होगा।

इधर का पत्थर कारीगरीके लिये बडा अच्छा है। हमने बेलूर में ६० फूट ऊंचा विजयस्तम्भ अखण्ड एकहि पत्थरका देखा, विजयानगर में ४० फीट लंबी द्रोणी घोडों के पानी पिने के लिये बनाई देखी। ८०-८० फूट लंबे पत्थर कई स्थान में मकानों में और मंदिरों में लगाये हैं। एक स्थान पर चार स्तंभ हैं वे ६० फूट ऊंचे हैं और जमीन में १५ फूट अवश्य गाडे गये होंगे। सब दक्षिण भारतमें यह पत्थरों का महत्त्व बडा है। इन पत्थरों से ही ये सब बडे बडे मन्दिर बन सके है। मंदिर के स्तम्भ अखण्ड है। ३० फूट ऊंचे और ४ फूट या ६ फूट चौडे स्तंभ अखण्ड देखकर मनुष्य आश्चर्यमग्न हो जाता है।

बेलूर, हलिबिड, हरिहर आदि सब स्थान के बहुत से स्तंभ (Lathe) खराद पर लकडी जैसे गोल काटे हैं। तीस फूट लंबा, छः फूट चौडा पत्थर (Lathe) खरादपर लगाया कैसा और उसको घुमाया कैसा, यह एक महदाश्चर्य है। छोटीसी लकडी तो (Lathe खराद पर) लगायी जा सकती है। पर इतना बोझदार पत्थर कैसा लगाया जाता होगा और वह खराद भी कैसा होगा और उसको घुमाना भी कैसा, उस पत्थरको खरादपर काटनेवाले शस्त्र भी कैसे होते होंगे? यह सब आश्चर्यमयी बात है। परंतु ये खांब सब खरादपरहि काटे हैं, इसमें संदेह नहीं है।

हमने जब ये स्तंभ देखे, तब उस स्थानके पत्थर के काम करनेवाले कारीगरोंसे बातचीत करके इस प्रकार खराद

कैसे होते थे, यह जाननेका यत्न किया, पर वह कला इस समय किसी को मालूम नहीं है । इस समय लोहा काटनेवाले जो बडे (Lathe) खराद हैं, उनपर भी इतने बोझ का पत्थर काटा नहीं जा सकता, और किसी जगह काटना संभव भी हो, तो उसके लिये कितनी यन्त्रशक्ति लगती होगी । वैसी शक्ति सहस्र वर्षपूर्व भारतवर्षमें नहीं थी । फिर ये बडे स्तंभ बने कैसे ?

एक वृद्ध पण्डित बेलूर में मिला, उसने कहा कि एक समय कई वर्ष पूर्व बडे बडे इंजिनियर्स यहां जमा हुए थे और उन्होंने इसी प्रश्नपर बडा विचार किया, वृद्ध कारीगरोंसे परामर्श किया, प्राचीन ग्रंथ देखे और सर्व संमतिसे इस निश्चयपर पहुंचे कि यह खराद पानीमें रखा जाता था, पानीमें रखनेसे पत्थर का बोझ कम होता है, खराद हाथियोंसे घुमाया जाता था, और पानीके ऊपर जितना पत्थर होता था, उसपर हथियार चलाया जाता था । हथियार भी पत्थर काटनेयोग्य तीक्ष्ण और मोटे होते थे ।

यह सुनकर हमें भी यह बहुत करके सत्य होगा, ऐसा ही प्रतीत हुआ । कुछ भी हो, प्राचीन कारीगरोंने ऐसी कारीगरी करके रखी है, जो इस समय के बडे इंजिनियरों को भी चक्करमें डालती है, इसमें संदेह नहीं है ।

इस तरह कारीगरी देखकर प्राचीन लोगोंके विषयमें हमारा आदर द्विगुणित हुआ । आज ऐसा कार्य करनेवाले कोई नहीं, यह देखकर बडा ही विषाद हुआ ।

यहां हमारे दक्षिणदौरे का वृत्तान्त समाप्त होता है, क्योंकि इस के बाद सीधा औंध पहुंचना ही है । जो दो दिनोंमें हुआ ।

भ्रमणका योग्य समय

दक्षिण देशमें भ्रमण करनेके लिये योग्य समय दिसेंबर और जनवरी महिने हैं । हम मार्च में गये थे । मार्च में या इसके उपरान्त कोई दक्षिण यात्राके लिये न जाय । दक्षिण में दिसेंबर ही महिना उत्तम है । वहां सर्दी तो होती ही नहीं । पर दिसेंबरमें गर्मी भी नहीं होती । दिसेम्बर में भी एक सफेद चादर ओढने के लिये पर्याप्त होती है । कपडे तो इधर लगते ही नहीं । मार्च की १५ तारीख को हम चले थे । घर छोडकर धारवाड, हुबली छोडने पर हमें जो गर्मी सताने लगी, तो आने तक हम सब करीब करीब उबल गये थे । दिनरात ऐसी गर्मी उत्तरीय लोगों को सहन करनेयोग्य नहीं होती । इसलिये उत्तरीय लोग इस यात्रा के लिये जाना चाहें, तो दिसेंबर-जनवरी में ही जाय । यह देश अच्छा है । सर्वत्र गाय का उत्तम दूध सामने दोहा मिलता है । इधर गौपालन की प्रथा बहुत है । दूध चारपांच आने सेर मिलता है । अन्य भोजन के पदार्थ भी अच्छे मिलते हैं । इधर चावलों की खेती साल में तीन वार करते हैं । ऐसी गर्मी में भी खेत सब पानी से भरे थे और बहुत खेत हरेभरे थे । रामेश्वर के टापू ही रेती के थे, शेष कृषी अच्छी थी । इतना पानी होने पर भी मच्छर बिलकुल नहीं थे ।

सर्वत्र धर्मशालाएं हैं, बडी प्रशस्त धर्मशालाएं हैं । यहां धर्मशालाको "छत्र, चौल्ट्री" आदि कहते हैं । प्रायः स्टेशन के पास ही धर्मशालाएं होती हैं । कईयों में तीन दिन यात्रियों को मुफ्त रखते हैं, कईयों में बिजली भी होती है, और प्रति कमरे चार आने से दो रु० तक भी किराया कइयोंमें प्रतिदिन लेते हैं । वैसे सुख के साधन भी वहां मिलते हैं । यह किराया कोई अधिक नहीं है । प्रवासी को आराम देनेवाले ये स्थान होते हैं और सब प्रकारके वाहन, कूली आदि सब पास ही रहते हैं ।

कई स्थानों में मंदिर से प्रसाद मोल मिलता है । श्रीरंग का प्रसाद यात्री अवश्य लेकर सेवन करें । बडा स्वादु, पौष्टिक और मनप्रसन्न करनेवाला यह प्रसाद होता है ।

उत्तरीय लोगों के लिये यहां भाषा की अडचन बहुत होगी । कानडी, तेलंगी, तामिल, मलियाळं आदि द्राविड भाषाएंहि यहां चलती हैं । कांग्रेस के प्रयत्न से इस देशमें हिंदी का कुछ प्रचार हो रहा है, प्राय: अंग्रेजी समझी जाती है, और पंडित लोग संस्कृत जानते हैं । इस तरह काम चलाया जा सकता है । परन्तु सर्वत्र भाषा के अज्ञान के कारण कष्ट तो अवश्य होता है । तथापि कोई न कोई सहाय्यक समयपर मिलता है और काम चलता है ।

यहां होटेलोंमें चावलों की इडली सबेरे और चावलोंके ही दोशे शामको मिलते हैं । उपमा, उप्पिंडी दिनभर मिलती है । ये सब चावलों के होनेपर भी खानेयोग्य

(पृ० २३४ देखो)

भारत के एक सौ चक्रवर्ती राजा।

प्राचीन भारतवर्ष का जो इतिहास आजकल विद्यालयों और महाविद्यालयों (स्कूल-कालिजों)में पढाया जाता है, वह अब से ६०० वर्ष पूर्व से आरम्भ होता है। इससे पूर्व सहस्रों वर्षों की सहस्रों ऐतिहासिक घटनाएं जिनकी सत्यता कई ग्रन्थों से प्रमाणित ठहरती है और जो भारत के गौरव, यश, कीर्ति की वर्धक हैं– उनका किञ्चित् भी वर्णन नहीं है। वस्तुतः हमारे पूर्वजों के कारनामे स्वर्णाक्षरों में अङ्कित करनेयोग्य हैं। यहां पर एक ऐतिहासिक बात पर पाठकों की दृष्टि खींचता हूं। प्रायः यह ख्याल है कि—

"भारत में सदैव छोटे-छोटे राजागण राज्य करते रहे हैं। सम्पूर्ण भारत पर कभी एक राजा का राज्य नहीं रहा– अन्यदेशोंको फतह करना तो बातही और है। कहा जाता है कि चन्द्रगुप्त ने या चिरकाल पश्चात् अकबर ने भारत को एक शासनाधीन करने का यत्न किया। औरङ्गजेब कुछ कामयाब हुआ, किन्तु इसी के शासनकाल में साम्राज्य नष्ट हो गया-फिर अंगरेजों ने सारे भारत को स्वाधीन करके सब भारतियों को एक जाति बनाने में सहायता की है।"

इस कथन में बहुत कुछ सच्चाई है, किन्तु हमें भारत के वे दिन न भूलने चाहियें, जब भारत उन्नति के शिखर पर था। यदि यहां छोटे छोटे राजा होते थे, तो हमारे प्राचीन ग्रन्थोंमें बडे बडे नरपतियोंके नाम क्यों आते हैं? सबसे छोटा नृपति प्रजा-शासक राजा कहलाता था, किन्तु राजाओं परभी शासन करनेवाले भिन्न भिन्न नृपतियों की पदवियों के नाम आये हैं, जैसे सम्राट्, स्वराट्, विराट्, महाराज, अधिराज, महाराजाधिराज, राजराजा, चक्रवर्ती, एकराट्, विश्वराट्, सार्वभौम।

अब इन शब्दों के अर्थ जो अमरकोषादि में दिये हैं, देखने से पूर्णतया विश्वास हो जावेगा कि जिन जिन नृपतियों के साथ यह उपाधियाँ लगाई जाती थीं, वे सार्थक होंगी। उन राजाओंने अवश्य ही अपनी विजयपताका देशदेशांतरों और द्वीपद्वीपांतरों में फहरायी होगी। तथा सम्राट् के लक्षण—

येनेष्टं राजसूयेन मण्डलस्येश्वरश्च यः।
शास्ति यश्चाज्ञया राज्ञः स सम्राट्॥

अर्थात्– जिसने राजसूययज्ञ किया हो, जो राजाओं पर शासन करता हो, जो Paramount Sovereign हो, वह सम्राट् कहलाता है।

चक्रवर्ती— "आसमुद्रक्षितीशः"।

अर्थात् समुद्रों से घिरी हुई सारी पृथ्वी का जो स्वामी है, उसे चक्रवर्ती कहते हैं।

एकराट् का भी यही अर्थ है। ऐतरेय ब्राह्मण में लिखा है—

"पृथिव्यै समुद्रपर्यन्ताया एकराळिति"।

अर्थात्– समुद्र तक जिस पृथिवी की सीमाएँ फैली हुई हैं, उस पर शासन करनेवाले नृपति को एकराट् कहते हैं, वह इस पृथिवी पर एकाकी राजा होता है। उसी की आज्ञाएं सब द्वीपद्वीपांतरों के राजा पालन करते हैं। वही राजराजेश्वर होता है, Universal Sovereign उसे ही कहते हैं। उसी का नाम सार्वभौम है। किन्तु विश्वराट् का शब्द अतीव सार्थक और रहस्यपूर्ण है। जो विश्व-सारे संसार का न कि केवल एक भूमि का ही राजा हो–उसे विश्वराट् कहते हैं। भागवत पुराण में मान्धाता महाराज के बारे में यूं लिखा है कि—

"सत्यप्रतिज्ञ नरपति मान्धाता ने क्रमानुसार समस्त भूमण्डल को जीत कर राजाओं के अधीश्वर हो सार्वभौम उपाधि प्राप्त की।"

यह नाम केवल पुस्तकों में लिखने के लिये ही नहीं थे, बल्कि सिंहासनपर बैठते हुए प्रत्येक राजा वा सम्राट् के राज्यतिलक-समय यह सार्वभौम होने का आदर्श सामने रखा जाता था, जिसका परिणाम यह अवश्य होता था कि महावीर, युद्धरसिक, शक्तिशाली, राजनीतिकुशल, पराक्रमी राजा अवश्यमेव एकराट्, विश्वराट्, चक्रवर्ती वा सार्वभौम

होनेका यत्न करते थे। यदि यहाँ तक कृतकार्य न होते थे, तो सम्राट् तो बन ही जाते थे अर्थात् भारत देशक-कन्याकुमारी से काश्मीर देश तक वा विंध्याचल से हिंदुकुश-पर्यंत का राज्य प्राप्त कर लेते थे। ऐसे बहुत से महेश्वरों के नाम संस्कृत साहित्य में मिलते हैं-उदाहरणार्थ हम कुछ नाम यहां पेश करते हैं।

शतपथ-ब्राह्मण १३-५-४ में अश्वमेध-यज्ञ करनेवाले राजाओं के नाम दिये हैं। किंतु पहिले यह भी ज्ञात होना चाहिये कि अति प्राचीन काल में अश्वमेधयज्ञ करनेका अधिकार किस नृपति को होता था? आश्वलायनश्रौतसूत्र २०-१-१ में कहा है- "राजा सार्वभौमोऽश्वमेधेन यजेत" अर्थात् सार्वभौम राजा ही अश्वमेधयज्ञ करें। प्राचीन काल में इस नियम पर अवश्य काम किया जाता होगा, यद्यपि पीछे इसकी बहुत परवा न की गई हो। शतपथ में तेरह महाराजों के नाम आये हैं, जिन्होंने अश्वमेधयज्ञ किया, यदि सारी भूमि उनके अधीन न भी हो, तो भारतवर्ष का महाराज होने में तो संशय ही नहीं हो सकता। उनके नाम तथा जिस जाति के वे थे, इस प्रकार दिये हुए हैं—

(१) जनमेजय पारिक्षित जो महाराज युधिष्ठिरका पौत्र था।
(२) भीमसेन, (३) उग्रसेन, (४) श्रुतसेन — ये परीक्षित के भाई थे, जिन्होंने एक दूसरे के पश्चात् राज्य किया।
(५) पर आट्णार- कोसलदेश।
(६) पुरुकुत्स- इक्ष्वाकुवंशज।
(७) मारुत आविक्षित- अयोगव जाति।
(८) क्रैव्य- पांचाल जाति।
(९) ध्वसा द्वैतव- मत्स्य जाति।
(१०) भरत दौष्यन्ति- मध्य देश।
(११) ऋषभ याज्ञतुर- श्विक्नन जाति।
(१२) सात्रासाह- पांचाल देश।
(१३) शतानीक सात्राजित।

अब ऐतरेय ब्राह्मण की साक्षी लीजिये। उस में बारह अश्वमेधयज्ञ करनेवाले राजाओं के नाम दिये हैं, जिन में से जनमेजय, मरुत, आविक्षित, दौष्यन्ति और शतानीक के नाम शतपथवाली सूची में ऊपर दिये जा चुके हैं। इसमें आठ नाम नये हैं। उसमें राजाओं की जाति नहीं दी, बल्कि पुरोहितों के नाम दिये हैं। हम यहां उन आठ सार्वभौम राजाओं के नाम देते हैं, जिनकी छत्रछाया में सारी भूमि नहीं, तो सम्पूर्ण भारतवर्ष तो अवश्यमेव था।

(१४) शर्याति मानव, (१५) आम्बष्ठ्य, (१६) युधाँश्रौष्टि, (१७) श्रौष्टि, (१८) विश्वकर्मा भौवन, (१९) सुदास पैजवन, (२०) अंगविरोचन, (२१) दुर्मुख पांचाल, (२२) अत्यराति जानन्तपि।

उक्त बाईस महाराजाओं के शासनकाल में ही यह भारत एक जाति, एक भाषा, एक वैदिक धर्म और एक समान रीतिरिवाजों को धारण करनेवाला ही न होता था, बल्कि अन्य कई महाराजाओं के समय भी जातीयता, एकता, समानता, भ्रातृभाव की लहरें भारतमें चलती थीं, छोटे छोटे राजाओं के राज्योंमें भारत विभक्त न था, बल्कि मांडलिक राजाओं के ऊपर शासन करनेवाले राजेश्वर चक्रवर्ती महाराज मौजूद होते थे। गरुड पुराण १४-४१-४२ में सूर्यवंशी, चन्द्रवंशी तथा अन्य वंशों के उन महाराजों के नाम दिये हैं, जिन्होंने अश्वमेधयज्ञ किये हैं। यह अति प्राचीन राजागण हैं, जिनके नाम ब्राह्मणग्रन्थों में नहीं आये, क्योंकि वहां अपेक्षया अर्वाचीन राजराजेश्वरों के नाम दिये हुए हैं। उक्त पुराण में बीस नाम आये हैं, जो इस प्रकार हैं—

(२३) मनु, (२४) दिलीप, (२५) मान्धाता, (२६) सगर, (२७) भगीरथ, (२८) अम्बरीष, (२९) अनरण्य, (३०) मुचुकुन्द, (३१) निमि, (३२) पृथु, (३३) ययाति, (३४) नहुष, (३५) पुरु, (३६) दुष्यंत, (३७) शिबि, (३८) नल, (३९) भरत, (४०) शन्तनु, (४१), पांडु (४२) सहस्रार्जुन।

उक्त बीस राजराजेश्वरों के नाम गरुडपुराण में ही नहीं दिये गये, बल्कि रामायण, महाभारत तथा अन्य पुराणों, कालिदास के रघुवंश आदि में भी पृथक् पृथक् तौर पर इनका वर्णन आया है और वहां उन्हें अश्वमेधयज्ञ के करनेवाला माना है। अतः वे मिथ्या नहीं हो सकते। उन महाशयों ने इस आर्यावर्त देश में अपनी विजयपताका एक सिरे से दूसरे सिरे तक फहराई थी। उनमें से कई एक ने विदेशी राजाओं को पराजित किया था-जैसा रघु ने अफ-

गानिस्तान, बिलोचिस्तान और फारस को वीरतापूर्वक जीत कर भारत के अधीन किया। कालिदास ने इस विजय का जो वर्णन रघुवंश में किया है, वह यहां स्थानाभाव से नहीं दिया जाता।

मैत्र्युपनिषद् पृ० १, खं० ४ में जिन नये अश्वमेधयज्ञ करनेवाले राजाओं का नाम दिये गये हैं, उन्हें उपनिषत्कार ने स्वयम् चक्रवर्ती कहा है। उन सब के नाम यहां दिये जाते हैं, जो नाम पहिले आ चुके हैं, वे ये हैं—

ययाति, अम्बरीष, अनरण्य, भरत। तेरह नये नाम दिये हैं, इस प्रकार इनको मिलाकर ५५ चक्रवर्ती सार्वभौम राजाओं के नाम हो जाते हैं। १३ नाम इस प्रकार हैं—

(४३) सुद्युम्न, (४४) भूरिद्युम्न, (४५) इन्द्रद्युम्न, (४६) कुवलयाश्व, (४७) यौवनाश्व, (४८) वद्ध्र्यश्व, (४९) अश्वपति, (५०) शशबिन्दु, (५१) हरिश्चन्द्र, (५२) ननक्क, (५३) शर्याति, (५४) अक्षसेन, (५५) मरुत्।

शांखायन श्रौत सूत्र १६–९ में भी अश्वमेध करनेवाले महेश्वरों के नाम आये हैं, जिनमें से केवल एक नया है, शेष छः के नाम ऊपर आ चुके हैं– वह नाम (५६) "वैदेह अल्हार" है।

महाभारत एक बृहत् सागर है, उसमें से चक्रवर्ती राजाओं की सूची निकालना एक महायत्न का काम है— वह सूची वस्तुतः अतीव रोचक होगी और ऊपर दिये हुये नामों की पुष्टि करनेवाली भी अवश्य होगी। यहाँ पर केवल शांतिपर्व अध्याय १६ में महाराजों के नाम दिये हैं, जिनमें से मारुत, भरत, भगीरथ, मांधाता, ययाति, अम्बरीष, शशबिंदु, सगर, पृथु के नाम तो पूर्व दिये जा चुके हैं, किंतु कुछ नाम नये भी दिये हैं, जो इस प्रकार हैं—

(५७) सुहोत्र, (५८) बृहद्रथ, (५९) श्रीराम, (६०) गय, (६१) रंतिदेव, (६२) युधिष्ठिर।

कौटिल्य-अर्थशास्त्र में भी बहुत से चक्रवर्ती महाराजों के नाम दिये हैं, जिनकी सूची इस प्रकार है–

(६३) नाभाग, (६४) डाण्डयक भोज, (६५) वैदेह-कराल, (६६) तालजंघ, (६७) ऐल, (६८) अजबिंदु, (६९) सौवीर, (७०) रावण, (७१) दुर्योधन, (७२) डांबोद्भव, (७३) हैहय-अर्जुन, (७४) वातापि।

अठारह पुराणों को यदि ध्यान से पढा जावे, तो उक्त ७४ सार्वभौम महाराजाओं के अतिरिक्त अन्य भारत के राजराजेश्वरों के नाम प्राप्त होंगे। हमने इस विषय का ध्यान न रखते हुये पुराणों को पढा है, इस कारण झट-पट उस सागर में से राजाओं के नाम निकाल निकाल कर पाठकों की भेंट नहीं किये जा सकते। विष्णुपुराण में कई स्थानोंपर चक्रवर्ती राजाओं के नाम आये हैं, जिनमें से यदि वे ७४ महेश्वर छोड दिये जावें, जिनके नाम ऊपर दिये गये हैं, तो शेष पंद्रह राजाओं के नाम इस प्रकार हैं–

(७५) बली, (७६) मल्ल, (७७) ककुत्स्थ, (७८) पुरूरवस्, (७९) राघव, (८०) दशानन, (८१) अविकोलुत, (८२) अभिक्षेत, (८३) युवाश्व, (८४) जयद्रथ, (८५) चन्द्र, (८६) रघु, (८७) कार्तवीर्य, (८८) महापद्मानन्द, (८९) चंद्रगुप्त।

अन्य पुराणों में भी कुछ नये नाम मिलते हैं, जैसे कूर्मपुराणमें (९०) वसुमना। लिङ्गपुराणमें (९१) कार्तवीर्यअर्जुन, और (९२) उशन, शिवपुराण में (९३) चित्ररथ, भागवतपुराण में (९४) कुवयाश्व और (९५) भुन।

यदि हम ईसाब्द के आसपास के समय छः सौ वर्ष पीछे तक का इतिहास पढें, तो उसमें भी अश्वमेधयज्ञ करनेवाले पांच राजाओं के नाम मिलते हैं, उनकी शक्ति भारतवर्ष में सुदृढ़ थी–यद्यपि सम्पूर्ण भारतवर्ष के वे स्वामी न थे, तथापि भारतवर्ष का अधिकांश उनके अधीन था। अपने पूर्वजों जैसे पराक्रमी, महाबलवान्, साहसी और शक्तिशाली वीर योधा न होने के कारण और विजय की नई कठिनाइयों से ग्रसित होकर उक्त पांच राजाओंने भारत के अधिकांश भाग जीतनेपर ही अश्वमेध किया, यद्यपि भारतीय नैपोलियन समुद्रगुप्त के अतिरिक्त अन्य किसी को अश्वमेध करने का अधिकार प्रतीत नहीं होता– किंतु उन्होंने भारतवर्ष को एक छत्रछाया में लाने का बृहत् यत्न किया और बहुत कुछ सफल भी हुए। उनके नाम ये हैं—

(९६) पुष्पमित्र, (९७) समुद्रगुप्त, (९८) कुमारगुप्त, (९९) आदित्यसेन, (१००) पुलिकेशी।

इस प्रकार अपने प्राचीन साहित्य में से एक सौ राजराजेश्वरों, चक्रवर्तियों, सार्वभौम महाराजों के नाम हमने पाठकोंके सामने रखे हैं। इनको राजराट्, सम्राट्, चक्रवर्ती, अखण्डभूमिप, चातुरंतोराजा की उपाधियां भी दी जातीं

थीं, ये वे महाराजा हैं, जिनके विषयमें ग्रंथकारोंने लिखा है- 'अनन्यां पृथिवीं भुङ्क्ते' अर्थात् जो सारी भूमिपर ऐसा राज्य करते हैं कि, कोई अन्य उनके उस स्वामित्व में भाग लेनेवाला नहीं होता। इससे सिद्ध है कि भारतवर्ष के इतिहासमें कम से कम एकसौ वार इस भूमि को फतह करने का हमारे पूर्वजोंने यत्न किया और अपनी विजय-पताका सौ वार इस संपूर्ण पृथिवी पर नहीं तो सम्पूर्ण भारत और उसके आसपास के देशों में फहरायी। क्या कोई अन्य ऐसा देश है, जिसके ऐसे गौरवयुक्त कारनामे हों ? एक समुद्रगुप्त (देखो ९७ संख्या) के कारनामों को देखकर आंग्ल ऐतिहासिकोंने उसे भारतीय नेपोलियन की उपाधि दी है, किंतु जब राजा मांधाता, सगर, दिलीप, राम, युधिष्ठिर आदि एक सौ महेश्वरों ने भारतकी सीमाओं से गुजर कर समुद्रों पार होकर अनेक नरेशों को स्वाधीन किया और सारी पृथिवी का या उसके अधिक भाग का भोग किया, तो क्या हम अब भी विश्वासपूर्वक नहीं कह सकते कि यह पुण्यभूमि भारत वीरजननी है-उसमें एक सौ नैपोलियन हो चुके हैं, जिन्होंने द्वीपद्वीपांतरों और देशदेशांतरों को फतह करके अपनी मातृभूमि के यश, गौरव, कीर्ति को प्रज्वलित करके उसकी सभ्यता भूमिपर फैलाई है। ऐसी भारतभूमि, महावीर-जननी, रत्नगर्भाको सहस्रश: धन्यवाद हो ! उसे ही वारंवार हमारा नमस्कार हो !! परम पिता की कृपा हो, कि उसकी विजयध्वनि से पुनः संसार गूञ्ज उठे !!!

('श्रद्धानंद' से)

सत्य का विजय।

[श्री स्वामी सत्यदेवजी महाराज का उपदेश।]

जो सत्यवादी, सत्यपरायण हैं, उनके निर्भय, निःसङ्कोच, प्रशांत चित्त में जिस स्वर्गीय सुख की अनुभूति होती है, क्या कभी आपने उस सुख का आस्वाद पाया है ? अजी उसका भोग करना तो दूर किनार रहा; आप कभी उसकी कल्पना भी कर सके हैं ? कैसी भयानक व्याकुलता है !

कैसी तीव्र उत्कण्ठा और अशान्तभावने हमारे जीवनको आच्छन्न कर रक्खा है ! सत्साहस, दया, क्षमा, उदारता, धीरता आदि सद्गुण मानो पुराणों की कथा मात्र रह गये हैं; केवल आहार, निद्रा, भय आदि पशु-धर्म ही में सर्वोत्तम योनि मानव-जीवन का अमूल्य समय व्यतीत हो रहा है।

अच्छा, अब व्यक्तिगत जीवन छोडकर एक बार देश की ओर देखिये तो एक कृत्रिम (मसनूई) सभ्यता के आवरण के भीतर पूर्ण रूप से मिथ्या का अधिकार चल रहा है। सत्य-वाक्य, सत्य-व्यवहार आजकल मानो असम्भव हो गया है। पांच वर्ष के बालक से लेकर ८० वर्ष के वृद्ध तक प्रायः सब ही मिथ्या के जाल में फँसे हुए हैं। क्या शिक्षाक्षेत्र में, क्या विचारक्षेत्र में, क्या आमोद-प्रमोद में, क्या धर्म-राज्य में सर्वत्र ही मिथ्या की ताण्डवलीला चलती है। कुछ ऐसा समय आ गया है कि अब मिथ्या के विना काम चलता ही नहीं; किसी तरह मानो दिन व्यतीत होते ही नहीं; ऐसा मिथ्यामय व्यावहारिक जीवन होने के फल से देश का नैतिक बल विलुप्त हो चला है। मन में जितना बल रहने से मनुष्य को सत्य कहने का साहस होता है, अब हम उसको भी खो बैठे हैं।

यह न समझिये कि एक दिन में ही सब सत्यपरायण हो जायँगे, एक दिन की चेष्टा से ही सब वाक्यविचार और व्यवहार सत्यमय हो जायँगे; किंतु याद रखिये कि सत्यरूप भगवान् की कृपा से और आपके एकत्र प्रबल आग्रह के फल से, थोडे ही दिनों में देश के अधिकांश लोग सत्यनिष्ठ हो सकते हैं। न जानें ऐसा प्रबल आग्रह कब प्रकट होगा ! देखिये, सत्य का प्रकाश पड रहा है, चारों ओर सत्यकी मोहनवाणी प्रचारित हो रही है; आइये, हम और आप भी ऋषियों के सुर-में-सुर मिलाकर "ऋतं वच्मि ; सत्यं वच्मि" कहते-कहते जडता और दुर्बलता त्याग कर मिथ्या की कालिमा छुडा कर पूर्ण उद्यम से आगे बढें-'सब सत्य वार्ता कहें।' यदि आपके वाक्य सत्य होंगे, तो विचार और कार्य अपने आपही सत्यमय हो जायंगे। हृदय में सत्-साहस तीव्र भाव से फूट उठेगा, तब सब अधर्म दूर भाग जायँगे, जीवन यथार्थ ही शांतिमय होगा, अतएव 'सत्य बोलिये।'

"नहि सत्यात् परो धर्मः" सत्य से परे और धर्म नहीं है, इस श्रेष्ठ धर्म से पतित होकर, मिथ्या के वशीभूत होकर, केवल अर्थ और कामकी सेवा करनेसे ही आज हम रोग, शोक, अभाव, उत्पीडन से जर्जरीभूत, मिथ्या-अधर्म के तीव्र पेषण से संकुचित हैं। याद रखिये, हमारा यह देश 'धर्म-भूमि' है, यहां धर्म को त्यागकर कोई अधिक समय तक सुख स्वच्छन्द होकर रह नहीं सकता। अधर्म के सामयिक प्रलोभन से मुग्ध होकर अब कब तक जीवन मिथ्यामय-अशांतिमय किये रहोगे ? आओ, जाति, धर्म, संप्रदाय का विचार छोड कर सब 'सत्य-परायण होओ'।

प्रतिदिन प्रातःकाल यह स्मरण करने और अनावश्यक बातें त्यागने की प्राणपण से चेष्टा करो। जब किसी से बात-चीत या व्यवहार करो, तब कम-से-कम एक बार पूर्वोक्त सत्य-मन्त्रस्मरण कर लो। इसी तरह दिन के कार्य समाप्त कर के रात्रि में शय्या पर शयन करते समय एक बार स्मरण कर देखो कि दिन में कोई झूटी बात कही वा कोई मिथ्या व्यवहार तो नहीं किया है, यदि न हुआ हो तो कृतज्ञतापूर्वक भगवान् को धन्यवाद देकर कहो— "प्रभो ! आपकी कृपासे मैं आज सत्य की रक्षा कर सका हूँ,

आप मेरा भक्ति-हीन प्रणाम ग्रहण कीजिये, जिससे मैं प्रतिदिन इस भाव से आपकी कृपा का अनुभव कर सकूँ।''

और यदि दिनरात में कोई झूटी बात कही गई हो, तो अनुतप्त हृदय से, कातर प्राण से प्रार्थना करो— 'हे प्रभो ! आज मैं सत्य की रक्षा नहीं कर सका हूँ, आप मुझे क्षमा करें; भविष्यमें फिर कभी मिथ्याके मार्ग पर नहीं चलूँगा। आप सत्य हैं, सत्य ही आपका स्वरूप है, आप सत्य के सारथी हैं, सत्य ही आपका नाम है, तब आपका नाम-स्मरण करके भी हम झूठ क्यों बोल जाते हैं ? हमारी रक्षा कीजिये, हमें सत्य-परायण कीजिये।' आग्रहपूर्वक कुछ दिन ऐसी चेष्टा करते-करते सत्य बात कहने का अभ्यास हो जायगा। जब तक सत्यमय स्वभाव न हो जाय। तब तक कुछ होशियार रहना पडता है, कारण कि चिरकाल झूठ बोलते-बोलते मनुष्य एक ऐसी अवस्था पर पहुँच गये हैं, कि अनजान दशा में अनेक बार झूठ बोल जाते हैं और उनको मालूम भी नहीं पडता; इस कारण कुछ दिन उल्लिखित रूप से अनुशीलन व साधना करनी पडती है। साधना किये बिना किसी प्रकार की सिद्धि नहीं हो सकती। अधिक क्या, जो यथार्थ ही सत्य-परायण होना चाहते हैं, उनके लिये यह साधना कुछ भी कठिन न होगी।

परन्तु एक बात है कि ऐसी साधना में प्रवृत्त होतेही अनेक प्रलोभन और विघ्न आपको सत्य मार्ग से डिगाने की चेष्टा करेंगे। कभी ऐसा भी देखोगे कि मिथ्या का आश्रय लेने से ही आप धन, ऐश्वर्य, यश, गौरव आदि पार्थिव सुखभोग की वस्तुएँ अनायास प्राप्त कर सकते हैं। किंन्तु उस दशा में ऐसे प्रलोभन के हाथ से बचने की चेष्टा करो। मिथ्या का आश्रय लेकर समस्त पृथ्वी का आधिपत्य भी मिले, तो उसे तुच्छ समझो। सत्य-धर्म के आश्रय में रहकर यदि सदा दरिद्री रहना पडे, भिक्षा से निर्वाह करना पडे, लाञ्छित होना पडे, चाहे मृत्यु भी हो जाय, तो उसे सहस्र-गुणाश्रेय समझो-ऐसा मनोबल लाने की चेष्टा करो।

यदि तुम देखो कि असत्य के प्रलोभन से तुम्हारा चित्त दुर्बल हो गया है, तो काय-मनो-वाक्य से दुर्बल के बल भगवान् के चरणों में सर्वतो-भाव से शरणागत हो जाओ। प्रभो ! हमें बल दीजिये, हमारा मन मिथ्या के जालपर मुग्ध होना चाहता है। जानते हैं कि यह मिथ्या है, असत्य है, इसका परिणाम बुरा है; तथापि दुर्बल मन किसी प्रकार मिथ्या का प्रलोभन त्याग नहीं सकता। आप अशरणों के शरण हैं, आप इस मिथ्या प्रलोभनसे हमारी रक्षा कीजिये, ऐसी प्रार्थना करने से सत्यस्वरूप भगवान् निश्चय ही रक्षा करेंगे; और यदि उनके चरणोंमें शरण लेने पर अनेक बार सफलता न भी हो, तो भी हताश न हूजिये; भगवान् को दोष न दीजिये, बल्कि यह कहिये कि यथार्थ सरल रूप से हम प्रार्थना नहीं कर सके हैं, इस कारण सफलता नहीं हुई। यह मानकर क्षमा-प्रार्थना करो; फिर सत्य कहने के लिये दृढप्रतिज्ञ हो। याद रखिये कि बार-बार की अकृतकार्यता ही अभीष्ट-सिद्धि का पूर्व लक्षण है।

और भी एक विचारने की बात है। अनेक बार देखते हैं कि सत्य बोलने से, सत्य व्यवहार करने से, आसपास की झूटी प्रतियोगिता में पडकर मनुष्य को अनेक प्रकार से लाञ्छित और वञ्चित होना पडता है, निंदा, दरिद्रता आदि को स्वेच्छा से वरण कर लेना होता है; किंतु आप सत्य के आश्रित हैं, भगवान् के शरणागत हैं, भय न कीजिये, हताश न हूजिये। जगत् की स्तुति, निंदा पर कान न लगाइये। याद रखिये कि श्रेय-जय आपही का है। आजतक सत्य की पराजय किसी देश और शास्त्र में नहीं सुनी गई है। सत्य की सदा ही जय है, अतएव **आप सत्य-परायण हूजिये।**

सत्यवादी के हृदय में सदा अपूर्व शांति, अदम्य साहस विराजता है। उसके मनमें भय व संकोच कभी नहीं होता। केवल सत्य बात का अभ्यास होने से ही मनुष्य के सब पाप दूर हो जाते हैं। दया, क्षमा, सहिष्णुता आदि सद्गुण सत्यवादी के अनायास साध्य साधन हैं। और सर्वश्रेष्ठ लाभ इह, पर काल के एक मात्र मङ्गल भगवान् हैं, **अतएव सत्य-परायण हो।**

मान लीजिये कि मिथ्या का आश्रय लिये बिना वकील, मुख्तार, व्यवसायी और दलाल आदि अपना कार्य अच्छी तरह नहीं चला सकते, अथवा आर्थिक उन्नति नहीं कर सकते। यह कहावत बिलकुल माननीय नहीं है कि "झूट

बिना व्यापार नहीं चल सकता।" जिनमें मनोबल नहीं है अथवा जो अत्यंत लोलुप हैं, वे ही मिथ्या के सहारे उन्नति की आशा व चेष्टा करते हैं। तलाश करने से ऐसे अनेक दृष्टान्त मिलेंगे। फिर मिथ्या के बल से प्रचुर धनसंग्रह करने ही से हृदय की ज्वाला दूर नहीं होती। वहाँ जो तृपानल की सी गुप्त अग्नि सुलगती रहती है, वह हजार चेष्टा से भी नहीं बुझती। इसी से कहा है कि यदि यथार्थ शान्ति चाहते हो तो सत्यमार्ग का अवलम्बन करो।

पहले आप स्वयं सत्य-परायण हों; लाभ, हानि, स्तुति, निन्दा कुछ भी हो इस पर ध्यान न दें, तो देखेंगे कि निर्भीकता, सत्साहस, पवित्रता, सरलता, सर्वावस्था में अखण्ड आनंद आदि आकर्षणी शक्ति के प्रभाव से थोडे ही समय में अनेक लोग आपके साथी हो जायगे। आपके पवित्र आदर्श का अनुसरण करके अनेक लोग सत्य मार्ग पर अग्रसर होंगे। इस प्रकार देश भर में धीरे धीरे सत्य की विजय का प्रचार हो सकेगा। क्रम से अपनी अपनी जाति, धर्म और सम्प्रदायगत विशिष्टता बनाये रख कर भी सब लोग बिना विचारे सत्य की उन्नत-पताका के नीचे सम्मिलित होंगे। इस तरह हिंसा, द्वेष और प्रवञ्चनारहित शान्त एवं निर्भीक उत्साह, आनंदमय सत्ययुग की एक महान् मानव-मण्डली बन जायगी।

यही यथार्थ देशात्मक बोध का अमृतमय फल है, जिन्होंने देश को आत्मा-प्राणरूप समझा है, अर्थात् जो देशसे यथार्थ प्राण की तरह प्रेम कर सके हैं, जिनके निकट देश मातृका की जड मूर्ति दूर होकर प्राणमयी परमेश्वरी मूर्ति फूट उठी है, एक मात्र वे ही सर्वतो-भाव से आश्रय लेंगे, इसमें कहना ही क्या है। यह सत्यनिष्ठा ही जाति के गठन में सुन्दर और सरल मार्ग है।

आशा है कि यह सत्य की बुलाहट आपके समीप तक पहुंचेगी। स्नेहमयी माँ को सत्यभिक्षा देने के लिए आप शीघ्र ही दौड़ेंगे। यदि निश्चय ही आपको सत्य-निष्ठ, सत्य-प्रतिष्ठ होना होगा तो कम से कम १०-५ और बन्धुओं को भी सत्य के मार्ग पर लाने की चेष्टा करेंगे। यही माँ का आदेश और आकांक्षा है। आओ, माँ का आशीर्वाद ग्रहण करो, सब सत्य पर प्रतिष्ठित हों।

जो तीनों काल में ही सत् अर्थात् विद्यमान रहता है, वही सत्य है; जिसकी उत्पत्ति और विनाश नहीं वही सत्य है। यह जगत् जिससे उत्पन्न है, जिसमें अवस्थित है और जिसमें फिर प्रलीन होता है, वही सत्य है। ये परिदृश्यमान पदार्थ पूर्णरूप से विलीन हो जाने पर भी जो नित्य स्थिर रहे वही सत्य है। सत्य ही जीव-जगत् का यथार्थ स्वरूप है। सत्य ही अभय और अमृत है। सत्य ही आनन्दमय ब्रह्म वा भगवान् है। मनुष्य जब तक इस सत्य का अनुभव नहीं कर सकता तब तक वह अपूर्ण रहने के कारण शोक, दुःख के हाथ से परित्राण नहीं पाता, उसका अभाव दूर नहीं होता, वह आनन्द का पता नहीं पाता और उसके बारंबार जन्म मृत्यु का स्रोत किसी तरह नहीं रुक सकता।

यह सत्य प्राप्त करना मनुष्य के लिये दुरूह व्यापार नहीं है, बल्कि यह सुप्रकट- सर्वत्र सुप्रतिफलित, अन्तर बाहर तुल्यरूप से विराजमान है। सांसारिक धन-रत्नादि प्राप्त करने में जितना अध्यवसाय आवश्यक है, सत्य वस्तु प्राप्त करने में उतने प्रयास की भी आवश्यकता नहीं है। जो इसको अति दुर्लभ, कठोर तपस्या द्वारा प्राप्त होने योग्य बतलाते हों, समझ लीजिये कि ये अभी सत्य से बहुत दूर अवस्थित हैं।

"तुष्टि सत्य-प्रतिष्ठा का विघ्न है। तुष्टि की ओरसे सदा चौकन्ने रहो, तुष्टि आ खडी हो तो बल-पूर्वक उसको भेद कर आगे बढते रहो; समझ लो कि अभी हमको बहुत कुछ पाना है। परन्तु वह तुष्टि भी माँ का ही रूप है; उसको प्रणाम कर आगे बढना होगा, जैसे हनुमानजीने सुरसा को प्रणाम कर सीता के समीप जाने को बिदा मांगी थी, अथवा—

"या देवी सर्वभूतेषु तुष्टिरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः॥"

और एक भारी भय यह होता है कि सत्य-प्रतिष्ठा में कुछ आगे बढनेपर अन्तर्वृत्तियां इतनी सजीव और सतेज होने लगती हैं कि यदि कोई वृत्ति खिल उठे तो उसका रोकना कठिन हो जाता है। सत्य-प्रतिष्ठ पुरुष के प्राण में जो वृत्ति उदय होगी वह अवश्य ही सत्य होगी, इस कारण मन्द वृत्तियों की ओर यथाशक्ति पीठ देकर खडे होना चाहिये।

और अपने "उपलक्ष्य 'आश्रय' का आदर" और "गुरुबोध" का सब से अधिक अभ्यास होना चाहिये। प्रायः देखा जाता है कि कभी कभी एक ऐसा ज्ञान—मोह आता है कि जो मनुष्य को मिथ्या ज्ञान की ओर खींचके जाता है। जैसा तुमने ज्योंही सुना कि सब कुछ एक मात्र परमात्मा ही है, वही परम गुरु है, वही सब है, त्योंही तुम अपनेको दिव्य ब्रह्मज्ञ मान बैठे। देवता, देव शक्तियों को मानना ही छोड दिया, फिर और एक शाखा फूटी कि वह जो करता है वही होता है, उसे तो कोई बदल या मेट नहीं सकता—अतएव हमारी चेष्टा करना व्यर्थ है। जब जो कुछ होना होगा वह ठीक ही होगा, इस भाव से हम उपलक्ष्य को मिट्टी में मिला देते हैं। परन्तु याद रक्खो कि जबतक यथार्थ आत्माधिकार न पाओ, जबतक विषयादि के ऊपर तुम्हारा कर्तव्य न आवे, तबतक तुम्हारी दृष्टि में वस्तु की अपेक्षा 'उपलक्ष्य का ही' मूल्य अधिक है। वही एक मात्र गुरु है, यह बात भी सत्य है और उसकी इच्छा से जो हुआ है और होगा वह सब ठीक ही होगा, यह कहना भी ठीक है; भूल नहीं है; परन्तु अभी तुमने उसको पाया तो नहीं है। इस कारण जब तक फूल की गन्ध पाने से उसे सचमुच भगवान् की गन्ध अनुभव न कर सको, तब तक तुम्हारे समीप जैसा फूल का आदर है, वैसा ही ज्ञानदाता मनुष्य मूर्तिगुरु तुमको ज्ञान देवे, ज्ञानदान के उपलक्ष्य स्वरूप उस पुरुष में सत्यगुरु बोध से ध्यान रक्खो, तुम स्पष्ट कह सकते हो कि तुम्हारे जन्म और जगद्दर्शन का एक मात्र कारण भगवान् है, माता-पिता उपलक्ष्यमात्र हैं। जो गुरु है वही देवता वा देव शक्ति है, हमारी प्रचेष्टा, बाह्य पूजादि रूप व्यवहार है, ज्ञान के मोह से इसमें बिंदुमात्र भी भूल न होनी चाहिये। प्रतीक में सत्यबोध हुये बिना, कभी सत्य क्षेत्र तक पहुँच न हो सकेगी। मूर्तिपूजा और उपासना सम्बन्ध में भी यही बात समझो। उपलक्ष्य को शहद के अभाव में गुड, गुडके अभाव में गन्ने की तरह प्रायः काम में लाया जाता है।

सर्वतोभाव से अगोचर परमात्मा ही सर्वतोभाव से गोचरीभूत परमेश्वर है। जब तक अपनी स्थूल सत्ता की तरह उसके सम्बन्ध में सत्य बोध प्राप्त न हो, बल्कि उससे बहुत अधिक हो, तब तक प्रतीक ही तुम्हारा परित्राता, पथ का साथी, उद्धारकर्ता है—चेष्टा ही तुम्हारा मृतसंजीवनी पथ्य है—मनुष्यरूपी गुरु ही तुम्हारा सर्वेश्वर अधिकारी है—यह अचेतनरूपी विश्व ही तुम्हारे चेतनात्मा, भूमामन्दिर का प्रकाश है। अप्रत्यक्ष मा इसी रूप में प्रत्यक्षीभूत है। जो हमें गुरु रूपिणी मा के पादपद्म में बिठा दे या प्राप्त करा दे, वही हमारा उपनिषद् है। इसी से कहा जाता है कि उसके पादपद्ममें यदि अपनी पूजा को न पहुँचा सकेंगे तो हम गुरु वित्तापहारी होंगे। 'ओम्' को प्रणाम करो—मैं केवल तुमसे इतनी ही आशा करता हूँ, गुरुतुल्य चैतन्यमय होना ही सच्चे गुरु की ईप्सित दक्षिणा है। तुम गुरु-दक्षिणा देने में समर्थ हो, मा की यह वराशीष तुमको प्राप्त हो।"

जब बहुसंख्यक लोगोंने इस नित्य-सिद्ध सहज-सत्य वस्तु को बहुत दूर रख दिया, तब ही कलियुग का प्रभाव बढ गया; किंतु सत्ययुग में ऐसा नहीं था, तब अधिकांश लोग अत्याधिक सत्यदर्शी, सत्यान्वेषी अथवा सत्याभिमुखी थे। सत्यविमुख वा अमृत से वञ्चित होने से ही बार-बार जन्म-मृत्यु का पेषणसह्य करना पडता है। मृत्यु ही कलन वा कलि है। जिस युग के जीव केवल इस कलन वा मृत्यु की ओर द्रुतपद से तेजी के साथ अग्रसर हों उसी युग का नाम कलियुग है। यद्यपि वर्तमान काल में कलियुग के लक्षण ही विशेष भाव से प्रकाश पाते हैं, तथापि समझना चाहिये कि जिस प्रकार अति अशुभ फलप्रद शनि वा राहु की महादशा के अंतर में जब गुरु की अंतर्दशा उपस्थित होती है तब शुभ फल ही प्राप्त होता है, उसी प्रकार इस कलि के अंतर में भी सत्य की दशा आई है। क्या आप यथार्थ ही सत्ययुगी जीव होना चाहते हैं?

तो धीर भाव से सुनिये और समझने की चेष्टा कीजिये। आप एक वृक्ष देखते हैं। "वृक्ष" यह 'नाम' है और शाखा-पल्लवादि विशिष्ट आकार – रूप है। साधारण दृष्टि से यह दो अंश मात्र की ही प्रतीति है, एक नाम और दूसरा रूप। वर्तमान जीव जगत् इस नाम और रूप पर ही मुग्ध है, इसी कारण सत्यसे वञ्चित है। परन्तु इन दो के सिवाय उसमें देखने और सुनने की और भी वस्तु हैं। उन का नाम है सत्ता, प्रकाश और आनन्द। वृक्ष है, इस 'है' अंश का नाम है सत्ता- सत् वा "अस्ति" यह वृक्ष है

अर्थात् वृक्ष नाम से एक वस्तु तुम्हारे ज्ञानगोचर होती है, प्रकाश–चित् वा "भाति" है। अब रहा आनन्द अंश, वह प्राणप्रतिष्ठा के अन्तर्गत है। इस कारण यहां सबकी एक साथ आलोचना करने से ठीक समझ में न आसकेगा, गड़बड़ हो जायगा। अथवा अस्ति भाति का पता लगने से 'प्रिय' वा आनन्द वस्तु तो अपने आप ही हाथ आजायगी। फिर देखिये "जगत् है" यह कहते समय हमारा ध्यान 'अस्ति' की तरफ है। अर्थात् जगत् का होना ही अस्ति है और जगत् जब ज्ञानगोचर होता है अथवा प्रकाश पाता है तब हमारा ध्यान 'भाति' पर है। इसी प्रकार "मैं हूँ" यह अस्ति वा सत् है। मैं समझता हूं कि "मैं हूँ" यह भाति वा चित् है। ऐसा ही सर्वत्र समझिये।

अब सत्य शब्द का अर्थ कीजिये– "अस्तीति भातीति च सत्यम्" जो है और प्रकाश पाता है, उसका नाम 'सत्य' है, अतएव ज्ञात हुआ कि सत्य वस्तु सर्वत्र पूर्णभाव से विराजमान है। जहां नाम और रूप है, वहीं अस्ति भाति और सत्य विराज रहा है। नामरूपके साथ सत्यका मानो अविनाभाव है अर्थात् एकके बिना दूसरा रह नहीं सकता। यद्यपि नाम-रूप की सहायतासे ही हम सत्यको पा सकते व समझ सकते हैं, और जहां नाम रूप है वहीं सत्य है, यह ठीक है, किंतु तथापि याद रखिये, कि जहां सत्य है वहां नाम–रूप सर्वत्र रहेगा ही, ऐसा कोई नियम नहीं है। कारण कि नाम-रूप को छोड कर भी सत्य रहता है, किंतु सत्य को त्याग कर नामरूप नहीं रह सकता। सत्य आधार है' नाम रूप आधेय है; सत्य आश्रय है नाम रूप आश्रित है।

अतएव दो वस्तुएँ पाई गईं–सत्य और नाम-रूप। किंतु नाम रूप खण्ड खण्ड वस्तु होने पर भी सत्य अखण्ड है। जैसे विशाल समुद्र के वक्ष पर छोटे बडे बरफ के अनेक खण्ड तैरते फिरते हैं, जल ही उनका उपादान, जल ही उनका आश्रय है, फिर बरफ गलकर उस विपुल जलराशि में ही मिल जाती है, उसी तरह यह बहु नाम रूप वा जीव जगत् अखण्ड सत्य समुद्र अर्थात् एक अखण्ड सत्ता और प्रकाश पर विकसित होते हैं, तैरते हैं और फिर उसी में मिल जाते हैं।

परन्तु बात यह है कि यह "सत्य" अंश साधारण जनों को बोध नहीं होता, केवल नाम-रूप-अंश ही प्रतीतिगोचर होता है। नाम रूप ने मानों सत्य को आवृत्त कर रक्खा है–

अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।

ऐसा जान पडता है। यह नाम रूप अंश परिवर्तनशील–नश्वर है। जब तक आपकी दृष्टि केवल इन्हीं की ओर लगी रहेगी, तब तक आपका शोकमोह, जन्ममृत्यु आदि संसार–यातना किसी प्रकार भी दूर न होगी, कारण कि—

यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी।

(जिनके रही भावना जैसी–प्रभु-मूरति देखी तिन तैसी)

अच्छा, यहां तक सत्य वस्तु का स्वरूप जो कुछ आपने समझा, उससे क्या वह दुर्लभ, अप्रकाश अथवा कठोर यत्नद्वारा प्राप्त होनेवाला समझ पडा है? यद्यपि आप केवल नाम–रूप–अंश प्रत्यक्ष करते हैं तथापि उस नाम-रूप के साथ ही साथ अस्ति, भाति वा सत्य+अंश भी निश्चय प्रत्यक्ष करते हैं किन्तु समझ नहीं सकते कि हम सत्य को ही सदा प्रत्यक्ष कर रहे हैं, यह जो देखते हैं तो भी समझ में नहीं आता, सामने है तो भी पकडा नहीं जाता। इसी का नाम मोह और अज्ञानता है। अब समझ लीजिये कि आपके जितने दुःख, कष्ट, अशांति, सन्ताप हैं, इन सबका मूल यह अज्ञान ही है। किसी प्रकार यदि इस सर्वत्र सुप्रकाश सत्य वस्तु का अनुभव हो जाय, तो सब असुख, अशांति दूर हो जाय, और अज्ञान भाग जाय। क्या यथार्थ ही आप सत्य के अन्वेषी शांति के प्रयासी हैं।

देखिये यदि आप अपने नाम और रूप को छोड दें अर्थात् भूल जायँ तो भी आप में जो 'मैं' अहं है वह नहीं छूटता, क्यों, यह बात ठीक है या नहीं? उसी प्रकार जगत् के ये नाम रूप परित्याग करने पर भी सत्य वस्तु नित्य वर्तमान रहती है।

अब प्रश्न यह है, कि किस उपाय से इनको छोडा जाय? सुनिये, जब तक इनको भगाने की चेष्टा करेंगे, जब तक इनकी ओर से दृष्टि दूर करने की चेष्टा करेंगे तब तक ये किसी प्रकार न छोडेंगे और न आप छुडा ही सकेंगे! कदापि नहीं छुडा सकेंगे! यह निश्चय जानिये।

अच्छा, अब एक बार विचार देखिये कि ये अनेक नाम और रूप हैं वे हैं किसके? इनके द्वारा कौन प्रकाशित हो रहा है? एक मात्र सत्यही तो जगत् रूप से विराजित

है। ये नाम रूप, यह हर घडी का परिवर्तन, यह चंचलता वा क्रियाशक्ति एक मात्र सत्य की लीलाविलास वा इच्छा है; यह धारणा करने की चेष्टा कीजिये, सुप्रकट सत्य-वस्तु आपके निकट अप्रकट होनेपर भी उसका जो अंश आपके अनुभव योग्य है, वह अंश जब सत्य का ही एक प्रकार विकासमात्र है, तब नाम रूप को ही आप सत्य क्यों न मानलें? जैसे जल जम कर बरफ होता है, उसी तरह सत्य ही घन होकर नामरूप लेकर प्रकाश पाता है। यह बात खूब दृढता से समझने और विश्वास करने की चेष्टा कीजिये, आप बचपन से ही सुनते आये हैं कि 'भगवान सर्वव्यापी है, सर्व भूतों में विराजमान है।' इस जानी सुनी बात को भली भांति समझने की चेष्टा कीजिये, तो सत्य आप ही आप हाथ आ जायगा, नामरूप कहीं के कहीं चले जायँगे, किसी वस्तु को परित्याग कर जिस सत्य वस्तु को पाने की चेष्टा कर रहे थे उस पूर्व वस्तु को ही सत्य वस्तु मान लीजिये तो यथार्थ वस्तु स्वयं प्रकट हो जायगी, क्योंकि सत्यके सिवाय कहीं कुछ है ही नहीं। नाम रूप यदि सत्यको परित्याग कर पृथक् किसी स्थानमें रहते होते तब तो उनको भगा कर सत्यको धारण करने की चेष्टा करते, किंतु जब सब नाम और रूप सत्य के ही हैं और किसी के भी नहीं, तब फिर उन्हें दूर कर देने की आवश्यकताही क्या है? अब तक बच्चे थे, इस कारण इन बातों को समझ नहीं सकते थे, इससे केवल नाम रूप को ही ग्रहण करते आये थे, किंतु अब इस को सत्य समझ कर ग्रहण कीजिये, निश्चय ही सत्य प्राप्त होगा और जीवन सार्थक होगा।

सच कहता हूँ—शपथपूर्वक कहता हूँ-उसको पाया जाता है- देखा जाता है और भोग किया जाता है। हां, हमारे जैसे घोर संसारी घोर मोहाच्छन्न मनुष्य भी देख सकते हैं। भगवानने स्वयं ही कहा है कि 'अति दुराचारी व्यक्ति भी मुझे पा सकता है।' (गीता ९।३०, ४।३६) अजी आपको पहचानना ही तो है।

सत्य को पाने के लिये किसी प्रकार का नूतन आयोजन नूतन चेष्टा कुछ भी आवश्यक नहीं होती, जो जैसा है- जिस अवस्था में आपका जीवन प्रवाह चल रहा है, ठीक उसी अवस्था में रह कर यदि आप चाहें तो उनको पा सकते हैं, सूर्य को देखने के लिये क्या कोई लालटेन हाथ में लेकर दौडता है? वह स्वयं प्रकाशमय है, सभी वस्तु उन्हीं के प्रकाश से प्रकाशित हैं। 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्' उनको देखने के लिये फिर नया आयोजन क्या कीजियेगा।

पहले उन्हें देखिये! देखते ही मुग्ध हो जाइयेगा, उनसे प्रेम किये बिना आपसे रहा ही न जायगा। उनका स्वरूप ही ऐसा है। फिर वह आपसे जैसा करने को कहें वैसा ही कीजियेगा। यदि उनकी इच्छा स्त्रीपुत्रादि के साथ रखने की हो, तो वैसा कीजिये और यदि संन्यास लेने को कहें तो सन्यासी बन जाइयेगा, उनके दर्शन से ही क्यों भेष बनाने लग जाते हैं?

भगवान् की प्राप्ति के पश्चात् मनुष्य में जितने बाहरी लक्षण प्रकाशित होते हैं, उन्हें यदि पहले ही से आप अपने में प्रकाशित करने लगें और उन्हीं में मुग्ध हो रहें, यदि अपने को साधु सजाने में सत्य वस्तु से दूर रहें, तो उससे बढकर दुःख और आत्मवंचना और क्या हो सकती है?

आप भगवान को क्यों नहीं पाते हैं? इसलिये कि आप उनको चाहते नहीं। जिस मुहूर्त में आप उनको चाहेंगे, उसी मुहूर्त में उनको पावेंगे, जरा भी देर न होगी। सत्य की आभास से जगत् प्रकाशित हो रहा है और आप आंखें बंद कर और घर के दरवाजे बंद कर पूछ रहे हों, कि प्रकाश कहां है, तो बाबा! उसे कैसे देख पावेंगे? किवाड खोलिये, नेत्र उन्मीलन कीजिये, फिर देखिये, सचमुच ही 'मैं' आपके मुख की ओर देख रहा हूँ।

अब तक जिस वस्तु को आप सत्य मान कर समझ सके हैं, उसका अपना कोई विशिष्ट नाम और रूप नहीं नहीं है, तो भी सारा जगत् उन्हीं का रूप है, सब नाम उन्हीं के नाम हैं, 'सब रूपों में रूप मिला कर आप निराकार है'। यह सत्य ही सौर लोगों का सूर्य, गाणपत्यों का गणेश, वैष्णवों का विष्णु, शैवों का शिव, शाक्तों की शक्ति तथा ब्राह्मों का ब्रह्म है। इसी प्रकार बौद्ध, जैन, मुसलमान, ईसाई इत्यादि जितने सम्प्रदाय हैं, वे एक मात्र इसी सत्य वस्तु को ढूँढनेवाले हैं।

यद्यपि बाहिरी लक्षणों में परस्पर सम्प्रदाय भेदभावयुक्त और भिन्न-भिन्न आचारवाले हैं, तथापि यह ज्ञानसे वा अज्ञान से सब सत्य की ही ओर दौड रहे हैं। जब तक

वे सत्यांश परित्याग कर अपने अपने संप्रदाय की विशिष्टता अर्थात् साधना के बाहिरी आडम्बरों में मग्न रहते हैं, तब तक ही परस्पर विरोधपुष्ट करते हैं। इस सत्यरूप परमधन पर किसी एक का अधिकार नहीं है। इस पर सब का ही समान अधिकार है। सभी संप्रदाय वाले इसको पा सकते हैं। सब प्रकार की साधन-प्रणाली ही सत्य वस्तु के प्रकट करने में समर्थ है। ऐसा कोई विशिष्ट नियम वा कोई विशिष्ट साधन नहीं है, कि उसीका अवलम्बन किये विना सत्य प्राप्त नहीं हो सकेगा। सत्य तो सब के निकट पूर्णता से विराजमान है। परन्तु जो जिस मार्गपर चलने से सत्य को पाकर धन्य हुआ है, वह शायद उसी को सुगम बतलावे, और उसके अनुगामी उसी बात को लेकर गर्व करते रहें और करते ही हैं।

परन्तु एक बात भलीभांति स्मरण करने योग्य है कि कितने ही प्रकार के मार्ग हों वा कितने ही प्रकारकी साधन-प्रणाली हों, परन्तु वे जब तक उस सुप्रकाश सत्य को प्रकाशित न करें, साधक को इस सत्य के पास न पहुँचावे, तब तक सब साधनाएँ अपूर्ण हैं और यथेष्ट फल नहीं दे सकतीं। फिर दूसरी ओर देखिये कि कोई मनुष्य चाहे कितना ही सिद्ध शक्तिमान् महापुरुष, त्यागी, संन्यासी, परमहंस, कितना ही बडा योगी तपस्वी अथवा भक्तिमान् कर्मी साधक ही क्यों न हो, जब तक यह 'आविः सन्निहितम्' इस सुप्रकाश एवं सन्निहित सरल सहज सत्य वस्तु का अनुभव न कर सके, तब तक उसके जीवन की चरितार्थता किसी तरह न प्राप्त होगी। सहस्र कंठ की जयध्वनि आपके हृदय की गुप्त-दीनता को दूर न कर सकेगी। आपको अपना विवेक निश्चय ही कह देगा कि 'तुम अभी सत्य से बहुत दूर हो।'

सत्य प्राप्त हुआ है या नहीं, यह इस एक ही लक्षण से समझ जाइयेगा, वह लक्षण है 'मृत्यु-संस्कार' का क्षय होना। मृत्यु नाम का जो एक प्रधान संस्कार सब जीवों पर तुल्यभाव से आधिपत्य कर रहा है। जिस पुरुष ने सत्य को प्राप्त कर लिया है उसका वह संस्कार बिल्कुल छूट जाता है। उसके विचार में फिर यह बात कभी विकसित होती ही नहीं कि मरण नाम की भी कोई वस्तु है, क्योंकि साथ ही तो अमृत है, जिसने अमृत का पान कर लिया उसे मृत्युभय रह ही नहीं सकता। जब आप काल को विजय कर सकें, तब ही समझ लें कि आपने सत्य को प्राप्त कर लिया।

जब तक यह देखें कि आप की ज्ञान-चर्चा इस सरल सत्य को प्रकट नहीं करती-तुम्हारी प्रेमभक्ति के पवित्र अश्रु-बिंदु इस सत्य के चरणों पर भेट नहीं होते। आपकी योग तपस्या का लक्ष्य इस सुप्रकट सत्य की ओर स्थापित न हो, आपका कर्मकाण्ड पूजा-होमादि इस प्रत्यक्ष सत्य में अर्पित न हो, आपका जप, कीर्तन, अथवा कातर आह्वान सम्मुखवर्ती सत्य को सम्बद्ध न करे, तब तक समझ लीजिये कि अभी आप सत्यसे बहुत दूर अवस्थित हैं। साधना जब तक दूरस्थित अज्ञेय भगवान् के उद्देश्य से अनुष्ठित होती है तब तक साधक की गति मन्द रहती है। याद रखिये कि साधन राज्य में उद्देश्य वा अनुमान का कुछ काम नहीं है बल्कि प्रत्यक्षता ही साधन का प्राण है। साधना करते करते किसी-न-किसी दिन फल प्राप्त होगा ही होगा, ऐसे अनुमानपूर्ण वाक्य पर दृढ विश्वास रखकर धैर्यपूर्वक साधन करने वाले लोग आज कल बहुतही कम हैं। इस मार्ग में प्रति पदक्षेप पर- कदम-कदम पर प्रत्यक्षता आवश्यक है। सत्य ही इस प्रत्यक्षता को ला देता है।

सत्य ही साधना का एक मात्र बल है "नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः" दुर्बल मनुष्य आत्म-प्राप्ति नहीं कर सकता। संदेह और अविश्वास ये दो सर्व प्रधान दुर्बलतायें हैं। मनुष्यके लिये धर्म-राज्यके प्रवेशमें यही दो बडी प्रबल बाधाएँ हैं और सत्यप्रतिष्ठा ही यह दुर्बलता दूर करने का अमोघ उपाय है। योगदर्शन में एक सूत्र है—

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्। (२।३६)

सत्य पर प्रतिष्ठित होने से ही कर्मों का यथार्थ फल प्राप्त होता है, अर्थात् एकमात्र अमृतमय ब्रह्म की सत्ता ही सर्वत्र विराजमान है, सदा परिवर्तनशील नाम रूप ये सत्य के ही बाहिरी विकाश हैं। यदि प्रत्येक कर्म में यह अनुभव किया जा सके, तो उन कर्मों से यथार्थ यानी क्रियाफलाश्रयत्व प्राप्त होता है। सत्य-प्रतिष्ठ मनुष्य के आहारविहारादि व्यावहारिक कर्म साधना में परिणत हो जाते हैं जैसे भोजन से क्षुधा निवृत्तिरूप फल तो सर्वत्र समान ही देखा जाता है। परन्तु सत्यप्रतिष्ठ व्यक्ति को भोजन से जो अलौकिक

तृप्ति प्राप्त होती है वह दूसरों को अत्यन्त दुर्लभ है। और सत्यविमुख व्यक्तिके पूजा, उपासना, ध्यानधारणा, समाधि भी साधारण कर्ममात्र है।

असल बात यह है कि सच्चिदानन्द वा अस्ति, भाति, प्रिय अर्थात् सत्य ही भगवान् का स्वरूप है। कोई किसी भाव से साधना करे उससे कुछ हानि नहीं है। परन्तु सत्य की ओर लक्ष्य रखने से सब प्रकार की साधनायें शीघ्र सफल होंगी।

अब जानना यह है कि किस तरह से यह सत्य प्राप्त किया जाय? क्योंकि प्रथम ही जो सत्य का स्वरूप विशेष भाव से दिखाया गया है, वह अत्यन्त सहज और बिना यत्न के प्राप्य वस्तु है, तब उसको प्राप्त क्या करोगे? जो ऐसी सहज वस्तु है कि बिना यत्न के ही प्राप्त है, तब उसका पाना ही क्या है? आप तो सदा से ही पा रहे हैं, पाते हैं, परन्तु इस बात को समझने पर भी समझते नहीं, सत्य को देखने पर भी देखते नहीं। यद्यपि आपने उसका इतना अनादर कर रक्खा है तथापि सत्य ने तो तुम्हें क्षण भर को भी नहीं छोडा है। वह तो आपका अच्युत सखा, अत्यन्त सुहृद (बदले की इच्छा न करे) आपका माता पिता है, वही आपका प्राण, मन, इन्द्रिय, जगतरूप से भोग्य आदि सब कुछ है। अजी आप का "मैं" पर्यंत वही है, तब उसको प्राप्त करना क्या हो सकता है? केवल देखिये कि तुम्हारा सत्य सब कुछ है दायें-बायें, आगे-पीछे, ऊपर-नीचे, अन्तर्बाहर सर्वत्र तुम्हारे परम सुहृद सत्यदेव विराजमान हैं, नित्य यह देखने का अभ्यास करो। इसी का नाम सत्यप्रतिष्ठा है।

अनुसन्धान के चक्षु बन्द कीजिये "आप कहां है?" उस तरह पुकार कर तलाश न कीजिये। साधना करने से ही आप को मिलेंगे; इस प्रकार की झूठी धारणा मन से दूर कर दीजिये। केवल यही देखिये कि सब रूपों में सत्य ही नित्य विराजमान है। लकडी, मिट्टी, पत्थर जो मिले उसे दोनों हाथ से आदरपूर्वक जकडकर पकडिये और कहिये यही सत्य है, यही आप हैं आपको पालिया, पकड लिया। मिट्टी से कहिये मिट्टी सत्य है, जल से कहिये जल सत्य है, अग्नि से कहिये अग्नि सत्य है, आकाशको लक्ष्य कर कहिये, आकाश सत्य है, मन से कहिये, प्राण से कहिये प्राण सत्य है, अपने से कहिये "मैं" सत्य हूँ, जगत् से कहिये जगत् सत्य है।

सन्देह, अविश्वास, वितर्क इनको दूर भगा दीजिये। फिर संदेह अविश्वास होवेगा ही क्यों? आप जिस नामरूप जगत् को सत्य कह रहे हैं वह तो कल्पना वा मिथ्या है। यथार्थ सत्य ही तो सर्वत्र है, उसका अभाव तो कहीं भी नहीं है, तो भी अब तक आपने उसको देखा नहीं तो अब देखने लगिये। जिस दिन ठीक ठीक सत्य कहा जायगा अर्थात् आप के अविश्वासी मन और प्राण मान लें कि यथार्थ ही जगत् सत्य है, उस दिन देखियेगा कि नाम-रूप नहीं है, सच्चिदानन्द सत्य ही सर्वत्र झलक रहा है।

यह समझ लीजिये कि जगतको जगत् कहना ही भूल है, सत्य कहना ही ठीक है, अबतक आप इसको जगत् जानकर भोग करते आये हैं, अब इसको सत्य समझ कर भोगनेका अभ्यास कीजिये। चिरकाल से जगत् जानकर शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध जान कर भोग करते आये हैं, इसी कारण जगत् का संस्कार आप के मन में दृढ हो गया है। अब इसको सत्य जान कर भोग करना आरम्भ कीजिये, कुछ दिन ऐसा करते करते सत्य का संस्कार दृढ हो जायगा। तब जिधर दृष्टि पडेगी उधर सब सत्य जीवन्त रूप से ही प्रतीत होगा। भगवान् ने कहा है—

> सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
> ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥६।२९॥
> यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि च पश्यति।
> तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥६।३०॥

सब भूतों में आत्मा-सत्य को और आत्मा में सब भूतों को जो पुरुष अनुभव करता है वही समदर्शी योगी है॥२९॥ इस प्रकार जो मुझ आत्मा परमेश्वरको सर्वत्र देखता है और सब को मुझ में देखता है, मैं उससे अदृश्य नहीं और वह मुझ से अदृश्य नहीं ॥३०॥ यही जीवेश्वरका मिलन है, इस तरह आप सब कर्मों में उसको देखिये तो आपके सब कर्म साधनामय हो जायेंगे।

आप कितने ही संसारासक्त, मोहाच्छन्न क्यों न हों, तुम्हारा मन कितना ही चंचल क्यों न हो। इस प्रकार की सत्यप्रतिष्ठा करने में आप कभी असमर्थ न होंगे। अपितु

दुराचारी मनुष्य का भी इस में अधिकार है।

(गीता ९।३० देखिये)

जब भगवान का स्मरण आप करें तब देखें कि भगवान आपके सम्मुख उपस्थित हैं, जब कातर प्राणसे आह्वान करें, अधीर होकर आह्वान करें तब देखें कि वह आपकी प्रत्येक बात सुनने के लिये कान उठाये हुए हैं– जब आप प्रणाम करें तब देखें कि सचमुच उनके श्री चरणों से आप के मस्तकका स्पर्श हो रहा है। आप रास्ता चलते समय देखें कि वह हमारे आस-पास चल रहे हैं, शय्या पर शयन करते समय देखें कि आप उन्हीं के गोद में सो रहे हैं। भोजन करने बैठें तब देखें कि अन्नरूप वही हैं। 'ईशावास्यमिदं सर्वं' हर काम में स्मरण करने का अभ्यास कर लीजिये। वायुस्पर्श से उन्हीं का स्नेहमय आलिंगन अनुभव कर पुलकित हूजिये। शीतल सलिल में अवगाहन करते समय देखिये कि रसमय सत्य ही आपको स्निग्धस्पर्श से निर्मल करते हैं। इस प्रकार सर्वत्र देखने का अभ्यास कीजिये।

वैदिक युग के ऋषि सूर्य, चन्द्र, आकाश, अग्नि, जल, वायु, वृक्ष, लता, फूल, फल इत्यादि पदार्थों की ही ब्रह्म सत्य ज्ञान से उपासना करके सर्वज्ञ ऋषि पदवी प्राप्त कर गये हैं। तब इस परिदृश्यमान जगत् के सिवाय अन्य किसी विशिष्ट मूर्ति के अवलम्बन से भगवद्भाव जाग्रत नहीं करना होता था। वर्तमान युग में यद्यपि स्थूल बुद्धि मनुष्यों का साधन-मार्ग सुगम करने के लिये भगवान् ने अपनेको अनेक प्रकार देवदेवी मूर्तिसे प्रकाश किया है तथापि उन विशिष्ट मूर्तियों के अवलम्बन से साधनमार्ग पर आगे बढकर, सिद्धि प्राप्त होने के बाद सब महापुरुष एक वाक्य से यही प्रचार कर गये हैं—

'सर्वं खल्विदं ब्रह्मं, आत्मैवेदं सर्वम्, यदिदं सत्यम्।'

यह जो कुछ प्रत्यक्ष कर रहे हो, यह सब ही सत्य ब्रह्म है।

इसीसे कहते हैं कि इस सदा प्रत्यक्ष भगवान् का परित्याग कर बहुत दूर अवस्थित, अनजान वस्तु के पीछे दौडने से जीवन की सफलता दूर रहने में फिर संदेह ही क्या? यदि यथार्थ ही आप के प्राण में सत्य को प्राप्त करने की कुछ वासना जाग उठी है, यदि सचमुच भगवान् के दर्शन कर जीवन धन्य करना चाहते हैं, तो सर्वत्र उसको देखने का अभ्यास कीजिये। पहले उनके अस्तित्व की साधना कीजिये। कहिये कि मैं कुछ नहीं जानता—आपका रूप, गुण, महत्त्व कुछ भी तो मुझे मालुम नहीं है। केवल इतना जानता हूं कि आप विद्यमान् हैं। इस से अधिक आपके सम्बन्ध में मेरा और कुछ भी ज्ञान नहीं है—केवल भीतर से मानो कोई यह कह रहा है कि तुम मुझे सब से प्रियतम हो–मैंने सुना है कि आप सब मूर्तियों में सर्वत्र विराजमान हैं, परन्तु मैं यह बिलकुल नहीं जानता कि किस नाम से आपको पुकारने से आप उत्तर देंगे, किस प्रकार बुलानेसे आप दर्शन देंगे। तो भी आपके पुकारने की आपके दर्शन की कभी कभी बडी इच्छा होती है। किसी विशिष्ट मूर्ति से आप दर्शन दें वा न दें, इसमें मेरी कुछ विशेष हानि वा लाभ नहीं है। हे परम प्रिय! यहां इसी भाव से मैं आपको प्रणाम करता हूँ। मेरे हृदय की जो कुछ प्रार्थना और आर्तरोदन है वह सब यहीं आपको जनाकर हृदय के भारी बोझ से मुक्त हूँगा। हे मेरे चिर सखा, अच्युतसारथी, पिता, माता, प्रभु आइये और इस दीन भक्तिश्रद्धाहीन का एक प्रणाम ग्रहण कर मुझे अपने अस्तित्व में विश्वासवान कीजिये। मैं और कुछ नहीं चाहता, केवल इतना ही मुझे यथार्थ भाव से समझा दीजिये कि "सत्य ही आप हैं" आप ही सर्वस्व हैं, आपको छोडकर मेरा कहीं भी कुछ नहीं है, यह बात मेरे हृदय में दृढभाव से जमा दीजिये।

इस प्रकार बाहर की प्रत्येक वस्तु में, अंतर की प्रत्येक वृत्तिमें केवल उनकी सत्ता अनुभव करने की चेष्टा कीजिये। अजी 'यही तो आप हैं, ऐसा कहकर सब भावों में उनकी धारणा कीजिये। क्यों क्या आप न कर सकेंगे? तो झूठ मूठ नकल ही करते रहिये। गडरिये के बालक की भांति जो भेंड चराते समय झूठ मूठ कहा करता था 'भेडिया आया–भेडिया आया' दौडियो–दौडियो, बचाइयो-बचाइयो, जब लोग दौडकर आते तो वह उनपर हँस पडता था, अजी मैं तो झूठमूठ हँसी कर रहा था। फिर लोगोंने जाना बन्द कर दिया, एक दिन सचमुच भेडिया आ ही गया। बहुतेरा चिल्लाया पर झूठ समझकर कोई गया नहीं, इसी

प्रकार आपसे भी साक्षात्कार हो ही जायगा। जब ज्ञान से, विवेकबुद्धि से, शास्त्र और महापुरुष के वाक्य से भली भांति समझ में आगया है कि सत्यस्वरूप भगवान् सर्वत्र विद्यमान् है। तब क्यों अपने अविश्वासी मन की प्रतारणा-छल द्वारा आप सत्यसे वञ्चित होंगे ? आपका मन जितना ही कहे कि यह भगवान् नहीं है, जड पदार्थ मात्र है; आप उतना ही बलपूर्वक कहिये, नहीं, नहीं, यह हमारे प्रियतम सत्यरूप भगवान् हैं, जड पदार्थ का सूक्ष्म वेश धारण कर खडे हैं।

आपका कोई प्रिय परिचित जन कितनी ही पोशाक बदल कर क्यों न धारण करे, वह जैसे अपरिचित रह नहीं सकता, उसी प्रकार नामरूप की पोशाकें पहन कर एक ही सत्य-देव विभिन्न भाव से आपके निकट उपस्थित होते हैं।

आप अपने अभीष्ट प्रियजन सत्यको दृढ पकड (पहचान) लीजिये, फिर पोशाक-भ्रम तो थोडे दिनों में दूर हो जायगा। कठोपनिषद् कहता है। जो व्यक्ति अस्तित्वमात्र का अनुभव कर सकता है सब तत्त्व उसके निकट अपने आप प्रकट हो जाते हैं। अस्तित्व का अनुभव वा सत्यप्रतिष्ठा ही साधना का आरंभ और वही अवसान है। सब प्रकार की साधना का लक्ष्य इस अस्तित्व में दृढ विश्वास करना ही है। गीता का निष्काम कर्मयोग —जो अनेक वर्ष कठोर तपस्या के फल से प्राप्त होता है—वह सत्यप्रतिष्ठ व्यक्ति के लिये अनायास साध्य है।

साधारण दृष्टि से जगत् के पदार्थ जड जान पडते हैं, परन्तु सत्य दृष्टि से देखने पर यह जड भाव दूर होकर एक जीवन्त भाव-मानो सब प्राणमय हैं ऐसा भाव, मन में उदित होता रहेगा। फिर यह भाव और गंभीर होनेपर देखेंगे कि एक शुभ्र स्वच्छ आकाश आपके संमुख अन्तर में अनुभव हो रहा है। यह वह आकाश नहीं है जिसको आप सदा देखते हैं—यह अन्य प्रकार की वस्तु है। यह कहकर नहीं समझाई जा सकती, आप स्वयं ही अच्छी तरह अनुभव कर सकेंगे। प्रथम जब आप वह आकाश प्रत्यक्ष करना आरम्भ करेंगे तब वह अति अल्पकाल स्थायी होगा, अभ्यास घन होते होते- सत्य प्रतीति स्थिर होने से वह आकाश जब चाहेंगे तब देख सकेंगे और स्थिति काल भी कुछ बढ जायगा।

इस आकाश का नाम चिदाकाश है। यह वस्तु प्राप्त हो जाने पर साधना द्रुतगति से आगे चलती है। वह आकाश आपको प्यासे हरिन की तरह दौडा कर ले चलेगा, क्योंकि वह ऐसा लोभनीय है कि केवल एक बार के उदय से हृदय के सब संताप दूर हो जाते हैं। हृदय में एक निर्मल शान्ति विकसित होने लगती है। चित्त यह चाहता है कि यदि यह वस्तु सदा सम्मुख रहे तो सहज ही मैं जगत् संसार छोडकर इसी को लिये रहूँ। जब तक ऐसी कुछ प्रत्यक्षता नहीं आती, जितनी साधना केवल अनुमान पर चलती रहती है, तब तक वह कर्म प्राणहीन (मृत) सा प्रतीत होता रहता है, किन्तु थोडा सा प्रत्यक्ष होने से ही साधना सजीव कर्म हो जाती है। योगशास्त्र भी यही कहता है कि 'अलब्धभूमिकत्व साधना का अन्तराय है।'

अस्तु। उस आकाश का प्रकाश होने से आपको बिंदुमात्र भी संशय न रहेगा। उसी को प्रत्यक्ष भगवान् जानकर व्यवहार करते रहिये, हृदय के जो कुछ आवेदन निवेदन हों वे उन्हीं के चरणोंपर उपस्थित करने में कुछ द्विविधा उपस्थित न होगी इसी अवस्था से सत्यप्रतिष्ठा दृढ होती रहती है। भगवान् यथार्थ है, यह धीरे धीरे अनुभव होता रहता है। इसी समय कुछ दृढ अध्यवसाय के साथ अग्रसर होने की चेष्टा करनी होती है।

अनेक लोग कहते हैं कि "जब समय होगा तब भगवान् आप ही पुकार लेंगे; वे साधना नहीं कराते, इसी से हम करते नहीं"। ये बातें सब ठीक हैं,इनमें प्रतिवाद कुछ नहीं करना है, इसी से करते नहीं, परन्तु वह भगवान् की ओर की बात है, हमारी बात नहीं है। हम जगत् के सब कार्य तो अहंकर्तृत्व बोध से करते हैं, केवल साधना के समय उसके ऊपर निर्भरता! यह आत्मा को धोका देने के सिवाय और कुछ नहीं है। अतएव ऐसा भाव त्याग देना चाहिये। जब तक यत्न चेष्टा और पुरुषार्थ का ज्ञान है, तब तक उसका यथासाध्य प्रयोग करना ही होगा। परन्तु हां, मनुष्य का एक दिन ऐसा भी आसकता है कि जब यत्न वा पुरुषार्थ कुछ भी नहीं दीख पडता, केवल उसी दशा में ऐसी बात कहना शोभा देता है। जब तक सब काम मैं करता हूँ, तबतक साधना भी करनी होगी। परन्तु उनकी कृपा से ही अग्रसर होंगे, ऐसा हृदय में रखकर कर्म

में नियुक्त होना चाहिये। हमारे सब कर्मों का प्रेरक एक मात्र सर्व शक्तिमान् भगवान् है। हमारे कर्म सफल हों वा निष्फल, उसमें कुछ लाभहानि नहीं है। जिसने हमें कर्म में लगाया है वही इसका विचार करेगा। जब हम भगवान् के द्वारा नियुक्त होकर कर्म करते हैं तब यह चिन्ता हमें नहीं करनी होगी। इस ज्ञान से क्या जागतिक कार्य में, क्या साधना में नियुक्त होकर यथासाध्य यत्न और चेष्टा करनी ही होगी। यही मनुष्यत्व है।

अस्तु, सत्यप्रतिष्ठा का और एक फल पहिले ही समझ सकेंगे कि आपके अनेक संकल्प सत्य घटनाओं में परिणत होते रहेंगे। आप देखेंगे कि छोटे छोटे संकल्प मानो किसी अज्ञात शक्ति द्वारा सिद्ध हो रहे हैं। ऐसी दशा में प्राण मानो कृतज्ञतासे एकदम द्रवीभूत हो जाते हैं। प्रभो! आप धन्य हैं, आपकी दया धन्य है। आपका इतना स्नेह और इतना प्रेम हम पर है! परन्तु हमने कभी आपकी तरफ फिर कर भी नहीं देखा। प्रभो! हमें कृतज्ञ होना सिखाइये, जिससे हम आपकी दया और स्नेह समझ सकें। हम अनेक जन्मान्तर से आपका अपरिचित मंगलमय स्नेह भोग करते आ रहे हैं, परन्तु एक दिन भी उसे आपका दान समझ कर आपकी ओर कृतज्ञता से दृष्टि नहीं की। अब देर क्यों करते हैं, प्रभो! अब उस कृतघ्नता का प्रायश्चित्त करने दीजिये, ऐसा कहते हुए उनके चरणों पर लोट जाइये।

जो बार बार रोग शोक दुःख दारिद्र्य द्वारा पीडित होने पर भगवान् की दयालुता का अनुभव नहीं कर सकते उन्हें यह समझने की चेष्टा करनी चाहिये कि उन दुर्दशाओं द्वारा भी उस की निर्मल स्नेह करुणा ही प्रवाहित है। हमारे अज्ञानांध चक्षु भविष्यत् मङ्गलमय प्रकाश की किरणों को देख नहीं पाते, इसीसे हम वर्तमान दुःख को तीव्र समझते हैं। अनंत जीवन की तुलना में एक जीवन के कुछ वर्षों का दुःख कितना तुच्छ है? वस्तुतः यदि कुछ विचार दृष्टिसे देखें तो समझेंगे कि हम जितना दुःख पाते हैं, उसकी अपेक्षा सुख का परिणाम बहुत अधिक है। जब तक भगवान् की नित्य स्थिर सत्तापर मनुष्य विश्वासवान् नहीं हो सकता तब तक ही दुःख का पेषण असह्य जान पडता है। परन्तु एक बार यदि आप अपने को महासत्य पर प्रतिष्ठित कर सकें तो लगातार दुःख पाने पर भी उन्हें अनायास सहने की शक्ति प्राप्त हो जाय, अथवा उस अवस्था में दुःख नाम की कोई वस्तु रहती ही नहीं, ऐसा समझने लगेंगे, तब सब ही मङ्गलमय का दान समझ लेने से सदा अखण्ड आनन्द ही बना रहेगा।

(श्री शिवनारायण शर्मा, अनुवादक)

(पृ० २१८ से आगे)

पदार्थ होते हैं। मिरच अधिक खानेका रिवाज यहां है। यहां एक आदमी एक दिनमें जितनी मिर्च खाता है, उतनी सालमें उत्तर भारत में खायी जाती है। इस मिर्च के विषय में सर्वत्र सावधान रहना चाहिये। फल सर्वत्र मिलते हैं। स्वयं पकाना हो, तो सर्वत्र साधन मिलते हैं। परन्तु अपने साधन अपने पास रखने से लाभ होता है।

रावण का राज्य नासीक तक था। और मद्रास के अब्राह्मण अपने को रावणके अनुयायी समझने लगे हैं। यह नयी हलचल हमने यहाँ देखी और हमें आश्चर्य हुआ।

हिंदी प्रचार का विरोध करनेवाले अपने आपको रावण के अनुगामी कहते हैं। हिंदी भाषा आर्यभाषा-रामचन्द्रकी भाषा है। वह रावण के अनुयायियोंपर कांग्रेस लगा रही है। अर्थात् रामचन्द्रजीने दस सहस्र वर्षोंके पूर्व जो रावणके साम्राज्यका नाश किया था, और उसके पुनरुद्धार को रोकने के लिये जो प्रबंध रामेश्वर और धनुष्कोटीमें किया था, उसके कारण दबी हुई राक्षसजाति, अब वीसवी शताब्दीमें उठकर खडी हुई और रावणका उत्सव करने तक उनके विचार बडे चढे हैं!!

जैसे मुसलमान भारत के दो हिस्से करना चाहते हैं, और पाकस्तान के स्वप्नोंकी मौज उडाते हैं, उसी तरह ये मद्रासप्रान्तके लोग द्राविडोंके लिये मद्रास इलाके के विभाग करना चाहते हैं और वहां रावणकी सभ्यता के पुनरुद्धार के स्वप्न ये देख रहे हैं!

असलमें हमें अधिक मिर्च के प्रयोग के सिवाय दूसरा कोई चिह्न रावणकी सभ्यता का यहां दृष्टिगोचर नहीं हुआ। और न रावण की नीतिका पुनरुद्धार हो सकेगा। पर दक्षिण भारतमें यह फूटका विष फैलाया जा रहा है। रामचन्द्र का नाम तक न लेनेवाले यहां लोग हैं। थोडे वर्षपूर्व जब पं० मदनमोहन मालवीयजी मद्रासमें दौरा कर रहे थे, तब पण्डितजीने अपने व्याख्यानमें कहा कि रामनाम का जाप करो। फौरन सभामें गिल्ला मचा, और रामका नाम हम कदापि नहीं लेंगे, ऐसा शोर चमने लगा।

पं० मालवीयजी को यह एक अननभूत बात थी कि रामनाम के लिये भारतमें विरोध! पर यहां रावण के अनुयायी अब्राह्मण हैं, द्राविडोंमें राक्षसोंका खून संचार कर रहा है, यह बात पण्डितजीको पीछे से विदित हुई और पश्चात् मद्रास इलाकेमें उन्होंने रामनामकी बात दुबारा नहीं कही!

ऐसी हलचलें इधर उत्पन्न हो रहीं हैं और भारत की पराधीनता की अवधि को बढा रही है। इस का विचार करके अपनी देशकी अवस्था का सुधार करनेवालों को अनेक दृष्टियोंसे दक्षिण देश देखनेयोग्य है।

सामवेदियोंकी जनसंख्या।

अन्तमें यहां यह लिखना आवश्यक है कि अखिल भारतवर्षमें सामवेद की कौथुमीय शाखावालों की संख्या अधिक है, उत्तर भारत, गुजरात, राजपुताना, महाराष्ट्र, कर्नाटक, मद्रास का उत्तर भाग, इन प्रान्तोंमें कौथुमी शाखावाले हैं। उससे कम राणायणीय सामवेदी हैं, वे केवल दक्षिण मद्रास इलाकेमें ही हैं। जैमिनीय सामवेदी तो उनसे भी न्यून संख्यामें हैं। मद्रास इलाकेमें भी बहुतों को जैमिनियों और राणायणियोंके नाम का भी पता नहीं, इतनी इनकी संख्या अत्यन्त अल्प है। तथापि जैमिनीयों के गान कौथुमोंसे एक सहस्र अधिक हैं और उसमें पर्याप्त गम्भीरता है।

इस खोजका परिणाम हम आगे अनेक लेखोंद्वारा बतावेंगे।

सदैक्यवाद
अथवा
विशिष्टाद्वैतवाद

[श्री० चौ० रामपालसिंह तेवतिय, 'रामाचार्य',
बी. ए., एल., टी., विशारद, जाट कालेज,
लखावटी, बुलन्दशहर, यू. पी.]

जो सत् है, वह एक है और वह गूढ है, ब्रह्म है और वही एक सत् अकार (ईश्वर) उकार (जीव) तथा मकार (प्रकृति) तीन प्रकार से निरूपण में आता है, यही वेदान्त का " ओ३म् खं ब्रह्म " है ।

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति । (ऋ० १।१६४।४६) तथा 'द्वा सुपर्णा' (ऋ० १।१६४।२०) इत्यादि वेद-मन्त्रों के आधार पर यह कहा जा सकता है, कि वेदों में सदैक्यवाद तथा द्वैत अथवा त्रैतवादप्रतिपादक मंत्र हैं। उपर्युक्त का समन्वय मेरे विचार से विशिष्टाद्वैतवाद में हो सकता है, अन्यथा नहीं । अतः मेरे विचार में वैदिक सिद्धान्त 'विशिष्टाद्वैतवाद' है। वैदिक विशिष्टाद्वैतवाद को ही कोई केवल अद्वैतवाद वा सदैक्यवाद कहते हैं, जो ठीक ही है, कोई द्वैतवाद अथवा त्रैतवाद नाम देना पसंद करते हैं, जो भी उचित ही है। किन्तु 'विशिष्टाद्वैत' नाम मुझे इस कारण सर्वोत्तम प्रतीत होता है कि इस नाम में वैदिक द्वैताद्वैत अथवा त्रैतवाद का सुष्ठु समन्वय हो जाता है। सत् एक है, वह ब्रह्म है किंतु वह त्रिविध भी कहा गया है। भोक्ता, भोग्य और प्रेरिता के रूप में और इन तीनों रूपों को अज-अनादि कहा गया है। तब वह सत्, वह ब्रह्म, विशिष्ट क्यों नहीं ? अवश्य सत् एक है, वह ब्रह्म है, वह गूढ है, उस में अनन्त विशेषताएं हैं । अतः वह विशिष्टाद्वैत है, क्योंकि वे अनेक विशेषताएं स्वाभाविक हैं, अनादि हैं ।

सत्ता सामान्य तो एक ही सम्भव है, किन्तु ईश्वर, जीव, प्रकृति, रूप, सत्ता, विशेष के स्वाभावसिद्ध अनादि होनेसे वह ब्रह्म विशिष्टाद्वैत कहा जाता है । वही अनादि त्रयमेकं भी कहा जाता है । इस प्रकार उपर्युक्त दोनों मंत्रों (जो क्रमशः अद्वैत और द्वैत वा त्रैतका प्रतिपादन करते हैं) का समन्वय मेरे विचार से विशिष्टाद्वैतवादमें ही होना संभव है, अन्यथा नहीं। अतः विशिष्टाद्वैतवाद वैदिक सिद्धान्त है, जिसका उल्लेख ऋषि दयानन्दने स्वरचित सत्यार्थप्रकाश प्रथमावृत्ति सन् १८७५ ईसवी के में अष्टम समुल्लास में निम्न प्रकार किया है ।

" (प्रश्न) ईश्वरने जगत् रचा सो जगत् रचनेकी सामग्री थी, अथवा अपने में से ही जगत् रचा वा अपन ही सब जगतरूप बन गया ?

(उत्तर) इस का विचार अवश्य करना चाहिये, कि बिना सामग्री से कोई पदार्थ नहीं बन सकता, क्योंकि कारण के बिना किसी कार्य की उत्पत्ति हम लोग नहीं देखते, सो कारण तीन प्रकार का होता है- एक उपादान, दूसरा निमित्त और तीसरा साधारण ।

सो उपादान यह कहाता है, कि किसी से कुछ ले के कोई पदार्थ बनाना सो कार्यकारण का इस में कुछ भेद नहीं होता, दोनों एकही रूप होते हैं, जैसे मट्टी को लेके घडे को बना लेते हैं, कपास को लेके वस्त्र, सोने को लेके गहना, लोहे को लेके शस्त्र और काष्ठ को लेके किवाड आदिक, सो घडादिक जितने हैं, वे मृत्तिकादिकों से भिन्न वस्तु नहीं हैं, किन्तु वही वस्तु है, इस प्रकार का उपादान कारण जानना ।

दूसरा निमित्त कारण, जो कि उन कुलालादिक शिल्पी लोग नाना प्रकार के पदार्थों का रचनेवाले निमित्त कारण में जानना, क्योंकि मृत्तिकादिकों को ग्रहण करके अनेक पदार्थोंको रचते हैं, किन्तु अपने शरीरसे पदार्थ ले के नहीं रचते । इससे ऐसा निमित्त-कारण होता है कि, जो

पदार्थ बनावे, उससे भिन्न सदा रहे और उस पदार्थ को रच ले।

तीसरा साधारण कारण होता है, जैसा कि प्राण काल देश चक्र और सूत्रादिक, क्योंकि ये सब कर्ता के अधीन और हेतु रहते हैं। इससे अवश्य विचार करना चाहिये, परमेश्वर इस जगत् का तीनों कारणों में से कौन कारण है, अर्थात् तीनों कारण है।

जो उपादान कारण होवे तो क्षुधा, तृषा, शीतोष्ण, श्रम, जन्म और मरणादिक दोष ईश्वरमें आ जांयगे, क्योंकि उपादान से उपादेय भिन्न नहीं होता, अर्थात् ईश्वरसे जगत् भिन्न नहीं होगा। इससे उक्त दोष अवश्य ही आवेंगे। इसमें जो कोई ऐसा कहे कि जैसे स्वप्नावस्था में मिथ्या पदार्थ अनेक देख पडते हैं और रज्जु में सर्पबुद्धि होती है, इत्यादिक सब कल्पित भ्रांत पदार्थ हैं, उनसे वस्तु में कुछ दोष नहीं आ सकता। स्वप्न से जीव की कुछ हानि नहीं होती और सर्पसे रज्जु की। उनसे पूंछना चाहिये, सर्प की भ्रांति रज्जु में और स्वप्न में हर्षशोकादिक दुःख किसको भये, जो वह कहे कि ब्रह्म को ही भये फिर वह ब्रह्म शुद्ध नहीं रहा तथा ज्ञानस्वरूप नहीं रहा; क्योंकि भ्रम जो होता है, सो अज्ञान से ही होता है। बिना अज्ञान से नहीं। फिर वेदोंमें सर्वज्ञ सदा भ्रान्तिरहित ब्रह्म को लिखा है, उसकी क्या गति होगी तथा बन्धमोक्षादिक दोष भी ब्रह्म में आ जांयगे। जो वह कहे कि भ्रम से बन्ध और मोक्ष है, वस्तु से नहीं, फिर भी नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव परमेश्वर को वेदमें लिखा है, सो बात झूठी हो जायगी, यह बडा दोष होगा और बद्ध होगा, सो जगत् रचनेको कैसे रच सकेगा और जो मुक्त होगा, सो जगत् रचने की इच्छा ही न करेगा, फिर परमेश्वरसे जगत् कैसे बनेगा और जो कोई केवल निमित्त कारण माने, तो जगत् का साक्षात् कर्ता नहीं होगा, किन्तु शिल्पीवत् होगा, अथवा उसको महाशिल्पी कहो और उसके पास सामग्री भी अवश्य माननी चाहिये। फिर जो सामग्री मानेंगे, तो जगत् भी नित्य होगा, क्योंकि जिससे जगत् बना है, वह सामग्री ईश्वर के पास सदा रहती ही है।

फिर एक अद्वितीय जगत् की उत्पत्ति के पहले परमेश्वर था, जगत् लेशमात्र भी नहीं था, यह वेदादिक शास्त्रों का प्रमाणोंसे कहना, वह व्यर्थ होगा। इससे उन निमित्त कारण मानने से भी वह दोष आवेगा और जो साधारण कारण माने, तो भी जड पराश्रित रचने में असमर्थ ईश्वर होगा, जैसे कुलालादिक के बिना घटादिकार्य पराधीन होते हैं, क्योंकि जैसे चक्रादिक के बिना कुलालादिक घटादिक नहीं रच सकते हैं, फिर वह ईश्वर पराधीन होनेसे सर्व शक्तिमान् नहीं रहेगा। क्योंकि कोईका सहाय किसी काममें न ले और अपनी शक्ति से सब कुछ करें, उसको कहते हैं सर्व शक्तिमान्, सो साधारण कारण जब माना जायगा, तो सर्वशक्तिमान् ईश्वर कभी न रहेगा।

इससे तीनों प्रकार में दोष आते हैं, इसवास्ते अत्यन्त विचार करना चाहिये, जिसमें कि कोई दोष न आवे। इस में यह विचार है, कि ईश्वर सर्वशक्तिमान् है। जो सर्वशक्तिमान् होता है, उसमें अनन्त सामर्थ्यसामग्री होती है, सो वह सामग्री स्वाभाविक है, जैसा कि स्वाभाविक गुणगुणीका सम्बन्ध होता है। वह दूसरा पदार्थ नहीं है और एक भी नहीं। उस सामग्री सब जगत् को परमेश्वरने बनाया।

(प्रश्न) जो गुणकी नांई स्वाभाविक सामग्री है, सो गुणी से भिन्न कभी नहीं होती, क्योंकि स्वाभाविक जो गुण है, सो गुणीसे भिन्न कभी नहीं होता, इससे क्या आया कि, सामग्रीसहित परमेश्वर जगतरूप बन गया।

(उत्तर) ऐसा न कहना चाहिये, क्योंकि जो जिसका पदार्थ होता है, वह उसीका कहाता है, सो परमेश्वर का अनन्त सामर्थ्य स्वाभाविक ही है, अन्य से नहीं लिया। वह सामर्थ्य अत्यन्त सूक्ष्म है और स्वाभाविक के होनेसे परमेश्वर का विरोध भी नहीं, किन्तु उसी में वह सामर्थ्य रहता है, उससे सब जगत् को ईश्वरने रचा है। इससे क्या आया, कि भिन्न पदार्थ न ले के जगत् के रचनेसे उपादान कारण जगत् का परमेश्वर ही हुआ, क्योंकि अपने से भिन्न दूसरा कोई पदार्थ नहीं है, कि जिसे लेके जगत को रचे, सो अपने स्वाभाविक सामर्थ्य गुणरूपसे जगत् को रचा।

इससे सब जगत् का उपादान कारण परमेश्वर ही है। परन्तु आप जगतरूप नहीं बना, तथा अपनी शक्तिसे नाना प्रकारके जगत् रचने से दूसरे के सहाय बिना इससे जगत् का निमित्त कारण ईश्वर ही है, अन्य कोई नहीं तथा

साधारण कारण भी जगत् का ईश्वर है, क्योंकि किसी अन्य पदार्थ के सहाय से जगत् को ईश्वरने नहीं रचा, किन्तु अपनी सामर्थ्य से जगत् को रचा है। इससे साधारण कारण भी जगत् का ईश्वर है, अन्य कोई नहीं और जो अन्य कोई होता, तो विरुद्ध कार्य जगत् में देख पडते। विरुद्ध कार्यों को हम लोग जगत् में नहीं देखते हैं, इससे जगत् के तीनों कारण परमेश्वर ही है, अन्य कोई नहीं।''

उसी उपर्युक्त 'सत्यार्थप्रकाश' के सप्तम सम्मुल्लास में ऋषि दयानन्द जीव-ईश्वर की एकता निम्न प्रकार से मानते हैं—

"(प्रश्न) जीव का निज स्वरूप क्या है?

(उत्तर) 'विशिष्टस्य जीवत्वमन्वयव्यतिरेकाभ्याम्।' यह कपिल मुनिजीका सूत्र है। इसका यह अभिप्राय है कि जैसा आयना मिट्टीसे बनता है, परन्तु शुद्ध के होनेसे जो उसके सामने पदार्थ होगा, सो उस में यथावत् देख पडेगा अथवा लोहे को अग्नि में रखने से अग्नि के गुणवाला होता है। उन दोनों में प्रतिबिम्ब वा अग्नि भिन्न है क्योंकि उनसे पृथक् भी वे देख पडते हैं और हो भी जाते हैं। इससे दर्पण और लोहेसे व्यतिरिक्त हैं, अर्थात् जुदे हैं और जो केवल जुदे होते, तो उनके गुण दर्पण और लोहे में न होते। इससे इनमें अन्वय भी उनका देख पडता है, वैसे ही लिंग-शरीर जो है, उसका अधिष्ठाता है, सोही जीव है। दर्पण के तुल्य अन्तःकरण शुद्ध है, स्थूल देह बाहर का है और जिसमें गाढ निद्रा होती है।

सत्व, रजो और तमोगुण मिलके प्रकृति कहाती है, जिसका नाम अव्यक्त परम सूक्ष्म भूत और प्रधान भी है, वह कारण शरीर कहलाता है। सो सब प्राणियोंका व्यापक के होने से एकही दोनों के बीचमें मध्यस्थ लिंग-शरीर है। चेतन एक जीव और दूसरा परमेश्वर ही है, तीसरा कोई नहीं, सो परमेश्वर है। विभु व्यापक सर्वत्र एकरस, जहां जहां लिंग शरीर विशिष्ट जीव रहता है, वहां वहां परमेश्वर ही पूर्ण है, सो लिंग शरीर में उसका सामान्य प्रकाश है और विशेष प्रकाश चेतन ही का जीव है। जैसे दर्पण में सूर्य का विशेष प्रकाश होता है, सो परमेश्वरका सदा संयोग रहता है, वियोग कभी नहीं, इससे परमेश्वरके अन्वय होने से वह चेतन नहीं है, वह जीव कहलाता है और लिंग-देह से परमेश्वर भिन्न के होनेसे पृथक् भी है। क्योंकि लिंग-शरीर से युक्त जीव स्वर्ग, नर्क (नरक), जन्म और मरण इत्यादिकों में भ्रमण करता है, परन्तु परमेश्वर निश्चल है, उसके साथ भ्रमण नहीं करते हैं और उसके गुणदोषोंके भोग वा संगी कभी नहीं होते हैं। कारण-शरीर के ज्ञान, लोभ, और क्रोधादिक गुण भी जीव में आते हैं और स्थूल शरीर के शीतोष्ण क्षुधातृषादिक गुण भी जीव में आते हैं, क्योंकि दोनों शरीर के मध्यवर्ती जीव है, इससे दोनों शरीरोंके गुण का भी संग जीव कर्ता (करता) है।''

ऋषि दयानन्द के उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि ऋषि दयानन्द अपनी मृत्यु के सात वर्ष पूर्व अपनी बावन वर्ष की आयु में विशिष्टाद्वैतवादी थे और इसको वह वैदिक सिद्धान्त मानते थे। अपने मरण से केवल एक वर्ष पूर्व उन्होंने सत्यार्थप्रकाश की द्वितीयावृत्ति छपवाई, जिस में वह स्पष्ट त्रैतवादी हैं, किन्तु मुझे तो उनके प्रथम मत में ही अधिक वैदिकता दीखती है। पाठक इसका विचारपूर्वक मनन करें। ऋषि के प्रथम मत में विशिष्टाद्वैतवाद अथवा सदैक्यवाद है, जो मुझे ठीक वैदिक अथवा वैज्ञानिक जंचता है।

जो सत् है, वह एक है और वह गूढ है, ब्रह्म है और वही एक सत् अकार (ईश्वर) उकार (जीव) तथा मकार (प्रकृति) तीन प्रकार से निरूपण में आता है, यही वेदान्त का ''ओ३म् खं ब्रह्म'' है। अकाररूप परमात्मा सर्वव्यापक स्वर 'अ' के समान है। उकाररूप जीवात्मा अल्पव्यापक विशिष्ट अकार अर्थात् 'उ' स्वर के समान है और मकाररूपिणी प्रकृति अनुस्वाररूपेण व्यञ्जन 'म्' के समान विभुत्वेन वर्तते।

अतः यजुर्वेद में अन्तिम सिद्धान्त के रूप में ब्रह्म को खं से उपमा देते हुए ओ३म् रूप में निरूपित किया है। इसीलिये उस एक सत् का सर्वोत्तम नाम जो सत् कि आकाश के समान महान् है। ओ३म् है जिस एक नाम में ही ईश्वर जीवप्रकृतिरूपी तीनों प्रकार के सद्गुणी ब्रह्मका सामवेश हो जाता है। यही ओ३म् नामी सत् अथवा ब्रह्म सच्चिदानन्दमय कहलाता है।

वेदकालीन रथ ।

[ले० श्री० पं० सभाकान्त झा, शास्त्री,
संपादक माला, बरालोकपूर]

प्राचीन समय में रथका व्यवहार था, जैसे आजकल सवारियों को घोडे चलाते हैं। वर्णन देखकर ज्ञात होता है कि तब भी घोडेही रथमें जुते जाते थे, रथका आकार और उसका व्यवहार कैसा था, सो बहुत चेष्टा करने पर भी निर्णय नहीं हो सका, परन्तु ऐसा प्रमाण पाया जाता है कि चार हजार वर्ष पहले भी वरन् सृष्टि की आदिमें भी रथ का व्यवहार होता था।

ऋग्वेद के चौथे मंडल, दूसरे सूक्तमें अग्निदेवता के रथ का वर्णन आया है। हम लोग तो वेदों को अनादि मानते हैं, परन्तु विलायत के पण्डित लोग भी ऋग्वेद को ४००० वर्ष का पुराना बताते हैं। यथा--

अर्यमणं वरुणं मित्रमेषामिन्द्राविष्णू मरुतो अश्विनोत। स्वश्वो अग्ने सुरथः सुराधा एदु वह सुहविषे जनाय। (ऋ० ४।२।४)

यानी हे अग्ने! तुम्हारा रथ, अश्व और धन उत्तम है। इस मृत्युलोकवासियों में जिस यजमान का द्रव्य उत्तम है, उसके लिये अर्यमा, वरुण मित्र, इन्द्रा विष्णू और मरुद्गण, तथा दोनों अश्विनीकुमारों को लावो।

इस ऋचा में सुरथः इस शब्द में रथ का नाम दिखाई देता है। ऋग्वेद के समय एक श्रेणी के कारीगर केवल रथही बनाया करते थे। इसके लिये ऋग्वेद में लिखा है, यथा--

अधा ह यद्वयमग्ने त्वाया पद्भिर्हस्तेभिश्चकृमा तनूभिः। रथं न क्रन्तो अपसा भुरिजोर्ऋतं युयुध्य आशुषाणाः॥ (ऋ० ४।२।१४)

हे अग्ने! जिससे की हम लोग भी तुम्हारी कामना से हस्तपाद और शरीर से (कार्य करते हैं) अतएव शिल्पीगण (कारीगर) जिस प्रकार से रथ बनाते हैं, वैसेही यज्ञ-रथ शोभायमान कर्मवाले लोगोंने बाहुद्वारा (काष्ठ) मन्थन करके तुमको उत्पन्न किया। और भी-

एवेदिन्द्राय वृषभाय वृष्णे ब्रह्माकर्म भृगवो न रथम्। नू चिद्यथा न सख्या वियोषद्-सन्न उग्रोऽविता तनूपाः। (ऋ० ४।१६।२०)

जिससे हमारी मित्रता अलग न हो, जिससे उग्र और शरीररक्षक हमारे शरीररक्षक हों, हम उसी प्रकार का आचरण करेंगे। भृगुगण जिस प्रकार रथ बनाते हैं, वैसे ही अभीष्टवर्षी और नित्य तरुण इन्द्र के लिये स्तोत्र-रचना करेंगे।

इन दो ऋचाओं में रथ बनानेवाले शिल्पी और सूत्रधार लोगों का वर्णन है। इससे ज्ञात होता है कि उस समय रथका बहुत प्रचार और व्यवहार था। ऐसा अनुमान करना अब अनुचित न होगा। सायनाचार्य के मतानुसार भृगु शब्द का सूत्रधार अर्थ करनेसे ऐसा ज्ञात होता है कि, उस समय काष्ठ का रथ बनता था। काष्ठ से रथ का बनाया जाना अनुमान करनेसे ऐसा निर्देश असंगत नहीं ज्ञात होता। युद्ध के समय में भी रथ का व्यवहार होता था, परन्तु युद्ध का रथ चर्म से मढा रहता था। यथा—

वनस्पते वीड्वङ्गो हि भूया अस्मत्सखा प्रतरणः सुवीरः। गोभिः सन्नद्धो असि वीळयस्वास्थाता ते जयतु जेत्वानि॥ (ऋ० ६।४७।२६)

हे वनस्पति से बने हुए रथ तुम्हारे समस्त अंग दृढ हों, तुम हमारे बन्धु और रक्षक होवो। तुम श्रेष्ठ वीरगणों करके युक्त हो, तुम गोद्वार सन्नद्ध हो। तुम हम लोगों को सुदृढ करो, तुम्हारे ऊपर सवार हुआ रथी मनो सरलता से शत्रु को जीतने को समर्थ होवे।

श्रीयुत रमेश चन्द्र दत्त सी. एस्. वर्धमान टीका— इस का अर्थ गोद्वारा आकृष्ट (खिंचा हुआ) ऐसा हो सकता है। परन्तु सायणाचार्यने इस ऋक् में और आगे

के ऋक् में गोभर्थ से गोचर्म किया है, अर्थात् रथ गोचर्म से आवृत है।

यहां सायणाचार्य ही का मत ठीक मालूम पडता है, क्योंकि और दूसरी ऋचाओं में ऐसा प्रमाण पाया जाता है कि, घोडे रथ को खेंचते हैं, यथा-

रथे तिष्ठन्नयति वाजिनः पुरो यत्रयत्र कामयते सुषारथिः। अभीशूनां महिमानं पनायत मनः पश्चादनु यच्छन्ति रश्मयः॥ (ऋ० ६।७५।६)

सुसारथि रथ में बैठकर आगे स्थित घोडों को जहां जहां ले जाने की इच्छा करता है, वहां वहां ले जाता है। रश्मिसमूह (लगाम!) अश्व के पीछे रहकर इच्छानुसार नियमित करता है। उनकी महिमा का स्तोत्र करो।

इन ऋचाओं के देखने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि, घोडे रथ को खेंचते थें। सारथी घोडे को चलाता था। उस समय से बहुत पहले रथ का व्यवहार के चलन चालू हुआ होगा, यदि रथ नया पदार्थ होता, तो इस बारीकी से रथ और सारथी के गुणागुण का परिचय होने के सम्भावना नहीं।

जब रथका व्यवहार उन्नतिपर पहुंचा हुआ था, तब रथ और सारथी का गुणागुण जाने थे, तभी सुसारथी ऐसा नामकरण हुआ, यह अनुमान असंगत नहीं होगा।

विशेष करके ऋग्वेद के अनेक अंशों में रथ का वर्णन है। रथारोही आदिके अस्त्रशस्त्र रथमें रखे जाते थे। यथा-

रथवाहनं हविरस्य नाम यत्रायुधं निहितमस्य वर्म। तत्रा रथमुप शग्मं सदेम विश्वाहा वयं सुमनस्यमानाः॥ (ऋ० ६।७५।८)

द्रव्य जिस प्रकार अग्नि को बढाता है। वैसे ही इस राजा का रथवाहित धन इसे बढावे। रथमें इसके अस्त्रकवचादि रहते हैं। हम लोग सदा प्रसन्न मनसे उस रथकारी रथके समीप गमन करें।

इनके कईएक ऋचाओं में रथमें एक प्रकार का स्थूल वृत्तान्त पाया जाता है। यथा- १- रथ के बनानेवाले कारीगर थे। २- रथ बनानेवाले सूत्रधारों को 'भृगु' कहते थें। ३- अतएव ऐसा अनुमान किया जाता है कि रथ काष्ठ का बनता था। ४- युद्ध में रथ का व्यवहार होता था। ५- युद्ध के रथमें गोचर्म का अच्छादन रहता था। ६- घोडे रथको खींचते थे। ७- सारथी रथ को चलाते थें। ८- लगाम से घोडे रथमें जुडते और चलते थें। ९- रथ के भीतर लडनेवालों के अस्त्रशस्त्र रखे जाते थें।

पूर्वोक्त ऋचाओं से प्रमाणित होता है कि रथकी रक्षा के लिये रक्षक नियत होते थे। इससे स्वतः सिद्ध हो जाता है। पहले रथका व्यवहार बहुत जोरोंसे होता था और आगे भी इस की उन्नति खूब हुई। फिर एक एक इसका कोप हो गया। उपनिषद्, पुराण, और काव्यों के ग्रन्थों में रथों का विशेष वर्णन पाया जाता है। अतएव यह निश्चित है कि भारतवर्ष में रथका व्यवहार अति प्राचीन कालसे होता था। यदि नई रोशनीवालों के मतसे ऋग्वेदको ४००० वर्ष का माना जाय, तो भी यह प्रमाणित हो जाता है, कि- ४००० वर्ष पहले भी भारतवर्ष में रथ बनते थें।

त्रीणि उष्ट्रस्य नामानि

[ले० पं० वेदभूषण वेदालंकार गंगोह, सहारनपूर]

उष्ट्र के तीन नाम हैं- ऐसा एक मंत्र अथर्ववेदके विंशति काण्ड के १३२, सूक्त १३ वें मंत्र का अर्थ है । अब, हमको यह विचारना है कि यह " उष्ट्र " क्या वस्तु है, जिस के तीन नाम हैं।

लोक में उष्ट्र शब्द का अर्थ ऊंट है । परन्तु वेद में इस का यह अर्थ नहीं । यद्यपि यह अर्थरूढी है, परन्तु यदि वेद में रूढी अर्थ लिए जाये, तो अर्थ का अनर्थ हो जाता है । इस कारण ऋषिने तथा निरुक्तकारने जो दिशा बतलाई है, उसी दिशा में हमको यौगिक अर्थ करना पडेगा ।

" उष्ट्र " शब्द दो धातुओं से बना है । " उशि दाहे " तथा " त्रैङ् पालने " [उश् + त्र = उष्ट्र] इसका यह अर्थ प्रतीत होता है कि जो दाह से पालना करता है।

एवं, सम्पूर्ण प्रकार के दाहों से रक्षा करनेवाला होने के कारण परमात्मा को ही " उष्ट्र " यह संज्ञा दी गई है।

' उष्ट्रस्य त्रीणि नामानि '

अब मंत्रार्थ पर विचार करिए-

[उष्ट्रस्य] सम्पूर्ण प्रकार के दाहों से रक्षा करनेवाले परमात्मा के [त्रीणि नामानि] तीन नाम हैं ।

परमात्मा के वे तीन नाम कौन कौन से हैं ? इस प्रश्न का उत्तर आग्रिम मंत्रों में दिया गया है ।

'हिरण्यं इत्येके अब्रवीत्' (अथर्व० २० काण्ड, १३३ सूक्त, १४ मंत्र ।)

" हिरण्य " उसका प्रथम नाम है, " इति एके " ऐसा कुछ लोगों का मत है । अथवा " हिरण्य इत्येकम् " " हिरण्य " उसका एक नाम है। अर्थात् परमात्मा का पहिला नाम " हिरण्य "-है ।

अब, विचार यह करना है कि, यह किस प्रकार ज्ञात हुआ कि उसका नाम " हिरण्य " है ? इस का उत्तर आग्रिम पद से स्पष्ट है । " अब्रवीत् " अर्थात् परमात्माने अपना " हिरण्य " यह नाम स्वयं बतलाया है । परमात्मा का ज्ञान वेद है, वेद में ही उसने अपना " हिरण्य " यह नाम बतलाया है । इसके लिए आप निम्न मंत्र देखें—

" हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् । स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ "

अर्थात् पहिले पहिले-सृष्टि से पूर्व " हिरण्यगर्भ " था। वह ही सम्पूर्ण भूतों का प्रसिद्ध पति है- वही इस पृथिवी, द्यु तथा अन्तरिक्ष लोक का धारण करता है ।

एवं स्पष्ट है परमात्मा ने अपना " हिरण्य " यह नाम स्वयं बताया है । इसीलिए कहा है- " अब्रवीत् "।

अब यह तो स्पष्ट हो गया कि, परमात्मा का यह नाम किस प्रकार ज्ञात हुआ है । परन्तु अब विचारणीय यह है कि उसको यह नाम किस लिए दिया गया है ?

हिरण्य= हिरण्यमय । अर्थात् वह परमात्मा हिरण्यमय है । हिरण्य एक तैजस् पदार्थ है-और तैजस् पदार्थ सात्विकता को सूचित करता है । अर्थात् परमात्मा को सत्वगुणयुक्त बतानेवाला उसका यह नाम है । परमात्मा का प्रथम नाम " हिरण्य " सिद्ध हो गया। अब शेष दो नामों को भी देखिए ।

" द्वौ वा ये शिशवाः । "

(अथर्व० २०।१३३।१५)

मंत्रार्थ- (द्वौ वा) परमात्माके दो नाम और भी बताए जाते हैं। परन्तु ये दो नाम कौन बताते हैं ? (ये शिशवाः) जो शिशु बुद्धिवाले हैं ।

अर्थात परमात्मा का वस्तुतः तो हिरण्य यह सत्वगुण को सूचित करनेवाला एक ही नाम है, परन्तु उसके दो और नाम भी शिशुबुद्धि मनुष्य बताते हैं। वे दो नाम कौनसे हैं ?—

"नीलशिखण्डवाहनः ।"
(अथर्व० २०।१३२।१६)

परमात्मा के "नीलशिखण्ड" और "वाहनः" ये दो और नाम हैं ।

परमात्मा को ये नाम किस कारण दिए गए हैं– इसके लिए आप इनका तात्पर्य देखें—

"नीलशिखण्ड" शब्द में दो शब्द "नील" और "शिखण्ड" स्पष्ट दीख पडते हैं । प्रथम "नील" शब्द 'नि' पूर्वक 'ईर' धातु से बना है । अर्थात् (नितरा-मीरयति- नील) अत्यधिक गति करनेवाला रजोगुण । (नीलशिखा- नीलस्य शिखा) अत्यधिक गति करनेवाले रजोगुण की शिखा । (तां नीलशिखां ड्यति इति नील-शिखण्डः) 'ड्यति' में 'डीङ् विहायसागतौ' धातु है, इसका अर्थ है उडानेवाला ।

अर्थात् अत्यधिक गति करनेवाले रजोगुण की शिखा को प्रेरित करनेवाला होनेके कारण परमात्मा को रजोगुणयुक्त बतानेवाला यह "नीलशिखण्ड" नाम दिया गया है ।

गति यह रजोगुण का ही धर्म है । परमात्माने सृष्ट्युत्पत्ति की उस समय उसने गति के पश्चात् ही जगत्‌रचना की, अर्थात् उस समय वह रजोगुणयुक्त भी था । "नीलशिखण्ड" नाम परमात्मा की रजोगुणयुक्तता का ज्ञापक है । एवं यह उसका दूसरा नाम "नीलशिखण्ड" सिद्ध होता है ।

परमात्मा का तीसरा नाम "वाहनः" है । इस नाम के दो पदच्छेद किए जा सकते हैं । [वा+हनः = वाहनः] 'वा' शब्द "वा गतिगन्धनयोः" धातु से बना हुआ है । एवं इसका अर्थ हुआ "गति" । "हनः" शब्द "हन हिंसागत्योः" धातु से बना हुआ है । इसका अर्थ है मारनेवाला । अर्थात् गति को मारनेवाला "वाहनः" परमात्मा है । यह नाम तमोगुण का सूचक है । परमात्मा सृष्टिसंहार के समय सम्पूर्ण जातियों का हननसंहार कर देता है । संहार करना तमोगुण का धर्म है । अतः परमात्मा तमोगुणयुक्त है– यह बतानेवाला इसका "वाहनः" यह नाम है ।

एवं हमने देखा कि "त्रीण्युष्ट्रस्य नामानि" अर्थात् उष्ट्र=संपूर्ण प्रकार के दाहों से रक्षा करनेवाले परमात्मा के तीन नाम हैं ।

१ हिरण्य– यह नाम सत्त्वगुण का सूचक है ।

२ नीलशिखण्ड– यह नाम रजोगुण का सूचक है ।

३ वाहन– यह नाम तमोगुण का सूचक है ।

परमात्मा के अन्दर ये तीनों गुण हैं– यही इन मंत्रों का भाव है ।

परमात्मा का स्वाभाविक गुण सत्त्वगुण ही है । इसी लिए "हिरण्य" यह उसका मुख्य नाम है । परन्तु रजोगुण और तमोगुण ये उसके स्वाभाविक गुण नहीं हैं, इस कारण "नीलशिखण्ड" और "वाहनः" ये नाम उसके गौण नाम हैं । इसी बात को मंत्र में भी स्पष्ट किया गया है – "द्वौ वा ये शिशवः" – अर्थात् शिशु-बुद्धि के लोग उसके ये दो और भी नाम बताते हैं । उसका वास्तविक और मुख्य नाम "हिरण्य ही है ।

वैदिक शब्दों के अर्थ

[श्री० विश्वनाथ शास्त्री, एम्. ए., लाहौर]

आजकल सर्वत्र वेदभाष्य की बडी भारी समस्या रही है। यह निश्चित बात है कि वैदिक संस्कृत लौकिक संस्कृत से निराली है। लौकिक संस्कृत में जिन शब्दों का जो अर्थ है, वह वैदिक संस्कृत में होना अनिवार्य नहीं है। यह बात स्वाभाविक है कि, शब्दों के अर्थ समय व्यतीत होने पर परिवर्तित होते रहते हैं। अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि शेकसपीयर ने कई शब्दों का प्रयोग ऐसे अर्थों में किया है, जिन अर्थों में अब उन का प्रयोग नहीं होता। इसी भांति सब भाषाओं में परिवर्तन होता रहता है। और एक शब्द का एक ही समय में विविध प्रदेशों में पृथक् पृथक् अर्थों में प्रयोग भी होता है। निरुक्त के समय में काबुल में "शव" शब्द गति अर्थ में प्रयुक्त होता था और अलग लाश के अर्थ में। आजकल पंजाबी भाषा में "बुड्ढी" का अर्थ कहीं स्त्रीमात्र और कहीं वृद्धा लिया जाता है। "कुडी" शब्द जिला झंगमें वधु के अर्थमें और अलग बालिका के अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है। "शोहदा" शब्द मुलतान के इलाका में बदमाश के अर्थ में और अन्यत्र बेचारा के अर्थ में प्रयुक्त होता है। इसी भांति "क्षीर" शब्द मुलतान में दूध के अर्थ में और अन्यत्र खीर के अर्थ में प्रयुक्त होता है। अतः लौकिक संस्कृत के अभ्यासी विद्वानों को वैदिक संस्कृत समझने में कभी कभी भूल हो जाती है। और इसी लिए आज वेद-भाष्य की समस्या हमारे सामने उग्र रूप में उपस्थित हो रही है।

ऋषि दयानन्दने इस त्रुटि से अनुभव किया और स्वयं आर्षप्रणाली के आधार पर वेदों का भाष्य करना आरंभ कर दिया। परन्तु करालं कालने उन्हें वेदभाष्य पूर्ण न करने दिया और यह कार्य अधूरा ही रह गया। इस समय ऋषि-कृत संपूर्ण यजुर्वेदभाष्य और अंशिक ऋग्वेदभाष्य उपलब्ध होता है। अतः वेदभाष्य की समस्या हमारे लिए फिर भी बनी रही। अब प्रश्न यह है कि हम चारों वेदों का युद्धार्थ कैसे प्राप्त कर सकते हैं। इस का एक उपाय यह है कि, ऋषि-कृत वेद-भाष्य में जिन-जिन शब्दों का जो-जो अर्थ हमें मिलता है, वह-वह शब्द यदि दूसरे वेदों में आएँ, तो उन का ऋषि-कृत अर्थ ही वहाँ भी किया जाय और जिन-जिन शब्दों का अर्थ ऋषि-कृत भाष्य में उपलब्ध नहीं होता, उन-उन का अर्थ भी इस प्रकार से अन्वेषण करने की चेष्टा करें कि, वह ऋषिप्रणाली के अनुकूल हों।

वेदभाष्य करने के लिए यह बात भी अत्यंत आवश्यक है कि, हमारा स्वाध्याय विस्तृत होना चाहिए। एतदर्थ वेद के प्राचीन भाष्यों का अध्ययन भी आवश्यक प्रतीत होता है। प्राचीन वेदभाष्यकार आचार्यों की विद्वत्ता में हम संदेह नहीं कर सकते। यह ठीक है कि, उन्होंने भूलें कीं, परन्तु सर्वत्र उन का भाष्य अशुद्ध हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता। उन के भाष्यों में भी कहीं-कहीं उत्तम-उत्तम अर्थ उपलब्ध होते हैं। नमूना के लिए यहाँ सायणाचार्य द्वाराकृत वैदिक शब्दों के अर्थों की एक छोटी-सी सूची दी जाती है। पाठक इस सूची के अवलोकन से स्वयं अनुमान लगा लेंगे कि, यह शब्द लौकिक संस्कृत में इन अर्थों में प्रयुक्त नहीं होते, जिन अर्थों में सायण ने इन को घटाया है।

अर्जुनम्- श्वेत वर्णम्। (साम० उ० ६. १. ९, ३.)

अश्वः- अश्व शब्देन आदित्यः उच्यते।
(अथर्व० १९. ६. ५३, १)

उक्षा- जलस्य सेक्तापर्यत्यः सन्।
(साम० पू० ६. ११. २.)

उर्वशी- माध्यमिकी वाक् अथवा उर्वशी बहूनां वशयित्री अदित्याख्या द्युस्थानदेवता।
(ऋक्० ५. ४१, १९.)

ऋभु- सूर्यात्मना उरु विस्तीर्ण भासमानः।
(ऋक्० १. १२१. २.)

कश्यपः- सूर्यः। (अथर्व० १९. ६. ५३. १०)

गन्धर्वः- गावो रश्मयः तान् धारयतीति गन्धर्वः अदित्यः। (अथर्व० २. १, १. २.)

शचीभिः आत्मीयैः कर्मभिः (ऋ० १. १०९. ७)

गिरिजाः- गिरौ वाचि निष्पन्नाः अथवा गिरिजाः स्तुतेर्जनयिता। (साम० पू. ५. ८. ६.)

गोत्राणि- गोः उदकस्य त्राणि त्रायकाणि युद्ध-क्षेत्राणि। (अथर्व० १९. २. १३. ७.)

तीर्थैः- तरणसाधनैर्यज्ञादिभिः। (अथर्व० १८. ४. ४. ७.)

द्रुपदे- द्रुर्द्रुमः तस्य पदे स्थाने। द्रुः सर्वतोऽभि-द्रवणम् अभिद्रवणसाधनपादयुक्ते सर्वता व्यापिनि वा। (अथर्व० १९. ६. ४७. ९.)

पथुम्- पश्यति सर्वं जगत् स्वकिरणैः प्रकाशय-तीति पथुश्चन्द्रमा (अथर्व० १८. ३. ३. १८.)

मनवे- मनुष्याय। (अथर्व० १८. १. १. २०,)

मरुत- मितभाषिणः स्तोतारः (साम० पू. ३. ७. ६)

रुद्राय- रोदयति उपतापेन अश्रूणि मोचयतीति रुद्रोज्वराभिमानी देव। (अथर्व० ६.२.२०.२.)

वृषभः- कामानां वर्षिता। (ऋ० १. ९. ४.)

वर्षिता मेघः। (ऋ १. ७९. २)

वृषभस्य- फलस्य वर्षितुर्यज्ञस्य। (ऋ. १. १६६. १)

सहस्राक्षः- अत्र अक्षिशब्देन दिनानि रात्रय-श्चोच्यन्ते। सहस्रसांख्याकाहोरात्रयुक्तः। (अथर्व० १९. ६. ५३. १.)

उपर्युक्त शब्द प्रायः पौराणिक गाथाओं में प्रयुक्त हुए हैं। जिन-जिन प्रकरणों तथा अर्थों में यह शब्द वहाँ प्रयुक्त हुए हैं, वहां से बिलकुल भिन्न अर्थ यहां दर्शाए गए हैं। इस से पाठक अनुमान लगा सकते हैं कि पौराणिक ढंग से भाष्य करनेवाले आचार्यों को भी अनेक स्थानों पर लौकिक अर्थों से भिन्न अर्थ करने पडे हैं। इसी भान्ति उव्वट तथा महीधरने भी यजुर्वेद ५.२ में भाष्य करते हुए पुरूरवा = उत्तरारणिः तथा उर्वशी - अधरारणिः लिखा है। इन दोनों आचार्यों ने यजुर्वेद १.९ में विष्णुः = यज्ञः लिखा है। तो पाठक भली भान्ति इस बात को अनुमत कर सकते हैं कि सब आचार्य यह सम्यक् प्रकार से समझते हैं कि वैदिक संस्कृत लौकिक संस्कृत से निराली है। वैदिक भाषा के तत्त्वज्ञान के लिए प्राचीन से प्राचीन ग्रन्थ हमें अधिकतर साहायता दे सकते हैं।

ईश्वरवादका वास्तविक स्वरूप।

[पं॰ रामावतार विद्याभास्कर]

(गतांकसे आगे)

त्यागके लिये दृढता ही 'ब्राह्मी स्थिति' है।

(१४) ईश्वरप्राप्तिके लिये साधनोंकी आवश्यकता भ्रान्ति है।

ईश्वर को प्राप्त किये बिना 'स्वार्थ' नहीं छुट सकता और 'सदाचार' को नहीं अपनाया जा सकता। स्वार्थी पुरुष केवल तबतक शुभ कर्म करनेका नाटक खेलता है, जबतक उसे स्वार्थ छोडनेकी आवश्यकता नहीं होती। जिस समय स्वार्थी के सामने स्वार्थ छोडनेकी आवश्यकता आ कर खडी होती है, वह उसी समय अच्छे काम का नाटक खेलना छोड देता है।

संसार में बहुधा सदाचार समझे हुए कुछ काम करके ज्ञानी बनने का प्रयत्न करनेवाले मनुष्य पाये जाते हैं। परन्तु सदाचार से कोई ज्ञानी नहीं बन सकता। किन्तु ज्ञानी लोगोंसे ही सदाचार का पालन होता है। सदाचार का अनुकरण करने से कोई पुरुष ज्ञानी नहीं बनता। जो मनुष्य अज्ञान की स्थितिमें रहना स्वीकार कर लेता है, उसके लिये उस स्थिति को छोडना असम्भव और दुःखदायी हो जाता है।

बहुधा मनुष्य किसी तात्कालिक प्रभावसे प्रभावित हो जाते हैं, और अज्ञान की स्थितिको न छोडकर, विषय भोगों के आनन्द को त्यागने के लिये, मनको 'साधन' नामवाले अवलम्बन पकडा देते हैं। वे उस 'साधन' को 'विषय' का प्रतिनिधि बनाते हैं। दूसरे शब्दोंमें अज्ञान की स्थितिमें रहनेवाले मनुष्य, अपनी इन्द्रियों को उनका प्रार्थित विषय न देकर, उसके बदले में उन्हें उनका न मांगा हुआ कोई 'बडा विषय' देना चाहते हैं और अपनी इन्द्रियों को उसी बडे विषय के लालचमें फांसकर, किसी प्रकार 'त्याग' की स्थिति को अपना लेना चाहते हैं। जिस प्रकार सच्ची वस्तु के सामने चित्रको पराजित होना पडता है, इसी प्रकार विषयसुख के सामने, उसका प्रतिनिधित्व करनेके लिये अपनाये हुए भौतिक सुखसाधनोंको पराजित होना पडता है। जो साधन विषयसुख का प्रतिनिधित्व करनेके लिये अपनाये जाते हैं, वे प्रतियोगिता का अवसर आते ही, विषयसुख का प्रतिनिधित्व करनेमें असमर्थ हो जाते हैं, और तब मनुष्य अपने को विषयसुखोंको अपनाने के लिये विवश पाता है। जैसे कोई अनधिकारी पुरुष किसी बालक को मिठाई का लालच दिखाकर माता की गोदसे बाहर लानेमें असमर्थ हो जाता है, इसी प्रकार जहां मन को कुछ भौतिक सुखसाधन करके ललचाने का प्रयत्न किया जा रहा होगा, वहां मन को इन्द्रियोंके विषयोंमें से सुख ढूंढने से नहीं रोका जा सकेगा। मनको कुछ भौतिक क्रिया करके, विषयसुख ढूंढने से रोक सकना असम्भव कल्पना है। क्योंकि भौतिक कर्म के साथ किसी भौतिक पदार्थ की ही प्राप्ति या अप्राप्ति का सम्बन्ध होता है, इस लिये भौतिक कर्म की फलाशा मनुष्य के लिये सुखदुःख का बन्धन बन जाती है। यही कारण है कि किसी प्रकार के भौतिक साधन करके इन्द्रियातीत आत्मस्थिति रूपी ब्रह्मानन्द नहीं पाया जा सकता। साधन का उद्देश्य यही है कि अपनाये हुए विषयसुख को तो त्याग दो और उसके प्रतिनिधि के रूपमें (उसके स्थानपर) दूसरा कोई भौतिक साधन अपना लो।

अज्ञानी मनोवृत्ति को साथ लेकर साधन करनेवाले लोग 'साधक' कहे जाते हैं। 'साधक' की मनोदशा का विश्लेषण करनेपर निम्न परिणाम हाथ आता है कि, जो अपने

ऊपर विश्वास नहीं करता, वह 'साधक' है, जो गिरावट का अवसर आनेपर, अपनेको गिरने की आज्ञा देदेता है, वही 'साधक' है। जिसके पास पतित न होने की दृढता नहीं है, वही 'साधक' है। जिसके मनकी स्थिति अविश्वास्य और भयानक है, वही 'साधक' है, जिसके पास आने पर दूसरे देहोंकी निर्विघ्नता संशयग्रस्त हो जाती है, वही 'साधक' है।

दो प्रकार के साधक देखने आते हैं– (१) वे जो मोहक वस्तु के पाससे इसलिये भागते हैं, कि वे उनके पास रहते हुए उन्हें भोगने के लिये विवश हो जाने की सम्भावना देखते हैं। ये पहली श्रेणी के 'साधक' संसार के पदार्थों को केवल भोग्य रूप में देखते हैं। ये उन्हें भोग्य से दूसरे किसी रूप में देख सकने में असमर्थ हैं। (२) दूसरे प्रकार के साधक वे हैं, जो पदार्थों को भोग्य तो मानते हैं, परन्तु उनकी समीपता में भोगातीत रहने का प्रयत्न करते हैं, और वे इस प्रयत्न के लिये भोग्य पदार्थों को जान बूझकर अपने पास रखते हैं। अर्थात् ये दूसरे प्रकार के 'साधक' लोग भोग्य पदार्थों के पास रहकर, भोगातीत बनना चाहते हैं। विचार कर देखनेपर प्रतीत होता है कि इन दोनों प्रकार के 'साधकों'ने मोहक वस्तुओं को 'भोग्य' मानना नहीं छोडा। ये दोनों 'भोग्य' पदार्थों के शासनमें बंधे हुए हैं। ये दोनों साधक भोग से बचते दीखनेपर भी 'भोगी' हैं। इन दोनोंने 'भोग' नहीं त्यागे। यदि इनके पास त्याग की स्थिति आ गयी होती, तो न तो भोग्य पदार्थ को अपने से पृथक् रखने का आग्रह रहता और न भोगों को 'भोग' समझते हुए, उन्हें जानबूझकर अपने पास रखकर महात्मापन की प्रदर्शनी करनेकी आवश्यकता रहती। सच्च भोगत्यागी की दृष्टि में मोहक समझे हुए कोई पदार्थ भोग्य बनने की स्वीकृति नहीं पा सकते। सच्चे भोगत्यागीको न तो विषयों के पास से भागनेकी आवश्यकता रहती है, और न उन (विषयों) से 'सर्प-क्रीडा' करना आवश्यक रहता है। अपने को 'साधक' कहनेवाले लोग 'त्याग' की सच्ची स्थिति को अपनाकर झूठमूठ त्याग का नाटक खेलते रहते हैं। ये लोग चाहे तो विषयों से दूर रहें, या उनमें रहकर 'साधन' करें। दोनों अवस्थाओंमें भोगबंधन में फंसे रहते हैं।

त्याग के लिये दृढता ही 'ब्राह्मी स्थिति' है। जिस स्थिति से विचलित होना असंभव है, उसे 'ब्राह्मी' अर्थात् 'सर्वश्रेष्ठ स्थिति' कहना उचित है। यह 'ब्राह्मी स्थिति' किसी 'त्याग' नाम के 'साधन' से उत्पन्न नहीं होती। यह 'अहैतुक' है। यह 'ब्राह्मी स्थिति' ही 'त्याग' की स्वाभाविक जननी है। 'ब्राह्मी स्थिति' माता है, और 'त्याग' उसका स्तन्यपायी बालक है। ब्राह्मी स्थिति त्याग की पुत्री नहीं है। जो मनुष्य दृढ होना नहीं जानते, वे ही साधनप्रेमी, पतनपक्षपाती या सिद्धि से बचते फिरने-वाले भीरु बन जाते हैं। जिस 'साधन' के साथ 'ब्राह्मी स्थिति' रूपी दृढता नहीं है, जान लो कि वह आत्मवंचनके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। 'दृढता' हो तो उसे 'साधन' न कहकर 'सिद्धि' के नाम से कहना चाहिये। साधनों का सहारा लेना ही 'अदृढता' है।

जो मनुष्य परमार्थको भी पाना चाहता है, और भौतिक वस्तुओं या क्रियाओं का आश्रय भी लेता है, वह अस्थिर पदार्थों का अवलम्बन कर रहा है, और अस्थिरता को अपना रहा है। त्याग की दृढता ही 'स्थिरता' या 'ब्राह्मी-स्थिति' है। किसी अप्राप्त पदार्थ को पाने के लिये उसी के पीछे अनवरत पड जाना 'भोगासक्ति' 'अस्थिरता' 'अदृढता' या 'साधनों की प्रीति' है। साधन करनेवाले लोग सदा सिद्धिसे वंचित रहते हैं। जिसके जीवन में 'उत्थान' और 'पतन', 'त्याग' और 'भोग' दोनों साथ साथ दीखते हों, और जो उस 'त्याग'को 'साधन' का नाम देकर, त्यागी होने का संतोष भोगता हो, उसका त्याग 'त्याग' नहीं है। वह 'त्याग' 'भोग की' प्रतीक्षा का रूपांतर है। जहां 'त्याग'में दृढता नहीं है, वहां 'भोग' में दृढ आसक्ति है। 'त्याग की अदृढता' और 'भोग की दृढ आसक्ति'को ही 'भौतिक उद्यम' या 'साधन' कहा जाता है। यह मानसिक अवस्था, अपने को 'साधक' समझनेवाले लोगोंको सदा लक्ष्यहीन, क्लांत, श्रान्त, उद्भ्रान्त, और मरुजलपिपासु बनाये रहती है। बात यह है कि विषयों से भौतिक वियोग कर लेना 'त्याग' नहीं है। इस प्रकार के 'त्याग' समझे हुए साधनों से किसी को 'दृढता' रूपी 'ब्राह्मी स्थिति' प्राप्त नहीं हो सकती। दृढ होने से ही दृढता आती है। 'दृढता' ही 'दृढता' का साधन है। दृढ हो जाना ही 'त्याग' रूपी

'ब्राह्मी स्थिति' है।

बहुत से लोग समझते हैं कि हम 'त्याग' करके 'दृढ' हो जायंगे। परन्तु उनका ऐसा समझना भ्रांति है। क्योंकि 'त्याग' करके 'दृढ' नहीं हुआ जाता। प्रत्युत 'दृढ' होने से 'त्याग' होता है। पहले 'दृढता' होती है, पीछेसे 'त्याग' होता है। 'दृढता' से पहले 'त्याग' हो सकना असंभव है। 'दृढता' 'मानसिक' स्थिति है। 'बाह्य त्याग' 'दृढता' नहीं है। 'बाह्य त्याग' भौतिक स्थिति है। भौतिक स्थिति को दूसरे शब्दों में भौतिक पदार्थोंके साथ बद्ध रहना कहा जाता है। 'सच्चा त्याग' 'आत्मिक स्थितिरूपी' 'दृढता' का स्वाभाविक परिणाम या व्यक्त रूप है।

जो मनुष्य 'साधन' का सहाय लेता है, वह नमक त्याग कर मीठा खानेवालों के समान, विषयसुख के बदले में किसी वस्तु या क्रियाको अपना रहा है, और वह उससे अपने को विषय बन्धन से मुक्त समझने के धोके में फंस गया है। निश्चय ही यह उसकी समझ की भूल है। विषयसुख के क्षेत्र में विषय जैसी दूसरी मीठी वस्तु नहीं हैं। संसार की कोई क्रिया विषय का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकती। जो किन्हीं क्रियाओंसे विषय सुख की मांग को हटाना चाहते हैं, उन्हें विषयासक्ति का दास रहना पडता है। उन्हें उस क्रियाको त्यागना पडता है, और विषयसुख को अपनाना पडता है। संसार में विषयसुख का स्थान लेने का साहस करनेवाला विषय नहीं है। इस प्रकार के व्यर्थ प्रयत्नों का यही परिणाम निकलता है कि मनुष्य विषयसुख का प्रतिनिधि ढूंढना त्याग देता है और अन्त में वह बिचारा 'साधक' अपनेको सदाके लिए विषयोंके बन्धन में बंधा हुआ पाता है। वस्तुतः 'साधक' बडा दुःखी प्राणी है। 'साधक' और 'दुःखिया' दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। 'सिद्धि' नाम की स्थिति न मिलने से जो दुःख उत्पन्न होते हैं, उन्हें हटानावाले प्रयत्नोंमें लगा रहना ही 'साधन' कहा जाता है। 'साधक' का विषय त्याग दुःखमयी स्थिति है। यदि उसका यह विषयत्याग दुःख न हो, और सुख दुःखातीत आनन्द का रूप धारण कर चुका हो, तो इस आनन्द के अधिकारी को 'साधक' न कहकर 'सिद्ध' कहना उचित और स्वाभाविक है।

विषयों से वंचित रहना ही 'साधन' करना है। ऐसे 'साधन' को दुःखसे भिन्न कुछ नहीं कहा जा सकता। भोग्य पदार्थों से 'शारीरिक वियोग' करके किसी भोग के अयोग्य स्थूल पदार्थ का आश्रय कर लेना 'साधन' कहा जाता है। 'साधक' लोग जिन अभोग्य पदार्थों का आश्रय लेते हैं, वे अभोग्य पदार्थ, यद्यपि उन के मन के प्रार्थित पदार्थ नहीं होते, तथापि उनके प्रतिनिधि या विनिमयरूप तो होते ही हैं। यदि कोई साधन पक्षपाती यह कहता हो कि हमें इस प्रकार से भोग त्याग करके और इस प्रकार से अभोग्य पदार्थों को ग्रहण करके 'साधन' नाम के आचरणसे आनंद आता है, तो वह इस बात को अस्वीकार नहीं कर सकता कि उस 'साधन' के साथ साथ 'सिद्धि' नामके अभिलषित सुख न मिलने का दुःख भी तो रहता है। तब उसे इस प्रश्न से निरुत्तर होना पडेगा कि बताओ (१) 'साधन का आनन्द' और (२) 'सिद्धि न मिलने का दुःख' ये दोनों बातें एक मन में कैसे रह सकती हैं।

कुछ लोग इस सम्बन्ध में भूल से यह भी समझते हैं कि 'सिद्धि' या 'मोक्ष' की आशासे 'साधन' नामक 'दुःख को सहन करना, इस प्रकार आनन्द की अवस्था बन जाती है, जैसे मातायें पुत्रसुखदर्शनेच्छासे प्रसववेदना को सहती हैं। यदि इस दृष्टांत के अनुसार 'साधन' नाम के दुःखों को सहना, आनन्द की बात मानी जाती हो, तो जैसे प्रसववेदना गर्भपात होनेपर दुःख ही दुःख रह जाता है, इसी प्रकार जब 'साधन' की व्यर्थता प्रतीत हो जायगी, तब विषयत्याग भी वैसा ही दुःखदायी क्यों नहीं प्रतीत होने लगेगा? सो बताना चाहिये।

स्पष्ट बात यही है कि जो मनुष्य किसी भविष्यत् मोक्ष के मिलने की आशा से वर्तमान में 'साधन' नाम का दुःख उठा रहा है, उसके मन में अवश्य ही यह गुप्त इच्छा है कि यदि कभी मुझे, उस अप्राप्त मोक्ष की प्राप्ति असंभव दीखेगी, तो मैं उस 'साधन' को त्याग कर, फिर उसी 'विषयभोग' को अपना लूंगा। सारांश यही है कि मन को किसी अज्ञात, अप्राप्त और अनिश्चित मोक्षका लोभ दिखाकर उसको 'साधन' में (अर्थात् भोग के प्रतिनिधि किसी नकली भोग में) आसक्त करने के लिये बहकाकर, किसी प्रकार भी विषयभोग से वंचित रख सकना संभव नहीं है। वस्तुस्थिति यह है कि संसार में 'साधन' नाम की ऐसी

कोई ऐसी अवस्था नहीं है, जिसे भोगबंधनसे ऊंचा स्थान दिया जा सकता है ।

इस पर और भी स्पष्ट रूपसे विचार किया जाना चाहिए कि, क्या 'साधक'के लिये 'भोग' दुःख है? अथवा 'भोगका परिणाम' दुःखदायी है ? यदि यह माना जाता हो, कि क्योंकि 'भोगका परिणाम' दुःखदायी है । इसलिए 'भोग' त्याज्य है, तो इसके साथ ही यह भी मानना पडेगा कि 'भोग' और 'भोगका परिणाम' इन दोनोंमें परस्पर विरोधी सम्बन्ध है । जब मनुष्य 'भोग'कर चुकता है, तब ही उस का परिणाम आ सकता है। 'भोग' तो निश्चित रूपमें 'दुःख' नहीं है । यदि 'भोग' ही दुःख हो,तो संसारका कोई मनुष्य, भोगों को न भोगे, और वे भोग सदा सब के लिये त्याज्य बन जांय । यदि 'भोग' दुःख हों, तो भोग का परिणाम आने का अवसर ही मनुष्य के पास न आये । क्योंकि 'भोग' पहले होता है, और परिणाम उसके पीछे आता है। किसी भी मनुष्य को 'भोग' से प्रथम उसका परिणाम दीख सकना असंभव है । यदि परिणाम देखकर 'भोग' त्यागने का प्रश्न उठता हो, तो निःसंदेह कहना होगा कि 'भोग' दुःख नहीं है, किन्तु वह सुख है । जहां परिणामके डर के मारे भोगों को त्यागा जाता हो, और भोगाकांक्षा-रूपी अग्नि को कैदखाने के कैदी के समान, त्यागके बंधनों में जकडकर रक्खा जाता हो, तो निश्चित जानो कि ऐसा अस्वाभाविक प्रयत्न कदापि असफल हुए बिना नहीं रहेगा ।

इस प्रकारके असफल प्रयत्न ही 'साधन' नाम पाते हैं ।

जिस दिन इस भोगाकांक्षा नाम के बन्दी में और इस बन्दी को बांधनेवाले 'त्याग' की श्रृंखलामें लडाई छिडेगी, उस दिन 'त्याग' की स्थिरता (या सफलता) इसी 'बन्दी' की स्वीकृति पर निर्भर हो जायगी । जिस क्षण इस भोगाकांक्षा नाम के 'बन्दी' की स्वीकृति हट जायगी, उसी क्षण 'त्याग' को हट जाना पडेगा और उसे भोग को अवसर देना पडेगा । क्योंकि मनुष्य की 'भोगाकांक्षा' ने अपने को अपनी ही इच्छा से 'त्याग' नाम की रस्सी से लपेट लिया था । वह 'त्याग' पूर्ण रूपसे 'भोगाकांक्षा' की स्वीकृतिपर ही निर्भर रहनेवाला है । वस्तुतः यह त्याग 'त्याग' नाम के पाने के योग्य नहीं है । जब तक मनुष्य को 'भोगाकांक्षा' और 'त्याग' के इस झगडे में, त्यागबन्धन में रहना सुखदायी प्रतीत होता रहेगा, तब तक तो 'त्याग' की विजय दीखेगी, परन्तु जब 'भोगाकांक्षा' सुखदायी प्रतीत होने लगेगी तब निश्चित रूप से उसी की विजय होगी । तब 'भोग' का मिठास 'त्याग' के कडवेपन को पराभूत कर डालेगा, और उसके बन्धन को ढीला कर डालेगा ।

जो लोग ज्ञानियों की मानसिक अनासक्त स्थिति को न अपनाकर, उन के आचरणों की सूची बनाकर, उसका अनुकरण करके ज्ञानी बनने की चेष्टा करते हैं। वे 'साधक' कहाते हैं । 'नकली ज्ञानी' शब्द से 'साधक' शब्द का पूरा अनुवाद हो जाता है । ज्ञानियों के आचरणोंकी नकल करना ही 'साधकों' का एकमात्र काम है । परंतु अज्ञानी लोग ज्ञानियोंके आचरणोंका अनुकरण तबतक ही करते हैं, जब तक उनकी भोगाकांक्षा उन्हें वैसा करने की आज्ञा देती रहती है । ज्ञानी पुरुष अनाकृष्ट रहकर सदा सर्वत्र स्वस्थ रहता है । अज्ञानी 'साधक' विषयों के पास से भागकर 'स्वस्थता' को कमाता है । अज्ञानी के सामने जब कोई मोहक पदार्थ आता है, तब वह अपने को उससे अनाकृष्ट रहने में असमर्थ पाता है, और उस स्थान को त्याग कर चला जाता है । उसके इस भागने से उसकी मानसिक निर्बलता प्रकट होती है । जिस मार्ग में या जिस स्थानपर मोहक पदार्थ मिलने की सम्भावना हो और उधर जाना कर्तव्य हो, तो 'ज्ञानी' उधर अवश्य जायगा। परन्तु अज्ञानी पुरुष उस मार्ग में जाना इसलिये त्याग देगा कि उधर मोहक पदार्थ मिलेंगे । अज्ञानीके इस त्याग में उसकी आसक्ति छिपी हुई है । ज्ञानी के वहां से न भागने की मनोवृत्ति ही उसकी अनासक्ति का परिचय दे रही है । यदि अज्ञानीके पास भी यही अनासक्ति आ जाय । तो वह 'ज्ञानी' बन जाय और फिर वह देखे कि उसे भागने की आवश्यकता भाग चुकी है ।

इस प्रकार भागते रहने की भी एक अवधि होती है, वह कहीं जाकर समाप्त हो जाती है । अनुकरण आठों पहर नहीं किया जा सकता । क्योंकि अनुकरण में स्वभाव का विरोध करना पडता है । जबतक भोगाकांक्षा की आज्ञा और अनुमति रहे, तबतक ही अनुकरण किया जा सकता है । मनुष्य झूठे वैराग्य की आज्ञासे कुछ समय तक विषयों से

वंचित रह सकता है। जिस समय भोगाकांक्षा अपनी आज्ञा को रोक लेगी, तब विषयों से भागने की मनोवृत्ति को भी भाग जाना पडेगा। इसलिये ज्ञानी न बनकर, अपने को केवल अनुकरण करने में सीमित रखना, कोई ऊंची स्थिति नहीं है। यह भोगबंधन की ही स्थिति है।

भोग के परिणाम के रूप में आनेवाला झूठा 'मन्द वैराग्य' ही अज्ञानी लोगों को कुछ समय के लिये 'साधक' बनाता है। अधिक मीठा खाने के अनन्तर मीठे में क्षणिक वैराग्य हो जाता है, परन्तु यह 'मिष्ट वैराग्य' 'लवणराग' का रूप धारण कर लेता है। जब वह लवणरस जिह्वा के मिष्ट वैराग्य को नष्ट कर डालता है, तब फिर मीठे की आसक्ति प्रकट हो जाती है, और उस मिष्टत्यागी को मीठा खाने में प्रवृत्त करके छोडती है। ठीक यही अवस्था 'साधकों' की होती है। इन सब लोगों को कुछ काल बीतने के अनन्तर, भोगाकांक्षा की अबाध लीलाभूमि बन जाना पडता है और साथ ही अनुकरणमार्गी 'साधकभाव' को भी तिलांजली दे देनी पडती है।

'साधकों'के जीवन में 'उत्थान' और 'पतन' की दोनों स्थिति देखने में आती हैं। 'उत्थान' और 'पतन' दोनों का होना यह सिद्ध करता है कि 'पतन' को प्रिय माना गया है और 'उत्थान' की स्थिति को सचाई से नहीं अपनाया गया है। साधकों के 'उत्थान' और 'पतन' मीठे और नमक के परिवर्तन के समान है। मनुष्य में 'उत्थान' और 'पतन' दोनों हों, तो वास्तविक अनासक्त-स्थिति का आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता। यही 'साधकों' की मनोदशा का स्पष्ट चित्र है। परन्तु संसार में 'हम धीरे धीरे बढ रहे हैं, हम उन्नति कर रहे हैं,' इस प्रकार का मिथ्या सन्तोष भोगने वाले 'साधक' अधिकता से पाये जाते हैं। ये लोग इस 'धीरे धीरे' शब्द के माधुर्य में फंसकर अपने को सदा लक्ष्य से दूर रखते हैं।

प्रश्न होता है, कि क्या फिर मनुष्यके मनमें 'त्याग' का विजय असम्भव है ? इसका उत्तर देने से प्रथम, मनुष्यके मन का परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक है। मनुष्य चाहे तो भोग करे, या भोग करना त्याग दे। वह 'भोग' या 'त्याग' दोनों में से एक को अपनाने के लिये स्वतन्त्र है। मनुष्य की इस प्रकार की 'स्वतन्त्रता' ही 'मनुष्य-मन का स्वरूप' है। जो मनुष्य भोग करने की अवस्था को अपनाता है, उसकी इस स्वतन्त्रता का उपयोग अज्ञानरूपी सुखदुःख के बंधन (या आत्यंतिक दुःख) को पानेमें होता है। जब मनुष्य की 'भोग-त्याग की स्वतन्त्रता' काम में नहीं आती, तब इस अनुपयुक्त (उपयोगमें न आ सकने वाली) 'स्वतन्त्रता' का ही 'दुःख' बन जाता है। जब मनुष्य 'भोग-त्याग' की अवस्था को अपनालेता है, तब उसकी 'स्वतन्त्रता' उसको 'ब्राह्मी स्थिति' या 'सुखदुःखातीत ब्रह्मानन्द' का दान करती रहती है।

यह 'मानसिक स्वतन्त्रता' केवल मनुष्यों में ही पायी जाती है। मानवहृदयही 'ब्राह्मी स्थिति' के प्रकट होने का स्वाभाविक क्षेत्र है। भोगबंधन को त्याग देनेवाली स्वतन्त्रता ही 'ब्राह्मी स्थिति' है। जब मनुष्य इस 'ब्राह्मी स्थिति' को स्वेच्छा से ठुकराता है और इंद्रिय-परतन्त्रता नामके भोगबंधन को स्वीकार करता है, तब उसीको 'अज्ञान' 'दुःख' 'सुखेच्छा' या 'काम' कहा जाता है।

मनुष्य के पास केवल 'भोगत्याग' का ही एक महत्त्वपूर्ण अधिकार है। यह अधिकार मनुष्येतर प्राणियों के पास नहीं है। जिसने इस अधिकार को अपनाया है, वही 'आत्मद्रष्टा' 'मुनि' 'समाधिस्थ' 'स्थितप्रज्ञ' या 'ब्रह्मज्ञानी' है। उसके पाससे इंद्रियों से विषयभोग करने की विवशता नाम की स्थिति सर्वथा लुप्त हो जाती है। जो इस अधिकार को नहीं अपनाता और अपने को इंद्रियों से विषयभोग करने के लिये विवशमान रहा है, निश्चय जानो कि वह अपने को मनुष्य रखना नहीं चाहता। किंतु 'पशु' बनाना चाहता है। भोग 'पशुता है'। 'भोगत्याग 'मनुष्यता' है।

परन्तु इंद्रियों से विषयभोग करनेवाला मनुष्य, अपने को 'पशु' बनाना चाहनेपर भी, पशुओं की स्थिति को नहीं अपना सकता। कारण यह है कि पशु स्वभाव से ही भोगी है। पशुको भोगके समय कोई दुःख नहीं होता। परन्तु मनुष्य का स्वभाव भोगी नहीं है। मनुष्य सदा दुःख के बंधन में फंसा रहकर ही भोग करता है। वह भोग भोगने के समय भी दुःखी रहता है। अर्थात् तब भी अतृप्ति से सताया जाता रहता है। वह भोग के समय भी भोगनाश के दुःख से विकंपित रहता है। पशु के

पास निश्चिन्त होकर भोग करने की स्थिति है। इस स्थिति को मनुष्य कभी नहीं पा सकता। क्योंकि मनुष्य महान् उद्देश्य को लेकर आया है। वह इस पृथिवीतलपर भोग से स्वतन्त्र रहने का दिव्य अधिकार लेकर अवतीर्ण हुआ है। जब मनुष्य अपने इस अधिकार को काम में नहीं लाता, तब वह अधिकार ही उसके मन में कांटा बनकर बैठ जाता है, और भोगी मनुष्य को मानसिक दुःख पहुंचाता रहता है। जो मनुष्य भोग में प्रवृत्त होकर पशुता को अपनाता है, तब वह पशुता को भी पूर्णरूप से नहीं अपना पाता, क्योंकि उसका स्वभाव उसकी कृत्रिम पशुता की अवस्था पर चोट करता रहता है। जब पशु बनने का असंभव प्रयत्न करनेवाला मनुष्य भोगी बना रहना चाहता है, तब वह अपने को भोग के लिये विवश (अर्थात् ब्राह्मी स्थिति का अनधिकारी) मान लेता है। वस्तुस्थिति यही है कि भोगावस्था मनुष्य की स्वाभाविक अवस्था नहीं है।

विवेकशील मनुष्य 'भोगत्याग' को ही निर्विकार अप्रभावित अमृतमयी 'ब्राह्मी स्थिति' मानता है। वह 'त्याग' को बंधनरज्जु या भोगोंकी रुकावटके रूपमें नहीं देखता। वह 'भोगत्याग'को परम भोग्य, परम उपादेय, परम उल्लासमयी अवस्था मानता है, और उसकी ओर आकृष्ट होकर, उसपर अपना एकाधिपत्य जमा लेता है। विवेकी पुरुष के लिये 'त्याग को त्यागना' ही दुःखदायी हो जाता है। 'सच्चा त्याग' हो तो वह भोग को ही दुःखदायी बताने लगता है। 'सच्चा त्याग' मनुष्यके सामने भोगाकांक्षा को घृण्य, निकृष्ट तथा त्याज्यरूप में रखता है। जब किसी मनुष्यके मन की यह अवस्था हो जाय तब उसीको 'ज्ञान' या 'ब्राह्मी स्थिति' कहना चाहिये।

जिस हृदय में इंद्रियातीत आनन्द बस जाता है, वह सदा विषयसुख को सुखदुःखरूपी बन्धनके रूप में देखता है, और उसे सुखदायी मानने की भूल कभी नहीं करता। जबतक विषय में सुख समझा जाता है, तबतक इन्द्रियातीत आनन्द निश्चितरूप से अप्राप्त रहता है। जबतक मनुष्य विषय में सुख समझता रहता है, यदि वह तबतक त्याग कर भी दे तो भी वह त्याग से सच्चे त्याग का आनन्द न पाकर विषयत्याग का दुःखही दुःख भोगता है। क्योंकि भोगी मनुष्य यही समझकर भोग करता है, कि विषय में कोई दुःख नहीं है। परन्तु जब भोगी मनुष्य भोग के परिणाम को अपनी अभिलाषा के अनुसार नहीं पाता, तब उस परिणाम से द्वेष करता है। भोगी भोग से द्वेष करे, यह कभी सम्भव नहीं है। 'परिणाम द्वेष' को 'भोगद्वेष' मानना भूल है। इस प्रकार के अवांछित परिणामों से बचने के प्रयत्न करना ही 'साधन' कहाता है और ऐसे प्रयत्न करने वाले 'साधक' कहे जाते हैं।

इस प्रकार का 'साधन' निश्चय ही अज्ञान की स्थिति है। कारण यह है कि भोगी पुरुष 'संयम' को अन्ततक नहीं निभा सकता। भोगी तीन काल में भी संयमी नहीं हो सकता। संयम केवल ज्ञानी कर सकता है। वह इसलिए कह सकता है कि 'संयम' करना उसका स्वभाव है। ज्ञानी का संयम किसी प्रयत्न का फल नहीं है। 'संयम' ज्ञानी का अत्याज्य स्वभाव है। 'ज्ञानी का संयम' क्रियासाध्य नहीं है।

प्रश्न हो सकता है, कि यदि ज्ञानी का 'संयम' उसका स्वभाव है, तो क्या ज्ञानी की इन्द्रियां निस्तेज या मृत हैं? यदि ज्ञानी की इन्द्रियां जीवित हैं, तो उसके लिए बिना किसी प्रयत्न के रूपरस आदि की आसक्ति को त्याग देना किस प्रकार सम्भव है? क्योंकि जहां कहीं स्वभाव का विरोध करना पड़ता है, वहीं प्रयत्न का जन्म हो जाता है। जब कि इन्द्रियों का स्वभाव ही रूपरस आदि में आकृष्ट होनेका है, तब ज्ञानी पुरुष कुछ प्रयत्न किए बिना, इन्द्रियों के इस स्वभाव का विरोध किस प्रकार कर सकता है? इस प्रश्न का उत्तर यही है, कि ज्ञानी का विषयत्याग का स्वभाव, उसके मन में इन्द्रियोंके जीवित होनेसे ही त्याग के रूप में प्रकट होता है। यदि ज्ञानी की इन्द्रियां सजीव अवस्था में न हों, तो उसका हृदय, त्याग नामकी मधुर अवस्था के उत्पन्न होने का अवसर कैसे पा सके? त्याग की स्वतन्त्रता ही ज्ञानी के ज्ञान का स्वरूप है। अपने को निरुपाय पाकर त्याग देना 'त्याग' नहीं है। समर्थ रहकर त्यागना ही 'त्याग' है। निरुपाय होकर त्यागने वाले को त्याग का आनन्द इस प्रकार नहीं मिलता, जिस प्रकार कोई मनुष्य किसीके घर जाकर, उससे छीनकर कुछ खा ले, तो गृहस्वामी को अतिथिसत्कार का आनन्द प्राप्त नहीं होता।

ज्ञानी के आनन्द का स्वरूप यही है, कि वह अपने स्वभाव के अनुसार, अपनी जीवित (भोगसमर्थ) इन्द्रियों को, सदा 'त्याग' के ही उपयोग में लाता रहता है।

विषयभक्त संसार भूल से ऐसा मानता है, कि इन्द्रियों को सब समय विषयभोग देते रहना ही 'सुख' की अवस्था है। इसे मनुष्य की भूल इसी लिये कहते हैं कि मनुष्य के व्यावहारिक जीवन में मनुष्य के सामने इस सिद्धान्त का उल्लंघन करनेके अनेक अवसर आते रहते हैं। ऐसा देखा जाता है, कि कभी कभी मनुष्य को अपनी इन्द्रियों भोग न देनेको ही सुखदायी माननेके लिए विवश होना पडता है। उदाहरण के रूप में यदि किसी मनुष्यको अपमानित करके स्वादु भोजन कराना चाहा जाता हो, तो वह मनुष्य, उस इंद्रियतृप्तिदायक भोजनको अस्वीकार कर देता है और आत्मसंमान या स्वाभिमानको इंद्रियतृप्ति से ऊंचा पद देता है। मनुष्यों में पायी जानेवाली यह स्वाभिमानमयी प्रवृत्ति सिद्ध करती है, कि मनुष्य की विवेकबुद्धि को, इंद्रियों को विषय भोग कराने को सुखदायी मानने के सिद्धान्त पर कोई विश्वास नहीं है।

ऊपर दिया हुआ उदाहरण स्पष्ट बता रहा है, कि 'विषयत्याग' ही मनुष्य को 'सुख' देनेवाली स्थिति है। जब कभी सच्चे मनुष्योंके सामने मानसिक स्वतन्त्रताको सुरक्षित रखने का प्रश्न आता है, तबही उन्हें इन्द्रियोंके भोगोंको स्वेच्छासे त्यागता हुआ पाया जाता है। ऐसे स्वेच्छा-त्याग यह सिद्ध करते हैं, कि मनुष्य के सुखदुःख की स्वीकृतिका आधार, उनकी इन्द्रियोंके अधिकारमें नहीं है। जिस आधार से मनुष्य अपने सुखदुःख का निर्णय करता है, वह आधार मनुष्यके मनके अधिकारमें है। यही कारण है, कि सच्चे मनुष्य अपने आत्मस्वातन्त्र्य को खोकर, एक तिनका भी उठाना सिद्धान्तविरुद्ध समझते हैं और जहां स्वाभिमान भंग होनेकी सम्भावना देखते हैं, वहां किसी को तिनका भी उठाकर नहीं देते। बताइये कि मनुष्य को ऐसी अस्वीकृति के लिये कौनसा प्रयत्न करने की आवश्यकता है? क्या मनुष्य स्वभावसे ही ऐसी अस्वीकृति नहीं कर देता? इस उदाहरण से यह सिद्ध होता है, कि जब कामक्रोध आदि रिपु, ज्ञानीपर अपना प्रभाव डालना चाहते हैं, तब ज्ञानी अपने को स्वभावसे ही इन रिपुओंके प्रभावसे अतीत पाता है, और इन्द्रियाधीन होने को 'आत्महत्या' मानता है। ज्ञानीका इन्द्रियातीत अनासक्त स्थितिमें दृढता दिखाना, प्रयत्नसाध्य बात नहीं हैं। किन्तु यह ज्ञानी की, अपमानकारी स्थानमें स्वाभिमानी मनुष्य के भोजनत्यागकीसी, स्वभावसुलभ स्थिति है। विषय-भोगों को त्याग देने वाली इस स्वभावसुलभ स्थितिको ही 'ब्राह्मी स्थिति' कहा जाता है।

जो मनुष्य इस 'ब्राह्मी स्थिति' को पानेके लिये साधनों का नाम लेता है, वह भ्रान्ति में है। जिस प्रकार प्रकाश के लिये अन्धकार को 'साधन' मानना भ्रान्ति है, इसी प्रकार 'ब्राह्मी स्थिति' के लिये साधनों का आश्रय करनेकी बात भी मूढ भ्रान्ति है। अन्धकार का दूर हो जाना, सूर्योदय का कारण नहीं है। किन्तु सूर्योदय ही अन्धकार के नाश का कारण है। इसी प्रकार अज्ञान का हटना ज्ञानोदय का कारण नहीं है। किन्तु ज्ञानोदय हो जाना ही अन्धकार के नाश का कारण है। अज्ञान का न रहना ज्ञान होनेसे पृथक् स्थिति नहीं है। ज्ञान का होना ही अज्ञान का न रहना है। सूर्य की अनुपस्थिति ही 'अंधकार' है। जिस प्रकार सूर्य की अनुपस्थितिके अतिरिक्त अंधकार नाम की स्वतन्त्र वस्तु नहीं है, इसी प्रकार ज्ञान की अनुपस्थितिसे भिन्न अज्ञान का कोई स्वतन्त्र रूप नहीं है। क्योंकि ज्ञानकी अनुपस्थिति ही 'अज्ञान' है, इस लिये अज्ञान को हटाने के लिये केवल ज्ञान का उपस्थित हो जाना ही चाहा जा सकता है, 'साधन' आदि नहीं। इस 'अज्ञान' को नष्ट करने के लिये ज्ञान से भिन्न जो 'साधन' नाम की कार्यवाही की जायगी, वह सब अज्ञान का रूपान्तर होगा।

'अज्ञान' और 'ज्ञान' के बीचमें जो 'साधन' नाम की सीडी की कल्पना की जाती है, वह अज्ञानका ही खेल है। मनुष्य इस अज्ञान नाम की अंधेरी कोठरीमें बैठकर जो कुछ करेगा वह अंधेपन के अतिरिक्त और कुछ नहीं होगा।

'ब्राह्मी स्थिति'को दृढ करनेके लिये साधनोंके उपयोगकी बात भी बहुधा सुनी जाती है। वह भी भ्रान्ति है। 'ब्राह्मी स्थिति' वह स्थिति है, जिसमें 'दृढता' 'अदृढता' का कोई अवसर नहीं है। 'ब्राह्मी स्थिति' की प्राप्ति में 'धीरे धीरे परिपक्वता' उत्पन्न करने का कहीं अवसर नहीं है। प्राप्त

हुई 'ब्राह्मी स्थिति' स्वयं ही 'परिपक्व' होती है। न पायी हुई 'ब्राह्मी स्थिति' को 'अज्ञान' से भिन्न कुछ भी नाम दिया जा सकना असम्भव है। 'ब्राह्मी स्थिति' को किसी 'काल' से छठा प्राप्त नहीं होती। क्योंकि 'ब्राह्मी स्थिति' कालातीत स्थिति है। जो मनुष्य 'ब्राह्मी स्थिति' रूपी स्वर्ग के लिये 'साधन संपत्ति' नाम की सीढी बनाना चाहता है, वह 'ब्राह्मी स्थिति' के सम्बन्ध में मनुष्यों में अज्ञान का प्रचार करता है। 'ब्राह्मी स्थिति' किसी अट्टालिकाके समान स्थिति नहीं है, जिस के लिये सीढी की आवश्यकता स्वीकार की जा सकती हो। सीढी का काम अट्टालिका और भूमि का परस्पर सम्बन्ध जोड देना है। छत पर चढने वाला पुरुष छत नामवाले भूमि के ही दूसरे रूप पर पहुंच जाता है। नीचे की भूमि के साथ 'छत' का ऐसा बध्यघातक सम्बन्ध नहीं है, जैसा 'अज्ञान' और ज्ञानका है। 'अज्ञान' और 'ज्ञान' दोनों परस्पर पूर्ण विरोधी हैं। जैसे छत पर चढने के लिये कूप में कूद पडना मूर्खता है, इसी प्रकार 'ज्ञानी' बनने के लिये 'साधन' करने लगने में उलझ जाना भी मूर्खता है। 'ज्ञानी' बनने के लिये ज्ञानविरोधी साधनों का (अर्थात् अज्ञान नाम की सीढी का) आश्रय करना बुद्धिहीनता है।

जब कि इन्द्रियार्थ को आश्रय करके ही शरीर जीवित रहता है, नहीं तो नहीं; तब जीते हुए ब्राह्मी स्थितियुक्त भोगत्यागी ज्ञानी पुरुष की इंद्रियां कहां विश्राम करती हैं? यह प्रश्न स्वभावसे उठता है। अज्ञानी जगत् के पास तो मन को लगाने का स्थान विषयचिंता है। क्योंकि उसका मन इंद्रियों के अधीन है, इसलिये वह इंद्रियाधीनता से मुक्त रहने की कल्पना नहीं कर सकता। इंद्रियों के पास केवल विषयनिर्भर रहने का स्वभाव है। परन्तु इंद्रियां स्वयं न तो विषय ग्रहण कर सकती हैं, और न विषयभोग करने में समर्थ हैं। मन इंद्रियानुगामी हो तब ही वह विषयान्वेषण करता है, और विषयों में रमता है। परन्तु जिसका मन ब्राह्मी स्थिति का मनन करनेवाला बन चुकता है, उसके पास विषय ढूंढने नाम की क्रिया नहीं रहती। ब्राह्मी स्थितिवाला पुरुष अपनी इंद्रियों को विषयान्वेषण के काम में नहीं लगा सकता। उसकी इन्द्रियों का केवल यही काम हो जाता है, कि अपने पास अकस्मात् आनेवाले विषयों को, त्याग तथा भोग के बन्धन से अतीत रहने वाले स्वभावत्यागी स्वतंत्र मन के सामने उपस्थित कर दें और उन (विषयों) को उपेक्षित कराती रहें। ब्राह्मी स्थिति में रहनेवाले मनको विषयत्यागका आनन्द देते रहना ही ज्ञानी की इन्द्रियोंका उपयोग है। ज्ञानी की इन्द्रियां भोग का साधन नहीं होती। वे ब्रह्मानन्दका साधन बन जाती हैं।

ज्ञानी पुरुष आठों पहर इस संसार के सम्पूर्ण विषयों को अपनी ज्ञानाग्नि में आहुति देकर ज्ञानानन्द की महिमा का कीर्तन, श्रवण, सत्संग, सद्ग्रन्थ सेवा आदि में मग्न रहकर अमृतमय जीवन बिताता रहता है। 'ज्ञानानन्द' ऐसी वस्तु नहीं है, कि जिसे भविष्यत् के लिये स्थगित या संचित किया जा सकता हो। 'ज्ञानानन्द' ऐसी वस्तु नहीं है, जिसे रुग्ण या मुमूर्षु देह में परीक्षणीय वस्तु माना जा सकता हो। 'ज्ञानानन्द' ऐसी वस्तु नहीं है, जिसे रुग्णावस्था में सहनशील बने रहने या मृत्युशय्या में किसी विशेष ध्वनि या किसी विशेष रूप को विस्मृत न होने देने की तय्यारी कहा जा सकता हो। 'ज्ञानानन्द' तो प्रत्येक वर्तमान क्षण में स्वस्थ देह में भोगी जानेवाली पूर्ण निरपेक्ष तथा स्वतन्त्र मानसिक सम्पत्ति है।

ज्ञान के साथ मृत्युशय्यापर अन्तिम श्वास निकलने की पद्धति या शारीरिक व्याधि की यन्त्रणा का अनुभव न होने का कोई विशेष संबंध नहीं है। कोई भी मनुष्य किसी विशेषपद्धति से मरकर ज्ञानी नहीं बन सकता। ज्ञानी बननेका काल केवल जीवित काल है। जीवित रहने की कुशलता ही 'ज्ञान' का नाम पाती है। 'ज्ञान' मृत्यु-कौशल नहीं है। वह जीवन-कौशल है। कोई भी देहधारी देह के जन्ममृत्यु में अपना 'ज्ञान-कौशल' नहीं दिखा सकता। देही के स्वभाव से देहों का निर्माण होता है। देह-स्वभाव अर्थात् 'प्रकृति' के अधीन रहता है। देहधारी का अधिकार केवल इस बात में है, कि वह जीवित देह में वास करते समय विदेह-स्थितिरूपी कौशल दिखाता रहे। अनधिकार तथा अनावश्यक इच्छा न करना ही 'विदेहस्थिति' कहाती है। देही का अधिकार तथा प्रयोजन देह का सदुपयोग करने तक है। देहका सदुपयोग यही है कि अपनी इंद्रियों के वशमें मत आओ और इन्द्रियग्राह्य पदार्थों का त्याग में उपयोग

कर के भोगातीत आनंद को भोगो । 'रोग' और 'मृत्यु' ऐसी स्थिति है, कि इनमें मनुष्य का कर्तृत्व (अर्थात् वश) नहीं है। देह के आरोग्य और न मरने की इच्छा करने का न तो देही को अधिकार है और न ऐसा करने का कोई प्रयोजन है। परन्तु इसके साथ ही जब 'रोग' और 'मृत्यु' की संभवना हो, तब देह की उपेक्षा कर देना भी मनुष्य का कर्तव्य नहीं है। क्योंकि यह 'आत्महत्या' की मनोदशा है। इस मनोदशा का विरोध करने को ही 'देह का सदुपयोग' और 'रोग की चिकित्सा' करना कहा जाता है।

जिसके घर में आग लगी हो, जैसे उसे दूसरे के घरपर दृष्टि डालने का अवसर नहीं मिलता, इसी प्रकार देह के रोगी होने के अवसर पर इंद्रियों को अपने देहरूपी घर में आग सी लगी हुई दीखती है। इंद्रियां देह के रोग के समय देहभोग्य रूप रस आदि विषयों की ओर से स्वभाव से उदासीन हो जाती हैं। उस समय मन का यही स्वधर्म होता है, कि वह इंद्रियों को देह-रक्षा के स्वाभाविक प्रयत्न में सहयोग देता रहे। क्योंकि रोग के समय रूपरस आदि से प्रभावित होने का अवसर नहीं रहता, इसी कारण तब अप्रभावित रहने का प्रश्न भी विलीन हो जाता है। तब मन के सामने देह की उचित प्रार्थना स्वीकार करते हुए, रोग में अप्रभावित तथा अचंचल बने रहने का प्रश्न उपस्थित रहता है। ज्ञानी के ज्ञानानंद में किसी ऐसे सामर्थ्य को मानना भूल है, कि जिस से जीवित देह का धर्म (अर्थात् रोगपीडा) अनुभव करने की शक्ति घटायी जा सके। 'रोगपीडा का समय' ही मन को अचंचल रखने का समय है।

'रोग पीडाका समय' ही मरने या जीवित रहने की अधिकाररहित इच्छा से बचने का समय है। ज्ञानी पुरुष रोग के संबंधमें इतना ही करता है, कि वह देहके रोगका प्रतीकार करनेके उचित अधिकारको स्वीकार करके, उसके अनुकूल जो समयोचित हो वैसा आचरण करता है। ज्ञानी के जीवन में यह आवश्यक नहीं है, कि वह असाधारण सहनशीलता का चमत्कारपूर्ण प्रदर्शन करके दिखाए। अपने जीवन में चोर डाकू हत्यारे तथा व्यभिचारी आदि भी असाधारण सहनशीलता का प्रदर्शन करते हुए पाये जाते हैं। ज्ञानी के पास जो बात सुनिश्चतरूप से होनी चाहिए वह यह है, कि उसे न तो कभी अपने अधिकार से बाहर जानेकी चेष्टा करनी चाहिए और न कभी व्यर्थ इच्छा से अपने मन को चंचल होने देना चाहिये।

(१६) मन की अप्रभावित ईश्वरीय मनोदशा का वर्णन।

जब मनुष्य को, मन की इस अप्रभावित स्थिति नाम के (मनुष्य के स्वरूपभूत) परमात्मा का दर्शन होता है, उस समय संसार के सब पार्थिव सम्बन्ध और आकर्षण-विकर्षण समाप्त हो जाते हैं। मन की अप्रभावित स्थिति का दर्शन होने की अवस्था ही पार्थिव सम्बन्धों या आकर्षण-विकर्षणों का अन्त होने की अवस्था है। ये दोनों एक अवस्था के दो नाम हैं। इसे स्पष्टरूप से समझने के लिए (१) एक तो मन की अप्रभावित अवस्था के स्वरूप को समझना चाहिए और (२) दूसरे, पार्थिव सम्बन्ध में फंसे रहने की या पार्थिव सम्बन्धों में आकृष्ट होने की निर्बल मानसिक अवस्था को भी जान लेना चाहिए। क्योंकि ये दोनों एक दूसरे से सर्वथा विपरीत स्वभाव रखनेवाली अवस्था हैं।

प्रभावित होना आश्चर्य या अपराध की स्थिति नहीं है। वह तो मानव-मन का स्वभाव है। यह सृष्टि रचना का परम कौशल है, कि इस प्रभावित अवस्था के भीतर ही मानव-मन के अप्रभावित बनने की कुशलता नामका धर्म गुप्तरूप में विराजमान है। यह मानव मनमें इस प्रतीक्षा में बैठा रहता है कि मनुष्य मुझे प्रकट होने का अवसर कब देगा? यह मनुष्य जब देह धारण करता है, तब मनुष्यता नाम की उदार स्थितिके पूर्णाधिकारी मानवबालक के रूपमें अविकसित मनोदशा को लेकर संसार में उतरता है। बाल्यावस्था में इसकी मनोदशा का विकास नहीं होता। यह मानवबालक अप्रभावित स्थितिका स्वाभाविक अधिकारी होता है। यह अपने अविकसित मनको लेकर रूपरसादि विषयों को देख देखकर, विकास को अपनी ओर बुलाता रहता है। यह अपने को स्वभाव से रूपरसादि समझे जानेवाले विषयों में अत्याज्यरूप से जुडा हुआ पाता है। परन्तु उसके इस बाल-जीवन में (१) अप्रभावित स्थिति को प्राप्त करके मानव-जीवन को सफल

बनाना, तथा (२) इस स्थिति को अप्राप्त रहने देकर अपने मानव-जीवन को व्यर्थ कर डालना ये दोनों बातें, भविष्य के गर्भ में रहती हैं।

यद्यपि आज मानव बालक विषयों से सम्बन्ध नहीं मानता। परन्तु उसकी यह स्थिति उसका अपरिवर्तनीय स्वभाव नहीं है। समय आनेपर उसकी इस मानसिक स्थिति में परिवर्तन हो जाता है। अप्रभावित स्थिति ही एक ऐसी स्थिति है, जिसमें कभी परिवर्तन नहीं होता। बहुधा मनुष्य अविकसित स्थिति को या विषयों से अपरिचय की स्थिति को, अथवा विषयों से मुठभेड न होने की एकान्त-वासकी स्थिति को अप्रभावित निर्विकार स्थिति समझने की भूल करते हैं। (१) नवजात बालक की निर्मनस्क स्थिति में और (२) पूर्ण विकसित मनुष्य की मानवीय विकारों से पूर्ण परिचित होने की स्थिति में, भारी विभिन्नता है।

इनमें से पहले की आंख बन्द हैं और दूसरे की आंख खुली हुई हैं। आज जिसकी आंख बन्द हैं, कल जब यौवनोन्मेष होगा, और उसे विषय-विकार दिखानेवाली आंख मिलेंगी, तब वह नवीन युवा, आंखों को लुभानेवाले पदार्थों की ओर आकृष्ट होकर उन पदार्थोंका भोगाभिलाषी भी बन सकता है और यदि वह सत्साहस करे तो यह भी कर सकता है, कि जिस क्षण उसकी आंखों को विषय नाम वाले पदार्थ दीखें (अर्थात् जब उसे विषयों का परिचय होना या सूचना मिलनी प्रारम्भ हो), उसी क्षण उन विषयों को अपनेको लुभाने वाली शक्ति देने की भूल न करे; किंतु शक्ति को अपने ही पास रखे और उसका सदुपयोग करे। वह यह करे कि उस समय अपने को निर्लोभ महात्मा बनाए रखने का सत्साहस दिखानेवाला शक्तिमान् बने और अपने मन में प्रतीत होनेवाले विषया-कर्षण (या अपनी भोगपरिचित स्थिति को) त्याग के काममें लाकर अप्रभावित बना रहे।

इन दोनों स्थितियों से भिन्न पत्थरकीसी निर्विकार स्थिति मनुष्य के स्वभाव में कभी नहीं देखी गयी। इस लिए मन की निर्विचार स्थिति को या विषयोंसे अप-रिचयकी स्थिति को महत्त्व देनेमें आध्यात्मिकता का लेश भी नहीं है। यह वृथा परिश्रम है। क्योंकि उस स्थिति को विषयोंसे अप्रभावित सावधान स्थिति नहीं कहा जा सकता। जैसे नवजात मानव-बालक विषयोंसे अपरिचित है, उसी प्रकार काष्ठ या पत्थर की बनी हुई आंख-कान-वाली नरमूर्ति भी विषयोंसे अपरिचित है। इन दोनोंमें से एक को भी अप्रभावित स्थिति वाला नहीं कहा जा सकता। काष्ठ या पत्थर की नरमूर्तिमें जो आंखकान आदि अवयव हैं, वे काष्ठ या पत्थर ही हैं। इनमें विषयों का प्रभाव पकडनेवाली चैतन्यमयी स्थिति नहीं है। नवजात मानव-शिशुकी इन्द्रियोंमें भी अभी तक भोगबुद्धि नाम का चैतन्य विकसित नहीं हुआ। इस कारण उसे भी अप्रभावित स्थितिका अधिकारी नहीं कहा जा सकता।

अप्रभावित स्थिति निर्जीव अवस्था नहीं है। किन्तु जिसमें प्रभावित स्थिति आ गयी है और उसने उसे अपनी 'योगबुद्धि'से निःश्रेयस्कारी रूपान्तर देनेकी कला प्राप्त कर ली है, वही उसकी अप्रभावित स्थिति है। प्रभाव पडे, परन्तु वह उपेक्षित हो, यही 'अप्रभावित स्थिति' है। प्रभाव भी न पडे और अप्रभावित स्थिति भी बन जाय, यह असंभव कल्पना है। अप्रभावित स्थिति के लिए (१) प्रभाव पडना भी आवश्यक है और (२) उसका अस्वीकृत होना भी अत्यावश्यक है। जिसकी वर्तमान अवस्था प्रभावकी प्रतीक्षा कर रही है, या जिसपर कोई प्रभाव पडता ही नहीं, ये दोनों स्थिति 'अप्रभावित स्थिति' नहीं कही जा सकतीं। जो मानसिक स्थिति प्रभाव की आशा या प्रतीक्षा कर रही है, जो दोनोंमें से चाहे जिस मार्गपर जा सकती है, जो अविकसित अवस्थामें है, उसका भावी विकास प्रभावित भी हो सकता है और अप्रभावित भी हो सकता है। प्रभाव न पडनेवाली कपोलकल्पित स्थिति न तो स्वाभाविक अविकसित मनोदशाके भीतर है, और न विकसित मनोदशा के भीतर है।

कुछ आध्यात्मिक समझे हुए संप्रदायोंमें प्रसिद्ध पायी हुई प्रभाव न पडनेवाली स्थिति अमानवीय स्थिति है। परमात्माने मनुष्य को प्रभावहीन स्थितिमें रहने के लिए नहीं बनाया। उसने अपनी सृष्टिमें प्रभावहीन स्थिति के लिए बहुतसे मिट्टी पत्थर बनाए हैं। जैसे उसने मनुष्य को बनाया है, उसी प्रकार उसने भौतिक सृष्टि भी बनायी है। उसने इन दोनों के स्वभाव भी भिन्नभिन्न बनाए हैं।

प्रभावित न होना मानवेतर जड पदार्थोंका स्वभाव है। प्रभावित न होनेवाले इस अमानवीय स्वभाव का मनुष्य में आरोप करना, और फिर इसे अध्यात्मकी महामांगल्यदायिनी अत्युच्च स्थिति मानना, परमात्माकी सृष्टिरचना के मर्मको समझनेमें असमर्थता प्रकट करना है। जैसे सोने का बना हुआ मिट्टीका पात्र नहीं हो सकता, इसी प्रकार किसी वृत्तिरहित (जिसके मनमें कोई वृत्ति न उठती हो) मनुष्य देहधारी अजनबी प्रस्तर मानव का होना असंभव कल्पना है। परमात्मा अमानवीय स्वभाव रखनेवाले लकडी, पत्थर, पशु, कीट, पतंगों की सृष्टि मनुष्यों में नहीं करता। किन्तु मनुष्यों से बाहर करता है। फिर ऐसी अवस्था में किसी भी आध्यात्मिक समझे हुए मनुष्य को, मनुष्येतरों में पाए जानेवाले, प्रभावित न होने नामके स्वभावको मनुष्य में लाने का दूषित आग्रह क्यों होना चाहिए? परमात्मा ऐसा कभी नहीं करता, कि पहले तो किसीको मनुष्यधर्मों से विभूषित करे और फिर उससे मनुष्य-धर्म छीनकर लकडी या पत्थर सा निर्मनस्क बना दे। इस प्रकार का विपरीत क्रम न तो सृष्टिरचना का भाग है, और न ऐसा विपर्यय किसी बुद्धिमान मनुष्य को चाहना चाहिए। मनुष्य में इन्हीं दो स्थितियों का होना संभव है (१) या तो वह रूपरसादि विषयों से प्रभावित होने की स्थिति का प्रतीक्षक होकर बचपन की अविकासित स्थिति में हो, (२) या वह रूपरसादि विषयों से अप्रभावित होने की स्थितिका प्रतीक्षक होकर शैशव की अविकसित स्थिति में हो।

जब मनुष्य की इस अविकसित अवस्था को स्वाभाविक काल या देश आदि अनुकूल साधन मिलते हैं, तब इस अविकसित स्थिति को विकसित हो जाना पडता है और विकसित होकर (१) या तो प्रभावित होना पडता है (२) या उस प्रभाव को व्यर्थ करके अप्रभावित बनना पडता है। इन दोनों स्थितियों में से किसी एक को अपनाना प्रत्येक मनुष्य के लिए अनिवार्य है। अर्थात् मनुष्य प्रभावित अवस्था से परिचित होनेपर ही अप्रभावित हो सकता है। प्रभाव को न पहचानते हुए अप्रभावित अवस्था का उत्पन्न हो सकना, अत्यन्त असंभव है। प्रभाव को अस्वीकार कर देना ही 'अप्रभावित' पना है। प्रभावके बिना 'अप्रभावितपने' का भाव नहीं बनता। क्योंकि प्रभावित अवस्था को व्यर्थ कर देना ही 'अप्रभावित' हो जाना है। प्रभाव के परिचय के बिना प्रभाव को व्यर्थ कर सकना, व्यर्थ शब्द-संग्रह के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

भोग्य समझे जानेवाले रूपरसादि विषयों को भोगने योग्य जानना पहली बात है, तथा इनको भोगने की इच्छा या संकल्प करना इससे अगली बात है। इन दोनों स्थितियों में महान् अन्तर है। क्योंकि किसी पदार्थको भोग्य रूप में जान लेने की स्थिति में भोग करने की भूल भी छिपी रह सकती है और इसी में से त्याग करने की सम्मति भी प्रकट हो सकती है। यों किसी पदार्थ को भोग्यरूप में जान लेने की स्थितिमें दोनों विरोधी भावनाएं सम्मिलित पाई जाती हैं। यदि मनुष्य भोगेच्छा को अपना लेता है, तो वह विकारग्रस्त हो जाता है। यदि मनुष्य भोगेच्छाको धक्का देकर निकाल देता है, अर्थात् उसे न अपनाने की अदम्य दृढता दिखाता है, तो उस के पास 'त्याग' या 'निर्विकार स्थिति' आ जाती है।

यदि भोग्य समझे जानेवाले पदार्थों को भोग्य रूपसे जान लेना ही विकारग्रस्त हो जाना नाम का महापराध हो, और इसी अपराध के लिए अपने को दण्ड देना आवश्यक समझा जाता हो, तो अपराध न होनेपर भी अपराधी बन जाने के मोह से बडा दूसरा अपराध या बेसमझी कौनसी होगी? ऐसे लोगों को यह जानना चाहिए कि रूपरसादि को भोग्य जान लेना मात्र अपराध नहीं है। क्योंकि उन को भोगयोग्य जान लेने में ही 'त्याग' का महान् वृक्ष भी तो छिपा हुआ है। त्याग को यदि एक वृक्ष मानें तो रूपरसादि को भोग्य जान लेना उस के उपजने की भूमि है। ज्ञानी के मन में भोग्य बुद्धि के उत्पन्न होते ही 'त्याग' का महान् वृक्ष मायावी की माया की तरह एक क्षण में सहसा पल्लवित पुष्पित तथा फलित होकर उसके परमानन्द का कारण बन जाता है।

यदि इस वस्तुस्थिति के होने पर भी कोई भोग्य पदार्थों को भोग्य जान लेने को भी अपराध मानेगा, और इस अपराध से बचने के लिये मानवीय मनोविज्ञान से विरुद्ध 'योगसाधन' नामका असफल प्रयत्न करना उचित समझेगा, तो यही मानना पडेगा, कि इसने भूल में फस कर इन रूपरसादि के सम्बन्ध में अन्धा बहरा तथा ज्ञानहीन

बनने को निर्विकार स्थिति का उदार आसन दे दिया और अब उसी भ्रान्त स्थिति की अन्धी आराधना कर रहा है। जो अन्धा भोग्य पदार्थों को नहीं देख सकता, और जो अज्ञानी भोग्य पदार्थों को देखकर भी उनके गुणों के सम्बन्ध में त्याज्य-ग्राह्यके बोध से हीन है, उस आँखोंवाले अंधे में और उस बे आंखों के अंधे में कोई अन्तर नहीं है।

विषयों से अप्रभावित नाम की मनोदशा, विषयों के सम्बन्ध में अज्ञान या अंधापन नहीं है। मनकी अप्रभावित स्थिति होने का यह अभिप्राय नहीं है, कि मनुष्य की इंद्रियों के स्वस्थ रहते हुए भी उसे कोयल की मधुर ध्वनि और गर्दभ के कर्णकटु शब्द में कोई अन्तर प्रतीत न हो। उसे शक्कर तथा गोबर के रस में भेद प्रतीत न हो, उसे दर्शन तथा स्पर्शेन्द्रिय के संपर्क में आए हुए किसी स्वाभाविक भोग सम्बन्ध से सबद्ध यौवन श्रीविभूषित देह में तथा मंडूक आदि के शरीर में दर्शन-स्पर्शन का भेदज्ञान न हो। परन्तु कुछ विचारहीन मनुष्य विषयों का भान न होनेवाली इस अवस्था को 'ब्राह्मी अवस्था' का पवित्र नाम देकर अनाधिकार करना चाहते हैं।

उन्हें यह जानना चाहिए कि विषयों की 'अप्रतीति' 'ब्राह्मी अवस्था' नहीं है। किन्तु विषयभोग 'अस्वीकारी' का बल हीं 'ब्राह्मी' मनोदशा है। आजकल विषयों की 'अप्रतीति' नाम की अस्वाभाविक असंभव तथा अमानवीय स्थिति को 'ब्राह्मी स्थिति' कहा और लिखा जाने लगा है और उसके 'लय चिंतन,' 'प्रयत्न,' 'साधन' आदि श्रवण-मधुर नाम रखकर, उसे ही पाने या न पा सकने के रूपमें निकम्मे रहकर अपनी वंचना की जाती है। आजकल विषयों की प्रतीति को जीवन का लक्ष्य बनाकर, अपने कल्पित सुख की आशा से सदा के लिये दुःख के साथ सम्बन्ध जोडकर, झूठा संतोष कमाना चहा जाता है। इस प्रवृत्ति का चाहे जितना कठोर और अपमानकारक नाम रक्खा जाय, वही इस महापराध की दृष्टि से थोडा और मृदु है।

कोई भी भला मानस इस प्रकार की आत्मवंचना को 'अध्यात्मिकता' का पवित्र नाम देकर अपना सर्वनाश न करे।

जो मनुष्य अपनी मूर्खतासे निर्विकार-स्थिति में पहुंचने में असमर्थ नपुंसक बन जाता है और रूपरसादि भोग्य समझे जानेवाले पदार्थों को भोग्य समझने और भोगा जा सके तो भोगने से भिन्न, उनका ऐसा कोई उपयोग नहीं कर सकता। जिसे सदुपयोग कहा जा सकता हो, तथा अपने को उनके प्रभावमें फंसनेके लिए विवश मान लेता है, वह अध्यात्म को धोके की टट्टी बनाकर यह विपरीत प्रयत्न करता है कि "मैं किसी युक्तिसे रूपरसादि को भोग्य जानने के 'अयोग्य' बन सकूं तो बन जाऊं।" जिसने इस प्रकारकी 'अयोग्यता' को भी महत्त्वपूर्ण स्थिति मान लिया हो, उस अबोध मानव ने अपने को निर्विकार बन जाने का नाम ले लेकर ठगा है। वह निर्विकार रहने के नाम पर दुःखी रहने लगने का हीं साधक जीवन की महत्त्वपूर्ण स्थिति मानने के भ्रम में फंस गया है। उसे इस असफल स्थिति में बहुत दिन रहने के कारण इस दुष्ट स्थिति से इतना प्रेम हो गया है, कि वह अब इसे छोडना नहीं चाहता।

केवल प्रभावित स्थिति को जानना कोई अपराध नहीं है। उदाहरण के रूप में (१) जो चोर नवजात बालक की आंखों के सामने चोरी करता है, वह उसकी आंखों की दृष्टिमें अपराधी नहीं है, और वहां वह नहीं पकडा जाता। परन्तु (२) जो चोर पूर्ण विकसित मनुष्य की आंखों के सामने चोरी करता है, वह अवश्य पकडा जाता है। जो नवजात बालक चोर को पकडनेमें असमर्थ है, जिसे अभी तक चोरी करने की समस्या का ज्ञान तक नहीं है, ऐसे नवजात बालक को अप्रभावित होने का प्रमाणपत्र देंगे तो (१) जिसने चोर को पहचाना है और पकडा है, जिस की मनोदशा पूर्ण विकसित है, जो चोरी से परिचित है, उसे इस समझ के होने के कारण ही चोर के समान अपराधी मानना पडेगा।

चोरके मन में चोरी कर चुके होनेका आत्मापमान करने वाला अन्तस्ताप, या चोरी वृत्ति के वश में आने का दुःख, 'विषय-कामना' के रूप में रहता है। वह उसे निरन्तर सताता रहता है। परन्तु जो चोरको पकडता है, उसके मनमें ऐसा दुःख नहीं रहता। उसके मनमें ऐसा दुःख न रहना उसका स्वभाव होता है। यही चोरी वृत्तिसे अप्रभावित रहने की मनोदशा कहाती है। विषयवासना अध्यात्म का 'चोर' है। मनुष्य की इंद्रियों के साथ विषयों के स्वाभाविक परिचय को 'विषयों का स्पर्श' कहा जाता है।

विषयों का स्पर्श या परिचय हो जाना अपराध नहीं है। यह तो इस देह-यन्त्र का स्वभाव है। विषयों के स्पर्श के पश्चात् उनकी आधीनता स्वीकार कर लेना नाम की दूसरी चेष्टा करना 'अपराध' है। विषयों का संयोग अज्ञान की सहायता पाकर अगले क्षणमें 'विषयों की चाह' बनता है। विषयों की चाह मनुष्य की बुद्धि-वृत्ति को चुरानेवाला 'चोर' है और उसकी विवेकबुद्धि इस चोर को चोरी न करने देनेवाला 'चौकीदार' है। जिसके पास वह चौकीदार उपस्थित है, वह इस चोर को पकडे बिना तथा पकडकर दमन किए बिना नहीं छोडता। जिसके पास विवेक बुद्धि नहीं होती, यह चोर उसकी आंखों के सामने ही उसकी बुद्धि को कलुषित करके, उसे अपने पीछे घसीट लेता है और चोरी वृत्ति को कार्यरूप में परिणत करके उसे 'चोर' बन जाने के लिए विवश कर देता है।

विषयों में संस्पर्श का ही दूसरा नाम 'काम' है। प्रत्येक साधारण बुद्धि रखनेवाला मनुष्य काम से परिचित होता है। विवेकी कामसे पूर्ण परिचित होता हुआ भी 'कामी' या 'कामदास' न बन सकने की उदार स्थिति में रहकर, अपनेको 'अप्रभावित' बनाए रहता है। कामका परिचय होना दुःख नहीं है। किन्तु 'कामी' या 'कामदास' बन जाना ही दुःख है। कामी बनने से बचकर अप्रभावित रहने में 'ब्रह्मानन्द' है। जिस मनमें ब्रह्मानन्द का संभोग करने की चेतना विद्यमान है, वह मन विषयभोग से अनजान, अचेतन, लकडीपत्थर के समान हो, यह कल्पना अस्वाभाविक है। जो मनुष्य शकर का स्वाद लेनेमें समर्थ है, वह कडवे हालाहल का स्वाद पहचानने में असमर्थ नहीं है। हालाहल के आस्वादन का सामर्थ्य ही उसके त्याग की इच्छा को जन्म देता है। उसके आस्वादनका सामर्थ्य ही उसके त्याग का रूप धारण कर लेता है। इसलिए प्रभावित होने की अवस्था से पूर्ण परिचित रहकर प्रभाव डालनेवाले रूपरसादि विषयों का त्याग में उपयोग कर लेने से दूसरा अप्रभावित स्थिति का कोई अभिप्राय नहीं हो सकता। अप्रभावित स्थितिवाले मनुष्य का चरित्र-चित्रण काष्ठ और पत्थर की मूर्तियोंसे नहीं होना चाहिए। दीखनेवाले विषयों में भोगबुद्धि न करके, उनको अपनी उपेक्षा की सामग्री बना डालनेको ही 'अप्रभावित स्थिति' समझना चाहिए।

मनुष्य की भोगबुद्धि को उत्तेजित करने के लिएही उसे जगत् के पदार्थों को सीमामें विचरण कराया गया है। इन्द्रियोंसे इन पदार्थों का स्पर्श होते ही मनुष्य के मन में भोगबुद्धि नामक उत्तेजना उत्पन्न हो जाती है। उस का उदय होना मानव-मनकी अनिवार्य घटना है। यह उसका अपराध नहीं है। परन्तु यही उत्तेजना का विज्ञानी मनमें उत्तेजना का संहार करने वाली दैवी शक्ति उदय होने की सामग्री या अवसर बन जाती है। जैसे कांटे का उपयोग कांटा न लगने देना है, इसी प्रकार ज्ञानीके पास इस भोगबुद्धि का केवल यही उपयोग है, कि वह उसको अपनाने से बचे और 'त्यागबुद्धि' या 'अप्रभावित स्थिति'को अपनाने की दृढता को प्रकट करे। त्यागी हुई 'भोगबुद्धि' ही अप्रभावित स्थिति का मूलाधार या जननी है। जब मनुष्य में इन पार्थिव भोगों को अस्वीकार करने का ज्ञानबल उदित हो जाता है, तब उसका जगत् के किसी मानवदेह के साथ किसी प्रकार का पार्थिव संबंध शेष नहीं रहता।

इस अप्रभावित स्थिति में रहनेवाले मनुष्य, संसार भर के देहों से संबंध रखनेवाली, अपनी रूप-रस-गन्ध-स्पर्श आदि की स्पृहाको परिपूर्णता के आनन्दसागर में मिल जाने के काममें लाने लगते हैं। वे स्पृहाके आतेही, उसे स्पृहा-नाशक भावों को उत्पन्न करनेवाली बना लेते हैं, और जीवन को सफल करते रहते हैं। स्थूल दृष्टि से इस देह को चाहे जो कुछ कह दिया जाय, परन्तु अप्रभावित स्थिति में पहुंचे हुए मनुष्यकी अपार्थिव दृष्टिमें यह देह उसकी ज्ञानाग्नि को सुलगाने वाला ईंधन है। यह ईंधन उसकी ज्ञानाग्नि की सेवा करके धन्य होता है।

वह सत्यस्वरूप परमात्मा इस अपनी संसार नाम की यज्ञशालामें, इस ज्ञानाग्नि को प्रदीप्त रखनेके लिये, मनुष्य-देहधारी बनकर आता है, और सत्यमयी स्थिति का दर्शन करानेवाला 'सत्संग' बनकर उसे प्रत्येक क्षण धन्य करता रहता है। कुछ संत समझे हुए लोगों के समीप बैठना या उनसे बात चीत करना 'सत्संग' नहीं है। किन्तु असत्य विषयोंका त्याग ही 'सत्संग' है। जब कोई देहधारी किसी के समीप आता है, तब वह उसके देह को अपनी ओर आकृष्ट करता है। उसके आकर्षण से सहमत हो जाना 'प्रभावित' अवस्था है। परन्तु ज्ञानी इस प्रकार दूसरों के

देहों से प्रभावित नहीं होता। वह असत्य पदार्थों को भोग के काममें न लाकर त्याग के काम में लाता है। असत्य विषयों के त्यागरूपी 'सत्संग' का तीव्र प्यासा वह अप्रभावित भक्तहृदय, अपने सत्संग करने के स्वभाव को कभी नहीं त्यागता। वह किसी पार्थिव पदार्थ को अपना भोग्य बनाने को उद्यत नहीं होता। यह त्यागरूपी 'सत्संग' ही भक्तों का मार्गदर्शक, गुरु और उसकी आत्मस्थिति का अचूक संरक्षक होता है। भक्तों का 'सत्संग' पराधीन सत्संग नहीं है। यह 'सत्संग' अपने ही भीतर विषयोंसे अप्रभावित बने रहने के अपने स्वधर्म के रूपमें भक्तोंसे दृढता से अपनाया हुआ होता है। यह 'सत्संग' मनुष्य का स्वधर्म है। यह सब परिस्थितियोंमें से अपने आप अपने अनुकूल साधन बना लेता है। यह सत्संग किसी बाह्य साधन का मुंह नहीं तकता। इस सत्संग के सहारे से आत्मानन्द में मग्न रहनेवाली सन्तमनोमोहनी उदात्त मनोदशा को 'सत्संग-प्रीति' या 'भक्ति' कहा जाता है।

जगत् के प्रभाव से अप्रभावित रहने वाली निर्विकार तथा अनिर्वचनीय स्थिति ही 'परमात्मा' है। इस निर्विकार स्थितिमें रहना ही 'परमात्मा का दर्शन' या 'भक्ति' करना है। इस से पतित होकर बन्धनमें फंस जाना 'नास्तिक बन जाना' है। भक्त लोग मनकी इस उदार स्थितिमें ही परमात्मा से मिलते हैं। भक्तों का इस उदार स्थिति में रहना ही परमात्मा से मिलना है। जो इस निर्विकार मानसिक स्थितिपर आरूढ नहीं है, उसका परमात्मा से संबंध नहीं है। इस उदार स्थितिपर आरूढ हो जाने के पश्चात् मनुष्य का जिस वस्तु व्यक्ति या घटना से संबंध होता है, वही मानवमनकी उदार अवस्था को प्रकट, प्रज्वलित, विकसित, प्रफुल्लित और सफल करनेवाला हो जाता है। उस समय परमात्माका दर्शन रामरूपमें भी वैसा ही अमृतमय होता है, कृष्ण रूपमें भी वैसा ही अमृतमय होता है, पुत्ररूपमें भी वैसा ही अमृतमय होता है, पत्नी रूपमें भी वैसा ही अमृतमय होता है, कन्यारूपमें भी वैसा ही अमृतमय होता है, शत्रुरूपमें भी वैसा ही अमृतमय होता है, और मित्ररूपमें भी वैसा ही अमृतमय होता है। शत्रु या मित्र नामवाले कोई बाह्यरूप उस भक्त की निर्विकार मानसिक स्थिति को विकृत नहीं कर सकते। अविकृत मनोदशा ही 'अप्रभावित मनोदशा' है। मनकी ऐसी निर्विकार अप्रभावित स्थिति के अतिरिक्त किसी विशेष भौतिक रूप को 'ईश्वर' का नाम देकर उस रूपके लिए मोह होना 'ईश्वर दर्शन' नहीं है।

शुद्ध वेद ।

वेद की संहिताओंका मूल्य यह है-

वेद	मूल्य	डाकव्यय	रेलचार्ज	विदेशका डाकव्यय
१ ऋग्वेद	५)	१)	॥)	१॥)
२ यजुर्वेद	२)	॥)	।)	॥।)
३ सामवेद	३)	॥)	।)	॥।)
४ अथर्ववेद	३)	१)	॥)	१॥)
	१३)	३)	१॥)	४॥)

इन चारों वेदोंका पेशगी म० आ० से सहूलियतका मू० ६॥) रु० है, तथा डा० व्यय ३) रु० है। इसलिए डाकसे मंगानेवाले ९॥) सारे नौ रु० पेशगी भेजें। रेलचार्ज या डा० व्यय ग्राहकोंके जिम्मे है। इसलिये जो ग्राहक रेलसे चारों वेदों के एक या अनेक सेट मंगाना चाहते हैं, प्रति सेट के पीछे ७॥) रु० के अनुसार मूल्य भेजें। [इसमें ॥) दो बारका पैकिंग और ॥) दो बारकी रजिष्ट्रीके है।] उनके ग्रंथ To Pay रेलपार्सल से भेजेंगे।

ऋग्वेद दूसरी वार छप रहा है। यह छपाई होनेतक ही चारों वेदसंहिताएँ ६॥) रु० में मिलेंगी। तत्पश्चात् ७॥) मूल्य होगा, इसलिये वेदप्रेमी ग्राहक शीघ्रता करें और अपना चन्दा शीघ्र भेजकर ग्राहक बनें।

यजुर्वेद की चार संहिताएं।

निम्नलिखित यजुर्वेद की चारों संहिताओं का मुद्रण करने का प्रारम्भ किया गया है—

	मूल्य	डा० व्यय	रेलव्यय	विदेशका डाक व्यय
१ काण्व संहिता (शुक्ल-यजुर्वेद)	३)	॥।)	।=)	१।)
२ तैत्तिरीय संहिता (कृष्ण-यजुर्वेद)	५)	१)	॥)	१॥)
३ काठक संहिता	५)	१)	॥)	१॥)
४ मैत्रायणी संहिता	५)	१)	॥)	१॥)
	१८)	३॥।)	१॥।=)	५॥)

वेदकी इन चारों संहिताओं का मूल्य १८) है। परंतु जो ग्राहक पेशगी मूल्य भेजकर ग्राहक बनेंगे, उनको ये चारों संहिताएं ९) नौ रु० में दी जायंगी। डा० व्यय अथवा रेलव्यय ग्राकोंहके जिम्मे होगा। मूल्य भेजने के समय यह भेजने का व्यय जोडकर मूल्य भेज दें। जिनको वेदों का अध्ययन करना है, उनके लिये यह अमूल्य अवसर है। ये ग्रंथ इतने सस्ते आजतक किसीने दिये नहीं और आगे भी इतने सस्ते यह ग्रन्थ नहीं मिलेंगे।

जो सहूलियत का मूल्य ९) नौ रु० भेजकर यजुर्वेद की इन चार संहिताओं के ग्राहक होंगे, उनको "ऋग्वेद-यजुर्वेद (वाजसनेयी संहिता)-सामवेद-अथर्ववेद" ये चारों वेदसंहिताएं सहूलियत के मूल्यसेहि अर्थात् केवल ६॥) मूल्य से ही मिलेगी। प्रेषणव्यय डाकद्वारा ३) और रेलद्वारा १॥) है, वह ग्राहकों के जिम्मे रहेगा।

इस सहूलियत का लाभ ग्राहक शीघ्र लेवें। ऋग्वेद का पुनर्मुद्रण होने तक ही यह सहूलियत रहेगी।

—मंत्री- स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा)

पिप्पलाद-संहिता-पाठ ।

सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोम्येकश्नुष्टीं
संवननेन सहृदः ।
देवा इवेदमृतं रक्षमाणाः सायं प्रातः
सुसमितिर्वोऽस्तु ॥

मन्त्रस्थ पदोंका अर्थ ।

एकश्नुष्टिः-एक संघमें रहनेवाले, एक नेताके अनुयायी। (श्नुष्टि= राशि, संघ, नाप)

संवननं- (सं=एक होकर; वननं=सेवन) एक होकर सेवा करना, परस्पर प्रेमसे, ऐक्यभावसे सहायता करना। वन-संभक्तौ; वन्=सम्यक् भक्ति, सम्यक् सेवा, योग्य सहायता करना।

सौमनसः- उत्तम मनका होना ।

(पिप्प०) **सहृदः**- सहृदय, समहृदयके भाववाले ।

सुसमितिः-उत्तम सभा, उत्तम एकभावका संगठन ।

इस सूक्तमें ध्यानमें रखनेयोग्य सुभाषित ।

१. **वः सहृदयं**-आपका परस्पर हार्दिक प्रेम हो।

२. **वः सांमनस्यं**-आप सबका उत्तम समान भाववाला मन हो।

३. **वः अविद्वेषं**- आप सबका परस्पर द्वेष न हो ।

४. **अन्यो अन्यं अभिहर्यत**-एक दूसरेसे प्रेम करो।

५. **पुत्रः पितुः अनुव्रतः भवतु**-पुत्र पिताके अनुकूल कार्य करनेवाला हो ।

६. **पुत्रः मात्रा संमनाः भवतु** = पुत्र माताके साथ अपना मन मिलाकर रखे ।

७. **जाया पत्ये मधुमतीं शान्तिवां वाचं वदतु**- पत्नी पतिके साथ मीठा और शान्त भाषण करे ।

८. **भ्राता भ्रातरं मा द्विक्षत्**- भाई भाईसे द्वेष न करे ।

९. **स्वसा स्वसारं मा द्विक्षत्**- बहिन बहिनका द्वेष न करे।

१०. **भ्राता स्वसारं मा द्विक्षत्**- भाई बहिनका द्वेष न करे ।

११. **स्वसा भ्रातरं मा द्विक्षत्**- बहिन भाईका द्वेष न करे ।

१२. **सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा**- एक होकर एक कार्य करो ।

१३. **भद्रया वाचं वदत**- कल्याण करनेवाला भाषण करो ।

१४. **येन न वियन्ति, नो च विद्विषते, तत् संज्ञानं ब्रह्म**- जिससे विरोध नहीं होता और न द्वेष बढता है, उसका नाम सम्यक् ब्रह्म, ज्ञान है ।

१५. **गृहे पुरुषेभ्यः संज्ञानं**— घरके सब मनुष्योंको उत्तम ज्ञान देना चाहिये ।

१६. **ज्यायस्वन्तः**- श्रेष्ठ सत्पुरुषोंके साथ रहो ।

१७. **चित्तिनः**- उत्तम चित्तवाले बनो ।

१८. **संराधयन्तः**- मिलकर एक कार्य करो ।

१९. **मा वि यौष्ट**- विभक्त मत् हो ।

२०. **सुधराः चरन्तः** - धुराके स्थानपर रहो, कार्यका भार अपने सिरपर लेकर आगे बढो।

२१. **अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदत**- एक दूसरेसे मीठा भाषण करो ।

२२. **वः समानी प्रपा**- आपका जलपान करनेका एक ही स्थान हो ।

२३. **वः सह अन्नभागः**- आप सबका साथ साथ भोजन हो ।

२४. **समाने योक्त्रे सह वः युनज्मि**= एकही कार्यमें आप सबको साथ साथ लगाता हूं।

२५. **सम्यञ्चः अग्निं सपर्यत**- सब मिलकर अग्निकी उपासना करो ।

२६. **सध्रीचीनान् संमनसः एकश्नुष्टीन् सर्वान् वः कृणोमि**-आप सबको मैं एक कार्यमें रत, एक मनवाले, एक संगठन में रहनेवाले करता हूं।

२७. **वः सायं प्रातः सौमनसः अस्तु**- आप सबका सबेरे शाम उत्तम मन रहे ।

शक्तिकी प्रार्थना।

(अथर्व० २।१७।१-७)

[ऋषिः- ब्रह्मा। देवता- प्राणः, अपानः, आयुः। छन्दः- (एकावसानम्) १-६ एकपादासुरी त्रिष्टुप्; ७ आसुरी उष्णिक्।]

ओजोऽस्योजो मे दाः स्वाहा ॥ १ ॥
सहोऽसि सहो मे दाः स्वाहा ॥ २ ॥
बलमसि बलं मे दाः स्वाहा ॥ ३ ॥
आयुरस्यायुर्मे दाः स्वाहा ॥ ४ ॥
श्रोत्रमसि श्रोत्रं मे दाः स्वाहा ॥ ५ ॥
चक्षुरसि चक्षुर्मे दाः स्वाहा ॥ ६ ॥
परिपाणमसि परिपाणं मे दाः स्वाहा ॥ ७ ॥ ४३७--४३ ॥

पदानि--

ओजः। असि। ओजः। मे। दाः। स्वाहा १
सहः। असि। सहः। मे। दाः। स्वाहा २
बलम्। असि। बलम्। मे। दाः। स्वाहा ३
आयुः। असि। आयुः। मे। दाः। स्वाहा ४
श्रोत्रम्। असि। श्रोत्रम्। मे। दाः। स्वाहा ५
चक्षुः। असि। चक्षुः। मे। दाः। स्वाहा ६
परिऽपानम्। असि। परिऽपानम्। मे। दाः। स्वाहा ॥ ७ ॥

अर्थ- तू (ओजः) सामर्थ्य है, (मे) मुझे (ओजः दाः) सामर्थ्य प्रदान कर। (स्वाहा) यह आशीर्वाद मुझे प्राप्त हो ॥ १ ॥

तू (सहः) शक्ति (असि) है, अतः मुझे शक्ति प्रदान कर। यह आशीर्वाद मुझे प्राप्त हो ॥ २ ॥

तू (बलं) बल है, अतः (मे) मुझे बल प्रदान कर। यह आशीर्वाद मुझे प्राप्त हो ॥ ३ ॥

तू (आयुः असि) आयु है, अतः मुझे आयु प्रदान कर ॥ ४ ॥

तू (श्रोत्रं) कान अर्थात् श्रवणशक्ति है, (मे) मुझे (श्रोत्रं दाः) श्रवणशक्ति प्रदान कर ॥ ५ ॥

तू (चक्षुः) आँख- देखनेकी शक्ति- है, अतः (मे) मुझे आँख-देखनेकी शक्ति प्रदान कर ॥ ६ ॥

तू (परिपाणं) कवच है, (मे) मुझे (परिपाणं) कवच (दाः) दे (स्वाहा) यह आशीर्वाद मुझे प्राप्त हो ॥ ७ ॥

Thou (असि) art (ओजः) power. (दाः) Give (मे) me (ओजः) power. (स्वाहा) All hail.

Thou (असि) art (सहः) Might. (दाः) Give (मे) me (ओजः) might. (स्वाहा) All hail.

Thou art (बलं) strength. Give me strength. All hail.

Thou art (आयुः) life. Give me life. (स्वाहा) All hail.

Thou art (श्रोत्रं) ear (power of hearing). Give me ear (power of hearing). All hail.

Thou art (चक्षुः) eye (power of seeing). Give me eye (power of seeing). All hail.

Thou art (परिपाणं) shield. Give me shield. (स्वाहा) All hail.

सबका भावार्थ— हे ईश्वर! तूही सच्चा सामर्थ्य, शक्ति, बल, आयु, श्रवणशक्ति, दर्शनशक्ति और रक्षणशक्ति है, इसलिये मुझे ये शक्तियाँ देकर सामर्थ्यवान् बनाओ।

इस सूक्तके पदोंका अर्थ।

ओजः-शारीरिक सामर्थ्य।

सहः- सहनशक्ति, सत्कार्य करनेमें जो कष्ट होते हैं, उनको सहकर सिद्धि होने तक अपना कार्य न छोडनेकी शक्ति।

बलं-शरीर, मन, बुद्धि और आत्माका सामर्थ्य।

आयुः-आयुष्य, जन्मसे मृत्युतक की अवधि; इसी आयुके आधारपर अन्य सब बल सहायक होते हैं।

श्रोत्रं-कान, श्रवणशक्ति ।
चक्षुः-आँख, देखनेकी शक्ति ।
परिपाणं-(परितः पानं, रक्षणं) सब ओर से रक्षण करनेकी शक्ति; कैसाभी शत्रु आया हो, उससे अपनी रक्षा करनेकी शक्ति, कवच ।
स्वाहा-(सु+आह)=उत्तम वचन, आशीर्वाद, शुभ संदेश। (सु+आ+हा) उत्तम प्रकारका, सब ओरका वासना का त्याग, भोगका त्याग । (स्व+आ+हा) अपने भोगोंका सर्वस्व त्याग । स्वाहा शब्दके अनेक अर्थ हैं। उनमें ये मुख्य हैं ।

बलकी प्रार्थना ।

तेजो॑ऽसि तेजो॒ मयि॑ धेहि वी॒र्य॑मसि वी॒र्यं॑ मयि॑ धेहि॒ बल॑मसि॒ बलं॒ मयि॑ धेहि॒ ओजो॒ऽस्योजो॒ मयि॑ धेहि म॒न्युर॑सि म॒न्युं मयि॑ धेहि॒ सहो॑ऽसि॒ सहो॒ मयि॑ धेहि ॥

॥ वा० यजुर्वेद १९।९ ॥४४४॥

पदानि- तेजः। असि। तेजः। मयि। धेहि। वीर्यम्। असि। वीर्यम्। मयि। धेहि। बलम्। असि। बलम्। मयि। धेहि। ओजः। असि। ओजः। मयि। धेहि। मन्युः। असि। मन्युम्। मयि। धेहि। सहः। असि। सहः। मयि। धेहि ॥

अर्थ— तू (तेजः) तेजस्वरूप (असि) है, अतः (मयि) मुझमें (तेजः) तेज (धेहि) स्थापन कर। तू (वीर्य) वीर्यस्वरूप है, अतः मुझमें वीर्य की स्थापना कर। तू (बलं) बलरूप है, अतः मुझमें बल स्थापन कर ! तू (ओजः) सामर्थ्य है, अतः मुझमें सामर्थ्य स्थापन कर। तू (मन्युः) उत्साह है, अतः मुझमें उत्साह स्थापन कर । तू (सहः) सहनशक्तिरूप है, अतः मुझमें वह सहनशक्ति स्थापित कर ॥

भावार्थ- हे ईश्वर ! तू तेज, वीर्य, बल, सामर्थ्य, उत्साह और सहनशक्तिरूप है, अतः मुझमें ये गुण सुरक्षित रखकर मुझे इन सामर्थ्यों से समर्थ बना।

Thou (असि) art (तेजः) lustre, (धेहि) give (मयि) me lustre; Thou art (वीर्यं) manly vigour, give me manly vigour; Thou art (बलं) strength, give me strength; Thou art (ओजः) energy, give me energy; Thou art (मन्युः) zeal, give me zeal; Thou art (सहः) conquering might, give me conquering might.

मन्त्रस्थ पदोंका अर्थ ।

वीर्य=वीर्य, पराक्रम, पुरुषशक्ति, पौरुष, सब शरीर का आधार ।

मन्युः-क्रोध, उत्साह, प्रबल, तीव्र इच्छा ।

इय॑द॒स्यायु॑र॒स्यायु॒र्मयि॑ धेहि॒, युङ्ङ॑सि॒ वर्चो॑ऽसि॒ वर्चो॒ मयि॑ धेह्यू॒र्ग॑स्यू॒र्जं मयि॑ धेहि ॥

॥ वा० यजु० १०।२५ ॥४४५॥

पदानि —इयत्। असि। आयुः। असि। आयुः। मयि। धेहि। युङ्। असि। वर्चः। असि। वर्चः। मयि। धेहि। ऊर्ग्। असि। ऊर्जम्। मयि। धेहि ॥

अर्थः— (इयत्) इतना बडा तू (असि) है। तू (आयुः) आयु है, तू जीवन है, अतः मुझे (आयुः) जीवन (धेहि) दो। तू (युङ्) साथी (असि) है। तू (वर्चः) तेजस्वरूप है, अतः (मयि) मुझमें तेज (धेहि) स्थापन कर । तू (ऊर्ग्) सामर्थ्य है, अतः मुझमें सामर्थ्य स्थापन कर।

भावार्थः-हे ईश्वर ! तू सबसे महान् है, तूही जीवन है, तूही हमारा सच्चा मित्र है, तूही तेजका स्वरूप है, तूही समर्थ है। अतः मुझमें महत्ता, जीवन, तेजस्विता और सामर्थ्य स्थापन कर और इन शक्तियोंसे मुझे युक्त कर ।

(इयत्) So great (असि) art Thou (आयुः असि) life art Thou, (आयुः मयि धेहि) give me life. (युङ् असि) mate art Thou, (वर्चः असि)

Thou art splendour, give me splendour. (ऊर्ग् असि) Thou art strength, give me strength.

मन्त्रस्थ पदोंका अर्थ ।

इयत् = ऐसा, इतना ।
युङ् (युज्)= मित्र सखा ।
ऊर्ज् (ऊर्ग्) = बल सामर्थ्य ।

सुरक्षा ।

(अथर्व० २ । १६ । १-५)

[ऋषिः— ब्रह्मा । देवता-प्राणः, अपानः, आयुः । छन्दः-(एकावसानम्) १, ३ एकपादासुरी त्रिष्टुप्, २ एकपादासुरी उष्णिक्, ४-५ एकपादासुरी गायत्री ।]

प्राणापानौ मृत्योर्मा पातं स्वाहा ॥ १ ॥

द्यावापृथिवी उपश्रुत्या मा पातं स्वाहा ॥ २ ॥

सूर्य चक्षुषा मा पाहि स्वाहा ॥ ३ ॥

अग्ने वैश्वानर विश्वैर्मा देवैः पाहि स्वाहा ॥ ४ ॥

विश्वंभर विश्वेन मा भरसा पाहि स्वाहा ॥ ५ ॥ ४४६--४५० ॥

पदानि–प्राणापानौ । मृत्योः । मा । पातम् । स्वाहा ॥१॥

द्यावापृथिवी इति । उपऽश्रुत्या । मा । पातम् स्वाहा ॥२॥

सूर्य । चक्षुषा । मा । पाहि । स्वाहा ॥३॥

अग्ने । वैश्वानर । विश्वैः । मा । देवैः । पाहि । स्वाहा ॥ ४ ॥

विश्वम्ऽभर । विश्वेन । मा । भरसा । पाहि । स्वाहा ॥५॥

अर्थ- १. हे (प्राणापानौ) प्राण और अपान ! (मा) मुझे (मृत्योः) मृत्युसे (पातं) सुरक्षित कीजिये । (स्वाहा) उत्तम आशीर्वाद हो ।

२. (द्यावापृथिवी) हे द्युलोक और पृथिवी ! (मा) मुझे (उपश्रुत्या) श्रवण से उत्पन्न होनेवाले पापसे (पातं) सुरक्षित रखिये। (स्वाहा) आशीर्वाद।

३. हे सूर्य ! (चक्षुषा) आँखसे (मा) मुझे (पाहि) सुरक्षित कर । (स्वाहा) आशीर्वाद ।

४. हे (वैश्वानर अग्ने) विश्वके नेता अग्ने ! (विश्वैः देवैः) सब देवों के साथ (मा) मुझे (पाहि) सुरक्षित कर । आशीर्वाद ।

५. हे (विश्वंभर) विश्वके पोषक ! (विश्वेन भरसा) संपूर्ण पोषक शक्तिसे (मा पाहि) मेरी रक्षा कर। आशीर्वाद ।

(पातं) Guard (मा) me (मृत्योः) from death, (प्राणापानौ) inhaling and in exhaling ! (स्वाहा) All bliss.

Guard me from (उपश्रुत्याः) over hearing Earth and heaven ! All hail.

O (सूर्य) sun ! (पाहि) protect (मा) me (चक्षुषा) with eye. All hail.

O Vaishwanara Agni ! (विश्वैः देवैः) with all gods (मा पाहि) protect me. All hail.

(पाहि) Preserve (मा) me (विश्वेन भरसा) with all care, O (विश्वंभर) all sustainer ! All hail.

भावार्थ–अयोग्य बातें सुनने आदिसे जो दोष होता है, वह दूर होना चाहिये ।

इस सूक्तके पदोंका अर्थ ।

उपश्रुत्या–श्रवण, सुनना ।
वैश्वानरः–विश्वमें मुख्य, विश्वका नेता ।
विश्वंभर–विश्वपोषक, विश्वका भरणपोषण करने वाला।
भरस्–पोषण शक्ति ।

श्रद्धा ।

(ऋ० १० । १५१ । १-५)

[ऋषिका— कामायनी श्रद्धा । देवता-श्रद्धा । छन्दः- अनुष्टुप् ।]

श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः ।
श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि ॥ १ ॥४५१॥

पदानि-श्रद्धया । अग्निः । सं । इध्यते । श्रद्धया । हूयते । हविः । श्रद्धां । भगस्य । मूर्धनि । वचसा । आ । वेदयामसि ॥१॥

अन्वयः- अग्निः श्रद्धया सं इध्यते। हविः श्रद्धया हूयते। भगस्य मूर्धनि श्रद्धां वचसा आ वेदयामसि ॥

अर्थः-(अग्निः) अग्नि (श्रद्धया) श्रद्धासे (सं इध्यते) प्रदीप्त किया जाता है । (हविः) हविर्द्रव्य (श्रद्धया) श्रद्धासे (हूयते) हवन किया जाता है। (भगस्य मूर्धनि) धनके सिरपर (श्रद्धां) श्रद्धाको (वचसा) घोषणासे (आवेदयामसि) निवेदन करते हैं ।

(श्रद्धया) By faith (अग्निः) fire (सं इध्यते) is kindled, (श्रद्धया) through faith (हविः) oblation (हूयते) is offered up. (आवेदयामसि) We declare with (वचसा) proclamation that the (श्रद्धां) faith is (मूर्धनि) on the head of (भगस्य) wealth.

प्रियं श्रद्धे ददतः प्रियं श्रद्धे दिदासतः । प्रियं भोजेषु यज्वस्विदं म उदितं कृधि ॥२॥४५२॥

पदानि--प्रियं । श्रद्धे । ददतः । प्रियं । श्रद्धे । दिदासतः । प्रियं । भोजेषु । यज्वऽसु । इदं । मे । उदितं । कृधि ॥२॥

अन्वयः- हे श्रद्धे ! ददतः प्रियं, हे श्रद्धे ! दिदासतः प्रियम् । भोजेषु यज्वसु प्रियम् । मे इदं उदितं कृधि ॥

अर्थः- हे श्रद्धे ! (ददतः) दान देनेवाले का (प्रियं) प्रिय कर । हे श्रद्धे ! (दिदासतः) दान देनेकी इच्छा वाले का प्रिय कर । (भोजेषु) भोजन करानेवाले और (यज्वसु) यज्ञ करने वालोंका भी प्रिय कर और (मे) मेरा (इदं) यह (उदितं कृधि) कहा हुआ सफल कर ।

(श्रद्धे) O Faith ! (प्रियं) Bless thou the man who (ददतः) gives. (प्रियं) Bless thou the man who (दिदासतः) fain would give. (प्रियं) Bless thou the (भोजेषु यज्वसु) liberal worshipers. Make (मे इदं) this mine (उदितं) proclamation blessed.

यथा देवा असुरेषु श्रद्धामुग्रेषु चक्रिरे। एवं भोजेषु यज्वस्वस्माकमुदितं कृधि ॥३॥४५३॥

पदानि-- यथा । देवाः । असुरेषु । श्रद्धां । उग्रेषु । चक्रिरे । एवं । भोजेषु । यज्वऽसु । अस्माकं । उदितं । कृधि ॥३॥

अन्वयः--यथा देवाः उग्रेषु असुरेषु श्रद्धां चक्रिरे ।

एवं यज्वसु भोजेषु अस्माकं उदितं कृधि ॥

अर्थः-(यथा) जैसे (देवाः) देव (उग्रेषु) शूर (असुरेषु=असु+र) प्राणरक्षकोंपर (श्रद्धां चक्रिरे)

श्रद्धा करते रहे, (एवं) वैसेही (यज्वसु भोजेषु) यज्ञ करनेवाले तथा भोजन करनेवालों में (अस्माकं) हम सबका (उदितं) उदय (कृधि) कर।

भावार्थ— दिव्यजन शूर पुरुषोंपर श्रद्धा रखते हैं और समझते हैं कि येही सबके जीवन और धनादि की रक्षा करेंगे। वैसे ही यज्ञ कराना और भोजन देनेमें हम सबका उदय हो।

(यथा) Even as (देवाः) the Divines (श्रद्धां चक्रिरे) maintain faith in the (उग्रेषु) mighty (असुरेषु=असु-रेषु) guards of life, (एवं) so (कृधि) make (अस्माकं उदितं) liberal worshipers.

श्रद्धां देवा यजमाना वायुगोपा उपासते। श्रद्धां हृदय्य१याकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु ॥४॥४५४॥

पदानि--श्रद्धां। देवाः। यजमानाः। वायुऽगोपाः। उप। आसते। श्रद्धां। हृदय्यया। आऽकूत्या। श्रद्धया। विन्दते। वसु ॥४॥

अन्वयः-- देवाः वायुगोपाः यजमानाः श्रद्धां उपासते। हृदय्यया आकूत्या श्रद्धां उपासते। श्रद्धया वसु विन्दते ॥

अर्थः- (देवाः) दिव्य जन (वायुगोपाः) प्राणका रक्षण करनेवाले, (यजमानाः) यजमान (श्रद्धां) श्रद्धाकीही उपासना करते हैं। (हृदय्यया आकूत्या) हृदय के संकल्पसे (श्रद्धां) श्रद्धाकी ही उपासना होती है। श्रद्धासेही (वसु) धन (विन्दते) प्राप्त होता है।

(वायुगोपाः) protected by prana, (देवाः यजमानाः) Divines and sacrificers (श्रद्धां उपासते) draw near to Faith. (हृदय्यया आकूत्या) By yearning of heart, man winneth (श्रद्धां) faith. By (श्रद्धा) faith he (विन्दते) gets (वसु) wealth.

श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यंदिनं परि। श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः ॥५॥४५५॥

पदानि--श्रद्धां। प्रातः। हवामहे। श्रद्धां। मध्यंदिनं। परि। श्रद्धां। सूर्यस्य। निऽम्रुचि। श्रद्धे। श्रत्। धापय। इह। नः ॥

अन्वयः-- प्रातः श्रद्धां हवामहे, मध्यंदिनं श्रद्धां हवामहे, सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धां हवामहे। हे श्रद्धे! नः इह श्रद्धापय ॥

अर्थः—(प्रातः) प्रातःकाल (श्रद्धां) श्रद्धाका (हवामहे) आवाहन करते हैं, (मध्यंदिनं) मध्यदिन में श्रद्धाका आवाहन करते हैं, (सूर्यस्य निम्रुचि) सूर्य के अस्त के समय श्रद्धा का आवाहन करते हैं। हे (श्रद्धे) श्रद्धा देवि! (नः) हमें (इह) इस संसार में (श्रद्धापय) श्रद्धासे युक्त कर।

(श्रद्धां) Faith (प्रातः) in the early morning, (श्रद्धां) faith (मध्यंदिनं परि) at the noonday (हवामहे) will we invocate; (श्रद्धां) faith (सूर्यस्य निम्रुचि) at the setting of the sun. O (श्रद्धे) faith! (श्रद्धापय इह) endow (नः) us with faith.

मन आवर्तनम्।

(ऋ० १०। ५८। १-१२)

(ऋषयः- बन्धुःश्रुतबन्धुर्विप्रबन्धुर्गौपायनाः। देवता-मनः। छन्दः-अनुष्टुप्।)

यत्ते यमं वैवस्वतं मनो जगाम दूरकम्। तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे ॥ १ ॥४५६॥

पदानि— यत्। ते। यमं। वैवस्वतं। मनः।

जगाम । दूरकं । तत् । ते । आ । वर्तयामसि ।
इह । क्षयाय । जीवसे ॥१॥

अन्वय- यत् ते मनः दूरकं वैवस्वतं यमं जगाम, तत् ते क्षयाय जीवसे इह आ वर्तयामसि ॥

अर्थ- (यत्) जो (ते) तेरा (मनः) मन (दूरकं) बहुत दूर (वैवस्वतं यमं) विवस्वानके पुत्र यम- मृत्युके पास (जगाम) गया था, (तत्) उस मनको (ते) तेरे पास तेरे (क्षयाय) निवासके लिये और तेरे (जीवसे) जीवनके लिये (इह) यहां (आ वर्तयामसि) लौटा लाते हैं ।

भावार्थ- मनुष्यका जो मन प्रायः मृत्युके अधीन, मृत्युके ही विचार करनेवाला, मृत्युकीहि इच्छा करनेवाला बना होता है, उस मनको उस मृत्युके विचारसे वापस लाते हैं और अच्छे विचारमें स्थिर करते हैं, इसलिये कि यह मनुष्य यहां सुखसे आनन्दपूर्वक जीवित रहे और अपना कार्य व्यवहार उत्तम रीतिसे करे ।

विवस्वान्= सूर्यका नाम है । उससे बननेवाला **यम,** काल अथवा मृत्यु है । सूर्यसे जीवन, अथवा आयु नापते हैं, इतने वर्षोंका इसका जीवन आदि परिमाण सूर्यसे ही होता है। दिन, पक्ष, मास, वर्ष सूर्यके द्वारा होता है । 'काल' का नामही मृत्यु है ।

(ते) Thy (मनः) mind, that (जगाम) went (दूरकं) far away (यमं) to Yama, (वैवस्वतं) to Vivasvan's son, (आवर्तयामसि) we cause to come (ते) to thee again, that thou mayest (जीवसे) live and (क्षयाय) sojourn (इह) here.

मन्त्रस्थ पदोंका अर्थ ।

१. यमं= नियमन करनेवाला, प्रबंध करनेवाला, स्वाधीन रखनेवाला ।

२. वैवस्वतं= विवस्वान् के साथ संबन्ध रखनेवाला, विवस्वान्=सूर्य ।

३. मनः= मनन करनेका साधन, अन्तःकरण ।

४. आवर्त= (आवृत्) = वापस लाना, पीछे लाना ।

५. क्षय= निवास, स्थिति, रहना, घर ।

६. जीवसे= जीवनके लिये ।

यत्ते दिवं यत्पृथिवीं मनो जगाम दूरकम् । तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे ॥२॥४५७॥

पदानि-यत् । ते । दिवं । यत् । पृथिवीं । मनः । जगाम । दूरकं । तत् । ते । आ । वर्तयामसि । इह । क्षयाय जीवसे ॥ २ ॥

अर्थ- (यत् ते मनः) जो तेरा मन (दूरकं दिवं) दूर द्युलोक तक (यत् पृथिवीं जगाम) जो पृथ्वीपर भटकता है । (तत् ते) उस मनको तेरे पास (इह क्षयाय जीवसे) यहां तेरा निवास हो और तू जीवित रह इसलिये (आ वर्तयामसि) हम वापस लाते हैं ।

भावार्थ—जो मन स्वर्ग में तथा पृथ्वीपर भटकता रहता है, उस मनको यहां उस मनुष्यके अन्तःकरणमें वापस लाकर स्थिर शान्त और सुविचारी करते हैं जिस से यह मनुष्य दीर्घ आयुतक जीवित रहे और यहां के कार्य उत्तम करके कृतार्थ हो जावे ।

Thy mind, that went far away, that passed away (पृथिवीं) to earth and (दिवं) heaven, we cause to come to thee again that thou mayest live & sojourn here.

मन्त्रस्थ पदोंका अर्थ ।

१. दिवं- (द्यौः दिव्) स्वर्ग, आकाश ।

२. पृथिवी- भूमि । क्षय- निवास, सुखसे निवास । जीवसे- जीवन, दीर्घ जीवन, दीर्घ आयु ।

यत्ते भूमिं चतुर्भृष्टिं मनो जगाम दूरकम् । तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे ॥ ३ ॥ ४५८ ॥

पदानि-- यत् । ते । भूमिं । चतुःऽभृष्टिं । मनः । जगाम । दूरकं । तत् । ते । आ । वर्तयामसि । इह । क्षयाय । जीवसे ॥३॥

अर्थ- (यत् ते मनः) जो तेरा मन (दूरकं) बहुत दूर (चतुः भृष्टिं भूमिं) चारों दिशाओं वाली भूमिके प्रति (जगाम) गया है, उस मनको तेरे पास दीर्घ जीवन और सुस्थितिके लिये वापस लौटा लाते हैं।

भावार्थ- मनुष्यका जो मन भूमिपर विविध क्षेत्रोंमें जो व्यर्थ भटकता रहता है, उसको एक स्थानपर स्थिर करने के लिये वापस लाते हैं, इसलिये कि इससे इस मनुष्यको दीर्घायु प्राप्त हो और यहां उसका उत्तम निवास हो।

चतुःभृष्टिः= (चतुः) चार। भृष्टिः= नोक, कोना, बिन्दु, भूनना। भुना हुआ धान्य।

Thy mind, that went far away, away (चतुर्भृष्टिं भूमिं) to the four corners of the earth, we cause to come to thee again that thou mayest live and sojourn here.

यत्ते चतस्रः प्रदिशो मनो जगाम दूरकम्। तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे ॥ ४ ॥ ४८६ ॥

पदानि-- यत् । ते । चतस्रः । प्रऽदिशः । मनः । जगाम । दूरकं । तत् । ते । आ । वर्तयामसि । इह । क्षयाय । जीवसे ॥४॥

अर्थ- जो तेरा मन बहुत दूर (चतस्रः प्रदिशः) चारों दिशा-उपदिशाओंमें (जगाम) भटकता रहता है, उस मनको तेरे पास (आवर्तयामसि) वापस लाते हैं, इस लिये कि यहां तेरा उत्तम रीतिसे (क्षयाय) निवास हो और (जीवसे) तुझे दीर्घ जीवन प्राप्त हो।

Thy mind, that went far away to the (चतस्रः प्रदिशः) four quarters of the world, we cause to come to thee again that thou mayest live and sojourn here.

यत्ते समुद्रमर्णवं मनो जगाम दूरकम्। तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे ॥ ५ ॥ ४८७ ॥

पदानि- यत् । ते । समुद्रं । अर्णवं । मनः । जगाम । दूरकं । तत् । ते । आ । वर्तयामसि । इह । क्षयाय । जीवसे ॥ ५ ॥

अर्थ- जो तेरा मन दूर दूर तक (समुद्रं अर्णवं) सागर महासागर तक (जगाम) भटकता रहता है उस मनको तेरे पास तेरे (क्षयाय) निवासके लिये और (जीवसे) तेरी दीर्घ आयुके लिये (आवर्तयामसि) वापस लौटा लाते हैं।

Thy mind, that went far away, away unto the billowy sea, we cause to come to thee again, that thou mayest live and sojourn here.

मन्त्रस्थ पदोंका अर्थ।

१. समुद्र= समुद्र।
२. अर्णव= महासमुद्र।

यत्ते मरीचीः प्रवतो मनो जगाम दूरकम्। तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे ॥ ६ ॥ ४८८ ॥

पदानि- यत् । ते । मरीचीः । प्रऽवतः । मनः । जगाम । दूरकं । तत् । ते । आ । वर्तयामसि । इह । क्षयाय । जीवसे ॥ ६ ॥

अर्थ-जो तेरा मन बहुत दूरतक (प्रवतः मरीचीः) विशेष गतिवाली किरणोंके पीछे पीछे (जगाम)

स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा) की हिंदी पुस्तकें।

	मू.	डा०व्य०
१ ऋग्वेद-संहिता	५)	१)
२ यजुर्वेद-संहिता	२)	॥)
३ सामवेद (छप रहा है)	३)	॥)
४ अथर्ववेद	३)	॥)
महाभारत आदिपर्व	६)	१)
,, सभापर्व	२॥)	॥)
संस्कृतपाठमाला।	६॥)	।॥=)
वै. यज्ञसंस्था भाग १	१)	।)
अथर्ववेदका सुबोध भाष्य।		
१ प्रथम काण्ड सजिल्द	२)	॥)
२ द्वितीय काण्ड ,,	२)	॥)
३ तृतीय काण्ड ,,	२)	॥)
४ चतुर्थ काण्ड ,,	२)	॥)
५ पंचम काण्ड ,,	२)	॥)
६ षष्ठ काण्ड ,,	२)	॥)
७ सप्तम काण्ड ,,	२)	॥)
८ अष्टम काण्ड ,,	२)	॥)
९ नवम काण्ड ,,	२)	॥)
१० दशम काण्ड ,,	२)	॥)
११ एकादश काण्ड ,,	२)	॥)
१२ द्वादश काण्ड ,,	२)	॥)
१३ त्रयोदश काण्ड ,,	१)	॥)
१४ चतुर्दश काण्ड ,,	१)	॥)
१५ १५ से १८ तक ४ काण्ड	२॥)	॥)
छूत और अछूत	१॥।)	॥)
भगवद्गीता (पुरुषार्थबोधिनी)	९)	१॥।)
महाभारतसमालोचना। (१-२)	(१)	॥)
वेदस्वयंशिक्षक भा. १-२	३)	॥।)
१ संध्योपासना।	१॥)	।-)
२ योगके आसन। (सचित्र)	२)	।≡)
३ ब्रह्मचर्य।	१)	।-)
४ सूर्यभेदन-व्यायाम (,,)	॥)	॥)
५ योगसाधनकी तैयारी।	॥।)	॥)
यजु. अ. ३६ शांतिका उपाय	॥=)	≡)
शतपथबोधामृत	।)	-)

देवतापरिचय-ग्रंथमाला।		
१ रुद्रदेवतापरिचय	॥)	=)
२ ऋग्वेदमें रुद्रदेवता	॥=)	=)
३ देवताविचार	≡)	-)
४ अग्निविद्या	१॥)	-)
बालकधर्मशिक्षा।		
१ प्रथम भाग।	-)	-)
२ द्वितीय भाग	=)	-)
३ वैदिक पाठमाला। प्रथम पुस्तक	≡)	-)
आगमनिबंधमाला।		
१ वैदिक राज्यपद्धति।	।)	-)
२ मानवी आयुष्य।	।)	-)
३ वैदिक सभ्यता।	।॥)	≡)
४ वैदिक चिकित्साशास्त्र	।=)	-)
५ वैदिक स्वराज्यकी महिमा	॥)	=)
६ वैदिक सर्पविद्या।	॥)	=)
७ मृत्युको दूर करनेका उपाय।	॥)	=)
८ शिवसंकल्पका विजय।	॥)	=)
९ वेदमें चर्खा।	॥)	=)
१० वैदिक धर्मकी विशेषता	॥)	=)
११ तर्कसे वेदका अर्थ	॥)	=)
१२ वेदमें रोगजंतुशास्त्र	≡)	-)
१३ वेदमें लोहेके कारखाने	।-)	-)
१४ वेदमें कृषिविद्या	≡)	-)
१५ ब्रह्मचर्यका विघ्न	=)	-)
१६ इंद्रशक्तिका विकास	॥)	=)
उपनिषद् माला। १ ईशोपनिषद्	१)	।-)
२ केन उपनिषद्	१।)	।-)
१ वैदिक अध्यात्मविद्या	॥)	=)
२ गीता-लेखमाला १से७भाग	५॥)	१॥)
३ गीता-समीक्षा	=)	-)
४ यज्ञोपवीत संस्काररहस्य	१॥)	॥
५ भगवद्गीता (प्रथम भाग) (मायानन्दी भाष्य)	१)	॥)
६ भक्तके भगवान	॥)	=)
७ वेदोक्त प्रजननशास्त्र	॥।)	-)

Regd. No. B. 1463

संपूर्ण महाभारत ।

अब संपूर्ण १८ पर्व महाभारत छाप चुका है। इस सजिल्द संपूर्ण महाभारतका मूल्य ६५) रु. रखा गया है। तथापि यदि आप पेशगी म० आ० द्वारा संपूर्ण मूल्य भेजेंगे तो यह ११००० पृष्ठोंका संपूर्ण, सजिल्द, सचित्र ग्रन्थ हम ६०) रु० में दे सकते हैं। आपसे रुपया आतेही सब पुस्तकें आपको रेल पार्सल द्वारा भेजेंगे, जिससे आपको सब पुस्तक सुरक्षित पहुंचेंगे। यदि रेल्वे स्टेशन आपके पास नही, तो डाकद्वारा भेज देंगे। रुपया म० आर्डरसे भेज दें, जिसे आधा डाकव्यय माफ होगा। वी० पी० से मंगावायेंगे तो सब डाकव्यय आपको देना होगा। **महाभारतका** नमूना पृष्ठ और सूची मंगाईये।

श्रीमद्भगवद्गीता ।

इस **'पुरुषार्थबोधिनी'** भाषा-टीकामें यह बात दर्शायी गयी है कि वेद, उपनिषद् आदि प्राचीन ग्रन्थोंके ही सिद्धांत गीतामें नये ढंगसे किस प्रकार कहे हैं। अतः इस प्राचीन परंपराको बताना इस **'पुरुषार्थ-बोधिनी'** टीका का मुख्य उद्देश्य है, अथवा यही इसकी विशेषता है।

गीता— के १८ अध्याय ३ सजिल्द पुस्तकोंमें विभाजित किये हैं—

अध्याय १ से ५ मू. ३) डा॰ व्य. ॥=)
,, ६ ,, १० ,, ३) ,, ,, ॥=)
,, ११ ,, १८ ,, ३) ,, ,, ॥=)

फुटकर प्रत्येक अध्याय का मू० ॥) आठ आने और डा. व्य. =) है।

आसन ।

'योग की आरोग्यवर्धक व्यायाम-पद्धति'

अनेक वर्षोंके अनुभवसे यह बात निश्चित हो चुकी है, कि शरीरस्वास्थ्यके लिए आसनोंका आरोग्यवर्धक व्यायामही अत्यंत सुगम और निश्चित उपाय है। अशक्त मनुष्यभी इससे अपना स्वास्थ्य प्राप्त कर सकते हैं।

इस पद्धतिका सम्पूर्ण स्पष्टीकरण इस पुस्तकमें है। मूल्य केवल २) दो रु० और डा० व्य० ।≡) सात आने है। म० आ० से २।≡)रु० भेज दें।

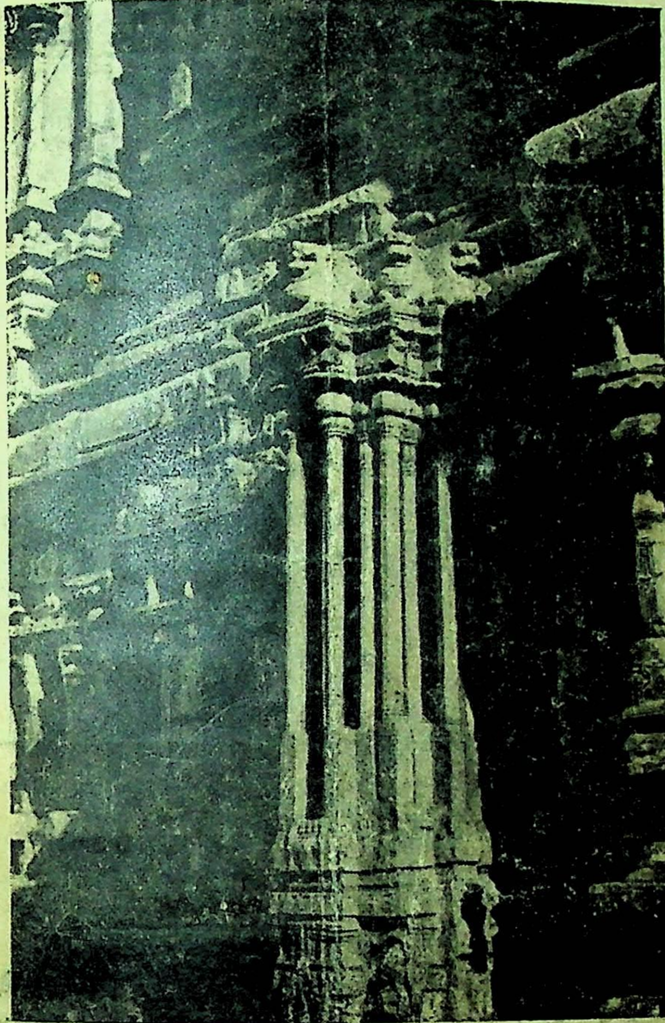
मंत्री-स्वाध्याय-मण्डल, औंध, (जि०सातारा)

मुद्रक और प्रकाशक— व० श्री० सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध

वैदिक धर्म।

जून १९४०
संवत् १९९६

3-6-40



विजयनगरके विठ्ठल-मंदिरका
सप्तस्वरस्तम्भ।

वर्ष २१, अंक ६] [क्रमांक २४६

वैदिक धर्म ।

[मासिक पत्र]

संपादक
पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

सहसंपादक
पं० तडित्कान्तजी वेदालंकार

स्वाध्याय-मण्डल, औन्ध

वार्षिक मूल्य म. आ. से ५) रु. वी. पी. से ५।।) रु. विदेशके लिये ६।।) रु.

वर्ष २१] विषयानुक्रमणिका [अङ्क ६

वैदिकधर्म

क्रमांक २४६

वर्ष २१ : : : : अंक ६

वैशाख संवत् १९९६

जून १९४०

देवताका रूप।

अविर्वै नाम देवता ऋतेनास्ते परीवृता।
तस्या रूपेणेमे वृक्षा हरिता हरितस्रजः॥
(अथर्व० १०।८।३१)

(**अविः नाम वै**) सबकी रक्षण करनेवाली निःसन्देह है वह (**देवता**) देवता, जो (**ऋतेन परिवृता आस्ते**) सत्यसे आवृत है। (**तस्याः रूपेण**) उसीके रूपसे (**इमे वृक्षाः**) ये वृक्ष (**हरिताः**) हरेभरे और (**हरितस्रजः**) हरे पत्तोंवाले हुए हैं।

सत्य के सामर्थ्य से युक्त एक महती देवता है, जिसका रूप प्राप्त करके ये वृक्ष हरेभरे और फलोंफूलोंसे युक्त होकर शोभायुक्त हुए हैं। इसी तरह अन्य पदार्थों में भी उसी देवताका रूप भरा हुआ है।

ऋग्वेद और सामवेद ।

छांदोग्य-उपनिषदमें कहा है कि 'या ऋक् तत् साम' जो ऋग्वेद का मन्त्र है, वही सामवेद का मन्त्र है, अर्थात् ऋग्वेदमन्त्रही सामवेद में लिया है तथा और कहा है 'ऋचि अधूढं साम गीयते' ऋग्वेद के मन्त्रपर तान, आलाप लेकर सामगान किया जाता है । और भी कहा है-

एतस्य साम्न ऋगेवास्थीनि, स्वरो मांसानि । स्तोभा लोमानि ॥ (सामविधानब्राह्मण १।१।१)

इस सामगान की हड्डियां ऋग्वेदमन्त्र हैं, स्वर मांस हैं और स्तोभ लोम हैं। इस तरह सर्वत्र सामका आधार ऋग्वेद के मन्त्र हैं, ऐसा कहा है । यहां विचार इस बात का करना है कि, सामवेद में जो मन्त्र लिये गये हैं, वे आजकल जो शाकल संहिता का ऋग्वेद मिलता है, उस ऋग्वेद से लिये गये हैं, अथवा किसी अन्य शाखावाली ऋग्वेद की अन्य संहितासे लिये गये हैं ?

आजकल हमारे पास सामवेद की तीन संहिताएं हैं । उसमें से सबसे प्रथम हम कौथुमीय सामवेद के मन्त्रों की ऋग्वेद के मन्त्रोंके साथ तुलना करते हैं और देखते हैं कि इन दो संहिताके मन्त्रों के पाठभेद क्या दर्शाते हैं ?

प्रथम हम देखते हैं कि जहां ऋग्वेद में 'सुव' है वहां कौथुमीय सामवेद में—इस हमारे सामवेदमें 'स्व' है, जैसा उपनिषदोंमें 'सुवर्ग' और 'स्वर्ग' ये दो शब्द लिखे हैं । ये दो शब्द एकही जमात की भाषाके प्रतीत नहीं होते । कई 'सुवर्ग' शब्द का प्रयोग करते थे और दूसरी शाखावाले 'स्वर्ग' शब्द बोलते थे । इसी तरह 'सुवान' और 'स्वान' में हमें शाखाभेद प्रतीत होता है। जैसा जातिभेद, देशभेद वैसाही शाखाभेद भी सम्प्रदायों का भिन्नत्व दर्शाता है ।

वेदों की विभिन्न शाखाएं विभिन्न देशोंमें वसती थीं, यह तो बात सब जानते ही हैं । जैसी शुक्ल-यजुर्वेदी उत्तर भारतमें और कृष्ण-यजुर्वेदी दक्षिण भारतमें हैं, इसी तरह 'सुवान' प्रयोग करनेवाली वेदशाखा और 'स्वान' शब्दका प्रयोग उसी स्थानपर करनेवाली वेदशाखा एक नहीं हो सकती । देखिये इसके उदाहरण—

सुव और स्व ।

ऋग्वेद ।	सामवेद ।
सुवानासः ८।३।६;८।५१।१० ९।१०।४;९।७९।१	स्वानासः १५८८; ५५५; १६१०; ११२२
सुवानो ९।१८।१;९।५२।१ ९।१०७।१०	स्वानो ४७१;१०९३;४९६; ५१३;१६८९
सुवाना ९।१३।५;९।६५।२४ ९।१०१।१०	स्वाना ५४८;११०१;११६५ ११९२
सुवान ९।१०७।३	स्वान १३१५
सुवान इन्दुः ९।९७।४०	स्वानो अद्रिः ५२९;१२५३
सुवानो अक्षा ९।९८।३	स्वानो अक्षरत् १२४०
सुवानो याति ९।९।१	स्वानैर्याति ४७३;९३५
षुवाणः ९।१०७।८	ष्वाणः ५१५; ९९७

इस तरह स्थानस्थान पर यही 'स्वान' शब्द का प्रयोग सामवेदमें दीखता है और ऋग्वेदमें 'सुवान' का प्रयोग दीखता है ।

इसी तरह 'वः' और 'उवः' के प्रयोग भी शाखाभेदहि दिखाते हैं । ये प्रयोग निम्नलिखित उदाहरणों में देखे जा सकते हैं—

वः और उवः ।

ऋग्वेद	सामवेद
सुभ्वः १।५२।१	सुभुवः ३७७
सुद्र्वं ७।३२।२०	सुद्रुवं २३८;८६७
ब्रवन् ९।३९।१	ब्रुवन् ८९८
स्वयशस्तरं ८।६०।११	सुयशस्तरं ४३

ऐसे अनेक उदाहरण मिल सकेते हैं, परन्तु इतने इस विषय की सिद्धता करने के लिये पर्याप्त हैं । यहां परिपाठी का भेद निःसन्देह है । इसी तरह 'य' और 'इय' के भी कई उदाहरण हैं । जिनमें ये दोहि अब यहां देखिये-

यः और इय ।

समुद्रियः। ऋ० ९।१०७।१६   समुद्र्यः। साम० ८५८

प्रायः संस्कृत भाषामें 'इ और उ' तथा 'य और व' के नियम समान होते हैं। परन्तु ऊपर के उदाहरणोंमें आश्चर्य यह है कि ऋग्वेद के 'व' के स्थानमें सामवेदमें 'उव' हुआ दीखता है, परन्तु इसके विपरीत सामवेद के 'य' के स्थानपर ऋग्वेदमें 'इय' है, ऐसा दीखता है। यह एक आश्चर्य ही है। इस तरह ओष्ठय और तालव्य में विपरीत भाव क्यों है, यह खोज का विषय अवश्य हो सकता है।

ह्रस्व और दीर्घ ।

ऋग्वेद	सामवेद
धृष्णवियानः १।३०।१४	धृष्णवीयानः १०८५
द्विपाच्चतुष्पदर्जुनि १।४९।३	द्विपाच्चतुष्पादर्जुनि ३६७

ऋग्वेदमें जहां ह्रस्व स्वर आता है, वहां सामवेदमें कई स्थानोंपर दीर्घ स्वर दीखता है। इसके ये उदाहरण हैं। इसीतरह स्वरभेद होनेके निम्नलिखित उदाहरण भी देखने-योग्य है। ऋग्वेद के 'अव्यो' पाठके स्थानपर सामवेद में 'अव्या' अथवा 'अव्य' पाठ है।

स्वरभेद ।

ऋग्वेद	सामवेद
अव्यो वारे ९।७।६	अव्या वारे ११३३
अव्यो वारं ९।२८।१	अव्यं वारं १२८०
अव्यो वारे ९।५०।३	अव्या वारैः १२०७

ये शब्दप्रयोग अनेकानेक स्थानपर ऐसेहि आते हैं, अतः इसका कोई खास नियम होना चाहिये। अब शब्दों के उलटपुलट होनेके भी कई उदाहरण हैं, देखिये—

शब्द-व्युत्क्रम ।

ऋग्वेद	सामवेद
वत्सं गावो ६।४५।२८	गावो वत्सं २०१
यूयं वयं ९।९८।१२	वयं यूयं १६८०
वयं युजा ८।१७।३	युजा वयं ६६८
इन्द्र यस्ते ८।९५।५	यस्त इन्द्र ८८४
साकं...वाणं ९।९७।८	वाणं...साकं १११७

ऋग्वेद	सामवेद
अथावयमादित्य व्रते १।२४।१५	अथादित्य व्रते वयं ५८९
नो हर्य तद्वचः १।५७।४	तद्धर्य नो वचः ३७३
सत्यमिन्द्रं सत्य इन्दुः २।२२।१;३,२	सत्य इन्दुः सत्यमिन्द्रं ४५७;१४८६-८८
मातरः ९।१२।२	धेनवः ११९७
धेनवः ९।१३।७; ९।१००।७	मातरः ११९३;१०१७

इन उदाहरणों में शब्दों का हेरफेर स्पष्ट हुआ है। ऐसे शब्दों के हेरफेर होनेसे स्पष्ट हो जाता है कि, ये साम-मन्त्र इस ऋग्वेदसे लिये नहीं होंगे. किसी अन्य शाखाके ऋग्वेद के ये मन्त्र होंगे। परन्तु ऐसा कहने के पूर्व हमें और खोज करनी चाहिये। ऊपरके मन्त्रोंमें शब्द तो वेही हैं, परन्तु उनका स्थान आगेपीछे हुआ है। आगेके उदाहरणोंमें अनुस्वार का होना या न होना बताया है—

अनुस्वार का होना और न होना ।

ऋग्वेद	सामवेद
युक्ष्वा १।१०।३; १।८१।३ १।९२।१५; ६।१६।४३; ८।३।१७	युंक्ष्वा १३४६;१००४;१७३३; १३८३;३०१
मंहिष्ठं १।३०।१	महिष्ठं २१४
स्तृपत् सोमं २।२२।१	स्तृम्पत् सोमं ४५७;१४८६
मन्दन्तु त्वा ७।२२।१	मदन्तु त्वा ३९८;९२७
सयन्तं ९।८६।१८	संयतं ११५४

पाठक धातुपाठमें देखेंगे कि 'मद-मन्द; तृप्-तृम्प्; मह्-मंह; युक्ष्व-युंक्ष्व' ये विभिन्न ही धातु हैं। एकही धातु के ये रूप बिलकुल नहीं हैं। पाणिनीय धातुपाठमें 'तुप् और तुम्प' ये धातु हैं। महाराष्ट्र के ब्राह्मण मराठी भाषा बोलते समय 'तूप' बोलते हैं और अब्राह्मण 'तुम्प' शब्द का प्रयोग करते हैं। भिन्न जमातोंमें जैसे ये विभिन्न धातु प्रयुक्त होते हैं, वैसे ही वेद की भिन्न शाखाओंमें सानुस्वार और निरनुस्वार धातु प्रयुक्त होते होंगे। ठीक यही अनुमान इन शब्दोंके प्रयोग देखनेसे निकल सकता है। अब एकही मन्त्र में भिन्न अव्ययों का प्रयोग होनेके उदाहरण देखिये—

अव्ययभेद ।

ऋग्वेद	सामवेद
अघा ८।९८।११;१०।२५।१	अथा ११६०;४२२
समीं ८।९७।११	समु ९३२
परश्च नु १।८।५	पुरश्च नो १६६
यदी १।११।३	यदा ८२९
यदा १।८२।१	कदा ४१६
अत्रादेदिष्ट ८।४५।२६	तत्राददिष्ट १३१
अजोषा १।९।४	सजोषा २०५
तवेद्धि १।१५।५	तवेदं २२९
नूचित्स १।४१।१	न किः स १८५
विद्यामेषि १।५०।७	उद्यामेषि ६३८
आदर्थयास १।८२।१	इदर्थयास ४१६
नकिरेवा ४।३०।१	न क्येवं २०३
इत्ते ७।३२।१४	हि ते २८०;१६८२
दिवा ८।६।३०	दिवि २०
साधु ८।३२।१०	साधः २१७
यदि···च नु १०।११५।१	यत्···चिदा ६४
नाहुषीष्वां ६।४६।७	नाहुषीष्वा २६२
सचां ७।८१।२	सचा ७५२
प्रतरं १।९४।४	प्रतरां १०६५
चस्तुतीरुप १।८४।२	सुष्टुतीरुप १०३०

इस तरह और भी बीसियों उदाहरण हैं कि जहां भिन्न अव्ययों के प्रयोग हुए हैं । यदि इसी शाकल संहितावाले ऋग्वेद से ये साममन्त्र लिये गये होंगे, तो इस तरह अव्ययभेद क्यों दीखता है ? क्या ये प्रयोग सूचित नहीं करते कि जिस ऋग्वेद से ये साममन्त्र लिये हैं, वह ऋग्वेद किसी दूसरी शाखाका होगा ?

इस तरह संधिभेद भी विचारणीय है—

संधिभेद ।

ऋग्वेद	सामवेद
ण = न	
प्र णोनुमो ७।३१।४;१।११।२	प्र नोनुमो १३२;८२८
वृषो नपात् ८।१७।१३	वृषो णपात् ७२७
अर्षाणः ९।६१।१५	आर्षा नः १३३७
सुषुम्ना ५।७५।२	सुषुम्णा १७४४
ष = स	
प्रति ष्म ७।१५।१३	प्रति स्म २४
गोषखा ८।१४।१	गोसखा १२२;१८३४
पृतनाषहं ८।९८।१०	पृतनासहं ४०५; ११६९
तम्वभि ८।१५।१	तमु अभि ३८२
पृत्सु ८।१५।४	पृक्षु ३८३;८८०
समूळहमस्य १।२२।१७	समूढमस्य १६६९
पांसुरे „ „	पांसुले „

ये सब संधिप्रयोग और शब्दप्रयोग स्पष्ट रीतिसे दर्शा रहे हैं कि सामवेद का सम्बन्ध किसी अन्य ऋग्वेद से है । इसी तरह विभक्तिका भी भेद पर्याप्त स्पष्ट है—

विभक्तिभेद ।

ऋग्वेद	सामवेद
स्तोमा अनूषत १।११।८	स्तोमैरनूषत १२५२
मानुषा १।५१।१	मानुषं ३७६
मध्वः १।८४।१०;९।७।२	मधोः १००५; ११२९
वसुं सूनुं १।१२७।१	वसोः सूनुं ४६५; १८१३
धनानां ३।३०।२२	धनानि ३२९
सोम्यं ३।५१।११	सोम्य ७३८
राधसे ३।५१।१२	राधसा ७३९
भवास्यूतिभिः ४।३१।३	भवास्यूतये ६८४
द्युमत्तमं ५।२४।२	द्युमत्तमो ११०८
चन्द्रो याति ८।४।९	चन्द्रैर्याति २७७
आयुधं ८।६।३	आयुधा १३०८
विशि ८।२३।१३	विशे ११४
मात्रोः ८।६०।१५	मातृषु ४६
हव्या „	हव्यं „
तमोजसे ८।६१।२	तमोजसा १२३४
ऊतिभिः ८।६१।१३	ऊतये २७४; १३२१
हस्ताय ८।७०।२	हस्तेन ९३४
महो दिवे ८।७०।२	महां देवो ९३४
ज्येष्ठो ८।७०।१	ज्येष्ठं २७३; ९३३
अग्नि ८।७१।१४	अग्निः ४९

ऋग्वेद	सामवेद
सोम्यः ८।९५।८	सोम्य १४०३
नरं ८।९७।१०	नरः ३७०; ९३०
धर्मभिः ९।७।७	धर्मणा ११३४
शत्रुषु ९।१९।६	शत्रवे ७६१
पवमान ९।१३।८	पवमानः ११९४
आयुषु ९।१९।३	आयूंषि १०००
रोचना ९।३७।३	रोचनं १२९४
वृजनं ९।८७।२	वृजना ६७८
वृष्णे ९।८७।४	वृष्णः ५३१
मूरा अमूरं १०।४६।५	मूरैरमूरं ७४
पुरंध्यां १।५।३	पुरंध्या ७४२

ये भेद एकही मन्त्रमें हैं और इनमें विभक्तिका भेद स्पष्ट है, अब शब्दभेद के उदाहरण देखिये —

शब्दभेद

ऋग्वेद	सामवेद
क्रिविं १।३०।१	क्रुविं २१४
शवसश्चकांन ७।२७।१	श्रवसश्च काम ३१८
श्रुतस्य ८।२।१३	सुतस्य १८०४
मन्मना ८।६।११	जन्मना १५०१
संगथे च ८।६।२८	सङ्गमे च १४३
विशो ८।११।८	दिशो ११६७
शुष्ममुत ८।१५।७	दक्षमुत १६४५
मन्मना…तन्वं ८।४४।१२	जन्मना…तन्व १७११
शस्तं ८।४५।२	शस्त्रं १३३९
विधतः ८।६१।१४	विधर्ता १३२२
उपमं ८।६२।८	उपमां ३९१
महानां ८।६३।१; ८।९२।३	महोनां ३५५; ७१५
स्तोमाः ८।६४।१	सोमाः १९४; १३५४
समना ८।६६।७	सवने २७२; १६९१
अव्रतस्य ८।७२।११	अवटस्य १६०३
नमसावतं ८।७२।१०	नमसावटं १६०४
दर्ता ८।९८।६	धर्ता १२४९
वसानो ९।७।४	पुनानो ११३१
त्वा विप्रा ९।८६।३९	त्वा नरः ९५५

क्रियाभेद

ऋग्वेद	सामवेद
नयतु विद्वान् १।९०।१	नयति विद्वान् २१८
व्यशेम १।८९।८	व्यशेमहि १८७४
शोभसे १।८४।१०	शोभथा १००५;४०९
हवामहे १।१०।११	हुवेमहि ३८०
दशस्यतं १।११३९।५	दिशस्यतं २८७
यन्तु १।१३९।१	यन्ति ४६१
भवत् २।५।३	भुवत् ९४
आसाते २।४१।५	आशाते ९११
पति सं ७।३।२	पषि सं १२२१
पिवत ७।५९।३	पिवन्तु २४१
देयाम् ८।१।५	दीयसे २९१
शिषामहि ८।२४।१	शिषामहे ३९०
यमन् ८।९२।३१	यमत १२८
आशुषे ८।९३।१६	आशिषे २०८
आभवः ८।२३।१७	आभुवः १८८
दीयति ९।३।१	दीयते १२५६
दशस्यति ९।३।१	दिशस्यति १२५९
धान्तु ९।८।२	धत्त ११७९
आसते ९।१५।२	आशत १२६७
मृशसे ९।२०।३	मृज्यसे ९७०
षिच्यते ९।४२।४	षिच्यसे ७६०
भव ९।६१।२१	भुवः ८१७
राजति ९।७५।३	राजसि ७०२
कृणुते ९।७६।१	कृणुषे ५५८;१२२८
गच्छति ९।८६।१२	गच्छसि १०३३
नदयन्नेति ९।९७।१३	नदयन्नेषि ८०६
परि ष्वजन्ते १०।४३।१	परि ष्वजन्त ३७१
नयन्ति १०।१२६।१	नयति ४२६
आदिदेशति १०।१३४।२	अभिदासति १०९२
ततो नो देहि १०।१८६।३	तस्य नो धेहि १८४२
कृणु हि वीतये १।१३।२	कृणुह्यूतये १३४८
धेहि १।७९।४	देहि १५६१
आ वावृधे १।८१।१	आ वावृते ४२३
रन्धयः ६।४३।१	रन्धयन् ३९२

ऋग्वेद	सामवेद
ह्वयामि शक्रं ६।४७।११	हुवे नु शक्रं ३३२
हतो...हतो ६।६०।६	हथो...हथो ८५५
हतो विश्वा ६।६०।६	हथो विश्वा ८५५
वेषि च ७।१६।५	यासि च ६१
प्रचरा ७।३१।१०	प्र चर ३२८;१७९३
आनशुः ८।३।१६	आशत १३६२
जग्रभ ८।६।१०	जग्रह १५२;१५००
पुनीत ८।१३।१	पुनीषे ३८१;७४६
तमह्वे ८।१३।३	तमु हुवे ७४८
मोहिरे ८।१९।१	मूहिरे १०२;१६८७
नोऽवृतः ८।३३।१०	नोऽविता २६३
यच्छतु ८।३४।२	वक्षतु १८०९
यन्त ८।९८।७	ग्मन्त ४०६;८१०
नक्षन्त ८।१०३।१	नक्षन्तु ४७;१५१५
भव ९।१।३	भुवो ६९१
रोचते ९।२।६	दियुते ४९७;१०४२
घृष्वय ९।२।८	धृष्वय १०४४
मृञ्जत ९।२४।१	वृञ्जते ९६१
अर्षन्ति ९।३३।३	अर्षन्तु ७६६
वीयसे ९।८६।३७	ईयसे ९५७
सीदन्तु १।४४।१३	सीदतु ५०
आ भरं ६।४६।५	आ भर ५८६

एकही मन्त्रमें विशेष पाठभेद।

प्रथमं मण्डलम्।

ऋग्वेद	सामवेद
सानुमारुहन्नूर्यं १०।२	सान्वारुहो भूर्य १३४५
पृथिव्याः सप्त धामभिः २२।१६	पृथिव्या अधि सानवि १६७४
जज्ञाना पूत० २३।४	या जाता पूत० ७९३
त्मनाप्तः ३०।१४	त्मना युक्तः १०८५
सीमिदन्य ईळते ३६।१	समिदन्य इन्धते ५९
अज्मेष्वत्नत ३७।१०	यज्ञेष्वत्नत २२१
प्रातर्यावाणो अध्वरम् ४४।१३	प्रातर्यावभिरध्वरे ५०
सोम ऋतावृधा ४७।१	सोमो दिविष्टिषु ३०६
अदश्रमस्य ५०।३	अदश्रन्नस्य ६३४
नप्त्यः ५०।९	नप्त्यः ६३९
रथमेन्द्रं ५२।१	रथमिन्द्रं ३७७
इन्मदे ब्रह्मा ८०।१	इन्मदो ब्रह्म ४१०
तमु त्वं मायया ८०।७	तव त्यन्मायया ४१२
स्वाजिषूतेमर्भे ८१।१	स्वाजिषूतिमर्भे १००२;४११
आसन्निषून्हृत्स्वसो ८४।१६	आसन्नेषामप्सुवाहो ३४१
ततन्थोर्वन्तरिक्षं ९१।२२	ततनोरुर्वान्तरिक्षं ६०४
त्रिष्वा १०५।५	मध्यं ३६८
ऋतं कदनृतं क्व १०५।५	कदमृतं का ३६८
सवायँ एवा ११३।१	सवायैवा १७४९
वष्टि शोचिष १२७।१	शुक्रशोचिष १८१३;४६५
सत्पतिरस्तं १३०।१	सत्पतिरस्ता ४५९
वयं... सुते सचा १३०।१	सुतेष्वा ४५९
विवस्वति संदायि नव्यसी १३९।१	विवस्वते संदाय नव्यसे ४६१
सु न उप यन्तु अच्छा १३९।१	नूनमुप यन्ति अच्छ ४६१
दाश्वान्वोचे १५०।१	दाशिवाँ वोचे ९७
त्रिवन्धुरो १५७।३	त्रिवन्धुरो १७६०

द्वितीयं मण्डलम्।

ऋग्वेद	सामवेद
वोचद्ब्रह्माणि ५।३	वोचद्ब्रह्मेति ९४
यथावशत् २२।१	यथावशम् १४८६;४५७
यद्देवस्य २२।४	यो देवस्य ४६६
भुवद्विश्वमभ्यादेवं २२।४	भुवो विश्वमभ्यदेवं ४६६
विदादूर्जं० विदादिषम् २२।४	विदेदूर्जं० विदेद्विषम् ४६६
नपातं परि तस्थुरापः ३५।३	नपातमुप यन्त्यापः ६०७

तृतीयं मण्डलम्।

ऋग्वेद	सामवेद
पाति प्रियं रिपो ५।५	पात्यग्निर्विपो ६१४
सुदीदितिं ९।१	सुदंससं ६२
सन्निहाभवः ९।२	सान्निहाभुवः ५३
अर्कस्त्रिधातू... ऽजस्रो	त्रिधातुरर्को... ऽजस्रं
घर्मो हविरस्मि नाम २६।७	ज्योतिर्हविरस्मि सर्वम् ६१३
इव सुधितो गर्भिणीषु २९।२	इवेत्सुभृतो गर्भिणीभिः ७९
यमन्विं न ४५।१	येमुरिन्न १७१८

चतुर्थं मण्डलम् ।

ऋग्वेद	सामवेद
धेनोस्त्रिः सप्तः मातुः परमाणि विन्दन् १।१६	गोनां त्रिः सप्त परमं नाम जानन् ६०६
तज्जानती० व्रा १।१६	ता जानती० क्षा ६०६
भुवद० गोः १।१६	भुवन्न० गावः ६०६
असि य ईमा ९।१	अस्यय आ २३
नकिरिंद्र त्वदुत्तरो ३०।१	न कि इन्द्र त्वदुत्तरं २०३

पञ्चमं मण्डलम् ।

ऋग्वेद	सामवेद
राया परीणसा १०।१	राये पनीयसे ८१
समीधिरे ११।२	समिन्धते ९०९
अग्नेः स्तोमं १३।२	अग्ने स्तोमं १४०५
प्रशस्तिभिर्मर्तासो १६।१	प्रशस्तये मर्तासो ८८
विश्वानि यो अमर्त्यो हव्या मर्तेषु रण्यति १८।१	विश्वे यस्मिन्नमर्त्ये हव्यं मर्तास इन्धते ८५
तक्षन्त्वष्टा ३१।४	तक्षुस्त्वष्टा ४४०
सृजो वि धारा अव दानवं हन् ३२।१	सृजद्धारा अव यद्दानवान्हन् ३१५
उरोष्ट ३८।१	विभोष्ट ३६६
अधा नो विश्व ३८।१	अथा नो विश्व ३६६
द्युम्ना सुक्षत्र ३८।१	द्युम्नं सुदत्र ३६६
दावने ३९।२	दावनः ११७३
दित्सु ३९।३	दिक्षु ११७४
धायसे ७०।२	धाम च ९८६
ते रुद्रा स्याम ७०।२	वां मित्रा स्याम ९८६
पातं नो रुद्रा ७०।३	पातं नो मित्रा ९८७
तुर्याम ७०।३	साह्याम ९८७
वृषिः स्तोमेन प्रति भूषति ७५।१	वृषि स्तोमेभिर्भूषति प्रति १७४३;४१८

षष्ठं मण्डलम् ।

ऋग्वेद	सामवेद
ऋधद्यस्ते सुदानवे धिया मर्तः शशमते २।४	स घा यस्ते दिवो नरो धिया मर्तस्य शमतः ३६५
ऊती ष बृहतो २।४	ऊती स बृहतो ३६५
दिवि षन्छुक्र २।६	दिवि सं च्छुक्र ८३
जनानामासन्ना ७।१	जनानामासन्नः ११४०; ६७
नू सहः प्र नु वोचं... जातवेदसः ८।१	नू महः प्र नो वचो... जातवेदसे ६०९
मतिर्नव्यसी ८।१	मतिर्नव्यसे ६०९
तत्रा सदः १६।१७	तत्र योनिं ७०६
वसो १६।१८	पते ७०७
यासद्विश्वं १६।२८	यंसद्विश्वं २२
अग्निर्नो वनते १६।२८	अग्निर्नो वंसते २२
वहन्ति मन्यवे १६।४३	वहन्त्याशवः १३८३
पृष्ठादुक्थेभिरिन्द्रानयन्त यज्ञैः २४।६	पृष्ठादुक्थेभिरग्ने जनयन्त देवाः ६८
तं त्वाभिः सुष्टुतिभिर्वाजयन्त आजिं जग्मुर्गिर्वाहो अश्वाः २४।६	तं त्वा गिरः सुष्टुतयो वाजयन्त्याजिं न गिर्वाहो जिग्युरश्वाः ६८
वचांस्या सा...तक्षम् ३२।१	वचांस्यस्मै...तक्षुः ३२२
जग्मयेऽपश्चादध्वने नरे ४२।१	जग्मयेऽपश्चादध्वने नरः १४४०;३५२
यो रयिं वो ४४।१	यो रयिं वो ३५१
मंहिष्ठं विश्वचर्षणिम् ४४।४	शचिष्ठं विश्ववेदसम् ३५७
प्रहि व्रजं ४५।२४	प्र हि वज्रं १६६८
शतक्रतो ४५।२५	पुरुवसो १४६
इन्द्र वत्सं न मातरः ४५।२५	गावो वत्सं न धेनवः १४६
साता वाजस्यः ४६।१	सातौ वाजस्य ८०९;२३४
सहस्रमुष्क ४६।३	सहस्रमन्यो २८६
येनेमे चित्र ४६।५	यद्धिक्षेम ५८६
ओभे सुशिप्र प्राः ४६।५	उभे सुशिप्र पप्राः ५८६
स्वस्तिमत् ४६।९	स्वस्तये २६६
स्वस्ति नो मघवा धात्विन्द्रः ४७।११	इदं हविर्मघवा वेत्विन्द्रः ३३३
रेवन्नः शुक्र दीदिहि द्युमत्पावक दीदिहि ४८।७	रेवत्पावक दीदिहि ३७
यज्ञिया उभे ५२।१४	यज्ञमुभे ६१०
नृवत्कृणुहि वीतये ५३।१०	नृवत्कृणुह्यूतये १५९३
स्वधावो भद्रा ते ५८।१	स्वधावन्भद्रा ते ७५
हित्वी...वावदच्चरत् ५९।६	हित्वा...रारपच्चरत् २८१
इन्द्रमग्निं च वोळ्हवे ६०।१२	एन्द्रमग्निं च वोढवे ११५१
तन्ना नो ७५।१७	तत्र नो १८६६

सप्तमं मण्डलम् ।

ऋग्वेद	सामवेद
हस्तच्युती जनयन्त १।१	हस्तच्युतं जनयत १३७३;७२
मथर्युम् १।१	मथन्युम् १३७३,७२
सम्राजो असुरस्य प्रशस्तिं ६।१	सम्राजमसुरस्य प्रशस्तं७८
वन्दे दारुं वन्दमानो विवक्मि ६।१	वन्दद्वारा वन्दमाना विवष्टु ७८
आग्निरग्र उषसाम ८।१	आग्निरग्रमुषसाम ७०
साह्वानग्निः ष्टवे १२।२	साह्वानग्नि ष्टवे १३०५
रक्षतु विश्वतः १५।३	रक्षतु शन्तमः १३८१
देव धीमहि १५।७	धीमहे वयम् २६
मूर्वान्दयन्त १६।७	मूर्वं दयन्त ३८
विवष्ट्यासिचम् १६।११	विवष्ट्वासिचम् १५१३;५५
शवसा २३।१	श्रवसा ३३०
वृधे च ददो २४।१	वृधश्चिद्दो ३१४
क्षमि विपुरूपं यदस्ति २७।३	क्षमा विश्वरूपं यदस्य५८७
उपस्तुतश्चिदर्वाक् २७।३	उपस्तुतं चिदर्वाक् ५८७
त्व१स्य नो ३१।४	त्वा३स्य नो १३२
महिवृधे ३१।१०	महे वृधे १७९३;३२८
आरात्ताच्चित् ३२।१	आरात्ताद्वा १६७५;२८४
त्वावसुमा ३२।१४	त्वा वसवा १६८२;२८०
श्रद्धा इत्ते ३२।१४	श्रद्धा हि ते १६८२;२८०
स्तोतारमिद्दिधिषेय ३२।१८	स्तोतारमिद्दधिषं १७९६ ३१०
रासीय ३२।१८	रंसिषम् १७९६;३१०
न दुष्टुती मर्त्यो विन्दते वसु ३२।२१	न दुष्टुतिर्द्रविणोदेषु शस्यते ८६८
मघवन्त्सनादसि ३२।२४	मघवन्बभूविथ ३०९
अदर्शायत्यु१च्छन्ती ८१।१	अदर्शायत्यू३च्छन्ती ७५१;३०३
महि व्ययति चक्षसे ८१।१	मही वृणुते चक्षुषा।७५१;३०३
गीर्भिर्विपन्यवः ९४।६	गीर्भिर्विपन्युवः ८०२
नामार्यः १००।५	हव्यमर्यः १६२६
परिचक्ष्यं भूत्म १००।६	परिचक्षि नाम प्र १६२५

अष्टमं मण्डलम् ।

ऋग्वेद	सामवेद
यथाजुरं गां १।२	यथा जुवं गां १३६१
त्वामद्रिवः १।५	त्वाद्रिवः २९१
आ त्व१द्य १।१०	आ त्वा३द्य २९५
वसुरिष्कर्ता १।१२	वसुर्निष्कर्ता २४४
मा त्वा १।२०	आ त्वा ३०७
याचन्नहं गिरा १।२०	याचन्नहं ज्या ३०७
नृभिर्धूतः...अश्वैरव्यो २।२	नृभिर्धौतः... अश्वैरव्या ७३५
शस्यमानमगोररिरा २।१४	शस्यमानं नागो रयिरा १८०५;२२५
स्तोमं चिकेत २।१७	स्तोमैश्चिकेत ७२०
ओ षु प्र याहि...	आ याह्युप नः सुतं...
हृणीथा अभ्य१स्मान् २।१९	हृणीयथाः २२७
गीर्भिः श्रुतं २।२७	इन्द्रं गीर्भिः हृयणीथाः १६५८
सधमाद्यो ३।१	सधमाद्ये १४२१;२३९
ब्रह्माभिः स्तोमवाहस ४।२	स्तोमेभिर्ब्रह्म वाहस१२३२
इदिन्द्र ४।९	यदिन्द्र २७७
यत्सत्य ५।१	यत्सतो २१९
विश्वधातनत् ५।१	विश्वथातनत् २१९
दोधतो वज्रेण शतपर्वणा शिरो बिभेद वृष्णिना ६।६	दोधतः शिरो विभेद वृष्णिना वज्रेण शत- पर्वणा १६५२
त्वांकामया ११।७	त्वां कामये११६६;८
न्य१त्रिणं १२।१	न्या३त्रिणं ३९४
दक्षसो महान्हि षः १३।१	दक्षस्य महाँ हि षः ७४६;३८१
यदभिनद्वलम् १४।७	यदभिनद्वलम् १६४०
द्रप्सो भेत्ता पुरां १७।१४	द्रप्सः पुरां भेत्ता २७५
सा शंताति १८।७	सा शन्ताता १०२
सुमहसः १८।१८	समहसः ३९५
तं गूर्धया १९।१	तं गूर्द्धया १६८७;१०९

ऋग्वेद	सामवेद
ऊर्जो नपातं १९।४	अपां नपातं १४१४
आग्निं १९।४	अग्निमु १४१४
यस्सासहस्सदने कं १९।१५	यस्सासाहा सदने कं ११३
दूढ्यः १९।१५	दूढ्यम् ११३
सासहः १९।२०	सासहिः १५६०
आभिष्टिभिः १९।२०	अभिष्टये १५६०
सुवीराभिस्तिरते वाजभर्मभिः १९।३०	सुविराभिस्तरति वाजकर्मभिः १८२२; १०८
सख्यमावरः १९।३०	सख्यमाविथ १८२२; १०८
माप स्थाता २०।१	माप स्थात ४०१
स्थिरा चिन्न २०।१	दृढा चिद्य ४०१
वाजे चित्रं २१।१	वाज्रिं चित्रं ७०८; ४०८
याहीम इन्दवो २१।३	याह्ययमिन्दवे ४०२
प्रतीव्यं१ २३।१	प्रतीव्यां३ १०३
मायिनस्तपुषा २३।१४	मायिनस्तपसा १०६
हव्यदातिभिः २३।१५	हव्यदातये १०४
राधसा चोदयाते २४।१३	राधांसि चोदयते १५०९;३८६
हरीणां पतिं दक्षं २४।१४	हरीणां पतिं राधः १५१०
मध्वो मदिन्तरं सिञ्च वाध्वर्यो २४।१६	मधोर्मदिन्तरं सिञ्चाध्वर्यो १६८४; ३८५
ब्रह्मणस्पतिं २७।१	ब्रह्मणस्पते ४८
अपि ष्मसि ३२।७	अपि स्मसि २३०
समुपारणे ३२।२१	समुपेरय २२३
इमं रातं ३२।२१	अस्य रातौ २२३
गम इन्द्र ३३।२	गमदिन्द्र ८६५
गायान्धसो ३३।४	गा अन्धसो २८९
हर्योर्यः सुते सचा वज्री रथो ३३।४	हर्योर्यो हिरण्यय इन्द्रो वज्री २८९
पृच्छद्वि ४५।४	पृच्छाद्वि २१६
के ह ४५।४	के हा २१६
ब्रह्मद्विषो ४५।२३	ब्रह्मद्विषं ७३२
गोपरीणसा ४५।२४	गोपरीणसं ७३३
विश्वमानुषो ४५।४२	विश्वमानुषग् १०७१
मित्रः पान्त्यद्रुहः ४६।४	मित्रास्पान्त्यद्रुहः २०६
वरिवस्य महामह ४६।१०	वरिवस्या महोनाम् १८६
चिकित्तुर्हव्यवाट् स ५६।५	चिकितिर्हव्यवाड्न ४४७

ऋग्वेद	सामवेद
स्तेपानो ६०।१९	स्तपानो ३९
गृहपतिर्महाँ ६०।१९	गृहपते महाँ ३९
मघवा सोम ६१।१	मघवान्त्सोम १२३३; १९०
राधस्पते ६१।१४	राधसस्पते १३२२
पणीँ रराधसो ६४।२	पणीनराधसो १३५५
मदे सुशिप्रमन्धसः ६६।२	मदेषु शिप्रमन्धसः ६८८
सुम्नाय ६८।१	सुम्नाय १७७१; ३५४
इन्द्र सत्पते ६८।१	इन्द्रं सत्पतिम् १७७१; ३५४
मन्दद्वीरा ६९।१	वन्दद्वीरा ३६०
पुरं न ६९।८	पुरमिद् ३६२
धृष्ण्वोजसम् ७०।३	धृष्णुमोजसा ११५५; २४३
क्षामो अनोनवुः ७०।४	क्षामीरनोनवुः ११५६
आपदिषं ७०।७	आप तदिषं २६८
एतशा हरी इन्द्रो ७०।७	एतशो इन्द्रो हरी २६८
उपावतावतं ७२।१२	उपवदा वटे १६०२; ११७
आगन्म ७४।४	अगन्म ८९
यस्य श्रुतर्वा बृहन्नार्क्षो अनीक एधते। ७४।४	य स्म श्रुतर्वन्नार्क्ष्ये बृहदनीक इध्यते। ८९
यं… चनिष्ठदग्ने ७४।११	तं… जनिष्ठदग्ने २९
अस्मिन्महाधने ७५।१२	अग्ने महाधने १६५०
पीत्वी ७६।१०	पीत्वा ९८८
ऋक्षमाणमकृपेताम् ७६।११	स्पर्धमानमददेताम् ९८९
नवस्त्रक्तिमृतस्पृशम् ७६।१२	नवस्त्रक्तिमृतावृधम् ९९०
न मर्तासो ८१।३	न मर्तासो ७३०
अग्निं रथं ८४।१	अग्ने रथं १२४४; ५
प्रचेतसं यं देवासो अध ८४।२	प्रशंस्यं यं देवास इति १२४५
श्रुणुधी ८४।३	श्रुणुही १२४६
परीणसो ८४।७	परीणसि ३४
दंपते ८४।७	सत्पते ३४
यद्दित्ससि ८८।३	यच्छिक्षसि २९६
प्र हि रिरिक्ष ८८।५	प्र यो रिरिक्ष ३१२
दिवो अन्तेभ्यस्परि ८८।५	दिवः सदोभ्यस्परि ३१२
पार्थिवमनु स्वधां ८८।५	पार्थिवमति विश्वं ३१२
उत द्याम् ८९।५	उतो दिवम् १४२९; ६०१
हव्य इन्द्रः० भूषतु ९०।१	हव्यमिन्द्रं० भूषत १४९२,२६९
वृत्रहा० ऋचीषमः ९०।१	वृत्रहन्० ऋचीषम १४९२;२६९

ऋग्वेद	सामवेद
शवसस्पते ९०।५	शवसस्पतिः १४११;२४८
इदनुत्ता चर्षणीधृता ९०।५	इत्पुर्वनुत्तश्चर्षणी धृतिः १४११;२४८
गाथान्यं१ ९२।२	गाथान्यां३ ७१४
अतश्चिदिन्द्र ण ९२।१०	अतश्चिदिन्द्र न २१५
गायति श्रुतकक्षो अरं ९२।२५	गायत श्रुतकक्षारं ११८
स्तुवीमघ ९२।२९	स्तुविमघ ८२५
मे सचा ९२।२९	नः सचा ८२५
स मदे ९३।८	स बले १२२३
ऋष्वो ९३।९	उग्रो १२२४
बोधिन्मना ९३।१८	बोधन्मना १४०
वृधासो ९३।२३	वृधन्तो १५१
सोमाः सुता इमे ९३।२५	सुतासः सोमाः २१३
इन्द्रमा वह ९३।२५	इन्द्र मृडय २१३
जोषमाँ ९४।६	जोषमा १७८७
समनूषतेन्द्र...मातरः ९५।१	समनूषत गावो...धेनवः ३४९
शुद्ध आशीर्वान् ९५।७	शुद्धैराशीर्वान् १४०२;३५०
दियानः ९६।१३	दीयानः ३२३
स्तंहितीर्नृमणा अधत्त ९६।१३	स्त्रीहितिं नृमणा अधद्राः ३२३
सधमाद्यः ९७।७	सधमाद्ये २६०
ऋत्वा वरिष्ठं वर आमुरि... तवसं ९७।१०	ऋत्वे वरे स्थेमन्यामुरी... तरसं ९३०;३७०
स्वर्पतिं यदीं ९७।११	स्वःपतिर्यदी ९३२
अभिस्वरा ९७।१२	अभिस्वरे ९३१
शवांसि ९७।१३	श्रवांसि भूरि ४६०
ववर्तद्राये ९७।१३	ववर्तराये ४६०
धर्मकृते ९८।१	ब्रह्मकृते १०२५;३८८
सत्राजिदगोह्यः ९८।४	सत्राजिदगोह्य १२४७;३९३
कामान्महः ससृज्महे ९८।७	काम ईमहे ससृग्महे ७१०;४०६
उरुयुगे ।...वचोयुजा ९८।९	उरुयुगे वचोयुजा ।... स्वर्विदा ७१२

ऋग्वेद	सामवेद
भरँ ओजो ९८।१०	भर ओजो ११६९;४०५
शतक्रतो ९८।१२	सहस्कृत ११७१
स्तोमवाहसामिह ९९।१	स्तोमवाहस इह ८१३;३०२
सुशिप्र हरिवस्तदीमहे त्वे आ ९९।२	सुशिप्रिन्हरिवस्तमीमहे त्वया ८१४
स्युपमान्युक्थ्या ९९।२	स्युपमान्युक्थ्य ८१४
जाते जनमान ओजसा ९९।३	जातो जनिमान्योजसा १३१९;२६७
अनर्शरातिं ९९।४	अनर्शिरातिं १३२०
सो अस्य ९९।४	यो अस्य १३२०
तुग्र्यावृधम् ९९।७	तुग्रियावृधम् २८३
वरूथ्यं१ १०१।५	वरूथ्ये३ २५५
पनस्यतेऽह्वा देव १०१।११	पनिष्टम मह्ना देव १७८८;२७६
अग्निमीधे १०२।२१	अग्निमिन्धे १९
अग्निर्देवाँ अच्छा न १०३।२	अग्निर्देव इन्द्रो न १५१७;५१
सानवि १०३।२	शर्मणि १५१७; ५१
धीभिः सपर्यत १०३।३	धीभिर्नमस्यत १५१६
प्र यं राये १०३।४	प्र यो राये ५८
यन्त्यग्नये १०३।६	यन्त्वग्नये ४४, १५८३
सुमतिर्नवीयसि १०३।९	सुमतिर्भवीयसि ८७९
हृणीतामतिथिः १०३।१२	हृणीथा अतिथिं ११०

नवमं मण्डलम्

ऋग्वेद	सामवेद
मयोहतम् १।२	मयोहते ६९०
द्रुणा १।२	द्रोणे ६९०
प्रशस्तयो महीः २।८	प्रशस्तये महे १०४४
विन्द्र्युर्मध्वः २।१०	विन्द्रियं मधोः १०४६
रजांस्यस्पृतः ३।८	रजांस्यस्तृतः १२६३
अव्यो वारेष्वस्मयुः ६।१	अव्या वारेभिरस्मयुः ५०६
योजनम् ७।१	योजना ११२८
युजो ७।३	युजा ११३०
वृषाव चक्रदद्वने ७।३	वृषो अचिक्रदद्वने ११३०
आ मित्रावरुणा भगं मध्वः ७।८	आ मित्रे वरुणे भगे मधोः ११३५
ऋतस्य योनि ८।३	देवानां योनि ११८०

ऋग्वेद	सामवेद
अद्रुहे ९।१	अद्रुहः ९३७
वनिष्ठया ९।१	पनिष्टये ९३७
सुता १०।४	मधो ११२२
जनन्त १०।५	जिन्वन्त ११२३
आसते सप्तजामयः १०।७	आशत सप्तजानयः ११२५
चक्षुश्रिस्सूर्यें सचा १०।८	चक्षुषा सूर्यं दृशे ११२६
प्रिया दिवस्पदं १०।९	प्रियं दिवस्पदम् ११२७
रिरीहि नः ११।९	रिरीहि णः १४४९
सादने १२।१	धारया ११९६
विचक्षणोऽव्यो १२।४	विचक्षणोऽव्या ११९९
कलशेष्वाँ १२।५	कलशेष्वा १२००
धीनामन्तः सबर्दुघः १२।७	धेनामन्तः सबर्दुघाम् १२०१
मानुषा युगा १२।७	मानुषा युजा १२०२
दिवस्पदा सोमो हिन्वानो अर्षति। विप्रस्य धारया कविः १२।८	दिवः कविर्विप्रः स धारया सुतः। सोमो हिन्वे परावति॥ १२०४
कारं १४।१	कारुं ४८६
शुभ्रावता १५।३	शुन्ध्यावता १२६९
पिब्दना १५।६	पिब्दनः १२७२
मृजान्ति सप्त धीतयः १५।८	हरिं हिन्वंति यातवे १२७३
अक्षाः १८।१	अक्षरत् १०९३;४७५
तव विश्वे १८।३	त्वे विश्वे १०९५
स्वर्पती १९।२	स्वःपती १००१
योनिमासदत् १९।३	योनिमासदः १०००
अव्यो वारेभिर्षति २०।१	अव्या वारेभिरव्यत ९६८
पातवे २४।३	मादनः ९६३
चर्षणीसहे २४।४	चर्षणीधृतिः ९६५
परिधावसि २४।५	परिदीयसे ९६४
सुतस्य मध्वः २४।७	सुतः स मधुमान् ९६७
वायुमा विश २५।२	वायुमारुहः ९२१
वृत्रहा देववीतमः २५।३	पवमानो अदाभ्यः ९२०
अपघ्नप स्त्रिधः २७।१	अपघ्नप द्विषः १२८६

❀

ऋग्वेद	सामवेद
विचर्षणिः २८।५	अधि द्यवि १२८४
विश्वा धामानि विश्ववित् २८।५	पवित्रे मत्सरो मदः १२८४
पवमानो अधि द्यवि २७।५	संवसानो विवस्वता १२८५
पवित्रे मत्सरो मदः २७।५	पतिर्वाचो अदाभ्यः १२८५
सुतस्यौजसा २९।१	सुतस्यौजसः १७६५
समुद्रमुक्थ्यम् २९।३	समुद्रमुक्थ्य १७६७
मघोनः ३२।१	मघोनाम् ४७७;७६९
विपश्चितोऽपां न यन्त्यूर्मयः ३३।१	विपश्चितोऽपो नयन्त ऊर्मयः ४७८;७६४
मर्मृज्यन्ते दिवः ३३।५	मर्जयन्तीर्दिवः ८७०
मंहना ३७।६	मंहयन् १२९७
रथोऽव्यो ०भिरर्षति ३८।१	रथोव्या ०भिरव्यत १२७४
वृष्टिं दिवः ३९।२	पृष्टिं दिवः ८९९
योनावृतस्य सीदत ३९।६	इन्दुमिन्द्राय पीतये ९०३
गमदिंद्रं सुतः ४०।२	गमदिन्द्रो सुतम् ९२५
सीदति ४०।२	सीदतु ९२५
प्र ये गावो ४१।१	प्र यद्गावो ४९१;८९२
मनामहेऽति दुराव्यम् ४१।२	वनामहेऽति दुराययम् ८९३
साह्वांसो ४१।२	साह्याम ८९३
अश्वावद्वाजवत्सुतः ४१।४	अश्ववत्सोम वीरवत् ८९५
स पवस्व विचर्षण ४१।५	पवस्व विश्वचर्षण ८९६
धारया पवते सुतः ४२।२	कविर्विप्रेण वावृधे ७५९
अजीजनत् ४२।४	अजीजनः ७६०
प्र ण... तन ४४।१	प्र न... तु न ५०९
महश्चिदभ्य वर्धत ४७।१	महान्त्सन्नभ्यवर्धथाः ५०७
उद्वृषायते ४७।१	इद्वृषायसे ५०७
रयिमभि राजानं ४८।३	रयिरभ्ययद्राजानं ८३८
अव्यथिर्भरत् ४८।३	अव्यथी भरत् ८३८
इन्द्रविंद्राय पीतये ५०।५	एन्द्रस्य जठरं विश १२०९
आ सृज ५१।१	आ नय ४९९;१२२५
पुनीहीन्द्राय ५१।१	पुनाहीन्द्राय ४९९;१२२५
मधोर्व्यश्नते ५१।३	मधोर्व्याशत १२२६
परि द्युक्षः सनद्रयिः ५२।१	परि द्युक्षं सनद्रयिं ४९६
सोम विश्वा च ५५।१	विश्वा च सोम ९७५
षड्भूम्या ६१।१०	सद्भूम्या ४६७; ६७२

ऋग्वेद	सामवेद
समुद्रमुक्थ्यम् ६१।१५	समुद्रमुक्थ्य १३३७
गोषा उ अश्वसा ६१।२०	गोषातिरश्वसा ८१६
अस्य ते ६१।२९	यस्य ते ७७९
तना अर्वते ६२।२	त्मना अर्वतः ८३१
धूतो सुतः ६२।५	धौतं सुतम् १००९
न हेतारः ६२।६	न हेतारम् १०१०
मध्वो रसं ६२।७	मधो रसं १०१०
रोमाण्यव्यया ६२।८	वाराण्यव्यया ९८०
सीदन्योना वनेष्वा ६२।८	सीदन्नृतस्य योनिमा ९८०
त्वमिन्दो ६२।९	त्वं सोम ९८१
शूरो न गोषु तिष्ठति ६२।१९	इन्दुरिन्द्राय धीयते ४८९
श्रवसे महे ६२।२२	शवसे महे १०६१
विश्वमेजय ६२।२६	विश्वचर्षणे ७७६
तुभ्यमर्षन्ति सिन्धवः ६२।२७	तुभ्यं धावन्ति धेनवः ७७७
हरितो दश ६३।९	हरितो रथे १२१८
प्रियः समुद्रमा ६३।२३	इन्दो समुद्रमा १२३६
दधिषे ६४।१	दध्रिषे ५०४; ७८१
वृषा मदः ६४।२	वृषा सुतः ७८२
हिन्वानो ६४।९	जज्ञानो ९६०
अक्रान्देवो ६४।९	क्रन्दं देवो ९६०
कवीनां मती ६४।१०	कवीनां मतिः ४८१
वाजिभिर्यतः ६४।१५	वाजिभिर्हितः ८४३
ऋतस्य ६४।२२	अर्कस्य ४७२;१०७६
वेधसः ६४।२३	धर्णसिम् १०७७
पिबन्ति ६४।२४	पिबन्तु १०७८
हेतृभिर्यत ६४।२९	हेतृभिर्हित ६५५
दिवः कविः ६४।३०	दिवा कवे ६५६
देवो देवेभ्यस्परि ६५।२	देव देवेभ्यः सुतः ९०५
स्वाध्यः ६५।४	स्वर्दृशम् ७८४;४८०
मृज्यमानो गभस्त्योः ६५।६	मर्मृज्यमान आयुभिः ७८५
द्रुणा ६५।६	द्रोणे ७८५
शतग्विनं ६५।१७	शतग्विनं ८३५
सीदञ्छ्येनो न योनिमा ६५।१९	सीदन्योनौ वनेष्वा ५०३;९९४

ऋग्वेद	सामवेद
सोमो अर्षति ६५।२०	सोमा अर्षन्तु ९९५
जङ्घ्नतो ६६।२५	जिघ्नतो १३१०
पवमानो व्यश्नवत् ६६।२७	पवमान व्यश्नुहि १३११
नृमादने ६७।२	मदिन्तमो १३२४
इंद्राय सूरिरन्धसा ६७।२	इंदुः सत्राजिदस्तृतः १३२४
शुष्ममुत्तमम् ६७।३	शुष्ममा भर १३२५
मदिन्तमाः ६७।१८	विपाश्चितः १८११
प्रसुपः ६९।६	प्रसुतः १३७०
प्रघ्नतामिव ६९।२	सुन्वतामिव १३७१
उक्षा मिमाति ६९।४	उक्षा मिमेति १३७२
दुदुह्रे पूर्व्ये ७०।१	दुदुह्रिरे परमे ५६०; १४१३
स भिक्षमाणो ७०।२	स भक्षमाणो १४१४
पित्रोरपीच्यं१ ७५।२	पित्रोरपीच्यां३ ७०१
रोचने ७५।२	रोचनं ७०१
नृभिर्येमानः ७५।३	नृभिर्येमाणः ७०२
अभीमृतस्य ७५।३	अभी ऋतस्य ७०२
प्र णः पिन्व ७६।३	प्र नः पिन्व १२३०
उप मासि ७६।३	उप माहि १२३०
वपुष्टरः ७७।१	वपुष्टमः ५५६
अभीमृतस्य ७७।१	अभ्यृ३तस्य ५५६
पयसेव ७७।१	पयसा च ५५६
वि च नशन्न इषो ७९।१	वि चिदश्नाना इषयो ५५५
नशन्त सनिषन्त नो ७९।१	गः सन्तु सनिषन्तु नो ५५५
वारं पर्येत्यव्ययं ८२।१	वारमत्येष्यव्ययं ५६२;१३१६
उतासरन्त्सं ग्रावभिर्नसते ८२।३	उदासरन्त्सं ग्रावभिर्वसते १३१७
सोम मृळय घृतं ८२।२	सोम नो मृड घृता १३१८
तत्समाशत ८३।१	सं तदाशत ५६५;८७५
दिवस्पदे शोचन्तो ८३।२	दिवस्पदेऽर्चन्तो अस्य ८७६
पवीतारमाशवो ८३।२	पवितारमाशवो ८७६
तिष्ठन्ति चेतसा ८३।२	रोहन्ति तेजसा ८७६
बिभर्ति भुवनानि ८३।३	मिमेति भुवनेषु ८७७

ऋग्वेद	सामवेद
धीजुवो ८६।४	धेनवो ८८६
प्रान्तर्ऋषयः स्थाविरीरसृक्षत ८६।४	प्रान्तरिक्षात्स्थाविरीस्ते असृक्षत ८८६
योना कलशेषु ८६।६	योनौ कलशेषु ८८७
प्रभोस्ते ८६।५	प्रभोष्टे ८८८
व्यानशिः धर्मभिः ८६।५	व्यानशी धर्मणा ८८८
अर्षस्यग्रे ८६।१२	अर्षस्यग्रे १०३३
भजते महाधनं ८६।१२	भजसे महद्धनं १०३३
पूयते वृषा ८६।१२	सोम सूयसे १०३३
शतयाम्ना ८६।१६	शतयामना ११५२;५५७
संवसनेष्वक्रमुः ८६।१७	संवरणेष्वक्रमुः ११५३
सोमं मनीषा अभ्यनूषत ८६।१७	हरिं क्रीडन्तमभ्यनूषत ११५३
पयसेम ८६।१७	पयसेद ११५३
पवमानो अस्त्रिधम् ८६।१८	पवमान ऊर्मिणा ११५४
अह्नः प्रतरीतोषसो ८६।१९	अह्नां प्रतरीतोषसां ५५९;८२१
क्राणा ८६।१९	प्राणा ५५९;८२१
अवीवशदिन्द्रस्य ८६।१९	अचिक्रददिन्द्रस्य ५५९;८२१
अचिक्रदत् ८६।२०	असिष्यदत् ८२२
क्षरदिंद्रस्य ८६।२०	क्षरन्निन्द्रस्य ८२२
वायोः कर्तवे ८६।२०	वायुं वर्धयन् ८२२
वि रोचयदयं ८६।२१	अरोचयदयं ८२३
मधुनाभ्यञ्जते ८६।४३	मध्वाभ्यञ्जते१६१४;५६४
पशुमासु ८६।४३	पशुमप्सु १६१४;५६४
सहस्रसाः शतसा ८७।४	सहस्रदाः शतदा ५३१
सनिष्यन्नयासीत् ९०।१	सनिषन्नयासीत् ५३६
वयोधामाङ्गूषाणाम् ९०।२	वयोधामङ्गोषिणम् ५२८;१४०८
न सिन्धूर्न्वि ९०।२	न सिन्धुर्वि ५२८;१४०८
प्रथमो मनीषी ९१।१	प्रथमा मनीषा ५४३
अव्येऽजन्ति सदनान्यच्छ ९१।१	अव्ये मृजन्ति सदनेष्वच्छ ५४३
सूर्यें न ९४।१	सूरे न ५३९
कवीयन्व्रजं ९४।१	कवीयान्व्रजं ५३९
गा अतो मतीर्जनयत ९५।१	गामतो मतिं जनयत ५३०

ऋग्वेद	सामवेद
स्तर्तुराणाः ९५।३	स्ततुराणाः ५४४
शूरो अग्रे ९६।१	शूरो अग्रे ५३३
सोमः पवमानो ९६।७	स्तोमान्पवमानो ९४५
घृतवान्ति सीद ९६।१३	घृतवन्ति रोह ५३२
वह्निं मरुतो ९६।१७	विप्रं मरुतो ११७५
सहस्रणीथः ९६।१८	सहस्रनीथः ११७६
पशुमान्ति ९७।१	पशुमन्ति ५२६;१३९९
पवाते अति ९७।४	पवतामति ५३५
सीदाति युनः ९७।४	सीदतु इन्दुः ५३५
स्तृपलं मन्युमच्छां ९७।८	स्तृपलौं वग्नुमच्छां १११७
आङ्गूष्यं१ ९७।८	अङ्गोषिणं १११७
रंहत ९७।९	योजत १११८
पर्यरातीर्वरिवः ९७।१०	पर्यराति वरिवः ५४०;१०१९
अभि प्रियाणि ९७।१२	अभि व्रतानि १०२१
प्रचेतयन्नर्षति ९७।१३	प्रचोदयन्नर्षसि ८०६
नमयन्वधस्नैः ९७।१५	नमयन्वधस्नुम् ८०८
वा धर्मणि क्षोरनीके ९७।२२	धर्म द्युक्षोरनीके ५३७
वारान्यत्पूतो अत्येष्यव्यान् ९७।३१	वारं यत्पूतो अत्येष्यव्यम् ५३४
जज्ञानः ९७।३१	जनयन्त् ५३४
सुतः पूयते अज्यमानः ९७।३५	सुत ऋच्यते पूयमानः ८६०
रवेण ९७।३६	मदेन ८६१
ऋता ९७।३७	ऋतं १३५७
न धातोभे ९७।३८	दधान ओभे १३५८
स तू धनं ९७।३८	सतो धनं १३५८
येना नः ९७।३९	यत्र नः १३५९
अद्रिमुष्णन् ९७।३९	अद्रिमिष्णन् १३५९
राजा ९७।४०	गोपाः १२५३;५२९
राधसे च ९७।४२	राधसे नो १२५४
ब्रध्नश्चिदत्र वातो न जूतः ९७।५२	ब्रध्नश्चिद्यस्य वातो न जूतिं ५४१;११०४
पुरुमेधः नरं दात् ९७।५२	पुरुमेधाः नरं धात् ५४१;११०४
आजा नैति ९८।३	आता न याति १२४०
वृत्रहन्वसो वस्वः ९८।५	राधसो वसोर्वसो १२३९
सुम्नस्याध्रिगो ९८।५	सम्ने ते अध्रिगो १२३९
स्वसारो ९८।६	सखायो १३३०

ऋग्वेद	सामवेद
प्रस्नापयन्त्यूर्मिणम् ९८।६	प्रस्नापयन्त ऊर्मयः १३३०
देवाय ९८।१०	वीराय १३३१;१६७९
शुक्रां वयन्त्यसुराय निर्णिजं ९९।१	शुक्रा वि यन्त्यसुराय निर्णिजे ५५१
धनुस्तन्वन्ति ९९।१	धनुष्टन्वन्ति ५५१
प्र गाहते ९९।२	प्र गाहसे १६३१
वाजसातमः १००।६	वाजसातये १०१६
मधुमत्तमः १००।६	मधुमत्तरः १०१६
मातरो १००।७	धीतयो १०१७
यज्ञं हिन्वन्त्यद्रिभिः १०१।३	यज्ञाय सन्त्वद्रयः ६९९
ओजसा १०१।५	ओजसः ८७३
चनामहै १०१।९	वनामहे ८२०
एते पूता १०१।१२	ते पूतासो ११०२
सूर्यासो १०१।१२	सूरासो ११०२
प्र सुन्वानस्यान्धसो १०१।१३	प्र सुन्वानायान्धसो ५५३; १३८६; ७७४
वृत तद्वचः १०१।१३	वष्ट तद्वचः ५५३; ७७४; १३८६
क्राणा १०२।१	प्राणा १०१३; ५७०
पृष्ठेष्वेरया रयिम् १०२।३	पृष्ठेष्वैरयद्रयिम् १०१५
जज्ञानं सप्त मातरो १०२।४	जज्ञानः सप्त मातृभिः १०१
वेधामशासत १०२।४	मेधामाशासत १०१
चिकेत यत् १०२।४	चिकेतदा १०१
वच उद्यतम् १०३।१	वच उच्यते ५७३
मधुश्चुतमव्यये वारे १०३।३	मधुश्चुतं सोमः पुनानो५७७
सप्त नूषत १०३।३	सप्ता नूषत ५७७
शिशुं न यज्ञैः १०४।१	शिशुं न यज्ञैः ५६८; ११५७
शंतमः १०४।३	शन्तमम् ११५९
शिशुं न यज्ञैः १०५।१	शिशुं न हव्यैः ५६९; १०९८
मधुमत्तमः १०५।३	मधुमत्तरः ११००
सुदक्ष धन्व १०५।४	सुदक्ष धनिव ५७४; १६११
शुचिं ते १०५।४	शुचिं च ५७४; १६११
दीधरम् १०५।४	धारय ५७४; १६११
त्वमस्मदाँ १०५।६	त्वमस्मदा १६१३
श्रुष्टी जाताल १०६।१	श्रुष्टे जातास ५६६; ६९४
ग्राभं गृभ्णीत १०६।३	ग्राभं गृभ्णाति ६९६

ऋग्वेद	सामवेद
शुष्ममा भरा १०६।४	शुष्ममा भर ५६७
ऊर्मिणाव्यो १०६।१०	ऊर्मिणाव्यं ५७२, ९४०
धीभिर्हिन्वन्ति १०६।११	धीभिर्मृजन्ति ९४१
मीळहे सप्तिर्न १०६।१२	मीढ्वांत्सप्तिर्न ९४२
ह्वरांसि १०६।१३	ह्वरासि ५७६; ७७३
अभ्यर्षन्त्स्तोतृभ्यो १०६।१३	अभ्यर्ष स्तोतृभ्यो ५७६;७७३
देव १०७।४	देवो ५११; ६७५
वाज्यर्षति नृभिर्धूतो १०७।५	वाज्यर्षसि नृभिर्धौतो६७६
जागृविरव्यो वारे १०७।६	जागृविरव्या वारैः ५१२
दधिषे १०७।१०	दध्रिषे ५१३; १६८९
मीळहे सप्तिर्न १०७।११	मीढ्वांत्सप्तिर्न १६९०
अर्जुने १०७।१३	अर्जुनो ७६८
विष्टपि १०७।१४	विष्टपे ५१८; ८५६
मत्सरासः स्वर्विदः १०७।१४	मत्सरासो मदच्युतः ५१८; ८५६
अर्षन्मित्रस्य १०७।१५	अर्षा मित्रस्य ८५७
नृभिर्येमानो १०७।१६	नृभिर्येमाणो ८५८
उताहं १०७।२०	तवाहं ९२३
सख्याय बभ्र १०७।२०	दुहानो बभ्र ९२३
सुहस्त्य १०७।२१	सुहस्त्या ५१७; १०७९
वृषाव चक्रदो वने १०७।२२	वृषो अचिक्रदद्वने १०८
वाजसातयेऽभि काव्या १०७।२३	वाजसातमोऽभि वार्या ५२१
समुद्रं प्रथमो वि धारयो १०७।२३	समुद्रः प्रथमे विधर्मं ५२१
पीता १०८।२	पीत्वा ६९३
द्य१ङ्ग दैव्या १०८।३	द्याऽङ्ग दैव्य ५८३; ९३
घोषयः १०८।३	घोषयन् ५८३; ९३८
नवग्वो १०८।४	नवग्वा ९३९
श्रवांस्यानशुः १०८।४	श्रवांस्याशत ९३९
सुतोऽव्यो १०८।५	सुतोऽव्या ५८४
अप्या अन्तरश्मनो १०८।६	अपि या अन्तरश्मनि५८
वनक्रक्षं १०८।७	वनप्रक्षं ५८०; १३९४
पयोवृधम् १०८।८	पयोदुहम् १३९५
देवयुः १०८।९	देवयुम् ५७९; १०११

ऋग्वेद	सामवेद
रीतिमपां जिन्वा १०८।१०	रीतिमपो जिन्वन् १०१२
दिवो दुहुः १०८।११	दिवोदुहम् ५८१
त इन्द्रः १०८।१४	त इन्द्रः १०९७
पेयाः क्रत्वे १०९।२	पेयात्क्रत्वे १३६९
शं च प्रजायै १०९।५	शं च प्रजाभ्यः १२४२
सोम क्रत्वे १०९।१०	सोम महे ४३०;१३३२
तं ते सोतारो १०९।११	प्र ते सोतारो १३३३
प्र सुवानो अक्षाः १०९।१६	प्र वाज्यक्षाः ११६०
न ईयसे ११०।१	न ईरसे ४२८;१३६४
मर्त्येवाँ ऋतस्य ११०।४	मर्त्याय कमृतस्य १५०८
वारं न देवः ११०।६	दिवो न वारं १४९५
दिवः पीयूषं ११०।८	प्रत्नं पीयूषं १४९४
निःष्ठा...वि तिष्ठसे ११०।९	निष्ठा...वि राजसि १४९६
सुतस्य १११।१	पृष्ठस्य १५९०;४६३
परियात्यृक्कभिः १११।१	परियास्यृक्कभिः ४६३;१५९०
पूर्वामनु प्रदिशं याति १११।३	प्राचीमनु प्रदिशं १५९१

दशमं मण्डलम् ।

ऋग्वेद	सामवेद
दिवश्चिदन्ताँ उपमाँ ८।१	दिवश्चिदन्तादुपमाम् ७१
आपो भवन्तु ९।४	शं नो भवन्तु ३३
ओ चित्सखायं १०।१	आ त्वा सखायः ३४०
ववृत्यां तिरः १०।१	ववृत्युस्तिरः ३४०
चिदर्णवं जगन्वान् १०।१	चिदर्णवां जगम्याः ३४०
अधि क्षमि प्रतरं दीध्यानः १०।१	अस्मिन्क्षये प्रतरां दीद्यानः ३४०
यज्ञाय स्तीर्णबर्हिषे वि वो मदे	शीरं पावक शोचिषं विवो
शीरं पावकशोचिषं २१।१	यज्ञेषु स्तीर्णबर्हिषं ४२०
रथ्यं २३।१	रथ्यां३ ३३४
प्र श्मश्रु दोधुवदूर्ध्वथा २३।१	प्र श्मश्रुभिर्दोधुवदूर्ध्वधा ३३४
भूद्वि सेनाभिर्दयमानो २३।१	भुवद्वि सेनाभिर्भयमानो ३३४
रणन्गावो २५।१	रणा गावो ४२२
प इन्द्रं स्वर्विदः ४३।१	व इन्द्रं स्वर्युवः ३७५
विन्नृषद्वा...सुपस्थे ४६।१	विन्नृषद्मा...विवर्ते ७७
दधिर्यो... स ते ४६।१	दधद्यो... सुते ७७

ऋग्वेद	सामवेद
नयन्तो गर्भं वनां ४६।५	नयन्तं गीर्भिर्वना ७४
धुर्हरिश्मश्रुं नार्वाणं धनर्चम् ४६।५	धा हरिश्मश्रुं न वर्मणा ७४
जगृभ्मा ४७।१	जगृह्मा ३१७
स्पार्हमुत ५५।६	स्पार्हमुतं १७८३
पर ऊ त ५६।१	पर उ त ६५
संवेशने तन्वः१ ५६।१	संवेशनस्तन्वे३ ६५
मुमुग्ध्य१ ७३।११	मुमुग्ध्या३ ३१९
पृथिवीमुत द्याम् ८१।६	तन्वं३ स्वा हि ते १५८९
क्रव्यादो ८७।१९	कयादो ८०
शृणीहि विश्वतः प्रति ८७।२५	शृणाहि विश्वतस्परिः ९५
बलं वि रुज ८७।२५	बलं न्युब्ज ९५
प्रेरयं सगरस्य ८९।४	प्रैरयत्सगरस्य ३३९
चक्रिया ८९।४	चक्रियौ ३३९
सहस्रशीर्षा ९०।१	सहस्रशीर्षाः ६१७
विश्वतो वृत्वा ९०।१	सर्वतो वृत्वा ६१७
यच्च भव्यम् ९०।२	यच्च भाव्यम् ६१९
एतावानस्य महिमातो ९०।३	तावानस्य महिमा ततो६२०
पादोऽस्य विश्वा भूतानि	पादोऽस्य सर्वा भूतानि
त्रिपादस्यामृतं दिवि ९०।३	त्रिपादस्यामृतं दिवि ६१९
ततो व्यक्रामत्साशना ९०।४	तथा व्यक्रामदशना ६१८
तस्माद्विराळजायत ९०।५	ततो विराडजायत ६२१
विद्युतश्चित्राश्चिकित्र उषसां न केतवः ९१।५	विद्युतोऽस्रेश्चिकित्र उषसामिवेतयः ९८२
अन्नमास्ये ९१।५	अन्नमासनि ९८२
वातोपधूत ९१।७	वातोपजूत ९८३
अजराणि ९१।७	अजरस्य ९८३
परिभूतमं ९१।८	परिभूतरं ९८४
तमिदर्भे हविष्या समानमित्तमिन्महे ९१।८	त्वामर्भस्य हविषः समानमित्त्वां महो ९८४
बाहुशर्ध्यु१ प्रधन्वा १०३।२	बाहुशर्ध्यू३ प्रधन्वा १८५१
आव श्मशा १०५।१	आ अव श्मशा २२८
मातरावप्येति ११५।१	मातरावन्वेति ६४
ववक्ष सद्यो महि दूत्यं१ ११५।१	ववक्षत्सद्यो महि दूत्यां३ ६४
दुर्हणायतो १३४।२	दुर्हणायतो १०९२

ऋग्वेद	सामवेद
मघवन्पदाजो वयां १३४।६	मघवन्पदा वयामजो १०९१
नकिर्देवा मिनीमसि नकिरा १३४।७	नकि देवा इनीमसि न क्या १७६
वाजमुक्थ्यं१ १४०।१	वाजमुक्थ्यां३ १८१६
सानसिं १४०।४	दर्शतं १८१९
राजानमवसेऽग्निं गीर्भिर्ह-वामहे १४१।३	राजानं वरुणमग्निमन्वार-भामहे ९१
आदित्यान्विष्णुं १४१।३	आदित्यं विष्णुं ९१
मन्यवेऽहन्यद् वृत्रं १४७।१	मन्यवेऽहन्यद्दस्युं ३७१
भवतो रोदसी अनु रेजते १४७।१	रोदसी धावतामनु भ्यसाते ३७१
ससवांसश्च तुविनृम्ण १४८।१	सनिष्यन्तश्चित्तुविनृम्ण ३१६
चाकन्त्मना तना सनुयाम १४८।१	कोना तना त्मना सह्याम ३१६
भेजानासः १५३।१	वन्वानासः १७५
घृषन्वृषेदसि १५३।२	सन्वृषन्वृषेदसि १२०
आकरामहे १५६।२	आकरामहै १५२८
पणिम् १५६।३	पविम् १५२९
सीषधामेन्द्रश्च १५७।१	सीषधेमेन्द्रश्च ४५२;१११०
चीक्लृपाति १५७।२	सीषधातु ११११
मरुद्भिरस्माकं भूत्ववितां तनूनाम् १५७।३	मरुद्भिरस्मभ्यं भेषजा करत् १११२
प्रजाः पुपोष पुरुधा १७०।१	प्रजाः पिपर्ति बहुधा १४५३
स्वसुस्तमः १७२।४	स्वसुष्टमः ४५१
सहावानं १७८।१	सहोवानं ३३२
त्रीणामवोऽस्तु १८५	त्रीणामवरस्तु १९२
गृहे३मृतस्य निधिर्हितः १८६।३	गृहे३ऽमृतं निहितं गुहा १८४२
ततो नो देहि १८६।३	तस्य नो धेहि १८४२

सामवेदमें कुलमन्त्र १८७५ हैं, उनमें करीब १०४ मंत्र इस ऋग्वेद में नहीं मिलते। शेष मन्त्र १७७१ इतने रहे। इन में ऊपर १७४० मन्त्रों के पाठभेद दर्शाये हैं। और भी कुछ बारीकी से देखा जाय तो और भी भिन्नतादर्शक स्थल मिल सकते हैं। परंतु उन में जो भिन्नता होगी वह अतिसूक्ष्म होगी।

इन पाठभेदों के प्रथम दर्शाये पाठभेद के वर्गोंके समान वर्गीकरण करने से इनके कुछ नियम भी ध्यान में आ सकते हैं। पाठक इनका विचार इस दृष्टि से कर सकते हैं।

यह कभी हो नहीं सकता, कि इस शाकलीय ऋग्वेद संहितासेही ये सामवेद के मंत्र लिये गये हों, और उनमें इतने पाठभेद भी किये गये हों। ये पाठभेद जान बूझकर किये नहीं है। अतः हम कह सकते हैं कि, ये साममन्त्र किसी अन्य ऋग्वेद की शाखासंहिता से लिये गये होंगे, जो संहिता इस समय उपलब्ध नहीं है।

प्रायः सब विद्वान् इस बातसे सहमत हैं कि इस शाकलीय ऋग्वेद-संहिता में 'वालखिल्यसूक्त' पहिले नहीं थे। वे पीछेसे मिलाये गये हैं। ऋग्विधानकार का कथन है कि ये वालखिल्यसूक्त ऋग्वेद की शांख्यायन संहिता में थे, वहांसे ये सूक्त शाकलीय ऋग्वेद में लिए गए हैं।

इस ऋग्वेद-मन्त्रों की पठन की परिपाटी में और वालखिल्य-सूक्त के मन्त्रों की पठनपरिपाटीमें थोडा भेद भी है। 'अथ वालखिल्यं' 'इति वालखिल्यं' ऐसा लिखकर बीचमें ही वालखिल्य-सूक्त रखे गए हैं। इससे भी स्पष्ट हो जाता है कि, ये सूक्त मूलतः इस शालकीय ऋग्वेद के नहीं हैं। क्योंकि ऋग्वेद के किसी अन्य सूक्त ऐसे 'अथ-इति' कर के लिखे नहीं है, केवल येही वालखिल्यसूक्त ऐसे हैं। अतः शांख्यायन जैसे अन्य शाखासंहितासे ये लिए होंगे, ऐसा प्रतीत होता है। यद्यपि शांख्यायन-संहिता हमारे पास इस समय नहीं है, तथापि उसके कई मन्त्र स्थानस्थानपर उद्धृत किए मिलते हैं।

इस सामवेदमें कई मन्त्र वालखिल्य सूक्तोंसे लिये गये हैं। इससे और सुदृढ प्रमाण इस बातका मिलता है कि जिस ऋग्वेद-संहितासे वालखिल्य-सूक्त लिये गये हैं, उसी संहितासे सामवेद-स्थित ये १८७५ मन्त्र भी लिये गये होंगे। और जो १०४ मन्त्र इस शाकल ऋग्वेदमें मिलते नहीं हैं, वे भी उसी सांख्यायन ऋग्वेदमें ही होंगे।

यदि यह बात ऐसी मानी जा सकेगी, और यह बात सिद्ध हो जायगी, तब तो शांख्यायन-शाखा की ऋग्वेद-संहिताके कमसे कम १८७५ मन्त्र शांख्यायन-संहितामें कैसे थे, इसका भी निर्णय हो सकता है। और यदि पूर्व

स्थलमें दिये 'व-उव; य-इय; स्व-सुव' आदि भेद-स्थलोंके नियम सिद्ध हो जांयगे, तो हम इस ऋग्वेद के पदोंके अनुसंधानसे शांख्यायन-संहिताके बहुतसे मन्त्रोंका पाठनिश्चय भी कर सकते हैं।

हमारे पास शांख्यायन ब्राह्मण और सांख्यायन आरण्यक है, तथा अन्यान्य प्राचीन ग्रन्थोंमें इस शांख्यायन-शाखाके मन्त्र भी लिखे मिलते हैं। तथा इस समय शांख्यायन शाखाके ब्राह्मण काठियावाडमें हैं। उनके पास कदाचित् शांख्यायन-संहिता भी मिलेगी। हमने प्रयत्न किया, परन्तु अभी प्राप्त नहीं हुई, किसी न किसी ब्राह्मण के पास वह अवश्य होगी। पर्याप्त धन देनेसे वह मिल सकेगी।

वह मिले या न मिले, शांख्यायन-शाखाकी ऋग्वेद-संहिताके पाठ को जानने का मार्ग उक्त प्रकार कौथुमीय सामवेद के पाठोंसे प्राप्त हो सकता है। यह एक खोजका नया मार्ग है, पाठक इसका अधिक परिचय प्राप्त करें।

सामवेदके अन्तर्गत पाठभेदों का भी इसी तरह विचार होना चाहिये। कौथुमी, राणायनी, और जैमिनीय संहिताओंमें भी परस्पर पाठभेद हैं। यद्यपि कौथुमी और राणायनी संहिताओंमें कम पाठभेद हैं, तथापि पुष्पसूत्र में भी इन दो संहिताओंके पाठभेद दिये हैं। ये पाठभेद हि निर्णय कर सकते हैं कि राणायणीय संहिता कौनसी है, और कौथुमी कौनसी है। आजकल राणायणीयवालोंने यह भेद न समझते हुए अपनी संहिता कौथुमोंके समान हि है, ऐसा मान लिया है और अध्ययन अध्यापन भी कौथुमों के ग्रन्थोंसे हि वे करते हैं। इतनाही नहीं परंतु हमने यह भी देखा है कि कौथुमी ग्रन्थसे नकल की हुई पुस्तकके ऊपर हि राणायनीय संहिता करके लिखकर रख दिया है! यह सब अविद्या की ही रचना है। पुष्पसूत्रमें इनके पाठभेद कुछ दर्शाये हैं, उनकी सहायतासे हम इस समय भी यही राणीयणी है और यह नहीं ऐसा निर्णय कर सकते हैं। यह सब बातें हमारे दक्षिण देशके प्रवाससे हमें अच्छी तरह मालूम हो गयी हैं। अतः इसमें हमें अब कोई संदेह नहीं है।

इसी तरह जैमिनीय सामवेद की तुलना भी ऋग्वेदसे करनी चाहिये। और देखना चाहिये कि उनके मन्त्र इस ऋग्वेदसे मिलते हैं वा उस ऋग्वेद से मिलते हैं, अथवा उनका पाठ स्वतंत्र ही है। इसी रीतिसे चारों वेदोंके भी परस्पर पाठभेदोंकी तुलना करनी चाहिये। हमारे पास दो अथर्ववेद हैं, तथा छः यजुर्वेद हैं। इनकी तुलना करनेसे बहुत कुछ पता लग सकता है। यह पता लगाना और सब ऐने जैसा इस पाठभेदका विषय अभ्यासना चाहिये। ऐसा करनेसे कई संदेह दूर हो सकते हैं और सत्यज्ञान प्राप्त हो सकता है। इसलिये पाठभेदों का विषय पुनःपुनः देखनेयोग्य है, ऐसा हम यहां पुनः कहते हैं, इस ओर पाठक अपनी दृष्टि देनेकी कृपा करें।

हम अब जैमिनीय सामसंहिता और राणायणीय सामसंहिताके पाठभेदों का विचार किसी लेखमें अन्य समयमें करेंगे।

यजुर्वेदकी ऋषिसमस्या।

[लेखसंख्या १]

[निवेदक- पं० जयदेवशर्मा विद्यालंकार, अजमेर]

मान्यवर श्री पं० सातवलेकरजीने पूर्ववर्षमें वेदों के ऋषियों और देवता सम्बन्धी आलोचनप्रत्यालोचन संबंधी कुछ लेख वैदिक धर्म और आर्यमित्र आदिमें भी प्रकाशित किये थे। जिससे आर्य-जगत् में भारी विक्षोभ मच गया था। वेदों के सम्बन्धमें जिस गम्भीरता से शास्त्रीय रीति से विचार की आशा थी, उस रीतिसे विचार नहीं हुआ था, प्रत्युत वह विचार-पारस्परिक-मनोविग्रहजनक ही सिद्ध हुआ।

मैं आर्य विद्वानोंके समक्ष एक समस्या विचारार्थ प्रस्तुत करता हूं। उसपर विचार करें और जो ठीक ठीक अनुसन्धान जिस जिस विद्वान् को जिस परिणामपर पहुंचावे तदनुसार प्रमाण, युक्तिसहित लिखकर वेदकी समस्या को सुलझावे।

समस्या विचारणीय यह है कि ऋषि दयानन्दने अपने वेदभाष्य के प्रत्येक मन्त्र के पूर्व ऋषि देवता और छन्दों का उल्लेख किया है। वे अनेक स्थलोंपर कात्यायन के नाम से प्रसिद्ध सर्वानुक्रमणीसे मेल नहीं खाते। उनका कुछ भी कारण हो, हमें अभी इसपर विचार नहीं करना। प्रत्युत इस लेखमें तो केवल ऋषि-भेद की समस्यापर ही आधारप्रमाणोंद्वारा उस भेद को पुष्ट करना चाहिये। उदाहरण के तौरपर यजुर्वेदके १० वें अध्याय के ऋषियोंका परस्पर भेद प्रस्तुत करता हूं।

सर्वानुक्रमणी-सम्मत	दयानन्द-भाष्यानुसार
१-३० वरुणः।	१-१७ वरुणः।
२४ वामदेवः।	१८-२३ देववातः।
२२ प्राजापत्यः संवरणः।	२४-२६ वामदेवः।
२७ शुनःशेपः।	२७-३४ शुनःशेपः।
३१-३४ अश्विनौ।	
३२-३४ सुकीर्तिः काक्षीवतः।	

सर्वानुक्रमणीकारके ऋषियोंके लिये वचन निम्नलिखित हैं-

१ -३० अथराजसूयः। वरुणस्यार्षम्।
२४ हंसो वामदेवः सौरीं सप्रपञ्चपरब्रह्माभिधायिनीं अतिजगतीम्।
२२ भाते संवरणः प्राजापत्य ऐन्द्रीं त्रिष्टुभम्।
२७ निषसाद शुनःशेपो वारुणीं गायत्रीम्।
३१-३४ अथचरकसौत्रामणी अश्विनोरार्षम्।
३२-३४ कुवितृचं सुकीर्तिः काक्षीवतः।

दयानंद भाष्यमें जो ऋषि लिखे गये हैं उनमें सर्वानुक्रमणी से निम्नलिखित भेद हैं—

(१) १८-३० तक का ऋषि वरुण को नहीं माना।
(२) १८-२३ तक का ऋषि 'देववात' माना है।
(३) २२ का ऋषि प्राजापत्य संवरणको नहीं माना।
(४) २५-२६ का ऋषि भी वामदेव को माना है।
(५) २८-३४ तक ऋषि शुनःशेप माना है।
(६) ३१-३४ तक 'अश्विनौ' ऋषि नहीं माने।
(७) ३२-३४ तक 'सुकीर्ति काक्षीवत' को ऋषि नहीं माना।

इन ७ मतभेदों का आधार स्पष्ट हो जाय, तो इस अध्याय की ऋषि-समस्या सरल हो जाय।

श्री पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासुने यजुर्वेद के सम्बन्ध में ऋषि-भाष्य पर बहुत अधिक विचार किया है। मुझे पूरी आशा है कि जिज्ञासुजी इस प्रकार के भेदों का स्पष्टीकरण अवश्य करेंगे। और भी विद्वान्-गण इस समस्यापर विचार करेंगे। लाहोरके श्री पं० भीमसेनजी, मेरठके श्री पं० द्विजेन्द्रजी, पं० प्रियरत्नजी आर्ष, आदि अनेक विद्वान् ऐसी समस्याओंपर प्रकाश डाल सकते हैं। वे अवश्य प्रकाश डालें। मुझे तो अभीतक इस प्रकार के ऋषिविषयक मतभेद का कोई समाधान नहीं सूझा है। इसलिये विद्वानों के समक्ष इस मतभेद को प्रस्तुत किया है।

मनोमय सृष्टिका स्वामी।

[लेखक श्री० अम्बालाल पुराणी , श्रीअरविन्दाश्रम, पांडीचरी]

ऋग्वेद में इन्द्र और अगस्त्य का संवाद आया है। (मं० १, सू० १७०) यहांपर उसके बारेमें पहले से कुछ कहे बिनाही उसका अनुवाद दिया जाता है और उसके बाद उसका भावार्थ समझने की कोशिश की जाएगी।

(इन्द्रः) न नूनं अस्ति नो श्वः कः तत् वेद
यत् अद्भुतं। अन्यस्य चित्तं अभि संचरेण्यं
उत अधीतं वि नश्यति ॥१॥

अर्थ- (न) नहीं (नूनं) अभी, अब (अस्ति) है; (नो) नहीं (श्वः) कल; (कः) कौन; (तत्) वह (वेद) जानता है; (यत्) जो; (अद्भुतं) अद्भुत।

(अन्यस्य) दूसरे के (चित्तं) चित्तमें, चैतन्य में (अभि) अन्दर (संचरेण्यं) संचार करता है; (उत) परन्तु फिर भी (अधीतं) बुद्धि द्वारा धारण किये जाते हुए- चिंतन द्वारा-(वि) विशेष कर (नश्यति) लुप्त हो जाता है, विनाश पाता है। (धीत शब्द धि से बना है।)

भावार्थ- जो न तो आज है और न कल, ऐसे परम अद्भुत को कौन जानता है? अन्यों के चैतन्य में भी वह संचार कर रहा है, पर बुद्धि द्वारा समीप जानेपर वह अलोप हो जाता है। (आज और कल-वर्तमान की घटनाओं और वास्तविकताओं तथा भावी की शक्यताओं और भवितव्यताओंसे वह अद्भुत परे है अर्थात् काल और दिशाके बंधन से परे है। यह परम अद्भुत तत्त्व -सत्य- अनेक रूपोंमें गति करता है। वे रूप उसके अपने-निजी- नहीं हैं अतः उन्हें अन्य कहा गया है। इन अनेक नाम रूपोंमें होती हुई गति के द्वारा वह प्रकट होता है, पर बुद्धि द्वारा समीप जाते ही वह लुप्त हो जाता है, क्योंकि वह बुद्धि के परे है।)

(अगस्त्य) किं नः इन्द्र जिघांससि भ्रातरः
मरुतः तव। तेभिः कल्पस्व साधुया मा नः
सं अरणे वधीः ॥२॥

*

अर्थ- (किं) किस लिये, किस कारण (नः) हमें, (इन्द्र) हे इन्द्र! (जिघांससि) मारने की इच्छा करता है (भ्रातरः) बन्धु, सहोदर (मरुतः) मरुत् (तव) तेरे; ।

(तेभिः) उनके साथ; (कल्पस्व) प्राप्तकर, सङ्कल्पकर, सिद्ध कर, (साधुया) ठीक तरह से, पूर्णता के साथ (मा) नहीं (नः) हमें (सं-अरणे) संग्राममें, युद्धस्थलीमें (वधीः) वध कर।

भावार्थ- हे इन्द्र! तू हमें किस लिये मारना चाहता है? मरुत्-गण तेरे बन्धु हैं, उनके द्वारा संसिद्धि प्राप्त कर; इस घोर संग्राममें हमारा वध मत् कर।

[मरुत्- विचार की प्रचण्ड, विनाशक और तेजस्वी शक्तियां-बहुत वेगवाले, तेजस्वी और घोर माने जाते हैं और वे इन्द्र के गण हैं।

इन्द्र- मनोमय भूमिका की उच्चतम कक्षाका अधिपति, सारे विश्वमें काम करनेवाले सामान्य मानसिक व्यापारों में समाई हुई उच्च मनोमय भूमिका का अधिष्ठाता, भगवान् की शक्तिका एक स्वरूपविशेष।

इन्द्र और मरुत् दोनों एकही भूमिका के हैं, अतः सहोदर हैं, जिनमें इन्द्र मुख्य और मरुत् गौण है। अगस्त्य मुनि इन्द्र और मरुत् को मिलाकर अपने अंदर पूर्णता स्थापित करने की प्रार्थना कर रहे हैं।

आध्यात्मिक प्रगतिके प्रयत्नों का बंद होनाही मृत्यु है। अहंतापूर्वक प्रयत्न करनेसे यज्ञ की-आत्मसमर्पण की- क्रिया बंद हो जाती है और यही आध्यात्मिक मृत्यु है। अगस्त्य इंद्रसे इस मृत्यु से बचाने के लिये कह रहा है।]

(इन्द्रः) किं नः भ्रातः अगस्त्य सखा सन्
अति मन्यसे। विद्मा हि ते यथा मनः अस्मभ्यं
इत् न दित्ससि ॥३॥

अर्थ-(**किं**) कैसे, किस लिये (**नः**) हमारे (**भ्रातः**) बंधु, भाई (**अगस्त्य**) हे अगस्त्य ! (**सखा**) मित्र (**सन्**) होकर, होते हुए (**अतिमन्यसे**) उल्लंघन करने का, अतिक्रमण करने का विचार करता है।

(**विद्म**) हम जानते हैं (**हि**) निश्चयपूर्वक; (**ते**) तेरा, (**यथा**) किस तरह (**मनः**) मन; (**अस्मभ्यं**) हमें (**इत्**) निश्चयार्थ प्रत्यय (**न**) नहीं (**दित्ससि**) देना चाहता।

भावार्थ- हे बंधु अगस्त्य, मेरा मित्र होते हुए भी तू मेरा अतिक्रमण करने की क्यों सोचता है ? मैं भली भांति जानता हूं कि तू अपना मन मुझे नहीं देना चाहता।

[केवल मरुतों की ही सहायता से परम सत्य को प्राप्त करने के लिये वेगपूर्वक आगे बढते हुए अगस्त्य को इंद्र सलाह दे रहा है। वह कहता है मेरा बंधु होता हुआ भी तू मुझे पार करने-मुझे लांघकर उच्च आध्यात्मिक भूमिकाओंमें जानेका जहां उस 'अद्भुत' का निवास है-का प्रयत्न क्यों करता है ? मरुत् मेरे गण हैं-वे मुख्य नहीं, गौण हैं।]

तेरी आहुतियां तेरी अहंता को मिलती हैं। मरुतों की वेगवान प्रवृत्ति का लाभ उठाकर नवीन विचारों का सृजन करते हुए और मनोमय स्वप्न रचते हुए तू परम सत्य को प्राप्त करना चाहता है, पर यह ठीक नहीं।]

(इन्द्र) अरं कृण्वन्तु वेदिं समग्निमिंधतां पुरः।
तत्रा अमृतस्य चेतनं यज्ञं ते तनवावहै ॥४॥

अर्थ-(**अरं**) तैयार (**कृण्वन्तु**) करो (**वेदिं**) (यज्ञ की) वेदी को; (**अग्निं**) अग्नि को; (**समिंधतां**) सुसमिद्ध करो; (**पुरः**) पहले आगे (**तत्र**) वहां (है); (**अमृतस्य**) अमरत्व का, आनंदघन चैतन्य का (**चेतनं**) जागृति, चैतन्य; (**यज्ञं**) यजनक्रिया; (**ते**) तेरी (**तनवाव**) हम दोनों विस्तृत करें, बढाएं।

भावार्थ- वेदी तैयार करो, पहले अग्नि को सुसमिद्ध होने दो- चैतन्य को वहां जागृत करो, फिर हम दोनों मिलकर यज्ञ को विस्तीर्ण करेंगे।

[फिरसे जीवनरूपी वेदी को तैयार करो। अहंता के प्रयत्न बंद करके--आत्मसमर्पण-यज्ञ का प्रारम्भ करो। भगवान् की तपःशक्ति की अग्नि को जागृत करो और सब कुछ उसमें डाल दो। अमरताका परम आनंद अहङ्कारभरे (आध्यात्मिक) प्रयत्नों द्वारा नहीं अपितु समर्पण की क्रिया द्वारा, यज्ञ द्वारा, प्राप्त होता है। यदि तेरा यज्ञ ऐसा विशुद्ध होगा, तो हम दोनों मिलकर-विराट् शक्तिस्वरूप देव तथा मानव-उसे विस्तीर्ण करेंगे, उसे महान् बनाकर उसकी सिद्धि प्राप्त करेंगे और जगत् में पूर्णता प्रकटावेंगे।]

(अगस्त्य) त्वं ईशिषे वसुपते वसूनां त्वं
मित्राणां मित्रपते धेष्ठः। इन्द्र त्वं मरुद्भिः
सं वदस्व अध प्र अशान ऋतुथा हवींषि॥५॥

अर्थ- (**त्वं**) तू; (**ईशिषे**) राज्य करता है, प्रभु है; (**वसुपते**) हे वसुपति, (**वसूनां**) सब प्रकार की समृद्धि का (**त्वं**) तू (है) (**मित्राणां**) मित्रों का (**मित्रपते**) श्रेष्ठ मित्र-उत्तमोत्तम सखा, (**धेष्ठः**) सब का धारणकर्ता, सर्वश्रेष्ठकर्ता।

हे इंद्र ! (**त्वं**) तू (**मरुद्भिः**) मरुतों के साथ (**संवदस्व**) संवाद स्थापित कर, एकमन हो; (**अध**) फिर (**प्र अशान**) ठीक तरह उपभोग कर (**ऋतुथा**) सत्य रीति से नियत, योग्य अनुक्रम और प्रमाण में (**हवींषि**) आहुतियां।

भावार्थ- हे ऋद्धिसिद्धि के पति, तेरी हुकूमत चलती है; हमारे सब मित्रों में तू श्रेष्ठ है; धारणकर्ताओं में भी तू ही श्रेष्ठ है ! हे इंद्र, तू मरुतों के साथ संवाद स्थापित कर और फिर सत्य अनुक्रम में दी गई यज्ञ की आहुतियों का उपभोग कर (आनंद ले)।

[तेरी आज्ञा ही चले, हे इंद्र तू सम्राट् है, मनोमय प्राणमय और अन्नमय भूमिकाओं का। कौन नहीं जानता कि भूतमात्रपर और प्राण की भूमिका पर मन का ही राज्य है। तू वसु-आंतर ऋद्धिसिद्धि का दाता है। तू जो कुछ और जिस भांति दे वह मुझे स्वीकार है। तू मेरा परम सखा है और मुझे धारण करनेवालों में श्रेष्ठ है।

मरुतों के साथ- विचार की प्रचण्ड शक्तियों के साथ-तू संवाद स्थापित कर, जिससे कि तुम दोनों का घर्षण मेरी प्रगति में बाधक न हो और भेटीयात्रा सुखपूर्वक हो। अब आहुतियां विधिपूर्वक और सच्चे क्रम के अनुसार (पहले इंद्र और फिर मरुत्) होंगी, अतः इंद्र भी उन्हें स्वीकार करके आनंद लेगा।]

इस सूक्त की पहली ऋचा पर यास्कने निरुक्तमें टीका की हैं और उसमें यह कल्पना की है कि इंद्र के लिये रखी गई आहुति अगस्त्य ऋषिने मरुतों को दे दी और इसलिये वह शोक कर रहा है। और फिर ऋचा का अर्थ भी क्या मजेदार किया है? "यह आहुति जो अब दी जा रही है, यह मेरे लिये नहीं है। कौन जाने कल भी वह मुझे मिलेगी या नहीं, यह तो अद्भुत-अनद्भूत!- है, और अन्य के (अगस्त्य के) मन की बात है। मेरे लिये रखी गई यह आहुति तो लुप्त हो रही है!"

पाठक स्वयं देख सकते हैं कि शब्दों की चाहे वैसी भी तोड मरोड क्यों न की जाए, फिर भी उन में से यह अर्थ नहीं निकलता।

सारे ऋग्वेद में विचार की विद्युत् शक्ति का सूचक है। 'इन्द्र' मनोमय भूमिका की सर्वोच्च कक्षा का स्वामी है अर्थात् विराट् में जो अनन्त मनोमय व्यापार चल रहा है उसका स्वामी-अधिष्ठाता-इन्द्र है। इंद्र और मरुतों का परस्पर सम्बन्ध देखने से भी ऊपर के सूचकों की सार्थकता सिद्ध होती है। ऐसी ऋचाएं बहुत थोडी हैं, जिसमें मरुतों का स्वतन्त्र देव के रूप में आवाहन हो। जब जब उनका आह्वान किया गया है, तो प्रायः "इन्द्र-ज्येष्ठो मरुद्गणः" "इन्द्र की ज्येष्ठता में मरुत्" को ही बुलाया गया है। ज्ञान से आलोकित मनोमय भूमिका का अधिष्ठाता इंद्र (दिव्य विराट् मनोमय शक्ति) विचार के विद्युद्वेगी बलों-मरुतों-पर आधिपत्य तो करता ही है। अर्थात् जब यजमान जीवनरूपी यज्ञ में आध्यात्मिक सत्य की प्राप्ति के लिये अभीप्सा की अग्निको प्रज्वलित करे, तो मन की सभी क्रियाएं विराट् मन के अधिष्ठाता इंद्र- मनोमय भूमिका के सर्वस्व के स्वामी- के अर्पित होनी चाहिये। वास्तव में मानव के सभी मानसिक व्यापार उसकी अपनी मिल्कियत नहीं अपितु विराट् के मनोमय व्यापार का अंश होते हैं, और उसके साथ हमेशा विचारों, मनोमय सङ्कल्पों और क्रियाओं का लेन देन चलता रहता है। इन मानसिक क्रियाओं के समर्पण का सच्चा अधिकारी इंद्र ही है, पर वेदमें वायु और मरुतों का उल्लेख उसके सहायकों के रूप में आता है और इन्हें भी आहुति का भाग मिलता है। स्थूल जगत् में मरुत् आंधी तूफान और झंझावात का अधिष्ठाता है। तूफान लाना, बगूले उठाना, पुराने घरों, कमजोर वृक्षों और डगमगाति लडखडाती चीजों को तोड-फोड कर चूर्ण बना देना तथा सूखी हुई निःसत्व चीजोंको उडा ले जाना उसी का काम है। मनोमय भूमिका में भी जो तूफान उठते हैं और बगूले उठते हैं (जो उन्नति के लिये जरूरी हैं) वे मरुत् के कार्यों के साथ ठीक मेल खाते हैं। वेद में मरुतों को सदा इन्द्र का 'तेजस्वी' गण कहा है। जैसे स्थूल जगत् में तूफान के साथ बिजली की कडक होती है और चमक दिखाई देती है, उसी तरह मनोमय भूमिकामें भी घन अंधकार और तूफान पर तूफान होते हुए भी मानव ज्ञान-विद्युत्की दमक और झलक देख पाता है। अपने मन में उठते हुए प्रचंड विप्लव के पीछे छिपे हुए सत्य की क्षणभर के लिए झांकी पा जाता है। पर यह तो हम अगस्त्य-सूक्त से बाहर चल पडे।

आगे चल कर यह स्पष्ट हो जाएगा कि अगस्त्य ऋषिने इन्द्र को छोडकर केवल मरुतों को ही आहुति देकर क्रम-भंग किया था, इस लिए उस का यज्ञ बन्द हो गया और उसे यह लगा कि मानो इंद्र उसका आध्यात्मिक विनाश करने पर तुला है। यह सूक्त उसी समय का वर्णन करता है। अर्थात् जब मानव-आत्मा विश्व के अंतिम सत्य को प्रकट करनेके लिये केवल विचार की विद्युत्-मयी शक्तियों -मरुतों- की सहायता से तूफानी गति से निःसत्व विचारों को तोडती हुई और तेजस्वी स्वरूप घडती हुई परम सत्य की ओर गति करने के लिये अधीर हो उठती है तो विराट् शक्तियां उस का विरोध करती और उसे रोकती हैं, क्योंकि जल्दबाजी के कारण मानव-प्रकृति में बहुतसी कमजोरियां रह जाती हैं। जो विराट् सत्ता सकल मनोमय व्यापार की अधिष्ठात्री है वही इसका मार्ग रोकती है। एक ओर अहंता भरे प्रयत्नों द्वारा मानसिक विचारों और तूफानी वेगोंके द्वारा प्रगति करने के लिये तडपता हुआ मानव है और दूसरी ओर विराट् की दिव्य सत्ता, जो विश्व में भगवान् के अंतिम हेतु को उन्हीं की इच्छा के अनुसार साधना चाहती है। इस सूक्त में इन्हीं दोनों की खींचतान चल रही है।

पहले इन्द्र अगस्त्य को उस परम अद्भुत का स्वरूप बतलाता है। वह कहता है कि वह सत्य वर्तमान की

घटनाओं और वास्तविकताओं में नहीं है; कल अर्थात् भविष्य की शक्यताओं और सम्भावनाओं में भी नहीं है। उसे बुद्धि के द्वारा नहीं जाना जा सकता। सारा संसार उसे के रूप से बना है फिर भी उस से अपरिचित है। वह 'स्व' है, पर 'अन्य' कहाने वाली वस्तुओंमें भी गति और क्रिया करता है। उस की गति और क्रियाओं द्वारा तो उसे जाना जा सकता है, पर बुद्धिद्वारा उस का स्वरूप जानने की कोशिश की जाए तो वह गायब हो जाता है- बुद्धि उस का ग्रहण कर सकने में असमर्थ है।

केनोपनिषद् में भी यही विचार है। जब अपने द्वारा दिलवाई गई विजय पर देवताओं को बहुत घमण्ड करते हुए देखा, तो ब्रह्म विचित्र यक्ष का रूप धारण कर उनके पास पहुंचा। सब देवों के बाद इंद्र उसके पास गया और उसने पूछा, तू कौन है- **'तस्मात् तत् तिरोदधे'**- वह लुप्त हो गया! ब्रह्मने बाकीके सब देवोंको यह दिखा दिया कि वे उसके बिना कुछ भी नहीं कर सकते, पर जैसे ही मनोमय भूमिका का स्वामी इंद्र उसके पास पहुंचा और उसे जानना चाहा तो वह लुप्त हो गया! (उपनिषदों और वेदमें मौलिक एकता है पर भी स्थलों पर उसे लागू नहीं किया जा सकता)। **यद् बुद्धेः परतस्तु सः** तथा अन्य अनेकानेक स्थलों पर हम वेद की इसी ऋचा का भाव पाते हैं।

अगस्त्य ऋषि इंद्र की बात मान लेता है। वह कहता है, हे इंद्र! मरुत तो तेरे सहोदर हैं, मैंने उन्हें आहुति दी है। फिर तू मेरा नाश क्यों करना चाहता है? विचार के तेजस्वी सत्त्व मरुत और मनोमय भूमिका का अधिपति इंद्र दोनों मनोमय भूमिका वाले होने के नाते सहोदर हैं। अगस्त्य इंद्र से कहता है कि मरुतों की सहायता लेकर मुझमें संसिद्धि स्थापित कर, इस आध्यात्मिक संग्राम में मेरा हनन मत् कर।

इस प्रकार अगस्त्य सब कुछ इंद्रके हाथमें सौंप देता है- अपने अहंता भरे प्रयत्न विराट् शक्ति के अर्पण करता है और मरुतों की सहायता से सीधा उच्चतम भूमिकाओंमें घुसने का प्रयत्न करने की जगह इंद्र की इच्छानुसार चलने को तैयार हो जाता है। अब इंद्र भी द्रवित होकर कहता है, हे अगस्त्य! तू मेरा सहोदर है, तू मेरा सखा है। सहोदर तो इसलिये कि दोनों-देव और मानव-एकही प्रभु की संतान हैं। दोनों उच्च भूमिका की ओर जाने के लिये प्रयत्नशील हैं और इनमें दिव्य प्रेम है, अतः दोनों मित्र भी हैं।

इंद्र कहता है 'मेरा सखा और सहोदर होता हुआ तू मुझे छोडकर क्यों आगे बढना चाहता है? मेरी भूमिका- मनोमय भूमिका- में पूर्णता स्थापित कर और फिर आगे बढ, उससे पहले नहीं' मरुद्गणों की क्रिया के परिणाम स्वरूप तूने जो नए विचार, नए स्वरूप और नई सृष्टियों को घडा है उन्हें मेरे सुपुर्द कर दे, मैं तुझे आगे जाने की राह दिखाऊंगा।'

फिर कहता है- अपने इस अहंताप्रधान प्रयत्नों को बंद कर, फिरसे यज्ञकी वेदी तैयार कर और आत्म-समर्पण की क्रिया शुरू कर। दिव्य सत्य प्राप्त करने की विशुद्ध अभीप्सारूपी अग्नि चेता और फिर हम तुम दोनों मिलकर- मानव और विराट् दिव्यशक्तिरूपी देव- समर्पण की क्रिया को विस्तीर्ण करेंगे।

अगस्त्य इंद्र की सलाह मान लेता है। इंद्र के मनोमय व्यापारों की पूर्णता प्राप्त करने में परम सत्यस्वरूप की ही क्रिया देखनेको तैयार होता है। इंद्र मनकी भूमिका और उससे निकली भूमिकाओं का स्वामी है और उन सबमें उस का सिक्का चलता है। हम सब भली भांति जानते हैं कि किस प्रकार भूतमात्र और प्राणी मात्र के ऊपर मनका साम्राज्य है। दिव्य मनोमय भूमिका का स्वामी इंद्र इन तीनों में (अन्नमय, प्राणमय और मनोमय) सब प्रकारकी पूर्णता दे सकता है और इसीलिये उसे 'वसूनां वसुपति' कहा है। साधकों के चैतन्य में वही कई सत्यों को धारण करता और चिरस्थायी बनाता है।

अगस्त्य अपने सारे प्रयत्न इंद्र को सौंप कर यज्ञ की आहुति देने के लिये तैयार हो जाता है और इंद्र से मरुतों के साथ मेल करने को कहता है, जिससे उसकी प्रगति में दो दिव्य शक्तियां आपस में टकराएं नहीं, अपितु एक दूसरे की सहायक होकर उसके अन्दर समग्र पूर्णता स्थापित करें।

अब अहुतियां यथाक्रम दी जा रही हैं (पहले इंद्र और फिर मरुतों को), अतः वे इंद्र के लिये ग्राह्य हैं और वह इन का आनन्द ले सकेगा।

वेदोंमें शस्त्रास्त्र-विद्या।

[लेखक- ब्र० सच्चिदानन्द उपाध्याय, नेपालवासी
मोरङ्ग, विराटनगर]

वीर सैनिकों का कथन।

उद्धर्षय मघवन्नायुधान्युत्सत्वनां मामकानां मनांसि। उद्वृत्रहन् वाजिनां वाजिनान्युद्-रथानां जयतां यन्तु घोषाः॥ (य० १७।४२)

हे (मघवन्) इन्द्र! तू (मामकानाम्) हम जैसे (उत्सत्वनाम्) उत्कृष्ट सत्त्व-पराक्रमवाले वीरोंके (मनांसि) मन (च) और (आयुधानि) आयुधोंकी (उद्धर्षय) जाँच कर। हे (उद् वृत्रहन्) दुर्दान्त-शत्रु-घातक! हमारी (जयताम्) विजयशील (उद् रथानाम्) उत्तम रथों से युक्त (वाजिनाम्) सेनाओं के (वाजिनानि) घोडे इत्यादि (घोषाः यन्तु) सिंहनाद करें।

इस मन्त्र में अत्यन्त सारगर्भित ये चार शब्द आये हैं- (१) उद्धर्षय (२) उत्सत्वन् (३) उद् वृत्रहन् और (४) उद् रथ। इनका सारांश यह है कि (१) सेनापति अपनी सेना का उद्धारक और शत्रु-सैन्य का विध्वंसक हो। (२) सेनापति, सैनिक, हाथी और घोडे आदि उत्कृष्ट शक्ति-शाली तथा रथादि उत्तम और सुदृढ हों। (३) सेनापति और सैनिक उत्तम रीति से शत्रु-सैन्य का विनाश करने-वाले अर्थात् दुर्दान्त शत्रु-विमर्दक और रण-कर्म-सुचतुर हों। (४) रथ न टूटनेवाले, सुदृढ और उत्तम हों, जिससे सांग्रामिक विजयलाभ शीघ्रातिशीघ्र होने की संभावना रहे।

उपर्युक्त-"उद्धर्षय मघवन्"-(य० १७।४२) इस मन्त्र के 'उद् वृत्रहा वाजिनां वाजिनानि आयुधानि चोद्धर्षयतु' इस वाक्यमें 'प्रबल शत्रुनाशक सेनापति अपने प्रतिपक्षी सैन्य के घोडे, रथ और शस्त्रास्त्र आदि का अपहरण या विनाश करके शत्रु-सेना को तहस-नहस करनेकी फिक्र में रहे।' इत्यादि अगणित कूटनीतिपूर्ण युद्धविषयक बातों की सूचनाएं दी गई हैं। यह अत्यन्त कूटस्थ भावोंसे परिपूर्ण मंत्र है।

अस्माकमिन्द्रः समृतेषु ध्वजेष्वस्माकं या इषवस्ता जयन्तु। अस्माकं वीरा उत्तरे भवन्त्वस्माँ२ उ देवा अवता हवेषु॥
(१७।४३)

(अस्माकम्) हमारा (इन्द्रः) यश (सम् + ऋतेषु) फहरानेवाली (ध्वजेषु) ध्वजाओं में रहे (अस्माकम्) हमारे (याः इषवः) जो बाण हैं (ताः जयन्तु) वे शत्रुजित् हों, (अस्माकम्) हमारे (वीराः) वीर (उत्तरे) समीपस्थ (भवन्तु) हों, (देवाः) हे देवो! तुम सब (अस्मान्) हमें (आ हवेषु) समरक्षेत्रोंमें (उ) निश्चय ही (अवत) बचाओ।

उपर्युक्त 'उद्धर्षय मघवन्' और 'अस्माकमिन्द्रः' (य० १७।४२-४३) इन दोनों मन्त्रों का सारांश यह है कि- "सेनापति संग्रामके अवसर पर सर्वप्रथम वीरों के शस्त्रास्त्रों की जाँच करे। तदनन्तर उनके मनोभावों की परीक्षा करे। परीक्षा करने पर जो अयोग्य प्रमाणित हो, उसे स्वयं संग्रामभूमिसे पृथक् करे अथवा दूसरों को पृथक् करने की अनुमति दे और जो परीक्षा में उत्तीर्ण हो, उसे युद्ध करने का आदेश दे।

तत्पश्चात् सेनापति जोर से जय-घोष कर के अपना शंख फूँके और सैनिकगण भी जय-जयकार और सिंहनाद करते हुए बाजे-गाजेके साथ प्रसन्नतापूर्वक युद्धारम्भ करें। युद्ध करते समय घोडों की हिनहिनाहट, अस्त्र-शस्त्रों की झनझनाहट, हाथियोंका चिंघाडना, वीरों का दहाडना और बाजे आदिकों की तुमुल-ध्वनि ये सब एकसाथ ही वीरों के मन में हर्ष, विस्मय, उत्साह और भय अदि के भाव उत्पन्न करनेवाले हों।"

इन उपरि लिखित भावों के व्यतिरिक्त-

(१) रथकी ध्वजाओं में शूरों का विशुभ्र यश अङ्कित रहे।

(२) सैनिकों के बाण शत्रु-मर्म-भेदक हों ।

(३) रथ के पृष्ठभाग में संरक्षक वीर रहें ।

(४) देवगण सैनिकों का संरक्षण करें ।

इत्यादि सैनिक और संग्रामविषयक सैकडों बातों का संकेत ऊपर के ' अस्माकमिन्द्रः ' इस मन्त्रमें किया गया है । विचारवान् व्यक्ति उक्त मन्त्रका तीव्र दृष्टि से मनन और स्वाध्याय करें ।

कवच-धारण ।

मर्माणि ते वर्मणा छादयामि सोमस्त्वा राजामृतेनानुवस्ताम् । उरोर्वरीयो वरुणस्ते कृणोतु जयन्तं त्वानु देवा मदन्तु ॥ (१७।४९)

मैं (ते मर्माणि) तेरे मर्मस्थलों को (वर्मणा छादयामि) वर्मसे आच्छादित करता हूँ (सोमः) शान्त (राजा) परमात्मा या राजा (त्वा) तुझे (अमृतेन अनुवस्ताम्) अमरत्व-पदसे प्रतिष्ठित करे, (वरुणः) वरुणदेव (ते) तुझे (उरोर्वरीयः) शक्तिशाली (कृणोतु) बनावे (देवाः) देवगण (त्वा जयन्तं कृण्वन्तु) तुझे विजयी बनावें और (त्वा अनुमदन्तु) तेरा अनुमोदन करें ।

इस मन्त्रमें कहा है कि- " योद्धाओंको समरभूमि में प्रस्थान करते समय अपनी अमर-कीर्ति-रक्षा और शक्तिवृद्धिके निमित्त कवच अवश्य धारण करना चाहिए । " - इत्यादि ।

अनन्त बाण-वर्षा ।

यत्र बाणाः संपतन्ति कुमारा विशिखा इव । तत्र इन्द्रो बृहस्पतिरदितिः शर्म यच्छतु विश्वाहा शर्म यच्छतु ॥ (१७।४८)

(यत्र) जिस (समरक्षेत्र) में (कुमाराः विशिखाः इव) कौमार-शिखा सदृश (बाणाः संपतन्ति) अगणित बाण--समूह गिरते हों (तत्) वहाँ (अदितिः) अखण्ड शक्तिमान् (इन्द्रः) सूर्य--समान महा तेजस्वी (बृहस्पतिः) सेनापति (नः शर्म यच्छतु) हमें संरक्षणशक्ति प्रदान करे और (विश्वाहा) परमेश्वर (नः शर्म यच्छतु) हमारा कल्याण करे अथवा हमें उत्साहशक्ति प्रदान करे ।

" युद्धमें अनगिनती बाणों की वर्षा होने के समय अपना संरक्षण कैसे किया जा सकता है ? " इत्यादि बातों की सूचनाएं ऊपर के " यत्र बाणाः " (य० १७।४८) इस मन्त्र में दी गई हैं ।

महाभारतीय संग्राम में भीष्म, कर्ण, द्रोण, अर्जुन जैसे महारथी लोग अकेले ही १०००० वीरों से लडते थे । उत्साहशक्तिद्वारा लाखो वीरों का पराभव (पराजय) अकेले ही समरभूमि में किया जा सकता है । यह कोई असंभव बात नहीं है । रामायण और महाभारत उठाकर देखिए क्या लिखा है ? तब आपको उपर्युक्त मन्त्र का कथन सर्वांश में सत्य प्रतीत होगा ! (क्रमशः)

माताजीसे वार्तालाप

(१)

हमारे योगका उद्देश्य और अधिकार।

(अनुवादक- श्री० मदनगोपाल गाडोदिया)

हमारी साधना का ध्येय मनुष्यजाति का कल्याण नहीं है, हमारी साधना का हेतु है भगवान् की अभिव्यक्ति। हम भगवान् के संकल्प को कार्य में परिणत करने के लिये यहां हैं ... । मानवजाति का जो भाग भागवत प्रकार का प्रत्युत्तर देगा, केवल वही उनके प्रसाद को प्राप्त करेगा ।

"तुम योग-साधना किस लिये करना चाहते हो ? शक्ति प्राप्त करने के लिये ? शांति और स्थिरता की प्राप्ति के लिये ? मानवजातिके कल्याण के लिये ?

इनमेंसे कोई भी भाव इस बात का पर्याप्त द्योतक नहीं है कि तुम इस योगमार्ग के लिये हो।

जिस प्रश्न का तुमको उत्तर देना है, वह तो यह है। क्या तुम भगवान् के लिये योग-साधना करना चाहते हो ? क्या भगवान् ही तुम्हारे जीवनका परम सत्य है, यहांतक कि तुम्हारी ऐसी अवस्था हो गयी है कि तुम उनके बिना रह ही नहीं सकते ? क्या तुम यह अनुभव करते हो कि तुम्हारे जीवनका कारण ही एकमात्र भगवान् है और उनके बिना तुम्हारे जीवन का कोई अर्थ ही नहीं है ? यदि ऐसा है, तो ही यह कहा जा सकता है कि इस योगमार्गके लिये तुम्हारे अंदर पुकार है ।

जो बात सबसे पहले आवश्यक है, वह यही है-भगवान् के लिये अभीप्सा ।

दूसरी बात जो तुम्हें करनी है वह है, इस अभीप्साको सतत बनाये रखना, उसे सदा जीवंत, ज्वलंत और जाग्रत रखना। और इसके लिये जिस बातकी आवश्यकता है, वह है एकाग्रता-भगवान् में एकाग्रता जो उनके संकल्प और अभिप्राय के प्रति पूर्ण और निरपेक्ष आत्म-समर्पणके भाव से की गयी हो ।

हृदयकेंद्रमें अपने आपको एकाग्र करो। हृदयमें प्रवेश करो, उसके अंदर जाओ, उसकी गहराईमें उतरो और दूरतक चले जाओ, इतनी दूर जितनी दूरतक तुम जा सको। अपनी चेतनाके बाहरकी ओर बिखरे हुए समस्त तारोंको एकत्र करो, उन्हें समेटकर उनकी एक लच्छी बना लो और फिर अंदर डुबकी लगाओ और तहमें जाकर बैठ जाओ ।

वहां, हृदयकी गंभीर शांतिमें एक अग्नि जल रही है। यही है तुम्हारे अंदरमें रहनेवाले भगवान का दिव्य अंश-तुम्हारी सत्य सत्ता (हृत्पुरुष)। इसकी ध्वनिको सुनो और इसके आदेशका पालन करो।

एकाग्रता के लिये दूसरे केंद्र भी हैं, उदाहरणार्थ, एक केंद्र मस्तिष्क के ऊपर है (सहस्रार), दूसरा भृकुटिओं के मध्यमें है (आज्ञा)। इनमेंसे हरेक का अपना प्रभाव है और ये सभी तुम्हें एक विशिष्ट लाभ पहुंचावेंगे। परन्तु हृत्पुरुषका स्थान हृदय है और हृदयसे ही समस्त कैंद्रिक प्रवृत्तियां निकलती हैं-यहींसे समस्त गतिशीलता, रूपांतर के लिये अनुरोध और आत्म-दर्शन करनेकी शक्ति प्रसूत होती है ।

"जिसको योग-साधना करनेका अधिकारी बनना हो, उसे क्या करना चाहिये ?"

पहले तो उसको सचेतन होना चाहिये। अपनी सताके अत्यंत तुच्छ भागसे ही हम सचेतन हैं, इसके अधिकांश भाग से हम अचेतन हैं। यह अचेतनताही हमको अपनी प्रकृति के अपरिमार्जित भाग के साथ नीचेकी ओर बांधे रखती है और उसके परिवर्तन या रूपांतरको अटकाती है। इस अचेतनाद्वारा ही अदिव्य शक्तियां हममें घुस आती हैं और हमको अपना गुलाम बना लेती हैं।

तुम्हें अपने-आपसे सचेतन होना चाहिये, अपनी

प्रकृति और प्रवृत्तियों के प्रति तुम्हें जाग्रत होना चाहिये, तुमको यह जानना चाहिये कि तुम क्यों और कैसे किन्हीं कार्योंमें प्रवृत्त होते, किन्हीं बातोंका अनुभव अथवा विचार करते हो । तुम्हें अपने प्रेरक-भावों, आवेशों और अपनी गुप्त या प्रकट शक्तियों का, जिनकी प्रेरणा से तुम कर्म करते हो, ज्ञान होना चाहिये, वास्तवमें तुमको अपनी सत्तारूपी यंत्र के पुरजे-पुरजेको जुदा-जुदा करके भली भांति जान लेना चाहिये । एक बार जहां तुम सचेतन हो गये, तो तुममें यह योग्यता हो जाती है कि तुम विवेक कर सको, खरे और खोटेकी परख कर सको, यह देख सको कि कौनसी शक्तियां तो तुम्हें नीचेकी ओर खींचती हैं और कौनसी शक्तियां तुम्हें ऊपर उठनेमें सहायता करती हैं। और जब तुममें उचित को अनुचित से, सत्यको असत्यसे, दिव्य को अदिव्य से अलग करके जान लेनेकी योग्यता हो जाती है, तब तुमको अपने इस ज्ञान का कठोरता के साथ अनुसरण करना चाहिये, अर्थात् एकका दृढतापूर्वक त्याग तथा दूसरेको स्वीकार करना चाहिये। पग-पगपर ये द्वंद्व-तुम्हारे सामने उपस्थित होंगे और पग-पगपर इनमें से एकको तुम्हें पसंद कर लेना होगा । तुम्हें धैर्य रखना होगा, लगन लगाये रहना होगा और चौकन्ने रहना होगा- योगियोंकी भाषामें " जागते रहना " होगा; जो कुछ भी दिव्य हो, उसे स्वीकार करना और जो कुछ अदिव्य हो, उसे किसी भी प्रकार का मौका देनेसे इनकार करना होगा ।

" क्या यह योग मनुष्यजातिके लिये है ? "

नहीं, यह भगवान् के लिये है । हमारी साधनाका ध्येय मनुष्यजातिका कल्याण नहीं है, हमारी साधनाका हेतु है भगवान्की अभिव्यक्ति । हम भगवान् के संकल्पको कार्यमें परिणत करनेके लिये यहां हैं, बल्कि यह कहना अधिक सत्य होगा कि हम इसलिये यहां है कि भगवान् का संकल्प हमें अपने काममें लगा ले, जिससे कि पुरुषोत्तमको उत्तरोत्तर मूर्तिमान करने और उनके राज्यकी पृथ्वीपर स्थापना करनेके निमित्त हम उनके यंत्र बन सकें। मानवजातिका जो भाग इस भागवतपुकार का प्रत्युत्तर देगा केवल वही उनके प्रसादको प्राप्त करेगा।

प्रत्यक्षरूपसे यदि न भी हो, तो अप्रत्यक्षरूपसे ही सही, इस योगद्वारा सामूहिक रूप में मानवजातिको लाभ होगा या नहीं, यह बात मानवजातिकी अपनी अवस्थापर निर्भर करेगी । इस विषय का निर्णय यदि मानवजातिकी वर्तमान अवस्थाओं से किया जाय, तो बहुत अधिक आशा नहीं दिखायी देती । जिसको मनुष्यजातिका प्रतिनिधि कहा जा सके, ऐसे एक औसत मनुष्यको ले लो, उसका आज क्या भाव है ? क्या यह ठीक नहीं है कि विशुद्ध रूपसे भगवान् का अंश धारण करनेवाली किसी भी वस्तु के संपर्कमें आते ही, वह क्रोधसे कांप उठता या विद्रोह करता है ? क्या वह यह नहीं अनुभव करता कि भगवान् का अर्थ ही है उसकी पालीपोसी हुई संपत्तिका नाश ? क्या वह भगवान् की इच्छा और संकल्पका साफ-साफ इनकार करके उसके सामने अपनी आवाज नहीं उठाता? भगवान् के आविर्भाव से कुछ भी लाभ उठाने की आशा कर सके, इसके लिये मानवजातिको बहुत कुछ परिवर्तित होना होगा ।

हम सभी लोग पूर्वजन्मोंमें मिल चुके हैं, नहीं तो इस जन्ममें हम लोग एक साथ न होते । हम सब एकही परिवार के हैं और भगवान् की विजय तथा पृथ्वीपर उनकी अभिव्यक्तिके लिये हम लोगोंने युग-युगमें काम किया है।

(२)

योगके खतरे ।

योगमें पौरस्त्य और पाश्चात्य ।

" योग-मार्गमें क्या क्या खतरे हैं ? क्या योग विशेषतः पाश्चात्य देशवासियों के लिये ही खतरनाक है ? किसीने कहा है कि, पौरस्त्य लोगों के लिये योग करना अनुकूल हो सकता है, किन्तु पाश्चात्य लोगोंपर तो इसका जो असर होता है, वह उनकी मानसिक समतोलता को बिगाड देता है । "

योग पाश्चात्य देशवासियों के लिये पौरस्त्य देशवासियों की अपेक्षा, कोई अधिक खतरनाक नहीं है। सब कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि, तुम किस भावसे इसमें प्रवृत्त होते हो। यदि तुम योग अपने ही लिये, किसी व्यक्तिगत स्वार्थ के लिये करना चाहते हो, तो अवश्य ही यह खतरनाक हो जाता है। परन्तु यदि तुम इसकी जो पवित्रता है, उस भावनाको साथ रखते हुए योग में प्रवृत्त होते हो और यह सदा स्मरण रखते हो कि, तुम्हारा लक्ष्य भगवान् को पाना है, तो फिर योगसे किसी बातका खतरा नहीं, बल्कि तब तो यह उलटे तुम्हें निरापद रखता है और तुम्हारे लिये संरक्षणरूप हो जाता है।

खतरे और कठिनाइयां तो तब उपस्थित होती हैं, जब कोई भगवान् के लिये योग-साधन नहीं करता, बल्कि इसको किसी शक्ति प्राप्त करनेके लिये करता है और योगकी आडमें किसी महत्त्वाकांक्षाकी पूर्ति करना चाहता है। यदि तुम महत्त्वाकांक्षाओंसे छुटकारा नहीं पा सकते, तो इसका स्पर्श मत करो। यह आग है, जो जला देती है।

योग-साधना करनेके दो मार्ग हैं, एक है तपस्याका और दूसरा है समर्पण का। तपस्या का मार्ग कठोर है। इस मार्ग में तुम सर्वथा अपने ऊपर ही निर्भर करते हो, अपने निजी सामर्थ्यसे ही आगे बढते हो। तुम्हारी अपनी शक्ति के परिमाण में ही तुम्हारा आरोहण होता है और उतना ही तुमको फल मिलता है। इस मार्ग में नीचे गिरनेका भय सदा ही रहता है। और एक बार जहां तुम्हारा पतन हुआ, तो तुम गहरी खाईमें नीचे गिरकर चूर-चूर हो जाओगे और शायद ही फिर उठ सको। परन्तु दूसरा मार्ग-समर्पण का मार्ग-निरापद और निश्चित है। परन्तु यहीं पर पाश्चात्य देशवासियों को कठिनाई होती है। उनको यह शिक्षा मिली है कि वे उन सभी चीजोंसे डरें और बचें जो उनकी व्यक्तिगत स्वाधीनता का अपहरण करती दीखती हो। उन्होंने व्यक्तित्वकी भावना को अपनी माता के दूधके साथ-साथ पान कर लिया होता है और समर्पण का अर्थ है इस सबका अर्पण। दूसरे शब्दों में, जैसा रामकृष्ण कहते थे, तुम बंदरके बच्चे और बिल्लीके बच्चे इन दोमेंसे किसी एकके मार्गका अनुसरण कर सकते हो। बंदरके बच्चे को इधर-उधर ले जाये जानेके लिये अपनी माकी छातीसे चिपक जाना पडता है, उसे कसकर पकडे रहना होता है, और कहीं जो उसकी मुट्ठी ढीली पड़ी, तो वह गिर जाता है। परन्तु बिल्लीका बच्चा अपनी माको नहीं पकडता, बल्कि उसकी मा ही उसे पकडे रखती है, इसलिये उसको न कोई भय है न उत्तरदायित्व, उसे तो केवल इतनाही करना पडता है कि वह अपनी माताकी पकडमें आ जाय और मा मा करता रहे।

इस समर्पण-मार्ग का यदि तुम पूर्णरूपसे और सचाई के साथ ग्रहण कर लो, तो फिर खतरा या गंभीर कठिनाई नहीं होती। प्रश्न केवल तुम्हारे सच्चे होनेका है। यदि तुम सच्चे नहीं हो, तो योग-साधना करना आरम्भ मत करो। यदि तुम मानवी विषयोंमें हाथ डालते, तो वहां धोखा-धडी चल सकती थी, किन्तु भगवान् के साथ व्यवहार करनेमें धोखेके लिये कोई स्थान नहीं है। इस मार्गमें तुम तभी निरापद होकर यात्रा कर सकते हो, जब तुम निष्कपट और निश्चल हो और जब तुम्हारा एकमात्र ध्येय भगवान् का साक्षात्कार करना, उन्हें पाना और उनके द्वारा परिचालित होना हो।

और खतरा है और वह है काम-वासना के सम्बन्धमें। योग अपनी पवित्रीकरण की प्रक्रिया में उन समस्त वासनाओं और इच्छाओं को जो तुममें छिपी पडी हैं, उघाड देगा और उनको ऊपरी तलपर उठा लावेगा, और तुमको यह सीखना होगा कि तुम इन चीजोंको न तो छिपाओ, न इनकी अवहेलना करो, तुम्हें इन सब चीजोंसे मुकाबला करना होगा, इन पर विजय प्राप्त करनी होगी और इनको एक नये साचेमें ढाल देना होगा। अस्तु! योगका प्रथम प्रभाव होता है मानसिक संयम को हटा लेना, इससे साधककी अतृप्त वामनाएं, जो सुप्त अवस्थामें पडी हुई होती हैं, हठात् मुक्त हो जाती हैं, ऊपरमें उभड आती हैं और उसपर आक्रमण करती हैं।

इस मानसिक संयम का स्थान जब तक भागवत संयम ग्रहण नहीं कर लेता, तब तक एक संक्रमणकाल रहता है, और इस कालमें तुम्हारी सचाई और समर्पण कसौटीपर कसे जायंगे। काम-वासना और इस प्रकारके आवेगोंको बल मिलनेका प्रायः यह कारण होता है कि लोग इनपर

बहुत अधिक ध्यान देते हैं, वे इनका बहुत तीव्रता के साथ प्रतिवाद करते हैं और इनको निग्रह द्वारा रोके रखना चाहते हैं। इन्हें अपने अंदर भरे हुए किसी तरह दबाये रखना चाहते हैं। परन्तु जितना ही अधिक तुम किसी चीजके बारेमें सोचते और यह कहते हो कि "मैं उसे नहीं चाहता, मैं उसे नहीं चाहता," उतनाही अधिक तुम उस चीज से ग्रस्त होते जाते हो। तुम्हें जो कुछ करना चाहिये, वह यह है कि तुम उस चीज को अपनेसे दूर रखो, उससे असंबद्ध रहो, उसपर जितना कमसे-कम ध्यान दे सको उतना कम ध्यान दो और इस पर भी यदि वह कभी तुम्हारे चिंतनमें आवे, तो उससे उदासीन और निर्लिप्त रहो।

योग का दबाव पडनेके कारण जो इच्छाएं और वासनाएं ऊपरमें उभड आती हैं, उनका अनासक्त रहकर और शांतिके साथ मुकाबला करना चाहिये, यह समझना चाहिये कि ये तुमसे विजातीय वस्तुएं हैं अथवा बाह्य जगत् की चीजें हैं जिनसे तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं है। उन्हें भगवान् को सौंप देना चाहिये, जिससे कि भगवान् उनको अपने हाथ में लेलें और उनका रूपांतर कर दें।

एक बार यदि तुम अपने-आपको भगवानकी ओर खोल चुके हो, यदि भगवान् की शक्ति एक बार तुममें उतर चुकी है और फिर भी यदि तुम पुरानी शक्तियोंके साथ संबंध बनाये रखना चाहते हो, तो तुम अपने लिये कष्टों, कठिनाइयों और खतरों को मोल लेते हो। तुम्हें सावधान रहना चाहिये और बराबर देखते रहना चाहिये कि कहीं तुम भगवान् की आड में अपनी इच्छाओं को तो सन्तुष्ट नहीं कर रहे हो। ऐसे बहुत से अपने आप बने हुए गुरु हैं, जो असल में यही करते हैं। और फिर जब तुम सीधे मार्ग को छोडकर भटक जाते हो और जब तुम में थोडा ज्ञान तो हुआ है, किंतु अच्छी तरह शक्ति नहीं होती, तब यह होता है कि एक विशेष प्रकार के सत्व और सत्ताएं तुमपर अपना अधिकार जमा लेती हैं और अंतमें तुमको निगल जाती हैं।

जहां कहीं कपट है, वहीं खतरा है। तुम भगवान् को धोखा नहीं दे सकते। क्या तुम ऐसा कर सकते हो कि भगवान् के पास जाओ, तो यह कहते हुए कि "मैं आपके साथ एक हो जाना चाहता हूं" और उस समय तुम्हारे मन में हो कि "मैं शक्ति और भोग चाहता हूं।" सावधान! यदि ऐसा है, तो तुम सीधे डागके किनारे की ओर बढे जा रहे हो। परन्तु अभी भी सत्यानाश से बच जाना बहुत ही सहज है। एक बालक की तरह हो जाओ, अपने-आपको भगवती माताके अर्पण कर दो, उनकी गोद में रहो, फिर तुम्हारे लिये कोई खतरा नहीं रह जायगा।

इसका यह अर्थ नहीं कि तुमको दूसरी-दूसरी कठिनाइयोंका सामना करना ही नहीं पडेगा अथवा यह कि तुम्हें किन्हीं विघ्नबाधाओं से युद्ध करना और उनपर विजय प्राप्त करना ही नहीं होगा। समर्पण का अर्थ यह नहीं कि साधना में सतत, अव्याहत और सरल प्रगति के लिये कोई परवाना मिल गया। इसका कारण यह है कि तुम्हारी सत्ता अभी तक एक नहीं हुई है, न तुम्हारा समर्पणही अभी अनन्य और पूर्ण हुआ है। आरंभ में तुम्हारा केवल एक भागही समर्पण करना है, और फिर आज एक भाग तो कल दूसरा भाग। योग-साधना करने का सारा प्रयोजन ही यह है कि अपनी सत्ताके समस्त बिखरे हुए भागों को एकत्र करके उन्हें एक अविभाजित एकता में डाल देना। जब तक यह नहीं हो जाता तब तक कठिनाइयों से-उदाहरण के लिये उदासी या दुविधा जैसी कठिनाइयोंसे-तुम्हारा पिंड नहीं छूट सकता। सारा जगत् विषसे भरा पडा है और प्रत्येक सांसके साथ तुम इसको पी रहे हो। यदि तुम किसी अवांछित मनुष्य के साथ थोडीसी बातचीत भी करो अथवा इस प्रकार का मनुष्य यदि तुम्हारी बगल से होकर निकल भी जाय, तो यह संभव है कि तुम उसके संक्रामक दोषको ग्रहण कर लो। जहां प्लेग हो, उसके आस-पाससे होकर गुजर जाना उसके जहर की छूत को लगा लेनेके लिये पर्याप्त है, फिर चाहे इस जहर के वहां होनेका तुम्हें पता हो या न हो। तुम्हारी बहुत दिनोंकी कमाई कुछ क्षणोंमें नष्ट हो जा सकती है। जबतक तुम मानवजातिके घेरेमें हो, जबतक तुम साधारण जीवन व्यतीत करते हो तबतक यदि तुम संसारी मनुष्यों से हिलोमिलो तो इसमें कोई खास चिंताकी बात नहीं है, किंतु यदि तुम दिव्य जीवनकी कामना रखते हो, तो तुम्हें अपने संगी-साथी और अपनी परिस्थिति से बहुत सावधान रहना पडेगा।

अपनी सत्ता में एकता और एक सदृशता स्थापित करने का उपाय क्या है ? अपने संकल्पको दृढ रखो। अपने उद्धत भागों के साथ ऐसा व्यवहार करो जैसा कि अनाज्ञाकारी बालकों के साथ किया जाता है। उनपर लगातार और धैर्यपूर्वक क्रिया करते रहो। उन्हें उनकी भूल अवगत करा दो।

एकबार जहां तुमने हृत्पुरुषकी चेतना को और उसकी अभीप्सा को पा लिया, तो फिर इन संदेहों और कठिनाइयों को नष्ट कर दिया जा सकेगा। इस काममें कम या अधिक समय तो लगेगा, परन्तु अन्त में तुम सफल होओगे यह निश्चित है। एकबार जब तुमने भगवान् की ओर मुंह किया है और यह कहा है कि "मैं आपका होना चाहता हूं" और भगवान् ने "हां" कर दिया है, तो फिर यह समस्त जगत् तुमको उनसे अलग नहीं कर सकता। अन्दर से जीवने जब समर्पण कर दिया है तब प्रधान कठिनाई दूर हो गयी है। बाह्य सत्ता तो एक जमी हुई पपडी की तरह है। साधारण लोगों में यह पपडी इतनी कठोर और मोटी होती है कि इसके कारण वे अपने अन्दर के भगवान् से सचेतन नहीं हो पाते। परन्तु यदि आंतर पुरुष ने एकबार, क्षण भरके लिये ही सही, यह कह दिया है कि "मैं यहां हूं और मैं तुम्हारा हूं" तब मानो एक पुल बंध गया है और यह बाहरी पपडी धीरे-धीरे पतली से पतली पडती जायगी और एक दिन आवेगा जब कि दोनों भाग पूर्णरूपसे जुड जायंगे और आन्तर और बाह्य दोनों एक हो जायंगे।

महत्वाकांक्षा के कारण अनेक योगियों का विनाश हुआ है। यह नासूर बहुत दिनोंतक छिपा पडा रह सकता है, यह है इस बातका जरा भी भान न रहते हुए ही अनेक मनुष्य योग करना आरंभ कर देते हैं, परन्तु जब उनको शक्ति प्राप्त होती है तब उनकी यह महत्वाकांक्षा भडक उठती है, यह भडकना और भी जोरदार इस लिये होता है कि आरंभमें ही इसको निकाल कर फेंक नहीं दिया गया होता।

एक योगी के बारेमें, जिसने अद्भुत शक्ति प्राप्त की थी, एक कहानी सुनी जाती है। एक बार उसके शिष्यों ने एक बहुत बडे भोजनमें उसको निमंत्रित किया। भोजन एक नीची पर बडीसी मेजपर परोसा गया। अब उन शिष्योंने अपने गुरुसे कहा कि "आप अपनी शक्ति को किसी रूपमें दिखाइये"। वह यह जानता था कि ऐसा नहीं करना चाहिये, किंतु महत्वाकांक्षा का बीज उसमें वर्तमान था और उसने सोचा कि "मैं जो कुछ करने जा रहा हूं वह आखिरकार एक बहुत निर्दोष चीज है और इससे यह होगा कि इन लोगोंको यह विश्वास हो जायगा कि ऐसा कुछ किया जा सकता है और इससे इनको ईश्वर की महानता की शिक्षा मिलेगी।" इस प्रकार विचार करके उसने कहा कि "मेजको हटा लो, केवल मेजको ही हटाओ और उसपर बिछी हुई चादर और समस्त थालियां ज्यों-की-त्यों पडी रहने दो"।

यह सुनकर उसके शिष्य चिल्ला उठे, 'ओह ! ऐसा कैसा किया जा सकता है; सब कुछ गिर जायगा।' परन्तु उसने आग्रह किया और शिष्यों ने चादर के नीचे से मेज हटा ली। अब तो चमत्कार के मारे सब-के-सब हक्के-बक्के से रह गये। चादर और उसके ऊपर का सारा सामान ठीक उसी तरह पडा रहा जैसा मेज नीचे रहने के समय था। परन्तु हठात् गुरु महाराज वहांसे कूदकर चीखते और चिल्लाते हुए भागे, "अब कभी मैं शिष्य नहीं बनाऊंगा, अब कभी नहीं। मुझपर वज्र गिरे। मैंने अपने भगवान्के साथ द्रोह किया है।" उसके हृदय में आग जल रही थी, उसने स्वार्थ के लिये भागवत शक्तियों का उपयोग किया था।

शक्तियों का प्रदर्शन सदा ही बुरा है। इसका यह अर्थ नहीं कि उनका उपयोग ही नहीं होता। परन्तु जिस प्रकार वे प्राप्त होती हैं, उसी प्रकार उनका उपयोग भी होना चाहिये। वे भगवान् के साथ योग होनेपर प्राप्त होती हैं और उनका उपयोग भी भगवान् के संकल्पद्वारा ही होना चाहिये, प्रदर्शन के लिये नहीं। यदि किसी अन्धे मनुष्य से तुम्हारी भेंट हो और तुममें यह शक्ति हो कि तुम उसको आंखें दे सको तो-यदि भगवान् की यह इच्छा है कि उसकी आंखें खुल जांय तो तुम्हारा इतना कहना बस होगा कि "उसकी आंखें खुल जायं" और उसकी आंखें खुल जायंगी। परन्तु यदि तुम उसको केवल इस लिये आंखें देना चाहते हो कि तुम्हारी इच्छा उसको अच्छा

कर देनेकी है, तो तुम अपनी व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा को संतुष्ट करने के लिये ही शक्तिका उपयोग करते हो। ऐसी अवस्था में बहुधा यह होता है कि तुम केवल अपनी शक्ति को गंवा ही नहीं देते, बल्कि उस मनुष्य में भी एक भारी क्षोभ उत्पन्न करते हो। फिर भी ऊपरसे देखने में ये दोनों तरीके एक समान हैं, किंतु एक में तुम इसलिये कार्य करते हो कि वह भगवान् की इच्छा है और दूसरी में इसलिये कि तुम अपने किसी वैयक्तिक भाव से प्रेरित हुए हो।

भगवान् के संकल्प को जानना कठिन नहीं होता। वह असंदिग्ध होता है। योगमार्ग में बहुत आगे बढने के पहले ही तुम इसको जानने लायक हो सकते हो। केवल आवश्यकता इस बातकी है कि तुम उनकी वाणी को ध्यानपूर्वक सुन सको, उस सूक्ष्म वाणी को सुन सको जो यहां हृदयमें से निकलती है। एकबार तुमको इसे सुननें का अभ्यास हो गया, तो फिर यदि तुम भागवत संकल्प के विरुद्ध कुछ भी करोगे तो तुम्हें एक प्रकार की व्याकुलता अनुभव होगी। और यदि तुम उस गलत मार्गपर हठपूर्वक चलते रहोगे, तो तुम बहुत अधिक क्षुब्ध हो जाओगे। परन्तु यदि तुम अपनी इस व्याकुलता के कारण के तौरपर कोई बाह्य भौतिक बहाना ढूंढ निकालोगे और गलती करते ही जाओगे, तो यह होगा कि तुम धीरे-धीरे जानने की अपनी इस शक्ति को, गंवा दोगे और अन्त में तुम्हारी यह दशा हो जायगी कि तुम नाना प्रकार की भूलें करते जाओ पर किसी तरह की व्याकुलता का अनुभव न करो।

परन्तु पहलीही बार, जरासा क्षोभ के होते ही, यदि तुम वहीं रुक जाओ और अपने अन्तरात्मा से प्रश्न करो कि "इस क्षोभ का कारण क्या है" तो तुम को ठीक-ठीक उत्तर अवश्य मिलेगा और सब कुछ साफ-साफ दिखाई देने लगेगा। जरासी उदासी या साधारणसी व्याकुलता का अनुभव होनेपर भी उनके लिये बाह्य भौतिक बहाने मत ढूंढो। इसके कारण का पता लगाने के लिये जब तुम ठहर कर सोचते हो तब अपने हृदय को बिलकुल सरल और सच्चा रखो। आरंभ में तुम्हारा मन ऐसी सुन्दर-सुन्दर बातें गढेगा जो जीको जंच जानेवाली हों। उन्हें स्वीकार मत करो, बल्कि उनके परे जाकर देखो और पूछो कि "यह जो गति हो रही है उसके मूल में क्या है? मैं इस प्रकार क्यों कर रहा हूं?" अंत में तुम एक छोटी सी बात को- अपने भावकी कुछ गलती या किसी वक्रताको-जिसके कारण यह कष्ट और क्षोभ हो रहा है, एक कोनेमें छिपी हुई देख पाओगे।

महत्त्वाकांक्षा का एक अत्यंत सामान्य रूप है मानवजातिकी सेवा करनेका विचार। इस प्रकारकी सेवा या कार्य के प्रति किसी भी प्रकारकी आसक्ति होना व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा का चिह्न है। जो गुरु यह समझता हो कि वह मानवजाति को किसी महान् सत्यकी शिक्षा देनेके लिये आया है और जो बहुत से शिष्य चाहता हो और शिष्यों के चले जानेपर बेचैनी अनुभव करता हो अथवा जो कोई भी सामने आवे उसपर अपना प्रभाव जमाकर उसे अपना शिष्य बना लेनेकी चेष्टा करता हो, तो यह स्पष्ट है कि वह अपनी महत्त्वाकांक्षा का अनुसरण करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं कर रहा है। यदि तुम भगवान् के आदेश का अनुसरण करना चाहते हो, तो तुम्हें जो कोई भी काम मिले—चाहे वह बहुत भारी काम ही क्यों न हो—उसको ग्रहण करने के लिये तथा दूसरे ही दिन उस कामको उसी शांति के साथ, जिस के साथ तुमने उसे ग्रहण किया था—और जरा भी यह न समझते हुए कि इसमें तुमपर कोई उत्तरदायित्व है—छोड देने के लिये तुम्हें तैयार रहना चाहिये। किसी पदार्थ अथवा किसी प्रकारके जीवनमें—तुम्हें कोई आसक्ति नहीं होनी चाहिये, तुम्हें सर्वथा स्वतन्त्र हो जाना चाहिये। यदि तुम सच्ची यौगिक स्थिति में रहना चाहते हो तो तुममें यह शक्ति होनी चाहिये कि भगवान् की ओर से कुछ भी आवे उसको तुम स्वीकार कर सको और उसको सरलता के साथ तथा बिना किसी दुःख के छोड भी सको। "मैं कुछ नहीं चाहता" ऐसा कहनेवाला एक बैरागी और "यह वस्तु मुझे चाहिये" ऐसा कहनेवाला एक संसारी मनुष्य— इन दोनों की मनोवृत्ति एकही है। संभव है कि बैरागी अपने त्याग के भाव में उतनाही आसक्त हो जितना कि संसारी अपनी संपत्ति के स्वामित्व के भाव में।

तुम्हें उन सभी वस्तुओं को— और केवल उन्हीं वस्तुओं को— स्वीकार करना चाहिये जो भगवान् के

यहांसे आती हैं । क्योंकि वस्तुएं तुम्हारी छिपी हुई इच्छाओं के फलस्वरूप भी आ सकती हैं । इच्छाएं अब चेतना में कार्य करती हैं और तुम्हारे पास ऐसी वस्तुओंको ले आती हैं, जिन्हें तुम चाहे इस रूपमें न पहचान सको, पर वे भगवान् के यहां से नहीं बल्कि परदे के अंदर जो इच्छाएं छिपी पडी हैं वहां से आयी हुई होती हैं ।

कोई चीज जब भगवान् के यहांसे आती है तो उसको तुम सहज ही जान सकते हो । उस समय तुम अपने को स्वतन्त्र अनुभव करते हो, निरुद्विग्न और स्वस्थ पाते हो, शांतिकी अवस्थामें होते हो । परन्तु किसी चीजके मिलने पर यदि तुम उसपर टूट पडते हो और मारे खुशी के चिल्ला उठते हो कि " आखिरकार यह मुझे मिली " तो तुमको निश्चयपूर्वक यह समझ लेना चाहिये कि वह चीज भगवान् के यहां से नहीं आयी है; भगवान् के साथ योग और सम्मिलन के लिये प्रधान शर्त है समचित्तता ।

भगवान् भी कभी-कभी तुम्हारी इच्छित वस्तु को देते हैं।

एक नौ-जवान आदमी योग करना चाहता था । परन्तु उसका पिता नीच और क्रूर था, वह उसको बहुत कष्ट देता और उसको योग-साधन करने से रोकने की चेष्टा करता था। उस नौजवानकी तीव्र इच्छा हुई कि वह अपने पिता के हस्तक्षेपसे मुक्त हो जाय । शीघ्र ही उसका पिता बीमार पडा. उसका रोग असाध्य हो गया और वह मरनेके समीप पहुंच गया । अब उस युवक की प्रकृति का दूसरा भाग जागृत हुआ और वह इस दुर्भाग्य को कोसता हुआ विलाप करने लगा, " आह, मेरे पिताजी इतने बीमार हो गये। यह बडे दुःख की बात है । अरे मैं क्या करूं ? " उसका पिता अच्छा हो गया । युवक को बडी प्रसन्नता हुई और उसने एकवार फिर योगकी ओर मुंह किया । और उसका पिता भी दूने बलके साथ उसका विरोध करने और उसको सताने लगा । लडका निराश होकर सिर धुनने और विलाप करने लगा कि " अब मेरे पिता मेरे मार्गमें और भी अधिक बाधक हो रहे हैं । "

भगवान् सदा अपने साथ पूर्ण शांति और स्थिरता लाते हैं। यह सत्य है कि एक विशेष प्रकारके " भक्त " साधारणतया एक दूसरे प्रकारकी ही छबि उपस्थित करते हैं, ये कूदते-फांदते हैं, रोते हैं, हंसते और गाते हैं, और यह सब, जैसा कि वे कहते हैं, वे भक्ति के आवेशमें करते हैं । परन्तु वास्तवमें इनका वास भगवान् में नहीं होता । ये अधिकांशतः प्राणमय जगत् में ही रहते हैं ।

तुम्हारा कहना है कि रामकृष्ण परमहंस भी तो कभी कभी भावावेश में आकर उत्तेजित हो जाते थे और ऊपर की ओर हाथ उठाकर गाते और नाचते हुए इधर-उधर फिरा करते थे ? इस विषय का सत्य यह है । तुम्हारी आंतर सत्तामें तो भक्तिकी गति पूर्ण और ठीक हो यह हो सकता है, किन्तु तुम्हारी बाह्य सत्ता यदि दुर्बल या असंस्कृत हो तो यह तुम्हें ऐसी शक्तियोंके सामने खोल देती है, उनके प्रति ग्रहणशील होनेकी एक विशेष अवस्थामें ले आती है, जो तुम्हें भावावेशकी तीव्र उत्तेजना से भर देती है । जहां बाह्य सत्ता आंतर पुरुषका प्रतिरोध करती है अथवा समस्त आनंद को धारण नहीं कर सकती, वहां ही भक्तिकी अभिव्यक्ति में इस प्रकारकी गडबडी या अराजकता होती है ।

तुम्हारा शरीर और तुम्हारी स्नायुएं बलवान् होनी चाहिये । तुम्हारी बाह्य सत्तामें समभावका सुदृढ आधार स्थापित होना चाहिये । यदि इस आधारकी स्थापना हो जाय, तो चाहे भगवान् की सारी सृष्टि तुम्हारे अंदर डोलती हो, तो भी तुम उसको शांतिपूर्वक धारणा किये रहोगे और कोलाहल मचाकर उसको बाहर निकालनेकी आवश्यकता नहीं पडेगी । इसका यह अर्थ नहीं कि तुम अपने भावावेशों का प्रकाश दिखा ही नहीं सकोगे, बल्कि यह कि तब तुम इसका प्रकाशन एक सुंदर और सामंजस्यपूर्ण रीतिसे करोगे । रोना, चिल्लाना और नाचते फिरना सदा ही किसी दुर्बलताका सूचक है, फिर वह दुर्बलता चाहे प्राणकी हो, मनकी हो या भौतिक प्रकृतिकी हो; कारण इन तीनों भूमिकाओं पर जो कुछ गति-विधि होती है वह आत्म-संतुष्टि के लिये होती है । जो कोई हंसता, कूदता या चिल्लाता है उसको ऐसा भान होता है कि जो कुछ भी कारण क्यों न हो पर उसकी वह उत्तेजना एक अत्यंत असाधारण प्रकार की है और उसकी प्राण-प्रकृति इसमें बडा सुख मानती है ।

यदि भागवत अवतरणके दबावको तुम्हें सहन करना है

तो तुम्हें अत्यंत बलवान् और शक्तिशाली होना चाहिये, नहीं तो तुम चूर-चूर हो जाओगे ! कुछ लोग कहते हैं कि " भगवान् अभी तक क्यों नहीं आये ? " अरे, अभी तुम तैयार नहीं हो । इस आनंदसागर की एक बूंद को पाकर ही यदि तुम नाचने गाने और चिल्लाने लगते हो, तो यदि समूचा सागर ही तुम में उतर आवेगा तो तुम्हारी क्या दशा होगी ?

इसीलिये जिनके मन, प्राण और शरीरमें सुदृढ, बलवान् और विशाल आधारकी स्थापना नहीं हुई है, उन्हें हम कहते हैं कि " मत खींचो " अर्थात् भागवत शक्तियों को अपने अंदर खींच लाने की चेष्टा मत करो, बल्कि स्थिरता और शांतिपूर्वक उनकी प्रतीक्षा करो । कारण ये लोग इस अवतरणकी सम्हाल नहीं सकेंगे । परन्तु जिन लोगों के आधारमें इस आवश्यक नींवकी स्थापना हो चुकी है, उन्हें हम ठीक इसके विपरीत कहते हैं कि " अभीप्सा करो और खींचो, " कारण ये लोग अवतरणको ग्रहण करने में समर्थ होंगे और भागवत शक्तियोंके इस अवतरण से विचलित नहीं होंगे ।

" कुछ लोगों के साथ ऐसा होता है कि उनके प्रत्येक स्थूल सहारेको या उन सभी वस्तुओंको जिनको वे बहुत अधिक चाहते हैं, उनसे छीन लिया जाता है । और यदि वे किसी पर प्रेम करते हैं तो उसको भी उनसे अलग कर दिया जाता है । "

ऐसी घटना सबके साथ नहीं घटती, वह केवल उन्हींके साथ होती है जिनकी पुकार होती है ।

आध्यात्मिक जीवन के सम्बन्धमें पाश्चात्य और पौरस्त्य लोगोंमें जो कुछ भी भेद है वह उनके आंतर पुरुष और आंतर प्रकृतिमें नहीं है, कारण ये तो अधिकारी और अविचल हैं, किंतु वह है मानसिक अभ्यासोंमें, बाह्य प्रकाशन और प्रतिपादन के तरीकोंमें, जो कि शिक्षा, परिस्थिति तथा अन्यान्य बाह्य अवस्थाओं के परिणामभूत होते हैं । सभी लोग, वे चाहे पाश्चात्य हों या पौरस्त्य, अनुभव एकही रूपमें करते हैं, तब उन अनुभवोंका विचार वे भिन्न भिन्न रूपमें करते हैं । उदाहरणके लिये सचाई एक ऐसा गुण है जो सभी देशों में एक-समान है । जो सच्चे हैं वे चाहे किसी राष्ट्रके क्यों न हों, एकही रूपमें सच्चे हैं, भिन्न जातियोंमें मन भिन्नरूपसे काम करता है, किंतु हृदय सर्वत्र समान है, हृदय अधिक सत्यवस्तु है, भेद तो बाह्य और ऊपरी भागोंसे सम्बन्ध रखते हैं । जैसे ही तुम हृदय की पर्याप्त गहराईमें उतरते हो वैसे ही तुम किसी ऐसी वस्तु से मिलते हो, जो सबमें एक है । सभी भगवान् में जाकर मिल जाते हैं । भौतिक संसारमें सूर्य भगवान् का प्रतीक है । बादलोंके कारण सूर्यके दरसावमें फरक हो सकता है, किंतु जैसेही बादल उड जाते हैं वैसे ही तुम देखते हो कि सदा और सर्वत्र वही एक ही सूर्य है।

यदि तुम किसीके साथ एकरस अनुभव नहीं कर सकते, तो इसका यह अर्थ है कि तुम अपने अनुभवमें पर्याप्त गहराई तक नहीं पहुंचे हो ।

वेद के ऋषि।

(श्री धर्मराज वेदालंकार)

वेद के ऋषि क्या हैं, इस विषय में तीन पक्ष हैं—

१-मन्त्रकर्तृत्व,

२-आकस्मिक मन्त्रद्रष्टृत्व,

३-नित्य मन्त्रद्रष्टृत्व।

१- इन तीनों में क्रमशः उत्तरोत्तर पक्ष कम प्रचलित है। प्रथम पक्ष मन्त्रकर्तृत्व-पक्ष है। इसके अनुसार वेदके ऋषि मन्त्रों के कर्ता अथवा रचयिता हैं। वेद-मन्त्र परमात्मा के बनाये हुए नहीं, परन्तु ऋषियों के बनाये हुए हैं। यह पक्ष केवल विदेशी लोग मानते हों, ऐसी बात नहीं, अपितु वेद तथा अन्य शास्त्रों में पूरी श्रद्धा रखने-वाले कितने ही आर्य विद्वान् भी इस पक्ष के पोषक हैं और साधारण बुद्धिद्वारा भी यही पक्ष मानने योग्य हो सकता है। इस पक्ष का विरोध किसी प्रबल आधार पर ही किया जा सकता है।

२- आकस्मिक मन्त्रद्रष्टृत्व-पक्ष को माननेवालों का यह मन्तव्य है कि वेद-मन्त्रों के ऋषि मन्त्रों की रचना करने-वाले नहीं हैं, उन्होंने केवल मंत्रों का दर्शनमात्र किया है—'ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः'। योग-समाधि में बैठे हुए ऋषियों को मन्त्ररूप में ज्ञान की प्राप्ति हुई। जिस मन्त्र का ज्ञान अथवा दर्शन जिस ऋषि को हुआ वही उस मन्त्र का ऋषि भी कहलाया। मन्त्र की रचना में ऋषि की अपनी बुद्धि का कोई भी उत्तरदायित्व नहीं है। ऋषि तो हृदयस्थ परम आत्मा के ज्ञान को बाहर मन्त्ररूप में अभिव्यक्त करने में उपकरणमात्र है। हां, कृतज्ञता प्रदर्शित करने के लिये समाज ने मन्त्रों के स्मरण के साथ साथ मन्त्रद्रष्टा ऋषि का स्मरण रखना भी उचित समझा। इस पक्ष को 'आकस्मिक मन्त्रद्रष्टृत्व' नाम इस लिये दिया गया है कि इसके अनुसार मन्त्र के अर्थ का ऋषि के व्यक्तित्व से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं, एक घटना के रूप में ऋषि ने किसी समय मन्त्र का साक्षात्कार किया, मन्त्र में वर्णित पदार्थ के विषय में ऋषि का यत्किञ्चित् भी कर्तृत्व नहीं है और न ही ऋषि के नाम का सम्बन्ध मन्त्र के अर्थ से है। मन्त्रकर्तृत्वपक्ष में तो यह सम्भव भी है कि ऋषि के नाम और व्यक्तित्व का सम्बन्ध उस ऋषि के मन्त्रों के साथ हो। जिस प्रकार आधुनिक ग्रन्थों में लेखक के जीवन की घटनाओं का वर्णन अथवा असर होता है या ग्रन्थ के ही किसी भाग में लेखक अपने व्यक्तित्व का नाम द्वारा या अन्य किसी प्रकार सङ्केत कर देता है, इसी प्रकार मन्त्रर्तृत्व-पक्ष के अनुसार वेदमन्त्रों में भी नामनिर्देश आदि हो सकता है। कितने ही मन्त्र ऐसे उपलब्ध होते हैं, जिन में उनके ऋषियों के नामों का भी उल्लेख है। कई ऋषि ऐसे हैं जिनके नाम का उनके मन्त्रों में कई वार उल्लेख है।

मन्त्रकर्तृत्व पक्ष में इस नामोल्लेख का समाधान बडी आसानी से हो जाता है, अर्थात् जिस प्रकार अन्य कवि अपनी रचनाओं में अपने नाम का निर्देश करते हैं, इसी प्रकार वेद के ऋषि-कवियों ने भी अपने मन्त्रों में अपने नाम का उल्लेख किया है, यह कोई अनहोनी बात नहीं है। परन्तु आकस्मिक मन्त्रद्रष्टृत्व-पक्ष नामोल्लेख की समस्या का हल सीधे और सरल ढंग से करने में असमर्थ होने के कारण निरुक्त-प्रक्रिया का आश्रय लेकर मन्त्रों में आए हुए नामसूचक शब्दों की व्युत्पत्तिमूलक व्याख्या करने का प्रयत्न करता है। परन्तु समस्या केवल नामोल्लेख की ही नहीं है; पर्याप्त मन्त्रों में जरा ध्यान लगा कर अध्ययन करने से साधारण पाठक को भी ऋषि के नामानुगत व्यक्तित्व की छाप मन्त्रों में दृष्टिगोचर हो सकती है; इन सब बातों का समाधान आकस्मिक मन्त्रद्रष्टृत्व-पक्ष के पास कोई नहीं है।

द्वितीय पक्ष केवल एक ही अवस्था में युक्तियुक्त हो सकता है; और वह यह कि मन्त्रों में ऋषि के व्यक्तित्व का कोई प्रभाव न हो, जिस प्रकार देवता का मन्त्रार्थ से प्रगाढ सम्बन्ध होता है, मन्त्र के अर्थ के साथ ऋषि का

इस तरह से कोई सम्बन्ध आकस्मिक मन्त्रद्रष्टृत्व-पक्ष में नहीं होना चाहिये। यदि यह सम्बन्ध विशद रूप से दिखला दिया जाय तो आकस्मिक मन्त्रद्रष्टृत्व पक्ष की हेयता बहुत स्पष्ट हो जायगी।

३- तृतीय पक्ष नित्य मन्त्रद्रष्टृत्व मानता है। इसके अनुसार मन्त्र तथा उसके द्रष्टा का आकस्मिक नहीं, प्रत्युत नित्य तथा अन्तरङ्ग सम्बन्ध है। आकस्मिक पक्ष के समस्त दोषों का निराकरण इसके द्वारा हो जाता है। तृतीय पक्ष के पोषक न केवल मन्त्रों में आए हुए नामों की व्याख्या व्युत्पत्ति के आधार पर करते हैं, बल्कि मन्त्रों के साथ परम्परा से आए हुए ऋषियों के नामों को भी व्यक्ति-विशेष की संज्ञा न मानते हुए उन शब्दोंका अर्थ निर्वचन-द्वारा करते हैं। संक्षेप में ऐसा कह सकते हैं कि ऋषि-वाचक शब्द तृतीय पक्ष की दृष्टि में व्यक्तिवाचक संज्ञाएं (Proper Noun) न होकर जातिवाचक संज्ञाएं (Common Noun) हैं। ऋषिवाचक शब्दों को इस रूपमें लेने से क्या फर्क पडता है, यह हम एक उदाहरण से समझ सकते हैं। किसी मन्त्र का ऋषि अत्रि है। यदि अत्रि किसी विशेष ऐतिहासिक ऋषि का नाम हो और वह ऋषि मन्त्र का कर्ता न होकर केवल द्रष्टा हो, तो अत्रि की वैयक्तिक बातें उसका नाम आदि मन्त्रों में साधारणतया न आना चाहिये, परन्तु ऐसा होता है।

अत्रि।

जिन सूक्तों का ऋषि अत्रि है, उन सूक्तों में ही अत्रि शब्द अनेक वार आया है। यहां हम कुछ उद्धरण देते हैं--

(१) "तस्मा उ ब्रह्मवाहसे गिरो वर्धन्त्यत्रयो
गिरः शुम्भन्त्यत्रयः" (ऋ० ५।३९।५)

यहां 'अत्रयः' और 'गिरः' में समानाधिकरणभाव है। शतपथब्राह्मण १४-५-२-२ में कहा है—

"वागेवात्रिर्वाचा ह्यन्नमद्यतेऽत्रिर्ह वै नामैतद् यद् अत्रिरिति।"

'गिरः' का एकवचन 'गीः' है। 'गीर्वाग् वाणी सरस्वती' इस 'अमर' वाक्य के अनुसार 'गीः' का अर्थ वाक् है। वाक् और अत्रि को शतपथ ने पर्यायवाची माना है। इस अवस्था में यह कैसे हो सकता है, कि यहां 'अत्रि' शब्द किसी व्यक्तिविशेष का अभिधायक हो। वेद में 'अत्रि' अनेक स्थानों पर हविर्भक्षक अग्निदेव के लिये आया है। अग्नि और वाक् का सम्बन्ध प्रसिद्ध ही है। ब्राह्मणों में इस सम्बन्ध को सूचित करनेवाले अनेक वाक्य उपलब्ध होते हैं—

'अग्निर्मे वाचि श्रितः।' (तैत्तिरीय०।)
'सा या सा वाग् अग्निः सः।'
(जैमिनीय उपनिषद्।)
'सा या सा वाग् आसीत् सोऽग्निरभवत्।
(जैमिनीय उपनिषद्।)
'या वाक् सोऽग्निः।' (गोपथ०।)
'वाग् एवाग्निः। (शतपथ०।)

ये वाक्य अग्नि और वाक् के ऐकात्म्यको उज्ज्वल रूप में घोषित कर रहे हैं। उद्धृत मन्त्र जिस सूक्त का है उसका देवता इन्द्र है। इन्द्र और अग्नि का सहचारित्व निरुक्त में यास्काचार्य ने प्रदर्शित किया है। सूक्त में इन्द्र से सब प्रकार के ऐश्वर्य की प्रार्थना की गई है। प्रार्थना उसी की सफल हो सकेगी जिसकी गिरः-स्तुतियां-इतनी समर्थ हों कि वे इन्द्र को रिझा सके। वाग्देव अग्नि द्वारा अधिष्ठित पुरुष की स्तुतियों में ही यह बल हो सकता है।

प्रसङ्गवश हम यहां एक और बात की ओर भी संकेत कर देना चाहते हैं। सूक्त का ऋषि अत्रि है, इस अत्रि का परिचायक नाम 'भौमः' दिया है। 'भौमः' का अर्थ है भूमिपुत्र। भूमि का पुत्र मङ्गल है, इसी लिये मङ्गलवार को 'भौमवार' भी कहते हैं। मङ्गल के पर्यायवाची नामों की गणना करते हुए अमरकोश में 'अग्नि' 'अङ्गारक' 'कुज' 'भौम' आदि शब्दों का भी समावेश है। मङ्गल, अग्नि और वाक् के पारस्परिक सम्बन्ध का प्रकरण विषयान्तर के भय से नहीं छेडते।

हम दिखलाना यही चाहते हैं कि मन्त्र के ऋषि का देवता तथा सूक्त के प्रतिपाद्य विषय के साथ कितना गहरा सम्बन्ध है, इसी दृष्टि को लेकर अगले उद्धरणों में भी हम विवेचन करेंगे।

(२) यत्त्वा सूर्य स्वर्भानुस्तमसाविध्यदासुरः।
अक्षेत्रविद् यथा मुग्धो भुवनान्यदीधयुः॥५॥
स्वर्भानोरध यदिन्द्र माया

अवो दिवो तवमाना अवाहन् ।
गूळ्हं सूर्यं तमसापव्रतेन
तुरीयेण ब्रह्मणाविन्ददत्रिः ॥ ६ ॥
मा मामिमं तव सन्तमत्र
इरस्या द्रुग्धो भियसा नि गारीत् ।
त्वं मित्रो असि सत्यराधास्
तौ मेहावतं वरुणश्च राजा ॥ ७ ॥
ग्राव्णो ब्रह्मा युयुजानः सपर्यन्
कीरिणा देवान् नमसोपशिक्षन् ।
अत्रिः सूर्यस्य दिवि चक्षुराधात्
स्वर्भानोरप माया अघुक्षत् ॥ ८ ॥
यं वै सूर्यं स्वर्भानुस्तमसाविध्यदासुरः ।
अत्रयस्तमन्वविन्दन् न ह्यन्ये अशक्नुवन् ॥९॥
(ऋ० ५।४०।५-९)

इन पांच मन्त्रों में से तीन में अत्रि शब्द आया है, परन्तु सम्बद्ध प्रकरण को स्पष्ट करनेके लिये बाकी दो मंत्र भी दे दिए गये हैं। पहले मन्त्र का देवता सूर्य है। सूर्य के प्रति कहा गया है कि ' हे सूर्य, असुर की सन्तान स्वर्भानुने जब तुझे अपने वशमें कर लिया, तब सब लोग मुग्ध अर्थात् भौचक्के हो गये और उन्हें अपने अपने घर भी दिखाई देने बन्द हो गये।' अमरकोशमें '**विधुस्तु राहुः स्वर्भानुः सैंहिकेयो विधुन्तुदः**'। इस पंक्ति द्वारा स्वर्भानु को राहु बतलाया है। सूर्यग्रहण के समय जब राहु सूर्य को आच्छादित कर लेता है, तब इतना अन्धकार हो जाता है कि दिन में भी आकाश में तारे दिखाई देने लग जाते हैं, घनघोर अंधेरे में अपने अपने घर का रास्ता भी नहीं सूझ पाता। चौथे मन्त्र में कहा है कि ' अत्रिने द्युलोक-सूर्य को आंख दी और स्वर्भानु की माया का निवारण किया।' इसी प्रकार पांचवें मन्त्रमें भी इसी बात को दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहा है कि ' जिस सूर्य को स्वर्भानु ने अन्धकार से बींध दिया था, अत्रियों ने उसे फिर प्राप्त कर लिया, लेकिन और लोग ऐसा करने में समर्थ नहीं हुए। '

पिछले उद्धरण में हम सिद्ध कर चुके हैं कि अत्रि अग्निरूप वाणी का प्रतिनिधि है। वाग् या सरस्वती जिस पुरुष में प्रतिष्ठित है, उसके आगे किसी भी प्रकार के अज्ञान का आवरण नहीं रह सकता। जब सूर्यग्रहण हुआ तब पशुपक्षी घबराकर जैसे प्रलय ही हो रही हो, इधर उधर भागने लगे, तरह तरह का भयसूचक आवाजें करने लगे, मूर्ख और अविद्वान् लोग भी सन्त्रस्त होकर कुछ का कुछ सोचने लगे, ऐसे समय सरस्वती के उपासक विद्वान् अत्रि ने अपने ज्योतिषशास्त्र के ज्ञान के आधार पर लोगों के भ्रम को दूर किया, उन्हें सान्त्वना दी और असली परिस्थिति का ज्ञान करवाया।

(३) त्यं चिदत्रिमृतजुरमर्थमश्वं न यातवे ।
कक्षीवन्तं यदी पुना रथं न कृणुथो नवम् ॥
(१०।१४३।१)

इस मन्त्र का ऋषि अत्रि है, जिसका परिचायक नाम ' सांख्य ' है। ' सांख्य ' शब्द संख्या से बना है। संख्या का अर्थ है सम्यग् ज्ञान, इस सम्यग् ज्ञान से सम्पन्न पुरुष सांख्य है। अत्रि का अर्थ ' सरस्वती का उपासक ' इस प्रकार पहले ही कर चुके हैं। इस उद्धृत मन्त्र में अत्रि का विशेषण ' ऋतजुर ' है। सायणने इसका अर्थ ' **ऋतं यज्ञः स्तोत्रं वा तेन जीर्यन्तं सर्वदा परिचरणशीलम्** ' इन शब्दों से किया है। इससे विदित होता है कि सायण की दृष्टिमें भी 'उत्तम प्रकारसे स्तुति करना' यह विशेषता अत्रि की है। सरस्वती के साधक अत्रि की यह विशेषता होने में आश्चर्य ही क्या है ?

अब तक हमने उन स्थलों का अनुशीलन किया है जहां अत्रि ऋषि के मन्त्रों में ही अत्रि शब्द आया है। ऋषि और देवता मन्त्रों में किसी चीज की प्रधानता सूचित करते हैं। यदि सोम किसी मन्त्र का देवता है तो इसका इतना ही अभिप्राय है कि सोम का उस मन्त्र में विशेष रूप से प्रधानतया वर्णन है। अन्य देवताओं का भी गौण वर्णन हो सकता है। लेकिन देवता वही कहलायगा जिसका मुख्यतया वर्णन हो। यही बात ऋषियों के विषय में भी लागू होती है। एक ऋषि के मन्त्रों में अन्य ऋषि का गौण रूप से सम्बन्ध हो सकता है। अत्रि का उल्लेख उन मन्त्रों में भी है जहां अत्रि स्वयं ऋषि नहीं है, ऋषि कोई और है। परन्तु अन्य ऋषि के मन्त्रों में आए हुए अत्रि के वर्णन से भी अत्रि के स्वरूप या गुणधर्म को जानने में सहायता मिल सकती है। अब हम कुछ उदाहरण ऐसे पेश करेंगे जहां अत्रि ऋषि नहीं है, परन्तु अत्रि का किसी अन्य प्रसंग में जिकर मौजूद है—

(१) जहि विश्वान् रक्षस इन्दो,
अत्रिणो बृहद्वदेम विदथे सुवीराः।
(६।८६।४८)

इसका साधारण अर्थ यह है- हे सोम ! सब राक्षसों का तू नाश कर दे । स्तोत्र पढनेमें कुशल-अपनी मां के हम सुयोग्य पुत्र यज्ञ में खूब स्तुति करें।

अत्रि-सुवीरों का कार्य यहां यज्ञ में खूब स्तुति करना है, इस अवस्था में अत्रि विशेषण का क्या तात्पर्य हो सकता है, यह स्पष्ट है ।

(२) दध्यङ् ह मे जनुषं पूर्वो अङ्गिराः प्रियमेधः।
कण्वो अत्रिर्मनुर्विदुस्ते मे पूर्वो मनुर्विदुः ॥
(१।१३७।९)

इस मन्त्र का अर्थ करते हुए सायण ने ऋषियों के नामों की व्याख्या व्युत्पत्ति के आधार पर की है—

'स च पूर्वः पूरकः सर्वस्य पुरातनो वा अङ्गिराः अङ्गारस्तद्वत्तेजस्वी इत्यर्थः यद्वा अंगारा एवांगिरसोऽभवन् येऽङ्गारा आसंस्तेऽङ्गिरसोऽभवन्निति श्रुतेः (ऐतरेय ब्राह्मण ३. ३४.) । अंगिरा अंगारा अङ्चना इति निरुक्तम् । ... प्रियमेधः मेधाप्रियः । कण्वः मेधावी स च अत्रिः दुःखत्रयरहितः अत्रिर्न त्रय इति निरुक्तम् (३.१७) मनुर्भगवान् ।'

सायण की अर्थ करने की इस शैली से स्पष्ट विदित हो जाता है कि इसकी सम्मति में ऋषिसूचक नामों के वेद में आने पर उनका अर्थ निर्वचनपद्धति के अनुसार यौगिक शब्द मान कर करना चाहिये । इस उद्धरण में अत्रि का अर्थ 'आध्यात्मिक अधिदैविक और अधिभौतिक तीनों प्रकार के दुःखों से रहित' इस तरह किया गया है। सरस्वती के आश्रय से समस्त देवताओं को आराधित कर अपने वश में कर लेनेवाला स्तुतिकुशल अत्रि दुःखों के पाश में कैसे फंसा रह सकता है ?

(३) अत्रिमनु स्वराज्यमग्निमुक्थानि वावृधुः
विश्वा अधिश्रियो दधे । (२।८।५)

इस मन्त्र में 'अत्रिम्' का अर्थ 'शत्रूणाम् अज्ञानां वा भक्षकम्' ऐसा किया गया है । यहां अत्रि अग्नि का विशेषण है । और अग्नि को 'उक्थानि वावृधुः'-स्तोत्र द्वारा आराधित करते हैं । अग्नि और अत्रि के ऐकात्म्य को तथा अग्नि के साथ स्तोत्र के सम्बन्ध को पहले ही विस्तृत रूप से बतला चुके हैं।

(४) प्र विश्वसामन्नत्रिवदर्चा पावकशोचिषे।
यो अध्वरेष्वीड्यो होता मन्द्रतमो विशि॥
(१।२२।१)

इस मन्त्र का ऋषि 'विश्वसामा आत्रेय' है । विश्वसामा वह है जिसे सब प्रकार के साम अथवा स्तुतियां आती हैं, जो हरेक तरह का साम या सङ्गीत गा सकता है। विश्वसामा आत्रेय है अर्थात् अत्रि का पुत्र है। वाग्देवता के अवतार अत्रि के पुत्र में विश्वसामा बनने की योग्यता होना चाहिये । इस मन्त्र का देवता अग्नि है।

अत्रि के पुत्र विश्वसामा को सम्बोधन करके कहा गया है कि हे विश्वसामन् ! जिसकी ज्वालाएं सबको पवित्र करती हैं, यज्ञों में यज्वा लोग जिसकी स्तुति करते हैं, देवों को जो बुला कर लानेवाला है, इस प्रकार के स्तुत्यतम अग्नि को प्रसन्न करने के लिये तू भी अत्रि अपने पिता के समान अर्चना कर स्तुति कर ।

(५) तं त्वा सुशिप्र दम्पते स्तोमैर्वर्धन्त्यत्रयो।
गीर्भिः शुम्भन्त्यत्रयः ॥ (५।२२।४)

इस मन्त्र का देवता भी अग्नि है । ऊपर की पंक्तियों में अत्रियों द्वारा स्तुतिपूर्वक अग्नि के आराधन का वर्णन है।

(६) यथा वामश्विना गीर्भिर्विप्रो अजोहवीत्।
नासत्या सोमपीतये नभन्तामन्यके समे।

'विप्रः प्राज्ञोत्रिर्यथा गीर्भिः स्तुतिभिः अजोहवीत्' सायण के इस अर्थ से अत्रि का जो अर्थ हम कर रहे हैं वह भली भांति पुष्ट होता है ।

(७) चित्रं ह यद्वां भोजनं न्वस्ति
न्यत्रये महिष्वन्तं युयोतम् ।
यो वामोमानं दधते प्रियः सन् । (७।६८।५)

यहां 'प्रियः सन्' का अर्थ करते हुए सायण ने अपने भाष्य में कहा है—

" योऽत्रिः प्रियः सन् स्तोतृत्वाद् युवाभ्यां प्रियभूतः सन् "

अत्रि अश्विनौ का प्यारा इसलिये है क्योंकि वह स्तुति करना जानता है ।

एवं वेद-मन्त्रों के अनेक प्रमाणों के आधार पर हमने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि ऋग्वेद का अत्रि ऋषि कोई ऐतिहासिक पदार्थ नहीं, अत्रि यदि मन्त्रों का रचयिता होता तो उसके नाम के अर्थ का अनुसरण करने-वाला मार्ग वेद के समस्त अत्रि प्रकरणों में उपलब्ध न होता। हम देखते हैं कि अत्रि शब्द के साथ एक विशेष अभिप्राय जुडा हुआ है, अत्रि अग्नि की वाक् शक्ति का मूर्तरूप है, सरस्वती की समृद्धि से सम्पन्न विद्यावदात पुरुष अत्रि है, दिव्य पदार्थों की स्तुति प्रार्थना उपासना को पूर्णता से करने में अत्रि का अत्रित्व है । जिस किसी भी प्राणी में अत्रित्व का यह गुण परिपक्व अवस्था में फलित होगा, उसे ही अत्रि ऋषि कहा जा सकता है। प्रत्येक मानव को अत्रित्व की साधना करनी चाहिये। जिस दिन अत्रित्व की सिद्धि हो जायगी, उसी दिन अत्रि ऋषि का पद व उच्चासन भी प्राप्त हो जायगा। सिद्ध पुरुष उसी दिन मन्त्रद्रष्टृत्व की मर्यादा से भी विभूषित होने का अवसर उपलब्ध करेगा ।

वेद का प्रत्येक ऋषि अत्रि के समान एक एक दिशा में सिद्धि का मूर्त्त आदर्श है। मनुष्य ने इन मूर्त्त आदर्शों तक पहुंचकर नाना ऋषियोंकी पदवियों को हासिल करना है।

वसुर्भारद्वाजः ।

ऋग्वेद नवम मण्डल के ८०, ८१ और ८२ वें सूक्तका ऋषि वसुः भारद्वाज है । इन तीनों सूक्तों में कुल १५ मन्त्र हैं।

इस ऋषि के मन्त्र में 'वसुः' शब्द कहीं नहीं आया। ८१ वें सूक्त में 'वसु' और 'वसवे' ये पद उपलब्ध होते हैं। मन्त्र इस प्रकार है—

आ नः सोम पवमानः किरा
वस्विन्दो भव मघवा राधसो महः ।
शिक्षा वयोधो वसवे सु चेतुना
मा नो गयमारे अस्मत्परा सिचः ॥ ३ ॥

यहां सायण ने वसु का अर्थ 'वासकं धनं गवादिरूपम्' किया है। 'वसु' का अर्थ 'वासकाय परिचरते मह्यम्' ऐसा किया है । यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि 'वसवे' यह रूप पुल्लिङ्ग ऋषिवाचक 'वसु' का ही बन सकता है।

कण्व घौर ऋषि के रुद्रदेवताक मन्त्र में भी वसु ऋषि का उल्लेख है—

यः शुक्र इव सूर्यो हिरण्यमिव रोचते ।
श्रेष्ठो देवानां वसुः ।' (ऋ० १।४३।५)

यहां 'वसु' का अर्थ है, 'निवासहेतुः— वासयति सर्वमिति वसुः, वस् निवासे अन्तर्भावितण्यर्थः ।' यह वसु रुद्र का विशेषण होकर आया है।

इसी मण्डल के 'नोधा गौतम' ऋषिवाले अग्नि-देवताक ६० वें सूक्त के चतुर्थ मन्त्र का एक भाग यह है—

उशिक्पावको वसुर्मानुषेषु
वरेण्यो होताधायि विक्षु । (ऋ० १।६०।४)

यहां 'वसुः' अग्निका विशेषण है और इसका अर्थ 'निवासयिता' ऐसा किया गया है ।

प्रथम मण्डल के 'गोतमो राहूगणः' ऋषिवाले ७९ वें सूक्त के अग्निवदेताक निम्न मन्त्र में भी वसु निवासयिता के अर्थ में अग्नि का विशेषण है -

स इधानो वसुष्कविरग्निरीळेन्यो गिरा ।
रेवदस्मभ्यं पुर्वणीक दीदिहि । (ऋ० १।७९।५)

प्रथम मण्डल के ९४ वें सूक्त के अग्नि-देवताक १३ वें मन्त्रके—

देवो देवानामसि मित्रो अद्भुतो
वसुर्वसूनामसि चारुरध्वरे ।

इन चरणों में भी वसु का अर्थ निवासियता है। चतुर्थ मण्डल के वामदेव गौतम ऋषिवाले सूर्य-देवताक ४० वें सूक्त के ५ वें मन्त्र में-

वसुरन्तरिक्षम् ।

ये शब्द आए हैं। इनका अर्थ है-'सर्वस्य वासयिता वायुः स चान्तरिक्षसंद् अन्तरिक्षसंचारी ।'

दशम मण्डल के इन्द्रदेवताक २२ वें सूक्त के १५ वें मन्त्र में 'वसवान वसुः सन्' इन शब्दों का अर्थ 'हे वसवान वसूनां धनानामानेतस्त्वं वसुः प्रशस्तः सन्' इस प्रकार है ।

इसी तरह अन्य भी अनेकों मन्त्रों में पुल्लिङ्ग वसु

शब्द आया है। प्रायः सर्वत्र इसका अर्थ 'निवास को देनेवाला' है। नपुंसकलिङ्ग में विद्यमान वसु धनवाचक है। धन को भी वसु इसी लिये कहते हैं क्योंकि धन द्वारा उत्तम प्रकार से निवास किया जा सकता है। नपुंसकलिङ्ग का यह वसु शब्द ऋग्वेद में बीसियों स्थानों पर आया है, परन्तु इसका सर्वत्र वसु ऋषि से कोई विशेष सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता। दोनों का मूल 'वस्' धातु होने से अर्थसादृश्य अवश्य है।

वसु ऋषि का परिचायक नाम 'भारद्वाज' है। वसु ऋषिवाले नवम मण्डलके ८० वें सूक्त के द्वितीय मन्त्र में

"यं त्वा वाजिन्नघ्न्या आभ्यनूषत"

ऐसा कहा गया है। यहां सोम को वाजी अर्थात् बल प्रदान करनेवाला कहा है। इसी सूक्त के चतुर्थ मन्त्र में "पवते मदिन्तम ऊर्जं वसानः" यह एक चरण है। यहां 'ऊर्जं वसानः' यह सोम का एक विशेषण है। वाज और ऊर्क् में पर्याप्त समानार्थकता है।

वसु ऋषि के ही ९-८२-२, ५ मन्त्रों में क्रमशः 'वाजम् अर्षसि' और 'पर्यया वाजमिन्दो' ये शब्द हैं। इनसे सोम वाज को देनेवाला है, यह सिद्ध होता है।

'भारद्वाज' का अर्थ है 'भरद्वाजस्यापत्यं पुमान्' और भरद्वाज का शब्दार्थ है 'जिस में वाज भरा हुआ है'।

वसु ऋषिवाले सूक्तका देवता 'पवमान सोम' है। सोम का आधिभौतिक अर्थ है सोमलता। सोमलता को पवित्र किया जाता है। सोम निकालने के लिये छानने कूटने आदि द्वारा साफ किया जाता है। इसी लिये सोम का विशेषण 'पवमान' है। आधिदैविक दृष्टि से सोम 'यज्ञ' है और अध्यात्म में सोम सवन ज्ञानका अपने अन्दर विकास है। साधक का ज्ञान साधना द्वारा धीमे धीमे अधिकाधिक पवित्र निर्दोष एवं व्यापक (Comprehensive) होता जाता है, इसे ही पवमान सोम कहा गया है। इस त्रिविध सोम के सवन से तीन प्रकार के फलकी प्राप्ति होती है। सोम-रस के पान से शरीर में अमरता और नवयौवन प्रकट होता है, यज्ञार्थक सोम से सांसारिक समृद्धि, जो इह लोक की उन्नति के लिये आवश्यक है, प्राप्त होती है और ज्ञानरूप आध्यात्मिक सोम से अन्तरात्मरूप धनकी उपलब्धि होती है। यह त्रिविध फल 'वसु' कहलाता है। वसु जिस के पास हो उसे भी लक्षणासे 'वसु' कहेंगे। सोम सवन करनेवाला वसु बन जाता है, सर्वत्र उसका वास होता है, तीनों प्रकार के जगत् में उसका अबाधित अधिकार होता है। शरीर, मन और आत्मा वाज अर्थात् बल शक्ति स्फूर्ति और उत्साह से लबालब भरा होता है। इस लिये उसे भरद्वाज कहते हैं। जो भी कोई सोम सवन करने में सफल होगा, वही वसु भरद्वाज के पद का भी अधिकारी हो सकेगा।

वाग् आम्भृणी।

दसवें मण्डलके १२५ वें सूक्तका ऋषित्व वाग् आम्भृणी को प्राप्त है। इस ऋषिके मन्त्रोंमें यद्यपि साक्षात् यह नाम नहीं आया, परन्तु इतना स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है कि सूक्त के मन्त्रों में कोई परमा वाक् बोल रही है। सूक्त का देवता 'आत्मा' है, सूक्त में वाणी रूप परमात्मा के उच्चारण किये हुए मन्त्र हैं। परमात्मा की शब्द-ब्रह्म के रूप में कल्पना कुछ अद्भुत नहीं है। वैदिक साहित्य में शब्द के रूप में ब्रह्म का अनेक स्थानों पर अभिधान है। भर्तृहरि आदि वैयाकरण तो शब्द-रूप ब्रह्म से ही सृष्टि का आविर्भाव और तिरोभाव स्वीकार करते हैं। 'ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम्' यह एक उपनिषद्वाक्य ही शब्द-ब्रह्मता को प्रमाणित करने के लिये पर्याप्त है।

'वाक्' क्योंकि स्त्रीत्ववाचक है, इस लिये मन्त्रों में इसके विशेषण भी स्त्रीलिङ्ग में है—

अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां
चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्।
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा
भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम्॥ (१२५।३)

इस मन्त्र के अङ्कित शब्द निःसंदेह सूक्त की ऋषिभूत वाक् की ओर सङ्केत कर रहे हैं।

आम्भृणी क्या है, इस विषय में सायण लिखता है-

"अम्भृणस्य महर्षेर्दुहिता वाङ्नाम्नी ब्रह्मविदुषी स्वात्मानम् अस्तौद् अतः सा ऋषिः सच्चित्सुखात्मकः सर्वगतः परमात्मा देवता, तेन हि एषा तादात्म्यम् अनुभवन्ती सर्वजगद्रूपेण सर्वस्य चाधिष्ठानत्वेन चाहमेव सर्वं भवामीति स्वात्मानं स्तौति।"

इस उद्धरण से यह सिद्ध है कि सायण के मत में परमात्मा के साथ एकरूपता का अनुभव करती हुई ही कोई ऋषिपुत्री इस सूक्त में स्तुति कर रही है अर्थात् इस सूक्त का वर्णन इस प्रकार का है, मानो परमात्मा स्वयं वर्णन कर रहा हो।

अब यह देखते हैं कि 'अम्भृण' ऋषि कौन है और उसकी पुत्री का उसके मन्त्रों से क्या कुछ सम्बन्ध है। निरुक्त में 'आम्भृण इति महतो नामधेयम्' ऐसा कहा है। मोनियर विलियम्स ने अपने प्रसिद्ध कोश में आम्भृण का अर्थ 'गरजनेवाला, बलवान, शक्तिशाली' इत्यादि किया है। आम्भृण की पुत्री में भी ये गुण स्वभावतः आयेंगे। आम्भृणी वाक् ऋषि के मन्त्रों को पढने से यह आसानी से मालूम हो सकता है कि मन्त्र जिस हृदय से निकले हैं उसमें गर्जना, बल और शक्ति तथा महत्ता विलक्षण रूप में विद्यमान है। नमूने के लिये हम यहां दो तीन मन्त्र अर्थ सहित देते हैं—

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चरामि,
अहमादित्यैरुत विश्वदेवैः।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्मि
अहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा।

इस मन्त्र में आम्भृणी वाक् ने दावे के साथ कहा है कि मैं ही रुद्रों, वसुओं और आदित्य आदि समस्त देवों के साथ गति कर रही हूं। मित्र वरुण, इन्द्र, अग्नि आदि सब का भरण पोषण करनेवाली मैं ही हूं।

मया सोऽन्नमत्ति यो विपश्यति
यः प्राणिति य ईं शृणोत्युक्तम्
अमन्तवो मां त उपक्षियन्ति
श्रुधि श्रुत श्रद्धिवं ते वदामि

ऐ समझदार, यकीन करने लायक एक बात तुझे सुनाती हूं, गौर कर। इस दुनिया में जो कोई खाता है, देखता है, सांस लेता है या सुनता है, इस सबकी वजह मैं ही हूं। मेरी ही मर्जी और ताकत पर ये सब हरकतें होतीं हैं। और जो मेरी ताकत के सिक्के को नहीं मानते, याद रख, वे आखिर तबाह होकर रहेंगे।

यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि
तं ब्रह्माणं तम् ऋषिं तं सुमेधाम्

जिसे मेरी मर्जी होती है उसे ही सबसे ज्यादा ताकतवर बना देती हूँ। अपनी ही इच्छा से किसी को ब्रह्मा अर्थात् अखिल संसार का उत्पादक नियुक्त कर देती हूँ, किसी को ऋषि और किसी को प्रतिभाशाली, विद्वान् बना छोडती हूं।

अहं रुद्राय धनुरातनोमि
ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ
अहं जनाय समदं कृणोमि
अहं द्यावापृथिवी आविवेश

उपद्रव करनेवालों का रुद्र विनाश कर सके, इस प्रयोजन से मैं उसके लिये धनुष तैयार करती हूं, सज्जनों की रक्षा के निमित्त मैं लडाई लडती हूं, जमीन और आसमान में सब जगह मेरा ही अबाधित अधिकार है।

इस बयान से साफ यह मालूम होता है कि आम्भृणी सारी दुनिया की रानी है, जो चाहे कर सकती है, अपने राज्य में सज्जनोंकी रक्षाका उत्तरदायित्व उसके सिरपर है, इसके अलावा राज्यकी एक एक चेष्टामें उसका हाथ है।

यद्यपि 'वाक्' शब्द सूक्त में नहीं आया, लेकिन 'अहं राष्ट्री संगमनी' यहां राष्ट्री वाक् का पर्यायवाची है। ऐतरेय ब्राह्मण १-९ में कहा है—

वाग् वै राष्ट्री

अर्थात् निश्चय से वाक् राष्ट्री है।

वाक् शब्द सीधा भी ब्रह्म का वाचक है। इस विषयमें निम्न लिखित ब्राह्मण वाक्य ध्यान देने योग्य हैं—

वाग् ब्रह्म। (गोपथ पूर्वभाग २, १०)
वागिध ब्रह्म। (ऐतरेय २, १५, ४, २१)
वाग् वै ब्रह्म। (ऐतरेय ६, ३)
वाग् इति तद् ब्रह्म।
(जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण २, ९, ६)
सा या सा वाग् ब्रह्मै वतत्। (जै०उ ब्रा० २, १३, २)
वाग् वै ब्रह्म च सुब्रह्म चेति। (ऐतरेय ३, ६)

इन्हीं के समानार्थक अन्य भी अनेक वाक्य हैं। ये सब वाक् और ब्रह्म में अभेद को सिद्ध करते हैं।

इस प्रकार प्रचुर प्रमाणों के आधार पर यह व्यवस्थित होता है कि सूक्त के ऋषि की छाप मन्त्रों के एक एक शब्द पर है।

वैदिक परिभाषाके ग्रन्थ

[श्री० वासुदेवशरण अग्रवाल, लखनऊ]

वैदिक विज्ञान भारतीय संस्कृति का मस्तिष्क है, वेद के विना भारतीय सभ्यता केवल कबन्ध मात्र है। एतद्देशीय समस्त विद्या के आचार्य एवम् ज्ञान-गुरुओं ने आर्ष पद्धति से प्राप्त होनेवाले प्रातिभ ज्ञान एवं ऋतम्भरा प्रज्ञा में प्रस्फुरित होनेवाले विज्ञान की अक्षय निधि वेदों के प्रति अपनी श्रद्धा प्रगट की है। भारतीय सभ्यता वेदरूपी महान् अश्वत्थ की छत्रच्छाया में फूली फली है, इस में तनिक भी अत्युक्ति नहीं है। भगवान् वेदव्यासने जो ज्ञानमय प्रदीप महाभारत प्रज्वलित किया था, उसके लिये भी स्नेह-सामग्री का स्त्रोत वेद ही थे। भगवान् मनुने आर्य महा प्रजाओं की सनातनी मर्यादाओं को व्यवस्थित करते समय स्पष्ट ही वेद को सब धर्मों का मूल बताया है।

वेदों की यह महनीय प्रतिष्ठा हमारी जाति के समस्त कार्य-कलापों में सदा से ओतप्रोत रही है, इस श्रद्धा को लेकर हम आज भी अपने भावों को उदात्त कहते और समझते हैं।

आज पश्चिम से आनेवाले ज्ञानलोकने हमें चुनौती दी है और हमें इस बात की पडताल करने पर विवश किया है, कि क्या वेद-ज्ञान के प्रति यह श्रद्धात्मक भाव आज भी मान्य हैं ? हमारी समाजके अनेक व्यक्ति वैदिक रहस्य अर्थों के ठीक ठीक प्रकाश में न आनेसे व्यामोह को प्राप्त हो रहे हैं, पश्चिमी संस्कृतज्ञ पंडितोंने वैदिक साहित्य की ओर कुतूहलपर्ण दृष्टि से देखा, मानव जाति के आदि ग्रन्थ होनेके नाते वेदों के अर्थ करने का भार उनके कन्धों पर आया। उनमें से बहुसंख्यक विद्वान् इस ओर कृत-प्रयत्न हुए और यह परम्परा आजतक चली जाती है। भारतीय दृष्टिसे वेदोंके अगणित रहस्य और मर्म स्थलों का व्याख्यान ब्राह्मण ग्रन्थों में हैं। स्थिति तो ऐसी है कि, जिनको ब्राह्मण ग्रन्थों का अर्थ नहीं समझ पडा, उनको वेदों का भाव कभी स्पष्ट हो सकेगा इसमें सन्देह है; परन्तु वेद और ब्राह्मणों के इस घनिष्ठ सम्बन्ध को अनादर की दृष्टिसे देखनेवाले विद्वानों को ब्राह्मण ग्रन्थ और उन्हीं के समान रहस्य के प्रतिपादक आरण्यक ग्रन्थ भी व्यर्थ का बखेडा जान पडे। वेदों के नवीन अध्ययन की पश्चिमी प्रणाली में जान डालनेवाले जगतप्रसिद्ध विद्वान् मैक्समूलरने आरम्भ में ही इस उलझन को महसूस करके अपने संस्कृत साहित्य के इतिहास के पृ० ३८९ पर साहस के साथ निम्नलिखित वाक्य लिखे-

The Brahmanas represent, no doubt, a most interesting phase in the history of Indian mind, but judged by themselves as literary productions, they are most disappointing. No one would have supposed that at so early a period, and in so primitive a state of society there could have risen up a literature which for pedantry and downright absurdity can hardly be matched anywhere. There is no lack of striking thoughts, of bold expressions, of sound reasoning and curious traditions in these collections. But they are only like the fragments of a 'torso', like precious gems set in brass and lead. The general character of these works is marked by shallow and insipid grandi-loquence, by priestly conceit, and antiquarian pedantry ... ... These works deserve to be studied as the physician studies 'the twaddle' of idiots and the raving of madmen.

सारांश यह है कि मैक्समूलर की राय में ब्राह्मणग्रन्थ पंडितों की गप्पाष्टक, ऊलजलूल और पागलों की बकवाद, यह वाक्य मैक्समूलरने कुछ सोच समझ कर ही लिखे हैं, अथवा वे उस परेशानी के उद्गार हैं, जिसमें ब्राह्मण ग्रन्थों को पढने के बाद वह पड गया था। ब्राह्मणग्रन्थों-पर किया गया यह आक्षेप एक तरफ तो ऊपर जाकर वेदों तक की खबर लेता है और दूसरी तरफ नीचे उतर कर आरण्यक और उपनिषद्-ग्रन्थों तक जो ब्राह्मण-साहित्य के ही अवान्तर भाग हैं, लागू होता है। यदि मैक्समूलर की बात सच है, तो अर्वाचीन भारतवर्ष के बच्चे जितनी जल्दी अपने इस बोझे से छुट्टी पा जाय उतना ही मानवजाति का हित है। हमारे देश में वेदों के जो विद्वान् हैं, उनको भी दबी जबान से मैक्समूलर की हां में हां मिलाते हुए ही देखा जाता है। अंग्रेजी पढे लिखे किसी विद्वान् ने अभी तक, ब्राह्मणों के अर्थों को प्रकट करने की अपनी स्वतन्त्र शैली का परिचय नहीं दिया है। शेष पश्चिमी विद्वानों के भाव तो मैक्समूलर के ही शरणापन्न हैं। श्रीयुत कीथ ने ऐतरेय और कौषीतकी के अंग्रेजी अनुवादों में तथा ऐगलिंग ने शतपथ-ब्राह्मण के बृहत्काय अनुवाद में मक्षिका स्थाने मक्षिका वाली परिपाटी का ही आश्रय लिया है। उन अर्थों में पदे पदे हमारी बुद्धिगत उलझन सामने आती है।

हमने जब से वेदार्थ पर विचार करना प्रारम्भ किया, यह विप्रतिपत्ति हमारे सामने बडे बडे रूप में उपस्थित हुई, क्या वस्तुतः मैक्समूलर का कथन सत्य है, अथवा क्या ब्राह्मणभाग के परोक्षप्रिय वाक्यों के पीछे सचमुच कोई युक्तिसंगत अर्थ छिपा हुआ है? इस उधेडबुन के समाधान की दिशा सर्वप्रथम हमें जयपुर के श्री० पं० मधुसूदनजी ओझा के व्याख्यानों में दिखाई दी।

पंडित मधुसूदन जी का विशेष परिचय तो पृथक् वर्णन का विषय है। पर यह सच है कि उन्होंने अपूर्व प्रतिभा के उन्मीलित चक्षु से वेदार्थ के उपबृंहण में एक ऐसी सूक्ष्म गति प्राप्त की, जो कई सहस्र वर्षों से अश्रुतपूर्व थी। विश्व के प्रज्ञान की शक्ति बडी अप्रतिहत है, उसमें भी यदा कदा बडे आश्चर्यकारी बवंडर आया करते हैं। मनीषी और धीर मनुष्य ही विचारजगत् के इन परिवर्तनों का साक्षात्कार कर सकते हैं, निदान पं० मधुसूदनजी ने अपने जीवन में ज्ञानमय तप की साधना से वेदपदार्थ का बहुत गूढ मनन किया और विलक्षण साहित्यिक शक्ति का परिचय देकर लगभग सौ ग्रन्थोंकी संस्कृत में रचना की। उनमें से अकेले नासदीयसूक्त पर ही दस वादों का प्रतिपादन करनेवाले अहोरात्रवाद, सदसद्वाद, अम्भोवाद, रजोवाद, व्योमवाद, अमृत-मृत्युवाद, आदि गम्भीर ग्रन्थ हैं। पंडित मधुसूदनजी के जीवनकाल में इन में से कुछ ही छपकर जनता के सामने आ सके।

हमको तीन बार पं० मधुसूदनजी से मिलनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ। प्रत्येक बार हमने उन्हें ग्रन्थप्रकाशन के सम्बन्ध में चिन्तित देखा और हमारे अन्तःकरण को इससे मार्मिक कष्ट पहुंचा, अभी पिछले सितम्बर मास में मधुसूदनजी का शरीर पूरा हो गया। उनके वे संस्कृत ग्रन्थ उसी प्रकार रह गये। अब भविष्य में कभी मनुष्य-जाति के सामने वे आयेंगे, यह निश्चय नहीं कहा जा सकता।

इस दुःखप्रद स्थिति के सामने होते हुये भी एक प्रकाश की रेखा संतत हमारे मनमें थी। वह यह कि पंडितजी के जीवनकाल में लगभग १५ वर्षों तक अथक परिश्रम करके शतपथ-विज्ञान-मंदिर जयपुर के पं० मोतीलालजी शास्त्री ने वह तेजस्वी ज्ञान अपनी अगाध बुद्धि में आत्मसात् कर लिया। जिस विलक्षण सफलता के साथ शास्त्रीजी ने मधुसूदनजी के चरणों में बैठकर अपनेको कृतविद्य बनाया, उसका परिचय विद्वानों को उनके लेख व व्याख्यान दोनों से प्राप्त होता है। पं० मोतीलालजी शास्त्री के हृदय में मधुसूदनजी के वेदज्ञान का बहुत ही स्पृहणीय विस्तार हुआ है। हमारे राष्ट्र के साहित्यिकों की यदि आज कोई शिरोमणि-परिषद् प्राचीन पाञ्चाल-परिषद् के समान जीती जागती होती तो अवश्य ही उसके दिग्गज आचार्य जयपुर में घटित हुई इस साहित्यिक घटना का उचित मूल्य आंक कर उसकी भेरी सम्पूर्ण देशों में फेर देते, परन्तु जैसा यहां सब क्षेत्रों में हो रहा है वैसे ही वास्तविक योग्यता को भी दिगन्तव्यापी होने के लिये कुछ अडचनों का पार करना आवश्यक है।

पं० मोतीलालजी अपने मंहिष्ठ आचार्य के कार्य को

विश्रुत करने के लिये इस समय वैसे ही प्रयत्नमें संलग्न हैं। ईश्वरकृपा से उन्हें देश के विद्वान् और श्रेष्ठि जनों का ध्यान खींचने में कुछ सफलता मिल रही है।

पं० मोतीलाल ने अभी तक हिंदी भाषामें शतपथ-ब्राह्मण के भाष्य के रूप में १२०० पृष्ठों का साहित्य प्रकाशित कराया है। ईश-उपनिषद् का विज्ञान-भाष्य भी ८०० पृष्ठों में प्रकाशित हुआ है। इसके अतिरिक्त गीता-विज्ञानभाष्य- भूमिका, माण्डूक्य उपनिषद् आदि मिलाकर ५०० पृष्ठ और छपे हैं। उन्होंने जिस विशाल साहित्य को निर्म्माण किया है, उसमें से अधिकांश अभी तक प्रकाशन की प्रतीक्षा कर रहा हैं। उदाहरणार्थ गीता-भाष्य की अन्तरंग-परीक्षा नामक द्वितीय खंड के १००० पृष्ठ जिसमें आत्मपरीक्षा, ब्रह्मकर्म-परीक्षा, ज्ञान-योगपरीक्षा एवं कर्म-योगपरीक्षा सम्मिलित हैं, गीता का तृतीय खण्ड १५०० पृष्ठ जिसमें भक्तियोग, बुद्धियोग अर्थात् प्रज्ञायोग एवं गीतासार-परीक्षा सम्मिलित हैं, एवं गीताचार्य खंड १४०० पृष्ठ जिसमें नौ प्रकार से कृष्णतत्त्व-निरुक्ति सम्मिलित है। इसके अतिरिक्त गीता पर श्लोक-क्रमानुसार वैदिक चौबीस उपनिषदों का निर्वचन लगभग ३००० पृष्ठों में सम्पन्न होगा। इसी प्रकार दशों उपनिषदों पर भी पृथक् पृथक् भाष्य सम्पन्न हुए हैं, जो प्रकाशना-पेक्ष हैं। इस प्रकार इस साहित्य का अतुलित विस्तार है। इस कार्य के प्रकाश में लाने के लिये पं० मोतीलालजी यथाशक्ति प्रयत्न कर रहे हैं। उसमें सफल होने के बाद साक्षात् वैदिक सूक्तों पर मार्मिक विवेचन रचने का कार्य भी अभी करना है। आशा है पंडितजी को अपने इस कार्य में सफलता मिलेगी।

इस साहित्य की एक विशेषता यह है कि, सम्प्रदाय-विशेष का समर्थन न करके प्रायः विशुद्ध विज्ञान और बुद्धिवाद या उत्कृष्ट प्रज्ञावाद का पोषक है। इसी दृष्टि से हमारी विशेष सहानुभूति इन के साथ है। जिन वैदिक परिभाषाओं का रहस्योद्घाटन किन्हीं ग्रन्थों में देखने में नहीं आता, उनका बुद्धिग्राह्य विवेचन इस साहित्य में मिलता है।

पंडितजी के द्वारा इन ग्रन्थों में अबतक अनेक परि-भाषाओं का निरूपण और विवेचन हो चुका है, उनमें से कुछ ये हैं-

वितान-पाक आदि भेदों से यज्ञों का रहस्य-प्रतिपादन, यज्ञान्तर्गत ग्रहस्तोत्र-शास्त्र का विचार, यज्ञाधिष्ठाता मनोमय प्राणमय वाङ्मय आत्मा का निरूपण, अमृत-मृत्यु प्रजापति, चन्द्रसोममयी श्रद्धा, अन्न-प्राण-मन का सम्बन्ध, स्वयंभू-परमेष्ठी-सूर्यचन्द्रमा-पृथिवी पंच क्षर आत्माओं का विचार, सप्त ऋषि, तेतीस देव, मन-प्राण-वाक्-चक्षु-श्रोत्र पंच वैदिक विज्ञान निरूपित इन्द्रियां, विज्ञानात्मा (बुद्धि), प्रज्ञानात्मा (मन) का परिचय, स्थिति-गति द्वारा ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-अग्नि-सोम इन पांच अक्षरों का निरूपण, विष्णु-इन्द्र की स्पर्धा, हृदयविद्या या केन्द्र-विद्या, षोडशीपुरुष, व्याहृती-रहस्य, वषट्कार, भृगु-अंगिरा-- अत्रि का निरूपण, पंचाग्नि-विद्या, कश्यपस्वरूप, सविता-सावित्री, गायत्री-भेद, योषावृषा प्राण, हिरण्यगर्भप्रजापति, अग्नि-सोम, दशाक्षरा विराट्, सप्ताश्व सूर्य, छन्दःस्वरूप, वाक्तत्त्व, सत्या-आम्भृणी-सरस्वती, बृहती-अनुष्टुप् भेदवाली वाक् का निरूपण, लोक गायत्री, ब्रह्म और सुब्रह्म या त्रयी वेद और अथर्व का रहस्य, देवयान--पितृयाण, यम-पाश, सौर पार्थिव प्राण, सूर्यमूला अदिति, पृथिवीमूला अदिति, नक्षत्रमूला अदिति, कूर्मप्राण, वराह, दधि मधु घृत या मधुपर्क विद्या, स्तोम-निरूपण, सैषात्रयीविद्या, तपति का रहस्य, एक सहस्र गौ विवेचन, पुरोडाश-विज्ञान, प्राणलक्षण, अध्यात्मयज्ञ, वैश्वानर, वामन ध्रौव-सौम्य-ऐन्द्र-विद्युत्, अत्ता-आद्य, कुमेरु, सुमेरु, वेद-सूत्र, नियति, इडा, ऊर्क्, भोग, ज्योतिः, गौ, आयु, रेतः, श्रद्धा, यश, वाक्, द्यौ, सोलह बलकोश, मायाबल, खं, आभु, अभ्व, स्वाहास्वधा, पृष्ठविद्या, ब्रह्म, खं ब्रह्म, फं ब्रह्म, रं ब्रह्म, शंब्रह्म, पंच ज्योति, पुष्करपर्ण, सरस्वान्-सरस्वती, मन वाक्, अर्थवांगिरा, समुद्र, व्योम, शिववायु, यमवायु, मातरिश्वा, अश्वत्थ, शिपिविष्ट, प्रजापति, काम, कर्म, शुक्र, महासुपर्ण, हिरण्य अंड, स्वर्गधरुण, मित्र, वरुण, इन्द्रियमन, श्वोवसीयस मन, वृषाकपि, वैवस्वत, ऋत, सत्य, ऋषिप्राण, वालखिल्य, आदि सहस्रों परिभाषाओं पर एकदम नया प्रकाश डाला गया है।

इस साहित्य को हम आपाततः वैदिक विज्ञान की गूढ़

और जटिल परिभाषाओं का एक महाकोष कह सकते हैं। इस प्रकार का विलक्षण विशदीकरण हमें अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं हुआ। वेद के अनुसन्धान में निरत सत्य के जिज्ञासु विद्वान् ही इस बात का महत्व जान सकते हैं कि पं० मोतीलाल जी के द्वारा इस प्राचीन शब्दों पर कितना मौलिक प्रकाश डाला गया है और वह भी ब्राह्मणों के परम्परागत निरुक्त की रक्षा करते हुये। वैदिक तत्वज्ञान एक वस्त्र है, सूत्र नहीं। एक धागे को पकडते ही सारा पट सामने आ जाता है। विषय की यह निजी कठनाई ही व्याख्याता की कठनाई है, फिर भी शास्त्री-जी ने अपना कार्य बडी सफलता के साथ पूरा उतारा है।

ब्राह्मणग्रन्थोंके जो निगम-वाक्य हैं, उनका भी समीचीन विशदीकरण हमें प्राप्त होता है। प्रत्येक ग्रन्थ पर उसके लेखक की प्रातिस्विक छाप रहा करती है, वह इन ग्रन्थों में भी है। परन्तु यह निश्चय है कि विद्वान् लेखक ने यथासम्भव अपने आप को वैदिक परम्परागत विज्ञान के दिव्य मार्ग से स्खलित नहीं होने दिया है। वेद के विज्ञानरूपी महासागर को पार करने के लिए शास्त्री जी के ग्रन्थों से काफी सामग्री मिल सकती है। इस साहित्य का परिचय अंग्रेजी के माध्यमके द्वारा भी जितना शीघ्र संसार के सामने रक्खा जा सके उत्तम होगा।



शुक्ल यजुर्वेद का व्यत्ययरहित अर्थ।

[श्री० रुलियारामजी कश्यप, एम्. एस्सी.]

भूमिका।

वेद के भाष्यकार हमें बहुत स्थान पर व्यत्यय समझकर अर्थ करने का उपदेश देते हैं, यह बात मेरी तुच्छ बुद्धि ग्रहण नहीं करती। बार बार यह प्रेरणा मुझे होती है, अपने ही भीतर से कि यदि भगवान् से प्रयुक्त वैदिक शब्दों के अर्थ हमें ठीक नहीं जंचते और हम समझते हैं कि, अमुक विभक्ति के स्थान में अमुक अन्य मान कर अर्थ अधिक ठीक बैठेगा, तो हम भगवान् को दोषी अव्याकरणज्ञ आदि अवगुणयुक्त सिद्ध करते हैं। मैं समझता हूं कि, जहां जो विभक्ति लकार आदि भगवानने प्रयोग किये हैं, वही वहां ठीक उपयुक्त हैं। जो उनमें व्यत्यय करते हैं, दोष उनकी अपनी बुद्धि का है कि, वह भगवद्वाणि को समझ नहीं पाए। उदाहरणार्थ यजुर्वेद के प्रथम मन्त्र का अर्थ ही देखिए, बिना व्यत्यय कैसा सुन्दर सिद्ध होता है यथा—

ओ३म् इषे त्वोर्जे त्वा …… ॥ १ ॥

इच्छा (शुभ) (की पूर्ति) के निमित्त ओज की (बुद्धि) निमित्त (हे यज्ञ! मैं तेरा आरम्भ करता हूं) (हे भगवान्! मैं तुझसे उपासना द्वारा सम्बद्ध होता हूं)

वायवस्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे …… ॥ २ ॥

हे विविध प्रकारकी पवन! आप (समीपतम पहुंचनेवाली) हो। सूर्यदेव (सर्वोत्तम) परम कल्याणमय(जग निर्माण रूप) कर्मके लिये तुमको प्रेरणा करे। तुम्हें उसमें लगावे।

(जब सूर्यका प्रभाव वायुओं पर पडता है, तो उसमें Synthesis द्रव्यनिर्माणशक्ति प्रवृत्त हो जाती है। रातभर पौदों में Analysis द्रव्यहान क्रिया प्रबल रहती है, प्रातः होते ही Synthesis प्रबल होने लगता है।)

(सूर्य इस प्रकार वायुओं को परम कल्याणमय जगनिर्माणमय कार्य सृष्टियज्ञ में प्रवृत्त करता है।)

आप्यायध्वमघ्न्या इन्द्राय भागं प्रजावतीरनमीवा अयक्ष्मा मा वस्तेन ईशत माघशंसो ध्रुवा अस्मिन् गोपतौ बह्वी … ॥ ३ ॥

हे अहिंसनीय गौओं! तृप्त सुप्रसन्न हो कर बढो। सर्वेश के लिये (आहुति) भाग (रूप अपना घृत प्रदान करो) सन्ततियुक्त, रोगक्रिमिरहित, रोगरहित, (सदा रहो) (मत तुम पर चोर राजा होवे। मत पापका प्रशंसक (तुम पर राज्य करे)। स्थिर (होवो) इसी गौपति शाह (यजमान) के यहां बहुत (हो कर।)

(इन्द्राय स्वाहा आहुति के निमित्त ऐसी गौओं का घृत चाहिये, जिन में न रोगक्रिमि हों, न रोग हों, जो सुप्रसन्न हों, जिन के बच्चे मरते न हों। अतः यज्ञसिध्यर्थ यह आवश्यक है कि, गोवध सर्वथा बन्द हों, यह तभी होगा जब राज्य चोर तथा पापप्रशंसकों का न हो, वरंच गौओं के रक्षक यज्ञकर्ताओं का हो।)

स्यात् ॥ ४ ॥

(हे भगवान्! ऐसे ही) होवे (जैसे मैंने (ऊपर प्रार्थना की है।)

यजमानस्य पशून्पाहि ॥ ५ ॥

(हे भगवन्!) यजमान के (पास जितने भी पशु हों, उन सबकी रक्षा कर) पशुओंको (पाल तथा) सुरक्षित रख।

इस प्रकार ऊपर यजु० १।१ का ऐसा अर्थ किया गया जिसमें व्यत्यय करना कहीं भी नहीं पडा। प्रत्येक शब्द का वेदमें प्रयुक्त रूप ही पूर्णतया सार्थक सिद्ध हुआ है। इसी रीति पर चलकर अब यजु० २।१ का अर्थ कीजिये-

ओ३म् वसोः पवित्रमसि… ॥ १ ॥

हे यज्ञ! आप धनको पवित्र करनेवाले हैं। हे भगवन्! आप यज्ञ को पवित्र करनेवाले हैं।

द्यौरसि पृथिव्यसि मातरिश्वनो घर्मोऽसि विश्वधा असि ॥ २ ॥

आप प्रकाशमय हो, विस्तीर्ण हो, अन्तरिक्ष में सोनेवाले जीवों के लिये जीवन अग्नि हो, तथा वायु के लिये घाम (गरमी Heat) हो। समस्त संसार के कर्ताधर्ता

हो (सारा जगत् भगवान् तथा यज्ञद्वारा बन रहा है और सहारा जा रहा है अर्थात् स्थिति धार रहा है)

परमेण धाम्ना दृंहस्व मा ह्वार्मा ते यज्ञपति-ह्वार्षीत् ॥ ३ ॥

परमधाम (सूर्य) के द्वारा (हे यज्ञ!) तू सुदृढ हो। मत त्याग (हमें), मत तुझे यजमान त्यागे।

परमधाम (शुद्धाद्वैत शिवशान्त निजी स्वरूप) के सहारे (हे भगवन्) आप सुदृढ रहें। मत (हम भक्तों को) त्यागे। मत पूजा करनेवाले (आप को) त्यागे।

यज्ञ धन को पवित्र करता है, भगवान् यज्ञ को पवित्र करते हैं। यज्ञ तथा यजनीय भगवान् दोनों विश्व का जीवन प्राण हैं। हवा में गर्मी, जीवोंमें ज्ञानज्योति यही दोनों भरते हैं, विस्तीर्ण प्रकाश हैं।

सूर्य से यज्ञ सुस्थिर, अव्यक्त स्वरूप से भगवान् सव्यक्त है न ये मुझे त्यागे न मैं यजमान इन्हें त्यागूं।

इस प्रकार यजुर्वेद के दूसरे मन्त्र के अर्थ करने में भी व्यत्यय की, शब्दों के व्याकरणीय रूपों में हेरफेर करने की आवश्यकता नहीं पडी।

अब यजु० ३।१ का भी इसी रीत्या अर्थ करके देखना चाहिये।

ओ३म्। वसोः पवित्रमसि शतधारं वसोः पवित्रमसि सहस्रधारम् ॥ १ ॥

हे घृत! तू यज्ञ का पवित्र करनेवाला है। सैकडों धाराओं में बहनेवाला। हे यज्ञ! तू धन का शुद्ध करनेवाला है। सहस्रों प्रकारों में किया जानेवाला।

देवस्त्वा सविता पुनातु वसोः पवित्रेण शतधारेण सुप्वा कामधुक्षः ॥ २॥

(यजमानों की सब) कामनाएं पूर्ण करनेवाला, सुन्दर रीत्या सब को पवित्र करनेवाला सविता देव (हे यजमान) तुझे (भी) पवित्र करे। धन को पवित्र करनेवाले, सैकडों प्रकार से किये जानेवाले यज्ञ के द्वारा।

(सैकडों गौओं से प्राप्त होनेवाला घी यज्ञ को पवित्र करता है। सहस्रों प्रकार से किया जानेवाला परोपकार-मय यज्ञ सभी गृहस्थियों की धनरूप कमाई को पवित्र करता है। सबको सर्वथा पवित्र करनेवाला, सब की सकल कामनाएं सिद्ध करनेवाला, भगवान् सविता देव उन सैकडों गौओं से प्राप्तव्य घृत, तथा सहस्रों विधियों द्वारा कर्तव्य यज्ञ के द्वारा अर्थात् यज्ञ के शोधक घृत, तथा धनके वाचक यज्ञ, इन दोनों के द्वारा प्रत्येक नेक कमाईवाले, यजमान, सद् गृहस्थको पवित्र करे, उसकी शुभ कामनाएं सिद्ध करे ॥३।१॥

इस प्रकार तीसरा मन्त्र भी निर्विघ्नतया, व्यत्यय-सहायता बिनाही सार्थक सिद्ध हो गया है। आओ, अब चौथे को देखें कि वह भी इस व्यत्ययरहित विधिसे समझा जा सकता है कि नहीं-

ओ३म् सा विश्वायुः सा विश्वकर्मा सा विश्वधायाः १

(जो मातरिश्वा में घाम, वायु में सेक, हवा में गर्मि ऊपर मन्त्र मन्त्रमें व्याख्यात है, वही) समस्त जगत् की धारक, सम्पूर्ण विश्व में गति कर्म की सञ्चालक, तथा सारे संसार की आयु अर्थात् सृष्टिपरिधि वा संसृति सीमा है।

जीवों में जो जीवन अग्नि है, वही समस्त विश्व की धारक, विश्व के समस्त कार्यों की सञ्चालक, विश्व की जीवनसीमा अर्थात् आयुष्य परिमाण है।

इन्द्रस्य त्वा भाग सोमेना तनच्मि विष्णो हव्यं रक्ष ॥२॥

हे वायुगत अग्नि! जीवगत जीवन! तुझे सूर्यभाग, भगवद् अंश, का दृढीकरण में शीत, तथा निर्जीवता द्वारा करता हूं। हे जीवन-निर्जीवता-व्यापक! हे अग्नि-शीत-व्याप्य। (महाशक्ते!) (आप ही स्त्रीकर्तव्य यज्ञ आदि की रक्षा कीजिये।

यद्यपि जीवगत शक्ति तथा ज्ञान और वायुगत अग्नि ही विश्वजीवन, विश्वप्राण, तथा विश्वाधार है, तथापि यदि उस सूर्यांश, भगवद्दंतरंग के साथ चन्द्रांश शीत, तथा प्रकृत्यंश तम जाड्य का संश्लेष न होवे तब तक संसार का पूर्ण विस्तार तथा विश्वायुःपर्यंत स्थैर्य सिद्ध नहीं रह सकता। इस कारण विश्वव्यापि Positive, Negative के पीछे रहनेवाली विष्णुसत्ता स्वयं ही समस्त प्राप्त शीतोष्ण, ज्ञान, जडता आदि द्वन्द्वों की रक्षा करती है ॥४॥

इस प्रकार भगवत्कृपा से चतुर्थ मन्त्र के अर्थकरण में भी व्यत्यय कहीं करना नहीं पडा॥

अतः सिद्ध है कि वेद का अर्थ बिना व्यत्यय किये भी हो सकता है। आगे इसी रीति से वेदार्थ करने का यत्न किया जाता है॥ इति भूमिका॥

आनन्दमय भगवान् की आनन्दमयी सृष्टि में

यह असंतोष क्यों ?

(पं० रामचन्द्रजी, बी० ए०
रि० हेडमास्तर, अंबाला सिटी)

सभी धर्मग्रन्थ भगवान् को आनन्दस्वरूप कहते हैं। उपनिषद् तो भगवान् और आनन्द को एकार्थवाची शब्द ही कहते हैं। यथा—

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभि संविशन्ति। (तै० ३।५)

को अन्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्।

इत्यादि वाक्यों से यही प्रतीत होता है कि, भगवान् आनन्दमय है। और यह जगत् ईशावास्य है, यह भी वेद ही कहता है। तब यह जरूरी बात है कि इस जगत् के कण कण में आनन्दस्वरूप भगवान् व्यापक है। तब यह जगत भी आनन्दमय ही होना चाहिये। परन्तु ऐसा प्रतीतिमें नहीं आता। जिसको देखो चाहे वह अमीर हो गरीब हो, बूढ़ा हो या जवान, राजा हो या रंक, यही कहता नजर आता है कि, हाय ! यह संसार दुःखागार है। श्री गीता भी स्वयं कहती है "जन्ममृत्यु-जराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्" हमारा अपना अनुभव भी यही बताता है कि जबतक साधारण दृष्टि ही से हम काम लेते हैं, तबतक यह संसार दुःखमय ही मालूम होता है।

कबीरजी भी एक भजन में कहते हैं—

"सुखसागर वह तेरे आगे क्यों जावे नर प्यासा। निर्मल नीर वहे तेरे आगे पीले सांसों सांसा।" ऐसेही वेद का मन्त्र भी मनुष्य की ऐसी ही दशा प्रकट करता है—

अपां मध्ये तस्थिवांसं तृष्णाविदज्जरितारम् मृडा सुक्षत्र मृडय। (ऋग्वेद)

और इस समय तो संसार में व्यक्तिरूप में तथा समूहरूप में भी जो आपाधापी, मारपीट, लुटखसोट, मच रही है, वह इस बातका पूरा सबूत है, कि संसार में जहां तहां असंतुष्टि ही का राज्य है।

इसका कारण ? कारण यह नहीं कि आनन्द यहां व्यापक नहीं, क्योंकि आनन्दस्वरूप भगवान् इसके कण कण में व्यापक है। परन्तु कारण यह है कि उस आनन्द को देखनेवाली आंख, अनुभव करनेवाला मन नहीं। एक मुसलमान संत कहता है—

चश्म बिकुशा कि आफाक पर अन नूरे खुदास्त। खाली अज नूरेखुदा दरहमा आफाक कुजास्त। गुफ्तमश चन्द बूद हुसने तो पिनहां। गुफ्तः हुस्न पैदास्ते वले पैदेर बीनां किरास्त॥

अर्थात् आंखे खोल कि ईश्वर का ऐश्वर्य सब जगह व्यापक है। कोई स्थान ऐसा नहीं जहां वह जल्वानुमा जल्वागर न हो। संत कहते हैं, कि हमने खुदा से पूछा कि भगवन्, तुम्हारा जलवा क्यों मनुष्य से छिपा रहता है। उत्तर मिला कि जलवा तो स्पष्ट है; परन्तु उसकी देखनेवाली आंख कहां है ?

बस इससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि, आनन्दरूप भगवान् है, तो सर्वत्र विराजमान, परन्तु उसको देखनेवाली आंख ही विरली है। उपनिषदों में क्या ही अच्छा कहा है—

तद् यथापि हिरण्यनिधिं निहितमक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि संचरन्तो न विन्देयुः, एवमेवेमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्यः एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति॥ (छां० ८।३।२)

एवमेव खलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सति सम्पद्य न विदुः सति सम्पद्यामहे॥ (छां० ६।९।२)

अर्थात् जैसे कि क्षेत्रके भेदको न जाननेवाले लोग दबे हुए खजाने के ऊपर ऊपर घूमते हुए भी उसे नहीं

पा सकते, इसी प्रकार सारी प्रजाएं दिन प्रतिदिन इस ब्रह्म-लोक अर्थात् ब्रह्मानन्द को प्राप्त होती हुई भी उसे नहीं प्राप्त करतीं। यहांतक कि उसमें लीन हुई भी नहीं जानती कि हम सत् में लीन हैं।

बस प्रिय पाठको, उस आंख, उस दिल को खोलने की आवश्यकता है, जिससे हम उस सुखसागरको जो सर्वदा और सर्वत्र भरपूर है, अनुभव कर सकें।

वह किस तरह खुले? इसके सम्बन्ध में जो कुछ हम-को शास्त्रोंसे या सन्तोंसे या अपने अनुभव से मिला है, वह पाठकों की भेंट करते हैं।

पहली भूल यह है कि, साधारण मनुष्य अपने शरीर को ही आत्मा समझ लेते हैं और फिर शारीरिक दुःख, शारीरिक गरीबी, शारीरिक त्रुटियों को ही अनुभव करके अपने को दुःखसागर में डुबा हुआ ख्याल करके अपने वायुमंडलको दुःखमय बनाकर अपने आपको भी तथा अपने सहचारियों को भी दुःखग्रस्त कर देते हैं।

इस भूलको दूर करनेके लिये हमें यह विचार करना चाहिये कि, धनादिक कुछ सीमातक शारीरिक सुख के साधन हो सकते हैं; परन्तु सच्ची शान्ति को नहीं दे सकते। यदि ऐसा होता, तो नचिकेता यह न कहता। "न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः।" और नहीं रामचन्द्र शाक्यमुनि आदि राजपीठ छोडकर शान्ति की तलाशमें घर से न निकलते। धन के साथ यदि आन्तरिक शान्ति के साधन मौजूद नहीं हैं, तो धन सुख देनेकी बजाए दुःख-दायक हो जाते हैं। जैसे महमूद बादशाह मरते समय अपने धनादि बहुमूल्य पदार्थों के देख देख कर जोर जोर रोया था और अपने आगामी जन्म को कलुषित कर रहा था। इसी प्रकार धनहीन पुरुषों को भी विचारना चाहिये कि, यदि किसी कारणसे प्रयत्न करने पर भी उनको धनादिक सामग्री नहीं उपलब्ध होती, तो वह ईश्वर पर विश्वास करते हुए, यह विचारें कि भगवान् जो करता है, वह हमारा भला ही करता है। "जो तुम करो सहि भल हमरा" श्रीगुरुनानक जी कहते हैं। क्या यह सम्भव नहीं है कि, धनादिक मिल जानेसे हम पापाचरण का शिकार हो जाते? यद्यपि शारीरिक धन हमारे पास न भी हो, तौभी धनवान् ने ऐसे धन हमको मुफ्त ही दे रक्खे हैं, जो धनादिक नश्वर पदार्थों से कहीं बढ चढकर हैं। क्या अच्छा कहा है—

गोधन, गजधन, वाजिधन और धन अनुधान।
जब आया सन्तोषधन सब धन धूलिसमान॥

याद रक्खो यदि धनादि पदार्थोंके साथ हमारे पास आत्मिक सन्तुष्टि के साधन मौजूद नहीं हैं, तो हम धनादि के साथ भी कंगाल हैं और यदि धनादि के बिना भी हमारे पास मानसिक या आन्तरिक सन्तुष्टि के साधन हैं, तो भी हम मालामाल हैं।

सोलोमन ने क्या ही अच्छा कहा है—

"There are those who make themselves rich, yet have nothing; there are those who make themselves poor, yet have great riches."

यदि यह विचार हमारे अन्दर दृढ हो जावे, तो जहां हम शारीरिक सम्पत्ति को सम्पादन करने में प्रयत्न करते हैं, वहां आन्तरिक शान्ति को प्राप्त करने के भी साधन सम्पन्न करेंगे।

जरा विचारिये कि सत्य सन्तुष्टि सत्य धन से ही मिल सकती है। जो पदार्थ स्वयं नश्वर हैं, परिणतशाली हैं, भयाक्रान्त हैं, चुराये जा सकते हैं, जलाए जा सकते हैं, गलाए जा सकते हैं। भला वह कभी चिरस्थायी संतुष्टि दे सकते हैं? क्या ही सत्य कहा है—

धनानि भूमौ पशवश्च गोष्ठे। भार्या गृहद्वारि जनः स्मशाने। देहः चितायां परलोकमार्गे। कर्मानुगो गच्छति जीव एकः॥

हा शोक! उस धनके पीछे हम मारे मारे फिरते हैं। जो नश्वर है, अनित्य है, ईर्षा, द्वेष, द्रोह, अभिमान, अहंकार, मोह, प्रमादादि अनेक दोषों से दूषित है। जो हमारे वास्ते नरकका रास्ता तय्यार करती है और उस धन से हम बेखबर हैं, जिसको कोई कानून हमसे छीन नहीं सकता। जिसको चोर चुरा नहीं सकता, जिसकी हिफाजत के वास्ते किसी बैंक या सेफ की जरूरत नहीं, चौकीदार की आवश्यकता नहीं।

कितनी भूल है हमारी कि हम रुपये, पैसों, जमीन, मकान, बैंक बुक्स, कोई धन समझ बैठे हैं। जो धन भगवानने सबको दिया हुआ है और मुफ्त दिया हुआ है, उसका कभी ध्यान भी नहीं करते। भला प्रातःकाल का

सुन्दर सुहावना वायु, नदियों का ठंडा, ताजा, मीठा जल, सूर्यका जीवनप्रद ताप, चन्द्रमा की शीतल ज्योत्स्ना, तारों की जगमगाहट, बिजलीकी चमक, अग्नि की दमक, फूलों की मटक, चिडयोंका चेहचहाना, कोयल की कूकू और मयूर का मीठातराना, समुद्र की गहरी गंभीर उंची डालें, गर्मी सर्दी, धूप, छांव की रंगबरंगी चालें इत्यादि अनेक रूप रूपोंमें प्रगट होनेवाला "सत्यं शिवं सुन्दरम्" किसके मन को आल्हादामृत से संतृप्त नहीं करता ? यदि वह मन एक क्षणके लिए भी संसारकी नश्वर, क्षणभंगुर, मायामयी चकाचौंद से हटकर इस दिव्यानन्दसागर की ओर आन्तरमुखी दृष्टि से निहारता है, तो जरूर बोल उठेगा ।

" नमो ब्रह्मणे नमस्ते वायो त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि । "

" त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि । "

" अनेकरूपरूपाय विष्णवे प्रभविष्णवे । "

इत्यादि ।

यदि इस दृष्टिके साथ हमें सुशीला, पातिव्रतादि सर्वगुण-सम्पन्न स्त्रीका प्रणय, बच्चोंका चित्ताकर्षक, मनोहर, निष्पाप, मधुररसभर वात्सल्यप्रेम, मातापितादि सम्बन्धियों का निःस्वार्थ प्रेम और आदरभाव भी प्राप्त है, तो हमारी सन्तुष्टिकी सीमा नहीं हो सकती। यह याद रक्खो कि हम ब्रह्मपुत्र हैं । ब्रह्मकी सब सृष्टि का आनन्द हमारा दायभाग है । किसी पदार्थ का कब्जा होना ही आनन्द का कारण नहीं है, अपि तु बहुधा दुःख और आपत्ति का कारण भी बन जाता है। किसी सुन्दर बाग, बगीचे, या मकान का आनन्द मत समजो उसी को मिलेगा, जिसका कबजा उनपर है। बल्कि बहुधा मालिक, तो उनको आकर देखता भी नहीं ।

उनका आनन्द प्रत्येक मनुष्य को हो सकता है, यदि उसके अन्दर ईर्ष्या, द्वेष, स्पर्धादि कुविचारोंसे रहित चित्त-प्रसाद है । जैसा कि योगदर्शनमें कहा है-

मैत्रीकरुणमुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्या-
पुण्यविषयाणां भावना तश्चित्तप्रसादनम्।(१-३३)

नई देहलीके लौन, बगीचे मकान के आनन्द को सभी उठा सकते हों, जो इनके कबजे का ध्यान न करके इनके सौन्दर्य को ईश्वरीय सौन्दर्य समझकर अनुभव करते हैं । एक कविने क्या ही अच्छा कहा है-

I do not own an inch of land,
But all I see is mine!
The orchard or the morning field,
The lands, and gardens fine.

निस्सन्देह चित्तप्रसाद के प्राप्त होनेपर मनुष्य की दृष्टि इतनी विशाल और इतनी पवित्र हो जाती है, जो कि एक छोटे बच्चे को जन्मसिद्ध है । जैसे उसके अन्दर ममत्व का संकुचित भाव नहीं है, ऐसा ही उसका हो जाता है।

ऐसे हीं एक कवि Charles Macky कहते हैं-

Rich man I, if, when I pass
Mid the daisies in the grass,
Each daisy in my sight
Seems a jewel of delight.
Rich am I, if I can see
Treasures in the flower and tree,
And can hear 'mid forest-leaves
Music in the Summer eves.
If the lark that sings aloud
On the fringes of the cloud;
Scatters melodies around
Fresh as rain-drops on the ground,
If the tides upon the shore
Chant me anthems ever more,
And I feel in every wood
That life is fair and God is good.
I am rich if I possess
Such a fund of happiness.

यही भाव याज्ञिक परिभाषा में छान्दोग्य उपनिषद् के (प्र० २, खंड १२) में बताया गया है। विस्तार-भयसे सारा यहां नहीं उद्धृत किया जाता। केवल आखिर की कुछ पंक्तियां देते हैं—

स य एतदेवं विद्वान् साधु सामोपास्ते, अभ्याशो ह यदेनं साधवो धर्मा आ च गच्छेयु-रुप च नमेयुः।

... ... दुग्धेऽस्मै वाग्दोहं यो वाचो दोहो अन्नवान् अन्नादो भवति य एतदेवं विद्वान् वाचि सप्तविधं सामोपास्ते ।

अर्थात् जब मनुष्य प्रत्येक वस्तुमें ईश्वरीय सौन्दर्य, ईश्वरीय सत्ता, ईश्वरीय आनन्द और ईश्वरीय अनन्तता को देखता हुआ उसके साथ सायुज्यता (To be in tune with) को अनुभव करता है। तो उस वस्तु में जो भी भोग्य है, वह उसको अनायास ही मिल जाता है। यही औपनिषदिक भाव एक अंग्रेजी कविता में यों दर्शाया गया है—

I have a stake in every star,
In every beam that fills the day;
All hearts of men my coffers are
My ores asterial tides convey.
The fields, the skies,
The sweet replies,
Of thought to thought are my gold dust,
The oaks, the brooks,
And speaking looks,
Of lovers, faith and friendship's trust
Talk not of store,
Millions or more
Of values which the purse may hold,
But this Divine
I own the mine
Whose grains outweight a planet's gold.

[David A. Wasson.]

निस्सन्देह जूंही हम अपनी नैतिक सत्ता और स्वार्थ को छोडकर इन नामरूपात्मक जगत् की ओर आन्तर दृष्टि से निहार हैं, तभी हमें अपनी असली सत्ता, असली सौंदर्य और असली आनन्द की असीमता का अनुभव होने लगता है। परन्तु जब तक हम अपने संकुचित जैवी सत्ता को मूल्य रखकर इन बाह्य पदार्थों की ओर देखते हैं, तो यह हम असंतुष्टिजनक ही प्रतीत होते हैं। क्योंकि यह हम परिमित अपर्याप्त, नश्वर, भयाक्रान्त प्रतीत होते हैं। एक और कवि कहते हैं—

This is the law of hearty
That if we but serve her well,
All things are ours henceforward,
In earth & heaven & hell;
All things of the brown old planet,
All of the deep blue sky,
All that the ear can hearken,
All that can fill the eye,
And if we are rich with their riches,
The world may give or withhold,
For he who is God of Beauty
Her secret to us has told.

[John W. Chadwick]

प्यारे पाठको, अपने जैवी संकुचित अहंभाव को आत्मिक विस्तृत अहंभाव में परिवर्तित करके उपनिषदों में बताई हुई अहंग्रह उपासना का अधिकार प्राप्त कीजिये और तो आप भी उछल उछल कर यही औपनिषदिक घोषणा देंगे—

अहमेवाधस्तात् अहमुपरिष्टादहं पश्चादहं पुरस्तादहं दक्षिणतोऽहमुत्तरतोऽहमेवेदं सर्वमिति। (छान्दोग्य-उप०)

भला इस स्थिति पर पहुंचकर हमें कभी कोई असंतुष्टि सता सकती है ?

एक और कविता को देकर हम इस लेख को समाप्त करते हैं और आगामी लेखमें यह दर्शाने का प्रयत्न करेंगे, कि यह दृष्टिकोण कैसे उपलब्ध हो सकता है—

Heir of all the ages I-
Heir of all that they have wrought,
All the stores of Empress high
All the thoughts of precious thought.
Heir of all that they have earned,
By their passions and their tears;
Heir of all that they have learned
Through the weary toiling years.
Heir of all the faith sublime,
On whose wings they soared to Heaven,
Heir of every hope that time
To earth's failing sons hath given.
Aspriation pure and high;
Strength to do and to endure;
Heir of all the ages I-
Lo, I am no longer poor.

(क्रमशः)

शुद्ध वेद।

वेद की चार संहिताओंका मूल्य यह है-

वेद	मूल्य	डाकव्यय	रेलचार्ज	विदेशका डाकव्यय
१ ऋग्वेद	५)	१)	॥)	१॥)
२ यजुर्वेद	२)	॥)	।)	॥।)
३ सामवेद	३)	॥)	।)	॥।)
४ अथर्ववेद	३)	१)	॥)	१॥)
	१३)	३)	१॥)	४॥)

इन चारों संहिताओंका पेशगी म० आ० से सहूलियतका मू० ६॥) रु० हैं, तथा डा० व्यय ३) रु० है। इसलिए डाकसे मंगानेवाले ९॥) सारे नौ रु० पेशगी भेजें। रेलचार्ज या डा० व्यय ग्राहकोंके जिम्मे है। इसलिये जो ग्राहक रेलसे चारों वेदों के एक या अनेक सेट मंगाना चाहते हैं, प्रति सेट के पीछे ७॥) रु० के अनुसार मूल्य भेजें। [इसमें ॥) दो बारका पैकिंग और ॥) दो बारकी रजिष्ट्रीके है।] उनके ग्रंथ To Pay रेलपार्सल से भेजेंगे।

ऋग्वेद दूसरी वार छप रहा है। यह छपाई होनेतक ही चारों वेदसंहिताएँ ६॥) रु० में मिलेंगी। तत्पश्चात् ७॥) मूल्य होगा, इसलिये वेदप्रेमी ग्राहक शीघ्रता करें और अपना चन्दा शीघ्र भेजकर ग्राहक बनें।

यजुर्वेद की चार संहिताएं।

निम्नलिखित यजुर्वेद की चारों संहिताओं का मुद्रण शुरू हुआ है।

	मूल्य	डा० व्यय	रेलव्यय	विदेशका डाक व्यय
१ काण्व संहिता (शुक्ल-यजुर्वेद)	३)	॥।)	।=)	१।)
२ तैत्तिरीय संहिता (कृष्ण-यजुर्वेद)	५)	१)	॥)	१॥)
३ काठक संहिता	५)	१)	॥)	१॥)
४ मैत्रायणी संहिता	५)	१)	॥)	१॥)
	१८)	३॥।)	१॥=)	५॥)

वेदकी इन चारों संहिताओं का मूल्य १८) है। परंतु जो ग्राहक पेशगी मूल्य भेजकर ग्राहक बनेंगे, उनको ये चारों संहिताएं ९) नौ रु० में दी जायंगी। डा० व्यय अथवा रेलव्यय ग्राकोंहके जिम्मे होगा। मूल्य भेजने के समय यह प्रेषण- व्यय जोडकर मूल्य भेज दें। जिनको वेदों का अध्ययन करना है, उनके लिये यह अमूल्य अवसर है। ये ग्रंथ इतने सस्ते आजतक किसीने दिये नहीं और आगे भी इतने सस्ते यह ग्रन्थ नहीं मिलेंगे।

जो सहूलियत का मूल्य ९) नौ रु० भेजकर यजुर्वेद की इन चार संहिताओं के ग्राहक होंगे, उनको "ऋग्वेद-यजुर्वेद (वाजसनेयी संहिता)-सामवेद-अथर्ववेद" ये चारों संहिताएंभी सहूलियत के मूल्यसेहि अर्थात् केवल ६॥) मूल्य सेही मिलेगी। प्रेषणव्यय डाकद्वारा ३) और रेलद्वारा १॥) है, वह ग्राहकों के जिम्मे रहेगा।

इस सहूलियत का लाभ ग्राहक शीघ्र लेवें। ऋग्वेद का पुनर्मुद्रण होने तक ही यह सहूलियत रहेगी।

-मंत्री- स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा)

पाठक ध्यान रखें- इस अंकमें ३०९ से ३१२ पृष्ठ नहीं हैं।

पारसियों की धर्मपुस्तक तथा वेद।

(लेखक-- श्री० हलियाराम कश्यप, एम्.एस्.सी.)

[लेखांक २]×

(५)

प्रथम लेखांकमें (१) महद् ब्रह्म, (२) अमृतत्वं आचार्याय, (३) अवस्तामें वेद, (४) रायो अशीष, इन चार विषयों पर प्रकाश डाला गया था, अतः इस लेख में अब पांचवें विषय गुप्त वाणी से आरम्भ किया जाता है।

चैटर्जी की पृश्नि-गाथा हमारी पद पद पर सहायता कर रही है। अथर्व० ५।१।२ कहता है-

धास्युर्योनिं प्रथम आ विवेशा
यो वाचमनुदितां चिकेत।

जो अव्यक्त वाणी समझने लगता है, वह जगदाधार के निजी गृह मेंही पहिले प्रविष्ट हो जाता है।

आ यो धर्माणि प्रथमः ससाद
ततो वपूंषि कृणुषे पुरूणि।... (अथर्व० ५।१।२)

इस प्रकार जो आदिम धर्म को ही प्राप्त करता है, वह तो फिर विविध (उत्तमोत्तम) रूप (जैसे चाहे वैसे ही आविष्कृत) कर सकता है।

तात्पर्य यह निकला कि गुप्त वाणीकी पहुंच बडी दूर तक है। जो कोई उस गुप्त, सूक्ष्म, अव्यक्त, आन्तरिक, आत्मिक ध्वनि को पहचानने लग जाता है, वह वास्तवमें आदिम भगवान् से सीधा ही सम्बद्ध हो चुका है। जिन नियम धर्मों की सहायता से वह ध्वनि श्रवण करना अधिकाधिक सुगम, सुगमतर, सुगमतम होता जाता है, उन धर्म-नियमों का आचरण जो अङ्गीकार करेगा, उस के रूप तो फिर अनन्त हो जायंगे। कौन संसारी जन उस की मायामयी कृतियोंके भेद बूझ पायेगा। आजकल महात्मा गान्धी इस अनुदिता वाक् के श्रोता हैं। वास्तवमें वह भगवान् के घरमें यथेच्छ प्रविष्ट हो जाते हैं, वे उन आदिम धर्मों पर आचरण करते हैं, जिन पर चलने से यह वाणी सुनना अधिक सुगम होता जाता है और गांधी के अनेक रूपों को कौन पहिचान सकता है ? एक व्रत. वह करता है और कुछ अनूठाही बोलता है कि बडे बडे Politicians सर्वथा ही चक्कर खा जाते हैं। अस्तु !

ईरान का ऋषि भी इस गुप्त वाणी की ओर संकेत करता है। वह इसे 'अगुश्ता वचाओ' कहता है। उस की गाथा का चौथा अध्याय इस वाक्यसे आरम्भ होता है—

ता वे ऊर्वाता मरेन्तो अगुश्ता वचाओं सेंहामही। अपइब्यो योई उर्वाताईस द्रुजो अषह्या गएथाओ बीमरेन् चईते॥ अत् चित् अपइब्यो वहिश्ता योई जरज्दाओ अंहेन् मज्दाई॥

(गाथा अहुनवईति यस्न ३१।१)

चैटर्जी महोदय के अंग्रेजी अनुवाद का भाषान्तर इस विध किया जा सकता है—

मेरे प्रस्तावों को सुनो, मैं वह बातें कहूंगा जो पहिले सुनीं नहीं गयीं। ये उन का भी कल्याण करेंगी, जिन का मिथ्या आदर्श उन्हें पवित्र (जनों) को सताने की ओर प्रवृत्त करता है, तथा उन का भी जिन्होंने अपना जीवन मज्द के समर्पण कर दिया है।

मिल्ज महोदय के अंग्रेजी अनुवाद का भाषान्तर इस विध किया जावेगा—

ये आपके नियम उच्चारण करते हुए। न ध्यान दिये गये शब्द, अभी आओ हम फिर बोल देवें।

न सुने गये उन के द्वारा जो हमारे खेत। अनृत (झूठ) के आदर्शों (अधर्मों) द्वारा नष्ट कर रहे हैं।

परन्तु उत्तम के (वहिश्त सम्बधी) शब्द उनके निमित्त। जो हृदय से मज्द के प्रति श्रद्धावान् हैं॥

परन्तु हमारी तुच्छ सम्मतिमें उपरोक्त गाथा वाक्य का अर्थ निम्न होना चाहिये-

ये पवित्र स्नेहसने अश्रुत वचन हम आप को (सुनना) सिखाते हैं (ये आत्मा की ध्वनियां)।

× लेखांक १ के लिये वै० धर्म क्रमांक २४४ (अप्रैल १९४०) पृष्ठांक १७५ देखिये।

इन आत्मा के शब्दोंके द्वारा जो शान्ति (पवित्रता सच्चाई) की बस्तियों में द्रुह को विनष्ट करते हैं।

निश्चय उनके लिये ही वसिष्ठ = सर्वोत्तम स्वर्गीय आनन्द है, जो महद् भगवान् के प्रति दत्त-हृदय हैं।

पाठक अनुभव करेंगे कैसे अद्भुत वेदोपदेश ईरान के ऋषिने किया था, जो अनजान अनुवादकों की कृपा से सर्वथा नष्टप्राय ही हो चुका था कि हाग इत्यादि European Avestan savants तथा चैटर्ज़ी आदि भारतीय हिन्दुओंने अपने पारसी भाईयोंको कन्धे हिला हिलाकर जगा कर बताया कि भाई, रास्ता वह नहीं, जिधर तुम जा रहे हो। फारसीसे आरम्भ कर पहलवीमें चाहे कितने गोते लगाओ, इस गाथारूपी अथाह सागर के पार न जा सकोगे जब तक वेद की ओर से न आओगे कैसे गाथा का एक अक्षर भी तुम ठीक बूझ सकते हो।

शोक का विषय यह है कि गाथा का अनर्थ मोबिदोंने जान कर या बेसमझी से जो कर दिया, तदनुकूल ही शेष अवस्ता रच डाली गयी और देव विरोधी पाठ घडे गये तथा जहां पाठ नहीं घडा जा सकता था, वहां अनुवाद अथवा टीकाटिप्पनी तन्निमित्त रच लिये गये। परिणाम यह निकला कि जो गाथा को शेष अवेस्ता भाग से समझते हैं, उस अवस्ता को उस के पहलवी जन्दसे समझते हैं, वे गाथा से ठीक उलटे चलने के इतने अभ्यस्त हो चुकते हैं कि सारी आयु बारीक से बारीक विवेचनात्मक कार्य करते रहने पर भी वे इस योग्य नहीं हो पाता कि गाथिक तथ्यों को वे अपना सके। वेन्दीदाद तथा अन्य आवेस्तक प्रार्थनाएं उन पर ऐसे विदेव छाप लगा चुकी हैं, कि वे ये कभी मानने को उद्यत नहीं हो सकते कि गाथा देवविरोधी नहीं।

इस के विरुद्ध हम यह अनुभव करते हैं कि यदि गाथा के शब्दों को वेद के शब्दों के अपभ्रंश मानें, तो सारी गाथा ही एक सुन्दर वेदोपनिषद् की न्यायी अनुवाद की जा सकती है। केवल यस्न ३२ के बिना जो भी हमारी सम्मति में तो ठीक देवप्रिय अनुवाद दे सकता है।

अस्तु। गुप्त वचन, अश्रुतध्वनि, आत्मिक वाक् है, जो भगवद्भक्त ही सुन पाते हैं, वे तो फिर यहीं पर सीधे ही ऋत के धाम में द्रोह का सर्वथा ही प्रध्वंसन कर भगवान् के ही गृह में विराजते हैं, वे तो वसिष्ठा-वहिश्त के यहीं पर निवासी हो गये मरने पीछे तो कैसे उच्चतम सुस्वर्ग में सुकृत लोकमें, अनन्त दिव्य अलौकिक् भगवत्-प्रकाश में क्यों निवास प्राप्त न करेंगे॥

(६)

अथर्ववेद में कहा है कि भुवनमें एक महान् पूज्य व्यक्ति है, जिस के लिये राजा लोग भी भेंट लेकर उपस्थित रहते हैं। वह पूर्ण असंख्य से भी कहीं अधिक महान् है, तथा सूक्ष्मतम परमाणु अथवा शून्यबिन्दुसे भी कहीं अधिक कल्पनातीत सूक्ष्म है। ऐसे प्रभु का नाम वहां महद् दिया गया है, तथा यक्ष शब्द उस के लिये प्रयुक्त करके दिखलाया गया है कि सब यज्ञ वास्तवमें उसी के निमित्त करने होते हैं।

अवेस्तामें यज्ञके स्थान में यस्न होते हैं, युष्माकं (तुम्हारे) के स्थानमें क्षमावतः अर्थात् युष्मत् का अपभ्रंश प्रयुक्त होता है, महद् का मज्द बन जाता है, यह पूर्व दर्शाया जाही चुका है। अब पाठक प्रसन्न होंगे कि गाथामें भी कैसा सुन्दर वर्णन महद्यक्ष का विद्यमान है—

अथर्ववेद ने तो इस विध स्पष्ट महद्यक्ष ही कह डाला कि—

दूरे पूर्णेन वसति दूर ऊनेन हीयते।
महद्यक्षं भुवनस्य मध्ये तस्मै बलिं राष्ट्रभृतो भरन्ति॥ (अथर्व० १०।८।१५)

दूर पूरे (संसार) से वसता है, दूर न्यूनतम (प्रलयावस्था)से कहीं सूक्ष्मतम (हीन) है। महद्यक्ष (पूज्य मज्द = महान् पूज्य) विश्व के ठीक बीचमें व्यापा हुआ है। उसको (तो) राजा भी भेट समर्पित करते हैं।

अवेस्ता ने महद्यक्ष नहीं कर, परन्तु मज्द को कहा कि क्षमावतो यस्नेम=अपने यस्न मुझको (मोई = मयि) अच्छी प्रकार (फ्रो) सिखला दीजिये (फ्र वोइजदूम्) अर्थात् अपनी पूजाविधियां हे महद्! आप मुझे भली प्रकार शिक्षा कीजिये। इस प्रकार भगवान् को ठीक उसी नामसे सम्बोधित कर दोनोंने उसे कहा पूज्य ही है। एकने सीधा कहा है (Direct method of speech adopt कर के) और दूसरेने एक ढंग से अर्थात् Indirectlly.

आओ हम अब गाथा के उस पूरे वाक्य का भी आनन्द उठायें, जिसमें यह टुकडा, जो मानों अथर्ववेदके महद्यक्ष

का ही Indirect वर्णन करता है, आया है। वह वाक्य निम्न लिखित है-

फ्री मोई फ्रवोइजदूम् अरेथा ता या वोहू षवाई मनंहा। यस्नेम् मज्दा क्ष्मावतो अत् वा अषा स्तओभ्या वचाओ। दाता वे अमेरेताओश्चा उत यूइती हउर्वतास द्रओनो।

(Chatterjie's Prishni-Gatha यस्न हा ३३।८) चैटर्जी के अंग्रेजी अनुवाद का भाषान्तर इस विध हो सकता है-

मुझे अर्थ (सार्थक कार्य) सिखाइये, हे मज्द! ताकि मैं आत्मा की ज्योतिमें आप के कार्य कर सकूं और सचाई की स्तुतियां गा सकूं। मुझे मुक्ति की तुष्टि दीजिये और अध्यात्मकोष (आत्मिक धन)॥

मिल्ज महोदय के अंग्रेजी उलथे का भाषा अनुवाद इस विध होगा-

तब मेरे लिये आप सत्य रीतियां कहिये कि उत्तम मन से मैं उनके प्रति पहुंचूं।

आप के स्तोता के यत्न हे भगवन्! या आप के शब्द हे (सत्य) अष! गाने के निमित्त।

आप का उपहार है जीवन अमर। और सतत स्वास्थ्य आप का (ही) निजीस्व (Pcssession)।

अब इसी वाक्यका अर्थ हम स्वयं इस विध कर सकते हैं-

अच्छी प्रकार समझाइये सभी अर्थ। वसुमनके द्वारा वही सब पूजाविधियां।

उन जिन के द्वारा मैं आप का यत्न (यज्ञ) (पूजन) कर सकूं और सत्य शान्ति स्तुति (सूक्त) उच्चार सकूं।

अमृतत्व प्रदाता आप ही हैं। मज्द! महान् से भी महान् सच्चे रक्षक आप ही हैं।

स्थाई उपहार तथा सोत्तम धन हमें प्रदान कीजिये, तथा सतत उत्तम सर्वताति॥

इस गाथावाक्य का तात्पर्य यह है, कि मज्द प्रभु हमें स्वयं अपने यत्न सिखलाये, सत्य याथातथ्य अर्थ समझाये, ठीक वैसे ही जैसे कि वेद में कहा है।

याथातथ्यतो अर्थान् व्यदधाद्
शाश्वतीभ्यः समाभ्यः।

कि उस परम प्रभुने अपनी सनातन जैवि प्रजाओं को ठीक ठीक यथार्थ अर्थ समझा दिये।

ईरान के ऋषि ने भी उपरोक्त वाक्य में सब से पहिले यही प्रार्थना भगवान् से की है कि, हे प्रभु! उत्तमोत्तम सर्वतोश्रेष्ठ रीत्या मुझे आप अर्थ समझा देवें।

फिर वह भक्त कहता है कि अपने यत्न मुझे सिखलाइये तथा शान्ति, स्तुति, सूक्त उच्चारण-विधियां। अर्थात् जैसा हमारा शांन्तिपाठ है, वैसे वचन भगवान् से जरथुश्त्र मांगता है तथा जैसे हवन यज्ञ हम करते हैं, वैसे यज्ञों की विधा के लिये वह भगवान से प्रार्थी है। तथा पूर्वोक्त अर्थ अर्थात् परम पुरुषार्थ तो वह पूछ चुका ही है।

अन्तमें जिस धाता का स्मरण 'ऋतं च सत्यं' च मन्त्र द्वारा हम करते हैं, उसी को वह उपरोक्त वाक्य द्वारा इसविध स्मरण करता है कि "अमेरेताओश्चा दाता वे" आप ही अमृतत्व के निधान हैं, तथा सर्वताति रूप द्रव्य के सतत निधान भी आप ही हो।

इस विध जो महद् धाता = महान् सर्वाधार = अमृतत्व +सर्वतातिरूपी अमर द्रव्य का भी निधान तथा स्थायी कोष है, यदि वही महद्यक्ष = पूज्य महद् हमें स्वयमेव सत्य सत्य परम पुरुषार्थ समझा देवे, अपनी पूजा कीयत्न = यज्ञ विधियां स्वयं ही सिखला देवे, शम्+ऋत= अषा के स्तुतिसूक्तों का सम्यक् उच्चारण अपने आप जितला देवे, तब तो फिर आनन्द ही आनन्द होगा। वसु मन फिर और किस वस्तु की आकांक्षा कर सकेगा अर्थात् वसु मनमें तब सब भक्ति उल्लास के हिलोरे ही उठेंगे, प्रभु प्रेम के ही तरंग वहां उल्लसित होंगे। यही बात प्रथम पंक्ति के द्वितीयार्धमें जरथुश्त्र ने इन शब्दों में कही है कि "ता या वोहु षवाई मनंहा॥"

अब पाठकों को निश्चय हो गया होगा कि जो हम ने इस लेखमालाके आरम्भमें महद्+ब्रह्म = मज्द+ब्रह्मको वेद तथा पारसी गाथा का भगवान् कहा था, वह कहां तक सत्य था! इस सं०६में महद्+यक्ष का वर्णन गाथा तथा वेद के आधार पर किया गया। वेद ने सीधा ही यक्ष कह दिया, गाथाने क्ष्मावतो यस्नेम् के लिये मज्दा से प्रार्थना कर ली।

वास्तव में **"यस्य क्षमावतः यज्ञं वयं यजामः तदेव यक्षम्"** यदि ऐसी निरुक्ति हम वैदिक् यक्ष शब्द की करें, तो तुच्छ सम्मति में यास्क महर्षि भी इस को अनुचित न समझते। परन्तु यह निरुक्ति ऊपर गाथा-

वाक्य का स्रोत ही सिद्ध होगी। मेरा विचार ऐसा भी है कि यह जो हमारे युष्म का गाथा में क्षम बन गया है, स्यात् इस का कारण भी क्षमाशील भगवान् की क्षमा ही हो भगवान् को "युष्मत् = आप से" कहते हुए, हृदय में भाव "आप क्षमाशील से मैं आशा करता हूं। मेरे अपराध क्षमा करने की" ऐसे धारते हुए ही यह सम्भव प्रतीत होता है कि युष्म के स्थान क्षम अथवा ख्म हो सके। अन्यथा युष्म का यु उडकर भी ष्म का ख्म बनना बडा दुष्कर प्रतीत होता है।

उपरोक्त महद्वक्षसम्बन्धी वेद तथा गाथागत उपदेश का सार एक आर्य कवि के भजन में इस विध संगृहीत हो सकता है। कवि कहता है—

अपनी उपासना अपना ही जाप।
सिखाओ प्रभु पूजा की विधि आप।

अर्थात् हे भक्तके भगवान्! अपनी पूजा की विधि आप ही स्वयं हम अबोध बालकों को सिखलाइये, आप के नाम का जाप करने की ठीक विधि कौनसी है, यह भी आप ने स्वयं ही हमें सिखलाना है। आप की उपासना कैसे करनी ठीक होती है, यह ज्ञान भी हमें आपने ही प्रदान करना है। कारण यह कि हमारी मति इतनी तुच्छ है कि जब तक आप स्वयंही अपनी मोहनी कृपादृष्टि हम पर न डालेंगे, तब तक कोई विज्ञसे विज्ञ गुरु भी हमें आप की ओर आकृष्ट न कर सकेगा। परन्तु आप यदि एक बार भी अपनी बाकी चितवन से इस दास की ओर निहारेंगे तो सदा के लिये केवल आप का ही दास हो जावेगा।

(७)

विद्या की आवश्यकता, गाथा तथा वेद दोनों ही अनुभव करते हैं। गाथा कहती है कि विद्वान् ही विद्वान् को उपदेश करे तथा वेद कहता है कि विप्रदेव ही विप्रदेव के प्रति स्तुतिसूक्त उच्चारण करता है। गाथा के अनुसार विद्वान् ही विद्वान् को समझा सकता है कि पवित्रात्मा अमुक महान् वस्तु को स्वीकार करता है, तथा पापात्मा अमुक हीन वस्तु को ही महान् जानकर अंगीकार करता है। वेद का ऋषि कहता है कि हे विद्वान् भगवान् वरुण! मैं जानता हुआ ही आप के प्रति ऐसा निवेदन करता हूं।

आओ, हम वेद तथा गाथा के इस उपदेशका थोडासा मनन करें।

अहुनवईति गाथा यस्न हा ३१ वाक्य १७ इस विध चलता है।

कतारेम् अषवा वा द्रेग्वाओ वा वेरेनवइते मश्यो। विद्धाओ वीदुषे म्रओतू मा एवीद्धाओ अइपी-देबायत्। ज़्दी ने मज़्दा अहुरा वंहेऊस् फ़्रद्धक्ता मनंहो॥

ऐसा पाठ चैटर्जी ने अपनी पृश्नि-गाथा में दिया है। स्वयं उन्हीं की आंग्लभाषा अनुवाद का हिंदी में उलथा हम इस विध कर सकते हैं—

विद्वान् मुझे बतलाये कि पवित्र (जन) किसको आवश्यक मानते हैं, तथा अपवित्र (जन) किसको। अज्ञानी धोखा न दे पावे। मार्ग दिखला हमें हे अहुर मज़्द! तू जो क्रियात्मा को सुमार्ग प्रवर्तक है।

Dr. Mills (मिल्ज) के अंग्रेजी तरजुमे का भाषांतर इस विध किया जा सकता—

श्रद्धावान् किस धर्म को उत्पादक मानता है, अथवा क्या यह (द्रोही) शत्रु (जन) (के विषय में प्रश्न) है। ज्ञानी (ज्योतिष्मान्) ही ज्ञानी के प्रति (इस विषय में) बोले। मूर्ख (अज्ञानी) हमें अब और धोखा न देता जावे। तू हो हे अहुर! हमारा पथप्रदर्शक, अपने सेवक के प्रति ज्योति (ज्ञानप्रकाश) प्रदाता।

हमारा निज मत इस वाक्य के अनुवाद में इस विध प्रदर्शित किया जा सकता है—

जो महत्तम आनन्दको स्वीकार करने का इच्छुक है, उस के लिये

दोनों में से कौनसी इच्छा अधिक श्रेष्ठ महती तथा शुभ है?

परम पवित्र सज्जनोंवाली अथवा द्रोही धोखेबाज ठगोंवाली?

कौनसी अधिक आदरणीय तथा मधुर है?

यह जानना मैं चाहता हूं कृपया विज्ञानी प्रभु स्वयं बोल कर बतलावे। अज्ञानी (मूर्ख) अपने को दिव्य धर्मात्मा प्रकट कर मत हमें शिक्षा करे। उत्तम मन के द्वारा सम्यक्तया दर्शा हे अहुरमज़्द! निजसम्बन्धी श्रद्धा की आज्ञा तथा उपदेश आदेश हमें कर।

इस प्रकार पाठक देखेंगे कि इस गाथावाक्य में कितना उच्च भाव भरा पडा है। अब वेद की ओर चलिये। अथर्व॰

कां० २, सू० १, मं० २ कहता है कि—

ओ३म् प्र तद्वोचेदमृतस्य विद्वान्गंधर्वो धाम परमं महत् ॥

अमृत का जाननेवाला वाणी का संयमी भक्त अथवा अमृतत्व का सर्वज्ञ स्वामी, भूमि आदि जगत् का धारक अन्तर्याम भगवान् स्वयं यही दो विद्वान् हमें उस परम महत् धामका उपदेश करें । उस सर्वश्रेष्ठ, महामहिमावान् दिव्य मोक्षधाम का वर्णन हमारे समक्ष इनमेंसे ही कोई करे । (अन्य बालबुद्धि मलिनात्मा ज्ञानीवत् अज्ञानी हमें कुमार्ग में प्रवृत्त न कर देवें) ।

यहां से स्पष्ट पता लगता है विद्वान् भगवान् अथवा विद्वान् भक्त ही उपदेश कर सकता है । अब अथर्व० ५।११।६,९ देखिये, जहां अथर्वा भक्त तथा वरुण भगवान् का परस्परसंवाद है, वहां अथर्वा अपने आप को विद्वान् कह कर भगवान् से कुछ निवेदन करता है, तथा भगवान् उसका उत्तर देते हैं । अथर्वा का निवेदन निम्न लिखित है:—

'तत् ते विद्वान् वरुण प्र ब्रवीमि ॥

हे वरुण ! मैं जानता हुआ आपसे उत्तम वचन विलास करता हूं ।

अथर्वाने वरुण के ज्ञान की प्रशंसा की है यथा—

त्वं ह्यङ्ग वरुण स्वधावन् विश्वा वेत्थ जनिमा सुप्रणीते ॥ (अथर्व० ५।११।५)

हे निज विश्वधारिका शक्तिसम्पन्न हे वरुण ! हे प्रिय सखा ! हे प्रकृष्ट सुन्दर नीति के स्वामी ! आप समस्त प्राणियों तथा पदार्थों के जन्मादि वृत्त जानते हैं ।

इस प्रकार पाठक देखेंगे कि अथर्वा भी विद्वान् है, वरुण भी जाननेवाला है । दोनों का परस्पर उत्तम संवाद वैदिक अमूल्य उपदेश रत्नों से भरपूर होना ही ठहरा ।

ठीक यही भाव ईरान के भक्तप्रवरने अपनी गाथा के उपरोक्त वाक्यमें भर रखा है कि उत्तमोत्तम ब्रह्मविद्या-सम्बन्धी रहस्य तो तभी स्पष्ट सार्थक रीत्या खुल सकेंगे जब विद्वान् प्रभु विद्वान् भक्त के प्रति उपदेश दे तथा वह विद्वान् भक्त विद्याप्रेमी शिक्षार्थी विद्यार्थी को वही गुप्त भेद समझावे । इस विद्यार्थी, गुरु तथा ब्रह्म तीनोंके परस्पर सम्बन्ध में द्रोह का सर्वथा अभाव होना चाहिये, चैतन्य सदा जाग्रत रहना चाहिये। अज्ञान, मोह तथा कुटिलता इस के सबसे बडे शत्रु हैं, जो न गुरुमें, न ही शिष्य में कभी विद्यमान होने चाहिये । अन्यथा परस्पर धोखा होगा तथा कुमार्गप्रवृत्ति अवश्यम्भावी हो ही जावेगी ।

(८)

अब एक आवश्यक अवेस्तो-वैदिक धर्माङ्ग पर प्रकाश डाला जाता है। वह है आग की परस्तश । आग (Fire) का नाम वेदमें तो अग्निः था, पर अवेस्ता में आथ्र है । डी.ए.वी. कालिजके पुराने पुरोहित पं०राजारामजी प्रोफेसर से भी पूज्य महात्मा हंसराजजीने अवेस्ताविषयक कुछ गवेषणा करवायी थी। उन्होंने एक बात बडी सुन्दर लिखी है कि वैदिक ऋषि अत्रिके नाम से पारसियोंका आथ्र प्रचलित हुआ हो सकता है । उनके इस मतसे मेरी सहानुभूति है । मेरा भी यही विचार है कि अग्नि भगवान् के उपासक अत्रिके पूज्य को आत्र कहना उचित ही था, और प्रतीत होता है यही आत्र अग्नि वास्तविक स्रोत् आवेस्तिक आथ्र का है । अस्तु । जब आथ्र= अग्नि= भगवान् ज्योतिःस्वरूप शक्तिपुञ्ज की महिमा गाना ही हमारा इस समय मुख्य कर्तव्य है, सो पाठक इस प्राचीनतम अतिरोचक विषयका आनंद उठावें ।

महात्मा जरथुश्त्र की पवित्र उश्तवती गाथा का प्रथम वाक्य 'उश्ता अह्माई' आगे व्याख्यात किया जा चुका है । अब दूसरा वाक्य लीजिये—

अत् चा अह्माई विश्वनांम् वहिश्तेम् । खाथ्रोथा ना खाथ्रेम दद्दीता । थ्वा चीचीथ्वा स्पेनि-श्ता मइन्यू मज्दा । या दाओ अषा वंहे ऊस् मायाओ मनंहो । विश्पा अयारे दरेगो-ज्याते उस् ऊर्वादंहा ।

(उश्तवइती गाथा यस्न हा ४३।२)

चैटर्जी महोदय से यह वाक्य उद्धृत किया गया है । उनके अपने आंग्लभाषानुवाद का हिंदी भाषामें उल्था इस विध होगा—

दो मुझे सब वस्तुएं में से उत्तम– सब सत्यों का परम सत्य (सब सारों का परम सार) प्रज्वलित कर हम में हे मज्द ! तू उच्चतम सत्त्वगुण, ताकि सचाई हमें आत्मधन प्रदान करे । आनंद के जीवननिमित्त, सारे भी आनेवाले समयपर्यंत ।

मिल्ज महोदय के अंग्रेजी उलथे का हिंदी भाषांतर इस विध हो सकेगा—

और इस महापुरुष (महात्मा, पैगंबर, Saint) के लिये वह सब वस्तुओंमें से सर्वोत्तम । शान (ज्योतिः) वही शानदार प्रभु प्राप्त करेगा, जो सके (प्राप्त करेगा, वही ज्योतिर्मय भगवान् वा भक्त उस दिव्य ज्योति आनंद को)

प्रकट कर तू हे प्रभु ! हमारे संमुख कल्याणकारी भावमय मनसा के द्वारा।

जो सचाइयां ऋता के द्वारा तू प्रदान करता है, उत्तम मन की प्रज्ञा द्वारा।

जीवन की आनंदवृद्धि के साथ और प्रतिदिन।

हमने जो समग्र आंग्ल भाषा में काव्यमय का अनुवाद जरथुश्त्र की आत्मा की सहायता के द्वारा उसकी पवित्र गाथाओं का किया है, उसका भाषांतर उपरोक्त गाथा-वाक्य का इस विध होगा—

और अब इसके लिये, सर्वोत्तम ज्योतिर्मय, स्वरूप, देता है, सबके लिये।

वही जो रखता है ठीक वही स्वरूप। परम कल्याणमय आप मज्द (प्रभु) का (निजी) स्वरूप। अत्यंत विवेचनात्मक (आन्वीक्षिकी) बुद्धिके द्वारा प्रदान करता है।

निजी आत्मीय भेद (गुप्त रहस्य) वही प्रभु दान करता है (भक्त को)।

सर्वोत्तम परम शुभ मन की शांति के द्वारा। समग्र दिवसोंके लिये, एक शुभ पवित्र आशीर्मय जीवन।

एक अत्यंत दीर्घ (जीवन), सदा के लिये ज्योतिर्मय प्रकाश ही में।

आत्मिक ज्योति दिव्य सुप्रकाशित।

पाठकों को यह तो पता अब लग ही गया होगा कि गाथा उपनिषदों से कम पवित्र नहीं। आओ, हम देखें कि यह गाथा-उपनिषद् वेद भगवान् में कहांपर विद्यमान् थे, जहांसे ईरानके ऋषिने अपने देशवासियोंके कल्याणार्थ यह उठाकर उनकी बोली में पवित्र गीतों का आकार इन्हें देकर प्रचलित किया।

देखिये वेद अग्नि के विषयमें कैसा सुंदर कथन स्थान स्थान पर कर चुका है। वेद कहता है—

स्वग्नयो हि वार्यं देवासो दधिरे चनः।
स्वग्नयो मनामहे ॥ (ऋग्० १।२६।८)

विद्वान् भक्त दिव्य आत्मज्योतियां धारण करते हैं, तथा स्वीकरणीय बल भी। हम भी उन्हीं आत्मज्योतियों का ध्यान उन पर मनन द्वारा करते हैं (हमें भी आत्मज्योति मिले)।

जैसे यहां अग्नि न कहकर स्वग्निः कहा है, वैसे ही उपरोक्त गाथावाक्य में केवल आथ्र न कह कर स्वाथ्र, काथ्र अथवा ह्वाथ्र कहा है। क्योंकि वैदिक स्व अवेस्तन में कूह्व अथवा ख्व में परिणत हो जाता है, जैसे स्वम का ख्वक्षेम् बनता है। इस कारण ही Mills ने Glory तथा Glorious अर्थ किये। क्योंकि वेद में अग्निः नाम परमात्मा का है, इसी कारण Mills ने Deity भी कहा, तथा Chattorgee ने Reality of all Realities कहा। हमारा किया अर्थ तो स्पष्ट वैदिक है ही और हम कहते भी यही हैं कि हम वेद की सहायता से अवेस्ता पढते हैं।

गाथा वाक्य कहता है कि जो अग्निर्मय भगवान् हमें अग्नि प्रदान करे। देखिये ऋग्वेद ने भी तो यही बात और रीति पर कह डाली थी।

अग्निनाग्निः समिध्यते कविर्गृहपतिर्युवा।
हव्यवाड् जुह्वास्यः ॥ (ऋग्० १।१२।६)

भगवद् अग्नि के द्वारा ही जैवि अग्नि सुप्रकाशित की जाती है, तभी यह पुरुष काव्यकर्ता ज्ञानी, सद्गृहस्थी, सुन्दर यौवनसम्पन्न बनकर ग्राह्य ज्ञानादि द्रव्यको अन्य मुमुक्षुओं तक पहुंचानेवाला, तथा निजी मुख कोही हवन की अग्निवत् पवित्र सिद्ध करनेवाला हो जाता, भगवान् उस भक्त में सुप्रकट हो जाता है।

वास्तव में यह है भेद आर्यों की अग्निपूजा का। मूर्ख हैं वह आर्य, जो अग्निपूजक कहे जानेपर चिढते हैं। यदि मैं सच्चा अग्निपूजक बन सकूं, तो मुझे संसार में अन्य किसी वस्तु की आवश्यकता न रहे संसार मेरे समक्ष झुके और स्वयमेव मेरी देखरेख करे तथा मेरे जीवन निर्वाह का प्रबन्ध करे। मुझे केवल अग्निपूजा के बिना और कोई कार्य करना ही न पडे।

सुसमिद्धो न आ वह देवाँ अग्ने हविष्मते।
होतः पावक यक्षि च ॥ (ऋग्० १।१३।१)

अत्यन्त सुप्रकाशित हो हे अग्ने! समग्र देवोंको यहीं पर निमन्त्रित कर ले। हे सर्वोत्तम होता (पुरोहित)! हे परम

पवित्रकारक! यज्ञ कर (उन सभी निमन्त्रित देवोंको यज्ञ द्वारा सर्वथा तृप्त कर)।

हे भगवन्! ऐसी कृपा कर कि आप की ब्राह्माग्निः हम में सम्यक्तया सुप्रकाशित हो उठे जिस के परिणामस्वरूप सम्पूर्ण दिव्य भाव शक्तियां व्यक्तियां हमसे सुसम्बद्ध हो कर सर्वथा तृप्त सुप्रसन्न बलवान् हो सके।

वैदिक अग्नि जिस का सार गाथिक 'ख्वाश्रो ना ख्वाश्रेम् दइदीता' में दोहा गया है, इसविध वर्णन की जा सकती है—

१. इन्द्रं मित्रं वरुणम् अग्निमाहुः अथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥

(ऋग्० १।१६४।४६)

अग्नि भगवान् को ही इन्द्र मित्र वरुण कहते हैं। वह दिव्य सुपर्ण गरुत्मान् भी एकही सत् तत्व को ब्राह्मण अनेकविध वर्णन करते हैं, अग्नि मातरिश्वा यम कहते हैं।

(२) त्वामग्ने वृणते ब्राह्मणा इमे शिवोऽग्ने संवरणो भवा नः। सपत्नहा नो अभिमातिजिच्च स्वे गये जागृह्यप्रयुच्छन् ॥ (यजु० २७।३)

हे अग्नि भगवान्! ये भक्त विप्र आपको ही वरते हैं। हे सुप्रकाशमय देव! हमारे प्रति कल्याणमय आप हूजिये। हमारे शत्रुओंके नाशक अथवा विजेता तथा उनकी शत्रुता के समाप्त करनेवाले होते हुए आप हमारे गृहों में जो कि वास्तवमें आपके अपने ही हैं, सर्वथा शान्त शिव कल्याण-रूप होकर परन्तु सदैव जीवित जाग्रत रूपमें रहिये।

(३) प्र यो जज्ञे विद्वानस्य बन्धुर्विश्वा देवानां जनिमा विवक्ति। ब्रह्म ब्रह्मण उज्जभार मध्यान्नीचैरुच्चैः स्वधा अभि प्र तस्थौ ॥ (अथर्व० ४।१।३)

जो विद्वान् भगवान् का बन्धु प्रसिद्ध हो जाता है, वह देवों के समस्त जन्म वृत्तादि विषयों से परिचित होकर तदुपदेश समर्थ हो जाता है। वह भगवान् से वेद निकाल-कर उसके उच्च मध्य तथा स्थूल सभी अर्थ प्रकाशित कर सकता है। कारण कि भगवद् स्वधा = अमृत तो उसी की ओर प्रवृत्त हो चुकी होती है।

इन तीन वेदों के तीन मन्त्रों से यह प्रतीत होता है कि भगवान् अग्नि है, भक्त उस अग्नि को वरते हैं, तब भक्त भगवान् का सम्बन्ध जुड जाता है और वेद–काव्य-प्रवाह तथा भगवद्–शक्ति भगवान् से भक्त की ओर चल पडता है। ठीक पारसी पैगम्बर ने यही कहा है कि अग्निमय भगवान् हमें अग्नि प्रदान करे।

इस विषय में हम थोडा गहरा और उतरना चाहते हैं। आशा है पाठक भी इस का अनुमोदन करेंगे।

(१) अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः...... (यजुः ३।९)

अग्नि ज्योति है, ज्योति अग्नि है। सर्व प्रथम तत्व विश्व जीवन है, यही आदिम प्रकाश है। ज्योति ही जीवन है, जीवन ही ज्योति। आदि में एक जीवन ज्योति ही था।

(२) अग्निर्ज्योतिषा ज्योतिष्मान्... (यजु० १३।४०)

सर्वप्रथम भगवान् निजी प्रकाश से ही सुप्रकाशित हो रहे हैं।

...रुक्मो वर्चसा वर्चस्वान्।
सहस्रदा असि सहस्राय त्वा ॥

ज्ञान निजी से परम प्रकाश स्वरूप शानदार हो रहा है सहस्रों प्रकारों के भक्ति, ज्ञान, धन, यश, वीर आदि हमें प्रदान कर रहा है, उस तुझ अनन्त को (नमस्कार)।

(३) अग्ने वर्चस्विन्वर्चस्वांस्त्वन्देवेष्वसि वर्च-स्वानहं मनुष्येषु भूयासम् ॥ (यजु० ८।३८)

हे तेज ओजवान् प्रभु! आप देवों में सुजोतिर्मय हो, मैं आप की कृपा से मनुष्य में वैसा सुप्रसिद्ध होऊं। ख्वाश्रो-या ना ख्वाश्रं दयीदीता। सुप्रकाशित हमें सुप्रकाश देवे।

(४) अग्नये त्वा मह्यं वरुणो ददातु सोऽमृतत्व-मशीयायुर्दात्र एधि मयो मह्यं प्रतिग्रहीत्रे।

(यजु० ७।४७)

वरुण प्रभु तुझे मेरे लिये अग्नि पूजा निमित्त देवे। वह मैं स्वयं अमृतत्व का उपभोग करूं। हे आयुर्दाता! आईये आनन्दमय होकर मुझ प्रतिग्रहीता (Medium) के निमित्त प्राप्त हूजिये।

(५) ओ३म् प्राचीमनु प्रदिशं प्रेहि विद्वानग्नेरग्ने पुरो अग्निर्भवेह। विश्वा आशा दीद्यानो विभा-ह्यूर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे ॥ (यजु० १७।६६)

हे विद्वान्! सूर्यप्रकाश की ओर, ज्ञानज्योतिःस्रोत की ओर, पूर्व की ओर, प्राचीदीक् ही उन्नति करते चलो। जहां अग्निप्रकाश ज्योतिर्ज्ञान देखो उधरको ही झुकते चलो, आगे आगे ही बढते जाओ ताकि पीछे आनेवालों के लिये आप स्वयं वही प्राच्यग्निः, पूर्वीय ज्योतिः, (Light of the East) बन जाओ। समग्र दिशाओं को सुप्रकाशित

करते आगे आगे ही बढते चलो। स्वयं प्रकाशपुञ्ज बनकर प्रकाशमान होते चलो। हमारे मनुष्य तथा पशु-पक्षियों सभी के लिये ओज बल पराक्रम शक्ति सामर्थ्य तुम स्वयं धारण कर उन सभी को धारण करवाते जाओ।

इस से पहिला मन्त्र इस प्रकार है—

(६) ओ३म् क्रमध्वमग्निना नाकमुख्यं हस्तेषु बिभ्रतः। दिवस्पृष्ठं स्वर्गत्वा मिश्रा देवेभिराध्वम्। (यजु० १७।६५)

अग्नि के द्वारा हे भक्तजन! ऊपर चढिये। हाथों में सुस्वर्ग सम्बन्धी उत्तम ब्राह्म भक्ति आदि सूचक वेद को धारण करते हुए। द्यौ से भी ऊपर प्रकाशमय से परे आनन्दमय स्वर्ग धाम में पहुंचकर देवोंमें जा मिलो, वहां आनन्द पाओ तथा देवों को आनन्द दो।

मन्त्र ६७ निम्नलिखित है—

(७) ओ३म् पृथिव्या अहमुदन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद्दिवमारुहम्। दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहम्॥

इस भूमि से ऊंचा मैं अन्तरिक्ष में जा पहुंचा, अंतरिक्ष से द्यौ को गया। उस सर्वथा दुःखरहित प्रकाशधाम की उच्च मञ्जिल से मैं आनन्दमय प्रकाश, स्वर्ज्योति, चिदानन्द भगवान् के निजी चरणों में जा विराजा।

(८) ओ३म् स्वर्यन्तो नापेक्षन्त आ द्यां रोहंति रोदसी। यज्ञं ये विश्वतोधारं सुविद्वांसो वितेनिरे (यजु० १७।६८)

आनन्दमय की ओर प्रस्थान करते हुए किसी की पर्वाह नहीं करते। सीधा ही पृथ्वी तथा अंतरिक्ष संबंधी इस जीवन तथा अगले जीवन संबंधी सुखों की सर्वथा अवहेलना कर सीधे एक ज्ञान पर ही आरूढ रहते हैं। जो ऐसे उत्तम विद्वान् एक विश्वकल्याण यज्ञ को ही विस्तृत करते हैं, वे तो स्व० स्वा० श्रद्धानन्द, दयानन्द, विरजानंद की न्यायीं सीधे ही आनन्दमय में जा मिलते हैं। कोई आपत्ति तथा प्रलोभन उन्हें मार्गभ्रष्ट नहीं कर सकते।

उस उच्चावस्था में भक्त किस विध होता है, यह निम्न मंत्र में दरशाया है—

(८) ओ३म् सुपर्णोऽसि गरुत्मान् पृष्ठे पृथिव्याः सीद। भासांतरिक्षमापृण ज्योतिषा दिवमुत्तभान तेजसा दिश उद्दृंह॥ (यजु० १७।७२)

हे भक्त! अब तू उत्तम पूर्ण स्वेच्छापूर्ण गतिसमर्थ हो गया है, तू हंस है, मुक्त है, उपदेशकरण समर्थ गुरु है। अब इस पृथिवी के ऊपर बैठ जबतक जीवित है, इस भूमि के जनों को उत्तम उपदेश कर। अपनी ज्ञानानंदमयी ज्योति से सारा आकाश सुप्रकाशित कर दे, पूरा भर दे, द्यौ को भी भासित कर दे, दशों उत्तम दिशाओं को अपनी शक्ति से तेजसे सुदृढ कर दे।

अर्थात् जो भक्त भगवान् से सम्बद्ध हो होकर पैगम्बर बन चुका है, उसके लिये यह आवश्यक है कि वह अन्य प्राणियों को सन्मार्गप्रवृत्त करे, तथा अपने शक्ति ज्ञान आनंद का उन्हें दान कर उन्हें प्रोत्साहित करे।

जब देह छोड देगा फिर मुक्त हो जावेगा, फिर भी जो भगवान् आज्ञा करेगा तदनुकूल वह जनकल्याण उस लोक से भी करता रहेगा ही।

इस प्रसंग में यह ध्यान देने योग्य है कि Dr. Mills महोदयने गाथा का यह वाक्य तथा इससे पूर्व वाक्य पैगम्बर सम्बन्धी ही समझे हैं।

वास्तवमें जो भगवान् की अग्नि का प्रवाह अपनेमेंसे बहा सकता है, वही पैगम्बर होता है, उसीके लिये वषट्, मनुष्यके प्रति मनुष्य, उच्चारते हैं।

अंतमें इस जीवन-सूत्र की सफलता यजु० ८।५२ में इस विध दर्शायी गयी है—

(१०) ओ३म् सूत्रस्य ऋद्धिरस्यगन्म ज्योतिरमृता अभूम। दिवं पृथिव्या अध्यारुहामाविदाम देवान्त्स्वर्ज्योतिः॥

हे प्रभु! इस मनुष्य-जीवन की समृद्धि आप ही हो। ज्योतिःस्वरूप आपके पास हम आ गये हैं। अमर हम हो गये हैं। भूमि से उठाकर द्यौ भगवद् प्रकाश धाम को जा चढे हैं, देवों को पहुंच गये हैं। स्वयं भी हम चेतनानंद = प्रज्ञाप्रसाद = स्वर्ज्योति ही हो गये हैं।

भगवान् अग्नि + आश्र = विश्वजीवन, विश्वप्रज्ञा, विश्वानंद हम सभी भक्तों को निज अग्नि प्रदान कर हमें भी अपने ज्ञान आनंद जीवन से संयुक्त करे कि हम भी उस चेतनानंद सदानंद की न्यायीं गुरु आत्मा, सुपर्ण, हंस, पवित्र आचार्य, अपने शिष्यों के लिये पथप्रदर्शक ज्योतिःस्तम्भ बन सकें।

भटकता रहता है, उस तेरे मनको तेरे पास वापस लाते हैं, इसलिये कि इससे तुझे दीर्घायु प्राप्त होवे और तेरा निवास यहां सुखसे होवे ।

Thy mind, that went far away to beams (प्रवतः मरीचीः) of light that flash and flow, we cause to return to thee again, that thou mayest live & sojourn here.

मन्त्रस्थ पदोंका अर्थ ।

१. प्रवतः— विशेष गतिमान्, शिखर, ऊंचा भाग, उतराईका पहाडका भाग ।

२. मरीचीः- किरणें ।

यत्ते अपो यदोषधीर्मनो जगाम दूरकं । तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे ॥७॥

पदानि- यत् । ते । अपः । यत् । ओषधीः । मनः । जगाम । दूरकं । तत् । ते । आ । वर्तयामसि । इह । क्षयाय । जीवसे ॥७॥

अर्थ- जो तेरा मन दूरतक (आपः) जलों और (ओषधीः) औषधि-वनस्पतियोंके पास दौडता है, उसको हम तेरे पास वापस लाते हैं, इसलिये कि उससे तेरा (क्षयाय) निवास सुखसे हो और तुझे (जीवसे) दीर्घ जीवन प्राप्त हो ।

ओषधी (दोष + धीः)-दोषों रोगों मलोंको धोनेवाली । शरीरके दोषोंका नाश करनेवाली ओषधीयां होती हैं ।

मनुष्यका मन कमजोर होनेसे जलचिकित्सा और औषधी-सेवनमें लगता है । यदि वह मन अपने आन्तरिक शक्तिमें ही लग जाय और वहीं स्थिर होवे, तो मनुष्य दीर्घायु हो सकता है ।

Thy mind, that went far away, went to the (आपः) waters, (ओषधीः) and to the plants, we cause to return to thee again, that thou mayest live & sojourn here.

मन्त्रस्थ पदोंका अर्थ-

ओषधीः- (दोषधीः) दोषोंको, रोगोंको दूर करनेवाली वनस्पति ।

यत्ते सूर्यं यदुषसं मनो जगाम दूरकं । तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे ॥८॥

पदानि- यत् । ते । सूर्यं । यत् । उषसं । मनः । जगाम । दूरकं । तत् । ते । आ । वर्तयामसि । इह । क्षयाय । जीवसे ॥ ८ ॥

अर्थ-- जो तेरा मन दूरके सूर्य और (उषसं) उषाके प्रति (जगाम) दौडता रहता है, उसको तेरे (क्षयाय) निवासके लिये और (जीवसे) तेरी दीर्घायुके लिये हम (आवर्तयामसि) वापस लाते हैं ।

Thy mind, that went far away, that visited (सूर्यं) the Sun and (उषसं) Dawn, we cause to return to thee again that thou mayest live and sojourn here

उषा- उषःकाल, सूर्योदयके पूर्वका समय ।

यत्ते पर्वतान्बृहतो मनो जगाम दूरकं । तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे ॥९॥

पदानि- यत् । ते । पर्वतान् । बृहतः । मनः । जगाम । दूरकं । तत् । ते । आ । वर्तयामसि । इह । क्षयाय । जीवसे ॥ ९ ॥

अर्थ- जो तेरा मन दूरतक (बृहतः पर्वतान्) बडे बडे पहाडों और पर्वतों में घूमता रहता है, उसको तेरे निवास और दीर्घायुके लिये तेरे पास वापस लाते हैं ।

Thy mind that went far away, away to the (बृहतः पर्वतान्) lofty mountain heights, we cause to return to thee again, that thou mayest live and sojourn here.

पर्वत-(पर्ववान्) = पहाड, पर्वत।

यत्ते विश्वमिदं जगन्मनो जगाम दूरकं। तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे ॥१०॥

पदानि-- यत्। ते। विश्वं। इदं। जगत्। मनः। जगाम। दूरकं। तत्। ते। आ। वर्तयामसि। इह। क्षयाय। जीवसे ॥१०॥

अर्थ-जो तेरा मन दूरदूर (इदं विश्वं जगत्) इस संपूर्ण जगत् में (जगाम) भटका रहता है, उस तेरे मनको (क्षयाय) तेरे निवासके लिये और तेरे (जीवसे) दीर्घायुके लिये वापस तेरे पास लाते हैं।

१ जगत् = जंगम, हिलनेवाला।
२ विश्व = सर्व, सब, विश्व।

Thy mind, that went far away, into (इदं) this (विश्वं) all (जगत्) that lives and moves, we cause to return to thee again, that thou mayest live and sojourn here.

१ विश्वं = संपूर्ण विश्व।
२ जगत् = हलचल करनेवाला, जंगम वस्तुमात्र, जगत्।

यत्ते पराः परावतो मनो जगाम दूरकं। तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे ॥११॥

पदानि-- यत्। ते। पराः। परावतः। मनः। जगाम दूरकं। तत्। ते। आ। वर्तयामसि। इह। क्षयाय। जीवसे ॥११॥

अर्थ- जो तेरा मन दूरदूर तक (पराः परावतः) दूर से दूर के भागोंमें भटकता रहता है, उसको तेरा निवास होने और तुझे दीर्घ जीवन प्राप्त होने के लिये वापस लाते हैं।

Thy mind that went far away (पराः परावतः) to distant realms beyond our ken, we cause to return to thee again, that thou mayest live and sojourn here.

१ पर = श्रेष्ठ, दूरका, उच्च, ऊपरका।
२ परावतः = अत्यंत दूरका।

यत्ते भूतं च भव्यं च मनो जगाम दूरकं। तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे ॥१२॥

पदानि--यत्। ते। भूतं। च। भव्यं। च। मनः। जगाम। दूरकं। तत्। ते। आ। वर्तयामसि। इह। क्षयाय। जीवसे ॥१२॥

अर्थ-जो तेरा मन दूरदूर तक (भूतं) भूतकालमें तथा (भव्यं) भविष्य कालमें (जगाम) जाता रहता है, उसको हम तेरे (क्षयाय) निवासके लिये और (जीवसे) तेरी दीर्घायुके लिये तेरे पास वापस लाते हैं।

जो मन भूतकाल में हि भटकता रहता है, हमने ऐसा किया था और वैसा किया था, ऐसा मनमें कह कर मौज करता है, तथा भविष्यकालमें दौडें मारता है, ऐसा करूंगा और ऐसा होगा, ऐसे मनके कीले आसमानमें बनाता रहता है। ये दोनों ख्याली विचारों की दौड व्यर्थ है। जो आत्मोन्नतिका कार्य करना हो, वह झट करो और अपने उदय का यत्न करो।

इस सूक्तमें मनकी चञ्चलता हटानेका साधन कहा है। मन इधरउधर भटकने लगा, तो उसको (आवर्तय) वापस लाओ और एक स्थानमें स्थिर करो, जिससे दीर्घायु मिलेगी और जिवनभी सुखमय होगा।

Thy mind, that went far away, (भूतं) to all that was (भव्यं) that is to be, we cause to returu to thee again, that thou mayest live and sojourn here.

१ भूतं = भूतकाल, जो हो चुका है ।
२ भव्यं = भविष्यकाल, जो आनेवाला है ।

रोगनाशन ।

(अथर्व० ४ । १३ । १) (ऋग्वेदे १० । १३७ । १-७)
(ऋषिः- शन्तातिः; ऋग्वेदे सप्तर्षयः । देवता- चन्द्रमाः, विश्वे देवाः, १ देवाः, २-३ वातः, ४ मरुतः, ६-७ हस्तः । छन्दः- अनुष्टुप्)

उत देवा अवहितं देवा उन्नयथा पुनः । उतागश्चक्रुषं देवा देवा जीवयथा पुनः ॥१॥

पदानि-- उत । देवाः । अवऽहितम् । देवाः । उत् । नयथ । पुनः । उत । आगः । चक्रुषम् । देवाः । देवाः । जीवयथ । पुनः ॥१॥

अन्वयः-- हे देवाः, हे देवाः! अवहितं पुनः उत उन्नयथ । हे देवाः, हे देवाः! उत आगः चक्रुषं, पुनः जीवयथ ।

अर्थ- हे देवो! हे देवो! आप (अवहितं) नीचे गिरे हुए को (पुनः) फिर (उत) निश्चयपूर्वक (उन्नयथ) ऊपर उठाओ। हे देवो! हे देवो! (उत) और (आगः) पाप (चक्रुषं) करनेवाले को भी (पुनः) फिर (जीवयथ) जीवित करो।

भावार्थ- पतितों को उच्च बनाओ, पापियोंको पवित्र बनाओ और रोगियों को नीरोग करो ।

आगः चक्रुषं= पाप करनेवाला, पाप करने से रोग होते हैं, अतः 'रोगी' यह भी इसका अर्थ है ।

अवहित= गिरा हुआ, पतित, सोया पडा, रोगी ।

आगः= पाप । **उन्नय=** उठाओ ।

❀

O Devas! O Devas! (उन्नयथ) raise (पुनः) again him who (अवहितं) is fallen. O Devas! O Devas! (जीवयथ पुनः) restore him to life again who (चक्रुषं) hath committed (आगः) sin.

द्वाविमौ वातौ वात आ सिन्धोरा परावतः। दक्षं ते अन्य आवातु व्य१न्यो वातु यद्रपः ॥२॥

पदानि-- द्वौ । इमौ । वातौ । वातः । आ । सिन्धोः । आ । पराऽवतः । दक्षम् । ते । अन्यः । आऽवातु । वि । अन्यः । वातु । यत् । रपः ॥२॥

अन्वयः- इमौ द्वौ वातौ । आ सिन्धोः वातः (एकः) । आ परावतः (वातः अन्यः)। अन्यः ते दक्षं आवातु । अन्यः वि वातु यत् रपः ।

अर्थ- (इमौ) ये (द्वौ) दो (वातौ) वायु हैं। (आ सिन्धोः) समुद्रसे आनेवाला (वातः) वायु एक है और (आ परावतः) दूर भूमीपरसे आनेवाला दूसरा वायु है। इनमें से (अन्यः) एक वायु (ते) तेरे पास (दक्षं) बल (आवातु) ले आवे और (अन्यः) दूसरा वायु (वि वातु) दूर करे, (यत् रपः) जो दोष हैं।

भावार्थ- दो प्रकार के वायु बहते हैं, एक समुद्रसे आनेवाला वायु है और दूसरा भूमीपर से दूरदूरसे आनेवाला है। पहिला वायु बल देता है और दूसरा वायु मलों को, दोषोंको बहाता है ।

Here (इमौ) these (द्वौ) two (वातौ) winds are blowing; (आ सिन्धोः) from sea one (वातः) wind blows and the other (आ परावतः) from a distant land. May (अन्यः) one (आवातु) breathe (दक्षं) energy (ते) to thee and (अन्यः) the other (वि वातु) blow (यत्) whatever (रपः) fault there be.

सिन्धुः= समुद्र ।
परावतः= अति दूर स्थित ।
दक्षं= बल; सामर्थ्य, शक्ति ।
रपः= दोष, रोगबीज ।
वा= बहना, वायु का चलना ।

आ वा॑त वाहि भेषजं वि वा॑त वाहि यद्रपः॑ । त्वं हि वि॒श्वभे॑षज दे॒वानां॑ दूत ईय॑से ॥३॥

पदानि—आ । वात । वाहि । भेषजम् । वि । वात । वाहि । यत् । रपः । त्वम् । हि । विश्वऽभेषज । देवानाम् । दूतः । ईयसे ॥३॥

अन्वयः--हे वात! भेषजं आ वाहि। हे वात! यत् रपः वि वाहि। हे विश्वभेषज! हि त्वं देवानां दूतः ईयसे ।

अर्थ- हे (वात) वायो! (भेषजं) औषधि (आ वाहि) यहां ले आ। हे (वात) वायो! (यत् रपः) जो दोष है, वह (वि वाहि) दूर कर। हे (विश्वभेषज) संपूर्ण औषधियों को साथ रखनेवाले! (हि) निःसंदेह (त्वं) तू (देवानां दूतः) देवों का दूत जैसा होकर (ईयसे) चलता है, जाता है, बहता है।

भावार्थ- वायु व्याधि दूर करने का बल लाता और मलों को दूर करता है। संपूर्ण औषधियों के गुण वायु में हैं, अतः मानो वह देवोंका दूतही है।

ऋग्वेदका पाठ '**त्वं हि विश्वभेषजो**' है। अथर्ववेदमें '**विश्वभेषज**' है।

(वात) O wind !(आ वाहि) hither blow,(भेषजं) healing balm, (वात) O wind ! (वि वाहि) Blow away (यत् रपः) every fault (हि) for thou (विश्वभेषज) who hast all medicine, (ईयसे) comest (दूतः)as envoy (देवानां) of deities.

भेषजं= औषध, दवा।
दूत= सेवक।

ईयसे= चलता है (ई=जाना)
विश्वभेषज= सबकी दवा।

त्राय॑न्तामि॒मं दे॒वास्त्राय॑न्तां म॒रुतां॑ ग॒णाः । त्राय॑न्तां॒ विश्वा॑ भू॒तानि॒ यथा॒यम॑र॒पा अस॑त् ॥४॥

पदानि-- त्रायन्ताम् । इमम् । देवाः । त्रायन्ताम् । मरुताम् । गणाः । त्रायन्ताम् । विश्वा । भूतानि । यथा । अयम् । अरपाः । असत् ॥४॥

अन्वयः--हे देवाः! इमं त्रायन्ताम्। मरुतां गणाः! त्रायन्ताम्। विश्वा भूतानि त्रायन्ताम्। यथा अयं अरपा असत्।

अर्थ— हे (देवाः) देवो! (इमं) इस रोगी की (त्रायन्तां) रक्षा करो। हे (मरुतां गणाः) मरुतों के समूहो! (त्रायन्तां) रक्षा करो। (विश्वा) सब (भूतानि) प्राणी (त्रायन्तां) रक्षा करें। (यथा) जिससे (अयं) यह रोगी (अ-रपाः) रोगदोष-रहित (असत्) होवे।

भावार्थ— जलादि सब देवताएं, मरुत, वायुओंके संघ, तथा सब प्राणी इसकी रक्षा करें और इनकी कृपासे यह रोगी नीरोग होवे।

ऋग्वेद में '**त्रायन्तामिह**' पाठ है।

May (देवाः) deities (त्रायन्तां) save (अयं) this man; (मरुतां गणाः) all groups of Maruts (त्रायन्तां) protect him. May (विश्वा) all (भूतानि) beings (त्रायन्तां) protect him. (यथा) that (अयं) he (असत्) may be (अ-रपाः) free from disease.

मरुत्= वायुभेद। मरुत् ४९ हैं, ७ के ७ मिलकर ४९ मरुत् हैं। ये गण हैं, अर्थात् समूह से रहनेवाले हैं।
अ-रपा= निर्दोष, नीरोग।

आ त्वागमं शंतातिभिरथो अरिष्टतातिभिः। दक्षं त उग्रमाभारिषं परा यक्ष्मं सुवामि ते ॥५॥

पदानि- आ। त्वा। अगमम्। शंतातिऽभिः। अथो इति। अरिष्टतातिऽभिः। दक्षम्। ते। उग्रम्। आ। अभारिषम्। परा। यक्ष्मम्। सुवामि। ते ॥५॥

अन्वयः-- त्वा शंतातिभिः अथो अरिष्टतातिभिः आ अगमम्। ते उग्रं दक्षं आ अभारिषम्, ते यक्ष्मं परा सुवामि।

अर्थ-(त्वा) तेरे पास (शं-तातिभिः) शांति फैलानेवाले (अथो) तथा (अ-रिष्ट-तातिभिः) अविनाश करनेवाले साधनों के साथ (आ अगमं) आया हूं। (ते) तेरे लिए (उग्रं दक्षं) प्रचण्ड बल (आ अभारिषं) भर देता हूं। (ते) तेरे (यक्ष्मं) रोग को (परा सुवामि) दूर भगा देता हूं।

भावार्थ— रोगी के पास आरोग्य बढानेवाले और विनाश दूर करनेवाले साधन उपस्थित करने चाहिये। तथा रोगी के अन्दर बल बढाना और रोगबीज उससे दूर करना चाहिये।

ऋग्वेदका पाठ **'दक्षं ते भद्रमाभार्षं'** है। भद्र = कल्याण।

I (आ अगमं) have come nigh (त्वा) to thee (शंतातिभिः) with balms of peace (अथो) and (अरिष्टतातिभिः) protections. I (आ अभारिषं) bring (ते) thee (उग्रं दक्षं) mighty strength, and I (परा सुवामि) drive away (ते) thy (यक्ष्मं) wasting malady.

शं + तातिन् = सुखका फैलाव, शांतिका प्रचार। **अरिष्टतातिन् =** (अ) नहीं है **(रिष्ट)** नाश जिसमें ऐसी जो अविनाशी स्थिति, उसका प्रचार करनेवाला। **उग्र =** प्रखर, विशेष। **आभारिषं** (आ भृ) = सब प्रकारसे भर देना। **यक्ष्म =** दोष, रोगबीज, क्षयरोग।

अयं मे हस्तो भगवानयं मे भगवत्तरः। अयं मे विश्वभेषजोऽयं शिवाभिमर्शनः ॥६॥

पदानि-- अयम्। मे। हस्तः। भगऽवान्। अयम्। मे। भगवत्ऽतरः। अयम्। मे। विश्वऽभेषजः। अयम्। शिवऽअभिमर्शनः ॥६॥

अन्वयः-- मे अयं हस्तः भगवान्। मे अयं भगवत्तरः। मे अयं विश्वभेषजः। अयं शिव+अभिमर्शनः।

अर्थ-(मे) मेरा (अयं) यह (हस्तः) हाथ (भगवान्) भाग्यवान् है। (मे अयं) मेरा यह हाथ (भगवत्तरः) अधिक भाग्यशाली है। (मे अयं) मेरा यह हाथ (विश्वभेषजः) सब औषधियों से युक्त है और (अयं) यह मेरा हाथ (शिव-अभि-मर्शनः) शुभ स्पर्श देनेवाला है।

भावार्थ-- (हाथ से रोगी को उपचार करनेवाला कहता है कि) हे रोगी! इन मेरे हाथमें बडी विलक्षण शक्ति है, इसके स्पर्श से आरोग्य प्राप्त हो सकता है और कल्याण प्राप्त हो सकता है। (उपचार करनेवाला ऐसा विश्वास रोगी में उत्पन्न करे।)

(अयं) This (मे) my (हस्तः) hand is (भगवान्) full of divine power and yet (अयं मे) this my hand has (भगवत्तरः) more divine power. (अयं मे) This my hand contains (विश्वभेषजः) all-healing balms and (अयं) this my hand has (शिव-अभि-मर्शनः) blissfull touch.

भगवान् = भाग्यवान्, शुभसूचक। **भगवत्तर =** अधिक भाग्यशाली। **विश्वभेषज =** सब रोगोंकी दवा। **शिवाभिमर्शनः =** शुभ करनेवाला। **हस्त =** हाथ।

हस्ताभ्यां दशशाखाभ्यां जिह्वा वाचः पुरोगवी । अनामयित्नुभ्यां हस्ताभ्यां ताभ्यां त्वाभि मृशामसि॥७॥

पदानि– हस्ताभ्याम् । दशऽशाखाभ्याम् । जिह्वा । वाचः । पुरःऽगवी । अनामयित्नुऽभ्याम् । हस्ताभ्याम् । ताभ्याम् । त्वा । अभि । मृशामसि ॥७॥

अन्वयः– दशशाखाभ्यां हस्ताभ्यां, वाचः पुरोगवी जिह्वा । ताभ्यां अनामयित्नुभ्यां हस्ताभ्यां त्वा अभि मृशामसि ।

अर्थ– (दशशाखाभ्यां) दस शाखावाले (हस्ताभ्यां) दोनों हाथोंके साथ (वाचः पुरोगवी) वाणीको आगे प्रेरणा करनेवाली मेरी (जिह्वा) जीभ है । (ताभ्यां) उन (अनामयित्नुभ्यां) नीरोग करनेवाले (हस्ताभ्यां) दोनों हाथोंसे (त्वा) तुझे (अभि मृशामसि) हम स्पर्श करते हैं ।

भावार्थ- (स्पर्शोपचार करनेवालेको उचित है कि वह) अपने दस अंगुलियोंवाले दोनों हाथों के स्पर्श के साथ जिह्वासे सूचक शब्दों का प्रयोग करें । नीरोगताकी शक्ति के साथ रोगी को स्पर्श करे और आरोग्यपूर्वक शब्द भी सुनावे ।

(दशशाखाभ्यां) With our tenfold-branching (हस्ताभ्यां) hands and with (जिह्वा) the tongue (वाचः पुरोगवी) that leads the voice of blessing. (ताभ्यां) with these two (अनामयित्नुभ्यां) healers of desease (हस्ताभ्यां) hands, we (अभिमृशामसि) touch (त्वा) thee.

ऋग्वेद में **'त्वोप स्पृशामसि'** पाठ है ।

दशशाखा = दस शाखा । **पुरोगवी** = अग्रभागमें जानेकी प्रेरणा देनेवाली । **अनामयित्नु** = (अन्+आमय)= नीरोगता करनेवाला । **अभिस्पृश्** = स्पर्श करना ।

ऋग्वेद में इस सूक्त में निम्नलिखित मन्त्र अधिक है–

आप इद्वा उ भेषजीरापो अमीवचातनीः । आपः सर्वस्य भेषजीस्तास्ते कृण्वन्तु भेषजम् ॥ (ऋ० १०।१३७।६)

पदानि-- आपः । इत् । वै । उँ इति । भेषजीः । आपः । अमीवचातनीः । आपः । सर्वस्य । भेषजीः । ताः । ते । कृण्वन्तु । भेषजम् ।

अन्वयः-- आपः इत् वै उ भेषजीः । आपः अमीवचातनीः । आपः सर्वस्य भेषजीः । ताः ते भेषजं कृण्वन्तु ।

अर्थ— (आपः) जल ही (इत् वा उ) निःसन्देह (भेषजीः) औषधि है । (आपः) जल (अमीवचातनीः) रोग दूर करनेवाली है । (आपः) जल (सर्वस्य) सब रोगोंकी (भेषजीः) औषधि है । (ताः) वह जल (ते) तेरे लिये (भेषजं) औषध (कृण्वन्तु) करें, बनावें ।

भावार्थ— जल से सब रोग दूर होते हैं । इस लिये जल से रोगीयों के रोग दूर किये जांये ।

(आपः) The waters have their (इत् वै उ भेषजीः) healing power. (आपः) The waters (अमीव-चातनीः) drive diseases away. (आपः) The waters (भेषजीः) have a balm (सर्वस्य) for all. (ताः) Let them (कृण्वन्तु) make (भेषजं) medicine (ते) for thee.

अमीवचातनीः= अमीव (आम+वान्) आमसे उत्पन्न होनेवाले रोग । **चातनीः=** दूर करनेके सामर्थ्य से युक्त ।

भेषजीः=औषध, दवा, औषधि ।

आप्=जल ।

विश्वभेषजी=सर्वस्य भेषजी, विश्वस्यभेषजी ।

सुभाषित

१. **अवहितं उन्नयथ**=गिरे हुए पतितको ऊपर उठाओ । पतितको उच्च बनाओ ।

२. **आगश्चक्रुषं जीवयथ**= पाप करनेवालेको भी (उसकी पापबुद्धि दूर करके) दीर्घजीवी बनाओ।

३. **वातः दक्षं आवातु, यद्रपः विवातु**= वायु बल देवे और दोष दूर करे।

४. **वातःभेषजं आवाहि, यद्रपः विवाहि**= वायु औषधि गुणधर्म ले आवे और दोष दूर करे।

५. **(वातः) विश्वभेषजः**= वायु सब रोगों की दवा है।

६. **(वातः) देवानां दूतः**=वायु देवोंका संदेश देनेवाला है।

७. **दक्षं ते उग्रं आभारिषं, ते यक्ष्मं परा सुवामि**= बल तेरे अंदर भर देता हूं और रोग दूर करता हूं। (यही रोगचिकित्सा का विधि है।)

८. **मे हस्तः विश्वभेषजः**= यह मेरा हाथ रोगनाश करनेकी शक्तिसे युक्त है। (हस्तस्पर्शसे चिकित्सा करनेके समय रोगीके मनमें यह विश्वास उत्पन्न करना आवश्यक है।

९. **अनामयित्नुभ्यां हस्ताभ्यां त्वाभिस्पृशामसि**= नीरोगता करनेवाले मेरे दोनों हाथों से तुझ (रोगी) को में स्पर्श करता हूं, (जिससे तू निरोध होगा।

१०. **आपः भेषजीः**= जल औषधिधर्मसे युक्त है।

११. **आपः अमीवचातनीः**=जल रोग दूर करनेवाला है।

१२. **आपः सर्वस्य भेषजी**= जल सब रोगोंकी दवा है।

(ऋ० १०।१८६।१)

(ऋषिः-उलो वातायनः। देवता-वायुः। छन्दः-गायत्री॥)

वात आ वातु भेषजं शंभु मयोभु नो हृदे। प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥१॥

पदानि- वातः। आ। वातु। भेषजं। शंऽभु। मयःऽभु। नः। हृदे। प्र। नः। आयूंषि। तारिषत् ॥१॥

अन्वयः-- वातः नः हृदे शंभु मयोभु, भेषजं आवातु। नः आयूंषि प्र तारिषत्।

अर्थ—(वातः) वायु (नः हृदे) हमारे हृदयों के लिये (शं-भु) शांति देनेवाला और (मयो-भु) सुख देनेवाला होकर हमारे पास (आवातु) बहता रहे। और (नः आयूंषि) हमारे आयुष्य (प्र तारिषत्) दीर्घ करे।

भावार्थ- शुद्ध वायु हृदयका आनंद बढानेवाला, शांति देनेवाला, आरोग्य देनेवाला और दीर्घायु देनेवाला है। वह हमारे आयुष्य बढावे।

Filling (नः) our (हृदे) heart (शंभु) with health and (मयोभु) with joy, may (वात) wind (आ वातु) breath his (भेषजं) balm (नः) on us. (प्रतारिषत्) may he prolong (नः) our (आयूंषि) days of life.

मयः = सुख, आनंद, समाधान, आरोग्य। **शं** = शांति, सुख। **प्रतारिषत्** (**प्रतॄ**) = बढाना, फैलाना। **हृद्** = हृदय। **आयूंषि** = आयुष्य।

उत वात पितासि न उत भ्रातोत नः सखा। स नो जीवातवे कृधि ॥२॥

पदानि-- उत। वात। पिता। असि। नः। उत। भ्राता। उत। नः। सखा। सः नः। जीवातवे। कृधि ॥२॥

अन्वयः-- हे वात! उत नः पिता असि। नः उत भ्राता, उत सखा। सः (त्वं) नः जीवातवे कृधि।

अर्थ- हे (वात) वायो! (उत) निःसन्देह तू (नः) हमारा (पिता) पालक, रक्षक, पिता (असि) है। (नः) हमारा और (भ्राता) भाई, भरणपोषणकर्ता है और (उत सखा) मित्र भी है। (सः) वह तू (नः) हमारे (जीवातवे) दीर्घ जीवन के लिए उपाय (कृधि) कर।

भावार्थ- वायु ही सच्चा पिता, भाई और मित्र है। वही दीर्घायु देता है।

O (वात) wind ! Thou (असि) art (नः) our (पिता) father. (उत) yea, thou art a (भ्राता) brother and a (सखा) friend. (जीवातवे कृधि) So make (नः) our life long.

जीवातु- = जीवन, आयु, दीर्घायु।

यद॒दो वा॑त ते गृ॒हे॒३॒ऽमृत॑स्य नि॒धि॑-र्हि॒तः। ततो॑ नो देहि जी॒वसे॑ ॥३॥

पदानि- यत्। अ॒दः। वा॒त। ते॒। गृ॒हे। अ॒मृत॑स्य। नि॒ऽधिः। हि॒तः। ततः॑। नः॒। दे॒हि॒। जी॒वसे॑ ॥३॥

अन्वयः- हे वात! ते गृहे यत् अदः अमृतस्य निधिः हितः। ततः नः जीवसे धेहि॥

अर्थ- हे (वात) वायो! (ते) तेरे (गृहे) घरमें (यत्) जो (अदः) वह अपूर्व (अमृतस्य) अमरपन का (निधिः) खजाना (हितः) रखा है। (ततः) उस खजानेमें से (नः) हमारे (जीवसे) दीर्घ जीवन के लिये (थोडासा भाग) (देहि) दे।

भावार्थ- वायु के पास अमृत है, उसकी प्राप्ति होनेसे दीर्घायु होती है। (शुद्ध वायुसेवसे दीर्घायु होती है।

(अमृतस्य निधिः) The store of Amrit-immortality (हितः) laid away (अदः) yonder, O (वात) Wind! (ते गृहे) in thine home, (देहि) give (नः) us (ततः) there of (जीवसे) that we may live long.

अमृत = अमरपन। **निधिः** = खजाना। **जीवसे** = दीर्घ जीवन के लिये।

क्रिमिनाशन।

(अथर्व० २।३२।१)

(ऋषिः- कण्वः। देवता - आदित्यः। छन्दः- अनुष्टुप्, १ गायत्री, ६ उष्णिक्)

उ॒द्यन्ना॑दि॒त्यः क्रिमी॑न्हन्तु नि॒म्रो॑च॑न्हन्तु र॒श्मिभिः॑। ये अ॒न्तः क्रिम॑यो गवि॑ ॥१॥

पदानि- उ॒त्ऽयन्। आ॒दि॒त्यः। क्रिमी॑न्। ह॒न्तु॒। नि॒ऽम्रोच॑न्। ह॒न्तु॒। र॒श्मिभिः॑। ये। अ॒न्तः क्रिम॑यः गवि॑ ॥१॥

अन्वयः- उद्यन् आदित्यः क्रिमीन् हन्तु। निम्रोचन् रश्मिभिः हन्तु। ये क्रमयः गवि अन्तः ॥१॥

अर्थ- (उद्यन्) उगता हुआ (आदित्यः) सूर्य (क्रिमीन्) क्रिमियों का (हन्तु) नाश करे। (निम्रोचन्) अस्तको जाता हुआ सूर्य अपने (रश्मिभिः) किरणोंद्वारा क्रिमियों का (हन्तु) नाश करे। (ये) जो (क्रिमयः) कृमि (गवि अन्तः) भूमिपर रहते हैं।

भावार्थ- भूमिपर सूक्ष्म कृमि रहते हैं, इनमें से कईयों का सम्बन्ध रोगोंसे रहता है। इन सूक्ष्म कृमियों का नाश सूर्य के किरणों से होता है।

Let (उद्यन्) the rising (सूर्यः) sun (हन्तु) destroy (क्रिमीन्) worms, and the (निम्रोचन्) setting sun (हन्तु) may destroy them (ये) which (क्रिमयः) worms are (गवि अन्तः) in the earth.

क्रिमिः = कृमि, कीडा, रोगजन्तु, जन्तु। **निम्रोचन्** = अस्त होनेवाला। **रश्मिः** = किरण। **गवि** = **गो** = किरण।

वि॒श्वरू॑पं च॒तुर॒क्षं क्रिमिं॑ सा॒रङ्ग॒-मर्जु॑नम्। शृ॒णाम्य॑स्य पृ॒ष्टीरपि॑ वृश्चा॒मि॒ यच्छिरः॑ ॥२॥

पदानि- वि॒श्वऽरू॑पम्। च॒तुः॒ऽअ॒क्षम्। क्रिमि॑म्। सा॒रङ्ग॑म्। अर्जु॑नम्। शृ॒णामि॑। अ॒स्य॒। पृ॒ष्टीः। अपि॑। वृ॒श्चा॒मि॒। यत्। शिरः॑ ॥२॥

अन्वयः- विश्वरूपं चतुरक्षं सारङ्गं अर्जुनं क्रिमिं (हन्तु)। (अहं) अस्य पृष्टीः शृणामि। यत् शिरः अपि वृश्चामि।

अर्थ- (विश्व-रूपं) अनेक रूपोंवाले (चतुरक्षं) चार आंखोंवाले, (सारंगं) अनेक रंगोंवाले (अर्जुनं) श्वेत आदि प्रकारके (क्रिमिं) कृमि का नाश होवे। (अस्य) इस की (पृष्टीः) हड्डी को (शृणामि) तोडता हूं, तथा इसका (यत्) जो (शिरः) सिर है, उसको (वृश्चामि) कुचलता हूं।

भावार्थ- ये कृमि अनेक रंगों और विविध रूपोंवाले होते हैं, कई श्वेत भी होते हैं और कई बहुरंगे भी होते हैं। इनका नाश करनेके लिये इनकी हड्डी और शिर तोडना चाहिये।

जिस कारण इस मन्त्र में कृमियों की हड्डी तोडने और शिर फोडने का विधान है, उस कारण ये कृमि सूक्ष्म नहीं हो सकते। ये बडे होंगे और इनकी पीठ में हड्डी होंगी और शिर भी कुचलने योग्य बडा होगा। ये सांप जैसे छोटे मोटे होंगे। प्रथम मंत्र में वर्णित कृमि सूर्यकिरणों से नष्ट होनेवाले हैं, अतः वे अति सूक्ष्म होंगे। परन्तु इस मंत्र में वर्णित कृमि शिर कुचलने से और पीठ की रीड तोडने से मरनेवाले हैं, इसलिये ये रीगनेवाले सांप जैसे होंगे। पाठक इन मंत्रों के पदों का इस तरह विचार करे।

The germ (विश्वरूपं) having every shape, (चतुरक्षं) four eyed (सारङ्गं) the varigated, (अर्जुनं) and the white, (शृणामि) I break and (वृश्चामि) crush (अस्य पृष्टीः) its ribs (अपि) and (यत् शिरः) its head as well.

विश्वरूप= अनेकरूपी, अनेक रूपोंवाला। शृ= तोडना। पृष्टीः= पीठ की हड्डी, पीठ। वृश्च् (व्रश्च्) तोडना, कुचलना। सारङ्ग = रंगाबेरंगा। अर्जुन = श्वेत, सफेद।

अत्रिवद्वः क्रिमयो हन्मि कण्ववज्जमदग्निवत्। अगस्त्यस्य ब्रह्मणा सं पिनष्म्यहं क्रिमीन् ॥३॥

पदानि- अत्रिऽवत्। वः। क्रिमयः। हन्मि। कण्वऽवत्। जमदग्निऽवत्। अगस्त्यस्य। ब्रह्मणा। सम्। पिनष्मि। अहम्। क्रिमीन् ॥३॥

अन्वयः- हे क्रिमयः! वः आत्रिवत् कण्ववत् जमदग्निवत् हान्मि। अगस्त्यस्य ब्रह्मणा अहं क्रिमीन् संपिनष्मि।

अर्थ- हे (क्रिमयः) किडों! (अत्रिवत् कण्ववत् जमदग्निवत्) अत्रि कण्व जमदग्निके समान मैं (वः हन्मि) तुमको मारता हूं। (अगस्त्यस्य) अगस्ति की (ब्रह्मणा) विद्यासे (अहं) मैं (क्रिमीन्) कृमियों को (संपिनष्मि) पीस डालता हूं।

भावार्थ- अत्रि, कण्व, जमदग्नि और अगस्ति नामक कोई विद्या है, जिस विद्याके अनुसार प्रयोग करने से कृमियोंका नाश होता है।

अत्रि, कण्व, जमदग्नि और अगस्ति ऋषिके जो विषनाशक, कृमिनाशक तथा रोगनाशक सूक्त तथा मन्त्र हैं, उनका विशेष मनन करने से इस कृमिनाशक विद्याका पता लग सकता है।

(अत्रिवत्) Like Atri (हन्मि) I destroy you, O germs, (कण्ववत्) like Kanva's & (जमदग्निवत्) like Jamadagni's way, I (संपिनष्मि) bruise the (क्रिमीन्) germs to pieces (अगस्त्यस्य ब्रह्मणा) with the spell of Agastya.

अत्रिवत्= अत्रिके समान। **कण्ववत्**= कण्वके समान। **जमदग्निवत्**= जमदग्निके समान। ब्रह्म= ज्ञान, मन्त्र। **पिनष्मि** (पिंश्) = पीसना।

हतो राजा क्रिमीणामुतैषां स्थपतिर्हतः। हतो हतमाता क्रिमिर्हतभ्राता हतस्वसा ॥४॥

पदानि– हुतः । राजा । क्रिमीणाम् । उत । एषाम् । स्थपतिः । हुतः । हुतः । हुतऽमाता । क्रिमिः । हुतऽभ्राता । हुतऽस्वसा ॥४॥

अन्वयः-- क्रिमीणां राजा हतः । उत एषां स्थपतिः हतः । हतमाता, हतभ्राता, हतस्वसा क्रिमिः हतः ।

अर्थ- (क्रिमीणां) कृमियोंका (राजा) मुखिया (हतः) मारा गया है । (उत) और (एषां) इनका (स्थपतिः) स्थानपति भी (हतः) मारा गया है । (हत-माता) जिसकी माता मारी गई, (हत-भ्राता) जिसका भाई मारा गया, (हत-स्वसा) जिसकी बहिन मारी गई ऐसा (क्रिमिः) कृमि (हतः) मारा गया है ।

भावार्थ- कृमियों के सब कुल और परिवार का नाश होना चाहिये ।

चूटियों में एक रानी होती है, जबतक वह नहीं मारी जाती, तबतक चूटियां कष्ट देती रहती हैं । इसी तरह कृमियों की कई जातियों में पारिवारिक या सांघिक संघटना होगी, जिसका उल्लेख ऊपरके मन्त्र में आया है । यह कृमिराजा, कृमिमाता, कृमिभ्राता, आदिके विषयमें कृमियों की जातियों का याथातथ्य ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। केवल एक चूटियों की राणी होती है, इतना हम इस समय जानते हैं । शेष खोज का विषय है ।

(हतः) Slain is the (राजा) sovereign of (क्रिमीणां) these germs. (उत) yea (एषां) their (स्थपतिः) controlling lord is (हतः) slain. (हतः) Slain is the (क्रिमिः) germ, (हतमाता) his mother is slain, (हतभ्राता) brother is slain, (हतस्वसा) his sister is slain.

स्थपतिः (स्थानपतिः) = मुखिया, प्रमुख अधिपति ।

हुतासो अस्य वेशसो हुतासः परिवेशसः । अथो ये क्षुल्लका इव सर्वे ते क्रिमयो हुताः ॥५॥

पदानि-- हुतासः । अस्य । वेशसः । हुतासः । परिऽवेशसः । अथो इति । ये । क्षुल्लकाः इव । सर्वे । ते । क्रिमयः । हुताः ॥५॥

अन्वयः-- अस्य वेशसः हतासः। परिवेशसः हतासः । अथो ये क्षुल्लकाः इव, ते सर्वे क्रिमयः हताः ।

अर्थ- (अस्य) इस कृमिके (वेशसः) परिचारक (हतासः) मारे गये । (परिवेशसः) सेवक भी (हतासः) मारे गये हैं । (अथो) और (ये क्षुल्लकाः इव) जो छोटे जैसे थे (ते सर्वे) वे सब (क्रिमयः) कृमी (हताः) मारे गये हैं।

इस मन्त्र का भाव भी पूर्व मन्त्र के आशय के समान ही समझना चाहिये । यहां 'वेशसः, परिवेशसः' ये शब्द नौकर, परिचारकों के वाचक हैं, परन्तु कृमियों के संबंध में इनका अर्थ केवल मुख्य कृमियों के साथ रहनेवाले, इतनाही समझना योग्य है ।

(हतासः) Slain are (अस्य) his (वेशसः) servants, (हतासः) slain are (परिवेशसः) his followers, (अथो) yea, (ये क्षुल्लकाः) those that are tiniest (क्रिमयः) germs, (ते सर्वे) are all (हताः) put to death.

वेशस् = नौकर, साथी । परिवेशस् = परिचारक
क्षुल्लक = क्षुद्र ।

प्र ते शृणामि शृङ्गे याभ्यां वितुदायसि । भिनद्मि ते कुषुम्भं यस्ते विषधानः ॥६॥

पदानि–प्र । ते । शृणामि । शृङ्गे इति । याभ्याम् । विऽतुदायसि । भिनद्मि । ते । कुषुम्भम् । यः । ते । विषऽधानः ॥६॥

अन्वयः– ते शृङ्गे प्र शृणामि, याभ्यां वितुदायसि। ते कुसुम्भं भिनद्मि, यः ते विषधानः।

अर्थ– (ते) तेरे (शृंगे) दोनों सींग (प्र शृणामि) काटता हूं, (याभ्यां) जिनसे तू (वि-तुदायसि) काटता है। (ते) तेरे (कुसुंभं) विषकी थैली को (भिनद्मि) तोडता हूं. (यः) जो (ते) तेरा (विषधानः) विषका थैला है।

भावार्थ— इस कृमिके सींग विषकी थैलीके साथ लगे होते हैं। वह सींगोंसे काटता है और छेदों द्वारा विष गिराता है। ऐसे कृमीके सींग भी तोडे जाने चाहिये और विषस्थान भी कुचलना चाहिये।

सांपमें विषकी थैली दांतों के साथ लगी होती है। सांप पकडनेवाले दांत गिराते हैं, उसके साथ विष की थैली भी फट जाती है। परंतु ज्ञानी कहते है कि सांप के मुख में दांत भी फिर आते हैं और विषकी थैली भी पुन: बनती है। इस मन्त्र में सींगोंका उल्लेख है, यह सींगसे विष गिरानेवाला कृमि कौनसा है, यह ढूंढना चाहिये। मच्छर के सींग होते हैं या कुछ और साधन होते हैं। अन्य भी कोई कृमि होंगे। ज्ञानी इसकी खोज करें।

(प्र शृणामि) I break into pieces (ते शृंगे) both thy horns (याभ्यां) wherewith thou (वितुदायसि) pushest here and there (भिनद्मि) I cleave and rend the bag (यः) which (विषधानः) holds the venom, which is stored (ते) in thee.

शृंगं = सींग। **वितुद्** = तोडना। **भिनद्मि (भिद्)**= भेदन करना, तोडना। **कुसुम्भ** = विषस्थान। **विषधान** = विषकी थैली।

राष्ट्रीय सभा।

(अथर्व० ७।१२ (१३)।१)

(ऋषिः- शौनकः। देवता- सभा; १-२ सभा, पितरः; ३ इन्द्रः; ४ मनः। छन्दः- अनुष्टुप्, १ भुरिक् त्रिष्टुप्)

स॒भा च॑ मा॒ समि॑तिश्चावतां प्र॒जाप॑तेर्दुहि॒तरौ॑ संविदा॒ने। येना॑ सं॒गच्छा॒ उप॑ मा॒ स शि॑क्षा॒च्चारु॑ वदानि पितरः॒ संग॑तेषु ॥१॥

पदानि– स॒भा। च॒। मा॒। सम्ऽइ॑तिः। च॒। अ॒व॒ता॒म्। प्र॒जाऽप॑तेः। दु॒हि॒तरौ॑। सं॒वि॒दा॒ने इति॑। स॒म्ऽवि॒दा॒ने। येन॑। स॒म्ऽगच्छै॑। उप॑। मा॒। सः। शि॒क्षा॒त्। चारु॑। व॒दा॒नि॒। पि॒तरः॑। सम्ऽग॑तेषु ॥१॥

अन्वयः– प्रजापतेः दुहितरौ संविदाने सभा च समितिः च मा अवताम्। येन संगच्छै, सः मा उपशिक्षात्। हे पितरः! संगतेषु चारु वदानि ॥१॥

अर्थ– [राजा कहता है] (प्रजापतेः दुहितरौ) प्रजापति की दोनों दुहितायें, (संविदाने) एकमत से चलनेवाली (सभा च समितिः च) सभा और समिति, ये दोनों सभाएं (मा अवतां) मेरी रक्षा करें। (येन संगच्छै) जिससे मैं मिलूं (सः) वह (मा उपशिक्षात्) मुझे शिक्षा देवे, सहाय्य करे। हे (पितरः) पितरो! (संगतेषु) सभाओं में (चारु वदानि) मैं उत्तम सुंदर बोलूं।

भावार्थ-- प्रजापति प्रजा का पालन करनेवाला राजा है। इस राजा के राज्य में उसके द्वारा पुत्रीवत् पालन होने योग्य दो सभाएं होती हैं, एक है **ग्रामसभा** और दूसरी है **राष्ट्रीय-समिति**। ये दोनों सभाएं परस्पर संमति से ऐकमत्य करके राज्य का सब कार्य करें। इनका आपस में विरोध न हो। इन के द्वारा ही राजा की रक्षा हो सकती है। राजा इनकी रक्षा चाहता रहे। राजा जिस सदस्य से बातचीत करे, वह सभासद निष्पक्ष होकर राजा को सब तरहसे राजव्यवहार-संबंधी ठीक ठीक शिक्षा देवे। सभाओं के सभासद राजाके

लिये पितृस्थानीय हैं। इनके सामने राजा प्रतिज्ञा करे कि, मैं सभाओं में सुचारु भाषण करूंगा।

मन्त्रस्थ पदोंका अर्थ

१. **सभा**= ग्रामसभा, नगरसभा, ग्रामपंचायत।
२. **समिति**= प्रान्तीय सभा, राष्ट्रीय महासभा, अनेक ग्रामों की मिलकर सभा।
३. **अव्**= रक्षा करना।
४. **प्रजापतिः**= प्रजाका (पति)पालन करनेवाला, राजा।
५. **दुहितृ**= दुहिता, पुत्री, लडकी, (दूरे+हिता) दूर रहने से हितकारिणी जो होती है। दूध दुहनेवाली।
६. **संविदाना**= सम्यक् ज्ञान देनेवाली, एकता करनेवाली, ऐकमत्यसे कार्य करनेवाली।
७. **संगच्छ्** (संगम)= मिलना।
८. **उपशिक्ष्**= सीखना, सिखाना, पढाना।
९. **चारु** = प्रेय, प्रिय, आह्लाददायक, सुंदर।
१०. **पितरः** = (पातारः) रक्षक, संरक्षक, पितर।
११. **संगतं** = सभा।

(संविदाने) In concord, may (प्रजापतेः) prajapati's (दुहितरौ) two daughters, (सभा च) Gathering and (समितिः च) Assembly, both (अवतां) protect (मा) me. (येन) with Whom (संगच्छै) I shall come together, (सः) may he (उपशिक्षात्) teach me. O (पितरः) Fathers! (वदानि) I speak (चारु) agreeably (संगतेषु) in these meetings.

विद्म ते सभे नाम नरिष्टा नाम वा असि। ये ते के च सभासदस्ते मे सन्तु सवाचसः ॥२॥

पदानि- विद्म। ते। सभे। नाम। नरिष्टा। नाम। वै। असि। ये। ते। के। च। सभाऽसदः। ते। मे। सन्तु। सऽवाचसः ॥२॥

अन्वयः-हे सभे! ते नाम विद्म। नरिष्टा नाम वै असि। ये के च ते सभासदः ते मे सवाचसः सन्तु ॥२॥

अर्थ- हे (सभे) सभा! (ते नाम) तेरा नाम (विद्म) हमें विदित है। (नरिष्टा) अहिंसक यही तेरा (नाम) नाम (वै असि) निश्चयसे है। (ये के च ते) जो कोई तेरे (सभासदः) सभासद हैं (ते) वे (मे) मेरे साथ (सवाचसः सन्तु) समान भाव से बोलनेवाले हों।

भावार्थ— (राजा कहता है) इन राजसभाओं का नाम 'न+रिष्टा' है, अर्थात् ये सभाएं राजा और प्रजाओं को नाश से बचानेवाली हैं। सभा स्थापन होने से राजा और प्रजा दोनों की रक्षा हो जाती है। जो सभासद होते हैं, वे राजा के साथ समान अधिकार से वार्तालाप करनेवाले हों। डरकर मनकी सच्ची बात न छिपावें।

मन्त्रस्थ पदोंके अर्थ।

१. **विद्** = जानना।
२. **नरिष्टा** = (न) नहीं (रिष्ट) नाश करनेवाली; जो नाश नहीं करती।
३. **सभासद्** = सभा के सदस्य।
४. **सवाचस्** = समान अधिकार से भाषण करनेवाला।

(सभे) O Conference! (विद्म) we know (ते नाम) thy name. Thy (नाम) name (असि) is (नरिष्टा) non-injurious. (ये के च ते) Whoever are the members of the assembly, may (ते) these (सन्तु) be and (सवाचसः) speaking (मे) with me with equality

एषामहं समासीनानां वर्चो विज्ञानमा ददे। अस्याः सर्वस्याः संसदो मामिन्द्र भगिनं कृणु ॥३॥

पदानि- एषाम्। अहम्। सम्ऽआसीनानाम्। वर्चः। विऽज्ञानम्। आ। ददे। अस्याः। सर्वस्याः। सम्ऽसदः। माम्। इन्द्र। भगिनम्। कृणु ॥३॥

अन्वयः-अहं एषां समासीनानां वर्चः विज्ञानं आ ददे। हे इन्द्र! अस्याः सर्वस्याः संसदः मां भगिनं कृणु ॥३॥

अर्थ- (अहं) मैं (एषां समासीनानां) इन सब बैठे हुए सभासदों से (वर्चः) तेज और (विज्ञानं) विशेष ज्ञान (आददे) स्वीकारता हूं। हे इन्द्र! (अस्याः) इस (सर्वस्याः) सब (संसदः) सभाका (मां) मुझे (भगिनं) भागी (कृणु) कर ॥३॥

भावार्थ- मैं (राजा) इन सब सभासदों से राज्य-व्यवहार का ज्ञान और बल प्राप्त करता हूं। हे प्रभो! इस संपूर्ण सभा का मुझे सहभागी बना।

मन्त्रस्थ पदोंका अर्थ।

१ सं-आसीन (समासीन) = मिलकर बैठे हुए सभासद।

२ वर्चस् = तेज, बल, सामर्थ्य।

३ विज्ञानं = विशेष ज्ञान

४ संसद् = सभा, परिषद।

५ भगिन्=भागिन् सहभागी, सभासदत्वके अधिकारसे युक्त

(अहं आददे) I take (वर्चः) the splendour and (विज्ञानं) knowledge (एषां समासीनानां) from these men seated here. O (इन्द्र) Lord! (कृणु) make (मां) me (भगिनं) partner (अस्याः सर्वस्याः) of this whole (संसदः) gathering, or assembly.

यद्वो मनः परागतं यद् बद्धमिह वेह वा। तद् व आ वर्तयामसि मयि वो रमतां मनः ॥४॥

पदानि- यत्। वः। मनः। पराऽगतम्। यत्। बद्धम्। इह। वा। इह। वा। तत्। वः। आ। वर्तयामसि। मयि। वः। रमताम्। मनः ॥४॥

अन्वयः-वः यत् मनः परागतं, यत् वा इह वा इह वा बद्धं, वः तत् आवर्तयामसि, वः मनः मयि रमताम् ॥४॥

अर्थ- (वः) आपका (यत् मनः) जो मन (परागतं) दूर गया है, अथवा (इह वा इह वा) यहां किंवा वहां (बद्धं) बंधा रहा है, (वः) आपका (तत्) वह मन मैं (आवर्तयामसि) लौटा लाता हूं, वापस लाता हूं। वह (वः मनः) आपका मन (मयि) मुझपर (रमतां) रममाण होवे ॥४॥

भावार्थ- राष्ट्र-सभा के सभासदों का मन दूर दूरके विचारोंमें लगा हो, अथवा किसी पास की बातमें लगा रहा हो, वह सभा के समय सभा के विषयमें हि लगा रहे, राजा के कर्मपरहि वह स्थिर होवे।

मन्त्रस्थ पदोंका अर्थ।

१ परागतं = दूर गया, दूर भागा हुआ।

२ बद्धं = बंधा हुआ।

३ आवृत् = वापस लाना।

४ रम् = रममाण होना, आनंदित होना।

(यत्) Whether (वः मनः) your mind (परागतं) is gone away or (बद्धं) is bound either (इह वा) here or (इह वा) here, we (आवर्तयामसि) turn (तत्) that mind (वः) of yours, hither again. Let (वः) your (मनः) mind (रमतां) be diligted (मयि) in me.

इस सूक्त के सुभाषित।

१ सभा च मा समितिश्चावताम् = ग्रामसभा और राष्ट्रसमिति राजा की सुरक्षा करें, (क्योंकि राजाकी रक्षा करना अथवा न करना इनका ही कार्य है।)

२ प्रजपतेर्दुहितरौ (सभा च समितिश्च) = ग्रामसभा और राष्ट्रीय सभा ये दोनों राजाकी दुहिताएं

हैं, पुत्रीवत् पालन करने योग्य हैं। (क्योंकि राष्ट्र की सुरक्षा इनके द्वारा होती है।)

३ येना संगच्छा उप मा स शिक्षात् = जिस सभासदसे मिले वह सभासद राजाको योग्य शिक्षा देवे। (सभाओं का सदस्य न डरता हुआ राजाको योग्य संमति देवे।)

४ चारु वदानि संगतेषु = सभाओं में उत्तम और शुभ भाषण करें।

५ सभे ! नरिष्टा नाम वा असि = सभा का नाम नरिष्टा है, (क्योंकि सभा ही राजा और प्रजा का हित करती है।)

६ ये सभासदस्ते मे सन्तु सवाचसः = जो सभासद हैं वे समान भावसे बोलें, (वे न डरें, न असत्य बोलें, जो योग्य और उचित है वही बोलें।)

७ एषां समासीनानां वर्चो विज्ञानमा ददे = इन सभासदों से ज्ञान और तेज मैं प्राप्त करता हूं (राजाको सभा के सदस्यों से हि राज्यव्यवहार का सत्य ज्ञान मिलता है)

८ अस्याः संसदः मां भगिनं कृणु = इस सभा का मुझे भागी कर (अर्थात् ऐसे सभा का मैं सदस्य होऊं, सभामें मुझे प्रवेश मिले।)

आत्मविद्या।

[अथर्व० ४।२।१ (ऋ० १०।१२१)]

(ऋषिः-वेनः। देवता-आत्मा। छन्दः-त्रिष्टुप, ६ पुर उष्णिक्, ७ उपरिष्टाज्ज्योतिः)

य आत्मदा बलदा यस्य विश्वे उपासते प्रशिषं यस्य देवाः। योऽ३स्येशे द्विपदो यश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥१॥

पदानि- यः। आत्मऽदाः। बलऽदाः। यस्य। विश्वे। उपऽआसते। प्रऽशिषम्। यस्य। देवाः। यः। अस्य। ईशे। द्विऽपदः। यः। चतुःऽपदः। कस्मै। देवाय। हविषा विधेम ॥१॥

अन्वयः-- कस्मै देवाय हविषा विधेम? यः आत्मदाः, बलदाः, । विश्वे देवाः यस्य प्रशिषं उपासते। यः अस्य द्विपदः चतुष्पदः ईशे।

अर्थ— (कस्मै देवाय) किस देवताके लिये हम (हविषा) हवि से पूजा (विधेम) करें? (यः) जो देव (आत्म-दाः) आत्मा का दान करनेवाला है, जो (बल-दाः)बलका दान करनेवाला है, तथा (विश्वे) सब (देवाः) देव (यस्य प्रशिषं) जिसकी आज्ञा (उपासते) मानते हैं। (अस्य द्विपदः चतुष्पदः) इस द्विपाद और चतुष्पादोंका (यः ईशे) जो स्वामी है।

भावार्थ— जो सबको आत्मा देता है और बल देता है, जिसकी आज्ञा सब सूर्यादि देवतागण पालन करते हैं, और जो द्विपादों और चतुष्पादोंका एक मात्र स्वामी है, उसकी उपासना हम सब करें।

मन्त्रस्थ पदोंका अर्थ।

१. आत्मदाः = आत्मा का दाता, जीवन देनेवाला।
२. बलदाः = बल देनेवाला।
३. प्रशिष् = आज्ञा, संदेश।

ऋग्वेद का पाठ- "य ईशे अस्य द्विपदः०" (ऋ० १०।१२१।३।२)

य आत्मदा० (ऋ. १।१२१।२।१) वा. य. २५।१३,११

To (कस्मै देवाय) what God (विधेम) may we make worship (हविषा) with oblation? He (यः आत्मदाः) who is giver of soul, who is (बलदाः) giver of strength and vigour, (यस्य प्रशिषं) whose commandment (विश्वे देवाः) all deities (उपासते) wait upon, (यः) who is (ईशे) Lord of (अस्य) this (द्विपदः) bipeds & (चतुष्पदः) of quadrupeds.

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव। यस्य च्छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥२॥

पदानि– यः । प्राणतः । निऽमिषतः । महिऽत्वा । एकः । राजा । जगतः । बभूव । यस्य । छाया । अमृतम् । यस्य । मृत्युः । कस्मै । देवाय । हविषा । विधेम ॥२॥

अन्वयः– कस्मै देवाय हविषा विधेम ? यः प्राणतः निमिषतः जगतः महित्वा एकः राजा बभूव । यस्य छाया अमृतं, यस्य [अ–छाया] मृत्युः ।

अर्थ- किस देवता के लिये हम हविसमर्पणसे पूजा करें ? (यः) जो (प्राणतः) श्वास लेनेवाले और (निमिषतः) आंखोंकी पलकें मूंदनेवाले (जगतः) जगत् का (महित्वा) अपनी महिमासे (एकः राजा) एक मात्र राजा हो चुका है, (यस्य छाया) जिसकी छाया ही (अमृतं) अमरपन है और (यस्य [अच्छाया]) जिसका आश्रय न करना ही (मृत्युः) मरण है ।

भावार्थ- इस जगत् में श्वासोच्छ्वास करनेवाले और आंखे खोलनेवाले और मूंदनेवाले जो जंगम प्राणी हैं, उन सबका जो एकमात्र प्रभु अपनी शक्तिसे हुआ है, जिसकी शांत छाया में रहना ही अमरत्व प्राप्त करना है और जिसकी छायासे दूर होना ही मृत्यु प्राप्त करना है, उस एकमात्र प्रभु की हि उपासना करना हम सबको उचित है ॥२॥

मंत्रस्थ पदोंका अर्थ ।

१ प्राणत् = श्वासोच्छ्वास करनेवाला। २ निमिषत् = आंखें खोलने मूंदनेवाला । ३ महित्वा = महिमासे, महत्त्वसे। ४ छाया = छांव, आश्रय, आधार। ५ अमृतं = अमरत्व, अविनाश, अमर होना ।

(कस्मै देवाय हविषा विधेम ?) To what God may we make worship by oblation ? (यः) Who (महित्वा) by his greatness (बभूव) hath become (एकः राजा) sole Ruler (प्राणतः) of breathing and (निमिषतः) winking (जगतः) moving creation, (यस्य छाया) whose cool shade, protection, is (अमृतं) immortality, and (यस्य) whose nonprotection is (मृत्युः) death.

पाठभेद ।

'यः प्राणतो निमिषतश्च राजा पतिर्विश्वस्य जगतो बभूव ।' (मैत्रायणी सं०)
'यः प्राणतो निमिषतो विधर्ता पतिर्विश्वस्य जगतो बभूव' । (पिप्पलाद अथर्व सं०)

यं क्रन्दसी अवतश्चस्कभाने भियसाने रोदसी अह्वयेथाम् । यस्यासौ पन्था रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥३॥

पदानि– यम् । क्रन्दसी इति । अवतः । चस्कभाने इति । भियसाने इति । रोदसी इति । अह्वयेथाम् । यस्य । असौ । पन्थाः । रजसः । विमानः । कस्मै । देवाय । हविषा । विधेम ॥३॥

अन्वयः– कस्मै देवाय हविषा विधेम? चस्कभाने क्रन्दसी यं अवतः, भियसाने रोदसी यं अह्वयेथाम्; यस्य असौ रजसः पन्थाः विमानः ।

अर्थ– (कस्मै देवाय हविषा विधेम) किस देवता के लिये हम हविसे पूजा करें ? (चस्कभाने) स्थिर किये गये (क्रन्दसी) द्युलोक और भूलोक (यं अवतः) जिसका आश्रय लिये खडे हैं, (भियसाने) भयसे डरनेवाले (रोदसी) द्युलोक और भूलोक (यं अह्वयेथां) जिसको पुकारते हैं, (यस्य) जिस का (असौ रजसः पन्थाः) यह रजोमार्ग (विमानः) विशेष प्रकारसे संमानित है ।

भावार्थ– जिससे सुरक्षा प्राप्त कर ये आकाश और भूमि अपने अपने स्थान में सुस्थिर हुए हैं, भूमि और आकाश भय के समय जिसका आश्रय लेने के लिये जिसकी सहायता चाहते

हैं और जिसके पास पहुंचने का यह रजोमार्ग निश्चित हुआ है, उस देवता की पूजा सबको करने योग्य है।

मन्त्रस्थ पदोंका अर्थ।

१. **क्रन्दसी**=आक्रोश करनेवाले, गर्जना करनेवाले।
२. **अव्**=रक्षा करना।
३. **तस्तभाने**= स्थिर हुए, सुदृढ बने हुए।
४. **भियसाने**= डरनेवाले, भयभीत।
५. **रोदसी**= रोनेवाले भयभीत द्युलोक और भूलोक।
६. **अह्वे** = पुकारना।
७. **रजस्**= धूली, रजोगुण, प्रकाशवाला।
८. **विमानः** = विशेष मानने योग्य, आकाश स्थानीय विमान के समान तारण करनेवाला।

(कस्मै देवाय हविषा विधेम) To what God may we make worship with oblation? (यं) To whom (तस्तभाने क्रन्दसी) both the fixed spheres (अवतः) look for protection, (यं) whom both (भियसाने) the terrified (रोदसी) firmaments (अह्वयेथां) invoke, (यस्य) whose is (असौ पन्थाः) this path that (विमानः) measures out (रजसः) the mid region.

पाठभेद।

'यं क्रन्दसी अवसा तस्तभाने अभ्यैक्षेतां मनसा रेजमाने (ऋ० १०।१२१।६; वा० य० ३२।६)
यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः ॥
(ऋ० १०।१२१।५; वा० य० ३२।६)

य इमे द्यावा पृथिवी तस्तभाना अधा यद्रोदसी रेजमाने। (पिप्पलाद अ० सं०)

यस्य द्यौरुर्वी पृथिवी च मही यस्याद उर्व१न्तरिक्षम्। यस्यासौ सूरो विततो महित्वा कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥४॥

पदानि-- यस्य। द्यौः। उर्वी। पृथिवी। च। मही। यस्य। अदः। उरु। अन्तरिक्षम्। यस्य। असौ। सूरः। विऽततः। महिऽत्वा। कस्मै। देवाय। हविषा। विधेम ॥

अन्वयः— कस्मै देवाय हविषा विधेम? यस्य महित्वा द्यौः उर्वी, पृथिवी च मही, यस्य महित्वा च अदः, अन्तरिक्षं उरु, यस्य महित्वा असौ सूरः विततः।

अर्थ—(कस्मै) किस (देवाय) देवता के लिये हम (हविषा) हवि समर्पण से पूजा (विधेम) करें? (यस्य महित्वा) जिसकी महिमासे (द्यौः) यह आकाश (उर्वी) बडा हुआ है, (पृथिवी च मही) यह पृथ्वी बहुत बडी हुई है, तथा (यस्य) जिसकी महिमासे (अदः अन्तरिक्षं) यह अन्तरिक्ष (उरु) बडा विशाल हुआ है, तथा (यस्य महित्वा) जिस की महिमासे (असौ सूरः) यह सूर्य (विततः) प्रकाश फैला रहा है।

भावार्थ—जिस के सामर्थ्य से आकाश अन्तरिक्ष और पृथ्वी ये तीनों पर्याप्त बडे और विस्तृत हुए हैं, और जिसकी शक्तिसे यह सूर्य चारों ओर अपना प्रकाश फैलाता है, उस प्रभुकी उपासना सबको करनी चाहिये।

मन्त्रस्थ पदोंके अर्थ।

१. **द्यौः** = आकाश। २. **उर्वी** = बडी। ३. **उरु** = बडा। ४. **अन्तरिक्षं** = मध्य अवकाश, अन्तराल। ५. **सूरः** = सूर्य। ६. **विततः** = विशेष फैला हुआ।

(कस्मै देवाय हविषा विधेम) To what God may we make worship by oblation? (यस्य) Whose is the (उर्वी) spacious (द्यौ) heaven, the (मही) great (पृथिवी) earth and (यस्य) whose is (अदः) this (उरु) wide (अन्तरिक्षं) atmosphere and (यस्य) by whose (महित्वा) grandeur (असौ सूरः) this Sun is (विततः) so extended.

स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा) की हिंदी पुस्तकें ।

	मू.	डा०व्य०
१ ऋग्वेद-संहिता	५)	१)
२ यजुर्वेद-संहिता	२)	॥)
३ सामवेद (छप रहा है)	३)	॥)
४ अथर्ववेद	३)	॥)
महाभारत आदिपर्व	६)	१।)
" सभापर्व	२॥)	॥)
संस्कृतपाठमाला ।	६॥)	१॥=)
वै. यज्ञसंस्था भाग १	१)	।)
अथर्ववेदका सुबोध भाष्य ।		
१ प्रथम काण्ड सजिल्द	२)	॥)
२ द्वितीय काण्ड ,,	३)	॥)
३ तृतीय काण्ड ,,	२)	॥)
४ चतुर्थ काण्ड ,,	२)	॥)
५ पंचम काण्ड ,,	२)	॥)
६ षष्ठ काण्ड ,,	२)	॥)
७ सप्तम काण्ड ,,	२)	॥)
८ अष्टम काण्ड ,,	२)	॥)
९ नवम काण्ड ,,	२)	॥)
१० दशम काण्ड ,,	२)	॥)
११ एकादश काण्ड ,,	२)	॥)
१२ द्वादश काण्ड ,,	२)	॥)
१३ त्रयोदश काण्ड ,,	१)	॥)
१४ चतुर्दश काण्ड ,,	१)	॥)
१५ १५ से १८ तक ४ काण्ड	२॥)	॥)
छूत और अछूत	१॥।)	॥)
भगवद्गीता (पुरुषार्थबोधिनी)	९)	१॥।)
महाभारतसमालोचना । (१-२)	(१)	॥)
वेदस्वयंशिक्षक भा. १-२	३)	॥।)
१ संध्योपासना ।	१॥)	।-)
२ योगके आसन । (सचित्र)	२)	।≡)
३ ब्रह्मचर्य ।	१)	।-)
४ सूर्यभेदन-व्यायाम (,,)	॥)	॥)
५ योगसाधनकी तैयारी ।	॥।)	॥)
यजु. अ. ३६ शांतिका उपाय	॥=)	≡)
शतपथबोधामृत	।)	-)

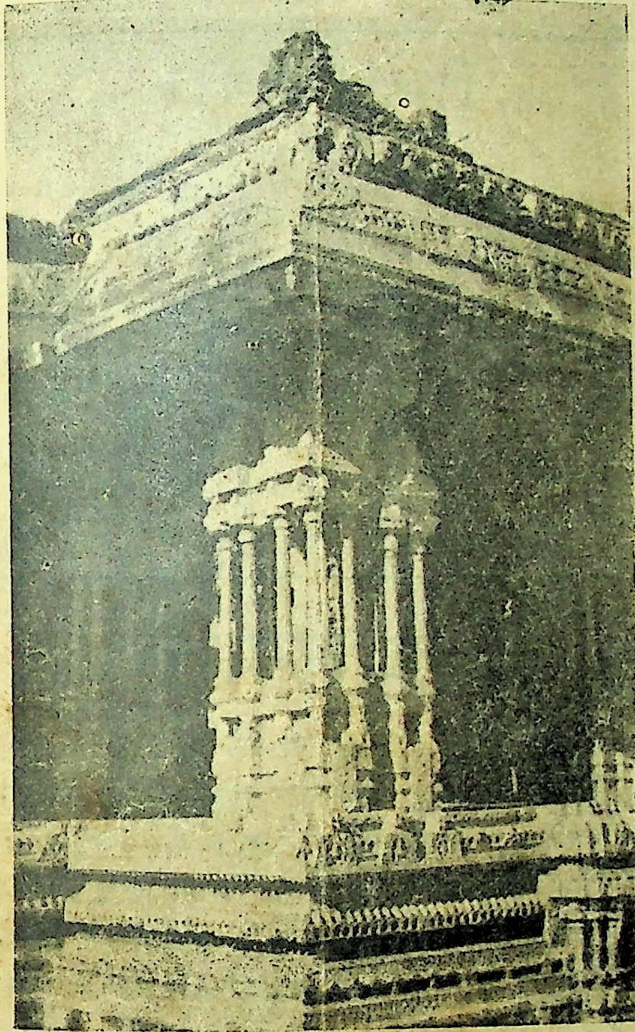
देवतापरिचय-ग्रंथमाला ।		
१ रुद्रदेवतापरिचय	॥)	=)
२ ऋग्वेदमें रुद्रदेवता	॥=)	=)
३ देवताविचार	≡)	-)
४ अग्निविद्या	१॥)	-)
बालकधर्मशिक्षा ।		
१ प्रथम भाग।	-)	-)
२ द्वितीय भाग	=)	-)
३ वैदिक पाठमाला। प्रथम पुस्तक	≡)	-)
आगमनिबंधमाला ।		
१ वैदिक राज्यपद्धति ।	।)	-)
२ मानवी आयुष्य ।	।)	-)
३ वैदिक सभ्यता ।	।॥)	=)
४ वैदिक चिकित्साशास्त्र	।=)	-)
५ वैदिक स्वराज्यकी महिमा	॥)	=)
६ वैदिक सर्पविद्या ।	॥)	=)
७ मृत्युको दूर करनेका उपाय।	॥)	=)
८ शिवसंकल्पका विजय ।	॥)	=)
९ वेदमें चर्खा ।	॥)	=)
१० वैदिक धर्मकी विशेषता	॥)	=)
११ तर्कसे वेदका अर्थ	॥)	=)
१२ वेदमें रोगजंतुशास्त्र	≡)	-)
१३ वेदमें लोहेके कारखाने	।-)	-)
१४ वेदमें कृषिविद्या	≡)	-)
१५ ब्रह्मचर्यका विघ्न	=)	-)
१६ इंद्रशक्तिका विकास	॥)	=)
उपनिषद् माला। १ ईशोपनिषद्	१)	।-)
२ केन उपनिषद्	१।)	।-)
१ वैदिकअध्यात्मविद्या	॥)	=)
२ गीता-लेखमाला १से७भाग	५॥)	१॥)
३ गीता-समीक्षा	=)	-)
४ यज्ञोपवीत संस्काररहस्य	१॥)	॥)
५ भगवद्गीता (प्रथम भाग) (मायानन्दी भाष्य)	१)	॥)
६ भक्तके भगवान	॥)	=)
७ वेदोक्त प्रजननशास्त्र	॥।)	-)

Regd. No. B. 1463

मुद्रक और प्रकाशक— व० श्री० सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध

वैदिक धर्म ।

जौलाई १९४०
ज्येष्ठ सं० १९९६



विजयनगरका विठ्ठल-स्वामीका मंदिर।

वैदिक धर्म ।

[मासिक पत्र]

संपादक
पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

सहसंपादक
पं० तडित्कान्तजी वेदालंकार

स्वाध्याय-मण्डल, औन्ध

वार्षिक मूल्य म. आ. से ५) रु. वी. पी. से ५।।) रु. विदेशके लिये ६।।) रु.

वर्ष २१] [अङ्क ७

विषयानुक्रमणिका

वैदिकधर्म

क्रमाङ्क २४७

वर्ष २१ : : : : अङ्क ७

ज्येष्ठ संवत् १९९७

जोलाई १९४०

शत्रुका पराजय।

विहृदयं वैमनस्यं वद अमित्रेषु दुन्दुभे।
विद्वेषं कश्मशं भयं अमित्रेषु निदध्मसि
अवैनान् दुन्दुभे जहि ॥ १ ॥

(अथर्ववेद ५।२१।१)

"हे दुन्दुभे! शत्रुओंमें हृदयका निरुत्साह और आपसका वैर उत्पन्न करने के लिये शब्द कर; हम शत्रु-सैन्य में आपसका मतभेद, हृदय का उत्साहभंग और भय उत्पन्न करते हैं; हे दुन्दुभे! शत्रुका पराभव करके उनको भगाओ।"

अपने सैन्य के ढोल बजते ही शत्रुकी सेनामें भय उत्पन्न होना चाहिये, शत्रुकी दिशाभूल होनी चाहिये, और शत्रुके सैनिकोंको कहां जाय और क्या करें इस विषयमें भ्रम होना चाहिये। अपने सेना का युद्धकौशल्य ऐसा होना चाहिये।

दैवत संहिता और याज्ञिक संहिता।



दैवत संहिता के सम्बन्धमें ग्राहक बडी आतुरता से पूछ रहे हैं, अतः इस लेखद्वारा उनको कहा जाता है कि प्रथम भाग के मंत्रों की सूचियां छप रहीं हैं और अगले महिनेमें वह भाग तैयार होगा, तब ग्राहकों के पास भेजा जायगा।

यजुर्वेदकी चार संहिताएं।

यजुर्वेद ही वैदिक धर्म का यज्ञशास्त्र है। और वैदिक धर्मका प्राणहि यज्ञ है। ये यज्ञ यजुर्वेद से सिद्ध होने वाले हैं। यज्ञ कितने हैं, यज्ञोंका समाज के धारणपोषणके साथ क्या सम्बन्ध है, प्रत्येक यज्ञसे क्या क्या लाभ हो सकते हैं, यज्ञ कैसे करने चाहिये, इत्यादि विषय खोज होने वाले हैं। इस समयमें इस विषय का ज्ञाता एक भी नहीं है। यज्ञों पर व्याख्यान देनेवाले बहुत हैं, पर विधि-पूर्वक यज्ञ का साङ्गोपाङ्ग विचार जिसने किया है और जिसको यज्ञविधि का समग्र ज्ञान है; ऐसा कोई भी इस समय नहीं है।

यजुर्वेद की संहिताओं का उत्तम अध्ययन करने से ही यह यज्ञविद्या विदित हो सकती है। दूसरा कोई मार्ग इसको जानने के लिये नहीं। आजकल **माध्यंदिन, काण्व, तैत्तिरीय, काठक, मैत्रायणी और कापिष्ठल** इतनी यजुर्वेद की संहिताएं मिलती हैं, करीब सौ अन्य संहिताएं नष्ट हो चुकी हैं। उनकी अब प्राप्ति भी नहीं हो सकती है। अतः जो उक्त छः संहिताएं हैं उनका शुद्ध मुद्रण करना अत्यंत आवश्यक है।

इसीलिये हमने यजुर्वेदकी उक्त संहिताएं छापने का कार्य शुरू किया है। पहिली दो यजुर्वेद की संहिताएं छपकर तैयार हो चुकी हैं और आगे की संहिताओं की छपाई चल रही है। ये सब संहिताएं इस एक ही वर्ष में छापकर तैयार करने का संकल्प किया है। जितनी शीघ्रता होगी उतनी करके हम इन सबका मुद्रण शीघ्रही करेंगे।

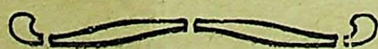
दैवत संहिता और याज्ञिक संहिता।

जैसी अन्य वेदोंकी **दैवत संहिता** बन रही और छप रही है, उसी प्रकार यजुर्वेद के मन्त्रभागों की **याज्ञिक संहिता** बनाने का विचार है, जो दैवतसंहिता के पश्चात् छप जायगी। याज्ञिक संहिता बनने में जो कठिनता है, वह यह है कि यजुर्वेद के मंत्रों के टुकडे कैसे और कितने होते हैं, इस विषय में ब्राह्मणादि ग्रंथोंमें भी मत-भेद बहुतहि है। यजुर्वेद के पुस्तकों में जिसको एक मंत्र लिखा होता है वह संपूर्ण एकहि मन्त्र नहीं होता, वह कई मन्त्रभागों की कंडिका होती है। शतपथादि ब्राह्मणों में एक एक कंडिकामें कितने मन्त्र हैं, उनकी गणना की है। उसके अनुसार संपूर्ण यजुर्वेद के मन्त्रों की गणना करना और उनको प्रकरणानुसार जोड देना, यह एक बडा भारी कार्य हमारे सामने है। जब तक सब यजुर्वेद-संहिताएं छपकर तैयार नहीं होती, तब तक यह कार्य उत्तम रीतिसे होना संभव नहीं है।

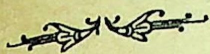
जब यजुर्वेद की प्रत्येक कण्डिका में कितने मन्त्रभाग हैं, इसका यथार्थ निर्णय होगा, तब आगे का कार्य सुगम होगा। इस सब का विचार करने के लिये हमारे पास सब यजुर्वेद के पुस्तक उत्तम छपकर तैयार होने चाहिये और उनकी समग्रसूचियां भी बननी चाहिये। इन मूल संहिताओं के मंत्रों को इन सब शाखासंहिताओंमें देखनेसे कंडिका के विभागों का पता आपहि आप लग जाता है।

इसलिये पाठकोंसे निवेदन है कि वे इन यजुर्वेद की संहिताओं के ग्राहक बनें और यजुर्वेद-मुद्रण की सहायता करें।

(इसका विज्ञापन पृष्ठ ३४८ पर देखो)



विवाहका वैदिक सन्देश।



अथर्ववेदके चतुर्दश काण्डमें विवाहकी वैदिक कल्पना और वैदिक विवाहपद्धति दर्शायी है। जो पाठक हमारी विवाह-पद्धतिका विचार करना चाहते हैं, वे इन दो सूक्तोंका विशेष मनन करें। प्रथम सूक्तके प्रारम्भके पांच मंत्रों में केवल सामान्य उपदेश है। उनमें वर्णन तो सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, पृथ्वी और सोम आदिका है, परंतु इन देवताओंका वर्णन करते करते विवाहका तथा पतिपत्नीका आदर्श बताया है, देखिये—

द्यौः और भूमि।

प्रथममंत्रमें भूमि का पत्नीके स्थानपर और सूर्य अथवा द्युलोक का पतिके स्थानपर वर्णन किया गया है। मानो सबकी माता पृथ्वी है और सबका पिता सूर्य है। यह सब संसार मानो पृथ्वी और सूर्यरूपी माबाप की संतान है। जितने भी संसारके मनुष्य या पशुपक्षी हैं, वे सब एकही परिवारके के हैं। संपूर्ण मनुष्योंमें भाईभाईका नाता है। पति का आदर्श सूर्य है या द्युलोक है। द्युलोक वह है जो खगोल है, सदा प्रकाशित है। वह सबको प्रकाश देता है। इसी प्रकार पति अपने परिवारको उत्तम ज्ञानका प्रकाश देवे और सब संतानोंको ज्ञानवान् करे और जैसे भूमि सबको आधार देती है, फल और अन्न देकर सबकी तृप्ति करती है, उसी तरह माता सब संतानको अपने प्रेमका आधार दे, और सबको खानपानद्वारा योग्य रीतिसे पुष्ट रखे। इस तरहसे विचार करते हुए द्यावाभूमी के आदर्शका मनन करनेसे स्त्रीपुरुष के अथवा पतिपत्नी के आदर्श उपदेश इस मंत्रोंसे स्पष्ट रीतिसे ज्ञात हो सकते हैं।

गृहस्थधर्म का आधार सत्य है, यह बात, इस सूक्तका प्रारंभ 'सत्य' शब्द द्वारा करके बतायी है। स्त्रीपुरुष के व्यवहार सत्यकी मर्यादासे ही होने चाहिए। उनमें असत्य, कपट, छल आदि कभी न आने चाहिए। इसीसे आदर्श गृहस्थधर्म हो सकता है। दूसरा बल 'ऋत' है। ऋतका अर्थ सरलता है। सत्य और ऋत ये दोही उन्नतिके नियम हैं। सब धर्मनियमोंके यही सार हैं। ऋत और सत्यको छोडकर कोई धर्म धर्म करके रह नहीं सकता।

सोम।

द्वितीय मंत्रमें 'सोम' के माहात्म्यका वर्णन किया गया है। यह सोम स्वर्गमें है, पृथ्वीपर है और नक्षत्रों में भी है। पाठक जान सकते हैं, कि जो सोम नक्षत्रों में है, वह चन्द्र ही है। वह सब नक्षत्रोंकी शोभा बढाता है, रात्रीके समय उसकी अवर्णनीय शोभा होती है। वह शान्तिका आदर्श है। मनुष्य इस शान्तिके आदर्शको सदा मनमें धारण करता हुआ शान्त रहें, क्रूरता अशांति आदि दुर्गुणोंको दूर रखें। यह आदर्श सोमद्वारा पतिके लिये इस मंत्रमें दर्शाया हुआ है।

पृथ्वीपर भी 'सोम' है, यहां सोमका अर्थ 'वनस्पति तथा अन्न' है। आकाशके सोमका यह पृथ्वीपर रहनेवाला सोम प्रतिनिधि है। यह पृथ्वीपर रहनेवाले मनुष्यों और पशुपक्षियों की तृप्ति करता है। पाठक यहां पृथ्वीपर के सोमको और आकाशके सोमको यथावत् समझ लें, क्योंकि दोनोंके नाम सोम हैं, परंतु वे दोनों एक नहीं। सोमके अनेक अर्थ हैं और सोम शब्दद्वारा वेदमें अनेक पदार्थोंका बोध होता है। अतः सर्वत्र सोम शब्दसे एकही पदार्थका बोध मानना ठीक नहीं।

आगे तृतीय मंत्रके पूर्वार्ध सोमरसके पान करनेका वर्णन है। यह सोमपान यज्ञमें होता है, इसको सब जानतेहि हैं। परंतु इसी मंत्रके उत्तरार्ध में विशेष अर्थमें सोमपानका उल्लेख है। वहां कहा है कि "जो सोमपान ब्रह्मज्ञानी पीते हैं, वह सोमपान कोई अन्य मनुष्य कर नहीं सकता।" यहांका सोमपान ब्रह्मानंदका पान है, जो ब्रह्मज्ञानीहि कर सकता है। यह भी सोम है। यही परमात्माका अखंड आनंदका रस है। परमात्माको एकरस कहते ही हैं। यही अन्तिम और अतिश्रेष्ठ सोमपान है। धर्म मनुष्यको इसी सोमपानके लिये योग्य बनाता है। साधारण

मनुष्य इस सोमपानको कर नहीं सकता, क्योंकि विशेष उच्च अवस्था प्राप्त होनेपर ही यह सोमपान किया जाना संभव है ।

पाठक यहां देखें कि परमात्मा के अखंडानन्दरस-रूप सोमके विचार के साथ साथ वनस्पति सोम के भी अनेक विचार वेदने यहां बताये हैं । इनमें सब प्रकार के सोम आ जाते हैं । इस प्रकार यह सोमपान का माहात्म्य है । इसका वर्णन यहां करनेका उद्देश यह है कि गृहस्थी लोग अपने घरमें सोमपान करें । साधारणतया सोमपानका अर्थ है औषधिरसका सेवन करना । गृहस्थियों का वह अन्न है । वनस्पति, धान्य, फल, साक आदिकाही सेवन गृहस्थियों के परिवारों में होना चाहिए । मांस, रक्त, अण्डे आदिका नहीं । पृथ्वी माता जिस सोमरससे सबकी पुष्टि कर रही है, वह यही वानस्पत्य सोम है । यहां गृहस्थधर्म में रहनेवालों को वानस्पत्यान्न ही खाना चाहिये, यह बात कही है ।

ऋषि मुनि साधु संत आदि अपनी आध्यात्मिक उन्नति करते हुए परमात्मा के आनंदका रसपान करते हैं, अतः वह भी सोमपान ही है। उसकी योग्यता सर्वसाधारण गृहस्थियों में नहीं होती । गृहस्थाश्रम का धर्म मनुष्य को उस योग्य बनाता है । अर्थात् गृहस्थाश्रम के धर्मका योग्य रीतिसे पालन करनेपर वानप्रस्थाश्रमधर्म के पालन-द्वारा संन्यासाश्रम में मनुष्य के अन्दर यह योग्यता आ सकती है । परन्तु यह गृहस्थाश्रम से आगे चलकर साध्य होनेवाली है, ऐसा सूचित करनेके लिये और गृहस्थियों की जबाबदारी बतानेके उद्देश्यसे ये सब प्रकार के सोमपान यहां इन मंत्रों में बताये हैं ।

बरात का रथ ।

अगले मन्त्र ६ से १२ तक में बरातके रथका वर्णन है । यह सब आलंकारिक वर्णन है । यह तो मनका ही काल्पनिक (अनो मनस्मयं । मं० १२; तथा ' मनो अस्या अन आसीत् । मं० १०) रथ है । तथापि इस काल्पनिक रथका वर्णन इसलिये दिया गया है कि मनुष्य विवाहके समय ऐसे उत्तम रथ बनाकर बरात निकालें और वधूको पतिके घर बडी सजावट व शानसे ले आयें । बरातका रथ कैसा होना चाहिए, इस विषय में इन मन्त्रों का वर्णन देखने योग्य है ।

बरात के रथका थोडासा नमूना पाठकों को यहां दिखाते हैं । जब (सूर्यां पतिं अयात्) सूर्य की पुत्री अपने पतिके घर जाने लगी तब जिस प्रकार के सुंदर रथपर वह बैठकर जा रही थी वैसाही रथ सब पुत्रियों के विवाह के समय रखना चाहिए । देखिये- उस समय (उपबर्हणं । मं० ६) रथ में उत्तम तकिया था, स्त्रियोंने अपनी आंखोंमें (आञ्जनं) कज्जल लगाया हुआ था, पर्याप्त (कोशः) धन साथ लिया था । यह धन आभूषण या मुद्रारूप में हो । परन्तु हो वह इस रथके साथ । जब रथ चलने लगा तब सब लोगोंने (अनुदेयी । मं० ७) अनुकूल आशीर्वाद दिये, सब लोगोंने वधूकी प्रशंसा (नाराशंसी) की । इस तरह सब वायुमंडल अनुकूल बन गया था । उस मंडली में एक भी मनुष्य इनके न ही प्रतिकूल था और न ही कोई विरोध करनेवाला था । सब आनन्दप्रसन्न थे और सभी वधूवर का हित एकचित्त से चाहनेवाले थे ।

(भद्रं वासः) उस समय सूर्या का वस्त्र उत्तम था। वह बहुत ही सुंदर था । वधूके साथ की सब स्त्रियें भी ऐसे ही सुंदर वस्त्रों से युक्त थीं ।

उस बरात में आगे आगे उत्तम गायक थे। वे सुंदर छंदोंमें और मधुर स्वर में मंगल पद्य गाते हुए आगे चल रहे थे। सबसे आगे दो वैद्य चल रहे थे, जिनके साथ अग्नि मार्गदर्शक के तौरपर था । उसीके प्रकाश में वह बरात जा रही थी ।

जिस रथ में वधू बैठी थी, उसपर सुंदर छत था। मंदिर जैसा उसका शिखर था। वह अंदरसे सुंदर आकाशके समान सुंदर दिखाई देता (द्यौः छदिः । मं० १०) था । दो श्वेत बैल (शुक्रौ अनड्वाहौ) उस में जुते हुए थे । वह बरात सोमके घर वापस जा रही थी । क्यों कि सोम सूर्या का पति था । सोमके साथ सूर्या की मंगनी होकर और उसीके साथ सूर्या का विवाह हुआ था ।

जब सोमने मंगनी की थी, उस समय वहां दोनों अश्विनीकुमार देवोंके वैद्य मौजूद थे । अर्थात् वैद्योंके सामने यह मंगनी हुई थी और जिसका स्वीकार सूर्याके पिताने किया था ।

सूर्यां यत् पत्ये शंसन्तीं मनसा सवितादददात् ।
(मं० ९)

" सविताने पतिके विषय में पूज्यभाव रखनेवाली अपनी कन्या सूर्यांका दान पतिके हाथ में मनसे (सोच समझकर) किया था। यहांपर सविता अपनी पुत्रीको पतिके हाथमें दान करता है, ऐसा वर्णन है। वेदने यह ब्राह्म विवाहका आदर्श वैदिक धर्मियों के सम्मुख रखा है। इसमें वधूका पिता अपनी कन्याका दान करता है और इस दान-विधिसे कन्या वरको प्राप्त होती है। यहां गांधर्व विवाह का आदर्श वेदने वैदिक धर्मियों के सामने नहीं रखा। वर अपने लिये वधूकी मंगनी करता है, वधूका पिता उस मंगनीका स्वीकार करता है और सुमुहूर्तपर अपनी पुत्रीका दान करता है। इससे स्पष्ट है कि कन्यापर अधिकार पहिले पिता का होता है और इस कन्यादान-विधिसे कन्यादानके पश्चात् पति का अधिकार होता है। वैदिक धर्म की दृष्टि से स्त्री स्वतंत्र अर्थात् स्वेच्छाचारी नहीं होनी चाहिए। या तो वह पिता के अधिकार में रहे अथवा पतिके अधीन रहे। इन दोनोंकी अनुपस्थिति में वह ज्येष्ठ पुत्र, भाई या अन्य श्रेष्ठ पुरुष की आज्ञा में रहे। परन्तु स्वतंत्र न रहे। (अदात्) दान जो होता है वह स्वतंत्र का नहीं हुआ करता, जो स्वतंत्र नहीं होता उसीका दान होना संभव है। पुरुष का दान कभी नहीं होता, क्योंकि वह स्वतंत्र है। कन्याकाही दान यहां लिखा है।

सूर्यां सविता पत्ये अदात् । (अथर्व० १४।१।९)
मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः । (ऋ० १०।८५।३६; अथर्व० १४।१।५०)

इन दोनों स्थानोंपर अर्थात् ऋग्वेद में और अथर्ववेद में (अदात्, अदुः) कन्यादान ही लिखा है। अतः जो लोग समझते हैं कि वैदिक कालमें स्त्रियां स्वतंत्र (स्वेच्छाचारी) थीं, वह उनकी भूल है।

न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति ।

स्मृतियोंका यह कथन वेदसंमत ही है, ऐसा यहां प्रतीत होता है। जो लोग इस स्मृतिवचन का उपहास करते हैं, वे इस वेदवचन का अधिक मनन करें। स्त्रियां स्वतंत्र न रहनी चाहिए। वे बालपन में मातापिता की शिक्षा में रहें और विवाहित होनेपर पतिसे शिक्षा प्राप्त करती रहें। वर कन्या की मंगनी वधूके पितासे करे और पिता (मनसा अदात्) जब अपने मनसे संमति दे, तब विवाह हों। कन्या स्वयं पिता की अनुमति के विना अपना स्वयंवर न करे। यदि स्वयंवर करना भी हो, तो भी उसके लिये पिताकी संमति ले। वेदमें स्वयंवर के मन्त्र किसी स्थानपर अबतक देखने में नहीं आये हैं। इससे प्रतीत होता है कि स्वयंवर की प्रथा पीछेसे चल पडी है। अस्तु।

इस तरह कन्यादानपूर्वक विवाह होनेके पश्चात् वधू अपने पतिके घर चली जाती है। उस समय सुंदर रथ तैयार किया जाना चाहिए। उस में गादियां और तकिये हों। रथ सुंदर सजा हुआ हो। उत्तम बैल उसमें जुते हुए हों। कोई घोडे जोते तो उसके लिये कोई प्रतिबंध नहीं है। रथके चक्र भी (शुची) सुंदर, स्वच्छ और सजे हुए हों। इस तरह सब प्रकार से सुंदर सजे हुए मनोरम सुखदायी रथपर आरूढ होकर वधू अपने पतिके घर जावे।

दहेज।

विवाह होनेके पूर्व वधूका पिता अपने दामाद के लिये अपने सामर्थ्य के अनुसार (वहतुः) दहेज भेज देवे। मन्त्र १३ में (गावः) गौवें दहेजके रूप में भेजने का उल्लेख है। क्योंकि गौवें ही बडा धन है। अन्य सभी धन इससे कम हैं। गौवोंके दूध से घरके सब आबालवृद्धों की पुष्टि होती है। इस लिये वधू का पिता अपनी कन्या के पतिको उत्तम उत्तम गौवें देवे और ये गौवें विवाह के पूर्व जब पति के घर पहुंच जांय, तब विवाह हो और तत्पश्चात वधू अपने पतिके घर जावे। चन्द्रमा जब मघा नक्षत्र में हो तब दहेज भेज देनेसे चन्द्रमा के फल्गुनी नक्षत्र में जानेके समय विवाह हो सकता है। यह कमसे कम पंद्रह दिनका समय है। अधिक से अधिक पंद्रह के घातमें जितना आ सकता है, उतना मान सकते हैं। दामाद के घर गौवें पहुंचने के पश्चात् उन गौवोंको वहां प्रेम हो जाय तब विवाह हो, ऐसा इसका तात्पर्य है। जब यह वधू अपने पतिके घर जायगी, तब उसको अपनीहि परिचित गौवें मिलेंगीं। और गौवोंको भी अपने परिचय की स्वामिनी मिलने से, परस्पर प्रेम विशेषतः बढ सकेगा। इस तरह यह कन्यादान के पूर्व गौओंका दान वैदिक विवाहकी एक मुख्य बात है।

मन्त्र १४ और १५ में कहा है कि वधूपक्ष के दो मनुष्य (अश्विनौ) घोडोंपर सवार होकर वरपक्ष के पास पहुंचते हैं। वरको उस दहेज का समर्पण करते हैं। इस तरह परस्पर-संमेलनको सब पारिवारिक लोग संमति और अनुमति देते हैं। ऐसे ढंगसे यह विवाह होता है। इसमें तमाम जातिकी भी संमति होती है। मंगनी के समय, विवाहके समय और बरातके जानेके समय सब पारिवारिक जन, सब जातिके सज्जन उपस्थित होते हैं। यह बात 'देवाः' पदसे सिद्ध होती है। सूर्यदेव और सोमदेव के पारिवारिक जन तथा जातिके सज्जन (देवाः) देव हैं। इसी तरह मनुष्यों में विवाह होनेके समय वधू और वर पक्षके पारिवारिक तथा जातिके लोग संमिलित होने चाहिये, यह बात उस वर्णन से स्वयं सिद्ध है। क्योंकि जैसा वैदिक विवाह सूर्यने अपनी पुत्री सूर्याका सोमके साथ किया, वैसाहि मानवों को अपनी पुत्रियोंका करना चाहिए। वस्तुतः सूर्यने जो अपनी पुत्री सूर्याका विवाह किया है वह एक आलंकारिक है। वेदमें यह वर्णन इसलिये किया है कि जिससे इसको देखकर लोग विवाह इस विधिके अनुसार किया करें। वेदका यह रूपक, 'सूर्य की किरण चन्द्रमा को प्रकाशित करती है' इस मूल बातपर है, और जो विवाह के लिए आवश्यक सिद्धांत हैं, वे इस आलंकारिक वर्णन में उत्तम रीतिसे संग्रहित किये गये हैं।

पुराना और नया संबंध।

मन्त्र १७ और १८ में वधूका संबंध पितृकुल से कैसा छूटता है और पतिकुलसे कैसा बंधता है, उसका इन में उत्तम वर्णन है— **इतः बंधनात् प्रमुंचामि, न अमुतः। (मं० १७) इतः प्रमुंचामि न अमुतः, अमुतः सुबद्धां करम्। (मं० १८)**

इन मंत्रोंमें स्पष्ट कहा है, कि "इस पुत्रीको हम पितृकुलसे छुडाते हैं और पतिकुलके साथ ऐसा सुसंबद्ध करते हैं कि यह पतिकुलसे कभी न छूटने पावे।" कन्याका पितृकुलसे छूटना तो आवश्यक ही है। परंतु यहां प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि यह कन्या पतिकुलसे किसी न किसी प्रकार छूट सकती है, या नहीं ? इस प्रश्नके उत्तरमें वेदका यह कथन है कि कन्या पतिकुलसे अपना संबंध नहीं छोड सकती। किसीभी अवस्थामें उसका संबंध पतिकुलसे छूटना वैदिक धर्मकी दृष्टिसे असंभव है। उक्त मंत्रोंमें सुस्पष्ट रीतिसे कहा है कि (न अमुतः, अमुतः सुबद्धां करं) नहीं, पतिकुलसे तो उसको उत्तम पक्की रीतिसे बांधता हूं। इस सुबद्ध करनेका तात्पर्य यह है, कि वह पतिकुलसे कभी विमुक्त न होवे। नियोग की रीतिमें नियुक्त पुरुषके साथ संबंध होनेसे भी पतिकुलका संबंध सुदृढ रहता है और संतान तो पूर्वपतिकीहि होती है। परंतु पुनर्विवाह तो सर्वथा असंभव है, क्योंकि पुनर्विवाहसे तो पतिकुलका संबंध छूट जाता है। इस कारण वैदिक धर्ममें स्त्रीका पुनर्विवाह संभव नहीं है। वैदिक धर्मी द्विजातियों में तो सर्वथा पुनर्विवाह असंभव है।

आजकलका पतित्याग (डायव्होर्स) या पत्नीत्याग तो नितांत अवैदिक है। आजकल युरोप और अमेरिका का अनुकरण करनेवाले कुछ थोडे भारतीय लोग विवाहित संबंध अदालतसे छुडवानेके पक्षपाती दिख रहे हैं, परंतु यह रीति वैदिक धर्मके अनुकूल नहीं है। स्वयंवरकी प्रथामें पतिपरित्याग या पत्नीपरित्याग संमत नहीं, फिर ब्राह्म विवाह के अनुसार तो वह संभव ही कैसे हो सकता है ? पूर्वोक्त मंत्रमें उपमा दी है, कि जैसा कोई फल (उर्वारुकं बंधनात्) अपने वृक्षसे या वेलसे परिपक्व होनेपर बंधनसे छूटता है, वैसे ही यह कन्या पितृकुलके संबंधसे विवाहके समय मुक्त हो गयी है। इसका संबंध पतिकुलसे हुआ और वह संबंध सुबद्ध अर्थात् दृढतर हो चुका है, वहांसे वह मुक्त नहीं हो सकती। पाठकों को वैदिक विवाह की कल्पना को अच्छी तरहसे मनमें उतारना चाहिए। यह स्थिर संबंध है, युरोप अमेरिका के समान क्षणभंगुर नहीं।

आगे १९ वें मंत्रमें कहा है कि यह कन्या वरुणके पाशद्वारा पितृकुलसे सुसंबद्ध हुई हुई थी। विवाहके समय वे पाश तोड दिये गये हैं। वरुणके पाश किसी अन्य कारणसे टूट नहीं सकते। पितृकुलका संबंध तोडकर पतिके कुलसे नया संबंध जोड दिया है। यह संबंध जो पतिके कुलसे हुआ है वह (सह-सं-भलायै) साथ साथ संभाल होनेके लिये है। पतिके कुलके परिवार के साथ इस स्त्रीकी संभाल होती रहे। अर्थात् यह कन्या बाल्यमें पितृकुलके साथ, वरुण देवके पाशोंसे बांधी थी। वरुणके पाश ऐसे होते हैं कि उन्हें तोडनेका सामर्थ्य किसीमें भी नहीं

होता । ये वरुणके पाश विवाहविधिसे टूट जाते हैं, परंतु फिर वह पतिकुलसे ऐसी बांधी जाती है कि वहांसे आमरण वह अपना सम्बन्ध तोड नहीं सकती । पतिकुलमें रहती हुई वह—

ऋतस्य योनौ सुकृतस्य लोके स्योनं ॥ (मं० १९)

"सत्यके घरमें और पुण्यवानोंके स्थानमें जो सुख प्राप्त हो सकता है, उसे पतिके घर प्राप्त हो।" अर्थात् वह पतिके घरमें रहती हुई सत्यमार्गसे चले और पुण्य कर्म करती हुई सुखको प्राप्त हो। यह स्त्रीका धर्म है। पति रहनेतक या पतिके मरनेके पश्चात् भी स्त्रीका यही धर्म है, इस धर्मसे वह पतित न हो, और इस धर्मका आचरण करती हुई सुखको प्राप्त करे। स्त्रीका स्वतंत्राचार सर्वदा गर्हित है। न स्त्री पितृघरमें स्वतंत्र है, न पतिके घरमें स्वतंत्र है और न पतिके मरनेके पश्चात् वह स्वतंत्र हो सकती है।

कन्याके बालकपन में तो सविता देवने वरुणके पाशसे उसे पितृकुलसे बांध रखा था (मं० १९), विवाह होनेके समय वे पाश तो टूट गये । तब भगदेवताने उसका हाथ पकडकर उसे बरातके रथतक चलाया, पश्चात् जब वह पतिके घर जानेके लिये रथमें बैठी तब अश्विनीदेव उसके रक्षक बनते हैं (मं० २०), और जब तक वह पतिके घर नहीं पहुंचती तब तक अश्विनीदेवों की रक्षामें रहती है। पश्चात्—

गृहान् गच्छ, गृहपत्नी यथाऽसो वशिनी त्वं ॥ (मं० २०)

पतिके घर यह नववधू पहुंचती है और वहां वशिनी होकर रहती है। स्वयं अपने इंद्रियां वशमें रखती है, घरके परिवारको वशमें रखती है और स्वयं बडे लोगों की आज्ञामें रहती है। इस तरह यह पतिके घर पहुंचनेके पश्चात् बर्ताव करती है। सारांश यह है, कि वह पितृगृहमें वरुणके पाशोंसे बंधी रहती है। उसपर या तो पिता और माता निगाह रखते हैं या देवताओं की निगाह रहती है, और पश्चात् पतिकी नजर रहती है। कुछ भी हो स्त्रीको वैसी स्वतंत्रता नहीं रखी, जैसी कि आजकल यूरप विशेषतया रूसमें स्त्रियोंको स्वतंत्रता माना जाता है। नियमबद्ध परतंत्रतामें जितनी स्वतंत्रता हो सकती है, उतनी ही है। विद्या, कला, संस्कृति आदिके विकासके लिये जितनी आवश्यक है, उतनी स्वतंत्रता दी गई है। आजकल की कुमारिकाएं कुमारोंके साथ मिल जुलकर कोलेजोंमें सीखती हैं, वैसी शिक्षापद्धति भी वैदिक समयमें नहीं थी। उस समय प्रत्येक कुमारी अपने मातापिता से आवश्यक शिक्षा पाती थी और पश्चात् पतिसे। स्वतंत्र रीतिसे कोलेजोंमें रहना और कुमारोंमें मिलकर शिक्षा पाना, यह उस वैदिक समयमें प्रायः असंभवसा प्रतीत होता है।

गृहस्थाश्रमका आदर्श ।

आगे मंत्र २१-२३ तक में गृहस्थाश्रमका सुंदर वर्णन है। प्रत्येक गृहस्थी इस सुखका अधिकारी है। जो धर्मानुकूल रहे और गृहस्थीका धर्म पालन करे, वह इस सुखको प्राप्त कर सकता है।

(१) अस्मिन् गृहे गार्हपत्याय जागृहि। (मं० २१)

"इस पतिके घरमें अपने गृहस्थ-धर्मका जागते हुए पालन कर" अपने गृहस्थ-धर्म में अशुद्धि न कर, दक्षतासे अपने पतिके घरमें रह और अपना कर्तव्य कर।

(२) इह ते प्रजायै प्रियं समृद्ध्यताम् । (मं० २१)

"इस गृहस्थाश्रममें रहते हुए अपनी संतानका प्रिय, शुभ और कल्याण करना तेरा मुख्य कर्तव्य है।" सुसंतान निर्माण करना गृहस्थका धर्म है। गृहस्थधर्मका यह पुष्प और फल है। उसे सुयोग्य बनानेके लिये जितना यत्न किया जाय थोडा है । मातापिताके सब संस्कार अंशरूपसे संतानमें आते हैं, अतः मातापितापर यह जिम्मेवारी है, कि वे अपनेपर कोई अशुभ संस्कार न पडने दें। शरीरके रोग, बुरी आदतें और अन्य कुसंस्कार संतानों में अंशरूपसे उतरते हैं, अतः मातापिताओंको उचित है कि वे स्वयं परिशुद्ध रहें और शुभ संतान निर्माण करनेका यत्न करें। इस तरह प्रयत्न करते करते संतानोंको शुभ संस्कार मिलते जायंगे, और क्रमशः संतान सुधरती हुई सुसंस्कारसंपन्न होती जायगी।

(३) एना पत्या तन्वं संस्पृशस्व । (मं० २१)

"इस पतिके साथ आनंदप्रसन्न होकर रह।" सब प्रकारके धर्मानुकूल उपभोग प्राप्त कर। सदा प्रसन्नतासे दिनचर्या व्यतीत कर। दुःखी व कष्ट में रहनेसे संतानमें चिडचिडापन आजायगा, इस लिये प्राप्त ऐश्वर्यके उपभोगसे चित्तकी प्रसन्नता रखनी चाहिए और इसी तरह अन्यान्य

प्रसंगों में भी अन्तःकरण सदा शुभवृत्तिपूर्ण रखना चाहिए। संसारमें रहनेका यही मुख्य नियम है।

(४) जिर्विः विदथं आवदासि। (मं० २१)

" इस ढंगसे गृहस्थाश्रम में रहते हुए जब तारुण्य चला जाय, और वृद्ध अवस्था प्राप्त हो, अर्थात् बहुत अनुभव आ जाय, तब तू अपने अनुभव के सिद्धांत उपदेशद्वारा दूसरोंको कह। " इससे पूर्व नहीं। इससे पूर्वका समय ज्ञानग्रहण करने का है, उपदेश देनेका नहीं। उपदेश देना अनुभवी वृद्धोंकाही कर्म है। इस संसार में पर्याप्त अनुभव आनेपर ही मनुष्य उपदेश करे। इसके पूर्व उपदेश करनेसे लाभकी अपेक्षा हानि की अधिक संभावना हो सकती है। जैसा जैसा जिसको अनुभव अधिक होता है, वैसा वैसा उसको उपदेश करनेका अधिकार अधिकाधिक प्राप्त होता है।

(५) इहैव स्तं, मा वियौष्टं, विश्वमायुर्व्यश्नुतम्। (मं० २२)

" पतिपत्नी इस गृहस्थाश्रममें रहें, उनमें वियोग न हो, पूर्ण आयुकी समाप्तितक वे दोनों एक विचारसे रहें। " यह है विवाहित कुटुंबका आदर्श। विवाह होतेहि वैवाहिक संबंधका परित्याग करनेकी कुप्रथा जो अनार्य देशोंमें चली हुई है, वह वैदिक विवाह में सर्वथा नहीं है। वेद चाहता है कि एक बार हुआ हुआ विवाह जीवनके अन्ततक स्थिर रहे, उसमें किसी तरह विरोध खडा न हो, झगडे होकर वैवाहिक संबंध टूटे नहीं।

(६) स्वस्तकौ मोदमानौ पुत्रैः नप्तृभिः क्रीडन्तौ। (मं० २२)

" पतिपत्नी उत्तम घरवाले हों, आनंदप्रसन्न हों और पुत्रोंके साथ तथा नातियोंके साथ खेलते हुए सुखसे गृहस्थाश्रमके कर्तव्य करते रहें। " गृहथाश्रममें रहनेवाले दुःखी कष्ट पूर्ण और चिडचिडे न हों। मन को आनन्दप्रसन्न रखकर सुखके साथ अपने कर्तव्य लोग करते रहें।

(७) सूर्यचन्द्रके समान तेजस्वी पुत्र हों। (मं० २३)

" जैसे सूर्य और चन्द्र सब जगत् को प्रकाश देनेवाले हैं, वैसेहि गृहस्थीके घरमें उत्तम तेजस्वी संतान हों, वे विविध खेलोंमें (क्रीडन्तौ) प्रवीण हों, (मायया चरतः) कौशल्यके साथ जगत् में भ्रमण करें, अर्थात् कुशलताके कर्म करें, कलावान् हों और विश्वका भ्रमण करें। अपनी कलाका खूब विकास करें। उक्त उपमामें चंद्रमा कलायुक्त होता है, उसको कलानिधि कहते हैं, संतानभी वैसीही कलाओंकी निधि बने और कलाकुशलतासे अपनी तथा अपने राष्ट्रकी उन्नति करे। अपनी संतानोंको कला-कारीगरीकी शिक्षा देनी चाहिये, यह बात यहांसे स्पष्ट होती है।

ब्राह्मणों को धन और वस्त्रदान।

मन्त्र २५ में (ब्राह्मणेभ्यो वसु विभज, शामुल्यं च देहि। मं० २५) ब्राह्मणों को धन दान दो और वस्त्र का दान करो। यहांपर ब्राह्मणों को दान करनेकी आज्ञा है। विवाह के समय सुयोग्य विद्वान् ब्राह्मणों को धन और वस्त्र देने चाहिये। गौ, भूमि आदिका भी दान दिया जावे। यह दान वधूके समक्ष दिया जावे, ताकि उसका सात्विक परिणाम वधूपर हो सके। दान देना चाहिये, यह नववधू के मनपर प्रतिबिंबित हो। यदि दान देनेका गुण वधूमें न रहा, और केवल भोगमेंहि उस वधूका मन अत्यधिक रमने लगा तो वह एक कुटुंबका नाश करनेवाली राक्षसी सिद्ध होगी। ऐसी भोगी स्त्री—

एषा पद्वती कृत्या जाया पतिं विशते॥ (मं० २५)

" यह एक दो पांववाली विनाशक राक्षसी भार्यारूपसे पतिके घर प्रवेश करती है। " जिस स्त्रीके मनपर दान देनेका भाव प्रतिबिंबित नहीं हुआ, उस भोगी स्त्रीको ऐसीहि घातक राक्षसी मानना चाहिये। गृहस्थीका भूषण उदार स्त्री है। उदारता की शिक्षा उस वधूको अपने पिताके घरमें मिलनी चाहिये और पतिके घरमें भी मिलनी चाहिये। इसलिये दान देनेका महत्त्व उस स्त्रीके मनपर स्थिर करना चाहिये। गृहशिक्षा का यह एक विशेष महत्त्व का भाग है।

जिसमें दानभाव स्थिर नहीं हुआ उसके मनमें (कृत्या सक्तिः) विनाश या घातपात करनेकी बुद्धि प्रकट होती है। किसी स्त्रीमें ऐसी क्रूर बुद्धि न हो, इसलिये दानकी बुद्धि वधूमें बढानी चाहिये। यदि ऐसा न हुआ और स्त्री स्वैराचार करनेवाली हुई, तो अन्त में पतिकुलका नाश होता है।

वृधन्ते अस्या ज्ञातयः, पतिर्बन्धेषु बध्यते। (मं० २६) "इसकी जातियोंमें कलह प्रबल होता है, और अन्त में बिचारा पति कलहके बंधन में बांधा जाता है।" इसलिये कन्या और वधूमें प्रारंभ से ही दान की बुद्धि, परोपकार करनेकी बुद्धि स्थिर होनी चाहिये। अपने सुखका त्याग करके भी सज्जनों की सेवा करने की सुबुद्धि स्थिर होनी चाहिये। धर्मसेवा, रुग्णसेवा, आदि सेवाभाव सबको बढाने चाहिए, क्योंकि इस सेवासे ही सब द्वेषभाव दूर होंगे, ऐसा निश्चित समझें।

पुरुष स्त्रीका वस्त्र न पहने।

मन्त्र २७ में कहा है कि पुरुष कभी स्त्रीका वस्त्र न पहने। पुरुष का शरीर कितना भी सुन्दर हो, परन्तु स्त्रीका वस्त्र पहननेसे वह अश्लील बनता है, शोभारहित होता है।

यह निषेध स्त्रीका पहना हुआ वस्त्र पुरुष के पुनः पहननेके लिये है, या नाट्यों में जो पुरुष स्त्रीवेष धारण करते हैं, उस कार्यका यह निषेध है, यह एक विचारणीय प्रश्न है! पाठक इसका अधिक विचार करें। परिवार में पति कभी स्त्रीका वस्त्र न पहने, यह बोध यहांसे निःसन्देह मिलता है। परन्तु इस प्रकार का निषेध पुरुषका वस्त्र स्त्रीके पहनने के विषय में नहीं है। यह एक विशेष मनन करनेयोग्य बात है। इससे स्पष्ट है कि स्त्रियोंके पहने हुए वस्त्र आरोग्य की दृष्टिसे पहनने के अयोग्य होते हैं। यहां स्त्रीका वस्त्र दूसरी स्त्री पहने या न पहने, इस विषय में भी निषेध नहीं है। स्त्रीका वस्त्र पुरुष न पहने इतनी ही बात यहांपर स्पष्ट होती है। यह बात और भी अधिक सोचने व समझनेयोग्य है।

विविध वस्त्र पहनने से स्त्रीका रूप विशेष खिल उठता है, यह बात मन्त्र २८ में कही है। (आशसनं) धारीवाला वस्त्र, (विशसनं) सिरपर ओढनेयोग्य ओढनी, और (अधिविकर्तनं) यह सर्वांगपर ओढनेका वस्त्र है। स्त्रियोंके पहनने के ये तीन वस्त्र हैं। इनके विविध रंगरूपोंके कारण स्त्रियोंके स्वरूपकी सुन्दरता बढती है।

कन्या का गुरु।

कन्या की शिक्षा कैसी होनी चाहिये, यह एक बडा विकट प्रश्न है। आजकल तो कन्या और पुत्र एकही पाठशालामें पढते हैं और उनकी पाठविधि भी समान ही होती है। वस्तुतः देखा जाय तो पुरुषों और स्त्रियों के कार्य इस संसारमें विभिन्न होते हैं, अतः एकही पाठविधि दोनोंके लिये लाभदायिनी सिद्ध नहीं हो सकती। आजकल स्त्रियोंका पुरुषीकरण हो रहा है और पुरुषों का स्त्रीकरण किया जा रहा है। मिश्रपाठविधि का और सहशिक्षा का यह दोष है। वेदके उपदेशानुसार स्त्रीपुरुषों की पाठविधि भिन्न होनी चाहिये। स्त्रियों को विशेषतः सूपशास्त्र अर्थात् अन्नका पाक करनेकी विधिका उत्तम ज्ञान होना चाहिये। (एतत् तृष्टं) यह पदार्थ तृषा उत्पन्न करनेवाला अर्थात् पित्तकारक है, (एतत् कटुकं) यह कटु है, (एतत् अपाष्ठवत् विषवत्) यह पदार्थ स्वास्थ्य का बिगाड करनेवाला है, ये पदार्थ विषके समान मृत्यु लानेवाले हैं, (एतत् अत्तवे न) ये पदार्थ खानेयोग्य नहीं हैं, इसी तरह निषिद्ध पदार्थों का ज्ञान कन्याओं की पाठविधि में देना चाहिये। तथा खानेयोग्य पौष्टिक और सात्त्विक पदार्थों का भी योग्य ज्ञान स्त्रियोंको दिया जावे। स्त्रियोंके ऊपर बालबच्चोंके लालनपालन का भार रहता है, इसलिये उनके लिए भक्ष्य, भोज्य, लेह्य, पेय आदि खाद्य पदार्थोंका उत्तम ज्ञान होना अत्यंत आवश्यक है। इस प्रकारकी पाठविधि स्त्रियोंके लिये होनी चाहिये और उन पर जो कार्यका भार आनेवाला है, वह पूर्ण करने की योग्यता उनमें उत्पन्न करनी चाहिये।

जो गुरु इस तरह की शिक्षा कन्याओंको देता है, उसको उस कन्याके विवाहके समय उत्तम वस्त्र दान करने चाहिए। इसी तरह मंत्र ३० में कहा है कि, जो गुरु (प्रायश्चित्तिं अध्येति) चित्त शुद्ध करनेका उपदेश देता है, चित्त बुरे मार्गसे जाने लगा तो उसको धर्ममार्गपर लानेका विवेक जिस सद्गुरुकी कृपासे मनमें उत्पन्न होता है, उस शिक्षक का सन्मान करना चाहिये। कन्याके विवाह के समय (सुमंगलं स्योनं वासः) उत्तम, मंगल और शुभ वस्त्र उस ब्राह्मणको अवश्य दिये जावे, जिसने कि उस कन्याको पूर्वोक्त ज्ञान दिया है, पढाया है, उत्तम शिक्षा दी है। क्योंकि इसी ज्ञानसे (येन जाया न रिष्यति) उस स्त्रीकी गिरावट नहीं होती। वह सुशिक्षित स्त्री अपने

धर्मपथमें रहती हुई सबको आनन्द देती है। यह शिक्षाका प्रभाव है, ऐसी शिक्षा स्त्रीको देनी चाहिये।

स्त्रीको योग्य शिक्षा न दी, तो वह कैसी पतिकुलका नाश करती है, इसका वर्णन मं० २५-२६ में किया गया है। इससे स्पष्ट है कि स्त्रियोंको सुशिक्षा देना अत्यंत आवश्यक है। शिक्षा न देनेसे बडे भयानक परिणाम होते हैं।

सद्व्यवहारसे धन कमाओ।

गृहस्थाश्रममें धनकी आवश्यकता सदा रहती है। प्रत्येक कर्म धनके विना नहीं हो सकता। अतः गृहस्थीको धन कमानेकी अत्यंत आवश्यकता है। यह धन कैसे कमाया जावे, यह एक बडी भारी समस्या गृहस्थियोंके सम्मुख सदा बनी रहती है। इसका उत्तर ३० वें मंत्रने दिया है।

(ऋत-उद्येषु ऋतं वदन्तौ) सरल व्यवहारों में सरल भाषण करो। उसमें छलकपट न हो। सबसे प्रथम तेढे व्यवहारोंमें न जाओ। व्यवहार करना हो, वह सरल व्यवहार हो और उसके करनेके समय भी सरल भाषण करो। और इस प्रकार धर्मानुकूल सरल व्यवहार करके-

(समृद्धं भगं संभरतं) बहुत धन प्राप्त करो। अपने लिये जितके धनकी आवश्यकता है, उतना धन कमाओ। धर्मानुकूल व्यवहार करनेसे निःसंदेह यश प्राप्त होगा और समृद्धि भी होगी।

पतिपत्नी अपने घरमें प्रेमसे रहें। पति (संभलः चारु वाचं वदतु) अपनी धर्मपत्नीके साथ मीठा व मंगल भाषण करे। सुंदर वचन बोले, जिससे (अस्यै पतिं रोचय) स्त्रीको पतिके प्रति अतिरुची और प्रेम उत्पन्न हो। इस तरह दोनों प्रेमके साथ रहते हुए व्यवहार करें और उन्नति को प्राप्त हों।

गौरक्षा।

मंत्र ३२ और ३३ में गृहस्थी लोग गौरक्षा करें, इस विषयक बडा उपयोगी उपदेश है। गौवें घरकी शोभा हैं, बालकोंकी उन्नति इन्हींसे होती है। सब प्रकारका उत्कर्ष गौवोंसे होता है, इसलिये गौपालन गृहस्थीका धर्म है।

सरल मार्ग।

सबके चलनेके मार्ग सरल और निष्कंटक हों, इस विषयमें ३४ वें मंत्रका आदेश ध्यानमें धरनेयोग्य है—

पन्थानः अनृक्षरा ऋजवः सन्तु। (मं० ३४)

"मार्ग कंटकरहित और सरल हों" घरको पहुंचनेके मार्ग, घरके पास के मार्ग, राष्ट्रमें जाने आनेके सब मार्ग निष्कंटक और सीधे हों। उनमें जहांतक हो वहांतक तेढापन न हो। मनुष्य के सब व्यवहारके मार्ग भी सीधे ही हों। यहांपर जानेआनेके मार्ग सीधे हों, यह बात कहनेका हेतु नहीं है, क्योंकि ये मार्ग तो जैसी भूमि होगी वैसे हो सकेंगे। परंतु मनुष्योंके व्यवहारके मार्ग सीधे हों, यह बात विशेषतया यहां कही है। बीचमें कांटे न बिछाये जावें। आजकल के राष्ट्रके और समाजके व्यवहारके देखनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि, मनुष्य स्वयंहि अपनी मतिहीनतासे अपने मार्गपर कांटे बिछाते हैं और सीधा व्यवहार करनेकी संभावना होनेपर भी टेढा व्यवहार करते हैं और इस कारण सुखप्राप्तिके प्रयत्नसे भी सदा दुःख ही प्राप्त करते हैं। इस तरह ये गृहस्थी अपनी उन्नतिके मार्गमें कांटे न डालें यह उपदेश वेद यहां गृहस्थाश्रमके प्रारंभमें दे रहा है। सब गृहस्थी इसको अवश्य स्मरण रखें। इस प्रकारके सीधे मार्ग से चलनेपर (**धाता भगेन वर्चसा सं सृजतु**) परमेश्वर धन और तेज देवे। वह परमात्मा तो सरल व्यवहार करनेवालों को यह फल अवश्य ही देगा। इसमें किसीको संदेह करनेकी आवश्यकता नहीं। परमेश्वरकी सहायता प्राप्त करनेका मार्ग भी सीधा और निष्कंटक है। यही धर्ममार्ग है। इससे चलकर सब मनुष्य सुखधाम को पहुंच सकते हैं। इस प्रकार इस मंत्रका उपदेश बडा मनन करनेयोग्य है और प्रत्येक गृहस्थीके लिए सदा ध्यान रखनेयोग्य है, क्यों कि सबकी उन्नति सरल और निष्कंटक मार्गसेहि होनी संभव है। उन्नतिका दूसरा कोई मार्ग नहीं है।

तेजस्वी बनो।

गृहस्थी तेजस्वी बनें, उत्साही बनें, कदापि निरुत्साही न हों। गृहस्थीका धर्म उत्साहका है, यह तेजस्वी मनुष्योंका धर्म है इसलिये वेद उपदेश देता है कि गृहस्थी तेजस्वी बने। यहां प्रश्न उत्पन्न होता है कि गृहस्थी तेजस्वी कैसा बने? उत्तरमें वेद कहता है कि—

यत् वर्चः अक्षेषु सुरायाम्। (मं० ३५)

"जो तेज आंखोंमें अथवा द्यूतके फासोंमें होता है और जो मद्यमें होता है," वह तेज इन गृहस्थियोंमें आवे। यह पढकर पाठक कहेंगे कि यह क्या अनर्थ है ? वेद ऐसा उपदेश क्यों देता है ? क्या वेद इस उपदेशसे गृहस्थियों को जुआरी और मद्यपी बनाना चाहता है ? कदापि नहीं। वेद तो इन दुर्व्यसनोंसे गृहस्थियोंको बचाना चाहता है, परंतु यहां तेजस्वी उत्साहका वर्णन है। किन लोगोंमें तेजस्वी उत्साह अत्यधिक होता है ? उत्तरमें जुआरी और मद्यपीमें होता है, ऐसाही कहना पडेगा। देखिये, जुआ खेलनेके कार्यमें सरकारी प्रतिबंध है, जुआरीको राजपुरुष पकडते हैं और कारागृहमें डालते हैं, न्यायालयों में इनको दण्ड दिया जाता है, घरवाले इस जुआरीके विरोधी होते हैं, इष्टमित्र तथा परिवार के लोग चाहते हैं कि यह जुआ न खेले, इस तरह सब लोग इसका विरोध करते रहते हैं, तथापि जुवेबाज मनुष्य रातके समय, अंधेरेमें, कष्ट सहन करता हुआ छिपता-छिपाता हुआ जुवेके घरमें पहुंचता है। उसको न किसीका भय होता है और न ही भूख प्यास ही होती है। उसका एकमात्र यही निश्चय होता है कि मैं जुआ खेलूंगा। सब जगत विरुद्ध होनेपर भी वह अपने निश्चय पर अटूट रहता है। यह उसका निश्चय, प्रयत्न, उत्साह और एकाग्र मन देखनेयोग्य है। यदि ये तेजस्वी गुण जो कि उसके पासोंके खेलमें लगे हैं वे यदि श्रेष्ठ पुरुषार्थके कर्ममें लग जांय, तो उसका बेडापार होने में कोई संदेह नहीं। अतः वेद कहता है कि जो तेज और उत्साह तथा निश्चय जुआरी लोग अपने खेलमें बताते हैं, वही तेज और उत्साह गृहस्थी मनुष्य अपना गृहस्थधर्मपालन करता हुआ बतावें। उतना ही मनोनिग्रह, उतना ही निश्चय, उतना ही उत्साह और उतनाही प्रयत्न गृहस्थी को अपने धर्मपालनमें दर्शाना चाहिए, ऐसा यहांपर उपदेश दिया गया है।

मद्यपी भी इसी तरह मद्यपानका समय आते ही मद्यपानके स्थानपर जाता है और मद्य पीता ही है। वह समय टालता नहीं। अपने साथ इष्टमित्रोंको भी पिलानेकी उदारता उसमें होती है। मद्यपीमें समयपर मद्य पीनेकी जो आतुरता होती है और अपने साथियोंको पिलानेकी जो उदारता होती है, वह आतुरता और उदारता गृहस्थियों में अवश्य होनी चाहिए। गृहस्थी को अपने कर्तव्यकर्म बडी अतुरता से करने चाहिए, और उदारता से दान देते रहना चाहिए, ऐसा उपदेश गृहस्थी लोग यहांसे लें।

यही सुरा और पासोंका दृष्टांत मंत्र ३६ में पुनः अन्य रीतिसे आया है। उसका भाव भी यही है। इस में जो उपदेश है, वही लेना चाहिये। बडे महात्मा लोग कुत्तेसे और चुंटीयोंसे भी उपदेश लेते रहते हैं। जाग्रत, निद्रा और स्वामीनिष्ठाका उपदेश कुत्तेसे और प्रयत्नशीलताका उपदेश चुंटीयों से लिया जाता है। इसके अन्य दुर्गुणोंकी ओर महात्मा लोग देखते नहीं। वे केवल उनके गुणोंको अपनाते हैं। इसी तरह मद्यपी और जुआरी भी गृहस्थियों को पूर्वोक्त उपदेश देते हैं। ये उपदेश उनसे गृहस्थी प्राप्त करें और अपने गृहस्थधर्म का पालन उत्तम रीतिसे करके कृतकृत्य हों।

पाठक पूछेंगे कि ये उपदेश यहां क्यों दिये हैं ? क्या उत्तम उदाहरण जगत् में नहीं हैं ? उत्तर में निवेदन है कि मनुष्य की तन्मयता जैसी व्यसनोंमें होती है, वैसी सदाचार में नहीं होती। प्रायः यही नियम सर्वत्र है। संसार में रहते हुए मनुष्य परमार्थसाधन कैसे करे ? इसके उत्तर में व्यभिचारिणी स्त्री के समान करे, ऐसा उत्तर शास्त्रकार देते हैं। जैसी व्यभिचारिणी स्त्री अपने विवाहित पतिका सब कार्य करती हुई भी अपने मनमें परपुरुष का ध्यान सदा करती रहती है और समय मिलते ही उसके पास उपस्थित हो जाती है, उसी प्रकार संसारी जीव संसार के कार्य करते हुए भी अपना सब ध्यान परमात्मा में रखें और जो समय मिले उसमें परपुरुष परमात्माकी उपासना करें। वही परपुरुष किंवा परम पुरुष सबके लिये उपास्य है। यह उपमा यद्यपि हीन है तथापि पूर्ण है। ऐसी ही द्यूती और मद्यपी की उपमा भी पूर्ण है। मनुष्यों को चाहिये कि वे उनकी कार्यतत्परता अपनेमें लावें और उससे सुयोग्य कार्य करके कृतकृत्य बनें।

मंत्र ३५ और ३६ में गौओंके स्तनोंमें तेजस्विता दुग्धरूपसे रखी है, इस तेजस्वितासे सब गृहस्थी युक्त हों, ऐसा कहा है। "(गोषु वर्चः। महानघ्न्या जघनं) इन शब्दोंद्वारा गौका दुग्धस्थान दर्शाया है। सचमुच

*

गौका दूध अत्यंत तेजस्वी है। भैंस का दूध सुस्ती लानेवाला है, गौका दूध सुस्ती हटानेवाला है। अतः सब गृहस्थी और उसके घरके बालबच्चे गौका ही दूध पीकर तेजस्वी, वर्चस्वी, ओजस्वी, आयुष्मान् और पुरुषार्थी बनें।

मंत्र ३७ में कहा है कि जलोंमें एक प्रकारका तेज है, जिससे तेजस्विता, माधुर्य, वीर्य और सामर्थ्य बढता है। गृहस्थियोंको इस जलसे ये गुण प्राप्त हों। वेदमें अन्यत्र जलको जीवन का एकमात्र साधन बताया है, रोगनाशक कहा है, आरोग्यवर्धक माना है, वही सब आशय इस मंत्रमें सारांशरूपसे कहा है। गृहस्थी इस मंत्रका उत्तम मनन करें।

मंत्र ३८ तो सब लोकोंके मनन करने योग्य मंत्र है। उसको सभी को कण्ठस्थ रखना चाहिए।

(१) रुशन्तं तनूदूषिं ग्रामं अपोहामि ॥

(२) भद्रः रोचनः तं उद्चामि ॥ (मं० ३८)

"(१) जो शरीरको क्षीण करनेवाला, शरीरमें विष उत्पन्न करनेवाला और शरीरमें आकर स्थिर रहनेवाला रोगबीज या दोष है, उसको मैं हटाता हूं, और (२) जो शरीरका तेज बढानेवाला और अपना सर्वथा कल्याण करनेवाला है, उस को मैं अपने पास लाता हूं।" यह नियम सब मनुष्यों को सदासर्वदा ध्यानमें धारण करना चाहिये और इसी प्रकार आचरण करना चाहिये। हरएक स्थानमें दोषोंको दूर करना चाहिए और गुणोंको अपनेमें बढाना चाहिए। उन्नतिका यही एकमात्र उपाय है। वधूवर तो अपने घरमें इसी नियम का पालन करें।

मन्त्र ३९ में कहा है कि (श्वशुरः देवरः च प्रतीक्षन्ते) पति के घरमें श्वशुर और देवर वधूके आनेकी मार्गप्रतीक्षा करते हैं। वधू का स्वागत करनेके लिये सब लोग उत्सुक हैं। यह मंगल वधू अपने पति के घर पहुंचते ही अग्नि की प्रदक्षिणा करे, अग्नि को नमन करे और पश्चात् श्वशुर आदि का दर्शन करे। वहां ब्राह्मण मंत्रपूत जलसे उस वधूका अभिषेक करें। वह जल वधू के अन्दर जो भीरुता (अवीरघ्नीः आपः) होगी, उसको दूर करेगा। यह अत्यंत महत्व की बात है। आर्योंमें भीरुता रहनी नहीं चाहिये। आर्य तो सदा निडर और धैर्यके मेरु होने चाहिये। इसलिये वधू गृहस्थाश्रममें प्रविष्ट होकर पतिके घर जो प्रथम स्नान करे, वह स्नान ब्राह्मणों द्वारा वेदमंत्रोंसे पवित्र और निर्दोष हुए हुए जलसे करे। मंत्रपवित्र जलके स्नानसे इस वधूकी भीरुता आदि सब दोष दूर हों और वह पवित्र, मंगल और धैर्यशाली बने। ऐसी सुयोग्य गृहस्वामिनी बने कि जो अपनी संतानोंको सुयोग्य उपदेश-द्वारा उत्तम आर्य बनावे।

पति के घरके सुवर्ण रत्न आदि आभूषण इस नववधूके लिए कल्याणकारी हों, गिरानेवाले न हों। क्योंकि धन मनुष्यको गिराता है। धनसे उत्पन्न हुआ हुआ घमंड मनुष्यकी अधोगति करता है। इसलिये सावधानताकी सूचना देने के लिये यहां कहा है कि सुवर्ण आदि धन वधू की गिरावट न करें। दूसरे घरकी स्त्रियों के उत्तमोत्तम आभूषण देखकर अपने लिये वैसे आभूषण चाहिये, ऐसा हठ स्त्रियां करती हैं और पति से क्लेश करती हैं, ऐसा कोई स्त्री न करे और प्राप्त सुवर्ण में ही संतुष्ट रहे। सुवर्ण, आभूषण, गाडी, घोडे आदि सुखसाधन सबके सब भोगवर्ग में आते हैं। भोगेच्छा के कारण घरमें विविध झगडे होते हैं, अतः कहा है कि इन भोगसाधनोंसे कोई झगडे न हों, परन्तु (शं भवतु) पति के घर में शान्ति रहे, झगडे के कारण होकर अशांतिरूप न बनें। पत्नी (पत्या तन्वं शं स्पृशस्व) अपने पतिके साथ सुख से आनन्दप्रसन्न रहे। पतिपत्नी ऐसे एक विचारसे रहें कि किसी भी कारण से विवाद न हो। घर में अशांति न बढे और दोनों को कौटुंबिक सुख यथायोग्य प्राप्त होता रहे।

स्त्री की इच्छा।

आशासाना सौमनसं प्रजां सौभाग्यं रयिम् ॥
(मं० ४२)

पतिके घर आयी हुई नववधू अर्थात् गृहिणी किस बातकी आशा करती है, अर्थात् क्या चाहती है, यह प्रश्न कोई पूछे, तो उसके उत्तरमें निवेदन करना चाहिए कि, उसकी यही इच्छा है कि (सौ-मनसं) अपने घरके सब लोग आनन्दप्रसन्न रहें, झगडाफिसाद न हो, परस्परका व्यवहार प्रेमपूर्वक हो, घरमें उत्तम शान्ति, आनन्द और प्रसन्नता का राज्य रहे। दूसरी इच्छा यह होनी चाहिये कि, (प्रजां)

उत्तम संतान उत्पन्न हों, अपनी संतान सुयोग्य बनें, अपनी सुसंतति से कुल का वृक्ष हराभरा रहे । तीसरी इच्छा यह हो कि (सौभाग्यं) उत्तम भाग्य प्राप्त हो, अपने पति के घरमें उत्तम भाग्य वृद्धिंगत होता रहे । सौभाग्यमें उस भाग्य का विशेष कर समावेश होता है कि जो पतिसे पत्नीको, और पत्नी के कारण पति को सुख होता है और जिस सुख के लिये विवाह होते रहते हैं । यह सौभाग्य अपने घरमें बढे, यही इच्छा धर्मपत्नी की हो। इसके पश्चात् चतुर्थ इच्छा यह हो कि (रयिं) धन प्राप्त हो, अपने पतिके घर किसी भी प्रकार की दरिद्रता न रहे। ऐश्वर्य, धन, सुवर्ण, आभूषण आदि सब विपुल रहें और उस अर्थ से सबको सुख प्राप्त होता रहे । धर्मपत्नी की पति के घर में यही चार प्रकारकी इच्छा होनी चाहिए। यहां पाठक ध्यान में रखे कि सबसे प्रथम उत्तम मनकी इच्छा की है, उसके अनंतर पतिपत्नी के उत्तम सुखकी इच्छा की है, और अन्त में धन की इच्छा की है। क्योंकि धन सुखका साधन तो है, वह धन सु-मन न होनेपर, घर में सुसंतान न होनेके अवस्थामें, पतिपत्नी-संबंधकी विपरीततामें कोई सुख नहीं दे सकता । उलटा इन अवस्थाओं में दुःखदायी ही होता है। इसलिये कौनसी आशा प्रथम करनी चाहिये और कौनसी अन्त में इसका विचार गृहस्थी लोग इस मन्त्र के मननसे स्वयं करें

स्त्री कैसी हो ?

(पत्युः अनुव्रता) पति के अनुकूल रहकर नियमपालन करनेवाली स्त्री होनी चाहिए । स्त्री कभी पतिके प्रतिकूल आचरण न करे। इस नियमके अंदर यद्यपि स्त्रीके लिये पतिके अनुकूल होने की आज्ञा कही है, तथापि इसी से पति भी स्त्री के अनुकूल रहे, यह भाव भी निकलता है। पति जैसा चाहे वैसा आचरण करे और केवल पत्नी ही पति के अधीन रहे, यह भाव इस मंत्रका नहीं। धर्मोपदेश समान हुआ करता है और वह एक के निर्देश से दूसरे को लेना योग्य है । तात्पर्य यह है कि जैसी धर्मपत्नी पति के अनुकूल रहे, उसी प्रकार पति भी पत्नी के अनुकूल रहे। दोनों परस्पर अनुकूल रहकर एक दूसरे का सुख बढावें और गृहको स्वर्गधाम बनावें। (अमृताय कं संनह्यस्व) अमृत की प्राप्ति होनेके लिये सुखपूर्वक सिद्ध हो। धर्मपत्नी और पति ये दोनों अपना साध्य अमृतत्व है, अर्थात् मोक्ष है, ऐसा नित्य प्रति ध्यान में रखें। उस अमृतमय मोक्षधाम को पहुंचने का जो मार्ग है, वह मार्ग सुखसे चलनेके लिये इस गृहस्थाश्रम का योग है, यह कोई गृहस्थी न भूले। इस बातके लिये सब गृहस्थियों को तैयार होना चाहिए। सब व्यवहार वे इसी उद्देश्यकी सिद्धि के लिये करें। अर्थात् धर्मानुकूल व्यवहार करते हुए मोक्ष की सिद्धि प्राप्त करें। प्रत्येक गृहस्थी का यही कर्तव्य है। प्रत्येक गृहस्थी प्रत्येक व्यवहार करने के समय स्मरण रखे कि मेरा यह कर्म मोक्षका साधक हो, और कभी उसमें बाधक न हो। प्रत्येक कर्म योग्य रीति से करने पर मोक्ष के लिये साधक हो सकता है। यदि प्रत्येक कर्म फलत्यागपूर्वक किया जाय, लोभका त्याग किया जाय, तो सभी कर्म उसी मोक्षधामको प्राप्त होनेके लिये सहायक हो सकते हैं। फलभोग की स्वार्थेच्छासे ही मनुष्यकी गिरावट होती है, अतः कहा है कि (मा गृधः। यजु० ४०।१) मत ललचाओ, सब प्रकारका लोभ छोड दो और कर्म करो; इस तरह का निर्लोभतासे किया हुआ कर्म मोक्षके मार्ग में सुख देनेवाला होता है। गृहस्थधर्मके सभी कर्म सुख देते हुए मोक्षमार्गके साधक होनेवाले हैं।

गृहस्थका साम्राज्य।

गृहस्थीका घर एक बडाभारी साम्राज्य है। उसे साधारण राज्य नहीं समझना चाहिए। यजमान गृहस्थ स्वयं सम्राट् है । पत्नी उसकी सम्राज्ञी है। यह गृहस्थी में सहधर्मचारिणी होती हुई मंत्रणा देनेवाली है। परिवार के लोग प्रजाजन हैं। इन प्रजाजनों में घरके पारिवारिक जनों के अतिरिक्त गौं, घोडे, आदि जितने भी घरके लिए उपयोगी पशुपक्षी हैं, वे सब इस साम्राज्य की प्रजा हैं और इस प्रजाका योग्य पालन करना गृहस्थका आवश्यक कर्तव्य है। (**साम्राज्यं सुषुवे वृषा** । मं० ४३) जो बलवान् होगा, वही इस साम्राज्यका पालन और संवर्धन कर सकता है। अशक्तका कार्य यहां नहीं है। (वृषा) अतः जो बलयुक्त होगा, वही इस गृहस्थधर्म में यशस्वी होगा। बलवानोंका ही साम्राज्य हो सकता है। अशक्तोंका साम्राज्य नष्ट हो जायगा। यह बात यहां विशेष ध्यान देने योग्य है।

पति सम्राट् बने और उसकी धर्मपत्नी सम्राज्ञी बने। इसका अर्थ पूर्व अनुसंधान से यह हुआ कि पति भी बलवान् बने और पत्नी भी बलशालिनी बने और दोनों मिलकर इस गृहस्थाश्रमके साम्राज्यको योग्य रीतिसे चलावें। (मन्त्र ४४) नववधूसे कहा है कि वह सम्राज्ञी बन कर ससुर, देवर, ननंद तथा सास आदि पारिवारिक जनों के साथ योग्य बर्ताव करे, इसका अर्थ यह है कि पतिके घर स्त्रीका वही दर्जा रहे कि जो साम्राज्यमें सम्राज्ञी का रहता है। जो लोग वैदिक धर्म में स्त्रीकी योग्यता कितनी होती है, इसका विचार करते हों, उनको उचित है कि वे इस सम्राज्ञी शब्द का ही विचार करें। वैदिकधर्मानुसार धर्मपत्नी सम्राज्ञी है और पति सम्राट् है। अर्थात् स्त्रीका अधिकार असाधारण श्रेष्ठ है। पहले कहा गया है, कि स्त्री स्वतंत्र नहीं है। वह या तो मातापिता के अधीन रहेगी अथवा तो पतिके अधीन रहेगी, इस कथन के साथ यह विधान विरोधक नहीं है। क्योंकि कोई सम्राट् या सम्राज्ञी पूर्णतया स्वतंत्र नहीं होते। साम्राज्य के नियमों से बंधे होते हैं। सम्राज्ञी साधारण स्त्रीके समान इधर-उधर जा नहीं सकती। उसके साथ सदा शरीररक्षक रहते हैं। इस प्रकार सम्राज्ञी परतंत्र होती हुई भी विशेष संमानित होती है। ऐसाही गृहपत्नी का भी है। वह धर्मनियमोंसे बंधी हुई होनेसे परतंत्र होती हुई भी पूर्ण रीतिसे सम्राज्ञी है। धार्मिक उन्नति करनेके लिये वह स्वतंत्र है। पाठक इस तरह विचार करनेपर जान सकते हैं कि वैदिक धर्मकी परतंत्रता भी अन्य स्थानकी स्वतंत्रता की अपेक्षा अधिक प्रशंसनीय है। मनुष्यको अपने मुक्तिधाम के मार्ग को आक्रांत करना है। क्योंकि वही उसका ध्येय है। इस ध्येय की सिद्धिके लिये जितनी स्वतंत्रता चाहिये, उतनी यहांपर दी गई है। इससे जो अधिक स्वातंत्र्य है, वह गिरानेवाला है।

स्त्रियोंका सूत कातना।

वैदिक धर्मानुसार सर्वसाधारणतया स्त्रीपुरुषों का और विशेषकर स्त्रियों का घरेलू व्यवसाय सूत कातना और उसका कपडा बुनना है। प्रत्येक गृहस्थके घरकी सब स्त्रियों को इस सूत्रनिर्माण के कर्मको अवश्य करना चाहिए। (**देवीः अकृन्तन्**। मं० ४५) घरकी देवियां सूत कातें, जो सूत्र कातती हैं, वेही देवियाँ हैं। उनकोही वास्तवमें हम देवियां कह सकते हैं। येही देवियां (तन्निरे) ताना तानती हैं, सूत्रको ठीक करके योग्य रीतिसे ताना तानती हैं, तथा (**अभितः अन्तान् ददन्त**) चारों किनारोंके अन्तिम भागोंको ठीक करती हैं, दोनों ओरकी किनारियां और दूसरे ओरकी झालरें कपडा बुनने के पूर्व ठीक करनी चाहिये। नहीं तो कपडा खराब हो जायगा।

इस तरह सब कुछ ठीकठाक करके (**अवयन् संव्यन्तु**) उक्त देवियां कपडा ठीक तरह बुनें, तरुण अवस्थामें कपडा विशेष श्रम करके बुनना चाहिए, ताकि (जरसे) वृद्धावस्थामें, जब कि विशेष श्रम होना संभव नहीं, काममें आवे। (**आयुष्मती इदं वासः परिधत्स्व**) दीर्घ आयु प्राप्त करती हुई स्त्री अपने प्रयत्न से निर्माण किया हुआ वस्त्र परिधान करे। यही वस्त्र स्त्रियों और पुरुषोंके लिये भूषणावह है। प्रत्येक परिवार इस तरह वस्त्रस्वावलंबी बने। अपने वस्त्रके लिये दूसरोंपर निर्भर रहना सर्वथा अयोग्य है, ऐसा यहां वेद उपदेश दे रहा है। वेदके उपदेशानुसार प्रत्येक परिवारके लोग यदि वस्त्र निर्माण करने को घरेलू व्यवसाय के रूप में करेंगे, तो कितना कल्याण होगा, इसका विचार पाठकों को स्वयमेव आ सकता है। जो लोग वैदिक धर्मी हैं, उनको उचित है कि वे अपने घर में चर्खा रखें, सूत कातें और कपडा बुनें।

मंत्र ४६ में कहा है, कि स्त्रीपुरुष अपने दीर्घ जीवनके मार्गको (**दीर्घां प्रसितिं अनुदीध्युः**) ध्यान में रखकर, अपने (**पितृभ्यः वामं**) मातापिता को सुख दें, और स्त्रीपुरुष परस्परको सुख देते हुए आनन्दसे अपना कर्तव्य करते रहें। गृहस्थाश्रमका धर्ममार्ग अतिदीर्घ है, कमसेकम सौ वर्ष तक उसका अवलंबन करके चलते रहने पर भी वह समाप्त नहीं होता। इतने लंबे मार्गपर सुखके साथ प्रवास करना हो, तो अपने मातापिता को सुख देना चाहिये। मातापिताका सत्कार करना, यह एक आवश्यक कर्तव्य है। यदि एक गृहस्थ स्वयं अपने मातापिताका संभाल न रखेगा, तो उसके बालबच्चे भी उसकी संभाल नहीं रखेंगे। अपने मातापिता का स्वयं ख्याल रखने से अपनी सन्तानों को उससे सुयोग्य शिक्षा मिलती है और

आगे चल कर वे भी अपने मातापिताका आदर-सत्कार करनेमें प्रवृत्त होती हैं। गृहस्थाश्रम सुखमय बनाने के लिए वृद्धों और बालोंकी पालना उत्तम रीतिसे होनी चाहिये। गृहस्थाश्रम में सुखवृद्धि करनेका यह महान् तत्त्व है।

गृहस्थियों के ऊपर सुप्रजा निर्माण करने का बडा भारी भार है। प्रत्येक गृहस्थी को उचित है, कि वह (**प्रजायै स्योनं ध्रुवं**) अपनी संतान के लिये सुख और स्थैर्य प्राप्त कराने का प्रबंध करे, ताकि वे सब सुखी हों, स्थिर हों, सुदृढ हों तथा दीर्घायु बनें। संतानों दीर्घ आयु किस रीतिसे हो सकती हैं? इसके उत्तरमें वेदका कहना है कि (**सविता आयुः दीर्घं कृणोति**। मं० ४७) सूर्य ही मनुष्यकी आयुको दीर्घ करता है। सूर्यप्रकाशसे मनुष्य दीर्घायु हो सकता है। मनुष्य सूर्यकिरणों में विचरे, सूर्यातपस्नान करे, सूर्यकी उपासना करे और इस प्रकार अपनी आयु दीर्घ बनावे।

पाणिग्रहण।

पुरुष स्त्रीका पाणिग्रहण करता है। यह पाणिग्रहण होतेहि स्त्री पुरुषका पत्नी और पतिका नाता शुरू होता है। उस समय पति अपनी पत्नीसे प्रेमके साथ बातचीत करे और उससे कहे—

(१) ते हस्तं गृह्णामि, (२) मा व्यथिष्ठाः,
(३) मया प्रजया धनेन सह॥ (मं० ४८)

"हे पत्नी! मैं तेरा हाथ पकडता हूं, दुःख मत कर और मेरे साथ संतानों और धनोंके साथ सुखसे निवास कर।" इस तरह प्रेमपूर्वक पति अपनी धर्मपत्नी के साथ भाषण करे। नववधू दूसरेके कुलसे आती है, उसका वहां कोई परिचित नहीं होता है, इसलिये पतिके घरके लोग उस नववधू के साथ प्रेमका बर्ताव करें। पति नववधू से कहे कि "हे पत्नी! मैंने तेरा हाथ पकडा है, इससे तू समझ कि तुझे मैंने सब तरह से आधार दिया है। हाथ पकडने का अर्थ आधार देना है, अतः जबतक मैं हूं तबतक तुझे डरनेका कोई कारण नहीं। तू यहां सब तरह सुरक्षित है। मेरा जो धन है, वह भी तेराही धन है। उससे जैसा मुझे वैसा तुझे भी सुख प्राप्त हो सकता है। हम दोनोंको जो संतान उत्पन्न होंगी, उनका यथायोग्य पालन करना हम दोनोंका कार्य है। यदि हम वह कार्य करेंगे, तो हमारी संतानें भी हमारे सुखके हेतु हो सकेंगी। इस तरह हे पत्नी! मेरे साथ रहकर तू इस संसार में सुख से रह और हम दोनों गृहस्थधर्म का पालन करते हुए मोक्षके मार्गको आक्रांत करें।" इस ढंगसे पति और पति के घरके लोग नववधू के साथ मधुर, प्रिय और सुखकारक भाषण करें और उसके मनमें पतिके घरके लिए प्रेम उत्पन्न करें।

जहां जहां वेदमें पाणिग्रहणका विषय आता है, वहां वहां पति पत्नी का पाणिग्रहण करता है, ऐसेहि शब्दों का प्रयोग है।

(१) ते हस्तं गृह्णामि। (अथर्व० १४।१।४८;५०)
(२) ते हस्तं गृह्णातु। (अथर्व० १४।१।४९)
(३) ते हस्तं गृभ्णामि। (ऋग्वेद १०।८५।३६)
(४) ते हस्तं अग्रहीत्। (अथर्व० १४।१।५१)

इन स्थानों में हाथ पकडनेवाला पुरुष है और जिसका हाथ पकडा जाता है, वह स्त्री है। इससे भी यह बात स्पष्ट होती है कि, गृहस्थाश्रममें पुरुषकी विशिष्टता है। वेदमें किसी भी स्थानपर स्त्री पुरुष का हाथ नहीं पकडती। सर्वत्र पुरुष ही स्त्रीका हाथ पकडता है। पाणिग्रहण करने का अधिकार पुरुषको है, यह इन मन्त्रों से निश्चित होता है। इसीलिये मन्त्र ४३ में (**सिन्धुः नदीनां साम्राज्यं सुषुवे**) कहा है। एक समुद्र अनेक नदियोंका सम्राट् होता है, अर्थात् एक पति अनेक स्त्रियोंका पाणिग्रहण करता हुआ गृहस्थाश्रमरूपी बडे साम्राज्यका सम्राट् होता है। इस उपमा में अनेक पत्नियों का होना सूचित किया है। उपमामें यह भाव निःसन्देह है कि जिस प्रकार एक समुद्रको अनेक नदियां आ मिलती हैं, उसी प्रकार एक पुरुषको अनेक स्त्रियां प्राप्त होती हैं। यदि पूर्वोक्त उपमामें यह भाव नहीं है, तो उस उपमामें किए गये बहुवचन के प्रयोग का और कौनसा रहस्य है, इस बातका विचार पाठक स्वयमेव करें। पति ही स्त्रीका पाणिग्रहण करनेवाला है, इस कथनसे भी पति का ही मुख्य होना सिद्ध है। स्त्रीका दान पति को किया जाता है, इस विषय के मन्त्र भी हमने पूर्वस्थानपर देखे हैं। इन सब बातोंसे निःसंदेह वैदिक धर्म के गृहस्थाश्रम में पुरुष का मुख्य स्थान है, यह दर्शाया है।

आगे के तीनों मन्त्रोंमें पाणिग्रहण का ही विषय है और उन मन्त्रोंमें स्त्रीका हाथ पुरुष पकडता है, ऐसाही भाव है। तथा आगे विशेष स्पष्ट करके कहा है कि—

त्वं धर्मणा पत्नी असि, अहं तव गृहपतिः ॥
(मं० ५१)

इयं मम पोष्या, मह्यं त्वा प्रजापतिः अदात् ॥
(मं० ५२)

" पुरुषकी स्त्री धर्मसे पत्नी है, और पति स्त्रीका गृह-पालक है। यह स्त्री पतिके द्वारा पोषण होनेयोग्य है, क्योंकि इस पतिके अधिकार में प्रजापति ने इस स्त्रीको सौंप दिया है। "

स्त्रीके पोषण का भार पतिके ऊपर है, यह बात इस मन्त्र से स्पष्ट है। पति पत्नीका पालनपोषण करे। पालन-पोषण का विचार पत्नी न करे। पोषण की सामग्री घरमें आनेके पश्चात् पत्नी उस सामग्री का योग्य विनियोग करके सबको यथायोग्य अन्नभाग पहुंचावे।

सुपुत्र निर्माण करनेमें देवताओं की सहायता प्राप्त होनी चाहिये। वह सहायता स्त्रीको प्राप्त हो, इस प्रकार का आशीर्वाद मन्त्र ५३ और ५४ में है। इन्द्र, अग्नि आदि सब देवताएं स्त्रीको अपना तेज अर्पण करें और स्त्रीके अन्दर उत्तम संतान उत्पन्न करें और ऐसे सुसन्तानों के साथ वह उन्नत होती रहे।

केशों की सुंदरता।

सिरपर (**शीर्षे केशान् अकल्पयत्**) परमेश्वरने बडे बडे केश निर्माण किये हैं। विशेषतः स्त्रीके सिरकी शोभा केशोंकी सुव्यवस्थासे बढती है। (**तेन इमां नारीं पत्ये संशोभयामसि**) अतः पतिके लिये स्त्रीके सिरकी सजावट की जाती है और स्त्रीके सिरकी शोभा बढाई जाती है। स्त्रीको सिरके बालोंको सुव्यवस्थित रखना चाहिए और शोभाके लिये उन्हें सजाना चाहिये।

(**मनसा चरन्तीं जायां जिज्ञासे**) मनसे स्त्रीकी चालचलन कैसी है, यह जानना चाहिये। केवल बाह्य चालचलन द्वारा किसीकी परीक्षा करनी योग्य नहीं है। मन कैसा है, विचार कैसे हैं, मनसे किस बातका विचार करती है, मनसे किसका मनन करती है, यह देखना चाहिये। जो मनसे शुद्ध है, उसेही शुद्ध समझना चाहिये। अतः मन शुद्ध रहनेके लिये जो शिक्षा देनी योग्य है, वही देनी चाहिये। स्त्री हो या पुरुष, उनके मन शुद्ध रखने-योग्य पाठविधि बनानी चाहिये। प्रचलित पाठविधि इस दृष्टिसे कैसी है, इस बातका विचार पाठक करें और आर्य-संतानोंको सुसन्तान बनानेके लिये जो करनेयोग्य है, वह किया जाना चाहिए।

(**योषा यत् अवस्त, तत् रूपं**) स्त्री जो वस्त्र परिधान करती है, उससे उसका रूप देदीप्यमान होता है। अर्थात् स्त्री को इस प्रकारके वस्त्र परिधान करनेके लिये देने चाहिये कि जिससे उसकी सुंदरता बढे। यहां सूर्या-सावित्रीका उदाहरण पाठक देखें। संध्यासमयमें कितने विविध रंगके वस्त्र यह सूर्यपुत्री संध्या पहनती है और अपने रूपकी शोभा बढाती है। प्रतिदिन सूर्यपुत्रीकी यह सजावट कैसी की जाती है, यह पाठक देखें और अपनी शक्तिके अनुसार स्त्रियोंको उत्तम वस्त्र पहनावें। यह कोई आवश्यक नहीं है कि स्त्री प्रतिदिन नये नये वस्त्र पहने, परंतु जो वस्त्र पहने, वे ऐसे सुव्यवस्थित हों कि उनसे उस स्त्रीकी शोभा बढे। घरकी देवी स्त्री है और घरघरमें इस गृहस्वामिनीकी मंगल वस्त्राभूषणोंसे पूजा होती रहे। परंतु हो वह घरके स्वामीके आर्थिक अनुकूलताके अनुसार है।

(**नवग्वैः सखिभिः तां अन्वर्तिष्ये**) जिनमें नव गौवों अर्थात् सब इन्द्रियों का समर्पण किया जाता है, उन यज्ञोंके साथ और जो हमारे मित्र जन उन यज्ञोंमें भाग लेते हैं, उनके साथ यज्ञमय जीवन बनाकर स्त्रीके साथ मैं सब व्यवहार करता हूं। अर्थात् मैं स्वयं और मेरी धर्म-पत्नी हम दोनों मिलकर अपना सब जीवन यज्ञरूप बनाते हैं। जो जो कर्म हम करते हैं, वह यज्ञरूप करते हैं। इससे हम दोनों यज्ञरूप बनेंगे और अन्तमें हमारे यज्ञसे यज्ञस्वरूप परमेश्वर प्रसन्न होगा और हम कृतकृत्य बनेंगे।

(क्रमशः)

ईश्वरका वास्तविक स्वरूप।

[पं० रामावतार विद्याभास्कर, रतनगढ]

(क्रमांक २४५ से आगे)

आत्म-समर्पण करते हि मनुष्यका सब जीवन 'तपस्या' बन जाता है।

[१७] भक्तजीवन में कर्म या व्यवहार का स्वरूप।

अपने को परमात्माके हाथ में सौंप देना 'ईश्वर-भक्ति' है। परमात्मा की इच्छा से पृथक् अपनी कोई इच्छा न रखनाही अपने को उसे सौंप देना है। परमात्मा की इच्छा से आई हुई सब अवस्थाओंमें अपने को उसीके पवित्र हाथ का यन्त्र बनाकर, (अर्थात् अपने ऊपर अपने 'अहं' का अधिकार न जमने देकर) कर्तव्यपालन करते रहना ही 'अपने को उसे सौंप देना' है। जब ऐसा आत्मसमर्पण किया जा चुकता है, तब सिन्धु में विलीन हो जाने के पश्चात् बिंदु का सिन्धु के साथ जो सम्बन्ध होता है, मनुष्य का भी परमात्मा के साथ वही सम्बन्ध हो जाता है। जैसे उस दिन सिन्धु का विराट् आकार बिंदु का विराट् आकार हो जाता है; जैसे उस दिन बिंदु का कोई पृथक् अस्तित्व नहीं रहता; इसी प्रकार ईश्वरतत्त्वके हाथमें आत्मसमर्पण करने के पश्चात् ईश्वर की अनन्त शक्ति ही मनुष्य की आत्मशक्ति हो जाती है। ईश्वर की इच्छा पूर्ण करते रहनाही उसका कर्तव्य रह जाता है। वह कर्तव्य-पालन करने में अनंत शक्तिमान् हो जाता है। जब सर्व-शक्तिमान् परमात्मा की शक्ति भक्त की आत्मशक्ति बन जाती है, तब भक्त अपनी अहं-बुद्धिरूपी क्षुद्रता की सीमा को भंग करके, असीम हो जाता है। तब भक्त अहंबुद्धि की दासतारूपी श्रृंखला को तोडकर स्वाधीन हो जाता है। यही 'भक्तों की स्वाधीनता या स्वतन्त्रता का सच्चा स्वरूप' है। स्वतन्त्रतापर डटे रहनाही भक्तोंकी 'भक्ति' है। स्वतन्त्र न होकर भी ईश्वरभक्ति करना बिना जलके जलाशय जैसा धोका है। जो परतन्त्र मनुष्य परतंत्र रहते हुए केवल जिह्वायन्त्रसे ईश्वर का नाम लेकर किसी से भक्तिका नाता जोडता है, उसकी भक्ति, क्योंकि ईश्वर-तत्त्व का स्पर्श नहीं करती, इसलिये वह 'भक्ति' मनुष्य को दुर्बल, भ्रांत, पराधीन, व्याकुल, चंचल, मंगता और दुःखी बनाये रहती है। यदि ईश्वरभक्ति करते रहनेपर भी दुर्बलता, भ्रांति, पराधीनता, व्याकुलता, चंचलता, मांग और दुःख न भाग गये हों, तो यह समझ कर सावधान हो जाओ कि ईश्वर की भक्ति के धोके में किसी शैतान की साधना कर रहे हो। इस प्रकार की भक्ति का सम्बन्ध ईश्वर से नहीं होता। वह किसी कल्पित पदार्थ से होता है। केवल भगवान् ही भक्ति का पात्र है। अहं-बुद्धिसे रहित पवित्र निर्विकार मन ही मनुष्य की भक्तिका संभोग करनेवाला भगवान् है। इससे दूसरा मानवीय भक्तिरस पान करनेवाला भगवान् नाम का कोई तत्त्व इस संसारमें नहीं है। अहंबुद्धिरूपी मन भगवद्द्रोही असुर है। अहंबुद्धिरहित मन ही 'स्वतन्त्रता' है। स्व-तंत्रता ही परमात्मा है। भक्त स्वतन्त्रता की (अर्थात् ईश्वर के साथ एकता की) रक्षा करने में अनन्त शक्तिमान् होता है। जहां साधारण प्राणी स्वतन्त्रता की कल्पना भी नहीं कर सकता, वहां भी भक्त अपनी 'स्वतन्त्रता' को विस्मय-कारी ढंगसे सुरक्षित रखता है और आठों पहर जिससे श्रेष्ठ कुछ नहीं है, उस आनंदह्रदमें डूबा रहता है।

स्वतंत्रता की रक्षा करना ही भक्तोंसे लडा जानेवाला 'स्वातंत्र्य-संग्राम' है। स्वातन्त्र्य-संग्राम लडनेके लिये ही भक्तों का जीवन होता है। 'स्वतंत्रता' मनकी स्थिति है। स्वातन्त्र्यसंग्राम भी मनकी स्थिति है। संग्राम शक्ति का खेल है। शक्तिमान् ही संग्राम कर सकता है। भक्त लोग

अपने को परमात्मा में विलीन करके भक्तिविरोधी स्थितियों के लिये शक्तिमान् हो जाते हैं। अपने को परमात्मामें विलीन कर देनेके कारण भक्त का शक्तिके अनन्त भण्डार पर आधिपत्य जम जाता है। सीमित शक्ति को अपनी न कहनेवाला वह शक्तिमान् भक्त, परमात्मा की शक्ति से विश्वपर विजय पा लेता है। उसके विश्वविजयी बनने का यही तात्पर्य है कि जब सारा विश्व उसका परमात्मासे नाता तोडनेके के लिये, उसे माया के बन्धनमें बांधना चाहता है, वह तब भी उस बंधन को व्यर्थ करके, परमात्मा के और अपने स्वरूप संबन्ध को अच्छेद्य और विजयी रखनेमें अनन्त शक्तिमान् हो जाता है। सारा संसार मिलकर भी उसे मोहित और कर्तव्यभ्रष्ट नहीं कर सकता। यही भक्तोंका विश्वविजयी बनना कहाता है।

भक्तोंका परमात्मा भक्तोंकी अप्रभावित मनोदशासे भिन्न नहीं है। भक्तों के परमात्मा के पास अप्रभावित मनोदशा से अतिरिक्त और कोई शक्ति (बल) नहीं है। यह अप्रभावित स्थिति ही भक्तों का 'आराध्य देव' है। यही भक्तों की 'आराधना-विधि' है और यही भक्तोंका स्वरूप है। भक्त मनसा, वाचा, कर्मणा इसीका है। भक्तों की इस अप्रभावित स्थिति को समझनेके लिये इस स्थितिपर विस्तारपूर्वक विचार की आवश्यकता है।

[१८] भक्तकी निरहंकार स्थिति।

भक्तका 'निरहंकार मन' ही भक्त का आराध्य ईश्वर है। भक्त मन को शुद्ध कर लेनेपर अपने आपको ईश्वर के हाथों में छोड देता है और निश्चिन्त हो जाता है। मन को अशुद्ध रखकर (अर्थात् अपने को कुटिल खल कामी आदि समझता रहकर) ईश्वर से समर्पण का नाता स्थापित कर सकना औपन्यासिक कल्पना है। मन को अशुद्ध रखना 'अपने को ईश्वर को न देना' है। मन अशुद्ध हो तो ईश्वर के प्रति आत्मदान की बात मुंह से भले ही कही या सुनी जाय परन्तु वह अर्थहीन है। यह अविश्वास्य मनोदशा है। मन को शुद्ध करनेका ही दूसरा नाम 'ईश्वरके प्रति आत्मसमर्पण,' 'मनुष्यता के प्रति आत्मदान' और 'आत्मशुद्धि के लिये सर्वार्पण' है। वह भक्त का आराध्य शुद्धमनरूपी ईश्वर, उससे ईश्वरसेवा करा कर उसे कृतार्थता देता रहता है। वह अपने भक्त को अपनी आराधना का सुमार्ग भी अपने आप ही दिखाता रहता है।

भगवान् के हाथ में आत्मसमर्पण करनेके पश्चात् जब भगवान् ही भक्त से सब कुछ करानेवाले बन जाते हैं, तब भक्तमें यह बुद्धि उत्पन्न हो जाती है कि मैं करनेवाला नहीं हूँ और मैं न करनेवाला भी नहीं हूँ। मेरे आत्मसमर्पण को स्वीकार करनेवाले परमात्माने मुझमें यह बुद्धि उत्पन्न कर दी है कि 'तुम और कुछ मत् करो, तुम केवल इस समर्पण की रक्षा करते रहो। समर्पण की रक्षा ही तुम्हारा एक मात्र कर्तव्य है।' इसका अभिप्राय यह है कि जो बात कर्तव्यरूपमें तुम्हारे सामने आये तुम उसमें प्रत्येक क्षण अपनी निर्विकार मानसिक स्थिति की रक्षा करते हुए कर्तव्यपालन करते रहो। यही ईश्वर के साथ नित्य सम्बन्ध कर लेना है। परमात्मा से नित्य सम्बन्ध स्थापित कर लेनाही 'तपश्चर्या' है। मनुष्य आत्मसमर्पण करते ही पूरा तपस्वी हो जाता है। आत्मसमर्पण ही 'तपस्या' है।

आत्मसमर्पण करते ही मनुष्य का सब जीवन 'तपस्या' बन जाता है। तब जीवन की छोटी से छोटी समझी जानेवाली घटना भी 'तपस्या' हो जाती है। आत्मसमर्पण को स्वीकार करनेवाला परमात्मा मनुष्य से कहता है कि 'तुम प्रत्येक क्षण इसी अवस्था की रक्षा करनेमें लगे रहो। अब से तुम जीवन के एक क्षण के भी मालिक मत् रहो। अब तुम प्रत्येक क्षण कर्तव्यपालन में ही परमात्मसुख का दर्शन करते रहो, यही तुम्हारा कर्तव्य है। ऐसा करोगे तो तुम्हारे पास आया हुआ प्रत्येक क्षण तुम्हारा नहीं रहेगा, किन्तु 'राम' का हो जायगा। जहां राम का अधिकार होता है, वहां से कामक्रोधादि रिपुओंका बाहर निकाल दिया जाना स्वाभाविक हो जाता है। रिपुओंका बहिष्कार करनेवाली इस स्वाभाविक गतिको समझने के लिये 'राम' तथा 'काम' के स्वरूप को समझ लेना चाहिये।

अपने ही शुद्ध मनसे पूछना चाहिये कि 'राम' क्या है और 'काम' क्या है? वह उत्तर देगा कि 'राम' भी मनका एक व्यापार है और 'काम' या इच्छा भी मनका एक व्यापार है। इच्छा करते रहना ही मन का व्यापार है। वह कभी चूप नहीं बैठता। उसका स्वभाव इच्छा करते रहना है।

इच्छा और चिंतन एकही बात है। क्योंकि इच्छा से दूसरा कोई चिन्तन नहीं हो सकता। प्रत्येक चिन्ता में कोई न कोई इच्छा रहती है। हम अमुक वस्तु या व्यक्ति की चिंता करते हैं, इसका यही अभिप्राय है कि यदि वह व्यक्ति या वस्तु सुखदायी हो तो हम उसके संग की इच्छा कर रहे हैं और यदि वह वस्तु या व्यक्ति दुःखदायी हो तो हम उसका विनाश अथवा वियोग देखना चाहते रहे हैं। इच्छा मानव-मन की अनिवार्य अवस्था है। यह स्थिति 'राम' या 'काम' (अहं) इन दो रूपोंमें से किसी एक रूप में मानव-मनमें प्रकट रहती है। 'राम' हो तो उसे सुखी रखती है और 'काम' हो तो उसे दुःखी रखती है।

जितनी इच्छा हैं, सब 'सुखेच्छा' हैं। यहां तक कि मृत्यु की इच्छा भी 'सुखेच्छा' है। जब जीवन से वैराग्य होता है, तब जीवन दुःखमय प्रतीत होता है। उस समय मृत्यु की इच्छा होती है। जीवन के विपरीत अवस्था की इच्छा ही 'मृत्यु की इच्छा' है। यों मृत्यु की इच्छा भी सुखेच्छा है। इसी प्रकार जब मृत्यु में दुःख-भीति होती है, तब जीवित रहने की इच्छा होती है। यह जीवितेच्छ भी सुखेच्छा है।

इच्छा तथा मांगना एक बात है। अभाव पूरा कराने को कहना ही 'इच्छा करना' है। प्रश्न होता है कि इच्छा में किस शक्ति से अभावपूर्ति कराने की भावना रहती है? उत्तर यह है कि, जो शक्ति कोटि कोटि प्राणियों के रहन-सहन-खान-पान आदि का प्रबन्ध सदासे कर रही है, जो जो शक्ति हमारे अस्तित्व में आने से भी प्रथम हमारे लिये प्रत्येक सुविधा की रचना करके रखती है, जिस शक्ति से हम आज तक सब कुछ पा रहे हैं, जो शक्ति कहने पर भी सब कुछ देती है और न कहें तब भी सब कुछ देती है, मनुष्य उस अनबोलती शक्ति से ही अपने अभाव की पूर्ति चाहता है। परन्तु अभागा मनुष्य इस सर्वव्यापक मूक शक्ति को ध्यान में नहीं लाता। वह उसे ईश्वर नाम देना नहीं चाहता। वह उसे ईश्वर नाम देना भले ही न चाहे परन्तु इस शक्ति के न होने की बात को कोई नहीं मान सकता। प्रत्येक प्राणी की उचित इच्छायें इसकी ओर से पूरी की जा रही हैं। इस शक्ति से प्रत्येक प्राणी का अभेद्य सम्बन्ध है, यह बात अस्वीकार नहीं की जा सकती।

*

मनुष्य इस शक्ति का नाम कुछ रक्खे या न रक्खे, परन्तु इतना तो निश्चित है कि वह शक्ति देती है और मनुष्य लेता है। मनुष्य सदा उसका दान लेता रहता है। वह देनेवाली है और मनुष्य लेनेवाला है। मनुष्य प्यास लगने पर उससे निःशब्द भाषा में जल मांगता है। मनुष्य को प्यास लगना ही, उसका उस शक्ति से जल मांगना है। मनुष्यको भूख लगना ही उस शक्तिसे अन्न मांगना है। मनुष्य की इच्छा तथा उससे मांगना दोनों एक बात हैं। इच्छा करते ही मनुष्य उस विराट् शक्तिका भिखारी बन जाता है और व्यावहारिकरूप में उस के अस्तित्व को भी स्वीकार कर ही लेता है। इच्छा करते ही वह शक्ति स्वीकृत हो जाती है। कृतज्ञ मनुष्यसमाज उस शक्ति की महत्ता को पहचान कर, उसे 'ईश्वर' नाम देता है। परन्तु उसे 'ईश्वर' नाम देना महत्त्व की बात नहीं है। उस शक्ति के अस्तित्वको स्वीकार कर लेना ही महत्त्व की बात है। यही 'ईश्वरविश्वास' या 'आस्तिकता' है।

जो मनुष्य इस शक्ति को अस्वीकार करता है, उसे इच्छा करने का भी अधिकार नहीं है। बताओ कि वह किस शक्ति से मांगता है? जहां मनुष्य की मांग जाती है, निश्चय ही वहां कोई अधिकार है। अधिकारी से ही कुछ मांगा जाता है। जब तुम इच्छा करते हो निश्चय ही तुम मांगते हो। तब तुम किसी भण्डारके भिखारी बन चुकते हो।

ऐसी अवस्था में तुम्हारा अपनेको नास्तिक समझने का अधिकार छिन जाता है। जब कि तुम अपनी इच्छा से उस शक्ति के अस्तित्व को स्वीकार करही रहे हो, तब बताओ कि तुम को संसारभरमें किसी को भी नास्तिक बननेका अधिकार कहाँ रह जाता है? जो इच्छा करता है, वह अपने ही हाथों अपना नास्तिक होने का अधिकार छीन लेता है और 'आस्तिक' बन जाता है। इच्छा करना ही इच्छा पूरा करनेवाले प्रबन्ध का आस्तिक बन जाना है। इस विराट् प्रबन्ध-शक्ति को ही 'ईश्वर' नाम से स्मरण किया जाता है। यही 'सच्चा ईश्वर' है। इस ईश्वर को अस्वीकार करने का सामर्थ्य किसी भी विवेकशील में नहीं है। इच्छा होनाही इस प्रबंध के अखंड राज्य को उपलब्ध करके उस राज्य की प्रजा बन जाना है। इच्छा का अभिप्राय यह मान लेना है कि हम किसी इच्छा पूरी करनेवाले प्रबन्ध के अधिवासी हैं।

इस इच्छा के भी दो रूप हैं (१) पहला यह है कि हम इच्छा करते हैं, परन्तु हम इतने अन्धे हैं कि हम केवल इच्छा तथा इच्छा के पूर्ति तक देखते हैं। हमारा संसार इच्छा तथा उसकी पूर्ति तक ही सीमित है। हमें उससे बढकर देखना अभीष्ट नहीं है। हमारा ध्यान इच्छा की पूर्ति या अपूर्ति करनेवाली महीयसी शक्ति तक नहीं जाता। इच्छा को पूरा करनेवाली या अधूरा रखनेवाली महीयसी शक्ति की ओर ध्यान न देने का नाम ही 'नास्तिकता' है। इस इच्छाका दूसरा रूप यह है (२) कि इस इच्छा को करते हुए भी हम कह देते हैं और उचित रूप में कह सकते हैं कि हम इच्छा नहीं करते। हमारी भूक-प्यास भी हमारी इच्छा नहीं हैं। ये भी सब इच्छा पूरी करनेवाले प्रबन्ध की ही इच्छा हैं। वह स्वयं ही अनन्त मार्गों से इच्छा करता है और स्वयं ही अनन्त मार्गों से उसकी पूर्ति करने में लगा रहता है। हमारी भूख प्यास उसकी विश्वव्यवस्था से पृथक् कोई वस्तु नहीं है। यह भी उसी विश्वव्यवस्था का एक भाग है। जिसके पास यह दृष्टि आ गई और अपनी कह सकने योग्य कोई इच्छा नहीं रही, वही 'नास्तिक' है। उसीने विश्वव्यवस्थापक प्रबन्ध को समझा है।

यह बात सूक्ष्म बुद्धि से समझ में आती है कि भूक-प्यास को अपनी इच्छा मान लेना 'सुखेच्छा' है और 'नास्तिकता' है। इच्छा को अपना मानकर, उसकी यथेष्ट (अमर्यादित) तृप्ति करने के चक्कर में पड जाना 'सुखेच्छा' या 'नास्तिकता' है। अपने समझे हुए सुख के लिये प्रयत्न करना 'नास्तिकता' है। उन्हीं के लिये सब कुछ करना 'आस्तिकता' है। तात्त्विक स्थिति यह है कि उन्हीं की इच्छा से भूक प्यास लगती है, और उन्हीं की इच्छा से उसकी निवृत्ति होती है, या नहीं होती। इस तथ्य को इस रूपमें समझ जाना ही 'आस्तिकता' है। इस दृष्टि से विचार किया जाय तो इच्छा ही 'राम' बन जाती है। यदि इस दृष्टिसे विचार न किया जाय तो इच्छा ही 'काम' या 'अहं' अथवा मनुष्य के कंधों पर सवारी लेनेवाला शैतान बन जाती है।

इच्छा में ही 'राम' रहते हैं और इच्छा में ही 'अहं' रहता है। जब 'अहं' आता है, तब 'राम' भाग जाते हैं। जब 'राम' आते हैं तब 'अहं' लुप्त हो जाता है। 'अहं' का अभिप्राय 'प्रवृत्ति' है और 'राम' का अभिप्राय 'निवृत्ति' है। प्रवृत्ति का अर्थ 'सुखकी इच्छा' है और निवृत्ति का अर्थ 'रामकी इच्छा' है। 'रामकी इच्छा' से पृथक् अपनी कोई इच्छा न रहना (अर्थात् अपनी इच्छा को राम की इच्छा में विलीन कर देना) 'निवृत्ति' का अभिप्राय है। जब यह अवस्था आती है, तब मनुष्य का मन सागर में जलबिन्दुके समान 'राम' की विशाल इच्छा में तदाकार हो जाता है। तब चाहे बाह्य संज्ञाहीनता (बेहोशी) हो, चाहे चेतना हो, दोनों अवस्थाओंमें मन एक ही सच्चिदानन्दरूप में रहता है।

'इन्द्रियोंकी सम्भोगस्पृहा' ही 'सुखेच्छा' का अभिप्राय है। 'इन्द्रियों की संभोगस्पृहा' तथा 'सुखेच्छा' दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। इन्द्रियों के स्वभाव के पीछे दौड लगाना ही 'सुखकी इच्छा' है। सुखकी इच्छा मानव-मनकी अपूर्णता की सूचना है। 'राम' तथा 'पूर्णता' पर्यायवाची शब्द हैं। 'हम' तथा 'अपूर्णता' भी पर्यायवाची शब्द हैं। 'काम' के बन्धन में फंस जाना 'अपूर्णता' है। किसी काम्य पदार्थको अपना अधिकार (हक) समझ लेना अथवा उसमें ममत्वबुद्धि कर लेना 'अपूर्ण बन जाना,' 'अपने में कमी को स्वीकार कर लेना' और 'अपने को अधूरा मान लेना' है। यही 'श्रद्धाहीनता' और 'नास्तिकता' का स्वरूप है। जितनी इच्छा हैं, वे सब 'काम' में या अपने को अधूरा अपूर्ण (अधूरा) समझने में समायी हुई हैं। जब मनुष्य यह समझनेकी भूल करता है कि, मेरा अधिकार होकर भी मुझ से पृथक् पड़ा है, तब उस समझ को 'अपूर्णता' कहा जाता है। अपने को अपूर्ण समझना सम्पूर्ण दुःखोंका जन्मस्थान है। जब कहा जाता है कि, मैं अपूर्ण हूँ और पूर्ण होना चाहता हूँ, तब यह पूर्ण होनेकी इच्छा इसीलिये है कि पूर्णता का अभाव हो गया है। अर्थात् पूर्णता को खो डाला गया है। पूर्णता के खो जानेकी अवस्था 'दुःखदायी अवस्था' है।

जब अपने को अपने सुख से अपूर्ण कहा जाता है, तब दूसरे शब्दोंमें अपूर्ण रहनेका यह निश्चय प्रकट किया जाता है कि, मैंने अपूर्ण रहना स्वीकार कर लिया है। मैं अपूर्णता से आगे पैर रखना नहीं चाहता, मुझे अपूर्णता में स्वाद

आने लगा है। जब अपूर्ण रहना स्वीकार कर लिया जाता है, तब अपूर्णपने का दुःखदायी होना समझ में नहीं आ सकता।

जब कि अपूर्ण रहकर ही पूर्णानन्द पाने की असम्भव आशा लगा ली गयी है, तब अपूर्णता दुःखदायी प्रतीत नहीं हो सकती। संसार में जो पूर्णता की इच्छा की जाती है, वह अपूर्ण बने रहकर अपूर्णता के मोह को न छोडकर की जाती है। अपूर्ण रहकर पूर्ण होना चाहना ही संसार के दुःखों का मूल कारण है। संसार को जो दुःख हैं वे अपूर्णता से नहीं हैं, किन्तु अपूर्ण रहकर पूर्ण हो जाने की असम्भव इच्छा से हैं। ऐसी परिस्थिति में मूरख, खल, कामी तथा अपूर्ण बने रहकर भी जो कि पूर्णत्व की इच्छा की जाती है, या भौतिक भोगों की सहायता से पूर्णता को लाने का कृत्रिम प्रबन्ध रचा जाता है, इस कृत्रिम प्रबन्ध से भगवद्भक्ति की आनन्दमयी स्थिति नहीं आ सकती। परमार्थ से दूर बैठकर परमार्थलाभ नहीं हो सकता। परमार्थमग्न होकर ही परमार्थलाभ हो सकता है। परमार्थलाभ भौतिक लाभ के समान दूर से नहीं हो सकता। कोई प्रकाश में ही रहता हो और प्रकाश में ही रहने की इच्छा करता हो, तो उससे भक्त की आनन्दमयी स्थिति को समझा जा सकता है। प्रकाश में रहनेसे प्रकाश में रहने की इच्छा समाप्त नहीं होती। उसके जीवन में प्रकाश से पृथक् न रहने के लिये एक आनन्दपूर्ण कर्मधारा बहती है। भक्त को उस कर्मधारा में प्रत्येक क्षण शांति मिलती रहती है। भक्तको मिलनेवाली यह 'शान्ति' ही 'परमात्मा' है। यह परमात्मा भक्तको कर्तव्यरूप में आकर दर्शन देता है। यह 'परमात्मा' मानवीय कर्तव्यों को टाल देनेवाले अभक्तों के सामने नहीं आता। यह उनसे सदा ओझल रहता है। कर्तव्य को टालने की आलस्यमयी भोगपरायण मनोदशा 'ईश्वरको न देखने देनेवाला परदा' है। कर्तव्य-पालन से ही 'परमात्मासे मिलने का सुख' प्राप्त होता है। जिसे परमात्ममिलन का सुख लेना हो, वह कर्तव्य-पालन में मग्न होकर, कर्तव्य-पालन का सन्तोष भोगे और इस सन्तोषको ही 'परमात्म-मिलन का सुख' नाम देकर भोगे। इससे भिन्न 'परमात्म-मिलन का सुख' नाम का कोई भी भौतिक स्वाद नहीं है। जब कर्तव्य की पहिचान हो जाती है, तब कर्तव्य में ही परमात्मा का पूर्ण दर्शन तथा संभोग मिल जाता है। जहां कर्तव्य की पहचान में चूक होती है, वहीं परमात्म-मिलन असम्भव बन जाता है।

'कर्तव्य' वही है जो कि 'राम' कराते हैं। जिसमें स्वार्थ-बुद्धि का लेश भी नहीं है, जो हमें करना ही चाहिये, जिसका हमें कोई भौतिक फल नहीं चाहना चाहिये, जिसको पालन करने से कर्तव्यपालन कर चुकने का सन्तोष-रूपी फल उसी क्षण हात आ जाता है, जिसमें किसी भौतिक फल की प्राप्ति स्थगित नहीं रक्खी जाती, और मन को फलाशारूपी बन्धन से नहीं फांसा जाता, जिसको पालने में मनकी स्वतन्त्र तथा निर्विकार स्थिति की रक्षा होती रहती है, जिसको पालने में कभी हानी नहीं उठानी पडती, जिसके पालन की शक्ति परमात्मा की ओर से उस के साथ ही आती है, जिसका पालन न करने से सुखेच्छा-रूपी बन्धन में फँस कर दुःख उठाना पडता है, जिसका पालन करने से ही बन्धन कटता है, जिसका पालन करते ही मन हलका हो जाता है, जिसका पालन करते ही मन से दुश्चिन्तारूपी बोझा उतर जाता है, वही 'कर्तव्य' है। ऐसे कर्तव्यनारायण का पालन करने पर ही भक्तों को परमात्मा के (अर्थात् निर्विकार मानसिक स्थिति के) दर्शन होते हैं। यों भक्तों की निर्विकार स्थिति अपने आप ही अपनी रक्षा करती रहती है। प्रकाश में रहनेवाले मनुष्य का प्रकाशप्रेम सदा प्रकाश में रहने के अदम्य निश्चय के रूप में प्रकट होता रहता है। प्रकाश में रह जाने पर स्वभाव से उसी में रहने की इच्छा होती है। प्रकाश में रहने की इच्छा ही अन्धकार को हटाते रहने का रूप धारण करती रहती है।

अन्धकार प्रकाश का दर्शन नहीं कराता। अन्धकार का यही धर्म है, कि सदा प्रकाश को आवृत करने का उद्योग कराता रहे और इसी उद्योग में अपने को म्लान कर ले। जो ऐसी भावना रखता है कि मैं अन्धकारमें हूं, अर्थात् अज्ञानी हूं, उसे अन्धकार में ही रहना पडेगा। ऐसे मनुष्य का जब राम की इच्छा होगी तब किसी न किसी दिन प्रकाश का दर्शन हो जायगा, यह समझ बैठना आत्मवंचना है। जबतक प्रकाश दर्शन की इच्छा न जागे तबतक तुम्हें अन्धकार के दर्शन की इच्छा है। तुम प्रकाश के दर्शन का

केवल स्वप्न देख रहे हो। ऐसी इच्छा अन्धकाररूपी मोह-निद्रा में रहते हुए विकाराधीन रहने की इच्छा है। यह कोई ऊंची अवस्था नहीं है। यह सन्तोष मानने योग्य अवस्था नहीं है। जब तक अन्धकार में रहने की इच्छा बनी रहेगी, तब तक अन्धकार में रहना पडेगा। जब तक तुम अन्धकार में हो तब तक तुम्हें अन्धकारवास की ही प्रबल इच्छा है। यदि ऐसी इच्छा अनन्त काल तक रहेगी तो अनंत कालतक अन्धकारमें रहोगे। किसी न किसी दिन ऐसी इच्छा का अन्त हो जायगा, सृष्टि की नियमावली में ऐसा कोई नियम नहीं है। अनन्त माया का बन्धन भी अनन्त हो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। जब तक राम की इच्छा नहीं होगी, तब तक अन्धकार में रहने में ही आत्मसंतोष भोगने की इच्छा शैतान के अधिकारमें रहकर आत्मवंचन करना है। अन्धकार में रहने की इच्छा या अनुमति ही 'अहं' या 'शैतान' है।

अन्धकारमें न रहने की इच्छा या आग्रह ही 'राम' है। जब तक अन्धकार में रहने की इच्छा वर्तमान है, तब तक 'राम' कल्पना से बाहर खडा रहता है और तब तक उसके स्थानपर अन्धकार में रहने के बहाने के रूप में 'राम की अकृपा' बैठी रहती है। जब तक अन्धकारवास का मूढ प्रेम नहीं मिटता तब तक भक्तवांच्छा कल्पतरु 'राम' को अस्वीकार किया जाकर विपरीत सम्मति देते रहनेवाले 'अहं' को स्वीकार किया जाता है। 'अहं' ही 'शैतान' है। 'राम' को अस्वीकार करने की मनोवृत्ति 'अहं' कहाती है। 'अहं'को पददलित कर देनेसे 'राम' प्रकट होता है। जीवन में 'राम' का प्रकट हो जाना ही भक्त की निरहंकार स्थिति बन जाती है।

[१९] 'नैष्कर्म्य स्थिति का अभिनय (दिखावा) भक्ति की निरहंकार स्थिति नहीं है'।

भक्त का अपने भगवान् के साथ निठल्लेपन या आलसी होकर कर्तव्यहीन अवस्था में पडे रहकर जीवन काटने का सम्बन्ध नहीं है। उसका उसके साथ 'कर्तव्य-पालन' या 'सेवा' का सम्बन्ध है। भक्त सदा अपने भगवान् के साथ 'सेवा' और 'प्रार्थना' इन दो सम्बन्धों से जुडा रहता है। वह या तो 'सेवामग्न' या 'प्रार्थना-रत' रहता है। भक्त का एक क्षण भी कर्तव्य से हीन नहीं बीतता। उसका समग्र जीवन कर्तव्य से भरा रहता है। भक्त का जीवन पूरा पूरा व्यग्र जीवन होता है। भक्त खाली बैठना नहीं जानता। भक्त के पास अपना कह सकने योग्य एक क्षण भी नहीं रहता। उसका सब समय उसके शुद्ध मनरूपी भगवान् का हो चुका है। भक्त का समय भक्त के पास रक्खी हुई भगवान् की धरोहर है। भक्त को केवल उसकी सुरक्षा तथा सदुपयोग का ही अधिकार है। जो कर्तव्य भक्त के पास उपस्थित रहता है, वह उसे भगवान् के रूप में देखता है।

यही कारण है कि भक्तों से कर्तव्य-पालन नहीं टाला जाता। वे कर्तव्यरूप में उपस्थित होनेवाले शरीरविनाश को भी भगवान् का भेजा हुआ सौभाग्य मानते हैं। वे जानते हैं कि यदि हम कर्तव्य को पालेंगे तो हमारे भगवान् हमें निर्विकार मानसिक स्थिति के रूप में दर्शन देंगे। ऐसा कर्तव्यरूपी भगवान् भक्तोंकी आभ्यन्तरिक आराधना का रूप धारण कर लेता है और आठों पहर भक्तों के हृदय में बैठा रहता है। अभिप्राय यही है कि भक्त प्रत्येक समय अपना कर्तव्य पालन करके अपनी निर्विकार मानसिक स्थिति नामवाले अपने भगवान् की आराधना करता रहता है। वह आठों पहर अपने मन में विकार न आने देने के लिये निर्निमेष भावसे जागता रहता है। ऐसी सजगता ही 'सच्चे भक्तों की सच्ची ईश्वरभक्ति' है। भक्त अपने मन में विकार न आने देने को ही भगवान् से मिलना मानते हैं।

भक्तों का यह निर्विकार मनोदशारूपी भगवान् जिस रूप में कर्तव्य में प्रकट होता है, चिन्तन में भी इसी रूप में प्रकट होकर भक्त के सम्पूर्ण मन पर प्रत्येक समय अधिकार जमाये रहता है। मन में इस मानस स्थिति की आराधना ही 'प्रार्थना' का रूप धारण कर लेती है।

प्रार्थना में तीन प्रकार की मनोवृत्ति देखने में आती है- (१) एक तो इस प्राप्त की हुई मानसिक स्थिति की निरंतर रक्षा की भावना को जगानेवाली 'प्रार्थना' है। (२) दूसरी, किसी अप्राप्त आनन्द के पीछे जानेवाली 'प्रार्थना' है अर्थात् दूसरी प्रकार की प्रार्थना आनन्द की

पाने की इच्छा करती है। (३) तीसरी प्रार्थना भूल से इस मानसिक स्थिति से विपरीत निरानन्द मानसिक स्थिति को अपना इष्ट देव मानती है। अर्थात् वह भूलसे विषय-विकार को (अथवा विषयजन्य व्याकुलता को) आनन्द मान लेती है, खुल्लमखुल्ला विषयों में फंसे रहने की इच्छा करती है।

यह तीसरी प्रार्थना प्रायः इस भाषा में की जाती है कि हे मेरे भगवान्! मुझे विषय दो, स्त्री दो, पति दो, पुत्र दो, धन दो, ऐश्वर्य दो, मान दो, यश दो, इत्यादि। दूसरी प्रार्थना की भाषा यह होती है कि, हे भगवान्! आप मेरी विषयवासना को नष्ट करो। पहिली प्रार्थना का प्रकार यह है कि, हे भगवान्! मैंने विषयविकार को त्याग दिया। आप ऐसा करो कि विषयवासना मेरे मन में न घुसने पाये।

भगवान् से विषय मांगनेवाली तीसरी प्रार्थना में स्पष्ट ही विषय लालसा प्रकट हो रही है। इस मांग में स्पष्ट रूप से ईश्वर का प्रेम नहीं है। इस में ईश्वर को अपना आज्ञाकारी दाता मान रक्खा है। मानो ईश्वर का काम प्रार्थना करनेवालों की विषयसुखेच्छा पूरी करना हो। तीसरी श्रेणीवालों का काल्पनिक ईश्वर ईश्वर नहीं है। वह ईश्वर नामवाला विषयतृष्णारूपी 'शैतान' है।

दूसरी प्रकार की प्रार्थनामें यह भूल है कि उसमें अपने में विषयवासना स्वीकार की जा रही है, और यदि कोई कृपालु आकर विषयवासना का विनाश कर दे तो उसका विनाश देखने की इच्छा प्रकट की जा रही है। परन्तु यह 'मनोदशा' बडी विचित्र है। विषयों को ग्रहण करने या त्यागने में से कोई एक इच्छा हो सकती है, दोनों नहीं। जिसने विषयों को ग्रहण कर रक्खा है, उसे विषयत्याग की इच्छा नहीं है। उसकी विषयत्यागकी इच्छा 'धोखा' है। जो विषयों को त्याग चुका है, उसे ग्रहण की इच्छा नहीं हो सकती। किसी मनुष्य की इस प्रकार की मानसिक स्थिति नहीं हो सकती, कि मुझे विषयोंकी आवश्यकता नहीं है, फिर भी मेरे मनमें विषयवासना है। तुम विषयों को भी चाट रहे हो और विषयवासना न रहने की इच्छा भी करते हो, ये सब बिना सिर पैर की ऊँटपटाँग बातें हैं। तुम्हारी बात का यह अर्थ निकलता है कि किसीने तुम्हें विवश करके विषयमें आसक्त कर रक्खा है। यदि थोडी देर को यह असम्भव बात मान भी ली जाय, कि तुम विषयासक्त नहीं रहना चाहते, तो बताओ कि तुम्हें विषयासक्ति में विवश करनेवाला कौन है? जब तुम अपने मनसे इस प्रश्न का उत्तर माँगोगे तब वह कहेगा कि मुझे विषयसुख की मधुरताने ही विवश कर रक्खा है। सच बात यह है कि यदि तुम्हें विषय कडवा लगता होता, तो तुम कभी विषयासक्त रहने के लिये विवश न किये गये होते। बात यह है कि तुमको स्वयं ही विषयमें मिठास आ रहा है। जैसे मार्गस्थ साँप के ऊपर रक्खे जानेवाले पैर को बीचमें ही रोक लिया जाता है, ऐसे ही विषय कडवा लगता तो उसे उसी समय थूक दिया गया होता। हमें कोई कडवी वस्तु खाने के लिये विवश नहीं कर सकता। मीठी वस्तु को चाहना स्वाभाविक बात है। मीठी वस्तु की चाह किसीसे रोकी नहीं जा सकती। चाहना यह बताता है कि अभिलषित वस्तु में मिठास आ रहा है। मनुष्य उसीको चाहता है जिसके मीठेपन में उसे भ्रम नहीं होता। जिसे तुम चाहते हो, उसके मीठा होने में तुम्हें लेश मात्र भी सन्देह नहीं है। तुम अपने आपको धोखे में मत रक्खो। क्योंकि तुम विषय में आसक्त रहने के लिये विवश हो। इसलिये तुम्हें विषय में मिठास प्रतीत होना सचाई है। तुम ऐसे मीठे विषयों को कभी छोडना नहीं चाहते और चाह भी नहीं सकते।

प्रश्न होता है कि फिर हम क्या छोडना चाहते हैं? उत्तर यही है कि तुम विषयों को छोडने को उद्यत नहीं हो, किंतु विषयवासना को त्यागना चाहते हो। विषय जैसी मीठी वस्तु को न छोडकर मन में विषयवासना का अभाव देखने की तुम्हारी उत्कंठा का अभिप्राय यह है, कि तुम विषयवासना की तृप्ति चाहते हो। विषय तुमको दुःख नहीं देते। क्योंकि वे मीठे हैं। उन्हें तो तुम चाह ही रहे हो। तुमको जो दुःख प्रतीत होता है, वह तुम्हारी अतृप्त विषयवासना का दिया हुआ है। वही तुम्हें दुःख दे रही है। यदि वह किसी प्रकार तृप्त हो, जाय तो तुमको यह दुःख भी न रहे। जब कि तुम विषयों में मिठास को स्वीकार करते हुये विषयवासना से दुःखी होते हो, तब यह निश्चित है कि तुम्हें वासना की अतृप्ति असह्य प्रतीत

हो रही है। यदि किसी प्रकार तुम्हारी वासना पूर्ण तृप्त हो जाय, तो तुम्हारी ईश्वरप्रार्थना पूरी हो जाय। निश्चय ही फिर तुम अपने भगवान्‌से कुछ नहीं मांगोगे। तुम्हारी मानसिक दशा निम्न भाषा में प्रकट होती है- तुम विषयों की आपात मधुरता के स्थानपर किसी स्थायी विषय को खोज रहे हो। परन्तु संसार में स्थायी विषय नाम की कोई वस्तु नहीं है। तुम अपने मन को पढकर देखोगे तो पाओगे कि तुम दिन रात विषयों को चिरस्थायी करके अपने पास रखने के असम्भव प्रयत्न में लग रहे हो। तुम्हारे सम्पूर्ण उद्योगों का यही असम्भव उद्देश है कि किसी प्रकार ये विषय सदा मेरे पास रहें। अपने विवेकी मन से पूछकर देखोगे, तो वह बता देगा कि तुम्हारी इस मनोवृत्ति का अभिप्राय विषयमोह के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस प्रकार के विषयमोह को ईश्वरप्रेम का पावन नाम कभी मत् दो। ऐसे नामकरण से मन विकृत होता है। इसको विषयमोह समझकर त्यागनेमेंहीं कल्याण है। विषयवासना को त्याग कहनेवाली इस कपट-प्रार्थना में भी किसी स्थायी विषयसुख बांटनेवाले तथा प्रार्थना की आज्ञा पालनेवाले ईश्वररूपी 'शैतान' की कल्पना काम कर रही है।

तुमने पानीमें तैरनेवाले रीछ को कंबल समझकर जाकर पकडा था, अब तुम्हें उस रीछ का पंजा दुःखदायी लग रहा है। अब तुम अपने को उस (अतृप्त विषय-वासनारूपी) रीछसे मुक्त करना चाहते हो। तुम आज भी तो स्थायी विषयरूपी कंबल को छोडने को उद्यत नहीं हो। इस ढंग की प्रार्थनाओं की गुप्त मनोदशा को स्पष्ट भाषामें इस प्रकार रक्खा जा सकता है कि हे प्रभो! हम विषय को ही चाह रहे हैं, हम तुम्हें नहीं चाहते। तुमही कृपा करके हमारी विषय-वासना को दूर कर दो और तुम्हीं कोई ऐसा प्रबन्ध कर दो कि हम तुम्हें चाहने लगें। हे प्रभो! कृपा करके हमको ऐसा बना दो कि हम विषयों न चाह कर, उनके स्थान पर तुम्हें चाहने लगें। इस सब का स्पष्ट भाव यही है कि हे प्रभो! तुम अपनी किसी आवश्यकता से विषय से भी अधिक मीठे बनकर हमें दर्शन दो। विषय ही हमारे पास मीठेपन की कसौटी है। जब हम तुम्हें विषयोंसे अधिक मीठा देखेंगे, तब हम तुम्हें अपनायेंगे।

इसका भाव यह हुआ कि इस प्रार्थी के मन में वैषयिक मीठेपन की लालसा है। ऐसी वैषयिक मिठास विषयों में ही हो सकती है, ईश्वर में नहीं। जो ईश्वर में ऐसी मिठास चखना चाहेगा, वह चाहे अनन्त काल तक ईश्वरदर्शनार्थ प्रयत्न करता रहे, उसे ईश्वरदर्शन से वंचित रहना पडेगा।

जब तक किसी वस्तु का राग बना हुआ है, तब तक वह अवस्था ईश्वरदर्शन की अवस्था नहीं हो सकती। यदि किसी मन में किसी प्रकार का मिठास चखने की इच्छा हो तो उस मन को ईश्वरदर्शन नहीं हुआ, समझ लो। मिठास अथवा सुख इच्छा के सर्वथा न रहने में ही सच्चा सुख अथवा ईश्वरदर्शन है। मन को सुख के राग से बचा कर रखना ही ईश्वर दर्शन करना है। किसी प्रकार के सुख को न चखना ही ईश्वर-दर्शन करना है। ईश्वरदर्शनार्थी में सुख-राग नहीं होना चाहिये। जैसे फल पर कोई दूसरा फल नहीं लगता इसी प्रकार आनन्दस्वरूप आत्मा को दूसरे आनन्द की कोई आवश्यकता नहीं है। उसे केवल स्वरूप में पहुँचना चाहिये। उसका स्वरूप में पहुँच जाना ही आनन्द की प्राप्ति है। अपने मन को मैं पूर्ण हूं, पवित्र हूं, आनन्दस्वरूप हूं, इस शुद्ध भावना के प्रताप से निश्चल रखना चाहिये। मन की आने जानेवाली चंचल अवस्था नहीं रहनी चाहिये। मन पर बाह्य विषयों का प्रभाव नहीं पडना चाहिये। अर्थात् बाह्य विषय प्रभावातीत रहने के साधन बन जाने चाहियें। ईश्वरदर्शन करनेवाले पुरुष का चित्त विक्षेप के कारणों के सामने खडे रहने पर भी अविक्षिप्त रहने के आग्रहवाला होना चाहिये। इस को ऐसी अवस्था को 'ईश्वर-दर्शन' समझकर सन्तोष भोगना चाहिये।

ईश्वरदर्शन में कुछ विषय जैसा आनन्द आता होगा, ऐसी कल्पना की जायगी तो ईश्वरदर्शन से वंचित रहना पडेगा। ईश्वरदर्शन आनन्द आने की अवस्था नहीं है। वह कोई भोग्य अवस्था नहीं है। वह तो स्वरूपारूढ रहने की अवस्था है। किन्तु वह स्वयं ही आनन्दरूप हो जाने की एक परमोत्तम अवस्था है।

जब मनुष्य को आनन्द भोगने की इच्छा होती है, तब उससे मनुष्य का आनन्दहीन होना सिद्ध होता है। तब

मनुष्य आनन्द से दूर हटकर बैठा होता है। अर्थात् तब वह निरानन्दता का दुःख भोगने की अवस्था में रहता है। आनन्दपूर्ण होने के लिये यह आवश्यक है कि लेश मात्र भी आनन्द को भोगनेकी इच्छा न हो। केवल अपने स्वरूप में आ जाना ही आनन्दपूर्ण हो जाना है। आत्मा की सत्यता का ज्ञान हो जाने पर आयी हुई मन के शान्त तथा निश्चल हो जाने की अवस्था (अर्थात् सुख की मांग न रहने की अवस्था) परमार्थसुख की अवस्था है। यही अपने में पहुँच जाने की अवस्था है। इसी को आत्मा का 'केवलीभाव' कहते हैं। इसी को अकथनीय अवस्था कहा जाता है। यही ईश्वरदर्शन की अवस्था है। ईश्वर में भी विषय जैसा मिठास चाहना विषयों का मोह है, यह ईश्वर-प्रेम नहीं है। विषयोंमें आरोपित मिठास की लालसा ही विषयविकार है। जो प्रार्थना विषयों की लालसा से प्रभावित रहकर की जाती है, वह ईश्वर के पास नहीं पहुँचती। किन्तु 'शैतान' के पास चली जाती है।

इन दूसरी-तीसरी प्रार्थनाओंमें एक ही प्रकारका विषय-मोह है, दोनों में विकारग्रस्त होकर किसी ईश्वरनामधारी 'शैतान' के चरणों में बैठकर आंसू बहाये जाते हैं और लम्बी चौडी बातें हांकी जाती हैं। इस ढंग की प्रार्थनाओं के साथ ईश्वरप्रेम का कोई सम्बन्ध नहीं है।

जब सच्चे ईश्वरभक्त की अपने भगवान् से बातचीत होती है, तब उसकी भाषा एक निश्चित प्रकारवाली होती है। उसमें विषयगंध नहीं होता। सत्यनारायणरूपी अप्रभावित मानसिक स्थिति की रक्षा करने का दृढ निश्चय ही ईश्वर-प्रार्थना या ईश्वरभक्ति कहलाने योग्य है। मन की अप्रभावित स्थिति नाम के ईश्वर की आराधना करना जीवन का अखंड व्रत बन जाय तब ही ईश्वरभक्ति का निभाव होता है। जब ईश्वर-भक्ति प्रारम्भ होती है, तब प्रत्येक क्षण आठों पहर, तीसों दिन, बारहों मास और जीवनभर चालू रहती है। फिर उसका विराम करनेवाली घटना आज तक नहीं हुई।

[२०] अहंबुद्धि या कामना का स्वरूप।

सत्यनारायणने अपने हाथों से इस विराट् सृष्टि और इसके उत्पादन, रक्षण तथा विनाश नाम के दिव्य प्रबन्ध को इसलिए रचा है, कि इससे भक्तों की अहंबुद्धि को विनष्ट किया करूंगा। वे सत्यनारायण मनुष्य को आशा, निराशा, या प्रतीक्षा कुछ न रहे, उसमें केवल कर्तव्य-पालन की एक अवस्था शेष रह जाय, वह अपनी सत्ता का अहंकार भी करना छोड दे, ऐसी दिव्य अवस्था की ओर प्रत्येक मनुष्यको ले जाना चाह रहे हैं। वे सबकी आशाओं को तोड फोडकर सब को इस दिव्य अवस्था में बुलानेका मूक निमन्त्रण दे रहे हैं। यों अनन्तत्व की साधना स्वभाव से चल रही है। वे सत्यनारायण अपनी सांकेतिक भाषामें सबसे एकही बात कह रहे हैं, कि—

'यह सब संसार मेरा है। मैं इसमें अपनी इच्छानुसार तोडफोड करता रहता हूँ। तुम इसे मुझसे छीनकर मत् अपनाओ।' वे सत्यनारायण अपनी प्रत्येक चेष्टा से मनुष्य को प्रत्येक समय यही बता रहे हैं कि तुम कितने क्षुद्र; तुच्छ तथा नगण्य हो। वे इन्हीं दो शब्दों में मनुष्य को 'संपूर्ण शास्त्रों का सार' पढा रहे हैं कि 'तुम कुछ भी नहीं हो, जो कुछ है वह सब हमारा है। यह संपूर्ण जगत् तथा इसके सूर्य-चन्द्र-ग्रह-नक्षत्र आदि हमारी शक्तिसे ही गतिशील हो रहे हैं।' वे मनुष्य को यह भी समझा रहे हैं कि देखो, संसार के ये अनन्त प्राणी तुमसे अपना कोई सम्बन्ध रक्खे बिना, तुमपर लेशमात्र भी निर्भर हुए बिना, अपना अपना कार्य चला रहे हैं। तुम ही एक ऐसे मूर्ख हो कि प्रत्येक के साथ कुछ न कुछ नाता जोडकर, प्रत्येक से कुछ न कुछ बात छेडकर, अपना परिचित बनाकर सारे संसार को अपने बन्धन में फंसाने के लिये, तथा अपने को भी सारे संसार-बन्धन में फंसाने के लिये अविराम भावसे प्रयत्न कर रहे हो। आंख खोलकर देखो कि तुम क्या कर रहे हो? तुम इस सब जगत् को अपने देह की ओर आकृष्ट करने के लिये ही संपूर्ण उद्योग कर रहे हो। तुम्हारे मनमें जो कोई इच्छा उत्पन्न हो जाती है, तुम उचित अनुचित का विचार छोडकर, उसीके पीछे अंधे हो जाते हो। तुम्हारी सब इच्छाओं के मूलमें केवल यही भावना है कि किसी प्रकार जगत् से तुम्हारा नाता जुडा रहे, जगत् से तुम्हारा नाता टूटने न पाये। तुम चाहते हो कि, यह जगत् तुमको सन्तुष्ट किये बिना (तुम्हारी इच्छा पूरी किये बिना) व्यर्थ हो जाय, इसीका नाम 'अहंबुद्धि' या 'कामना' है।

परन्तु यह पूर्णरूप से हमारी इच्छा पर निर्भर है कि हम वह चाहे तो 'अहम्' रह सकते हैं और चाहें तो राम हो सकते हैं। हमने जो होना निश्चित कर लिया है, वही आज हम हैं। यदि हमने 'अहं' रहने का निश्चय कर लिया है, तो आज हम 'अहं' हैं। यदि हमने 'राम' होना स्वीकार कर लिया है, तो आज हम 'राम' हैं।

यदि हमने 'अहं' रहना स्वीकार किया है, तो हम किसी काम को आराम की दृष्टि से छोडेंगे और आराम की दृष्टिसे ही उसे ढूँढेंगे। यदि हमने 'राम' होना स्वीकार किया है, तो जब राम हमसे किसी वस्तु को ढुंढवायेंगे तब सेवा के लिये ढुंढवायेंगे और जब वे किसी वस्तु को छुडायेंगे, तब सेवा के लिये छुडायेंगे।

जब अहं-बुद्धि किसी वस्तु को छुडवाती है, तब उस वस्तुमें अपना (अहं-बुद्धि का) अकल्याण देख लेती है, इसीसे उसे छुडवाती है। रामसमर्पित बुद्धिसेवक जो कुछ छोडता है, उसमें आत्मा का अकल्याण देख कर छोडता है।

'अहं' बुद्धि आर्थिक लाभालाभ की दृष्टिसे त्याज्य-ग्राह्य का निर्णय करती है। 'रामार्पित बुद्धि' आत्मा के उत्थान या पतन का विचार करके त्याज्य ग्राह्य का निर्णय करती है। अहंबुद्धिके त्याज्य-ग्राह्य की कसौटी 'भोगबुद्धि' होती है। रामसमर्पित बुद्धिके त्याज्य-ग्राह्य की कसौटी 'कर्तव्य बुद्धि' होती है। जो वस्तु उसके कर्तव्यमें बाधा डालती है, वह उसीका संग त्याग देता है। वह उसे इसीलिये त्याग देता है कि कर्तव्य-पालन के लिये जिस वस्तु के संगमें रहना उचित नहीं है, उस वस्तु से पृथक् रहने से ही 'सेवा' के अनुकूल परिस्थिति बनती है। उदाहरणार्थ यदि सांप का संग हानिकारक है तो सांप से दूर रहना 'कर्तव्य' है। ऐसी अवस्थामें सांपसे दूर रहना ही आकर्षक है। सेवक लोग इसी मनोवृत्ति को लेकर किसी अवस्था व्यक्ति वस्तु या परिस्थिति को छोडकर अन्यत्र जाते हैं। कोई स्थानविशेष उन्हें अपने भौतिक रूप से आकर्षित नहीं कर सकता। भक्त किसी आकर्षण से खिंचकर कहीं नहीं जाते। कर्तव्य ही उन्हें खींचता है और कर्तव्य ही उन्हें बांधकर बैठाये रहता है।

[२१] वैराग्य का शुद्ध स्वरूप।

भक्तके सामने जब कभी किसी विषय या विषयी व्यक्ति के संग को त्यागने का प्रश्न आता है, तब वह उसपर निम्न रीतिसे विचार करता है कि, क्या ये विषय या विषयी मनुष्य मेरे लिये सर्प के समान हानिकारक हैं? या मेरी 'विषयवासना' हानिकारक है? वह सोचता है कि बाहरके तो किसी भी पदार्थमें मुझे हानि पहुंचाने की शक्ति नहीं है। मेरे अन्दर रहनेवाली 'विषयवासना' ही मुझे काटने-वाला सांप है। मुझे उसी का संग छोडना है। मैं किसी वस्तु, व्यक्ति या स्थान का संग त्याग देनेपर भी मनको 'विषयवासना' रूपी सांप से नहीं बच सकूंगा। भक्त की 'विषयों में दोषदृष्टि' का यही अभिप्राय होता है कि वह विषयवासना नाम के हृदयस्थ विषयमें 'दोष-दृष्टि' करता है। वह मनमें लोटनेवाले विषयवासनारूपी सांप को हानिकारक समझता है और उसे ही त्यागता है।

'विषयों में दोष-दर्शन' का यह अभिप्राय नहीं कि किसी मानवस्त्री-पुरुष देह के दोषों का चित्र खेंचकर, घृणा का वायुमंडल बनाकर, उसमें अपने महात्मापन का काल्पनिक चित्र देखा जाय। क्योंकि किसी मानव-देह या उसके रूप-रसादिमें दोषदर्शन करते रहने से, 'आत्म-सुधार' नाम का प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। बाह्य विषयों में दोष-दर्शन करते रहने का कोई महत्त्व नहीं है। दूसरे शरीरों को बुरा भला कहकर महात्मा या वैरागी बनने का प्रयत्न निष्फल है।

जो हमारे लिये अकल्याणकारी है, वही हमारे लिये 'दोष' है। यह मानवदेह क्षणभंगुर है। इसका क्षणभंगुर पना हमारे लिये अकल्याणकारी नहीं है। इसके क्षणभंगुर होनेसे हमारी कोई हानि नहीं है। जो मनुष्य इन देहादि पदार्थों के क्षणभंगुरपने को अकल्याणकारी मानेगा, वह अवश्यही अभंगुरपने को या स्थायीपने को कल्याणकारी भी समझेगा। अर्थात् जो इस रीति से मनको समझा कर वैरागी बनाना चाहेगा, उसको यदि कहींसे लाकर एक अभंगुर देह दिया जा सके, तो वह फिर कभी देहसे वैराग्यशील होना स्वीकार नहीं करेगा। इस विचार-शैलीके मूल में स्थायी मानवदेह तथा स्थायी भोगों को भोगने की इच्छा काम कर रही है। ऐसी इच्छा रखनेवाला वैराग्य

'विषयोंमें दोष-दर्शन' नहीं है। यह वैराग्य विषयों में सुधार चाहता है। यदि विषयों में इतना सुधार किया जा सके तो यह वैराग्य लुप्त हो सकता है। विचारसे प्रतीत होता है कि यह 'विषय-वैराग्य' नहीं है, यह तो स्पष्ट रूपसे 'विषयलालसा' है।

बाह्य विषयोंमें मनुष्य को जिस प्रकार का दोष-दर्शन करना चाहिये वह यह है कि 'विषय राम नहीं है।' यही 'विषयोंमें दोषदर्शन' या 'विषयों की कमी को पहचान जाना' है। संसारके सब पदार्थ 'राम'के रूप हैं। जो पदार्थ इस 'राम' रूप छोडकर, 'विषय' या 'बन्धक' बनकर (अर्थात मानव मन को बांधनेवाला बनकर) आता है, वही 'त्याज्य' है, वही 'विषय' है, वही 'रामद्रोही' है। विषयों का यही दोष या अपराध है कि 'वे राम नहीं हैं।' विषयों का यही बडा दोष है, कि उनमें आसक्ति 'राम के लिये प्रेम' नहीं है। उनके प्रेम का 'रामप्रेम न होना' उनका 'विषयपना' या 'बन्धकपना' है। विषयों में आकृष्ट हो जाना 'राम को भूल जाना' है। 'राम' को भूल जाना विषयों का दोष नहीं है। वह मनुष्यबुद्धि का खोट है।

विषयवासना भगवद्भक्ति नहीं है, यही 'विषयोंमें दोष-दर्शन' है। भक्ति का जो विमल आनन्द मनुष्य को मिलना चाहिये, जिसके बिना मनुष्य की अनन्त सुख की मांग नहीं रुकती, विषय-वासना उस आनन्द को नहीं दे सकती और नहीं लेने देती, यही 'विषयों का दोषदर्शन' अथवा 'उनकी हीनता को पहचान जाना' है।

क्षणभंगुरपना आदि अवस्थामें विषयों के दोष नहीं हैं। क्षणभंगुरपना विषयों का स्वभाव है। किसीके स्वभाव को दोष कहना विचार की हीनता है। यदि तुम्हें अपने मनको निर्दोष करने की इच्छा है, तो विषयों में कोई दोष है या नहीं? ऐसा छिद्रान्वेषी उपहास्यास्पद दुष्प्रयत्न करने से कोई लाभ नहीं। विषयों में कौनसी अवस्था ऐसी है, जो हमारी मांग के प्रतिकूल या उसमें बाधा डालनेवाली हैं, इस अन्वेषण करनेवाले में विषयों से बचने की प्रवृत्ति नहीं है, किन्तु फंसने की प्रवृत्ति है। इस प्रवृत्ति को 'नपुंसक वैराग्य' कहा जाता है। विषयों को दो चार भले बुरे शब्द कहकर, अपने मनको समझा लेने का नाटक खेलना उपहासास्पद प्रयत्न है। बाह्य विषयों में दोष देखना रोक दो, और अपने मन में बैठे हुए विषयवासनारूपी दोषों को त्याग दो। विषयसुधार करने की असंभव इच्छा को त्यागकर आत्मसुधार करो। क्षणभंगुर पदार्थों में से सुखकी इच्छा या मांग करके राम को भुला देनेके दोषी मत बनो। सच्चा वैराग्यशील होने के लिये इस मानसिक दोष को हटाने का साहस करो। यह समझो कि किसी दूसरे के (संसार के) दोष देख लेनेसे अपना कल्याण नहीं होगा।

शुद्ध वेद ।

वेद की चार संहिताओंका मूल्य यह है-

वेद	मूल्य	डाकव्यय	रेलचार्ज	विदेशका डाकव्यय
१ ऋग्वेद	५)	१)	॥)	१॥)
२ यजुर्वेद	२)	॥)	।)	॥।)
३ सामवेद	३)	॥)	।)	॥।)
४ अथर्ववेद	३)	१)	॥)	१॥)
	१३)	३)	१॥)	४॥)

इन चारों संहिताओंका पेशगी म० आ० से सहूलियतका मू० ६॥) रु० हैं, तथा डा० व्यय ३) रु० है । इसलिए डाकसे मंगानेवाले ९॥) सारे नौ रु० पेशगी भेजें । रेलचार्ज या डा० व्यय ग्राहकोंके जिम्मे है । इसलिये जो ग्राहक रेलसे चारों वेदों के एक या अनेक सेट मंगाना चाहते हैं, प्रति सेट के पीछे ७॥) रु० के अनुसार मूल्य भेजें। [इसमें ॥) दो आरका पैकिंग और ॥) दो आरकी रजिष्ट्रीके है ।] उनके ग्रंथ To Pay रेलपार्सल से भेजेंगे ।

ऋग्वेद दूसरी वार छप रहा है । यह छपाई होनेतक ही चारों वेदसंहिताएँ ६॥) रु० में मिलेंगी । तत्पश्चात् ७॥) मूल्य होगा, इसलिये वेदप्रेमी ग्राहक शीघ्रता करें और अपना चन्दा शीघ्र भेजकर ग्राहक बनें ।

यजुर्वेद की चार संहिताएं ।

निम्नलिखित यजुर्वेद की चारों संहिताओं का मुद्रण शुरू हुआ है ।

	मूल्य	डा० व्यय	रेलव्यय	विदेशका डाक व्यय
१ काण्व संहिता (शुक्ल-यजुर्वेद)	३)	॥।)	।=)	१।)
२ तैत्तिरीय संहिता (कृष्ण-यजुर्वेद)	५)	१)	॥)	१॥)
३ काठक संहिता	५)	१)	॥)	१॥)
४ मैत्रायणी संहिता	५)	१)	॥)	१॥)
	१८)	३॥।)	१॥।=)	५॥)

वेदकी इन चारों संहिताओं का मूल्य १८) है । परंतु जो ग्राहक पेशगी मूल्य भेजकर ग्राहक बनेंगे, उनको ये चारों संहिताएं ९) नौ रु० में दी जायंगी । डा० व्यय अथवा रेलव्यय ग्राहकोंके जिम्मे होगा । मूल्य भेजने के समय यह प्रेषण- व्यय जोडकर मूल्य भेज दें । जिनको वेदों का अध्ययन करना है, उनके लिये यह अमूल्य अवसर है। ये ग्रंथ इतने सस्ते आजतक किसीने दिये नहीं और आगे भी इतने सस्ते यह ग्रन्थ नहीं मिलेंगे।

जो सहूलियत का मूल्य ९) नौ रु० भेजकर यजुर्वेद की इन चार संहिताओं के ग्राहक होंगे, उनको "ऋग्वेद-यजुर्वेद (वाजसनेयी संहिता)-सामवेद-अथर्ववेद" ये चारों संहिताएंभी सहूलियत के मूल्यसेहि अर्थात् केवल ६॥) मूल्य सेही मिलेंगी । प्रेषणव्यय डाकद्वारा ३) और रेलद्वारा १॥) है, वह ग्राहकों के जिम्मे रहेगा ।

इस सहूलियत का लाभ ग्राहक शीघ्र लेवें । ऋग्वेद का पुनर्मुद्रण होने तक ही यह सहूलियत रहेगी ।

—मंत्री- स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा)

माताजीसे वार्तालाप।

[अनुवादक- श्रीमदनगोपाल गाडोदिया]

" दृश्य-दर्शन, स्वप्न, संकल्प और आत्म-समर्पण, भगवान् में गोता लगाना। "

= " जनसाधारणकी यह धारणा है, कि साधनामें सूक्ष्म भूमिकाओं के दृश्योंका दिखायी देना, किसी उच्च आध्यात्मिकता का चिह्न है। क्या यह बात सच है ? "

नहीं, यह जरूरी बात नहीं है। इसके अतिरिक्त इन दृश्योंका दीखना एक बात है, किंतु जो कुछ देखा है, उसके समझना और उसका अर्थ लगाना दूसरी ही बात है, तथा और भी अधिक कठिन है। साधारणतया, जिन लोगोंको इस प्रकारके दृश्य दिखायी देते हैं, वे धोखा खा जाते हैं। इसका कारण यह है कि वे अपनी इच्छाओं, आशाओं और धारणाओंके अनुसार इनका अर्थ लगाते या इनकी व्याख्या करते हैं। और फिर कई भिन्न-भिन्न प्रकारकी भूमिकाएं हैं, जहां तुम्हें ये दृश्य दिखायी दे सकते हैं। ये मानसिक भूमिकापर दिखायी देते हैं, प्राणकी भूमिकापर दिखायी देते हैं, और कुछ दृश्य ऐसे होते हैं, जो एक ऐसी भूमिकापर दिखायी देते हैं, जो इस स्थूल-भौतिक जगत् के अतिसमीप है। ये तीसरी श्रेणीके दृश्य इस प्रकारकी आकृतियों और प्रतीकोंमें प्रकट होते हैं, जो बिलकुल स्थूल-भौतिक दिखायी देते हैं, क्योंकि ये अत्यंत स्पष्ट, यथार्थ और स्पृश्य होते हैं। और यदि तुम इनका अर्थ लगाना जान जाओ तो तुम्हें मनुष्यों की अवस्थाओं और उनकी आन्तरिक स्थितिके बिल्कुल ठीक-ठीक निर्देश मिल सकते हैं।

एक उदाहरण देकर समझना अच्छा होगा। यह एक दृश्य-दर्शन (Vision) है, जो सचमुच एक आदमीको हुआ था। उसने देखा कि सूर्यके प्रकाशसे आलोकित एक सडक है जो चढाई पर है और एक खडे पर्वतकी चोटीकी ओर जा रही है। इस सडकपर एक बडा भारी रथ चल रहा है, जिसको छः मजबूत घोडे बडी कठिनाईसे धीरे-धीरे खींच रहे हैं। रथ मंद गतिसे पर लगातार आगे बढ रहा है। इतने में सक आदमी आता है, इस परिस्थितिका अवलोकन करता है, वह रथके पीछे चला जाता है और उसको पीछेसे ठेलने लगता है अथवा उसको ठेलकर पहाडपर पहुंचा देनेकी चेष्टा करता है। अब एक समझदार आदमी आता है और उससे कहता है कि, " भले आदमी, तुम क्यों व्यर्थ परिश्रम कर रहे हो ? क्या तुम यह समझते हो कि तुम्हारी इस मेहनतका कोई फल होगा ? तुम्हारे लिये यह असंभव कार्य है। इसको करनेमें घोडोंको भी कठिनाई हो रही है। "

अब, इस दृश्य-दर्शन का अर्थ समझनेकी चाबी छः घोडोंके रूपकमें है। घोडे शक्तिके प्रतीक हैं और छः संख्या दिव्य सृष्टिका चिह्न है। अतः ६ घोडोंका अर्थ हुआ दिव्य सृष्टिकी शक्तियां। रथ आत्म-साक्षात्कारका प्रतीक है; जिस वस्तुको उपलब्ध करना है, प्राप्त करना है, चोटी तक पहुंचाना है, उस ऊंचाई तक जहां कि दिव्य प्रकाश का निवास है, उसका प्रतीक है। यद्यपि ये सृजन करनेवाली शक्तियां दिव्य हैं, किंतु इस आत्म-प्राप्ति को पूर्ण करनेका काम, इनके लिये भी कष्टसाध्य है, कारण इनको महान् विरोध का सामना और प्रकृति के अधोगामी आकर्षण के विरुद्ध युद्ध करना पडता है। अब बिचारा मानव प्राणी आता है, जो अपने अभिमान और अज्ञान से ग्रस्त है, जिसके पास मानसिक शक्तियों की जरासी संपत्ति है और वह समझता है कि वह भी कुछ है और कुछ कर सकता है। उसके लिये तो सबसे उत्तम काम यह है कि वह रथमें जाकर आराम से बैठ जाय और घोडोंके कार्य में अनुमति देता रहे।

स्वप्न बिलकुल दूसरी ही चीज है। इनकी व्याख्या करना अधिक कठिन है, क्योंकि हरेक व्यक्ति के लिये उसकी अपनी विशेष प्रकारकी कल्पना-मूर्तियोंका स्वप्न-जगत् होता है। अवश्य ही ऐसे स्वप्न भी होते हैं, जिनका कुछ विशेष अर्थ नहीं होता। इस श्रेणी के अंतर्गत वे स्वप्न आते हैं जो चेतना के अत्यंत ऊपरी और भौतिक स्तर से सम्बन्ध रखते हैं और वे जो इधर-उधर के विचारों, आकस्मिक संस्कारों, यंत्रवत् होनेवाली प्रतिक्रियाओं अथवा प्रतिघातजनित क्रियाओंके फलस्वरूप होते हैं।

इनका कोई बंधा हुआ या संगठितरूप, आकार और अर्थ नहीं होता । ये बहुत ही कम याद रहते और चेतनापर अपना कोई चिह्न भी प्रायः नहीं छोड जाते। परन्तु वे स्वप्न भी जिनका जन्म किसी अधिक गहरे स्तर से होता है, प्रायः अस्पष्ट ही होते हैं, क्योंकि वे विशेष रूपसे व्यक्तिगत होते हैं, यह इस अर्थमें कि इन स्वप्नों की बनावट प्रायः पूर्णतया उन व्यक्तियोंके अपने निजी अनुभवों और स्वभावविशेष पर ही निर्भर करती है ।

स्वप्न ही नहीं, दृश्य भी ऐसे प्रतीकोंके बने हुए होते हैं जिनका विश्वव्यापी एक ही अर्थ नहीं होता । ये प्रतीक भिन्न-भिन्न जाति, परंपरा और धर्म के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं । हो सकता है कि कोई प्रतीक विशेष रूपसे ईसाई धर्म का हो, दूसरा विशेष रूपसे हिंदू धर्म का, तीसरा सामान्य रूपसे पौरस्त्य लोगों का हो और चौथा सामान्य रूप से पाश्चात्य लोगोंका । परन्तु स्वप्न तो एकदम व्यक्तिगत होते हैं, वे दैनिक घटनाओं और संस्कारों पर निर्भर करते हैं । किसी मनुष्य के लिये किसी दूसरे मनुष्य के स्वप्न का आशय बताना या अर्थ लगाना अत्यंत कठिन है । प्रत्येक मनुष्य एक दूसरे के लिये एक बंद घेरे के समान है । परन्तु प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपने स्वप्नोंका अध्ययन कर सकता, उनका मतलब खोल सकता और उनके अर्थका पता लगा सकता है ।

अब स्वप्नों और स्वप्न-लोकके सम्बन्धमें कैसे बरतना चाहिये इस पर विचार करें । पहले तो तुमको सचेतन, अर्थात् अपने स्वप्नों से सचेतन होना चाहिये । अपने जागृत कालकी घटनाओं और इन स्वप्नों में जो सबन्ध है उसका निरीक्षण करना चाहिये । यदि तुम्हें रात्रिकालकी अपनी अवस्था याद हो, तो बहुधा तुमको इस बातका पता लगेगा कि तुम्हारी दिनकी अवस्था का कारण तुम्हारी रात्रिकी अवस्थामें है । निद्राकी अवस्थामें तुम्हारी मनोमय प्राणमय या अन्य भूमिकापर कुछ-न-कुछ क्रिया सदा होती रहती है । वहां जो कुछ घटनाएं घटती हैं, वे जागृत चेतनापर शासन करती हैं।

उदाहरणार्थ, कुछ साधक सिद्धि प्राप्त करनेके लिये बहुतही आतुर होते हैं और वे दिन के समय बहुत अधिक प्रयत्न करते हैं । वे सो जाते हैं और वे जब दूसरे दिन उठते हैं तब, अपने पहले दिनके प्रयत्न के फलस्वरूप उनको जो कुछ लाभ हुआ था, उसका उन्हें कहीं पता भी नहीं मिलता । उन्हें एकवार फिरसे उसी भूमिकाको पार करना पडता है । इसका यह अर्थ है कि उनका वह प्रयत्न और उससे जो कुछ प्राप्त हुआ था वह सत्ता के अधिक ऊपरी और जागृत भागों से ही सबन्ध रखता था और सत्ताके जो गम्भीरतर और सुप्त भाग हैं, वे उससे अस्पृष्ट ही रहे। जब तुम सोये तब तुम इन अचेतन भागों के पंजे में पड गये, ये खुले और सचेतन काल में कठिन परिश्रम करके जो कुछ तुमने निर्माण किया था उसको निगल गये ।

सचेतन होओ! न केवल दिन बल्कि रात्रि-कालके जीवन से भी सचेतन होओ । पहले तुमको सचेतनता प्राप्त करनी है, फिर वशित्व । तुममेंसे जिनको अपने स्वप्न याद रहते हैं उनको यह अनुभव हुआ होगा कि स्वप्न के समय भी उनको इस बात का ज्ञान था कि यह स्वप्न है; वे यह जानते थे कि यह एक ऐसा अनुभव है जिसका स्थूल-भौतिक जगत् से कोई सम्बन्ध नहीं। एकवार जहां तुमको यह ज्ञान हुआ कि वहां भी-स्वप्न जगत्में भी-तुम उसी प्रकार कार्य कर सकते हो जैसा कि तुम स्थूल जगत् में करते हो, स्वप्न के समय भी तुम अपने सचेतन संकल्पका प्रयोग कर सकते हो और अपने स्वप्नानुभव की समस्त गतिविधि को ही परिवर्तित कर सकते हो ।

और जैसे जैसे तुम अधिकाधिक सचेतन होते जाओगे वैसे-वैसे तुम रात्रिमें भी अपनी सत्तापर उतनाही वशित्व रखना आरम्भ कर दोगे, जितना तुम दिनमें रखते हो, हो सकता है कि उससे अधिक भी । क्योंकि रातमें तुम अपने शरीरकी यांत्रिकता की गुलामी से मुक्त रहते हो । शारीरिक चेतना के व्यापारोंपर वशित्व रखना अधिक कठिन है, कारण ये मनोमय और प्राणमय व्यापारों की अपेक्षा अधिक कठोर होते हैं और परिवर्तन के लिये अपेक्षया कम राजी होते हैं ।

रात्रिमें मन और प्राण-विशेषतः प्राण- बहुत अधिक क्रियाशील रहते हैं । दिनमें उनपर एक नियंत्रण रहता है, कारण भौतिक चेतना उनके स्वतन्त्र खेल और अभिव्यक्ति को दबाये रहती है । परन्तु निद्राके समय

यह नियंत्रण हट जाता है और वे अपनी स्वाभाविक और स्वतन्त्र गतियोंके साथ बाहर निकल पडते हैं।

="स्वप्नरहित निद्राका क्या स्वरूप है ?"

साधारणतया तुम जिसको स्वप्नरहित निद्रा कहते हो, वह इन दोमेंसे एक प्रकारकी होती है- (१) या तो स्वप्नमें जो कुछ देखा वह तुमको याद नहीं रहता। (२) या तुम ऐसी नितांत अचेतनामें जा गिरते हो जो लगभग मृत्युही होती है, मृत्युका एक आस्वाद होता है। परंतु एक एसी निद्रा भी संभव है जिसमें तुम्हारी सत्ताके प्रत्येक भागमें परिपूर्ण नीरवता, निश्चलता और शांति छा जाती है और तुम्हारी चेतना सच्चिदानंदमें लीन हो जाती है। इस अवस्था को निद्रा कहना ही नहीं चाहिये। कारण यह अत्यंत सचेतन अवस्था होती है। इस अवस्था में तुम कुछ क्षण रह सकते हो, किंतु इन थोडेसे क्षणोंमें तुम्हें घंटों ली हुई साधारण निद्राकी अपेक्षा अधिक आराम और ताजगी मिल जाती है। यह अवस्था आप-ही-आप नहीं हो सकती, इसके लिये एक लंबी साधनाकी आवश्यकता होती है।

="स्वप्न में कुछ ऐसे लोगोंसे भेंट और जानपहचान हो जाती है, जिनसे फिर बाह्य जगत् में हमारी भेंट और जानपहचान पीछेसे होती है, यह क्या बात है ?"

मनोमय या प्राणमय लोक में एक दूसरेके साथ मेल होनेसे कुछ लोग एक दूसरेके प्रति आकृष्ट होते हैं। इन लोगोंमें बहुधा ऐसे लोगोंसे भेंट होती है जिनसे पृथ्वी पर अभी मुलाकात नहीं हुई है। ऐसे लोगोंका वहां इकट्ठा होना, परस्पर बातचीत करना और पृथ्वीपर जितने प्रकारके संबंध होते हैं, उन सभी संबंधोंका रखना, संभव है। इन संबंधोंको कुछ लोग जानते हैं, कुछ नहीं जानते। कुछ और अधिकांश लोग ऐसे ही हैं, जो आंतर सत्ता और आंतर आदान-प्रदानको नहीं जानते होते, फिर भी यह होता है कि, जब बाह्य जगत् में किसी ऐसे नवीन व्यक्तिका चेहरा उन्हें दिखायी देता है, तब वह उन्हें किसी कारण अत्यंत परिचित और अच्छी तरह जाना-पहचाना हुआ बोध होता है।

="क्या झूठे दृश्य नहीं दिखायी देते ?"

ऐसे दृश्य होते हैं, जिनका बाह्य रूप झूठा होता है। उदाहरणार्थ, सैकडों क्या हजारों आदमी ऐसे मिलेंगे जो कहते हैं कि उन्होंने ईसामसीहको देखा है। इस बडीसी संख्यामें से जिनने वास्तव में उनको देखा है, ऐसे लोग शायद एक दर्जन भी न निकलें और इन थोडेसे लोगोंने भी जो कुछ देखा है उसके संबंधमें बहुत कुछ कहने की गुंजायश है। बाकीके लोगोंने जो कुछ देखा है, वह हो सकता है कि ईसामसीहकी कोई विभूति हो, अथवा उनका अपनाही कोई विचार हो, या ऐसी प्रतिमा हो जिसको उनके मनने याद कर रखा हो। इनमें कुछ लोग ऐसे भी होते हैं, जिनकी ईसामसीहमें दृढ श्रद्धा होती है और उन्हें किसी दिव्य शक्ति या सत्ताका अथवा उनकी अपनी स्मृति में पडी हुई किसी तेजोमय मूर्तिका- जिसका उनपर गहरा असर पडता है-दर्शन हुआ है।

उन्होंने कुछ ऐसी चीज देखी है, जिसे वे दूसरे जगत् की और प्राकृत जगत् से परेकी अनुभव करते हैं और इस दृश्य-दर्शनने उनके अंदर भय, संभ्रम या हर्षका भावावेश उत्पन्न कर दिया होता है और चूंकि उनकी श्रद्धा ईसामसीहमें ही होती है, इसलिये उनके ध्यानमें और कोई दूसरी चिज नहीं आती और वे समझते हैं कि उन्होंने ईसामसीहको ही देखा है। परंतु वही दर्शन या अनुभव यदि किसी हिंदू, मुसलमान या अन्य धर्मावलंबी को हो, तो इसका नाम और रूप कुछ और ही हो जायगा। जिसका दर्शन या अनुभव हुआ वह वस्तु मूलतः एक ही होती है, फिर भी उसको ग्रहण करनेवाले मनकी बनावट की भिन्नता के अनुसार उसका रूप भी भिन्न-भिन्न प्रकार का बन जाता है। केवल वे ही लोग जो इन विश्वासों, श्रद्धाओं, धर्माख्यानों और परंपराओं के ऊपर उठ चुके हैं, यह कह सकते हैं कि वास्तव में उन्होंने क्या देखा। किंतु ऐसे लोग बहुत कम हैं, इनेगिनेही हैं। तुम्हें समस्त मानसिक रचनाओं से मुक्त होना होगा और जो कुछ भी केवल स्थानीय या सामयिक है, उससे अपने आपको दूर कर लेना होगा, ऐसा होनेपर ही तुम इन दृश्योंका सच्चा ज्ञान प्राप्त कर सकोगे।

आध्यात्मिक अनुभूतिका अर्थ है अपने अन्दर (अथवा अपने बाहर जो उस क्षेत्र में एकही बात है) भगवान् का

संस्पर्श। और यह अनुभूति सर्वत्र, सब देशोंमें, सब जातिके लोगोंमें यहांतक कि समस्त युगोंमें भी एकही प्रकारकी होती है। भगवान् से जब तुम्हारी भेंट होती है तो वह सर्वदा और सर्वत्र एकही प्रकार से होती है। फिर भी उनके भिन्न-भिन्न रूप दिखाई देनेका कारण यह होता है कि जो कुछ अनुभूत होता है और उसका जो रूप दिया जाता है, इन दोनोंके बीच एक बडी भारी खाई है। आध्यात्मिक अनुभूति सदा आन्तर चेतनामें होती है और जैसे ही तुमको कोई आध्यात्मिक अनुभूति होती है वैसे ही वह तुम्हारी बाह्य चेतना में प्रतिबिंबित हो जाती है और तुम्हारी अपनी शिक्षा, श्रद्धा और मानसिक धारणा के अनुसार वहां उसकी किसी-न-किसी प्रकार की व्याख्या हो जाती है। सत्य तो एकही है, सद्वस्तु तो एक है, किंतु जिन रूपोंद्वारा उसकी अभिव्यक्ति की जा सकती है, वे अनेक हैं।

= "जान आफ आर्कको जो दृश्य-दर्शन होते थे, वे किस कोटिके थे?"

हम लोग जिसको देवोंका लोक कहते हैं (अथवा कैथोलीक संप्रदाय-वालोंके शब्दों में संतोंका लोक, यद्यपि ये दोनों लोक बिल्कुल एक नहीं हैं) उस लोककी कुछ सत्ताओंके साथ जान आफ आर्कका स्पष्ट संबंध था। जिन सत्ताओं का उनको दर्शन होता था, उन्हें वे प्रधान देवदूत कहा करती थीं। ये सत्ताएं उच्चतर मानस लोक और अतिमानसलोक के (विज्ञानमय लोक) बीच में जो लोक है, वहांकी थीं, यही वह लोक है जिसको श्री अरविंद अधिमानस लोक कहते हैं। यह सृष्टिकर्ताओंका, रूप बनानेवालोंका लोक है।

जो दो सत्ताएं जान आफ आर्क को सतत दर्शन दिया करती और उनसे बातें किया करती थीं, वे यदि किसी हिंदू के सामने होतीं तो उनका कुछ और ही रूप होता। कारण जब कोई किसी सत्ता को देखता है तब वह उनके रूपको अपने मनकी कल्पना के अनुसार गढ लेता है। जो कुछ तुम देखते हो उसको तुम वही रूप दे देते हो जिसके दर्शनकी तुमको आशा होती है। यदि एक ही सत्ता एक ही समय किसी ऐसी मंडलीको दिखायी दे, जहां क्रिस्तान, बौद्ध, हिन्दू और शिंटो धर्मावलंबी सभी हों तो ये विभिन्न धर्मावलंबी उसको सर्वथा अलग-अलग नामोंसे पुकारेंगे। इनमेंसे हरेक व्यक्ति यह कहेगा कि इस सत्ता का रूप इसके या उसके जैसा था, सभी की राय एक दूसरेसे अलग होगी, यद्यपि सबके सामने एकही सत्ता प्रकट हुई होगी। भारतवर्षमें तुम लोगोंको एक शक्ति का दर्शन होता है और इस शक्ति को तुम लोग भगवती माता (आद्यशक्ति) कहते हो। शक्ति के इसी दर्शन को कैथोलिक संप्रदायवाले "कुमारी मेरी" कहते हैं, जापानी क्वोनोन अर्थात् दयाकी देवी कहते हैं और दूसरे धर्मवाले किसी दूसरेही नाम से पुकारते हैं। वह एक ही शक्ति है, एकही सत्ता है, किंतु उसकी प्रतिमाएं भिन्न-भिन्न धर्मोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारकी बन गयी हैं।

= "समर्पण मार्गमें शिक्षण या तपस्याका क्या स्थान है? यदि कोई आत्मसमर्पण करता है, तो उसका काम तपस्या के बंधन में पडे बिना नहीं चल सकता क्या? क्या तपस्या कभी-कभी बाधक नहीं होती?"

तपस्या दूसरी चीज हैं; मैं तो संकल्पपूर्वक कर्म करने के सम्बन्ध में कह रही हूं। यदि तुम समर्पण करते हो तुम्हें प्रयास छोड देना होता है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि तुम्हें संकल्पपूर्वक कर्म करना भी त्याग देना होता है। इसके विपरीत, यदि तुम अपने संकल्प को भगवान् के संकल्प को दे देते हो, तो तुम सिद्धिकी ओर तीव्र गति से चलने लगते हो। यह भी एक प्रकारका समर्पण ही है। तुमसे किसी ऐसे निष्क्रिय समर्पण की अपेक्षा नहीं की जाती है, जिसमें तुम एक जड पत्थर की तरह हो जाओ, बल्कि यह अपेक्षा की जाती है कि तुम अपने संकल्प को भगवान् के संकल्प के अधीन कर दो।

= "परन्तु जब तक भगवान् के साथ हमारा योग नहीं हो जाता, तब तक इस कामको कोई कैसे कर सकता है?"

संकल्प तो तुममें होती ही है, तो इस संकल्प को तुम भगवान् के अर्पण कर सकते हो। रात्रिकालमें सचेतन रहनेके उदाहरणको ही ले लो। यदि तुम निष्क्रिय समर्पण का भाव रखो तो तुम कहोगे कि "जब यह भगवान् की इच्छा होगी कि मैं सचेतन होऊं, तब मैं सचेतन होऊंगा।" दूसरी ओर, यदि तुम अपने संकल्पको भगवान् के अर्पण कर देते हो, तो तुम संकल्प-शक्तिका प्रयोग करना आरम्भ

कर देते हो। तुम कहते हो कि "मैं अपने रात्रिकालसे सचेतन होऊंगा।" तुम इस बातका संकल्प करते हो कि ऐसा होना चाहिये, तुम प्रतीक्षा करते हुए चुपचाप बैठ नहीं जाते। अब इस क्रियामें समर्पण का भाव उस समय आ जाता है, जब तुम यह भाव धारण करते और कहते हो कि "मैं अपने संकल्पको भगवान् के संकल्प के अर्पण करता हूं। मेरी तीव्र इच्छा है कि मैं अपने रात्रिकालसे सचेतन होऊं, इस काम को करने का ज्ञान मुझमें नहीं है, भगवान् का संकल्प मेरे लिये इस काम को पूरा करे।"

तुम्हारे संकल्पको स्थिरतापूर्वक कार्य करते जाना चाहिये, किसी विशेष कार्य को पसंद करने या किसी विशिष्ट उद्देश्य की प्राप्तिकी मांग करने के तौर पर नहीं, बल्कि एक तीव्र अभीप्साके रूपमें जो अंतिम लक्ष्य की प्राप्ति पर केंद्रित हो। यह पहली सीढी है। यदि तुम सतर्क हो, यदि तुम्हारी दृष्टि सावधान है तो तुम्हें "क्या करना चाहिये" इस बातकी प्रेरणा किसी-न-किसी रूपमें अवश्य मिल जायगी, और इस प्रेरणा के अनुसार तुम्हें तत्काल कार्य करने लग जाना चाहिये। हां, एक बात तुम्हें याद रखनी है और वह यह कि समर्पण करने का अर्थ है कि तुम्हारे कर्मों का जो कुछ भी फल हो उसको स्वीकार करना, फिर चाहे वह तुम्हारी आशा के सर्वथा विपरीत ही क्यों न हो। दूसरी ओर, तुम्हारा समर्पण यदि निष्क्रिय है, तो तुम कुछ नहीं करोगे, किसी प्रकारका प्रयत्न नहीं करोगे, बल्कि मौजसे सो जाओगे और किसी चमत्कारकी प्रतीक्षा करोगे।

अब इस बातको जानने के सम्बन्ध में कि तुम्हारी इच्छा या संकल्पका भगवान् के संकल्प के साथ मेल है या नहीं- तुमको ढूंढना और देखना चाहिये कि इस प्रश्न का तुमको कोई उत्तर मिलता है या नहीं, तुम अपनी इच्छा का समर्थन पाते हो या विरोध। मन, प्राण या शरीरके उत्तर, समर्थन या विरोधसे कुछ नहीं आता-जाता, इस बातको तुम्हें उससे पूछना चाहिये, जो तुम्हारी गहराईमें, आंतर सत्तामें तुम्हारे हृदय में वर्तमान है।

= "ध्यान करने के लिये अधिकाधिक प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं है क्या? जितनी अधिक देरतक कोई ध्यान करता है उतनी ही अधिक उसकी प्रगति होती है, क्या यह बात सच नहीं है?"

ध्यान करने में कितने घंटे बिताये- यह आध्यात्मिक प्रगति का कोई प्रमाण नहीं है। आध्यात्मिक प्रगति का प्रमाण तब समझना चाहिये जब तुम्हारी यह अवस्था हो जाय कि ध्यान करनेके लिये तुमको किसी प्रकार का प्रयास ही नहीं करना पडे। तब तो ध्यान को रोकनेके लिये भले ही प्रयास करने की आवश्यकता हो। तब ऐसी अवस्था हो जाती है कि ध्यानको रोकना कठिन हो जाता है, भगवान् के चिंतन को अटकाना, साधारण चेतना में नीचे उतर आना कठिन हो जाता है। भगवान् में एकाग्रता जब तुम्हारे जीवन की आवश्यकता बन जाय, जब तुम इसके बिना रह ही न सको, जब यह अवस्था स्वाभाविक रूपसे रात-दिन बनी रहे-फिर चाहे तुम किसी भी काममें क्यों न लगे हो- तब यह समझना चाहिये कि निश्चित रूपसे तुम्हारी प्रगति हुई है, तुमने वास्तविक उन्नति की है। चाहे तुम ध्यान लगाकर बैठो या घूमो-फिरो और काम-काज करो, पर जिस बातकी तुमसे अपेक्षा की जाती है वह है चेतना। यही एकमात्र आवश्यकता है,- भगवान् का सदा सचेतन ज्ञान।

= "परन्तु क्या ध्यानमें बैठना एक अनिवार्य साधना नहीं है और क्या इससे भगवान् के साथ अधिक प्रगाढ और केंद्रित एकता नहीं होती?"

यह हो सकता है। परन्तु कोरी साधना हमारा अभीष्ट नहीं है। हम जो कुछ चाहते हैं वह प्रत्येक कर्मके करते समय, प्रत्येक क्षण, हमारी समस्त क्रियाओं और प्रत्येक गतिमें, हमारी चेतना भगवान् में केंद्रित रहे। यहां कुछ साधक ऐसे हैं जिनसे ध्यान करने को कहा गया है, किंतु यहां ऐसे साधक भी हैं जिनमें किसी प्रकार का कुछ भी ध्यान करनेको नहीं कहा गया। परन्तु भुलकर भी यह नहीं सोचना चाहिये कि ध्यान नहीं करनेवालों की भी प्रगति नहीं हो रही। वे भी एक साधना करते हैं, किंतु वह दूसरे प्रकारकी साधना है। भक्तिभावके साथ और आत्मोत्सर्ग के भावके साथ कर्म करना, कार्य करना यह भी एक प्रकार की आध्यात्मिक साधनाही है। अन्तिम उद्देश्य यह है कि केवल ध्यानमें ही नहीं, बल्कि प्रत्येक अवस्थामें, जीवनकी प्रत्येक क्रिया में भगवान् के साथ

सतत एकताका अनुभव करना।

कुछ लोग ऐसे हैं, जो जब वे ध्यानमें बैठे होते हैं तब एक ऐसी अवस्था में चले जाते हैं, जिसको वे बहुत ही सुन्दर और आनन्दमय समझते हैं। वे इस अवस्था में आत्म-संतोषपूर्वक बैठे रहते हैं और जगत् को भूल जाते हैं, किंतु यदि उनके ध्यानमें कोई बाधा पहुंचती है, तो वे उस अवस्थामेंसे क्षुब्ध और क्रुद्ध होकर निकलते हैं, क्योंकि उनके ध्यान को भंग किया गया है। यह किसी आध्यात्मिक प्रगति या साधनाका लक्षण नहीं है। कुछ लोग ऐसे भी हैं जिनका आचरण इस प्रकार का होता है और जो ऐसा बोध करतेसे दीखते हैं, मानो उनका ध्यान करना भगवान् का कर्जा चुकानेके लिये हो। ये उन लोगोंकी तरह हैं जो सप्ताहमें एकबार गिरजाघर हो आते हैं और समझते हैं कि उन्होंने भगवान्का सारा पावना चुका दिया।

यदि तुमको ध्यानावस्थित होनेके लिये प्रयत्न करना पडता है तो आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करनेके योग्य बन जानेकी अवस्था से अभी तुम बहुत दूर हो। जब ध्यानावस्थासे बाहर निकलनेके लिये तुम्हें प्रयत्न करनेकी आवश्यकता पडे, तब तुम्हारा ध्यान इस बातका संकेत हो सकता है कि आध्यात्मिक जीवन में तुम्हारा प्रवेश हो चुका है।

हठयोग और राजयोग जैसी कुछ ऐसी साधनाएं भी हैं जिनका अभ्यास करते हुए भी यह हो सकता है कि, साधकका आध्यात्मिक जीवनसे कुछ भी संबंध न हो। अधिकसे-अधिक हठयोगद्वारा शरीर पर और राजयोग द्वारा मनपर संयम हो जाता है। परंतु आध्यात्मिक जीवनमें प्रवेश करनेका तो अर्थ है भगवान् में गोता लगाना, ठीक उसी तरह जैसे कोई समुद्रमें कूद पडता है। और यह भी एक आरंभ ही है, अंत नहीं। कारण गोता लगानेके बाद फिर तुमको यह सीखना पडता है कि भगवान्रूपी समुद्रमें निवास कैसे किया जाय। ऐसा करने का क्या उपाय है ? तुम्हें तो बस सीधे कूद पडना है और यह नहीं सोचना है कि "मैं कहां गिरूंगा ? मेरी क्या दशा होगी ?" तुम्हारे मनकी यह झिझक ही है, जो तुमको रोकती है। तुम्हें तो बस कूद ही जाना चाहिये। यदि तुम समुद्रमें गोता लगाना चाहते हो और साथ-ही-साथ यह सोचते रहते हो कि "और, कहीं आस-पासमें यहां कोई पत्थर या चट्टान न हो !" तो तुम कभी भी गोता नहीं लगा सकते।

= " परंतु समुद्र तो दिखायी देता है, इसलिये उसमें सीधे गोता लगाया जा सकता है, आध्यात्मिक जीवनमें गोता कैसे लगाया जाय ?"

अवश्यही, जैसे तुम समुद्रको देखते हो और उसमें कूदनेसे पहले उसके विषयमें तुम्हें कुछ जानकारी होती है, उसी तरह से यह सद्वस्तु की भी कोई झांकी तुमको अवश्यही मिल चूकी होगी। यह झांकी साधारणतया हृत्पुरुषकी जागृतिके रूपमें होती है। किसी-न-किसी प्रकारका साक्षात्कार तुमको अवश्य ही हुआ होगा। यदि गंभीर हृत्पुरुषके अथवा संपूर्ण सत्ताके साक्षात्कारका संस्पर्श नहीं हुआ हो, तो कम-से-कम एक बलवान् मनोमय या प्राणमय संबंध अवश्य ही स्थापित हुआ होगा। अवश्य ही तुमने अपने अंदर या अपने आस-पास भगवान्की उपस्थितिका स्पष्ट अनुभव किया होगा, भागवत जगत् में श्वास लेना क्या होता है, इसका कुछ अनुभव तुमको हुआ होगा। इसके विपरीत, साधारण जगत् के दम घुटा देनेवाले श्वासका भी तुमको अनुभव हुआ ही होगा, जो तुमको इस पीडादायक वातावरण से बाहर निकल आनेका प्रयत्न करनेके लिये बाध्य कर रहा होगा। यदि यह हुआ है तो अब तुम्हें बस भागवत सद्वस्तु में निःशेष भावसे आश्रय ले लेना है और उसकी सहायता और संरक्षण में रहना है, केवल उसीमें रहना है।

अपने साधारण जीवन में अभीतक जो कुछ तुमने आंशिक रूपमें अथवा अपनी सत्ताके कुछ भागोंमें, या किन्हीं विशेष समयों या अवसरोंपर किया होगा, उसीको अब तुम्हें पूर्ण रूपसे और सदाके लिये कर डालना है। यही वह गोता है, जो तुम्हें लगाना है और जब तक तुम यह गोता नहीं लगाते तब तक वर्षों योग क्यों न करते रहो, पर सच्चे आध्यात्मिक जीवन के सम्बन्ध में तुम कुछ भी नहीं जान सकोगे। गोता सर्वांशतः और पूरा-पूरा लगाओ, ऐसा करते ही तुम इस बाह्य गोल-मालसे मुक्त हो जाओगे और आध्यात्मिक जीवन का सच्चा अनुभव प्राप्त करोगे।

वेदके ऋषि।

(लेखांक दूसरा)

[श्री धर्मराज वेदालंकार]

वातजूतिर्वातरशनपुत्रः।

वातजूति ऋषि वातरशनका पुत्र है। दशम मण्डलके १३६ वें सूक्तका द्वितीय मन्त्र ही इस ऋषि का एकमात्र मन्त्र है-

मुनयो वातरशनाः पिशङ्गा वसते मला।
वातस्यानु ध्राजिं यन्ति यद्देवासो अविक्षत॥

इसका सायणभाष्य यह है—

"वातरशना वातरशनस्य पुत्रा मुनयः अतीन्द्रियार्थ-दर्शिनः जूतिवातजूतिप्रभृतयः पिशंगा पिशंगानि कपिल-वर्णानि मलिनानि वल्कलरूपाणि वासांसि वसते आच्छादयन्ति...यद् यदा देवासो देवाः तपसो महिम्ना दीप्यमानाः सन्तः अविक्षत देवतास्वरूपं प्राविशन् तदा ते वातस्य वायोर्ध्राजिं गतिमनुयन्ति अनुगच्छंति प्राणोपासनया प्राणरूपिणो वायुभावं प्रपन्ना इत्यर्थः।"

इस प्रकार इस मन्त्र में वातरशन के अन्यतम पुत्र इस मन्त्र के ऋषि वातजूतिकी तपस्या द्वारा सिद्धिका वर्णन है।

किसी पदार्थ की तीव्र गति को लक्षित करनेके लिये वात शब्द का प्रयोग होता है। शतपथ ५।१।४।८ में कहा है—

'न वै वातात् किञ्चनाशीयोऽस्ति।'

जूति और रशन शब्द वेगार्थक हैं। वातजूति और वातरशन का अर्थ हुआ वायु के समान तीव्र गतिवाला। वातजूतिकी इसी विशेषता को भाष्य में 'वातस्य वायोर्ध्राजिं गतिमनुगच्छन्ति' इन शब्दोंमें कहा है। इन शब्दों का तात्पर्य सायणाचार्यने यह समझा है, कि प्राणोपासना के द्वारा प्राणरूप होकर वायुभावको प्राप्त हो जाते हैं। ब्राह्मण में वात और प्राण पर्यायवाची हैं—

यो वै प्राणः स वातः। (शत० ५।२।४।१)
प्राणो वै वातः। (शत० ११।१२।१४)

इस रीतिसे मन्त्रार्थ के साथ वातिजूति ऋषिका क्या सम्बन्ध है, यह हम भली प्रकार समझ सकते हैं।

वेदमें अन्यत्र यद्यपि वातजूति शब्द उपलब्ध नहीं होता लेकिन इससे मिलते जुलते शब्द 'वातजूत' आदि मिलते हैं। इनपर हम क्रमशः विचार करेंगे।

वि वातजूतो अतसेषु तिष्ठते। (ऋ० १।५८।४)

इस मन्त्रांशका देवता अग्नि है, अर्थ इस प्रकार है— 'वातजूतो वायुना प्रेरितः अग्निः अतसेषु वृक्षेषु वितिष्ठते विशेषेण तिष्ठति।'

यद्वातजूतो वना व्यस्थाद्
अग्निर्ह दाति रोमा पृथिव्याः। (ऋ० १।६५।४)

यह मन्त्र भी अग्नि देवताक है, इसका अर्थ है- 'यद् यदा वातजूतो वातेन प्रेरितः सन् वना वनान्यरण्यानि व्यवस्थात् विविधम् आ तिष्ठति दग्धुं प्रवर्तते तदानीमग्निर्ह अग्निरेव भूमेः सम्बन्धीनि रोमा ओषधिरूपाणि रोमाणि दाति छिनत्ति भूम्याम् ओषधिवनस्पतिजातं यदस्ति तत्सर्वं दहतीति भावः।'

यदयुक्था अरुषा रोहिता रथे
वातजूता वृषभस्येव ते रवः। (ऋ० १।९४।१०)

'हे अग्ने अरुषा रोचमानौ लोहिता लोहितवर्णौ वातजूता वातस्य वायोर्जूतं जवो वेग इव वेगो ययोस्तौ ईदृशौ अश्वौ रथे यदा अयुक्था अयोजयः तदा ते रवः शब्दो वृषभस्येव दृसस्य महोक्षस्य शब्द इव गम्भीरो भवति।

यहां 'वातजूतौ' अग्निके घोडे अथवा ज्वालाएं हैं।

असमना अजिरासो रघुष्यदो
वातजूता उप युज्यन्त आशवः॥ (ऋ० १।१४०।४)

इस मन्त्र का देवता अग्नि है, यहां वातजूत अग्निकी ज्वालाओं का विशेषण है।

वातजूतो अभिरक्षति त्मना। (ऋ० १०।१७०।१)

*

यहां सूर्य देवता है। 'यः सूर्यः वातजूतः महा वायुना प्रेर्यमाणः सन्' सायण के इन शब्दोंमें वातजूत सूर्य का विशेषण है।

ये वातजूतास्तरणिभिरेवैः।
परि द्यां सद्यो अपसो बभूवुः॥ (ऋ० ४।३३।१)

यहां वातजूत सूर्यकी रश्मियों का विशेषण है।

वि ते विष्वग्वातजूतासो
अग्ने भामासः शुचे शुचयश्चरन्ति। (ऋ० ६।६।३)

अर्थ- 'हे शुचे शुद्धदीप्ताग्ने ते त्वदीया वातजूतासो वातेन प्रेरिताः शुचयो निर्मलाः भामासो दीप्तयः विष्वक् सर्वतो विचरन्ति विविधं गच्छन्ति।'

यहां 'वातजूतासः' अग्नि की ज्वालाओं को सूचित करता है।

हरयो धूमकेतवो वातजूता उपद्यवि
यतन्ते वृथगग्नयः॥ (८।४३।४)

इस अग्नि देवताके मन्त्र का अर्थ है—

'हरयो हरणशीला वातजूता वातप्रेरिता धूमकेतवो धूमध्वना अग्नयः...।'

यहां भी अग्नियों अथवा अग्नि की ज्वालाओंका ही विशेषण होकर 'वातजूताः' शब्द प्रयुक्त हुआ है।

ऋग्वेदमें वातजूत शब्द जिन स्थलोंमें आया है, उन सबका परिगणन हमने यहां कर दिया है। इन सब उद्धरणोंसे यह तथ्य आसानी से ध्यानमें आ सकता है, कि वातजूत मुख्यतः अग्नि की ज्वालाओं अथवा सूर्यकी रश्मियों के लिये वेदमें प्रयुक्त हुआ है। ऊपर वातजूति ऋषिका मन्त्र दिया है। इस मन्त्र का देवता 'केशिनः' है। 'केशिनः' के विषय में सायण ने लिखा है—

'केशाः केशस्थानीया रश्मयः तद्वन्तः केशिनः अग्निर्वायुः सूर्यश्च।

अग्नि तथा सूर्य और उनकी ज्वालाओं तथा रश्मियों का वातजूत शब्द के साथ जो सम्बन्ध है, वह हम देख चुके हैं। वायु का वातजूत से क्या सम्बन्ध हो सकता है, यह बतलाने की विशेष आवश्यकता नहीं। वायु और वात समानार्थक हैं।

इस समस्त वस्तुस्थिति को दृष्टिमें रखते हुए हम इस परिणामपर पहुंचते हैं कि वातजूति ऋषि तीव्र गतिका प्रतिनिधि है। इस ऋषि के मन्त्र में वर्णित अग्नि, सूर्य और वायु इन तीन गतिशील पदार्थों, देवताओं या केशियों के गुणों को जो अपने अन्दर धारण करता है, वहीं वातजूति ऋषि होता है। आधिभौतिक जगत् में इन तीनों के उपादेय गुण गति द्युति कान्ति आदि हैं। इनके आध्यात्मिक रहस्य में जाना मनोरञ्जक होते हुए भी यहां अप्रासङ्गिक होगा, इस लिये उसे छोडते हैं।

वामदेवो गौतमः।

ऋग्वेदके चतुर्थ मण्डल में ५८ सूक्त हैं, इनमेंसे ४२, ४३ और ४४ को छोडकर शेष सब सूक्त वामदेव ऋषिके ही हैं। १८ वें सूक्त में कुछ अपवाद है, इसके पहले मन्त्र का ऋषि इन्द्र तथा चतुर्थ के पिछले आधे भाग और ५, ६, ७ मन्त्र का ऋषि 'अदितिः ऋषिका' इस प्रकार है।

वामदेव ऋषि का नाम केवल एक ही जगह मिलता है और वह भी इसके अपने ही मन्त्र में-

भुवोऽविता वामदेवस्य धीनां भुवः सखावृको वाजसातौ। त्वामनु प्रमतिमा जगन्मोरुशंसो जरित्रे विश्वध स्याः। (४।१६।१८)

इस मन्त्र का देवता इन्द्र है। भाष्यार्थ इस प्रकार है—

'हे इन्द्र, त्वं वामदेवस्य वामदेवाख्यस्य मन्त्रद्रष्टुर्मम सम्बन्धिनीनां धीनां कर्मणामविता रक्षिता भुवः भव।'

एवं सायण ने तो मन्त्रगत वामदेव शब्द से मन्त्र का आविष्कार करनेवाले वामदेव ऋषि का ही ग्रहण किया है।

अकेला 'वाम' वेदमें अनेक स्थानोंपर मिलता है। प्रायः सर्वत्र इसका अर्थ 'वननीयं द्रविणम्' के समानार्थक किया गया है। वाम का सामान्य अर्थ है जिसकी इच्छा की जाय, जिसे सब कोई चाहें। लौकिक संस्कृत-साहित्य में वाम सुन्दरवाचक है, इसी लिये 'वामा' सुन्दरी युवती को कहते हैं। ताण्ड्य महाब्राह्मण १३।३।१९ में निम्न वाक्य है—

'यं वै गां यमपूर्वं यं पुरुषं प्रशंसन्ति वाम इति तं प्रशंसन्ति।'

किसी की प्रशंसा या स्तुति वाम शब्द से की जाती है। मोनियर विलियम्सने अपने प्रसिद्ध कोशमें वाम के निम्न अर्थ दिये हैं—

Lovely, Dear, Pleasant, Agreeable, Fair, Beautiful, Splendid, Noble.

ये सब अर्थ किसी पदार्थ की उत्तमताका द्योतन करते हैं। इसी कारण यह वाम शब्द कालान्तर में शिव रुद्र वरुण लक्ष्मी सरस्वती आदि अनेक देवी-देवताओं का अभिधायक हो गया।

आध्यात्मिक दृष्टिसे वाम शब्द भक्ति और साधनाके विषय में शान्त-अलिप्त-निर्विकार-दिव्य आनन्द से युक्त-परमतत्त्वाभिगामी इत्यादि भाव का सूचक है। इसी भावका सम्बन्ध वामदेव और वामदेव्य से है।

'वामदेव्य' शब्द विविध सामों के लिये प्रयुक्त होता है। आचार्य पाणिनि के अनुसार 'वामदेवेन दृष्टं साम' इस अर्थ में 'वामदेवाड् ड्य ड्यौ' से प्रत्यय कार्य होकर 'वामदेव्य' शब्द सिद्ध होता है।

वामदेव्य साम वे हैं जिनमें शान्तिरस भरा हुआ है, जिनके गायन से भक्त लोग एक ऐसी उच्च दशा को प्राप्त कर लेते हैं, जहां वे अपने सीमित व्यक्तित्वको भुलाकर व्यापक ब्रह्म में ऐकात्म्य का अनुभव करते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में लिखा है—

'शान्तिर्वै वामदेव्यम्।' (तैत्तिरीय १।१।८।२)
'शान्तिर्वै भेषजं वामदेव्यम्।'
(कौषीतकि २७।२।३९)

'वामदेव्यं वे साम्नां सत्।' (ताण्ड ४।८।१०)

इन वाक्यों से प्रमाणित होता है कि वामदेव्य गान शान्ति और साम के प्रतिनिधिरूप हैं।

वामदेव ऋषि के सूक्तों में अग्नि वरुण इन्द्र सोम ऋभु वायु द्यावापृथिवी उषा अश्विनौ विश्वे देवाः आदि प्रायः सब मुख्य देवताओं की स्तुति है। इन सब देवताओंकी स्तुति करके ऋषि इनका प्यारा बनना चाहता है। 'वामदेव' का यौगिक अर्थ है- वाम अर्थात् सुन्दर, अनुकूल या अनुगामी हैं देवता जिसके। जिस ऋषिने अपनी भक्ति और साधना द्वारा सकल देवताओंको वशमें करके अपने अनुकूल बना लिया हो, वह 'वामदेव' है।

'वामदेव' का परिचायक नाम 'गौतम' है। वामदेव के समान गौतम भी साम के अर्थमें प्रयुक्त होता है—

स्वर्गाल्लोकान्न च्यवते
गौतमेन साम्ना तुष्टुवानः।
(ताण्ड्य ब्रा० ११।५।२२)

'गौतम' का सम्बन्ध 'गोतम' से है। गौके अनेक अर्थ हैं। देवोंके साथ भी गौका अन्तरङ्ग सम्बन्ध है। ब्राह्मणों में लिखा है—

वैश्वदेवी वै गौः। (गोपथ उत्तरभाग ३।१९)
गौर्वै देवानां मनोता। (कौषीतकि १०।६)

'मनोता' शब्द का कोष में दिये गए अर्थ के अनुसार यह अभिप्राय है कि मन्त्रोच्चारण करते हुए अग्नि वाक् अथवा गौ जिसके प्रति आहुति दी जाय उसे 'मनोता' कहते हैं। 'मनोता' का साधारण अर्थ है 'प्रबन्धक'। गौ देवताओं का प्रबन्ध करनेवाली है। जिस प्रकार अग्नि हविको देवताओंके पास ले जाकर उनके निर्वाहका प्रबन्ध करती है, उसी प्रकार यह प्रबन्धकार्य गौ का भी है। इसके अतिरिक्त वेदके निम्न मन्त्र में गौ और देवोंके अन्य सम्बन्ध भी प्रदर्शित किए हैं—

माता रुद्राणां दुहिता वसूनां
स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः॥
प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय
मा गामनागामदितिं वधिष्ट। (ऋ० ८।१०१।१०)

इस मन्त्र में गौके साथ देवोंके पारिवारिक सम्बन्ध के आधार पर गौकी हिंसा न करनेकी अपील की गई है।

शतपथब्राह्मण में गौकी सबसे बडी महिमा बतलाई गई है और सब प्रकार की हवियों को प्राप्त करने का मुख्य अधिकार इसे ही है, ऐसा प्रतिपादन किया गया है।

महाँस्त्वेव गोर्महिमेत्यध्वर्युः। गौर्वै प्रतिधुक्।
तस्यै शृतं तस्यै शरस्तस्यै दधि तस्यै मस्तु
तस्यातञ्चनं तस्यै नवनीतं तस्यै घृतं
तस्याऽमिक्षा तस्यै वाजिनम्।
(शतपथ० ३।३।३।२)

वस्तुतः आधिभौतिक रूप से घी दूध दही मक्खन आदि समस्त होतव्य पदार्थ गौसे ही मिलते हैं। इस लिये माता या मनोताके रूपमें गौकी पूजा स्वाभाविक है। गव्य पदार्थों से ही प्राण और इन्द्रियों की पुष्टि होती है, मनुष्यों को बल देनेवाली तथा उनका भरण-पोषण करनेवाली गौही है—

प्राणो हि गौः। (शत० ४।३।४।२५)
इन्द्रियं वै वीर्यं गावः। (शत० ५।४।३।१०)
गौर्वा इदं सर्वं बिभर्ति। (शत० ३।१।२।२४)

इस प्रकार गोतम वह व्यक्ति है, जो बलिष्ठ है, जिसकी सब इन्द्रियां प्राण और शक्ति से परिपूर्ण हैं। गोतम के पुत्र गौतम में ये सब गुण और भी अधिक मात्रा में होंगे।

'वामदेव' में 'देव' इन्द्रियवाचक भी हो सकता है। 'अग्नि वैं वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्' इत्यादि वाक्यों के आधारपर यह निःसङ्कोच कहा जा सकता है, कि इंद्रियां देवोंका प्रतिनिधित्व करती हैं। जिसकी इन्द्रियां स्वस्थ सुन्दर एवं प्राणसम्पन्न हों, वह 'वामदेव' है। इस विवेचन से यह भली भांति स्पष्ट हो जाता है कि गौतम और वामदेव ये दोनों शब्द एक दूसरे के भावके अत्यन्त समीप है, इस लिये इनमें विशेष्य-विशेषताभाव हो सकता है।

वामदेवके विषय में कह चुके हैं कि सब देव उसके अनुकूल हैं। देवका अर्थ इन्द्रिय या मन ['मनो देवः' (गोपथ-पूर्वभाग २१०)] करनेपर देवोंकी अनुकूलताका तात्पर्य यह होगा कि वामदेव की इंद्रियां और मन विरुद्ध मार्ग में नहीं जाते, वामदेव के वश में रहते हैं। इंद्रियों के लिए विरुद्ध मार्ग पाप की तरफ ले जानेवाला विषय-वासना का बहिर्मुख मार्ग है, इस मार्ग से हटने पर ही मनुष्य 'वामदेव' या 'गौतम' कहला सकता है।

ऋग्वेद के दसवें मण्डल के १२६ वें सूक्तका ऋषि

'अंहोमुक् वामदेव्यः, कुल्मलबर्हिषः शैलूषिर्वा'

इस प्रकार लिखा है। वामदेव का अर्थ जितेन्द्रिय है, वामदेव्य उसी से सम्बद्ध पदार्थ है। जितेन्द्रिय पुरुष 'अंहोमुक्' अर्थात् पापसे मुक्त रहनेवाला हो, यह बात निर्विवाद है। ऋषि का वैकल्पिक नाम है-'कुल्मलबर्हिषः'। उणादि सूत्रों के चतुर्थ अध्याय के १८९ वें सूत्रकी सिद्धान्तकौमुदी की व्याख्या में 'कुल्मलं पापम्' ऐसा लिखा है। इस आधार पर कुल्मलबर्हिषः का अर्थ 'पापको काटनेवाला' हुआ। अतः 'अंहोमुक्' और 'कुल्मलबर्हिषः' समानार्थक हुए। 'शैलूषि' नट है। नट जितने कार्य करता है, उनसे स्वयं अलिप्त रहता है। रोता है किन्तु शोक के कारण नहीं, प्यार करता है परन्तु मोह और राग के वश होकर नहीं, नटकी यही अवस्था वामदेव-जितेन्द्रिय पुरुष की भी है।

अस्तु, इस लम्बी विचारसरणिका परिणाम यह है कि हम इस सचाई को समझ सकते हैं कि 'वामदेव' 'गौतम' 'कुल्मलबर्हिष' 'शैलूषि' ये सब शब्द सदृश अर्थ के द्योतक हैं। वामदेव ऋषि के मन्त्रों में समस्त प्रधान देवताओं को आत्मानुकूल करनेके लिये स्तुति प्रार्थना उपासना की गई है, अतः इन मन्त्रों का ऋषित्व वामदेवको प्राप्त हो, यह बात अत्यन्त स्वाभाविक तथा वैज्ञानिक है।

एक वैदिक संवाद।

[श्री० अम्बालाल पुराणी, श्री अरविन्दाश्रम, पांडीचरी]

वेद में बहुत से संवाद हैं। इन्द्र और अगस्त्य, वसिष्ठ और अग्नि, अगस्त्य और लोपामुद्रा, इन्द्र अगस्त्य और मरुत्, पुरुरवस् और उर्वशी आदि के संवाद उदाहरणरूप गिनाए जा सकते हैं। इस से यह प्रतीत होता है साहित्य में संवाद की शैली बहुत पुरानी है।

वेद में प्राकृतिक पदार्थों को देवता मानकर उनकी पूजा और स्तुति की गयी है। वेद मानव-जाति के उषःकाल के मानस की स्थिति दर्शाते हैं और इसी प्रकार की बातें मानकर वेद में मानव-संस्कृति की प्राथमिक दशा का वर्णन खोजा जाता है। इस मन्तव्य की पुष्टि के लिये न तो पूरे पूरे प्रमाण मिलते हैं और न अकाट्य दलीलें। पर अब सर्व-सम्मति से यह स्वीकार किया जाने लगा है कि ऋग्वेद में विश्वव्यापी एक सत् को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है तथा विविध देवता उसी के भिन्न भिन्न नाम हैं।

अर्वाचीन विद्वानों तथा भारतीय भाष्यकारों में यास्क तथा सायण के मतानुसार आर्यलोग सप्त-सिन्धु के प्रदेश में अर्थात् पंजाब, कन्धार और अफगानिस्तान के कुछ हिस्सों में बसे हुए थे। यह भी एक मत है कि पंजाब में सात नदियां बहती थीं, इसलिये उसका नाम सप्तसिंधु रखा गया। विश्वामित्र और नदियों के संवाद के बारे में निरुक्त की कथाके आधार पर कहा जाता है कि विश्वामित्रने राजा पैजवन के यहां यज्ञ करवाकर बहुतसी दक्षिणा प्राप्त की और फिर विपाश-शतद्रु नदियों के संगम पर आकर उन से उथली होकर रास्ता देने के लिये प्रार्थना की। नदियों का पानी कम हो गया तथा विश्वामित्र और उस के अनुयायी-निरुक्तकारके शब्दों में तस्कर-संगम से पार हो गए। इस कहानी को भगीरथ की गंगावतरणवाली कहानी के साथ मिलाकर देखा जाता है। बहुत से यह मानते हैं कि भगीरथ ने एंजिनियरिंग कर के गंगा को हिमालय की ऊंचाइयों से निचले प्रदेश में उतारा था और उसी तरह विश्वामित्रने पहले पहल विपाश (आज कल ब्यास कहनेवाली नदी) और शतद्रु (सतलज) को पार किया होगा।

यहां हमें इस अनुमान की सत्यता की जांच नहीं करनी, पर यह देखना है कि जहां सप्त नदियों से बातचीत हो रही है, वहां विश्वामित्र केवल दो के ही नाम गिनाता है और बाकी सब को देवता कहता है- भले ही यह उस समय की प्रचलित सामान्य रूढि क्यों न हो।

नदियों के बारे बारे में बोलते हुए विश्वामित्र बहुवचन का भी प्रयोग करता है, जिसका मतलब यह है कि उस के मन में दो से अधिक नदियों का ख्याल होगा। नदियाँ भी अपने लिये बहुवचन का प्रयोग करती हैं। इस से यह सम्भव लगता है कि विपाश और शतद्रु विश्वामित्र के मन में उन सात नदियों के प्रतिनिधिरूप होंगी।

नदियों के बारे में ऐसे ऐसे विशेषण प्रयुक्त हुए हैं जो स्थूल जलों के स्रोत के लिये शायद ही प्रयोग में लाए जा सकें।

विश्वामित्र के सूक्त के बारे में अभी इतनी ही बातें देखकर हम पहले यह देख लें कि वेद में सामान्यतः नदी पानी जल आपः और समुद्र आदि का क्या अर्थ है।

(१) वेदमें अपो दिव्या, दिव्य जल-दैवी आपः-दिव्य-पानी-स्वर्वतीरपः-स्वर्लोकवाला पानी, ऐसे प्रयोग बहुत हैं। समुद्रका भी उस में स्पष्ट वर्णन है। सप्त नद्यः, सप्त-मातरः; सप्तधेनवः, वगैरा का वर्णन है तथा सरस्वती को भी-जिसे वेद स्वयं प्रेरणाकी देवी बताता है-नदी कह कर सम्बोधित किया है। जल, नदी और समुद्र की मानस व्यापार के साथ सम्बन्ध वेद तथा उस के पीछे के साहित्य में स्पष्ट दिखाई देता है। प्रेरणा के प्रवाह को यदि सरस्वती कहा जाय तो इस में आर्य मानस के लिये कौनसी अपरिचित और नई चीज हो भी? वेदमें "हृदयात् समुद्रात्" 'हृदय-समुद्र से' इस प्रकार का भी उल्लेख है। वेद का जल सामान्य स्थूल जल से कहीं भिन्न है। अपो हि ष्ठा मयो भूवः (१०-९) 'मय की-आनन्दकी भूमिका में उत्पन्न हुआ हुआ जल' ऊर्जे दधातन- हमें ऊर्जस् शक्ति

और बल देनेवाला है, वह चक्षसे-चक्षु के लिये, दर्शन के लिये उपयोगी है।

वेद के बाद के कालमें भी जल का सूक्ष्म व्यापारों के साथ सम्बन्ध जारी रहा है। योग-साहित्यमें इडा, पिङ्गला और सुषुम्ना के सङ्गम को त्रिवेणी-सङ्गम कहा जाता है और तान्त्रिक इसे गङ्गा यमुना और सरस्वती का सङ्गम कहते हैं। साहित्य में ज्ञान की गङ्गा सुप्रसिद्ध है। तर्क-शास्त्र और दर्शनों में सच्चिदानन्द को सागर की उपमा दी जाती है और भक्ति-साहित्य में भगवान् को निखिल-रसामृतसिन्धु, करुणासिन्धु आदि नामोंसे पुकारने का रिवाज प्रचलित है। दूर क्यों जाएं, स्वयं हिन्दी में ही दरिया दिली, आंख का पानी, मन की मौज, आनन्द की लहर आदि प्रयोग देखने लायक हैं।

पुराणों में प्रलय के समय क्षीरसागर में शेष-नाग की शय्या पर सोए हुए विष्णु भगवान् का कैसा सुन्दर प्रतीकरूप वर्णन है। कृष्ण-साहित्य में भी कालिन्दी में ग़ोता लगा कर कालीनाग के दमन का वर्णन आता है। पर यहां इन रूपकों का रहस्य खोलने का स्थान नहीं है।

आर्यसंस्कृतिके अतिरिक्त यूनानी पुराणों में भी नदियां मानस-व्यापार के सूचक के रूपमें आती हैं। हाइयोक्रीन नदी- जो कविता की प्रेरणा की पोषक है— को पेगेसस् नाम के दिव्य अश्वने पर्वत पर से आघात करके नीचे उतारा था। ईसाई धर्ममें भी Holy water (पवित्र जल) से मार्जन करने का विधान है।

ये सब सूचक वेदमें आई 'सप्तनद्याः' के बारे में क्या कहते हैं, यह एक सवाल है। इसका उत्तर देने से पहले आभ्यन्तर प्रमाणद्वारा वेद की ऋचाओं से ही हम यह जानने की कोशिश करेंगे कि क्या सचमुच जल, नदी और सागर प्रतीकरूप हैं?

जल और नदी का सूचकत्व।

सरस्वती देवी के बारेमें आए हुए मन्त्रों से हमें यह ज्ञात होता है कि सरस्वती नदी है और साथ ही साथ प्रेरणा-शक्ति की अधिष्ठात्री है। ऋचाओं में प्रायः इळा, भारती और सरस्वती इन तीन देवियों का साथ ही साथ आवाहन किया जाता है, हां, केवल सरस्वती का आवाहन करनेवाले मंत्र भी हैं। वेद ६।९१।२ में भरद्वाज ऋषि नदीरूप वर्णन करके कहते हैं—

पारावतघ्नीमवसे सुवृक्तिभिः सरस्वतीमा विवासेम धीतिभिः।

सुदूर ऊर्ध्व (चैतन्य) सागर का भेदन करती हुई अथवा पहाडों को चीरकर आती हुई सरस्वती नदीमें हम सुस्तवनों तथा अपनी धारणा-शक्ति द्वारा निवास करते हैं।

६-६१-४में कहा है "धीनामविञ्यवतु" 'हमारी मेधा-प्रज्ञाशक्ति-की रक्षण करनेवाली! तू रक्षा कर'। इसी सूक्त में आगे सप्त नदियों का भी स्पष्ट वर्णन है—

सा नो विश्वा अति द्विषः स्वसॄरन्या ऋतावरी। अतन्नहेव सूर्यः॥ (ऋ० ६।६१।९)

उत नः प्रिया प्रियासु सप्तस्वसा सुजुष्टा। (ऋ० ६।६१।१०)

यानी 'उस सत्यसम्पन्न (सरस्वती) ने हमारे सब विद्वेषियों से परे होकर अपनी अन्य बहिनों का विस्तार किया जैसे सूर्य दिवसका।'

उत नः प्रिया प्रियासु सप्तस्वसा सुजुष्टा। सरस्वती स्तोम्या भूत। (ऋ० ६।६१।१०)

हमें प्रिय सातों बहिनोंमें से भी सब से अधिक प्रिय सरस्वती, जिसकी पूजा आनन्दपूर्वक की जाती है, स्तुति-योग्य हो।

सरस्वती (आपपृषी-जल) का सिञ्चन करनेवाली है, (अन्या अपसामपस्तमा) जलों में भी अत्यधिक जलवती है, वेगवान जलस्रोतोंमें भी अतिशय वेगवान् है।

एक दूसरा उदाहरण देखिये—

सरस्वती साधयन्ती धियं न इळा देवी भारती विश्वतूर्तिः। (ऋ० २।३।८)

हमारी धारणाशक्ति-प्रज्ञा-को पूर्णता प्राप्त करनेवाली सरस्वती, इळा और सब विषयों में गति रखनेवाली-वाचा-भारती-देवी।' इन अवतरणों से कितना स्पष्ट दिखाई देता है कि यह स्थूल नदी का वर्णन नहीं है।

७-९५ में सरस्वती मुख्य देवता है। क्या ही सुंदर वर्णन है—

एका चेतत् सरस्वती नदीनां शुचिर्यती गिरि-
भ्यः आ समुद्रात् । रायश्चेतन्ती भुवनस्य
भूरेर्घृतं पयो दुदुहे नाहुषाय ॥ (ऋ० ७।९५।२)

'पर्वतों से लेकर ठीक समुद्रपर्यन्त वहन करनेवाली सब सरिताओं में एक सरस्वती–विशुद्ध और ज्योतिर्मय सरस्वती–चेतनवान् हुई। उसने समस्त भुवन के विपुल आनन्दों के प्रति हमारी चेतना को जागृत करके–उसके आनंद का मान करवा कर– नहुष के पुत्र के लिये ज्ञान-ज्योतिर्मय घृत और आनन्दमय पय का दोहन किया।'

ऋ० ७।९६ में भी ऋषि वसिष्ठ सरस्वती की स्तुति करता हुआ कहता है—

'भद्रमिद्भद्रा कृणवत्सरस्वत्यकवारी चेतति वाजिनीवती।'

अर्थात् 'भद्र कल्याणकारिणी सरस्वती कल्याण करे। ऐश्वर्य और पदार्थ–बाहुल्यवाली ऋजुगामिनी (सरस्वती) हममें चैतन्ययुक्त हो (हमें चैतन्ययुक्त, जागृत करे)'।

इससे यह तो स्पष्ट हो जाता है कि यह सरस्वती कोई पार्थिव सरिता नहीं हो सकती, यदि इस नाम की कोई नदी हो भी तो ऋचा के दर्शनके समय ऋषिके मनमें उसका ख्याल तो हार्गिज न था। सरस्वती (चेतती) चेतना–युक्त; (प्रबोधन्ती) बुद्धि को विशेष प्रकार से जागृत करने-वाली, जिसमें ऋषि अपनी बुद्धिद्वारा–मनकी धारणा-शक्तिद्वारा निवास करता है (विवासेम धीतिभिः) धारणा-शक्ति का रक्षण करनेवाली, (ऋतावरी) सत्ययुक्त और (चिकितुषा) 'जिसमें चैतन्य जागृत हो ऐसे सचेतन मानव को अज्ञानरूपी अचेतन अवस्था में से निकालकर चैतन्य-मय अवस्था प्राप्त कराने की प्रवृत्ति रखनेवाली सरस्वती को पानी का एक प्रवाह मात्र कौन कह सकता है?

सरस्वती आदि सप्त नदियों का जिक्र वेदमें बार बार आता है, इतना ही नहीं सप्त एक प्रकार की गूढ संख्या के रूपमें भिन्न भिन्न पदार्थों के साथ लगा हुआ दिखाई देता है, जैसे सप्तनदीः, सप्तसिन्धुः, सप्तगावः, सप्तमातरः, सप्त-धीतयः, सप्तस्वसारः, सप्तधेनवः, सप्तार्चिः वगैरा। इस से लगता है कि सात का कुछ विशेष अर्थ अवश्य होगा। आर्य-अस्तित्व की भूमिकाएं, चैतन्य के लोक के वर्णन में सात भूमिकाएं मानते हैं और वे हैं सत्, चित्, आनन्द, विज्ञान (वेदमें इसे ऋतम् कहा है) और मन, प्राण तथा शरीर। अथवा यौगिक परिभाषामें ही रखना हो तो अन्न प्राण मन विज्ञान आनन्द चित् सत्।

सरस्वती सात नदियों में से एक है तथा वह प्रेरणा-प्रवाहवाली होनेके कारण सूक्ष्म मानसिक और आध्यात्मिक व्यापारों की शक्ति का सूचक है, तो अन्य नदियां भी इसी प्रकार सूचक और प्रतीकरूप होंगी और उनके वर्णन में भी हमें इन सूक्ष्म धर्मों का प्रतिपादन मिलेगा। इस लेख का मुख्य विषय विश्वामित्र और नदियों का संवाद है। उस में विपाश और शतद्रु को भी इसी प्रकार का प्रवाह साबित करनेवाले प्रमाण मिलते हैं। यह वार्तालाप सुन्दर से सुन्दर प्रतीकों का एक नमूना है।

सरस्वती नाम की व्युत्पत्ति देखें तो उस का अर्थ गतिशील, प्रवाहशील, सरलशील स्वभावयुक्त होता है। जिन्हें यह मालूम है कि 'प्रेरणा' क्या चीज है, उनके लिये यह अनुभव कोई नया नहीं है कि जब मानव के मनो-मय कोश के ऊपर से दिव्य प्रेरणा का प्रवाह आता है, तो वह नदी का सा प्रवाह ही लगता है। वेदकालके बाद पुराणकाल में सरस्वती विद्या और कला की अधिष्ठात्री मानी गई है, इस से भी उसका मानसिक व्यापारोंके साथ सम्बन्ध सिद्ध होता है। सरण करती हुई गति यानी सरस्वती एक दिव्य प्रवाह है। बहुत प्राचीन कालसे हमारे तत्त्वदर्शनोंमें चैतन्यकी गति और उसकी अनन्त अपरिमेयता को सागर के रूपकद्वारा व्यक्त किया जाता है। अस्तित्व मात्र–सत्–मात्र–चेतनवत् अनन्त की सरणशील गति है, उसकी नदी है। वेदमें बार बार कहा गया है कि इन्द्र अपने वज्रों के आघातों से सप्त नदियों को पहाडसे मुक्त करता है। चैतन्य की ये सातों नदियां मानव के स्थूल देह की जडता में बन्धी हुई हैं अर्थात् पर्वत में वृत्र वगैरे आच्छादन करनेवाले शत्रुओं की क्रिया द्वारा, अचेतनताके कारण, रुक्ष हुई हुई पडी हैं। स्वर्लोक (मनोमय भूमिकाकी उच्चतम कोटि) का राजा इन्द्र यानी दिव्य मन की अधिष्ठात्री शक्ति अपने तेजोमय वज्राघात द्वारा पर्वतों को तोडकर इन सप्त प्रवाहों को मुक्त करता है। भिन्न भिन्न स्थलों पर इन सातों नदियों का वर्णन आया जिनसे

मालूम होता है कि उनकी ऊर्मियां घृतवत् और मधुमत् अर्थात् तेजस्वी और आनन्ददायिनी हैं।

ये नदियां मनसे परे ऋतं अर्थात् विज्ञान की भूमिकासे आई हैं, उनका मूल उच्चतर भूमिकाके अनंत चैतन्यमें है। कहीं कहीं ऐसा भी कहा है कि उनका मूल स्वर्लोकमें प्रकाश के ज्ञानसूर्य में है। उपनिषद् में अनंत चैतन्य के समूह और उसके आविर्भावरूपी सूर्य को ज्ञानसूर्य कहा है तथा उसका स्वरूप पुरुषमय बताया है। इसे हम वेद की इस बातके साथ मिलाकर पढें, तो मतलब ज्यादा स्पष्ट हो जाएगा।

किसी एक प्रश्न को लेकर सारे वेद की खोज करनेवाला ही जान सकता है कि वेदके अलग अलग भागों को लेकर उनके अर्थ लगा लेने से कैसा अनर्थ हो सकता है। सायणाचार्य और प्राच्य-विद्याविशारद पाश्चात्योंने वेद को खण्ड खण्ड करके उसका अर्थ लगाने की कोशिश की है और यह पद्धति बिलकुल अयथार्थ है। वेदका केवल ऊपरी अध्ययन करनेवाला भी जान सकता है कि उसमें कथाओं, प्रतीकों, और विचारों, देवताओं के विशेषणों और उन्हें अर्पित की गई क्रियाओं की कथाओं में पूरी पूरी एकता है। किसी भी मण्डल में से अग्निऋचाएं निकाल कर पढनी शुरू कीजिए और आपको हमारी बात का स्पष्ट दृष्टान्त मिल जायगा। यदि अर्थ की दरिद्रता ही होती तो वह भी सारे ऋग्वेदमें व्याप्त होनी चाहिये थी। और यदि उन्नत दर्शन, सहजावबोध या साक्षात्कार की कविता हो तो वह भी सारे वेदमें मिलनी चाहिये। आधुनिक विद्वानों का यह मत कि अन्त में जाकर ठीक दसवें मण्डलमें ब्रह्मवाद आ टपका, जरा भी सुसंगत नहीं लगता। प्रथम मण्डल की ऋचाओं में भी स्पष्ट शब्दों में नई परिभाषाओं में ग्रथित होनेवाले ब्रह्मवादका का उल्लेख साफ दिखाई देता है।

हमारा आशय यह है कि समस्त वेद सूचकों और प्रतीकों का सृजन है और इन प्रतीकों के लिये ऋषियों ने कई स्थूल पदार्थों को स्वीकार किया था, जिससे अत्यन्त संक्षेप में उनके अनुभवों का सार समा जाए। यहां हम इस दृष्टि-बिन्दु का सम्पूर्ण समर्थन करने नहीं जा रहे, परन्तु इतनेसे हम यह देखना चाहते हैं कि इस दृष्टिकोण से वेद के जल, नदी आदि को कैसा नया स्वरूप मिल जाता है और यह समग्र दृष्टिबिन्दु में कितना ठीक बैठता है।

अनन्त चैतन्य या सागर।

अनन्त चैतन्य का सागरके रूपमें वर्णन करनेका विचार बहुत पुराना है। वेद देखने से तो हरएक जरासी बुद्धि-वाला भी समझ जायगा कि यहां समुद्र प्रतीकरूप है।

घृतपृष्ठं मधुमन्तं वनेम (७।४७।१)

का सारा का सारा सूक्त ही जलों को समर्पित किया गया है। उस में कहा है, "हे जल! पहलेपहल इन्द्रके आस्वादनके लिये तुमने अपनी पहली ऊर्मि पैदा की। पवित्र शत्रुओं के संहारक तथा घृत और मधुयुक्त जल का आनंद हम प्राप्त करते हैं। देवत्व प्राप्त करने के अभिलाषी हम लोग तेरी सबसे अधिक आनन्ददायिनी-मधुयुक्त-और इन्द्र को अत्यन्त आह्लाद पहुंचानेवाली ऊर्मि के भाग करते हैं और हे जलके पुत्र अग्नि! उस ऊर्मि का तुम रक्षण करना।" पर वह जल हैं कौनसा? कहते हैं—

याः सूर्यो रश्मिभिराततान। (ऋ० ७।४७।४)

'जगत् को प्रसव देनेवाले, संसार के सर्जक सूर्यदेव ने अपनी किरणों द्वारा जिस का विस्तार किया और गमन करने के लिये तत्पर जिस की ऊर्मि को इन्द्र ने वज्राघात कर के विमुक्त किया'। इस अवतरणमें तो यही लगता है कि जो बात विश्वामित्र और नदियों के संवाद में हैं, वही यहां पर एक दूसरे रूप में कह दी गई हैं। तीसरे मण्डल का प्रथम सूक्त भी यही सिद्ध करता है कि सात नदियां प्रतीकरूप हैं। लेख बहुत लम्बा हो जाने के डर से यहां उस के अवतरण नहीं दिये जा रहे। पर इस जल में सूर्य जन्म लेता है, उस में देव अग्नि के प्रत्यक्ष दर्शन करते हैं और वह अग्नि जल में दिखाई देती है, तथा ज्ञानद्वारा पुष्ट होती है, द्यावापृथिवी उस अग्नि की पत्नियां हैं और वह आर्य को अमृतत्व देता है!! (३।१।२-१६)

इस जल को वेदने मय -आनन्दवाला- कहा है, वह ऊर्जं शक्तिवाला है, घृतवत्-तेजस्वी और ज्ञानज्योतियुक्त तथा मधुमत्- ऊर्मियोंवाला आनन्दयुक्त है, क्योंकि जब वह अनन्त में से मानव के स्थूल शरीर में बद्धचैतन्य में अवतरित होता है, तो मानवको अपने अन्दर ज्ञान, शक्ति

और आनन्द के प्रवाह का अनुभव हो उठता है। सामान्यतः मानव-चैतन्य में ये प्रवाह गतिमान् नहीं होते, क्योंकि अवचेतना में ज्ञान का आच्छादन करनेवाला वृत्र (आवरण करनेवाला) उन्हें ढंके रहता है, परन्तु जब इन्द्र अर्थात् दिव्य मनोमय शक्ति या विज्ञान की मनोमय कोश में होने-वाली क्रियाओं का अधिष्ठाता देव (Divine mind) अपने ज्योतिर्मय तीक्ष्ण वज्रद्वारा स्थूल भूमिका के पर्वतों पर आघात करता है, तो वृत्र का विनाश हो जाता है और मनोमय कोश में बद्ध ये सातों स्रोत बहने लगते हैं और मानवको ज्ञान, शक्ति और आनन्द की प्राप्ति कराते हैं। वेद में हरजगह सामान्य यानी अज्ञान से आच्छादित पार्थिव चैतन्य को अद्रि यानि पर्वत कहा गया है।

अनन्त सत् का समुद्र ही वेद का जल है, चैतन्यभरी सात भूमिकाओं का प्रवाह ही उसकी नदियां हैं और उस प्रवाह के कारण ही हमारे जगत् की सातों भूमिकाएं अस्तित्व धारण करती हैं। जैसे मनोमय कोश के ऊपर विज्ञान या ऋतं का सागर है, उसी तरह स्थूल भूमिकाके नीचे के अवचेतनावाले तमोमय सागर का वर्णन भी वेद में पाया जाता है। इस प्रकार के सातों प्रवाह दो समुद्रों के बीच बह रहे हैं और इस प्रकार व्यक्त जगत् को टिकाए हुए हैं। सूर्य की सात रश्मियोंकी नाई इन सात सरिताओं के प्रवाह में सारा गतिमान् विश्व समाया हुआ है। विश्व में क्रीडा करते हुए अनन्त चैतन्य के सात शक्ति-स्रोत ही ये सात नदियां हैं, चैतन्यमय विश्व की सात गतियां ही सात प्रवाह हैं। पार्थिव भूमिका में बहती हुई वे प्राणमय कोश में जाती हैं और वहां विशुद्ध को प्रकट करती, प्राण को उन्नत करती और ऊर्ध्वमुखी बनाती हैं, प्राण से ऊपर उठ मनोमय भूमिका में पहुंच वे युवावस्था को प्राप्त करती हैं और विविध स्रोतों में बह जाती है फिर भी उन सब का मूल एक ही है! उन सभीका आदि धाम अनन्त चैतन्य की भूमिका अर्थात् ऋतं में है। ऊपर से नीचे और नीचेसे ऊपर को बहनेवाले ये सात प्रवाह जब मन की भूमिका में प्रकट होते हैं, तो मन में ज्ञान की ज्योति, दर्शन की विशदता, मुक्ति, विशुद्धि को प्रकट करते हैं और केवल इतना ही नहीं बल्कि मन की भूमिका में से मन, प्राण और स्थूल शक्ति तक में बसे हुए चैतन्य को आनन्द की ऊर्मियों में स्नान करा देते हैं।

परंतु वैदिक ऋषि मन से परे परम सत्य के धाम 'दमं' में से बहकर आनेवाली सरिताओं के स्रोत से ही सन्तुष्ट नहीं हो जाते। विश्वामित्र ऋषिकी नाई सब आर्य 'भरताः' इन नदियों को भी पार कर के नदियों के भी मूल सदन सत्यके अनन्त सागरमें स्थिर चैतन्य धारण करने की उमंगें में रखते थे। सामान्य मानव के लिये तो इन दिव्य सप्त-सरिताओं का तेज, शक्ति और आनन्द ही अति महान् और विरल है, पर वेदकाल के वे नेता इन में स्नात होकर तथा इन्हें पार कर के अनन्त चैतन्यरूपी सागर में स्थिर स्थिति प्राप्त करने के लिये ऊर्ध्व गति करते थे और वहां ऊर्ध्वे अलोके-उरुलोके- ऊर्ध्वलोक में, उस विशाल लोक में ऋतं ज्योति-ज्योतिर्मय सत्य के सूर्य को प्राप्त करते और उस में प्रविष्ट होकर उसे पृथ्वीपर अवतरित करने का प्रयत्न करते थे। ऋतं में अर्थात् अनन्त चैतन्य के सक्रिय स्वरूप में वे सत्यं, ऋतं, बृहत् का अनुभव करते थे। वे अस्तित्व के अन्तिम शाश्वत सत्य विश्व के गतिमान् सक्रीय सत्य नियम और विशाल अनन्तता का अनुभव करते थे। इसी विशाल अनन्तता को-बृहत् को-उपनिषद् में भूमा कहा गया है।

अब हम विश्वामित्र और नदियों का संवाद का संक्षिप्त सार देखने की कोशिश करेंगे। प्रथम तीन ऋचाओंमें विश्वामित्र नदियों का वर्णन कर के उन्हें सम्बोधित करता है। विपाश- यानी जिस के पाश, बन्धन दूर हो गये हैं ऐसी, निर्मुक्त- और शीघ्र गतिवाली शतद्रु पर्वत पर से बडे वेग से गति करती आ रही हैं। उन्हें बछडे को चाटने के लिये दौडती हुई गाय की उपमा दी गई है, वे आनन्द-पूर्ण हैं। इंद्र ने उन्हें प्रथम आघात-स्पन्दन-दिया था और वे दोनों समुद्र की ओर को दौडी चली जा रही हैं। उन के जल में अन्य स्रोत भी आ आकर मिलते जाते हैं। अनन्त के समुद्र की ओर गति करते हुए 'अच्छ-सिन्धु' विश्वामित्र को इन्द्र के द्वारा मुक्त करवाई हुई विपाश और शीघ्रगामिनी शतद्रु मिलती हैं! उन दोनों का मूल एक ही है। उनकी गति का लक्ष्य, हेतु तथा आदि कारण भी 'समान' है। मनोमय कोश से इन्द्रद्वारा प्रेरित होकर ये शक्तियां अनन्त ऊर्ध्व सागर में से उत्पन्न हुई समान

क्रियाओंमें आनन्द लेती हुई अतन्त सागरकी ओर को गति कर रही हैं । विश्वामित्र समुद्र की ओर गति कर रहा है, पर नदियाँ उसका उद्देश्य नहीं जानतीं । वे कहती हैं, हम देवताओं के उत्पन्न किये हुए मूल का अनुसरण करती हुई गति कर रही हैं, हम पीछे लौटनेवाली तो हैं नहीं, फिर विप्र किस इच्छा से हमारा आह्वान कर रहा है?

विश्वामित्र उत्तर देता है, हे सत्यवान् (यदि प्रतीक-स्वरूप न हों तो नदी और सत्य का क्या सम्बन्ध?) मेरी वाणी की खातिर तुम रुक ठहर जाओ- यहां वाणी और नदियों का सम्बन्ध कितना स्पष्ट है- जिससे मैं तुम्हारी प्रेरणा, दर्शन और सहजावबोध आदि शक्तियों द्वारा वाणी-रूप, शब्दरूप, सर्जन कर सकूं । वह वाणी कैसी है जिस के लिये नदियों को रुक जाने के लिये कहा जा रहा है- वह सोम्याय-सोम आनन्दको प्राप्त करनेवाली है । संक्षेपमें वह नदियों से अर्थात् प्रेरणा वगैरा सूक्ष्म शक्तियोंके स्रोतों से विनती कर रहा है कि तुम जरा ठहर जाओ, तो मैं वाणी में सत्य को प्रकट कर के उस का आनन्द ले लूं । फिर कहता है, मैं तुम्हें बुला रहा हूं, क्योंकि मैं रक्षण चाहता हूं, कहीं मैं तुम्हारे स्रोत में घसिट न जाऊं- केवल प्रेरणा, अन्तर्ज्ञान, सहज विवेकशक्ति आदि दिव्य मनोमय व्यापारों ही मग्न होकर उन्हीं में फंसा न रह जाऊं । मेरी मनीषा- मन की धारणाशक्ति- विशाल है और उस के द्वारा मैं समुद्र तक पहुंचने के लिये उद्यत हुआ हूं । नदियों के उत्तर से यह जान पडता है कि वे अपने पार किये जाने के लिये सुविधाएं देने के लिये तत्पर नहीं हैं । वे कहती हैं कि इन्द्रदेव ने पर्वत तोडकर हमें मुक्त किया है, हमें चारों ओर से घेरे हुए वृत्र का वध किया है और सूर्यदेव ने हमें मार्ग दिखाया है । उस सूर्य के जन्ममें आनन्द और विस्तार पाती हुई हम आगे बढी चली जा रही हैं । अर्थात् दिव्य मनोमय कोश के अधिष्ठाता इन्द्र ने हमें मुक्त किया है और ज्ञानज्योतिर्मय जगदुत्पादक सविता देव ने हमें मार्ग दिखलाया है । ज्ञान-सूर्य, सत्य-सूर्य का जन्म हुआ हैं, इसलिये हम आनन्द से भरी हुई आगे बढती जा रही हैं और विशाल बनती जा रही हैं । इन्द्रदेव का वह पराक्रम सदा प्रशंसनीय है, जिस के प्रभावसे मानव स्थूल चैतन्य के बन्धनों से मुक्त होकर मनोमय भूमिका के दिव्य स्रोतों के वहन का अनुभव कर सकता है । उसने इधर उधर मार्ग ढूंढते हुए जल के लिये रास्ता बनाया और कलकल करती जलधारा बह निकली! नदियां कहती हैं, हे विश्वामित्र ! तू आग्रह न कर हम से परे जाने और हमें लांघने की मत् ठान । "उक्थेषु नः प्रतिजुषस्व" अपनी ऋचाओं में हमारा आनन्द लेता रह, हमें ही भज । हम तुझे नमस्कार करती हैं और विनती करती हैं कि हमें बाधित न कर ।

विश्वामित्र पर इस प्रार्थना का कोई असर नहीं होता। वह कहता है 'तुमने मेरी वाणी सुनकर कैसा अच्छा जवाब दिया! मैं बहुत दूरसे आलसी गाडी की गति से चलता हुआ तुम्हें प्राप्त हुआ हूं । अब जरा नीची झुको जिस से मैं तुम्हें आसानी से पार कर सकूं, मेरा रथ-मेरी ऊर्ध्व गति-तुम्हें पार कर सके ।' नदियां कहती हैं "तथास्तु, लो हम उथली होकर तुझे मार्ग दिये देती हैं, तू बहुत दूर से आया है ।" तब तक मनोमय भूमिका से ऊपर के ये दिव्य व्यापार 'उथले' नहीं हो जाते, तबतक मानव उन्हें ही सब कुछ समझ कर उन्हीं में फूला रहता है और इन से भी परे जो परम सत्य है और जो अनन्त का धाम है उसे प्राप्त करना भूल जाता है । अन्तिम सत्य के सदन में पहुंचने की अभीप्सा रखनेवाला 'आर्य' इन नदियों के प्रवाह में 'मुहूर्त' भर के विचर ले तो विचर ले, पर सदा के लिये उनमें रहना तो उसके मार्गमें बाधक ही होगा । पर विश्वामित्र ऐसा थोडे ही है जो स्वयं पार होकर ही आनंद मना ले और संतुष्ट हो जाए । इस के नाम की उत्पत्ति देते हुए यास्क कहता है ' सर्वस्य मित्रः यस्य सर्वे मित्राणि' वह तो सभीका मित्र है, अतः वह वर मांगता है कि केवल मैं ही नहीं अपितु सभी भरताः-भरतखण्डवासी तुम्हें इसी तरह से पार कर सकें । इन्द्र के द्वारा उत्तेजना पाकर दिव्य मनोमय शक्ति की प्रेरणा से (इन्द्रजूतः) वे ज्ञान-रश्मि की इच्छावाले (गव्यन्) पहले से ही अति प्रगति करने का कार्य लिये बैठे हैं । विश्वामित्र ने अपनी दिव्य दृष्टि से देखा, भारत के सभी पुत्र इन नदियों को पार कर गए हैं! उसने नदियों की सुमति-आनन्ददायिनी मति-की स्तुति की और पूर्ववत् बहते रहने को कह कर अपने रथ और भारत की प्रजा को लेकर विश्वामित्र ने नदियों के मूल-रूप ऊर्ध्व-समुद्र की ओर को गति की ।

सारांश देख लेनेके बाद हम अब मन्त्रों के पदोंको अर्थ-सहित देखने की कोशिश करेंगे।

१. (प्र) विशेष प्रकार से, आगे, जोश के साथ (पर्वतानाम्) पर्वतों का (उशती) इच्छा करती; (उपस्थात्) ....(अश्वेइव) घोडियों की तरह, (विषिते) मुक्त हुई हुई, छोडी गई (हासमाने) हर्षयुक्त अथवा स्पर्धा करती हुई; (गावा इव) गौओं की तरह (शुभ्रे) ज्योतिर्मय श्वेत (मातरौ माता) धेनुएं; (रिहाणे) वत्स को चाटने के लिए उत्सुक (विपाश) जो पाश से मुक्त है और (शतुद्री) शीघ्र गतिवाली (पयसा) जलद्वारा (प्र-जवेते) आगे को बहती है।

विश्वामित्रः-[(अश्वशालामें से) बन्धनमुक्त हुई हुई, मानों स्पर्धा करती हुई घोडियों की नाईं; सुरभि जैसी शुभ्र कान्तिमान्, वत्स को चाटने के लिये आनन्द और प्रेम से दौडती और रंभाती हुई गौओं की नाईं विपाश और शतद्रु का जल बहता चला जा रहा है।]

२. (इन्द्रेषिते) इन्द्र ने जिन्हें स्फूर्ति दी है (प्रसवं) जन्म (भिक्षमाणे) के लिये भिक्षा याचना करती हुई; (अच्छ) के प्रति (समुद्रं) समुद्र; (रथ्या इव) रथियों की नाईं; (याथः) तुम दोनों जाती हो; (समाराणे) साथ गमन करती हुई; (ऊर्मिभिः) ऊर्मियों द्वारा (पिन्वमाने) वृद्धि पाती (अन्या) दूसरी, (वाम्) तुम दोनों को, (अन्यां) दूसरी को (अपि) भी (एति) प्राप्त करती है, मिलती है (शुभ्रे) श्वेत, ज्योतिर्युक्त। [प्रसव का अर्थ सायण अनुज्ञा करता है! क्या कहते हैं!]

[इन्द्र द्वारा प्रेरित, प्रसव के लिये भिक्षा मांगती, एक रथ में आरूढ रथियों की नाईं, श्वेत ज्योतिर्मय (हे सरिताओ) तुम समुद्र की ओर गति कर रही हो; ऊर्मियों द्वारा परिपुष्ट साथ चलते तुम्हारे प्रवाह में दूसरी (एक और सरिता) भी तुम (दोनों में) आ मिलती है तथा दूसरी में भी मिलती]

३. (अच्छ) की तरफ; (सिन्धुम्) सागर; (मातृतमां) उत्कृष्ट मातृभाव भरी (अयासम्) को मैं प्राप्त हुआ हूं; (विपाशम्) पाशमुक्त नदि को (उर्वीम्) विशाल (सुभगा) आनन्ददायिनी (नदी को); (अगन्म) को हम प्राप्त हुए हैं, हम यहां तक आ पहुंचे; (वत्सम्) बछडे को; (मातरौ) माताएं, गौएं; (इव) जैसे; (रिहाणे) चाहने के लिये उत्सुक (समानं) एक ही; (योनिम्) मूल को, उत्पत्तिस्थान को; (अनु) के पीछे; (चरन्ति) गति करती हैं।

[सागर की ओर गति करते हुए मैं मातृभाव की पराकाष्ठावाली सरिता को प्राप्त हुआ हूं। हम विशाल विस्तार-वाली आनन्ददायिनी विपाश तक आ पहुंचे हैं; मानों वत्स को चाटने के लिये समान योनि की ओर दौडती हुई गौएं।]

४. नदियां-(एना) इसके द्वारा; (वयं) हम; (पयसा) जलद्वारा; (पिन्वमाना) बढती हुई, पुष्ट होती हुई; (अनुचरन्ती) के पीछे गति करनेवाली; (योनिम्) मूल को, उत्पत्तिस्थान को, मूल सदन को; (देवकृतम्) देवताओं द्वारा रची हुई (न) नहीं; (वर्तवे) पीछे लौटने के लिये; (प्रसवः) जन्म; (सर्गतक्तः) गति करने में लगी हुई, (किं युः) किस इच्छा से; (विप्रः) ज्ञानालोकवाला, ब्राह्मण, (नद्यः) नदियों को (जोहवीति) आहूत करता है?

[इस जल-समूह द्वारा वृद्धि पाती हुई हम देवों की उत्पन्न की हुई योनि का अनुसरण करती हुई गतिमान् हैं; आगे बढता हुआ यह हमारा प्रसव पीछे लौटने के लिए नहीं है; (फिर) यह विप्र किस इच्छा से सरिताओं का आह्वान कर रहा है?]

५. विश्वामित्रः-(रमध्वम्) रमती रहो, आनन्द करो; (मे) मेरी (वचसे) वाणी के लिये, वाणी की खातिर; (सौम्याय) सोम की-आनन्द की कामनावाली; (ऋतावरीः) हे सत्य से भरी, नदियों; (उप-रमध्वम्) धीमी हो जाओ; ठहरो; (मुहूर्तं) एक क्षण के लिये; (एवैः) गतियों में से; (प्र) बलपूर्वक; (सिन्धुम्) समुद्र के (अच्छ) प्रति, तरफ (बृहती) विशालतावाली द्वारा; (मनीषा) बुद्धि, धारणा-शक्ति, चिंतनशक्ति द्वारा; (अवस्युः) रक्षण के लिये इच्छुक; (प्र अह्वे) बलपूर्वक आह्वान करता हूं; (कुशिकस्य सूनुः) मैं कुशिक का पुत्र विश्वामित्र।

[हे संपन्न सरिताओ! आनन्ददायी सोमरस का पान करने की इच्छुक मेरी वाचा की खातिर अपनी शीघ्र गति को क्षणभर के लिये विश्राम दो। सागर को प्राप्त करनेके लिये प्रयत्नशील विशाल मनीषायुक्त मैं, कुशिक का पुत्र-

विश्वामित्र-रक्षण चाहता हुआ हृदय से तुम्हारा आह्वान कर रहा हूं।]

६ नदियां-(इन्द्रः) इन्द्रने, मनोमय कोशपर विज्ञानमय कोश की होनेवाली क्रियाओं को अधिष्ठाता देवने अनन्त चैतन्य की जो विराट् शक्ति दिव्य मनके व्यापारों का अधिष्ठातृत्व करती है उसने; (अस्मान्) हमें; (अरदत्) चीरकर निकाला-पर्वत चीरकर-; (वज्रबाहुः) वज्र की आयुधवाला; (अप अहन्) सदा के लिये वध किया; (वृत्रं)-आवरण करनेवाले-अवचेतनारूपी असुर को; (परिधिम्) चारों ओरसे घेरे हुए; (नदीनाम्) नदियों के (देवः) देवताओंने; (अनयत्) मार्ग दर्शाया (सुपाणिः) सुन्दर हस्तवाले; (सविता) जगत् को प्रसव देनेवाले सर्जक देवने (तस्य) उसकी; (वयं) हम (प्रसवे) जन्ममें, के लिये; (यामः) गति करती हैं, बहती जाती हैं (उर्वी) विशाल होती हुई विस्तीर्ण होती हुई।

[वज्रबाहु इन्द्रदेवने (पर्वत चीरकर) हमें गति प्रदान की, उसने सरिताओं को चारों ओरसे घेरकर पडे हुए वृत्र का संहार किया; सकल सृजन के अधिष्ठाता सवितादेवने (अपनी ज्ञानरश्मिद्वारा) हमें मार्ग दिखाया; उसके प्रसव पर उत्सव मनाती आनन्द करती हम बहती चली जा रही हैं।

बहुतसी ऋचाओं में जलमें से सूर्य का जन्म होने की बात आती है, यहां उसके साथ सम्बन्ध है]

७. (प्रवाच्यम्) बहुत प्रशंसापात्र है; (शश्वधा) अनंतकाल तक; (वीर्यम्) पराक्रम, प्रभाव (तत्) वह; (इन्द्रस्य) इन्द्र देव का; (कर्म) कार्य; (यत्) जो; (अहिम्) जलको घेरे हुए अहि को, (विवृश्चत्) चीर डाला; (वज्रेण) वज्रसे; (परिषदः) चारों ओर-से घेर कर बैठे असुरको; (वि जघान) समूल नष्ट किया; (आयत्) बहे, गए; (आपः) जल; (अयनम्) मार्ग को; (इच्छमानाः) इच्छा करते हुए।

[अहि को चीर डालने में इन्द्र देव का जो अद्भुत पराक्रम है, वह सनातन काल तक प्रशंसापात्र रहेगा। उसने चारों ओर (जल को घेरे हुए) बैठे हुए (असुरों) का पूर्णरूपसे विध्वंस किया और मार्ग पाने के लिये तरसता हुआ जल वेगपूर्वक बह निकला!]

८. (एतत्) यह; (वचः) वाणी, वचन; (जरितः) स्तोत्र करनेवाले, ऋषि; (मा मृष्ठाः) भूलना मत; (आ) तक; (यत्) कि, जो; (ते) तेरे; (घोषान्) घोषका, आवाहनों का; (उत्तरा) भविष्य के उत्तरतर, आनेवाले; (युगानि) युग, जमाने; (उक्थेषु) तेरी ऋचाओं में; (कारो) हे कर्मवीर! (प्रति) की तरफ,के प्रति; (नः) हमारी; (जुषस्व) आनन्द ले, सेवा कर; (मा) न-कर; (नः) हमें; (नि) अतिशय दबाव (कः) कर; (पुरुषत्रा) पुरुषों में; (नमस्ते) तुझे नमस्कार हो।

[हे ऋचाओं के द्रष्टा, तेरे आह्वान के प्रत्युत्तररूप हमारा यह वचन, हे कर्मवीर, अपनी ऋचाओं द्वारा हमारी सेवा कर (सेवा करनेमें आनन्द मान); उत्तर युगों में, भविष्य कालमें भी इसे मत् भूलना; हमसे आग्रह मत कर। पुरुषों में हम तेरी वंदना करती हैं।]

९. विश्वामित्र- (ओ) अहो; (सु) साधु, सुष्ठु; (स्वसारः) बहनोंने, सप्त नदियोंने; (कारवे) कर्म करनेवाले-विश्वामित्र को; (सु शृणोत) ठीक तरह सुना, उसके कहनेपर कान दिया; (ययौ) मैं आया हूं (वः) तुम्हें; (दूरात्) दूर देशसे; (अनसा) न गति करनेवाले की तरह, बहुत धीमे; (रथेन) रथद्वारा; (नि) नीचा; (सु नमध्वम्) सुन्दरता से झुक जाओ; (भवता) होओ; (सुपाराः) सरलता से पार की जा सकनेवाली; (अधः अक्षाः) रथकी धुरी के नीचे-बहो, (सिंधवः) नदियां; (स्रोत्याभिः) स्रोतोंद्वारा।

[हे बहिनो, आर्योचित कर्म करनेवाले मुझ-विश्वामित्र का कथन सुनो; मैं बहुत दूर प्रदेश से अत्यन्त मंद गति से चलनेवाले रथ पर आरूढ होकर तुम्हें प्राप्त हुआ हूं। (मेरी) (प्रार्थना है कि) तुम सौष्ठवपूर्वक नीची हो जाओ; ऐसी हो जाओ कि तुम्हें आसानी से पार किया जा सके; तुम इस तरह से बहो कि तुम्हारा स्रोत रथ के अक्ष के नीचे रहे।]

१०. नदियां-(ते) तेरे; (कारो) हे कर्मवीर; (आ शृणयाम्) हम सुनती हैं, ध्यान में लाती है; (वचांसि) वचन, शब्द; (ययाथ) तू आया है; (दूरात्) दूर प्रदेश से; (अनसा) मन्द गति, न चलनेवाली की नाईं; (रथेन) रथ द्वारा; (नि) नीचे; (ते) तेरे लिये (निनंसै) झुकती हैं, नमती हैं;

(पीप्याना इव) स्तन्य पान करानेवाली मां की तरह (मर्याय) पुरुष को; (कन्या इव) कन्या-पत्नी की तरह; (शश्वचै) आलिंगन करने के लिये।

[हे कर्मशील ऋषि! हम ने तेरे वचन सुन लिये; मंद गतिवाले रथ में बैठकर तू लम्बी मुशाफरी करता हुआ आया है, (अब) शिशु स्तन्य पान कराने के लिये झुकती हुई मां की तरह-पुरुष का आलिङ्गन करने के लिये नमती युवती की भांति मैं तेरे लिये झुकी जाती हूं।

११. विश्वामित्र- (यत्) सम्बन्धार्थक; (अंग) अहो; (त्वाम्) तुझे; (भरताः) भरतके पुत्र, भारतवासी; (संतरेयुः) पार करें; (गव्यन्) ज्योति की, ज्ञानरश्मी की कामना करनेवाले; (ग्रामः) संघ, समाज, सब के सब; (दूषित) संचालित होते हुए हुए; (इंद्रजुतः) इंद्र से प्रेरित; (अर्षात्) वे पार जाएं, जाने चाहिये; (सर्गतक्तः) प्रगति करने के लिये उद्यत; (प्रसवः) जन्म, उत्पत्ति; (आ वृणे) मैं आराधना करता हूं, स्तुति करता हूं; (सर्वतः) सब प्रकार से (वः) तुम्हारी; (सुमतिम्) सन्मति, सुबुद्धि की; (यज्ञियानाम्) यजन करने योग्य नदियों की।

[अहो! दिव्य ज्ञानज्योति प्राप्त करने की अभीप्सावाले भारतवासी भी तुझे पार करेंगे; सामर्थ्यशील और इंद्र से प्रेरित भारत की संतानों का समस्त समाज, तुझे उत्तीर्ण करेगा। उनका जन्म पूर्वकाल से गति करता आया है। यजन करने योग्य सरिताओं की शुभ मति की मैं स्तुति करता हूं।]

१२. (अतारिषुः) पार गए, उत्तीर्ण हुए; (भरताः) भरत के पुत्र, भारतवासी; (गव्यवः) ज्ञानज्योति की अभीप्सावाले; (समभक्त) आनंदसे स्तुति की; (विप्रः) विप्रने, ज्ञानालोकयुक्त साधकने; (सुमतिम्) सद्भाव की, भली मति की; (नदीनाम्) नदियों की; (प्र पिन्वध्वम्) बढती जाओ, अधिकाधिक पुष्ट होती जाओ; (इषयन्तीः) अन्यों को शक्ति सामर्थ्य देती; (सुराधा) सुखदायी सम्पत्तियुक्त; (आवक्षणाः ... आ पृणध्वम्) सर्वत्र रेलचेल कर दो; (यात) बढो; (शीघ्रम्)— नदीनाम् बहुवचन है!

[ज्ञानज्योति की अभीप्सावाले भरत के पुत्र पार हो गए; ज्ञानालोकसे सुसंपन्न विप्र विश्वामित्रने सरिताओं की कल्याणकारी मति की स्तुति की। सबको प्रेरणा और सामर्थ्य देने-लेनेवाली, आनन्ददायी सम्पत्तियुक्त (हे सरिताओ, अब) तुम खूब वृद्धि प्राप्त करो, सब स्थानों को अपने जलसे भर दो-शीघ्र गति करो।]

१३. (उत्) ऊर्ध्व; (वः) तुम्हारी; (उर्मिः) मौजें (शम्या) रथ के अक्षकी कीलें; (आपः) हे जलसमूहो; (योक्त्राणि) जुए? (मुञ्चत) छोड दो, खोल दो; (हंतु) के साथ-टकराओ; (मा-अयः कृतौ) किसी प्रकार का भी पाप न करनेवाले; कल्याण करनेवाले (वि एनसौ) पापमुक्त; (अघ्न्यौ) जिन का संहार न किया जा सके; (शूर्ष) समृद्धि को; (आरताम्) प्राप्त हो; (मा) मुझे या नहीं।

[तुम्हारी ऊर्मियां रथ के अक्ष की कीलों के नीचे रहें (जब हम उत्तीर्ण कर रहे हों तब) हे जलराशि! रथके जुएको छोडकर (उसके नीचे नीचे) बहती रहो; कल्याणकारिणी, पापमुक्त और हिंसा करने के (तिरस्कारके) अपात्र (हे सरिताओ) मुझ में समृद्धिशाली बनो- मुझे समृद्धिवान् बनाओ।]

इस प्रकार इस सूक्त का मुख्य विचार वेदके महान् प्रतीकों के रहस्य की ओर अंगुलिनिर्देश करता है। समस्त वेदमें से चाहे जिस प्रतीकोंके समूह को ले लें, हमें वैदिक ऋषियों के विचार की एकता ज्ञात हुए बिना न रहेगी। इस बारेमें फिर कभी।

" सोम "

[कवि- श्री० लालचन्द्रजी]

ज्ञानमय भक्ति भरे जो भाव प्रकटें हृदय से,
प्रेम में आनन्द में शुभ-लग्न में पूरे रमें ॥
वे भाव ही मंगल भरे नित सोम हैं बरसा रहे।
प्रभु के निकट ले जा रहे और सोम वे कहला रहे ॥

सोम से विनय।

हे सोम! भक्ति-प्रेमरस, होकर सदा तू ज्ञानमय।
बहता रहे मेरे लिये, शक्ति भरा मुझ को किये ॥
ले चल मुझे प्रीतम निकट, उस धाम में कल्याणमय।
जहां भक्तवत्सल प्रेममय, मुझ से मिलें आनंद में ॥

सोम-सूक्तका भावात्मक अनुवाद।

यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिँल्लोके स्वर्हितम्।
तस्मिन्मां धेहि पवमानामृते लोके अक्षित इन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥१॥
(ऋ० ९-११३-७)

नित्य ज्योति हैं प्रकाशित सुख भरे जिस धाम में।
जिस धाम में मिलता रहे आनन्द सबको हरसमय ॥
और सब हों मुदितमन, निज काम में शुभ ध्यान में।
अमर यश सब को मिले, पवमान सुन्दर लाभ में ॥
हे सोम! प्रीतम प्रेम में, ले चल मुझे उस धाम में।
अमृत भरे उस स्थान में, उस दिव्य सुन्दर धाम में ॥१॥

यत्र राजा वैवस्वतो यत्रावरोधनं दिवः।
यत्रामूर्यह्वतीरापस्तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥२॥
(ऋ० ९-११३-८)

जहां राज्य हो सत् न्याय का, सरल हो नीति जहां।
जहां नित्य ज्ञान प्रकाश हो, सब में भरा मंगल सदा ॥
हृदय सब के एक हों, नित प्रेमरस हो बह रहा।
"सब का परम हित सर्वहित हो," शुद्ध मन यह कर रहा ॥
हे सोम! प्रीतम प्रेम में, ले-चल मुझे उस धाम में।
अमृत भरे उस स्थान में, उस दिव्य सुन्दर धाम में ॥२॥

पाठभेद।

येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृळ्हा येन स्वः स्तभितं येन नाकः।
(ऋ० १०।१२१।५; वा० य० ३२।६)

यत्राधि सूर उदितो विभाति।
(ऋ० १०।१२१।६)(वा० य० ३२।७)

यस्मिन्नधि वितत एति सूर्यः। (पिप्पलाद अ०सं०)

यस्य विश्वे हिमवन्तो महित्वा समुद्रे यस्य रसामिदाहुः। इमाश्च प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥५॥ ५१९॥

पदानि- यस्य। विश्वे। हिमऽवन्तः। महिऽत्वा। समुद्रे। यस्य। रसाम्। इत्। आहुः। इमाः। च। प्रऽदिशः। यस्य। बाहू इति। कस्मै। देवाय। हविषा। विधेम ॥५॥

अन्वयः- कस्मै देवाय हविषा विधेम? यस्य महित्वा विश्वे हिमवन्तः (तिष्ठंति); यस्य (महित्वा) रसां समुद्रे इत् आहुः, च इमाः प्रदिशः यस्य बाहू ॥५॥

अर्थ- किस देवता की हम हवन से पूजा करें? (यस्य) जिसकी (महित्वा) महिमा से (विश्वे हिमवन्तः) सब हिमयुक्त पर्वत खडे हैं, (यस्य) जिसकी महिमासे (रसां) इस भूमि को (समुद्रे) समुद्र से घेरी है ऐसा (आहुः इत्) निश्चय से कहते हैं, तथा (इमाः प्रदिशः) ये दिशा उपदिशायें (यस्य बाहू) जिसके बाहू हैं ॥५॥

भावार्थ- जिसकी शक्तिसे ये हिमवान् पर्वत खडे हैं, जिसकी सामर्थ्यसे चारों ओर समुद्रों के बीचमें पृथ्वी रही है और ये दिशाएं जिसके बाहु हैं, उस प्रभुकी उपासना हम सबको करनी चाहिये।

मन्त्रस्थ पदोंके अर्थ।

१ **हिमवान्** = बर्फानी पर्वत; २ **महित्वा** = महिमा, शक्ति, सामर्थ्य; ३ **समुद्रः** = सागर; ४ **रसा** = पृथ्वी जिसके कारण मधुरादि रस वनस्पतियों में होते हैं; ५ **प्रदिशः** = उपदिशाएँ।

(कस्मै देवाय हविषा विधेम?) To what God may we make wosrhip by oblation? (यस्य) By whose (महित्वा) might are standing (विश्वे) all the (हिमवन्तः) snowy mountains; and (यस्य) by whose might (रसां समुद्रे) this earth is in the ocean (इद् आहुः) they say; and (यस्य च) whose (बाहू) arms are (इमाः प्रदिशः) these quarters.

पाठभेद।

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः। यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहू०॥
(ऋ० १०।१२१।४) (वा० य० २५।१२)

इमे विश्वे गिरयो महि। (मै० सं०)

आपो अग्रे विश्वमावन्गर्भं दधाना अमृता ऋतज्ञाः। यासु देवीष्वधि देव आसीत्कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥६॥५२०॥

पदानि- आपः। अग्रे। विश्वम्। आवन्। गर्भम्। दधानाः। अमृताः। ऋतऽज्ञाः। यासु। देवीषु। अधि। देवः। आसीत्। कस्मै। देवाय। हविषा। विधेम ॥६॥

अन्वयः-- कस्मै देवाय हविषा विधेम ? ऋतज्ञाः अमृताः, विश्वं गर्भं दधानाः, आपः अग्रे आवन्, यासु देवीषु (अप्सु) अधि देवः आसीत् ॥६॥

अर्थ—किस देवता के उद्देश्यसे हम हवनद्वारा पूजा करें? (ऋतज्ञाः) सत्य नियमसे चलनेवाले, (अमृताः) अमरधर्मसे युक्त, (विश्वं गर्भं दधानाः) सबको गर्भमें धारण करनेवाले, (आपः) जल (अग्रे आवन्) सृष्टि के प्रारम्भ में सब की रक्षा करते रहे, (यासु देवीषु) जिन दिव्य जलोंमें एक ही (अधि देवः) मुख्य देव (आसीत्) था ॥६॥

भावार्थ— सृष्टि के प्रारम्भमें जो एकही प्रभु था, जिसके चारों ओर जल ही जल था, इस जलने संपूर्ण विश्वके बीजों को अपने अंदर धारण किया था और जो उन सब की रक्षा कर रहा था, जो अटल नियमों से अमरपन की रक्षा कर रहा था। यह सब जिसकी शक्ति से होता था, उसीकी उपासना हम सब को करनी चाहिये।

मंत्रस्थ पदोंके अर्थ।

१ **अग्रे** = प्रारम्भमें, आदिसृष्टि में; २ **गर्भ** = गर्भ, अन्दर; ३ **अमृत** = अमर; ४ **ऋतज्ञ** = सत्य नियम जानना, सत्य जानना, सत्य ज्ञान।

(कस्मै देवाय हविषा विधेम?) To what God may we make worship by oblation? (अधिदेवः) The sole over Lord who (आसीत्) was (यासु देवीषु) above the divine, (अमृताः) immortal and (ऋतज्ञाः) order-knowing (आपः) waters; and those waters (आवन्) protected and (दधानाः) held (विश्वं गर्भं) all the germs (अग्रे) in the beginning.

पाठभेद।

आपो ह यद्बृहती विश्वमायन् गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम्।

(ऋ० १०।१२१।७; वा० य० २७।२५)

या देवेष्वधि देव एक आसीत्।

(ऋ० १०।१२१।८; वा० य० २७।२६)

आपो यस्य विश्वमायुर्दधाना गर्भं जनयन्त मातरा। तत्र देवानामधि देव आस्य एकस्थूणे विमते दृढे अग्रे। (पिप्पलाद अ० सं०)

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्। स दाधार पृथिवीमुत द्यां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥७॥५२१॥

पदानि-- हिरण्यऽगर्भः। सम्। अवर्तत। अग्रे। भूतस्य। जातः। पतिः। एकः। आसीत्। सः। दाधार। पृथिवीम्। उत। द्याम्। कस्मै। देवाय। हविषा। विधेम ॥७॥

अन्वयः-- कस्मै देवाय हविषा विधेम? अग्रे हिरण्यगर्भः सं अवर्तत। सः भूतस्य एकः पतिः जातः आसीत्। सः पृथिवीं उत द्यां दाधार ॥७॥

अर्थ- किस देवता की हम हवनद्वारा उपासना करें? (अग्रे) प्रारंभ में (हिरण्यगर्भः) सुवर्णको अपने अन्दर धारण करनेवाला (सं अवर्तत) प्रकट हुआ था। (सः) वह (भूतस्य) भूतों का (एकः पतिः) एकही स्वामी (जातः आसीत्) हुआ था। (सः) उसीने (पृथिवीं) भूमि को (उत) और (द्यां) आकाश को (दाधार) धारण किया था।

भावार्थ- जो सृष्टिके आरम्भमें प्रकट हुआ था, जिसके बीचमें उत्तम वर्ण के सूर्यादि लोक थे, जिसने आकाश और पृथ्वी को आधार दिया था, जो सब सृष्टिका एकमात्र प्रभु था, उसी की उपासना सबको करनी चाहिये।

मन्त्रस्थ पदोंके अर्थ।

१ हिरण्यगर्भ= सोना जिसके बीचमें है, उत्तम वर्णवाले तेजस्वी पदार्थ जिसके पेटमें हैं। २ भूत = बनी वस्तु, उत्पन्न हुए पदार्थ, पञ्चमहाभूत। ३ जातः = प्रसिद्ध हुआ।

(कस्मै देवाय हविषा विधेम) To what God may we make worship by oblation? (अग्रे) In the beginning (समवर्तत) evolved the (हिरण्यगर्भः) golden egg, who (जातः आसीत्) from the beginning was (एकः पतिः) sole Lord (भूतस्य) of all creation and (स दाधार) He held (पृथिवीं उत द्यां) earth and heaven firmly.

आपो॑ व॒त्सं ज॒नय॑न्ती॒र्गर्भ॑म॒ग्रे समै॑रयन्। तस्यो॒त जाय॑मान॒स्योल्ब॑ आसीद्धिर॒ण्यय॒ः कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम ॥८॥५२२॥

पदानि- आप॑ः। व॒त्सम्। ज॒नय॑न्तीः। गर्भ॑म्। अग्रे॑। सम्। ऐ॒र॒य॒न्। तस्य॑। उ॒त। जाय॑मानस्य। उल्ब॑ः। आ॒सी॒त्। हि॒र॒ण्यय॑ः। कस्मै॑। दे॒वाय॑ ह॒विषा॑। वि॒धे॒म ॥८॥

अन्वयः- कस्मै देवाय हविषा विधेम? अग्रे आपः वत्सं जनयन्तीः, गर्भं समैरयन्, उत तस्य जायमानस्य हिरण्ययः उल्बः आसीत्।

अर्थ- किस देवताकी उपासना हम करें? (अग्रे) प्रारंभमें (आपः) जल (वत्सं जनयन्तीः) पुत्रको उत्पन्न करती हुई अपने (गर्भं) गर्भ को (सं ऐरयन्) प्रेरित करती रहीं। (उत) उस समय (तस्य) उस (जायमानस्य) जन्मनेवालेका (हिरण्ययः उल्बः) सोनेका जैसा आवरण था।

भावार्थ- प्रारंभ में जलमेंहि सब विश्वके बीज थे। उससे सृष्टि बन रही थी, उस समय बीजोंमें प्रेरणा हो गयी। जब यह बनावट होने लगी, उस समय सोनेके समान तेजस्वी आवरण सबपर पडा था। यह जिसकी शक्तिसे हुआ, वही एक प्रभु सबकी उपासना के लिये योग्य है।

मन्त्रस्थ पदोंका अर्थ।

१ वत्स= बच्चा। २ समैरयन्= सम्यक् रीतिसे प्रेरणा करते रहे, गति करते रहे। ३ उल्ब= आवरण, झिल्ली। ४ हिरण्ययः= सुवर्णसे बना, सोनेके समान।

(कस्मै देवाय हविषा विधेम) To what God may we make worship by oblation? (अग्रे) In the beginning (आपः) divine waters (वत्सं जनयन्तीः) generating progeny (समैरयन्) set in motion (गर्भं) an embryo and (तस्य) that (उत) when (जायमानस्य) born, it had (उल्बः) a covering (हिरण्ययः) of gold, (that is हिरण्यगर्भ the golden egg).

हि॒र॒ण्य॒ग॒र्भः सम॑वर्त॒ताग्रे॑ भू॒तस्य॑ जा॒तः पति॒रेक॑ आसीत्। स दा॑धार पृथि॒वीं द्यामु॒तेमां कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम ॥१॥५२३॥ (ऋ० १०।१२१।१)

पदानि- हि॒र॒ण्य॒ऽग॒र्भः। सं। अ॒व॒र्त॒त। अग्रे॑। भू॒तस्य॑। जा॒तः। पतिः॑ एकः॑। आ॒सी॒त्। सः। दा॒धा॒र। पृ॒थि॒वीं। द्यां। उ॒त। इ॒मां। कस्मै॑। दे॒वाय॑। ह॒विषा॑। वि॒धे॒म ॥१॥

अर्थ- प्रश्न- (कस्मै देवाय हविषा विधेम) किस प्रभुकी हम हविसमर्पणद्वारा उपासना करें? उत्तर- (अग्रे हिरण्यगर्भः समवर्तत) प्रारंभमें हिरण्यगर्भ

प्रकट हुआ। (सः जातः भूतस्य एकः पतिः आसीत्) वह होते ही भूतमात्रका एकमात्र स्वामी हुआ। (सः पृथिवीं उत इमां द्यां दाधार) उसीने पृथ्वीको और द्युलोक को धारण किया।

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः। यस्य छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥२॥५२४॥

पदानि— यः। आत्मऽदाः। बलऽदाः। यस्य। विश्वे। उपऽआसते। प्रऽशिषं। यस्य। देवाः। यस्य। छाया। अमृतं। यस्य। मृत्युः। कस्मै। देवाय। हविषा। विधेम ॥२॥

अर्थ- (यः आत्मदाः) जो आत्माका दाता और (बलदाः) जो बल का दाता है (यस्य प्रशिषं विश्वे देवाः उपासते) जिसकी आज्ञा सब देवतागण मानते हैं, (यस्य छाया अमृतं) जिसकी शीतल छाया अमरपन है और (यस्य [अच्छाया] मृत्युः) जिस की शीतल छाया में न रहना ही मृत्यु है।

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव। य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥३॥५२५॥

पदानि— यः। प्राणतः। निऽमिषतः। महिऽत्वा। एकः। इत्। राजा। जगतः। बभूव। यः। ईशे। अस्य। द्विऽपदः। चतुःऽपदः। कस्मै। देवाय। हविषा। विधेम ॥३॥

अर्थ- (यः प्राणतः निमिषतः जगतः) जो श्वासोच्छ्वास करनेवाले और आंखोंके निमेषोन्मेष करनेवाले जगत् का (इत् एकः राजा महित्वा बभूव) निःसन्देह एकही प्रभु अपनी महिमासे हुआ है, (यः अस्य द्विपदः चतुष्पदः ईशे) जो इस द्विपाद और चतुष्पादोंका एकमात्र स्वामी है।

यस्येमे हिमवंतो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः। यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥४॥५२६॥

पदानि— यस्य। इमे। हिमऽवंतः। महिऽत्वा। यस्य। समुद्रं। रसया। सह। आहुः। यस्य। इमाः। प्रऽदिशः। यस्य। बाहू इति। कस्मै। देवाय। हविषा। विधेम ॥४॥

अर्थ- (यस्य महित्वा इमे हिमवन्तः) जिसकी महिमासे ये हिमवान् पर्वत खडे रहे हैं, (यस्य महित्वा रसया सह समुद्रं आहुः) जिसकी महिमासे पृथ्वीके साथ समुद्र हैं ऐसा कहते हैं, (यस्य महित्वा इमाः प्रदिशः यस्य बाहू) जिसकी महिमा से ये दिशा उपदिशाएं जिसके बाहु हुए हैं।

येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृळ्हा येन स्वः स्तभितं येन नाकः। यो अंतरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥५॥५२७॥

पदानि— येन। द्यौः। उग्रा। पृथिवी। च। दृळ्हा। येन। स्वरिति स्वः। स्तभितं। येन। नाकः। यः। अंतरिक्षे। रजसः। विऽमानः। कस्मै। देवाय। हविषा। विधेम ॥५॥

अर्थ— (येन द्यौः उग्रा) जिसने आकाश को उग्र, तेजस्वी बनाया (येन पृथ्वी च दृढा) और जिसने पृथ्वी को सुदृढ किया है। (येन स्वः नाकः स्तभितं) जिसने द्युलोक स्वर्ग स्थिर करके धारण किया है और (यः अन्तरिक्षे रजसः विमानः) जो इस अन्तरिक्षमें अन्तराल का माप करता है (अर्थात् अन्तरिक्ष में भरपूर भरा है)।

यं क्रंदसी अवसा तस्तभाने अभ्यैक्षेतां मनसा रेजमाने। यत्राधि सूर उदितो विभाति कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥६॥५२८॥

पदानि— यं। क्रंदसी इति। अवसा। तस्तभाने इति। अभि। ऐक्षेतां। मनसा। रेजमाने इति। यत्र। अधि। सूरः। उत्ऽइतः। विऽभाति। कस्मै। देवाय। हविषा। विधेम ॥६॥

अर्थ— (अवसा तस्तभाने क्रन्दसी) शक्तिसे स्थिर हुए द्युलोक और भूलोक (रेजमाने) कांपते हुए (यं मनसा अभ्यैक्षेतां) जिसकी ओर मनसे देखते हैं, (यत्र अधि उदितः सूरः विभाति) जिसके अन्दर उदय को प्राप्त हुआ सूर्य चमकता है।

आपो ह यद् बृहतीर्विश्वमायन्गर्भं दधाना जनयंतीरग्निं। ततो देवानां समवर्ततासुरेकः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥७॥५२९॥

पदानि—आपः। ह। यत्। बृहतीः। विश्वं। आयन्। गर्भं। दधानाः। जनयंतीः। अग्निं। ततः। देवानां। सं। अवर्तत। असुः। एकः। कस्मै। देवाय। हविषा। विधेम ॥७॥

अर्थ— प्रारम्भ में (बृहतीः आपः आयन्) बडे दिव्य जल प्रकट हुए। (ह यत् विश्वं गर्भं दधानाः) निःसन्देह सब विश्व बीज को अपने में धारण करते हैं (अग्निं जनयन्तीः) और उष्णताको उत्पन्न करते हैं। (ततः) उसीसे (देवानां एकः असुः) सब देवों का एकही प्राण (सं अवर्तत) प्रकट हुआ।

In the beginning (बृहती: आप:) mighty waters (आयन्) came out, (दधाना:) containing (विश्वं गर्भं) the universal germ & (अग्नि जनयन्तीः) producing fire, (ततः) thence (समवर्तत) sprang (देवानां एकः असुः) the One sole Spirit of all the deities.

यश्चिदापो महिना पर्यपश्यद्दक्षं दधाना जनयंतीर्यज्ञम्। यो देवेष्वधि देव एक आसीत्कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥८॥५३०॥

पदानि— यः। चित्। आपः। महिना। परिऽअपश्यत्। दक्षं। दधानाः। जनयंतीः। यज्ञं। यः। देवेषु। अधि। देवः। एकः। आसीत्। कस्मै। देवाय। हविषा। विधेम ॥८॥

अर्थ— (यः) जो (महिना) अपने महान् सामर्थ्य से (आपः पर्यपश्यत्) उन जलोंका निरीक्षण करता रहा, जो प्राथमिक जल (दक्षं दधानाः) सामर्थ्य को धारण करते थे और (यज्ञं जनयन्तीः) यज्ञ को निर्माण करते थे, (यः) जो (देवेषु) सब देवताओं में (एकः अधि देवः आसीत्) एकही मुख्य प्रभु था।

(यः) Who (महिना) with his might (परि अपश्यद् चित्) surveyed (आपः) the waters, (दधानः) containing (दक्षं) productive force and (जनयन्तीः) generating (यज्ञं) sacrifice, (यः) who (आसीत्) is (एकः अधि देवः) one sole over Lord (देवेषु) of all deities.

मा नो॑ हिंसीज्जनि॒ता यः पृ॑थि॒व्या यो वा॒ दिवं॑ स॒त्यधर्मा॑ ज॒जान॑ । यश्चा॒पश्च॒न्द्रा बृ॑ह॒तीर्ज॒जान॒ कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम ॥९॥५३१॥

पदानि– मा । नः । हिं॒सी॒त् । ज॒नि॒ता । यः । पृ॒थि॒व्याः । यः । वा॒ । दिव॑म् । स॒त्यऽध॑र्मा । ज॒जान॑ । यः । च॒ । आपः॑ । च॒न्द्राः । बृ॒ह॒तीः । ज॒जान॑ । कस्मै॑ । दे॒वाय॑ । ह॒विषा॑ । वि॒धे॒म ॥९॥

अर्थ– (यः पृथिव्याः जनिता) जो पृथ्वीका उत्पन्नकर्ता है, जो (सत्यधर्मा) सत्य नियमोंका प्रवर्तक है, (यः वा दिवं जजान) अथवा जो द्युलोक का उत्पन्नकर्ता है, तथा (यः बृहतीः चन्द्राः आपः जजान) जो महान् तेजस्वी जलोंका उत्पादक है, वह (नः मा हिंसीत्) हम सबकी कभी हिंसा न करे।

(मा) Never may he (हिंसीत्) harm (नः) us, (यः पृथिव्याः जनिता) who is Bigetter of earth, (यो वा) nor he whose (सत्यधर्मा) laws are true, and who is (दिवं जजान) Creator of heaven. (यः) He who (जजान) brought forth (बृहतीः) the great and (चन्द्रा आपः) beautiful waters.

प्रजा॑पते॒ न त्वदे॒तान्य॒न्यो विश्वा॑ जा॒तानि॒ परि॒ ता ब॑भूव । यत्का॑मास्ते जुहु॒मस्तन्नो॑ अस्तु व॒यं स्या॑म॒ पत॑यो रयी॒णाम् ॥१०॥५३२॥

अर्थ- हे (प्रजापते) प्रजा के पालक ! (त्वत् अन्यः) तुझ से भिन्न दूसरा कोई भी (एतानि ता विश्वा जातानि) इन सब उत्पन्न हुए पदार्थों को (न परि बभूव) घेरनेवाला नहीं हुआ है। तूही सबको व्यापनेवाला एक मात्र प्रभु है। (यत्कामाः ते जुहुमः) जिसकी इच्छा धारण करके तेरी उपासना हम करते हैं (तत् नः अस्तु) वह हमें मिले, (वयं) हम सब (रयीणां पतयः स्याम) धनों के स्वामी बनें। ×

O (प्रजापति) Protector of creation! Only Thou (परिबभूव) comprehendest (ता एतानि विश्वा जातानि) all these created things and (न त्वद् अन्यः) none beside thee. (तत् नः अस्तु) Let that be ours, which (यत्कामाः) desire is at our heart, (जुहुमः) when we invoke (ते) thee. (वयं) May we (स्याम) be in possession of the (रयीणां पतयः) stores of riches.

इन सूक्तों के सुभाषित।

१. यस्य प्रशिषं विश्वेदेवाः उपासते= जिसकी आज्ञा सब देवतागण मानते हैं ऐसा एक ही प्रभु है।

२. अस्य द्विपदः चतुष्पदः ईशे= इस द्विपाद और चतुष्पाद सृष्टि का एकही ईश्वर है।

३. आत्मदाः बलदाः= जीवन और बल देनेवाला वह प्रभु है।

४. यः महित्वा एको राजा जगतो बभूव= जो अपनी अपार शक्ति से जगत् का एकही प्रभु है।
(एक इद्राजा जगतो बभूव। (ऋ० १०।१२१।३)

५. यस्य छाया अमृतं, यस्य (अछाया) मृत्युः= जिस की छाया अमरपन है और जिससे दूर होना मृत्यु है। जिसका प्रतिबिम्ब-छाया- अपने आत्मामें उतरनेसे अमरत्व प्राप्त होता है, और जिसका प्रतिबिम्ब अपने में न पडने तक मृत्युका डर होता है।)

× इस सूक्त के पहिले ७ तक मंत्र कुछ पाठभेदों के साथ पूर्व अथर्ववेद के सूक्त में आये हैं। वहां उनके पद पदार्थ आदि दिये हैं। शेष मन्त्रों को यहां दिये हैं। पाठक इस बातका अच्छी तरह अनुसंधान करें।

६. यं...भियसाने रोदसी अह्वयेथाम्=(अभ्यैक्षेतां मनसा रेजमाने । ऋ० १०।१२१।६) जिस प्रभुके पास भयभीत हुए लोकलोकांतर सहाय्यके लिये प्रार्थना करते हैं (जो भी भयभीत होता है वह उस प्रभुकी सहाय्य की प्रार्थना करता है)।

७. यस्यासौ पन्था रजसो विमानः=(यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः। (ऋ० १०।१२१।५) जिस की प्राप्ति का मार्ग यह इस अन्तराल में विमान जैसा आधार देनेवाला है (जिसकी प्राप्ति का साधन निराधार आकाश में आधार प्राप्त होनेके समान है)।

८. यस्य द्यौरुर्वी, पृथिवी च मही, यस्याद उर्वन्तरिक्षम्= यह बडे पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक इस प्रभु के आधार से रहते हैं। (येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा, येन स्वः स्तभितं येन नाकः।
ऋ० १०।१२१।५)]

९. यस्यासौ सूरो विततो महित्वा= उसी प्रभुका फैलाया यह सूर्य उसीकी प्रभासे चमकता है। यत्राधि सूर उदितो विभाति। (ऋ० १०।१२१।६)

१०. यस्य महित्वा विश्वे हिमवन्तः= उस प्रभुकी महिमासे ये हिमालय पर्वत के शिखर चमक रहे हैं।

११. यस्य महित्वा समुद्रे रसामिदाहुः= उस प्रभु की महिमासे षड्रसों को देनेवाली पृथ्वी के ऊपर चारों ओर समुद्र है ऐसा कहते हैं। (यस्य समुद्रं रसया सहाहुः। ऋ० १०।१२१।४)

१२. आपः विश्वं गर्भं दधानाः= जल ही सबका बीज अपने अन्दर धारण करता है। आपो वत्सं जनयन्तीर्गर्भमग्रे समैरयन्। (ऋ० १०।१२१।८)

१३. भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्= सब वस्तुमात्र का एकही अधिपति प्रभुही है।

१४. स दाधार पृथिवीमुत द्याम्= वह प्रभुही पृथ्वी और आकाश को धारण करता है। (स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम्। ऋ० १०।१२१।१)

१५. देवानां समवर्ततासुरेकः= देवों का एक मात्र प्राण यही प्रभु है।

१६. यो देवेष्वधिदेव एक आसीत्= जो सब देवताओंमें एकहि मुख्य देव है।

१७. जनिता पृथिव्या= पृथ्वी का उत्पन्नकर्ता प्रभु एकही है।

१८. दिवं जजान= आकाश का उत्पन्नकर्ता प्रभु वही एक है।

१९. (सः) मा नो हिंसीत्= वह कभी हमारा घात नहीं करेगा।

२०. यश्चापश्चन्द्रा बृहतीर्जजानः= उसी प्रभुने ही यह दिव्य जल निर्माण किया है।

२१. प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव= हे प्रभो! तेरे से भिन्न कोई भी दूसरा जो इस सब विश्वको घेर सके ऐसा नहीं है। अर्थात् एकमात्र तूहि विश्वव्यापक है।

२२. वयं स्याम पतयो रयीणाम्= हम सब संपूर्ण धनों के स्वामी हों। (धन हमारे ऊपर आधिपत्य न करे, परन्तु हम धनों के स्वामी बने।)

ब्रह्मविद्या।

[अथर्व० ४।१।१-७]

(ऋषिः- वेनः। देवता- बृहस्पतिः, आदित्यः। छन्दः- त्रिष्टुप्, २,५ पुरोऽनुष्टुप्)

ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद्वि
सीमतः सुरुचो वेन आवः। स
बुध्न्या उपमा अस्य विष्ठाः
सतश्च योनिमसतश्च वि वः ॥१॥

पदानि- ब्रह्म। जज्ञानम्। प्रथमम्। पुरस्तात्। वि। सीमतः। सुऽरुचः। वेनः। आवः। सः। बुध्न्याः। उपऽमाः। अस्य। विऽस्थाः। सतः। च। योनिम्। असतः। च। वि। वः ॥१॥

अन्वयः– प्रथमं पुरस्तात् ब्रह्म जज्ञानम्। वेनः सीमतः सुरुचः वि आवः। अस्य बुध्न्या उपमाः विष्ठाः। सतः च असतः च योनिं वि वः।

अर्थ—(प्रथमं पुरस्तात्) सबसे पहिले पूर्वकालमें अथवा पूर्व दिशामें (ब्रह्म जज्ञानं) ब्रह्म प्रकट हुआ। उस (वेनः) प्रकाशमान ने अपनी (सीमतः) सीमासे (सुरुचः) उत्तम किरण (वि आवः) विशेष रीतिसे प्रकाशित किये। (सः) उसीने (अस्य) अपने (बुध्न्याः) अन्दर मूलतः विद्यमान (उप-माः) समीपस्थित, उपमा देने योग्य पदार्थ (विष्ठाः=विस्थाः) विशेष रीतिसे रखे और (सः) वही (सतः च) सत् और (असतः च) असत् का (योनिं) मूल कारण (वि वः) प्रकट करता है।

भावार्थ- सृष्टिकी आदिमें सबसे प्रथम ब्रह्म नामक एक अद्भुत सामर्थ्ययुक्त तेज प्रकट हुआ। प्रकट होनेपर उसकी अन्तिम सीमासे बहुतसे प्रकाशकिरण चारों ओर फैल गये। उसके अन्दर भी विविध पदार्थ व्यवस्थासे रहे थे। उसीसे सत् और असत् ये भाव भी स्पष्ट हुए।

मन्त्रस्थ पदोंका अर्थ

१ ब्रह्मन्= महाशक्ति, अद्भुत सामर्थ्ययुक्त सद्वस्तु, परमात्मा, ब्रह्म।
२ पुरस्तात् = सबसे प्रथम, पूर्वदिशामें, प्राचीन समय।
३ सीमतः (सीमा-तः) = सीमासे, अन्तिम परिधिसे।
४ सुरुचः (सु-रुचः) उत्तम प्रकाश।
५ वेनः = तेजस्वी, ज्ञानी, विद्वान्।
६ वि आवः = प्रकट करना।
७ बुध्न्याः = आधारपर स्थिर रहे, बीचमें विद्यमान।
८ उपमा (उप-माः) = पास रहनेवाले, समीपस्थित, उपमा देने योग्य।
९ विष्ठाः (वि-स्थाः) विशेष प्रकार स्थित, व्यवस्था से रहे।
१० सत् = जो तीनों कालोंमें एक जैसा रहता है।
११ असत् = जो तीनों कालोंमें एक जैसा नहीं रहता।
१२ योनिः = मूल कारण, जहांसे उत्पत्ति होती है।

(प्रथमं) At first (पुरस्तात्) in the biginning, eastwards (ब्रह्म) The Supreme Being (जज्ञानं) sprang up. This (वेनः) Shining One (वि आवः) disclosed his (सु-रुचः) best flashes of light (सीम-तः) from his highest points. Then (सः) He disclosed (अस्य) his (उप-माः) nearest (बुध्न्याः) fundament forms (वि-स्थाः) kept in specieal order, and He (वि वः) showed clearly (योनिं) the womb of (सतः) the existent and (असतः) non-existent.

इ॒यं पित्र्या॒ राष्ट्र्ये॒त्वग्रे॑ प्रथ॒माय॑ ज॒नुषे॑ भुवने॒ष्ठाः। तस्मा॑ ए॒तं सु॒रुचं॑ ह्वा॒रम॑ह्यं घ॒र्मं श्री॑णन्तु प्रथ॒माय॑ धा॒स्यवे॑ ॥२॥५३४॥

पदानि- इ॒यम्। पित्र्या॑। राष्ट्री॑। ए॒तु। अग्रे॑। प्र॒थ॒माय॑। ज॒नुषे॑। भु॒व॒ने॒ऽस्थाः। तस्मै॑। ए॒तम्। सु॒ऽरु॒चम्। ह्वा॒रम्। अ॒ह्य॒म्। घ॒र्मम्। श्री॒ण॒न्तु। प्र॒थ॒माय॑। धा॒स्यवे॑ ॥२॥

अन्वयः- इयं पित्र्या राष्ट्री अग्रे एतु। प्रथमाय जनुषे भुवनेष्ठाः। तस्मै प्रथमाय धास्यवे एतं सुरुचं अह्यं ह्वारं घर्मं श्रीणन्तु॥

अर्थ- (इयं) यह (पित्र्या राष्ट्री) पितासे उत्पन्न हुई तेजस्विनी शक्ति (अग्रे एतु) आगे बढे, जो (प्रथमाय जनुषे) प्रथम जन्म लेनेवालेके लियेहि (भुवने-स्थाः) इस लोकमें रही है। (तस्मै प्रथमाय धास्यवे) उस पहिले उत्पन्नके धारणकर्ताके लिये (एतं सुरुचं) इस उत्तम तेजस्वी रुचिकर (अह्यं ह्वारं घर्मं) प्राप्त करने योग्य गतिमान उष्ण अन्नको (श्रीणन्तु) सिद्ध करें।

भावार्थ- उस परमपिता परमात्मासे तेजस्विनी मातृशक्ति उत्पन्न होकर अपना प्रजनन का कार्य करनेके लिये आगे बढी, क्योंकि वह इसी कार्य के लिये वहां रही थी।

उससे उत्पन्न हुए पहिले धारणशक्ति अपनेमें रखनेवालेके लिये- अन्नप्राशन करनेवाले के लिये- रुचिकर तेजस्वी प्राप्त करने योग्य उष्ण अन्न यज्ञकर्ता लोग पकावे, जो खाकर वे पुष्ट बनें।

मन्त्रस्थ पदोंका अर्थ।

१ पित्र्या = पितासे उत्पन्न, पितासे प्राप्त, उत्तम पितासे आयी।

२ राष्ट्री = (राजते सा) = जो प्रकाशयुक्त है, जो चमकती है, मातृशक्ति, प्रजननशक्ति, वाणी, विश्वजननी, रानी।

३ जनुष्= जन्म लेनेवाला, मनुष्य, प्राणी।

४ भुवने-स्थाः= भुवन में रहनेवाला, विश्वव्यापक।

५ सुरुचं= उत्तम प्रकाशयुक्त, सुंदर।

६ ह्वारं - कुटिल।

Let (इयं) this (राष्ट्री) shining energy, (भुवने-स्थाः) always standing in the world, & (पित्र्या) having best fatherly power, (एतु) move (अग्रे) in the front (प्रथमाय) for (जनुषे) generation. (श्रीणन्तु) Let them prepare(एतं) this (सुरुचं) well shining (ह्वारं) moving crookedly and (अह्यं) active (घर्मं) hot drink (तस्मै) for that (प्रथमाय) first one who is (धास्यवे) desirous of food.

प्र यो जज्ञे विद्वानस्य बन्धुर्विश्वा देवानां जनिमा विवक्ति। ब्रह्म ब्रह्मण उज्जभार मध्यान्नीचैरुच्चैः स्वधा अभि प्र तस्थौ ॥३॥५३५॥

पदानि- प्र। यः। जज्ञे। विद्वान्। अस्य। बन्धुः। विश्वा। देवानाम्। जनिम। विवक्ति। ब्रह्म। ब्रह्मणः। उत्। जभार। मध्यात्। नीचैः। उच्चैः। स्वधाः। अभि। प्र। तस्थौ ॥३॥

अन्वयः- यः अस्य विद्वान् बन्धुः प्र जज्ञे, विश्वा देवानां जनिमा विवक्ति। ब्रह्म ब्रह्मणः मध्यात् उज्जभार। उच्चैः नीचैः स्वधा अभि प्र तस्थौ ॥३॥

अर्थ—(यः) जो (अस्य विद्वान् बन्धुः) इसका विद्वान् भाई (प्र जज्ञे) उत्पन्न हुआ, प्रकट हुआ, वह (विश्वा देवानां जनिमानि) सब देवोंके जन्म (विवक्ति) विशेष प्रकार स्पष्ट करके कहता है। वही (ब्रह्म) ज्ञान (ब्रह्मणः मध्यात्) ब्रह्मके बीच में से (उत् जभार) ऊपर लाता है, (उच्चैः नीचैः) ऊपरसे और नीचेसे (स्व-धाः) अपनी धारक शक्तियां भी (अभि प्र तस्थौ) प्रकट करता है।

भावार्थ- इस सृष्टिका जो बन्धुके समान हितकारी ज्ञानी प्रकट हुआ, वही सूर्यादि सब देवताओंकी उत्पत्तिको जानता और अन्योंको कहता है। उसीने परब्रह्मसे ज्ञान प्राप्त कर फैलाया और ऊपरनीचे अपनीहि धारकशक्तियां कैसी फैलती हैं, यह भी बताया।

मंत्रस्थ पदोंका अर्थ।

१ बन्धुः = भाई, बांधव, हितकारी, प्रबन्धकर्ता, बांधनेवाला, सबको इकठ्ठा बांधकर एकत्र रखनेवाला।

२ जनिमा = जन्म, उत्पत्ति।

३ विवक्ति = प्रवचन करता है, विवरण करके कहता है।

४ ब्रह्मन् = ज्ञान, आत्मा, मन्त्र, वेद, परमात्मा, परब्रह्म।

५ स्वधाः (स्व+धा)= अपनी धारक शक्ति, अन्न,पेय।

He, (यः) who (प्र जज्ञे) was born as (अस्य) his (विद्वान् बन्धुः) all-knowing brother, (विवक्ति) declareth (विश्वा जनिमा) all the generations (देवानां) of all the deities. He (उज्जभार) hath taken up (ब्रह्म) his knowledge (ब्रह्मणः मध्यात्) from the midst of the Supreme Being, and he (अभि प्रतस्थौ) spreadeth forth his (स्वधाः) powers of preservation (उच्चैः नीचैः) upwards and downwards.

स हि दि॒वः स पृ॑थि॒व्या ऋ॑त॒स्था म॒ही क्षेमं॒ रोद॑सी अस्कभायत्। म॒हान् म॒ही अस्क॑भाय॒द्वि जा॒तो द्यां सद्म॒ पार्थि॑वं च॒ रजः॑ ॥४॥५३६॥

पदानि– सः। हि। दि॒वः। सः। पृ॒थि॒व्याः। ऋ॒त॒ऽस्थाः। म॒ही इति॑। क्षेम॑म्। रोद॑सी॒ इति॑। अ॒स्क॒भा॒य॒त्। म॒हान्। म॒ही। इति॑। अस्क॑भायत्। वि। जा॒तः। द्याम्। सद्म॑। पार्थि॑वम्। च॒। रजः॑ ॥४॥

अन्वयः– हि सः दिवः, सः पृथिव्याः, ऋतस्थाः मही रोदसी क्षेमं अस्कभायत्। सः जातः महान्, मही द्यां रजः पार्थिवं सद्म च, वि अस्कभायत् ॥४॥

अर्थ- (हि) निःसंदेह (सः) उस ईश्वरने (दिवः) द्युलोक के तथा (सः पृथिव्याः) उसीनें पृथ्वी के (ऋत-स्थाः) नियमोंको जाननेवालेने (मही रोदसी) इन बडे दोनों लोकों रूपी (क्षेमं) घर को (अस्कभायत्) सुस्थिर किया। (सः) उसीने (जातः) प्रकट होते ही (महान्) बडा होकर और (द्यां) द्यु-लोक को (रजः) अन्तरिक्ष को और (पार्थिवं सद्म च) पृथ्वी के घर को (वि अस्कभायत्) सुस्थिर किया।

भावार्थ— निःसंदेह वह सत्य नियमों को जानता है और द्युलोक और पृथ्वीरूपी घर का स्थिर प्रबंध करता है। यही तीनों लोकों को अपने अपने स्थान में सुरक्षित रखता है।

मन्त्रस्थ पदोंका अर्थ।

१ **दिवः** = द्युलोक, आकाश। २ **ऋत-स्थः** = सत्य नियमों के अनुसार व्यवहार करनेवाला, सत्य नियमों में स्थिर रहने वाला। ३ **क्षेमं** = घर, निवासस्थान, कल्याण, हित, योगक्षेम। ४ **रोदसी** = आकाश और पृथ्वी, स्वर्ग और पृथ्वी, द्युलोक और पृथ्वी। ५ **सद्म** = घर, स्थान, बैठने का स्थान। ६ **रजः** = अन्तरिक्ष, मध्य लोक। ७ **स्कभ्** = स्थिर करना।

(हि) For (सः) He, who is (ऋत-स्थाः) true to the law (दिवः) of the heaven and (सः पृथिव्याः) of the earth, (अस्कभायत्) fixed his (क्षेमं) abode in (मही रोदसी) both the great firmaments. (महान्) The great one, (जातः) when born (वि अस्कभायत्) fixed apart (मही) the mighty ones, (द्यां) the heaven, (पार्थिव सद्म) earthly home (च रजः) and mid-region.

स बु॒ध्न्यादा॑ष्ट्र ज॒नुषो॒ऽभ्यग्रं॒ बृह॒स्पति॑र्दे॒वता॒ तस्य॑ स॒म्राट्। अह॒र्यच्छु॒क्रं ज्योति॑षो॒ जनि॒ष्टाथ॑ द्यु॒मन्तो॒ वि व॑सन्तु॒ विप्राः॑ ॥५॥५३७॥

पदानि– सः। बु॒ध्न्यात्। आ॒ष्ट्र॒। ज॒नुषः॑। अ॒भि। अग्र॑म्। बृ॒ह॒स्पतिः॑। दे॒वता॑। तस्य॑। स॒म्ऽराट्। अह॒रिति॑। यत्। शु॒क्रम्। ज्योति॑षः। जनि॑ष्ट। अथ॑। द्यु॒ऽमन्तः॑। वि। व॒स॒न्तु॒। विप्राः॑ ॥५॥

अन्वयः-- सः जनुषः बुध्न्यात् अग्रं अभि आष्ट्र। बृहस्पतिः देवता तस्य सम्राट्। यत् ज्योतिषः शुक्रं अहः जनिष्ट। अथ द्युमन्तो विप्राः वि वसन्तु ॥५॥

अर्थ— (सः) वह (जनुषः) जन्म के (बुध्न्यात्) मूलस्थान से (अग्रं) उच्च स्थिति को (अभि आष्ट्र) सब प्रकारसे प्राप्त हुआ। वही (बृहस्पतिः) बृहस्पति (देवता) देवता (अस्य) इस विश्व का (सम्राट्) एक मात्र महाराजा है। (यत्) जब (ज्योतिषः) प्रकाशका (शुक्रं अहः) शुभ्र दिन (अजनिष्ट) प्रकट हुआ (अथ) तब (द्युमन्तः विप्रः) तेजस्वी विप्र (वि वसन्तु) विशेष रीतिसे निवास करने लगें।

भावार्थ— जन्म लेनेके लिये प्रथम स्थिति से उन्नत होते होते वह अत्यन्त उच्च अजन्मा अवस्था को प्राप्त होता है। यह ज्ञानमय देव ही संपूर्ण विश्व का सम्राट् है। जब इस के प्रकाश का शुभ्र दिन शुरू होता है,तब ही तेजस्वी ज्ञानी जन अपना उच्च जीवन व्यतीत कर सकते हैं।

मन्त्रस्थ पदोंके अर्थ।

१ **बुध्न्यः** = मूलस्थान, अधोभाग। २ **जनुषः** = जन्म। ३ **अग्र** = अन्त, उच्च, अन्तिम। ४ **बृहस्पतिः** = ज्ञानपति। ५ **विप्र** = ज्ञानी, सन्त, महन्त।

(सः) He, (बुध्न्यात्) from the depth (जनुषः) of the birth, (अभि आष्ट्) hath attained (अग्रं) unto the summit; then (बृहस्पतिः) the Brihaspati- the protector of knowledge was (देवता) the divinity and (सम्राट्) the sole Ruler (अस्य) of this world. When (ज्योतिषः) from his light (शुक्रं अहः) bright day is born, then the(विप्राः) sages (विवसन्तु) will live (द्युमन्तः) with all their lustre.

नूनं तद॑स्य का॒व्यो हि॑नोति म॒हो दे॒वस्य॑ पू॒र्व्यस्य॒ धाम॑। ए॒ष ज॑ज्ञे ब॒हुभिः॑ सा॒कमि॒त्था पूर्वे॒ अर्धे॒ विषि॑ते स॒सन्नु॥६॥५३८॥

पदानि-- नू॒नम्। तत्। अ॒स्य। का॒व्यः। हि॒नोति॒। म॒हः। दे॒वस्य॑। पू॒र्व्यस्य॑। धाम॑। ए॒षः। ज॒ज्ञे। ब॒हुऽभिः॑। सा॒कम्। इ॒त्था। पूर्वे॑। अर्धे॑। विऽसि॑ते। स॒सन्। नु॥६॥

अन्वयः-- काव्यः अस्य पूर्वस्य महः देवस्य तत् धाम नूनं हिनोति। एष इत्था बहुभिः साकं जज्ञे पूर्वे अर्धे विषिते ससन् नु॥६॥

अर्थ- (काव्यः) कवि (अस्य पूर्व्यस्य) इस प्राचीन (महः देवस्य) बडे देवका (तत् धाम) वह स्थान (नूनं हिनोति) निःसंदेह प्राप्त करता है। (एषः) यह (इत्था) इस तरह (बहुभिः साकं) बहुतों के साथ (जज्ञे) प्रकट हुआ, परन्तु (पूर्वे अर्धे विषिते) पूर्व-दिशा का अर्ध खुलने पर भी वे अन्य (ससन्) सोते रहे (नु) यह आश्चर्य है।

भावार्थ— ज्ञानी हि निःसंदेह इस सबसे प्राचीन महादेव के स्थान को प्राप्त करता है। यद्यपि यह ज्ञानी बहुत अन्यों के साथ जन्मा था, तथापि जब उदय हुआ, तब अन्य सोते रहे और यह ज्ञानी जागता रहा, इस लिए यह कृतार्थ हुआ।

मन्त्रस्थ पदोंके अर्थ।

१ **काव्य**=कवि, ज्ञानी, तत्त्वज्ञ, क्रान्तदर्शी। २ **पूर्व्यः**=प्राचीन, पुराण पुरुष। ३ **धाम**=स्थान। ४ **पूर्वे अर्धे**=पूर्व दिशा का आधा भाग। ५ **विषित**=खुला हुआ। ६ **ससन् (सस्)**=सोना, निद्रित रहना, आलसी रहना, पुरुषार्थ न करना।

(काव्यः) The sage poet (नूनं) verily (हिनोति) reaches (धाम) the abode (अस्य महः) of this Great (पूर्व्यस्य) primeval (देवस्य) God. (एषः) He (इत्था जज्ञे) was thus born (बहुभिः साकं) with many more beside him, but they all (ससन्) slumbered (नु) when (पूर्वे अर्धे) the eastern half (विषिते) was opened.

यो॑ऽथ॒र्वाणं॑ पि॒तरं॑ दे॒वब॑न्धुं॒ बृह॒स्पतिं॒ नम॒साव॑ च॒ गच्छा॑त्। त्वं वि॒श्वेषां॑ ज॒नि॒ता यथासः॑ क॒विर्दे॒वो न दभा॑यत्स्व॒धावा॑न्॥७॥५३९॥

पदानि– यः। अथर्वाणम्। पितरम्। देवऽबन्धुम्। बृहस्पतिम्। नमसा। अव। च। गच्छात्। त्वम्। विश्वेषाम्। जनिता। यथा। असः। कविः। देवः। न। दभायत्। स्वधाऽवान् ॥७॥

अन्वयः– यः अथर्वाणं देवबन्धुं पितरं बृहस्पतिं नमसा 'यथा त्वं विश्वेषां जनिता असः' इति च अव गच्छात्। कविः स्वधावान् देवः (तं) न दभायत् ॥७॥

अर्थ— (यः) जो (अ-थर्वाणं) अचञ्चल, स्थिर, (देव-बन्धुं) सब देवों का बन्धु, (पितरं) सब का पिता, (बृहस्पतिं) ज्ञानपति परमेश्वर को (नमसा) नम्रतापूर्वक "हे देव! (यथा) निःसंदेह (त्वं) तू (विश्वेषां जनिता असः) सबका उत्पादक है," ऐसा (अवगच्छात्) जानता है, (तं) उस का (कविः स्वधावान् देवः) ज्ञानी स्वयं समर्थ देव (न दभायत्) नाश नहीं करता।

भावार्थ— जो परमेश्वर को सब का पिता, सब का बन्धु, सर्वाधार, सर्वज्ञ और सब का उत्पादक जानता है, उसका नाश नहीं होता, क्योंकि वही ईश्वर उसकी रक्षा करता है।

मन्त्रस्थ पदोंके अर्थ।

१ **अथर्वा**=अचञ्चल, स्थिर, सुदृढ। **थर्व**–गति, चंचलता, अस्थिर। २ **देवबन्धु**= देवताओं को इकट्ठा करनेवाला, देवों का हितकर्ता। ३ **दभ्**=नाश करना। ४ **स्व-धा-वान्** = अपनी निजधारण शक्ति से रहनेवाला।

(यः) Who thus (अवगच्छात्) shall approach the (अथर्वाणं) non-moving, (देवबन्धुं) brother of deities, (पितरं) father of all, and (बृहस्पतिं) all-knowing God and (नमसा) worship him (यथा) as (त्वं) 'Thou art (विश्वेषां जनिता) the creator of all things.' (कविः) This wise (स्वधावान्) selfdependent (देवः) God (न दभायत्) never injures (तं) him.

गूढ विद्या का सूक्त।

वेद में अनेक गूढ आत्मविद्या के सूक्त हैं, उन में से यह एक है। अध्यात्मविद्या के सूक्त समझने के लिये अत्यंत कठिन होते हैं, अतः वारंवार मनन किये विना समझ में नहीं आते। ऐसे सूक्तों का यह एक नमूना यहां दिया है। जो पाठक विशेष मनन करेंगे, वे अच्छे मनन के पश्चात् हि इसको समझ सकते हैं। निम्नलिखित प्रकार इसका मनन हो सकता है—

(१)

(१) सबसे पहिले ब्रह्म सर्वत्र गुप्त-अप्रकट-था (२) (**प्रथमं पुरस्तात् ब्रह्म जज्ञानं**) पश्चात् वह गुप्त ब्रह्म सृष्टि के आदि में अति प्राचीन काल में प्रकट हुआ। (३) वह ब्रह्म प्रकट होते हि उस का रूप (**वेनः=कांतः**) सब को प्रिय होने-योग्य था, (**सीमतः सुरुचः वि आवः**) उसी की सीमासे विविध प्रकाश के किरण फैलने लगे। (४) उसके अन्दर (**बुध्न्याः उपमाः विष्ठाः**) अनन्त पदार्थ विशेष व्यवस्था से रहे थे, और वही (**सतः असतः च योनिं**) सत् असत्, चेतन जड का आदिकारण था।

(२)

५ यह जो (**सतः असतः च योनिः**) चेतन और जड का आदिकारण कहा है, उसी का नाम (**पित्र्या राष्ट्री**) पितृ-शक्ति से युक्त प्रकाशमय आदिशक्ति है, वह (**भुवने-स्थाः**) सब भुवनों में, सब वस्तुओं में रहती है, अर्थात् वह व्यापक है। यह आदिशक्ति, सबकी जननी (**प्रथमाय जनुषे अग्रे एतु**) सब से प्रथम सृष्टि निर्माण करने के लिये मुख्य प्रेरणा आगे होकर कर देती है। इसीसे सब सृष्टि की उत्पत्ति होती है। इस सृष्टि में भोजन करनेवाले, और न करने वाले ऐसे दो भेद होते हैं। वेद में इन को '**साशन, अनशन**' ऐसा (ऋ० १०।९०।४ में) कहा है। जो सृष्टि अन्नभक्षण करने-वाली है (**तस्मै धास्यवे सुरुचं घर्मं श्रीणन्तु**) उस खानेवालों के लिये उत्तम अन्न तैयार किया जावे, जिसको खाकर वे प्राणी पुष्ट हों और कार्य करने में समर्थ बनें।

(३)

इस प्रकार सृष्टि की उत्पत्ति होनेपर, कई लोग विद्वान् होकर अपनी उन्नति करने लगते हैं । उनमें से **(यः विद्वान्)** जो ज्ञानी हुआ और **(बन्धुः)** सब के साथ बंधुत्व का व्यवहार करने लगा, जो विश्वबंधु अथवा विश्वमित्र हुआ, वह श्रेष्ठ होकर **(देवानां विश्वा जनिमा विवक्ति)** अग्नि, जल, वायु आदि सब देवताओं की उत्पत्ति के संबंध के नियमों का यथातथ्य वर्णन करता है, इतना ज्ञान उसको प्राप्त होता है । वही इस विश्व के **(मध्यात् नीचैः उच्चैः)** बीचमेंसे नीचेसे और उच्च स्थानसे, अर्थात् विश्वमें से हरएक वस्तु में स्थित **(ब्रह्मणः ब्रह्म उज्जभार)** ब्रह्म से यह ज्ञान और सामर्थ्य प्राप्त करता है, इस ज्ञानसे **(स्व-धाः अभिप्रतस्थौ)** आत्मा की अद्भुत निज शक्तियाँ हि चारों ओर से उसके सामने प्रकट होती हैं । अतः वह सर्वत्र विश्व में ब्रह्म को ओतप्रोत देखता है।

(४)

वह परमात्मा **(ऋत-स्थाः)** सत्य नियमों में सदा स्थिर रहनेवाला है, कभी ऊटपटांग कार्य नहीं करता, उसीने **(दिवः पृथिव्याः क्षेमं अस्कभायत्)** आकाश से पृथ्वीपर्यंत के संपूर्ण विश्वको अपना घर बनाया है, अथवा इस विश्व के योगक्षेम का सुस्थिर प्रबंध किया है । **(द्यां रजः पार्थिवं सद्म च अस्कभायत्)** उसने आकाश, अन्तरिक्ष और पृथ्वी को अपने स्थान में स्थिर किया, यही उसका घर है, क्योंकि इसमें हि वह रहता है ।

(५)

मनुष्य सबसे प्रथम **(जनुषः बुध्न्यात्)** जन्ममरणकी सब से नीचे की अवस्था में रहता है, उससे ऊपर उठते उठते वह एक समय **(अग्रं अभि आष्ट्र)** उच्चतम अमृत-अवस्था को प्राप्त करता है । साधक की यही उन्नति है। इस समय इस की उपास्य **(देवता बृहस्पतिः)** देवता ज्ञानपति परमात्मा ही है, इस समय यह साधक उसको **(अस्य सम्राट्)** इस संपूर्ण विश्व का एक ही सम्राट मानता है । इस परमात्मा के **(ज्योतिषा शुभ्रं अहः)** प्रकाश से जो शुभ्र तेजस्वी दिन **(अजनिष्ट)** बनता है, उसी शुद्ध दिनमें **(द्युमन्तः विप्राः)** परमेश्वर की कांतिसे कांतिभान हुए हुए ज्ञानी जन **(विवसंतु)** सर्वत्र विचरते हैं । ऐसे ज्ञानी ही इस विश्व में संचार करें, जब ऐसे ज्ञानियों से यह विश्व भर जायगा, तभी इस भूमिपर स्वर्गधाम होगा ।

(६)

(काव्यः) ज्ञानी हि **(अस्य पूर्वस्य महः देवस्य धाम)** इस पुराणपुरुष परमात्माका धाम **(हिनोति)** प्राप्त करता है । यद्यपि यह साधक **(बहुभिः साकं जज्ञे)** अनेकों के साथ जन्मा था, इस के जन्मके समय अनेक मनुष्य जन्मे थे, तथापि वे **(पूर्वे अर्धे विषिते ससन्)** पूर्व दिशामें सूर्य का उदय होकर दिशा खुल जाने के समय सोतेहि रहे थे, अतः वे वैसे हि रहे, और यह जागता रहा, इसलिये यह उन्नति को प्राप्त हुआ और अमरपन का भागी हुआ । इसलिये साधकको सदा सावध रहना चाहिये ।

(७)

(अथर्वाणं देवबन्धुं) शांत गंभीर देवोंका सहायक **(पितरं बृहस्पतिं)** परमपिता ज्ञानस्वरूप परमात्मा ही **(विश्वेषां जनिता)** सबोंका जनक है, **(यः अवगच्छात्)** ऐसा जो जानता है और **(नमसा)** उसको नमन करता है, उसकी भक्ति से उपासना करता है, **(तं)** उस भक्त को **(कविः स्वधावान् देवः)** ज्ञानी स्वयंभू देव परमेश्वर **(न दभायत्)** कभी नष्टभ्रष्ट नहीं करता, उसको बचाता और उन्नत करता है ।

× × ×

इस तरह वारंवार मनन करने से इस सूक्त का आशय मन में प्रकट होने लगता है । इस सूक्त के अनेक अर्थ किये जा सकते हैं, इनकी सूचना मन्त्रस्थ पदोंके अर्थ देते समय एक पद के अनेक अर्थ देकर, तथा हिंदी और अंग्रेजी में कुछ अर्थ का भेद दर्शाकर बताई है । परंतु पाठक इस समय उन अनेक-विध अर्थों के पीछे न पडें, एक ही सरल अर्थ जानें और मननद्वारा समझने का यत्न करें ।

स्मरण रखनेयोग्य वाक्य ।

१. **प्रथमं ब्रह्म जज्ञानं, सीमतः सुरुचः वि आवः** = पहले ब्रह्म प्रकट हुआ और उसकी सीमासे प्रकाश फैलने लगा।

२. **सतश्च असतश्च योनिं वि वः** = यही सत्-असत् [चेतन, जड, पुरुष-प्रकृति, क्षेत्रज्ञ-क्षेत्र] का मूल कारण प्रकट हुआ ।

३. इयं भुवनेष्ठाः पित्र्या राष्ट्री जनुषे अग्रे एतु= यह सब भुवनों में रहनेवाली पितृशक्ति से युक्त तेजस्वी आदि-शक्ति सृष्टि उत्पत्ति करने के लिये आगे होकर प्रेरणा करे, करती है।

४. विद्वान् विश्वा देवानां जनिमा विवक्ति= ज्ञानी सब देवों की उत्पत्ति का ज्ञान उपदेशद्वारा कहता है, अग्नि, जल, सूर्य के विषय में यथार्थ ज्ञान कहता है।

५. ब्रह्मणः मध्यात् नीचैः उच्चैः ब्रह्म उज्जभार= ब्रह्म के उच्च मध्य और निम्न स्थानों से अर्थात् संपूर्ण ब्रह्म से ज्ञान प्राप्त होता है, संपूर्ण ब्रह्म ज्ञानमय होनेसे उससे ज्ञान प्रकट होता है।

६. स्वधाः अभि प्र तस्थौ= आत्मा की धारणशक्तियाँ उसी ब्रह्म से प्रकट होती हैं।

७. दिवः पृथिव्याः रजः सद्म सः अस्कभायत्= तीनों लोक मिलकर जो एक घर है, उस घर को परमेश्वरनेहि स्थिर किया है।

८. सः ऋतस्थाः= वह सत्य नियमों में रहनेवाला है। वह सुस्थिर नियमों से कार्य करता है।

९. सः जनुषः बुध्न्यात् अग्रं अभि आष्ट= वह जन्म के मूल से अजन्मावस्था के अग्रभाग को प्राप्त करता है।

१०. अस्य बृहस्पतिः देवता सम्राट्= इस विश्व का एक मात्र महाराजा परमेश्वर ही है, दूसरा कोई नहीं।

११. ज्योतिषः शुक्रं अहः अजनिष्ट, द्युमन्तो विप्राः वि वसन्तु= जब परमात्मा की ज्योतिका प्रकाश होकर दिन खुलता है, तब ज्ञानी संतमहन्त सुखसे विचरते हैं।

१२. नूनं काव्यः पूर्व्यस्य महो देवस्य धाम हिनोति= निश्चय से ही सनातन महादेव का स्थान ज्ञानी हि प्राप्त करता है।

१३. एष बहुभिः साकं जज्ञे, पूर्वे अर्धे विषिते ससन्= यह ज्ञानी यद्यपि बहुतों के साथ जन्मा था, तथापि अन्य लोक सूर्य-उदय होनेके समय सोते रहे, इसलिये प्रकाशसे लाभ न उठा सके। यह जागता रहा, इसलिये लाभ उठाने में समर्थ हुआ।

१४. यः पितरं नमसा अव गच्छात्, तं कविः न दभायत्= जो अपने परम पिता को नमस्कार करके जानता है, उसका ज्ञानी पिता कभी नाश नहीं करता।

भाईबहिन के विवाह का निषेध।

[ऋ० १०।१०।१-१४; अथर्व० १८।१-१४]

[ऋषिः- (१,३,५-७, ११,१३) यम और (२,४,८-१०, १२,१४) यमी। देवता- १,३,५-७; ११,१३) यमी और (२,४,८-१०; १२,१४) यम। त्रिष्टुप्।]

ओ चित्सखायं सख्या ववृत्यां तिरः पुरू चिदर्णवं जगन्वान्। पितुर्नपातमा दधीत वेधा अधि क्षमि प्रतरं दीध्यानः ॥१॥५४०॥

पदानि- ओ इति। चित्। सखायं। सख्या। ववृत्यां। तिरः। पुरु। चित्। अर्णवं। जगन्वान्। पितुः। नपातं। आ। दधीत। वेधाः। अधि। क्षमि। प्रऽतरं। दीध्यानः ॥१॥

अन्वयः- (यमी आह:=) सखायं सख्या ओ चित् ववृत्यां, तिरः पुरू अर्णवं चित् जगन्वान्। अधि क्षमि प्रतरं दीध्यानः वेधाः, पितुः नपातं आदधीत ॥१॥

अर्थ— (यमी कहती है) = (सखायं) मेरे मित्र को (सख्या) मैत्री के साथ (ओ चित्) निःसंदेह (ववृत्यां) प्राप्त करूं, वरण करूं जिससे (तिरः पुरू) गुप्त और बडे (अर्णवं चित्) संसारसमुद्र के पार (जगन्वान्) वह जा सके। (अधि क्षमि) इस भूमि के ऊपर (प्रतरं दीध्यानः) बडे भविष्य काल का ध्यान करता हुआ (वेधाः) वह ज्ञानी (पितुः नपातं) अपने पिता के पोते को मुझ में (आदधीत) आधान करे।

भावार्थ— (यमी बहिन अपने भाई यमसे कहती है) हे भाई! तूं मेरा हितकर्ता है, अतः तेरे साथ विशेष प्रकार की मित्रता में करनी चाहती हूं। इस मैत्रीके व्यवहार से इस संसारसमुद्र के पार तु सुख से जा सकोगे। भविष्यकाल पर

ध्यान देकर हि यह व्यवहार करना है। अतः तू अपने पिता का पोता मेरे साथ उत्पन्न कर अर्थात् मुझसे विवाह करके मुझसे संतति उत्पन्न कर।

मन्त्रस्थ पदोंके अर्थ।

१. सखा = मित्र, सहचारी। २. अर्णवः = समुद्र, भवसागर, संसारसमुद्र। ३. तिरः = गुप्त, अप्रकट, जिस का सब भाग अदृश्य है।

Yami says- (ओ चित्) Fain would I (ववृत्यां) win (सखायं) my friend (सख्या) to kindly friendship; so that (वेधाः) the sage (जगन्वान्) may go safely (तिरः) through (पुरू अर्णवं चित्) this wide ocean of life. (दीध्यानः) Remembering (प्रतरं) the days that will come (अधि क्षमि) on this earth, he should (आदधीत) obtain (पितुः नपातं) a son, the issue of his father.

न ते सखा सख्यं वष्ट्येतत्सलक्ष्मा यद्विषुरूपा भवाति। महस्पुत्रासो असुरस्य वीरा दिवो धर्तार उर्विया परि ख्यन् ॥२॥५४१॥

पदानि-- न। ते। सखा। सख्यं। वष्टि। एतत्। सऽलक्ष्मा। यत्। विषुऽरूपा। भवाति। महः। पुत्रासः। असुरस्य। वीराः। दिवः। धर्तारः। उर्विया। परि। ख्यन् ॥२॥

अन्वयः-- ते सखा एतत् सख्यं न वष्टि। यत् सलक्ष्मा विषुरूपा भवाति। महः असुरस्य पुत्रासो वीराः दिवो धर्तारः उर्विया परि ख्यन् ॥२॥

अर्थ— (यम कहता है-) (ते सखा) तेरा मित्र (एतत् सख्यं) इस तरह की मित्रता (न वष्टि) नहीं चाहता, (यत्) जिसमें (सलक्ष्मा) समान लक्षणों वाली स्त्री (विषुरूपा) विषम लक्षणोंवाली जैसी (भवाति) हो जाती है। क्योंकि (महः असुरस्य) बडे प्राणदाता ईश्वर के (उर्विया) बडे (पुत्रासः वीराः) जो वीर पुत्र हैं जो (दिवः धर्तारः) द्युलोक का धारण करनेवाले हैं, वे इस का (परि ख्यन्) निषेध करते हैं।

भावार्थ— (यम यमीका निषेध करता है) हे यमी! तू जिस प्रकार की मित्रता चाहती है, अर्थात् पतिपत्नीरूप रहकर भाईबहिन संतान उत्पन्न करें, यह जो तेरी इच्छा है, वैसी मित्रता मैं तेरे साथ नहीं करना चाहता। क्योंकि भाईबहिन समान लक्षणोंवाले होते हैं, परन्तु विवाह तो विषम लक्षणों से युक्त स्त्रीपुरुषों में ही होता है। अतः तेरे साथ मेरा विवाह होना असंभव है। ऐसा करने से हम दोनोंके समान लक्षण होते हुए, हमें विरुद्ध लक्षणों जैसा व्यवहार परस्पर करना पडेगा। द्युलोक का धारण करनेवाले ईश्वर के महा वीर भी इस बात का निषेध ही करते हैं, इसलिये यह हो नहीं सकता।

यम और यमी ये युग्म भाई-बहिन एक ही वार गर्भ में रहे थे। यमी के कथन में आगे मन्त्र ५ में आवेगा कि हमारा विवाह गर्भ में हि ईश्वरके द्वारा हुआ है। यम इस से सहमत नहीं होता और निषेध ही करता है।

मन्त्रस्थ पदों का अर्थ।

१ **सलक्ष्मा** = समान लक्षणों से युक्त, भाई और बहिन जो वंश, गोत्र, जाति, कुल, पिता, माता आदिसे समान होते हैं। समान लक्षणोंवालों में विवाह नहीं होना चाहिये। २ **वि-षु-रूपा**-विरुद्ध लक्षणोंसे युक्त, जो वंश, गोत्र, जाति, कुल, पिता, माता आदि से सम न हों, विषम लक्षणों वालों में विवाह करना चाहिये। ३ **महः** = बडा ईश्वर। ४ **असुर** = (असु+र) असु अर्थात् जीवन देनेवाला। ५ **वीरः** = (वीरयति) = जो दोष को दूर करते हैं। ६ **दिवः धर्ता** = द्युलोक का आधार। ७ **उर्विया** = बडा, महान्। ८ **परि ख्यन्** = (परि) विरुद्ध (ख्या) कहना, निषेध करना।

Yama answers-(ते सखा) Thy friend (न वष्टि) desires not (एतत् सख्यं) this kind of friendship, (यत् सलक्ष्मा) which considers a woman who is near in kindred, (विषुरूपा) as a stranger. (पुत्रासः) The sons (असुरस्य) of the mighty Lord, (उर्विया वीराः) the great heroes, (दिवः धर्तारः) supporters of heaven (परि ख्यन्) shall condemn this.

उशन्ति घा ते अमृतास एतदेकस्य चित्त्यजसं मर्त्यस्य । नि ते मनो मनसि धाय्यस्मे जन्युः पतिस्तन्व१मा विविश्याः ॥३॥५४२॥

पदानि- उशन्ति । घ । ते । अमृतासः । एतत् । एकस्य । चित् । त्यजसं । मर्त्यस्य । नि । ते । मनः । मनसि । धायि । अस्मे इति । जन्युः । पतिः । तन्वं । आ । विविश्याः ॥३॥

अन्वयः- ते अमृतासः एकस्य मर्त्यस्य एतत् त्यजसं उशन्ति घ । ते मनः अस्मे मनसि नि धायि । जन्युः पतिः तन्वं आ विविश्याः॥३॥

अर्थ- (यमी कहती है-) (ते अमृतासः) वे अमर देव (एकस्य मर्त्यस्य) एक मनुष्यका (एतत् त्यजसं) यह त्याग (उशन्ति घ) निःसंदेह चाहते हि हैं । इसलिये (ते मनः) तेरा मन (अस्मे मनसि) मेरे मनमें (नि धायि) स्थिर कर । और (जन्युः पतिः) जनक पति होकर मेरे (तन्वं) शरीर के प्रति (आ विविश्याः) प्रविष्ट हो ।

भावार्थ- (यमी कहती है कि हे यम ! जो तू कहता है कि वे अमर देव यह सम्बन्ध नहीं चाहते, इसका निषेध करते हैं, यह अशुद्ध है) निःसंदेह वे देव मनुष्य के इस तरह गर्भाधान करनेके वीर्यत्यागरूप कर्म को चाहते हैं। इसलिये तू अपना मन मेरे मनके साथ मिलाओ, और मुझ में संतान उत्पन्न करनेवाला जनक और मेरा पालक पति होकर मेरा स्वीकार कर।

मन्त्रस्थ पदोंका अर्थ ।

१ अमृतः = अमर, देव । २ त्यजस् = त्याग, दान । ३ मर्त्य = मरणधर्मा । ४ जन्युः = जननकर्ता ।

Yami says- (घ) Truly (अमृतासः) those immortals (उशन्ति) want (एतत्) the (त्यजसं) progeny (एकस्य मर्त्यस्य) of the mortal; may (ते मनः) therefore thy mind be knit together (अस्मे मनसि) in my mind and (जन्युः पतिः) as a loving husband (तन्वं आ विविश्याः) take thy consort in me.

न यत्पुरा चकृमा कद्ध नूनमृतं वदन्तो अनृतं रपेम । गंधर्वो अप्स्वप्या च योषा सा नौ नाभिः परमं जामि तन्नौ ॥४॥५४३॥

पदानि- न । यत् । पुरा । चकृम । कत् । ह । नूनं । ऋता । वदंतः । अनृतं । रपेम । गंधर्वः । अप्ऽसु । अप्या । च । योषा । सा । नः । नाभिः । परमं । जामि तत् । नौ ॥४॥

अन्वयः- यत् पुरा न चकृम, कत् ह नूनम्? ऋतं वदन्तः अनृतं रपेम ? गन्धर्वो अप्सु अप्या च योषा, सा नः नाभिः, नौ तत् परमं जामि ।४।

अर्थ- (यम कहता है) (यत्) जो (पुरा) पूर्व समय में (न चकृम) कभी नहीं किया था, वह (कत् ह नूनं) भला कैसे अब करें ? (ऋतं वदन्तः) सत्य बोलनेवाले हम कैसे (अनृतं रपेम) असत्य करें, वा बोलें ? (गं-धर्वः) पृथ्वी का आधार पिता

ऋग्वेद-मुद्रणकी विकट समस्या।

'ऋग्वेद का मुद्रण' द्वितीय वार शुरू किया और उसमें मंत्रोंके चरण दर्शाकर तथा कई सूचियां देकर ऋग्वेद का सर्वांगसुंदर ग्रंथ बनाने का संकल्प करके छपाई का कार्य प्रारम्भ किया। इस समय युद्ध शुरू होने की कोई कल्पना हमें नहीं थी।

ऋग्वेद का मुद्रण एक तिहाई होने के समय यूरोप में युद्ध शुरू हुआ और हरएक वस्तु का मूल्य बढना प्रारम्भ हुआ। हमने संकल्प किया था कि इसको पूना के पेपरमिलका पूर्ण स्वदेशी कागजहि बर्ता जाय। यही इस समय तक बर्ता जाता है। पर इस समय कागज का मूल्य दुगने से अधिक हो गया है। इसी तरह अन्यान्य वस्तुओं का भी मूल्य बढ रहा है। आज का कागज का भाव देखने से यह निश्चय हुआ कि ऋग्वेदादि चार वेद छापना और वे ६॥) में सहूलियत से देना सर्वथा असंभव है।

ऋग्वेद छापने का प्रारम्भ करने के समय हमने ऋग्वेद की ४००० प्रतियों की छपाई के लिये ३०००) का कागज लगेगा, ऐसा अंदाजा किया था, पर इस समय के भाव से ७०००) का कागज लगता है। भाव और बढेगा तो अधिक व्यय होगा। अर्थात् केवल कागजादि मुद्रण की वस्तुओं के मूल्य मेंहि ४०००) का घोटा होनेवाला है। जिल्द आदि में भी इसी तरह महंगाई हुई है।

पहिली वार के ऋग्वेद, अथर्ववेद और सामवेद के मुद्रण में भी स्वाध्यायमण्डल को करीब २५००) का घाटा उठाना पडा था। पर युद्ध के कारण जो परिस्थिति उत्पन्न हुई है और उससे जो भयानक घाटा हो रहा है, वह उठाने की शक्ति अब स्वाध्यायमण्डल में नहीं रही है।

पाठकों को यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि मुख्य संपादकों का कार्य गत २० वर्षों में करीब करीब विना व्यय के हि हुआ है। अर्थात् वेदमुद्रण पर संपादकों के व्यय का भार नहीं पडा। इतना ही नहीं, परन्तु मुख्य संचालक और संपादकों का पर्याप्त धन भी स्वाध्यायमंडल के व्यवहार में लग चुका है। अतः वे इस समय अधिक आर्थिक भार उठाने की अवस्था में नहीं हैं।

इस अवस्था में वेदानुयायिकों का कुछ कर्तव्य है और वह आप सब मिलकर करेंगे, तो ही करीब आधा छपा ऋग्वेद पूर्ण छापा जा सकता है। अन्यथा वह कार्य यहीं स्थगित रखना पडेगा।

इस समय ऋग्वेद का ८ वां मण्डल समाप्त होने को है। आगे दो मण्डल छापने हैं और अनेक प्रकारकी अत्यन्त आवश्यक और उपयोगी सूचियां भी छापनी हैं। इस छपाई के लिये २५० रीम कागज चाहिये। इसका मूल्य आज के भाव से २०००) होता है। इसी ऋग्वेद के जिल्द आदि के लिये १०००) रु० चाहिये। अर्थात् ऋग्वेद छपाई समाप्त होकर ग्रंथ तैयार होने के लिये ३०००) रु० की आवश्यकता है।

जो वेदके प्रेमी पाठक होंगे, उनको उचित है कि वे इस समय हमें उक्त आर्थिक सहायता अति शीघ्र करें और ऋग्वेद की छपाई संपूर्ण होने में सहायता दें। हम ६॥) में हि चार वेद देना चाहते हैं। जिस तरह अन्य धर्म के ग्रंथ धनिकों के द्रव्य से छापे जाते हैं और सस्ते दिये जाते हैं, उसी तरह वेद भी धनिकों के व्यय से छापे जांय और सस्ते बिकते रहें।

क्या आप ऐसा होने के लिये यथाशक्ति मदत देंगे?

इस विषय की जो जो सहायता आवेगी, वह प्रतिमास वैदिक धर्म में प्रकाशित की जायगी। सबसे प्रथम यह कार्य होना चाहिये। ऋग्वेद छपाई में युद्ध के कारण जो घाटा होनेवाला है, वह पाठक स्वयं अपने सिरपर लें और वेद का उत्तमोत्तम ग्रंथ प्रकाशित होने के यश के भागी बनें।

जिसको जितनी सहायता देने की शक्ति परमात्माने दी है, वह शीघ्र हमारे पास भेज दें। यह कार्य सब से आवश्यक कार्य है ऐसा समझ कर इसी समय जो सहायता करना हो वह कर दें।

निवेदन कर्ता

श्रीपाद दामोदर सातवळेकर, मुख्य संपादक और संचालक,

स्वाध्याय-मण्डल, औंध, (जि० सातारा)

वैदिक धर्म।

सितम्बर १९४०
श्रावण सं० १९९७



स्व० वा० डॉ० हेडगेवार, नागपूर।

आपने राष्ट्रीय-स्वयंसेवक-संघ निर्माण करके हिंदु संघटना का आदर्श कार्य किया है।

वर्ष २१, अंक ९] [क्रमांक २४९

वैदिक धर्म ।

[मासिक पत्र]

संपादक
पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

सहसंपादक
पं० तडित्कान्तजी वेदालंकार

स्वाध्याय-मण्डल, औन्ध

वार्षिक मूल्य म. आ. से ५) रु. वी. पी. से ५॥) रु. विदेशके लिये ६॥) रु.

वर्ष २१] [अङ्क ९

विषयानुक्रमणिका

वैदिक धर्म

क्रमाङ्क २४९

वर्ष २१ : : : : अङ्क ९

श्रावण संवत् १९९७

सितंबर १९४०

ऋग्वेद-मुद्रणके लिये सहाय्यता।

'वैदिक धर्म' के गत अंक में मुद्रित हमारी प्रार्थना के अनुसार नीचे लिखे सज्जनों ने सहायता भेजकर अपना धर्मप्रेम प्रकट किया है ।

१	श्रीमान् सेठ जुगलकिशोरजी बिर्ला, देहली	५००) रु.
२	श्री. घेलाभाई मंडण पटेल, गोंडल	१००) ,,
३	श्री. अनंत दिनकर रास्ते, पूना	१०) ,,
४	श्री. अनंत शंकर कोलटकर, सटाना	१) ,,
	ता० ३०।८।४० तक प्राप्त कुल	६११) रु०

मंत्री, स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि. सातारा)

क्या प्रभु है ?

न्द्राय सत्यं यदि सत्यमस्ति ।
ह, क ईं ददर्श कमभि ष्टवाम ॥३॥
विश्वा जातान्यभ्यस्मि मह्ना ।
ादर्दिरो भुवना दर्दरीमि ॥४॥
(ऋ० ८।१००।३-४)

कहता है—

तो उसकी तुम स्तुति, प्रार्थना करते
षे कहता हूं कि (न इन्द्रः अस्ति) प्रभु
दर्श) किसने उसे देखा है? और (कं
करें?

उसे कहता है—

क! (अयं अस्मि) यह मैं प्रभु हूं। (मा इह
(विश्वा जातानि) इन सब बने हुए पदार्थों
के ऊपर (मह्ना अभि अस्मि) अपने निज महत्त्वसे ही मैं शासन करता हूं। (ऋतस्य प्रदिशः) सत्य का मार्ग दर्शानेवाले लोग (मा वर्धयन्ति) मेरा ही- प्रभुका ही- वर्णन करते हैं। मेरे क्रोध से सब भुवन नष्टभ्रष्ट हो जाते हैं।

ईश्वर हर एक के सामनेहि है, अतः उसे सर्वत्र देखनेका प्रयत्न करो, सब विश्व में उसे देखो।

वैदिक धर्म ।

[मासिक पत्र]

संपादक
पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

सहसंपादक
पं० तडित्कान्तजी वेदालंकार

स्वाध्याय-मण्डल, औन्ध

वार्षिक मूल्य म. आ. से ५) रु. वी. पी. से ५।।) रु. विदेशके लिये ६।।) रु.

वर्ष २१]

विषयानुक्रमणिका

[अङ्क ९

वैदिक धर्म

क्रमाङ्क २४९

वर्ष २१ : : : : अङ्क ९

श्रावण संवत् १९९७

सितंबर १९४०

क्या प्रभु है ?

प्र सु स्तोमं भरत वाजयन्त इन्द्राय सत्यं यदि सत्यमस्ति ।
नेन्द्रो अस्तीति नेम उ त्व आह, क ईं ददर्श कमभि ष्टवाम ॥३॥
अयमस्मि जरितः पश्य मेह विश्वा जातान्यभ्यस्मि मह्ना ।
ऋतस्य मा प्रदिशो वर्धयन्त्यादर्दिरो भुवना दर्दरीमि ॥४॥
(ऋ० ८।१००।३-४)

उपासक कहता है—

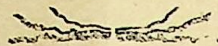
हे लोगो ! यदि सचमुच प्रभु है, तो उसकी तुम स्तुति, प्रार्थना करते रहो, पर मैं (नेमः आह) नेम ऋषि कहता हूं कि (न इन्द्रः अस्ति) प्रभु बिलकुल नहीं है, क्योंकि (क ईं ददर्श) किसने उसे देखा है? और (कं अभि स्तवाम) हम किसकी स्तुति करें?

यह सुनकर प्रभु उसे कहता है—

हे (जरितः) स्तुति करनेवाले उपासक! (अयं अस्मि) यह मैं प्रभु हूं। (मा इह पश्य) मुझे इस [विश्वमें सर्वत्र] देख! (विश्वा जातानि) इन सब बने हुए पदार्थों के ऊपर (मह्ना अभि अस्मि) अपने निज महत्त्वसे ही मैं शासन करता हूं। (ऋतस्य प्रदिशः) सत्य का मार्ग दर्शानेवाले लोग (मा वर्धयन्ति) मेरा ही- प्रभुका ही- वर्णन करते हैं। मेरे क्रोध से सब भुवन नष्टभ्रष्ट हो जाते हैं।

ईश्वर हर एक के सामनेहि है, अतः उसे सर्वत्र देखनेका प्रयत्न करो, सब विश्व में उसे देखो।

मैत्रायणी और काठक संहितायें।



मैत्रायणीय संहिता तथा काठक संहिता इन दोनों संहिताओंका मुद्रण शुरू करना है। इनकी कई पोथियाँ-हस्तलिखित ग्रन्थ हमें प्राप्त हुए हैं। पर कई स्थलों पर पृष्ठ फटने के कारण अथवा अन्य रीतिसे पृष्ठ खराब होनेके कारण कई अक्षर संदिग्धसे हुए हैं। जो युरोप में ये संहिताएं छपी हैं, उनमें और वैदिकों के पाठोंमें बडा अन्तर है। ऐसी अवस्थामें और हस्तलिखित ग्रंथ प्राप्त होने चाहिये, तब निर्दोष मुद्रण हो सकता है।

हमारे पास जो मैत्रायणी के और काठक संहिता के लिखित ग्रंथ हैं, वे प्रायः महाराष्ट्र और गुजरात के वैदिकोंके ग्रंथ हैं। महाराष्ट्र के वैदिक ब्राह्मणोंके पाससे जो ग्रंथ मिल सकते हैं वे हमें प्राप्त हैं। पूनाके भांडारकर ओ० इ० में जो मैत्रायणीके ग्रंथ हैं, वे त्रुटित हैं; नहीं तो वहांसे हमें सब ग्रंथ मिल सकते। वैदिक घरानोंमें जो ग्रंथ होते हैं, वे बडे शुद्ध और वारंवार शुद्ध किये होते हैं। इसलिये ऐसे ग्रंथ और भी प्राप्त होने चाहिये।

गुजरातके तथा काशी के विद्वानों के पास मैत्रायणीय और काठक शाखाके हस्तलिखित हैं, ऐसा हमें पता लगा है। हरएक स्थानपर यहांसे जाना कठिन है। खर्चा भी होता है और समय भी जाता है। इसलिये स्थानस्थान के वेद के प्रेमी सज्जनोंसे प्रार्थना है कि, जहां जहां वैदिक विद्वानों के घर हों, उन के पास मैत्रायणी और काठक संहिताओं के ग्रंथ हस्तलिखित हों, तो उनका पता करें, और संपूर्ण ग्रंथ हों, तो या तो प्राप्त करके हमारे पास भेज दें, अथवा हमें उस सज्जन के स्थान का पता देवें। जो ग्रंथ भेज देंगे उसके दोनों ओर का प्रेषण व्यय हम करेंगे और मुद्रण का कार्य समाप्त हो जानेपर उनका ग्रंथ भी वापस करेंगे और मुद्रित ग्रंथ भी उनको भेट करेंगे।

यजुर्वेद की संपूर्ण शाखाओं के सब संहिताओं का शुद्ध, उत्तम तथा निर्दोष मुद्रण होनेके बिना यज्ञके विविध विधि-विधानों की खोज नहीं हो सकती, इसलिये शीघ्र ही इन यजुर्वेद की संहिताओं का मुद्रण होना अत्यंत आवश्यक है। वाजसनेयी और काण्वसंहिता इन दोनों शुक्ल यजुर्वेद की संहिताओं का उत्तम मुद्रण हमने किया है। ये ग्रंथ तैयार भी हो चुके हैं। उनकी सूचियां भी हो चुकी हैं।

तैत्तिरीय संहिता का प्रचार महाराष्ट्र में तथा कर्नाटक आदि दाक्षिणात्य देशोंमें बहुत है, इसलिये इस शाखाके विद्वान् यहां पर्याप्त हैं और लिखित ग्रंथ भी जितने चाहे उतने मिलते हैं। इसके अतिरिक्त सब तैत्तिरीय संहिता और सब ब्राह्मण कण्ठ रखकर मुखसे ही बोलनेवाले विद्वान् ब्राह्मण भी इधर बहुत हैं। इसलिये इस तैत्तिरीय संहिताके मुद्रण की उत्तम व्यवस्था हो चुकी है।

अब यजुर्वेद मैत्रायणी और काठक संहिताओं की ही कठिनता है। इनके कुछ ग्रंथ हमें मिले हैं, उनमें कई बहुत अच्छे भी हैं। परंतु किसी किसी के बीच बीचके पृष्ठ खराब हुए हैं। ऋग्वेद और वा० संहिता तथा तैत्तिरीय संहिता के समान इन शाखाओं के वेदपाठी नहीं हैं; पदक्रम, जटा आदि विकृति कण्ठ करनेवाले तो एक भी नहीं; जो कोई क्वचित् मिलते हैं, वे ग्रंथ हाथमें लेकर पढनेवाले मिलते हैं। इस कारण वेदपाठियों की सहायता इन दो संहिताओंके मुद्रणमें मिलना कठिन है। मैत्रायणी के दो तीन विद्वान्, जिनको सब संहिता कण्ठ है, ऐसे मिले हैं; पर यदि किसी स्थानपर और कोई विद्वान् हैं, ऐसा किसी को पता हो, तो उस महात्मा का पता हमें चाहिये। जिसको मालूम हो, वह हमें उसका पता लिख देवे।

वेदमुद्रण में यह सहायता इस समय हमें चाहिये। वेदप्रेमी पाठक अपने अपने स्थान के विद्वानों के पास इस विषयकी खोज करें और यदि पता लगा, तो हमें सूचित करें।

निवेदनकर्ता-

श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा)

ऋग्वेद-सूक्तों के देवता।

वैदिक सूक्तों के देवताओं का निर्णय होने से वेदमंत्रोंका अर्थ समझनेमें बडी सहायता होती है, इस विषयमें किसी का मतभेद नहीं हो सकता। अतः एक बार सम्पूर्ण वेद-मन्त्रों के देवताओं का निर्विवाद निर्णय करना परम आवश्यक हुआ है।

देवताविषयक शास्त्रार्थ चलनेवाला था, पर प्रतिपक्षी लोगोंने लेखबद्ध शास्त्रार्थ करने का इन्कार किया, और प्रतिमास लेखबद्ध शास्त्रार्थ का मुद्रण करने के प्रबन्ध का तो सुतरां इन्कार किया, इसलिए वह शास्त्रार्थ जहां का वहां ही शांत हुआ! हम चाहते थे कि कोई महात्मा उठे और इस शास्त्रार्थ के मुद्रण का भार अपने शिर पर लेवे, तो हम क्रमसे प्रत्येक मन्त्र के देवताओं का निर्णय एक बार लिख देंगे, तथा प्रतिपक्ष के मत भी टिप्पणीमें दे देंगे। पर वह भी नहीं हुआ।

प्रतिपक्षके कई विद्वान् उठे और उन्होंने किसी न किसीके आड छिपकर जो मर्जी आया लिखमारा, और वृत्तपत्रों के कागज खराब किये। पर परिणाम कुछ भी नहीं निकला।

ये प्रतिपक्षके लोग तो मौखिक शास्त्रार्थके लिए हर बख्त तैयार थे और अब भी हैं। परन्तु हमें मौखिक शास्त्रार्थ की बिलकुल इच्छा नहीं है। हमारी इच्छा यह है कि जो कार्य हो, वह निर्णायक हो और आगे आनेवाले वेदविचारकों के मार्ग में से कांटों को दूर करनेवाला हो। परन्तु हमारी यह इच्छा सिद्ध न हो सकी।

इसलिये जो हो सकता है, वह अपनी शक्तिसे ही करना आवश्यक हुआ है। इस स्थानपर ऋग्वेद के देवता क्रम से मण्डलवार, सूक्तवार और मन्त्रवार दिये हैं। वहीं अष्टक, अध्याय का भी पता दिया है। अतः जो जिस रीति से देखना चाहे वह उस रीति से देख सकता है।

इस ऋग्वेदमन्त्रों की ऋषिदेवतासूचि में प्रथम स्थान में सूक्त की संख्या है, द्वितीय स्तम्भ में उस सूक्त में कितने मन्त्र हैं उनको बतानेवाली संख्या है, तृतीय स्तम्भमें ऋषि का नाम है। वहां उसका गोत्रनाम अथवा पिता का नाम भी दिया है। यदि कोई ऋषिनाममें विकल्प हो, तो नीचे टिप्पणीमें दिया है अथवा विशेष लम्बा नाम हो तो भी टिप्पणी में ही दिया है। आगे चतुर्थ स्तम्भ में सूक्त के कितने मंत्रों का कौनसा देवता है, यह दर्शाया है और अन्त में उस देवता के मंत्रों की संख्या भी लिखी है।

ऋग्वेदके मंत्रोंके क्रमसे ये देवता इस तरह इस सूचीमें पाठकोंको मिलेंगे। क्रमसे एक एक देवता के कितने मन्त्र हैं, यह भी इस सूची में पाठक देख सकते हैं। जैसा इन्द्र के मन्त्र प्रथम मण्डल के ४-६ इन तीन सूक्तों में २३ हैं, तथा ६-११ इन छः सूक्तों में ५१ हैं, तथा ५१-५७ तकके ७ सूक्तोंमें ७२ मंत्र हैं, तथा द्वितीय मण्डलके सूक्त ११-२२ तकके बारह सूक्तोंमें १२६ मंत्र हैं इत्यादि। इसी तरह अन्यान्य देवताओं के इकट्ठे कितने मंत्र हैं, इसका पता इस सूची से तत्काल लग सकता है।

दूसरा इसी सूचीसे एक ऋषि के इकट्ठे कितने सूक्त हैं, इसका भी पता लग सकता है। जैसा मधुच्छन्दा वैश्वामित्र के प्रथम मण्डल में १० सूक्त आरम्भमें ही क्रमसे हैं।

काण्व मेधातिथि के सूक्त १२ से २३ तक के १२ सूक्त हैं। शुनःशेपके आगे सूक्त २४-३० तक सात सूक्त हैं इसी सूचीसे एक एक ऋषि के देखे मंत्र कितने हैं, इसका भी पता लग सकता है। इस तरह जो वेदोंका अध्ययन करना चाहते हैं, उनको यह सूची अत्यन्त उपयोगी हो सकती है।

प्रायः ऋषि के सम्बन्धमें झगडा खडा नहीं हो सकता, क्योंकि उस विषय में विवाद करने का कोई भी प्रयोजन ही नहीं है। तथापि विपक्षियोंने गोत्रनाम न देनेकी प्रथा खडी करके अथवा अशुद्ध गोत्र देकर उस पर भी विवाद खडा किया ही था। पर वह तो बात ऐसी थी कि जैसा बालू का पूल बनाना, इसलिये वह उसी समय शांत हुई। ऋषियों के कई नाम मंत्रों में ही आये हैं, अन्य ऋषिनाम ब्राह्मणोंमें हैं। शेष नाम परंपरा से चले आये हैं, अतः इन में झगडा करना निरी मूर्खता है।

वास्तव में वेदने स्वयं अपने देवता बताये हैं, जो सौमें न्यानवे मंत्रों में कहे गये हैं, इसलिये सच्चे वेदाभ्यासी को कभी भी देवताविषय में संदेह नहीं हो सकता। पर जो लोग अपना मनघडन्त मार्ग चलाते हैं और हठसे दुराग्रह

करते हैं, उनके लिये सर्वत्र कठिनता दिखाई देती है, और उसी कारण विवाद भी खडा होता है।

जैसा ऋग्वेद का प्रथम सूक्त देखिए। इस सूक्त में ९ मन्त्र हैं। इनमें केवल ८ वें मन्त्रमें अग्नि-पद नहीं है, शेष आठों मन्त्रों में अग्नि-पद है, अतः इस सूक्त का तथा इस सूक्त के ९ मंत्रों का देवता 'अग्नि' निःसंदेह है। इसी तरह सब वेदमंत्रों के सूक्तों के देवता सूक्तोंमें स्पष्ट शब्दों में उक्त हैं, इसलिये इस स्पष्ट विषय के सम्बन्ध में कभी विवाद नहीं हो सकता।

इतनी स्पष्टता होनेपर भी विवाद किया जा रहा है। इसका कारण प्राचीन संकेतों का न समझनाही है। जैसा प्राचीन ऋषियोंने तथा आचार्योंने संकेतोंसे कई जगह काम लिया है। ऐसे स्थानोंमें प्रतिपाक्षियों को विवाद करने के लिये अवकाश मिलता है। अथवा वे जानबूझकर दुराग्रह से विवाद खडा करते हैं।

'विश्वे देवाः, लिंगोक्ताः, मन्त्रोक्ताः।' ये कोई देवता नहीं हैं, ये केवल संकेतमात्र हैं। इन तीनों शब्दोंका अर्थ प्रायः एकही है। इसका अर्थ इतनाही है कि इन मन्त्रोंमें वे देवता हैं, जो उन मन्त्रोंमें कहे गये हैं। देवता बहुत होनेसे कहे नहीं गये, जो मन्त्रको देखनेसे मालूम पडते हैं। उदाहरणके लिये प्रथम मण्डलका १४ वाँ सूक्त लीजिये। इसका देवता 'विश्वे देवाः' लिखा है। यह केवल संकेतमात्र है। इस सूक्त के देवता मन्त्र में उक्त ये हैं—

(सूक्त १४ वां। ऋषि मेधातिथिः काण्वः। देवता विश्वे देवाः।) 'विश्वे देवा' का अर्थ इस तरह है—

मन्त्र १-२ 'अग्नि' देवता है।

३ 'इन्द्र-वायु-बृहस्पति-मित्र-अग्नि-पूष-भग-आदित्य-मरुद्गणाः' तृतीय मंत्रका देवता है।

४-१२ 'अग्निः' देवता है।

१० वे मन्त्रका 'विश्वदेव-अग्नि-इन्द्र-वायु-मित्र-धामानि' यह देवता है।

इतना लम्बाचौडा लिखने के स्थानपर संकेतमात्र 'विश्वे देवाः, लिंगोक्ताः, मन्त्रोक्ताः' ऐसा लिख देते हैं। इसमें संन्देह के लिये वस्तुतः कोई स्थान नहीं हैं। ये देवता उक्त मन्त्रोंमें उक्तही हैं। आंखवाले इनको देख सकते हैं। पर हठवादी प्रत्यक्ष देखनेपर भी हठ करते रहते हैं। वादविवाद करते हैं। और सत्य को मानते नहीं !!

प्रारंभसे अन्त तक ऋग्वेदके मन्त्रोंमें यही व्यवस्था है, यह हम बता सकते हैं। प्रायः संपूर्ण ऋग्वेदभरमें मन्त्रोंके देवता मन्त्रोंमें ही कहे हैं। कोई ऐसी देवता नहीं है जो मन्त्रोंमें कही नहीं है। सौमें एक भी ऐसा स्थान नहीं है, कि जहां मन्त्रमें देवता उक्त नहीं है। विश्वे देवाः देवताके मन्त्रों में, लिंगोक्त देवता के मन्त्रों में, तथा मन्त्रोक्त देवताके मन्त्रों में भी वेही देवता हैं कि जो मन्त्र में उक्त हैं, उदाहरण के लिये एक मन्त्र यहां देते हैं—

ऋग्वेद मं० १, सू०८९, म० ३ यह है—इसका देवता 'विश्वे देवाः' है।

> तान् पूर्वया निविदा हूमहे वयं
> भगं मित्रमदितिं दक्षमस्रिधम्॥
> अर्यमणं वरुणं सोममश्विना
> सरस्वती नः सुभगा मयस्करत्॥ (ऋ०१।८९।३)

इस मन्त्रका देवता वस्तुतः 'भग-मित्र-अदिति-दक्ष-अर्यम-वरुण-सोम-अश्वि-सरस्वती' है। इतना लम्बा-चौडा उच्चारण करने के स्थानपर 'विश्वे देवाः, देवाः, लिंगोक्त, मंत्रोक्त' इन संकेतोंसे कार्य चलता है। क्योंकि इनका भी यही अर्थ है, कि इस मन्त्रमें मन्त्रमें कहे देवता हि समझने चाहिये। इसलिये 'विश्वे देवाः' आदि संकेतों को देखकर किसीको घबरा जानेका कोई प्रयोजन नहीं। साधारण से साधारण संस्कृत जाननेवाला भी मंत्रमें उक्त देवताका नाम देखकर उस मन्त्रका देवता ठीक ठीक बता सकता है। यदि किसी मंत्रमें देवताका नाम न आया हो, तो आगे पीछे के मंत्र देखकर कौनसा प्रकरण चला है, यह देखकर उस मन्त्रका देवता बता सकते हैं।

इतना आसान और सुबोध यह विषय है। परन्तु इस सुबोध विषय को अनाडी लोगोंने दुर्बोध करके हौवा बनाया है और मनमानी देवताएं मानकर मनघडन्त कल्पना खडी कर रहे हैं और वेदकी व्यवस्था को तोडना चाहते हैं।

मंत्रोंके और सूक्तोंके देवता जाननेके साधारणतः ये नियम हैं—

१. सबसे पहिला नियम यही है कि मंत्रमें देवताका पद देखकर देवता जानना। ऐसे ही सहस्रशः मंत्र है। यह बहुतहि सुगम रीति है।

२. कई मंत्रोंमें प्रतिशब्द भी देवतावाचक आ जाता है, जैसा 'अग्नि' के लिये वह्नी, जातवेदा आदि; 'इन्द्र' के लिये मघवा, वृत्रहा, पुरंदर, शतक्रतु आदि। यदि मुख्य शब्द न रहा, तो इन प्रतिशब्दोंको देखकर उस मंत्रका देवता कहा जा सकता है। यह भी सुगमहि है, पर यहां शब्द के प्रतिशब्द जानने चाहिये। तब देवताज्ञान हो सकता है।

३. जहां देवतावाचक शब्द भी नहीं और देवतावाचक प्रतिशब्द भी नहीं, ऐसे भी मंत्र हैं। इन मंत्रों का देवता मंत्रके अर्थ से जाना जा सकता है। परन्तु इनका 'अर्थ' देवता नहीं है। अर्थ से जिस देवका वर्णन किया गया है, वही इस मन्त्र का देवता समझना चाहिये। ऐसे मंत्र क्वचित् सूक्तोंके अन्दर होते हैं, ऐसे संपूर्ण सूक्तका अर्थ जाननेपर तथा आगे पीछेके मंत्रों के देवता देखनेसे ऐसे मंत्रों के देवता जानना आसानहि है।

सूक्त के तमाम मंत्रों में से देवताका नाम एकाध मंत्रमें नहीं है, ऐसे भी मंत्र सूक्तोंमें रहते हैं। अतः अनुक्त देवतावाले मंत्रों का निर्णय सूक्तके सब मंत्रों का साथ साथ विचार करने से सरलता से होता है। इस रीतिसे संपूर्ण ऋग्वेद के देवताओं का निर्णय हो सकता है और साधारण संस्कृतज्ञ भी यह कर सकता है।

४. 'विश्वे देवाः' आदि देवताभी कोई हौवा नहीं है, इन सूक्तोंमें भी मंत्रस्थ पदों को देखनेसे देवता समझे जा सकते हैं। इसका वर्णन इससे पूर्व स्थलमें किया जा चुका है।

इन नियमोंसे जिनका ज्ञान नहीं हो सकता, ऐसे मंत्र संपूर्ण ऋग्वेदमें सौपचास भी नहीं हैं। इसलिये देवता-विज्ञान यह विषय ऐसा दुर्बोध नहीं है, जैसा कि बताया जा रहा है।

मन्त्रका अर्थ देवता।

'मंत्रका अर्थही देवता है।' ऐसा एक वाद इन शास्त्रार्थी लोगोंने खडा किया है, पर यह निराधार कथन है। इसका उत्तम उदाहरण एकही यहां पर्याप्त है।

चत्वारि शृंगा त्रयो अस्य पादा।
द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य॥
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति।
महो देवो मर्त्यां आ विवेश॥ (ऋ० ४।५८।३)

इसका अर्थ पतंजलिने 'शब्द' परक किया है, यास्कने 'यज्ञ' परक किया है। यदि अर्थहि देवता माना जाय, तो 'शब्द और यज्ञ' देवता विकल्पसे इस मंत्र का मानना पडेगा। पर इसका देवता 'वृषभ' है, जो गौका जातिवाचक है। पूर्व तथा उत्तर मंत्रमें 'गौ' पद होनेसे इसका भी जातिवाचक 'गौ' देवता है, अर्थात् इसका गौ, या वृषभ देवता है। गौका अर्थ वाणी या शब्द हो सकता है, यज्ञ भी हो सकता है, यह बात और है, पर यहां यज्ञ और शब्द देवता नहीं है। भले ही पतंजलि और यास्कने वैसे अर्थ किये हों। अर्थ देवता नहीं है। मंत्रोक्त, या सूक्तोक्त पद ही देवता है। इसीलिये इसका देवता 'गौ' माना है, क्योंकि मंत्र २-३-४में 'गौ-वृषभ-गौ' ऐसे पद क्रमसे हैं, बहुतसे निर्देश होता है, इसलिये देवता के स्थान में 'गौ' पद रखा गया है। स्पष्टीकरणार्थ 'वृषभ' भी तज्जातीय होनेसे तथा इस मंत्रमें उक्त होनेसे मान सकते हैं। जिस पद का निर्देश मन्त्रोंमें अधिक संख्या में हो, उस पदका ग्रहण देवतापदसे होता है।

उदाहरणके लिये 'अग्नि' देवताके मंत्रों में सबसे अधिक 'अग्नि' शब्द का प्रयोग है, वह्नि आदि पर्याय शब्दोंका प्रयोग उतना नहीं है, अतः देवतानिर्देश के लिये 'अग्नि' शब्द सुयोग्य समझा गया। इसी तरह 'इन्द्र' देवताके सूक्तों में मघवा, वृत्रहा, शतक्रतु, पुरंदर, आदि शब्दोंकी अपेक्षा से 'इन्द्र' शब्द अधिक वार प्रयुक्त हुआ है, इसलिये देवता शब्द के निर्देशके लिये इंद्र शब्द ही योग्य समझा गया है। इसी तरह अन्यान्य देवताओंके विषयमें समझना योग्य है।

यहां भी 'चत्वरि शृंगा' मंत्रमें गौ शब्द अधिक प्रयुक्त होने से वही शब्द देवतास्थान में रखा गया है। देवताका ज्ञान होने के लिये ऋषियों की यह व्यवस्था ध्यान में रखना आवश्यक है। इस रीतिसे देखनेसे किसी भी सूक्त के या मंत्रके देवता निश्चित करना सहज कार्य हो सकता है।

इतनी सहज बातको कठिन और दुर्बोध करने के लिये ये विवाद खडा करनेवाले कहते हैं कि मंत्र का अर्थ ही मंत्र का देवता है!!! अर्थात् मंत्रका अर्थ किसीके ध्यान में न आवे और देवता भी किसीके समझमें न आवे !!! ऐसी मूर्ख कल्पना करके भ्रमजाल फैलाना किसीको भी योग्य नहीं है। यह कल्पना वेदकी व्यवस्थाको बिगाडनेवाली है।

मंत्र का अर्थ तो दूर रहा, पर संस्कृत बहुत न जानने-वाला जिसको मंत्रमें 'अग्नि-इन्द्र-अश्विनौ-वायु-मरुत्' आदि देवताओं के पद पढना आता है, वह भी थोडे परि-श्रमसे देवता जान सकता है । इतना यह विषय सुबोध है। जो अक्षर पढ सकता है, वह देवता जान सकता है। जो थोडे से मंत्र रहेंगे, जिनमें देवता का निर्देश करनेवाला पद नहीं है, उनमें आगेपीछे देखने से देवताज्ञान हो सकता है। क्वचित् किसी स्थानपर ऐसा मंत्र मिलेगा, जिसका देवता पहचानना कठिन है। ऐसे मंत्र विरला होने से अपवाद हैं, अतः इनका विचार करने की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि ऐसे मंत्र संपूर्ण वेदमें दो सौ भी नहीं है ।

अर्थको देवता माननेवाले लोग 'चत्वारि शृंगा' मंत्रका देवता पतंजलि के मत से 'शब्द' और यास्क के मत से 'यज्ञ' मानकर मंत्र के देवताज्ञान में संदेह उत्पन्न करके ऋषियों की देवताव्यवस्था को बिगाड रहे हैं। इस बिगाड से वेदकी रक्षा हो और सुबोध रीतिसे सबको देवताज्ञान हो सके , इस उद्देश्य से यहां हम ऋग्वेद के सब सूक्तों के देवता क्रम से देते हैं । यहां तो मंत्रों के क्रमसे देवता इस सूची में देते हैं ।

इस सूची के अंतिम दो स्तम्भों की ओर दृष्टि रखने से पता चल सकता है कि ऋग्वेद में सबसे प्रथम के ९ मंत्र अग्निदेवता के हैं, तत्पश्चात् ३ मंत्र वायुदेवताके, तदनंतर ३ मंत्र इंद्रवायु के हैं, उसके बाद ३ मंत्र मित्रावरुणौ के हैं, तदुपरांत ३ मंत्र अश्विनौ देवताके हैं, इस तरह ऋग्वेद के अंत तक क्रमवार देवताके मंत्र दिये हैं । यहां सूक्त, मण्डल, अष्टक, अध्याय का विचार न करते हुए केवल देवता और मन्त्रसंख्या का ही विचार करना योग्य है ।

जहां जहां ऊपर 'विश्वे देवा' आदि संकेतदर्शक देवता शब्द आते हैं, उनके सूक्तके मंत्रों का क्रमसे स्पष्टीकरण टिप्पणीमें दिया है । प्राचीन लोगोंने दो रीतिसे, अथवा तीन रीतियों से देवताको खोलने का यत्न किया था, वह जैसा किया वैसाही नीचे टिप्पणीमें दिया है । जहां विकल्प हो, वहां 'यद्वा' कहकर अथवा न कहते हुए, दुबारा अथवा तिबारा भी देवता दिये हैं । सबसे ऊपर के देवता तो सर्वानुक्रमणी के अनुसारहि प्रायः दिये हैं, टिप्पणीमें बृहद्देवता आदिके वैकल्पिक देवता देकर, वहीं मंत्रोक्त देवता दिये हैं । टिप्पणी जितनी विस्तारसे देना संभव था, उतने विस्तारसे दी है । पाठक ऋग्वेद हाथमें लेकर इस सूची को देखते जांयगें, तथा ऊपरला भाग तथा टिप्पणी साथ साथ देखते जांयगे, तो उनको ऋषियों और देवताओं का ज्ञान सहजहीसे हो सकता है ।

जितना देवताविषयक ज्ञान आवश्यक है, उतना सब यहां दिया है । यह प्राचीन व्यवस्था के अनुसार दिया गया है, जगह जगह ग्रंथनिर्देश भी किया है। तथापि किसी सूक्त के कोई देवता टिप्पणीमें लिखना रह गया होगा, तो उस अशुद्धि को शुद्ध करनेके लिये हम सदा तैयार हैं । कोई वेदाध्यायी पाठक किसी प्रकार की अशुद्धि को बतावेगा, तो उसका हम आदर के साथ स्वीकार करेंगे और उस शुद्धिको हम इस सूचीमें शामील कर देंगे।

पाठक बडी कृपा करें और हमारी अशुद्धि बतावे, इसी-लिये ये देवताएं यहां छापी हैं। जो पाठक, अथवा जो विद्वान् इस कोष्टकके देवता और ऋषिविषयक अशुद्धि को बताना चाहेंगे, तो ऋग्वेद के मण्डल, सूक्त और मन्त्र का निर्देश करके इस मन्त्रमें यह ऋषि अथवा यह देवता चाहिये, ऐसा लिख दें, तथा अपने वेदोक्त या ब्राह्मणोक्त प्रमाण भी साथ साथ दें। अथवा अन्य प्रमाण भी खोज करनेवाले विद्वान् दे सकते हैं। जिन प्रमाणों के आधारपर उनका कथन स्थिर रहेगा, उन प्रमाणों का अवश्य निर्देश करें ।

हम तो मंत्रमें उक्त देवतानिर्देश को सदा सर्वोपरि मान्य समझते हैं, और वैसाही सबको मानना चाहिये। तत्पश्चात् ब्राह्मणोक्त वचन का प्रमाण, तदनन्तर अन्य प्रमाण माननीय हो सकते हैं ।

विद्वान् पाठक इस तरह इस ऋषि, देवता, सूची को ठीक करनेमें सहायता करेंगे, तो बडी कृपा होगी । जिनसे जो सूचना आवेगी, उसका विचार अवश्य होगा। जिन सज्जनों से अधिक संख्यामें और अधिक माननीय शुद्धि लिखकर आवेगी उनके नाम का निर्देश ग्रंथमें सन्मान-पूर्वक किया जायगा ।

आशा है आगे कभी देवताविषयक शास्त्रार्थ करनेका कामहि न पडे, ऐसा प्रबंध करने के लिये जितनी खोज करनी होगी, उतनी करके इस देवतासूचीको निर्दोष, शुद्ध और परिपूर्ण करने में जो जो सहायता आवश्यक है, वह सब वेदवेत्ता विद्वान् और वेदप्रेमी पाठक करेंगे, ऐसी आशा करके, यह सूची उनके सामने हम रख देते हैं।

(यह सूची इस अंकके अन्तमें है)

वेद-रहस्य।

[ले० श्री० अंबालाल बालकृष्ण पुराणी]

(१)

सोम- वेद के एक प्रतीक का अभ्यास।

वेद के अर्थ कभी के निश्चित हो चुके हैं। वेद मनुष्य के आदियुग का, उसकी प्राथमिक दशा का चित्र पेश करते हैं। आश्चर्यचकित मानवने प्राकृतिक तत्त्वों में- जल, अग्नि, विद्युत्, आकाश वगैरेह में देवत्वका आरोपण करके जो कविता रची, वही वेद हैं। आर्यलोगों के विजयी आक्रमण की हिन्दुस्थान में प्रसारयात्रा और उसकी सामाजिक, राजकीय संस्थाओं का तथा आर्य अनार्य युद्धों का टूटाफूटा इतिहास प्राप्त करने का साधन वेद हैं। अत्यंत अपूर्ण भूगोल और उससे भी अधिक अस्पष्ट भूस्तरशास्त्रसम्बन्धी सूचना भी वेदों में से प्राप्त करने का दावा करनेवाले पुरातत्ववेत्ता भी मौजूद हैं।

उपर्युक्त मत आजकल के बहुतसे लोगों को सकारण लगने का एक कारण पिछली दो पीढियों में प्रधानता पाया हुआ समुत्क्रांतिवाद (Evolution theory) है। हमारे भौतिक विश्व में देह के रूपों का और जीवन का जो विकास दिखाई देता है, वह सरलतासे शुरू होकर विविधताकी ओर गति करता आया है और जीवन के स्वरूपों की उत्क्रांति एक में से दूसरी योनि में हुई है।

इस सामान्य सिद्धान्त पर से अनुमान किया जाता है कि, वेद का काल मानवसंस्कृति के प्रारंभ का काल ही होना चाहिए।

परन्तु यह मत बहुत ही कमजोर तर्क पर बँधा हुआ है। पहले तो मानवजाति की मानव के तौर पर समुत्क्रांति कब हुई, इस प्रश्नका, स्वमत के पक्षपाती अनुमानों के सिवाय शास्त्रीय और सकारण कोई भी निर्णय हुआ नहीं है। दूसरे, वेद कब हुए, उसकाभी कालनिर्णय अभीतक अपरिहार्य प्रमाणों से नहीं हो सका है। तीसरे, हमारा जमाना जिन को प्राथमिक स्थितिवाला कहता है उन- असीरिया, बेबिलोन, मय, खाल्डियन और केल्टिक, तथा गिनें तो, समुद्रतल में डूबा हुआ अटलांटिस खण्ड वगैरह- प्रदेशों में संस्कृतियों का विकास हुआ हो, इसको सिद्ध करने के मजबूत प्रमाण एक के बाद एक करके मिलते जा रहे हैं। प्राचीन मिसर के राजा तुतनखामेन की कब्रमें से मिली हुई वस्तुएँ हमको मिसरकी संस्कृति का ठीक ठीक ख्याल दिला रही हैं। तो फिर 'आर्य' संस्कृति भी एक समय में हिन्द में खूब समृद्ध हुई, यह मानना जरा भी असंगत नहीं है। और मानव की समुत्क्रांति का सिद्धान्त स्वीकार ही लें, तो भी वेदकाल का युग ही 'प्राथमिक संस्कृति' का युग था, यह मानने के क्या प्रमाण हैं? विश्वकी गति में पहले बहुत दफा समुत्क्रांति हो गई हो और संस्कृतियों का उत्थान और पतन हुआ हो, यह मानना मुझे अधिक सकारण लगता है।

अर्थात् वेद का अभ्यास करने के लिए आजकल जिन बाह्य प्रमाणों पर बहुत अधिक आधार रखा जाता है, यह बात ही वेदके बहुत से सहृदय अभ्यासियों को भी उसका सच्चा अर्थ- और बहुत दफा तो अपरिहार्य, स्पष्ट दीपक जैसा स्पष्ट अर्थ भी--प्राप्त करने से अटकाती है, ऐसा मुझे लगता है। ऐसा कहा जाता है कि वेदके 'नवीन' अर्थ पाश्चात्य पुरातत्ववेत्ताओं ने किये हैं, यह कथन सच नहीं। पाश्चात्य विद्वानोंने खास करके हमारे शिक्षित वर्ग का ध्यान वेदके अभ्यास की ओर खींचा, इसके लिए उनका जितना उपकार मानें, उतनाही कम है। परतंत्रता और तमोगुणमें पडी हुई प्रजा में स्वमान, आत्मविश्वास वगैरह मानवता के उत्तम गुण इतने अधिक घिस जाते हैं कि रवीन्द्रनाथ टागोर की काव्यप्रतिभा का जब यूरोप नोबल पुरस्कारद्वारा सत्कार करता है, तब भारत की आंख खुलती है! और वेद, उपनिषद्, पुराण वगैरह की महत्ता मॅक्स-मुल्लर, ब्यूलर, विल्सन, पार्जीटर वगैरह जब उनको बताते हैं, तब मालूम पडती है। स्वामी दयानन्द जैसा कोई

विरला पुरुष स्वयंप्रेरणा से अपना स्वतंत्र मार्ग बना ले, यह बात अलग है।

इस ऋणका स्वीकार कर लेने के बाद भी यह एक बात रहती है कि पाश्चात्य विद्वानोंने वेद के 'नए' अर्थ नहीं किए। मध्ययुगके हमारे देश के भाष्यकारोंने जिन सिद्धांतों का अनुसरण करके वेदभाष्य रचे हैं, उनका ही पाश्चात्योंने बहुधा अनुसरण किया है। अलबत्ता, हमारे भाष्यकारों द्वारा स्वयं स्वीकारे हुए सिद्धान्त का अथ से इतितक-अपवाद के बिना अनुसरण नहीं करते। पाश्चात्योंने उन सिद्धान्तों का बिना अपवाद अमल करके उनकी भाष्य-पद्धति में कुछ बढा घटा कर, अपने वेदार्थ में मध्ययुग के भाष्यकारों की अपेक्षा, एकवाक्यता अधिक सिद्ध की है, यह भी कबूल करना चाहिये। परन्तु सिद्धान्त की दृष्टिसे उनके वेदार्थ में 'नवीन' अर्थात् नया दृष्टिबिन्दु मालूम पडे, ऐसा बहुत ही कम दिखाई देता है।

वेद का प्रथम उपलब्ध भाष्य यास्क का निरुक्त है। और निरुक्त में भी पूर्वाचार्यों का -- भाष्यकारों का उल्लेख है। इतना ही नहीं वेदभाष्य की भिन्नभिन्न प्रणालियाँ सिद्धान्तभेद से पडीं, इस बात को भी यास्कने स्वीकार किया है। इस प्रकार, यास्क के पहले शाकटायन, औदुम्बर, चर्मशिरा, नैयायिक, ऐतिहासिक, वैयाकरण, कर्मकांडी और तपस्वी वगैरह भिन्नभिन्न सिद्धान्तों के अनुसार वेद के अर्थ करनेवाले गण भारतमें थे। अर्थात् प्रथम भाष्यकार यास्क से पूर्व हिन्दुस्थान में ही वेद के अर्थ करने के विषय में अनेक मतमतान्तर प्रचलित थे, पर बहुत से भाष्यकार वैदिक 'पदों' के अर्थ नहीं जानते, और उनकी व्युत्पत्ति के अर्थ के अनेक विकल्प देते हैं।

अर्वाचीन यूरोपीय और उनकी पद्धतिका अनुसरण करनेवाले भारतीय भाष्यकार मध्ययुग के हिंदुस्थान के भाष्यकारों में से ऐतिहासिक और प्राकृतिक तत्त्व का स्वीकार करते हैं। ऐसा करने में कुछ सकारणता स्वीकार लें, तो भी इतना स्पष्ट है कि मध्ययुग के और उससे पहले के भाष्यकारों में भिन्नभिन्न सिद्धान्तों को माननेवाले गणों का होना इस बातकी साक्षी देता है कि वेद का अर्थ लुप्त हो गया था। अर्थात् अर्वाचीन अभ्यासियों का मध्यकाल के भाष्यकारों के सिद्धान्त का अबाधित तौर पर स्वीकार करना इस प्रारंभिक भूलकी जाँच के बिना मान लेने जैसा मुझे प्रतीत होता है।

और इसी लिए मेरी दलील है कि वेदका अभ्यास करने में बिलकुल स्वतंत्र प्रयत्न की जरूरत है। वेद के अर्थ जानने के लिए बाह्य की अपेक्षा आभ्यन्तर प्रमाणों का अधिक अध्ययन होना चाहिए। वेदकाल के निर्णय तथा मानवजाति के उस समय के इतिहास के बारे में जो हास्यजनक अनिश्चितता तथा अनुमानों की परस्परविरोधी परंपरा आजतक प्रचलित है, उसे देखते हुए, और प्रमाणों का -- अर्थात् अन्तिम और अपरिहार्य गिने जा सकें, ऐसे प्रमाणों का-जो अत्यंताभाव है और भविष्यमें उनके मिलने की जो असंभविता है, उसे देखते हुए तो मुझे ऊपर की बात अधिक जोरदार लगती है। और इस मौलिकता की दृष्टि से, पाश्चात्य पद्धतिद्वारा हुए कार्य के महान् संग्रह की उसके कद के अनुसार सप्रमाणता और उपयोगिता बहुत थोडी है, यह कहे बिना नहीं रहा जाता।

इस लेखमें आभ्यन्तर प्रमाणों द्वारा 'सोम' का अभ्यास करने का प्रयत्न करेंगे।

'सोम' क्या है? प्रचलित मान्यता के अनुसार 'सोम' का अर्थ सुरा किया जाता है। मुंजावत × पर्वत के ऊपर होनेवाले किसी पौधे या बेल का मादक रस ही 'सोम *' है। कहते हैं कि वेदकाल के आर्य यज्ञसमारंभों में इकट्ठे होते और मद्यपान करते थे। यह मादक पेय सोम ही था। मानव के उपयोग में और उपभोग में आनेवाली हरेक चीज उस समय देवताओं को अर्पण करने का रिवाज था। इस से देवताओं को भी सोम मिलता था।

ऊपर बताई गई मान्यता एक अभिप्राय है, और बहुत

× (१) 'मूंज' नामकी घास भी उसके ऊपर होनी चाहिये। यज्ञोपवीत की क्रिया को 'मौंजीबन्धन' इसी से कहते हैं।

* (२) एक फ्रेंच पुरा तत्त्ववेत्ता, मेरे मित्र डॉ. दुब्रोने पत्तोंरहित केवल हरी हरी डालियोंवाली एक बेल बताकर यह 'सोम' है, ऐसा कहा था। यह केवल यहां जानकारी के लिए सूचित करता हूं। मुझे नहीं लगता कि इस बेल का रस मादक हो।

होगा तो एक असंभवित अनुमान है। पर वेदकाल के सोमयागमें स्वयं हाजिरी दे कर अपनी आंखों से देख आए हों। इस प्रकार निश्चयपूर्वक इस विचार को एक निर्विवाद सत्य के तौरपर अथवा प्रस्थापित हकीकत के तौरपर पेश करना यह एक बहुत बडी भूल है। बहुत दफा पुरातत्त्व विद्या के विशारदों की अपेक्षा भी, अपने घोर अज्ञान में अन्धविश्वासपूर्वक जब तब चिल्लाचिल्ला कर प्रचार करनेवाले कुछेक उथले पत्रकार इस मान्यता को एक धार्मिक सत्य से भी अधिक पवित्र और अबाधित मानते हों, ऐसा मालूम पडने से पाठकों को उपर्युक्त चेतावनी देना योग्य प्रतीत होता है।

वेदकाल में लोग मद्य नहीं पीते थे। मैं यह नहीं कहना चाहता। उस समय मद्यपाननिषेधसंस्थाओं की आवश्यकता हो या न हो, पर यह तो निश्चय से कहा जा सकता है कि मद्यपान करनेवालों को उस समय 'सोमयाग' का बहाना बनाने की जरूरत तो पडतीही नहीं होगी।

प्राच्यविद्याविशारदों का ऊपर बताया गया अनुमान जनता में अबाधित सत्य के तौरपर माना जाता है, यह लोकमानस की एक बहुत बडी भूल के कारण है। प्राच्यविद्याएँ 'Sciences' अर्थात् शास्त्र कही जाती हैं। यूरोप के अन्य 'sciences' शास्त्र जिनकी नींव पूरी तरह से प्रयोगात्मक है, उनकी समान कक्षामें जनसमाज Science of comparative philology- तुलनात्मक भाषाशास्त्र को रखता है? इस जैसी और कौनसी बडी भूल हो सकती है?

प्राच्यविद्या के तुलनात्मक शास्त्रों को- Comparative Mythology— तुलनात्मक पुराण, तुलनात्मक भाषा, Comparative Religion- तुलनात्मक धर्म, तुलनात्मक तत्त्वज्ञान वगैरह को -- शास्त्र कहा जाता है, यह 'भविष्य में किसी वक्त वे "शास्त्र" बनेंगे,' ऐसी आशा दिखाने का ही एक प्रकार है। रसायन, वनस्पति अथवा ऐसे ही दूसरे प्रयोगात्मक 'शास्त्रों' की तरह इन शास्त्रोंमें प्रत्यक्ष और अपरिहार्य प्रमाणों का अथवा प्रयोगों का सबूत मुश्किल से ही मिलता है। ऐतिहासिक युग, जिसके अवशेषोंका मिल सकना संभावित है, उसमें इसकी, मर्यादित उपयोगिता बेशक स्वीकारनी ही चाहिए। पर वेदकाल जैसे अतिप्राचीन युग के लिए इन विद्याओं की भव्य इमारत, अकरस संभवित अनुमानों की खोखली नींव पर ही रची जाती है। अनुमानोंपर अनुमानों की परम्परा रचकर सारा महल तैयार किया जाता है! पिछले अनुमानों में से एकाध की अवास्तविकता सिद्ध होनेपर उसपर रची गई सारी इमारत जमीनदोस्त हो जाती है। अब तक इन विद्याओं ने वेदकाल के बारे में जो कुछ किया है, उसे देखते हुए तो यह उनका कार्यक्रम हो, ऐसा प्रतीत होता है। परस्परविरोधी तर्क, अनुमान, प्रमाण और अन्तिम निर्णयों की असंभवित खिचडी देखनी हो, तो वेदकाल का साहित्य देख लें।

इसलिए, 'सोम' का अध्ययन करने के लिए हम आभ्यन्तर प्रमाणों को ही मुख्य तौर पर लेंगे। पर उससे पहले उपनिषदों में आए हुए 'सोम' का उल्लेख देखें। उसका उल्लेख बहुत कम है और जहां जहां सोम के बारेमें कुछ कहा गया है, वहां आसपास का सम्बन्ध देखते हुए सोम का अर्थ 'इंद्रियजन्य आनन्द' अथवा 'इंद्रियों के अधिष्ठाता मनमें होनेवाला आनन्द। प्रतीत होता है। छान्दोग्य (प्रपाठक ३-१६ वां खंड) में मनुष्य के समग्र जीवन को सोमयाग के रूप में वर्णित किया गया है।

छान्दोग्य में खंड १० -- श्लोक ४ (५-१०-४) में उसे '**तद्देवानामन्नम्**'- वह देवताओं का अन्न है, ऐसा कहा गया है। मनुष्य का अन्न अलग होता है। देवताओं का अन्न अर्थात् जिस से वे निर्वाह करते हैं, वह सोम (आनंद) है।

बृहदारण्यक (३.९.१) में 'उसे देवताओं का मुख' कहा है। जैसे मुख मनुष्य के लिए आस्वाद लेने का कारण है, वैसे ही सोमद्वारा देव आस्वाद लेते हैं; आनंदद्वारा वे जीवन का आस्वाद लेते हैं। उनके भोग में आनंद के अतिरिक्त और कोई प्रवृत्ति ही नहीं है-- कहने का मतलब कि दुःख और शोक का स्थान नहीं है।

मुण्डक (२. १. ६,) में **सोमो यत्र पवते यत्र सूर्यः** ऐसा उल्लेख है। मुण्डक के इस उल्लेख को देखते हुए सोम का सारा सम्बन्ध ज्ञान के साथ सच्चिदानन्द की प्राप्ति के साथ ही हो सकता है, यह किसी भी वाचक को मालूम हुए बिना नहीं रह सकता। इस स्थल पर

सूर्य अर्थात् स्थूल सविता और सोम अर्थात् 'सुरा' यह अर्थ करना बिलकुल असम्बद्ध लगता है।

आर्य संस्कार के बाहर नजर डालने पर ग्रीक और केल्टिक साहित्य में भी सोम जैसे पदार्थों का उल्लेख मिलता है। उन पदार्थों के नाम अमृतत्व के सूचक (symbol) के तौर पर प्रयुक्त हुए हैं। ग्रीक लोग उसे 'Ambrosia' एम्ब्रोजिया -- अमृतसर कहते थे और केल्ट लोगों में दिव्य जल का उल्लेख सोमकी और उसकी बहुत साम्यता स्पष्ट करता है। अर्थात्, 'अमृतत्व' यानी 'आनन्द' सूचित करनेके लिए किसी स्थूल पदार्थ का प्रतीक 'Symbol' के तौर पर उपयोग करने का विचार प्राचीनों में प्रचलित दिखाई देता है।

ठीक आखिर के वख्त में, पुराणोंने भी ऐसे सूचक रूपकों का प्रयोग करके हमारी संस्कृति के बहुत से मौलिक सत्यों को प्रकट करने का और जनसमाज में उनका प्रचार करके उनको यथाशक्ति जीवित रखने का जो प्रयत्न किया, उसमें भी सोमकी कथा मालूम पडती है।

अमर होने की इच्छा रखनेवाले देव और दानवोंने क्षीरसागर का अर्थात् विशुद्ध, अनंत चैतन्यसागर का मन्थन शुरू किया; उसमें से निकले हुए १४ रत्नों में अंतमें 'अमृत का कलश' निकला। दानव इस अमृतसर-सोम-पान करके अमर न हो जायँ, इसलिए भगवानने मोहिनी-स्वरूप धारण करके दानवों को जीवनके बाह्य स्वरूपों में आनंद की मोहिनी दिखाकर ललचाया, और उन्होंने चैतन्यमें -अंतरमें- प्राप्त होनेवाला अमृतसर-सोम गँवाया। इस सारी कथा की संज्ञाओं को सुलझाने का काम किसी और समय के लिए रख कर केवल उसका उल्लेख मात्र करके आगे चलेंगे।

वेद की ऋचाओं में जिस सोम का वर्णन आया है, वह केवल 'सुरा' नहीं है। वेद में उसका तीन तरह से उल्लेख है। पहले तो किसी पौधे या बेल का मादक रस है। परंतु यह रस केवल पेय नहीं, पर 'घृत, और 'पय' की तरह वह भी एक 'हुतद्रव्य' है।

दूसरे, 'सोम' एक वैदिक देव है। और तीसरे, 'सोमयाग' नाम का खास यज्ञ उसी के लिए किया जाता था।

'सोम' का अर्थ निश्चित करने में हमको ऊपरकी तीन बातें ध्यानमें रखनी चाहिए। सोम की एक विशेषता यह भी है कि जहाँ दूसरे देवों की ऋचाएँ वेद के प्रत्येक मंडल में निश्चित अनुक्रम के अनुसार रखी गई मालूम होती हैं, वहां 'सोम' के लिए नौवाँ मण्डल सारा-अकेले के लिए रखा गया है। सोम का अध्ययन करने में हम नौवें मण्डल पर ही मुख्य आधार रखें, तो यह अयोग्य नहीं होगा।

सोम का अध्ययन करते हुए मालूम पडता है कि, चैतन्य से प्राप्त होनेवाले आध्यात्मिक आनंद को प्राचीन लोग 'सोम' कहते थे। बेशक, स्थूल स्वरूपमें, मुंजावत पर्वत पर होनेवाली किसी बेल का मादक रस इस रसका 'आनंद' का प्रतीक 'symbol' हो सकता है, यह स्पष्ट है। देवताओं में इंद्र पर सोमरस का बहुत असर होनेका वर्णन आया है। उसको पिए बिना इंद्र में ज्ञान-ज्योति और आनंद का अतिरेक जागृत ही नहीं होता। साधारण तौर पर देखते हुए कई जगह स्थूल मद्यपान जैसा लगनेवाला यह सोम, जब ऋचाओं का अच्छी तरह अध्ययन करके उनका परस्परसम्बन्ध जोडने का प्रयत्न करें, तो 'दिव्य आनन्द' का ही प्रतीक है, ऐसा हमें लगता है।

सोम यानी आनन्दः सोम यानी अमृतत्वः सब पदार्थों में व्याप्त स्वयंभू आनंद का तत्व यही सोम सकल विश्वमें जीवन को टिका रखनेवाला कोई अनिर्वचनीय आनन्दरस ही सोम है।

तैत्तिरीय उपनिषद् में- **कोहि वान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनंदो न स्यात्** यह सर्वव्यापी आनंद विश्वमें न होता, तो कौन श्वास लेता और कौन जीवन धारण करता। यह उक्ति सोम को लागू पडती है।

वनस्पतियों और ओषधियों में वहन करनेवाले रसको वेद में सोम कहा है। और मानव को इंद्रियों द्वारा जिस आनंद की अनुभूति होती है, उसका भी कारण सोम ही है। इंद्रियों का संस्पर्श- अर्थात् मात्रास्पर्श-से मिलनेवाला आनन्द क्या है? जीवन में सर्वत्र व्याप्त गुह्य आनन्द को स्थूल चैतन्यद्वारा प्राप्त करने के प्रयत्न को हम 'मात्रा-स्पर्श' कह सकते हैं। सोम को 'विशुद्ध' करने के लिए

अशुद्ध, स्थूल, ग्राम्य तत्वों से अलग करके उसका बाष्पी-भवन- सुरा की तरह-- करना पडता है। कामना, वासना, लोभ वगैरह अशुद्ध तत्वों से मुक्त बने, इस सोमरस को चमु में से (छन्ने में से) निकाला जाता है, इस प्रकार कुछ एक सूक्ष्मतर अशुद्धियाँ दूर हो जाने पर उसे ज्योतिर्मय--गोमत् ओजस्वी- आशु, और बलवान्- युवाकु बनाया जाता है।

जो लोग देवताओं को सोम अर्पण नहीं करते, उन्हें वेद में 'पणि' के उपासक कहा गया है। अपने ही लिए और अपनी कामना तथा वासना तृप्त करने के लिए यत्न करनेवाले 'पणि' के उपासक हैं। इंद्रियभोग में खेपचे, रहनेवाले और अपने मर्यादित चैतन्य के क्षेत्र में बद्ध रहनेवाले, पणि देवताओं के विरोधी हैं। पणियों को वेद में 'सोमरस के अनधिकारी' कहा गया है। और सोम-यज्ञ करने की महत्ता 'आर्य' के लिए तो स्पष्ट है, क्योंकि सोम के आनन्ददायक असर के कारण मानव अपनी उच्चतम शक्यताओं को सिद्ध कर सकता है, तथा विरल आध्यात्मिक साक्षात्कार का अधिकारी बनता है। इंद्र सोमरस के आनन्ददायी उद्रेक से आर्य के विरोधी अविद्या शत्रुओं का विनाश करता है, और उसी की सामर्थ्य से आर्य की आध्यात्मिक संपत्ति का वह दस्युओं से रक्षण करता है।

सोम शब्द सु-'प्रसव, जन्म देना-' इस धातुसे बना है। सविता-'विश्व को जन्म देनेवाली सर्जक शक्ति--' भी इसी धातु से व्युत्पन्न होता है। इस प्रकार 'सृजन' और उस के मूल में रहा हुआ आनन्द-सोम, इन दोनों अर्थों को बतानेवाले शब्द एक ही धातु में से आए हैं।

सोम को ९-१-३ में इंद्र की तरह वृत्रहंतम -अज्ञानरूपी, अचेतनारूपी, सर्वव्यापी, तमोगुण से भरे हुए वृत्र को मारनेवालों में अग्रेसर और (९-२-८) में ऊलोककृत्नु- ऊर्ध्वलोक को, अर्थात् चैतन्य की उच्च भूमिकाओं का बनानेवाला कहा है।

इसी तरह, अग्नि की तरह सोम भी कविक्रतुः 'ऋषि जैसी क्रांत दृष्टिवाला, (९.९.१) और सुसमिद्धो विश्वतस्पति-'सुसमिद्ध हुआ, वह सब का शासक है। (९-५-१) सोम सुक्रतु अर्थात् 'विशुद्ध तपःशक्तिवाला' कविः-क्रांतदर्शी (९-१२-४) है और पावक-- विशुद्ध करनेवाला (९-२४-६) भी है। वह अमित्र हा-- 'दुश्मनों का विनाशकर्ता' और विचर्षणिः- 'महान् कुशल कार्यकर्ता' (९.११-७) है।

दूसरे देवों की तरह सोम भी धियाहितः अर्थात 'बुद्धिद्वारा प्रेरित' (९.२५.२) है। सोम का अर्थ सुरा करें, उसे '**बुद्धिद्वारा**' नहीं, परन्तु उसके अभावद्वारा ही प्रेरित कह सकते हैं।

सोम मनसस्पति (९.२८.१) अर्थात् 'मन का स्वामी' है; विश्ववित् (९.२८.५) 'सारे विश्व का जाननेवाला' है। यह सोम विश्वाधामान्याविशत् (९.२८.२) अस्तित्व की सब भूमिकाओं में प्रवेश करता है। और कई भूमिकाओं में तो वह 'स्थिर आसन लेता है' ध्रुवे सदसि सीदति (९.४०.२) सोम का आनन्द जनयन्नप्सु सूर्यम्-- 'अस्तित्व के वेगवान् प्रवाह में ज्ञानरूपी सूर्य को जन्म देता है।' (९.४२.१) अग्नि की तरह सोम भी देवेषु जागृविः- देवताओं में जागनेवाला सदा सचेतन है (९.४४.३)। दिव्य धामकी यात्रा करनेवाले आर्य के लिए यह आनन्दरस, 'गातुवित्—रास्ता जाननेवाला, ऊर्ध्वगति का मार्गदर्शक' (९.४६.५) है। वह गोपा ऋतस्य अर्थात् सत्य की रक्षा करनेवाला है। (९.४८.४)

सोम को गोजित्, अश्वजित्, विश्वजित् अर्थात् 'तेजस्वी ज्ञानरश्मि को, सामर्थ्यपूर्ण शक्तिप्रवाहों को तथा सब पदार्थों को जीतनेवाला' [९.५९.१] कहा है। वरुण की तरह सोम भी 'रिशादा शत्रुहन्ता' (९.६१.१०) है। वह सहावान्–सामर्थ्यवान् (९.९०.३) और इंद्र की तरह वह 'पुर्भित्– शत्रुओं की नगरियों का भेदन करनेवाला है। (९.८८.४)'

ऊपर के विशेषण सारे नौवें मंडलमें से बिलकुल अलग अलग स्थलों से लिए हुए हैं, उनको पढ जाइए और फिर विचार कीजिए कि जिस सोम के ये विशेषण हैं, वह कहीं 'मद्य' अथवा सुरा हो सकती है?

अलग अलग विशेषणमात्र इकट्ठे करके सोम का कल्पित अर्थ बिठाने का प्रयत्न किया गया है, ऐसा शायद किसी पाठक को लगे, इस लिएऋचाओं के लंबे, पूर्ण अर्थ

भी देता हूँ। ऊपर जो संक्षिप्तता धारण की है, वह केवल विस्तार को कम करने के लिए ही की है।

(९.२३.२) में सोम के कार्य का उल्लेख करते हुए ऋषि कहता है, '**पदं नवीयो अक्रमु**' सोमने नवीन पद क्रमण किया तथा उसी ऋचा में कहता है, ' रूचे जनन्त सूर्यम्-अपनी ज्ञानज्योतिद्वारा सोमने ज्ञानसूर्य को जन्म दिया। फिर (९.३६.३) में सोम से, '**क्रत्वे दक्षाय**' अर्थात् ' विवेकशक्तियुक्त तपःशक्ति के लिए ' याचना की गई है। इंद्र और सूर्य की तरह सोम भी ' जनयद्रोचना दिवो-- अपनी ज्ञानज्योतिद्वारा आलोकित मनोमय द्यौ-भूमिका के उच्चतम शृंग को जन्म देता है। '

सोम केवल सुरा नहीं है, यह (९.२.१० में उसे '**आत्मा यज्ञस्य पूर्व्य**' यज्ञ का सनातन काल से स्थापित आत्मा कहा है, इस से स्पष्ट होता है।

सना च सोम जेषि च पवमान महि श्रवः।
अथा नो वस्यसस्कृधि ॥१॥
सनां ज्योतिः सना स्वर् विश्वा च सोम सौभगा।
अथा नो वस्यसस्कृधि ॥२॥ (९.४.१२)

अनुवाद- हे ' पावनकारी सोम ! हमारे लिए तू विशाल और प्राणदायक सनातन प्रेरणाओं का विजय कर अर्थात् विजय करके उन्हें हमें दे। हमको अपनी श्रेयरूपी संपत्तिका दान कर। यह सनातन ज्ञानज्योति और सनातन स्वर्लोक तथा सब प्रकार के आनन्ददायी आहलादक अनुभव, श्रेयरूपी अपनी संपत्ति का दान करके, हे सोम, तू हमको प्राप्त करा।

इसी सूक्त में आगे (९.४.३) में ऋषि कहता है, यह सनातन दिव्य शक्ति हमारी हो। हमें यह दिव्य तपःशक्ति (will) वरे! हमारे हिंसकों का हे सोम, तू विनाश कर।

यज्ञ का सनातन आत्मा, ज्ञानसूर्य को जन्म देनेवाला सनातन ज्योति को प्राप्त करानेवाला सोम केवल मादक सुरा है, यह मानना कितना आत्मविरोधी लगता है ? आगे (९.५.५) में—

उदातैर्जिहते बृहद्वारो देवी हिरण्मयीः पवमानेन सुष्टुताः।

अनुवाद- ' सोमद्वारा सुस्तुत सुवर्णमय, बृहत्, दिव्य द्वार चारों बाजुओं से ऊर्ध्व की ओर गति कर रहे हैं। '

यह ' ऊर्ध्व गति करनेवाले सुवर्ण के द्वार ' कौन से ? और ' सोम की सुस्तुतिद्वारा वे गति कर रहे हैं ' यह क्या? उपनिषद् ' में सूर्यलोक से परे के द्वारों को लाँघ कर जानेवाले आत्मा के ' विषय में जो उल्लेख है, उसके साथ क्या इस ऋचा का अर्थ नहीं मिलता ?

ऋग्वेद का सोम, ' **प्रत्नं निपाति काव्यम्** (९.६.८) प्राचीन काव्यछन्द का रक्षण कर रहा है,' यह ऋचा देखते हुए सोम का क्या अर्थ होना चाहिए ?

(९.८६.१०) में सोम को ' ज्योतिर्यज्ञस्य ' यज्ञकी ज्योति और पिता देवानाम्—देवताओं का पिता ' कहा है, और वह ' जनिता विभूवसु- सब प्रकारके संपत्तिदायक द्रव्यों का भी जनिता ' है। मद्यपान यज्ञ की ज्योति नहीं, देवों का पिता भी नहीं और संपत्ति का जनिता तो नहीं, परन्तु उच्छेदक ही है।

तमु त्वा वाजिनं नरो धीभिर्विप्रा आवस्यवः। मृजन्ति देवतातये ॥

अनुवाद- 'हे संपत्तिशाली सोम ! अपने अंदर देवताओं का विस्तार हो, ऐसी इच्छावाले, रक्षण के लिए उत्सुक तथा ज्ञानज्योति से युक्त सामर्थ्यवान् पुरुष तुझे बुद्धिद्वारा विशुद्ध करते हैं ' (९.१७.७)।

यह बुद्धि से विशुद्ध किया जानेवाला सोम कौनसा होगा ? और ९. ४४. २ में कहा गया ' मतिजुष्ट '- मतिद्वारा प्रसन्न होनेवाला सोम, मद्य कैसे हो सकता है? (९. ५६. १) में **परि सोम ऋतं बृहत् आशुः पवित्रे अर्षति विघ्नन् रक्षांसि देवयुः।** देवताओं में जाने को उत्सुक सोम, राक्षसोंका वध करके पावन करनेवाले (छन्ने) में होकर वेगपूर्वक विशाल, अनन्त ऋत के चारों ओर घूमता है। '

' **ऋतं सत्यं बृहत्** ' ये तीन पद वेद में बहुत दफा इकट्ठे आए हैं। उनका अर्थ देखते हुए (ऋतं) सत्य का क्रियात्मक स्वरूप—सक्रिय स्वरूप है। उसका आदि, उत्पत्तिस्थान मनोमय भूमिका--द्यौसे पर सूर्यलोक में विज्ञान की भूमिका में आया हुआ है। विज्ञान के ज्ञानसूर्य की अस्खलित क्रियाशक्ति, और विश्व में कार्य करनेवाले नियमरूपी उसका क्रियाशील स्वरूप इसे वेद में (ऋतं) कहा गया है। बृहत् अर्थात् अनन्त;

उपनिषद् में भूमा शब्द आया है, वह इस बृहत् का सूचन करने के लिए आया है ।

ऊपर (९. ५६. १) में ऋतं बृहत् का अर्थ 'अनन्त और क्रियात्मक सत्य' ऐसा होता है । ऋतं बृहत् के चारों और सोम घूमता है,' ऐसा ऋचा में कहा है, उसका स्पष्ट अर्थ यह है कि, अनन्त, क्रियाशील सत्य के चारों ओर सोमरस का आनन्द घूमता है ।' क्रियाशील अनन्त सत्य में सर्वत्र आनन्द की प्राप्ति होती है, ऐसा उसका भावार्थ है । ऐसा सोमरस कलाल के यहाँ मिलता हो, ऐसा कभी देखने में नहीं आया ।

ऊपर जो अर्थ किया गया है, उसका स्वतन्त्र समर्थन (९. ६१. १६) से मिलता है—

" पवमानो अजीजनत् दिवःचित्रं न तन्यतुम् । ज्योतिः वैश्वानरं बृहत् । "

अनुवाद- 'पावन करनेवाले सोमने विविध प्रकार की वैश्वानर--विराट पौरुषवाली--अनन्त (ज्ञान) ज्योति को जन्म दिया, वह मानों अपना मूर्त स्वरूप प्रकट करने के लिए ।'

आध्यात्मिक भूमिका के सिवाय सोमरस और कहाँ बृहत् ज्योति को जन्म दे सकता है ?

(फिर ९. ६६. २४) में **पवमान ऋतं बृहत् शुक्रं ज्योतिः अजीजनत् । कृष्णा तमांसि जङ्घनत्**–काले तमों (अंधकारों) का नाश करके, पावन करनेवाले सोमने तेजःस्फुरित सत्य और अनन्त ज्ञानज्योति को जन्म दिया,' इस प्रकार कहा गया है । यहां जो तमांसि है वह और (९. ५६. १) में 'रक्षांसि' कहा है । ये दोनों शब्द एक ही अर्थका सूचन करते हैं; और राक्षस अंधकार, तम, अविद्याशक्ति के सूचक हैं, यह बिलकुल स्पष्ट होता है । परिणामस्वरूप, इस तमः-स्वरूप अज्ञान का-- राक्षसों का विनाश करके जिस ज्योति को सोम प्रकटाता है, वह ज्योति 'ज्ञान' स्वरूप ही हो सकती है, यह निर्विवाद है ।

अब भी सोम यह मद्य ही है, ऐसा संशय जिनको रह गया हो, उनके लिए (९. ५९. ३) ऋचा का यहां अवतरण किया जाता है, उसका निष्पक्षपातदृष्टिसे विचार करने का प्रयत्न करना चाहिए ।

त्वं सोम पवमान विश्वानि दुरिता तर । कविः सीद नि बर्हिषि ।

अनुवाद-- हे पवित्र करनेवाले सोम ! तू सब दुरित --असत्य के प्रति होनेवाली स्खलित गतियों को और क्रियाओं को तैर कर पार जा, हे क्रांतदर्शी सोम ! तू हमारी आहुति लेने को आसन पर बैठ ।'

इसमें भक्ष्यपान करने की बात कहाँ है ? इस सोम-द्वारा तो मानव 'दुरित से'-- असत्य, अविद्यामय आचार से बचता है ! इसके द्वारा तो कवित्व प्राप्त करता है । वह सोम मद्य कैसे हो सकता है ? इस सोम का वर्णन करते हुए (९. ६०. १०) में ऋषि कहता है, **इन्दुः पविष्टः चेतनः प्रियः कवीनां मतीः सृजदश्वं रथीरिव**-- चैतन्ययुक्त और प्रिय सोम यजमान में (मानव में) कविकी मति, क्रांतदर्शी प्रतिमा जागृत करता है । जैसे कोई रथी अश्वों को उत्पन्न करे वैसे । यहां सोम को चेतन--चैतन्य-युक्त कहा है, उसका यदि सूचक अर्थ न लें, तो उसका अर्थ लगाना भी अशक्य हो जाता है ।

आगे (९. ६४. २०) में सोम को '**ऋतस्य योनिं आशु सीदति**- सत्य के मूल धाम में शीघ्र जाकर बैठता है,' ऐसा वर्णित करके पीछे से ऋषि कहता है, '**जहाति अप्रचेतसः**- यह सोम अचेतन लोगों का त्याग करता है ।' अर्थात् जो ज्ञानयुक्त, चेतनवान् होते हैं, उनमें ही सोमका आनंद सत्य भूमिका को प्राप्त करके वहां स्थिर आसन लेता है, उन में चिरस्थायी बनता है; परन्तु जो अज्ञानी, चेतनरहित होते हैं, उनको यह सोमरूपी आनन्द त्याग कर जाता है ।

अब मद्य की बाबत तो इससे उलटा ही होना अधिक योग्य और वास्तविक है, क्योंकि अचेतन-अज्ञान और मूर्ख लोगों में ही यह '**अधम सोम**'-मद्य-अधिक जल्दी जाता है और अपने को स्थापित कर देता है, ऐसा दुनिया का अनादि काल से अनुभव है ! और अधिक सबल प्रमाण सोम का सूचकत्व सिद्ध करने के लिए चाहिए, तो (९-७०.१) देखिए ।

त्रिःअस्मै सप्त धेनवः दुदुह्रे सत्यां आशिरं पूर्व्ये व्योमनि चत्वारि अन्या भुवनानि निर्णिजे चारुणि चक्रे ऋतैः अवर्धत ॥

अनुवाद— ' पोषण देनेवाली सात धेनुओंने इस सोम

के खातिर तीन तीन दफा अपना सत्य और कल्याणकारी दूध दिया; तो भी जब सत्यद्वारा यह सोम वृद्धि पाता है, तब अपने पोषणके लिए दूसरे चार भुवनों को (भूमिकाओं को वह उत्पन्न करता है।

इस ऋचा में 'धेनु' का सूचक अर्थ भले कुछ भी हो, 'भुवनों' और 'ऋत' ये शब्द संज्ञार्थ आये हों या न हों, परन्तु यह एक बात निश्चित करता है, वह यह है कि इस ऋचा में जिस 'सोम' का वर्णन ऋषि करता है, वह 'मद्य' तो होही नहीं सकता! **सत्यद्वारा वृद्धि प्राप्त** करके तीनतीन वार सात धेनुओं का दूध पिया होने पर भी इस सोम को तृप्ति नहीं होती, अर्थात् दूसरे चार भुवनों को वह अपने आप उत्पन्न कर लेता है, ऐसा ऋषि का भावार्थ है, जो स्थूल 'सोम' के अर्थ में घटाना असंभव है, इसका रहस्यार्थ फिर कभी सुलझाने का प्रयत्न करेंगे– देखनेवाले को तो वह स्पष्ट मालूम पड जाता है।

और (९।७५।४) में तथा (९।७७।४) में भी सोम का स्थूल अर्थ संगत हो नहीं सकता। यह विद्वान् पाठक स्वयं देख सकते हैं, इसलिए उसका यहां केवल उल्लेख ही करता हूं। (९।८६।२१) में '**सोम हृदं पवते चारु मत्सरः**– अतिशय आनन्द देनेवाला चारु सोम हृदय में द्रवता है,' ऐसा स्पष्ट उल्लेख भी बता देता है कि सोम अंतःकरण की विशिष्ट क्रिया का, आनन्द की अनुभूति का सूचक है। नहीं तो स्थूल अर्थ में तो हृदय की जगह 'पेटमें' होना चाहिए।

(९-८६-२४) में भी इस सोमकी विशुद्धि करनेके विषय में ऋषि '**विश्वाभिः मतिभिः परिष्कृतः**' सब मतियों द्वारा शुद्ध हुआ, इस प्रकार कहता है; अर्थात् सोम की शुद्धि करने में भी अन्तःकरण की सूक्ष्म क्रिया ही मुख्य है, ऐसा उसका आशय है। आनन्द की विशुद्धि करने में मानवने अपनी सूक्ष्म मति का उपयोग करना चाहिए, यही इस की सरल अर्थ है।

(९.८६.२९) में सोमको '**त्वं समुद्रोऽसि**'– हे सोम! तू सागर-अनन्त है, ऐसा कहा गया है। और उसको '**राजा सिन्धुनाम्** (९।८६।३३) सिन्धुओंका राजा' ऐसा सम्बोधन भी आया है। अग्नि और इन्द्र की तरह सोम भी 'धिया मनोता प्रथमो मनीषी (९।९६।१) बुद्धिद्वारा–धीद्वारा मनमें चिंतित और मनीषियों में– विचारद्वारा ज्ञान प्राप्त करनेवालों में प्रथम है।' इस ऋचामें वर्णित सोम 'सुरा' या 'मद्य' कैसे हो सकता है।'

यह तो '**जनिता मतीनाम्**' (९।९६।५) 'मतिको जन्म देनेवाला' है। इतना ही नहीं पर 'जनिताऽग्नेः' सकल विश्वमें कार्य करनेवाली दिव्य तपःशक्ति को, 'अग्नि को जन्म देनेवाला' सोम अर्थात् आनन्द है! आर्य की उर्ध्व यात्राका राजा– वृजनस्य राजा (९।९७।१०) भी वह सोम–आनन्द–ही है।

अन्तमें सोमका मंडल पूरा करते हुए (९।११।३) में ऋषि कश्यप सोम का सूचितार्थ स्वयं स्पष्ट करता है, उसकी ओर पाठकों का ध्यान खींचता हूँ। कुछ भागों में सूत्र इतना तो स्पष्ट है कि सोम का अर्थ 'आनन्द' यानी 'अमृतत्व' के सिवाय दूसरा करना, यह तो असंभवितही है।

(९.११३.१)— वृत्र का वध करनेवाला इंद्र शर्मणावत में सोम का पान करे। आत्मा में बल की स्थापना करनेवाला वह महापराक्रम करेगा। हे ओजस्वी सोम! महान् इन्द्र के लिए सब बाजुओं से वहन करके तू आ।

सोमपान इन्द्रमें आत्मबल की– आत्मशक्ति की स्थापना करता है और उसे पराक्रम करने की प्रेरणा करता है।

(९. ११३. २) सब कामनाओं को परितृप्त करनेवाले, हे दिशाओं के पति सोम! विशुद्ध करनेवाले चमस–छन्ने में से हमारी तरफ वहन करो; ऋत वाचाद्वारा, सत्यद्वारा, श्रद्धाद्वारा और तपद्वारा अभिषुत हुए हे सोम! चारों बाजुओं से इन्द्र के लिए वहन कर।

(९. ११३. ३) सूर्यकी दुहिता श्रद्धा पर्जन्यद्वारा परिपुष्ट हुए महान सोम को स्वर्ग में से (हमारे पास) लाकर; उसको मुक्त करके आनन्द के संघरूपी गांधर्वोंने सोम में रस को स्थापित किया। हे सोम! इंद्र के लिए सब तरफ से वहन करके आ।

(९.११३.४) हे सत्य ज्योतिर्मय! हे सत्यकर्म! हे राजन्! ऋत का वहन करके, सत्य बोलकर, श्रद्धा को दृढ करके तुझे धारण करनेवाले के द्वारा अलंकृत हे सोम! तू इंद्र के लिए सर्वतः स्रवण कर।

दूसरी और चौथी ऋचाओं को निष्पक्षपातदृष्टि से देखिए। 'वाचाद्वारा, सत्यद्वारा, श्रद्धाद्वारा और तपद्वारा'–

सोम कैसा हो ? जो सोम सत्यज्योतिर्मय, सत्यकर्मवाला और सत्य और श्रद्धाद्वारा वहन करता हो, वह आनन्द के प्रतीकसिवाय दूसरा क्या हो सकता है ?

(९.११३.५)-- अनंत विशालता और सत्य उग्रता के स्रोत (सोमके) साथ वहन करता है; रसवाले--आनन्दवाले- तेरे रस साथ मिलते हैं; मंत्र द्वारा परिशुद्ध होनेवाले हे सोम! तू इंद्र के खातिर सब दिशाओं से वहन कर।

(९.११३.६)- हे विशुद्ध होनेवाले सोम ! विविध छन्दों में वाचा बोल कर, ग्रावा से-अभिषव करके-सोमद्वारा-आनंद को जन्म देकर, जहां वेद के मंत्र सोम में महान् बनते हैं वहां हे सोम ! तू इंद्र के लिए सब तरफ से बह आ।

(९.११३.७)- जहां अविनाशी ज्योति हो, जिस लोक में स्वर्लोक की प्रतिष्ठा हो, उस अमृत लोक में हे पावन होने- वाले सोम ! तू मुझे स्थापित कर। हे इन्दु ! तू इंद्र के लिए स्रवण कर।

(९.११३.८)- जहां विवस्वत का पुत्र-सूर्य का पुत्र-राजा हो, जो स्वर्लोक का प्रवेश-द्वार हो, जहां इस सामर्थ्यवाले सरिताओं के प्रवाह की प्रतिष्ठा हो; वहां मुझे अमर बना ! हे सोम ! इंद्र के लिए तू सब तरफ से बह कर आ।

(९,११३.९)-- त्रिदिवके-- स्वर्लोक के-सबसे उच्च तृतीय स्थान में, सूर्य का--स्वर्लोक का--सब कामनाओं को संतुष्ट करनेवाला लोक आया है, जहां लोक ज्योतिष्मान् है, ऐसे प्रदेश में हे सोम ! तू मुझे अमर करके स्थापन कर। हे इन्दु ! इंद्र के लिए चारों ओर से स्रोत बहा।

(९.११३.१०)--जहां काम्य पदार्थ और अति इष्ट काम्य हेतु हों, जहां सृष्टि दृढ प्रतिष्ठावाली हो, जहां स्वभाव हो, जहां परम संतोष-तृप्ति-हो, उस लोक में मुझे अमर बना ! हे सोम ! इंद्र के लिए तू परिश्रवण कर।

(९.११३.११)- जहां आनन्द हैं, मोद हैं, मुदा हैं, प्रमोद हैं, जहां कामनाओं की भी कामना आप्त होती हैं वहां हे सोम ! तू मुझे अमर बना। हे इन्दु ! इंद्र के लिए तू चारों ओर से बह आ।

इस सूक्तका दूसरा अर्थ करने को भले ही कितने प्रयत्न किए जाय, पर उनके सफल होने की संभावनाही नहीं। सोम का अर्थ आनन्द सत्यप्राप्ति का परम फल परम आनंद है। यह आनन्द स्वयं भी चेतना को सत्यगामी कर सकता है। और सत्यके अनुसरण का यह स्वयं परिणाम भी होता है। सब वक्र गतियों को--दुरित को आनन्द ऋजु करता है। जैसे सत्य से आनन्द प्राप्त किया जा सकता है, वैसे ही आनन्दद्वारा सत्य प्राप्त किया जा सकता है।

सोमकी महिमा द्वारा सत्य की ज्योतिर्मय विपुलता और अनन्त चेतना की विशालता प्रकट होती है। इसकी प्राप्ति करने से मनुष्य को अमरता प्राप्त होती है। अमरता- अमृतत्व का मतलब शारीरिक मृत्यु से छुटकारा नहीं; परन्तु 'मैं मर्त्य हूँ' इस परिमित चेतना में से मुक्ति और 'मैं अनन्त हूँ' ऐसी बृहत् चेतना का साक्षात्कार।

सोम अमरता का प्रतीकरूप प्रकट होनेवाला पदार्थ है, यह आनन्द का रूपक है, मानवजीवन में, सचमुच जड- चेतन सब में व्याप्त जीवन का गूढ रस है। जीवन में ऐसा प्रच्छन्न रस न हो, तो जीवन टिकभी कैसे सकता है ? जब वह मानव में प्रकट होता है, तब इन्द्रियों में मिलनेवाले आनन्द का रूप लेता है। वह जब परिशुद्ध होता है, तब उच्च आध्यात्मिक आनन्द और अमृतत्व का सूचक बनता है।

ऋग्वेद ९ वें मण्डल के ११३ वें सूक्त में इस प्रतीकको द्रष्टाने स्फुटतौर पर पेश किया है और वेद के प्रतीकों का परदा आधेसे भी ज्यादह ऊंचा कर दिया है। वेदके ही एक द्रष्टाने कहा है, **'जायेव पत्य उशती सवासाः'** जैसे प्रेमभरी पत्नी अपने पतिको सुवस्त्रोंसे आच्छादित अपना देह बताती है, उसी तरह यह **'निण्या वचांसि'** वेदकी गूढ वाणी- उसके जाननेवालों को अपना रहस्यार्थ प्रकट करती है।

---

(२)

यह ' घृत ' कौनसा है ?

वेद यानी कर्मकाण्ड, वेद यानी यज्ञ और उसकी विधि, वेद यानी मन्त्रद्वारा देवताओंकी स्तुति यह पुराने विचारवाले शास्त्रियों और पण्डितोंका मत है। वेद यानी मानवजातिकी प्राथमिक दशामें लिखे गए काव्यों का संग्रह, आर्यअनार्यों के झगडों का वर्णन और प्रकृति के तत्वों से आश्चर्यचकित हुआ मनुष्य जब वर्षा, वायु, अग्नि वगैरहकी पूजा, स्तुति करता था, उस हालतमें लिखे गए काव्य यह है आधुनिक विद्वानों का मत।

इस प्रकारके दोनों मतोंका सार एकही आता है। परिणामस्वरूप 'वेदमें किसी प्रकारकी विशेषता नहीं, वेदोंकी कोई महत्ता नहीं,' ऐसी मान्यता आजकल प्रचलित है। तो भी ऊपर कही मान्यताओं में सन्देह पैदा करनेवाले कुछ प्रमाण मिल आते हैं। उन सबको देनेका यह स्थान नहीं है। वेदकाल में यज्ञ करनेकी विधि प्रचलित थी और यज्ञकी विधि पर वेदकी ऋचाएँ मार देती हैं। इस यज्ञ में तीन प्रकारके द्रव्योंका होम होता था? घृत-घी, २ पय--दूध, ३ सोम और चौथा द्रव्य पुरोडाशभी गिना जा सकता है।

इस लेखमें घृतका यज्ञमें प्रयुक्त होनेवाले हुतद्रव्य के तौरपर अध्ययन करनेका प्रयत्न है। यजुर्वेद, उपनिषद् और उनके पीछेके कालमें रचे गए ग्रंथोंमें से हमको यह मालूम होता है कि यज्ञकी विधि स्थूल स्वरूपमें प्रचलित हो, यह बहुत संभवित है। ऋग्वेदके कालमें भी उसी तरहकी यजनविधि प्रचलित हो, यह असंभवित नहीं।

इस संभाव्यता को स्वीकार कर लेने पर भी यह प्रश्न तो रहता ही है कि, ऋग्वेद में 'घृत' 'घी' शब्द क्या स्थूल द्रव्यके अर्थमें ही प्रयुक्त हुआ है? पाठकोंका ज्यादह समय न लेते हुए और दूसरे प्रमाण देनेसे पहले मैं वामदेव ऋषिका एक सूक्त देता हूँ।

ऋग्वेद मण्डल ४, सूक्त ५८

ऋचा पहली।

समुद्रात्-- ऊर्मी-- मधुमान्-- उत्-- आरत्--उप अंशुना-- सं-- अमृतत्वं-- आनट्। घृतस्य-- नाम-- गुह्यं-- यत्-- अस्ति-- जिह्वा-- देवानां-- अमृतस्य-- नाभिः॥

पद--अर्थः समुद्रात्- समुद्रमें से, ऊर्मीः-- ऊर्मि लहर; मधुमान् मधुवाली, मिष्ट, आनन्दकारी; उत्- ऊपर, ऊर्ध्वके प्रति, आरत्-- गति करती है, जाती है; उप-- समीप में, पास; अंशुना-- किरणद्वारा; अमृतत्वं-- अमृतत्वको, अमरता को, अखण्ड आनन्द को; समानट्-- साथ बह आती है, साथ ले आती है; घृतस्य-- घृतका नाम नाम; गुह्यं छिपा हुआ, रहस्ययुक्त; यत्- जो; अस्ति है; जिह्वा जीभ; देवानां देवताओं की; अमृतस्य अमृत की, आनन्दकी, नाभिः प्राणका आधार रूप केन्द्र, नाभि।

अनुवाद-- सागरमें से मधुमान् ऊर्मि ऊर्ध्व (लोक) की ओर गति कर रही है- ज्योतिर्मय किरणोंद्वारा अमृतत्व को अपने साथ वहन करती हुई; घृतका जो नाम गुह्य है, वह देवताओं की जिह्वा है, अमृत की नाभि है।

समुद्र का अर्थ है सागर, प्राच्यविद्याविशारदों के मत से 'हिन्द महासागर' अथवा 'बंगालकी खाडी'। ठीक, खारे समुद्र की ऊर्मि मधुमान् होकर ऊर्ध्वगति कर रही है, इसका क्या अर्थ? खारा पानी हिन्दकी जमीनपर चढ आता था क्या ऐसा अर्थ करना? और वह 'मधुवाला' था ऐसा समझना?

इस खारी, तो भी मधुवाली ऊर्मि का और 'अमृतत्व' का क्या सम्बन्ध? और फिर घृत यह घी का सुविदित नाम है, तो फिर गुह्य नाम कौनसा? यह छिपा घृत देवताओं की जिह्वा है— अर्थात् उनका आस्वाद लेनेका कारण है। यह गुह्य घृत अमृतत्व की नाभि अर्थात् प्राण का केन्द्र है। इन दोनों की प्रचलित मतके अनुसार संगति कैसे हो सकती है?

क्या इस प्रकार इसकी संगति हो सकती है? अवचेतना की अनन्त क्रियाओं का समूह रहा समुद्र, उसकी मधुमान् ऊर्मि हुई उसमें से प्रकट होनेवाला आनन्द। सारे वेदमें 'मधु' यह आनन्द का सूचक है और यह

बिलकुल संगत है। आनन्द ही अमृतत्व है। घृतका छिपा नाम 'मधु' आनन्द है। छिपा यानी गुह्य, क्योंकि अवचेतनामें से वह स्फुरित होता है— मनुष्यको उसका भान नहीं होता। देवता इस आनन्दद्वारा जगत् का आस्वाद लेते हैं, इसीसे वह उनकी 'जिह्वा' है। अमृतत्व प्राप्त करने का केन्द्र घृत-मधु स्वयं है; आनन्द ही अमृतत्वकी नाभि है, उसका प्राणभूत केन्द्र है।

ऋचा दूसरी।

वयं नाम प्रब्रवाम घृतस्य अस्मिन् यज्ञे धारयाम नमोभिः। उप ब्रह्मा शृणवत् शस्यमानं चतुःशृङ्गः अवमित् गौर एतत् ॥

पद-अर्थ- **वयं**-हम; **नाम**-नाम; **प्र**-विशेष करके, भारपूर्वक, अभीप्साके साथ; **ब्रवाम**:- उच्चारण करते हैं, प्रकट करते हैं; **घृतस्य** घृतका; **अस्मिन् यज्ञे**- इस यज्ञ में, यजनक्रिया में; **धारयाम**:-हम धारण करते हैं (मन-द्वारा) धारणा में, धारण करते हैं, स्थिर करते हैं; **नमोभिः**-नमस्कृतियों द्वारा, समर्पण की सूचक स्थूल प्रणिपातकी क्रिया द्वारा; **उप**- समीप में; **शृणवत्** -श्रवण करो, समीप में आकर सुनो, अर्थात् ध्यानपूर्वक सुनो; **ब्रह्मा**- (मानव में रहनेवाला) सर्जक शक्ति का अधिष्ठाता देव; **शस्यमानं**- ऋचारूपी स्तुति; **चतुःशृङ्गः**- चार सींगवाला; **अवमित्**- वमन किया हुआ है— प्रकट किया हुआ है, अथवा तो ('मा' to measure से) घडा हुआ" नाप के अनुसार तैयार किया हुआ है; **गौरः**-श्वेत और वृषभ, दोनों अर्थ होते हैं; **एतत्**- यह (ऋचा)।

अनुवाद- घृत के इस गुह्य नाम को हम प्रकट करते हैं; इस यजनक्रिया में नमस्कृतियों द्वारा हम उस (नाम) को धारण करते हैं। सर्जक शक्ति के अधिष्ठाता हमारे पास आकर इस स्तुति को सुनो; चतुःशृंगी श्वेत वृषभने उसको प्रकट किया है- उच्चारित किया है।

'नमस्कार' द्वारा घृतके इस नामको ऋषि धारण कर रखता है। चार शृंगवाला यह वृषभ कौन है ? सायणाचार्य कहता है, 'चार वेद'। यह कैसे हो सकता है? ऋग्वेद के काल में तो दूसरे तीन वेदों का होना असंभवित है— खास करके अथर्ववेद। ऋचाओं का उद्गार करनेवाला वृषभ क्या 'पशु' हो सकता है?

ऋषि का भावार्थ इस प्रकार प्रतीत होता है— जीवनमें अवचेतना (The subconscious) में से जीवन का मिलनेवाला आनन्द—मधुयुक्त ऊर्मि हम प्रकट करते हैं, जो आनन्द अवचेतनामें रहा है, उसको हम आगे लाते हैं, और जीवनरूपी यज्ञ को नमस्कृति अर्थात् समर्पण की सूचक क्रियाद्वारा धारण करते हैं। जीवनरूपी यज्ञ की चेतनाग्नि ही चार शृंगवाला वृषभ है। 'वृषभ' यह दिव्य पुरुषचैतन्य का सूचक है।

ब्रह्मा अन्तरात्माकी सतत जागृत आध्यत्मिक अभीप्सा का वाङ्मयस्वरूप है। विराट् में वही सर्जकशक्ति विश्व को रचती है। मानव के अन्तरात्मा में सर्जन शक्ति भी वही है। वामदेव ऋषि अपने अंदर इस शक्ति को जागृत करते हैं और अभीप्साकी, अग्नि की प्रदीप्त प्रेरणाद्वारा जगाए हुए सत्य को जो शब्द-शरीर प्राप्त हुआ है, उसको संपूर्णता प्राप्त करानेके लिए 'ब्रह्मा' से प्रार्थना करता है।

मंत्र अर्थात् ऋचा बुद्धिद्वारा उपजाए हुए केवल तर्क या विचार नहीं; मंत्र के लिए दूसरी शक्ति की जरूरत है। उसे १- स्मृति याने Intuition २- श्रुति- Inspiration ३- दृष्टि- Revelation कहा जाता है। मनोमय भूमिका के उच्च स्तर में मन से परे जो ज्ञानमय- विज्ञान- की भूमिका है, उस का स्मरणशक्तिकी तरह उतरना 'स्मृति' है। स्वयंभू किसी सत्य का शब्दरूप अंतरात्मा में प्रकट होना इसका नाम 'श्रुति' है, क्योंकि हम उसे अंतर की सूक्ष्म कर्णेन्द्रिय द्वारा सुनते हैं। स्थूल दृष्टि की तरह सूक्ष्म और ऊर्ध्व भूमिका में सत्य का प्रत्यक्ष दर्शन 'दृष्टि' कहलाता है।

ऋचा तीसरी।

चत्वारि शृङ्गा त्रयः अस्य पादाः द्वे शीर्षे सप्त हस्तासः अस्य। त्रिधा बद्ध वृषभः रोरवीति महः देवः मर्त्यान् आ विवेश ॥

पद-अर्थ- **चत्वारि**-चार; **शृङ्गा**-सींग; **त्रयः**-तीन; **अस्य**-इसके; **पादाः**-पाँव; **द्वे**-दो; **शीर्षे**-मस्तक; **सप्तहस्तासः**- सात हाथ; **अस्य**- इसके; **त्रिधा**- तीन प्रकारसे; **बद्धः**-बँधा हुआ, पाश में पडा हुआ; **वृषभः**- वृषभ, **रोरवीति**- नाद करता है; **महः**- महान्; **देवः**- देव, **मर्त्यान्**-मर्त्यमें, मानव में; **आविवेश**- प्रविष्ट

हुआ है।

अनुवाद- चार सींगोंवाले उस वृषभ के तीन पैर, दो सिर और सात हाथ हैं; तीन प्रकारसे बांधा हुआ वह नाद करता है; मर्त्य में महान् देवने प्रवेश किया।

यह विचित्र वृषभ कौनसा है? 'वृषभ' के ऊपर एक स्वतंत्र निबंध लिखना होनेसे विस्तार नहीं किया गया। इतना तो स्पष्ट है कि वृषभ की उपमा साहित्य के युग में भी कायम रही है; आज भी प्राकृत भाषाओं में उसका उपयोग होता है। 'वृषभ' पुरुषत्व का सूचक है; वेदमें वह पुरुषत्ववाचक संज्ञा है। यदि सामान्य पशुके अर्थ में लें तो उसके सात हाथ कहां से हो सकते हैं? इसलिए यह सारी ऋचा संज्ञारूपमें ही लेनी चाहिए- दूसरा अर्थ संभव ही नहीं।

अच्छा, तो ये '**चार सींग**' कौनसे हैं? शृंग पशु-शरीर का सब से ऊंचा भाग है। और यह वृषभ तीन प्रकार से बँधा हुआ है- अधिक या कम प्रकारसे नहीं! इन तीन बंधनों में पडा पडा यह नाद करता है।-- बेशक छूटने के लिए। यह वृषभ क्या है? ऋचा कहती है 'मनुष्य में प्रविष्ट हुआ देव'। मनुष्य में रहनेवाला पुरुष यानी पुरुषचैतन्य यही वृषभ है। वैसे तो वह दिव्य पुरुष है, परन्तु मानव में १- शरीर, २- प्राण और ३- मन, इस प्रकार तीन प्रकार के बंधनों में बंधा हुआ वह नाद कर रहा है! ऋचाओं का श्रवण करके ऊर्ध्वलोक की ओर जाने का प्रयत्न कर रहा है। मन, प्राण और शरीर ये तीनों जैसे उसको बंधनकारक हैं, वैसे ही ये तीनों उसके पादरूप बने हुए उसको खडा रखते हैं- उसको टिका रखते हैं। पुरुष और प्रकृति ये दो उसके शीर्ष विराट् में आविर्भाव प्राप्त कर रहे हैं-दोनों रूप से वह एक है। और चार 'सींग' १- सत्, २- चित्, ३- आनन्द और ४- विज्ञानकी ऊर्ध्व भूमिकाएँ हैं। जीवन में- समस्त विराट् विश्वमें- व्यष्टि और समष्टि दोनों में जो सात तत्व अनन्त क्रिया-रूपमें प्रकट हो रहे हैं, वे इस अनन्त वृषभ के 'सात हाथ' हैं। क्योंकि सात भूमिकाओं द्वारा वह काम करता है। 'हस्त' क्रियाशीलता का सूचक है। वह वृषभ क्यों नाद कर रहा है? जीवनमें अपने अन्दर रहे हुए देवत्व प्रकट करने के लिए।

इस स्थान पर उपर्युक्त ऋचा- ४।५८।३ से मिलती जुलती ऋग्वेद की कई ऋचाएँ याद आ रही हैं। उनका अवतरण देने का लोभ मैं रोक नहीं सकता। विश्वामित्र ऋषि, (३।५६।३ में) कहते हैं—

त्रिपाजस्यो वृषभो विश्वरूप उत त्र्युधाः पुरुध प्रजावान्। त्र्यनीकः पत्यते महिनावान्त्स रेतोधा वृषभः शश्वतीनाम्॥

अनुवाद-- विश्वरूप-विराट् यह वृषभ तीन प्रकारके बल से युक्त है और उसके तीन ऊधस् हैं। अनेक तरह की प्रजावाला, तीन स्वरूप (समूह) वाला, महिमावान् और शश्वती में उत्पत्ति करनेवाला (अनन्त काल में सृष्टि का सर्जन करनेवाला) यह वृषभ आता है।

और, मंडल ४।५।३ में भी इसी प्रकार का वृषभ दिखाई देता है—

साम द्विबर्हा महि तिग्मभृष्टिः सहस्ररेता वृषभ-स्तुविष्मान्। पदं न गोरपगूळ्हं विविद्वानग्निर्मह्यं प्रेदु वोचन्मनीषाम्॥

अनुवाद-- 'तीक्ष्ण तेजवाला, सहस्ररेतस्, बलवान् और गाय का गुह्य-छिपा-कदम जाननेवाला जो वृषभ-अग्नि, पुरुषरूपमें ऋषिको मनीषा (विचारणाशक्ति) देता है। वह भी पशु तो होही नहीं सकता! (मंडल ७।१०१।६ में) वसिष्ठकुमार की ऋचा अधिक स्पष्ट है—

स रेतोधा वृषभः शश्वतीनां तस्मिन्नात्मा जगतस्तस्थुषश्च। तन्म ऋतं पातु शतशारदाय यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥

अनुवाद-- '**शश्वती में**'- कालकी अनन्ततामें-रेतका सिंचन करनेवाले (पुरुषरूप) इस वृषभ के अंदर **आत्मा, स्थावर** और **जंगम** सब चराचर समाया हुआ है। उसका क्रियाशील सत्य (ऋत) शतवर्ष तक मेरा रक्षण करे। हे विश्वदेव! तुम अपनी कल्याणकारी शक्ति देकर सदा हमारा रक्षण करो।

इस ऋचामें 'आत्मा' शब्द बिलकुल स्पष्ट होने से 'वृषभ' का अर्थ करने में किसी प्रकार का संदेह नहीं रहता।

ऋचा चौथी।

त्रिधा हितं पणिभिः गुह्यमानं गवि देवासः घृतं अनु अविंदन्। इन्द्रः एकः सूर्यः एकं

जजान वेनात् एकं स्वधया निःततक्षुः ॥

पद-अर्थः- **त्रिधा**-तीन प्रकारसे; **हितं**- रखा हुआ; **पणिभिः**-पणियों द्वारा; **गुह्यमानं**-छिपा, छिपाया हुआ; **गवि**- गायमें; **देवासः**- देवता; **घृतं** घृतको; **अनु अविंदन्**- के पीछे पडकर, की खोज करके प्राप्त किया, ढूँढ निकाला। **इन्द्रः**- इंद्रने; **एकः** एकको; **जजानः**-- उत्पन्न किया, जन्म दिया; **वेनात्** आनन्दमें से, सोममें से; **एकः**- एक; **स्वधया** अपनी प्रकृति द्वारा; **निःततक्षुः**- घडा।

अनुवाद- तीन प्रकारसे रखे हुए और तीन प्रकारसे पणियोंद्वारा छिपाये हुए, इस घृतको देवताओंने ढूँढ कर गौके अन्दर प्राप्त किया। एकको इन्द्रने जन्म दिया, एक को सूर्यने। और वेनमें से-- सोमके आनन्दरसमें से-- प्रकृति की सहायताद्वारा देवताओंने तीसरे को तैयार किया।

वेदमें आर्यलोगोंकी गौएँ पणि लोग चुरा ले जाते थे, यह रूपक बहुत जगह आया है। उसका रहस्य भी अव्यक्तरूपसे इस ऋचाद्वारा स्पष्ट होता है। **गाय में** भला तीन प्रकारका कौनसा 'घृत' पणिलोग छिपा सकते हैं ? दूधमें से दही और घृतकी सुविदित क्रियाओंके विषय में यह ऋचा ली जा सके, ऐसी बात नहीं है। क्योंकि पणि उसका तिरोभाव कर सकें, यह कल्पनातीत है। पणिलोग जिस घृतको गायके अन्दर '**तीन प्रकार**' से छिपा सकें, उस घृतका स्थूल अर्थ शक्य ही कैसे हो सकता है ? और आगे ऋषि कहता है, 'एक प्रकार' के घीको इंद्रदेवने जन्म दिया, एक को सूर्यने यह कैसे होगा ?

वास्तव में, इस ऋचामें जिस 'गाय' के बारे में ऋषिने कहा है, वह गाय 'अदिति' है। अदिति वेदमें अनेक जगह 'अनंतता की गाय' के तौर पर अनंत चैतन्य के सूचक के तौर पर प्रयुक्त शब्द है। पुराणों में भी 'देव और दानवों की माता' अदिति का जो उल्लेख है, वह भी इस अनन्त चैतन्य का ही सूचक है। जिसमें से आसुरी और दैवी संपत्तिवाले प्रकृतिस्वरूप प्रकट हुए हैं।

फिर, पणि मानवशत्रु हों या न हों, वे आंतर शत्रु तो हैं ही। सायणाचार्य 'घृत' का अर्थ 'उदक' करते हैं। और उस पर से युरोपियन विद्वान् 'नदियों को तीन प्रकारके बाँध' द्वारा बाँध कर पानी रोकने का अनुमान करते हैं ! परन्तु यह कितना असंभवित है, यह अगली ऋचाओं से स्पष्ट हो जायगा। और इस ऋचामें भी, तीन प्रकारसे बंद किए हुए जलके स्रोतों को पणियोंने गायके, अंदर (गवि) कैसे छिपा दिया, इस प्रश्नका ठीक जवाब नहीं मिल सकता। इस ऋचा का अर्थ आगे दिया है।

ऋचा पाँचवी।

एताः अर्षन्ति हृदयात् समुद्रात् शतव्रजाः
रिपुणा न अवचक्षे। घृतस्य धाराः अभि
चाकशीमि हिरण्ययः वेतसः मध्य आसाम् ॥

पद-अर्थ-- **एताः**-- ये; **अर्षन्ति**- गति करती है, जाती हैं; **हृदयात्**- हृदयमें से; **समुद्रात्**-- समुद्रमें से; **शतवृजाः**- अनेक मार्गों से गति करनेवाली; **रिपुणा**- दुश्मन द्वारा; **न**- नहीं; **अवचक्षे**- दृष्टिमें नजर में आवे, इस प्रकार; **घृतस्य**- घृतकी; **धाराः**- स्रोत, प्रवाह धाराओं को; **अभिचाकशीमि**-- मैं देखता हूँ; **हिरण्मयः**- सुवर्णमय, तेजस्वी, **वेतसः**- वेतस् बेंत; **मध्ये**- में; **आसाम्**- जलके घृतस्रोतों के (अन्दर)।

अनुवाद- हृदयसागरमें से सौ सौ मार्गों द्वारा ये घृतस्रोत बहते हैं। रिपु के कार्य के कारण (रुद्ध हुए) वे चक्षुओं द्वारा देखे नहीं जा सकते। घृतके स्रोतों को मैं देखता हूँ और उनके ज्योतिर्मय प्रवाह में सुवर्ण के वेतस् को मैं देखता हूँ।

हृदयमें से बहनेवाले घृत के स्रोत स्थूल कैसे हो सकते हैं ? पणि इस ऋचा में शत्रु- घी को या पानी को अटकाते थे, इस स्थूल अर्थ को मान लें- घटा लें- तो भी सौ सौ मार्गों से अटकाएँ यह संभवित नहीं लगता। और इस प्रकार अटकाए हुए स्रोत का जो आर्य को अथवा देवताओं को भी न दिखाई दें अटकाना असंभव ही है। अपने समय में हुई स्थूल घटनाओं और हकीकतों को पेश करनेके इरादे से भविष्य की पीढियों के लिए ऐसी असंभवित क्लिष्टता का आश्रय लें और इस प्रकार के विचित्र लगनेवाले प्रयोग करें, यह भी बात गले नहीं उतरती- खास करके वेदकाल के साहित्य से हमें स्पष्ट मालूम है कि साधारण घटना का वर्णन करने के लिए उनके पास भाषा और बुद्धि की उत्तम सामग्री तैयार थी।

घृत को 'पानी' के अर्थ में लेकर 'हृदय' का अर्थ 'सुंदर' रखकर सायण की तरह दूरान्वय करें, तो भी ऋचा का अर्थ बैठता नहीं है। 'शत शत' मार्ग का अर्थ 'पंजाब की सारी नदियाँ' लेते हुए अर्थ का ठिकाना नहीं,

क्योंकि ये प्रवाह ' सुवर्णमय ' क्यों हैं ? और ऋषियोंने उनमें जो ' हिरण्मय वेतस् ' देखा, वह क्या चीज है ? और ' घृत ' के ये सब स्रोत पणियोंने ' गाय ' के अंदर कैसे छिपा दिए ?

ऋचा का आध्यात्मिक अर्थ ही ठीक बैठता है, अर्थात् वही उचित है; स्वच्छ, निर्मल, ज्ञानालोकमय मनोदशा यही वह घृत है- ये सब गुण घी में भी हैं ! अंतर में बहनेवाले उसके प्रवाह अज्ञान-अविद्या-शक्तिरूपी दुश्मनों के कार्य से आच्छादित होते हैं, इसी लिए वे दीखते नहीं।

वामदेव ऋषि यह सब देख सकते हैं, क्योंकि वे ज्ञान-युक्त हुए हैं और उन के ज्ञानज्योति से दीप्त प्रवाह में विज्ञानमय, तेजयुक्त, दिव्य तपःशक्ति-अग्नि को वे देख रहे हैं, घृतकी तेजस्वी सरिताओंके प्रवाह में दिव्य तपःशक्ति-अग्नि-काम करती है।

ऋचा छठी।

सम्यक् स्रवन्ति सरितः न धेना अन्तः हृदा मनसा पूयमानाः। एते अर्षन्ति ऊर्मयः घृतस्य मृगाः इव क्षिपणः इषमाणाः।

पद-अर्थ- सम्यक्- साधु; सरलता से, अथवा साथ; **स्रवन्ति**- झरती हैं, बहती हैं; **सरितः**- नदियां; **न**- तरह (उपमावाचक); **धेनाः**- पोषण करनेवाली गौएँ; **अंतः**- अंदर; **हृदा**- हृदयद्वारा; **मनसा**- मन द्वारा; **पूयमाना**- विशुद्ध होते हुए, पवित्र होते हुए; **एते**- ये (स्रोत)। **अर्षन्ति**-गति करते हैं, बहते हैं; **ऊर्मयः**- ऊर्मियाँ; **घृतस्य**- घृतकी; **मृगाः इव**- पशुओं अथवा हरिणों की तरह, मृगों की तरह (त्वरित गति से); **क्षिपणः**- व्याध की ओर से; **इषमाणाः**- प्रेरित हुई (भयसे) दौड जाती हुई।

अनुवाद- धेनु जैसी पोषक घृत की सरिताएँ साथ बह रही हैं- अंतर हृदय और मनद्वारा परिशुद्ध होकर; घृतकी ये ऊर्मियाँ दौड रही हैं- मानों व्याध (के भय से) से प्रेरित होकर वेग से दौडते हुए हरिण।

जिस ' समुद्र ' का ऊपर वर्णन हो चुका है, उसके स्वरूप को यह ऋचा अधिक स्पष्ट करती है। ये घृतकी नदियाँ- जिस समुद्र में से बह रही हैं, वह मनद्वारा और हृदयद्वारा विशुद्ध होता है। यहां ' घृत ' ' मन ' ' हृदय ' और ' विशुद्धि ' इन सबका परस्पर सम्बन्ध स्पष्ट है।

कितने ही लोग इस ऋचा को केवल रूपक समझ बैठे हैं। इस प्रकार के रूपक की कल्पना करने की शक्ति वेद-काल के ऋषियों में मान लें, तो उनमें इस ऋचा का आध्यात्मिक रहस्यपूर्ण सूचक प्रयुक्त करने की शक्ति क्यों न माने ? रूपक के तौर पर लेने पर भी यह तो निश्चित है कि मनद्वारा विशुद्ध हो सके, वह ' घृत ' खाने का तो होही नहीं सकता।

ऋचा ७ वीं।

सिन्धोः इव प्र अध्वने शूघनासः वातप्रमियः पतयन्तियह्वाः। घृतस्य धाराः अरुषः न वाजी काष्ठाः भिंदन् ऊर्मिभिः पिन्वमानः॥

पद-अर्थ- सिन्धोः इव- समुद्रकी तरह; **प्र**- पास, सामने- **अध्वने**- मार्ग में; **शूघनासः**- शीघ्र गतिवाले और घन; **वातप्रमियः**- वात (वायु) द्वारा परिमित, मर्यादित हुए; **पतयंति**- गति करते हैं; **यह्वा** बलवान् (स्रोत); **घृतस्य**- घृतकी; **धारा**- स्रोत, प्रवाह; **अरुषः** तेजस्वी, आरक्त, कांतिमान्; **न**- की तरह (उपमार्थ)- **वाजी**- बलवान्, सामर्थ्य-वान् अश्व; **काष्ठाः**- दिशा, मर्यादाओं को; **भिंदन्**- भेदन कर- उल्लंघन करके; **ऊर्मिभिः**- ऊर्मियों द्वारा; **पिन्वमानः**- पोषण पाता है, पुष्ट होता है।

अनुवाद-वायु (के कार्य) द्वारा परिमित हुए, घृतके बलवान् और शीघ्र गतिवाले प्रवाह सागरकी तरह मार्ग में प्रगति कर रहे हैं; तेजस्वी, आरक्त कांतिमान् अश्व की तरह दिव्य चिन्मय अग्नि, मर्यादाओं का उल्लंघन करके घृतस्रोतकी ऊर्मियों द्वारा परिपुष्ट हो रहा है।

' वायु ' प्राण शक्ति का सूचक है। घृत के स्रोत याने विशुद्ध, मनोमय, प्रकाशवाले प्रवाह; स्वयं चाहे कितने ही बलवान् हों, पर-उनका आधार वायु पर प्राणशक्ति पर- है। अर्थात्, मनकी मनोमय शक्ति प्राणशक्ति से मर्यादित होकर मनका सामर्थ्य और उसके वेग वगैरह का आधार वायु पर-प्राणपर-है, और प्राणशक्ति की इन मर्यादाओं को दिव्य तपःशक्तिरूप अग्नि बलवान्, अश्व की तरह आक्रमण करके तोड डालता है। मनुष्य को बाधा पहुँचाने-वाली प्राण की मर्यादाएँ, चैतन्यकी अग्निशिखा जागृत होनेपर दूर हो जाती हैं और पहले पहले जो अशक्य थी, ऐसी प्राणशक्ति मनुष्य अपने अन्दर धारण कर सकता है। परिणाम स्वरूप मनोमय भूमिका में बहनेवाले स्वच्छ, तेजस्वी ' घृतके प्रवाह ' भी अमर्यादित बनते हैं।

और प्राणकी मर्यादाओं को लाँघ कर, विशुद्ध मनोमय भूमिका की ऊर्मियोंद्वारा तपःशक्तिरूपी अग्नि स्वयं वृद्धि प्राप्त करता है। अर्थात् अग्निशिखा बलवान् होनेसे प्राणकी परिमितताएँ दूर हो जाती हैं और इससे घृतकी ऊर्मियाँ मनकी भूमिकामें बढती हैं और इन ऊर्मियोंके कारण स्वयं अग्नि भी और ज्यादह प्रदीप्त होता है ! इस प्रकार स्वयं आन्तर विकास सिद्ध होता जाता है और अन्तरदेह-सूक्ष्मदेह-अधिक दृढ होता जाता है। यही योगका विकास है।

ऋचा ८ वीं।

अभि प्रवंत समना इव योषाः कल्याण्यः
स्मयमानासः अग्निं। घृतस्य धाराः समिधः
नसंत जुषाणः हर्यति जातवेदाः॥

पद-अर्थ- अभि- चारों ओर; **प्रवंत**- घूमती है, जाती है; **समना इव**- समान मनवाली की तरह; **योषाः**- स्त्रियाँ; **कल्याण्य-सुखी**, कल्याण प्राप्त की हुई; **स्मयमानाः**- स्मित करतीं, हास्य करतीं; **अग्नि**- अग्निको; **घृतस्य** घृत की; **धाराः**- प्रवाह, स्रोत; **समिधा**- अच्छी तरह प्रज्ज्वलित हुए; **नसंत**- गति करते हैं, जाते हैं; **जुषाणः**- मुदित, आनंदित हुए; **हर्यति**- इच्छा करते हैं; **जातवेदाः**- जात-पैदा हुए पदार्थमात्र को जाननेवाला अग्नि।

अनुवाद-- समान मनोभाववाली, संतोषी और सुखमय, स्मित करती वनिताओं की तरह सुसमिद्ध हुई घृतकी धाराएँ अग्नि के चारों ओर घूमती हैं; पैदा हुए हरेक पदार्थ (नासत्य) की जाननेवाला (सर्वज्ञ) दिव्य तपःशक्तिरूप अग्नि, आनंदित होकर उनके लिए कामना करता है।

घृत की धाराएँ अग्नि के प्रति प्रेमपूर्वक जाती हैं, ऐसा प्रथम आधे भाग का अर्थ है। विशुद्ध, ज्ञानज्योतिर्मय मनोदशा दिव्य तपःशक्ति के लिए अर्पण होने को उत्सुक होती है, भगवान् की चिन्मय शक्तिरूपी अग्नि में आहुति के तौर अर्पण होने के लिए तत्पर होती है। ऋचा के दूसरे चरणमें यह दिव्य चिन्मयाग्नि भी तेजस्वी, निर्मल मनोदशा की आनंदपूर्वक राह जोहती है, इस प्रकार बताया गया है। इस प्रकार परस्पर दिव्य सत्त्वोंकी वृद्धि मनुष्यमें होती रहती है। अग्नि के कार्य से घृत बढता है, और तेजस्वी मनोदशा प्राप्त होती है। घृत से अग्नि तपःशक्ति प्रज्ज्वलित होती है ! यज्ञभावना का यही रहस्य है।

गीता भी इसी लिए कहती है, " एष वोऽस्त्विष्टकामधुक् " यह यज्ञ तुम्हारी सब कामनाओं को पूरा करनेवाला हो। **यज्ञद्वारा देवान् भावयतः**- ' देवों की सम्भावना करते हुए ' हे मनुष्यो ! **ते देवा भावयंतु वः**-' 'वे देवता तुम्हें प्रसन्न करें। ' और इस प्रकार ' परम श्रेय ' को प्राप्त करो ! संक्षेप में, अंतःकरणकी विशुद्ध हुई शक्तियाँ दिव्य तपःशक्ति को अर्पित की जायँ और दिव्य तपःशक्ति यजमानमें विशुद्ध सत्त्व का विकास करें, यह यज्ञ का एवं इस ऋचा का मौलिक हेतु है।

ऋचा नौवीं।

कन्याः इव वहतुं एतवै उ अंजि अंजाना
अभिचाकशीमि यत्र सोमः सूयते यत्र यज्ञः
घृतस्य धाराः अभि तत् पवन्ते॥

पद--अर्थः- कन्याः इव-- कुमारिकाओं की तरह; **वहतुं**- (अपना) वहन करने के लिए; **एतवै**- पति के साथ जाने के लिए, पति प्राप्त करने के लिए; **ऊं**- वह; **अंजि**- आभरण, ओजस्; **ऊंजानाः**- धारण करती है; **अभिचाकशीमि**- मैं देखता हूँ; **यत्र**- जहाँ; **सोमः**- सोम आनन्ददायी रस; **सूयते**- सवन किया जाता है; **यत्र**- जहाँ; **यज्ञः** यज्ञ (होता है); **घृतस्य**- घृतकी; **धाराः**- धाराएँ, प्रवाह, स्रोत; **अभि**- तरफ में; **तत्**- वह (की); **पवन्ते**- जाता है, पावन गति करता है।

अनुवाद-- विवाह करने को उत्सुक और पति (प्राप्त करने) के लिए सुहाग सजी कुमारिकाओंकी तरह घृत की इन तेजस्वी ऊर्मिमालाओं को मैं देखता हूँ; जहाँ सोमवल्ली का दिव्य रस तैयार होता है और जहाँ जहाँ यजनक्रिया आत्मसमर्पणरूप यज्ञ की- हो रही होती है, वहाँ वहाँ घृत की पवित्र धाराएँ पहुँच जाती हैं।

दिव्य तपःशक्तिरूपी अग्नि में समर्पित होने के लिए तेजस्वी, निर्मल, अन्तरावस्था की- घृत की उत्सुकता, उसका उल्लास और ज्योतिर्मयता का ऋचा के प्रथम भाग में वर्णन किया गया है। और घृत की ये धाराएँ कहाँ बहती हैं ? उसका उत्तर दूसरे भाग में से मिलता है। सारे ऋग्वेद में ' सोम ' का ' आनन्द ' यह अर्थ सब जगह ठीक बैठता है। वेद का यह 'सोमरस शतपवित्रा-- अनेक प्रकार से विशुद्ध बना हुआ ' है; और विशुद्ध स्वरूप में लिया जाय, तभी सोमरस मनुष्य को अमर कर सकता है। सामान्य अज्ञानमय जीवन में भी सोम आनन्द होता है,

पर विशुद्ध नहीं । यह तो अद्रि में- स्थूल शरीर की जडता और तमोमयता में दवा होने से बहुत कष्ट से बाहर आता है । पर जब वह विशुद्ध होता है, तब घृत की - ज्योतिर्मय अन्तरावस्था की- धाराएँ उसकी तरफ बहती हैं । अर्थात्, इस आनन्द के साथ विशुद्ध ज्योतिर्मय मनोदशा भी प्राप्त होती है । अज्ञान में मिलनेवाला आनन्द अधिक गाढ अन्धकार-- अज्ञान की ओर ले जाता है । और जहाँ जहाँ समर्पणयुक्त यजनक्रिया होती है, वहाँ वहाँ भी घृत की धाराएँ पहुँच जाती हैं । यजनक्रिया को भी आखिर में विशुद्ध, प्रकाशमय मनोदशा प्राप्त होती है ।

ऋचा १० वीं ।

अभि अर्षत सुष्टुतिं गव्यं आजिं अस्मासु भद्रा द्रविणानि धत्त । इमं यज्ञं नयत देवता नः घृतस्य धाराः मधुमत् पवन्ते ॥

अनुवाद— ज्ञानज्योति का रश्मिसमूह प्राप्त करने की अभीप्सा प्रकट करती हुई सुंदर स्तुति हमको प्राप्त हो; हमारे अन्दर आनन्ददायी कल्याणकारी अनेक संपत्ति स्थापित हो; इस यज्ञको, हे देवताओ, आगे ले जाओ; घृत की मधुयुक्त पुनीत धाराएँ बह रही हैं ।

गव्य— गो याने रश्मिः- ज्ञानज्योति की किरणें । गो का अर्थ गाय भी होता है । परन्तु सारे वेद में गो याने 'ज्ञानकी ज्योति का समूह '-- The Kine of Helios (सूर्यदेव का समूह)-- है, यह नाम ग्रीक पुराणों में भी पाया जाता है । सूर्य स्वयं ज्ञानस्वरूप और सत्यस्वरूप है। इसके बारे में ' गो ' गाय पर लिखा हुआ स्वतंत्र लेख देखिए (अभी प्रकाशित नहीं हुआ) । स्तुति का अर्थ है स्थापन करनेकी क्रिया (Affirmation) । सत्यके शब्दस्वरूपको अपने में स्थापित करना स्तुति का कार्य है । मंत्र का अर्थ है किसी अपार्थिव, आध्यात्मिक सत्य का मानवचैतन्य में प्रकट होनेवाला शब्दस्वरूप। कभी कभी जब अज्ञान का गाढ तिमिर अन्तरात्मा के आसपास फैल रहा होता है, तब ब्रह्मा में से-- आत्मा की सर्जनशक्ति में से-- जो शब्दशक्ति प्रकट होती है और तिमिर का नाश करती है, वह है मंत्र । और ' स्तुति ' का मतलब है समस्त विश्व में व्याप्त छन्द का स्वीकार और उस स्वीकार का आग्रह । अपने चैतन्य में सत्य को दृढ करने के लिए जिन शब्दस्वरूपों की योजना की जाती है, वे हैं स्तुति । वह बहुत करके, साक्षात्कार का परिणाम होती है ।

वामदेव ऋषि अपने अन्दर इस शब्दशक्ति का आह्वान करते हैं, जिस से अपने अन्दर ज्ञानज्योति की किरणों का समूह स्थापित हो जाय । ऋषि अपने अन्दर कल्याणकारी और आनन्ददायी संपत्तिकी वांछना करता है । आत्मसमर्पण के यज्ञमें देवता मार्गदर्शन कराएँ, ऐसी इच्छा ऋषि प्रकट करता है, क्योंकि मानव की शक्ति भले ही कितनी महान् हो, पर परिमित ही है । आनन्ददायी ज्ञानज्योति की धाराएं पवित्र होकर बहती हैं ।

ऋचा ११ वीं ।

धामन् ते विश्वं भुवनं अधिश्रितं अंतः समुद्रे हृदि अंतः आयुषि । अपां अनीके सं इथे य आभृतः तं अश्याम मधुमन्तं ते ऊर्मिम् ॥

पदार्थः— धामन्-- स्थान में, निवासस्थान में; ते- तेरे; विश्वं- सारे; भुवनं- जो कुछ आविर्भूत हुआ है, वह जगत् मात्र; अधिश्रितं-- के ऊपर आधार रखता है; अंतः- अन्दर के; आंतर; समुद्रे- समुद्र में; हृदि- हृदय में; अंतः अंदर के; आयुषि आयुष्य में, जीवन में; अपां अनीके- जलके सामर्थ्य में; सं इथे- एकत्र होने में; यः- जो; आभृतः-- भरा जाता है, धारा किया जाता है, जो वृद्धि पाता है; तं- उसको; अश्याम-- हम चखते हैं- भोगते हैं; मधुमंतं- मधुयुक्त, मिष्ट; ते- तेरी; ऊर्मि- ऊर्मि को ।

अनुवाद-- हे घृतस्रोत ! यह समस्त विश्व तेरे धाम में हृदयरूपी सागर के अन्दर समाया हुआ है, और वह आंतर प्राण में अधिश्रित है । दिव्य जल-समुदायों का संगम होने पर जो विस्तार प्रकट होता है, उस तेरी विशाल मधुयुक्त ऊर्मि का हम आनन्द लें ।

' घृत ' का यह दिव्य धाम जिसमें समस्त विश्व अधिश्रित है, वह अनंत चैतन्य का सागर है ! और ' घृत ' का तेजस्वी, निर्मल, ज्ञानज्योतिर्मय मनोवस्था का मूल भी वह ' सागर ' है । घृत का वह धाम है । हमारे पार्थिव जगत् में ' हृदय ' और ' प्राण ' ये दो उसके आधार हैं । जल, सक्रिय, गतिमान् चैतन्य का सूचक है । जब चैतन्य की अनेक प्रकार की अनेक गतियाँ एकत्र होती हैं, तब उसकी क्रिया विशाल बनती है, मानवचैतन्य का भी विस्तार होता है, और इस प्रवाह में मधुयुक्त आनंदभरी ऊर्मि उठती है । वामदेव ऋषि इस आनन्दमय ऊर्मि का

उपभोग करने की आकांक्षा प्रकट करते हैं।

वेद के सूक्तों की शैली हमारी आधुनिक पद्धति से बिलकुल जुदी होने से और वेद केवल बुद्धि के उपासकों के लिए नहीं रचे गए होने से बहुत से अभ्यासकों को उसका वक्तव्य आज आसानी से समझ में नहीं आता, इसलिए अंत में संक्षिप्त सार देता हूँ।

समुद्र में से घृत की मधुवाली ऊर्मि ऊपर चढती है— ज्योतिर्मय और अमृतत्व को बहानेवाली; आनंद की ऊर्मि ही 'मधु' है। ज्ञान की ज्योतिवाली निर्मल, विशुद्ध मनोदशा ही 'घृत' है। यह मधुवाली घृत की ऊर्मि देवताओं की जिह्वा है, क्योंकि उसके द्वारा वे जगत् का आनन्द ले सकते हैं। अमृत उसकी नाभि है— केन्द्र है। अमृत याने निरतिशयानन्दमय अनंत चैतन्य। जिस सागर मेंसे ऊर्मि उठती हैं, वह है अवचेतना (The Subconscious) का सागर है। वामदेव ऋषि उस आनन्द को प्रकट करता है; और समर्पण करके उसकी यज्ञ में आहुति देता है। इस प्रकार करने से समर्पण की समग्र क्रिया में वह आनन्द व्याप्त हो जाता है।

घृत में- ज्ञानज्योतिर्मय मनोदशा में- यह आनन्द (मधु) गूढ होता है— छिपा रहता है। घृत का वास्तविक धर्म तो अपने अंदर सत्य का प्रतिबिम्ब धारण करना है। पर इंद्रियोपभोग का व्यापार करनेवाले- पणिलोग (अविद्या शक्तियाँ) इस घृत को छिपा देते हैं। किसमें? १- हमारे अपूर्ण, अविद्यामय, अज्ञानभरे **विचारों में**; २ प्राण की अनेक **कामनाओं में**; तथा ३- हमारे स्थूल शारीरिक चैतन्य की **जडता में**। इन तीनों में रहा हुआ 'घृत' हम से देखा नहीं जाता-- उसकी मधुमय ऊर्मिका विशुद्ध आनन्द लिया नहीं जा सकता! ज्ञानज्योति और आनन्दलहरी दोनों इस दशामें लुप्त हो गए होते हैं।

वामदेव ऋषि घृत का जो गुह्य नाम- मधु अर्थात् आनन्द है, उसे प्रकट करना चाहते हैं। यह सारा अवचेतना का सागर दिव्य पुरुष चैतन्यरूपी वृषभने तैयार किया है। इस दिव्य चिन्मयरूपी वृषभ के चार श्रृंग हैं, वे सत्, चित्, आनन्द और विज्ञान की चार ऊर्ध्व (मन से पर आई हुई) भूमिकाएँ हैं। उस के तीन पैर हैं, वे मानवचैतन्य की तीन सामान्य भूमिकाएँ: १ मनोमय, २ प्राणमय और ३ अन्नमय–मन, प्राण और शरीर। उसके दो सिर–पुरुष और प्रकृति हैं। उसके सात हाथ वे अस्तित्व की सात सक्रिय भूमिकाएँ हैं। मन, प्राण और शरीर के तीन बंधनों से जकडा हुआ वह दिव्य पुरुष (वृषभ) नाद कर रहा है। मानव में प्रविष्ट हुआ वह महान् देव है।

विशुद्ध ज्ञानजोतिर्मय मनोदशाके स्रोत पणियोंने सौ सौ तरह से छिपा रखे हैं; और अवचेतना के ये आनंद-प्रवाह बलवान् और वेगवान् होने पर भी प्राणशक्तिद्वारा मर्यादित हैं। परंतु हृदय और मनद्वारा अब अवचेतना में से बहते ये प्रवाह क्रमक्रम से विशुद्ध होते जाते हैं, क्योंकि ज्ञान प्राप्त करनेका प्रयत्न करनेवाला मानव उनकी क्रियाओंसे अज्ञात नहीं रहता, परन्तु सचेत हो जाता है– जागृत हो जाता है। अन्त में यह ज्ञानज्योतिर्मय विशुद्ध मनोदशा, दिव्य तपःशक्ति (भगवान् की शक्ति) रूपी अग्निके साथ लग्न करनेयोग्य होता है। दिव्य तपःशक्ति अग्निशिखा है, उसका घृतके साथ संयोग होता है। अग्निकी दिव्य शक्ति प्राणकी परिमितताओं और मर्यादाओं को लाँघ जाती है-- उसे विशाल और अपरिमित बनाती है; यह दिव्य चिन्मय अग्नि विशुद्ध, ज्ञानजोतिर्मय मनोदशाद्वारा पुष्ट होता है। इस प्रकार मर्त्य मानव अमरता प्राप्त करता है।

अन्तिम ऋचामें ऋषि कहता है कि सारा ही अस्तित्व ऊर्ध्व लोकमें- दिव्य पुरुषके धाम में स्थापित हुआ है। और हमारी इस पार्थिव भूमिकामें वही जीवन, भावचेतना की क्रियाओं में--हृदय में और प्राणमें--स्थित है। घृतद्वारा इन दो सागरों (ऊर्ध्व, दिव्य, अनंत चैतन्य का और अधो अवचेतना का) सम्बन्ध होता है। घृत की भूमिका मन है; यह हम जानते हैं, कि प्रकृति की अवचेतन भूमिकाओं और दिव्य भूमिकाओं के बीच 'मन' की (घृत की) भूमिका स्थित है। दिव्य ज्योति और प्रकृति के तमस् के बीच में मन का मध्यप्रदेश है। उसकी विशुद्धि और ज्योति (घृत के गुण) का उपयोग करने से प्रकृति के अधीन मानव मुक्त होकर उसका सम्राट् बनता है; अज्ञान में बद्ध मानव ज्ञान की अनुपम मुक्ति का अनुभव करता है; मृत्युके वशमें रहनेवाला मानव दिव्य चैतन्य प्राप्त करके अमरता प्राप्त करता है।

शुद्ध वेद ।

वेद की चार संहिताओंका मूल्य यह है-

वेद	मूल्य	डाकव्यय	रेलचार्ज	विदेशका डाकव्यय
१ ऋग्वेद	५)	१)	॥)	१॥)
२ यजुर्वेद	२)	॥)	।)	॥।)
३ सामवेद	३)	॥)	।)	॥।)
४ अथर्ववेद	३)	१)	॥)	१॥)
	१३)	३)	१॥)	४॥)

इन चारों संहिताओंका पेशगी म० आ० से सहूलियतका मू० ६॥) रु० हैं, तथा डा० व्यय ३) रु० है । इसलिए डाकसे मंगानेवाले ९॥) साडे नौ रु० पेशगी भेजें । रेलचार्ज या डा० व्यय ग्राहकोंके जिम्मे है । इसलिये जो ग्राहक रेलसे चारों वेदों के एक या अनेक सेट मंगाना चाहते हैं, प्रति सेट के पीछे ७॥) रु० के अनुसार मूल्य भेजें। [इसमें ॥) दो बारका पैकिंग और ॥) दो बारकी रजिष्ट्रीके है] उनके ग्रंथ To Pay रेलपार्सल से भेजेंगे ।

ऋग्वेद दूसरी वार छप रहा है । यह छपाई होनेतक ही चारों वेदसंहिताएँ ६॥) रु० में मिलेंगी । तत्पश्चात् ७॥) मूल्य होगा, इसलिये वेदप्रेमी ग्राहक शीघ्रता करें और अपना चन्दा शीघ्र भेजकर ग्राहक बनें ।

यजुर्वेद की चार संहिताएं ।

निम्नलिखित यजुर्वेद की चारों संहिताओं का मुद्रण शुरू हुआ है ।

	मूल्य	डा० व्यय	रेलव्यय	विदेशका डाक व्यय
१ काण्व संहिता (शुक्ल-यजुर्वेद)	३)	॥।)	।=)	१।)
२ तैत्तिरीय संहिता (कृष्ण-यजुर्वेद)	५)	१)	॥)	१॥)
३ काठक संहिता	५)	१)	॥)	१॥)
४ मैत्रायणी संहिता	५)	१)	॥)	१॥)
	१८)	३॥।)	१॥।=)	५॥।)

वेदकी इन चारों संहिताओं का मूल्य १८) है । परंतु जो ग्राहक पेशगी मूल्य भेजकर ग्राहक बनेंगे, उनको ये चारों संहिताएं ९) नौ रु० में दी जायंगी । डा० व्यय अथवा रेलव्यय ग्राहकोंके जिम्मे होगा । मूल्य भेजने के समय यह प्रेषण- व्यय जोडकर मूल्य भेज दें । जिनको वेदों का अध्ययन करना है, उनके लिये यह अमूल्य अवसर है। ये ग्रंथ इतने सस्ते आजतक किसीने दिये नहीं और आगे भी इतने सस्ते यह ग्रन्थ नहीं मिलेंगे ।

जो सहूलियत का मूल्य ९) नौ रु० भेजकर यजुर्वेद की इन चार संहिताओं के ग्राहक होंगे, उनको "ऋग्वेद-यजुर्वेद (वाजसनेयी संहिता)-सामवेद-अथर्ववेद" ये चारों संहिताएंभी सहूलियत के मूल्यसेहि अर्थात् केवल ६॥) मूल्य सेही मिलेंगी । प्रेषणव्यय डाकद्वारा ३) और रेलद्वारा १॥) है, वह ग्राहकों के जिम्मे रहेगा ।

इस सहूलियत का लाभ ग्राहक शीघ्र लेवें ऋग्वेद का पुनर्मुद्रण होने तक ही यह सहूलियत रहेगी ।

मंत्री- स्वाध्याय-मण्डल, औंध, (जि० सातारा)

इंद्रियदमन का प्रयोजन।

(लेखक- श्री० पं० रामावतारजी विद्याभास्कर, रतनगढ.)

(२२) "इंद्रियदमन के अभिनयमात्रसे कामविजय नहीं होता, किन्तु कामविजय होनेपर इंद्रियदमन अपने आप होता है।"

अपने मन में ही विषयवासनारूपी दोषको न हटाकर विषयों से बचते फिरने का कोई महत्त्व नहीं है। ऐसा करनेसे विषयवासना अनुकूल अवस्था पाते ही प्रबल हो जाती है, और मनुष्य को पछाड देती है। ऐसे विषयत्याग से कामविजय या इन्द्रियजय चाहना निष्फल है। रसना आदि इन्द्रियों के भोग्य स्वादु आदि पदार्थों के त्याग देने से कामविजय नहीं होता, किन्तु जब काम विजित हो जाता है, तब रसना ही क्या सब इन्द्रियां जीती हुई हो जाती हैं। जो मनुष्य किसी एक इन्द्रिय के वश में है, अर्थात् जिस मनुष्य में एक भी निर्बलता है, उसमें संसारभर की निर्बलता भरी पडी हैं। मनुष्य में जो एक निर्बलता दिखाई देती है, उसके पीछे निर्बलताओं का भंडार छिपा रहता है। उस एक निर्बलता के दीखने का कारण यह है कि उसको सम्पूर्ण निर्बलताओं की 'माता' 'काम' या 'माया'में आसक्ति है। 'काम'या 'माया' में आसक्ति होने से सम्पूर्ण प्रकार की निर्बलता उत्पन्न होती हैं। जिस पुरुष में सब निर्बलताओं का कारण 'काम' विद्यमान है, उस में जब जिस निर्बलता को प्रकट होने का अवसर मिलता है, तब वही प्रकट हो जाती है।

एक मनुष्य डरपोक है, परन्तु कामी नहीं है; यशोभिलासी है, परन्तु कामकाँचनासक्त नहीं है; लालची है, परन्तु क्रोधी नहीं है; धूर्त है, परन्तु कर्मवीर है; सत्यवादी है, परन्तु कायर है; मिथ्याचारी है, परन्तु तेजस्वी है; कामी है, परन्तु वीर है; व्यसनासक्त है, परन्तु सेवापरायण है; बुद्धिहीन है, परन्तु बडा उदार है; ये सब अत्यन्त असम्भव बातें हैं। जो कामकाँचन में आसक्त नहीं है, वह लालची भी नहीं है, यशोभिलाषी भी नहीं है, डरपोक भी नहीं है, और उसमें जिह्वालौल्य का होना भी सम्भव नहीं है। दोष भी सबके सब एक साथ रहते हैं, और गुण भी सब के सब साथ रहते हैं।

दोष और गुणोंमें से किसी एक दोष या किसी एक गुण को नहीं अपनाया जा सकता। इस दृष्टि से कामकाँचन में अनासक्त होना ही गुणी होने की कसौटी है। जैसे अकेले गुण को प्राप्त करना असम्भव है, ऐसे ही अकेले दोष को त्याग देना भी असम्भव है। जब गुण आते हैं, तब सब साथ आते हैं; जब दोष जाते हैं, तब सब साथ ही साथ भाग जाते हैं। गुणदोष से मिला हुआ कोई मनुष्य नहीं हो सकता। यद्यपि गुणदोष से मिली हुई स्थिति बहुधा सुनने में आती है, परन्तु वह केवल आत्मवंचना है।

मनुष्य में किसी दोष के रहते हुये जो गुण दीखते हैं, उनको गुण माननेवाले गुण मुग्ध भोले मनुष्य, सदा अपनी स्वार्थमलिन बुद्धि से ही इनको गुण मानने की भूल करते हैं। दोषसहवासी गुणों का प्रयोग करनेवाला पुरुष भी स्वार्थमलिन बुद्धि का दास बन कर दुष्ट चतुराई से अपने दोषों को गुणों का रूप देकर उनको अपने ऐसे कर्मक्षेत्र में प्रकट करता है, जो उसके स्वार्थ की सीमा में ही सीमित रहता है। ऐसे गुणों को दिखानेवाले और इन कपटगुणों को गुण माननेवाले दोनों स्वार्थान्ध होने के कारण विपरीत बुद्धि के वश में होकर 'दोष' को 'गुण' मान लेते हैं।

जो मनुष्य निरपेक्ष होकर इनका विचार करेगा, वह स्पष्ट रूप से देख सकेगा, कि एक मन में 'गुण' तथा 'दोष' का समावेश हो सकना असम्भव तथा सिद्धान्तविरुद्ध है। जब मनुष्य में से एक निर्बलता हटती है, तब सबकी सब निर्बलता हट जाती हैं। दोषों को नष्ट करना हो, तो केवल एक विषयवासना को नष्ट कर डालो। तब देखोगे कि सब दोष अपने आप नष्ट हो गये। इसी प्रकार गुणों का संग्रह करना हो, तो अपने मन में निर्विकार मानसिक स्थिति को अर्थात् कामकाँचन में अनासक्ति को

पिछला लेख— 'ईश्वर का वास्तविक स्वरूप' 'वैदिक धर्म क्रमांक २४७ पृ० ३३७ पर देखो।

जगालो। तब देखोगे कि सम्पूर्ण गुण अपने आप आकर इकट्ठे हो गये। निर्विकार मनोदशा का सम्भोग नामवाली जीवनमुक्ति तब ही मिलेगी, जब ईश्वर के भेजे हुये कर्तव्यों को सदा करते रहकर जीते रहोगे। कर्तव्यजिहासा को वैराग्य समझकर, कर्तव्य त्यागनेवालों को पतित रहना पडेगा। ' कर्तव्यजिहासा ' ' वैराग्य ' नहीं है। ' भोगजिहासा ' ही ' वैराग्य ' है। उदास मनोवृत्ति वैराग्य नहीं है। कर्तव्यपालन की तीव्र लगनवाली प्रवृत्ति ही ' वैराग्य ' है। कर्तव्यपालन मानव-मन की अत्याज्य प्रवृत्ति है। कर्तव्य की अवहेलना करते रहने से गुणों का संग्रह नहीं किया जा सकता। कर्तव्यनारायण की अवहेलना करने पर ईश्वर से सम्बन्ध जोड सकने की किसी स्थिति का रह सकना असम्भव है।

[२३] काम कैसे जीता जाय।

काम को जीतने की समस्या संशयालु और निःसंशय दोनों मनों में उठती है। जब संशयालु मन यह प्रश्न करता है, तब समझना पडता है कि प्रश्नकर्ता को ईश्वर के अस्तित्व पर सन्देह है। प्रश्नकर्ता ईश्वर नाम की वस्तु क्या है? इस बात को न समझने से ही (अर्थात् ईश्वर नाम की अपनी हृन्निष्ठ वस्तु को कार्यकारी बनाकर न रखने से ही) अपने आप को काम से जीत लिये जाने की दीनहीन अवस्था में पाता है। ज्यों ही ऐसे प्रश्न मनमें उठें, त्योंही समझ लो कि तुम्हारी काम को जीतने की इच्छा तुम्हारा एक विचित्र आत्मोपहास है। तुम काम से जीते हुये रहकर काम पर विजय प्राप्त करना चाहते हो। ऐसी इच्छा मानवीय मनोविज्ञान की विडम्बना है। तुमको काम से विजित रहने की अवस्था का भी दृढ मोह है, और तुम काम को जीत लेने से कुछ लाभ हो जाय, तो उस लाभ को भी उठाना चाहते हो। तुम ऐसी अपूरणीय इच्छा क्यों करते हो?

ये दोनों परिस्थिति एक मन में एक साथ नहीं रहती। इनमें से एक को अपनाने के लिये दूसरी को तो त्यागना ही पडता है। जिस हृदय में ऐसा प्रश्न उठा है, वह हृदय अपने लिये काम को जीतना असम्भव मान बैठा है। ऐसे हृदय में काम से कभी न लडने का दृढ हठ कर लिया गया है। जो मनुष्य काम से लडकर काम का बुरा भी न बनना पडे, और किसी युक्ति से निष्काम भी बना जा सके, इस प्रकार के नपुंसक स्वभाव से निष्काम बन जाने की इच्छा करता है, उसके मन में काम की पूर्ण तृप्ति की पूर्ण न हो सकनेवाली इच्छा प्रभुत्व जमाये बैठी है। वास्तविक बात यह है कि वह निष्काम बनना नहीं चाहता। वह काम को पूर्ण तृप्त करनेवाले उपाय ढूंढ रहा है। ऐसी मनोवृत्ति रखनेवालों का यह घातक स्वभाव बन जाता है कि जो इच्छा कभी पूर्ण नहीं हो सकती, जीवनभर उसी को पूर्ण कर सकनेवाले उपायों के ढूंढने में लगे रहते हैं।

ऐसा हृदय अपने मन को नपुंसक बनाकर फिर मनोविजयी बनने का गौरव मिल सके, तो लेना चाहता है। ऐसा हृदय रखनेवाले लोग रसना की रसज्ञानशक्ति को नष्ट करके रसविजयी बन जाने का संतोष भोगना चाहते हैं। ऐसे लोग मैदान जीतने का सत्साहस भी न करना पडे, और समरविजयी वीर भी बना जा सके, ऐसे अलौकिक द्यूतावसर ढूंढना चाहते हैं। ये निर्विरोध मैदान को जीत कर उस पर अपना विजयस्तम्भ चिनवाना चाहते हैं। ये विषयवासना के सामने आने पर पूँछ दबा कर दीनता दिखाते हैं, और जिस समय मन में विषयवासना न उठे, ऐसे समझे हुये किसी समय में अपने को उसे जीत लेने की भ्रान्ति में रखना चाहते हैं।

इन लोगों की मनोदशा को इसलिये संशयात्मक कहा है, कि ऐसे लोग अपने को ईश्वरविश्वासी समझने के धोखे में रखकर इस प्रकार के प्रश्न उठाते हैं। ऐसे लोग किसी जीवित ईश्वर को देखना और अपनाना नहीं चाहते। ये ईश्वर की समाधि (कब्र) पर बैठ कर मृत ईश्वर के प्रति गुणमुग्ध होकर, उसी का गुणगान करना चाहते हैं। ये उससे गुणगान के बदले में अपनी सुविधाओं के सम्बन्ध में कुछ अनुकूल भोग माँगना चाहते हैं। ये इतना करके ही ईश्वर के प्रति मानवकर्तव्य को पूरा किया समझ कर संतुष्ट होना चाहते हैं कि ईश्वर आये और कठोर होकर उनके व्यावहारिक जीवन को सत्यपूर्ण बना डाले। ये अपने ईश्वर को इतनी स्वतन्त्रता कदापि नहीं देना चाहते कि वह अपने निर्मम स्वभावानुसार उनके सम्भोग-उद्यान के सुन्दर पशुपक्षियों को मार

डाले और उस उद्यान को तोडफोड दे। वह इनके सम्भोगोद्यान में आकर उसी की रक्षासंवर्धनादि का काम करना चाहे, तो ये अपने ईश्वर से यह काम सहर्ष लेने को उद्यत रहते हैं।

ये चाहते हैं, कि यदि संसार में हमारे इस कामदग्ध हृदय पर शान्तिवारि का सिंचन करनेवाली रामनाम की कोई ऐश्वर्यशक्ति हो, तो वह हमारे बिना चाहे अपने ईश्वरभाव को सुरक्षित रखने को अपने ही किसी प्रयोजन से हमारे पास आ जाय, और अपना भक्तवत्सल ईश्वरपन दिखा सकती हो, तो दिखा दे। हम उसे अपनी ओर से निश्चित आग्रह करके स्वीकार करने का कोई उचित कारण नहीं देखते। हमारे मन में यह विश्वास नहीं है कि रामनाम के पास काम से बढकर मिठास या शान्तिदायिनी शक्ति है। जब इस कुविश्वास से ऐश्वरी शक्ति के अस्तित्व को व्यावहारिक रूप में अस्वीकार कर दिया जाता है, तब रूपरसादि विषयों में चिपटे हुये मूर्ख मन को हाथों से अन्तर्मुख होकर कृतकृत्य बन सकने के अवसर खोये जाने लगते हैं।

अन्तर्मुख होकर आनन्द लूटने के अवसरों को इस प्रकार निर्दय होकर खोते रहना ईश्वरीय सत्ता में संशयाकुलता या नास्तिकपना है। यह नास्तिकता मानवमन की सर्वथा अक्षम्य निर्बलता है। यह ऐसा नास्तिकपना है कि मौखिक रूप से तो ईश्वर को स्वीकार कराता रहता है परन्तु ईश्वरीय सत्ता को अपने ऊपर अधिकार नहीं जमाने देता। यह नास्तिकपना अपने को नास्तिक कहने देना नहीं चाहता। यह नास्तिकपना नास्तिक को ईश्वरविश्वासी होने का झूठा संतोष देता रहकर उसे अपने हानिकारक मायाजाल से जकडता चला जाता है। इस भयंकर जालमयी स्थिति से छुटकारा पाने के लिये बहुत कुछ करने की कल्पना से घबराने की आवश्यकता नहीं है। केवल इतनी ही आवश्यकता है कि किसी भी एक क्षण सत्साहस करके अपनी इंद्रियों को रूपरसस्पर्श आदि विषयों से बलपूर्वक निवृत्त रखकर अन्तर्मुख कर लो।

जब भ्रमर एक बार विकसित कमल का पता पा लेता है, तब जैसे वह अपने को उसी में लीन कर देने के लिये नीरव होकर बैठ जाता है, तब जैसे उसे बाह्य गुंजार की आवश्यकता नहीं रहती; इसी प्रकार यदि तुम मन को एक क्षण के लिये भी बाह्य रूपरस आदि के आकर्षणों से निवृत्त रख लोगे, तो फिर जीवनभर रूप रस आदि के भूखा बनने की भ्रमपूर्ण अवस्था लौट कर नहीं आयेगी! रूपरस आदि से मन को निवृत्त करनेवाली इस क्षण भर की चंद्रकोटि सुशीतल अवस्था में इतनी मधुरिमा और इतना आकर्षण है कि वैभवों से भरे हुये सम्पूर्ण संसार को इससे हार माननी पडती है। मन को विजित अन्तर्मुख या ईश्वराभिमुख करने का यह प्रयत्न केवल क्षण भर करना पडता है। जो काल महाकाल में से टूट टूट कर मनुष्य के पास जो आता है, वह क्षण भर का ही बन कर आता है। इस क्षण भर को जीत लेने से सबका सब काल विजित हो जाता है। जिस प्रकार दुर्ग जीतने से सारा राज्य विजित हो जाता है, इसी प्रकार क्षण की विजय से महाकाल विजित हो जाता है। यह क्षण भर की विजय सम्पूर्ण काल पर लागू हो जाती है।

इस संसार के स्रष्टाने संसार की तथा हमारी देह की रचना अपने मन में हमें सफलता देने की उत्सुकता को रखकर इस आश्चर्यपूर्ण रीति से की है, कि मन इसका विचार करते ही महाकाल पर विजय पानेके लिये उत्साहतत्पर हुये बिना नहीं रहता। यह संपूर्ण संसार और क्या है? यह मानव मन को सत्य का पाठ पढा देने के लिये एक विशाल ज्ञानग्रंथ है। परन्तु इस अति विस्तीर्ण ज्ञानग्रन्थ के पन्ने पन्ने को उलट सकना मनुष्य के लिये सर्वथा असम्भव है। फिर यह मानव-मन इस अवश्य पठनीय ज्ञानग्रन्थ को पढे, तो कैसे पढे? इस जगत् के विधाता ने मनुष्य के लिये इस बात की एक आश्चर्यपूर्ण सुविधा बना दी है। जैसे छोटीसी कोठरी में बैठकर पढा हुआ दिशाओं का पाठ बाहर के समग्र संसार पर लागू हो जाता है, इसी प्रकार विधाता ने मानव के सुभीते के लिये इस विशाल संसारग्रंथ का भी मानवदेह नामवाला एक संक्षिप्त संस्करण (जेबी गुटका) बना दिया है।

उसने प्रत्येक पिण्ड में ब्रह्माण्ड का सर्वस्व भर कर पिंड के द्वारा ही ब्रह्माण्ड को पढ सकने की सुव्यवस्था कर दी है। इसके स्रष्टा अपने मानव को सृष्टिनामवाले इस पारावारहीन विशाल ज्ञानग्रन्थ में से सत्य का जो कुछ

पाठ पढाना चाहते हैं, उस सब को इस साढे तीन हाथ के क्षुद्र मानवदेहद्वारा पढा देते हैं । जब इस मानव को अपने देहविकारों पर विजय पाने का रणकौशल हाथ आ जाता है, तब उसे आश्चर्य से यह देखने को मिलता है, कि यह सारा संसार उसकी विजित तथा परिचित भूमि के अतिरिक्त और कुछ नहीं है । वह जिधर दृष्टि डालता है, उधर ही विजित पदार्थ दीखते हैं । वह समग्र संसार को अपने में आहुति डाल कर धन्य होता हुआ पाता है ।

उसके लिये यह सारा संसार धन्यता दिखानेवाले दर्पण के अतिरिक्त और कुछ नहीं रहता । अर्थात् जो नियम या सुविधा संसार भर पर लागू करना चाहते हो, उसे इस अपने देह पर लागू कर लो, इसी से वह नियम संसार भर पर लागू हो जायगा । संसार भर पर अनायास आनन्ददायी आधिपत्य जमा देनेवाले इस रणकौशल से परिचित मनोवृत्ति ही वीर पुरुष की ईश्वरविषयक निःसंशय मनोवृत्ति है । इस निःसंशय मनोवृत्ति में भी काम को जीतने का प्रश्न उपस्थित रहता है । काम्य समझे जानेवाले पदार्थों से भरा हुआ यह समग्र संसार, वीर और कायर दोनों के सामने अपनी नीरव भाषा में काम को जीतने के महा प्रश्न को रखता रहता है । जितने विचारशील निःसंशय मन हैं, उन में प्रत्येक क्षण यही एकमात्र प्रश्न रहता है । विचारशील मनुष्य अपने जीवन भर अपनी जीवनविधि से इसी महा प्रश्न का सच्चा उत्तर देने में लगा रहता है । काम आते हैं, और वह उन्हें जीतता चला जाता है । कामों की पराजय तथा उसकी विजय निश्चित होती है । मनमें इसी प्रश्नका उदय होते रहना और क्षणक्षण इसी को हल करते रहना, यही शुभ चिन्तन है, यही हरिस्मरण है, इसी को ' राम ' नाम का जप करना कहते हैं ।

संसार के पदार्थ मानवमन के सामने इसी अलौकिक ' रामनाम ' का जप कराने के लिये आते हैं । जब यह प्रश्न निःसंशय मनुष्य के मनमें आता है, तब वह इस प्रश्न के सामने नपुंसक के समान सिर झुका कर खडा नहीं होता । किन्तु वह इस प्रश्न के आते ही दीन मृगको देखते ही उस पर टूट पडनेवाले सिंह के से तेजोदृप्त सावधान विक्रम में भर कर, उस काम को निष्कामभाव में दीक्षित करने के अनन्त उत्साह से काम पर झपटता है और इस काम को अपनी व्रतपारणा (व्रतान्तभोजन) के काम में लाता है । निःसंशय मन जिस प्रकार इस प्रश्न का समाधान करता है, उसको यदि भाषानिबद्ध किया जाय, तो कहना पडेगा कि काम को जीत लेने से ही काम जीता जाता है । काम जीतने का साहस खोकर काम-विजय के सब उपाय निष्फल हो जाते हैं । काम को अपना सिंह तथा स्वयं उसकी वध्य बकरी बन जाने पर दुष्ट काम को ही अनायास विजेता बन जाने का गौरव मिल जाता है । काम को जीतने से, बचते रहने से काम नहीं जीता जाता । सिर पर कामके भूतको चढ जाने देने से काम नहीं जीता जाता । कामके पदार्थ की उपेक्षा और दृढ उपेक्षा करनेसे ही (अर्थात् काम्य पदार्थसे उसका काम्यपना छीन लेने से ही) काम जीता जाता है ।

रूपरस आदि विषय काम्य पदार्थ समझे जाते हैं। कामान्ध लंगडा मन पहले चक्षु आदि इंद्रियों को अपने पैर बना लेता है, और फिर इन पैरों से चलकर रूपरसादि पदार्थों तक पहुँचता है । चक्षु आदि इंद्रिय कामान्ध मन के हाथ पैर हैं । इनके बिना मन से विषयों के पास नहीं जाया जाता । यदि मन को चक्षु, कर्ण आदि को अपना साधन न बनाने दिया जाय, और उसे अंगहीन बना डाला जाय, तो मन को विवश होकर अमृतपान करते रहने का सुअवसर हाथ आ जाता है । जब चक्षु को आकृष्ट करनेवाली वस्तु सामने आये, तब ही आंखों को रोक लो । तब ही विषयगामी चक्षु को भौओं के भीतर रहने की कठोर आज्ञा सुना दो । स्वाद की दासता से प्रेरित होकर स्वादवाली वस्तु को रसना से मत मिलने दो । इसी प्रकार श्रोत्र आदि को भी अपने अपने विषयों से निवृत्त रक्खो । ऐसा किये जाने पर ही मन को अमृत का पान करने के लिये अंधा, लँगडा तथा बहरा होने का सौभाग्य दिया जा सकता है, अन्यथा नहीं ।

जब रूपरसादि विषयों की ललकार हो, तब उन सब को उपेक्षा का ' भागवत ' दे दे कर अपने पूर्णत्व का उपभोग कर लो, यही मन का दिव्य तथा स्पृहणीय पंगुत्व है । उपेक्षा करने का अभिप्राय यही है, कि

उपेक्षणीय वस्तु के अस्तित्व को स्वीकार मत करो। मनुष्य के पास किसीके स्पर्श से बचे रहना ही उसके अस्तित्व को स्वीकार न करने का उपाय है। कोई पदार्थ केवल सृष्टि में होने से ही हमारे मन का भोग्य नहीं हो जाता। जब हमें उसका अस्तित्व स्वीकृत हो जाता है, और जब हम उसके लिये कुछ कर्म करते हैं, तब ही वह हमारा भोग्य बनता है।

रूपरसादि विषय हमारे लिये तब ही भोग्य बनते हैं, जब हम अपनी इंद्रियों को उनसे स्पर्शनाम का कर्म कर लेने देते हैं। यदि हम इस कर्म को करने से बचे रहें, तो यही हमारा विषयों के अस्तित्व को अस्वीकार करना हो जाता है। विषयों को अपनी आंखों के सामने न आने देना मानवशक्ति के अधिकार में नहीं है। विषयों का अस्तित्वलोप या उनका स्थान--परिवर्तन सृष्टि स्थिति, प्रलयकारिणी महाशक्ति के अधिकार में है। मानवशक्ति को विषयों के विषयमें इतना ही सरल सुगम और साध्य अधिकार है कि वह उसको अपना विषय (अर्थात् अपना बन्धक] न मानने की (अर्थात् उसको विषयरूप में अस्वीकार करने की एक छाप इंद्रियसीमा में घुसे हुये प्रत्येक विषय पर भारती रहे। विचारशील मानवका विषयों के सम्बन्ध में इससे भिन्न कोई कर्तव्य नहीं है।

कर्तव्यका क्षेत्र कर्ता की शक्ति से बाहर या अधिक नहीं होना चाहिये। जितनी शक्ति न हो, उतना कर्तव्य नहीं होना चाहिये। जितना कर्तव्य हो मनुष्य के पास उतनी शक्ति अवश्य होनी चाहिये। यदि वह कामकर्ता की सम्पूर्ण शक्ति से न होता हो, तो उसे इसी कारण अकर्तव्य समझकर त्याग देना चाहिये। आत्मपरितोष ही कर्तव्य का मूल मन्त्र है। आत्मग्लानि, अवसाद, अनुत्साह, आदि अवस्थायें कर्तव्य के राज्य से बहिष्कृत हैं। कर्तव्य सदा शक्ति की ही सीमा में सीमित रहनेवाली वस्तु है। कर्तव्य किसी असम्भव प्रयास में लगा देनेवाली वस्तु नहीं है। कर्तव्य के आने से प्रथम ही शक्ति आ चुकी होती है। शक्ति पहिले अवतीर्ण होती है, कर्तव्य पीछे अवतीर्ण होता है। कर्तव्य करने की शक्ति न हो, तो समझ लो कि कर्तव्य नहीं है, वह अकर्तव्य है। जब कि विषयों को भस्मसात् विनष्ट कर डालना अथवा उन्हें अपनी इंद्रियसीमा में न आने देना मनुष्य के अधिकार में नहीं है, तब केवल विषयों के स्पर्श से बचे रहना, यही मानव का कर्तव्य है। इसी को विषयों की उपेक्षा करना कहते हैं। इस दृष्टि से मनुष्य के पास विषयरूपी घातक विष के स्पर्श से बचे रहने के अतिरिक्त इस विषय के अस्तित्व को अस्वीकार करने का दूसरा कोई उपाय नहीं है।

जब निःसंशय मन इस विषयरूपी विष को अस्वीकार कर चुकता है, तब प्रत्येक क्षण अमृत का स्वाद चखने के लिये सत् असत् का विचार करके अपनी सत्यस्वरूप निर्विकार, मानसिक स्थिति नाम की अमृतधारा में शीतल स्नान करता रहता है। ऐसे निःस्पृह मन को पुष्ट करनेवाला ' राम ' है। जो मन स्पृहातुर है, उसे पुष्ट करनेवाला ' काम ' या ' शैतान ' है। स्पृहा ही कामना है, कामना ही स्पृहा है। यह निःस्पृहता स्पृहोत्तेजक प्रश्नों का नकार में उत्तर दे दिये जाने पर ही सुरक्षित रहती है। नहीं तो मनुष्य स्पृहातुर हो जाता है, और उसे दरिद्र बन जाना पडता है। निःस्पृह हो जाना ही पूर्ण हो जाना है। निःस्पृहता ही पूर्णता है ' स्पृहा ' ही ' याचना ' या ' माँग ' है। माँग ही अपराध है। निःस्पृहता अयाचक मनोदशा है। जो अयाचक है, उसका प्रभु ' राम ' है। याचक का प्रभु उसकी ' कामना ' है। अयाचकों को राम ढूंढता फिरता है। याचक राम से बचता फिरता है। याचक अपने ' शैतान ' से माँगता है। उसका शैतान उसे अपना दास बनाये रखने की युक्तियाँ लडाकर उसकी माँग पूरी करके उसका स्वामी बना रहता है और उसे सदा के लिये अपना दास बनाये रहता है।

राम की दानलीला निःस्पृह पुरुष के साथ आठों पहर अपूर्व तथा अनिर्वचनीय ढंग से चलती रहती है। राम अपने अमृत-भण्डार को कहीं निःस्पृह मनुष्य पा जाय तो उसे दे देने के लिये सर्वत्र कंधे पर लिये लिये फिरता रहता है। उससे जो कुछ चाहा जाता है, वह उसे अंधी आंखों से पूरा नहीं करता। वह उस चाह में मन की स्पृहातुरता और निःस्पृहताको ताड लेता है। वह जिसे निःस्पृह देखता है, उसे अपने समग्र अमृतभण्डार का भण्डारी बना देता है। परन्तु जो अमृत का नाम लेकर उससे विष मांगता है, वह उसकी ओर से मुँह

मोड लेता है। वह उसे उपेक्षा की मौनी भाषा में नकारात्मक उत्तर दे देता है। जो उससे कुछ नहीं चाहता, जो अपने में पूर्णता का दर्शन कर लेता है, राम उसे आत्मदान कर देने के लिये उसके पीछे पड जाता है; और उसकी मुट्ठी में अपने अमृतफल को बलात् बालकों जैसी हठकर के ठूँस देता है।

ऐसी जो राम की अनिर्वचनीय बाललीला है, जो उस बाललीला के साथी बन जाने का अधिकारी बन गया है, समझ लो कि वह भी बालक ही है। राम शुद्ध मनको ही अपनी बाललीला का सहचारी बालक बनाता है। रामलीला का सहचारी यह शुद्ध मनरूपी बालक, युवा, तथा वृद्ध सब ही के मन में स्पृहाशून्य बालक के रूप में बैठा है। यदि मनुष्य इस निर्विकार, निर्मोह, निर्लेप, निःस्पृह बालकरूपकोही अपना स्वरूप समझ ले, तो उसे अमृत का अक्षय अधिकारी बनने में क्षण भर की भी देर न लगे; और काम को कैसे जीतें ! इस प्रश्न को भी सद्गति मिल जाय।

[२४] समर्पण का स्वरूप।

मन का स्वभाव सदा इच्छा करते रहना है। कभी कभी यह इच्छा कुछ काम न करने की इच्छा के रूप में भी प्रकट होती है। कुछ काम न करने की इच्छा भी इच्छा ही है। जो मन कभी किसी काम को करने की इच्छा करता है और कभी किसी काम को न करने की इच्छा करता है, वह 'मैं करनेवाला हूँ,' या 'मैं करना त्यागनेवाला हूँ' ऐसी अहंबुद्धि का दास भ्रान्त या अहंकारमूढ मन है। मनुष्यदेहधारण का यही सच्चा अभिप्राय है कि परमात्मा से मिल जाओ। मनुष्य का मन ही परमात्मा से मिलने का साधन है। मन में जो अपने को परमात्मा से पृथक् माननेवाली बुद्धि पायी जाती है, यही इस मन की 'माया' है। अहंबुद्धि का ही दूसरा नाम 'माया' है 'या-माँ' अर्थात् जो नहीं है, जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, वही 'माया' है।

जब मनुष्य इस 'अहम्-बुद्धि' का अस्तित्व ढूंढने चलता है, उस समय उस अहम्-बुद्धि का लोप और निरहंकार-अवस्था का प्रादुर्भाव हो जाता है। इसी से अहम्-बुद्धि को 'माया' कहा जाता है। इस माया के अहंकाररूपी परदेमें ही मनुष्य के मन को परमात्मा से (अर्थात् अपनी शुद्धता से) पृथक् किया है। इसका यह भाव हुआ कि जब यह मन अहंकारबुद्धि से प्रभावित हो जाता है, तब अपने को परमात्मा से पृथक् मानता है, और उत्तरदायित्वहीन भोगपरायण संकुचित जीवन बिताने में रम जाता है। परन्तु जब मनुष्य माया के आवरण को हटाता है, तब उसका मायामुक्त शुद्ध मन अपने को परमात्मा से अभिन्न पाता है, और वह इतने से ही कृतार्थ हो जाता है। अर्थात् जो मन अहंबुद्धि से रहित होकर शुद्ध हो चुका है, वह परमात्मा में विलीन होकर धन्य हो गया है। शुद्ध मन ही परमात्मा का रूप धारण कर लेता है।

जैसे प्याज के छिलके उतारें, तो प्याज नाम की कोई भी साकार वस्तु नहीं रहती, किंवा विश्वव्यापी निराकार अनन्त आस्तित्व ही अस्तित्व शेष रह जाता है, इसी प्रकार यदि हम अपने मन पर पडे हुये 'माया' के आवरण को हटा दें, तो हमारा अहंबुद्धि की मलिन रस्सियों से जकडा हुआ, और वासनारूपी कीचड से सना हुआ मन अदृश्य हो जाय, और निर्विकार निरहंकार, अनादि अनन्त आस्तित्वमय विराट् परमात्मसत्तारूपी शुद्ध मन ही मन दीखने लगे।

यह शुद्ध मन साधारण वस्तु नहीं है। यही सृष्टि, स्थिति, प्रलय करनेवाली विश्वव्यापि का विराट् इच्छाशक्ति का मूल आधार है। यह इतना सब कुछ करनेवाला होकर भी उससे सर्वथा अलिप्त असंग और अप्रभावित बना रहनेवाला साक्षी स्वरूप विराट् (या पूर्ण) अहं है। परन्तु मनुष्य को इस पूर्ण अहं की प्रतीति क्षुद्र 'अहं' का त्याग कर दिये जाने पर ही होती है। पहिले नहीं होती। इस पूर्ण अहं को ही विश्वव्यापी चेतना अथवा सच्चिदानन्दस्वरूप परब्रह्म कहा जाता है। सृष्टि, स्थिति, प्रलय करनेवाली कर्मशक्ति नाम की ब्रह्म की प्रकृति और उस परब्रह्म के ऐक्य (अर्थात् अभिन्न आस्तित्व) का यही मानवोपयोगी तथा मानवगम्य मर्म है, कि वह

(ब्रह्म) प्रकृति से अभिन्न होता हुआ भी उससे निर्लेप है। वह कर्म करता हुआ भी अकर्ता है।

ब्रह्म का होना ही ब्रह्म का कर्तापन है। न तो कोई इस निरन्तर घूमनेवाले विशाल सृष्टिचक्र की विशालता को देख सकता है, और न कोई उसे कल्पना में ला सकता है। इसकी विशालता को कल्पना में लाते हुये कल्पना भी काँपती है। यहाँ किसी को भी इस विशाल चक्र को घुमाने का (अर्थात् सृष्टिकर्ता होने का) अभिमान नहीं है। परन्तु यहाँ सब काम विना रुके हो रहे हैं। यहाँ का सम्पूर्ण प्रबन्ध एक व्यापक अद्वैत आत्मतत्त्व के अस्तित्व नाम के अलौकिक कर्तापन से निर्विघ्न चल रहा है। ब्रह्म के इस स्पृहणीय कर्तापन से प्रकृति में क्रिया आ जाती है। यदि कोई विवेकी मनुष्य ब्रह्म के स्पृहणीय कर्तापन को अपने स्वभाव में ले आय, और निर्लेप रहकर कर्म करने लगे, तो उसे ब्रह्मदर्शन या स्वरूपावस्थान का आनन्द अवश्य प्राप्त हो जाय।

ऐसे पुरुष में प्रकृति और पुरुष का लेपरहित अभेदात्मक सम्बन्ध अवश्य प्रकट हो जाय। जिसे ब्रह्म के सृष्टिप्रबन्ध का मर्म समझना हो, वह उसे अहंकारशून्य पुरुषों के व्यवहारों में देखकर समझ ले। अहंकारशून्य कर्तृत्व में ही ब्रह्म के सृष्टिप्रबन्ध का मर्म छिपा हुआ है। यदि तुम सृष्टिप्रबन्ध के उस मर्म को जानना चाहते हो, तो जो कर्म अहंकारशून्य होकर किये जा सकते हों, केवल उन्हें को किया करो। यही 'माया' तथा ब्रह्म के संबन्ध में मनुष्य के लिये जाननेयोग्य बात है। इससे अधिक जान सकना मनुष्यबुद्धि के लिये अशक्य और अनुपयुक्त है।

शुद्ध मनरूपी परब्रह्म अपनी मायाशक्ति से देहात्मबुद्धिरूपी मलिनता का एक काल्पनिक परदा बना लेता है, और अपनी ब्रह्मानन्द या आत्मानन्द की प्यास बुझाने के लिये ही देह धारण करता है। यह देह उसे ब्रह्मानन्द का स्वाद चखानेवाला है। शुद्ध मन के साथ सृष्टि, स्थिति, प्रलय करनेवाली कर्मशक्ति लगी हुई है। वही देहात्मबुद्धिरूपी मलिन आवरण को हटानेवाली शक्ति है। यदि तुम अपने शुद्ध मन की इस कर्मशक्ति का सदुपयोग कर लोगे, तो तुम्हें अवश्य और अनायास आत्मदर्शन होगा। यदि तुम इस शक्ति का अनुपयोग या दुरुपयोग करोगे, तो आत्मविस्मृति में डूब जाओगे। शुद्ध मन ही कर्मशक्ति का सदुपयोग कर सकता है, अशुद्ध नहीं। शुद्ध मन की निर्विकार अप्रभावित स्थिति मनुष्य की कर्मशक्ति को आत्मदर्शन का विरोध करनेवाले दुष्ट कामों से बचाती रहती है। अशुद्ध मन कर्मशक्ति का दुरुपयोग करता है। वह अपनी प्रभावित स्थिति से अपनी कर्मशक्ति की स्वाभाविक गति को रोक लेता है, और उस (शक्ति) को अहंबुद्धि या अज्ञानरूपी बन्धन में फंसाने में व्यय करता है।

कर्तव्य ही कर्मशक्ति के सदुपयोग करने का आधार है। मनुष्य की कर्मशक्ति मन की निर्विकार स्थिति की रक्षा करने के लिये शुद्ध मन की अज्ञानुसार जिस काम में लगती है, वही कर्तव्य होता है।

(१) एक तो निर्विकार मानसिक स्थिति, (२) दूसरा कर्मशक्ति और (३) तीसरा कर्तव्य, ये तीन ब्रह्मदर्शन या आत्मदर्शन के तीन सुलभ साधन इस देहधारी के पास सदा रहते हैं। ये तीनों पारस्परिक अच्छेद्य सम्बन्ध में जुडे रहते हैं। शुद्ध मन का स्वभाव निर्विकार स्थिति की रक्षा करना है। निर्विकार स्थिति अपने आप ही कर्मशक्ति का सदुपयोग करा लेती है। कर्म-शक्ति देह आदियों को स्वभाव से कर्तव्य में लगाये रहती है। कर्तव्यबुद्धि कर्मशक्ति का सदुपयोग कराती रहती है। निर्विकार स्थिति की रक्षा करने के लिये ही शक्ति का अस्तित्व है। शुद्ध मन का आनन्दस्वरूप में पहुँच जाना ही निर्विकार स्थिति कहाती है। कर्तव्य का सहारा मिलने पर कर्मशक्ति का सदुपयोग होता है।

इस दृष्टि से यदि घटघटवासी देहधारी परब्रह्म आत्मदर्शन करना चाहे, तो उसका केवल यही उपाय है, कि कर्तव्य का पालन करे। जैसे अग्नि की दाहिका शक्ति ईंधन का सहारा पाकर अग्निरूप में प्रकट होती है, इसी प्रकार जब इस कर्मशक्ति को पवित्र कर्तव्य का सहारा मिलता है, तब वह निर्विकार, निरहंकार शुद्ध मन को मेघमुक्त सूर्य के समान अहंबुद्धि नाम की मलिनता के पंजे से छुडा कर उसे स्वयं प्रकाश-अवस्था में प्रकट कर देती है। यदि अग्नि की दाहिका शक्ति ईंधन के साथ असहयोग करेगी, तो उसे स्वधर्मविमुख होकर अग्निदर्शन

से वंचित रह जाना पडेगा। इसी प्रकार यदि तुम मानव-देह में रहनेवाली कर्मशक्ति को कर्तव्य से बचाओगे, तो तुम्हारी इस कर्मविमुखता नामवाली स्वधर्मद्रोहिता का यह परिणाम निकलेगा कि तुम ब्रह्मदर्शन स्वरूपावस्थान या जीवन्मुक्ति आदि नामों से प्रख्यात मानवजीवन के लक्ष्य को नहीं पा सकोगे, और विपथगामी बन जाओगे। शुद्ध मन अपनी कर्मशक्ति को कर्तव्यपालन में लगाकर स्वयं अपनेको प्रकाशित किया करता है।

अर्थात् वह मनुष्य को स्वयं अपनाही दर्शन करा कर उसे धन्य बना देता है। यह शुद्ध मन मानवदेह-वासिनी कर्मशक्ति को विश्वव्यापिका विराट् कर्मशक्ति के साथ जोड देता है। अर्थात् वह इन दोनों के ऐक्य को समझ जाता है, और अपने आप को ब्राह्मी स्थिति में विलीन कर लेता है। जब मानवदेह में बसनेवाले देही को यह स्थिति हाथ लगती है, तब यह 'आत्मसमर्पण की स्थिति' कहाती है। जिस प्रकार बिन्दु सिन्धु में विलीन होकर सिन्धु की अथाह जलराशि को अपना स्वरूप बना लेता है, ऐसे ही जब यह देही अपनी अहंबुद्धि को छोडता है, उस समय अपने आप को भौतिक प्रभावों से अतीत अनन्त ब्राह्मी स्थिति में विलीन कर लेता है, और विश्वरचयित्री विराट् शक्ति से अपना अच्छेद्य सम्बन्ध जोडकर, अनन्त शक्तिमान बन जाता है।

मन के शुद्ध होते ही मनुष्य में अनन्त शक्ति उतर पडती है। मन की अशुद्धता अनन्त शक्ति के मार्ग को रोककर खडी रहती है। मन की शुद्धता ही मनुष्य की अनन्त शक्तिमत्ता है। मनुष्य सत्यठनाव ठान ले, उसे किसी प्रभाव दबाव आकर्षण या लोभादि से न छोडे; इसी में मनुष्य की अनन्त शक्तिमत्ता की प्रदर्शनी है। यदि तुम भौतिक हार न खाने में अनन्त शक्तिमत्ता को देखने की अभिलाषा करोगे, तो धोखे में रहोगे। मनुष्य का मन ही अनन्त शक्तिमत्ता का क्रीडाक्षेत्र है। मानवमन में प्रत्येक क्षण शक्ति और अशक्ति का घोर संग्राम छिडा रहता है। इस रणक्षेत्र में ही मनुष्य की अनन्त शक्तिमत्ता का सदुपयोग होता है।

सृष्टि, स्थिति, प्रलय करनेवाली विराट् इच्छाशक्ति से पृथक् अपनी कोई इच्छा न रखना ही अहंबुद्धिरहित आत्मसमर्पण की मधुर अवस्था है। जब आत्मसमर्पण की अवस्था आती है, तब मनुष्य करनेवाला भी नहीं रहता, और न करनेवाला भी नहीं रहता। तब मनुष्य कुछ छोडनेवाला भी नहीं रहता और पकडनेवाला भी नहीं रहता। मनुष्य की करने और न करने के अहंभाव से रहित जो निर्विकार अप्रभावित स्थिति है, उसे सुरक्षित रखने का केवल यही उपाय है, कि अपनी कर्म-शक्ति को कर्तव्य में लगाये रहो, और देह का सदुपयोग करते रहो।

अपनी कर्मशक्ति को कर्तव्यपालन में लगाकर देह का सदुपयोग करते रहने से भिन्न अध्यात्मसंसार में ऐसा कोई उपाय नहीं है, जिसे करने से निर्विकार अप्रभावित स्थिति मिल सकती हो, या सुरक्षित रह सकती हो। कर्तव्य का पालन करते रहो, उसका अप-मान कभी मत करो, अपनी किसी निर्बलता के कहने से कर्तव्य की अवहेलना कभी मत करो, यही 'कर्ताहं तथा अकर्ताहं' इन दोनों बुद्धियों के अतीत हो जाना है। कर्तव्यविमुख होना तथा कर्ताहं-बुद्धि से प्रभावित होकर अकर्तव्यपरायण होना एक ही बात है। अकर्तव्य-परायण मन सदा अशुद्ध, वासनापंकिल और कुकर्ममग्न रहकर आत्मदर्शन या ईश्वरभक्ति से विमुख रहता है। विषयवासना या क्षुद्र अहंकार पूर्ण आत्मसमर्पण से ही मिटता है। अहंकार का पूर्ण विनाश ही 'समर्पण की अवस्था' है।

वृषभ इन्द्र।

[ले०– श्री० वासुदेवशरण अग्रवाल, लखनौ]

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा।
द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य॥
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति।
महो देवो मर्त्याँ आ विवेश॥ (ऋ० ४।५८।३)

सब मर्त्य मनुष्योंके भीतर एक शक्ति है, जिसे ऋषिने महादेव कहा है। वह महादेव वृषभ भी कहा गया है। वह वृषभ त्रिधाबद्ध होकर डकराता है। उसके चार सींग, तीन पैर, दो सिर और सात हाथ हैं। यह महादेव स्वयं अमृत होकर भी मर्त्यों में प्रविष्ट है। इसीको दार्शनिकोंने जड़--चेतन की ग्रंथि कहा है, जो यद्यपि मृषा है, परन्तु कठिनतासे खुलती है। जो महादेव अनिर्वचनीय और अनिरुक्त रूपवाला है, वही मर्त्य-संपर्क से व्यक्त, मूर्त और निरुक्त बन रहा है। यह महादेव वृषभ इन्द्र है। वेदोंमें जो इन्द्र है, वही उपनिषत् की परिभाषामें आत्मतत्त्व है। उस इन्द्ररूप वृषभ के मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार, चार सींग हैं; ज्ञान, कर्म, उपासना, तीन चरण हैं; त्रिपाद और एकपाद--अनंत और सान्त, दो सिर हैं; और सप्त प्राण या सप्त छन्द सात हाथ हैं। सत्त्व, रज, तम, इन तीन गुणों से यह देही जकडकर बाँधा हुआ है। इस देव की महिमा का वारापार नहीं हैं। अपने स्वरूपमें यह सहस्रशीर्षा और सहस्रपाद है। उसका प्रत्येक रूप विराट्मय है। परन्तु जब उस विराट् का संपर्क मर्त्यसे होता है, तब वह विष्णु भी वामन बन जाता है। साढे तीन हाथमें जकडे हुए महादेव को मूढ लोग वामन और दीन जानकर उसका अनादर करते हैं–

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूत महेश्वरम्॥
(गीता० ९।११)

उन्हें क्या पता, कि जिसे हम वामन, कुब्ज या शक्ति से खर्व समझते हैं, उसका शुद्ध रूप विष्णु है–

वामनो ह विष्णुरास। (शत० १।२।५।५)

विष्णु के त्रेधा विस्तारमें द्यु--पृथिवी--अन्तरिक्ष सब समाये हुए हैं, वह भूत--भविष्य--वर्तमान सबका नापनेवाला है। हम मोह के कारण उस विष्णु के व्यापक रूप को नहीं जान पाते। उसके भूमा स्वरूपमें जो आनंद है, उसका अनुभव तो दूर रहा, हम अल्पता में ही सुख मान बैठे हैं। उस एकरस, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव इन्द्र को मर्त्यधर्मा जन्मजराव्याधिग्रसित जानकर हम दीनहीन बन गये हैं। वेदोंमें कहा है कि वह इन्द्र अपनी माया शक्तियों से अनेक रूप धारण किये हुए हैं--

इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते। (ऋ० ६।४७।१८)

"मीयते अनया इति माया," जो परिमिति करनेवाली है, वह माया है, माया [Finitising principle] एक प्रकार का बल है। भगवान् के शुद्ध रसरूपमें जब माया-बल का आक्रमण होता है, तब उसमें देशकाल की मर्यादाएं प्रकट होती हैं। अनंत से सान्त होना माया है, विष्णु का वामन बनना माया है, अमृत महादेव का मर्त्यों में प्रवेश करना माया है। शं स्वरूपवाला आत्मतत्त्व है। उसपर आवरण डालनेवाला असुर शंबर है। शम्बरासुर पर विजय प्राप्त करकेही इन्द्र अपने स्वराट् पदपर अधिष्ठित होते हैं। इन्द्र की शम्बरविजय ही मनुष्य का आत्मदर्शन है। आत्मदर्शन के विना भवपाश नहीं छूट सकते। कौषतिकी उपनिषद् में कहा है— 'जब तक इंद्रने आत्मा को नहीं जाना, तब तक असुर उसको हराते रहें। जब उसने अपने आपको जान लिया तब वह असुरों को जीतकर सब भूतोंसे श्रेष्ठ और ज्येष्ठ बन गया। उसने स्वराज्य और आधिपत्य प्राप्त कर लिया—

स यावद्ध वा इन्द्र एतमात्मानं न विजज्ञे तावदेनमसुरा अभिबभूवुः। स यदा विजज्ञेऽथ हत्वाऽसुरान् विजित्य सर्वेषां देवानां श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं परीयाय। तथो एवैवं विद्वान्सर्वान् पाप्मनोऽपहत्य सर्वेषां भूतानां

ऐश्वर्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्येति य एवं वेद य एवं वेद । (कौ० उ० ४।२०)

शतपथ-ब्राह्मण में एक स्थान पर ब्रह्मकी उन उपाधियों का वर्णन किया है, जिनके कारण वह लोकोंसे परे रह कर भी उनके अन्दर प्रविष्ट है—

ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् । तद्देवानसृजत । तद्देवान्सृष्ट्वैषु, लोकेषु व्यारोहयद्, अस्मिन्नेव लोकेऽग्निं, वायुमन्तरिक्षे, दिव्येव सूर्यम्॥१॥ अथ येऽत ऊर्ध्वा लोकाः । तद्या अत ऊर्ध्वा देवतास्तेषु ता देवता व्यारोहयत्स यथा हैवेमऽआविर्लोका इमाश्च देवता एवमु हैव त आविर्लोकास्ताश्च देवता येषु ता देवता व्यारोहयत्॥२॥ अथ ब्रह्मैव परार्धमगच्छत् । तत्परार्धं गत्वैक्षत कथं न्विमाँल्लोकान्प्रत्यवेयामिति । तद् द्वाभ्यामेव प्रत्यवैद्रूपेण चैव नाम्ना च...॥३॥ ते हैते ब्रह्मणो महती अभ्वे । स यो हैते ब्रह्मणो महती अभ्वे वेद महद्धैवाभ्वं भवति ॥४॥ ते हैते ब्रह्मणो महती यक्षे । स यो हैते ब्रह्मणो महती यक्षे वेद महद्धैव यक्षं भवति...॥५॥
(शतपथ० ११।२।३)

१. अर्थात् आरम्भमें यह सब ब्रह्मही था । उसने देवोंको बनाया । देवों को उत्पन्न करके, उन्हें इन इन लोकोंपर अधिरूढ किया, पृथिवीपर अग्नि को, अन्तरिक्षपर वायु को और द्युलोक पर सूर्य को ।

२. अब जो देवता इनसे ऊपर बचे, उन्हें उन लोकोंपर अधिष्ठित किया, जो लोक इन तीन लोकों से ऊपर रह गये थे । जिस प्रकार ये तीन लोक और ये तीन देवता प्रत्यक्ष हैं, उसी प्रकार वे ऊर्ध्व देवता और ऊर्ध्व लोक भी प्रकट हैं ।

३. तब ब्रह्म स्वयं इन सब के ऊपर रहा । ऊपर रहकर उसने विचारा कि किस प्रकार मैं पुनः इन लोकोंमें अन्तः प्रविष्ट हो सकता हूँ । तब वह नाम और रूप के द्वारा इनमें प्रविष्ट हुआ ।

४. नाम-रूप, ये ब्रह्म की महती शक्तियां [उत्पादन-सामर्थ्य] हैं । जो इन्हें पहचानता है, वह स्वयं शक्तिमान् बन जाता है ।

५. नामरूप-ये ब्रह्मके दो बडे उपादान हैं । जो इन उपादानों को जानता है, वह स्वयं एक महान् उपादान बन जाता है ।

इसका सारांश यह है कि लोकातीत ब्रह्म नाम और रूप की उपाधि के द्वारा लोकों में समाया हुआ है। लोकातीत रूपमें वह अमृत है, लोकोपहित-रूप में वह मर्त्य-रूप है । मर्त्य धर्मसे छूटने का उपाय अमृतब्रह्म का ज्ञान या दर्शन है । इसी प्रकरणमें शतपथकारने कहा है-

मर्त्या ह वाऽग्रे देवा आसुः ।
स यदैव ते ब्रह्मणापुरथामृता आसुः ॥

अर्थात् देवता स्वयं मरणधर्मा थे, जब वे ब्रह्म से व्याप्त हुए, तब अमर बने । मनुष्य भी देवों के समान नाम रूपात्मक अंश से मर्त्य है । आत्मरूप चैतन्य से व्याप्त होकर वह अमृत होता है । उस आत्मज्योति का दर्शन ही अमृतत्वप्राप्ति का उपाय है ।

वैदिक अध्यात्मशास्त्र में ब्रह्म (परमात्मा) और आत्मा दोनों इन्द्र की संज्ञाएं हैं । इन्द्र की शक्ति से संचालित होनेवाले देव हमारे शरीर में इन्द्रियां कहलाते हैं । इन्द्र की शक्ति से इन्द्रियां बलवती होती हैं । इन्द्र के शासन से नियन्त्रित इन्द्रियशक्ति कल्याणमार्ग की ओर ले जाती है । जब इन्द्र और इन्द्रियों का विरोध होता है, तभी अध्यात्मसंग्राम प्रारम्भ हो जाता है । इस संग्राम के अनेक रूपक वैदिक उपाख्यानों में पाये जाते हैं । यह देवासुर-संग्राम पाप और पुण्य की प्रवृत्तियोंका पारस्परिक युद्ध है। देव और असुर दोनों प्रजापति की संतान हैं । प्रजापति के विधान से ही असुर पापमय बने हैं और देव ज्योतिर्मय। सृष्टि के मूल से ही पाप और पुण्य, प्रकाश और अन्धकार, चेतन और अचेतन, सत्य और अनृत, तथा समाधि और व्याधि का द्वन्द्व चला आता है । ब्रह्म के **'एकोऽहं बहु स्याम्'** संकल्प का आदिरूप यह द्वैत है । ब्रह्माण्डगत समस्त प्रक्रियाओं में इसके दर्शन होते हैं । भौतिक सृष्टि या प्रकृति के रोम-रोम में द्वैत की यह दुर्धर्ष धारा बह रही है । अव्यक्त दशा में (अग्रे) यह शक्ति एक होते हुए भी प्रकट रूपमें अनेक है । इसी भावको भारतीय ऋषियों ने अनुभव की पैनी दृष्टि से आत्मसात करके दो प्रसिद्ध सूत्रोंद्वारा व्यक्त किया है, अर्थात्—

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति ।

तथा—

एकमेवाद्वितीयम् ।

वेदोंमें कहा है—

विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ।

अर्थात् इन्द्र अन्य सब से श्रेष्ठ है। वह सर्वभूतमहेश्वर या महादेव है। इंद्र अप्रतिरथ है, वह शतक्रतु [अनन्त शक्ति वाला] है। उसे अन्य देवोंका सम्राट् कहा जाता है। देवों ने कहा- इंद्र हम सब में वीर्यवान् है—

१. ते [देवाः] होचुः। इन्द्रो वै नो वीर्यवत्तमः।
(श० ४।६।६।३)

२. इन्द्रः खलु वै श्रेष्ठो देवतानामुपदेशनात्।
(तै० २।३।१।३)

३. तस्मादाहुरिन्द्रः सर्वा देवता इन्द्रश्रेष्ठा देवा इति।
(श० ११।६।३।२२)

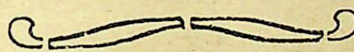
४. इंद्रो वै देवानामोजिष्ठो बलिष्ठः सहिष्ठः ।
५. सत्तमः पारयिष्णुतमः । (ऐतरेय ब्रा० ७।१६)

अर्थात् इन्द्र वीर्य, बल, ओज, प्रभाव में सबसे अधिक है। वह एक वीर है। जहां तक इन्द्र की पहुंच है, वहां तक अन्य कोई देव नहीं जा सका। केन उपनिषद् में इंद्र की महिमा को बतानेवाली एक सुन्दर कथा है। अग्निने कहा- 'मैं जातवेदा हूं, जिसे चाहूं भस्म कर दूं।' पर यक्ष के दिये हुए एक तिनके को अग्नि नहीं जला सका। वायु ने कहा- मैं मातरिश्वा हूं, जिसे चाहूं उडाकर फेंक दूं। यक्षने उसके आगे एक तिनका रख दिया। वायु जोर लगा कर थक गया, पर तिनके को न हिला सका। तब देवोंने इंद्रसे कहा--'तुम यक्ष का ज्ञान करो, यह है कौन?' इंद्रके समक्ष यक्ष अन्तर्धान हो गया। तब उमा नामक प्रज्ञा की सहायता से इंद्र या आत्मा ने ब्रह्म का प्रत्यक्ष किया।

इंद्रोऽतितरामिव अन्यान् देवान्। स हि एनत् नेदिष्ठं पस्पर्श, स हि एनत् प्रथमो विदाञ्चकार ब्रह्मेति।

अग्नि, सूर्य, वायु, वरुण, अनेक देव एक शक्ति के रूप हैं। ये नाना दिव्य शक्तियां [Heat, Light, Electricity, Magnetism आदि] ब्रह्मांड का कार्य-संचालन कर रही हैं। पर सब की आधार-शिला ब्रह्मही है।

ब्रह्माण्ड और पिंड की समता पर वैदिक साहित्यमें बार-बार लक्ष्य किया गया है। ब्रह्माण्ड में जो सूर्यादि देव हैं या दिव्य शक्तियां [Cosmic Forces] हैं, उनके प्रतिनिधि इस शरीरमें भी हैं। पिण्ड और ब्रह्माण्ड दोनों में एक ही जीवनप्रवाह (Life-flow) है, एक ही प्राणसूत्र ओतप्रोत है। अन्दर और बाहर की समता ही शांति और सुख का कारण है। बाह्य विद्युत् में जो परिवर्तन होते हैं, उनका प्रभाव शरीर पर पडे बिना नहीं रहता, क्योंकि विराट प्राण और अध्यात्म प्राण में गूढ एकता है।



भारतवर्षमें वैदिक-साहित्यका प्रकाशनकार्य।

[लेखक- श्री० वासुदेवशरण अग्रवाल, लखनौ]

वेद संसार का प्राचीनतम साहित्य है। भारतवर्षके लिए तो वेद आर्यसंस्कृतिके प्राण ही हैं। सचाईके साथ भारतीय संस्कृति और इतिहास के आदिस्रोत की खोज करते हुए हमें अनेक युगों में से पार होकर अन्ततोगत्वा वेदों की शरणमें जाना पडेगा। वेदोंकी यह महत्ता किसी संप्रदाय-विशेष की दृष्टि से नहीं है और न उपरोक्त वाक्यों को लिखते हुए किसी प्रकार के पक्षपात या अभिनिवेश में ही जकडे रहने का डट है, बल्कि हिंदुओं के समस्त शास्त्र और चिरकालीन ऐतिहासिक जीवन की सम्मिलित साक्षी वेदों को इस उच्च पद पर प्रतिष्ठित करती है। बहुत प्रमाणों के ऊहापोह से क्या लाभ, मनु और व्यास जैसे राष्ट्रनिर्माता लेखक भी बडे आदर से वैदिक साहित्य की ओर हमारा ध्यान खीचते हैं।

आधुनिक समय में वेद के अध्ययन की दो धाराएं चलीं। दोनों का प्रारम्भ उन्नीसवी सदीमें हुआ। एक धारा योरप में फैली, उसके प्रवर्तक योरपीय देशोंके विद्वान् थे। जिनमें सबसे अधिक यशके भागी मैक्समूलर हुए। उन्होंने ऋग्वेदके प्रकाशन का इतना बडा कार्य किया जो आजतक पूर्व और पश्चिम के सभी विद्वानों में सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है। मैक्समूलरने सायणभाष्य के समेत सम्पूर्ण ऋग्वेद छः जिल्दों में १८४९ से १८७५ तकके दीर्घ समय में अत्यन्त परिश्रम से सम्पादन और प्रकाशन किया। इस के अतिरिक्त मैक्समूलर ने मूल ऋग्वेदके दसों मण्डल दो जिल्दों में १८७३में लन्दनसे प्रकाशित किया, जिसमें प्रत्येक मंत्र का संहितापाठ और पदपाठ साथ साथ दिया गया है।

इस महत्त्वपूर्ण कार्य से ऋग्वेद के अध्ययन की ओर विशेषरूप से विद्वानों का ध्यान आकर्षित हुआ। लगभग इसी समय विलसन ने मूल ऋग्वेद का अंगरेजी अनुवाद छः जिल्दों में प्रकाशित किया। वेदके शब्दार्थ को समझाने में जर्मनीके आदरणीय विद्वान् रॉथने अपने संस्कृत-जर्मन विश्वकोष के द्वारा सब से अधिक सफलता प्राप्त की। इस प्रकार पश्चिममें जिस वैदिक धारा का सूत्रपात हुआ, वह बडे वेगसे लगभग पौन शताब्दी तक बहती रही। अवश्य ही इस समय उसका प्रवाह कुछ रुक सा गया है, जैसा कि प्रो० टामसने डाक्टर रीले की पुस्तक 'Vedic Gods as Figures of Biology' की भूमिकामें लिखा है—

'This looks like a case of stalemate when no theory can claim general acceptance.'

वैदिक प्रकाशन और स्वाध्यायकी दूसरी धारा उन्नीसवीं शताब्दी के मध्यभाग से भारतवर्षमें प्रचलित हुई। इस धारा के प्रवर्तन का सबसे अधिक श्रेय स्वामी दयानन्द सरस्वती को है। उन्होंने अपनी सारी शक्ति से अपने देश-वासियोंका ध्यान वेदों की ओर खींचा। स्वामिजीके पहले के भारतीय विचारक प्रायः करके दर्शनों तक या उपनिषदों तक पहुंचकर रुक जाते थे। उनकी दृष्टि में उपनिषदों को श्रुति का दर्जा प्राप्त था। इसलिए भारतीय विद्वत्समाज के ज्ञानक्षेत्र में उपनिषदों और वेदों के बीच में एक गहरी खाई पड गई थी। स्वामी दयानन्द ने, जैसा कि प्रतिभा-शाली व्यक्तियों की विशेषता होती है, अपनी अनुपम सूझ से इस खाई को पार करके मूल वेदों तक पहुंचने का मार्ग प्रशस्त कर दिया। उन्होंने स्वयं संपूर्ण यजुर्वेद और ऋग्वेद के लगभग तीनचौथाई भाग पर विस्तृत भाष्य संस्कृत और हिंदी भाषा में लिखा। स्वामी दयानन्द का वेदसम्बन्धी उत्साह उनके देशवासियों को बहुत रुचिकर प्रतीत हुआ और उनके वैदिक सन्देश से भारतवर्ष के ज्ञानक्षेत्र में बहुत ही उर्वराभूमि प्राप्त हुई। भारतवर्ष में उन्नीसवी सदी की वैदिक धारा उत्तरोत्तर उन्नति प्राप्त करती गई और आजतक वह अनेक रूपों में हरीभरी होकर बढ रही है। वैदिक विचार और ऋषियों के अध्यात्मसंदेश ने भारतीय पुनरुत्थानके क्षेत्र में अपने लिए एक विशेष स्थान प्राप्त कर लिया है। सर राधाकृष्णन्, रवीन्द्रनाथ, अरविन्द

घोष जैसे प्रतिनिधि लेखक भी वैदिक विचार और ज्ञान-पद्धतिसे प्रभावित हुए हैं ।

वेदसम्बन्धी कार्य के स्वाभाविक दो भाग हैं, एक अर्थ-सम्बन्धी, दूसरा शब्दसम्बन्धी । अर्थसम्बन्धी कार्य के अन्तर्गत वेदों की व्याख्या, मंत्रोंका गूढ रहस्यविवरण और वैदिक परिभाषाओं का उद्घाटन आदि सम्मिलित है। शब्दसम्बन्धी कार्य के अन्तर्गत वैदिक संहिताओं और भाष्यों का प्रकाशन एवं कोष और अनुक्रमणी आदि का निर्माण-कार्य है । अब हम संक्षेप में यह बताना चाहते हैं कि, इन दोनों दिशाओं में भारतीय साहित्यिक जगत् में कहां कहां और क्या उल्लेखनीय कार्य हुआ और हो रहा है।

स्वामी दयानन्दके समय में अजमेर में वैदिक यन्त्रालय और परोपकारिणी सभाकी स्थापना मुख्यत: किसी प्रयोजन से हुई थी, कि वह वैदिक प्रकाशन का कार्य करे । इस संस्थाने स्वामी दयानन्द के भाष्यों के अतिरिक्त चारों मूल संहिताओं का एक सस्ता और सुलभ संस्करण प्रकाशित किया । जिसके साथही सब वेदमन्त्रों की अकारादि सूची भी छापी गई । मूल संहिताओं की दृष्टि से यही संस्करण अब तक सुप्राप्य होने के कारण यहाँ चालू रहा । वैदिक यन्त्रालय की ओर से मूल शतपथब्राह्मण छापने के सिवाय और कोई बडा काम अबतक नहीं हुआ । इधर कुछ समय से अजमेर में 'आर्यसाहित्यमण्डल' नामक संस्थाने चारों वेदों का मूल मन्त्रों के साथ हिन्दी भाष्य प्रकाशित किया है। इस भाष्य के लेखक पं० जयदेव शर्मा मीमांसातीर्थ हैं और इस की शैली मुख्यत: स्वामी दयानन्द-प्रदर्शित-शैली के अनुकूल ही है। आर्यसमाज के क्षेत्र में इस भाष्य की अच्छी चर्चा है । उच्च अध्यात्म और ब्राह्मण-ग्रन्थों में प्रदर्शित परिभाषाओं की दृष्टि से यह भाष्य विशेष विचारोत्तेजक नहीं कहा जा सकता ।

राजस्थान में वैदिक स्वाध्याय का दूसरा क्षेत्र जयपुर है। यहाँ लगभग पचास वर्षों से वैदिक विज्ञान के अगाध समुद्र एक तपस्वी ब्राह्मणने वेदोंकी प्राचीनतम परिभाषाओं के रहस्य का उद्घाटन करने के लिए सन्तत परिश्रम किया। उन पुण्यात्मा ऋषि का नाम पं० मधुसूदन ओझा है। अभी गत वर्ष आप का शरीर पूरा हुआ। मधुसूदनजी को वैदिक साहित्यपर और संस्कृत भाषापर असामान्य अधिकार था। वे गूढतम वैदिक दर्शन जैसे विषयों को लेकर उच्च कोटि के संस्कृत छन्दों में काव्य-रचना किया करते थे । उनके बनाए हुए लगभग सौ ग्रन्थ कहे जाते हैं, जिनमें अधिकांश श्लोकबद्ध हैं । अकेले नासदीय सूक्त पर सदसद्वाद, अहोरात्र-वाद, रजोवाद, अम्भोवाद, व्योमवाद, अमृतमृत्युवाद, संशयतदुच्छेद-वाद आदि दस ग्रन्थों की रचना की है। और भी बहुमूल्य ग्रन्थ उन्होंने लिखे हैं। वेद के रहस्य अर्थों को समझाने के लिए बीसवीं शताब्दी में जितने प्रयत्न हुए हैं, उनमें ओझाजीका प्रयत्न सबसे बढ कर है। अर्थप्रकाशनकी दृष्टिसे ओझाजीका कार्य हमारे साहित्यिक जगत् में एक महत्त्वपूर्ण घटना है, जिससे राष्ट्रीय मस्तिष्कमें बहुत कुछ पुराना अन्धकार दूर होकर नवीन प्रकाश फैलने की आशा है । पारिभाषिक शब्दों को ठीक प्रकार से समझकर उनके परम्परागत ब्राह्मण-प्रदर्शित अर्थों की रक्षा करते हुए रहस्य को समझा देना यह बात केवल ओझाजीमें ही देखी जाती है। ओझाजीके ग्रन्थोंके सुसम्पादित संस्करण प्रकाशित होने की बडी आवश्यकता है । भारतराष्ट्र की किसी साहित्यिक एकेडमी को यह कार्य किसी दिन करना ही पडेगा। मधु-सूदनजीके नाम के साथ उनके तेजस्वी और मेधावी शिष्य पं० मोतीलालजी शास्त्री का नाम साहित्यिक कार्य की दृष्टि से जुडा हुआ है। जो कार्य मधुसूदनजीने संस्कृत भाषा में किया, उसे अब पं० मोतीलालजी हिन्दी भाषाके द्वारा पूरा कर रहे हैं । उन्होंने अबतक कई सहस्र पृष्ठोंका वैदिक साहित्य हिन्दी भाषा में प्रकाशित कर दिया है, जिसका विशेष विवरण हम 'वैदिक धर्म'के जूनके अङ्कमें दे चुके हैं।

वर्तमानकाल में वैदिक साहित्य का एक बडा क्षेत्र लाहौर हैं । वहाँ इस कार्य के प्रवर्तक तीन व्यक्ति हैं—

पं० भगवतदत्त, पं० विश्वबन्धु और डॉ० रघुवीर। पं० भगवतदत्तने डी. ए. वी. कालिज, लाहौरके रिसर्च-विभाग में वैदिक अनुसन्धान का कार्य बडी लगन के साथ किया। उन्होंने वैदिक साहित्यके हस्तलिखित ग्रन्थोंका बहुत अच्छा संग्रह रिसर्च-विभाग के पुस्तकालयमें इकट्ठा किया। हस्त-लिखित ग्रन्थोंकी खोजमें पं०भगवतदत्त की प्रतिभा बेजोड है। वैदिक ग्रन्थों की थांग जैसी भगवतदत्त को है वैसी भारतवर्षमें इस समय कम लोगों को थी। उन्होंने चिर

काल से लुप्त जैमिनीय ब्राह्मणका पता लगाया, जो महत्त्व और परिमाण में शतपथ के जैसा ही है। खेद है कि कुछ वर्षों से डी० ए० वी० कालिज और पं० भगवतदत्त का सम्बन्ध अलग हो गया है। नवीन ग्रन्थों के निर्माण में भी पं०भगवतदत्तने अच्छा काम किया। उन्होंने तीन भागों में वैदिक शाखा, वैदिक भाष्यकार तथा ब्राह्मण और आरण्यकोंका इतिहास लिखा है, जो अबतकके किसी भी भाषा में प्रकाशित सब इतिहासों से अधिक परिपूर्ण है। हर्ष की बात है कि यह इतिहास लगभग एक सहस्र पृष्ठों में हिन्दी भाषा में ही पूरा हुआ है। इसी प्रसंग में उक्त पण्डितजी के एक अन्य महत्त्वपूर्ण कार्य का उल्लेख किए बिना हम आगे नहीं बढ सकते। वह ग्रन्थ वैदिक कोष है, इस ग्रन्थ को ब्राह्मणों के पारिभाषिक शब्दों का महासागर कह सकते हैं। डी० ए० वी० कालिज रिसर्चपुस्तकालय के पुस्तकाध्यक्ष पं० हंसराजजीने इस कोषका संग्रह किया है। इस के सात सौ पृष्ठों में ब्राह्मणग्रन्थोंके प्रसिद्ध शब्दों की एक विशाल सूची है और प्रत्येक शब्दों के आगे भिन्नभिन्न अर्थों के सूचक अनेक उद्धरण मूल ग्रन्थों से इकट्ठे किये गए हैं। केवल इन्दु के अर्थसूचक लगभग दो सौ उद्धरण हैं, जिनसे ब्राह्मणोंके प्रवचनकर्ता ऋषियों की विराट् कल्पना का सजीव चित्र सामने आ जाता है। इस प्रकार का कोष स्वाध्याय करनेवालों के लिए कामधेनु का काम देगा।

लाहौर में वैदिक रिसर्च का दूसरा केन्द्र विश्वेश्वरानन्द रिसर्च इंस्टीट्यूट है। इस के वर्तमान अध्यक्ष पं० विश्वबन्धुशास्त्री हैं, जो इधर कुछ वर्षों से डी. ए. वी. रिसर्च-विभाग के भी अध्यक्ष हो गए हैं। बहुत समय पहले स्वामी विश्वेश्वरानन्द और स्वामी नित्यानन्द नाम के दो संन्यासियोंने चारों वेदों की शब्दानुक्रमणी (Word-Index) प्रकाशित की थी। वह पुस्तक आज भी विद्वानों के बडे काम की है। स्वामी विश्वेश्वरानन्द के नाम पर स्थापित संस्था के द्वारा पं० विश्वबन्धुने अनुक्रमणी और कोष निर्माण के कार्य को आगे बढाया है। फलतः जिस प्रकार मूल चार संहिताओं की शब्दसूची पहले छप चुकी थी, उसी प्रकार समस्त उपलब्ध ब्राह्मण और आरण्यक ग्रन्थों के सब शब्दों की अकारादि क्रमसे सम्पूर्ण सूची दो बडी जिल्दों में लगभग एक सहस्र पृष्ठों में अत्यन्त सुन्दर रूप में प्रकाशित की है। इस ग्रन्थ का नाम 'वैदिक पदानुक्रमकोष' (A Vedic Word-Concordance, Vol. II, Brahmanas and Aranyakas) है। दोनों भागों का मूल्य पचास रुपये हैं। भाषाशास्त्र की दृष्टि से यह ग्रन्थ बडे काम का है। ब्राह्मण और आरण्यकों के समय में जैसी सुन्दर और अर्थगर्भित शैली का विकास हुआ, वैसी फिर संस्कृतसाहित्यमें देखनेको नहीं मिली। उस समृद्ध भाषा के लेखकोंने कितने बडे शब्दभण्डारसे काम लिया, किन उपसर्ग और किन धातुओं का सम्मिलित प्रयोग उनके समय में होता था, इत्यादि विषय व्याकरण और निरुक्त की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। उनके अध्ययन के लिए यह कोष सब से अधिक सहायक हो सकता है। इस संस्थाकी ओर से समस्त वैदिक सूत्रग्रन्थों की शब्दसूची भी तैय्यार कराई जा चुकी है, परन्तु अभी इस का प्रकाशन नहीं हो सका है। सूचियोंका काम समाप्त होनेके बाद इस संस्था की ओर से वैदिक शब्दार्थ पारिजात नामसे एक बृहत् शब्दार्थकोष (A Complete Vedic Etymological Dictionary) छपाने की आयोजना है, जिसका एक नमूनेका भाग छप भी चुका है। उसमें वैदिक शब्दों के पूर्व और पश्चिमी विद्वानों द्वारा किये हुए सब अर्थों का संग्रह और विवेचन रहेगा।

लाहौरमें वैदिक अध्ययन और प्रकाशनके तीसरे निमित्त प्रो० डॉ० रघुवीर हैं। आप सनातन धर्म कालिज में संस्कृतके प्रोफेसर हैं। आपने एक संस्था 'International Academy of Vedic Culture [भारतीय विद्या की आन्तरराष्ट्रीय परिषद्] नामसे स्थापित की है। उसकी ओर से बहुमूल्य साहित्य का प्रकाशन कर रहे हैं। दो जापानी छात्र आपके यहां उक्त संस्थामें अध्ययन करके ग्रन्थनिर्माण का कार्य कर चुके हैं। आपका इस बात पर विशेष ध्यान है, कि जो भी वैदिक ग्रन्थ छपें, उनकी छपाई विदेशी ग्रन्थों से भी श्रेष्ठ हो। आपने अथर्ववेद की पैप्पलाद शाखाकी संहिताका बहुतही मनमोहक संस्करण प्रकाशित किया है। यह संहिता कश्मीर की शारदालिपि के मूल हस्तलेखसे फोटोग्राफीक द्वारा हूब वैसी ही योरप में छपी थी, जिसका मूल्य कई सौ रुपया है। इसके अलग अलग काण्ड अमरीका की ओरियन्टल सोसाइटी की मुखपत्रिकामें समय समय से छपते रहते हैं। डॉ० रघुवीरने

अपने संस्करण के द्वारा भारतीय प्रकाशन को सम्मानित किया है। उन्होंने कृष्णयजुर्वेद की कठ-कपिष्ठल संहिता का भी प्रकाशन किया है। दूसरा बहुत बडा काम जो डॉ० रघुवीर कर रहे हैं, वह जैमिनीय ब्राह्मण का जिसकी हस्तलिखित प्रतिका उल्लेख ऊपर आ चुका है, सम्पादन और प्रकाशन है। हजारों वर्षोंसे सामवेद का यह ब्राह्मण लुप्त पडा था, यद्यपि अध्यात्म-अर्थों की दृष्टि से इसका महत्त्व शतपथ के सिवाय और सब ब्राह्मणग्रन्थोंसे अधिक है। अभीतक इसके दो भाग प्रकाशित हो चुके हैं। डॉ० रघुवीरने बाराह श्रौतसूत्र एवं द्राह्यायण श्रौतसूत्र का सम्पादन किया है। वे लाहौर से प्रकाशित होनेवाले वैदिक जर्नल के भी सम्पादक थे। अब यह पत्र बन्द हो गया है। वेदाङ्ग और प्रातिशाख्यों के क्षेत्रमें लाहौर के प्रसिद्ध कार्यकर्ता डॉ० सूर्यकान्त हैं, जो डी० ए० वी० कालिज लाहौरमें काम करते हैं। उन्होंने सामवेदीय ऋक्तन्त्र नामक प्रातिशाख्य और अथर्वप्रातिशाख्य के सुसम्पादित संस्करण प्रकाशित किये हैं, जो पाण्डित्य की दृष्टिसे बडे टकसाली हैं। निरुक्तके मूल और भाष्यों के प्रकाशन का कार्य डॉ० लक्ष्मणस्वरूपने किया है। उनका स्कन्द स्वामीके भाष्य का संस्करण माननीय है। अभी गतवर्ष डॉ० लक्ष्मणस्वरूपने ऋग्वेद के वेङ्कटमाधवीय भाष्य को, जो सायणसे भी प्राचीन है, प्रकाशित किया है। उपरोक्त विवरण से ज्ञात होता है कि वर्तमान समय में वैदिक प्रकाशन के लिये लाहौर एक अच्छा केन्द्र बन गया है, और आशा है कि भविष्य में यह कार्य वहां के विद्वानों द्वारा एवं दो उत्साही प्रकाशकों के सहयोग से और भी अधिक अग्रसर होगा।

संयुक्त प्रान्त वैदिक प्रकाशन में बहुत पिछडा हुआ है। डॉ० मंगलदेव शास्त्रीने ऋक्प्रातिशाख्य का मूल और अंगरेजी अनुवाद प्रकाशित किया है। काशीसे ताण्ड्य महाब्राह्मण और काण्व-संहिता भी छपी है। पं० क्षेमकरण दास का अथर्वभाष्य आर्यसमाज की शैली के अनुगत है। संयुक्त प्रान्तमें अर्वाचीन ढंगसे चलनेवाले एक वैदिक इन्स्टीट्यूट की बहुत आवश्यकता है। वृन्दावन का वैदिक संस्थान यजुर्वेद के बीस अध्यायों का हिंदी अनुवाद प्रकाशित करने के बाद बन्द हो गया।

कलकत्तेमें वैदिक ग्रन्थों का प्रकाशन प्रारम्भ में अच्छा रहा। एशिया सोसायटी बंगाल की ग्रन्थमाला में ताण्ड्य महाब्राह्मण का सायणभाष्य छपा था, एवं पं० सत्यव्रत सामाश्रमी ने सामवेद की गान-संहिताएं और सभाष्य निरुक्त भी प्रकाशित कराया था। बंग भाषामें पं० दुर्गादास लाहिलीने चारों वेदों का बृहत् भाष्य छापा था, जिसका मूल्य कई सौ रुपये है और जो पृथिवीर इतिहास-आफिस हवडा से प्राप्य है। वर्तमान समय में इंडियन रिसर्च इन्स्टीट्यूट कलकत्तेने वैदिक सीरीज में ऋग्वेदसंहिता के सायणभाष्य को बहुत टीकाटिप्पणीसमेत, एवं उसके अन्तमें अंगरेजी अनुवादविशिष्ट टिप्पणी और व्याख्या के साथ छापना प्रारम्भ किया। मासिकरूपमें कुछ दिन निकलकर यह स्थगित कर दिया गया है। इसके अन्तमें ऋग्वेदसंहिताका सायणाचार्य के अनुसार भाषानुवाद भी प्रकाशित होता था। वैसे संपूर्ण ऋग्वेदके मूल मन्त्रों का हिंदी अनुवाद गंगाकार्यालय, सुलतानगञ्ज, भागलपूर से छप चुका है। लाहौर की तुलनामें कलकत्ते का नम्बर वैदिक ग्रन्थों की दृष्टि से बहुत पीछे है।

मदरासमें डॉ० सी० कुन्हन राजा वैदिक साहित्य के प्रेमी हैं। वे अदयार रिसर्च विभाग के अध्यक्ष और मद्रास यूनिवर्सिटी में संस्कृत के प्रोफेसर हैं। उन्होंने ऋग्वेद के वेङ्कटमाधवभाष्य का प्रथम खण्ड प्रकाशित कराया है। उनका कार्य अभी प्रारम्भिक दशा में है और आशा है आगे उन्नति करेगा। किसी समय डॉ० बरनलने मंगलूर से सामवेद के ब्राह्मणों का अच्छा प्रकाशन किया था, पर वह परम्परा आगे नहीं बढी। मदरासप्रान्त में संस्कृतके ताडपत्रपर लिखे ग्रन्थों के अनेक भण्डार हैं। उनमें वैदिक साहित्य के भी अच्छे ग्रन्थ हैं। वहाँ से प्रकाशनकार्य सफलतापूर्वक किया जा सकता है। सौभाग्य से वेदों के सायणादि अधिकांश भाष्यकार दक्षिण भारत के ही थे।

माइसोर सरकार एक ओरिएन्टल सीरीज़ प्रकाशित करती है। उसमें भट्ट भास्करके तैत्तिरीय ब्राह्मण का संस्करण कई भागों में बहुत सुन्दर प्रकाशित हुआ है। डा० शामा शास्त्रीने वैदिक ज्योतिष पर भी बहुत अनुसंधान का कार्य किया है, तथा 'गवामयन' और 'द्रप्स' नामक दो पांडित्य-पूर्ण निबंध पुस्तकाकार प्रकाशित किए हैं।

बंबई प्रांत में वैदिक प्रकाशन का कार्य प्रारम्भ से बहुत अच्छी दशामें रहा है और आज भी उन्नतिशील है। प्रारंभ में श्रीयुत एस० पी० पण्डितने अथर्ववेदसंहिता को सायण-भाष्य और शब्दसूची के साथ चार बडी जिल्दों में गवर्नमेंट प्रेससे प्रकाशित किया। यह संस्करण मैक्समूलरके ऋग्वेद के ढंग का था। संस्कृत ग्रंथों के उद्धार में बंबई के निर्णय-सागर प्रेसने बहुत बडा कार्य किया है। उस के मूल ऋग्वेद और यजुर्वेद तथा यजुर्वेदीय उवट-महीधरभाष्य आज भी प्रचलित हैं। वेङ्कटेश्वर प्रेस का अधिक ध्यान पुराणसाहित्य की ओर रहा। यजुर्वेद का हिंदीमें मिश्र भाष्य वहां से छपा, जो महीधर के अनुकूल है।

इस समय बंबई का कार्यक्षेत्र पूना उठकर आ गया है। पूना में आनंदाश्रम प्रतिष्ठित साहित्यिक प्रकाशनसंस्था है, जो शुद्ध पूर्वी ढंग से चल रही है। उसकी ओर से कुछ ब्राह्मणग्रंथ बहुतही सुलभ कर दिये गये हैं-- जैसे सायण-भाष्यसहित तैत्तिरीय और ऐतरेय ब्राह्मण, मूल कौषीत-की ब्राह्मण और आरण्यक एवं सायण के भाष्य के साथही ऐतरेय और तैत्तिरीय आरण्यक। ये ग्रंथ वैदिक विद्वानों के लिए विशेष उपयोगी हैं। इस संस्थाने मीमांसाशास्त्र के भी अच्छे ग्रन्थ छापे हैं, जैसे जैमिनीय न्यायमालाविस्तार और मीमांसासूत्रोंपर सम्पूर्ण शाबर भाष्य पूनाके भाण्डारकर इंस्टीट्यूट ने कुल शाबरभाष्य का अंगरेजी अनुवाद भी तीन बडी जिल्दोंमें छपा दिया है। इसके रचयिता 'पुराण-मुनि' पं० गंगानाथ झा हैं। यह कार्य आन्तर्राष्ट्रीय गौरव का है।

परन्तु मैक्समूलर के सायणभाष्य को भी पीछे छोड जानेवाला दूसरा एक संस्करण हाल में पूना में प्रकाशित हुआ है। इस कार्य का विस्तार करनेवाली संस्था का नाम है तिलक वैदिक इन्स्टीट्यूट, जिसकी स्थापना स्वर्गीय लोकमान्य तिलक के नामपर उनके विद्यादायको आगे चलाने के लिए हुई है। यहां से ऋग्वेद के सायणभाष्य के पहले छः मंडल दो बडी जिल्दों में प्रकाशित हो चुके हैं (प्रत्येक जिल्दका मूल्य बारह रुपया है) और आगे का काम जारी है। सायणभाष्य की अनेक हस्तलिखित प्रतियों को इकट्ठा करके बडे परिश्रम और धैर्यसे यह कार्य सिद्ध किया गया है। विद्वानों की सर्वसम्मत राय है कि सम्पादन और प्रामाणिकता की दृष्टि से सायणभाष्य का यह संस्करण मैक्समूलर के संस्करण से कहीं अधिक उत्तम और विश्वसनीय है। भारतीय विद्वत्ता की प्रशंसा में यह एक बडा प्रमाणपत्र है। पूना ऋग्वेद के घनान्तपाठी ब्राह्मणों का गढ है। वहांसे ऐसा प्रामाणिक कार्य होना ही चाहिये था। पुण्यपत्तन के वैदिक कार्य का वर्णन करते हुए हमें अनायास भण्डारकर इंस्टीट्यूटका ध्यान हो आता है, जहां वेद तो नहीं, पर वेदव्यासके पंचम वेद महाभारत का एक विश्वमान्य प्रामाणिक संस्करण (Critical Edition) डॉ० वी० एस० सुकथनकरके सम्पादकत्व में विगत बारह वर्षोंसे प्रकाशित हो रहा है। उसका वृत्तान्त बडा रोचक और आश्चर्यजनक है, पर उसके लिए एक अलग लेख चाहिये।

बम्बई प्रांतमें औंध नामक एक छोटी रियासत है। वहां पिछले पच्चीस वर्षोंसे **स्वाध्याय-मण्डल** नामक एक वैदिक संस्था कार्य कर रही है। उसके संस्थापक और सर्वेसर्वा पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर हैं। श्री०पं० सातवळेकर-जी ने मूल संहिता, भाष्य, उपनिषद् और वेदों के संबंधमें नये ढंगसे लिखे हुए अनेक उपयोगी निबंध प्रकाशित किए हैं। जनताकी दृष्टि से जितना लोकोपयोगी कार्य इस एक संस्थाने किया है, उतना वर्तमानकाल में वेदों की ओर सार्वजनिक रुचि आकर्षित करने के लिए और किसी ने नहीं किया। पं० सातवळेकरजी इक्कीस वर्षोंसे 'वैदिक धर्म' नामक अत्यंत रोचक और उपयोगी लेखोंसे सुशोभित मासिकपत्र प्रकाशित कर रहे हैं। मूल ग्रंथों के प्रचार और अर्थविवरण दोनों ही दृष्टि से उनका कार्य प्रशंसनीय है। अभी हालमें चारों वेदों की मूल संहिताओं का जैसा शुद्ध और उत्तम संस्करण स्वाध्याय-मंडल से प्रकाशित हुआ है, वैसा भारतवर्षमें पहले कभी नहीं छपा था। चारों संहिताएं बडे आकारके अट्ठारहसौ पृष्ठों में सम्पूर्ण हुई हैं और इनका पेशगी मूल्य केवल साढे छः रुपया प्रति सेट है। इन संहिता-ओंके तैयार करनेमें सातवळेकरजीने अकथ परिश्रम किया है। ऋग्वेद का पाठ तैयार करनेमें महाराष्ट्र के दस बडे बडे घनान्त वेदपाठी वैदिकोंने सहायता दी थी। यह कहा जा सकता है कि अष्टाङ्ग वेदपाठ के क्रम से वेदों को कण्ठ करने-वाले घनान्त श्रोत्रियों की परम्परा ने सहस्रों वर्षोंसे बिना एक अक्षर या स्वर के परिवर्तन के जिस मूल पाठ की रक्षा

की है, उस मूल पाठ को भविष्य के लिए सातवलेकरजी ने अपनी संहिताओं के द्वारा सुरक्षित कर दिया है। ऐसा करते हुए उन्हें मैक्समूलर के मूल ऋग्वेदसंस्करण में भी अशुद्धियां मिलीं। उन स्थलों को वेदपाठियों की सहायता से अत्यंत परिश्रमपूर्वक शुद्ध करके छापा गया है। जिस प्रकार तिलक इंस्टीट्यूट, पूना, का सायणभाष्य मैक्समूलर के संस्करणसे श्रेष्ठ माना गया है, उसी प्रकार मूल संहिताओं का यह संस्करण भी उसके संस्करणसे श्रेष्ठ है।

स्वाध्यायमण्डलने संहिताओं के प्रकाशन के कार्य को अब और भी आगे बढाया है। वे यजुर्वेदकी चार संहिताओं का मुद्रण प्रारम्भ कर रहे हैं। इस में काण्व, तैत्तिरीय, काठक और मैत्रायणी शाखाएं रहेंगी। अब तो इनके संस्करण सैंकडों रुपये व्यय करने पर भी दुष्प्राप्य हैं।

परंतु संहिताओं के प्रकाशन से भी अधिक महत्त्वपूर्ण एक कार्य है, जिसको स्वाध्यायमण्डलने शुरू किया है। यह सामवेद के गानों का प्रकाशन है। सामवेद के चार गान प्रसिद्ध हैं—

ग्रामे गेय, आरण्यगान, ऊहगान, ऊह्यगान। कौथुमी, राणायनी और जैमिनि शाखाके मिलकर कोई आठ हजार गान हैं। उनकी पद्धति भिन्न भिन्न है और गानसौंदर्य भी अद्भुत बताया जाता है। ऋषियों की यह अतुल सम्पत्ति वर्तमान भारतमें यत्रतत्र बिखरी हुई है। इसे गानविद्या का राष्ट्रीय कोष कहना चाहिए। इन गानों को जाननेवाले सामवेदीय पंडित अब कहीं कहीं रह गए हैं और दिन पर दिन कम होते जा रहे हैं। उन के पास जो अमूल्य निधि बची है, वह भारतीय संस्कृतिकी अनमोल सम्पत्ति है। यह अत्यन्त आवश्यक है कि समय रहते इस गानसंपत्ति की रक्षा कर ली जाय। पं०सातवलेकरजीका प्रयत्न इसी दिशामें है। सामगानोंको प्रकाशित करके वे वैदिक साहित्यके एक बडे अभावकी पूर्ति करेंगे। अभी उन्होंने सामग्रंथ और सामवेदीय पंडितोंकी खोज में दक्षिण भारतकी लंबी यात्रा की थी, जिसमें उनको बहुत कुछ सफलता भी प्राप्त हुई। यह कार्य बहुत व्ययसाध्य है और इसमें देश की अनेक उन्नतिशील संस्थाओं और धनियोंके सहयोगकी आवश्यकता है।

पाठकों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय की ओर से प्रोफेसर बाके कई वर्षोंसे सामगान और भारतीय गीतों की गायनविधि की खोज कर रहे हैं और सामगान के ग्रामोफोन रिकार्ड भी बनवाने का प्रयत्न कर रहे हैं। खेद है कि इस देश में अभीतक इस दिशामें कोई उल्लेखनीय कार्य नहीं हुआ। आशा है पं० सातवलेकरजी का कार्य अधिक से अधिक संख्यामें देशवासियों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करेगा। स्वाध्याय-मण्डल ने अथर्ववेदका एक उत्तम हिंदी भाष्य भी प्रकाशित किया है। वह अबतक के प्रकाशित और सब भाष्योंसे अर्थविवरण की दृष्टि से अधिक सफल हुआ है। स्वाध्यायमंडल का एक दूसरा उल्लेखनीय कार्य सम्पूर्ण महाभारत का प्रकाशन है, जिसमें मूल के साथ हिंदी अर्थान्तर दिया गया है।

ऊपर लिखे हुए इस वर्णन से पाठकों को यह मालूम होगा कि वैदिक साहित्यके प्रकाशन, व्याख्यान और प्रचार के लिये देश के भिन्न भिन्न स्थानों से किस प्रकार के प्रयत्न अबतक होते रहे हैं। प्राचीन भारतीय साहित्य को सबसे बडी प्रेरणा वैदिक वाङ्मय से प्राप्त हुई थी। उस स्रोत के साथ फिर से नया सम्बन्ध स्थापित करने के लिए तरुण भारत के ये प्रयत्न अभिनन्दन के योग्य हैं।

ऋग्वेदमन्त्राणामृषिदेवता-सूची ।

प्रथमं मंडलम् ।

सूक्तं ।	मन्त्रसंख्या ।	ऋषिः ।		देवता ।	मंत्रसंख्या ।	
१	९	मधुच्छंदा वैश्वामित्रः	१-९	अग्निः	९	
२	९	,,	१-३	वायुः	३	
			४-६	इंद्रवायू	३	
			७-९	मित्रावरुणौ	३	
३	१२	,,	१-३	अश्विनौ	३	
			४-६	इन्द्रः	३	
			७-९	विश्वे देवाः	३	
			१०-१२	सरस्वती	३	
४	१०	,,	१-१०	इन्द्रः	१०	२३
५	१०	,,	१-१०	,,	१०	
६	१०	,,	१-३	,,	३	
			४	मरुतः		१
			५	इन्द्रमरुतः		१
			६	मरुतः		१
			७	इन्द्रमरुतः		१
			८-९	मरुतः		२
			१०	इन्द्रः	१	५१
७	१०	,,	१-१०	,,	१०	
८	१०	,,	१-१०	,,	१०	
९	१०	,,	१-१०	,,	१०	
१०	१२	,,	१-१२	,,	१२	
११	८	जेता माधुच्छंदसः	१-८	,,	८	
१२	१२	मेधातिथिः काण्वः	१-५	अग्निः	५	
			६	निर्मथ्याहवनीयावग्नी	१	
			७-१२	अग्निः	६	
१३	१३	,,	१	समिद्धोऽग्निः*	१	
			२	तनूनपात्	१	
			३	नराशंसः	१	
			४	इळः	१	
			५	बर्हिः	१	
			६	देवीर्द्वारः	१	
			७	उषासानक्ता	१	
			८	दैव्यौ होतारौ प्रचेतसौ	१	
			९	सरस्वतीळाभारत्यः	१	
			१०	त्वष्टा	१	
			११	वनस्पतिः	१	
			१२	स्वाहाकृतयः	१	
१४	१२	,,	१-१२	विश्वे देवाः+	१२	
१५	१२	,,	१	इन्द्रः ❀	१	
			२	मरुतः	१	
			३	त्वष्टा	१	
			४	अग्निः	१	
			५	इन्द्रः	१	
			६	मित्रावरुणौ	१	
			७-१०	द्रविणोदा अग्निः	४	

* (१।१३।१) इध्मो वा ।

+ (१।१४।१-१२) (१-२) अग्निः २, (३) विश्वे देवाः १, (४-१२) अग्निः ९, एवं द्वादश। अत्र विशेषः-अस्य सूक्तस्य विश्वैर्देवैः सहितोऽग्निर्देवता । (३) इन्द्रवायुबृहस्पतिमित्राग्निपूषभगादित्यमरुद्गणाः १। (१०) विश्वदेवाग्नीन्द्रवायुमित्रधामानि १; (११) अग्निः १।

❀ (१।१५।१-१२) प्रत्येकं ऋतुसहितदेवताः ।

			११	अश्विनौ	१
			१२	अग्निः	१
१६	९	मेधातिथिः काण्वः	१-९	इन्द्रः	९
१७	९	"	१-९	इन्द्रावरुणौ	९
१८	९	"	१-३	ब्रह्मणस्पतिः	३
			४	इन्द्रब्रह्मणस्पति-सोमाः	१
			५	ब्रह्मणस्पति सोमेन्द्रदक्षिणाः	१
			६-८	सदसस्पतिः×	३
			९	नराशंसः	१
१९	९	"	१-९	अग्नामरुतः	९

(इति प्रथमाष्टके प्रथमोऽध्यायः)

२०	८	"	१-८	ऋभवः	८
२१	६	"	१-६	इन्द्राग्नी	६
२२	२१	"	१-४	अश्विनौ	४
			५-८	सविता	४
			९-१०	अग्निः	२
			११	देव्यः	१
			१२	इंद्राणीवरुणान्यग्नाय्यः	१
			१३-१४	द्यावापृथिव्यौ	२
			१५	पृथिवी	१
			१६-२१	विष्णुः⊛	६
२३	२४	"	१	वायुः	१
			२-३	इंद्रवायू	२
			४-६	मित्रावरुणौ	३
			७-९	मरुतः+	३
			१०-१२	विश्वे देवाः	३
			१३-१५	पूषा	३
			१६-२२	आपः	७
			२३	अग्न्यापः	१
			२४	अग्निः	१

२४	१५	शुनःशेप आजीगर्तिः×	१	कः		१
			२	अग्निः		१
			३-५	सविता ⊛		३
			६-१५	वरुणः	१०	
२५	२१	"	१-२१	"	२१	३१
२६	१०	"	१-१०	अग्निः	१०	
२७	१३	"	१-१२	"	१२	२२
			१३	देवाः		१
२८	९	"	१-४	इंद्रः		४
			५-६	उलूखलं		२
			७-८	उलूखलमुसले		२
			९	प्रजापतिर्हरिश्चंद्रः+		१
२९	७	"	१-७	इंद्रः	७	
३०	२२	"	१-१६	"	१६	२३
			१७-१९	अश्विनौ		३
			२०-२२	उषसः		३
३१	१८	हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः	१-१८	अग्निः		१८
३२	१५	"	१-१५	इंद्रः	१५	३०

(इति प्रथमाष्टके द्वितीयोऽध्यायः)

३३	१५	"	१-१५	"	१५	
३४	१२	"	१-१२	अश्विनौ		१२
३५	११	"	१	अग्निमित्रवरुण-रात्रीसवितारः		१
			२-११	सविता		१०
३६	२०	कण्वो घौरः	१-१२	अग्निः		१२
			१३-१४	यूपः		२
			१५-२०	अग्निः		६
३७	१५	"	१-१५	मरुतः	१५	४०
३८	१५	"	१-१५	"	१५	
३९	१०	"	१-१०	"	१०	
४०	८	"	१-८	ब्रह्मणस्पतिः		८
४१	९	"	१-३	वरुणमित्रार्यमणः		३
			४-६	आदित्याः		३

× (१।१८।६-९) चतुर्णामपि वा सदसस्पतिः। ⊛ (१।२२।१६) देवा वा। + (१।२३।७-९) मरुत्वानिन्द्र इति केचित्। × (१।२४।१-१५) शुनःशेप आजीगर्तिः स कृत्रिमो वैश्वामित्रो देवरात ऋषिः।
⊛ (१।२४।५) भगभक्तस्येत्यस्य भगो वा। + (१।२८।९) अधिषवणचर्म वा देवता। सोमो वा।

			७-९	वरुणमित्रार्यमणः	३	
४२	१०	कण्वो घौरः	१-१०	पूषा	१०	
४३	९	,,	१-२	रुद्रः	२	
			३	रुद्रमित्रवरुणाः	१	
			४-६	रुद्रः	३	
			७-९	सोमः	३	
४४	१४	प्रस्कण्वः काण्वः	१-२	अग्न्यश्व्युषसः	२	
		,,	३-१४	अग्निः	१२	२१
४५	१०	,,	१-९	,,	९	
			१०	अग्निदेवाः	१	
४६	१५	,,	१-१५	अश्विनौ	१५	२५

(इति प्रथमाष्टके तृतीयोऽध्यायः)

४७	१०	,,	१-१०	,,	१०	
४८	१६	,,	१-१६	उषसः	१६	२०
४९	४	,,	१-४	,,	४	
५०	१३	,,	१-१३	सूर्यः		१३
५१	१५	सव्य आंगिरसः	१-१५	इंद्रः	१५	७२
५२	१५	,,	१-१५	,,	१५	
५३	११	,,	१-११	,,	११	
५४	११	,,	१-११	,,	११	
५५	८	,,	१-८	,,	८	
५६	६	,,	१-६	,,	६	
५७	६	,,	१-६	,,	६	
५८	९	नोधा गौतमः	१-९	अग्निः		९
५९	७	,,	१-७	वैश्वानरोऽग्निः		७
६०	५	,,	१-५	अग्निः		५
६१	१६	,,	१-१६	इंद्रः	१६	३८

(इति प्रथमाष्टके चतुर्थोऽध्यायः)

६२	१३	,,	१-१३	,,	१३	
६३	९	नोधा गौतमः	१-९	,,	९	
६४	१५	,,	१-१५	मरुतः		१५
६५	१०	पराशरः शाक्त्यः	१-१०	अग्निः	१०	१३२
६६	१०	,,	१-१०	,,	१०	
६७	१०	,,	१-१०	,,	१०	
६८	१०	,,	१-१०	,,	१०	
६९	१०	,,	१-१०	,,	१०	
७०	११	,,	१-११	,,	११	
७१⊛	१०	,,	१-१०	,,	१०	
७२	१०	,,	१-१०	,,	१०	
७३	१०	,,	१-१०	,,	१०	
७४	९	गोतमो राहूगणः	१-९	,,	९	
७५	५	,,	१-५	,,	५	
७६	५	,,	१-५	,,	५	
७७	५	,,	१-५	,,	५	
७८	५	,,	१-५	,,	५	
७९	१२	,,	१-१२×	,,	१२	
८०	१६	,,	१-१६	इन्द्रः✤	१६	५७

(इति प्रथमाष्टके पंचमोऽध्यायः)

८१	९	,,	१-९	,,	९	
८२	६	,,	१-६	,,	६	
८३	६	,,	१-६	,,	६	
८४	२०	,,	१-२०	,,	२०	
८५	१२	,,	१-१२	मरुतः	१२	३४
८६	१०	,,	१-१०	,,	१०	
८७	६	,,	१-६	,,	६	
८८	६	,,	१-६	,,	६	
८९	१०	,,	१-१०	+विश्वे देवाः	१०	१९
९०	९	,,	१-९	,, ✤	९	

⊛ (१।७१।९) सूर्यो मित्रावरुणौ च। × (१।७९।१-३) मध्यमोऽग्निर्वा। ✤ (१।८०।१६) अथर्वामनुर्दध्यङ्च।
+ (१।८९।१-४) विश्वे देवाः ४, (५) इंद्रापूषणौ १, (६-९) विश्वे देवाः ४, (१०) अदितिः १, (१।९०।९) विश्वे देवाः ९(एवं१९) (१।८९।१-१०) अथवा (१-२,८-९) देवाः किंवा (१) ऋतुदेवाः १, (२) देवाः १, (३) भगमित्रादितिदक्षार्यमवरुणसोमाश्विसरस्वत्यः १, (४) वातपृथिवीद्युग्रावाश्विनः १, (५) ईशपूषणौ १, (६) इन्द्रपूषातार्क्ष्यबृहस्पतयः १, (७) मरुतः १, (८-९) देवाः २, (१०) अदितिः १।
✤ (१।९०।१-९) (१-३) वरुणमित्रार्यमणः ३, (४) इन्द्रमरुत्पूषभगाः १, (५) पूषाविष्णू १, (६) वातसिन्ध्वोषधयः १, (७) नक्तोषारजोद्यावः १, (८) वनस्पतिसूर्यगावः १, (९) मित्रवरुणार्यमेन्द्रबृहस्पतिविष्णवः १।

✤

९१	२३	गोतमो राहूगणः	१-२३	सोमः	२३
९२	१८	,,	१-१५	उषसः	१५
			१६-१८	अश्विनौ	३
९३	१२	,,	१-१२	अग्निषोमौ	१२
९४	१६	कुत्स आंगिरसः	१-७	अग्निः	७
			८	देवाग्नी	१
			९-१५	अग्निः	७
			१६	अग्निमित्रवरुणादितिसिंधुपृथिवीद्यावः+	१

(इति प्रथमाष्टके षष्ठोऽध्यायः।)

९५	११	,,	१-११	औषसोऽग्निः×	११
९६	९	,,	१-९	द्रविणोदा अग्निः	९
९७	८	,,	१-८	शुचिरग्निः	८
९८	३	,,	१-३	वैश्वानरोऽग्निः	३
९९	१	कश्यपो मारीचः	१	जातवेदा अग्निः	१

१००	१९	ऋजाश्वांबरीषसहदेवभयमानसुराधसो वार्षागिराः	१-१९	इंद्रः	१९	※५८
१०१	११	कुत्स अंगिरसः	१-११	,,	११	
१०२	११	,,	१-११	,,	११	
१०३	८	,,	१-८	,,	८	
१०४	९	,,	१-९	,,	९	
१०५	१९	त्रित आप्त्यः, कुत्स आंगिरसो वा	१-१९	*विश्वे देवाः	१९	१९
१०६	७	कुत्स आंगिरसः	१-७	,,	७	
१०७	३	,,	१-३	,,	३	
१०८	१३	कुत्स आंगिरसः	१-१३	इंद्राग्नी	१३	२१+
१०९	८	,,	१-८	,,	८	
११०	९	,,	१-९	ऋभवः	९	१४
१११	५	,,	१-५	,,	५	

+ (१।९४।१६) यद्दैवत्यं वा सूक्तमिति पक्षेऽग्निरेव देवता।

×द्वे विरूप (१।९५) इत्यारभ्य जातवेदस (१।९९) इत्यंतं शुद्धोऽग्निर्विकल्पेन।

※ (१।१००।१-१९) इन्द्रो मरुत्वान् १८। (१९) इन्द्रमित्रवरुणादितिसिन्धुपृथिवीद्यावः १।

(१।१०१।१-११) इन्द्रो मरुत्वान् १०। (११) मरुदिन्द्रमित्रवरुणादितिसिन्धुपृथिवीद्यावः १।

(१।१०२।११) इन्द्रमित्रवरुणादितिसिन्धुपृथिवीद्यावः।

(१।१०३।११) ,, ,,

* (१।१०५।१-१९) (१) रोदसीभ्यां सहिताश्चन्द्ररश्मयः १,(२) रोदसी १, (३) देवाः १, (४) अग्निः १, (५) देवाः १। (६) देववरुणार्यमाणः १, (७) देवाः १, (८) इन्द्रः १, (९) रश्मयः १, (१०) इन्द्रवरुणाग्न्यर्यमसवितारः (पञ्च उक्षणः) १, (११) सुपर्णाः, (रश्मयः) १, (१२) देवाः १, (१३) अग्निः १, (१४) अग्निः १, (१५) वरुणः १, (१६) आदित्यः १, (१७) बृहस्पतिः १, (१८) अरुणः चन्द्रः १, (१९) इन्द्रमित्रवरुणादितिसिन्धुपृथिवीद्यावः १।

(१।१०६।१-७) (१) इन्द्रमित्रवरुणाग्निमरुददितयः १, (२) आदित्या देवाः १, (३) पितृद्यावापृथिव्यः, १ (४) नराशंसपूषणौ १, (५) बृहस्पतिः १, (६) इन्द्रः १, (७) अदितिदेवसवितृमित्रवरुणादितिसिन्धुपृथिवीद्यावः १। (सर्वे वसुभिः सहिताः) (१।१०७।१-३) (१) आदित्याः १, (२) इन्द्रमरुददितयः १, (३) इन्द्रवरुणाग्न्यर्यमसवितृमित्रवरुणादितिसिन्धुपृथिवीद्यावः १।

* पक्षान्तरे (१।१०५) (१) विश्वे देवाः १, (२) रोदसी १, (३) विश्वे देवाः १, (४) अग्निरोदसी १, (५-७) विश्वे देवाः ३, (८) इंद्ररोदसी १, (९) सूर्यरश्मीरोदसी १, (१०) विश्वे देवाः १, (११) सूर्यरश्मीरोदसी १, (१।१०६) (१) विश्वे देवाः १, (२-३) रोदस्यौ २, (४) वरुणरोदसी १, (५-६) विश्वे देवाः २, (७) रोदसी १, (१।१०७।१-३) विश्वे देवाः ११ (एवं २९)

+(१।१०८।१-१३) (१३) इन्द्राग्नीमित्रवरुणादितिसिन्धुपृथिवीद्यावः १।

(१।१०९-११५) सर्वेषामेषां सप्त सूक्तानां अन्तिमस्य मन्त्रस्य मित्रवरुणादितिसिन्धुपृथिवीद्यावः।

११२	२५	कुत्स आंगिरसः	१	द्यावापृथिव्यग्न्यश्विनः		१
			२-२५	अश्विनौ		२४
(इति प्रथमाष्टके सप्तमोऽध्यायः।)						
११३	२०	,,	१	उषोरात्री		१
			२-२०	उषसः		१९
११४	११	,,	१-११	रुद्रः		११
११५	६	,,	१-६	सूर्यः		६
११६	२५	कक्षीवान् औशिजो दैर्घतमसः	१-२५	अश्विनौ	२५	८३
११७	२५	,,	१-२५	,,	२५	
११८	११	,,	१-११	,,	११	
११९	१०	,,	१-१०	,,	१०	
१२०	१२	,,	१-१२	,,	१२	
१२१	१५	,,	१-१५	इंद्रः		१५
(इति प्रथमाष्टके अष्टमोऽध्यायः।)						
[इति प्रथमोऽष्टकः]						
१२२	१५	,,	१-१५	विश्वे देवाः×		१५
१२३	१३	,,	१-१३	उषसः	१३	२६
१२४	१३	,,	१-१३	,,	१३	
१२५	७	,,	१-७	स्वनयः		७
१२६	१-५	,,	१-५	भावयव्यः		५
	६	भावयव्यः	६	रोमशा		१
	७	रोमशा ब्रह्मवादिनी	७	भावयव्यः		१
१२७	११	परुच्छेपो दैवोदासिः	१-११	अग्निः	११	१९
१२८	८	परुच्छेपो दैवोदासिः	१-८	,,	८	
१२९	११	,,	१-५	इंद्रः		५
			६	इंदुः		१
			७-११	इंद्रः	५	२७
१३०	१०	,,	१-१०	,,	१०	
१३१	७	,,	१-७	,,	७	
१३२	६	,,	१-५	,,	+५	
			६	इंद्रापर्वतेंद्राः		१
१३३	७	,,	१-७	इंद्रः		७
१३४	६	,,	१-६	वायुः	६	९
१३५	९	,,	१-३	,,	३	
			४-८	इंद्रवायू		५
			९	वायुः		१
१३६	७	,,	१-५	मित्रावरुणौ		५
			६	सूर्यरोदसीमित्र-×वरुणरुद्रेंद्राग्न्यर्यमभगसोमाः		१
			७	देवमरुदग्निमित्रवरुणमघवानः		१
(इति द्वितीयाष्टके प्रथमोध्यायः)						
१३७	३	,,	१-३	मित्रावरुणौ		३
१३८	४	,,	१-४	पूषा		४
१३९	११	,,	१	विश्वे देवाः		१
			२	मित्रावरुणौ		१
			३-५	अश्विनौ		३
			६	इंद्रः		१
			७	अग्निः		१
			८	मरुतः		१

× (१।१२२) (१) रुद्रामरुतः १, (२) उषासानक्ते १, (३) विश्वे देवाः १, (४) अश्विनौ १, (५) विश्वे देवाः १, (६) मित्रावरुणसिंधवः १, (७-८) विश्वे देवाः २, (९-१०) मित्रावरुणौ २, (११-१५) विश्वे देवाः ५ (एवं १५)

×यद्वा (१।१२२) (१) रुद्रमरुतः १, (२) उषासानक्ते १, (३) अग्नि-(आदित्य)-वातेन्द्रपर्वतदेवाः १, (४) अपांनपादहोरात्राणि १, (५) देवपूषग्नयः १, (६) मित्रवरुणसिन्धवः १, (७) वरुणमित्रदेवाः १, (८) देवसङ्घः १, (९-१०) मित्रावरुणौ २, (११-१४) विश्वे देवाः ४, (१५) मित्रावरुणौ १।

(१।१३२) ६ प्रथमार्धस्य इन्द्रापर्वतौ, मध्यमस्य वज्रः, अन्त्यस्य इन्द्रः।

×(१।१३६) (६) सूर्यरोदसीमित्रवरुणरुद्राग्न्यर्यमभगसोमाः १, (७) देवेन्द्रमरुदग्निमित्रवरुणाः १। (१-५) देवाश्च ५।

(१।१३९) (९) दध्यङ्ङङ्गिरःप्रियमेधकण्वात्रिमनवः १।

			९	इंद्राग्नी	१	
			१०	बृहस्पतिः	१	
			११	विश्वे देवाः	१	
१४०	१३	दीर्घतमा औचथ्यः	१-१३	अग्निः	१३	२६
१४१	१३	”	१-१३	”	१३	
१४२	१३	”	१	समिद्धोऽग्निः	१	
			२	तनूनपात्	१	
			३	नराशंसः	१	
			४	इळः	१	
			५	बर्हिः	१	
			६	देवीर्द्वारः	१	
			७	उषासानक्ते	१	
			८	दैव्यौ होतारौ प्रचेतसौ	१	
			९	सरस्वतीळा-भारत्यः	१	
			१०	त्वष्टा	१	
			११	वनस्पतिः	१	
			१२	स्वाहाकृतयः	१	
			१३	इंद्रः	१	
१४३	८	”	१-८	अग्निः	८	४३
१४४	७	दीर्घतमाः	१-७	”	७	
१४५	५	”	१-५	”	५	
१४६	५	”	१-५	”	५	
१४७	५	”	१-५	”	५	
१४८	५	”	१-५	”	५	
१४९	५	”	१-५	”	५	
१५०	३	”	१-३	”	३	
१५१	९	”	१	मित्रः	१	
			२-९	मित्रावरुणौ	८	१९
१५२	७	”	१-७	”	७	
१५३	४	”	१-४	”	४	
१५४	६	”	१-६	विष्णुः[III]		६
१५५	६	”	१-३	इंद्राविष्णू		३
			४-६	विष्णुः	३	८
१५६	५	”	१-५	”	५	
१५७	६	”	१-६	अश्विनौ	६	१२
(इति द्वितीयाष्टके द्वितीयोऽध्यायः)						
१५८	६	”	१-६	”	६	
१५९	५	”	१-५	द्यावापृथिवी	५	१०
१६०	५	”	१-५	”	५	
१६१	१४	”	१-१४	ऋभवः		१४
१६२	२२	”	१-२२	अश्वः[ψ]	२२	३५
१६३	१३	”	१-१३	”	१३	

[III] (१।१५४) १-६ वैष्णवानि गृहाणि वा।

[ψ] (१।१६२) (१) मित्रावरुणार्यमवाय्विन्द्रप्रजापतिमरुतः १, (२) अजेन्द्रापूषणः १, (३) छागः, त्वष्टा १, (४) अजः १, (५) होत्रध्वर्य्वग्नीध्रावस्तुच्छंस्तृब्रह्माणः १, (६) यूपसंस्कर्त्राद्या ऋत्विजः १, (७) ऋषयो ऋत्विजश्च १, (८) अश्वदामपादबंधनखलीनघासाः १, (९) अश्वक्रविः १, (१०) अश्वोदर्यतृणानि १, (११) अश्वाङ्गरसः १, (१२) अश्वसंस्कर्तारः १, (१३) मांसपचनपात्रछेदनशस्त्रादीनि १, (१४) अश्वनिषदनादीनि १, (१५) देवाः १, (१६) वासोऽधिवासपात्रबन्धनादीनि १, (१७) अश्वः १, (१८) स्वधितिः विशास्तारः १, (१९) विशास्तृनियन्तृऋतुद्यावापृथिव्याः १, (२०) स्वधितिः विशस्तासिः, २१ देवाः, २२ अदितिः। (एते अश्वेन सहिता देवाः)

(१।१६३) (२) यमवाय्विन्द्रगंधर्ववसवः १, (३) यमादित्यसोमाः १, (१०) नीयमाना अश्वाः १, (१२) अज ऋत्विजः।

(१।१६४) (१) अग्निवायुसूर्याः १, (२-३) सूर्यरथः २, (४) ईश्वरः १, (५-८) आदित्यरूप आत्मा ४, (९) द्यावापृथिव्यौ, वृष्टिः १, (१०) आदित्यः १, (११) आदित्यचक्रम् १, (१२-१४) संवत्सरचक्रम् ३, (१५) सप्तर्तवः १, (१६) किरणाः ज्ञानी वा १, (१७) गौ १, (१८) विद्वान् १, (१९) सोमसूर्यौ १, (२०) जीवपरमात्मानौ १, (२१) आदित्यमण्डलम्, आत्मा वा १, (२२) वृक्षरूप आदित्य आत्मा वा १, (२३) सवनत्रयछन्दस्त्रयविधानम् १,

१६४	५२	दीर्घतमाः	१-४१	विश्वे देवाः	४१	
			४२	वाक्समुद्राक्षरापः	१	
			४३	शकधूमसोमौ	१	
			४४	अग्निवायुसूर्याः	१	
			४५	वाचः	१	
			४६-४७	सूर्यः	२	
			४८	कालचक्रम्×	१	
			४९	सरस्वती	१	
			५०	साध्याः	१	
			५१	सूर्यः+	१	
			५२	सरस्वान्※	१	
			१-१५	मरुत्वानिंद्रः	१५	
१६५	१५					
		१,२,४,६ इन्द्रः				
		८,१०-१२ ,,				
		३,५,७,९ मरुतः				
		१३-१५ अगस्त्यो मैत्रावरुणः				

(इति द्वितीयाष्टके तृतीयोऽध्यायः)

१६६	१५	अगस्त्यो मैत्रावरुणः	१-१५	मरुतः		१५
१६७	११	,,	१	इंद्रः		१
			२-११	मरुतः	१०	२०
१६८	१०	,,	१-१०	,,	१०	
१६९	८	,,	१-८	इंद्रः✍	८	१३
१७०	५	१, ३, ४, इंद्रः २, ५, अगस्त्यो मैत्रावरुणः	१-५	,,	५	
१७१	६	,,	१-२	मरुतः		२
			३-६	मरुत्वानिंद्रः		४
१७२	३	अगस्त्यः	१-३	मरुतः		३
१७३	१३	,,	१-१३	इन्द्रः	१३	४५
१७४	१०	,,	१-१०	,,	१०	
१७५	६	,,	१-६	,,	६	
१७६	६	,,	१-६	,,	६	
१७७	५	,,	१-५	,,	५	
१७८	५	,,	१-५	,,	५	
१७९	६	१-२ लोपामुद्रा ३-४ अगस्त्यो मैत्रावरुणः ५-६ अगस्त्यशिष्यो ब्रह्मचारी	१-६	रतिः		६
१८०	१०	अगस्त्य	१-१०	अश्विनौ	१०	३९
१८१	९	,,	१-९	,,	९	
१८२	८	,,	१-८	,,	८	
१८३	६	,,	१-६	,,	६	

(इति द्वितीयाष्टके चतुर्थोऽध्यायः।)

१८४	६	,,	१-६	,,	६	
१८५	११		१-११	द्यावापृथिवी+		११
१८६	११	,,	१-११	विश्वे देवाः※		११
१८७	११	,,	१-११	अन्नं×		११
१८८	११	,,	१	समिद्धोऽग्निः		१
			२	तनूनपात्		१
			३	इळः		१
			४	बर्हिः		१
			५	देवीर्द्वारः		१
			६	उषासानक्ते		१
			७	दैव्यौ होतारौ प्रचेतसौ		१

(१।१६४)(२४)अक्षरम् १, (२५) जागतरथन्तरगायत्रसामानि १, (२६) धेनुसवितारौ १, (२७--२९) सवत्सा गौः ३,(३०) शरीरं जीवश्च १, (३१) आदित्यः १, (३२) मध्यस्थानवाय्वादित्यौ, आत्मा वा १, (३३) द्युपृथिव्यादित्यवृष्टयः १, (३४--३५) वेदियज्ञसोमब्रह्माणः २, (३६) आदित्यरश्मयः, महदहंकारपञ्चतन्मात्ररूपाणि सप्ततत्त्वानि वा १, (३७) आत्मज्ञानम् १, (३८) देहात्मजीवात्मानौ १, (३९) अक्षरज्ञानिनः १, (४०) गौः १, (४१) माध्यमिका वाक्, गौरी वा १।

× (४८) संवत्सरः कालः । + (५१) पर्जन्याग्नी वा । ※ (५२) सूर्यो वा। ✍ १।१६९।१-८ मरुत्वानिन्द्रः ।

+ १।१८५।९ देवाश्च । ※ (१।१८६) (१-४) विश्वे देवाः ४, (५) अहिर्बुध्न्यः १, (६) त्वष्टा १, (७) इंद्रः १, (८-९) मरुतः २, (१०-११) विश्वे देवाः २ (एवं ११)

× (१।१८७।१-११) ९ सोमः, १० करम्भः ।

			८	सरस्वतीळा-भारत्यः	१	
			९	त्वष्टा	१	
			१०	वनस्पतिः	१	
			११	स्वाहाकृतयः	१	
१८९	८	अगस्त्यः	१-८	अग्निः	८	
१९०	८	,,	१-८	बृहस्पतिः	८	
१९१	१६	,,	१-१६	अप्तृणसूर्याः●	१६	

इति प्रथमं मंडलम्।

अथ द्वितीयं मंडलम् ।

१	१६	गृत्समदः शौनकः ×	१-१६	अग्निः	१६	२९
२	१३	,,	१-१३	,,	१३	
३	११	,,	१	समिद्धोऽग्निः	१	
			२	नराशंसः	१	
			३	इळः	१	
			४	बर्हिः	१	
			५	देवीर्द्वारः	१	
			६	उषासानक्ते	१	
			७	दैव्यौ होतारौ प्रचेतसौ	१	
			८	सरस्वतीळा-भारत्यः	१	
			९	त्वष्टा	१	
			१०	वनस्पतिः	१	
			११	स्वाहाकृतयः	१	
४	९	सोमाहुतिर्भार्गवः	१-९	अग्निः	९	४९
५	८	,,	१-८	,,	८	
६	८	,,	१-८	,,	८	
७	६	,,	१-६	,,	६	
८	६	गृत्समदः शौनकः◆	१-६	,,	६	

(इति द्वितीयाष्टके पंचमोऽध्यायः।)

९	६	,,	१-६	,,	६	
१०	६	गृत्समदः शौनकः	१-६	,,	६	
११	२१	,,	१-२१	इंद्रः	२१	१२६
१२	१५	,,	१-१५	,,	१५	
१३	१३	,,	१-१३	,,	१३	
१४	१२	,,	१-१२	,,	१२	
१५	१०	,,	१-१०	,,	१०	
१६	९	,,	१-९	,,	९	
१७	९	,,	१-९	,,	९	
१८	९	,,	१-९	,,	९	
१९	९	,,	१-९	,,	९	
२०	९	,,	१-९	,,	९	
२१	६	,,	१-६	,,	६	
२२	४	,,	१-४	,,	४	
२३	१९	,,	१	ब्रह्मणस्पतिः	१	
			२-४	बृहस्पतिः	३	
			५	ब्रह्मणस्पतिः	१	
			६-८	बृहस्पतिः	३	
			९	ब्रह्मणस्पतिः	१	
			१०	बृहस्पतिः	१	
			११	ब्रह्मणस्पतिः	१	
			१२-१६	बृहस्पतिः	५	
			१७	ब्रह्मणस्पतिः	१	
			१८	बृहस्पतिः	१	
			१९	ब्रह्मणस्पतिः	१	

(इति द्वितीयाष्टके षष्ठोऽध्यायः)

२४	१६	,,	१	बृहस्पतिः	१	
			२-९	ब्रह्मणस्पतिः	८	
			१०	बृहस्पतिः	१	
			११	ब्रह्मणस्पतिः	१	
			१२	इंद्राब्रह्मणस्पती	१	
			१३-१६	ब्रह्मणस्पतिः	५	१३
२५	५	,,	१-५		५	
२६	४	,,	१-४		४	

● (१।१९१) (२) विषघ्न्योषधिः १, (३) दर्भादयस्तृणविशेषाः १, (८-१०) सूर्यः ३, (११) कपिञ्जली १, (१२) चटिका १, (१३) नद्यः १, (१४) मयूर्यो नद्यश्च, (१५-१६) नकुलः १। × (२।२) जातवेदा अग्निः।

◆ (२।१-३) गृत्समद (आंगिरसः शौनहोत्रः पश्चाद्) भार्गवः शौनकः।

२७	१७	गृत्समदः शौनकः	१-१७	आदित्याः+	१७
२८	११	,,	१-११	वरुणः×	११
२९	७	,,	१-७	विश्वे देवाः❀	७
३०	११	,,	१-५	इंद्रः	५
			६	इंद्रासोमौ	१
			७	इंद्रः	१
			८	सरस्वतींद्रौ	१
			९	बृहस्पतिः	१
			१०	इंद्रः	१
			११	मरुतः	१
३१	७	,,	१-७	विश्वे देवाः⊙	७
३२	८	,,	१	द्यावापृथिव्यौ	१
			२-३	इंद्रः	२
			४--५	राका	२
			६--७	सिनीवाली	२
			८	गुंगूसिनीवाली-राकासरस्वतीं-द्राणीवरुणानीः	१
३३	१५	,,	१-१५	रुद्रः	१५
३४	१५	,,	१-१५	मरुतः	१५
३५	१५	,,	१-१५	अपांनपात्	१५

३६	६	गृत्समदः शौनकः	१	इंद्रः×	१
			२	मरुतः	१
			३	त्वष्टा	१
			४	अग्निः	१
			५	इंद्रः	१
			६	मित्रावरुणौ	१

(इति द्वितीयाष्टके सप्तमोऽध्यायः)

३७	६	,,	१-४	द्रविणोदाः	४
			५	अश्विनौ	१
			६	अग्निः	१
३८	११	,,	१-११	सविता	११
३९	८	,,	१-८	अश्विनौ	८
४०	६	,,	१-५	सोमापूषणौ	५
			६	सोमापूषणादितयः	१
४१	२१	,,	१--२	वायुः	२
			३	इंद्रवायू	१
			४--६	मित्रावरुणौ	३
			७--९	अश्विनौ	३
			१०--१२	इंद्रः	३
			१३--१५	विश्वे देवाः	३

+(२।२७) (१) मित्रार्यमभगवरुणदक्षांशाः १, (२) मित्रार्यमवरुणादित्याः १, (७-८) अदितिश्च २, (१०) वरुणः १, (१४) इन्द्रः १, (१७) वरुणः १। (२।२७-२९) कूर्मो गार्त्समदो वा ऋषिः।

×(२।२८) (३) आदित्याः १, (९) ऋणनाशिनी १।

❀(२।२९) (१-६) विश्वे देवाः ६, (७) वरुणः १, (एवं ७) अथवा (१) आदित्यमित्रावरुणाः १, (३) वसुमित्रवरुणादितीन्द्रमरुतः १, (७) वरुणः १।

(२।३०) (१) मध्यमा वाक् १।

⊙(२।३१) (१) मित्रावरुणौ १, (२) विश्वे देवाः १, (३-४) विश्वे देवाः २, (५) उषासानक्ता १, (६) द्यावापृथिवी १, (७) इंद्रः १ (एवं ७)

यद्वा (२।३१) (१) मित्रावरुणौ १, (२) देवाः १, (३) इन्द्रः १, (४) त्वष्टृइळाभगरोदःपूषाश्विनः १, (५) उषासानक्ताद्यावापृथिव्यः १, (६) अहिर्बुध्न्याजैकपादिन्द्राः १।

(२।३३) ११ मृगरूपो रुद्रः, १३ मरुतः।

(२।३७) १ द्रविणोदा इषश्च, २ द्रविणोदा ऊर्जश्च, ३ द्रविणोदा सहश्च, ४ द्रविणोदा सहस्यश्च, ५ अश्विनौ तपश्च, ६ अग्निस्तपस्यश्च इति केचित्। ×(२।३६) इंद्रमित्यादिनां षण्णामृतुर्विशेषणं वा।

			१६-१८	सरस्वती	३	
			१९--२१	द्यावापृथिव्यौ+	३	
४२	३	गृत्समदः शौनकः	१--३	शकुंतः	३	६
४३	३	,,	१--३	,,	३	

(इति द्वितीयं मंडलम्।)

अथ तृतीयं मंडलम्।

१	२३	विश्वामित्रो गाथिनः	१--२३	अग्निः❀		२३
२	१५	,,	१--१५	वैश्वानरोग्निः	१५	२६
३	११	,,	१--११	,,	११	
*४	११	,,	१	समिद्धोऽग्निः	१	
			२	तनूनपात्	१	
			३	इळः	१	
			४	बर्हिः	१	
			५	देवीर्द्वारः	१	
			६	उषासानक्ता	१	
			७	दैव्यो होतारौ प्रचेतसौ	१	
			८	सरस्वतीळाभारत्यः	१	
			९	त्वष्टा	१	
			१०	वनस्पतिः	१	
			११	स्वाहाकृतयः	१	
५	११	विश्वामित्रो गाथिनः	१--११	अग्निः×	११	३३
६	११	,,	१--११	,,+	११	

(इति द्वितीयाष्टके अष्टमोऽध्यायः)

[इति द्वितीयोऽष्टकः]

७	११	,,	१--११	अग्निः❀	११	
८	११	,,	१-५	यूपः	५	
			६-१०	यूपाः	५	
			११	व्रश्चनः	१	
९	९		१--९	अग्निः	९	२७
१०	९	,,	१--९	,,	९	
११	९	,,	१--९	,,	९	
१२	९	,,	१--९	इंद्राग्नी	९	
१३	७	ऋषभो वैश्वामित्रः	१--७	अग्निः	७	४२
१४	७	,,	१--७	,,	७	
१५	७	उत्कीलः कात्यः	१--७	,,	७	
१६	६	,,	१--६	,,	६	
१७	५	कतो वैश्वामित्रः	१--५	,,	५	
१८	५	,,	१--५	,,	५	
१९	५	गाथी कौशिकः	१--५	,,	५	

+(२।४१।१९-२१) हविर्धाने वा। ❀(३।१)(६) अपः १, (७) अपो द्यावापृथिव्यौ च १। (३।२)द्युस्थानोऽग्निः।

×(३।५) प्रत्यग्निः (३।६) प्र कारवो इति सूक्तयोरन्यासां द्यावापृथिव्यादीनां निपाता दृश्यंते अतस्तयोर्लिंगोक्ता देवताः पाक्षिकाः।

(३।५) (१-२) उषाः २, (३-४) मित्र २, (६) अपः १, (७) द्यावापृथिवी १, (८) पितरौ १, (९) देवाः १(बृ०)।

+(३।६) (१) स्रुक् १, (२-५) मध्यस्थानोऽग्निः ४, (६-९) विश्वेदेवाः४, (१०) रोदसी। अत्रनिपातिनः = २-५, १० द्यावापृथिव्यौ देवाश्च।

❀(३।७) निपातिनः- (१) द्यावापृथिव्यौ १, (२) अग्न्यश्वाः, मध्यमा वाक् १, (३) अग्न्यश्वाः १, (४-६) देवाः १,(८) पार्थिवमध्यमौ १, (९) देवाः रोदसी १(भा०)। ❀(३।७) अत्र सूक्तेऽष्टम्या विश्वे देवा वा।

(३।९) आप्योऽग्निः, ८ ऋत्विजः।

(३।११) जातवेदाः।

(३।१३) अग्निः प्रदाता।

(३।१५) रक्षोहाग्निः।

		गाथी कौशिकः	१	विश्वे देवाः		१
२०	५		२-४	अग्निः		३
			५	विश्वे देवाः		१
		,,	१-५	अग्निः	५	८
२१	५	,,	१-३	,,	३	
२२	५		४	पुरीष्याग्निः		१
			५	अग्निः	१	१४
२३	५	देवश्रवा देववातश्च भारतौ	१-५	,,	५	
	५	विश्वामित्रो गाथिनः	१-५	,,	५	
२४			१-३	,,	३	
२५	५	,,				
			४	अग्नीन्द्रौ		१
			५	अग्निः		१
२६	९	,,	१-३	वैश्वानरोऽग्निः		३
			४-६	मरुतः		३
			७-८	आत्मा +		२
			९	उपाध्यायः		१
२७	१५	,,	१-१५	अग्निः ❀	१५	३७
२८	६	,,	१-६	,,	६	
२९	१६	,,	१-१६	,,	१६	

(इति तृतीयाष्टके प्रथमोऽध्यायः ।)

३०	२२	,,	१-२२	इंद्रः	२२	६१
३१	२२	,,	१-२२	,,	२२	
३२	१७	,,	१-१७	,,	१७	
३३	१३	१-३, ५, ७, ९, ११-१३ विश्वामित्रो गाथिनः	१-३	नदी		३
		४, ६, ८, १० नदी ऋषिका	४	विश्वामित्रः		१
			५	नदी		१
			६-७	इंद्रः		२
			८	विश्वामित्रः		१
			९	नदी		१
			१०	विश्वामित्रः		१
			११-१३	नदी		३
३४	११	विश्वामित्रो गाथिनः	१-११	इन्द्रः	११	१५३
३५	११	,,	१-११	,,	११	
३६ ❀	११	,,	१-११	,,	११	
३७	११	,,	१-११	,,	११	
३८ ×	१०	,,	१-१०	,,	१०	
३९	९	,,	१-९	,,	९	३

(इति तृतीयाष्टके द्वितीयोऽध्यायः ।)

४०	९	विश्वामित्रो गाथिनः	१-९	,,	९
४१	९	,,	१-९	,,	९
४२	९	,,	१-९	,,	९
४३	८	,,	१-८	,,	८
४४	५	,,	१-५	,,	५
४५	५	,,	१-५	,,	५
४६	५	,,	१-५	,,	५
४७	५	,,	१-५	,,	५
४८	५	,,	१-५	,,	५
४९	५	,,	१-५	,,	५
५०	५	,,	१-५	,,	५
५१	१२	,,	१-१२	,,	१२
५२	८	,,	१-८	,,	८

(३।२०) (१) अग्न्युषोऽश्विदधिक्रादेवाः १ (५) दधिक्राग्न्युषोबृहस्पतिसवित्रश्विमित्रवरुणभगवसुरुद्रादित्याः १ । (३।२२) (१) आहवनीयः १, (२-३) द्युस्थानः २ । (३।२३) (१-३) निर्मथ्यः ३; (४) आहवनीयः १ । (३।२४) (५) अग्निर्दाता १ । (३।२५) मध्यस्थानोऽग्निः । + (३।२६) ७ ब्रह्म वा अग्निर्वा । ❀ (३।२७।१) प्र वो वाजा इत्यस्य आद्याया । (३।२९।१०) अयं ते योनिरित्यस्याश्च ऋत्विजो वा । (३।२७) ऋतवो वा । ऋतुर्वा । (३।२८) जातवेदोऽग्निः । (३।२९।५) ऋत्विजो वा । (३।३१) (१-२) दुहिता २, (३) अग्निश्च १ । (३।३१) कुशिक ऐषीरथिर्वा ऋषिः । (३।३२) मरुत्वानिन्द्रः । (३।३३।६) इन्द्रसवितारौ । (३।३५) मरुत्वानिन्द्रः । ❀ (३।३६।१०) घोर आङ्गिरसो वा ऋषिः । × (३।३८) प्रजापतिर्वैश्वामित्रः प्रजापतिर्वाच्यो वा, तावुभावपि वा । (३।४७) (१-२, ४-५) मरुत्वानिन्द्रः ४, (३) ऋतवः १ । (३।५१) मरुत्वानिन्द्रः ।

*

५३	२४	,,	१	इंद्रापर्वतौ	१	१
			२-१४	इंद्रः	१३	
			१५-१६	ससर्परी वाक्	१	
			१७-२०	रथांगानि	४	
			२१-२४	इंद्रोऽभिशापो वा।	४	
५४	२२	प्रजापतिर्वैश्वामित्रः	१-२२	विश्वे देवाः	२२	× ५८
५५	२२	,,	१-२२	,,	२२	
(इति तृतीयाष्टके तृतीयोऽध्यायः।)				,,		
५६	८	,,	१-८	,,	८	
५७	६	विश्वामित्रो गाथिनः	१-६	,,	६	
५८	९	,,	१-९	अश्विनौ	९	
५९	९	,,	१-९	मित्रः	९	
६०	७	,,	१-४	ऋभवः	४	
			५-७	इंद्रभ्रूः	३	
६१	७	,,	१-७	उषसाः	७	
६२	१८	,,	१-३	इंद्रावरुणौ	३	
			४-६	बृहस्पतिः	३	
			७-९	पूषा	३	
			१०-१२	सविता	३	
			१३-१५	सोमः	३	
			+ १६-१८	मित्रावरुणौ	३	

इति तृतीयं मंडलम्।

अथ चतुर्थं मण्डलम्।

१	२०	वामदेवो गौतमः	१	अग्निः	१	
			२-५	अग्निवरुणौ	४	
			६-२०	अग्निः	१५	३५
२	२०	,,	१-२०	,,	२०	
३	१६	,,	१	रुद्रः	१	
			२-१६	अग्निः	१५	
४	१५	,,	१-१५	रक्षोहाऽग्निः	१५	
(इति तृतीयाष्टके चतुर्थोऽध्यायः।)						
५	१५	,,	१-१५	वैश्वानरोऽग्निः	१५	
६	११	,,	१-११	अग्निः	११	७४
७	११	,,	१-११	,,	११	
८	८	,,	१-८	,,	८	
९	८	,,	१-८	,,	८	
१०	८	,,	१-८	,,	८	
११	६	,,	१-६	,,	६	
१२	६	,,	१-६	,,	६	
१३	५	,,	१-५	,,	+५	
१४	५	,,	१-५	,,	+५	
१५	१०	,,	१-६	,,	६	

(३।५३) १७-१८ अनड्वाहौ च। × (३।५४) (१) अग्निः १, (२-३) विश्वे देवाः २, (४) द्यावापृथिवी १, (५) विश्वे देवाः १, (६) सूर्यद्यावापृथिव्यः १, (७-८) द्यावापृथिवी २, (९) द्यौः १, (१०) विश्वे देवाः १, (११) सविता १, (१२-१३) विश्वे देवाः २, (१४) विष्णुः १, (१५) इंद्रः १, (१६) अश्विनौ १, (१७-२१) विश्वे देवाः ५, (२२) अग्निः १। यद्वा (३।५४) (२) द्यावापृथिव्यौ १, (१०) द्यावापृथिव्यौ १, (१२) त्वष्टृभवः १, (१३) मरुतः, सरस्वती १, (१७) देवेन्द्रर्भवः १, (१८) अर्यमादितिदेववरुणाः १, (१९) अग्निपृथिवीद्य्वप्सूर्यान्तरिक्षाणि १, (२०) पर्वतादित्यादितिमरुतः १, (२१) देवाः अश्विः १, (२२) अग्निः १।

(३।५५) (१) उषासाहनी १, (२-१०) अग्निः ९, (११) अहोरात्रे १, (१२-१४) रोदस्यौ ३, (१५) अहोरात्रे रोदस्यौ वा १, (१६) दिशः १, (१७-१८) इन्द्रो वर्षन् २, (१९) त्वष्टृसवितारौ १, (२०-२२) इन्द्रः ३।

(३।५६) (१ ३) संवत्सरादित्याः ३, (४) सिंधुः १, (५) सविता १। यद्वा (३।५६) (१) देवाः १, (२-३) संवत्सरः २, (४) संवत्सरादित्याः १, (५) सिंधुसंवत्सरेळासरस्वतीभारत्यः १, (६) सवितृधिषणे १, (७) सवितृमित्रवरुणाब्रोदांसि १, (८) अग्निवायुसूर्याः १। (३।५७) (१-४) विश्वे देवाः ४, (५-६) अग्निः २। यद्वा (३।५७) (१) इन्द्राग्निदेवाः १, (२) इन्द्रपूषाश्विविश्वेदेवाः १, (३) ओषधयः सूर्यमरीचयो वा १, (४) रोदोऽग्निदीप्तयः १, (५-६) अग्निः। (एवं ५८) (३।६०) ३-४ इन्द्रश्च। +(३।६२।१६-१८) जमदग्निर्वा ऋषिः।

(४।१) (१३-१६) अङ्गिरसः, १८ विश्वेदेवामित्रवरुणाः। (४।२) (४) अर्यमवरुणमित्रेन्द्राविष्णुमरुदाश्विनः (१५) वामदेवस्यांगिरोभिः संवादः, (१७) अग्नीन्द्रांगिरसः (भा०।) (४।३) (१४) रक्षोहाग्निः।

+ (४।१३) (१) अग्निरश्विनौ च १, (२) सवितृवरुणमित्राः १, (३) सूर्यः १, (४) रश्मयः १, (५) सूर्यः १,

			७-८	सोमकः	२	
			९-१०	अश्विनौ	२	
			१-२१	इंद्रः	२१	४२
१६	२१	,,	१-२१	,,	२१	
१७	२१	,,				
१८	१३	(२-३॥, ८-१३ वामदेवो गौतमः)	१	वामदेवः	१	
		(१ इंद्रः)	२-३	इंद्रः	२	
		४ (उत्तरोऽर्धर्चः ७ अदितिः)	४	इंद्रवामदेवौ	१	
			५-७	वामदेवः	३	
			८-१३	इंद्रः	६	८०

(इति तृतीयाष्टके पञ्चमोऽध्यायः।)

१९	११	वामदेवो गौतमः	१-११		११	
२०	११	,,	१-११	,,	११	
२१	११	,,	१-११	,,	११	
२२	११	,,	१-११	,,	११	
२३	११	,,	१-११	,,	११	
२४	११	,,	१-११	,,	११	
२५	८	,,	१-८	,,	८	
२६ ×	७	,,	१-३	इंद्रात्मानौ		३
		,,	४-७	श्येनः	४	९
२७ ❀	५		१-५	,,	५	
२८	५	,,	१-५	,, +	५	१८
२९	५	,,	१-५	,,	५	
३०	२४	,,	१-८	इंद्रः	८	
			९-११	इंद्रोषसौ		३
			१२-२४	इंद्रः	१३	५०
३१	१५	,,	१-१५	,,	१५	
३२	२४	,,	१-२२	,,	२२	

			२३-२४	इंद्राश्वौ		२

(इति तृतीयाष्टके षष्ठोऽध्यायः।)

३३	११	वामदेवो गौतमः	१-११	ऋभवः	११	४८
३४	११	,,	१-११	,,	११	
३५	९	,,	१-९	,,	९	
३६	९	,,	१-९	,,	९	
३७	८	,,	१-८	,,	८	
३८	१०	,,	१	द्यावापृथिवी		१
			२-१०	दधिक्रा	९	१९
३९	६	,,	१-६	,,	६	
४०	५	,,	१-४	,,	४	
			५	सूर्यः		१
४१	११	,,	१-११	इंद्रावरुणौ		११
४२	१०	त्रसदस्युः पौरुकुत्स्यः	१-६	त्रसदस्युः ×		६
			७-१०	इंद्रावरुणौ		४
४३	७	पुरुमीळ्हाजमीळ्हौ सौहोत्रौ	१-७	आश्विनौ	७	२१
४४	७	,,	१-७	,,	७	
४५	७	,,	१-७	,,	७	
४६	७	,,	१	वायुः		१
			२-७	इंद्रवायू		६
४७	४	,,	१	वायुः		१
			२-४	इंद्रवायू		३
४८	५	,,	१-५	वायुः		५
४९	६	,,	१-६	इंद्राबृहस्पती		६
५०	११	,,	१-९	बृहस्पतिः		९
			१०-११	इंद्राबृहस्पती		२

(इति तृतीयाष्टके सप्तमोऽध्यायः।)

(४।१४) (१) उषा १, (२) सविताद्यावापृथिविसूर्यान्तरिक्षसूर्यरश्मयः १। (३) उषासूर्यरश्मयः १, (४) उषसः १, (५) दिवः स्कम्भः सूर्यः १, (४।१३-१४) प्रत्यग्नीतिसूक्तद्वयेऽत्रायं पाक्षिको देवताविभागः। (४।१३) (१) अग्न्युषोऽश्विसूर्याः १, (२) सवित्र्वरुणमित्रदेवाः १, (३) देवसूर्याः १, (४-५) सूर्यः २। (४।१४) (१) अग्न्युषोऽश्विनः १, (२) सूर्यः १, (३) उषाः १, (४) अश्व्युषसः १, (५) सूर्यः। × (४।२३) कथामहामिति सूक्तं-स्यातिसृणां ऋतं वा देवता। × (४।२६) १-३ इन्द्रो वा ऋषिः। ❀ श्येन देवताया अष्टर्चत्वे (४।२७।५) अधश्वेतमित्यस्यां इंद्रदेवता पाक्षिकी। + अत्र (४।२८) त्वायुजेति पंचर्चे सूक्ते इन्द्रासोमौ वा देवते। (४।३१) १५ सूर्यः (सू०)। × (४।४२) (अहं राजा वरुणः।) आत्मा वा। (४।५०) ७-९ पुरोहितकर्म।

५१	११	वामदेवो गौतमः	१-११	उषाः	११	१८
५२	७	,,	१-७	,,	७	
५३	७	,,	१-७	सविता	७	१३
५४	६	,,	१-६	,,	६	
५५	१०	,,	१-१०	विश्वे देवाः ❀		१०
५६	७	,,	१-७	द्यावापृथिवी		७
५७	८	,,	१-३	क्षेत्रपतिः		३
			४	शुनः		१
			५	शुनासीरौ		१
			६-७	सीता		२
			* ८	शुनासीरौ		१
५८	११	,,	१-११	अग्निः ×	११	३७

(इति चतुर्थं मंडलम् ।)

अथ पंचमं मण्डलम् ।

१	१२	बुधगविष्ठिरावात्रेयौ	१-१२	,,	१२	
२	१२	कुमार आत्रेयः, वृशो वा जानः, उभौ वा,	१-१२	,,	१२	
		२, ९ वृशो जानः				
३	१२	वसुश्रुत आत्रेयः	१-२	,,	२	
			३	मरुद्रुद्रविष्णवः		१
			४-१२	अग्निः	९	२०
४	११	,,	१-११	,,	११	
५	११	,,	१	समिद्धोऽग्निः +		१
			२	नराशंसः		१
			३	इळः		१
			४	बर्हिः		१
			५	देवीर्द्वारः		१
			६	उषासानक्ता		१
			७	दैव्यौ होतारौ प्रचेतसौ		१
			८	सरस्वतीळाभारत्यः		१
			९	त्वष्टा		१
			१०	वनस्पतिः		१
			११	स्वाहाकृतयः		१
६	१०	वसुश्रुत आत्रेयः	१-१०	अग्निः	१०	१२७
७	१०	इष आत्रेयः	१-१०	,,	१०	
८	७	,,	१-७	,,	७	
(इति तृतीयाष्टके अष्टमोऽध्यायः ।)						
९	७	गय आत्रेयः	१-७	,,	७	
१०	७	,,	१-७	,,	७	
११	६	सुतंभर आत्रेयः	१-६	,,	६	
१२	६	,,	१-६	,,	६	
१३	६	,,	१-६	,,	६	
१४	६	,,	१-६	,,	६	
१५	५	धरुण आङ्गिरसः	१-५	,,	५	
१६	५	पुरुरात्रेयः	१-५	,,	५	
१७	५	,,	१-५	,,	५	
१८	५	द्वितो मृक्तवाहा आत्रेयः	१-५	,,	५	
१९	५	वव्रिरात्रेयः	१-५	,,	५	
२०	४	प्रयस्वन्त आत्रेयाः	१-४	,,	४	
२१	४	सस आत्रेयः	१-४	,,	४	
२२	४	विश्वसामा आत्रेयः	१-४	,,	४	
२३	४	द्युम्नो विश्वचर्षणिरात्रेयः	१-४	,,	४	
२४	४	बन्धुः सुबन्धुः श्रुतबन्धुर्विप्रबन्धुश्च क्रमेण गोपायना लौपायना वा	१-४	,,	४	
२५	९	वसूयव आत्रेयाः	१-९	,,	९	
२६	९	,,	१-८	,,	८	
			९	विश्वे देवाः		१
२७	६	त्र्यरुणस्त्रैवृष्णः, त्रसदस्युः पौरुकुत्सः,				

❀ (४।५५) (१-७) विश्वे देवाः ७, (८) अग्निः १, (९) उषाः १, (१०) विश्वे देवाः १, (एवं १०)

* (४।५७।८) कृषिः, कृषिजीविनः, पर्जन्यः, धनं (शुनं) च (पादशो देवताः)।

× (४।५८) सूर्यो वा गावो वा घृतस्तुतिर्वा आदित्यो वा। + (५।५।१) इध्मो वा।

अश्वमेधश्च
भारता राजानः + १-५ अग्निः ५
६ इंद्राग्नी १
,,
२८ ६ विश्ववारात्रेयी १-६ अग्निः ६
२९ १५ गौरिवीतिः शाक्त्यः १-१५ इंद्रः × १५ २६
३० १५ बभ्रुरात्रेयः १-११ ,, ११
१२-१५ ऋणंचयेंद्रौ ४
३१ १३ अवस्युरात्रेयः १-८ इंद्रः ※ ८
९ इंद्राकुत्सौ ※ १
१०-१३ इंद्रः ४ ६८
३२ १२ गातुरात्रेयः १-१२ ,, १२
(इति चतुर्थाष्टके प्रथमोऽध्यायः।)
३३ १० संवरणः प्राजापत्यः १-१० ,, १०
३४ ९ ,, १-९ ,, ९
३५ ८ प्रभूवसुराङ्गिरसः १-८ ,, ८
३६ ६ ,, १-६ ,, ६
३७ ५ अत्रिर्भौमः १-५ ,, ५

३८ ५ अत्रिर्भौमः १-५ ,, ५
३९ ५ ,, १-५ ,, ५
४० ९ ,, १-४ ,, ४
५ सूर्यः १
६-९ अत्रिः ४
४१ २० ,, १-२० विश्वे देवाः २० ३०
४२ १८ ,, १-१० ,, १०
११ रुद्रः १
१२-१८ विश्वे देवाः ७ ५६
४३ १७ ,, १-१७ ,, १७
४४ १५ अवत्सारः काश्यपः* १-१५ ,, १५
४५ ११ सदापृण आत्रेयः १-११ ,, ११
४६ ८ प्रतिक्षत्र आत्रेयः १-६ ,, ६
७-८ देवपत्नी २
(इति चतुर्थाष्टके द्वितीयोऽध्यायः।)

+ (५।२७) अत्रिर्भौम इति केचित्। × (५।२९।९) प्रथमपादस्य उशना वा। (५।३०) १२-१५ मध्यमोऽग्निर्वा (बृ०)। ※ (५।३१।८) तृतीयपादस्य कुत्सो वा, चतुर्थपादस्य उशना वा।

(५।४१) (१) मित्रावरुणौ १, (२) विश्वे देवाः १, (३) अश्विनौ १, (४) विश्वे देवाः १, (५) मरुतः १, (६) विश्वे देवाः १, (७) उषासानक्ता १, (८-९) विश्वे देवाः २, (१०) अग्निः १, (११-१२) विश्वे देवाः २, (१३) मरुतः १, (१४) विश्वे देवाः १, (१५) भूमिः १, (१६-१८) विश्वे देवाः ३, (१९) भूमिरिळा १, (२०) विश्वे देवाः १, (एवं २०)।

(५।४२) (१४) इळस्पतिः, पर्जन्याग्नी, पूषा, इन्द्रो, वैश्वानरो वा १ (बृ०)। यद्वा (५।४२) (१-२) विश्वे देवाः २, (३) सविता १ (४) इंद्रः १, (५) विश्वे देवाः १, (६) इंद्रः १, (७-९) बृहस्पतिः ३, (१०) मरुतः १, (११) रुद्रः १, (१२) विश्वे देवाः १, (१३-१४) पर्जन्यः २, (१५) मरुतः १, (१६-१७) विश्वे देवाः २, (१८) अश्विनौ १, (एवं १८)। (५।४३) ९ वायुः, (१०) अग्निर्देवाः १, (११) मध्यमा वाक् १, (१२) बृहस्पतिः १। यद्वा (५।४३) (१) नदी १, (२) द्यावापृथिवी १, (३) वायुः १, (४) सोमः १, (५) इंद्रः १, (६) अग्निः १, (७) घर्मः १, (८) अश्विनौ १, (९-१०) विश्वे देवाः २, (११) सरस्वती १, (१२) बृहस्पतिः १, (१३-१५) अग्निः ३, (१६) विश्वे देवाः १, (१७) अश्विनौ १ (एवं १७)।

(५।४४) (१-२) इंद्रः २, (३) अग्निः १, (४) सूर्यः १, (५) अग्निः १, (६) विश्वे देवाः १, (७) सूर्यः १, (८) अग्निः १, (९-१०) सूर्यः २, (११-१२) विश्वे देवाः २, (१३) सुतंभरः १, (१४-१५) अग्निः २ (एवं १५)। यद्वा (५।४४) १२ अवत्सारेण सह सदापृण-यजत-बाहुवृक्त-श्रुतवित्-तर्याः वा ऋषयः १३ सुतंभरश्च। यद्वा (१०) क्षत्र-मनस-एवावद-यजत-सध्रि-अवत्साराः १, (११) विश्ववार-यजत-मायी-अवत्साराः १।

(५।४५) (१) इंद्रसूर्यौ १, (२-३) विश्वे देवाः २, (४) इंद्राग्नी १, (५-१०) विश्वे देवाः ६, (११) आपः १ एवं (११)। (५।४६) (१-६) विश्वे देवाः ६, (७-८) देवपत्नी २ (एवं ८)।

४७ +	७	प्रतिरथ आत्रेयः	१–७	विश्वे देवाः+	७	२५
४८	५	प्रतिभानुरात्रेयः	१--५	,,	५	
४९	५	प्रतिप्रभ आत्रेयः	१--५	,,	५	
५०	५	स्वस्त्यात्रेयः	१--५	,,	५	
५१	१५	,,	१--३	,,	३	
			४	इंद्रवायू	१	
			५	वायुः	१	
			६--७	इंद्रवायू	२	
			८--१५	विश्वे देवाः	८	
५२	१७	श्यावाश्व आत्रेयः	१--१७	मरुतः	१७	९१
५३	१६	,,	१--१६	,,	१६	
५४	१५	,,	१--१५	,,	१५	
५५	१०	,,	१--१०	,,	१०	
५६	९	,,	१--९	,,	९	
५७	८	,,	१--८	,,	८	
५८	८	,,	१--८	,,	८	
५९	८	,,	१--८	,,	८	
६०	८	,,	१--८	अग्नामरुतः ×	८	
६१	१९	,,	१--४	मरुतः	४	
			५--८	तरंतमहिषी शशीयसी	४	
			९	पुरुमीळ्हः	१	
			१०	तरंतः	१	
			११--१६	मरुतः	६	
			१७-१९	रथवीतिः	३	
६२	९	श्रुतविदात्रेयः	१--९	मित्रावरुणौ	९	५९

(इति चतुर्थाष्टके तृतीयोऽध्यायः)

६३	७	अर्चनाना आत्रेयः	१--७	,,	७	
६४	७	,,	१--७	,,	७	
६५	६	रातहव्य आत्रेयः	१--६	,,	६	
६६	६	,,	१--६	,,	६	
६७	५	यजत आत्रेयः	१--५	,,	५	
६८	५	,,	१--५	,,	५	
६९	४	उरुचक्रिरात्रेयः	१-४	,,	४	
७०	४	,,	१--४	,,	४	
७१	३	बाहुवृक्त आत्रेयः	१--३	,,	३	
७२	३	,,	१--३	,,	३	
७३	१०	पौर आत्रेयः	१--१०	अश्विनौ	१०	४८
७४	१०	,,	१--१०	,,	१०	
७५	९	अवस्युरात्रेयः	१--९	,,	९	
७६	५	अत्रिर्भौमः	१--५	,,	५	
७७	५	,,	१--५	,,	५	
७८	९	सप्तवध्रिरात्रेयः	१--९	,, *	९	
७९	१०	सत्यश्रवा आत्रेयः	१--१०	उषा	१०	१६
८०	६	,,	१--६	,,	६	
८१	५	श्यावाश्व आत्रेयः	१--५	सविता	५	१४
८२	९	,,	१--९	,,	९	
८३	१०	अत्रिर्भौमः	१-१०	पर्जन्यः	१०	
८४	३	,,	१--३	पृथिवी	३	
८५	८	,,	१--८	वरुणः	८	
८६	६	;,	१--६	इंद्राग्नी	६	
८७	९	एवयामरुदात्रेयः	१--९	मरुतः	९	

इति पंचमं मंडलम् ।

अथ षष्ठं मण्डलम् ।

१	१३	भरद्वाजो बार्हस्पत्यः	१-१३	अग्निः	१३	५४

(इति चतुर्थाष्टके चतुर्थोऽध्यायः।)

२	११	,,	१-११	,,	११	

+ (५।४७) (१) उषाः १, (२) सूर्यरश्मयः १, (३--५) सूर्यः ३, (६) विश्वे देवाः १, (७) मित्रावरुणाग्नयः १, (एवं ७)। (५।४८) (१) वैद्युतोऽग्निः १, (२) उषाः १, (३) इन्द्रसूर्यौ १, (४–५) अग्निः २, (एवं ५)। (५।४९) (१) विश्वे देवाः १, (२) सूर्यः १, (३-५) विश्वे देवाः ३ (एवं ५)। (५।५०) (१--२) सविता २, (३) विश्वे देवाः १, (४--५) सविता २, (एवं ५) । (५।५१) (१–२) अग्निः २, (३) विश्वे देवाः १, (४) इंद्रवायू १, (५) वायुः १, (६--७) इंद्रवायू २, (८--१५) विश्वे देवाः ८ (एवं १५)

× (५।६०) मरुतो वा । (८) पार्थिवमध्यमावग्नी मरुतश्च १ ।

* (५।७८।५-९ गर्भस्राविण्युपनिषद्) (७–९) गर्भः ।

॥ पञ्चमोऽष्टकः ॥

आर्षानुक्रमणी ।

प्रथमोऽध्यायः ।

पञ्चमोऽथाष्टकस्तस्मिन्नध्यायादिषु वक्ष्यते ।
ऋषिनामार्षगोत्रेषु विज्ञेयमिह वैदिकैः ॥

अब पञ्चम अष्टक का आरम्भ है । इस अष्टकके अध्यायों के आदि में ऋषियों के नाम और ऋषियों के गोत्रों के सम्बन्धमें विशेष ज्ञातव्य का उपदेश करेंगे ।

१. ऋषिनामार्षगोत्राणां ज्ञानमायुष्यमुच्यते ।
पुत्र्यं पुण्यं यशस्यं च स्वर्ग्यं धन्यममित्रहम् ॥

ऋषियों के नामों और ऋषियों के गोत्रों का ज्ञान दीर्घ आयु देनेवाला, उत्तम सन्तान देनेवाला, पुण्य, यशोजनक, स्वर्ग और धन देनेवाला और शत्रुओंका नाश करनेवाला होता है ।

२. ऋषिनामार्षगोत्रज्ञ एकैकस्य भवत्यृषेः ।
शरत्सहस्रमतिथिर्दिव्यर्चितपूजितः ॥

३. ततःपरं सुविपुलं स्वाध्यायफलमश्नुते ।
भवति ब्राह्मणं चापि ज्ञानस्यैतत् प्रयोजनम् ॥

ऋषियों के नामों, ऋषियोंके गोत्रों का जाननेवाला एक एक ऋषि के पास दिव्य सहस्र वर्षोंतक आदर पूजा पाता और अतिथि होकर रहता है । उसके पश्चात् उसे स्वाध्याय का बडा भारी फल प्राप्त होता है, इस सम्बन्ध में प्राचीन ब्राह्मणवचन भी है ।

४. मन्त्राणां ब्राह्मणार्षेयच्छन्दो दैवतविच्च यः ।
याजनाध्यापनादेति छन्दसां यातयामताम् ॥
स्थाणुं वाच्छति गर्तं वा पद्यते वा प्रमीयते ॥
पापीयान् भवतीत्यर्थमेवं ब्राह्मणमाह तम् ॥

जो मंत्रों के ब्राह्मण, ऋषि, छन्द, और देवता नहीं जानता, उसको यज्ञ कराने और अध्यापन करने से मन्त्र निष्फल होते हैं । वह स्थाणु (ठूंठ) हो जाता है, या गढे में पडता है, वा मरण को प्राप्त होता है । वा वह पापका भागी होता है, वह ब्राह्मण-वचन इसी अभिप्राय को प्रकट करता है ।

। छान्दोगानामार्षेयब्राह्मणे श्रूयते— यो ह वा अविदितार्षेयब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वाऽध्यापयति वा, स्थाणुं वर्च्छति गर्तं वा पद्यते वा प्रमीयते पापीयान् भवति यातयामान्यस्य छंदांसि भवन्ति। तस्मादेतानि मन्त्रेमन्त्रे विद्यादिति ॥

(१) स्थाणुं वा ऋच्छति- ऋच्छ् गति-इन्द्रिय-प्रयत्न मूर्तिभावे स्थाणुं मूर्तिभावं स्थाणुरूपत्वं प्राप्नोति, वातादिना भग्नशाखः शुष्को वृक्षः स्थाणुरित्युच्यते। एवं विधं वृक्षयोनिं प्राप्नोतीत्यर्थः । इत्यनन्तयाज्ञिकः ॥

'ऋच्छ्' धातु का अर्थ है, गति इन्द्रिय प्रयत्न और मूर्तिभाव । 'स्थाणुं ऋच्छति' अर्थात् स्थाणुकीसी मूर्ति, शकल, या स्थाणुरूपको प्राप्त होता है। वायु आदिसे जिस सूखे वृक्षके शाख टूट जाते हैं, वह स्थाणु ठूंठ कहाता है। अर्थात् वह वृक्ष आदि स्थावर योनिको प्राप्त होता है।

(२) 'गर्तं वा पद्यते'- 'श्वगर्तं वा पद्यते' अथवा 'श्वभ्रं वा गर्तं वा पद्यते' ।

गर्त=गढा, श्वभ्र=खड्डा गढे में गिरता है या खड्डे में गिरता है ।

श्वगर्तः- शुनां गर्तः अशुचिस्थानं नरकमुच्यते । अनेन पापेन नरके पततीत्यर्थः ।

कुत्तोंका गढा, अशुचि स्थान नरक है, वह नरकमें गिरता है, (अनन्त देव) ॥

'प्रमीयते'-अचिरान्मरणं प्राप्नोति । परमायुषः पुरैवैष मृत्युना म्रियत इत्यर्थः। अथवा प्रमीयते अन्धो वा बधिरो वा भवति । 'एष ह वा प्रमायुकोऽन्धो वा बधिरो भवति ॥

शीघ्र मर जाता है, अपनी पूर्ण आयु से पहलेही मरता है, अथवा अन्धा वा बहरा हो जाता है।

(४) ' पापीयान् भवति ' अतिशयेन पापचारो भवति । पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः

पापेनेति श्रुतेः। अतिशयेन पापः पापीयान् चाण्डाल म्लेच्छादि जातिषु जायत इत्यर्थः ॥ अनन्त० ॥

वह बहुत पापी हो जाता है, अर्थात् चाण्डाल, म्लेंछ, आदि जातियों में जाता है।

६. मन्त्राणां ब्राह्मणार्षेयच्छन्दोदैवतवित्तु यः।
याजनाध्यापनाभ्यां स श्रेय एवाधिगच्छति ॥
७. एतैः प्रयोजनैः सर्वैं शौनकेन प्रदर्शितैः।
ऋषयो नाम गोत्राभ्यामस्माभिः संप्रदर्शिताः॥

जो मन्त्रोंके ब्राह्मण, ऋषि, छन्द और देवताओंको भली प्रकार जानता है, वह कल्याणको ही प्राप्त होता है। ये सब प्रयोजन जो शौनकने कहे हैं मन्त्रोंका प्रयोग करता है, देवताएं उसका हवि ग्रहण करती हैं, देवता न जाननेवाले का नहीं।

मन्त्राणां देवताविद् यः प्रयुंक्ते कर्म कर्हिचित्।
जुषन्ते देवतास्तस्य हविना देवताविदः ॥
स्वाध्यायमपि योऽधीते मन्त्रदैवतविच्छुचिः।
स सत्रसदिव स्वर्गं सत्रसद्भिरपीडयते ॥
नियमोऽयं जपे होमे ऋषिच्छन्दो हि दैवतम्।
अन्यथा चेत् प्रयुंजानस्तत्फलाच्चात्र हीयते ॥
ऋषिछन्दोदैवतादिज्ञानं यज्ञादिषु श्रुतम्।
तदाश्रित्य प्राणदृष्टिर्विहितात्रेति गम्यताम् ॥
अविदित्वा ऋषिं छन्दो दैवतं योगमेव च।
योऽध्यापयेद् जपेद्वापि पापीयाञ्जायते तु सः ॥
अर्थेप्सवः खल्वृषयच्छन्दोभिर्देवताः पुरा।
अभ्यधावन्निति छन्दोमध्ये त्वाहुर्महर्षयः ॥
ऋषिं तु प्रथमं ब्रूयात् छन्दस्तत्तदनन्तरम्।
देवतामथ मन्त्राणां कर्मस्वेवमिति श्रुतिः ॥

अर्थ– जो मन्त्रों के देवता को जानकर शुद्ध, पवित्र होकर वेदका अध्ययन करता है, स्वर्ग में सत्रसद् (यज्ञ-कर्ताओं) द्वारा यज्ञनिष्ठ के समानही पूजा सत्कार प्राप्त करता है। जप और होममें यही नियम है कि– ऋषि, छन्द और देवता इन तीनों का क्रम से ज्ञान करे। इससे विपरीत प्रयोग करनेवाला इस लोकमें फलसे वञ्चित रहता है। यज्ञ आदिमें ऋषि, छन्द, देवता आदिका ज्ञान अवश्य विधान किया गया है, उसका आश्रय लेकर ही मन्त्रमें प्राण (आत्मा, परमात्मा) के साक्षात्कार करने का विधान किया है, ऐसा जानना चाहिये। ऋषि, छन्द, देवता और विनियोग को विना जाने जो पुरुष पढाता है, या जपता है, वह अति पाप का भागी होता है, अर्थों (नाना अभिप्रायों) को प्राप्त करने की इच्छावाले ऋषिगण पूर्वकालमें छन्दोंद्वाराही देवताओं तक पहुंचे थे। इससे मध्यमें छन्दका ऋषियोंने प्रतिपादन किया है। यज्ञ कर्मोंमें प्रथम 'ऋषि' कहे, फिर 'छन्द', उसके पश्चात् मन्त्रों का 'देवता' बतलाये हैं। इन कारणोंसे ही हमने भी ऋषियोंका उनके नाम और गोत्रों सहित वर्णन किया है।

[इससे प्रतीत होता है कि शौनकप्रणीत आर्षानुक्रमणी भी कोई पृथक् ग्रन्थ है। (कुहनन् राजा)॥ बृहद् देवतामें-(अ० ८।१३१-१३८)

जो प्रयोक्ता मन्त्रोंके देवताओं का ज्ञान करके कहे, ऐसी श्रुति (ब्राह्मण वचन वा वेदवाक्य) है।]

८. यदुच्यते पदज्ञानमृषिज्ञानमृतेऽपि नः।
भवत्येवेह मन्त्रेषु किमृषिज्ञानमुच्यते ॥
९. ऋषिनामार्षगोत्रेति यदेतच्छौनकोऽब्रवीत्।
तददृष्टाय कथितं न चादृष्टपरा वयम् ॥

(पूर्वपक्ष)– ऐसा कहा जाता है कि– ऋषियों का ज्ञान न रहते हुए भी हमें पद– पदार्थ का ज्ञान हो ही जाता है। तब मन्त्रों के ऋषियों को जानने का उपदेश क्यों किया जाता है? शौनकने जो ऋषियोंके नाम और ऋषियोंके गोत्र बतलाते हैं, उनका कोई अदृष्ट (अप्रत्यक्ष धर्म) विशेष प्रयोजन है। हम उस अदृष्टको स्वीकार नहीं करते। हमें उससे कुछ प्रयोजन नहीं।

१०. तदुच्यते स्वसूक्तानामादावन्तेऽथवा पुनः।
ऋषयो नामगोत्राणि स्थापयन्तीह केषुचित्॥
११. वृष्णो शर्धाय सूक्तादौ नोधसो नाम दृश्यते।
अर्चनानसः सूक्तांते बिभ्रतावर्चनानसम्॥
१२. कण्वं दद प्रचेतसो दिवो दासेभिरिन्द्र च।
उतासि मैत्रावरुण इति गोत्रनिदर्शनम्॥

(उत्तरपक्ष)– इसके समाधानरूप में कहते हैं कि– ऋषियोंने अपने अपने सूक्तों के आदि अथवा अन्तमें ऋषियोंके नाम और गोत्र बतलाये हैं। जैसे– किन्हीं सूक्तों में अपने नाम और गोत्र बतलाये हैं। जैसे-

वृष्णे शर्धाय सुमखाय वेधसे नोधः सुवृक्तिं प्र भरा मरुद्भ्यः। (ऋ० १।६४।१)

इत्यादि सूक्तके आदिमें 'नोधस्' ऋषिका नाम दिखाई देता है। और—

सुतं सोमं न हस्तिभिरा पड्भिर्धावतं नरा बिभ्रतावर्चनानसम् ॥ (ऋ० ५।६४।७)

सूक्त के अन्तिम मंत्र के अन्तिम चरणमें 'अर्चनानस्' ऋषि का नाम आया है।

(१) असा॑मि हि प्र॑यज्यवः कण्वं॑ दुद प्र॑चेतसः । (ऋ० १।३९।९)

(२) दिवो॑दासेभिरिन्द्र स्तवा॑नः० (ऋ० १।१३०।१०)

(३) उतासि॑ मैत्रावरुणो व॑सिष्ठोर्वश्या॑ ब्रह्मन् मनसोऽधि॑ जा॒तः । (ऋ० ७।३३।११)

इन ऋचाओंमें 'प्रचेतस्' 'दिवोदास' और 'मैत्रावरुण' यह गोत्रनामोंका निर्देश है।

१३. ऋषीणां नामगोत्राणि दृष्ट्वा भ्राम्यन्ति लौकिकाः जिज्ञासमाना मन्त्रार्थमतस्तेषां निदर्शनम् ॥

१४. नामगोत्राणि मन्त्रेषु न निविष्टानि येषु तु । तेषु प्रदर्शनं तेषां विस्पष्टप्रतिपत्तये ॥

मन्त्रोंके अर्थ जाननेके इच्छुक साधारण लोग ऋषियोंके नाम और गोत्र देखकर भ्रममें पड जाते हैं, इस लिये उनको यह नमूना मात्र बतलाया है। जिन मन्त्रोंमें ऋषियोंके नाम और गोत्र नहीं आये हैं, उनका स्पष्ट ज्ञान करने के लिये उनमें भी बतलाते हैं।

१५. पदं ह्यज्ञायमानार्थं दृष्ट्वा भ्राम्यन्त्यपि क्वचित् । स्यादृषेः किमिदं नाम गोत्रं वाहो भवेदिति ॥

जिस पदका अर्थ प्रतीत नहीं होता, उसको देखकर भी लोग कहीं कहीं भ्रम में पड जाते हैं, कि क्या यह ऋषि का नाम है या गोत्र का है?

१६. नन्वेवं विनियोगश्च दर्शनीयस्त्वधुना । वक्तव्यो वा विशेषोऽत्र ... ...

(शंका)-अब आपको विनियोग भी दिखलाना आवश्यक है और इस विषयमें आप को विशेष कहना भी आवश्यक होगा।

... ... विशेषस्तत्र वक्ष्यते ।

१७. यज्ञं विगाह्य तत्रत्यानर्थानभिदधत्यतः । यजुषामर्थविज्ञानं नाकर्मज्ञस्य सिध्यति ॥

(समाधान)- इस सम्बन्धमें विशेष भी कहेंगे। ऋचाएं यज्ञको व्यापकर यज्ञ के अभिप्रायों को भी कहती हैं। इसी से, यजुष् वाक्योंका अर्थ-विज्ञान जो कर्म का प्रयोग नहीं जानता, उसको विदित नहीं होता।

१८. आह शाखामिषे त्वेति न शाखा यजुषि श्रिता । न च क्रियापदं दृष्टमपेक्षा जायते यतः ॥

(शंका)- शाखा को लक्ष्य कर के प्रयोक्ता कहता है 'इषे त्वा' इस यजुर्वाक्यमें शाखा कहीं विद्यमान नहीं है। और न कोई क्रियापद ही दीखता है, जिससे कि शाखा की आवश्यकता प्रतीत हो।

१९. इषे त्वेत्याच्छिनत्तीति ब्राह्मणं दृश्यते यदा । यजुषोऽर्थं तदा स्पष्टमवगच्छन्ति लौकिकाः ॥ ऋचस्तु परिपूर्णार्था नापेक्षन्ते बहिःस्थितम् । विनियोगस्ततस्तासामस्माभिर्न प्रदर्श्यते ॥

(समाधान)-'इषेत्वा' 'इत्याच्छिनत्ति' ऐसा ब्राह्मणवाक्य जब देखा जाता है, तब लोगोंको उस 'यजुष्' वाक्य का अर्थ स्पष्ट विदित हो जाता है। परन्तु ऋचाओंका अर्थ अपने में ही परिपूर्ण है। वे अपनेसे बाहर स्थित किसी पदार्थ की अपेक्षा नहीं करती, इसलिये उनका विनियोग हम नहीं बतलाते।

२१. किन्त्वृचो विनियुज्यन्ते न वाक्यार्थानुरूपतः। देवता श्रुतिसामान्यं विन्यासः प्रत्ययस्तथा ॥

२२. छन्दांसि सूक्तसंख्या च शब्दावृत्तिर्ऋषिस्तथा । प्रयोजयन्त्यृचस्ते च न वाक्यार्थस्य भेदकाः ॥

और ऋचाओंका वाक्यार्थ के अनुसार विनियोग नहीं होता, बल्कि देवता, श्रुति की समान अर्थात् समान शब्द होना, पदों का विशेष क्रम, अर्थ की प्रतीति, विशेष छन्द, सूक्तगणना, शब्दकी आवृत्ति और विशेष ऋषि होना, ये बातें ऋचा को विशेष कर्ममें प्रयोग कराती हैं, ये बातें मन्त्र के वाक्यार्थ में कोई भेद उत्पन्न नहीं करतीं।

२३. ननु च ब्राह्मणे साम्नामृषयश्चापि दर्शिताः । अर्थवादे च सर्वेषां यच्छादयानकं विदुः ।

२४. ऋचां नैवंविधं दृष्टमृषीन् केनाह शौनकः ॥

(शंका)- उस सामब्राह्मण में सब सामोंके अर्थवाद में ऋषि भी बतलाये हैं, जिसे 'शाट्यायन ब्राह्मण' नामसे विद्वान् जानते हैं। परन्तु ऋचाओंका तो ऐसा कोई (ब्राह्मण) नहीं देखा जाता, तब शौनक ऋषिने ऋषियों का उपदेश किस प्रकार किया है ?

ब्राह्मणादाकृतेरुक्तेस्तथा वृद्धोपदेशतः।
२५. ताण्डके शाट्यायनके तथा चैवास्मदीयके।
अस्माभिरभिदृश्यन्ते ऋचामपि महर्षयः॥

ताण्ड्य ब्राह्मण, शाट्यायन ब्राह्मण और हमारे ऋग्वेदीय ऐतरेय ब्राह्मणमें ऋचाओंके महर्षियों का विवरण उपलब्ध होता है।

२६. माधुच्छन्दसमित्याह वायवा हि दर्शत।
आकृत्या दश सूक्तानि तदार्षाण्याह शौनकः॥
२७. उक्तिश्च दृष्टा सूक्तेषु प्र वव्रेवव्रिश्चिकेत।
तमु त्वा गोतमो गिरा जेतारमपराजितम्॥
२८. त्यान्नु क्षत्रियाँ अव सूक्तं वृद्धोपदेशतः।
मत्स्यानां जालबद्धानामार्षं यास्कोऽब्रवीदिति॥

'वायवा याहि दर्शतेमे०' (ऋ० १।२।१)

इस सूक्त को माधुच्छन्दस ऐसा ब्राह्मणमें कहा है। इसी के समान दश सूक्त भी शौनकने इसी ऋषिके बतलाये हैं। सूक्तों में भी ऋषिके वचन की सूचना है, जैसे—

प्र वव्रेर्वव्रिश्चिकेत। (ऋ० ५।१९।१)
तमु त्वा गोतमो गिरा। (ऋ० १।७८।२)
जेतारमपराजितम्। (ऋ०१।११।२) (ऋ०५।२५।६)

और वृद्धों (पूर्व आचार्यों) के उपदेशसे भी ऋषियों का ज्ञान होता है, जैसे-यास्कने निरुक्तमें बतलाया है कि-

त्यान् नु क्षत्रियाँ अव० (८।६७।१)

यह मन्त्र जालबद्ध ऋषियों का है।

वायवा याहि दर्शत माधुच्छन्दसमित्याह।

यह ब्राह्मणवचन है। 'प्रवव्रैर्वव्रिश्चिकेत०' इस सूक्त में 'वव्रि' ऋषि का नाम है। इस सूक्त का ऋषि 'आत्रेय वव्रि' है। 'अभि त्वा गोतमो गिरा' इत्यादि सूक्त में 'गोमत' ऋषि नाम है। इस सूक्त का 'गोतम राहूगण' ऋषि है। (ऋ० १।११।२) में 'जेतारम् अपराजितम्' पाद में 'जेता' ऋषि नाम है। इस सूक्तका ऋषि मधुछन्दा का पुत्र जेता है, ऐसा माधवभट्ट का मत है।

'त्यान्नु क्षत्रियाँ अव०' इत्यादि सूक्तके ऋषिविषयमें यास्क लिखते हैं—

मत्स्यानां जालमापन्नानामेतदार्षं वेदयन्ते।
(निरु० ६।२७)

[सूक्तोंमें ऋषिनाम ऋषियों ने रखे हैं, ऐसा मानना माधवभट्ट का उचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि—

वव्रिर्वव्रिश्चिकेत० (५।१९।१) में 'वव्रि' दो हैं। दोनों पद परस्पर उपकारक गुरुशिष्य के वाचक हैं। इसके अतिरिक्त ९ स्थलों में 'वव्रि' शब्द आता है, किसी भी स्थानपर ऋषिवाचक 'वव्रि' नहीं है। इसी प्रकार—

(२) (१।११।२) में 'जेतारम्' पद मधुछन्दा के पुत्र 'जेता' का वाचक नहीं है। वहाँ 'जेतारम्' पद इन्द्र (त्वाम्) का विशेषण है।

(३) (१।७८।२) में 'गोतम' पदभी ऋषिनाम नहीं है। इससे पूर्व की ऋचा में 'गोतमाः' और ५ वीं ऋचामें 'रहूगणाः' पद हैं, दोनों गोत्रनाम वा विशेष ऋषि नहीं हैं, प्रत्युत विशेष विद्वानोंके लिये आया हैं। 'गोतम राहूगण' ऋषिसे देखे गये सूक्त ऋ० ५।७४ से ९३ तक १९ सूक्त हैं। अन्य सूक्तों में ऐसा कोई निर्देश नहीं है। इस सूक्त का निर्देश अन्य सूक्तोंको 'गोतम राहूगण' दृष्ट नहीं सिद्ध कर सकता, इसलिये अमुक ऋषिदृष्ट सूक्त है, इसके लिये और अधिक पुष्ट आधार ढूंढना चाहिये। यास्कवचन से वृद्धोपदेश या गुरुपरम्परासे ऋषि-ज्ञान का होना पुष्ट प्रमाण है। ब्राह्मणोक्त ऋषि भी आप्तोपदेश या वृद्धोपदेश के अन्तर्गत हैं। इस परम्परा से ही आर्षानुक्रमणी वा बृहद्देवतादि में शौनकादिने सूक्तोंके ऋषि दर्शाये गये हैं। (अनुवादक)]

२९. प्रमाणेष्वपि सन्देहाद् विकल्पोक्तिरपि क्वचित्।
चन्द्रमा अप्स्वन्तरिति सूक्ते कुत्सोऽथवा त्रितः॥

प्रमाणों में सन्देह हो जाने से कहीं कहीं विकल्प से भी ऋषि बतलाये गये हैं। जैसे—

चन्द्रमा अप्स्वन्तरा० (ऋ० १।१०५।१)

इस सूक्तमें ऋषि का विधान है- 'त्रित आप्त्यः कुत्स आंगिरसो वा,' यहां त्रित आप्त्य वा कुत्स आंगिरस दोनों में विकल्प है।

'चन्द्रमा एकोनाऽऽप्त्यस्त्रितो वा' सर्वानुक्रमणी ।

[पूर्व के ९४।१०४ तक सूक्तों का ऋषि कुत्स आंगिरस विहित है । १०५ सूक्त में आप्त्य त्रित विकल्प से विधान किया है । इस विकल्प के सम्बन्ध में सायण लिखते हैं—

अपां पुत्रस्य त्रितस्य कूपे पतितस्य कुत्सस्य वा आर्षम् । तथा चोभयोः कूपपात आम्नायते । त्रितः कूपेऽवहितः (ऋ० १।१०५।१७) काटे निबाळ्ह ऋषिर् ह्वदूतये (ऋ० १।१०६।६)

अर्थात् आपः के पुत्र त्रित वा कुत्स दोनों इस सूक्त के ऋषि हैं, क्योंकि दोनों का कूप में गिरना पठित है। ऋ० १।१०५।१७ में 'त्रितः' कूप में गिरा बतलाया है और १०६ सूक्त के छठी ऋचा में कुत्स को कूपमें गिरा बतलाया है । इस प्रकार प्रमाणों में संदेह उत्पन्न हुआ है । अर्थात् वेदमन्त्रों से ही ऋषि का निर्णय इस स्थानपर किया गया है । कुत्स आंगिरस दृष्ट सूक्त आगे भी १०६।११५ तक हैं। केवल १०५ वें सूक्त में 'त्रितः आप्त्यः' पाठ आने से ऋषिका विकल्प किया गया है ।

स्वामी स्कन्द ने लिखा है—

चन्द्रमाः सूक्तमाप्त्यं वा त्रितं प्रतिबभावृषिम् । चन्द्रमा इत्येतत्सूक्तं आप्त्यपुत्रं वा त्रितनामानमृषिं प्रति कुत्समेव वा त्रितेन कुत्सेन वा दृष्टमित्यर्थः ॥

बृहद्देवताने इसके सम्बन्ध में त्रित की कथा तो लिखी है, परन्तु सूक्त (१०५) त्रित-दृष्ट है, ऐसा स्पष्ट नहीं लिखा है । इससे यह विकल्प केवल वेदमन्त्रों की ऐतिहासिक व्याख्या करनेपर आश्रित है । इस सम्बन्धमें सायणने शाट्यायनियों के एक ऐतिह्यका आशय लिखा है—

अत्र शाट्यायनिन इतिहासमाचक्षते-एकतो द्वितस्त्रित इति पुरा त्रय ऋषयो बभूवुः - 'इत्यादि॥]

॥ इति प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः ।

अथाध्यायं जुषस्वेति व्याचिख्यासति माधवः ।
गोत्रेष्वृषीणां तद् वक्तव्यमादावेव प्रदर्शयन् ॥

'जुषस्व'० (ऋ० ७।२।१) इत्यादि अध्याय की व्याख्या करनेके पूर्व माधव ऋषियोंके सम्बन्धमें प्रवचन करते हैं ।

१. पित्रादिषु प्रसिद्धेन येन नाम विशेष्यते ।
वेदेष्वृषीणां तद् गोत्रं ज्ञातव्यं तत्र वैदिकैः ॥

वेदों में ऋषियोंके नामके साथ जो उनके पिता आदि के प्रसिद्ध नाम लगते हैं, वैदिक विद्वान् उनको गोत्र जानते हैं।

२. जेतुः पिता मधुच्छन्दाः श्यावाश्वस्य पितामहः ।
पितामहो गौरिवीतेर्गोत्रत्वेन प्रदर्शिताः ॥

३. अपालात्रिकुले जाता विश्ववारा च तादृशी ।
दूरस्थोऽत्रिस्तयोर्गोत्रं बहवः सन्ति तादृशाः ॥

जेताका पिता 'मधुच्छन्दस्' श्यावाश्व का पितामह और गौरिवीति का भी पितामह गोत्ररूपसे बतलाया गया है । अपाला और विश्वद्वारा दोनों अत्रिकुलमें उत्पन्न हुई हैं, अत्रि उनकी बहुत दूरका पूर्व पुरुष है, तो भी वह उनका गोत्र है, इस प्रकार के बहुतसे गोत्र हैं ।

[(ऋ० १।११॥) सूक्तका ऋषि है— 'जेता माधुच्छन्दसः' । ऋ० ५ सू० ५२-६१ सूक्तों का ऋषि 'श्यावाश्व आत्रेय' है। अत्रि श्यावाश्व का पितामह है। ऋ० ५ सू० २९ का ऋषि 'गौरिवीति शाक्त्य' है। शक्ति गौरिवीति का पितामह है। ऋ० ८ सू० ९१ की ऋषिका 'अपाला आत्रेयी' है और ऋ० ५।२८ की ऋषिका 'विश्ववारा आत्रेयी' है। माधवके मत से अत्रि इनका दूरका पूर्वपुरुष है। परन्तु बृहद्देवतामें लिखा है— 'अपालात्रिसुता त्वासीत्' अपाला अत्रि की कन्या थी, अतः 'माधव' का अत्रि को दूरका सम्बन्धी कहना विचारास्पद है ।

४. पितरौ मित्रावरुणौ वसिष्ठस्येत्यृचि श्रुतम् ।
उतासि मैत्रावरुणः प्रवरेषु पुनस्तयोः ॥

५. पुत्रस्थाने समावेशाद् वसिष्ठो मैत्रावरुणिः ।
तत्राहुः कारणं प्राज्ञा विदेहोऽभि शशाप तम् ॥

६. ऋषे भव विदेहस्त्वमृषिः शप्तः समाविशत् ।
अहोरात्रे योगबलात् तौ मित्रावरुणौ स्मृतौ ॥

७. ददर्श मन्त्रांश्च तदा पुत्रश्चाभूत् पुनस्तयोः ।
क्रमेणार्षेयवरणमुपपन्नं तयोरिति ॥

वसिष्ठ के दो पिता मित्र और वरुण हैं, ऐसा वर्णन–
'उतासि मैत्रावरुणो०' (ऋ० ७।३३।११)

इस ऋचामें आया है। उन दोनों के प्रवरोंमें वसिष्ठ-पुत्र के स्थानमें वसिष्ठ का समावेश होनेसे वसिष्ठ मैत्रावरुणि कहाता है। इस सम्बन्धमें विद्वान् जन कारण बतलाते हैं कि– विदेहने 'वसिष्ठ को शाप दिया था कि हे ऋषे वसिष्ठ! तू विदेह (देहरहित) हो जा।' शाप प्राप्त करके वह योगबल से दिन और रात्रिमें प्रवेश कर गया। इससे दिन और रात्रि दोनों मित्र और वरुण कहे जाते हैं।

तब उसने मन्त्रों को साक्षात् किया और वह उनका पुत्र भी हुआ। इस प्रकार उन दोनों का क्रमसे आर्षेय वरण संगत हैं।

[सप्तम मंडलके सूक्त १–१०४ समस्त सूक्त मैत्रावरुणि वसिष्ठ दृष्ट हैं। इस सम्बन्धमें बृहद्देवतामें लिखा है-- 'प्रजापतिका पुत्र मरीचि; मरीचिका पुत्र कश्यप, उसकी १३ स्त्रियें दाक्षायणी थीं, उनमेंसे अदितिने १२ पुत्र जने, भग, अर्यमा, अंश, मित्र और वरुण, धाता, विधाता, विवस्वान्, त्वष्टा, पूषा, इन्द्र, विष्णु। इनमेंसे मित्र और वरुण दोनोंका एक जोडा उत्पन्न हुआ था।

यज्ञमें अप्सरा उर्वशी को देखकर इन दोनों आदित्यों का वीर्य स्खलित होकर वसतीवरी नाम जलोंके कुम्भमें जा गिरा। उसी समयमें दो ऋषि वसिष्ठ और अगस्त्य उत्पन्न हुए। वह वीर्य कई स्थानोंपर गिरा कलश में भी, जल में भी, स्थल में भी। स्थल में पतित वीर्य से वसिष्ठ हुए, कुम्भ में पतित वीर्यसे अगस्त्य हुए और जल में पतित वीर्य से मत्स्य ऋषि हुए। अगस्त्य शम्या-मात्र परिमाणमें उत्पन्न हुआ। मान अर्थात् परिमाण से परिमित होनेके कारण 'मान्य' कहा जाता है। वह ऋषि कुम्भसे उत्पन्न हुआ, कुम्भसे भी मापा जाता है। 'कुम्भ' भी एक परिमाण का नाम होता है, अनन्तर ग्रहण किये जलों में पुष्कर में वसिष्ठ स्थित था, उस पुष्कर को समस्त देवों ने धारण किया, उस जलसे उठकर, मुनिने बडा तप किया। गुणसे बसने या रहनेसे, श्रेष्ठताके कर्म से उस का नाम 'वसिष्ठ' पडा। उस ऋषिने पूर्वकालमें तपसे ऋषियों-सहित अदृश्य 'इन्द्र' का साक्षात् किया, इन्द्रने ऋषि को सोमभागों का उपदेश किया, 'ऋषयो वा इन्द्रम्०' इस ब्राह्मण से ऐसा प्रतीत होता है, इसीसे ब्रह्म कर्म (यज्ञ-अध्ययन आदि) में वसिष्ठ और वसिष्ठगोत्री ब्राह्मण यज्ञादि समस्त कर्मों में सबसे अधिक दक्षिणाके भागी होते हैं। इसलिये अब भी किसी प्रकार जो वसिष्ठ सदस्य होते हैं, उनको दक्षिणाओंसे सत्कार करना चाहिये, इस सम्बन्ध में 'माल्लवेयी श्रुति' है। (बृहद्देवता अ० ५।१४८–१५८)

इस उद्धरण से कुछ भी ऐतिहासिक सत्यता पता नहीं लगती, इस सम्बन्ध में अधिक विचार और अनुसन्धान अपेक्षित है। इसमें विदेह के शाप का उल्लेख नहीं है। 'अहोरात्र' मित्र और वरुण हैं, उनमें योग-बल से लीन होना, उनका पुत्र होना, इस में गूढ अलंकार विदित होता है।]

८. विश्वामित्रजमदग्नी तथा वसिष्ठ एव च।
इन्द्रोऽगस्त्यो मरुतो गोत्रमेषु प्रदृश्यते॥

विश्वामित्र, जमदग्नि, वसिष्ठ, इन्द्र, अगस्त्य और मरुत् गण इनमें गोत्र दीखता है।

९. यद्यप्यृषीणां सप्तानां ब्राह्मणेषु न दृश्यते।
गोत्रं तथापि विज्ञेयमृक्षु गोत्रनिदर्शनात्॥

ब्राह्मणग्रन्थोंमें सातों ऋषियों के गोत्र नहीं दिखाई देते, तो भी उनका गोत्र जानना चाहिये। ऋचाओंमें उन का गोत्र दिखाई देता है।

१०. असगोत्रो भवेच्छ्राद्धे स गोत्रात्तन्तुमाहरेत्।
न प्रयच्छेद् दुहितरं सगोत्रायेति च स्मृतिः॥

श्राद्ध में असगोत्र ब्राह्मण को आमन्त्रित करना चाहिये। तन्तु अर्थात् पुत्र सगोत्र से लेना चाहिये। अपनी कन्या सगोत्र में देनी चाहिये।' यह स्मृति का विधान है।

[संस्थितस्यानपत्यस्य सगोत्रात् पुत्रमाहरेत्।
(मनु० अ० ९ श्लो० १०)

असपिण्डा च या मातुरसपिण्डा च या पितुः।
सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने॥
(मनु० अ० ३।५)]

११. किमेतेषु मनुष्याणां गोत्रमित्यभिधीयते।
वक्तव्यं छान्दसैर्नैतद् धर्मशास्त्रपरैरिव॥

(प्रश्न)- इन ऋषियों में क्या मनुष्यों का गोत्र है?
(उत्तर)- इसका समाधान कहते हैं कि- धर्मशास्त्रियों के समान वैदिक विद्वानों को यह न कहना चाहिये ।

कौतूहलनिवृत्त्यर्थमथ चास्माभिरुच्यते ।
१२. गोत्राणां तु सहस्राणि प्रयुतान्यर्बुदानि च ।
१३. कुलाख्याभिमतानीह तानि गोत्राणि सन्तु नः ।
न तु स्मरन्ति चैतानि सम्प्रति ब्राह्मणा इमे ॥

कौतुहल (उत्कण्ठा) को दूर करने के लिये इस सम्बन्धमें हमारा यह कहना है कि- गोत्र तो हजारों, लाखों, अरबों हैं, जो कुलनामोंसे कहे जाते हैं, वेही हमारे गोत्रभी होने सम्भव हैं, परन्तु ब्राह्मण (वेदज्ञ विद्वान्) उनका स्मरण (किसी विशेष ग्रन्थमें प्रतिपादन) नहीं करते ।

१४. तर्हि गोत्रसहस्राणि प्रयुतान्यर्बुदानि च ।
षट्छतैः संगृहीतानि कठबोधायनादिभिः ॥

तब यदि हजारों, लाखों, अरबों गोत्र हैं तो कठ और बोधायन आदि ऋषियोंने ६०० का संग्रह किया है ।

१५. स्मरन्ति तानि चित्तेषु सम्प्रतित्वेन मानवाः ।
मार्कण्डेयोऽस्मि माण्डूकस्तथा माण्डव्य इत्यपि॥

उनको ही मनुष्य अपने चित्तों में स्मरण करते हैं कि मैं मार्कण्डेय हूं, मैं मांडूक हूं, मैं माण्डव्य हूं ।

१६. प्रदर्शयन् बहून् पक्षान् न कथञ्चिदपीच्छति ।
इतरेतरसम्बन्धं तदध्यायमिति ब्रुवन् ॥

इस प्रकार बहुत से पक्षों को दिखलाकर मनुष्य परस्पर का सम्बन्ध (विवाह) करना नहीं चाहता और वह उसके अध्याय (वेदशाखा) का ही नाम लेता है ।

१७. यदि ह्येतानि गोत्राणि मार्कण्डेयः समुद्वहेत् ।
माण्डूकस्य दुहितरमसगोत्रां हि सा ततः ॥
१८. तस्माद्वत्सादिकं गोत्रमिति माधवदर्शनम् ।
आपस्तम्बश्च तानेव वेददृष्टानदर्शयत् ॥

यदि ये सब गोत्र हैं, तो मार्कण्डेय को मांडूककी कन्या से विवाह कर लेना चाहिये, क्योंकि वह असमान गोत्रकी होती है, परन्तु विवाह नहीं होता। इसलिये माधव का अपना मत यह है कि 'वत्स' आदिक गोत्र नाम हैं। ऋषि आपस्तम्ब ने वेद में देखे गोत्रोंका हि प्रतिपादन किया है।

[इस सम्बन्धमें आपस्तम्ब, बोधायन, आश्वलायन आदि का प्रवराध्याय देखनेयोग्य है ।]

॥ इति द्वितीयोऽध्यायः २॥

अथ तृतीयोऽध्यायः ।

उग्रो जज्ञे वीर्यायेति व्याचिख्यासति माधवः ।
अमितेषु मितर्षीणामागमे कारणं वदन् ॥

माधव भट्ट 'उग्रो जज्ञे वीर्याय०' (ऋ० ७।२०।१) अध्याय की व्याख्या करने के पूर्व अमित ऋषियों में मित ऋषियों के आने का कारण बतलाते हैं ।

१. जातवेदस इत्येतत् प्रसङ्गात् सूक्तमागतम् ।
कुत्समध्ये कश्यपार्षं कुत्सेन बहवः स्तुताः ॥

कुत्सदृष्ट सूक्तों के मध्य में 'जातवेदसे०' (ऋ० १।९९) इत्यादि सूक्त कश्यपदृष्ट प्रसङ्गवश आ गया है। कुत्सऋषिने बहुत से सूक्तों का दर्शन किया है। जैसे—

२. औषसो द्रविणोदाश्च शुचिर्वैश्वानरस्तथा ।
जातवेदसमप्यग्निमथ तुष्टाव कश्यपः ॥
३. स्तुतो मरुत्वान् कुत्सेन तत इन्द्रः प्रमन्दिने ।
वार्षागिरैस्तत्प्रसङ्गात् स यो वृषेति स स्तुतः॥
४. कुत्सस्त्रितश्च पतितौ कूपे तुष्टवतुश्च तौ ।
तेन त्रितस्यागमनं चन्द्रमा अप्स्वन्तरिति ॥

औषस्, द्रविणोदा, शुचि और वैश्वानर देवता के सूक्त क्रमसे (ऋ० १ सू० ९५, ९६, ९७ और ९८) कहे हैं। उनके आगे प्रसङ्गसे जातवेदस् अग्नि की कश्यपने स्तुति की। इसी प्रकार 'प्रमन्दिने०' (सू० १०१) सूक्त में कुत्स ऋषिने मरुत्वान् इन्द्र की स्तुति की। प्रसङ्गसे 'स यो वृषा०' सूक्त से ऋज्राश्व, अम्बरीष, सहदेव, भयमान, और सुराधस नामक वृषागिर के पुत्रों ने मरुत्वान् इन्द्रकी स्तुति की ।

कुत्स और त्रित दोनों ने ही कूप में गिरनेपर स्तुति की थी। इस प्रसङ्ग से चित्त का उस स्थलपर

चन्द्रमा अप्स्वन्तरा० (ऋ० १।१०५।१)

इत्यादि समावेश हो गया है।

[माधवभट्टने 'मितर्षि' और 'अमितर्षि' दो परिभाषाओं का विशेष प्रयोग किया है। सर्वानुक्रमणी और बृहद्देवता आदि ग्रन्थोंमें ये संज्ञाएं उपलब्ध नहीं हैं। सम्भव है ये संज्ञाएं शौनकोक्त आर्षानुक्रमणीमें प्रयुक्त हुई हों, स्कन्दस्वामीने (ऋ० ६।४८।१) के भाष्यमें एक अनुक्रमणी के उद्धरण में इन संज्ञाओं को दर्शाया है। एक कुलके ऋषि 'अमितर्षि' कहाते हैं, उनके बीचमें कुलांतरके समाविष्ट ऋषि 'मितर्षि' हैं। पूर्वोक्त स्थलमें कुत्स 'अमित' है, कश्यप और वार्षागिर ऋषि मित हैं। अधिक अर्थ में 'अमित' और अल्प अर्थमें 'मित' शब्दका प्रयोग हुआ है।]

५. मध्ये गृत्समदस्यागाद् ऋषिः सोमाहुतिस्तथा।
तत्रेदं कारणं प्राहुरग्निः सूक्तैस्त्रिभिः स्तुतः॥

६. जागताभ्यां त्रैष्टुभेन त्वमग्ने द्युभिस्त्वमिति।
वाजयन्निव नू रथान् गायत्रं सूक्तमन्ततः॥

७. गायत्रात् प्राक् सोमाहुतिर्हुवेव इति दृष्टवान्।
क्रमेण त्रीणि छन्दांसि त्रिष्टुबादीनि भार्गवः॥

(ऋ० २।१-३ तथा ८-२६)

ऋषि गृत्समद दृष्ट सूक्तों (ऋ० २।१-३ तथा ८।२६) के बीच में ऋषि सोमाहुति के दृष्ट सूक्त (४-७) हैं। इसका विद्वान् लोग यह कारण बतलाते हैं कि **'त्वमग्ने द्युभिस्त्वम्'** इत्यादि दो जगती छन्दवाले और एक त्रिष्टुभ् छन्दवाले तीन सूक्तों से गृत्समदने अग्निका स्तवन किया है और फिर **'वाजयन्निव०'** सूक्तसे गायत्री छन्दसे अग्निका स्तवन है और भार्गव सोमाहुतिने भी क्रम से त्रिष्टुप् अनुष्टुप् और गायत्री छन्दों से अग्नि की स्तुति की है। इसलिये सोमाहुति भार्गवके दृष्ट सूक्त 'हुवे व०' (४-६) इत्यादि गृत्समद-दृष्ट सूक्तों के बीचमें परिपठित हैं।

८. अन्यस्मिन् पुनरध्याये छन्दसोऽन्यस्य दर्शनम्।
नि होता होतृषदन इति गृत्समदोऽकरोत्॥

९. पुनर्गृत्समदस्यैव मध्ये कूर्मोऽभ्यगाद् ऋषिः।
इमा गिर आदित्येभ्यस्त्रीणि सूक्तानि दृष्टवान्॥

१०. बहुदेवतसामान्यात् सूक्तं हि बहुदैवतम्।
ऋतं देवाय कृण्वते तद् वक्ष्यत्यमित ऋषिः॥

दूसरे अध्यायमें अन्य छन्द दिखाई देता है। 'नि होता होतृषदन०' इत्यादि (ऋ० २।९) गृत्समदने बनाया। गृत्समद के देखे सूक्तोंके बीचमें कूर्म ऋषि के देखे हुए **'इमा गिर आदित्येभ्यः०'** इत्यादि तीन सूक्त आ गये। ये तीनों सूक्त बहुत देवतासम्बन्धी होनेसे यहां पठित हैं, क्योंकि अमित ऋषि गृत्समदने **'ऋतं देवान०'** इत्यादि (२।३०) सूक्त बहुदेवतावाला कहा है।

११. विश्वामित्रो द्वादशभिः स्तुतवानग्निमादितः।
सूक्तैस्तैरनुवाकश्च समाप्तं शौनकोऽब्रवीत्॥

१२. अग्निमेव पुनश्चास्तौदग्ने सहस्व पृतनाः।
मध्ये विरामो विस्पष्टस्तत्रान्येषां समागमः॥

१३. मण्डलादौ सोमस्येति सूक्तेऽग्निः प्रथमं स्तुतः।
वैश्वानरीयसूक्तेन ततो वैश्वानरः स्तुतः॥

१४. उपक्रम्य पुनश्चापि तावेव क्रमशः स्तुतः।
ऋषीणामृषभादीनामतो मध्ये समागमः॥

ऋषि विश्वामित्रने प्रथम १२ सूक्तों से अग्नि की स्तुति की है (ऋ० मण्डल ३।१।१२), शौनक ने १२ सूक्तोंपर ही अनुवाक समाप्त किया है। और **'अग्नेः सह स्वपृतनाः०'** (ऋ० ३।२४) सूक्तसे अग्निकी स्तुति की। मध्यमें विराम स्पष्ट है, वहां अन्य ऋषियोंके सूक्त आये हैं। तृतीय मण्डलके आदिमें सोमस्य० (ऋ० ३।१) सूक्तसे प्रथम अग्नि की स्तुति (वर्णन) की है, फिर (३-२) सूक्तमें वैश्वानरीय सूक्तसे वैश्वानर सूक्तकी स्तुति की है। पुनः प्रारम्भ करके क्रमसे फिर उन दोनों की (३।२४-२६) स्तुति की है। इस लिये मध्यमें ऋषभ आदि [ऋषभो वैश्वामित्रः (३।१४) उत्कीलः कात्यः (१५।१६), कतो वैश्वामित्रः (१७।१८), गाथी कौशिकः (१२।२२) देवश्रवा देववातश्च भारतौ (२३)] के सूक्त आ गये हैं।

१५. आग्नेयत्वाच्च सूक्तानामाग्नेयेषु समागमः।
ऐन्द्रात् प्राक्स्तूयते चाग्निः सोमस्येति प्रधानतः॥

१६. इच्छन्ति त्वेति द्व्यधिकं सूक्तमैन्द्रं तथोत्तरम्।
छन्दो-दैवत-संख्यानां समन्वात् कुशिकागतिः॥

सूक्त ऋ० १-२९ आग्नेय होनेसे ऋषभ आदि ऋषियों के सूक्त भी आग्नेय सूक्तों में पढे हैं। इन्द्र देवताके सूक्त

१ देवः नौ गर्भे दंपती कः= (ईश्वरने हम दोनों को गर्भमेंहि पतिपत्नी बनाया है । मं० ५)

२ दिवा पृथिव्या मिथुना सबंधू= (द्युलोक और पृथ्वी ये पति-पत्नी होते हुए भाईबहिन हैं । मं० ९) इस मन्त्रका ध्वनि यम यमी ये भाईबहन होते हुए भी पतिपत्नी हों ऐसाही है । यह यमीका कहना है । परन्तु इसमें (यमी यमस्य अजामि बिभृयात्) = यम यमी के साथ बन्धुत्वहीन सम्बन्ध करे । ऐसा कहकर वे भाईबहन होने की बात सूचित की है ।

३ दसवें मन्त्रमें भविष्यकालमें ऐसे अधोगति का समय आवेगा, जहां भाईबहिन भी (जामयः अजामि कृण्वन्) पतिपत्नी के नाते से व्यवहार करेंगे, ऐसा कहकर भाईबहिन के विवाह का निषेध किया है ।

४ ग्यारहवें मन्त्र में (भ्राता, स्वसा) भाईबहिन का स्पष्ट उल्लेख है ।

५ बारहवें मन्त्र में (पापं आहुः यः स्वसारं निगच्छात्) बहिन के पास जाना पाप है, ऐसा कहकर यमी यम की बहिन होती है, ऐसा स्पष्ट कहा है। तथा इसी मंत्रमें (ते भ्राता न पतत् वष्टि) तेरा भाई यह नहीं चाहता, ऐसा कहकर भाई का नाता स्पष्ट कह दिया है ।

६ अथर्ववेद के मंत्र में (भ्राता स्वसुः शपने शयीय, मे मनसः असंयत्)=भाई बहिन के शयन में सोवे, यह मेरे मन के विरुद्ध है, ऐसा कहकर यम और यमी भाईबहिन हैं, यह स्पष्ट दर्शाया है ।

इससे यमी की इच्छा यम के साथ विवाह करने की थी और यम ज्ञानी होनेके कारण अपनी बहिन के मनोगत का निषेध करता है और अन्तमें दोनों का समझौता होकर यम दूसरी स्त्रीसे और यमी दूसरे पुरुष से विवाह करे, ऐसा निर्णय भी हुआ है । अर्थात् इस सूक्तने भाईबहिन के विवाह का पूर्ण रूपसे निषेध किया है । इससे सगोत्र विवाह का भी निषेध समझा जा सकता है ।

मन्त्रस्थ पदोंका अर्थ ।

१ **गाः**- गौ, वाणी, शब्द । २ **शिमीवान्**- कर्मयुक्त, सत्कर्म की प्रेरणा करनेवाले । ३ **भामिन्**- प्रकाशमय, तेजस्वी । ४ **दुःहृणायुः**- क्रोधादि विकाररहित, जिसमें दुष्ट विकार नहीं होते । ५ **आसन्निषुः**= (आसन्-इषुः)- मुख के बाण, शब्द अथवा वाणी यह मुखरूपी धनुष्य से चलनेवाले बाणों के समान हैं । बाण जैसा ठीक निशानेपर लक्ष्यवेध करके छोडना चाहिये, उसी तरह शब्द भी ठीक उद्देश्य से ही बोलने चाहिये । ६ **हृत्स्वसः** (हृत्सु-असः)- हृदय से फेंके हुए, हृदयके बलके साथ बोले हुए शब्द । ७ **मयोभू**- सुख की उत्पत्ति करनेवाले शब्द हो । ८ **भृत्या**- भरण, पोषण, संवर्धन । ९ **ऋणधात्**- (ऋण) बढाना, संवर्धन करना ।

समाप्त

स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि॰ सातारा) की हिंदी पुस्तकें।

	मू.	डा॰व्य॰
१ ऋग्वेद-संहिता	५)	१।)
२ यजुर्वेद-संहिता	२)	॥)
३ सामवेद (छप रहा है)	३)	॥)
४ अथर्ववेद	३)	॥)
महाभारत आदिपर्व	६)	१।)
" सभापर्व	२॥)	॥)
संस्कृतपाठमाला।	६॥)	।॥=)
वै. यज्ञसंस्था भाग १	१)	।)
अथर्ववेदका सुबोध भाष्य।		
१ प्रथम काण्ड सजिल्द	२)	॥)
२ द्वितीय काण्ड "	२)	॥)
३ तृतीय काण्ड "	२)	॥)
४ चतुर्थ काण्ड "	२)	॥)
५ पंचम काण्ड "	२)	॥)
६ षष्ठ काण्ड "	२)	॥)
७ सप्तम काण्ड "	२)	॥)
८ अष्टम काण्ड "	२)	॥)
९ नवम काण्ड "	२)	॥)
१० दशम काण्ड "	२)	॥)
११ एकादश काण्ड "	२)	॥)
१२ द्वादश काण्ड "	२)	॥)
१३ त्रयोदश काण्ड "	१)	॥)
१४ चतुर्दश काण्ड "	१)	॥)
१५ १५ से १८ तक ४ काण्ड	२॥)	॥)
छूत और अछूत	१॥)	॥)
भगवद्गीता (पुरुषार्थबोधिनी)	९)	१॥)
महाभारतसमालोचना। (१-२)	१)	॥)
वेदस्वयंशिक्षक भा. १-२	३)	॥)
१ संध्योपासना।	१॥)	।-)
२ योगके आसन। (सचित्र)	२)	।≡)
३ ब्रह्मचर्य।	१)	।-)
४ सूर्यभेदन-व्यायाम (,,)	॥)	=)
५ योगसाधनकी तैयारी।	।॥)	=)
यजु. अ. ३६ शांतिका उपाय	॥=)	≡)
शतपथबोधामृत	।)	-)

देवतापरिचय-ग्रंथमाला।		
१ रुद्रदेवतापरिचय	॥)	=)
२ ऋग्वेदमें रुद्रदेवता	॥=)	=)
३ देवताविचार	≡)	-)
४ अग्निविद्या	१॥)	-)
बालकधर्मशिक्षा।		
१ प्रथम भाग।	-)	-)
२ द्वितीय भाग	=)	-)
३ वैदिक पाठमाला। प्रथम पुस्तक	≡)	-)
आगमनिबंधमाला।		
१ वैदिक राज्यपद्धति।	।)	-)
२ मानवी आयुष्य।	।)	-)
३ वैदिक सभ्यता।	।॥)	≡)
४ वैदिक चिकित्साशास्त्र	।=)	-)
५ वैदिक स्वराज्यकी महिमा	॥)	=)
६ वैदिक सर्पविद्या।	॥)	=)
७ मृत्युको दूर करनेका उपाय।	॥)	=)
८ शिवसंकल्पका विजय।	॥)	=)
९ वेदमें चर्खा।	॥)	=)
१० वैदिक धर्मकी विशेषता	॥)	=)
११ तर्कसे वेदका अर्थ	॥)	=)
१२ वेदमें रोगजंतुशास्त्र	≡)	-)
१३ वेदमें लोहेके कारखाने	।-)	-)
१४ वेदमें कृषिविद्या	≡)	।-)
१५ ब्रह्मचर्यका विघ्न	=)	-)
१६ इंद्रशक्तिका विकास	॥)	=)
उपनिषद् माला। १ ईशोपनिषद्	१)	।-)
२ केन उपनिषद्	१)	।-)
१ वैदिक अध्यात्मविद्या	॥)	=)
२ गीता-लेखमाला १ से ७ भाग	५॥)	१॥)
३ गीता-समीक्षा	=)	-)
४ यज्ञोपवीत संस्काररहस्य	१॥)	॥)
५ भगवद्गीता (प्रथम भाग) (मायानन्दी भाष्य)	१)	।)
६ भक्तके भगवान्	॥)	=)
७ वेदोक्त प्रजननशास्त्र	।॥)	-)

Regd. No. B. 1463

मुद्रक और प्रकाशक— व० श्री० सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध

वैदिक धर्म।

अक्तूबर १९४०
भाद्रपद सं० १९९७



धुवाँधार।

वर्ष २१, अंक १०]

[क्रमांक २४१

वैदिक धर्म ।

[मासिक पत्र]

संपादक
पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

सहसंपादक
पं० तडित्कान्तजी वेदालंकार

स्वाध्याय-मण्डल, औंध

वार्षिक मूल्य म. आ. से ५) रु. वी. पी. से ५।।) रु. विदेशके लिये ६।।) रु.

वर्ष २१] विषयानुक्रमणिका [अङ्क १०

ऋग्वेद-मुद्रणकी विकट समस्या ।

' ऋग्वेद का मुद्रण ' द्वितीय वार शुरू किया और उसमें मंत्रोंके चरण दर्शाकर तथा कई सूचियां देकर ऋग्वेद का सर्वांगसुंदर ग्रंथ बनाने का संकल्प करके छपाई का कार्य प्रारम्भ किया । इस समय युद्ध शुरू होने की कोई कल्पना हमें नहीं थी ।

ऋग्वेद का मुद्रण एक तिहाई होने के समय यूरोप में युद्ध शुरू हुआ और हरएक वस्तु का मूल्य बढना प्रारम्भ हुआ । हमने संकल्प किया था कि इसको पूना के पेपरमिलका पूर्ण स्वदेशी कागजहि बर्ता जाय । यही इस समय तक बर्ता जाता है । पर इस समय कागज का मूल्य दुगने से अधिक हो गया है । इसी तरह अन्यान्य वस्तुओं का भी मूल्य बढ रहा है । आज का कागज का भाव देखने से यह निश्चय हुआ कि ऋग्वेदादि चार वेद छापना और वे ६॥) में सहूलियत से देना सर्वथा असंभव है ।

ऋग्वेद छापने का प्रारम्भ करने के समय हमने ऋग्वेद की ४००० प्रतियों की छपाई के लिये ३०००) का कागज लगेगा, ऐसा अंदाजा किया था, पर इस समय के भाव से ७०००) का कागज लगता है । भाव और बढेगा तो अधिक व्यय होगा । अर्थात् केवल कागजादि मुद्रण की वस्तुओं के मूल्य मेंहि ४०००) का घोटा होनेवाला है । जिल्द आदि में भी इसी तरह महंगाई हुई है ।

पहिली वार के ऋग्वेद, अथर्ववेद और सामवेद के मुद्रण में भी स्वाध्यायमण्डल को करीब २५००) का घाटा उठाना पडा था । पर युद्ध के कारण जो परिस्थिति उत्पन्न हुई है और उससे जो भयानक घाटा हो रहा है, वह उठाने की शक्ति अब स्वाध्यायमण्डल में नहीं रही है ।

पाठकों को यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि मुख्य संपादकों का कार्य गत २० वर्षों में करीब करीब विना व्यय के हि हुआ है । अर्थात् वेदमुद्रण पर संपादकों के व्यय का भार नहीं पडा । इतना ही नहीं, परन्तु मुख्य संचालक और संपादकों का पर्याप्त धन भी स्वाध्यायमंडल के व्यवहार में लग चुका है । अतः वे इस समय अधिक आर्थिक भार उठाने की अवस्था में नहीं हैं ।

इस अवस्था में वेदानुयायिकों का कुछ कर्तव्य है और वह आप सब मिलकर करेंगे, तो ही करीब आधा छपा ऋग्वेद पूर्ण छापा जा सकता है । अन्यथा वह कार्य यहीं स्थगित रखना पडेगा ।

इस समय ऋग्वेद का ८ वां मण्डल समाप्त होने को है । आगे दो मण्डल छापने हैं और अनेक प्रकारकी अत्यन्त आवश्यक और उपयोगी सूचियां भी छापनी हैं । इस छपाई के लिये २५० रीम कागज चाहिये । इसका मूल्य आज के भाव से २०००) होता है । इसी ऋग्वेद के जिल्द आदि के लिये १०००) रु० चाहिये । अर्थात् ऋग्वेद छपाई समाप्त होकर ग्रंथ तैयार होने के लिये ३०००) रु० की आवश्यकता है ।

जो वेदके प्रेमी पाठक होंगे, उनको उचित है कि वे इस समय हमें उक्त आर्थिक सहायता अति शीघ्र करें और ऋग्वेद की छपाई संपूर्ण होने में सहायता दें । हम ६॥) में हि चार वेद देना चाहते हैं । **जिस तरह अन्य धर्म के ग्रंथ धनिकों के द्रव्य से छापे जाते हैं और सस्ते दिये जाते हैं, उसी तरह वेद भी धनिकों के व्यय से छापे जांय और सस्ते बिकते रहें ।**

क्या आप ऐसा होने के लिये यथाशक्ति मदत देंगे ?

इस विषय की जो जो सहायता आवेगी, वह प्रतिमास वैदिक धर्म में प्रकाशित की जायगी । सबसे प्रथम यह कार्य होना चाहिये । ऋग्वेद छपाई में युद्ध के कारण जो घाटा होनेवाला है, वह पाठक स्वयं अपने सिरपर लें और वेद का उत्तमोत्तम ग्रंथ प्रकाशित होने के यश के भागी बनें ।

जिसको जितनी सहायता देने की शक्ति परमात्माने दी है, वह शीघ्र हमारे पास भेज दें । यह कार्य सब से आवश्यक कार्य है ऐसा समझ कर इसी समय जो सहायता करना हो वह कर दें ।

निवेदन कर्ता

श्रीपाद दामोदर सातवळेकर, मुख्य संपादक और संचालक,

स्वाध्याय-मण्डल, औंध, (जि० सातारा)

वैदिक धर्म

क्रमाङ्क २५०

वर्ष २१ : : : : अङ्क १०

भाद्रपद संवत् १९९७

अक्तूबर १९४०

स्वराज्यका लक्ष्य ।

प्रेह्यभीहि धृष्णुहि न ते वज्रो नि यंसते ।
इन्द्र नृम्णं हि ते शवो हनो वृत्रं जया अपो-
ऽर्चन्ननु स्वराज्यम् ॥

(ऋ० १।८०।३; साम० ४१३)

"शत्रुपर हमला कर, शत्रुको मार, शत्रुपर विजय संपादन कर, तेरे वज्रका पराभव कोई नहीं कर सकता । हे इन्द्र ! तेरा बल प्रभावशाली है, शत्रुका वध कर, उदकस्थल को जीतकर प्राप्त कर, स्वराज्यका लक्ष्य सामने रखकर यह सब कर ।"

वेद-परिचय, प्रथम भाग।

स्वाध्याय-मण्डलद्वारा वेदकी पांच परीक्षाएं ली जायेंगी, जिनकी पाठविधि निम्न प्रकार होगी—

प्रथम परीक्षा	वेद-परिचय	मन्त्रसंख्या	३००
द्वितीय "	" प्रवेश	"	५००
तृतीय "	" प्राज्ञ	"	१०००
चतुर्थ "	" विशारद	"	२०००
पञ्चम "	" पारंगत	"	५०००

षष्ठ परीक्षा **वेदाचार्य** की है, उसके लिये नियत पाठविधि नहीं है, जो संपूर्ण वैदिक वाङ्मय की खोज करके १०० पृष्ठों का मौलिक निबंध लिखेंगे, उनका वह निबंध परीक्षकों द्वारा उत्तम निश्चित होनेपर, उसे यह उपाधि प्राप्त हो सकती है।

इस तरह ८८०० मन्त्रों की पाठविधि पाँच वर्षोंमें समाप्त करनी है। यह पाठविधि ऐसी सुगम और सुबोध होगी कि जो संस्कृत न जाननेवालों को भी अध्ययन के लिये सहज साध्य होनेवाली होगी। प्रतिदिन एक दो मन्त्रोंका पाठ जो नियमपूर्वक करते जायेंगे, वे पांच वर्षोंमें वेदपारंगत हो जायेंगे।

वेद-परिचय।

उक्त परीक्षाओंमें **'वेद-परिचय'** की परीक्षा प्रथम परीक्षा है। इस प्रथम परीक्षाकी पाठविधि ३०० मन्त्रोंकी है। यह एक वर्ष की पढाई है। प्रतिदिन केवल एक मन्त्र पढा जाय, तो यह पाठविधि एक वर्ष में समाप्त हो सकती है।

सुबोध पाठविधि।

जो संस्कृत नहीं जानते, वे भी इस पुस्तकको पढ सकते हैं, ऐसी आसान यह पुस्तक बनी है। साधारण बुद्धि के लोग भी प्रतिदिन दोतीन मन्त्र पढ सकते हैं। यहां इस पुस्तक में मन्त्र, उसके पद, अन्वय, अर्थ, प्रत्येक पद का अर्थ, भावार्थ, मन्त्रका बोध, प्रत्येक पदके विशेष अर्थ, मन्त्र के पाठभेद और उनका अर्थ इतना देकर प्रत्येक मन्त्र का अंग्रेजी अर्थ (पदों के स्पष्ट भाव के अंग्रेजी अनुवाद के साथ) दिये हैं। इससे जो लोग केवल भाषा जानते हैं, तथा जो थोडीसी अंग्रेजी भाषा जानते होंगे, वे इसका अध्ययन सुगमता के साथ कर सकते हैं।

स्वयं अध्ययन करो।

वेद-परिचय-परीक्षाकी पाठविधिकी यह प्रथम पुस्तक तैयार हो चुकी है। प्रत्येक ३।४ महिनों में अगले ग्रन्थभी इसी तरह तैयार हो कर प्रकाशित होंगे। इसलिये जो स्वयं वेद पढकर वेदका तत्त्वज्ञान स्वयं जाननेके इच्छुक हैं, उनको उचित है कि वे इस ग्रन्थका अध्ययन करना प्रारंभ करें।

इस पुस्तक में १०० मन्त्रोंकी पढाई है, मूल्य १॥) है डा० व्य० ।=) है। डाकव्ययसहित मूल्य भेजकर यह पुस्तक अति शीघ्र मंगवाईये।

ज्ञान प्राप्त करो।

आजकल वेदके विषय में भ्रम उत्पन्न किये जा रहे हैं। अतः उन भ्रमोंमें न फँसना और वेदका शुद्ध तत्त्वज्ञान स्वयं जानना प्रत्येक वैदिकधर्मीको अत्यंत आवश्यक है। इस पाठविधिके अनुसार जो पाठक अध्ययन करेंगे, वे दो वर्षों में अपनी इतनी योग्यता बढा सकते हैं कि कौन भ्रम फैला रहा है और कौन सच्चा वैदिक तत्त्वज्ञान बता रहा है, इसका ज्ञान उनको स्वयं हो सकता है। तथा यदि उनका अध्ययन ५ वर्षों की पढाईका हुआ, तो वे सदा ही भ्रमसे दूर रह सकते हैं और स्वयं वेदका रहस्य जानकर उसका स्वयं प्रचार कर सकते हैं।

देवताओंका बोध।

गत मास के वैदिक धर्म में ऋग्वेद के देवताओं का बोध करने के लिये १६ पृष्ठों में षष्ठ मण्डल तक के सूक्तों के देवता क्रमवार दिये थे। अब इस अङ्क में शेष सूक्तों के देवता दर्शाये हैं। हरएक पाठक इन देवताओं को ऋग्वेद खोलकर देख सकते हैं और अनुभव कर सकते हैं कि ऋग्वेद की देवताव्यवस्था कैसी है।

देवता के विषय में 'आर्य' नामक मासिक में बहुतसा लेखन प्रकाशित हुआ है। 'देवता-बोधाङ्क' नामसे एक विशेषाङ्क प्रकाशित करके संपादक श्री स्वामी वेदानन्द-तीर्थजी ने जो कुछ लिखना और लिखवाना उचित समझा, उतना लिख कर प्रकाशित किया है। अप्रैल (स. १९३९) के अंक में ये लेख (आर्य मासिक में) देख सकते हैं। जबसे यह अंक प्रकाशित हुआ, तबसे श्रीमान् संपादकजीने हमें संमति-प्रकाशनार्थ बहुतसा अनुरोध किया। वारंवार पत्र लिखे, पर हमने संमति प्रदर्शित करना उचित नहीं समझा। इसका कारण इतनाही था कि, पूर्व के समानहि उसका परिणाम होता और उससे अधिक अच्छा कुछ भी होनेवाला नहीं था।

दो मास पूर्व भी इस विषय में संपादकजी का एक पत्र आया और संमतिप्रदर्शनार्थ आपने प्रेरणा की। परन्तु हमें श्री पं० नरदेवशास्त्रीजी आचार्य महाविद्यालय, ज्वालापुर की आज्ञा थी, अत: इस विषय में कुछ भी न लिखना ही हमारा कर्तव्य हो गया था। इस लिये हम चुप रहें। परन्तु प्रेरणापर प्रेरणा करने पर जितना संक्षेप से हो सकता है, उतना यहां अतिसंक्षेप से लिखते हैं। पाठक उसका विचार करें।

इस देवता-बोधाङ्क के विषयमें हमारा मत इतनाही है कि, इस प्रयत्नसे देवताओं का बोध होने के स्थानपर देवताओं के विषयमें अज्ञानहि अधिक फैलाया गया है। इस कारण हम इस अङ्क का स्वागत नहीं कर सकते। इतना अज्ञान फैलाने की कोई आवश्यकता नहीं थी। उदाहरण के लिये इस अंक का पहिलाहि लेख देख लीजिये। इस लेख का शीर्षक "क्या वेद-मन्त्र-देवता मन्त्रवत् परमात्मोपदिष्ट हैं?" है! इस लेख के लेखक श्री० विद्याभूषण श्री पं० भीमसेनजी शास्त्री M. A., M. O. L. हैं। यह लेख केवल ३ पृष्ठों का है, जो ४८९ पृष्ठ से ४९१ तक मुद्रित हुआ है। श्री संपादक स्वा० वेदानन्दजीतीर्थ ने इस को विशेष महत्त्वपूर्ण समझा, इसीलिये इस को सब लेखों में प्रथम स्थान दिया होगा। यह लेख कहता है कि मंत्रों के देवता मंत्रों के समान निश्चित नहीं हैं!!! इस की समालोचना करनी चाहिये, ऐसी भी बात नहीं है, परन्तु श्री संपादकजी के अत्यंत आग्रह के कारणहि इस विषय में कुछ अपने विचार प्रकट करते हैं।

क्या वेदमन्त्रों के देवता मन्त्रवत् परमात्मोपदिष्ट हैं? इस का अर्थ यही है कि "क्या वेद के मंत्रों के देवता जब से मंत्र प्रकट हुए, तब से प्रकट हैं वा नहीं?" लेखक कहते हैं कि 'नहीं' और हमारा कहना है कि "हैं"। इतना जमीनआस्मान का अन्तर लेखक की भूमिका और हमारा सिद्धान्त, इनमें है। लेखक के वाक्य जो उनका भाव प्रकट करते हैं, वे ये हैं—

१ देवताओं का परमात्माद्वारा अनुपदेश है, (अर्थात् मंत्र के प्रथम वक्ताने देवता का निर्देश नहीं किया।)

२ प्रामाणिक आचार्यों का मन्त्र के देवता के विषय में मतभेद है।

३ मन्त्रप्रतिपाद्य विषय देवता है।

४ परमात्मा मन्त्रप्रतिपाद्य विषय को (देवता को) भली प्रकार जानता था और जानता है। ... जैसे लौकिक **कवियोंने अपने प्रत्येक श्लोकपर प्रतिपाद्य विषय का संकेत नहीं लिखा, वैसेहि परम कविने भी किसी प्रतिपाद्य विषय (देवता) का उपदेश नहीं किया।**

५ प्रारंभ में वैदिक भाषा बोलचालकी भाषा थी, इसलिये देवताप्रतिपादक संकेतों को मन्त्रों के साथ जोडने की आवश्यकता न थी।

६ पश्चात् बोलचालकी भाषामें परिवर्तन हुआ, तब वेदाङ्ग-

निर्माण की आवश्यकता हुई और वेदाङ्ग बनाये गये, तब मन्त्रों के साथ देवता जोडे गये।

७ जैसे मंत्रोंके अनेक अर्थ हैं, वैसेहि मन्त्रोंके अनेक देवता भी हैं। मन्त्रोंके देवताओं की और अर्थोंकी इयत्ता नहीं है।

८ सर्वज्ञ परमात्माके वेदार्थ के निश्चित ज्ञानमें कोई सन्देह नहीं है। पर यदि परमात्मा अर्थसङ्केत– देवता –काभी साथ साथ उपदेश करते, तो वह ग्रन्थ लाखों गुणा बढ जाता।

लेखक महाशयने अपने तीन पृष्ठोंके लेखमें इतनी ही बातें कहीं हैं, वह उन्हीं के शब्दों में ऊपर लिखी हैं। पाठक इनको वारंवार पढें और विचार करें। जिन्होंने वेद का थोडासा भी अभ्यास किया होगा, उनको इसके खंडन की कोई आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होगी, तथापि विचार करनेका प्रारंभ किया है, इसीलिये हम इसके विवेचन में थोडासा लिखते हैं।

वेद के मंत्र परम कविके काव्यरूप हैं। इसमें किसी को संदेह नहीं हो सकता। परम कवि के स्थान पर परमात्मा शब्द का प्रयोग करना योग्य नहीं है। परमात्मा स्वयं काव्य बोल नहीं सकता। उसके स्फुरणसे काव्य स्फुरित हो जाता है। अतः परम कविका यह काव्य है, ऐसा ही कहना योग्य है। परम तपस्या से यह काव्य स्फुरित होता है।

मीमांसकों का कथन है कि वेद स्वयंसिद्ध हैं। मीमांसक वेदको स्वयंसिद्ध मानते हैं। परमात्माका शब्द वेद है, ऐसा वे नहीं मानते। इन झगडोंमें न पडते हुए हम यहां इतना ही कहते हैं कि, **परम कविका काव्य वेद है।**

इस परम कविने जिस समय सबसे प्रथम इन वेदमंत्रों का उच्चारण किया, उस समय उन्होंने देवतावाचक पद का उच्चारण किया या नहीं किया, यही प्रश्न यहां विचारणीय है। लेखक महाशय कहते हैं कि परम कविने वेदमन्त्र का तो उच्चारण किया, परन्तु देवतावाचक पद का उच्चारण नहीं किया। वह देवतावाचक पद का उच्चारण वेदाङ्गों के पश्चात् निर्माण हुए ऋषिमुनियोंने किया।

हमारा कथन है कि **वेदमन्त्रमेंहि देवतापद का उच्चारण परम कविनेहि स्वयं सबसे प्रथम किया, तबसे इस समय तक वह देवतापद चला आता है,** आधुनिक ऋषिमुनियोंने उसकी केवल नोंध की इतनीहि बात है। ऋषिमुनि उसकी नोंध न भी करते, तो भी मन्त्र के साथ होनेवाले देवतापद के उच्चारणमें कोई बाधा नहीं आती। देवतासंकेत के उच्चारण के बिना वेदमंत्र का उच्चारण करना असंभव है, वैसा कोई करहि नहीं सकता।

उदाहरण के लिये देखिये ऋग्वेद का द्वितीय सूक्त–

मंत्रसंख्या	मंत्रभाग	देवता
१	वायवा याहि	वायुः
२	वाय उक्तोभिः	,,
३	वायो तव	,,
४	इन्द्रवायू इमे	इन्द्रवायू
५	वायविन्द्रश्च	,,
६	वायविन्द्रश्च	,,
७	मित्रं हुवे० वरुणं च	मित्रावरुणौ
८	ऋतेन मित्रावरुणा	,,
९	कवी नो मित्रावरुणा	,,

अब और तृतीय सूक्त ऋग्वेदका देखिये—

१	अश्विना यज्वरी	अश्विनौ
२	अश्विना पुरुदंसा	,,
३	नासत्या वृक्त	,, (नासत्यौ)
४	इन्द्रा याहि	इन्द्रः
५	,, ,,	,,
६	,, ,,	,,
७	विश्वे देवास आगत	विश्वे देवाः
८	विश्वे देवासो अप्तुर	,,
९	,, ,, अस्रिध	,,
१०	पावका नः सरस्वती	सरस्वती
११	यज्ञं दधे ,,	,,
१२	महो अर्णः ,,	,,

ये दो सूक्त पाठक स्वयं देखें। ऋग्वेद खोलकर ये सूक्त तथा इनका प्रत्येक मन्त्र देखें और अनुभव करें कि इसके प्रत्येक मन्त्र में देवतावाचक पद आया है और उसी पदसे ज्ञात होनेवाला देवता उस मन्त्र का देवता है।

लेखक महोदय कहते हैं कि '**देवताओंका परमात्मा-**

द्वारा अनुपदेश है।' अर्थात् जिस कविने ये मन्त्र सबसे प्रथम रचे या गाये, उसने इन मंत्रों के देवता का उपदेश नहीं किया। क्या लेखक महाशय का यह कथन सत्य है? क्या इन मंत्रों के देवतावाचक पदका उच्चारण मंत्रमें हि नहीं हुआ है? क्या ये देवतापद मन्त्रोक्तहि नहीं हैं? और मंत्रोक्त होनेके कारण परम कविद्वारा उक्त नहीं हैं? अथवा परम कविद्वारा उपदिष्ट नहीं हैं?

हमारा कथन यह है कि ये मन्त्र जिस समय सब से प्रथम उच्चारे गये, उसी समय मन्त्र में देवतापद भी उच्चारे गये। **ये मन्त्रोक्त देवता हैं, अतः वे स्वयंसिद्ध हैं और इसी कारण इनमें हेरफेर कोई नहीं कर सकता,** अथवा किसी को इस व्यवस्थामें हेरफेर करनेका अधिकारहि नहीं है।

ये मंत्रोक्त देवता हैं, इसीलिये ये सुस्थिर हैं और इन को बदलनेवाले मानना, लिखना और छापकर प्रकाशित करना भ्रान्त बुद्धि का लक्षण है और ऐसा जो करेंगे, वे वाचकों में भ्रम उत्पन्न करने का पाप करेंगे। पाठक इनसे सावध रहें। यह महत्त्व का विषय है, इसीलिये पाठकोंसे हम सानुरोध प्रार्थना करते हैं कि वे ऐसे भ्रमजाल से अपने आपको बचावें। यदि वेद का धर्म जानना है, तब तो इस भ्रम से पाठकों का बचाव होना ही चाहिये।

लेखक महोदय कहते हैं कि वेदद्वारा परम कविने देवता का उपदेश नहीं किया है, परन्तु हम वेदमंत्रोंमें प्रायः सर्वत्र देवता का स्पष्ट निर्देश देखते हैं। हरएक पाठक यदि वेद खोल कर मंत्रों का दर्शन करेंगे, तो उनको भी मंत्रमेंहि देवता का निर्देश दीख सकता है। जो बात इतनी स्पष्ट है, उस के विषय में इतना भ्रम ये लोग क्यों फैला रहे हैं? और अज्ञ पाठकों का बुद्धिभ्रंश क्यों कर रहे हैं? तथा ऐसे निरर्थक वाद क्यों उपस्थित करते हैं?

इसका एक ही कारण हो सकता है और वह यह कि इनको किसी असत्य बात का समर्थन करने की इच्छा है। इसीलिये यह प्रयत्न है। हम यहां इन लोगोंसे पूछना चाहते हैं कि ऋग्वेद के साढेदस सहस्र मंत्रों में ऐसे कितने मंत्र हैं कि जिनमें देवता का संकेत (अथवा देवतावाचक पद) नहीं हैं? हम यहां पाठकों के लिये कह देते हैं कि साढे दस हजार मंत्रों में से दस सहस्र मंत्रों में देवतावाचक पद स्पष्ट रूप से है। इसीलिये हम कहते हैं कि मंत्र में देवता उक्त है और हरकोई उस का दर्शन मंत्र में कर सकता है। इतना कहनेपर भी यदि इनको संदेह है, तो वे ऋग्वेद के प्रारंभसेहि मंत्र लिख कर देवता का निर्देश करना शुरू करें। हम प्रत्येक सूक्त में सूक्तोक्त देवतापद हैं, यह दर्शाने को तैयार हैं। इतनी स्पष्ट बात के विषयमें जब ये ऐसा भ्रम फैला रहे हैं, तब परमेश्वर इनसे वेद की रक्षा करें, ऐसी प्रार्थना करना ही यहां आवश्यक प्रतीत होता है।

आगे लेखक कहते हैं कि मंत्रप्रतिपाद्य विषय देवता है, अतः जैसे मंत्रों के अनेक अर्थ हैं, वैसे ही मंत्रों के अनेक देवता हैं!!!

हम इस विषयमें इतनाही कहना चाहते हैं, कि यह सब अशुद्ध है, अज्ञान है, भ्रम है, असत्य है और अवैदिक होनेसे सर्वथा त्याज्य है। इस लेखके संपादक श्री **स्वामी वेदानन्दजी** हैं और लेखक बडे उपाधियों से सुभूषित हैं। इन दोनोंसे नम्रतापूर्वक हम कहना चाहते हैं कि मन्त्र के अर्थ को देवता मानना और अर्थ के साथ देवता का बदलना मानना निरा भ्रम है। ऐसा भ्रम फैलाकर इनको किस तत्त्व की प्राप्ति होगी, यह हम नहीं जान सकते। मन्त्र का अर्थ मन्त्र का देवता नहीं है, यह दर्शाने के लिये हम यहां दोचार उदाहरण देते हैं-

स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव।
सचस्वा नः स्वस्तये॥ (ऋ० १।१।९)

अर्थ- हे अग्ने! जैसा पिता पुत्र को प्राप्त होता है, वैसा तू हमें प्राप्त हो और हमारा कल्याण कर।

यहां मन्त्र का अर्थ 'हमारा कल्याण होना' अथवा अपने कल्याण की इच्छा है। अग्नि की प्राप्ति उस कल्याण का साधन है। मुख्य साध्य (**नः स्वस्ति**) हमारा कल्याण है। हमें परमात्मस्वरूपी अग्निदेव प्राप्त हो और उससे हमारा कल्याण हो, यह अर्थ इस मन्त्र का देवता नहीं है, परन्तु इसका देवता 'अग्नि' है, जो पद इसी मन्त्र के द्वितीय चरण में आया है। और देखिये-

महो अर्णः सरस्वती प्रचेतयति केतुना।
धियो विश्वा विराजति॥ (ऋ० १।३।१२)

अर्थ- विशाल समुद्र जैसी विद्या है, जो ज्ञानसे सचेत होती है । बुद्धिहि सब प्रकार से विराजती है ।

यहां बुद्धि विराजती है, विश्वपर बुद्धि का ही प्रभाव होता है, ऐसा कहा है । विद्वान् की सुसंस्कृत ज्ञानमयी बुद्धिहि विश्वपर राज्य करती है। यह अर्थ इस मन्त्र का देवता नहीं है, परन्तु मंत्र का पद **'सरस्वती'** ही इस मन्त्र का देवता है । यहां कोई भी सरस्वती पद का त्याग करके 'धियः' को अथवा किसी अन्य पदको देवता नहीं मान सकता । और देखिये-

अस्मे धेहि श्रवो बृहद् द्युम्नं सहस्रसातमम् ।
इन्द्र ता रथिनी रिषः ॥ (ऋ० १।९।८)

अर्थ- हे इन्द्र ! हमें बडा यश, सहस्र प्रकार का धन और रथयुक्त अन्न दो ।

इस मन्त्रमें यश, धन और अन्नकी प्राप्ति होनेकी कामना है । परन्तु यह मन्त्र का देवता नहीं, नाहीं इनके वाचक पद इस मन्त्रके देवता हैं, परन्तु 'इन्द्र' ही इस मन्त्र का देवता है, जो मन्त्रमें उक्त है । तथा और देखिये-

हत वृत्रं सुदानव इन्द्रेण सहसा युजा ।
मा नो दुःशंस ईशत ॥ (ऋ० १।२३।९)

अर्थ- हे दाताओ ! (वृत्रं) घेरनेवाले शत्रु को मारो, इन्द्र के साथ संयुक्त हो, कोई दुष्ट हमारा शासक न बने।

इस मन्त्र का अर्थ हमारा राज्यशासनकर्ता कोई दुष्ट न हो, यह स्पष्ट है । शत्रु का नाश करना और प्रभुके साथ रहना, यह यहां अभीष्ट है । परन्तु ये इसके देवता नहीं, केवल 'इन्द्र' ही इस मन्त्रका देवता है, जो मन्त्रमें हि कहा है । और देखिये-

अप्सु मे सोमो अब्रवीद् अन्तर्विश्वानि भेषजा ।
अग्निं च विश्वशंभुवं आपश्च विश्वभेषजीः ॥
आपः पृणीत भेषजं वरूथं तन्वे३ मम ।
ज्योक्च सूर्यं दृशे ॥ (ऋ० १।२३।२०।२१)

अर्थ- सोम ने कहा कि जलमें सब औषधियां हैं, अग्नि सब प्रकार का कल्याण करनेवाला है और जल सब की दवा है । हे जलो! हमें दवा दो, मेरे शरीर को नीरोग कर, मैं दीर्घायु होकर सूर्य को देखता रहूं।

यहां मन्त्र का तात्पर्यार्थ अपनी नीरोगिता और दीर्घायुष्य की प्राप्ति है । परन्तु यह मंत्र का आशय देवता नहीं है । पहिले मंत्रार्ध का देवता 'आप्' है । तृतीय चरणका देवता 'अग्नि' है, चतुर्थ चरण का 'आप्' है। द्वितीय मंत्र का भी 'आप्' देवता है । ये सब देवता मन्त्र में उक्त हैं । और देखो—

ये ते पन्थाः सवितः पूर्व्यासोऽरेणवः सुकृता अन्तरिक्षे । तेभिर्नो अद्य पथिभिः सुगेभी रक्षा च नो अधि च ब्रूहि देव ॥ (ऋ० १।३५।११)

अर्थ- हे सविता! जो तेरे मार्ग अन्तरिक्ष में धूलिसे रहित हैं, उन उत्तम मार्गों से तू हमारी रक्षा कर और हमें उपदेश कर।

इस मन्त्रका अर्थ हमारी रक्षा है । मन्त्रका सम्पूर्ण अर्थ देवता नहीं, केवल **'सविता'** ही देवता है, जो मन्त्रमें उक्त है । तथा—

उद्यन्नद्य मित्रमह आरोहन्नुत्तरां दिवम् ।
हृद्रोगं मम सूर्य हरिमाणं च नाशय ॥
(ऋ० १।५०।११)

अर्थ- हे सूर्य! उदय को प्राप्त होकर तू मेरे हृदयरोग को दूर कर और मेरे पीलक रोग का नाश कर।

यहां मन्त्र का भाव हृद्रोग और कामिला इनका नाश करना है, परन्तु इसका देवता यह नहीं है, सूर्य ही इसका देवता है, जो मन्त्र में उक्त है।

सहस्रों उदाहरण मिल सकते हैं और दिये जा सकते हैं । जिससे सिद्ध हो सकता है कि मन्त्र का अर्थ देवता नहीं, अपितु मन्त्रस्थ पदसे वाचक देव ही देवता है।

सरल बातको छोडने से और तेढी बात का ग्रहण करने से इनको क्या लाभ होता है, हमारे समझमें नहीं आता। मन्त्र के अर्थ अनेक हो सकते हैं, परन्तु अर्थ के साथ देवता कभी नहीं बदलता। कुशल और विद्वान् भाष्यकार एक मन्त्र के अनेक अर्थ कर सकता है, वह भाष्यकार की प्रतिभा का चमत्कार है। परन्तु कोई भी मन्त्र के देवताको नहीं बदल सकता, क्योंकि वे मन्त्र में उक्त होने से सब को माननीय ही हैं।

इससे स्पष्ट है कि जो स्थापना लेखक महाशयने अपने लेख में की है और संपादकमहाशयने जिस लेखको प्रथम स्थान में मुद्रित किया है, वह लेख अशुद्ध विधानों की

खान है, अवैदिक सिद्धांतों से भरा है, अत एव सर्वथा त्याज्य है।

इस देवताबोधक अंकमें प्रायः सभी लेख ऐसे हि हेत्वाभास से परिपूर्ण हैं। इस अंक के एक भी लेखसे वेद की देवताव्यवस्था का ज्ञान नहीं हो सकता, परन्तु देवताओंके विषय में पर्याप्त मिथ्या ज्ञान बढ सकता है। इस कारण हम यह समीक्षा यहीं समाप्त करते हैं। ऐसे अशुद्ध विचारों की समालोचना करने से कोई लाभ नहीं, इसीलिये हम इतने महीने चुप रहे थे।

यदि सचमुच देवता का बोध कराना है, तो वेद के प्रथम मन्त्रसे प्रत्येक मन्त्र के देवता लिखने का यत्न करना चाहिये। हमारे मत से हमने गतांक में और इस अंक में वैसा प्रयत्न किया है। इस की अशुद्धि कोई बतावे, वह हम अगले अंक में प्रकाशित करेंगे। जिससे यह सूची शुद्ध बनेगी और विशेष उपयोगी सिद्ध होगी। हमारा कोई आग्रह नहीं है। जो मन्त्रोक्त होगा, वह हम स्वीकारनेको सिद्ध है।

हरएक को मन्त्रोक्त देवताका ही ग्रहण करना चाहिये। हरएक देवता प्रत्येक सूक्त में उक्त ही है। देखनेवाले को कोई संदेहका स्थान वेदने नहीं रखा। पर जो जानबूझकर अशुद्ध मार्गसे ही जानेकी इच्छा करेंगे, उनको कोई समझा नहीं सकता!

गीता-परिशीलन।

[लेखक- श्री० पं० श्रीरामावतारजी विद्याभास्कर, वेदान्ततीर्थ, मीमांसारत्न, बुद्धिसेवाश्रम, रतनगढ (जि० बिजनौर)। प्रकाशक- श्री मोतीलाल माणकचन्द अर्थात् प्रतापशेटजी, अध्यक्ष 'तत्त्वज्ञानमन्दिर' अमलनेर, (जि० खानदेश), मूल्य ३॥) पृष्ठ संख्या ४८२]

श्रीमद्भगवद्गीता का तत्त्वज्ञान एक अत्यन्त उत्तम और व्यवहार का परमार्थ बनानेवाला तत्त्वज्ञान है। इसी पृथ्वीपर यदि किस रीतिसे ईश्वर का राज्य होनेवाला होगा, तो इस भगवद्गीता के तत्त्वज्ञान के अनुसार व्यवहार करनेसेहि होगा। भगवद्गीताका तत्त्वज्ञान वेद और उपनिषदोंके तत्त्वज्ञान का निचोड ही है। वेद में विस्तार से और उपनिषदों में संक्षेप से जो अद्भुत तत्त्वज्ञान कहा है वही साररूपसे श्रीमद्भगवद्गीतामें संग्रहित हुआ है। इसको उत्तम रीतिसे विशद करने का उत्तम प्रयत्न श्री पं० रामावतारजीने किया है, अतः उनको धन्यवाद देना योग्य है।

प्रथम भागके पृ० ३४६ तक भगवद्गीताके श्लोक, अन्वय, अर्थ तथा भावार्थ दिया है और आवश्यक स्पष्टीकरण भी स्थान स्थानपर किया है। द्वितीय भागमें पृ० ४६४ तक गीता के उपदेश का मनन किया है, यही ग्रंथकार का मौलिक लेख है और हम पाठकोंसे सानुरोध प्रार्थना करना चाहते है कि वे इस लेख को अवश्य पढें। ग्रन्थकार के हि शब्दों में उनके विवेचनका तात्पर्य कहना हो तो हम निम्न प्रकार कह सकते हैं—

'सब योद्धाओंके मनमें अर्जुनके समान हि भावों की संभावना होती है, अर्जुन के लिये युद्ध अनिवार्य ही था, अर्जुन संन्यास लेकर भीख मांगकर जीवन बिताने के लिये उद्यत नहीं था, अर्जुन तो स्वजनोंके साथ रहने के लिये ही युद्ध त्यागना चाहता था। गीतोपदेशका अभिप्राय अर्जुनको युद्ध के लिये प्रेरित करना नहीं था, किन्तु ज्ञानी बनाकर कर्तव्य कराना था। गीता की रचना मानवसमाज के कल्याण की दृष्टिसे हुई है। गीता मानवधर्मशास्त्र है, सांप्रदायिक ग्रन्थ नहीं है। फलाशासे ही कर्मों में उच्च नीच आदि भेद होता है, इसी से सांप्रदायिकता उत्पन्न होती है। संप्रदायिकोंकी ईश्वर-कल्पना सार्वजनिक अनुमोदन करने योग्य नहीं है। सांप्रदायिक भावना मनुष्योंकी शक्ति घटाती है, फलाशारहित स्थिति ही मनुष्यका उपास्य ईश्वर है। अपने हृदयमें ही ईश्वरदर्शन करने का उपदेश

गीता करती है अर्थात् सब के हृदयोंमें ईश्वर का अनुभव होनेसे सांप्रदायिकता स्वयं दूर हो जाती है।"

"अनासक्ति हि सत्य धर्म है और आसक्ति असन्मार्ग है। यह संसार अनासक्त मनुष्य के लिये बंधन नहीं है। अनासक्ति हि ईश्वर का सत्य स्वरूप है। मनकी अनासक्त स्थिति ही ईश्वरभक्ति है। प्रत्येक मनुष्य को ईश्वरदर्शन का अधिकार है। अनासक्ति ही सच्चा सुख है। शारीरिक अनुकूल-प्रतिकूलता में सुख-दुःखकी कल्पना करना भ्रान्ति है।"

"सब देहों का एकही देही है, इस बात को समझ लेने पर शोक मिट जाता है। अनेकात्मवाद स्वीकारना ईश्वर को अस्वीकार करना है। सब देहों में देही के एकत्व को पहचान लेनेपरही मनुष्य का शोक दूर हो सकता है। शरीर रहनेसे बद्धता मानना और शरीररहित स्थिति को मुक्ति मानना भ्रम है। शरीर होते हुए मुक्त होना संभव है। भोगाभिलाषा ही स्वर्गनरकादि की कल्पना कराती है।"

"ज्ञान का अधिकार मनुष्य को है। शरीरों की उत्पत्ति शुभाशुभ कर्मों का फल नहीं है, यह तो आत्माका निज स्वभाव है। कर्म मनुष्य के स्वभाव से हो रहा है। कर्तव्यपालन ही मनुष्य का अधिकार है। कर्महीनता मुक्ति नहीं है, किन्तु कर्मों को, बंधन से अतीत बने रहने की कुशलता के साथ करना ही मुक्ति है। मनुष्य मुक्ति प्राप्त कर सकता है। फलाशा का त्यागहि मुक्ति है। शरीर को दुःखरूप मानना ही बडा भारी भ्रम है। मुक्ति जीवन-कालमेंहि होती है"

"कर्मफल को त्याग कर कर्म करते रहना ज्ञान है। कर्म करने से बचे रहने की इच्छा अज्ञान है। संपूर्ण जीवन ही यज्ञ है। मनुष्यता पशुत्वका उन्नत स्वरूप नहीं है। अनासक्त का इंद्रियनिग्रह स्वाभाविक स्थिति है, उसमें कष्ट अथवा संग्राम नहीं है। संन्यास लेकर अपने कर्मक्षेत्र को घटाने, बढाने अथवा त्यागने की कल्पना अज्ञान है। फलाशात्यागहि संन्यास है। संन्यास बाह्याचरण नहीं है, सब मनुष्य, सब समय और सब अवस्थाओं में संन्यासी हो सकते हैं और होने चाहिये। गीता का संन्यास कर्म-संन्यास नहीं है। ज्ञानी भी स्वभाव से कर्म करता है।"

"धर्मरक्षा मनुष्य का ही काम है।"

यह संक्षेप में लेखक के शब्दों सेही उनके विवरणका आशय है। इससे पाठकों को स्पष्टता के साथ पता लग सकता है कि, यह गीतापरिशीलन मौलिक, नवीन तथा विचार करनेयोग्य है। जो पाठक इसको पढेंगे, वे अपने विचारों में परिवर्तन और संशोधन करने की आवश्यकता है, इस बात का अनुभव करेंगे। हमें पूर्ण विश्वास है कि इस ग्रंथके विचारों के साथ पाठक चलते रहेंगे, तो भगवान् श्रीकृष्ण की भगवद्गीता के बहुत समीप पहुंचेंगे और उनके उद्देश्य के साथ निःसन्देह परिचित होंगे। इसलिये इस ग्रन्थ का अधिक से अधिक परिशीलन होना चाहिये। जो पाठक गीता के सत्य तत्त्व को जानना चाहता हो, वह इस ग्रन्थको अवश्य पढे, विचार करके गीतातत्वको जाने।

इस उत्तम ग्रन्थ के निर्माण करने के लिये लेखक का तथा प्रकाशित करने के लिये प्रकाशक का हार्दिक धन्यवाद हम करते हैं। गीता के भाष्यों में इस परिशीलन के ग्रन्थ का स्थान बहुत ऊँचा रहेगा। अतः हरएक पाठकको इसका पाठ अवश्य करना चाहिये।

आत्म-रक्षा।

(ले०- आचार्य अभयदेवजी)

शस्त्रों की व्यर्थता।

जो भयभीत होगा, वह शस्त्रोंकी अपेक्षा रखेगा, शस्त्रों के तथा अन्य बाह्य वस्तुओं के पराधीन होगा, हिंसा करेगा। यह बात इतनी साफ और सीधी है- पर पुराने संस्कारोंके कारण हमारे ज्ञान में टिकती नहीं है कि भय, शस्त्रों की अपेक्षा, पराधीनता, हिंसा और कायरता एक ही बात हैं और निर्भयता, शस्त्रों की अपेक्षा न होना, स्वाधीनता, अहिंसा और वीरता बिलकुल दूसरी बात है। यदि हम में भय है (हिंसा, कायरता आदि हैं) तो हम बेशक हथियार चाहेंगे। पर वे हथियार हमें काम नहीं देंगे, सम्भव है कि ये हमें ही मारने के काम में आवें। और यदि अभय (अहिंसा और वीरता आदि) है, तो इन हथियारों की हमें अपेक्षा नहीं होगी। अतः शस्त्र दोनों हालतों में बेकार हैं, एक जगह निरुपयोगी होने से, दूसरी जगह अनावश्यक होने से। फिर भी दुनियां में शस्त्रों की जो कहीं कहीं सार्थकता है, वह इसलिये क्यों कि हम हिंसा से अहिंसा की ओर, भयसे निर्भयता की ओर और कायरता से वीरता की ओर जा रहे हैं, अभी पहुंचे नहीं हैं। पहुंच जायं तो शस्त्र अनावश्यक होंगे।

असल में तो किन्हीं भी बाह्य साधनों का वास्तविक अपना कुछ महत्त्व नहीं है, क्योंकि शक्ति तो अन्दर है। बाह्य साधन अन्दर की शक्ति से ही शक्तियुक्त होते हैं। शस्त्रों में थोडासा बल तभी प्रकट होता है, जब कि शस्त्रधारी के अन्दर बल होता है। हथियारों का कुछ उपयोग तभी उठाया जा सकता है, जब कि हम में निर्भयता और वीरता हो और अपेक्षाकृत अहिंसा हो और शस्त्रों की उपयोगिता का यह थोडासा सच्चा क्षेत्र भी तब था, जब कि शस्त्र हमें निःशस्त्रता की ओर ले जाने के साधन होते थे, आन्तरिक वीरता को बढाने (शस्त्रकी अपेक्षा को घटाने) के साधन होते थे। क्षत्रियत्व ब्राह्मणत्व को पहुंचाता था। जब कि दुश्मन के निःशस्त्र हो जाने पर उस पर प्रहार करना अधर्म होता था, उसे नये शस्त्र ले आने को कहा जाता था। तब शस्त्र धारण भले आदमियों के लिये होता था। अर्थात् तब जिन बुरे से बुरे आदमियों के लिये शस्त्रों की जरूरत होती थी, वे भी आखिर इतने भले होते थे, आजकल की अपेक्षा कहीं भले होते थे। आजकल हम कहते हैं कि ताले तो भले आदमियों के लिये होते हैं-कभी इस देश में चोरी इतनी कम होती थी कि लोग घर में ताले आदि नहीं लगाते थे, पर अब ताले को देखकर जो चोरी नहीं करते, वे भले ही आदमी होते हैं, बुरों के लिये ताले बेकार हैं। तो यदि किसी समाज में ऐसे बुरे लोग हो जायं, जो ताले तोडना खेल समझते हों, तो वहां ताले लगाकर सुरक्षा करना मूर्खता होगी।

इसी तरह आजकल की दुनियां में 'शस्त्रों द्वारा सुरक्षा बेकार है' यह बुरी तरह साबित कर दिया है। मनुष्य-समाज इस बात में इतना बुरा हो गया है कि 'भलों के लिये शस्त्र धारण' की बात आज यहां लागू नहीं हो सकती। ताले और शस्त्र अब मनुष्यजाति को चोरी और हिंसा से रोक नहीं सकते। अब तो इससे ऊंचे दर्जे की शक्ति चाहिये—अस्तेय और अहिंसा की शक्ति—जो वर्तमान मनुष्य-जगत् की कायापलट करे, बुरों को भला बना सके।

शस्त्र और वीरता।

आजकाल की शस्त्रविद्या में पारंगत हुए योरुप में ही जब शस्त्रधारण आत्मरक्षा के लिये व्यर्थ साबित हो चुका है, तब भी यदि हम भारतवासी आज शस्त्रों की मांग कर रहे हैं तो यह मांग असल में हमारी भीरुता का ही प्रकाशन है। (अपनी भीरुता छिपाने की एक तरकीब है।) हमारे सहपाठियों में एक विद्यार्थी डर जाने के लिये प्रसिद्ध

था। भय के अवसर पर हम लोग हंसी में उसका नाम लेकर कहा करते थे कि अमुक कहता है कि जिस को डर लगता हो, वह उसके चारों तरफ इकट्ठे हो जायं। उसके चारों तरफ इकट्ठा होने से रक्षा तो उसकी होगी, पर दीखेगा यह कि मानों उसने अन्यों की रक्षा के लिये उन्हें इकट्ठा किया है। सो आज संसार में यह बहुत हो रहा है। नाम और की रक्षा का लिया जाता है, पर रक्षा अपनी होती है।

इसी तरह शस्त्र हथियारों को अपने चारों तरफ इकट्ठा तो किया जाता है अपने भीरुपन के कारण, पर समझा यह जाता है कि ये हथियार वीरता के चिह्न हैं। गुरुकुल के स्नातक देशबन्धु जी का उदाहरण क्षत्रिय के नमूने के तौर पर मैं सुना चुका हूं। एक दंगे के समय जब वे बिना कुछ भी हाथ में लिये निकल पडे, तो दूसरे ने कहा, 'पंडितजी डंडा-वंडा तो हाथ में ले जाइये।' उनका उत्तर था कि 'मुझे डंडे या हथियारकी क्या जरूरत है? जो मुझ पर हमला करने आवेगा, वह कुछ हथियार तो हाथ में लेकर आवेगा, वह हथियार मेरे ही काम आवेगा, उसके नहीं।' जो जितना वीर होगा, वह उतना ही निर्भय होगा, उतनी ही अहिंसा करेगा, उतनी ही कम शस्त्रों की जरूरत होगी। जो वीर शस्त्रों के बिना नहीं लड सकता, वह तो शस्त्रों का गुलाम है, शस्त्रों का स्वामी नहीं। इसलिये मैंने कहा है जो शस्त्रों का गुलाम है, उसे तो वे शस्त्र मारेंगे, रक्षा नहीं करेंगे।

जो शस्त्रों का स्वामी है, वह उन के वैसे ही भरोसे नहीं है। अतः शस्त्र का वीरता से कुछ भी सम्बन्ध नहीं। यदि कुछ सम्बन्ध है, तो यह कि जितना कोई वस्तुतः वीर होगा, उसे शस्त्र की उतनी ही कम जरूरत होगी। असली बात यह है कि हम शस्त्रों को महत्त्व इसलिये देते हैं चूंकि हम मरने से डरते हैं, कायर डरपोक हैं। जरा, मृत्यु, भयसे परे हो कर देखें, तो शस्त्रोंका कुछ भी गिनने-लायक स्थान नहीं रहता।

मनुष्य के असली हथियार।

और ये शस्त्र मनुष्यके शस्त्र हो भी नहीं सकते। मनुष्य के शस्त्र तो मानसिक होने चाहियें। पशुओं को आक्रमण और आत्मरक्षा करने के लिये प्रकृति ने नख, दन्त, दाढें, डंक आदि दिये हैं। वही उनके हथियार हैं। मनुष्य को ये चीजे प्रकृति ने नहीं दी हैं। पशु से मनुष्य बनते समय उससे छीन ली हैं। मनुष्य को तो मन दिया है, आत्म-शक्ति दी है। यह और बात है कि उसमें जो पशुपनका अंश है, उसे ठीक करने की जगह उसे बिगाड और बढा कर उसने अपने मनोबल के दुरुपयोग से नखदन्त आदि की जगह तोप-बन्दूक, बम्ब, गैस, टैंक आदि उनसे भी अधिक भयंकर पाशविक हथियार बना लिये, पर ये तो उस के असली नहीं हैं। उसके हथियार तो मानसिक, आत्मिक हैं, बाह्य नहीं, आन्तरिक हैं। वे हैं निर्भयता, वीरता, अहिंसा, प्रेम, आत्मविश्वास, परमेश्वरनिष्ठा आदि।

गीता में दैवी सम्पत्ति 'अभय' आदि गुणों की ही बतायी गई है। वेद, उपनिषद्, रामायण आदि सब धर्म-ग्रन्थों में आन्तरिक गुणों को सच्चे हथियारों के रूपमें वर्णन किया गया है। मैं कह चुका हूं कि इन गुणों के बिना बाहिरी हथियार भी काम के नहीं होते। तो क्यों न मनुष्य अपने असली इन्हीं हथियारों की फिक्र करें? इन्हीं को प्राप्त करने की दिनरात चेष्टा और परिश्रम करें। बाहर की निरर्थक वैयक्तिक और सामूहिक जगद्व्यापी हथियार बन्दी के बखेडे को छोड, उस परेशानी से मुक्त हो, अन्दर की असली अपनी शक्ति को बढानेमें लगें, जो अपनी शक्ति बडी महान् है, जिस अद्भुत शक्ति के सामने बाहरी हथियार खिलौने हैं, जो भयंकर से भयंकर भौतिक हथियार से अनन्तों गुना बलवती है। मनुष्यजाति शायद अपना रास्ता भटक गयी है।

गत वर्ष श्री अरविन्दाश्रम में एक चीनी महानुभाव कुछ महीने ठहरे थे। एक दिन एक साधक ने बहुत कुछ हंसी में ही उनसे कहा कि 'चिन को तो जापानने जीत लिया।' इस पर वे गम्भीर होकर कहने लगे 'नहीं चीन तो अजेय है।' आगे और गम्भीरतासे कहा 'चीनको जापान नहीं जीत सकता, चीन को तो बहुत वर्ष पहिले जीता था बुद्ध ने, और अब जीतेंगे श्री अरविन्द'। यह है धार्मिक युद्ध, अजेय आत्मिक शस्त्रोंका युद्ध, जिसके सिपाही बनने के लिये हम यहां गुरुकुल में तैयारी (साधना) करना चाहते हैं। तुम बुद्ध के या श्री अरविन्द के नहीं, तो दयानन्द के सैनिक बनो। वह सब एक ही बात है। पर हमें

भौतिक शस्त्रों का डर और मोह छोड आत्मिक हथियारों की विद्या में दीक्षित होना होगा और मनुष्यजाति को लडाई का यह नया तरीका सिखा देना, इसका अभ्यस्त बनाना होगा।

नया इलाज।

पर लोगों को अभी लडाई का यह तरीका समझ में नहीं आता। आत्मिक शक्ति या अहिंसा से लडना उन्हें हास्यास्पद लगता है। जब कोई आक्रमण करने आये, तो उसे बिलकुल न मारा जाय, केवल अपने आप ही मरनेके लिये तैयार होकर उसका मुकाबला लिया जाय- यह तो कोई इलाज न हुआ, वे कहते हैं कि यह तो जानबूझकर मरना हुआ। पर इससे हम मरेंगे नहीं, बल्कि जीनेका और युद्धों की बीमारी से मुक्ति पाने का यही सर्वश्रेष्ठ इलाज है और स्वाभाविक इलाज है, प्राकृतिक चिकित्सा है।

यह कोई नया इलाज भी नहीं है, किन्तु अति प्राचीन और स्वाभाविक इलाज है। पर आजकल की नई रोशनी में हम इसे भूल गये हैं-- ऐसा भूल गये हैं कि यह भी कोई इलाज है, इस पर हमें विश्वास नहीं होता।

यह तो हमारी प्रसिद्ध उपवासचिकित्सा है। आजकल के डाक्टरवैद्यों के रोबमें आये हुए लोगों को यदि बीमारीमें केवल उपवास करनेको कहा जाय या अमुक प्रकारसे कोई प्राणसम्बन्धी कसरत करने को कहा जाय, तो वह आश्चर्यसे कहेगा कि बिना कोई गोली खाये, कोई चूर्ण फांके, काढा पिये या इन्जैक्शन लिये रोग कैसे भाग जायगा? रोग के नाश के लिये जैसे मनुष्य का दवाई की गोली में विश्वास जम गया है, वैसे ही आक्रमणकारी के नाश के लिये बन्दूक की गोली में विश्वास रूढ हो गया है। कोई किस्म की भी दवा मत खाओ, बल्कि रोजका भोजन भी छोड दो, तो तुम बडी जल्दी अच्छा हो जाओगे, ऐसा इलाज बतानेवाले वैद्य पर यदि आश्चर्य करना चाहिये, तो गांधीजी जैसे नेता पर भी अवश्य करना चाहिये, जो कहता है कि शत्रु को मारने के लिये कोई किसी किस्म का भी शस्त्र मत पकडो, बल्कि उसके प्रति मनमें उठनेवाले प्रतिहिंसाके भाव को भी मत उठने दो, तो तुम्हारी विजय बडी जल्दी हो जायगी।

प्राकृतिक चिकित्सक बेशक कहता है कि भोजन छोडने से तुम भूखे नहीं मरोगे, किन्तु रोग भूखा मर जायगा— तुम्हें जीवित रखनेवाली जो शक्ति है, वह तो अब और अधिक स्वतन्त्र होकर-भोजन-पाचन के भारसे मुक्त हो-अधिक प्रबलता से रोग को मूल से नष्ट कर देगी; गोली, सूचीवेध (इन्जेक्शन) आदि दवाओं से तो क्षणिक लाभ बेशक दिखे, पर ये तो बहुधा विष पैदा करती हैं; और न भी करें, तो रोग को केवल दबा देती हैं, नाश नहीं करती, इस से रोग का रूपांतर-अधिक भयानक रूपांतर-हो जाता है, पर रोग जाता नहीं। किन्तु इन बातोंपर आम रोगी विश्वास नहीं करते। इसी तरह गांधीजी जैसा सेनापति बेशक कहता है कि शस्त्रों को छोड देने से तुम मरोगे नहीं, बल्कि हिंसा- युद्धका विष- मर जायगी, सचमुच अहिंसक होने से सब जगत् को जीवन देनेवाली दैवी शक्ति तुम्हारे साथ हो जायगी, हिंसा का जवाब हिंसा से न देने के कारण वह परम बलवान् की शक्ति अपनी अजेय प्रबलता के साथ काम करेगी और शत्रुता का मूलसे नाश कर देगी, तुम्हारे शत्रु को असली अर्थोंमें मार देगी। हथियारों की लडाईसे क्षणिक लाभ बेशक दीखे, भौतिक रूपमें शत्रु मरता दीखे, पर इससे शत्रु असल में मरता नहीं, प्रतिहिंसा और द्वेष का विष इससे चौगुना बढता है, इससे शत्रु केवल थोडी देर के लिये दब जाता है, पर उससे भी भयंकर रूप में उभरनेके लिए, कभी कभी शकल बदल लेता है, पर फिर दुगने वेग से आक्रमण करने के लिये। इस लिए अहिंसा (हिंसात्याग) ही ठीक उपाय है-किन्तु इस पर आम लोग विश्वास नहीं करते। जब की 'मर्ज बढता गया ज्यों ज्यों दवा की' तब दवा न करना ही क्या सबसे अच्छी दवा नहीं है? अब जब कि इतनी दवाईयां पेट में डाली जा चुकीं कि दवाईयों का असर होना बन्द हो गया, तो अब तो उपवासचिकित्सा ही एकमात्र इलाज रह गया है।

हिंसा और प्रतिहिंसा की परम्परा देखकर अब भी यह इतनी साफ बात है, पर फिर भी हम इसे नहीं देखते। असली बात यह है कि हम किसी तरह मरना नहीं चाहते। यह देह-भौतिक देहमें इतनी ममता मोह है, तो फिर हिंसा-अहिंसाकी फिजूल बात करना छोडिये।

चतुरङ्ग-साधन ।

[ले०- श्री० आचार्य चन्द्रकान्तजी, वेदवाचस्पति वेदमनीषी, सूरत]

संसार के रमणीय उपवनमें जहां सुख के सुन्दर, सुगन्धित फूल और मधुर मधुर फल हैं, वहां दुःख की कंटीली झडीयां भी जहां तहां पडी हुई हैं । इन्हें साफ कर के सौंदर्यनिधान, प्रेमधन, रसविधान प्रभु का ध्यान करना ही मानवजीवन की साधना है, अतएव जगत् के स्वरूप का विचार करके कपिलवस्तु के शाक्यमुनि सिद्धार्थने 'सर्वं दुःखं दुःखम्' का घण्टारव किया । जरा, व्याधि और मृत्यु को देख, इन्हें वैराग्य हुआ और प्रिय पुत्र और प्रियपत्नी को निद्रा की मधुर गोद में छोडकर, लक्ष्मी की उपेक्षा, करके श्याम निशामें राजपाठ छोडकर चल दिये ! बुद्धदेव की यह वैराग्यभावना कायरकी नहीं, अपितु दूसरों के दुःखों को देखकर द्रवित हुये कोमल हृदयमेंसे निकली हुई पवित्र भावना है । पुरुषोत्तम रामचन्द्रजीने वनवास के कठिन प्रसङ्गमें से सीतादेवी के सामीप्य की मधुरता को विस्मृत नहीं किया और जब दैवदुर्विपाकसे यह माधुर्य लुट गया, तब भी पूर्ण धीरता से विपदाओं का मुकाबला किया और विजयी हुवे । जब इन दोनों महापुरुषों के जीवनमें भी भिन्न भिन्न रूप से वैराग्य की भावनायें काम करती रही हैं, तब हम पामर जीवोंका तो कहना ही क्या? संसार सरोवरका 'ग्राह' हमें कोटि कोटि जन्मोंसे ग्रस रहा है । क्या हमें इससे छुटकारा न मिलेगा? इस 'ग्राह' से बचकर भगवान् चरण शरण में जाने के कौनसे साधन हैं ? ज्ञानीयोंने इसके (१) नित्यानित्यवस्तुविवेक, (२) इहामुत्रार्थफलभोगविराग,(३)शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधानादि षट् दैवी सम्पत्ति, (४) मुमुक्षुत्व ।

मनुष्य नित्यानित्यवस्तुओं का विवेक कर सकता है, पशु नहीं । पशु वर्तमान सुखसे संतुष्ट रहता है, परन्तु मनुष्य भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों कालोंके सुखकी प्राप्ति के लिये यत्नशील होता है । प्रभुने मनुष्यमें ऐसी विवेक-शक्ति रक्खी हुई है कि वह अपना हिताहित विचार कर काम करता है- मनुष्य आज की रोटी के विचार से शांत नहीं होता है, अपितु भविष्य के लिये भी विचार करता है । कुछ तो इस जन्म के विचार से शांत न रहकर पर-जीवन के विचार भी करते हैं । संसार के सुख अनित्य हैं । ऐसा कोई भी सुख नहीं है, जो दुःख से रहित हो, परंतु मनुष्य उस सुख को चाहता है, जो सर्वथा दुःख-रहित हो । एक तरफ यह सुखाभिलाषा और दूसरी तरफ सत्यजिज्ञासा, दोनों ही नित्य सत्य की खोज में मनुष्य को प्रेरित करती हैं । प्रभु-प्राप्ति के ध्येय में यही नित्यानित्य-वस्तु-विवेक प्रथम साधना है । हिरण्मय पात्रसे आवृत संसारमें निमग्न होकर परम सत् प्रभु को खोनेवाला मनुष्य महामूर्ख है । अतः सारदृष्टि के लिये "विवेक" जरूरी है । इसके बाद द्वितीय अंग "वैराग्य" है। जगत् जगत् की दृष्टि से हेय है, यही बुद्धि वैराग्य की जननी है । जगत् परम सत् का आधार होनेसे सत् है, यह ज्ञान वास्तविक ज्ञान है । आत्मा देह से भिन्न है, मांसादि हमारे नहीं हैं । अनाद्यनन्त कालमहोदधिमें हमारे जीवन-क्षण- बिन्दुमात्र हैं । परमात्मा ही आत्मा का सच्चा आधार है—

एतदालम्बनं श्रेष्ठं एतदालम्बनं परम्।

यह प्रभु ही आत्मा का परम प्रयोजन रस-स्थान है । ऋग्वेद में ठीक ही कहा है—

परा हि मे विमन्यवो पतन्ति वस्य इष्टये
वयो न वसतीरुप ॥

जैसे पक्षी घोंसले की तरफ लौटते हैं, इसी प्रकार हमारी वृत्तियां प्रभुकी तरफ आवर्जित होती हैं । इसीलिये भक्त मीराने कहा है—"अब तो मेरा रामनाम । दूसरा न कोई" संसार के महान् आत्मा जगत्में विचरते हुवे भी अरण्यतुल्य एकांत का अनुभव किया करते हैं ।

मीरा का उत्कट भक्त-हृदय इस विश्व को प्रभु की मुंह बोलती तसवीर बताता है । वस्तुतः धर्मभावनामें वैराग्य एक आवश्यक साधन है । वैराग्य के बिना क्या बुद्ध महावीर, शंकर, ईसा आदि महात्मा प्रबल धार्मिक क्रांति कर सकते थे ? योग्य अधिकार को पाये बिना संसार से

घबराकर जो वैराग्य पैदा होता है, वह अनिष्टकारक है, मीरां का वैराग्य प्रभु-प्रेम-रस से सिक्त होनेसे मधुर था, सुन्दर था। उसका हृदय विश्व के पारमार्थिक दुःखों को देख दया से भर जाता और द्रवित हो 'जगत् देखि बहु रोई' से उठता था। जिस वैराग्य से यह अनुकंपा पैदा हो, वही सच्चा वैराग्य है। संसारका वैराग्य प्रभु के राग में जब तक परिणत नहीं हुआ, तब तक अधूरा है। प्रभुके साथ प्रेम होनेपर प्रेमी अहंता, ममता से मुक्त हो जाता है। यही जीवन का सच्चा साध्य है। यह दशा ज्ञान से भी मिल सकती है। आत्मा अहंमम के बन्धन से अतीत है, यह समझना भी आत्मस्थिति पाने के तुल्य है। इस दशामें साधक प्रभु में अखिल कर्मों का अर्पण करता है। और प्रभु के एकमात्र विस्मरणमें भी आकुलव्याकुल हुआ करता है। यही "भक्ति" का सत्य स्वरूप है—

तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्तरणे
परमव्याकुलतेति ॥

संक्षेपमें कहें तो दोनोंही लोकोंके सुखोपभोगको तिलांजलि देना साधना के पथ का दूसरा मंजिल है। इस वैराग्य से ही देशभक्त सच्ची देशसेवा और प्रभुभक्त सच्ची प्रभुभक्ति कर सकते हैं। परलोक के सुखों को पाने की इच्छा से इहलोक के सुखोंका परित्याग वाणिज्य वृत्ति है। अतएव शुद्ध वैराग्यकी आवश्यकता है। एतदर्थ षट्क-सम्पत्ति की साधना परमावश्यक है। प्रथम 'शम' है। इसमें अन्तःकरणसे विषयवासना को छोडनेका प्रयास करना होता है। द्वितीय 'दम' है, अर्थात् बाह्य वृत्तियोंसे आत्मा को मलिन न होने देने का प्रयास। रूपरसादि विषयोंसे वृत्तियोंको हटाकर आत्माभिमुख करना 'उपरम' है। यह तृतीय दैवी संपत् है। हजारों विपदाओंको आत्मशक्तिसे सहन करना 'तितिक्षा' है। इसे पानेपर—

विपदो नैव विपदः सम्पदो नैव सम्पदः।
विपदि स्मरणं विष्णोः संपन्नारायणस्मृतिः ॥

विपत्ति की फांसी के झूलेपर साधक हंसते हंसते भूल जाता इसके बाद 'श्रद्धा' माताकी गोद में विश्राम लेने की आवश्यकता है।

श्रद्धा माता मनुः कविः। ईशावास्यमिदं सर्वं।
ऐतदात्म्यमिदं सर्वं ॥

आदि वाक्योंमें वर्णित उन्नत भावना सच्ची है। इस भावना को फैलाने को गुरुजन अपने अनुभवों से जो उपदेश देते हैं, वह सर्वथा सत्य हैं, यह आस्था सच्ची श्रद्धा है। वृत्तियों के परम-लक्ष्य भगवान् की आराधना साधना में चित्त को लगाना 'समाधान' है। यह षट्क-सम्पत्ति का सामान्य स्वरूप है। इससे मनुष्य के आचार-विचार शुद्ध निर्मल बन जाते हैं।

नित्यानित्यवस्तु-विवेक करते करते अनित्य पदार्थ से वैराग्य हुआ करता है। इस वैराग्यमें से षट्कसम्पत्ति का अनुष्ठान शुरू होता है। इन सबके आधारमें मुमुक्षुत्व की उत्कट भावना अपेक्षित है। संसारसे मुक्त होनेकी तीव्रतम वृत्ति 'मुमुक्षुत्व' है। यही धर्मों को अन्तःसार है। दग्धकेश दुःखी मनुष्य जिस तीव्र वेग से जलाशय में डुबकी लगाता है उतनेही वेग से विश्व की नश्वरता का ध्यान करके साधक के हृदय में प्रभु के दर्शन की तडप होनी चाहिये। यह वृत्ति साधना की सहचरी है। जगत् के हिरण्मय पात्रमें संलग्न मुख को हटाकर मुमुक्षु जब अमृत-कलश का चुम्बन करता है, तब उसके सब दुःख काफूर हो जाते हैं, साधना खिल उठती है और साध्य आंखोंके सामने नाच उठता है। प्रभु--प्रेम माताके स्तन्य के समान मधुर है। स्तन्यको चूसता हुआ बालक जैसे समीपस्थ जनों को देखता है, हंसता और उनसे खेलता है, इसी प्रकार साधक संसारको देखते, अनुभव करते हुए भी पुष्टिके लिये प्रभु की ओर सकरुण निर्निमेष नयनों से देखा करते हैं। यह प्रेम, शरणागति संसाररूपी ग्राहसे बचाने का परम साधन है। यही मानवजीवन का परम चरम ध्येय है। हमें इस ध्येय के लिये प्रतिक्षण साधना करनी चाहिये।

सूर्य सकल विश्व की आत्मा है।

'पहिला सुख निरोगी काया।'

[ले०- श्री स्वामी **जीवनतीर्थजी**, संचालक, दिव्यजीवनमंडल, जीवनयोगाश्रम, बडोदा]

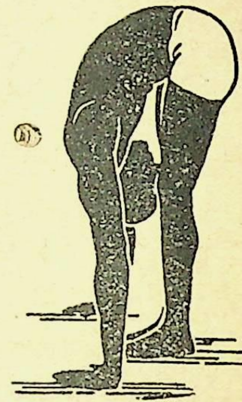
सूर्यनमस्कार का व्यायाम मनुष्यको निरोगी बनाकर दीर्घायु करता है और उसकी स्मरण-शक्तिको बढाकर तीव्र बनाता है। सूर्यनमस्कार करनेवाले को अन्य किसी प्रकार के व्यायाम करने की आवश्यकता नहीं रहती। सूर्यनमस्कार एक मिनिटमें ३ होते हैं। कितना ही कामवाला मनुष्य क्यों न हो, वह केवल दस मिनिटका ही समय निकालकर कम से कम ३० नमस्कार कर सकता है। सूर्यनमस्कार के जितने भेद (Points) हैं, वे सब योग के आसन ही हैं एक नमस्कार पूर्ण होने पर बारह आसन होते हैं, अतएव प्रतिदिन नियमित रूप से ३० नमस्कार करनेवाले के ३६० आसन हुए। सूर्यनमस्कार के साथ साथ प्राणायाम करनेसे बहुत लाभ होते हैं। एक नमस्कार में तीन प्राणायाम किये जाते हैं। ऐसा करनेवाले को जीवनपर्यंत कोई रोग नहीं हो सकता। कैसी ही पीडा हो, उसके लिये औषधिसेवन के बदले प्रतिदिन केवल सूर्यनमस्कार करने से वह मिट जाता है और मनुष्य दीर्घायु प्राप्त करके अपने जीवनको पूर्ण आरोग्यमय बना सकता है। सूर्यनमस्कार का व्यायाम सूर्योदय के समय हमेशा शरीर की शुद्धि करके और शुद्ध अंतःकरण से उपर्युक्त मंत्रों का यथार्थ अर्थ समझकर व लक्ष्यमें लेकर आनन्दित चित्त-वृत्ति से करना चाहिये।

चित्र नं० १



फल- दृष्टि नासिकाके अग्रभाग पर होनेसे एकाग्रता और सीधे खडे रहने की शक्ति बढकर टेढी या झुकी हुई कमर सीधी होती है और शरीरपर सूर्य की प्रातःकालीन किरणें गिरनेसे (त्वचाके) चर्मरोग निर्मूल होकर शरीर तथा मुख का तेज बढता है, एवं मनुष्य सौन्दर्यशाली बनता है।

चित्र नं० २



फल- सूर्य भगवान्में मन लगानेसे प्रार्थना (एकाग्रता Concentration) करने की शक्ति में अभिवृद्धि होती है, और उससे बहुतसी शारीरिक और मानसिक बीमारियां दूर होकर देह निरोगी बनती है, तथा सूर्य भगवान् के तेज से अपने शरीर में नवीन बल, उत्साह, पराक्रम एवं तेजस्वी वीर्य की उन्नति होकर नवजीवन प्राप्त होता है।

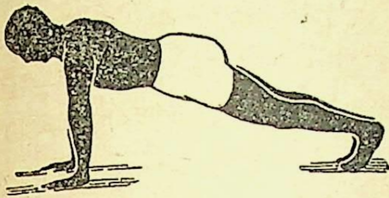
चित्र नं० ३



फल- रात्रि में मंद पडी हुई रक्त की गति इस क्रियासे पुनः यथावत् प्रमाण में चालू हो जाती है। श्वास ऊपर खींचते समय नाक का उपयोग करना चाहिये। यह श्वास

(प्राणवायु) मस्तिष्कमें जाकर स्मरणशक्ति और बुद्धि को तीव्र करता है और खुली आंखों से ऊपर देखने के कारण नेत्रों की ज्योति बढाता है।

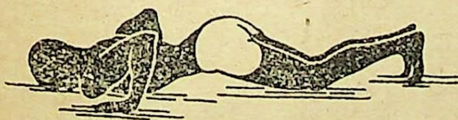
चित्र नं० ४



[नोट- इस अवस्था में भूमिपर रक्खे हुए हाथों को नमस्कार पूरा होने तक उसे स्थान पर रखे रहना चाहिये]

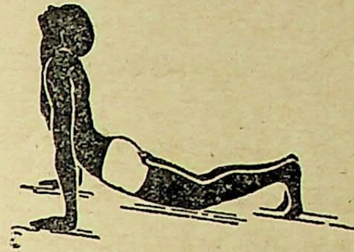
फल- तीसरे चित्र की अवस्था में लिया हुआ श्वास बाहर निकालने से मस्तिष्क की बिलकुल सफाई हो जाती है। अतः रात्रिको उसमें घुसा हुआ बुरा श्वास बाहर निकल जाता है और उसकी बारिक स्नायुएं शुद्ध हो जाती हैं। इसके पश्चात् हाथों को नीचे लगाने और पांवों को बिलकुल सीधे रखने से पांव, कमर, पीठ, गर्दन और हाथों के रोग नष्ट होकर उनमें शक्ति एवं स्वस्थता आती है। इस प्रकार की क्रिया सारे शरीर के दर्दों को मिटाती है। नासिका घुटनोंपर लगाने से कष्टसाध्य रोग नष्ट होते हैं, तथा उसी समय पेट तानने से पुरानी कोष्टबद्धता (Constipation) मिट जाती है, बढा हुआ पेट (Over-fatty stomach) वायु निकल जानेसे छातीके भीतर चला जाता है और मनुष्यकी शारीरिक सुन्दरता बढ जाती है।

चित्र नं० ५



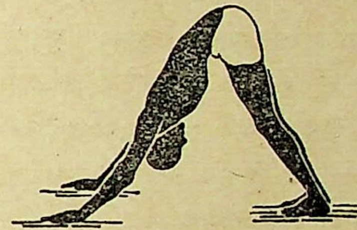
फल- रज तथा वीर्यवाहिनी नसों पर जोर आने से धातु-क्षीणता मिटती है, स्त्रियों तथा पुरुषों के मूत्रसम्बन्धी प्रायः सभी रोग नष्ट होते हैं और ऊपर देखते रहने से गला खिंचाता है, जिससे कंठके अनेक रोग दूर होकर वह अच्छा बनता है और नेत्रों की ज्योति बढती है।

चित्र नं० ६



फल- इस क्रिया में पावों पर जोर पडता है, जिससे उनकी निर्बलता तथा घुटनों के दर्द मिटकर चलनेकी शक्ति बढती है। कमरका मोटा भाग पतला होकर शरीरमें स्फूर्ति (चपलता) आती है, आलस्य दूर भाग जाती है और उदर-पीडा मिटती है।

चित्र नं० ७



फल- दण्ड की यह क्रिया करने से हाथ बहुत ही बलवान् बनते हैं। छातीकी निर्बलता (Ches-tmuscles) तथा स्नायुमण्डल को शक्तिशाली (Lung and chest diseases) बनानेके लिए यह परम उपयोगी है। माताओं व बहिनों का बिगडा हुआ दूध इस प्रकार के दण्ड से शुद्ध होकर बालकों को निरोगी बनाता है, अधिक क्या, इस दंड के करनेवाले को हृदयरोग (Heart-diseases) होते ही नहीं।

चित्र नं० ८



फल- इस प्रणाम (दण्ड)से ऊपर की भांति छाती, हाथ, घुटने आदि अवयव अच्छे बनते हैं और सूर्य भगवान् को

मानसिक शक्तिसे देह समर्पित की हो, तो सूर्य का तेजस्वी प्रकाश शरीरमें प्रविष्ट होकर नमस्कार करनेवाले का शरीर नीरोग और तेजस्वी होता है।

चित्र नं० ९



फल— जिस प्रकार सर्प का (निगला हुआ) भोजन बिना चबाये हुए पेट में पच जाता है, उसी प्रकार इस क्रियासे पेटमें दबाव होनेसे मनुष्यका भोजन भली भांति हजम हो जाता है और उसके (पेटके) सारे कष्टसाध्य तथा पुराने रोग नष्ट हो जाते हैं। इसके अलावा वीर्यवाहिनी नसोंपर जोर आनेसे किसी भी कारणवश गंवाया हुआ पुरुषार्थ फिर प्राप्त हो जाता है। यह आसन "ब्रह्मचर्यव्रत" धारण करनेवाले युवकों और युवतियों के लिये विशेष उपयोगी है, क्योंकि यह रजवीर्यसंबंधी सब रोगोंको नष्ट करके युवकों का स्वप्न-दोष और युवतियों के मूत्र तथा मासिक धर्मसे उत्पन्न होनेवाली पीडाओं का नाश करता है। नेत्र खोलकर ऊपर देखने से उनका तेज सर्प के नेत्रों के समान प्रभावशाली और शक्तिशाली होकर थोडी अवस्था से ही चश्मे लगाने की आदत छूट जाती है।

चित्र नं० १०



फल— चित्र नं० ६ की भांति है।

चित्र नं० ११

फल— चित्र नं० ५ की भांति है। विशेष जानकारीके लिये चित्र नं० ४ में दिया हुआ नोट देखें।

चित्र नं० १२

फल— चित्र नं० ४ कि भांति है। इसके पश्चात् चित्र नं० १ के अनुसार खडे रहना। यह क्रिया प्रतिदिन कमसे कम ३० नमस्कार केवल १० मिनिटमें अवश्य करना चाहिये।

शवासन।

जितने सूर्य-नमस्कार करने हों, उतने पूर्ण होनेके पश्चात् "शवासन" के चित्र की भांति मुंह बन्द रखकर शरीर को बिलकुल ढीला (मृत के शरीर की भांति) छोडकर कमसे कम ५ मिनिट बिना किसी तरह के विचार किये सोये रहना चाहिये। मनुष्य कितना ही थका हुआ क्यों न हो इस आसन से आराम पा सकता है।

जिन व्यायामप्रेमियों को विशेष जानकारी की जिज्ञासा हो, वे अपने पतेके साथ ११ आने कि टिकटें भेजकर "सूर्य-नमस्कार और मनुष्यजीवन" पुस्तक (गुजरातीमें) मंगवा लें इससे उन्हें विदित होगा कि "सूर्यनमस्कार" में तीन प्राणायाम किस तरह करना चाहिये और इनके साथसाथ अन्य किन किन नियमों का किस प्रकार पालन करना उचित है।

मातार्जीसे वार्तालाप।

(५)×

[अनुवादक- श्री० मदनगोपाल गाडोदिया।]

योगमें बुद्धि का स्थान-विरोधी शक्तियों से मुकाबला- श्रद्धा की शक्ति- मृत्युविजय- प्राकृतिक विपर्यय-पूर्वजन्मों की स्मृति।

=" बुद्धि का यथार्थ व्यापार क्या है ? यह साधना में सहायक है या बाधक ?"

साधना में बुद्धि का सहायक या बाधक होना इसके उपयोग करनेवाले व्यक्ति पर और किस प्रकार इस का उपयोग किया जाता है इस पर, निर्भर करता है। बुद्धि की क्रिया सही भी होती है और गलत भी। सही क्रिया सहायक होती है और गलत क्रिया बाधक होती है। जो बुद्धि अपने को बहुत अधिक महत्त्व देती और अपनी ही आत्मसंतुष्टि करना चाहती है, वह उच्चतर सिद्धि को प्राप्त करने में बाधक होती है।

परन्तु यह बात किसी विशेष अर्थ में ही सत्य नहीं है, और यह केवल बुद्धिपर ही लागू नहीं होती; यह सर्व-साधारण है और मनुष्य की जो अन्य शक्तियां हैं, उनपर भी उसी प्रकार लागू होती है। उदाहरणार्थ, प्राण की वासनाओं अथवा पाशविक तृष्णाओं की तृप्ति में ही लीन रहने की वृत्ति को लोग सद्गुण नहीं समझते। इस संबंध में वे नैतिक धारणा को एक नियंत्रण के तौरपर स्वीकार करते हैं। यह नैतिक धारणा उन्हें बतलाती है कि वासनाओं और तृष्णाओं की सीमा यहांतक है और इन का उल्लंघन करना अनुचित है। केवल बुद्धि की क्रियाओं के संबंध में ही मनुष्य ऐसा समझते हैं कि किसी नियंत्रण या अंकुश के बिना उनका काम चल जायगा।

सत्ताका कोई भी भाग जो अपने उचित स्थानपर रहता और अपने नियत धर्म का पालन करता है, वह सहायक होता है, किंतु जैसे ही वह अपनी सीमा के बाहर निकला कि वह आकुंचित, विकृत और इस कारण असत्य बन जाता है। किसी भी शक्ति का प्रयोग जब भागवत प्रयोजन की पूर्ति के लिये किया जाता है, तब वह उचित है, किन्तु वही शक्ति जब अपने ही संतोष के लिये प्रयोग में लायी जाती है, तब उस की गति अनुचित होती है।

बुद्धि अपने सत्य स्वरूप में अभिव्यक्ति और कर्म का उपकरण है। ऐसा समझो कि मन के ऊपर, उच्चतर भूमिकाओं में स्थित जो सत्य-ज्ञान है और यहां पार्थिव भूमिका पर उस की जो उपलब्धि होती है— इन दोनों के बीच मध्यवर्ती वस्तु बुद्धि है। बुद्धि और अधिक साधारण रूप में यदि कहा जाय तो मन, इस सत्य को आकार प्रदान करता है, प्राण इसमें गतिशीलता लाता और जीवन-शक्ति का संचार करता है और सब के अन्त में जडतत्त्व की बारी आती है, जो इस को स्थूल रूप में मूर्तिमान् करता है।

=" विरोधी शक्तियों का, जो नेत्रोंसे अगोचर होते हुए भी जिवंत और स्पष्टतया अनुभवनीय हैं, मुकाबला किस प्रकार करना चाहिये ?"

तुम्हारी चेतना के विकास की अवस्थापर बहुत कुछ निर्भर करता है। आरंभ में यदि तुम्हारे पास विशेष सूक्ष्म ज्ञान और शक्ति न हो, तो तुम्हारे लिये सब से अच्छी बात यह है कि तुम जहांतक संभव हो, वहांतक शांत और स्थिर रहो। यदि आक्रमण विरोधी सुझावों का रूप धारण करे, तो तुमको उसे शांति के साथ ठीक उसी तरह दूर फेंक देना चाहिये जैसे किसी भातिक पदार्थ को प्रतिकूल होनेपर फेंक दिया जाता है। तुम्हारी शांति जितनी ही अधिक होगी उतने ही तुम शक्तिशाली होंगे, सभी आध्यात्मिक शक्तियों का सुदृढ आधार है समचित्तता। तुम्हें किसी भी चीज को ऐसा अवसर नहीं देना चाहिये कि वह तुम्हारी समतोलता को भंग कर सके। यदि तुम ऐसा कर सके तो

× लेखांक ४ वैदिक धर्म क्रमांक २४८, पृ० ३९३ पर देखिये।

फिर किसी भी आक्रमण का प्रतिरोध कर सकोगे। इसके अतिरिक्त, यदि तुम्हारे पास यथेष्ट विवेकशक्ति हो और जैसे ही विरोधी सुझाव तुम्हारे पास आवें, वैसे ही तुम उन्हें देख और पकड सकें, तो उन्हें निकाल बाहर करना और भी सहज-हो जाता है, किन्तु कभी कभी ये अलक्षित रूप से घुस आते हैं और तब इनसे युद्ध करना अधिक कठिन होता है। जब ऐसा हो तब तुम्हें स्थिर होकर बैठना चाहिये और शांति तथा गंभीर आंतरिक स्थिरता का आवाहन करना चाहिये। अपने आपको दृढ बनाये रखो और श्रद्धा तथा विश्वास के साथ भगवान् को पुकारो। यदि तुम्हारी अभीप्सा शुद्ध और अविरत है, तो तुम अवश्य सहायता प्राप्त करोगे।

विरोधी शक्तियों के आक्रमण अपरिहार्य हैं। इनके विषय में तुम्हें यों समझना चाहिये कि साधना के मार्ग में ये एक तरह की परीक्षाएं हैं और इन अग्निपरीक्षाओं में से तुम्हें साहस के साथ गुजरना चाहिये। हो सकता है कि यह संघर्ष कठिन हो, किंतु जब तुम इसको पार कर बाहर निकलोगे तब तुम देखोगे कि तुमने कुछ प्राप्त किया है, तुम एक कदम आगे बढे हो। विरोधी शक्तियों के होने की भी एक आवश्यकता है। ये तुम्हारे निश्चयको अधिक दृढ करती और तुम्हारी अभीप्साको अधिक शुद्ध बनाती हैं।

फिर भी यह सत्य है कि इनका अस्तित्व इसीलिये है कि तुमने इनके अस्तित्वके लिये कारण दे रखा है। जब तक तुममें कोई भी चीज ऐसी है जो इनकी पुकारका उत्तर देती है, तब तक इनका हस्तक्षेप करना सर्वथा जायज है। यदि तुम्हारा कोई भी भाग इनका प्रत्युत्तर न दे, यदि तुम्हारी प्रकृति के किसी भी अंशपर इनका वश न हो, तो ये लौट जायेंगी और तुम्हें छोड देंगी। परन्तु कुछ भी क्यों न हो, ये तुम्हारी आध्यात्मिक प्रगति को रोक या अटका नहीं सकतीं।

विरोधी शक्तियों से युद्ध करने में तुम्हारा पराजय तो एक ही कारण से हो सकता है और वह है भागवत साहाय्यमें सच्चे विश्वासका न होना। अभीप्साकी सचाई आवश्यक साहाय्य को सदा ले ही आती है। शांत आवाहन, ऐसा विश्वास कि सिद्धि की ओर तुम्हारा जो आरोहण हो रहा है, उसमें कभी भी तुम अकेले नहीं चल रहे हो और यह श्रद्धा कि जब कभी भी किसी सहायताकी आवश्यकता होगी, तो वह सदा तुम्हें उपस्थित मिलेगी, तुम्हें सहज और निरापद रूपसे इस संग्राम के पार पहुंचा देगी।

="ये विरोधी शक्तियां, साधारणतया बाहर से आती हैं या अंदरसे?"

यदि तुम ऐसा सोचते या अनुभव करते हो, कि ये अंदर से आती हैं, तो संभवतः तुमने अपने आपको उनके लिये खोल दिया है और वे तुम्हारे अंदर अलक्षित रूपसे आकर जम गयी हैं। वस्तुओं का सहज स्वभाव सामंजस्यका स्वभाव होता है, किन्तु कतिपय जगत् ऐसे हैं, जहां इस सामंजस्य में विकार पैदा होता है, जिसके फलस्वरूप विकृति और विरोध की सृष्टि हो जाती है। विकार पैदा करनेवाले इन जगतों के साथ यदि तुम्हारा बहुत मेल खाता हो, तो यह हो सकता है कि वहां की सत्ताओं के साथ तुम मित्रता स्थापित करो और उन की पुकारका तुम भरपूर उत्तर दो। ऐसा होता है, किन्तु यह अच्छी अवस्था नहीं है। चेतना तुरंत अन्धी हो जाती है और तुम सत्य और असत्य में विवेक करने में असमर्थ हो जाते हो, तथा तुम यह कहने के योग्य भी नहीं रह जाते कि कौनसी चीज तो मिथ्या है और कौनसी नहीं।

कुछ भी हो, जब कोई आक्रमण हो रहा हो, तब बुद्धिमानी इसी में है कि साधक यह समझे कि यह आक्रमण बाहर से आया है और कहे कि "यह मेरा स्वरूप नहीं है और मैं इससे किसी प्रकार का संपर्क नहीं रखूंगा।" समस्त निम्नतर आवेगों और इच्छाओं तथा मन के समस्त संदेहों और शंकाओं के साथ भी तुम्हें यही व्यवहार करना होगा। यदि तुम अपने आपको इन के साथ तदाकार कर लो, तो इन के साथ तुम्हारा युद्ध और भी विकट हो जाता है, कारण उस समय तुम यह अनुभव करने लगते हो कि तुम अपने ही स्वभावको पराजित करने जैसे अति दुष्कर कार्य में लगे हो। परंतु ज्योंही तुम यह कह सकें कि "नहीं, यह मेरा स्वरूप नहीं है, इससे मैं किसी प्रकार का संबंध नहीं रखूंगा," त्योंही इन को हराकर भगा देना बहुत सहज हो जाता है।

="आंतर और बाह्यको जुदा करनेके लिये यदि एक रेखा खींची जाय, तो उस का स्थान कहांपर होगा?"

यह रेखा अत्यंत लचकीली होगी, तुम चाहो जितना यह तुम्हारे समीप हो सकती है और तुम चाहो जितना यह तुमसे दूर हो सकती है। तुम चाहो तो हरेक बातको अपने ऊपर लेकर उसको अपने वास्तविक आत्मा का एक अंग और अंश मान सकते हो अथवा तुम चाहो तो उसको, एक केश या नाखून के टुकडे की तरह, जीपर किसी बात का असर आने दिये बिना, दूर फेंक सकते हो।

जगत् में ऐसे धर्मों की सृष्टि हुई है जिन के अनुयायी अपने केश या नाखून के एक टुकडे को भी अपने से अलग नहीं करते, कारण उन्हें भय होता है कि इस में वे अपने व्यक्तित्व के किसी भाग को गंवा न दें। जो लोग अपनी चेतना को जगत् के जितनी ही विशाल बना कर फैला देने में समर्थ होते हैं, वे स्वयं जगद्रूप हो जाते हैं, किंतु जो लोग अपने क्षुद्र शरीरों और सीमित अनुभवों में ही बंद हैं, वे उन सीमाओंपर आकर रुक जाते हैं, उन के शरीर और उन के क्षुद्र अनुभव ही उन के लिये उनका समग्र आत्मा होता है।

= "क्या केवल श्रद्धा सब कुछ सृजन कर सकती है, सब कुछ जय हर सकती है?"

हां, किंतु यह श्रद्धा सर्वांगसंपूर्ण होनी चाहिये और निरपेक्ष होनी चाहिये। इसके अतिरिक्त यह सच्चे प्रकारकी होनी चाहिये। यह केवल मानसिक विचार या संकल्पकी एक शक्तिके रूप में हो, इतने से ही काम नहीं चलेगा, यह होनी चाहिये इस सबसे आगे बढी हुई और अधिक गहरी। मनके द्वारा प्रयुक्त जो संकल्प होता है, वह विरोधी प्रतिक्रियाओं को उभाडता और प्रतिरोध उत्पन्न करता है। रोगियों को अच्छा करनेकी एमिल कू की चिकित्सा-पद्धतिके बारे में तुमने सुना होगा। वे इस शक्ति के रहस्य को कुछ-कुछ जानते थे और इस शक्ति का प्रयोग उन्होंने बहुत कुछ सफलतापूर्वक किया था। परन्तु इस शक्ति को वे कल्पनात्मक मानते थे और उनकी पद्धति से श्रद्धाकी जो शक्ति उत्पन्न होती थी, उसे उन्होंने बहुत ही अधिक मानसिक रूप दे दिया था। परन्तु केवल मानसिक श्रद्धा पर्याप्त नहीं है, इस श्रद्धाको प्राणकी श्रद्धाद्वारा यहांतक कि भौतिक श्रद्धा अर्थात् शरीरकी श्रद्धाद्वारा भी पूर्ण और शक्तिशालिनी बनाना होगा।

यदि तुम अपने अन्दर अपनी समस्त सत्ता में इस प्रकारकी एक सर्वांगसंपूर्ण शक्ति की सृष्टि कर सको, तो फिर कोई चीज भी इस शक्तिका प्रतिरोध नहीं कर सकेगी। परन्तु तुम्हें अपने अत्यंत अवचेतन भागोंतक पहुंचना होगा, अपने शरीर के एक-एक अणुतक में इस श्रद्धा को स्थापित कर देना होगा। उदाहरणार्थ- आजकल भौतिक वैज्ञानिकों में भी इस ज्ञान का प्रारंभ हो चुका है कि "मृत्यु" आवश्यक नहीं है। परन्तु सारी मानवजाति "मृत्यु" में दृढतापूर्वक विश्वास करती है। ऐसा कहा जा सकता है कि यह मनुष्यों में सर्वसाधारण रूप से बैठी हुई एक धारणा है, जो एक ऐसे अनुभवपर स्थापित है, जो दीर्घकाल से अपरिवर्तित रूपमें होता चला आया है। यदि इस विश्वास को पहले तो सचेतन मनसे और बादमें प्राण-प्रकृति और अवचेतन भौतिक स्तरोंसे निकाल बाहर कर दिया जाय, तो मृत्यु एक अपरिहार्य वस्तु नहीं रह जायगी।

= "परन्तु मृत्युकी यह धारणा केवल मानव-मनमें ही तो नहीं है, पशुजाति इसको मनुष्य के पहलेसे ही जानती थी?"

मृत्यु एक तथ्य के रूपमें तो इस पृथ्वीपर जितने जीवन हैं, उन सभीके साथ लगायी गयी है, किन्तु प्रकृतिने इसको जिस मूल अर्थमें रखा था, उसको छोडकर मनुष्य इसे दूसरे ही अर्थमें समझता है। मनुष्य और मनुष्यके तलके अतिसमीपस्थ पशुओं की चेतना में मृत्युकी आवश्यकताका एक विशिष्ट रूप और एक विशिष्ट अर्थ हो गया है। परन्तु इस निम्नतर प्रकृति में विहित जो अवचेतन ज्ञान है, जो इस अर्थको आश्रय दिये हुए है, वह है पुनर्नवता, परिवर्तन और रूपांतर करनेकी आवश्यकता का अनुभव।

पृथ्वीपर जड तत्वकी जो अवस्था है, उसके कारण ही मृत्यु अनिवार्य हो गयी। जड तत्व के विकासका सारा अर्थ ही यह है कि वह पहले जो उसकी अचेतन अवस्था थी, उसको छोडकर उत्तरोत्तर बढती हुई चेतना में परिणत होवे। और परिणत होनेकी इस प्रक्रिया में, जब कि यह सब यथार्थमें क्रियान्वित होने लगा, आकारों का विनाश होना एक अपरिहार्य आवश्यकता हो गयी। कारण संगठित व्यष्टिगत चेतनाको स्थायी सहारा देनेके लिये दृढप्रतिष्ठ रूप की आवश्यकता हुई। और फिर आकारकी यह दृढप्रतिष्ठता

ही है जिसने मृत्युको अपरिहार्य बना दिया। जड तत्त्व को आकार धारण करने थे, कारण आकार धारण के बिना जीवनशक्तियों अथवा चेतना की शक्तियों का व्यष्टीकरण तथा पिंड-रूप-ग्रहण असंभव होता और इनके बिना पार्थिव भूमिकापर संगठित अस्तित्व के लिये अपेक्षित प्रारंभिक अवस्थाओंका ही अभाव होता।

परन्तु आकारपरिमित और पिंडरूप प्राप्त रचना का यह स्वभाव है कि वह तुरंत कठोर, सख्त और पाषाणवत् बन जाने की ओर प्रवृत्त होती है। व्यक्तिरूप-प्राप्त आकार हरओर से बांध रखनेवाले सांचे के रूप में स्थिर और कायम रहना चाहता है, वह शक्तियों की गतियों का अनुसरण नहीं कर सकता, विश्वलीलाकी गतिशीलता में जो परिवर्तन होते रहते हैं, उनके साथ सामंजस्य रखकर वह अपने को परिवर्तित नहीं कर सकता, प्रकृति की मांगों को वह लगातार पूरा नहीं कर सकता और उसके साथ-साथ नहीं चल सकता, वह प्रवाह से बाहर हो जाता है। आकार और उस पर दबाव डालनेवाली शक्ति के बीचमें जो यह उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होती जाती हुई असमानता और असामंजस्य है, वह जब एक विशिष्ट सीमाको पहुंच जाता है, तब आकारको पूर्ण रूप से नष्ट कर देना अनिवार्य हो जाता है। तब एक नये आकारकी सृष्टि करनी पडती है, एक नवीन सामंजस्य और समानता को संभवित करना पडता है। मृत्यु का सच्चा अर्थ यही है और प्रकृति में यही इसका उपयोग है। परन्तु यदि आकार अधिक फुरतीला और नयनशील बन सके और शरीर के अणुओं को परिवर्तित होती हुई चेतना के अनुसार जागृत किया जा सके, तो ऐसे उग्र विनाश की आवश्यकता नहीं होगी, मृत्यु अपरिहार्य नहीं रह जायगी।

= "किसीने कहा है कि प्रकृतिमें जो दुर्घटनाएं और विपर्यय होते हैं, जैसे कि भूकम्प, भयंकर बाढ और महाद्वीपों का जलमग्न हो जाना आदि, वे बेसुरी और पापपूर्ण मानव जाति के कारण ही होते हैं और मानवजातिकी उन्नति और विकासके साथ-साथ भौतिक प्रकृति में भी तदनुरूप परिवर्तन हो जायगा। यह बात कहांतक सत्य है ?"

इस विषय का सत्य शायद यह है कि विपत्तियों और विपर्यय से आकीर्ण प्रकृति में तथा असामंजस्यपूर्ण मानवजातिमें, दोनों में, चेतना की एक ही अभिन्न गति है, जो अभिव्यक्त होती है। इन दोनों में कार्यकारणसम्बन्ध नहीं है, बल्कि ये दोनों एकही भूमिकापर स्थित हैं। इन दोनों के ऊपर विद्यमान एक चेतना है, जो पृथ्वी पर अभिव्यक्त और मूर्तिमान् होने की चेष्टा कर रही है और पृथ्वी की ओर उसका जो अवतरण होता है, उस क्रियामें वह सर्वत्र ही, अर्थात् मनुष्य और भौतिक प्रकृति, दोनोंको ही, समान रूप से प्रतिरोध करते हुए पाती है। पृथ्वी पर जो कुछ भी अव्यवस्था और असामंजस्य है, वह इस प्रतिरोध का ही फल है। विपत्ति और विपर्यय, संघर्ष और हिंसा, अंधकार और अज्ञान-ये समस्त दोष इस एक ही स्रोतसे निकलते हैं। बाह्य प्रकृतिका कारण मनुष्य नहीं है, उसी तरह मनुष्य का कारण बाह्य प्रकृति नहीं है, बल्कि ये दोनों ही उस एक वस्तु पर निर्भर करते हैं, जो इनके पीछे है, इन से महान् है और उस वस्तुको अभिव्यक्त करने के लिये हो रही इस जड प्राकृतिक जगत् की जो शाश्वत और प्रगतिशील गति है, उसके ये दोनोंही अंश हैं।

अब, यदि पृथ्वी में कहींपर एक ऐसी ग्रहणशीलता जागृत हो जाय, एक ऐसा उद्घाटन हो जाय, जो अपनी पवित्रता में भागवत चेतना की किसी चीज को उतार लाने के लिये पर्याप्त हो, तो जड जगत् में जो यह अवतरण या अभिव्यक्ति होगी, वह केवल आंतरिक जीवन का ही रूपांतर नहीं करेगी, बल्कि जड प्राकृतिक अवस्थाओं का भी, मनुष्य और प्रकृति में जो भौतिक अभिव्यक्ति है, उस का भी रूपांतर कर सकेगी। इस अवतरण का संभवित होना मानवजाति की सामूहिक अवस्थापर निर्भर नहीं करता। यदि हमको उस समय तक ठहरना पडे जब कि मानवजाति सामूहिक रूप से सामंजस्य, एकता और अभीप्साकी एक ऐसी अवस्था को प्राप्त हो जाय, जो दिव्य प्रकाश को उतार लाने और जड प्राकृतिक अवस्थाओं का रूपांतर करने के लिये काफी बलवान् हो, तब तो कुछ विशेष आशा नहीं रखी जा सकती। परन्तु कोई एक व्यक्ति अथवा एक छोटासा संघ या कुछ थोडेसे लोग इस अवतरण को प्राप्त करा सकें, ऐसी संभावना है। इस

विषय में संख्या अथवा विस्तार कोई महत्त्व की बात नहीं है। भागवत चेतना का एक बिंदु भी यदि पार्थिव चेतना में प्रवेश कर जाय, तो वह यहां की हरेक वस्तु का रूपांतर कर सकेगा।

चेतना की उच्चतर और निम्नतर भूमिकाओंमें परस्पर-संबंध स्थापित होने और इनके एक दूसरे में मिल जाने का जो रहस्य है, वही महान् गुह्य है, गुप्त कुंजी है। इसमें रूपांतर करने की शक्ति सदा ही रहती है। अन्तर इतना ही है कि यहां वह शक्ति अधिक परिमाण में होगी और उच्चतर अवस्था को प्राप्त करावेगी। यदि पृथ्वीपर कोई ऐसा व्यक्ति हो, जिस में उस भूमिका के साथ जिस की अभीतक यहां अभिव्यक्ति नहीं हुई है, सचेतन संबंध स्थापित करने की क्षमता हो और उस भूमिका में ऊपर उठनेद्वारा वह अपनी चेतना के अन्दर उस भूमि का और पार्थिव भूमिका का मीलन करा कर उन्हें एक स्वर में मिला सके, तो प्रकृति के रूपांतर करने के जिस महान् कार्य का निश्चय किया जा चुका है, पर जो अभीतक बाकी पडा है, वह पूरा हो जायगा। एक नयी शक्ति अवतरण करेगी और पृथ्वीपर अभी जो जीवन है, उस का परिवर्तन कर देगी।

फिर भी, इतना तो है ही कि जब जब किसी महान् आत्मा का आविर्भाव हुआ है और उन्होंने सत्य की किसी ज्योति को प्रकट किया अथवा पृथ्वीपर किसी नयी शक्ति का अवतरण कराया, तब तब पृथ्वी की अवस्थाओं में फेर-फार हुआ है, फिर चाहे यह परिवर्तन बिलकुल उस प्रकार से न भी हुआ हो, जैसी कि उसके द्वारा आशा और प्रतीक्षा की गयी थी। उदाहरणार्थ– कोई व्यक्ति जिसने ज्ञान, चेतना और आध्यात्मिक अनुभूतिकी अमुक भूमिका को प्राप्त किया है, आया और कहा कि "मैं तुम्हारे लिये मुक्ति ला रहा हूं," अथवा यह कहा कि "मैं तुम्हारे लिये शांति ला रहा हूं"। अब जो लोग उसके इर्दगिर्द थे, उन्होंने शायद यह समझा कि वह उस वस्तु को स्थूल रूपमें ला रहा है, किंतु जब उन्होंने देखा कि उन्होंने जैसा सोचा था, वैसा कुछ भी नहीं हुआ, तब वे उस व्यक्ति की कृति को समझ न सके। उसने जो कुछ किया था, वह तो चेतना का एक परिवर्तन था, एक ऐसी शांति थी, जिसको लोग अभी तक नहीं जानते थे, अथवा वह मुक्ति लाभ करने की एक ऐसी क्षमता थी, जो लोगों में पहले नहीं थी। परन्तु ये सब जो कुछ क्रियाएं हुईं वे आंतर जीवन से सम्बन्ध रखती थीं और इनसे जगत् के बाह्य रूप में कोई दृश्य परिवर्तन नहीं हुआ। संभव है कि जगत् के बाह्य स्वरूप का परिवर्तन करने की उसकी इच्छा ही न रही हो, हो सकता है कि ऐसा करने के लिये उसके पास आवश्यक ज्ञान न हो, पर फिर भी इस प्रकार के पथ-प्रदर्शक जगत् में कुछ कर गये हैं।

पृथ्वी का बाह्य स्वरूप सब प्रकार से विपरीत दिखायी देने पर भी, यह अच्छी तरह से कहा जा सकता है कि पृथ्वी किसी विशिष्ट साक्षात्कार के लिये क्रमशः धीरे-धीरे तैयार हो रही है। मानव-सभ्यता में और प्रकृति में कुछ परिवर्तन हुआ है। यदि यह प्रत्यक्ष रूप से दिखायी नहीं देता है, तो इसका कारण यह है कि हम लोग इस विषय को केवल बाह्य दृष्टिकोण से ही देखते हैं और यह कि जड तत्त्व और उसकी कठिनाइयों का सामना अभी तक गंभीरतापूर्वक और सम्यक् रूप से नहीं किया गया है। फिर भी आंतरिक प्रगति हुई है, आंतरिक चेतना में दिव्य ज्योति के अवतरण हुए हैं। परन्तु जड तत्त्वमें कोई उपलब्धि हुई है या नहीं, इसके बारेमें कुछ भी कहना कठिन है, कारण वहां जो कुछ हो चुका होगा, उसको हम लोग ठीक-ठीक नहीं जानते हैं।

अतिप्राचीन कालमें महान् और सुंदर सभ्यताएं हो चुकी हैं, जिनकी भौतिक अवस्था संभवतः वर्तमान काल के जितनी ही उन्नत थी। एक विशिष्ट दृष्टिकोण से देखने पर यह ज्ञात हो सकता है कि अत्यंत आधुनिक सभ्यता अत्यंत प्राचीन सभ्यता की पुनरावृत्तिमात्र ही है, फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि कहीं पर कोई प्रगति हुई ही नहीं है। कम-से-कम यह तो हुआ ही है कि हमारी आंतरिक प्रगति हुई है और हमारे जड प्राकृतिक अंगोंमें उच्चतर चेतना के आवाहन का प्रत्युत्तर देनेकी तत्परता अधिक परिमाण में जागृत हो गयी है। बारंबार एकही क्रिया को इसलिये दोहराना पडा है कि, जिस बात का प्रयास किया गया था, वह कभी भी पर्याप्त रूपमें नहीं किया गया। परन्तु प्रत्येक बार वह पर्याप्त रूपमें किये

जाने के समीप पहुंच रहा है। किसी कसरत को जब हम बारबार करते हैं तब हमें यह मालूम होता है कि हम सदा एक ही चीजकी पुनरावृत्ति कर रहे हैं, किंतु यह होते हुए भी उसके एकत्रीभूत परिणाम को देखने पर यह मालूम होता है कि उस क्रिया के फलस्वरूप बहुत कुछ परिवर्तन हुआ है।

भूल यह होती है कि, इन बातों को हम मानवचेतना के सीमित परिमाणों द्वारा देखते हैं। और इस तरह देखी गयीं ये गहन और विशाल गतियाँ समझमें नहीं आतीं। मर्यादित मानव-बुद्धिद्वारा इनको समझने या इनकी व्याख्या करने का प्रयत्न करना खतरनाक है। यही कारण है कि दर्शनशास्त्र जगत् के रहस्य का उद्घाटन करने में सदा असफल रहा है। यह इसलिये कि उसने इस विश्व को मानव-मनके छोटेसे ढांचेके अंदर बैठा देने की चेष्टा की है।

="हममेंसे कितने ऐसे हैं, जिन्हें अपने पूर्व जन्मों की स्मृति है?"

सभी के अन्दर हमारी चेतना के एक भाग में, यह स्मृति रहती है। परन्तु यह एक खतरनाक विषय है, कारण मानव मन को अद्भुत-अद्भुत कहानियों का बडा शौक होता है। जैसे ही उसको पुनर्जन्म के सत्य के बारे में कुछ ज्ञात होता है, वैसे ही वह उस के चारों ओर एक सुंदर कहानी गढ डालना चाहता है। इस सृष्टि की रचना किस प्रकार हुई, भविष्य में इसकी क्या गति होगी, तुम पहले कैसे और कहां जन्मे थे और आगे क्या होओगे, कैसे-कैसे जीवन तुमने बिताये हैं और अब कैसे-कैसे जीवन बिताओगे, इन बातों के विषयमें अद्भुत-अद्भुत कहानियां कहनेवाले तुम्हें बहुत से लोग मिलेंगे। परन्तु इन सबसे आध्यात्मिक जीवन का कुछ संबंध नहीं। पूर्वजन्मों की सच्ची स्मृति पूर्ण ज्ञान का एक अंग अवश्य हो सकती है, किन्तु इस ज्ञान की प्राप्ति इस प्रकार की सुंदर-सुंदर कल्पना-तरंगों से संभव नहीं। यह ज्ञान यदि एक ओरसे विषयाश्रित है तो दूसरी ओरसे यह बहुत कुछ व्यक्तिगत और विषयीभूत अनुभूतिपर निर्भर करता है और यहीं पर बनावट और विकार पैदा करने तथा असत्य रचनाओं को गढ डालने की संभावना रहती है। इन बातों के सत्यतक पहुंचने के लिये यह आवश्यक है कि अनुभव ग्रहण करनेवाली तुम्हारी जो चेतना है, वह शुद्ध और निर्मल हो, किसी भी मनोमय या प्राणमय हस्तक्षेपों से स्वतंत्र हो और तुम्हारी व्यक्तिगत धारणाओं और भावुकताओं से तथा अपने ही तरीके से समझाने या व्याख्या करने की मन की जो आदत है, उस से मुक्त हो। पूर्वजन्मों का जो अनुभव होता है, वह सत्य हो सकता है, किंतु तुमने जो कुछ देखा और तुम्हारे मनने उसकी जो कुछ व्याख्या की अथवा उसका रूप गढा, इन दोनों के बीचमें एक बडी भारी खाई होती ही है। जब तुम मानव-भावनाओं से ऊपर उठ सकोगे और अपने मनसे अलग हो सकोगे, तभी यह हो सकता है कि तुम इस सत्यतक पहुंच सको।

पारसियों की धर्मपुस्तक तथा वेद।

(लेखक- श्री० हलियारामजी कश्यप, एम्० एस् सी०)

(लेखांक ४ ×)

(१२)

विषय सं० ४ में "रायो अशीष" का व्याख्यान करते हुए दर्शाया गया था कि, यहां पारसी पैगम्बर का इशारा हमारे विश्वप्रसिद्ध "अग्ने नय सुपथा राये" मंत्र की ओर प्रतीत होता है। जिसे यहां सुपथ कहा गया है, उत्तम मार्ग माना गया है, वही सत्य तथा सरल होना आवश्यक है। इसी कारण वेद में कभी इसे सत्य पन्थ, कभी ऋजु पन्थ कहा गया है। ऋत का मार्ग शान्ति का मार्ग भी यही है, अतः एक ही है। अवेस्ता में भी इसे एकही मार्ग अशा मार्ग, ऋजु पन्त आदि नाम दिये गये हैं और वहां यह साफ कहा गया है कि "मार्ग तो केवल एक है, जो अषा का है। बाकी तो सब अमार्ग ही हैं।" अर्थात् यदि आप ऐहिक सुख तथा पारमार्थिक मोक्षसुख चाहते हैं, तो उन तक पहुंचानेवाला तो केवल एक अषामार्ग है, बाकी सब तो बंद गलियां हैं, जो अन्त तक साथ देही नहीं सकेंगी। अतः आओ पाठकवृन्द ! इस ऋजु पन्थ का कुछ आनन्द वेद तथा अवेस्ता की सहायता से हम उठावें। अस्तु।

पवित्र उश्तवईती गाथा के प्रथम दो वाक्य ऊपर व्याख्यात हो चुके हैं। पहिला "रायो अशीष्" प्रसंग में दूसरा "आथ्र=अग्नि" प्रसंग में। अब तीसरा वाक्य यहां पर व्याख्यान किया जाता है, देखिये—

अत् ह्वो वंहेऊस् वह्योना अईबी जम्यात्।
ये नाओ एरेजूस् सवंहो पथो शिषोईत्।
अह्या अंहेऊस् अस्त्वतो मनंहस् चा।
हईथ्यैंग् आस्तीस् येम् आ शएती अहुरो।
अरेद्रो थ्वावांस् हुजेन्तुसे स्पेन्तो मज्दा॥

(उश्तवइती, यस्न ४३।३)

चैटर्जी महोदय के अंग्रेजी उलथे का भाषान्तर इस विध किया जा सकता है—

वह पुरुष अच्छे से अधिक अच्छा (तत्त्व द्रव्य आदि) प्राप्त करे (बहिश्त पाए) जो हमें सवस=सूफी धर्म का सीधा मार्ग सिखलाता है-स्थूल तथा सूक्ष्म स्व (भाव) आत्म का मार्ग। यह एक सत्याचार है, जिसमें अहुर सोता है (रहता है) और जिस के द्वारा भक्त पवित्र सत्पुरुष आप में हे मज्द ! एक हो जाता है (आप का ही रूप हो जाता है।) आप में ही जजब= परिणत हो जाता है)।

डा० मिल्ज प्रोफैसर के आंग्लभाषानुवाद का हिन्दी रूपान्तर इस विध होगा—

हां वह अच्छे से अधिक अच्छा वह प्राप्त करे अधिक निश्चय से।

जिसने हमारे निमित्त सीधा मार्ग ज्ञान का ढूंड निकाला।

इस जीवन का लाभ शरीरसम्बन्धी, उस मानस को

अनन्त धामों में जहां रहता है अहुर

तुझ सदृश, सज्जन और पवित्र अद्वितीय, हे मज्द प्रभो!

हमारे निजी आंग्ल भाषा काव्यानुवाद का हिन्दी उलथा इस विध देखिये—

वह जो हमें सिखलाता है मार्ग। सर्वथा सीधा हमारे प्रभु की स्तुतियों का॥

तथा मानसिक अरु शारीरिक जीवन। वह नित्य अमर जीवन प्राप्त करे॥

वसुओं में से वसिष्ठ उसे ही प्राप्त हो (सर्वोच्च सर्वोत्तम अमृतत्व)॥

जहां वह सो रहे को ढूंढ पावे, अहुर मज्द परम पवित्र प्रभु को जो तुम जैसी आत्माओं (पवित्र पुरुषों) के लिये दयालु कृपालु रक्षक॥

इस प्रकार गाथा हमें सिखलाती है गुरुभक्ति। वह कहती है कि उस आचार्य को वसिष्ठ अमृतत्व मोक्षधाम प्राप्त होवें, जहां भगवान् का निवास है, जहां पवित्र भक्तों पर कृपालु भगवान् सदा स्नेहामृत बरसाता रहता है, जो ही सत्यधाम है। आचार्य उस गुरु को कहिये, जो हमें

× लेखांक ३ के लिये वैदिक धर्म, क्रमांक २४८, पृष्ठांक ४१५ देखिये।

शारीरिक, इस देहसम्बन्धी, तथा मानसिक, आत्मिक, उस अमर-जीवन-सम्बन्धी, सत्य कोमल भक्ति धर्म का उच्चतम मार्ग सिखलाता है।

आओ, अब वेद में कहे कोमल मार्ग का भी हम किञ्चित् आनन्द तो लूटें ही। वेद कहता है—

ओ३म्। अनृक्षरा ऋजवः सन्तु पन्था
येभिः सखायो यन्ति नो वरेयम्।
समर्यमा संभगो नो निनीयात्
सं जास्पत्यं सुयममस्तु देवाः॥ (ऋक्० १०-८५-२३)

पं० श्री० दा० सातवलेकरजी ने अपने वेदामृत में इस का अर्थ इस विध खोला है- "कंटकरहित और सीधे सरल मार्ग हों जिन से हमारे मित्र चलते हैं। न्यायकारी धनवान् सब को उत्तम प्रकारसे चलावे और हे देवो! जाया और पति अर्थात् स्त्रीपुरुष उत्तम नियमोंसे चलनेवाला होवे।"

सब मार्ग निष्कंटक हों और सीधे हों। सीधे मार्ग से ही सब चलते रहें। सदाचारी भाग्यशाली सत्पुरुष अन्यों के मार्गदर्शक हों और हरएक कुटुंब उत्तम नियमों से चलनेवाला हो।

यजुर्वेद ३७-१० कहता है—

ऋजवे त्वा साधवे त्वा सुक्षित्यै त्वा। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे॥

अगला मंत्र अर्थात् यजु० ३७-११ इस विध है—

यमाय त्वा मखाय त्वा सूर्यस्य त्वा तपसे। देवस्त्वा सविता मध्वानक्तु पृथिव्याः सं स्पृशस्पाहि। अर्चिरसि शोचिरसि तपोऽसि॥

अर्थात् 'कोमल साधु मार्ग के लिये तुझे। शोभन निवास-स्थान में वास के लिये तुझे। यज्ञमार्ग के लिये तुझे। यज्ञशिरोमणि बनने के लिये तुझे। संयममय, तपस्यामय, प्रकाशमय, शक्तिमय, यज्ञमार्ग के लिये तुझे। सविता देव भगवान्, प्रभु प्रचेता अहुर मज्द तुझे मधुर स्वभाव से स्निग्ध करे। इस भूमण्डल के वासियों से भी अपना आप परे न हटा, वरञ्च यत्नपूर्वक उन के साथ अपने शुभ सम्बन्ध की रक्षा कर तथा उसे अटूट रख। तू प्रकाश-ज्वाला है। तू तेजरश्मि है, तू प्रकाशसमर्थ है। तू जीवन-शक्ति, जीवनज्योति, जीवनज्वाला है।'

स्वर्यन्तो नापेक्षन्त आ द्यां रोहन्ति रोदसी।
यज्ञं ये विश्वतोधारं सुविद्वांसो वितेनिरे॥
(अथर्व० ४-१४-४)

श्री० सातवलेकरजी का अर्थ—

जो उत्तम विद्वान् सब प्रकार से धारणपोषण करनेवाले सत्कर्मों को विशेष प्रकार से फैलाते हैं, वे दोनों लोकों से ऊपर होते हुए प्रकाशमय धाम पर चढते हैं और अपने तेज को फैलाते हुए किसी अन्य की सहायता की अपेक्षा नहीं करते।

विद्वानों को उचित है कि वे स्वावलंबन का आश्रय करें और सदा अपनी उन्नति के लिये दूसरों पर निर्भर न रहें। जो मनुष्य स्वावलम्बन के मार्ग से प्रगति करते हैं, वे ही उत्तम यशस्वी होते हैं।

मं० ब्रा० १-१-८; गोभि० २-१३ में कष्टरहित कल्याणकारी मार्ग गृहस्थ का ही वर्णन किया गया है, इसीलिये पारसी पैगम्बर भी गृहस्थ-धर्म ही श्रेयस्कर मानता है—

ओ३म्॥ प्र मे पतियानः पन्थाः कल्पताꣳ शिवा अरिष्टा पतिलोकं गमेयम्॥

भगवान् जो हम सब के पति हैं, उन के द्रष्टव्य रूपतक मैं पहुंच पाऊं, मार्ग में न मैं दुःख पाऊं, न मेरा अकल्याण हो। विश्वपति की प्राप्ति का मेरा मार्ग तथा मेरा मन तथा हृदयरूपी वाहन सरल तथा समर्थ होवें। मैं जगत्पति की ओर निर्विघ्न प्रस्थान करती ही जाऊं।

परन्तु सर्वानन्दमय मंत्र तो वह है, चाहे केवल उपनिषद् का ही हो, जहां सत्य मार्ग इस प्रकार विवरण पाता है-

ओ३म्। सत्यमेव जयते नानृतं। सत्येन विततो पन्थाः देवयानः। तेनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामाः। यत्र तत् सत्यस्य परमं निधानम्॥

यह है जरथुश्त्र के अषा मार्ग का मूल। यह मंत्र कहता है—सत्य ही जीतता है, नहीं कदापि अनृत झूठ; अन्त में जय ऋत शम की ही होगी। देवमार्ग, विद्या, भक्तिमार्ग का पन्थ तो सत्य के द्वारा चौडा होता जाता है। जिन दिव्य दृष्टि विज्ञ भक्तों की विषयवासनाएं दब चुकी हैं, वही उस मार्ग से चलते हैं, तब वे पहुंचते भी वहीं हैं, जहां सत्य, ऋत शम का परम आधार वह भगवान् स्वयं आनन्दमय में विराजता है।

ठीक यही अन्तिम भाव जरथुश्त्र के शब्द—

हुईथ्यँग् आस्तीस येम् आ शएतीअहुरो ।

का है । सत्य निवासस्थान जहां अहुर स्वयम् आनन्द से सोता है ।

इस प्रकार ऋजु सत्य शम् ऋत मार्ग ही आवेस्तिक् एरेजुस् पथो अषहे है, यही भक्तिधर्म सर्वहो पथ है, जिसे Chatterjee Suffism के साथ identify करते है।

इन सत्य मार्ग, मंत्रदान, आचार्य के लिये अमृतत्व, तथा भगवन्नामों के सम्बन्ध में एक छोटासा काव्य लिख देना अनुचित न होगा । वह इस विध है--

अमर बनें आचार्य मम, मन्त्र किया जिन दान ।
सच्चा सीधा पथऋजुस्, दिखलाया अष प्राण १
ऋत शम् सत्य सुमार्ग ही, प्राप्त अहुर करवाय ।
धाम उत्तम उस मज्द का, भर्गस् दिव्य कहाय २
प्रभु सविता भगवान् ही, असुर प्रचेता जान ।
वरुण रुद्र शिव ब्रह्म है, दिव्य देव सुमहान् ३
है ऋग्वेदिक् अग्न वह, याजुष वही ओ३म्कार ।
सामवेदगत सूर्य शुभ, मह अथर्व सुखसार ४
ब्राह्मण कहते ब्रह्म सत्, गाथ कहें हुरमज्द ।
सांख्य कहे उसे पुरुष ही, वेदान्त कहे सर्व ५
भजो उसे योगेश को, ध्या भक्तिः सह प्रेम ।
इक रस पा आनन्द शुभ, सत्य बढाओ नेम ६

(१३)

ऊपर कहा गया है कि ईरान का पैगम्बर गृहस्थधर्म को ही तथा क्षत्रियवर्ण को ही उत्तम आश्रम तथा वर्ण मानता था, अतः उसने अपनी विदुषी लडकी का विवाह भी राजा के ही बेटे से किया था । उस विवाहोत्सव पर कहते हैं, जरथुश्त्र अतीव प्रसन्न था, ऐसे जैसे कि किसी की उच्चतमा आकांक्षा उस समय सफलीभूत हो रही हो । अतः अन्तिम अर्थात् पांचवीं पवित्र गाथा उसने इस समय चाहे रची चाहे गायी थी ।

सुपुत्री पोउरुच्छिष्टा (पुरुशिष्टा) का दान करते हुए पैगम्बर कहता है–

साखेनी वज्यमनाव्यो कइनिब्यो म्रओमी

मैं विवाही जी रही कन्याओं के निमित्त शिक्षाएं उच्चारण करता हूं ।

क्षमइब्या चा वैदेम्नो मान् चा ई मांजदजदूम ।

तुम दोनों (कन्या तथा वर) के लिये भी, वेद में मन रखता हुआ, मुझ को ध्यान दो, अर्थात मेरे वचनों पर बहुत ही ध्यान देना ।

वएद्योदूम् दएनाबीस् अब्यस्ता
अहूम् य वंहेउस् मनंहो ।

वेदोक्त भाव, भगवद् दात में अभ्यस्त (मैं तुम्हें कहता हूं), ब्राह्म जीवन (उत्तम मन सम्बन्धी जीवन, वेद में-दर्शाया हुआ तुम वेदानुकूल करने के अभ्यासवाले सदा बिताना) ।

अषा वे अन्यो अइनीम् विवंहतु तत् जी होई
हुषेनेम् अंहत् ।

ऋत शम संयुक्त एक दूसरेसे विवाह करो, तभी परस्पर उत्तम सहवास तुम्हारा होगा ।

यह जरथुश्त्र की वहिश्तोइश्ति गाथा का पांचवा मंत्र अथवा वाक्य है । इस का सरल अर्थ जो गाथा के वेद-भाषा से निकले शब्दों का वैदिक भाषा के नियमों के अनुकूल होना चाहिये, वह ऊपर दे दिया गया है । पुराने प्रायः सभी स्कालर इसमें पुरुशिष्टा का विवाहगीत ही देखते आये हैं, परन्तु अब जब कि वेदान्त, सूफीयत की दृष्टि से गाथा को देखा जाने लगा है, तो अन्य पवित्र गजलों आदि की न्यायीं यहां भी आत्मा का विवाह परमात्मा के साथ दिखाई दे गया है । देखिये चैटर्जी महोदय के अंग्रेजी उल्थे का भाषान्तर कैसा सुन्दर है—

मैं ये शब्द बडे छोटे सभी जिज्ञासुओं के निमित्त उच्चारण करता हूं । इस मेरे कथन पर ध्यान दो । क्योंकि तुम श्रद्धा में सुदृढ हो, सीखो जो आत्मतत्त्व है । रुचाई तुम सब की रक्षा करे । [परस्पर भेद (द्वेष) से] एक दूसरे से प्रत्येक की । केवल इसी साधन से कोई भी व्यक्ति शांति प्राप्त कर सकता है ।

इस मन्त्रमें तो शांतिसाधन चैटर्जी देखता है, इससे ठीक पहिले Manthra में Suffism उस को इस प्रकार दिखा है । देखिये उन के किये अंग्रेजी अनुवाद का भाषान्तर इसके पिछले मन्त्र का—

मैं उसकी कामना करती हूं और उससे चिमटती हूं, जो (प्रभु) भक्त के लिये पिता, पति, नौकर, सादा साथी,

तथा ऋषि वा भक्त है। मेरी आत्मा को उन्नत कर के वह मेरे वास्तविक स्व का प्रकाश मेरे लिये करे। अहुर मज्द, सम्पूर्ण भविष्यकाल में, हमारी पवित्र श्रद्धा विश्वास, अपने में स्थिर रक्खें।

इस प्रकार इस गाथा में पुरुशिष्टा का तथा आत्माका विवाह दोनों ही भरे हुए हैं। गृहस्थी गृहस्थसंबन्धी उपदेश यहां से प्राप्त करे, साधु भगवत्प्राप्तिसम्बन्धी।

जिस मन्त्र पर यह व्याख्यान हम लिख रहे हैं, उस का जो अंग्रेजी अनुवाद डाक्टर मिल्ज ने किया है, उस का भाषान्तर निम्न लिखित है—

विवाह-शिक्षाएं, मै कुमारियों के प्रति उच्चारण करता हूं।

तुम को, मैं जो उन से अभिज्ञ हूं, तब ध्यान दो, तुम मेरे कथनों पर।

इन नियमों के द्वारा जो मैं वर्णन करता हूं, यत्न करो तथा प्राप्त करो तुम।

जीवन उत्तम मनःसम्बन्धि।

तुम में से प्रत्येक दूसरे की कामना करो पवित्रता के ही द्वारा।

इस प्रकार आप का गृह आशीर्वान् होगा॥

जब हमें गाथा आदि पारसी धर्म का स्रोत वेद में देखने की आज्ञा पू० स्व० महात्मा हंसराज द्वारा की गयी, तथा हमने कार्य आरम्भ किया, तो हमें विचार आया कि बिना गाथा का यथार्थ ज्ञान प्राप्त किये, तो यह कार्य करना निरा ढोंग ही बन जावेगा। साथ ही कालिज के समय में ऐसा करना हमारी आत्माने धर्म के विरुद्ध माना।

अतः इस Research धर्म की पालनानिमित्त हमने रातों जाग कर गाथा का ज्ञान प्राप्त किया। भगवान् की कृपा से दो मास में ही हमें वह वास्तव तत्व गाथा का अनुभव हो गया, जो पुराने स्कालर समग्र आयुष्य व्यय कर के भी दुष्प्राप्य बतला चुके थे। हमने इस विध किया-

मिल्ज की गाथा सामने रक्खी, यह काफी प्राचीन मत दरशा रही थी, साथ ही प्रायः नवीनतम चैटर्जी की गाथा रक्खी, फिर मूल गुजराती पुस्तक भी साथ ही ली जो पारसी भाई अपने दैनिक प्रार्थनाओं आदि में प्रयुक्त करते हैं। हमारा अपना वैदिक ज्ञान हमारे साथ था ही। आवश्यकता केवल एक रही, वह यह कि कहां वेद को ही लूं, कहां गाथा को प्रमाण मानूं, कहां Mills को पथप्रदर्शक जानूं, कहां Chatterjee की सहायता लूं, यह क्यौरा कौन करे।

जो भक्त हैं Medium पने को समझते हैं, उनके प्रति कहता हूं, अन्य अविश्वासियों के प्रति नहीं, कि जब मैं कागिज पैंसल लेकर बैठता था, तो या काव्यप्रवाह चलता था, या खोजने पर भी कुछ न बनता था। मुझे विचार आया कि पैगम्बर जरथुश्त्र स्वयं आते होंगे, तब चलता होगा, अन्यथा न चलता होगा। फिर कुछ देर चल कर बंद हो जाता था। फिर कितना खोजो न चलता था, मैं ने सोचा जरथुश्त्र जब चले जाते हैं, तो प्रवाह बंद हो जाता है! यह ज्ञान होने पर फिर मैं उनके आगमन की प्रतीक्षा करने लगा। कभी वे रात के दो बजे आते, कभी तडके पांच बजे, कभी पहिली रात १० बजे ही। परन्तु मैंने यह नियम बना लिया कि जब वह आये, चाहे समय कोई हो, तुरन्त उनका सन्देश लिखने लग जाता।

परिणाम यह हुआ कि उन की कृपा से समग्र गाथाज्ञान केवल दो मास में मुझे हो गया और गाथार्थ स्वयमेव (English poetry) आंग्ल भाषा काव्य के रूप में लिख हो गया। वही गाथा जो स्कालर समग्र आयुष्य बिताकर भी अज्ञेय कहते रहे, मुझे पैगम्बर ने स्वयं केवल दो मास में पढा दीं। है भी ठीक जिस आचार्य का जो ज्ञान है, यदि वह स्वयं देने लगे, तो उस को क्या देर लगती है?

आगे भी मेरा विश्वास यही है कि, जो मैं निरुक्त-सम्बन्धि कार्य कर चुका हूं, जो वेद तथा निरुक्त दोनों के सम्बन्ध में अभूतपूर्व है, वहां भी मेरा विचार ऐसा ही है कि महर्षि यास्क अथवा आचार्य दुर्ग आदि कोई निरुक्तकार आत्मा ही अपना कार्य मुझे Medium (माध्यम) बना कर कर गयी है।

मेरा विश्वास अपना ऐसा है, पाठक इसे सच मानें या असत्य, ये उनकी अपनी इच्छा। हां ऐसा भाव मनुष्य को अभिमान नहीं आने देता, यह लाभ उक्त विचारपरम्परा का अवश्य है।

अस्तु। हमारे आंग्ल काव्यानुवाद का उलथा उपरोक्त मंत्र का इस विध है--

उन कन्याओं के निमित्त जो विवाह चाह रही हैं, मैं।

उपदेश देता हूं, शनैः शनैः। तुम उन पर ध्यान दो, जानता हुआ मैं जो बोलता हूं।

तुम्हारे प्रति उत्तम ज्ञान प्रदान करता हूं। उत्तम मन सम्बन्धि जीवन प्राप्त करो।

श्रद्धा विश्वाससम्बन्धि नियमों के द्वारा बरकतें (आशीषें) प्राप्त करो।

शान्ति से परस्पर सकाम होवो। पहुंचने के लिये सुखमय सिद्धि प्रदाता शय्याओं पर॥

अर्थात् पैगम्बर का उपदेश यही है कि गृहस्थी बनने-वाले वरवधू शम, ऋत, श्रद्धा, वसुमन, आदि वेदोक्त से सदा के लिये सुसज्जित हो जावें, जिससे कि उन को रति तथा सुपुत्र दोनों प्रकार का गृहस्थसुख सम्यक्तया प्राप्त होवे तथा भगवत्प्राप्ति, राज्यप्राप्ति आदि सुलभ हो।

अब इस उपदेश में जिस वैदिक उपदेश की ओर संकेत है, उस पर भी थोड़ा ध्यान देना आवश्यक है। देखिये ऊपर कहा है, "अषा वे अन्यो अहूनीम् वीवहंतु" अर्थात् तुम दोनों जो परस्पर विवाह करने लगे हो, उसकी संस्कार शम तथा ऋतसे प्रारम्भ होती है, जो कर्म तुम कर रहे हो, इसका नाम विवाह है। पाठक भली प्रकार समझते हैं कि यहां संकेत वैदिक विवाहसंस्कार की ओर ही है, क्योंकि वही विवाहपद्धति शान्तिपाठ, सान्त के, "शं न इन्द्राग्नी" मन्त्र के शम् से आरम्भ होती है, तथा विशेष विवाह-प्रकरण "ऋतमग्रे" मंत्र के ऋत शब्द से आरम्भ होता है, क्योंकि सर्वप्रथम इस मंत्र से वर वधू की तथा वधू वर की परीक्षा करते हैं। अब इस पुण्य कर्म का जो शम, तथा ऋत से आरम्भ होता है, उसका नाम विवाह भी स्वयं इस संस्कार की प्रक्रिया के भीतर ही विद्यमान है। देखिये मुख्य मन्त्रोंमें भी 'विवहावहै' शब्द प्रत्येक परिक्रमा (फेरे) में पड़ा है। अहं, त्वं, तौ (मैं,,तू, वह दोनों हम) यह भी बार बार पढ़े गये हैं, जिन से सुस्पष्ट हो जाता है कि पारसी पैगम्बर ने "अषा वे अन्यो अहूनीम् वीवहंतु" ठीक ही अपने शब्दों में इस वेदोक्त विवाह का पूरा पूरा भाव भर दिया है कि एक दूसरे विवाह करो; परन्तु विवाह तुम्हारा करावें शम् तथा ऋत।

बारह राष्ट्रभृत आज्याहुति जो विवाहहोम में मुख्य हैं, वह भी ऋताषाड के ऋत से ही प्रारम्भ होती हैं। इस कारण ईरान का जरथुश्त्र वास्तव में कोई आर्यऋषिकल्प ही प्रतीत होता है, जिसने ईरान में वैदिक धर्म का झण्डा प्राचीन काल में गाड़ा था। वही इसविध एक महत्तम वैदिक मुख्य संस्कार का सार 'अषा वे अन्यो अहूनीम वीहंतू' शब्दों में निचोड़ सकता था कि "शम् से आरम्भ कर, ऋत से आरम्भ कर, ऋत को प्रधान रख, ज्ञानवृद्ध्यर्थ शांति, पवित्रता-प्राप्तिनिमित्त ही जहां कुमारकुमारी का परिणयसम्बन्ध आयुपर्यंत के लिये स्थिर हो जाता है, उन्हीं वैदिक धर्मियों के विवाहसंस्कार के अनुकूल ही तुम अपना विवाहोत्सव रचाया करो, तभी तुम्हारा गृहस्थ सफल होगा, उत्तम सहवास=संशयन=रतिसुख तथा पुत्रप्राप्ति तुम्हें होगी।

हमें अत्यन्त खेद है कि, हमारे पारसी भाई इस गाथा का सत्य अर्थ कभी के भूल बैठे हैं, परिणामस्वरूप आबादी उन की बहुत कम हो गयी थी।

हिन्दु भाई भी गृहस्थ-धर्म कभी का भूल चुके हैं, वेदाज्ञा उन के पास होते हुए भी उन की जनसंख्या दिनों दिन कम होती जा रही है, कारण इस का कहने को तो ब्रह्मचर्याभाव है, पर वास्तव में है धर्म से द्रोह। धर्म कहता है अन्दर बाहर एक रहो, गर्भवती से भोग न करो, बालक को दूध पिलाती स्त्रपत्नी से परहेज करो।

हमने धर्म के ये अंग छोड़ दिये, हम यह सब कुकर्म करते हैं, अतः बालक मरते हैं।

उधर हम एक--स्त्रीव्रती है। हिन्दूसमाज Monogamous है।

हम समझते हैं दुनियां हमें धर्मात्मा समझती है, परमात्मा हमारे धोखे में आ रही है, यह वही बात है जेसे कबूतर बिल्ली को देख आंखें मूंद अपने को सुरक्षित समझता है, जो नितान्त उस की अज्ञानता है।

देखो पाठक! या तो ऐसे शान्त हो कि एक स्त्री से सन्तुष्ट रह सको। बिना उस को गर्भवती, वत्सवती, रजस्वला आदि अवस्थाओं में तंग किये। अन्यथा यदि काम तुम में भी अवैदिक जातियों की भान्ति पाशविक भाव में प्रबल है, तो एकपत्नीव्रत का ढोंग रचकर इसे कलंकित न करो। धर्म तथा परमात्मा को धोखा देने के यत्न में अपना सर्वनाश न करते जाओ।

(१४)

ऊपर ऋजु पथ का वर्णन करते हुए कहा गया था कि यही सवस् (भक्ति) का मार्ग अषा (ऋत+शम्) का मार्ग है, यही मार्ग ब्रह्मका मार्ग है, अब यह दर्शाया जाता है। इस से यह भी पाठकों की समझ में आ जायगा कि क्यों पारसी वोहूमन को प्रथम Archangel (मुख्य यजत) मानते हैं। अहुर मज्द भगवान् स्वयं है, उस के ६ लफ-टन्टों में से प्रथम वोहूमन है।

इस को समझने के लिये पाठक इस विध विचारें। अथर्ववेद महद् ब्रह्म का पुजारी है। दर्शनकारों ने ब्रह्म को भगवान् मान लिया। सांख्य ने महद् को प्रकृति का प्रथम कार्य मान लिया। इस के ठीक विरुद्ध गाथाने महद् को भगवान् मान लिया और वोहूमन को (नैरयो संघ के अनुसार गूह्मन को) भगवद् सहायकों में से प्रथम। जैसे समग्र सृष्टि महत्तत्व की रची सांख्य मानता है, पारसी धर्म उसी प्रकार वोहूमन को आदि विकार सृष्टिसंबन्धि मानता है, जहां से आगे सब सृष्टि बनती है।

इस कारण वोहूमन वास्तव में तो हमारे ब्रह्मण शब्द का अपभ्रंश है, चाहे ऊपर से वह Philologically वसु-मन से बना ही प्रतीत हो। इस से और आगे भी जाना चाहिये कि वास्तवमें हम जिसके लिये महद् शब्दका प्रयोग करते हैं, पारसी उसके लिये ब्रह्मका अपभ्रंश वोहूमन बर्तते है; तथा जिस के लिये हम ब्रह्मण शब्द का प्रयोग करते हैं, पारसी उस के लिये महद् का अपभ्रंश मज्द वर्तते हैं।

यह उलझी हुई पारसी=वैदिक गुत्थी भी महद्ब्रह्म की ऐसी अगम्य माया है, जिसे कोई विरला ही बूझ सकता है। ठीक वही भक्त जो यह जानता हो कि क्योंकि अथर्वा के साथ संवाद करते हुए वरुणने अथर्ववेद में उसे जरित कहा, और इस भूमि को स्तोत्र नाम दिया, इसी कारण पारसी पैगम्बर ने अपने को अथर्वा का अवतार सिद्ध करनेके लिये अपना नाम आथ्रव रखते हुए अपने आप को जरथ + उश्त्र कहलवाया। क्योंकि ज का ज, त का थ तो संस्कृतसे जन्द बनने में सरल है ही; परन्तु जिह्वा का हिज्वा बनने की न्यायी स्तोत्र का उस्त्र भी बनना सर्वथा सुगम है और फिर स्व का श होना भी कठिन नहीं।

इस प्रकार पैगम्बर स्वयं जरितस्तोत्र से जरथुश्त्र, अथर्वा से आथ्रव बना तथा मह असुर वरुण जिस के साथ अथर्वा का संवाद वेद में है, उस भगवान् के सविता-रूपवाले असुरमहद् नाम से अपने परमेश्वर को अहुरमज्द कहना आरम्भ किया।

बस, वही पुराना वेद-धर्म पुराना फटा चोला उतार नया गाथामय चोला पहिन पुनर्जीवित हो उठा।

अस्तु। हमारा इस ब्राह्म पथ पर यहां थोडा और विचार करने को जी चाहता था।

भक्त अर्जुन भगवान् कृष्ण से पूछता है कि--

अयतिः श्रद्धयोपेतः योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति॥
कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि॥

(श्रीमद् भगवद्गीता अध्याय ६, श्लोक ३८)

असंयमी परन्तु श्रद्धालु, चञ्चल जिसका मन योग से डोल गया हो, यदि वह योग में पूर्ण सिद्ध नहीं होता, तब हे कृष्ण ! उस की क्या गति होती है ? क्या भोग तथा योग दोनों सुखोंसे ही हीन होकर वह ऐसे नष्ट तो नहीं हो जाता? जैसे कोई बदली बडे बादल से कट कर फिर टुकडे टुकडे होकर सर्वथा ही लुप्त हो जाती है और उसका बादलपना सर्वथा अदृश्य हो जाता है। हे भगवन् ! ब्रह्म के मार्ग से इस प्रकार पथभ्रष्ट, मार्गच्युत हुआ वह श्रद्धालु अयोगी हे दीर्घभुज भगवान् कृष्ण ! कहीं वह सर्वथा मान प्रतिष्ठा खो, मोह-अज्ञान-तममें सर्वथा फंस, अपनी ईश्वर तथा मनुजत्व तथा वेद आदि में स्थिति सर्वथा ही तो नहीं खो बैठता ?

यहां पाठक देखेंगे कि ब्रह्म का मार्ग ही सर्वथा सत्य सीधा रास्ता दिखायी पडता है, तभी तो अर्जुन चिन्तित हुआ कि कहीं ब्राह्म पथ से ही भ्रष्ट न हो बैठे।

पाठक यह भी जानते हैं कि वेद को ब्रह्म तथा ऋत दोनों ही कहा जाता है और वेदमार्ग ही प्रभु--मार्ग है। यही शम्-मार्ग है। यही भक्तिपंथ है। देखिये अवेस्ता इसका कैसा सुन्दर वर्णन करती है। आगे इसे "एरेजुस् पथो सबंघो" कह कर हमने इस का व्याख्यान किया है। अब इसे "अषा पथ" "वोहूमनंह पथ" आदि कह कर इसका व्याख्यान हम यहां करते हैं। जिस प्रसंग का हम

यहां गाथा से उद्धरण करते हैं, वहां इस मार्ग का नाम 'अषा पथो' तथा "वंहेउश् मनंहो अद्वानेम्" दिया गया है, वह हैं मांथ्र १२ तथा १३ अहुनवइती गाथा यस्न हा ३४ के। गाथापाठ इस विध है–

१२. कत् तोई राजरे कत् वा स्तूतो कत् वा यस्नह्या। श्रूइद्याइं मज़्दा फ्रा वओचा या वीदायात् अशिष् राष्नांम्। शिसा नाओ अषा पथो वंहेउस् ख्वए- तेंग् मनंहो ॥

१३. तेम् अद्वानेम् अहुरा येम् मोई म्रओस् वंहेउस् मनंहो। दएनाव सओष्यन्ताम् या हूकेरेत् अषा- चीत् उवक्षित्। ह्यत् चिविश्ता हुदाव्यो मीज्देम् मज़्दा येह्यातूं दाथ्रेम् ॥

इन मांथ्राओं का चैटर्जी महोदय ने जो अंग्रेजी तरजुमा किया है, उसका भाषान्तर इस विध है–

हे मज़्द! आप के नियम कौन से है, तथा आप की इच्छा किस विध है? कौन सी प्रार्थना तथा कौन से यज्ञ-याग आप के लिये उचित हैं? बताइये हमें मज़्दा! हमें सुनने दे, जिस से कि मनुष्य उन नियमों से लाभ उठा सके (उन का फल पा सके)। हमें ऋत का मार्ग सिखला, जो आत्मा का निवास है ॥१२॥

हे अहुर! उस मार्ग के विषय में, जो आपने आत्मा का मार्ग बतलाया था, जो महात्माओं का मार्ग है, जिस पर एक बार चलने से भी सच्चाई बल पकडती है, और जो मार्ग पर जानेवालों को वह फल दिलवाता है, जो केवल आप के यहां ही प्राप्त होता है ॥१३॥

डॉ० मिल्ज के अंग्रेजी उलथे का भाषान्तर इस विध किया जा सकता है–

"आपका यस्न क्या है? आप चाहते क्या हैं? कहिये मज़्द! कि हम इसे सुन सकें। आप के धर्म की आशीषें किस विध प्राप्त हो सकती हैं। कृपया अपने नियम के द्वारा हमें मार्ग दिखलाइये। ठीक वही जिन पर आप का सेवक चला करता है।

वह मार्ग जो आप हमें बतलाना चाहते हैं और जो उत्तम मन के मार्गस्वरूप प्रकट करने के इच्छुक हैं, वही पैगम्बर की प्रतिज्ञाएं हैं। और इसी की द्वारा जनकल्याण-कर्ता अपनी न्यायपरायणताद्वारा उन्नत होता है, क्योंकि यह नियत करता है उपहार (पारितोषक, लाभ) सज्जनों के लिये। वही (लाभ) जिस के प्रदाता भगवान् स्वयमेव हो।"

हमारे निजी अंग्रेजी काव्य का भाषान्तर इस विध होगा–

"आपके स्थिर नियमों का क्या प्रबन्ध है? हे आशीर्मय! आप चाहते क्या हैं?

मज़्द, स्तुतियां, आहुतियां किस विध? यज़्द! प्रार्थना, धर्म किस विध?

अवश्य बोलिये कि हम सभी सुन पायें। ध्यान देवें तथा निज को तदाकार सुधार लेवें।

ताकि वह सभी आशिषें प्राप्त कर सकें। जो नियमाभिज्ञों को मिला करती हैं।

सच्ची शांति का मार्ग हमें स्वयं शिक्षा कर। ब्रह्मधाम हम पहुंच पायें।

ठीक जैसे वह वोहूमन आप के भक्त ऋषिराजों में जीवित रहता है।

वह मार्ग जिस पर वह चलता है तथा जिस कारण वह सदा (अमर जीवन से) जीवित है॥"

"वोहूमनका वही मार्ग, हे मज़्द! जिसकी बाबत आपने मुझे कहा था, हे ब्रह्मन्! सत्याचारी, ऋत शम के द्वारा, जिस पर चलता है, उन्नत होता है, वास्तव में धनवान् होता है। वही सोमयाजी भक्त ऋषिराजों का धर्म। आशी-र्मय आदेश तथा होमसम्बन्धी नियम। वह उत्तम पुरस्कार जिस से भक्त विद्वान् सर्वथा सुपरिचित हैं। जिस का प्रदाता अहुर वही आनन्दप्रसाद जो वास्तविक चिह्न है, उस अमर मधु का जिस धाम में सोष्यन्त वसते हैं॥"



अमेरिका का पता भारतीयों ने लगाया।

[लेखक— श्री चमनलालजी]

शताब्दियों से संसार को यह समझाया गया है, कि अमेरिका का पता सब से पहिले कोलम्बसने लगाया। पर सच तो यह है कि आर्य (हिन्दू), मंगोलियन और अन्य एसियाई जातियां अमेरिका को बहुत पहिले से जानती थीं। हाँ यूरोपवासियों को उसकी कुछ खबर न थी, इसलिये हम यह कह सकते हैं कि कोलम्बस ने यूरोप के लिये अमेरिका का पता लगाया।

सन् १४९२ में कोलम्बस जब अमेरिका पहुँचा, तो उसने वहाँ ऐसे विचित्र मनुष्यों को देखा जिनकी रूपरेखा का वर्णन भारतीयों से मिलता था। कोलम्बस भारत की खोज में निकला था, और अमेरिका पहुँचने पर उसने सोचा कि वह भारत पहुँच गया है, इसलिए उसने वहाँ के निवासियों को भारतीय कहा। अमेरिका के मूल निवासियों को अब भी भारतीय (इंडियन) कहा जाता है, यद्यपि वहाँ अब अनेक तरह की जातियाँ हैं, जैसे अमेरिकन, मेक्सिकन, पेरुवियन आदि। वहाँ के मूल निवासियों को "रेड इंडियन" भी कहते हैं, यद्यपि उनका रंग लाल नहीं, बल्कि भूरा होता है।

ये 'इंडियन' अमेरिका के आदिम निवासी हैं, और वे ही सच्चे अमेरिकन हैं। पर वहाँ वे पहुँचे कैसे ? वे पहिले कहाँ के मूल निवासी थे ? कुछ लोगों का अनुमान है कि वे इसराईल की खोयी हुई जाति हैं, पर अन्य लोगों का कहना है कि वे प्रागैतिहासिक युग के बहुत पूर्व एशिया से वहाँ गये थे। इस रहस्य का उद्‌घाटन करने के लिये कम से कम दो दर्जन धारणाएँ मौजूद हैं। मैंने भी इस रहस्य को जानने को बहुत पता लगाया, और अन्त में मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि प्राचीन काल में भारत का पाताल देश से सम्बन्ध रहा है। हिन्दू शास्त्रों में अमेरिका को पाताल देश कहा गया है।

अमेरिकन इंडियनों के जीवन और तत्सम्बन्धी इतिहास का अच्छी तरह अध्ययन करने के बाद मुझे कुछ ऐसी आश्चर्यजनक बातों का पता लगा है, जिनसे मेरी धारणा की पुष्टि होती है। वहाँ के आदिम वासियों के जीवन, मंदिरों और धार्मिक कृत्यों के सैकडों चित्र देखने के बाद यह सिद्ध हो गया है, कि सूर्यवंशी हिन्दू शासकों की सभ्यता और संस्कृतिही वहाँ तक नहीं पहुँची, बल्कि उनके साम्राज्य का विस्तार भी वहाँ तक हो गया था। उन्होंने संपूर्ण अमेरिका महाद्वीप पर अपने ऐसे अमिट चिह्न छोडे हैं, जिनका आज भी वहाँ पता मिलता है।

स्पेनिशों द्वारा नाश।

किन्तु समय की गति बदलने पर जब स्पेन का वहाँ प्रभाव फैला, तो स्पेनिशों ने अमेरिका में हिन्दू संस्कृति का नाश कर दिया। स्पेन, जर्मनी, अमेरिका और ब्रिटेन के इतिहासवेत्ताओं ने इस विषय पर बहुत बडे बडे ग्रन्थ लिखे हैं, जो मेडरिड, बर्लिन, न्यूयार्क और अन्य राजधानियों के पुस्तकालयों में अब भी मौजूद हैं। उन ग्रंथों से सूर्यवंशी शासकों के उस तेज और प्रताप का पता लगाया है, जो संपूर्ण अमेरिका में फैला था। आज भी अमेरिका भर में ऐसे मंदिर मिलते हैं, जिनमें सूर्य की पूजा होती है।

धर्म और संस्कृतिसंबंधी लगभग २०० प्रमाणोंमें से मैं यहाँ कुछ बातें ऐसी देता हूँ, जिनसे अमेरिकन इंडियनों के रीति-रिवाजों और कृत्यों की समानता वैदिक प्रथाओं से मिलती जुलती हुई मालूम होती है।

सोमयज्ञ।

आदिम अमेरिकन या इंडियन लोग एक ईश्वर में विश्वास करते हैं, और वेदों के देवताओं को भी वे मानते हैं। उनके यहाँ अब भी वैदिक प्रथाएँ मौजूद हैं। उत्तरी अमेरिका के इंडियन लोग सोमयज्ञ करते हैं। वे सूर्य को अपना सब से बडा देवता मानते हैं, और उनकी सूर्य की पूजा प्रायः वैसी ही है, जैसी हिन्दू लोग करते हैं।

महाभारत और रामायण।

महाभारत और रामायण की कथाओं का माहात्म्य अब भी उनमें मौजूद है, और वे श्रीरामचन्द्रजीसंबंधी कई तरह के त्योहार मानते हैं। मैं स्वयं मेक्सिको गया था, और वहाँ मैंने रामलीला के दृश्यों में राम और रावण की सेनाओं की लडाई देखी थी, और मध्य अमेरिका की दूकानों में मैंने श्री हनुमान् के प्रतीकों को बिकते हुए देखा था।

चार युग।

मेक्सिको के राष्ट्रीय म्यूजियम में एक बहुत बडा पंचांग है, जिसमें हिंदुओं के चार युगों का वर्णन है। हिंदु लोग चार युगों की कथाओं को जिस तरह मानते हैं, उसी तरह की जानकारी प्राचीन अमेरिकनों को थी, और उनका ज्योतिष हमारे ज्योतिषशास्त्र से मिलता जुलता है।

हिन्दू-मंदिरों का भग्नावशेष।

मध्य और दक्षिण अमेरिका में हजारों हिंदू-मंदिरों के भग्नावशेष अब भी देखे जाते हैं और उनमें से कितने ही मंदिर अच्छी हालत में हैं। मैं यहाँ पर केवल तीन बडे मंदिरों का वर्णन करूँगा।

कुशको में श्री रामचन्द्र के पुत्र कुश का एक मुख्य मंदिर है, जिसे 'घर-कंचन' (सोने का घर) कहते हैं। उसमें सूर्य की इतनी बडी मूर्ति है, जो संसार में कहीं नहीं है।

मैक्सिको के युकटान नामक स्थान में एक ऐसे मंदिर का भग्नावशेष है, जिस में १००० खंभे थे। मथुरा के सहस्र स्तम्भ मंदिर की तरह वह मंदिर है। (मैंने इन मंदिरों के फोटो भी अपनी पुस्तक में दिये हैं, जो प्रकाशित हो चुकी है।)

मेक्सिको के मुख्य मंदिर के उद्घाटन के समय लगभग छः लाख मनुष्य उपस्थित थे। स्पेनिश आक्रमणकारियों के साथ जो इतिहासवेत्ता उस समय गये थे, उन्होंने मूर्तियों की रूप-रेखा और उनके विशेष विवरण लिखने के साथ यह भी लिखा था कि, उन मूर्तियों को किस तरह से आभूषण पहनाए गए थे।

दाह-कर्म और सतीप्रथा।

मध्य और दक्षिण अमेरिका में पहिले गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली प्रचलित थी, और उस प्रणाली की छाप आज भी वहाँ के विद्यालयों में पायी जाती है। हिन्दू बच्चे के जन्म पर जो रस्में यहाँ होती हैं, वही वहाँ भी होती थीं। बच्चे के पैदा होने के बाद वहाँ भी चार दिन तक बराबर हवन होते थे। वहाँ विवाह के समय की रस्में, मृतक का दाह-कर्म और स्त्रियों की सती-प्रथा सब प्राचीन आर्यों की प्रथाओं से मिलती थीं।

दक्षिण अमेरिका के अन्तिम सूर्यवंशी नरेशों की मृत्यु के बाद उनकी समस्त रानियाँ सती हो गयी थीं। मैक्सिको के अन्तिम राजा की रानी भी सती हुई थी। वहाँ के आदि निवासियों के धर्मपरिवर्तन की कहानियाँ बडी ही हृदयविदारक हैं। यह बात वहाँ की पुस्तकों में लिखी हुई है कि जब यूरोप से ईसाई पादरी लोग वहाँ गये, तो मध्य अमेरिका की मयजाति के मनुष्यों को ईसाई बनानेमें बडी कठिनाई हुई थी। पर ईसाइयोंने अत्याचार और संहार की क्रूर नीति से काम लिया, और मयजाति के हजारों मनुष्यों ने ईसाई धर्म ग्रहण करने की अपेक्षा मर जाना अच्छा समझा था। मिशनरियों ने ईसाई धर्म का प्रचार करने में वहाँ के बहुसंख्यक मनुष्यों को तलवार के घाट उतार दिया था।

गणेश और इन्द्र की पूजा।

इस सम्बन्ध में अकाट्य प्रमाण मिले हैं, कि अमेरिका में किसी समय गणेश, इंद्र और शिवलिंग आदि की पूजा होती थी। देवदासीप्रथा भी वहाँ प्रचलित थी, और केवल एक मंदिर में ३००० देवदासियाँ थीं, जो पूर्ण ब्रह्मचर्य के साथ रहती थीं। इस सम्बन्ध में मैंने अपनी पुस्तक में तीन परिच्छेद लिखे हैं, और मंदिरों आदि के फोटो भी दिए हैं। मैं इस छोटे से लेख में अधिक बातें न देकर केवल कुछ प्रतिष्ठित अमेरिकन और अँग्रेज लेखकों के उद्धरणों से यह सिद्ध करूँगा कि कोलम्बस ने नहीं; बल्कि आर्य हिंदुओं ने सबसे पहिले अमेरिका का पता लगाया था।

हिंदू पहिले आये।

मेक्सिको की सरकारद्वारा प्रकाशित मैक्सिको के इतिहास में लिखा है—

"जो लोग पहिले इस महाद्वीप (जो बाद में अमेरिका कहा गया) में आये, वे ऐसे मनुष्य थे, जिन्हें भारत की

ओर से आनेवाली महान् तरंग ने पूर्व की ओर बहा दिया था। यही लोग आकर मैक्सिको में बसे, और इन्हीं की सभ्यता और संस्कृति का यहाँ प्रसार हुआ। ''

भारतीय प्रणाली।

मैक्सिको के नेशनल म्यूजियम के क्युरेटर प्रोफेसर रेमनमेन लिखते हैं—

" यहां की मयजाति के मनुष्य भारतीय मनुष्यों से मिलते जुलते हैं। इनके दृढ धार्मिक विश्वास, इनके सिरोंका पहनावा, ऊँची जमीन पर इनके घरों के बनाने की पद्धति और अन्य रहन-सहन की प्रणालियां सब भारतवासियों से मिलती हैं। ''

पांडवों का वर्ष।

" हिन्दू व्यापारी पांडवों के १८ महीनों का वर्ष मैक्सिको में लाये, और व्यापार करने की पद्धति तथा बाजार लगाने की प्राणाली भी उन्हीं हिन्दू व्यापारियों ने यहाँ प्रचलित की '' (हेविट, प्रिमिटिव ट्रेडिशनल हिस्ट्री-पृष्ठ ८३४-३६)

(भारत)

आनन्दमय भगवान् की आनन्दमयी सृष्टि में

यह असन्तोष क्यों ?

[श्री. पं० रामचन्द्रजी, बी० ए०, रिटायर्ड हेडमास्टर]

(३)×

गत लेख में हम बता चुके हैं कि, इन चार विचारों को मन में धारण करनेसे हमारा दृष्टिकोण सुधर सकता है, पर केवल इससे पाठकों का पूरा लाभ होने की संभावना नहीं है। क्योंकि ये विचार प्रायः सभी ने पढे और सुन भी रखे होंगे, पर इन पर वे आरूढ नहीं। अतः कोई ऐसा तरीका होना चाहिये, जिससे ये विचार विचारशील पुरुषों के मन में दृढ भूमि पकड लें। ऐसा तरीका कौनसा है? उसके लिये हमें कहीं बाहर जाने की जरूरत नहीं। एक महात्मा ने कहा है—

" The great blessings of mankind are within us, and within our reach; but we shut our eyes, & like people in the dark, we fall foul of the very thing, we search for, without finding it. "

अर्थात् ईश्वरने बहुमूल्य चीजें हमारे भीतर ही और हमारी पहुँच में ही रखी हैं, परन्तु हमने अपनी आंखें बन्द की हुई हैं और हम अन्धों की तरह चलते हुए उन्हीं को जिनकी तलाश में हम डोलते फिरते हैं ठुकरा देते हैं। सचमुच " अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः" यह गीतावचन अक्षरशः यहाँ चरितार्थ होता है।

जो बात हम यहां इस सम्बन्ध में कहेंगे, वह आधुनिक मनोविज्ञान (Modern Psychology) के आधार पर होगी। यद्यपि ये तत्त्व हमारे पूर्वज महर्षियों के अनुभव में आ चुके थे, परन्तु उनका ऐसा स्पष्टीकरण और ऐसी वैज्ञानिक भाषा में अबतक पूर्वकृत ग्रन्थों में दृष्टिगोचर नहीं होता, जैसा कि आजकल के मनोविज्ञान के पण्डितोंने किया है। वे निर्धारण करते हैं कि हमारे भीतर जो चेतनाशक्ति (Consciousness) है, उसकी तीन भूमिकाएँ हैं। प्रथम जाग्रत वा बाह्य अवस्था की चेतनाशक्ति (waking or out-consciousness) जो कि इन्द्रियों द्वारा संसारके पदार्थोंका ज्ञान प्राप्त करती है। द्वितीय सुप्तावस्था या आन्तरीय चेतनाशक्ति (sub-consciousness), तीसरी इंद्रियातीत or super consciousness-जिसमें हम बाह्य जगत् का ज्ञान इंद्रियों द्वारा नहीं अपितु सीधे तौर पर (Direct) ज्ञान प्राप्त करते हैं। यह अवस्था समाधि की अवस्था है। इससे हमें यहां कुछ काम नहीं। साधारणतया ये पहली दो भूमिकाएं ही मनुष्य के व्यवहार में आती हैं।

जाग्रतावस्था की चिति शक्ति का अनुभव तो सर्वसाधारण को है ही, जिसमें वे इंद्रियों द्वारा बाह्य जगत् का अनुभव करते हैं, तथा अपना नित्य का व्यवहार करते हैं। परन्तु सुप्तावस्था के सम्बन्ध में बहुधा उन्हें कुछ भी ज्ञान नहीं होता और इसी वास्ते वे इससे पूरा पूरा फायदा नहीं उठा सकते। यह आन्तरीय चिति शक्ति क्या है, क्या काम करती है, किस तरह काम करती है और इसे हम कैसे उपयोगी बनावें, इत्यादि प्रश्नों पर विचार यहां किया जाता है।

१— मनोविज्ञान शास्त्र का यह सिद्धान्त है कि आन्तर चिति शक्ति वह भंडार है, जहां जन्म से लेकर मरणसमय तक के ही नहीं, अपितु जन्मजन्मान्तरोंके विचारों, आचारों और व्यवहारों के सूक्ष्मांश, संस्कारों का समूह, जमा रहता है। ये संस्कार बडी शुद्धतापूर्वक वहां एकत्रित होते रहते हैं। ये संस्कार बडे (active) क्रियात्मक हैं। इनसे ही मनुष्य की personality, आत्मत्व बनता है। अर्थात् ये ही संस्कार वह भंडार है, जिसके द्वारा हमारी 'आत्मा' अपने आपको प्रकट करती है। इस संस्कार-भंडार के रङ्ग से ही रञ्जित होकर निर्लेप आत्मा जीवत्व की विशेषता को प्राप्त होता है। यही आत्मा के एकत्व को नानात्व का रूप देता है।

× द्वितीय लेख 'वैदिक धर्म' क्रमांक २४८, पृ० ३८८ पर देखो।

२— यह एक प्रकार का Power-House अर्थात् 'शक्ति आगार' है। यहां पर हमारी अनेक मनोवृत्तियां प्रसुप्तावस्था में रहती हैं। और ये ही हमारे अनेक प्रकार के मनोविकारों को प्रादुर्भाव कराती हैं। Prof. Inc Daugoll कहते हैं—

"The instructive impulses determine the ends of all activities and supply the driving power by which all mental activities are sustained"

ये स्वाभाविक प्रसुप्त, मनोवृत्तियां ही हैं, जो हमारी तमाम क्रियाओं के लक्ष्य की द्योतक हैं और हमारे भीतर उस संचालक शक्ति को उत्पन्न करती हैं, जो हमारी सारी मनोवृत्तियों को सहारा देती है।

३— यह आन्तरीय चितिशक्ति हमारे सारे शारीरिक व्यवहारों की देख भाल भी करनेवाली है। भोजन का पाचन करना, परिपक्व को भिन्नभिन्न अङ्गों में पहुंचाना, शरीर में रक्त का सञ्चार करना, फेफडों का अपना व्यवहार करना, गुरदे तथा जिगर आदि अवयवों का अपना अपना व्यवहार करना, इसी शक्ति से नियमित होते हैं। हमारा शरीर एक घडी की तरह नहीं है, जो एक वार चाबी देनेसे चलती रहती हैं। परन्तु इसके तमाम व्यवहारों पर मन-रूपी सिपाही, देख भाल रखता है। ये सब व्यवहार हमारी जाग्रत चिति शक्ति नहीं करती। यह सारा काम हमारी आन्तर चेतनाशक्ति का ही है।

४— यह आन्तरीय शक्ति कभी सोती भी नहीं, बल्कि जब हमारी जाग्रत चितिशक्ति सो जाती है, तो यह उस समय बडी चौकन्नी और होशयार होती है।

५— उपरोक्त बातों को ध्यान में रखकर हम कह सकते हैं कि जाग्रत चितिशक्ति की अपेक्षा सुप्त चिति शक्ति बडी ही बलवान् है।

६— यह भी ध्यानमें रहे कि ये दोनों शक्तियां मानसिक जीवन के परदे हैं, जो एक दूसरेके साथ संबंधित हैं। जिस तरह जो बात पहिले आन्तरीय चिति शक्ति में होती है, वही धीरे धीरे बाह्य चितिशक्ति द्वारा प्रकट होती है। इसी तरह प्रत्येक बाह्य चितिशक्ति का भाव बाह्य जगत् में व्यवहार करता है और अन्त में आन्तरीय चितिशक्ति में संस्काररूप में पहुंच कर उसका अङ्ग बन जाता है, और फिर वहां से विविध मनोवृत्तियों के रूप में प्रकट होकर हमारे मानसिक और शारीरिक व्यवहारों को चलाता है। अब यदि हमारी आन्तरीय चितिशक्ति में शुद्ध, स्वच्छ अथवा प्रेम के संस्कार हों, तो वे समय पाकर शुद्ध, स्वच्छ और प्रेम के ख्यालात उत्पन्न करके हम से वैसे ही व्यवहार करेंगे। और यदि उस में अशुद्ध, मलिन वासनाओं के संस्कार जमा होंगे, तो वे अवसर पाकर अशुद्ध और मलिन ख्यालातको ही उत्पन्न करके वैसेही काम हमसे करवाएँगे।

सारांश यह है कि जो भाव हमारी आन्तरीय चितिशक्ति में जड पकड गया है, वही हमें जाग्रतावस्थामें प्रेरित करके स्वरूपानुसार काम कराता है और जब तक ऐसा नहीं होता, अर्थात् कोई भाव हमारी आन्तरीय शक्ति में संस्काररूप से संचित नहीं हो जाता तब तक वह कदापि हमारे कार्य में परिणत नहीं हो सकता। चाहे हम उसको जाग्रत चिति शक्ति में भले ही जानते हैं। यही कारण है कि चोर चोरी को बुरी जानता हुआ भी नहीं छोडता। व्यभिचारी व्यभिचार को बुरा भी समझता हो फिर भी नहीं छोडता, जुवारी जुए को, शराबी शराब को बुरी समझता हुआ भी नहीं छोडता। कारण यह कि उसका बुरा जानना केवल बाहर चितिशक्ति में ही स्थित है। वह आन्तरीय चितिशक्तिमें संस्काररूप से स्थित नहीं हुआ। और यदि एक बार आन्तर चितिशक्ति में 'यह बुरा है' ऐसा ख्याल जम जाय, तो वह उसको फौरन त्याग देगा। हजार प्रलोभनों पर भी लात मार कर उसको नहीं करेगा, अपने उस संस्कार के विरुद्ध आचरण नहीं करेगा। हकीकत आदि अनेक वीरों का दृष्टान्त इस का सबूत है।

परन्तु जब तक वह भाव हमारी चितिशक्ति का अङ्ग नहीं बना, हम विवश होकर जानते हुए भी उसी कुकर्म को करते हैं— इसी से दुर्योधन कहता है—

जानमिधर्मं नच मे प्रवृत्तिः जानाम्यधर्मं नच मे निवृत्तिः। केनापि देवेन हृदिस्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि॥

यह हृदिस्थित देव हमारी आन्तर चितिशक्ति स्थित संस्कार ही है और कोई नहीं।

बस इससे सिद्ध यह हुआ कि यदि हम चाहें कि अमुक

भाव या विचार हमारे कार्यात्मक जीवन में परिणत हो जाय, तो हमें चाहिये कि हम उस विचार को अपनी आन्तरीय चितिशक्ति का अङ्ग बनावें।

अब प्रश्न रहा यह कि यह किस तरह हो, अर्थात् हम उस विचार को अपनी आन्तरिक चितिशक्ति का अङ्ग किस तरह बनाएँ, सो इसका उत्तर यह है कि, जिस समय हमारी बाह्य चितिशक्ति शिथिल हो और आन्तरीय चितिशक्ति सक्रिय हो, तो उस समयसे फायदा उठाना चाहिये। यह हालत निम्नलिखित समयों पर स्वाभाविक तौर पर होती है—

१- जब हम सोने लगते हैं, हमारी आन्तरीय चितिशक्ति चेतन हो जाती है। या, जब हम सोकर उठते हैं, उस समय भी ऐसा ही कुछ समय के लिये होता है।

२- बीमारी की अवस्था में, बुखार चढने की हालत में भी ऐसा ही होता है। यही कारण है कि उस समय हमारे मन में कभी कभी, बडे बडे गंभीर विचार उत्पन्न हुआ करते हैं।

३- जब हम सोए पडे हों, तब भी यही हालत होती है।

४- मरणसमय, जब हम बेहोश हो जाते हैं, बाह्य चेतना तो लुप्तप्रायः हो जाती है, आन्तरीय चेतना बडी क्रियाशील होती है। जो भाव उस समय हमारे मन में बैठ जावेगा, वही भाव हमारा आगामी जीवन बनावेगा। तभी तो गीता में कहा है—

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेति कौन्तेय ! सदा तद्भावभावितः॥

५- किसी अद्भुत् चित्र या दृश्य के देखने पर भी हमारी बाह्य चेतना शिथिल और आन्तरीय चेतना सचेष्ट होती है। इसी से पहाडों, नदियों के संगम, देवमन्दिरों में देवताओं और देवर्षियों मुनियों के चित्र या स्वरूपों का दर्शन कराया जाता है। वेद भी ऐसा ही कहता है;

उपह्वरे गिरीणं संगथे च नदीनाम् धिया विप्रो अजायत॥ (ऋग्० ८।६।२८)

६- कृत्रिम तौर पर भी यह हालत पैदा की जा सकती है, जैसे हिप्नोटिज्म या मेस्मरिज्मवाले करते हैं।

यहां यह भी ध्यान रहे, कि यह आन्तर चेतना भाषा के जगत् से बाहर है, अर्थात् प्रत्येक भाषा को समझ सकती है, चाहे जाग्रतावस्था में हम उस भाषा को न भी समझते हों, क्योंकि यह सूक्ष्म है।

इन सब सिद्धान्तों का सारांश यह है कि जब भी हम अपनी आन्तर चेतना को क्रियात्मक और बाह्य चेतना को शिथिल देखें, तभी जिस भाव को हम अपने भीतर स्थित और दृढ करना चाहते हैं, उसका चिन्तन करें। मान लो हमें चोरी की आदत है। हम चोरी छोडना चाहते हैं, और उस के विपरीत अस्तेय के भाव को दृढ करना चाहते हैं, तो हम चोरी का नाम न लें। अपितु उसके विपरीत अस्तेय का ध्यान करें और अपनी आत्मा को कहें कि "तुम अस्तेय धर्म पर दृढ रहो। इससे बडे बडे लाभ होते हैं। मान बढता है" इत्यादि। कुछ दिनों के अभ्यास के बाद पता लग जायगा कि यह अस्तेय भाव हमारे अन्दर बलवान् हो रहा है और इसके साथ साथ चोरी का स्वभाव घट रहा है। यदि और समय हमको न मिल सके, तो सोने से ५-७ मिनट पहिले, जागने के ५-७ मिनट पीछे तथा सन्ध्या-प्रार्थना के बाद हम ५-७ मिनट यह अभ्यास करेंगे, तो अवश्य फायदा होगा। परन्तु यह जरूरी है कि अभ्यासी को इस पर पूरा विश्वास और श्रद्धा हो। विश्वास और श्रद्धा के बिना कुछ प्राप्त नहीं होगा।

गो० स्वा० तुलसीदास सत्य कहते हैं—

भवानीशङ्करौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति जना अन्तस्थमीश्वरम्॥

बस श्रद्धा और विश्वास से ऐसा करने से अवश्य फायदा होगा। इस अभ्यास को हम न केवल अपने लिये अपितु दूसरों के लिए भी कर सकते हैं। अर्थात् यदि हम चाहें कि हमारा अमुक मित्र या सम्बन्धी अमुक स्वभाव को अपने अन्दर पैदा करे, तो हमको चाहिये कि यदि वह हमारे पास है, तो हम उसके सिरहाने खडे होकर जब वह सो जाए, उसके स्वरूप को अपने ध्यान में लाकर यह कहें "प्रिय, अमुक, तुम यह अमुक भाव अपने भीतर उत्पन्न करो। इससे यह लाभ है। देखो यह स्वभाव आ रहा है, आ रहा है इत्यादि।" यदि वह हमसे दूर है, तो हम मन द्वारा उस स्थान में जाकर मनद्वारा उसको अपने आगे समझ कर वही अमल कर सकते हैं। ५ मिनट का अभ्यास लगातार कुछ दिन करने से हम देखेंगे कि यथोचित लाभ हो रहा है। छोटे बच्चों की हालत में यह बहुत जल्दी

लाभ करेगा । क्योंकि उनकी चेतना बडी कोमल और भावग्राही होती है ।

पहिले हमने कहा है कि यह मनो-विज्ञान, जो नूतन प्रतीत होता है, बहुत पुरातन है, केवल इसका रहस्य हम भूल गए हैं । सभी मुल्कों में बच्चों को लोरी देकर सुलाने की प्रथा है । परन्तु लोग इसके रहस्य को नहीं समझते । अतः लोरी में यों ही ऊटपटांग बातें बोलते हैं । लोरी क्या है ? केवल अच्छे, सुन्दर, उदार, वीर भावों का बच्चे की आन्तर चेतना में सञ्चार। कौन नहीं जानता कि रानी मदालसाने अपने बच्चेको "शुद्धोसि बुद्धोसि, निरञ्जनोऽसि, संसारमायापरिवर्जितोऽसि " से ब्रह्मज्ञानी बना दिया था ।

सभी धर्मों में यह कथन है कि सोने से पहिले " तन्मे मनःशिव सङ्कल्पमस्तु " इत्यादि मंत्रों का या प्रसिद्ध पुरुषों का स्मरण करने का अभ्यास बढाना चाहिए । इसी प्रकार जागते में भी किसी न किसी मंत्र या स्तोत्र का पाठ बताया जाता है ।

इसी तरह बाज बीमारियों, विशेषतः चेचक की बीमारी में, बच्चे के सिरहाने नीरोगता के भावों का सञ्चार करने के लिये राग गाए जाते हैं ।

यह भी सभी धर्मों में प्रचरित है कि जब कोई मनुष्य मरने लगता है, तो उसके सिरहाने किसी प्रसिद्ध कर्मनिष्ठ व्यक्ति से किसी पुस्तक का पाठ कराया जाता है । चाहे मरनेवाला बेहोश भी पडा हो, यदि पाठ करनेवाला विश्वासी और श्रद्धालु है और मन को एकाग्र करके उस पुरुष का स्वरूप अपने सामने लाकर पाठ करता है, तो उसका प्रभाव उसकी आत्मा पर, भावी जीवन के लिए अवश्य बहुत अच्छा पडता है । परन्तु शोक है आजकल के मनुष्य इन प्रथाओं को कपोलकल्पित समझ कर इनसे फायदा नहीं उठाते, बल्कि जो ऐसा करना चाहते भी हैं, वे उनकी भी खिल्ली उडाकर उनको मूर्ख, अन्धविश्वासी, कहते हैं ।

हमारा दृढ विश्वास है कि ये नियम बिल्कुल अटल और प्राकृतिक हैं । इनमें कल्पना का अंश भी नहीं । हां इनसे लाभ वही उठावेगा, जो श्रद्धा और विश्वास रखता है।

अब हम उन पुरुषों की तुष्टि के लिये जो प्रत्येक बात के लिये शास्त्र का आधार चाहते हैं, कुछ प्रमाण देते हैं—

यत्र यत्र मनो देही धारयेत् सकलं धिया ।
स्नेहाद् द्वेषाद् भयाद् वापि याति तत्तत् स्वरूपताम् ॥

अर्थ- मनुष्य जिस जिस चीज या भाव में मन को लगा देता है, चाहे स्नेह, या द्वेष से, भय से, वह उसी के स्वरूप को धारण कर लेता है ।

चित्तमेवहि संसारस्तत्प्रयत्नेन शोधयेत् ।
यत्तच्चित्त स्तन्मयो भवति गुह्यमेतत्सनातनम् ॥

चित्त (अर्थात् मन का वह विभाग जिसमें मनुष्य की वासनाएं, इच्छाएं संस्काररूप से चुनी हुई जमा रहती हैं) ही संसार है । अर्थात् जैसा उस का चित्त होगा, वैसा ही उसको संसार भासेगा । जैसा चित्त होगा वैसा ही वह मनुष्य बन जावेगा । अतः चित्त को प्रयत्न से शुद्ध करना चाहिये ।

चित्ताक्रांतं धातुबद्धं शरीरम्
नष्टे चित्ते धातवो यान्ति नाशम् ।
तस्माच्चित्तं सर्वतो रक्षणीयं
स्वस्थे चित्ते बुद्धयः संभवन्ति ॥

यद्यपि मनुष्य का शरीर मांस, मज्जा, रक्तादि धातुओं का बना हुआ है, तो भी वह चित्त के सहारे है । यदि चित्त शिथिल हो गया, तो धातुएँ कितनी बलवती क्यों न हों, तो भी शरीर डोल जावेगा । और यदि चित्त स्वस्थ होगा, तो धातुएं कमजोर भी क्यों न हों, मनुष्य की बुद्धि स्थिर रहती है । महात्मा गांधीजी ने निर्बल शरीर के साथ २१ दिन व्रत रखकर और साथ साथ चरखा कात कर यह श्लोक अपने जीवन में घटाकर दिखाया था। स्वा० रामतीर्थ कहते हैं—

गर दर दिले तो गुल गुजरद गुलबाशि ।
वर बुलबुले बेकरार-बुलबुल बाशि ॥
सौदाए रंजो व बला रंजये आरद ।
वर अन्देशये कुल पेशाकुनि कुलबाशि ॥

यदि तुझे फूल का ध्यान आता है, तो तू फूल बन जाता है । यदि तू बेकरार बुलबुल का चिन्तन करता है, अर्थात् यदि तेरे दिलमें कमजोरी, निराशा, दुःखके भाव आते हैं, तो तू वैसा ही बन जाता है । और यदि तू अपने आप को कुल समझने का अभ्यास करता है, तो कुछ हो जाता है।"

हमारे उपनिषद् इस बात को बडे जोर से कहते हैं। "अथ खलु क्रतुमयएवायं पुरुषः।" यह मनुष्य विचारों का पुतला है। एक स्थान में उपनिषत् कहते हैं कि हमें ऐसा विचार करना चाहिये कि "मैं-मनोमयः, भारूपः सत्यसंकल्पः आकाशशरीरः सर्वकर्मा, सर्वकामः, सर्वसंकल्पः हूँ। मेरा आत्मा "ज्यायान् पृथिव्याः, ज्यायान् अन्तरिक्षात्, ज्यायान् दिवो, ज्यायान् एभ्यः लोकेभ्यः" है।" आगे चलकर ऋषि कहते हैं— "यस्य स्यादद्धा नतस्य विचिकित्सा अस्तीह स्माह शांडिल्यः शांडिल्य" जिस की यह दृढ श्रद्धा और विश्वास होता है, फिर उसको कोई गिरावट नहीं आ सकती। अन्त में हम केवल इतना और कह कर इस लेख को समाप्त करते हैं कि—

सर्वस्व है जीवन का सुधार।
सुधार है केवल सद्-विचार।
विचार है प्राण जगत् प्रचार।
प्रचार है श्री चितिशक्तिसार॥

वेदके ऋषि।

[लेखक- श्री० धर्मराज वेदालङ्कार]

(लेखांक तिसरा)

विपाडादयो नद्यः।

ऋग्वेद ३।३३ के ४, ६, ८, १० मंत्रों का ऋषित्व विपाट् आदि नदियों को प्राप्त है। इन चार मंत्रों में तथा सूक्त के अन्य मंत्रों में नदियों का वर्णन बिल्कुल स्पष्ट है। सूक्त के इन चार से अतिरिक्त मंत्रों का ऋषि विश्वामित्र है। सायणाचार्य के कथनानुसार विश्वामित्र ऋषिने सुदास राजा के यहां पुरोहित का काम करके बहुतसा धन प्राप्त किया, इसे लेकर जब वह लौट रहा था, तो रास्तेमें विपाट् और शुतुद्री के सङ्गमपर पहुंचा। विश्वामित्र नदियों के पार पहुंचना चाहता था। अगाध जल वाली नदियों को देखकर उसने स्तुति की—

प्र पर्वतानामुशती उपस्थाद्।
अश्वे इव विषिते हासमाने॥
गावेव शुभ्रे मातरा रिहाणे।
विपाट् छुतुद्री पयसा जवेते॥ (३।३३।१)

"जिस प्रकार घुडसाल से छुटी हुई घोडियां हंसती, मौज करती हुई भागी चली आती हैं, जैसे सफेद चमकते हुए धवल शरीरवाली गौएं अपने बछडों के देह को चाटने की लालसा से दूध से भरे स्तनों के साथ दौडी आती हैं, इसी प्रकार आह्लादित होकर हंसतीखेलती हुई विपाट् और शुतुद्री नदियां पर्वतों की गोद से चलकर पानी को अपने साथ लेती हुई समुद्र की ओर जाने की कामना से वेगपूर्वक दौडी चली जा रही हैं।"

विश्वामित्र ने इसी तरह और भी स्तुति की है। इस स्तुति के उत्तर में नदी का निम्न वाक्य है—

इंद्रो अस्माँ अरदद्वज्रबाहु।
रपाहन् वृत्रं परिधिं नदीनाम्॥
देवो नयत् सविता सुवर्ततास्।
तस्य वयं प्रसवे याम उर्वीः॥ (३।३३।६)

'वज्रबाहु इंद्र ने हमारी रचना की है, सुन्दर हाथों-वाला वही देव हमें समुद्र की तरफ ले जाता है, हम सदा उसी की आज्ञा में रहती हैं, फिर तेरे कहने से कैसे रुक सकती हैं?'

यह सुनकर विश्वामित्र नदियों से बहुत अनुनय-विनय करता है—

ओ षु स्वसारः कारवे शृणोत।
ययौ वो दूरादनसा रथेन॥

नि षू नमध्वं भवता सुपारा ।
अधो अक्षाः सिन्धवः स्रोत्याभिः ॥ (३।३३।९)

'बहनो, मैं तुम्हारे गीत गा रहा हूं, मेरी बातकी ओर जरा ध्यान दो । मैं बहुत दूर से अपनी गाडी के साथ यहां आया हूं, इसलिए मैं तुम से प्रार्थना करता हूं कि तुम झुक जाओ, ताकि मेरा रथ तुम्हारे पानी पर से होकर जा सके और मैं अच्छी प्रकार पार हो जाऊं।'

नदियां विश्वामित्र के इस वचन को ध्यान से सुनती हैं और उसकी इच्छा को पूरा करतीं हुई कहती हैं—

आ ते कारो शृणवामा वचांसि ।
ययाथ दूरादनसा रथेन ॥
नि ते नंसै पीप्यानेव योषा ।
मर्यायेव कन्या शश्वचै ते ॥ (३।३३।१०)

" हे विश्वामित्र ! हम तेरी बात को गौर से सुना है, तू बहुत दूर से अपने रथ को लेकर यहां आया है । इसलिए हम तेरे प्रयोजनको सिद्ध करने के लिये झुक जाती हैं, जैसे माता बच्चे को दूध पिलाने के लिये अथवा कन्या अपने भाई, पिता या पतिका आलिङ्गन करनेके लिये झुका करती है ।"

यह हमने संक्षेप से विश्वामित्र और नदियों के वार्त्तालाप को प्रदर्शित किया है। उद्धृत मंत्रोंद्वारा यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि विश्वामित्र और नदियां ही मंत्रों में उत्तरप्रत्युत्तर कर रहे हैं। नदियों ने अथवा विश्वामित्रने इस सूक्त के अर्थ का दर्शनमात्र किया हो, यह बात यह जानकर निराधार प्रतीत होती है कि नदियों और विश्वामित्रकी चर्चासूक्त के शब्दशब्द में हैं, इसलिये इस प्रकार बने बनाए सूक्त को ऐसी नदियों अथवा विश्वामित्र ने प्राप्त कर लिया हो, जिनका जिकर मंत्रों में नहीं है, यह बात असम्भव नहीं, तो दुरूह अवश्य है।

उक्त मन्त्रों में नदियों को इळा पिङ्गला मानकर विशुद्ध आध्यात्मिक अर्थ भी किया जा सकता है, परन्तु यहां इतना ही दिखला देना पर्याप्त है कि मंत्रों में उनके ऋषियों के व्यक्तित्वकी छाप सर्वत्र ओतप्रोत है ।

विप्रजूतिर्वातरशनपुत्रः

इस ऋषिका केवल एक ही मंत्र है—

उन्मदिता मौनेयेन ।
वातॉं आ तस्थिमा वयम् ॥
शरीरेदस्माकं यूयं ।
मर्तासो अभिपश्यथ ॥ (१०।१३६।३)

हम मौन के अलौकिक एवं विलक्षण मार्ग का सेवन करके उन्मत्त हो गये हैं, हमने एक उत्कृष्ट अनिर्वचनीय आनन्दको उपलब्ध किया है। जिन वायुओं या प्राणशक्तियों की हम उपासना कर रहे थे, उनका हमने अपने अन्दर आधान कर लिया है । हे मनुष्यो तुम हमारे केवल बाह्य शरीरको ही देख सकते हो, हमारे असली स्वरूपको तुम नहीं जान सकते, क्योंकि हम तो रूपरंग से रहित वायुओं के साथ ऐकात्म्य और सायुज्य को प्राप्त हो गए हैं।

एक ओर मन्त्रगत इन उद्गारों का खयाल कीजिये और दूसरी तरफ वातरशन (वायुवेगी) के लडके विप्रजूति (विशेष रूप से प्रकृष्ट है, वेग जिसका) का विचार कीजिये, क्या अपूर्व सामञ्जस्य है। विप्रजूति अपने साथियोंके साथ वायुभाव को प्राप्त होकर ऊंची उडान का मजा ले रहा है । उसका यह कहना बिल्कुल दुरुस्त है कि, उसके हृदय में उमडते हुए आनन्दप्रवाह का अनुभव लौकिक पुरुष कैसे कर सकते हैं । श्रुति का कानून है—

स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते ।

व्युत्पन्न विप्रजूति का एक और प्रकार से भी मन्त्रार्थ के साथ गाढ सम्बन्ध है । विप्र कहते हैं मेधावी धीर प्रज्ञासम्पन्न पुरुष को, जूति का वही अर्थ है- प्राणोकाल्पद्वारा मूर्त्त वेग की हालत को प्राप्त योगी । मौन द्वारा अन्तर्द्वार खुलने पर साधक तंग सीमाओं से निकलकर अनन्त समुद्र में खुला विचरता है । इसी विप्रजूति साधक का मंत्र में वर्णन है ।

(असमाप्त)

प्राचीन भारतकी सडकें।

[एक किताबी किडा।]

भारत के प्राचीन साहित्य में कहीं कहीं राजमार्गों का अच्छा विवरण मिलता है। रामायण बालकाण्डमें अयोध्या को 'सुविभक्त महापथाः' अर्थात् 'बडी बडी सडकोंसे सुविभक्त' बतलाया गया है। इतना ही नहीं, यह भी बतलाया गया है कि वे रोज जल से छिडकी जाती थीं और उनपर खिले हुए पुष्प बिखरे रहते थे—

राजमार्गेण महता सुविभक्तेन शोभिते।
मुक्तपुष्पावकीर्णेन जलसिक्तेन नित्यशः॥

सडकें कैसी होनी चाहिएं, इस पर 'शुक्रनीति'में बहुत अच्छा विचार किया गया है। उसके अनुसार नगरों में राजप्रसाद से चारों और राजमार्ग होने चाहिएँ।

उत्तम राजमार्ग ३०, मध्यम २० और अधम १५ हाथ चौडा होता है। नगर तथा गाँव दोनोंही में बाजारोंमें बेचने के लिए चीजें ले जाने के लिए राजमार्ग होते हैं। यहाँ '**पद्या**' (पगडंडी) ३ हाथ, '**वीथी**' (गली) ५ हाथ, और **मार्ग** (सडक) १० हाथ चौडी होनी चाहिए। गांव के मध्य से ये मार्ग पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर जाने चाहिएं। पुरों या नगरों में उनके अनुसार बहुत से मार्ग होने चाहिएं। राजधानीमें 'वीथी' और 'पद्या' रखना ठीक नहीं है। (क्योंकि वहाँ आना-जाना बहुत होनेसे चौडी सडकों की ही अधिक आवश्यकता है।)

६ योजन (४८ मील) के अरण्य या जंगल में उत्तम राजमार्ग आवश्यक है। मध्यमें मध्यम और दोनोंके बीच अधम से काम चल सकता है। प्रत्येक गाँव में १० हाथ चौडी सडकें होनी चाहिएं। ये सडकें '**कूर्मपृष्ठा**' अर्थात् कछुएकी पीठ की तरह बीचमें ऊँची और दोनों ओर नीची (उसी तरह मजबूत तथा चिकनी भी) होनी चाहिएं। इनपर अच्छे सेतु या पुल बँधे रहने चाहिएं और इनके दोनों ओर पानीके निकास के लिए नहरें या नालियाँ खुदी रहनी चाहिएं। सब घरों के दरवाजे सडकों की ओर और उनके पीछे '**वीथियां**' (गलियाँ) तथा '**मलनिहरण स्थल**' (पेशाब-पाखाना के लिए स्थान) होने चाहिएं। सडकों के दोनों ओर अच्छे मकानों की कतारें होनी चाहियें। हर साल मिट्टी या कंकडों को कूटकर सडकों की मरम्मत कराते रहना चाहिये। यह काम कैदियों या अभियुक्तों से लेना चाहिए। प्रति दो गाँवों के बीच एक '**पान्थशाला**' (सराय) बनवानी चाहिए। गाँवका मुखिया इनको रोज साफ करवाता रहे और इनका अच्छा प्रबन्ध रखे। पान्थशाला का अध्यक्ष वहाँ टिकनेवाला यात्रियोंसे सदा पूँछता रहे कि 'तुम कहाँ से और क्यों आये हो, कहाँ जाओगे? तुम्हारे साथ तुम्हारे अनुचर भी हैं या नहीं? तुम्हारे पास शस्त्र और वाहन (सवारियाँ) क्या है? तुम्हारी कौन जाति है, कौन कुल है? हमेशा तुम कहाँ रहते हो' इन प्रश्नों का उत्तर वह शामको लिख ले और शस्त्रों को अपने पास जमाकर यात्री से कहे कि 'अब आप आराम से सोइये।' रातमें यात्रियों की संख्या गिनकर फाटक बन्द कर देना चाहिए। तीन तीन घंटे पर पहरा बदलते रहना चाहिये और सबेरे यात्रियोंको जगाकर उनका सामान देकर और उनकी गिनती करके फाटक खोलकर उन्हें सीमा तक पहुँचा देना चाहिये+। सडकोंकी मरम्मतके खर्चके लिए यह बतलाया गया है कि यात्रियों से कर लेना चाहिये–

'मार्गसंस्काररक्षार्थं मार्गस्थेभ्यो हरेत् फलम्×।'

कौटिल्य ने भी अपने '**अर्थशास्त्र**' में इसपर कुछ लिखा है। उनका कहना है कि नगर बसाने के लिये एक स्थान केंद्र मानकर वहाँ से पूर्व की ओर तीन और पश्चिम की ओर तीन मार्ग आमने-सामने एकही सीधमें होने चाहिए। इसी तरह तीन मार्ग उत्तर और तीन मार्ग दक्षिण की ओर होने चाहिएं। इस प्रकार ६ लम्बे मार्गोंमें गृहनिर्माण आदि के लिए निश्चित भूमि का विभाग करना चाहिए। **राजमार्ग**, **द्रोणमुख** (४०० गाँवों का प्रधानभूत केंद्रस्थान), **स्थानीय** (८०० गाँवों का प्रधानभूत केन्द्रस्थान), राष्ट्र तथा चरागाहों को जानेवाला मार्ग, व्यापारी मंडियों (संयानीय) का मार्ग, सेना का मार्ग, श्मशान तथा अन्य गाँवों को जानेवाला मार्ग ये सब आठ आठ दण्ड (४८ फुट) चौडे होने चाहिए। जलाशयों तथा जंगलों का मार्ग ४ दण्ड, हाथियों के चलने तथा खेतों में जाने का मार्ग दो दण्ड चौडा होना चाहिये।

+ शुक्रनीतिसार-अध्याय १, श्लोक २६०-२७४. × शुक्रनीतिसार-अध्याय ४, पृ० २, श्लोक १२९.

रथ का मार्ग पाँच अरत्नि (२॥ गज) और पशुओं का मार्ग चार अरत्नि (२ गज) चौडा रखना चाहिये । मनुष्यों तथा भेड बकरी और अन्य छोटे पशुओं के आने जाने के लिए दो अरत्नि (१ गज) ठीक है ।*

ये सब बातें केवल लिखनेही भरको नहीं थीं । प्राचीन इतिहास में भी बडी बडी सडकों का पता लगता है । हडप्पा, महेंजोदडों आदि में जो खोदाई हुई है, उसमें वहां की चौडी सडकें निकाली हैं, जिनके दोनों ओर पानी के निकास के लिए नालियाँ बनी हुई हैं । ये प्राचीन नगर ईसा से ३००० वर्ष पूर्व के माने जाते हैं । सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में (३२२-२९८ वर्ष पूर्वमसीह) आधे आधे कोस पर मीलों पत्थरके गडे रहते थे । पाटलिपुत्र से लेकर पश्चिमोत्तर सीमा तक एक लम्बी सडक बनी हुई थी× । भूगोल के प्राचीन लेखक स्ट्रैबो का कहना है कि यूनानी राजदूत मेगस्थनीजने इन मीलों की गिनतीसे ही भारत की पूर्व से पश्चिम तक की लम्बाई कूती थी । यही सडक आजकल की 'ग्रांड ट्रंक रोड' है ।

अशोक के एक शिलालेख में भी सडकों का उल्लेख है । उसमें लिखा है कि सडकों पर सघन वटवृक्ष, पशुओं तथा यात्रियों को छाया-प्रदान करने के लिए लगाये गये । प्रति आधे कोसपर कुएं खोदे गये और पान्थशालाएं बनायी गयीं । पशुओं और यात्रियों की सुविधा के लिए स्थान स्थान पर पानी का भी प्रबन्ध किया गया+ । चीनी यात्री फाहियान, जो पाँचवीं शताब्दी में भारत आया था, लिखता है कि सडकोंपर यात्रियों के ठहरने के लिए 'विश्रामशालाएं' बनी हुई थीं । दूसरे चीनी यात्री हुएं-त्संगने भी, जो सातवीं शताब्दी में आया था, सडकों का उल्लेख किया है । साथ ही उसने लिखा है कि वह कई जगह लूटा भी गया ।

मुसलमान शासकोंने भी सडकों का बराबर ध्यान रखा । इब्नबतूता, जो चौदहवीं शताब्दी में आया था, लिखता है कि दौलताबाद से लेकर दिल्ली तक बडी अच्छी सडक बनी हुई है । इसके दोनों ओर घने वृक्ष हैं । इसपर यात्रा करनेमें ऐसा जान पडता है कि मानो बगीचेमें घूमा जा रहा हो । हर तीन मील पर ठहरनेके स्थान बने हुए हैं । वहां खाने-पीने का प्रबन्ध है और गरीब यात्रियों को अपने साथ भोजन ले चलने की आवश्यकता नहीं पडती है । 'तारीख शेरशाही' में सडकों का जो विवरण दिया है, वह 'शुक्रनीति' में दिये हुए विवरण से बहुत कुछ मिलता-जुलता है ।

सन् १५४० से १५४५ तक शेरशाहने शासन किया । उसने बंगाल के सुनारगाव से लेकर पंजाब तक, आगरासे लेकर बरहानपुर तक, लाहोर से लेकर मुलतान तक सडकें बनवायीं । इन पर यात्रियों को आराम करने के लिये १७०० सरायें बनायी गयीं । हरएक सरायमें हिंदू तथा मुसलमानों के रहने के लिए अलग अलग स्थान थे । हर एक सराय के फाटक पर पीने के लिए पानी का प्रबन्ध था । उनमें हिंदुओंकी सुविधाके लिए ब्राह्मण रखे जाते थे । (मुसलमान शासक भी इसका ध्यान रखते थे) । यहां ठंडा तथा गरम पानी, चारपाई, खाने का सामान और घोडोंके लिए घास-दाना मिलता था ।

यहां यह नियम था कि जो कोई आये, उसको उसके पदानुसार संस्कार की ओर से खाने-पीनेका सामान दिया जाय और जानवरों के लिए चारा भी दिया जाय । इन सरायों के चारों ओर गांव बसाये गये थे । इमारत के बीचमें एक कुआ रहता था । खबर ले जाने के लिए दो घोडे भी तैयार रहते थे । एक बार आवश्यक खबर पहुंचाने के लिए ३०० कोस का सफर एकही दिनमें तयकर डाला गया । सडकों के दोनों ओर फलों के वृक्ष लगे थे । गरमी में जब लू चलती थी, इन सडकों पर चलनेवालों को कष्ट न होता था । जगह जगह पर आराम करने के लिए स्थान बने थे । मुगल जमाने की सडकों का हाल 'चहार गुलशन' में मिलता है । उसमें २४ बडी बडी सडकों के नाम दिए हैं, जिनमें १३ का पता लगाया जा चुका है । फ्रांसीसी यात्री टैवर्नियरने, जिसने सन १६२७ से १६४० तक भारतमें बहुत भ्रमण किया था, लिखता है कि भारत में यात्रा करना वैसाही सुगम था, जैसा कि यूरोप में ।

इस तरह प्राचीन काल से भारत में सडकों की सुव्यवस्था थी ।

('सिद्धान्त'से)

---

* अर्थशास्त्र--२, ४-२२, १-८ × स्मिथ-अर्ली हिस्री ऑफ इंडिया, ४, सं० पृ० १४२

+ केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया, जि० १, पृ० ८१०

३	८	भरद्वाजो बार्हस्पत्यः	१-८	अग्निः	८	
४	८	,,	१-८	,,	८	
५	७	,,	१-७	,,	७	
६	७	,,	१-७	,,	७	
७	७	,,	१-७	वैश्वानरोऽग्निः	७	२१
८	७	,,	१-७	,,	७	
९	७	,,	१-७	,,	७	
१०	७	,,	१-७	अग्निः	७	९८
११	६	,,	१-६	,,	६	
१२	६	,,	१-६	,,	६	
१३	६	,,	१-६	,,	६	
१४	६	,,	१-६	,,	६	
१५	१९	,, +	१-१९	,,	१९	
१६	४८	,,	१-४८	,,	४८	

(इति चतुर्थाष्टके पंचमोऽध्यायः ।)

१७	१५	,,	१-१५	इंद्रः	१५	६४
१८	१५	,,	१-१५	,,	१५	
१९	१३	,,	१-१३	,,	१३	
२०	१३	,,	१-१३	,,	१३	
२१	१२	,,	१-८	,,	८	
			९	विश्वे देवाः	१	
			१०	इंद्रः	१	
			११	विश्वे देवाः	१	
			१२	इंद्रः	१	५६
२२	११	,,	१-११	,,	११	
२३	१०	,,	१-१०	,,	१०	
२४	१०	,,	१-१०	,,	१०	
२५	९	,,	१-९	,,	९	
२६	८	,,	१-८	,,	८	
२७	८	,,	१-७	,,	७	
			८	चायमानः	१	
२८	८	,,	१	गावः	१	
			२	गवेंद्रौ	१	
			३-७	गावः	५	
			८	गवेंद्रौ	१	

(इति चतुर्थाष्टके षष्ठोऽध्यायः ।)

२९	६	भरद्वाजो बार्हस्पत्यः	१-६	इन्द्रः	६	१२८
३०	५	,,	१-५	,,	५	
३१	५	सुहोत्रो भारद्वाजः	१-५	,,	५	
३२	५	,,	१-५	,,	५	
३३	५	शुनहोत्रो भारद्वाजः	१-५	,,	५	
३४	५	,,	१-५	,,	५	
३५	५	नरो भारद्वाजः	१-५	,,	५	
३६	५	,,	१-५	,,	५	
३७	५	भरद्वाजो बार्हस्पत्यः×	१-५	,,	५	
३८	५	,,	१-५	,,	५	
३९	५	,,	१-५	,,	५	
४०	५	,,	१-५	,,	५	
४१	५	,,	१-५	,,	५	
४२	४	,,	१-४	,,	४	
४३	४	,,	१-४	,,	४	
४४	२४	शंयुर्बार्हस्पत्यः	१-२४	,,	२४	
४५	३३	,,	१-३०	,,	३०	
			३१-३३	बृबुस्तक्षा	३	
४६	१४	,,	१-१४	इंद्रः	१४	
४७	३१	गर्गो भारद्वाजः	१-५	सोमः	५	
			६-१९	इंद्रः	१४	
			२०	देवभूमिबृहस्पतींद्राः	१	
			२१	इंद्रः	१	
			२२-२५	प्रस्तोकः	४	
			२६-२८	रथः	३	
			२९-३०	दुंदुभिः	२	
			३१	दुंदुभींद्रौ	१	

(इति चतुर्थाष्टके सप्तमोऽध्यायः ।)

× (६।३) मित्रावरुणौ निपातिनौ (बृ०)। + (६।१५) वीतहव्य आङ्गिरसो वा। (६।३७।३) इन्द्रवायू, वायुर्निपातभाग्वा (बृ०) (६।४४।२२--२४) सोमो वा। (बृ०)(६।४५।३३) शंयोः पिता। (बृ०) (६।४७) (५) इन्द्रः सोमो निपातभाक् १, (२०) (क्रमेणपादाः) देवः, भूमिः, बृहस्पतिः, इन्द्रः १, (६।४७।२२--२५) सार्ञ्जयस्य प्रस्तोकस्य दानस्तुतिः। ४ (३१) (उत्तरार्धस्य) इन्द्रः। (बृ०)

४८	२२	शंयुर्बार्हस्पत्यः	१-१०	अग्निः		१०
			११-१५	मरुतः		५
			१६-१९	पूषा		४
			२०-२१	मरुतः		२
			२२	द्यावाभूमिर्वा पृश्निर्वा		१
४९	१५	ऋजिश्वा भारद्वाजः	१-१५	विश्वे देवाः+	१५	६३
५०	१५	,,	१-१५	,,	१५	
५१	१६	,,	१-१६	,,	१६	
५२	१७	,,	१-१७	,,	१७	
५३	१०	भरद्वाजो बार्हस्पत्यः	१-१०	पूषा	१०	३२
५४	१०	,,	१-१०	,,	१०	
५५	६	,,	१-६	,,	६	
५६	६	,,	१-६	,,	६	
५७	६	,,	१-६	इंद्रापूषणौ		६
५८	४	,,	१-४	पूषा		४
५९	१०	,,	१-१०	इंद्राग्नी	१०	२५
६०	१५	,,	१-१५	,,	१५	
६१	१४	,,	१-१४	सरस्वती		१४
(इति चतुर्थाष्टके अष्टमोऽध्यायः ।)						
६२	११	,,	१-११	अश्विनौ	११	२२
६३	११	,,	१-११	"	११	
६४	६	,,	१-६	उषाः	६	१२
६५	६	,,	१-६	"	६	
६६	११	,,	१-११	मरुतः		११
६७	११	,,	१-११	मित्रावरुणौ		११

६८	११	भरद्वाजो बार्हस्पत्यः	१-११	इन्द्रावरुणौ	११
६९	८	,,	१-८	इन्द्राविष्णू	८
७०	६	,,	१-६	द्यावापृथिवी	६
७१	६	,,	१-६	सविता	६
७२	५	,,	१-५	इन्द्रासोमौ	५
७३	३	,,	१-३	बृहस्पतिः	३
७४	४	,,	१-४	सोमारुद्रौ	४
७५	१९	पायुर्भारद्वाजः	१	वर्म	१
			२	धनुः	१
			३	ज्या	१
			४	धनुष्कोटिः	१
			५	इषुधिः	१
			६	सारथिरश्मिः	१
			७	अश्वाः	१
			८	रथः	१
			९	रथगोपाः	१
			१०	ब्राह्मणपितृसोमद्यावापृथिविपूषाणः	१
			११-१२	इषवः	२
			१३	प्रतोदः	१
			१४	हस्तत्राणः	१
			१५-१६	इषवः	२
			१७	युद्धभूमिकवचब्राह्मणस्पत्यादयः	१
			१८	वर्मसोमवरुणाः	१
			१९	देवब्रह्माणि	१

[इति षष्ठं मंडलं ।]

(६।४८) (१३--१५) लिंगोक्ताः ३, (१३) धेनुः । १ (१४) इन्द्र-वरुणा-यम-विष्णवः । १ (१५) मरुत्पूषाः । १ (ऋषिः शंयुर्बार्हस्पत्यः, तृणपाणिः)। (६।४९) (१) अग्निमित्रावरुणाः १ (१४) सविता १,

+ यद्वा (६।४९) (१) विश्वे देवाः १, (२) अग्निः १, (३) अहोरात्रे १, (४) वायुः १, (५) अश्विनौ १, (६) विश्वे देवाः १, (७) सरस्वती १, (८) पूषा १, (९) अग्नित्वष्टारौ १, (१०) रुद्रः १, (११-१२) मरुतः २, (१३) विष्णुः १, (१४-१५) विश्वे देवाः २ (एवं १५) ।

(६।५०) (१) विश्वे देवाः १, (२) सूर्यः १, (३) द्यावापृथिवी १, (४-५) रोदसी, मरुतः २, (६) इन्द्रः १, (७) अपः १, (८) सविता १, (९) अग्निः १, (१०) अश्विनौ १, (११-१५) विश्वे देवाः ५ (एवं १५) (६।५१) (१-२) सूर्यः २, (३-१२) विश्वे देवाः १०, (१३) अग्निः १, (१४) सोमः १, (१५-१६) विश्वे देवाः २, (एवं १६)। (६-५२) (१-२) विश्वे देवाः २, (३) सोमः १, (४-११) विश्वे देवाः ८, (१२) अग्निः १, (१३-१५) विश्वे देवाः ३ (१६) अग्निपर्जन्यौ १, (१७) विश्वे देवाः १, (एवं १७)

अथ सप्तमं मण्डलम् ।

१	२५	वसिष्ठो मैत्रावरुणिः	१	अग्निः		२५
(इति पंचमाष्टके प्रथमोऽध्यायः ।)						
२	११	,,	१	समिद्धोऽग्निः	१	
			२	नराशंसः	१	
			३	इळः	१	
			४	बर्हिः	१	
			५	देवीर्द्वारः	१	
			६	उषासानक्ते	१	
			७	दैव्यौ होतारौ प्रचेतसौ	१	
			८	सरस्वतीळाभारत्यः	१	
			९	त्वष्टा	१	
			१०	वनस्पतिः	१	
			११	स्वाहाकृतयः	१	
३	१०	,,	१-१०	अग्निः	१०	२०
४	१०	,,	१-१०	,,	१०	
५	९	,,	१-९	वैश्वानरोऽग्निः	९	१६
६	७	,,	१-७	,,	७	
७	७	,,	१-७	अग्निः	७	३३
८	७	,,	१-७	,,	७	
९	६	,,	१-६	,,	६	
१०	५	,,	१-५	,,	५	
११	५	,,	१-५	,,	५	
१२	३	,,	१-३	,,	३	
१३	३	,,	१-३	वैश्वानरोऽग्निः		३
१४	३	,,	१-३	अग्निः		३७
१५	१५	,,	१-१५	,,	१५	

१६	१२	वसिष्ठो मैत्रावरुणः	१-१२	अग्निः	१२	
१७	७	,,	१-७	,,	७	
१८	२५	,,	१-२१	इंद्रः		२१
			२२-२५	सुदाः पैजवनः		४
१९	११	,,	१-११	इंद्रः	११	१२२
(इति पंचमाष्टके द्वितीयोऽध्यायः ।)						
२०	१०	,,	१-१०	,,	१०	
२१	१०	,,	१-१०	,,	१०	
२२	९	,,	१-९	,,	९	
२३	६	,,	१-६	,,	६	
२४	६	,,	१-६	,,	६	
२५	६	,,	१-६	,,	६	
२६	५	,,	१-५	,,	५	
२७	५	,,	१-५	,,	५	
२८	५	,,	१-५	,,	५	
२९	५	,,	१-५	,,	५	
३०	५	,,	१-५	,,	५	
३१	१२	,,	१-१२	,,	१२	
३२	२७	,,❀	१-२७	,,	२७	
३३	१४	१-९	१-९	वसिष्ठपुत्राः❁		९
		१०-१४ वसिष्ठपुत्रः	१०-१४	वसिष्ठः		५
३४	२५	वसिष्ठो मैत्रावरुणिः	१-१५	विश्वे देवाः×		१५
			१६	अहिः		१
			१७	अहिर्बुध्न्यः		१
			१८-२५	विश्वे देवाः✿	८	४०
३५	१५	,,	१-१५	,,	१५	
(इति पञ्चमाष्टके तृतीयोऽध्यायः ।)						

(६।७५) (१) वर्मी १, (८) आयुधागारं १, (१२) कवचं १, (१५) [प्रथमपादे] दिग्धइषुः, [द्वितीयपादे] अयोमुखी, [उत्तरार्धे] वारुणास्त्रं १, (१६) धनुर्युक्त इषुः १, (१७) कवचं १, (१८) युयुत्सुः १ ।

❀ [७।३२] २६ ऋषिः– पूर्वार्धस्य शक्तिर्वासिष्ठो वा (शाट्यायने ब्राह्मणे), २६-२७ शक्तिर्वासिष्ठो वा (ताण्ड्यब्राह्मणे)।

❁ (७।३३।१-९) इंद्रो वा । × (७।३४) (१) देवाः १, (२) अपः १, (३-४) इंद्रः २, (५-७) यज्ञः ३, (८-९) देवाः २, (१०) वरुणः १, (११-१३) देवाः ३, (१४) अग्निः १, (१५) अपांनपात् १, (१६) अहिः १, (१७) अहिर्बुध्न्यः १ (१८-१९) देवाः २, (२०) देवपत्नीत्वष्टारौ १, (२१) त्वष्टा १, (२२-२५) विश्वे देवाः ४ (एवं २५)

✿ (७।३४।१८-२५) यद्वा (१८-२०) विश्वे देवाः ३, (२१) त्वष्टा १, (२२) रोदसी १, (२३) आपः १, (२४) वरुणेन्द्र-मरुतः १, (२५) इन्द्रवरुणमित्राग्निरबोषधिमरुतः १।

❀

३६	९	वसिष्ठो मैत्रावरुणिः	१-९	विश्वे देवाः	९	
३७	८	,,	१-८	,,	८	
३८	८	,,	१-६	सविता	६	
			७-८	वाजिनाः	२	
३९	७	,,	१-७	विश्वे देवाः	७	१४
४०	७	,,	१-७	,,	७	
४१	७	,,	१	अग्नींद्रमित्रावरुणाश्विभगपूषब्रह्मणस्पतिसोमरुद्राः	१	
			२-६	भगः	५	
			७	उषाः	१	
४२	६	,,	१-६	विश्वे देवाः	६	११
४३	५	,,	१-५	,,	५	
४४	५	,,	१	दधिक्राश्व्युषोऽग्निभगेंद्रविष्णुपूषब्रह्मणस्पत्यादित्यद्यावापृथिव्यापः	१	
			२-५	दधिक्राः	४	
४५	४	,,	१-४	सविता	४	
४६	४	,,	१-४	रुद्रः	४	
४७	४	,,	१-४	आपः	४	
४८	४	,,	१-४	ऋभवः	४	
४९	४	,,	१-४	आपः	४	
५०	४	,,	१	मित्रावरुणौ	१	
			२	अग्निः	१	
			३	विश्वे देवाः	१	
			४	नदी	१	
५१	३	,,	१-३	आदित्याः	३	६
५२	३	,,	१-३	,,	३	
५३	३	,,	१-३	द्यावापृथिवी	३	
५४	३	,,	१-३	वास्तोष्पतिः	३	४
५५	८	,,	१	,,	१	
			२-८	प्रस्वापिनी (इंद्रः)	७	
५६	२५	,,	१-२५	मरुतः	२५	४९
५७	७	,,	१-७	,,	७	
५८	६	वसिष्ठो मैत्रावरुणिः	१-६	मरुतः	६	
५९	१२	,,	१-११	,,	११	
			१२	रुद्रः	१	

(इति पंचमाष्टके चतुर्थोऽध्यायः।)

६०	१२	,,	१	सूर्यः	१	
			२-१२	मित्रावरुणौ	११	१८
६१	७	,,	१-७		७	
६२	६	,,	१-३	सूर्यः	३	
			४-६	मित्रावरुणौ	३	
६३	६	,,	१-४	सूर्यः	४	
			५	सूर्यमित्रावरुणाः	१	
			६	मित्रावरुणौ	१	१४
६४	५	,,	१-५	,,	५	
६५	५	,,	१-५	,,	५	
६६	१९	,,	१-३	,,	३	
			४-१३	आदित्यः	१०	
			१४-१६	सूर्यः	३	
			१७-१९	मित्रावरुणौ	३	
६७	१०	,,	१-१०	अश्विनौ	१०	५६
६८	९	,,	१-९	,,	९	
६९	८	,,	१-८	,,	८	
७०	७	,,	१-७	,,	७	
७१	६	,,	१-६	,,	६	
७२	५	,,	१-५	,,	५	
७३	५	,,	१-५	,,	५	
७४	६	,,	१-६	,,	६	
७५	८	,,	१-८	उषाः	८	४०
७६	७	,,	१-७	,,	७	
७७	६	,,	१-६	,,	६	
७८	५	,,	१-५	,,	५	
७९	५	,,	१-५	,,	५	
८०	३	,,	१-३	,,	३	
८१	६	,,	१-६	,,	६	

(इति पंचमाष्टके पंचमोऽध्यायः।)

× (७।३८।६ उत्तरार्धः) भगो वा। * (७।४९।४) विश्वे देवाः वा।

८२	१०	वसिष्ठो मैत्रावरुणिः	१-१०	इंद्रावरुणौ	१०	३०
८३	१०	,,	१-१०	,,	१०	
८४	५	,,	१-५	,,	५	
८५	५	,,	१-५	,,	५	
८६	८	,,	१-८	वरुणः	८	२७
८७	७	,,	१-७	,,	७	
८८	७	,,	१-७	,,	७	
८९	५	,,	१-५	,,	५	
९०	७	,,	१-४	वायुः		४
			५-७	इन्द्रवायू		३
९१	७	,,	१	वायुः		१
			२	इन्द्रवायू		१
			३	वायुः		१
			४-७	इन्द्रवायू		४
९२	५	,,	१	वायुः		१
			२	इन्द्रवायू		१
			३	वायुः		१
			४	इन्द्रवायू		१
			५	वायुः		१
९३	८	,,	१-८	इन्द्राग्नी	८	२०
९४	१२	,,	१-१२	,,	१२	
९५	६	,,	१-२	सरस्वती		२
			३	सरस्वान्		१
			४-६	सरस्वती	३	६
९६	६	,,	१-३	,,	३	
			४-६	सरस्वान्		३
९७	१०	,,	१	इन्द्रः		१
			२	बृहस्पतिः		१
			३	इंद्राब्रह्मणस्पती		१
			४-८	बृहस्पतिः		५
			९	इंद्राब्रह्मणस्पती		१
			१०	इंद्राबृहस्पती		१
९८	७	,,	१-६	इन्द्रः		६
			७	इंद्राबृहस्पती		१
९९	७	वसिष्ठो मैत्रावरुणिः	१-३	विष्णुः		३
			४-६	इंद्राविष्णू		३
			७	विष्णुः	१	८
१००	७	,,	१-७	,,	७	

(इति पंचमाष्टके षष्ठोऽध्यायः)

१०१	६	,,×	१-६	पर्जन्यः	६	९
१०२	३	,,×	१-३	,,	३	
१०३	१०	,,	१-१०	मंडूकाः		१०
१०४	२५	,,	१-७	इंद्रासोमौ		७
			८	इंद्रः		१
			९	सोमः		१
			१०	अग्निः		१
			११	विश्वे देवाः		१
			१२-१३	सोमः		२
			१४	अग्निः		१
			१५	इंद्रासोमौ		१
			१६	इंद्रः		१
			१७	ग्रावाणः		१
			१८	मरुतः		१
			१९-२२	इंद्रः		४
			२३	वसिष्ठाशीःपृथिव्यंतरिक्षाणि		१
			२४-२५	इन्द्रासोमौ		२

(इति सप्तमं मंडलं ।)

अथाष्टमं मण्डलम् ।

१	३४	१-२ प्रगाथः काण्वः				
		३-२९ मेधातिथि-मेध्यातिथी	१-२९	इंद्रः		२९
		३०-३३ आसङ्गः प्लायोगिः	३०-३३	आसंगमास्मा		४
		३४ शश्वती आङ्गिरसी ऋषिका	३४	आसंगः		१
२	४२	१-४० मेधातिथिः काण्वः प्रियमेधश्चाङ्गिरसः	१-४०	इंद्रः		

× (७।१०१,१०२) वसिष्ठो मैत्रावरुणिः (वृष्टिकामः) कुमार आग्नेयो वा । (७।१०३) पर्जन्योः वा ।

४१-४२मेध्यातिथिः
काण्वः ४१-४२ विभिंदुः २
३ २४मेध्यातिथिः काण्वः१-२० इंद्रः २०
२१-२४ पाकस्थामा ४
४ २१ देवातिथिः काण्वः १-१८ इंद्रः× १८
१९-२१ कुरुंगः ३
(इति पंचमाष्टके सप्तमोऽध्यायः।)
५ ३९ब्रह्मातिथिः काण्वः १-३६ अश्विनौ ३६
३७ अश्विकशुः १
३८-३९ कशुः २
६ ४८ वत्सः काण्वः १-४५ इंद्रः ४५
४६-४८ तिरिंदिरः ३
७ ३६ पुनर्वत्सः काण्वः १-३६ मरुतः ३६
८ २३ सध्वंसः काण्वः १-२३ अश्विनौ २३ ५०
९ २१ शशकर्णः काण्वः१-२१ ,, २१
१० ६ प्रगाथो घौरः काण्वः १-६ ,, ६
११ १० वत्सःकाण्वः १-१० अग्निः १०
(इति पंचमाष्टके अष्टमोऽध्यायः।)
१२ ३३ पर्वतः काण्वः १-३३ इंद्रः ३३ १२१
१३ ३३ नारदः काण्वः १-३३ ,, ३३
१४ १५गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ
काण्वायनौ १-१५ ,, १५
१५ १३ ,, १-१३ ,, १३
१६ १२ इरिम्बिठिः
काण्वः १-१२ ,, १२
१७ १५ ,, १-१५ ,, १५
१८ २२ ,, १-३ आदित्याः ३
४ अदितिः १
५ आदित्याः १
६-७ अदितिः २
८ अश्विनौ १
९ अग्निसूर्यानिलाः १
१०--२२ आदित्याः १३

१९ ३७ सोभरिः काण्वः१--३३ अग्निः ३३
३४--३५ आदित्याः २
३६--३७ त्रसदस्युः पौरुकुत्स्यः २
२० २६ ,, १--२६ मरुतः २६
(इति षष्ठाष्टके प्रथमोऽध्यायः।)
२१ १८ ,, १--१६ इंद्रः १६
१७--१८ चित्रः २
२२ १८ ,, १--१८ अश्विनौ १८
२३ ३० विश्वमना
वैयश्वः १--३० अग्निः ३०
२४ ३० ,, १--२७ इंद्रः २७
२८--३० वरुः सौषाम्णिः ३
२५ २४ ,, १--९ मित्रावरुणौ ९
१०--१२ विश्वे देवाः ३
१३--२४ मित्रावरुणौ १२
२६ २५ ,,* १--१९ अश्विनौ १९
२०--२५ वायुः ६
२७ २२ मनुर्वैवस्वतः १-२२ विश्वे देवाः २२ ४१
२८ ५ ,, १-५ ,, ५
२९ १० ,,* १-१० ,, १०
३० ४ ,, १-४ ,, ४
३१ १८ ,, १-२ यज्ञः १
३-४ यजमानः २
५-९ दंपती ५
१०-१८ दंपत्याशिषः ९
(इति षष्ठाष्टके द्वितीयोऽध्यायः।)
३२ ३० मेधातिथिः काण्वः१-३० इंद्रः ३० ६७
३३ १९ ,, १-१९ ,, १९
३४ १८ नीपातिथिःकाण्वः१-१५ ,, १५
१६-१८ सहस्रं वसु-
रोचिषोऽङ्गिरसः १६-१८ ,, ३
३५ २४श्यावाश्व आत्रेयः१-२४ अश्विनौ २४

× (८।४।१५-१८) पूषा वा। (८।१२-१७) शौनकीयमते तु इंद्रः ११९, (८।१७) (१४) वास्तोष्पतीद्रौ १, (१५) इंद्रः १, इति विशेषः (एवं १२१)। (८।१७।१४) वास्तोष्पतिर्वा। (८।२६) व्यश्वो वाङ्गिरसऋषिः। (८।२९) कश्यपो मारीचो वा।

३६	७ श्यावाश्व आत्रेयः	१-७	इंद्रः	७	१४
३७	७ ,,	१-७	,,	७	
३८	१० ,,	१-१०	इन्द्राग्नी		१०
३९	१०नाभाकः काण्वः	१-१०	अग्निः		१०
४०	१२ ,,	१-१२	इन्द्राग्नी		१२
४१	१० ,,	१-१०	वरुणः	१०	१३
४२	६ ,,❀	१-३	,,	३	
		४-६	अश्विनौ		३
४३	३३विरूप आङ्गिरसः	१-३३	अग्निः	३३	६३
४४	३० ,,	१-३०	,,	३०	
४५	४२त्रिशोकः काण्वः	१	अग्नींद्रौ		१
		२-४२	इन्द्रः	४१	६१
(इति षष्ठाष्टके तृतीयोऽध्यायः।)					
४६	३३ वशोऽश्व्यः	१-२०	,,	२०	
		२१-२४	पृथुश्रवाः कानीतः		४
		२५-२८	वायुः		४
		२९-३१	इंद्रः		३
		३२	वायुः		१
		३३	इंद्रः		१
४७	१८ त्रित आप्त्यः	१--१३	आदित्याः		१३
		१४-१८	आदित्योषसः		५
४८+	प्रगाथो घोरः काण्वः	१-१५	सोमः		१५
६०	२० भर्गः प्रागाथः	१-२०	अग्निः		२०
६१	१८ ,,	१-१८	इंद्रः	१८	४१
६२	१२ प्रगाथः काण्वः	१-१२	,,	१२	
६३	१२ ,,	१-११	,,	११	
		१२	देवाः		१
६४	१२ ,,	१-१२	इंद्रः	१२	३९
६५	१२ प्रगाथः काण्वः	१-१२	इन्द्रः	१२	
६६	१५ कलिः प्रागाथः	१-१५	,,	१५	
६७	२१मत्स्यः साम्मदः, मान्यो मैत्रावरुणिः, बहवो वा मत्स्या जालनद्धाः	१-९	आदित्याः		९
		१०-१२	अदितिः		३
		१३-२१	आदित्याः		९
(इति षष्टाष्टके चतुर्थोऽध्यायः।)					
६८	१९ प्रियमेध आङ्गिरसः	१-१३	इंद्रः		१३
		१४-१९	ऋक्षाश्वमेधौ		६
६९	१८ ,,	१-१०	इंद्रः		१०
		११	विश्वदेववरुणाः		१
		१२	वरुणः		१
		१३-१८	इंद्रः	६	२१
७०	१५ पुरुहन्मा आङ्गिरसः	१-१५	,,	१५	
७१	१५ सुदीतिपुरुमीळ्हौ	१-१५	अग्निः	१५	३३
७२	१८ हर्यतः प्रागाथः	१-१८	,,	१८	
७३	१८ गोपवन आत्रेयः सप्तवध्रिर्वा	१-१८	अश्विनौ		१८
७३	१५गोपवन आत्रेयः	१-१२	अग्निः		१२
		१३-१५	श्रुतर्वा आर्क्ष्यः		३
७५	१६ विरूप आङ्गिरसः	१-१६	अग्निः		१६
७६	१२ कुरुसुतिः काण्वः	१-१२	इन्द्रः	१२	३३
७७	११ ,,	१-११	,,	११	
७८	१० ,,	१..१०	,,	१०	

× अत्र २७ विश्वश्वोत्तरं बभ्रुसूक्ते भेदपक्षे (८।२९) (१) सोमः १, (२) अग्निः १, (३) त्वष्टा १, (४) इन्द्रः १, (५) रुद्रः १, (६) पूषा १, (७) विष्णुः १, (८) अश्विनौ १, (९) मित्रावरुणौ १, (१०) अश्विनौ १, (एवं १०) (८।३१) (१--२) इंद्रः २, (३--४) यजमानः २, (५-९) दंपती ५, (१०) यजमानपत्न्याशिषः १, (११--१२) पूषा २, (१३) मित्रार्यमावरुणाः १, (१४) अग्निः १, (१५--१८) यजमानः ४ (एवं १८)।

(+अत्र वालखिल्यसूक्तानि सू० ४९-५९ न संगृहीतानि) ❀ (८।४२) अर्चनाना वात्रेयः।

+अत्रैकादशसूक्तात्मकवालखिल्याध्यायस्य देवतान्वाधानबुभुत्सायां (८।४९-५४) इंद्रः ५०, (३-४) विश्वे देवाः २, (५-८) इंद्रः १३, अग्निसूर्यौ १, अश्विनौ ४, विश्वे देवाः ३, इंद्रावरुणौ ७, इति क्रमः। परमभियुक्ताः स्वाहाकारे नेममुपयुञ्जन्ति।

(८।७१) सुदीतिपुरुमीळ्हावाङ्गिरसौ तयोर्वान्यतरः। (८।७२) हर्वींषि वा।

७९	९ कृत्नुर्भार्गवः	१--९	सोमः		९
८०	१० एकद्यूनौंधसः	१--९	इंद्रः		९
		१०	देवाः		१
८१	९ कुसीदी काण्वः	१--९	इंद्रः	९	१८
(इति षष्ठाष्टके पंचमोऽध्यायः ।)					
८२	९ ,,	१-९	,,	९	
८३	९ ,,	१--९	विश्वे देवाः		९
८४	९ उशना काव्यः	१--९	अग्निः		९
		६४	इंद्रर्भवः		१
८५	९ कृष्ण आङ्गिरसः	१-९	अश्विनौ	९	२०
८६	५ ,,	१--५	,,	५	
८७	६ ,,	१--६	,,	६	
८८	६ नोधा गौतमः	१--६	इन्द्रः	६	९१
८९	७ नृमेध-पुरुमेधा-वाङ्गिरसौ	१--७	,,	७	
९०	६ ,,	१--६	,,	६	
९१	७ अपाला आत्रेयी	१--७	,,	७	
९२	३३ श्रुतकक्षः	१--३३	,,	३३	
९३	३४ सुकक्ष आङ्गिरसः	१--३३	,,	३३	
		३४	इन्द्र-ऋभवश्च		१
९४	१२ बिन्दुः पूतदक्षो वा आङ्गिरसः	१--१२	मरुतः		१२
९५	९ तिरश्चीराङ्गिरसः	१--९	इंद्रः	९	२२
९६	२१ ,,	१--१३	,,	१३	
		१४	इंद्रामरुतौ		१
		१५	इंद्राबृहस्पती		१
		१६-२१	इंद्रः	६	४८
९७	१५ रेभः काश्यपः	१--१५	इन्द्रः	१५	
(इति षष्ठाष्टके षष्ठोऽध्यायः ।)					

९८	१२ नृमेध आङ्गिरसः	१--१२	इन्द्रः	१२	
९९	८ ,,	१--८	,,	८	
१००	१२ नेमो भार्गवः	१-३, ६-१२			
	४--५ इन्द्रः	१--७	,,	७	
	८--१२ नेमः	८	सुपर्णः		१
		९	वज्रः		१
		१०--११	वाक्		१
		१२	इंद्रः		१
१०१	१६ जमदग्निर्भार्गवः	१--४	मित्रावरुणौ		४
		५	मित्रावरुणादित्याः		१
		६	आदित्याः		१
		७--८	अश्विनौ		२
		९--१०	वायुः		२
		११--१२	सूर्यः		२
		१३	उषाः		१
		१४	पवमानः		१
		१५--१६	गौः		२
१०२	२२ प्रयोगो भार्गवः	१--२२	अग्निः	२२	३५
१०३	१४ सोभरिः काण्वः	१-१३	,,	१३	
		१४	अग्नामरुतः		१

[इति अष्टमं मंडलं ।]

अथ नवमं मंडलम् ।

१	१० मधुच्छंदा वैश्वामित्रः	१--१०	पवमानः सोमः	१०	४०
२	१० मेधातिथिः काण्वः	१--१०	,,	१०	
३	१० शुनःशेपः आजीगर्तिः	१--१०	,,	१०	
४	१० हिरण्यस्तूप आंगिरसः	१--१०	,,	१०	

(८।८३) (१--३) विश्वे देवाः ३, (४) अर्यमावरुणौ १, (५-९) विश्वे देवाः

(८।८६) विश्वको वा कार्ष्णिः । (८।८७) द्युम्नीको वा वासिष्ठः प्रियमेध आङ्गिरसो वा।

(८।९२) सुकक्षो आङ्गिरसोः वा। (८।९६) द्युतानो मारुतो वा । (८।१०२) पावकोऽग्निर्बार्हस्पत्यो वा, गृहपति-यविष्ठौ सहसः पुत्रान्यवतरो वा ।

से पूर्व 'सोमस्य०' (ऋ० ३।१) इत्यादि सूक्तों से प्रधान होने से अग्नि की स्तुति है। 'इच्छन्ति त्वा०' (३।३०) सूक्त तथा उस से अगला सूक्त भी इन्द्रदेवता का है। छन्द, देवता और मन्त्रसंख्या समान होनेसे (३।३१) सूक्त 'कुशिक ऐषीरथि' दृष्ट बीचमें आ गया है।

१७. इन्द्रापर्वता बृहता विश्वामित्रार्षमुच्यते ।
अनुवाकः समाप्तश्च तत आगात् प्रजापतिः ॥
१८. इमं महे विदथ्याय त्रीण्यपश्यत् प्रजापतिः ।
वैश्वदेवानि सूक्तानि वैश्वदेवमथामितः ॥

'इन्द्रापर्वता बृहता०' (ऋ० ३।५३)

यह सूक्त विश्वामित्र ऋषि दृष्ट है, यहां ही (चतुर्थ) अनुवाक समाप्त होता है। इस के अनन्तर 'प्रजापति वैश्वामित्र' ऋषिदृष्ट तीन सूक्त हैं—

'इमं महे विदथ्याय०' (ऋ० ३।५४,५५,५६)

ये तीनों सूक्त 'विश्वे देव' देवता के हैं। इसके अनन्तर फिर अमित ऋषि विश्वामित्र दृष्ट ही विश्वेदेव देवता के सूक्त—

'प्र मे विविक्वाँ०' (ऋ० ३।५७) पठित हैं।

१९. इन्द्रा को वां वरुणेति सूक्तमाहुर्द्विदैवतम् ।
एष स्य भानुरिति च वामदेवस्तयोर्ऋषिः ॥
२०. त्रसदस्युस्तयोर्मध्ये सौहोत्रावापि चा गतौ ।
द्विदैवत्यत्व सामान्यादावापस्तत्र युज्यते ॥
२१. तत्राजगाम प्रथमं त्रसदस्युर्मम द्विता ।
इन्द्रा को वामितीन्द्रस्य प्रसङ्गादिति निश्चयः ॥

इन्द्रा को वां वरुणा०' (ऋ० ४।४१)

यह सूक्त इन्द्र और वरुण इन दो देवतावाला है। इसी प्रकार—

एष स्य भानु० (ऋ० ४।४५)

यह सूक्त अश्वियों का द्विदैवत सूक्त है, दोनों सूक्तोंका ऋषि वामदेव गौतम है। इन दोनों सूक्तों के बीच में त्रसदस्यु-दृष्ट सूक्त (ऋ० ४।४२) और (ऋ० ४।४३ व ४४) दो सूक्त सुहोत्रके पुत्र पुरुमीळ्ह और अजमीळ्ह-दृष्ट आ गये हैं। ये सूक्त भी द्विदैवत्य होने से इनका यहां आ जाना ठीक है।

त्रसदस्यु-दृष्ट मम द्विता० (ऋ० ४।४२) सूक्त इन्द्र के प्रसङ्ग से ही आया है। क्योंकि पूर्व सूक्त इन्द्रा को वां० (ऋ० ४।४१) सूक्त में भी इन्द्र का प्रसङ्ग है।

२२. ऋषिर्नास्त्यमितोऽत्रीणां किन्त्वत्रिः पुनरागतः
ददर्शामीत्यग्निरिति सूक्तं च तत उत्तरम् ॥
२३. द्विदैवत्येषु सूक्तेषु यान्यासन्नाश्विनानि च ।
छन्दश्चानुगुणं तत्र तस्मात्स पुनरागतः ॥

अत्रि गोत्र के ऋषियोंमें अमित ऋषि कोई नहीं है। तो भी 'अत्रिभौम' दृष्ट सूक्त पुनः भी आया है, जैसे—

(ऋ० ५।३७) से लेकर ४३ तक अत्रिभौमदृष्ट सूक्त है, परन्तु सूक्त ७६ और ७७ सूक्त अत्रिदृष्ट पुनः आये हैं। इसका कारण यह है कि आश्विन सूक्तोंमें जो द्विदैवत्य सूक्त हैं उनमें छन्दकी समानता है, इसलिये वे पुनः आये हैं।

२४. अमितर्षौ भरद्वाजे वीतहव्योऽभ्यगाद् ऋषिः ।
आद्यानुवाकावसान इममूषु वो अतिथिम् ॥
२५. अभूरेको रयिपते सुहोत्रः सूक्तयोर्ऋषिः ।
तद्भ्रातरौ ददृशतुश्चत्वारि क्रमशस्ततः ॥
२६. शुनहोत्रो नरश्चेति भरद्वाजस्ततोऽमितः ।
सर्वाणि त्रैष्टुभान्येव सूक्तानीन्द्रश्च देवता ॥
२७. स्थितानि चानुवाकस्य मध्ये नाद्यन्तयोः पुनः ।
भूय इद्वावृधे सूक्तं पञ्चर्चं तत्प्रसंगतः ॥
२८. पञ्चर्चानामावपनं तत्रेति कवयो विदुः ।

अमित ऋषि भरद्वाज-दृष्ट सूक्तों में 'वीतहव्य' आंगिरस ऋषिदृष्ट सूक्त इममूषु० (ऋ० ६।१५) आ गया है। इस के पूर्व आद्य अनुवाक समाप्त होता है, इसी प्रकार अभूरेको रयिपते० (ऋ० ६।३१,३२) इन दोनों सूक्तों का द्रष्टा 'सुहोत्र' है और इससे आगेके चार सूक्त(३३-३६) शुनहोत्र और नर ऋषि के दृष्ट हैं, ये दोनों सुहोत्र के भाई हैं। उनके पश्चात् फिर अमित ऋषि भरद्वाज-दृष्ट (३७) सूक्त हैं। ये सब सूक्त त्रिष्टुप् छन्द हैं और इन्द्रदेवताके हैं। ये सूक्त अनुवाक (सू० २४।४३ तक) के मध्य में हैं, आदि और अन्त में नहीं हैं। भूय इद्वावृधे०(ऋ० ६।३०) सूक्त पांच ऋचावाला है। उसी प्रसंग में सुहोत्र, शुनहोत्र और नर के दृष्ट ५।५ ऋचाके सूक्त साथ ही पठित हैं, ऐसा विद्वानों का मत है।

२९. स्वादुष्किलेति तन्मध्ये मितो गर्गः समागतः।
शंयुरस्तौत् त्रिभिः सूक्तैरिन्द्रं गर्गस्तदाभ्यगात्॥
३०. यज्ञायज्ञा वैश्वदेवमुत्तराण्यृजिश्वनः।
सूक्तानि वैश्वदेवानि पायुरन्ते व्यवस्थितः॥

इसी प्रकार शंयु ऋषिने तीन सूक्तों (सू० ४४-४६) से इन्द्र की स्तुति की, इसके पश्चात् गर्ग ऋषि का सूक्त '<u>स्वा</u>दुष्कि<u>ला</u>यं०' सूक्त (४७) आगया। इसके पश्चात् शंयु-दृष्ट सूक्त (४८) '<u>य</u>ज्ञायंज्ञा' ० है। फिर ऋजिश्वादृष्ट सूक्त (४९-५) विश्वेदेव दैवत्य होनेसे आये हैं। इसी प्रकार पायुदृष्ट बहुदैवत्य सूक्त मण्डल के अन्त में विद्यमान है।

आगच्छन्ति तत्कुलीनास्तस्य मध्येऽमितर्षयः।
छन्दो-दैवत-संख्यार्थ-जन्म-क्रम-विरामतः॥

इस प्रकार गोत्रप्रवर्त्तक अमित ऋषि के बीच उसके कुलके मित ऋषि छन्द, देवता, मन्त्रसंख्या, अर्थ, जन्म-क्रम और विराम के अनुसार आये हैं।

इमां सूक्ष्मेक्षिकां कुर्वन्न मन्त्रार्थेषु मुह्यति।
बहुभिर्हेतुभिः कुर्यात् तां सर्वत्रेति पण्डिताः॥

इस प्रकार की सूक्ष्म दृष्टि रहते हुए विद्वान्को मन्त्रार्थों में भ्रम नहीं होता, इसलिए ऐसी दृष्टि अनेक प्रकारके हेतु-निमित्त देखकर करनी चाहिये, ऐसा विद्वानों का मत है।

॥ इति तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः।

प्र ब्रह्मैतु सदध्यायं व्याचिख्यासति माधवः।
अनेकर्षीषु सूक्तेषु वक्तव्यं संप्रदर्शयन्॥

प्र <u>ब्र</u>ह्मैतु सद॑ना<u>दृ</u>तस्य०।

(ऋ० अ० ५, अ० ४; ऋ० मं० ७, सू० ३६)

इत्यादि अध्याय की व्याख्या करनेके पूर्व माधव अनेक ऋषियों से दृष्ट सूक्तों के सम्बन्धमें प्रवचन करते हैं।

१. ऋषयः सूक्तमेकं सदपश्यन् बहवः कथम्।
सङ्घीभूय तपस्तप्त्वा सर्व एव सहापठन्॥
इति केचन मन्यन्ते माधवस्य न तन्मतम्।

एक सूक्त को बहुतसे ऋषियोंने किस प्रकार देखा? इस सम्बन्धमें कुछ विद्वान् मानते हैं कि कुछ ऋषियोंने एक संघ बनाकर तप करके सबने एक साथही एक सूक्त का उच्चारण किया। परन्तु माधव का ऐसा मत नहीं है। क्योंकि—

नाम्नि सूक्ते श्रूयमाणे शक्यमेवं प्रभाषितुम्॥
३. एना वयं पयसेति संवादे यन्नदीवचः।
तत्रैवं शक्यते वक्तुं नाम ह्यत्र निवेशितम्॥
४. यमग्ने वाजसातम सूक्ते नाम च कीर्त्यते।
प्रयस्वन्तो हवामहे शक्यं तत्रापि भाषितुम्॥
५. एवाँ अग्निं वसूयवः सूक्ते सामान्यतः कृतः।
'वसूयु'नाम निर्देशः सन्त्यन्येऽपि च तादृशाः॥

यदि सूक्तमें नाम पढा हो, तो इस प्रकार कहा जा सकता है।

<u>ए</u>ना <u>व</u>यं पय॑<u>सा</u>० (ऋ० ३।३३।४)

इस संवादमें जो नदियोंके वचन हैं, वहां ऐसा कहा जा सकता है, क्योंकि इस स्थलपर नाम भी पढा है-

'<u>किं</u>युर्विप्रो न<u>द्यो</u> जोहवीति।' (ऋ० ३।३३।४)

इसी प्रकार-

'यमंग्ने वाजसत<u>म</u>०' (ऋ० ५।२०।१-४)

इस सूक्तमें भी नाम पढा है-

'प्रयस्वन्तो हवामहे।' (ऋ० ५।२०।३)

वहां भी कहा जा सकता है कि इस सूक्तके ऋषि बहुत से 'प्रयस्वान्' हैं। इसी प्रकार-

<u>ए</u>वाँ <u>अ</u>ग्निं व॑सूयवः। (ऋ० ५।२५।९)

इस मंत्रमें सूक्तके द्रष्टा ऋषियोंका सामान्य नाम एक साथ देखा है। परन्तु सूक्तमें एकका नामही पढा गया है-

गविष्ठिरो नमसा स्तोम० । (ऋ० ५।१।१२)
इस मन्त्रमें 'गविष्ठिर' का नाम है, बुध का नाम पठित नहीं है।

यदिन्द्राहं यथा त्वम्० । (ऋ० ८।१४।१)
इस सूक्त के भी दो ऋषि माने जाते हैं। इस सूक्तमें भी 'अहं स्तोता' में इस प्रकार एकके समानही निर्देश है, 'आ वाम्' इस प्रकार दो का निर्देश नहीं है।

आ यदिन्द्रश्च दद्वहे सहस्रं वसुरोचिषः ।
(ऋ० ८।३४।१६-१८)

इत्यादि तीन मन्त्रोंमें भी एक का ही निर्देश है—

तिष्ठ वनस्य मध्य आ । (ऋ० ८।३४।१८)
परन्तु यहां भी इन तीनों ऋचाओं का द्रष्टा 'सहस्र वसुरोचिष् अंगिरस्' हैं। इसी प्रकार—

त्यान्नु क्षत्रियाँ अव० । (ऋ० ८।६७।१)
इत्यादि सूक्तके ऋषि 'मत्स्य साम्मद,' 'मान्य मैत्रावरुणि' वा बहुतसे 'जालनद्ध मत्स्य' बतलाये जाते हैं। वहां भी एककाही निर्देश है-

उत त्वामदिते मह्यहं ।
'वसुयवः' निर्देश किया है। इसी प्रकार और भी ऐसे अनेक स्थल हैं।

६. अबोध्यग्निः समिधेति सूक्तं बुधगविष्ठिरौ ।
सहैकं द्वौ ददृशतुरेकः सूक्ते तु कीर्त्यते ॥
७. गविष्ठिरो नमसेति बुधस्तत्र न कीर्तितः ।
यदिन्द्राहं यथा त्वं च सूक्तमार्षं द्वयोर्मतम् ॥
८. अहं यथा त्वमीशीय स्तोता म इति दृश्यते ।
एकवत्तत्र निर्देशो न त्वावामिति दृश्यते ॥
९. आयदिन्द्रश्च दद्वहे सहस्रं वसुरोचिषः ।
एकवत्तत्र निर्देशस्तिष्ठं वनस्य मध्य आ ॥
१०. मत्स्यानां जालबद्धानां त्यानित्यार्षं विदुर्बुधाः ।
तत्रापि दृष्टो निर्देश उत त्वामिदते महि ॥
११. एवं विधेषु सूक्तेषु तस्मादेक ऋषिर्मतः ।
प्रधानोऽन्ये त्वप्रधाना इति मन्यामहे वयम् ॥

अबोध्यग्निः समिधा० । (ऋ० ५।१।१)

इत्यादि सूक्तको आत्रेय बुध और गविष्ठिर दो ऋषियोंने 'देव्युप ब्रुवे।' (ऋ० ८।६७।१०) इस मन्त्रमें 'अहं ब्रुवे' एकवचन का प्रयोग है। इसलिये ऐसे सूक्तों में एक ऋषि प्रधान माना जाता है, और अन्य ऋषि अप्रधान है, ऐसा हम (माधव भाष्यकार) मानते हैं।

१२. स च प्रधानो निर्देशादस्माभिर्ज्ञायते क्वचित् ।
गविष्ठिरो नमसेति प्राधान्यं ह्यवगम्यते ॥

अनेक ऋषियोंसे देखे सूक्तोंमें प्रधान ऋषि उसका नाम सूक्तमें आनेसे ही माना जाता है, जैसे—

'गविष्ठिरो नमसा० । (ऋ० ५।१।१२) में गविष्ठिर का नाम आनेसे उसकी प्रधानता प्रतीत होती है।

१३. यदिन्द्राहं यथेत्यत्र न विशेषः प्रतीयते ।
गोषूक्ती वाश्वसूक्ती वा नैकोऽपि ह्यत्र कीर्त्यते ॥

यदिन्द्राहं यथा० । (ऋ० ८।१४।१)
सूक्तमें कोई विशेष प्रतीत नहीं होता कि 'गोषूक्ती' प्रधान है या 'अश्वसूक्ती' प्रधान है, क्योंकि सूक्तमें किसी का भी नाम नहीं है।

१४. तम्प्रत्नथेत्यवत्सारः काश्यपोऽन्यैः सहर्षिभिः ।
तस्मिन् सूक्ते समुद्दिष्टो ददर्शेत्यवगम्यते ॥

तं प्रत्नथा० (ऋ० ५।४४।१) इत्यादि सूक्तके १२ वें मंत्रमें ऋषि काश्यप अवत्सार हैं, उन के साथ सदापृण, यजत, बाहुवृक्त, श्रुतवित्, और तर्य, एवं १३ वें मंत्र में सुतंभर ऋषिभी सम्मिलित हैं। इस में १० वें मंत्र में 'अवत्सार' का नाम निर्देश है, जैसे—

अवत्सारस्य स्पृणवाम रण्वभिः ।
(ऋ० ५।४४।१०)

इसी प्रकार अन्य ऋषियों के नाम भी हैं। जैसे—

सदापृणो यजतो वि द्विषो वधीद् बाहुवृक्तः
श्रुतवित् तर्यो वः सचा ॥ (ऋ० ५।४४।१२)
सुतंभरो यजमानस्य सत्पतिः० ।
(ऋ० ५।४४।१३)

१५. ऋज्राश्वः प्रष्टिभिरिति विस्पष्टमृषिराह च ।
प्राधान्यं चात्मनो दृष्टौ भ्रातृणामप्रधानताम् ॥

स यो वृषा० (ऋ० १।१००) इत्यादि सूक्त में वेद स्वयं कहता है कि वेदमन्त्र के दर्शनमें ऋज्राश्व प्रधान और उसके अन्य भाई अप्रधान हैं। जैसे—

एतत्यत्त इन्द्र वृष्ण उक्थं वार्षागिरा अभि गृणन्ति राधः। ऋज्राश्वः प्रष्टिभिरम्बरीषः सहदेवो भयमानः सुराधाः॥ (ऋ० १।१००।१७)

इस मंत्रमें ऋज्राश्व, अम्बरीष, सहदेव, भयमान, सुराधस् इन पांच भाइयों के नाम आये हैं। ऋज्राश्व सब से प्रथम पठित है।

प्रह्वाः प्राञ्जलयः सर्व इन्द्रंतुष्टूषवः स्थिताः।
उपशृण्वत्सुतेष्विन्द्रमृज्राश्वः स्तुतवान् स्वयम्॥

सब भाई नम्र होकर भक्तिपूर्वक हाथ जोडकर इन्द्र की स्तुति करने की इच्छा से स्थित थे, उन के सुनते हुए ऋज्राश्वने स्वयं इन्द्र की स्तुति की।

ऋषिरेकां ददर्शर्चमृषिरेकामथापरः।
इति केचन मन्यन्ते तदयुक्तमिति स्थितिः॥

कुछ विद्वान् मानते हैं कि अनेक ऋषियोंवाले सूक्तोंमें एक ऋचा एक ने देखी, एक ऋचा दूसरेने, ऐसा मानना ठीक नहीं है। क्योंकि—

शतं वैखानसान् प्राहुः सहस्रं वसुरोचिषः।
नतावत्य ऋचस्तेषां वृद्धेष्वस्तु विनिर्णयः॥

पवस्व विश्वचर्षणे० (ऋ० ९।६६)

सूक्त के द्रष्टा सौ वैखानस ऋषि हैं और—

आ यदिन्द्रश्च दद्वहे०। (ऋ० ८।३४।१६-१८)

इत्यादि तीन मन्त्रों के द्रष्टा अंगिराकुलके 'सहस्र वसुरोचिष्' ऋषि हैं। उक्त इन सूक्तोंमें इतनी ऋचाएं भी नहीं हैं कि एक एक ऋचा को एक एक ऋषि देख सके। इसलिये इस का निर्णय गुरुओंपर छोडते हैं, वे जैसी भी व्यवस्था करें, मान्य है।

[माधव का मत प्रतीत होता है कि सूक्तों के साथ जिन जिन ऋषियोंका नाम लिखा मिलता है, वे सूक्त उन ऋषियों ने बनाये, या उन ऋषियोंने उनका साक्षात् किया है, इसकी साक्षी वेद के सूक्तों में ही स्थान स्थान पर विद्यमान है। इस प्रकार वे ऋषि वेदमन्त्रों के वैसे ही कर्ता सिद्ध होते हैं, जैसे रघुवंश आदिके कर्ता कालिदास आदि। ऋषि दयानन्द का मत ऐसा नहीं है। वह इन ऋषियों को सूक्तोंके कर्ताके तुल्य द्रष्टा नहीं मानते, प्रत्युत मन्त्रोंके विशेष अर्थद्रष्टा मानते हैं; और मन्त्रोंमें जो ऋषि नाम आते हैं, वे ऐतिहासिक व्यक्ति विशेषके नाम नहीं प्रत्युत वहां उनका भिन्न ही यौगिक अर्थ है। इस सिद्धान्त से माधवने जो मन्त्र गत ऋषिनाम दिखाकर ऋषियोंका गौणप्राधान्यभाव दर्शाया है, उसके लिये कोई और आधार विचारना चाहिये। और एक सूक्तके जहां अनेक ऋषि द्रष्टा हैं, इसकी भिन्न व्यवस्था करनी चाहिये। सूक्तों के द्रष्टा ऋषियों की व्यवस्था के लिये वेदों की सर्वानुक्रमणियें कात्यायन के नामसे प्रसिद्ध हैं, और शौनिक-प्रोक्त आर्षानुक्रमणी और बृहद्देवतामें भी यह विषय है। भाष्यकारोंने भी स्थान स्थान पर ऋषियोंका उल्लेख किया है, उनके देखने से प्रतीत होता है कि कई भाष्यकारोंकी दृष्टि में कात्यायन के नाम से प्रसिद्ध सर्वानुक्रमणी ऋषिदेवतानिर्णयके लिये विद्यमान न थी। भिन्न भिन्न शाखाके मन्त्रों के ऋषियोंमें भी भेद है, जैसे काठकसंहिता के अनेक मन्त्रों की संहिता शाकल संहिता या वाजसनेय यजुर्वेदसंहितासे मिलते हैं, परन्तु उनके ऋषि काठक सम्प्रदायमें शाकल और वाजसनेय सम्प्रदायसे भिन्न हैं। इसका विषय बहुत जटिल विचारणीय होनेसे यहां विशेषरूपसे नहीं लिखते हैं। अनुवादक]

॥ इति चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः ।

(अष्टक आदिविभाग)

यद्द्य सूर्येत्यध्यायं व्याचिख्यासति माधवः ।
अष्टकादिषु वक्तव्यमादितः सम्प्रदर्शयन् ॥

यदुद्य सूर्य् ब्रवो० । (ऋ० मं० ७, सू० ६०)

इत्यादि अध्याय की व्याख्या करनेके पूर्व माधव अष्टक आदिके सम्बन्ध में प्रवचन करते हैं ।

१. अष्टकाध्याय विच्छेदः पुराणैर्ऋषिभिः कृतः ।
उद्ग्राहार्थं प्रदेशानामिति मन्यामहे वयम् ॥

अष्टक, अध्याय का विभाग प्राचीन ऋषियों उद्धरण-निर्देशके लिये किया है, ऐसा हम (माधवभट्ट) मानते हैं।

२. वर्गाणामपि विच्छेद आर्ष एवेति निश्चयः ।
ब्राह्मणेष्वपि दृश्यन्ते वर्गसंशब्दनादि च ॥

वर्गोंका विभाग भी ऋषियोंने ही किया है । ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी 'वर्ग' आदि शब्दों का उल्लेख है ।

३. विभज्यन्तेऽथ सूक्तानि समधा तत्र वर्गशः ।
अन्ताल्लोपोऽपि वृद्धिश्च क्रियेतेऽनुगुणाविति ॥

४. अध्यापनाय शिष्याणां विभागो वर्गशः कृतः ।
सुग्रहो हि भवत्यल्पः शक्यो धारयितुं ततः ॥

सूक्तों को समान समान मंत्रसंख्या में बांटकर वर्ग बना दिये हैं । अन्तमें आये वर्गोंमें कहीं मन्त्रसंख्या घट भी जाती है और कहीं अधिक भी हो जाती है, जैसा अनुकूल हुआ कर दिया है । वर्ग वर्ग का विभाग शिष्यों के पढानेके लिये किया है । क्योंकि थोडा अंश विद्यार्थी शीघ्र याद कर सकता है, उसको कण्ठस्थ करके चिरकाल तक याद रख सकते हैं ।

५. सङ्घीभूयाऽभवत् सर्वमेकं मण्डलमादितः ।
आसीद् ऋषिर्मधुच्छन्दा मधुमत्तम मन्त्रदृक् ॥

६. तस्मादग्रे प्रादुरभूत् काण्वो मेधातिथिस्ततः ॥
शौनःशेपानि छन्दांसि मधुराणि ततोऽभवन्॥

७. हैरण्यस्तूपछन्दांसि काण्वानि च ततः परम् ।
अत्र शाट्यायनकम् ॥

"वैश्वामित्रो मधुच्छन्दा अकामयत मुख्ये ब्रह्म-वर्चसि स्यामिति । इति ॥

आदि में सब मिलकर एक मण्डल रहा । मधुमत्तम मन्त्रों का द्रष्टा ऋषि मधुच्छन्दा था । उसके पश्चात् काण्व मेधातिथि प्रकट हुआ। उसके पश्चात् शुनःशेप-दृष्ट मधुर मंत्र हैं। उसके पश्चात् हिरण्यस्तूप-दृष्ट मन्त्र और उनके पश्चात् काण्व दृष्ट मन्त्र है । इस सम्बन्धमें शाट्यायन ब्राह्मण है-

(वैश्वामित्र०) विश्वामित्र के पुत्र मधुच्छन्दाने कामना की कि मैं मुख्य 'ब्रह्मवर्चस्' में सम्पन्न होऊं इत्यादि ।

[प्रथम मण्डल में १-१० सूक्त का द्रष्टा मधुच्छन्दा वैश्वामित्र है । ११ वां जेता माधुच्छन्दसः । १२-२३ मेधातिथिः काण्वः । २४-३० शुनःशेप आजीगर्तिः । ३१-३५ हिरण्यस्तूप आंगिरसः । ३६-४३ कण्वो घौरः । ४४-५० प्रस्कण्वः काण्वः ।]

८. समानमेतद् यज्ञस्य एव तद्वसेनेह्यतीति(?)।
सामिधेनीप्रभृतिषु ब्राह्मणैर्यद् विधीयते ॥

यह यज्ञके समान है, सामिधेनी आदि में जैसा ब्राह्मणग्रन्थ विधान करते हैं ।

१०. भूयिष्ठं यज्ञसंयुक्तमुत्तमं मण्डलं विदुः ।
पितृमेधादिकं तस्मादन्ततश्च निवेशितम् ॥

अंतिम बडा मण्डल पितृमेधादिक भी यज्ञ में अधिक प्रयुक्त है, इसलिये उसे अंतमें रखा है ।

११. मध्यस्थानां मंडलानां क्रमो योऽयं व्यवस्थितः।
तस्य कारणमन्वेष्टुं संख्याऽस्माभिः प्रदर्श्यते ॥

आदि और अंतिम मण्डलोंके बीच के मण्डलों का जो क्रम निश्चित है उसका कारण ढूंढने के लिये हम संख्या बतलाते हैं ।

१२. आद्यन्तयोर्मण्डलयोर्नवोने द्वेशते विदुः ।
त्रिचत्वारिंशद् द्विषष्टिश्चर्यूनाषष्टिरनन्तरम् ॥

१३. सप्ताशीतिः पञ्चाधिक सप्ततिस्तदनन्तरम् ।
चतुरधिकं च शतमष्टोनं च शतं ततः ॥

१४. चतुर्दशं च शतकं सूक्तानां क्रमशो विदुः ।
मध्यस्थानां मंडलानामिति संख्या यथाक्रमम्॥

आदि और अंतके अर्थात् प्रथम और दशम मंडलों में ९ कम दो सौ अर्थात् १९१ सूक्त हैं । दोनों के बीच के

मंडलों में क्रमसे ४३-६२-५८-८७-७५-१०४-९२-११४- सूक्त हैं ।

१५. रक्षार्थमथवाक्यानि कलायो लवनं ततः ।
रातिना च दमूनाश्च सदनं मथनं तथा ॥

१६. वनाय क्रोधनो द्वे च भयकृद् युद्धकृत् तथा ।
क्रमेण दश वाक्यानि सायाह्नं स्यात् समन्वये॥

मण्डलोंके सूक्तों की संख्याको भली प्रकार याद रखने के लिये क्रमसे ये दश वाक्य हैं । १-कलायः, २--लवनम्, ३--रातिना, ४-दमूनाः, ५-सदनं, ६-मथनं, ७-वनाय, ८-क्रोधनः, ९-भयकृत्, १०-युद्धकृत् इन समस्त दसों मण्डलों के सूक्तों की संख्या के लिये एक वाक्य है— 'सायाह्नम् स्यात्' है ।

[(१) कलायो= १९१ (२) लवनम्= ४३
(३) रातिना= ६२ (४) दमूनाः= ५८
(५) सदनम्= ८७ (६) मथनम्= ७५
(७) वनाय= १०४ (८) क्रोधनः= ९२
(९) भयकृत्= ११४ (१०) युद्धकृत्=१९१
सायाह्नं स्यात्= १०१७]

१७. वामदेवस्तृतीयश्च भरद्वाजश्च पञ्चमः ।
कण्वश्च सप्तमः सूक्तैः क्रमवृद्धैर्भवेत् क्रमः ॥

१८. न च क्रमेण वर्धन्त ऋचो गार्त्समदादिषु ।
तस्माद् ऋक्तोऽपि नैतेषामष्टानां सिद्ध्यति क्रमः॥

क्रम से बढनेवाले सूक्तों के क्रम से तीसरा वामदेव, पांचवा भरद्वाज, और सातवा कण्व है । गृत्समद-दृष्ट सूक्तों में ऋचाएं भी क्रम से नहीं बढतीं, इन आठों का ऋचाओंसे भी क्रम नहीं है।

[चतुर्थमण्डल में वामदेव, छठे मण्डल में भरद्वाज, आठवें मण्डल में कण्वदृष्ट सूक्त हैं ।]

१९. वाक्यैरेतैर्विजानीयान्मण्डलानामृचः क्रमात् ।
दशानां दशभिः प्राज्ञस्तथाधेयो धरावनिः ॥

२२. साध्यं च नो धेहि मेऽन्नं शूरसूनुर्मतोसिनः ।
गुरुदाने युगान्तस्य सिद्धान्तस्य निशीथके ॥

निम्नलिखित वाक्योंसे दसों मंडलों की क्रमसे ऋचाएं जाननी चाहियें।

(१) तथाधेयो= १९७६
(२) धरावनिः= ४२९
(३) साध्यञ्चनः= ६१७
(४) धेहि मेऽन्नम्= ५८९
(५) शूरसूनुः= ७२१
(६) मतोसि नः= ७६५
(७) गुरुदाने= ८२३
(८) युगान्तस्य= १६३१
(९) सिद्धान्तस्य= १०९७
(१०) निशीथके= १७५०

२१. शतैश्चतुर्भिरधिकं मयुतं गणितं मया ।
द्वे च यान्यतिरिच्यन्ते द्विपदाश्चात्र संगताः ॥

मैंने (माधव ने) ऋग्वेदसंहिता की मन्त्रगणना की है। वे दस सहस्र चार सौ दो (१०४०२) ऋचाएं हैं और जो अधिक संख्या बढती है, उस में द्विपदा ऋचाएं भी मिली हुई हैं ।

[१५ कारिका से २१ कारिका तक कहीं गणनाओं को नीचे की सारणी से मण्डल-सूक्त-मन्त्रसंख्या दर्शाते हैं।

मंडल	सूक्तसंख्या	मंत्रसंख्या
१	१९१	१९७६
२	४३	४२९
३	६२	६१७
४	५८	५८९
५	८७	७२५
६	७५	७६५
७	१०४	८२३
८	९२	१६३१
९	११४	१०९७
१०	१९१	१७५०
योग—	१०१७	१०४०२

२२. पृथग् यदा तु गणनं द्विपदानां तदाधिका ।
चतुःशतादशीतिश्च वाक्यं च ग्रहवानयम् ॥

जब द्विपदा ऋचाओंकी गणना पृथक् की जाती है, तो ४०२में ८० ऋचाएं और बढ जाती हैं। अर्थात् कुल ऋक्-

संख्या १०४८२ हो जाती हैं । इसके बतलानेवाला सांकेतिक वाक्य है— 'ग्रह वानयम् = १०४८२ ॥

२३. एकर्च एको वर्गः स्याद् द्वृचौ द्वौ नमकावुभौ।
एकोनं स्यात् त्रिकशतं चतुष्कं पञ्चसप्ततिः ॥

२४. अधिकं च शतं, वर्गाश्चतुःपञ्चाशदष्टकाः ।
एकविंशशतं प्राहुः सप्तकानां च वैदिकाः ॥

एक वर्ग एक ऋचावाला ही है । ९९ दो ऋचावाले हैं। तीन तीन ऋचाओंके एक कम सौ अर्थात् ९९ वर्ग हैं । चार ऋचाके १७५ वर्ग हैं । आठ ऋचावाले ५४ वर्ग हैं । सात ऋचावाले १२१ वर्ग हैं ।

२५. शतानि त्रीणि षट्कानां चत्वारिंशत् त्रयस्तथा।
पञ्चकानां सहस्रं च द्वे शते नवकं तथा ॥

छः ऋचावाले ३४३ वर्ग हैं । पांच ऋचावाले १२०९ वर्ग हैं ।

[अनुवाकानुक्रमणीके अनुसार मतभेद इस प्रकार है—

(१) एकश्च नवकस्तथा ।
(२) न्यूनं तृचशतं स्मृतम् ।
(३) चतुष्कं शतमेकं च चत्वारः सप्ततिस्तथा ।
(४) न्यूनाप षष्ठिरष्टकानाम् ।
(५) शतमूनविंशतिः सप्तकानाम् ।
(६) त्रीणि शतानि षट्कानां चत्वारिंशत् षड्वर्गाः।
(७) पञ्चकानां सहस्रं तु द्वे च सप्तोत्तरेशते ।

तुलनात्मक सारणी नीचे देते हैं ।

ऋक्-संख्या	माधवोक्त वर्गसंख्या	ऋक्-संख्या	अनुवाकानुक्रमणी-प्रोक्त वर्गसंख्या	ऋक्संख्या
१	१	१	१	१
२	२	४	२	४
३	९९	२९७	९७	२९१
४	१७५	७००	१७४	६९६
५	१२०९	६०४५	१२०७	६०३५
६	३४३	२०५८	३४६	२०७६
७	१२१	८४७	११९	८३३
८	५४	४३२	५९	४७२
९	२	१८	१	९
योग—	२००६	१०४०२	२००६	१०४१७

श्री सी० कुहनानराजा, M. A., D. Phil. (oxen) ने इस प्रसंगमें अष्टक, मण्डल, अध्याय, अनुवाक, सूक्त, वर्ग, मन्त्र, अर्धर्च और पदों की गणनाएं दिखलानेवाला एक कूट श्लोक उद्धृत किया है, वह इस प्रकार है—

जानन् अपि द्विषा मोदं स यज्ञः पातना नरः ।
रसं भिन्नाय मांसादो नरस् तस्य जलाधिपः ॥

अर्थात्—	कूटपद	संख्या
अष्टक	जानन्	८
मण्डल	अपि	१०
अध्याय	द्विषा	६४
अनुवाक	मोदम्	७५
सूक्त	स यज्ञः पा	१०१७
वर्ग	तना नरः	२००६
ऋचा	रसं भिन्नाय	१०४७२
अर्धर्च	मांसादो नरः	२०८७५
शब्द	तस्य जलाधिपाः	१९३८१६

दो से २७ अधर्चौंवाले वर्गों की संख्याका संकेत नीचे लिखे श्लोकसे विदित होता है ।

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८
स्यान्-नः- श्रीर्- मधु- रा-नाधस्या-त्मा-प-
९ १० ११ १२ १३ १४ १५
योधि- कन्या-भूत-चलगा- त्रि- दिव्येडया-स-
१६ १७ १८ १९ २०
विष्णोः-का-मिनी-पु--ष्टयै।

स्यात्= १ । नः= ० । श्रीः= २ । मधु= १ । रा= ९५। नाधस्या= १ । त्मा= १७० । प= १५ । योधि= ११९१ । कन्या= ४ । भूत्= ३३६ । चलगा= २ । त्रि= ११७ । दिव्येड्या = ७ । स = ५४ । विष्णोः १ । का = ५ । मिनी = ० । पु = १ । ष्टयै = १ ।

२६. ऋचां दशसहस्राणि ऋचां पञ्चशतानि वै ।
ऋचामशीतिः पादश्च पाठोऽयं न समञ्जसः ॥

'ऋचां दशसहस्राणि०' इत्यादि ऋचाओं की गणना बतलानेवाला श्लोकपाठ ठीक नहीं है । अर्थात्- ऋग्वेद-संहिता में समस्त मन्त्रों की संख्या है- दश सहस्र पांच सौ अस्सी (१०५८०) और एक चरण। यह संख्या ठीक नहीं है ।

[अनुवाकानुक्रमणीमें श्लोक है—

ऋचां दशसहस्राणि ऋचां पञ्चशतानि च।
ऋचामशीतिः पादश्च पारणं संप्रकीर्तितम्॥

अर्थात् ऋग्वेदसंहिता के पारायणमें १०५८० ऋचाएं हैं। चरणव्यूह में भी इसी प्रकारका पाठ है। अर्थात्—

ऋचां दशसहस्राणि ऋचां पञ्चशतानि च।
ऋचामशीतिः पादश्चैतत् पारायणमुच्यते॥

परन्तु यह मन्त्रसंख्या समस्त शाखाओंकी प्रतीत होती है, क्योंकि लौगाक्षिस्मृति में लिखा है—

पूर्वोक्तसंख्यायाश्चेतु सर्वशाखोक्तसूत्रगाः।
मन्त्राश्चैव मिलित्वैव कथनं चेति तत्पुनः॥

चरणव्यूहकाटीकाकार पं० महिदास भी ऋक्-संख्या १०५८० और एक चरण मानता है, वह इस प्रकार है, इसमें संज्ञान-सूक्त के १५ ऋचाएं भी समाविष्ट हैं, और

'भद्रं नो अपि वातय मनः'

यह एक पाद है। परन्तु शाकल-संहिता में महिदासने वालखिल्यरहित १०४७२ ऋक्संख्या मानी है, जिन में नैमित्त द्विपदा ऋचाएं १४० हैं। उनको चतुष्पदा ऋचा माननेसे ७० कम करनी पडेगी, अतः १०४०२ ऋक्संख्या हो जाती है, यह ऋक्संख्या शैशिरीशाखा की है। माधव कदाचित् शैशिरी शाखा को माननेवाले हैं। शाकलशाखा की मन्त्रगणना में- वालखिल्यादि सब मिलाकर ऋषि दयानन्द ने १०५२१ मन्त्रगणना मानी है। इस में द्विपदा ऋचाएं ६८ संमिलित नहीं हैं। यदि उनको भी जोड ले, तो कुल ऋचाएं १०५८९ हो जाती हैं। नैमित्तिक द्विपदाओंके सम्बन्धमें माना जाता है कि- "हवने एकैका अध्ययने द्वे द्वे (महीदास) यज्ञ में वे ऋचा एक एक है और पारायण में दो दो समझनी चाहियें।

अनुवाकानुक्रमणी के अनुसार शैशिरीशाखामें १०४१७ ऋचाएं हैं, जिनमें संज्ञानसूक्त की १५ ऋचा भी मिल जाती हैं। इस सम्बन्धमें 'ऋग्वेदकी ऋक्संख्या' शीर्षक अध्याय ८ में 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' श्री० पं० भगवद्दत्तजी B. A. कृत विशेषरूप से मनन करनेयोग्य है।]

२७. अपहायाथ (?) पापस्य क्षालनाय च पण्डितः।
ऋचः कालेन गणयेत्तन्तुशुद्धिर्भविष्यति॥

पापको दूरके और उसको धो डालनेके लिये विद्वान् को चाहिये कि वह समय समय पर ऋचाओंकी गणना अवश्य कर लिया करे। इससे सम्प्रदायपरम्परा की शुद्धि रहेगी।

२८. मण्डलं वामदेवस्य तृतीयं च तथाऽष्टमम्।
स्यान्मण्डलं पावमानं क्रमवृद्धो क्रमो भवेत्॥

यदि बढते क्रमसे मण्डलोंका क्रम है, तो प्रथम वामदेव का चतुर्थ मण्डल फिर तीसरा, फिर आठवां और अनन्तर पावमान नवम मण्डल यह क्रम होना चाहिए।

२९. विश्वामित्रो वामदेवात् सम्पन्नोऽप्यतिरिच्यते।
अतिरेकश्च विज्ञेयो गायत्रीकरणाद् बुधैः॥

विश्वामित्र वामदेवसे सम्पन्न भी है और विशेष भी है, और उसकी विशेषता इसलिये जाननी चाहिये कि उसने गायत्री मन्त्र का दर्शन किया है।

३०. अत्र ब्रूमो गृत्समदः क्षत्रियो ब्राह्मणोऽभवत्।
इन्द्रप्रसादादस्यासन् वाचश्च हृदयङ्गमाः॥

इस सम्बन्धमें हमारा यह समाधान है कि-'गृत्समद' क्षत्रिय था, वह ब्राह्मण हो गया था, 'इन्द्र' की कृपासे उसे बहुतसी हृदयंगम वाणियां भी प्राप्त हुईं।

३१. अग्रे तस्मात्प्रादुरभूद् विश्वामित्रस्ततोऽभवत्।
तस्यापि मधुरा मन्त्रा ब्राह्मण्यमपि लब्धवान्॥

उससे आगे विश्वामित्र प्रकट हुआ, इसलिये गृत्समदके पश्चात् विश्वामित्र है, उसके भी दृष्ट मन्त्र बहुत मधुर हैं, उसने भी क्षत्रिय होते होते ब्राह्मणत्व प्राप्त किया था।

३२. दृष्टवेदास्ततोऽपश्यन् पुनश्च तपसान्विताः।
मण्डलं नवमन्तेन तदन्तं संनिवेशितम्॥

इसके पश्चात् वेदोंके दर्शन करनेवाले तपोनिष्ठ ऋषियोंने ऋचाओं का दर्शन किया, इसलिये ९ वें मण्डलको इनके अन्तमें रखा गया है।

३३. प्रगाथे मण्डले बह्वर्चो नाराशंस्य ऋचस्ततः।
सन्निवेशोऽन्ततस्तस्य मध्यस्थेष्विति संस्थितिः॥

प्रगाथ मंडलमें बहुतसी ऋचाएं नाराशंसी हैं। इस कारण इस मण्डल को मध्यमें स्थित मण्डलों के अन्त में रखा है।

३४. अन्येषां क्रमवृद्धानां सन्निवेशः क्रमादभूत्।
चतुर्णां वामदेवादेर्मण्डलानामिति स्थितिः॥

अन्य क्रमसे उत्तरोत्तर बढनेवाले चार मण्डलोंको क्रमसे रखा है।

अनुवाक-विच्छेद ।

३५. अथानुवाकविच्छेदो बहुभिर्हेतुभिः कृतः।
सुरूपकृत्नुमित्यैन्द्रात् प्रागेकः कल्पितो बुधैः ॥

अनुवाकों का विच्छेद भी बहुत से कारणों से किया है। 'सुरूप कृत्नुम्०' इत्यादि सूक्तसे पूर्व एक अनुवाक विद्वानोंने बनाया है।

३६. ऐन्द्राण्यथाष्टौ सूक्तानि विभक्तानि समं द्विधा।
षट् सूक्तावनुवाकौ द्वौ समौ मेधातिथेरपि ॥

इन्द्र देवताक आठ सूक्त हैं, उनको दो समान भागोंमें बांट दिया गया है। इसी प्रकार मेधातिथि के ६।६ सूक्तों के दो समान अनुवाक हैं।

३७. शौनःशेपोऽनुवाकस्तु शुनःशेपेन कल्पितः।
हैरण्यस्तूपकाण्वौ च प्रास्काण्वाद्याश्च सप्तकाः॥

इसी प्रकार हिरण्यस्तूप, कण्व और प्रस्कण्वके अनुवाक ७।७ सूक्तों के हैं।

३८. गौतमस्योप प्रयन्त सूक्तानां विंशतिं विदुः।
एकादशकनवकावनुवाकौ च कल्पितौ ॥

गोतम ऋषि दृष्ट 'उपप्रयन्त०' (ऋ० १।७४-९३) २० सूक्त हैं उनके ११ सूक्तों और ९ सूक्तोंके दो अनुवाक बनाये हैं।

३९. ऐन्द्रमेकादशं सूक्तमैन्द्रैः पूर्वैः समन्वितम्।
इति सर्वानुवाकेषु कार्या सूक्ष्मेक्षिका बुधैः ॥

११ वां अनुवाक इंद्र-देवताक है, उसमें इन्द्रदेवता के ही सब सूक्त हैं। इसी प्रकार सब अनुवाकों की रचनामें सूक्ष्म कारण देख लेना चाहिये।

॥ इति पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

अथ षष्ठोऽध्यायः।

प्रत्यु अदर्शि आयती व्याचिख्यासति माधवः।
कारणं सूक्तभेदस्य मुखतः सम्प्रदर्शयन् ॥

'प्रत्यु अदर्शि आयती० (ऋ० ७।८१।१)

इत्यादि अध्याय की व्याख्या करनेके पूर्व माधव सूक्त-विच्छेद का कारण दर्शाते हैं।

सूक्त-विच्छेद का कारण।

१. ऋषि-च्छन्दो-देवतार्थाः सूक्तभेदस्य हेतवः।
मन्यन्ते बह्वृचः केचिदर्थमेव विभेदकम् ॥

ऋषि, छन्द, देवता और अर्थ सूक्तभेद में कारण हैं। ऋग्वेदी केवल अर्थ को ही सूक्तभेद का कारण मानते हैं।

२. नवमे मण्डले भेदः सूक्तानामृषिभिः कृतः।
स्वादिष्ठया मदिष्ठया चत्वार्याहुर्निदर्शनम् ॥

नवम मण्डल में सूक्तों का भेद ऋषियों के भेदसे किया गया है। 'स्वादिष्ठया मदिष्ठया०' इत्यादि चार सूक्त इस बात के उदाहरण हैं। अर्थात्—

३. गायत्राण्येव चत्वारि सोम एव च देवता।
मधुच्छन्दः प्रभृतयश्चत्वार ऋषयोऽभवन् ॥

४. छन्दो-देवतयोः साम्ये सन्ति सूक्तानि मण्डले।
ऋषिभेदेन भिन्नानि पावमानाभिशब्दिते ॥

नवम मण्डल के प्रथम चार सूक्त गायत्री छन्दवाले हैं, चारोंका देवता भी सोम है, परन्तु चारोंके भिन्न भिन्न चार ऋषि– मधुछन्दा वैश्वामित्र, मेधातिथि काण्व, शुनःशेप आजीगर्ति, हिरण्यस्तूप आंगिरस हैं।

५. इन्द्रं विश्वा अवीवृधँश्छन्दो भेदेन भिद्यते।
देवताभेदभिन्नानि वायवा याहि दर्शत ॥

'इन्द्रं विश्वा अवीवृधन्०' (ऋ० १।११।१)

यह सूक्त अपने से आगे के सूक्त 'अग्निं दूतं वृणीमहे०' (ऋ० १।१२।१) से छन्द के कारण पृथक् है। और 'वायवा याहि दर्शत०' सूक्त पूर्व सूक्त पश्चात् सूक्त दोनों से देवता के कारण भिन्न है।

६. आत्मदृष्टेषु सूक्तेषु क्वचित् संयोजयन्ति च।
दृष्टानन्येन ऋषिणा मन्त्रानिह महर्षयः॥

७. आङ्गिरसेन घोरेण दृष्टामेकामिमामृचम्।
अस्मे प्रयन्धि मघवन् विश्वामित्रस्तथाऽकरोत्॥

अपने देखे सूक्तों में कहीं महर्षि लोग अन्य ऋषि से दृष्ट मन्त्रों को भी जोड लेते हैं, जैसे—

'अस्मे प्र यन्धि मघवन्०' (ऋ० ३।३६।१०)

ऋचा विश्वामित्र-दृष्ट है, इसके साथ 'शुनं हुवेम०' इत्यादि ऋचा घोर आंगिरस-दृष्ट सूक्त के अन्तमें पठित है।

['शुनं हुवेम०' इस ऋचाको ३६ वें सूक्तमेंही घोर आङ्गिरस ऋषि-दृष्ट जब कि यह ऋचा पूर्व भी ३०, ३१, ३२, ३४, ३५ सूक्तों के अंतमें भी पठित है, उन सूक्तों पर सर्वानुक्रमणी आदि किसीने इस ऋचाको घोर आंगिरस दृष्ट न लिखकर विश्वामित्र-दृष्टही लिखा है। इसी प्रकार तृतीय मण्डल के प्रथम सूक्त की अंतिम ऋचा 'इळामग्ने पुरुदंसं०' आगे भी ५, ६, ७, १५, २२ और २३ सूक्तों के अन्तमें भी पठित है। जो (१, ५, ६, ७) में गाथिनो विश्वामित्र-दृष्ट है, और १५ वें सूक्तमें उत्कील कात्य ऋषि दृष्ट है, २२ वें सूक्तमें गाथी ऋषि दृष्ट है। २३ में देवश्रवा और देववात भारत ऋषियोंसे दृष्ट है। जिस प्रकार ३६ वें सूक्तमें 'शुनं हुवेम०' ऋचाको घोर आंगिरस की बतलाया है, वैसे 'इळामग्ने०' ऋचा को पृथक् नहीं बतलाया कि वह वस्तुतः किस विशेष ऋषि की दृष्ट है। प्रतीत होता है कि वे ऋचाएं उन उन सूक्तोंमें अति प्राचीन परम्परासे चली आ रही हैं, वे ऋषियोंने अपने बनाये सूक्तोंमें अन्य दृष्ट ऋचा जोड नहीं ली है। जैसा कि माधवका मत हैं।]

८. अन्त्यन्तृचं मण्डलस्य जामदग्न्यं वदन्ति तम्।
आ नो मित्रावरुणेति सूक्तान्ते च न्यवेशयत्॥

९. सहासनकृतां तत्र संप्रीतिं कारणं विदुः।
आत्ममन्त्रसमाश्चैते मन्त्रान् पश्यन्ति संगताः॥

आ नो मित्रावरुणा०। (ऋ० ३।६२।१६-१८)

इत्यादि तीन ऋचाएं इस (तृतीय) मण्डलकी अन्तिम तीन ऋचाएं जमदग्नि-दृष्ट बतलाई हैं, वे सूक्त के अन्तमें रखी हैं। विद्वान् कहते हैं कि, विश्वामित्र और जमदग्नि में एकसाथ आसन पर बैठनेसे परस्पर-प्रीति हो गई थी, इसलिये वे एक सूक्तमें पढ दी गई हैं, ये ऋषि परस्पर मिलकर अन्य दृष्ट मन्त्रों को अपने मंत्रों के समानही देखते हैं।

१०. बहवः सन्ति ननु च द्रष्टारो द्वैपदस्य ये।
बन्धुः सुबन्धुरित्येते सत्यं ते भ्रातरोऽभवन्॥

११. द्विपदाश्च समानीताः सूक्तमेकमतोऽभवत्।
ददृशुः काल एकस्मिन् सर्वे च सह संगताः॥

१२. तदेतच्छाट्यायनके विस्पष्टं प्रतिपादितम्।
यथादृष्टमिदं सूक्तं तत् तत्रैवावधार्यताम्॥

द्विपदा ऋचाओं के सूक्त के दृष्टा बहुतसे ऋषि हैं। उनके नाम हैं बन्धु, सुबंधु, श्रुतबन्धु, विप्रबंधु; उनका गोत्र नाम है गोपायन वा लौपायन। वे वस्तुतः सब भाई थे। द्विपदाएं एकत्र करके उनका एक सूक्त हो गया है, इन सब भाइयोंने एकही समय में एक साथ मिलकर इन ऋचाओं का दर्शन किया है। यह बात शाट्यायन ब्राह्मण में स्पष्ट लिखी है। यह सूक्त जिस प्रकार देखा गया है, इसका तब उसी स्थान में देखना चाहिये।

(जैमिनि ब्राह्मण ३।१६८-१७०)

१३. ऋष्यादिभेदः प्रायेण सूक्तभेदस्य कारणम्।
कारणान्तरमप्यस्ति दृश्यते यत्क्वचित् क्वचित्॥

१४. अर्थानुरोधादपि च सूक्तानां भेद इष्यते।
ऋषिच्छन्दोदैवतेषु समानेष्वपि च क्वचित्॥

१५. तत्रोदाहरणान्याहुर्नवमे मंडले बुधाः।
एकर्षिकानि सूक्तानि मन्द्रया सोम धारया॥

ऋषि आदि का भिन्न होना भी सूक्तभेद का कारण है। और भी कारण हैं जो कहीं कहीं देखे जाते हैं, जहां कि ऋषि, छन्द और देवता समान हैं, वहां अर्थभेद से भी सूक्तभेद होता है। इसमें विद्वान् नवम मण्डल में एक ऋषिदृष्ट सूक्त उदाहरणरूपमें कहते हैं, जैसे-'मन्द्रया सोम धारया०' इत्यादि (ऋ० ९ सू० ६-२४) सर्वत्र ऋषि असित् काश्यप वा देवल है, छन्द गायत्री है, देवता पवमान सोम है।

१६. सुरूपकृत्नुमूतये इति सूक्तेषु सप्तसु।
देवतेन्द्र ऋषिश्चैको भिद्यन्ते केन हेतुना॥

१७. छन्दश्च षण्णां गायत्री सप्तमेऽनुष्टुबागता।
गायन्ति त्वा गायत्रिणः कामं तत्तेन भिद्यताम्॥

प्रश्न– 'सुरूपकृत्नुमूतये॰ (ऋ॰ १।४।१) इत्यादि सात सूक्तोंमें 'इन्द्र' देवता है, 'मधुच्छन्दा' ही सर्वत्र ऋषि है, तो उनको निष्कारण से पृथक् पृथक् किया गया है। पहले ६ सूक्तों का तो छन्द गायत्री है, और सातवे सूक्त में अनुष्टुप् छन्द है। अत: गायन्ति त्वा गायत्रिणः॰ इत्यादि सूक्त भले ही पूर्वसूक्तों से पृथक् हो।

१८. नोपपादयितुं शक्यं मनुष्यैरत्र कारणम्।
तथापि कारणं किञ्चित् कथ्यमानमिमं शृणु॥

इस स्थान पर मनुष्य सूक्तभेद होने का कारण बतला नहीं सकते, तो भी कुछ कारण हम बतलाते हैं सुनो।

१९. सुरूपकृत्नुसूक्तेन यज्ञ आगन्तुमिच्छति।
आगते सति कर्तव्यम् आत्वेतेति च भाष्यते॥
२०. युञ्जन्ति ब्रध्नमित्यस्मिन् यथा वै सहकारिभिः।
यस्मिश्च काल आ याति तत्सर्वं कथितं विदुः॥
२१. इन्द्रमिद् गाथिनो बृहदिति सूक्तेन भाषते।
अनेकाह्वातृसद्भावमिन्द्र माहात्म्यमेव च॥
२२. बहवो यद्यपीन्द्र त्वां विह्वयन्त इमे जनाः।
तान् सर्वानपहाय त्वमस्माकं भव केवलः॥
२३. ऐन्द्रसानसिमित्यत्र स्तुतादिन्द्राद‌भीप्सति।
धनमात्माभिलषितं संजिहीर्षति च स्तुतिम्॥
२४. स्तुतमिन्द्रं जिगमिषुमृषिस्तथक्तुमशक्नुवन्।
इन्द्रेहीति पुनः स्तौति याचते च धनं पुनः॥
२५. उक्तयर्थमिमं सर्वं सप्तमे नानु भाषते।
आनुष्टुभेन सूक्तेन गायन्ति त्वेत्यृषिः पुनः॥

'सुरूपकृत्नु॰' (ऋ॰ १।४।१) सूक्तसे यज्ञमें आना चाहता है। आनेपर जो कर्तव्य है, वह 'आ त्वेता॰' (ऋ॰ १।५) सूक्त से कहता है। 'युञ्जन्ति ब्रध्नम्॰' (ऋ॰ १।६) इस सूक्त में जिस प्रकार सहकारियोंसहित जिस कालमें आता है वह सब कुछ कहा है।

'इन्द्रमिद् गाथिनो बृहद्॰' (ऋ॰ १।७)

इस सूक्तसे अनेक बुलानेवालों का सद्भाव और इन्द्र का माहात्म्य बतलाया है, अर्थात्—'हे इन्द्र! तुझको ये बहुत से जन बुलाते हैं, तो भी तू उन सब को छोडकर केवल हमारा ही होकर रह।'

'ऐन्द्र सानसिम्॰' (ऋ॰ १।८)

इस सूक्त में स्तुति किये इन्द्र से अभिलषित धन चाहता है। और स्तुतिका संहार करता है। स्तुति किये हुए इन्द्र को प्राप्त होनेकी इच्छा से 'इन्द्रेहि॰' (ऋ॰ १।९) सूक्त से पुनः स्तुति करता है, और फिर धन की याचना करता है। इसी उक्त सब अर्थ को 'गायन्ति त्वा॰' इत्यादि ७ वें अनुष्टुभ् छन्दवाले सूक्त से पुनः ऋषिने कहा है।

२६. कवित्वस्यानुरोधाय तमेवार्थं पुनः क्वचित्।
अन्यं प्रकारमाश्रित्य पश्यन्ति च महर्षयः॥
२७. भेदस्तत्रापि सूक्तानां भवतीति विनिश्चयः।
नासत्याभ्यां बर्हिरिव सूक्तान्याहुर्निदर्शनम्॥
२८. स्तौत्यश्विनावृषिस्तेषु संगृह्य च विगृह्य च।
कक्षीवान् दैर्घतमसः कवित्वं सम्प्रदर्शयन्॥

कवित्व के अनुरोधसे उसी आशय को फिर कहीं कहीं अन्य प्रकार से भी महर्षियों ने देखा है। वहां भी सूक्तों का भेद हो जाता है।

नासत्याभ्यां बर्हिरिव॰ (ऋ॰ १।११६-११८)

इत्यादि इस बात के दृष्टान्त कहे जाते हैं। दैर्घतमस कक्षीवान् ऋषिने उन सूक्तोंमें अपना कवित्व दिखलाते हुए अश्वियों का संक्षेप और विस्तार से वर्णन किया है।

२९. पश्यन्ति तांस्तानुद्दिश्य कामानिह महर्षयः।
ये ये सूक्तेषु दृश्यन्ते ते च भेदस्य हेतवः॥
३०. तथा दर्शनकालस्य भेदश्चैषां विभेदकः।
स च भेदो ब्राह्मणेषु मन्त्रेष्वपि च दृश्यते॥

अनेक अभिलाषाओंको लक्ष्यकर ऋषिलोग सूक्तों का दर्शन करते हैं। जो जो अभिलाषाएं दिखाई देती हैं, वेही सूक्त भिन्न होने में कारण हैं। सूक्तोंका दर्शन करने का काल भी सूक्तों के भेद का कारण है, ऐसा भेद ब्राह्मणों और मन्त्रों में भी दिखलाई देता है।

[माधवभट्ट का सर्वत्र यही मन्तव्य है कि, वेदके सूक्तों का उनही ऋषियोंने दर्शन किया है, जिनके नामोंका उनपर उल्लेख है, और उनकी रचना कालिदास आदि के समान कवितामय है, जिसमें उन्होंने अपना कवित्व भी दर्शाया

है। इस प्रकार माधवभट्ट के मतसे वेद अनित्य ईश्वरोक्त नहीं सिद्ध होते। उन ऋषियोंके पूर्व उन सूक्तों की या वर्तमान वेदग्रन्थों की सत्ता सिद्ध नहीं होती। परन्तु याज्ञवल्क्यने जो शतपथ में ऋग्वेदका परिमाण 'द्वादश सहस्र बृहती' 'प्रजापति-प्रवचन' माना है, इससे माधवभट्ट का यह मत खण्डित हो जाता है, क्योंकि प्रजापति स्वयंभू वेदसूक्तोंपर लिखित ऋषियोंसे चिरकाल पूर्व हुए हैं, ऐसा ऐतिहासिक गोत्रवंशावली देखनेसे विदित होता है। वैदिक ऋषियों के इतिहास एक अन्वेषण करने योग्य पदार्थ है।]

महावाक्यानुरोधेन सैषा सूक्ष्मेक्षिका बुधैः।
कार्या भिन्नेषु सूक्तेषु शुद्धमर्थमभीप्सुभिः॥

यह सूक्ष्म दृष्टि भिन्न भिन्न सूक्तों में शुद्ध अर्थ चाहनेवाले बुद्धिमान् विद्वान् पुरुषोंको महावाक्य के अनुरोध कर लेनी चाहिये। [अर्थात् जिस प्रकार ग्रन्थकार अपने भिन्न भिन्न अर्थ, रचना, कवित्वकला, आदि की दृष्टिसे महावाक्य अर्थात् बडे, बडे, वाक्य-समूह (Pragraph) न्यून-अधिक परिमाण के बनाता है, उसी प्रकार सूक्तों की वेद में रचना है।]

॥ इति षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

अथ सप्तमोऽध्यायः।

ऋषि और आर्षेय।

तिस्रो वाचोऽधुनाऽध्यायं व्याचिख्यासति माधवः।
ऋषौ चार्षे च वक्तव्यं आगन्तुकं प्रदर्शयन्॥

अब "तिस्रोवाचः।" (ऋ० मं० ७।१०।१।१)

इस अध्याय की व्याख्या के पूर्व ऋषि और आर्षेय के सम्बन्ध में प्रवचन करते हैं।

मनुष्यत्वे मन्त्रकृत ऋषयः परिकीर्तिताः।
आर्षेयवरणं तेषां तथा च ब्राह्मणं शृणु॥

"न देवैर्न मनुष्यैरार्षेयं वृणीत ऋषिभिरेवार्षेयं वृणीत॥ ॥ इति॥ (आपस्तम्ब श्रौ० सूत्र. २४।५।३)

मनुष्य होते हुए भी मन्त्रों के करनेवाले 'ऋषि' कहे गये हैं। उन्हीं का आर्षेय वरण होता है। इस सम्बन्धमें एक ब्राह्मण वाक्य सुनो। (न देवै०) 'न देवों से और न मनुष्यों से आर्षेय का वरण करें, ऋषियोंसेही आर्षेय वरण करें।'

२. न मन्त्र-दर्शनात् पूर्वमृषित्वं प्रत्यपद्यत।
श्यावाश्व इत्यवोचाम पञ्चमे मण्डले वयम्॥

मन्त्रदर्शन से पूर्व श्यावाश्व 'ऋषि' न बना था, ऐसा हम (माधव) पञ्चम मण्डलमें कह चुके हैं।

[श्यावाश्व आत्रेय दृष्ट मन्त्र। (ऋ० मं० ५, सू० ५२-६०)

बृहद्देवता ने इस प्रसंग में श्यावाश्व ऋषि के सम्बन्ध में कथा दी है— 'रथवीति दार्भ्य राजर्षिने यज्ञ के निमित्त आत्रेय अर्चनानस् ऋषिको ऋत्विग् वरण किया। अर्चनानस् अपने पुत्र श्यावाश्वको भी साथ ले गये थे। श्यावाश्व भी पिता से साङ्गोपाङ्गवेद पढ चुके थे। यज्ञ कालमें अर्चनानस्ने राजपुत्री को चाहा कि, वह उसकी पुत्र वधू हो जाय। श्यावाश्व का भी उस कन्या की ओर चित्त आकृष्ट हुआ और उसने स्वयं राजासे अपनी कन्या के सम्बन्ध करने की बात कही। राजाने रानीसे सलाह ली। रानीने कहा कि "मैं भी राजर्षि कुल की हूं। हमारा जामाता 'अनृषि' नहीं हो सकता। श्यावाश्वने मन्त्रोंका दर्शन नहीं किया है, ऋषि के हाथ ही कन्या को देना चाहिये, जिस से इस के गर्भ से भी वेद उत्पन्न हो। क्योंकि ऋषि मन्त्रद्रष्टाको ही वेदका पिता माना जाता है।" इस प्रकार राजाने श्यावाश्वकी बात स्वीकार न की। यज्ञ समाप्त होनेपर श्यावाश्व पितासहित लौटे आया, परन्तु उसका मन कन्या से न फिरा। अनन्तर पिता और पुत्र दोनोंका राजा तरन्त और पुरुमीळ ने भी बहुत आदर किया, रानी शशीयसीने दोनों को बहुत पशु आदि दान भी दिये, तो भी श्यावाश्व के चित्त में यह ठेस लगी थी, कि मैं मन्त्र-

द्रष्टा ऋषि न होने से कन्या को प्राप्त नहीं कर सका हूं। यदि मन्त्रद्रष्टा ऋषि होता, तो बडा सुख होता। इस प्रकार सोचते हुए उसे वनमें कभी मरुद्गण साक्षात् हुए। श्यावाश्वने 'को वे॰' इत्यादि (ऋ॰ ५।६१) सूक्तसे मरुतों की स्तुति की। और उनको रुद्र पुत्र जाना, 'य ईं वहन्त' (ऋ॰ ५।६१।११) इत्यादि मन्त्रों से स्तुति की। इससे प्रसन्न होकर मरुतोंने उसे अपनी छातीपर का सुवर्ण दान दिया। इस सफलता पर गर्व अनुभव करके श्यावाश्वने 'रात्रि' को दूती बना कर फिर रथवीति राजाके पास भेजा। संदेश पाकर राजा रथवीति कन्या लेकर ऋषि अर्चनानस्के पास आया और क्षमा याचना करते हुए श्यावाश्वके साथ कन्या का पाणिग्रहण करा दिया।] (बृहद्देवता अ॰ ५।५०-८०)

३. तेषामृषीणां ज्ञातव्यं गोत्रमित्याह शौनकः।
देवा देव्योऽप्सरो नद्यो गन्धर्वाश्च स्वयंभुवः॥
४. कार्याण्युद्दिश्य जायन्ते यदि देवादयोऽपि च।
मानुषेसु कुलेष्वंशैर्गोत्रं ज्ञेयमिति स्थितिः॥

शौनक ने उपदेश किया है कि उन ऋषियोंके गोत्रोंका ज्ञान अवश्य करना चाहिये। देवगण, देवियें, अप्सराएं, नदियें, गन्धर्वगण, और स्वयंभू, ये देव आदिभी कार्योंको लक्ष्य करके मनुष्योंके कुलोंमें अंशोंसे जन्म लिया करते हैं, वही उनका गोत्र जानना चाहिये।

५. विपाट्छुतुद्र्योरिन्द्रस्य मरुतामदितेस्तथा।
नोवाच शौनको गोत्रमिति तत्र निदर्शनम्॥
६. इच्छन्निन्द्रसमं पुत्रमभ्याध्यादङ्गिरा ऋषिः।
अभूदिन्द्रः स्वयं तस्य तनयः सव्यनामकः॥
७. इच्छन्निन्द्रसमं पुत्रं चचार कुशिकः पुरा।
पेषीरथिर्ब्रह्मचर्यं गाथिनोऽस्य सुतोऽभवत्॥
८. ज्ञातव्यमनयोर्गोत्रं विद्यमानमिति स्थितिः।
नामार्षयोऽस्तु विज्ञानं कार्यं सर्वत्र पण्डितैः॥

विपाट्, शुतुद्री, इन्द्र मरुद्गण और अदिति, इनके गोत्र शौनक ने आर्षानुक्रमणी में नहीं बतलाये। वह नमूने के तौरपर ऐसा जानना चाहिये कि इन्द्रके समान पुत्र की कामना करते हुए अंगिरा ऋषिने इन्द्रका ध्यान किया, इन्द्र स्वयं उस (अंगिरा) का पुत्र 'सव्य' नाम से हुआ। इसी प्रकार इन्द्र के समान पुत्र की कामना से इषीरथके पुत्र कुशिक ने भी ब्रह्मचर्य पालन किया, उसका पुत्र 'गाथिन' [इन्द्र] हुआ। [बृहद्देवता. ३।११२॥

स्वयं इन्द्रसमं पुत्रमिच्छतोऽङ्गिरसो मुनेः।
वज्रेव सव्यो भूत्वर्षयोगित्वात् पुत्रतांगतः॥]

९. ऋषिः शाक्त्यो गौरिवीतिरत्रीणां मण्डले कथम्।
आ जगाम परित्यज्य वासिष्ठं मंडलं स्वकम्॥

(प्रश्न)- ऋषि शक्तिका पुत्र गौरिवीति अत्रिकुलके ऋषियों के दृष्ट ५ वें मण्डलमें किस प्रकार आया, अपना उनका वसिष्ठकुल के ऋषियों से दृष्ट ७ वां मण्डल क्यों कर छोडा।

१०. समिद्धो अग्निर्दिवीति विश्ववारार्षमुच्यते।
तस्याः पतिर्गौरिवीतिरपश्यत् सूक्तमुत्तरम्॥
११. संजास्पत्यमिति ब्रूते विश्ववारा ततो वयम्।
मन्यामहे पतिं तस्या गोरिवीतिमिहागतम्॥

(उत्तर)-समिद्धो अग्निर्दिवि॰ (ऋ॰ ५।२८।१) इत्यादि सूक्त की ऋषिका 'विश्ववारा' है, उसका पति गौरिवीति है, उसने इस सूक्तसे अगले सूक्त का दर्शन किया है। विश्ववारा के देखे सूक्तमें मन्त्र है—

सं जास्पत्यं सुयममा कृणुष्व॰ (ऋ॰ ५।२८।३) इससे हमारा मत है कि विश्ववारा का पति गौरिविति आत्रेय (५वें) मण्डलमें आ गया है।

[पञ्चमे मण्डलेऽनुक्तगोत्रमात्रेयं विद्यात्। सर्वानु॰॥ सप्तमं मंडलं वसिष्ठोऽपश्यत् ॥सर्वा॰॥]

१२. मध्येऽत्रीणामाङ्गिरसो धरुणो नाम कश्चन।
सूक्तं प्र वेधस इति प्रसङ्गाद दृष्टवान् ऋषिः॥
१३. तेनाभिषज्यत् सूक्तेन धरुणोऽत्रिमृषिं पुरा।
तथैव तत्रात्रिमस्परिति सूक्तान्ततः श्रुतम्॥

अत्रियों के बीचमें आंगिरस धरुण नाम ऋषिने—

प्र वेधसे कवये वेद्याय॰ (ऋ॰ ५।१५) सूक्त का दर्शन किया है, इस सूक्तसे ऋषि धरुणने अत्रि ऋषि की चिकित्सा की थी, इसी लिये उसी सूक्त के अन्त में

अत्रिमस्पः ऐसा पाठ है।

१४. वर्तमाना मातृकुले तत्रत्यै ऋषिभिः सह।
तादृशान् ददृशुर्मन्त्रानिति केचिदपस्थिताः॥

कई विद्वानोंका मत है कि, बहुतसे ऋषियोंने मातृकुलमें (नानी के घर) रहते हुए वहां के ऋषियोंके साथ उसी प्रकार के मन्त्रों का दर्शन किया है, इसलिये मातृकुलके ऋषियों के सूक्तों के साथ उनके सूक्त हैं।

१५. समानोदकसामान्याच्छयावाश्वः कण्वमंडले।
अग्निनेन्द्रेण सूक्तानि ददर्श पुनरागतः॥

समान उदक होनेसे आत्रेयश्यावाश्व कण्वों के मण्डलमें पठित है। उसने इस मण्डलमें अग्निनेन्द्रेण० (ऋ० मं० ८, सू० ३५--३८) इत्यादि चार सूक्तोंका दर्शन किया है। वहां वह दर्शन करके फिर वह वहांसे चला आया है।

[आत्रेय ५ वें मण्डलमें भी श्यावाश्व आत्रेयने (ऋ० ५।५२--६१) दस सूक्तों का दर्शन किया है, जो मरुद्देवताक हैं।]

१६. ऊह्यानि कारणान्येवं मंडलान्तरसंक्रमे।
अन्येषामपि दृष्टानामिति वृद्धेभ्य आगमः॥

इसी प्रकार अन्य मण्डलमें भिन्न ऋषियोंके आ जानेका कारण ढूंढ लेना चाहिये और भी इस प्रकार के भिन्न भिन्न मण्डलमें सूक्त दीखते हैं। यह गुरुजनों का मत है।

१७. ऋषयो बह्वृचैरित्थं स्मर्यन्ते सामगैरपि।
स्मरन्त्यध्वर्यवो नैवं तत्र किं कारणं भवेत्॥
(वदेत्)

बह्वृचों (ऋग्वेदियों)ने इस प्रकार ऋषियों का प्रवचन किया है, सामवेदी भी ऐसा करते हैं, परन्तु अध्वर्यु, अर्थात् यजुर्वेदी इस प्रकार ऋषियों का प्रतिपादन नहीं करते, वहां क्या कारण होना सम्भव है?

१८. प्रजापतिश्च सोमश्च तृतीयोऽग्निस्तथैव च।
विश्वे देवा स्वयम्भूश्च तेषां काण्डर्षयो विदुः॥

प्रजापति, सोम और तीसरा अग्नि, स्वयंभू और विश्वेदेव, ये अध्वर्योंके काण्ड ऋषि कहे गये हैं।

१९. यजूंष्यृचश्च बहुभिर्दृष्टाः सन्ति महर्षिभिः।
काण्डान्यकुर्वन् ऋषयः स्मर्यन्तेऽध्वर्युभिश्च ते॥

बहुतसे महर्षियोंने यजुओं और ऋचाओंके भी दर्शन किये। ऋषियोंने काण्ड भी बनाये, अध्वर्यु (यजुर्वेदी) वैसाही प्रतिपादन भी करते हैं।

२०. पठन्त्यवान्तरानादौ ब्राह्मणानां कठाः पुनः।
ऋषीन् व्याख्यानभूतानामनेकान् यजुषामपि॥

कठ शाखा के विद्वान् व्याख्यानरूप ब्राह्मणों के प्रवक्ता अनेक अन्य ऋषियोंको भी यजुर्मन्त्रों के पूर्वमें पढते हैं।

२१. काण्डर्षिस्मरणादेव भवत्यभ्युदयस्ततः।
स्मरन्त्यवान्तरान्नैत इति वृद्धेभ्य आगमः॥

काण्ड ऋषियों के स्मरण से ही अभ्युदय हो जाता है, इस कारण वे (कठयजुर्वेदी) अवान्तर ऋषियों का स्मरण नहीं करते। ऐसे वृद्ध आचार्यों का मत है।

२२. ब्राह्मणान्नामधेयाच्च शाखास्वन्यास्वपि द्विजाः।
तानेवर्षीन् विजानन्ति य ऋग्वेदे व्यवस्थिताः॥

ब्राह्मणग्रन्थसे, नाम (सूक्तमें पठित)से अन्य शाखाओंमें भी विद्वान उनको ही ऋषि जानते हैं, जो ऋग्वेदमें नियत कर दिये गये हैं।

२३. साम्नां रथन्तरादीनां भिन्नेहात्यन्तमा कृतिः।
ताण्ड्यके शाट्यायनके भिद्यन्ते ऋषियो न तु॥

(प्रश्न) रथन्तर आदि सोमों की यहां आकृति संहितासे बहुत ही भिन्न होती है। ताण्ड्य और शाट्यायन संप्रदाय में तो भी ऋषि भिन्न नहीं हैं। और—

(यजु० १२।४७) विश्वामित्रका सूक्त होता है, ऐसा कहा है। (ऋषेर्ऋषे वा०) अर्थात् ऋषि ऋषि से ये सामिधेनी ऋचाएं होती हैं, ऐसा कहा है।

इस प्रकार ब्राह्मणग्रन्थों के वचन हैं।

२५. एवमैक्ये रूपभेदः पाठभेदश्च किंकृतः।
साम्नामृचां च विविधः कथयन्त्यत्र वैदिकाः॥

इस प्रकार जब सर्वत्र समानता है, तब रूपभेद और विविध प्रकार का पाठभेद वेदों के मन्त्रों में क्यों है?

(उत्तर)- इस सम्बन्ध में वैदिक विद्वान् कहते हैं—

२६. भूयो भूयस्तपस्तप्त्वा वेदान्नानाविधान् इति।
ऋषयो ददृशुः पूर्वं तं तमर्थमभीप्सवः॥

बहुत बहुत तप करके भिन्न भिन्न अर्थप्रयोजन की इच्छा करते हुए ऋषियोंने नाना (भिन्न भिन्न प्रकार के) वेदोंका दर्शन किया है और—

भरद्वाजोऽकामयत वसिष्ठोऽकामयतेति ।
उभयत्रार्थवादानां पश्यामो ह्येकरूपताम् ॥
"भरद्वाजोऽकामयत०" "वसिष्ठोऽकामयत०"

अर्थात् भरद्वाज ने कामना की, वसिष्ठ ने कामना की, इस प्रकार दोनों स्थानों पर (तांड्य, शाट्यायन) हम एक समान बात देखते हैं । और—

अध्वर्युब्राह्मणानि—

कृणुष्व पाज इत्यत्र वामदेवस्यर्चो याज्यानुवाक्या भवन्तीत्युक्तम् ।

दिवस्परि प्रथममित्यत्रैतेन वै वत्सप्रीर्भालन्दन इत्युक्तम् ॥

अयं सो अग्निरिति विश्वामित्रस्य सूक्तं भवतीत्युक्तम्
ऋषेर्ऋषेर्वा एता निर्मिता यत्सामिधेन्य इत्युक्तम् ॥

अध्वर्यु (यजुर्वेदी) लोगोंके ब्राह्मण भी है । जैसे—

'कृणुष्व पाज०' (यजु० १३।९) इस मन्त्रपर वामदेव की ऋचाएं याज्यानुवाक्याएं होती हैं, ऐसा कहा है ।

'दिवस्परि प्रथमम्०' (यजु० १२।१८) इस ऋचापर कहा है- इस मन्त्र से वत्सप्री भालन्दन इत्यादि कहा है ।

और 'अयं सोऽग्निः०'

२७ यजुर्ऋक्षु च वैरूप्ये रूपस्वरकृते बुधाः ।
अर्थद्वैरूप्यमपि च कारणं प्रतिजानते ॥
ऋग् विश्वो देवस्य नेतुर्भवेत् तत्र निदर्शनम् ।
विश्वे बहुवचनान्तं पठन्त्यध्वर्यवः पदम् ॥

यजुर्वेद और ऋग्वेदमें जो रूप और स्वरमें भिन्न रूपता है, उसमें विद्वान् लोग दो प्रकारके अर्थ को ही कारण बतलाते हैं । इसमें "विश्वो देवस्य नेतु० (यजु.४।८),, यह ऋचा उदाहरण है । यजुर्वेदी लोग "विश्वे" ऐसा बहुवचनान्त पद पाठ करते हैं । [माधवभट्टने जो प्रश्न या पूर्वपक्षमें ब्राह्मण-वाक्य उधृत किये हैं, उनका स्थान विदित नहीं । यजुः-सर्वानुक्रमणीमें पाठ है-

१. दिवस्पर्याग्नेयं त्रैष्टुभं द्वादशर्चं वत्सप्रीर्भालन्दनः॥

२. अयं सः पञ्चर्चमाग्नेयं त्रैष्टुभं विश्वामित्रः ।

"कृण्ुष्वपाज०" इत्यादिको शतपथमें देवोंका दर्शन (आर्यत्व) माना है । "विश्वो देवस्य०" इस ऋचामें 'विश्वे' पाठ वर्तमान उपलब्ध शुक्लशाखाओं में नहीं है ।]

॥ इति सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

अथ अष्टमोऽध्यायः ।

दूरादिहेव यत्सति व्याचिख्यासति माधवः ।
पितृपुत्रसमावेशे वक्तव्यं सम्प्रदर्शयन् ॥

'दूरादिहेव यत्स' (ऋ० मं० ८ सू० ५) इस अध्याय की व्याख्या करने के पूर्व माधवभट्ट संहिता में पिता और पुत्र-भूत ऋषियों के दृष्ट सूक्तों के क्रम पर प्रवचन करते हैं ।

पिता और पुत्र ऋषि दृष्ट सूक्तों की क्रमव्यवस्था ।

१. कण्वस्य पुत्रः प्रस्कण्वः प्र वो यह्वं पितुर्मतम् ।
आर्षमग्ने विवस्वच्च पुत्रस्य तदनन्तरम् ॥
२. मधुच्छन्दाः पिता पुत्रमाहुस्तस्य धनञ्जयम् ।
अग्निमीळे मधुच्छन्दा इन्द्रं विश्वा धनञ्जयः ॥
३. विश्वामित्रः पिता पुत्र ऋषभस्तस्य कीर्तितः ।
पितुः सोमस्य मेत्यार्षमृषभस्य प्र वः स्मृतम् ॥

कण्व का पुत्र प्रस्कण्व है, 'प्र वो यह्वं पुरूणां०' इत्यादि (ऋ० १।३६-४३) सूक्त पिता कण्व घौर ऋषिका दर्शन है, 'अग्ने विवस्वदुषस०' (ऋ० १।४४-५०) इत्यादि सूक्त उसके पुत्र प्रस्कण्व के दर्शन हैं, वे उसके अनन्तर ही पठित हैं । मधुच्छन्दाः पिता है, धनञ्जय या 'जेता' उसका पुत्र है । अग्निमीळे पुरो० (ऋ० १।१-१०) इत्यादि दस सूक्त मधुच्छन्दा के देखे हैं और 'इन्द्रं विश्वा अवी०' (ऋ० १।११) एक सूक्त उसके पुत्र जेताका देखा उसके पश्चात् पठित है । इसी प्रकार

विश्वामित्र पिता है, ऋषभ उसका पुत्र कहा जाता है। पिता के सूक्त हैं— सोमस्य मा तवसं० (ऋ० ३।१-१२) उसके पश्चात् विश्वामित्रके पुत्र ऋषभके दृष्ट 'प्र वो देवायाग्नये०' (ऋ० ३।१३-१४॥) दो सूक्त हैं।

४. अर्चनानाः पिता पुत्रः श्यावाश्वस्तस्य कीर्तितः।
ऋतस्य गोपावधि तिष्ठथः पितुरार्षं विदुः॥

५. प्र श्यावाश्व पितुः पूर्वं पुत्रः श्यावाश्व आगतः।
पितृपुत्रविपर्यासे किं नु स्यादत्र कारणम्॥

(प्रश्न)–'अर्चनानाः' पिता है, 'श्यावाश्व' उसका पुत्र है। ऋतस्य गोपावधि तिष्ठथो रथं० (ऋ० ५। सू० ६३) इसके ऋषि पिता 'अर्चनानाः' हैं।

'प्र श्यावाश्व०' (ऋ० ५। सू० ५२-६२) इत्यादि ११ सूक्त श्यावाश्व नाम पुत्र दृष्ट हैं, वे पिताके देखे सूक्तों से पूर्वपठित हैं। इस पिता और पुत्रके सूक्तोंका विपरीत क्रम होनेमें क्या कारण है?

६. बहूनि पश्यन् सूक्तानि श्यावाश्वः पूर्वमागतः।
अर्चनानाः पिता पश्चादिति वृद्धेभ्यः आगमः॥

(उत्तर)– ऋषि श्यावाश्वने बहुतसे सूक्तों का दर्शन किया है, इसलिये उसके सूक्तों को पूर्व रखा गया है, और अर्चनानाः पिता के सूक्तों की संख्या (सू० ६३-६४) अल्प होनेसे उनको पीछे रखा गया है।

७. विश्वामित्रपिता गाधिः स विश्वामित्र-मंडले।
पश्चात् पुत्रादाजगाम स चासीदृषिरल्पदृक्॥

इसी प्रकार विश्वामित्र के पिता 'गाधि' वह विश्वामित्र मण्डलमें पुत्रके पश्चात् हैं। क्योंकि वह भी अल्प सूक्तों के द्रष्टा है। [गाथी कौशिक दृष्ट (ऋ० ३। सू० १९-२२) ४ सूक्त हैं। और विश्वामित्र-दृष्ट सूक्त मण्डल ३, सू० १-१२ तक तथा २४ से ५३ सूक्त तक हैं।]

८. कतस्य पुत्र उत्कीलस्तस्य सूक्ते वि पाजसा।
पितुश्च सूक्ते द्वे एव समिध्यमानो भवा नः॥

९. ऋचस्त्रयोदश पश्यत् सूनुर्दश पिता ततः।
अनाश्रित्य सूक्तसाम्यं पिता पश्चात् समागतः॥

ऋषि कतका पुत्र उत्कील है। 'वि पाजसा०' (ऋ० ३।१५-१६) इत्यादि दो सूक्त उत्कील-दृष्ट हैं। और इसी प्रकार पिता कतके दृष्ट भी 'समिध्यमानः०; भवा नो०' (ऋ० ३। सू० १७-१८) इत्यादि सूक्त ही हैं। इस स्थल में पुत्र के दृष्ट सूक्त पिता के देखे सूक्तोंसे पूर्व इसलिये आये हैं कि पुत्रने १३ ऋचें देखीं हैं और पिताने केवल दस। सूक्तों की समान संख्या का विचार छोडकर भी ऋचा की अधिकता और न्यूनताके कारण पुत्र पिता आगे-पीछे हो गये हैं।

१०. सुहोत्रः शुनहोत्रश्च भारद्वाजौ नरस्तथा।
समागता यथाज्येष्ठं भरद्वाजस्य मण्डले॥

भरद्वाज मंडल (षष्ठ मण्डल) में सुहोत्र, शुनहोत्र, और नर भरद्वाज के तीनों पुत्र क्रमसे बडे छोटे क्रम से आये हैं।

११. अभूरेको रयिपते षट् सूक्तानि यथाक्रमम्।
अपश्यन् ऋषयो द्वे द्वे सन्त्यन्यत्र च तादृशाः॥

अभूरेको रयिपते० (ऋ० ६। सू० ३१-३६) इत्यादि क्रमसे ६ सूक्त उक्त ऋषियोंने देखे, इसी प्रकार अन्य भी अनेक ऐसे स्थल हैं।

१२. भ्रातृणामपरो मध्य ऋषिः कश्चिन्न दृश्यते।
त्रिशोक-नाभाकमध्ये विरूपः कथमागतः॥

१३ अग्निमस्तोष्यृग्मियं नाभाकार्षं विदुर्बुधाः।
एवमादीनि सूक्तानि विरूपस्तत आगतः॥

१४. इमे विप्रस्य वेधसस्तद्विरूपार्षमुच्यते।
आ घा ये अग्निमिन्धते त्रैशोकं सूक्तमुच्यते॥

(शंका) भ्राता ऋषियों के बीचमें फिर और कोई ऋषि नहीं देखना चाहिये, तब त्रिशोक और नाभाक दोनों के बीचमें विरूप किस प्रकार आ गये।

'अग्निमस्तोष्यृग्मियं०'(ऋ० ८।३९-४२)
यह सूक्त नाभाक (काण्व) ऋषि का है।

'इमे विप्रस्य वेधस०' (ऋ० ८ ४३-४४)
इत्यादि सूक्त विरूप आंगिरस ऋषि का दर्शन है और आ घा ये अग्निमिन्धते०' (ऋ० ८।४५) यह सूक्त त्रिशोक ऋषि दृष्ट हैं।

१५. नाभाकश्च त्रिशोकश्च भ्रातराविति कोऽब्रवीत्॥

(समाधान)— नाभाक और त्रिशोक दोनों भाई हैं, ऐसा कौन कहता है?

स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा) की हिंदी पुस्तकें।

	मू.	डा०व्य०
१ ऋग्वेद-संहिता	५)	१)
२ यजुर्वेद-संहिता	२)	॥)
३ सामवेद	३)	॥)
४ अथर्ववेद	३)	॥)
महाभारत आदिपर्व	६)	१)
„ सभापर्व	२॥)	॥)
संस्कृतपाठमाला।	६॥)	।॥=)
वै. यज्ञसंस्था भाग १	१)	।)
अथर्ववेदका सुबोध भाष्य।		
१ प्रथम काण्ड सजिल्द	२)	॥)
२ द्वितीय काण्ड „	२)	॥)
३ तृतीय काण्ड „	२)	॥)
४ चतुर्थ काण्ड „	२)	॥)
५ पंचम काण्ड „	२)	॥)
६ षष्ठ काण्ड „	२)	॥)
७ सप्तम काण्ड „	२)	॥)
८ अष्टम काण्ड „	२)	॥)
९ नवम काण्ड „	२)	॥)
१० दशम काण्ड „	२)	॥)
११ एकादश काण्ड „	२)	॥)
१२ द्वादश काण्ड „	२)	॥)
१३ त्रयोदश काण्ड „	१)	॥)
१४ चतुर्दश काण्ड „	१)	॥)
१५ १५ से १८ तक ४ काण्ड	२॥)	॥)
छूत और अछूत	१॥।)	॥)
भगवद्गीता। (पुरुषार्थबोधिनी)	९)	१॥)
महाभारतसमालोचना। (१-२)	१)	॥)
वेदस्वयंशिक्षक भा. १-२	३)	॥)
योगसाधनमाला।		
१ संध्योपासना।	१॥)	।-)
२ योगके आसन। (सचित्र)	२)	।≡)
३ ब्रह्मचर्य।	१)	।-)
४ योगसाधनकी तैयारी।	।॥)	=)
यजु. अ. ३६ शांतिका उपाय	॥=)	≡)
शतपथबोधामृत	।)	-)

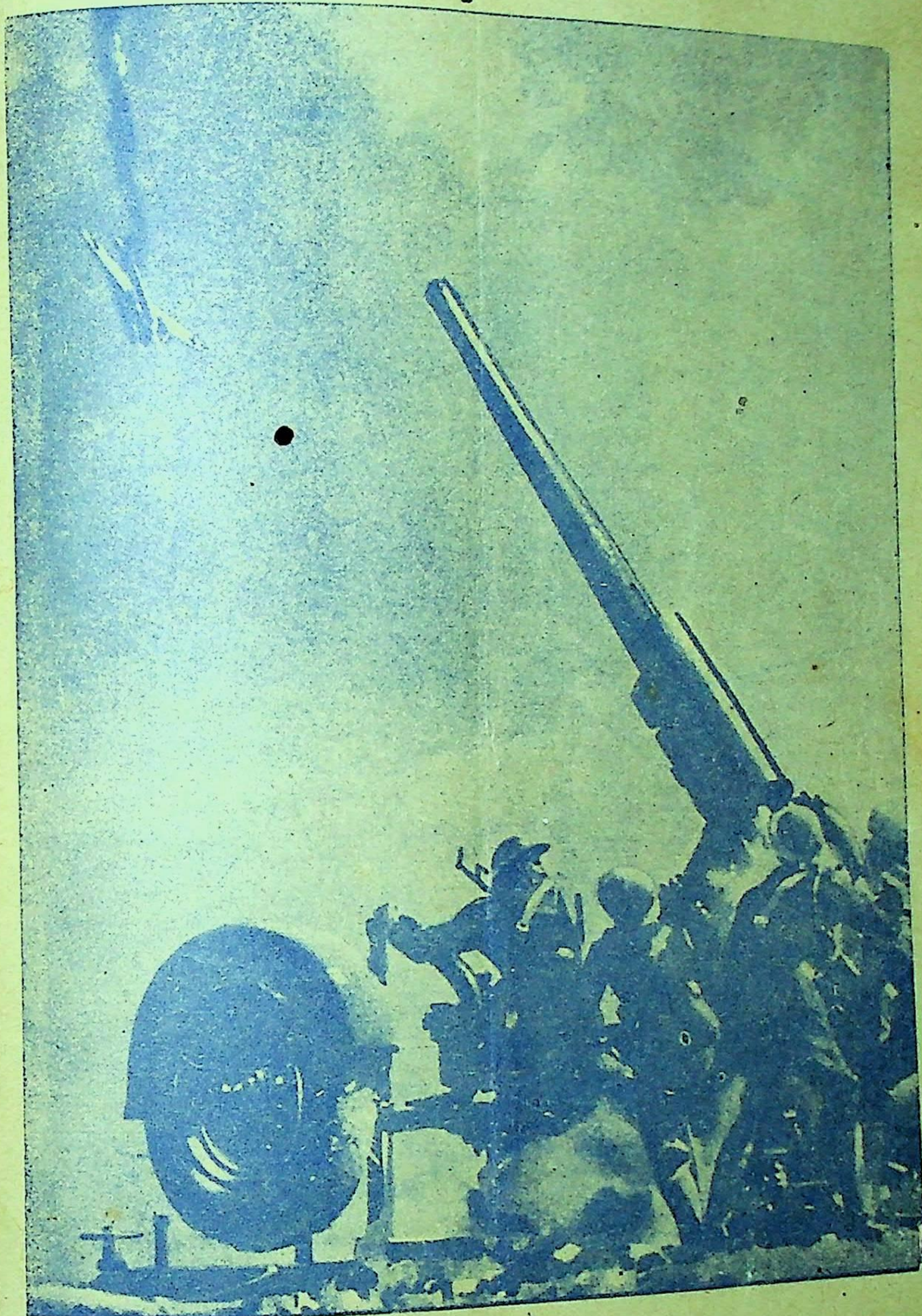
देवतापरिचय-ग्रंथमाला।		
१ रुद्रदेवतापरिचय	॥)	=)
२ ऋग्वेदमें रुद्रदेवता	॥=)	=)
३ देवताविचार	≡)	-)
४ अग्निविद्या	१॥)	-)
बालकधर्मशिक्षा।		
१ प्रथम भाग।	-)	-)
२ द्वितीय भाग	=)	-)
३ वैदिक पाठमाला। प्रथम पुस्तक	≡)	-)
आगमनिबंधमाला।		
१ वैदिक राज्यपद्धति।	।-)	-)
२ मानवी आयुष्य।	।)	-)
३ वैदिक सभ्यता।	।॥)	≡)
४ वैदिक चिकित्साशास्त्र	।=)	-)
५ वैदिक स्वराज्यकी महिमा	॥)	=)
६ वैदिक सर्पविद्या।	॥)	=)
७ मृत्युको दूर करनेका उपाय।	॥)	=)
८ शिवसंकल्पका विजय।	॥)	=)
९ वेदमें चर्खा।	॥)	=)
१० वैदिक धर्मकी विशेषता	॥)	=)
११ तर्कसे वेदका अर्थ	॥)	=)
१२ वेदमें रोगजंतुशास्त्र	≡)	-)
१३ वेदमें लोहेके कारखाने	।-)	-)
१४ वेदमें कृषिविद्या	≡)	।-)
१५ ब्रह्मचर्यका विघ्न	=)	-)
१६ इंद्रशक्तिका विकास	॥)	=)
उपनिषद्-माला। १ ईशोपनिषद्	१)	।-)
२ केन उपनिषद्	१।)	।-)
१ वैदिक अध्यात्मविद्या	॥)	=)
२ गीता-लेखमाला १ से ७ भाग	५॥)	१॥)
३ गीता-समीक्षा	=)	-)
४ यज्ञोपवीत-संस्काररहस्य	१॥)	॥)
५ भगवद्गीता (प्रथम भाग) (मायानन्दी भाष्य)	१)	।-)
६ भक्तके भगवान्	॥)	=)
७ वेदोक्त प्रजननशास्त्र	।॥)	-)

Regd. No. B. 1463

मुद्रक और प्रकाशक— व० श्री० सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध

वैदिक धर्म।

दिसंबर १९४०
कार्तिक-मार्गशीर्ष
सं० १९९७



वर्ष २१, अंक १२]

[क्रमांक २५२

वैदिक धर्म ।

[मासिक पत्र]

संपादक
पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

सहसंपादक
पं० तडित्कान्तजी वेदालंकार

स्वाध्याय-मण्डल, औन्ध

वार्षिक मूल्य म. आ. से ५) रु. वी. पी. से ५।।) रु. विदेशके लिये ६।।) रु.

वर्ष २१] [अङ्क १२

विषयानुक्रमणिका

वैदिकधर्म

क्रमाङ्क २५२

वर्ष २१ : : : : अङ्क १२

कार्तिक--मार्गशीर्ष संवत् १९९७

दिजंबर १९४०

राष्ट्र की शक्ति ।

अहं रुद्राय धनुरातनोमि
ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ ।
अहं जनाय समदं कृणोमि
अहं द्यावापृथिवी आ विवेश ॥

(ऋ० १०-१२५-६)

राष्ट्र की शक्ति घोषणा करके कहती है—

" सत्य ज्ञान का द्वेष करनेवाले महादुष्ट शत्रु का वध करनेके लिये मैं (राष्ट्र की शक्तिरूप देवता ही) वीर-भद्रके लिये धनुष्य सज्ज करके देती हूं । मैं हि लोगोंको युद्ध के लिये उत्साहित करती हूं और मैं हि द्युलोक से भूलोक तक विलक्षण आवेश उत्पन्न करती हूं । "



वेदों का मुद्रण।

ऋग्वेद-मुद्रण

वेदों के मुद्रण का कार्य वेगसे शुरू है। युद्ध के कारण सब मुद्रणसाहित्य की महंगाई हुई है, तो भी वेदप्रेमी ग्राहकोंके द्वारा सहायता प्राप्त हो रही है और वेदमुद्रण वेगसे चल रहा है। ऋग्वेदमुद्रण द्वितीय वार चल रहा है, उसके केवल आठहि फार्म छपने शेष रहते हैं, वे इस मासमें छप जायगे। ऋषिदेवतासूची ५३ पृष्ठ छप चुकी है। दूसरी ऋषियोंकी अकारानुक्रमसे सूची छप चुकी है, इसमें किस ऋषिके कितने मन्त्र हैं और वे कहां कितने हैं, यह सब दिया है; ऋग्वेदके परिशिष्ट ३२ पृष्ठ छपे हैं, अष्टविकृतियों के १६ पृष्ठ छपे हैं, इससे पाठक जान सकते हैं कि प्राचीन ऋषिमुनियोंने वेद की सुरक्षा करने के लिये कितना यत्न किया था। **आज भी वेदमन्त्रों के घनपाठी महाराष्ट्र में हैं** और वे संपूर्ण ऋग्वेदका घनपाठ मुखसे बोलते हैं। पुस्तक न लेते हुए संपूर्ण ऋग्वेदका घनपाठ बोलना कितना कठिन है, यह इन विकृतियों को देखने से पता लग जायगा। ऋग्वेदके १३ गुना ऋग्वेदका घनपाठ होता है। इतना सब प्रमादरहित ध्यानमें रखना बडा ही कठिन कार्य है।

इसके पश्चात् वेदका सर्वानुक्रम-छन्द-ऋषि-देवता-सूचक दिया है। इसके पश्चात् विस्तृत मन्त्रसूची अकारानुक्रम से दी है, जो इस समय छप रही है। इस प्रकार **यह ऋग्वेदका द्वितीय मुद्रण पहले की अपेक्षा सर्वांगसुंदर तो हुआ ही है, पर मन्त्रोंके चरण दर्शाने के कारण एक बडा महत्त्व का कार्य भी इस पुस्तक से हो गया है,** जो वेद पाठ करनेवाले और अर्थ करनेवालों को बडा लाभदायी है। अनेक सूचियां इसीमें होनेसे जो लाभ होनेवाला है, वह तो सब पाठक तब जानेंगे, जब वेद उनके हाथ में मिलेगा।

अति सस्ता मूल्य।

जो पाठक पेशगी मूल्य भेजकर ग्राहक बनेंगे, उनको चारों वेद केवल ६॥) रु० में हि दिये जांयगे। **भेजने का व्यय (रेलका या डाकका) अलग होगा। अतः शीघ्र** ग्राहक होनेवालों को लाभ है। ऋग्वेद के ग्रन्थ ग्राहकोंके हाथ में पहुंचने तक पेशगी सहूलियत की अवधि है। **अतः जो ग्राहक इस अल्प मूल्य में ये उत्तमोत्तम ग्रन्थ लेना चाहते हैं, वे त्वरा करके पेशगी सहूलियत का मूल्य भेज दें** और अति शीघ्र ग्राहक बनें।

दैवत संहिता।

दैवता संहिता का मुद्रण ऋग्वेद के कारण स्थगित हुआ था, वह अब वेगसे शुरू होगा और छः महिनोंमें संपूर्ण दैवत संहिता ग्राहकों के हाथों में पहुंच जायगी। अब इस मुद्रण में किसी प्रकार की देरी नहीं होगी।

दैवत संहिता के अभ्यास से और पाठ से वेदके गहन गूढ विचार सरलतया पाठकों के सामने स्वयं प्रकट होने लगेंगे। वेदको सरल करने का यह एक मात्र और उत्तमोत्तम साधन है। ये ग्रन्थ बार बार मुद्रण होना कठिन है। इसलिये जो पाठक इसके ग्राहक होना चाहते हैं, वे शीघ्र हो जांय।

यजुर्वेद की चार संहितायें।

काण्व, मैत्रायणी, काठक और तैत्तिरीय इन चार संहिताओं का मुद्रण हाथमें लिया है। इनमें से काण्व-संहिता तैयार हो चुकी है। जिल्द होते ही ग्राहकों के पास पहुंचेगी। मैत्रायणी संहिता छप रही है। चौथा भाग छप चुका है और तीनचौथाई छपना है। छपाई वेगसे चल रही है।

पेशगी मूल्य भेज कर ग्राहक होनेवालों को हि इन पुस्तकों की प्राप्ति विशेष सहूलियत के मूल्य से हो सकती है। पीछेसे ये पुस्तक इतने अल्प मूल्यसे दिये नहीं जायगे। जो पाठक संपूर्ण वेदकी संहिताओं को अपने पास रखना चाहते हैं वे इस अवसर से लाभ उठावें। आज तक इतने सस्ते ये सब ग्रंथ इतने सुंदर छापकर किसीने दिये नहीं और आगे भी इतना साहस कोई नहीं करेगा। क्योंकि हजारो रु० की हानि उठाकरहि ये ग्रन्थ इतने सस्ते दिये जा सकते हैं।

वेदमें युद्ध का आदेश।

वेद को अभीष्ट तो 'सर्वत्र मित्रदृष्टि' ही है, अतः 'मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे (यजुर्वेद)' ऐसा वेदने असंदिग्ध रीति से कहा है। 'सर्वत्र शांति और सर्वत्र मित्रदृष्टि' ही वेद के धर्म का आदर्श वैदिक धर्मियों के सन्मुख सदा से रहा है, तथापि आततायीयों के साथ जब युद्ध अनिवार्य हो जाता है, तब आपत्कालधर्मानुसार युद्ध करने के आदेश भी वेद बार-बार देता है। अर्थात् ये युद्ध, असुरराक्षसों के उपद्रव होने के बाद, देवों और आर्यों को असुरों का उपद्रव हटाने के लिये करने आवश्यक होते हैं। ऐसे युद्ध वेदों में अनेक स्थानों में कहे हैं। अर्थात् ऐसे युद्धों के आदेश वेद में हैं। वेद में जितने भी युद्ध हैं, वे सब के सब दुष्टों के शमनार्थ हैं, न कि आर्यों या देवों द्वारा विना कारण दूसरोंपर हमला कर के स्वयं उपस्थित किये हैं। इस दृष्टि से वेद का अभ्यास बडा ही बोधप्रद है।

शांति और स्वस्ति का उपदेश करना ही वेद का कार्य है, परन्तु वह करता हुआ, आवश्यक होने पर वेद युद्धों के आदेश भी देता है। वेद-पाठ करते करते शांतिपाठ के साथ वेद युद्धों का भी आदेश देता है, यह बात सुस्पष्ट हो जाती है।

पुराणों को देखने से स्पष्टता के साथ पता लगता है कि, सब को निर्भयता की शिक्षा देनेवाले ऋषिलोग अपने गुरुकुलों में बैठते हुए और ब्रह्मचारियों को वेद का पाठ देते हुए, युद्ध की शिक्षा भी साथ साथ देते थे। आंगिरसों के गुरुकुल में तो कई शस्त्र और अस्त्र बनाये जाते थे, इस विद्या के लिये आंगिरसों के गुरुकुल की प्रसिद्धि है। धनुर्विद्या की जितनी उन्नति इन ऋषियों के गुरुकुलों में हुई थी, उतनी बाहर नहीं हुई थी। नरनारायण ऋषियों का आश्रम बद्रिकेदार के क्षेत्र में था। ये दोनों ऋषि तप करते थे, कभी इन्होंने किसीपर हमला नहीं किया और ना ही किसी को उपद्रव दिया। पर उन्मत्त क्षत्रियोंने जब इस आश्रमपर हमला किया, और आश्रम की लूट करने की इच्छा प्रकट की, तब ये ही तपस्वी युद्ध के लिये सिद्ध हुए और ऐसा अस्त्र शत्रुपर फेंका कि, जिसका वायु शत्रु-सैनिकों के मुखों और नाकों-आखों में जाकर वे जान लेकर भागने लगे, वहां ठहर न सके। ऐसे ऐसे अस्त्र ऋषियों की खोज से प्रयोग में आ गये हैं।

अनेक गुरुकुलों में धनुर्वेद पढाया जाता था, और ब्राह्मण हि धनुर्वेद को पढाते थे। ब्राह्मण स्वयं युद्ध करने के इच्छुक तो कभी नहीं थे, परन्तु शत्रु का प्रतिकार करने के लिये वे अपने पास ऐसा साधन अवश्य रखते थे, इस में कोई संदेह नहीं है।

स्त्रियों की सेना।

वेद पढने से ऐसा मालूम पडता है कि, वैदिक समय की शिक्षा में सब बालकों को, स्त्रियों और पुरुषों को, कुछ न कुछ युद्ध की शिक्षा भी आवश्यक रूप से दी जाती थी। वेद में स्त्रियों की सेना का उल्लेख है, देखिये—

स्त्रियो हि दास आयुधानि चक्रे,
किं मा करन्नबला अस्य सेनाः।
अन्तर्ह्यख्यदुभे अस्य धेने,
अथोपप्रैद् युधये दस्युमिन्द्रः॥ (ऋ० ५।३०।९)

"नमुचि नामक दास-असुर-राजाने स्त्रियों को आयुधों अर्थात् शस्त्रास्त्रों से युक्त किया है, स्त्रियोंकी सेनाएं बनायी हैं। इस शत्रु की ये निर्बल सेनायें, भला, मेरा क्या करेंगी? ऐसा कहकर इंद्रने दोनों के शब्द सुने और पहचाने, और बाद शत्रु के साथ युद्ध करने के लिये इंद्र आगे बढा।"

यहां दस्यु राजाने स्त्रियों की सेना तैयार की थी, ऐसा स्पष्ट है, स्त्रियों को शस्त्रास्त्र देकर युद्ध के लिये तैयार किया था। अतः इंद्र कहता है कि, ये अबलाओं की सेनाएं मेरा क्या करेंगी? ऐसा कहकर इन्द्रने शत्रु कहां है और उसकी सेना कहां रही है, यह उनके शब्द से पहचाना और स्त्रियों-की सेना को छोडकर नमुचि नामक राक्षस पर हमला चढाने के लिये इन्द्र दौडा। यह वर्णन बडा बोधप्रद है।

ये स्त्रियों की सेनाएं असुरोंने तैयार की थीं, आर्यों का इसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं। तथापि समय पर असुर

❀

राष्ट्रों में स्त्रियां भी युद्ध के लिये तैयार रहती थीं, यह बात इससे स्पष्ट दीखती है। आर्यों में भी स्त्रियों के युद्ध करने का उल्लेख वेद में है। इस विषय के मन्त्र वेद में जो हैं, वे अब देखिये—

यामिर्विश्पलां धनसामथर्व्यं। (ऋ० १।११२।१०)
सं विश्पलां नासत्यारिणीतं। (ऋ० १।११७।११)
प्रति जंघां विश्पलाया अधत्तं। (१।११८।८)
चरित्रं हि वेरिवाच्छेदि पर्ण आजा खेलस्य परितक्म्यायां। सद्यो जंघामायसीं विश्पलायै धने हिते सर्तवे प्रत्यधत्तम्॥ (ऋ० १।११६।१५)
विश्पलावसू (अश्विनौ) (ऋ० १।१८२।१)
सद्यो विश्पलामेतवे कृथः॥ (ऋ० १०।३९।८)

"अथर्व-अनुयायी कुल में उत्पन्न विश्पला नामक वीर स्त्रीकी रक्षा आपने जिन संरक्षक साधनों के द्वारा की। विश्पला नामक स्त्रीको आपने ठीक तरह दुरुस्त किया। इस विश्पला को आपने नई जांघ बनाकर लगाई। जब खेल राजा की शूर स्त्री युद्ध करती थी, उसकी जांघ युद्ध में कट गयी, तब रात्री में हि तत्काल आपने उसको लोहे की जांघ लगा दी, और चलनेफिरने और युद्ध करने के योग्य बना दिया। विश्पला के सहाय्यक आप हैं। विश्पलाको आपने शीघ्र ही चलनेफिरने योग्य बनाया।"

इन मन्त्रभागों में वैद्यकीय शस्त्रक्रिया की परम उन्नति का वर्णन है—

(१) पहिली टांग टूटने पर नयी लोहे की टांग लगाना, और चलनेफिरनेयोग्य उस मनुष्य को करना।

(२) युद्ध में गये वीरकी टांग टूटने पर उसको तत्काल दुरुस्त करना, नयी लोहे की टांग लगा देना, और फिर वह युद्ध कर सके, ऐसा करना।

(३) शस्त्रक्रिया का इतना भारी आपरेशन करना और उस व्रण को शीघ्र दुरुस्त करके उससे काम लेना।

इतनी बातें तो उक्त वेदमंत्रों में स्पष्ट हैं, और ये शस्त्रक्रिया का बडा कौशल्य बताती हैं। इसके अलावा उक्त वेदमंत्रों में जो वीर स्त्री है, वह एक राजपत्नी, वीरपत्नी, और वीरपुत्री है। खेल राजा की यह स्त्री है। राजा की स्त्री उस समय युद्ध में जाती है, कि जिस समय राजा के सब सैनिक हार कर वापस आते हैं, राजा का पराभव होता है, और राजा की हार होने में कोई संदेह नहीं रहता।

ऐसी अवस्था में राजकन्या और राजपुत्री अपनी सेना लेकर युद्ध के लिये जाती है, शत्रुसेनापर हमला करती है और उस दिन शत्रु का बल अधिक होनेपर शिकस्त खाकर टांग टूटने पर वापस आती है। अपनी टांग टूटने तक युद्ध करती है। वापस आनेपर उस वीर स्त्रीपर वहां के डाक्टर लोग (अश्विनीकुमार) शस्त्रक्रिया-आपरेशन- करते हैं, टांग टूटने का व्रण ठीक करते हैं, और लोहे की नयी टांग चलनेफिरने के लिये लगा देते हैं। यह सब ऐसी युक्ति से और कुशलता से करते हैं कि, वही स्त्री फिर युद्ध में जाती है और विजय प्राप्त करती है, शत्रु का पूर्ण नाश करती है और यशस्विनी बन कर अपने राष्ट्र का स्वातन्त्र्य सुरक्षित करती है।

आजकल टांग का आपरेशन करने पर एक-दो मास उस व्रण को ठीक होने के लिये लगते हैं, लोहे की टांग लगाई, तो उसको बर्तने का अभ्यास करने के लिये भी एक-दो मास अवश्य लगते हैं, पर ऊपरवाले मंत्रोंमें (सद्यः) यह सब तत्कालहि हुआ, ऐसा दिखलाया है। यहां हम मान सकते हैं कि, आवश्यक दिन लगे होंगे, अथवा उनके पास कुछ ऐसी औषधियां होंगी, कि जिनसे आज की अपेक्षा बहुत शीघ्र व्रण दुरुस्त होता होगा।

महाभारत के युद्ध में हम देखते हैं कि, वेही योद्धा प्रतिदिन जखमी होते हैं और दूसरे दिन फिर युद्ध करनेयोग्य तैयार होते हैं। इससे अनुमान होता है कि, जब वे रातको वापस आते थे, तब कुछ वनस्पतिका लेप लगाते थे, और कुछ औषधि खाते भी थे, जिससे दूसरे दिन फिर युद्ध के लिये तैयार हो जाते थे। वही बात विश्पलादेवी के सम्बन्धमें सत्य होगी। अस्तु।

खेल की खोज।

मनुका का वचन है कि, वेद के शब्दों का प्रयोग देश देश के लोगोंने किया। मनुष्यों के नाम, देश के नाम, स्थानों के नाम [वेदशब्देभ्य एवादौ (मनु०)] वेद के शब्दों को लेकर मानवोंने किये। यदि यह मनु का वचन सच है, तो प्रतीत ऐसा होता कि, फ्रंटियर के सीमाप्रान्त के, लोगोंने इस 'खेल' शब्द का प्रयोग अपने लिये किया था। क्योंकि यह 'खेल' शब्द का प्रयोग

आजकल भी भारत और अफगानिस्थान के बीच के प्रदेशों में चालू है। 'झाका खेल, ईसा खेल' ये नाम वहां आज भी प्रचलित हैं। प्राचीन समय में ये ही शब्द 'ज्या खेल, ईश खेल' ऐसे होंगे। परन्तु यह वैदिक 'खेल' शब्द पठानों के देशों में इस समय में भी मिलता है, यह सत्य है।

किसी खोज करनेवाले को उचित है कि, इस प्रान्त में और कौनकौन से वैदिक शब्द प्रचलित हैं, इस की खोज करें और देखें कि, इसका परिणाम क्या होता है। आजकल का 'खान' शब्द भी 'कृष्ण' शब्द का रूपान्तर दीखता है, यह बात यहां कहने में हमें कोई संकोच नहीं होता। 'कृष्ण, करसन, करहन, कर्हन, कहान, खान,' इस तरह स का ह बन कर खान बनता है। आजकल खानचन्द, कहानचन्द ये नाम पंजाब में प्रचलित हैं, ये कृष्णचन्द्र के ही अपभ्रंश हैं। इस तरह अफगानिस्थान तो 'अहि-गण-स्थान' निःसंदेह है। अहि जाति का उल्लेख वेद में अनेकवार आता है। अहि नामक लोगों की जनता जहां रहती थी, वह अहिगणस्थान है, वही आज अफगानिस्थान कहाता है।

पूना में एक महाशयने संपूर्ण भूमी के ऊपर के आजकल के नगरों, ग्रामों, नदियों, पर्वतों के नामों के संस्कृत नाम कौन से हैं, इस का एक बडा भारी कोश तैयार किया है। इस से न केवल अफगानिस्थान में परन्तु नार्वे स्वीदन में भी शहरों के नाम संस्कृत होने में संदेह नहीं रहता। इनमें सैकडो शब्द वैदिक हैं। इस से मनु का उक्त वचन सिद्ध हो रहा है। अस्तु। जब यह कोश छपेगा, तब इस का अधिक वर्णन हम पाठकों के सन्मुख रखेंगे।

आज इस लेख में युद्ध में स्त्रियों के भाग लेने का विषय चल रहा है। और ऊपर के मन्त्रोंने यह स्पष्ट रीतिसे दर्शाया है कि, विश्पला देवी की शूरता वर्णन करनेयोग्य है। पर शोक की बात यह है कि आजकल की कुमारिकाएं यूरप का 'जोन आफ आर्क' का नाम जानती हैं, परन्तु वेद की 'विश्पला' को नहीं जानती। विश्पलाने टांग कट जानेपर भी भारी युद्ध किया और विजय पाया। ऐसा शौर्य किसी देश की किसी कुमारिकाने नहीं दर्शाया। अतः आर्यस्त्रियों को विश्पला का स्मरण करना योग्य है।

वैदिक धर्म में रहनेवाले कुमार-कुमारिकाओं को, जिनको कि उपनयन करने का अधिकार है, युद्ध की शिक्षा आवश्यक शिक्षा करके दी जाती थी। मानो उपनयनसंस्कार ही 'आर्य-स्वयंसेवक संघ' में प्रविष्ट होने का संस्कार है।

१ मेखलाबंधन (कमरपट्टा बांधना)
२ दण्डधारण (लाठी का चलाना)
३ कुठारप्रयोग (समिधा तोडने के लिये कुल्हाड चलाना)

ये शिक्षाएं आवश्यक शिक्षा थीं। ये तीनों शिक्षाएं स्वयंसेवकसंघ के लिये बालवीर-सेना के हि लिये उपयोगी हैं। स्वयं अपनी रक्षा करना और शत्रुपर हमला करना ये दोनों कार्य इस में सिद्ध होते थे। जो लाठी ब्रह्मचारी के हाथ में दी जाती थी, वही संन्यासी के हाथ में दण्डरूप से रहती थी, इसलिये संन्यासी का नाम 'दण्डी' भी है। जो दण्ड धारण करता है, वह दण्डी है।

जो कुठार ब्रह्मचारी के हाथ में समिधा तोडने के निमित्त दी जाती थी, वही आगे 'स्फ्य' नाम से वैदिक यज्ञों में शस्त्रधारण में परिणत होती थी। स्फ्य आजकल का शिखों का कृपाण नामक शस्त्र ही है, जो उनके पास सदैव रहता है। वही आर्यों की वैदिक प्रथा थी।

कश्यप ऋषिका पुत्र 'गुणेश' था, उस का उपनयन इसी ऋषि के आश्रम में हुआ और उपनयन में उसको अनेकों ने अनेक शस्त्रास्त्र दिये थे। उपनयन में शस्त्रास्त्र दिये जाते थे, और उनका प्रयोग सिखाया जाता था, इस का प्रमाण कश्यपपुत्र के उपनयन से मिलता है। यह कथा गणेशपुराण में देखनेयोग्य है।

इस तरह उपनयन के समय बालवीरसेना में प्रवेश होता था, और वह शिक्षा आगे गुरुकुलों में न्यून वा अधिक प्रमाण में दी जाती थी। इसीलिये नरनारायण ऋषि अस्त्र चलाने में समर्थ हुए, अंगिरस ऋषि अस्त्रप्रयोग तैयार करते रहे, और विश्पला जैसी स्त्री समय आने पर शत्रुपर हमला करने के लिये चली। जिसको सैनिकशिक्षा नहीं मिली, वह सेना को लेकर क्या करेगी?

महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती इन स्त्रियोंने भी बडे बडे असुरों के साथ युद्ध किये हैं और शत्रुओंको परास्त

किया है। ये स्त्रियां सैनिकशिक्षा के बिना युद्ध करने को गयीं थीं, ऐसा कहना अयोग्य है। अस्तु। इस तरह आवश्यक सैनिकशिक्षा होने के समय ही ऐसे युद्ध स्त्रियोंसे हो सकते हैं, यही इतने लेख का तात्पर्य है।

आजकल वैदिक धर्म में रहनेवाले घरों की कुमारिकाएं फैशन की गुलाम बन कर सैनिकशिक्षासे दूर जा रही हैं, ऐसे समय में विश्पला की कथाएं इनके श्रवण-पथ पर जायगीं, तो उनको मार्ग दीख सकता है। पाठक इसका यहां अवश्य विचार करें। स्वतन्त्र वीरवृत्ति से रहनेवालों को अपने कुमारों को तथा कुमारिकाओं को भी स्वसंरक्षण की सुशिक्षा देना आवश्यक है। यही इससे यहां सिद्ध होता है।

युद्ध के तीन स्थान।

समुद्रयुद्ध, भूमियुद्ध और हवाईयुद्ध ऐसे युद्ध के तीन स्थान आजकल दीख रहे हैं। वैसेहि वेदमें भी दीखते हैं। इस समय युरोप में, अमरिका में तथा जापान में पाशवी बल की बहुतही वृद्धि हुई है, तथा संहारक साधन बहुतही बढ रहे हैं। अतः इस समय के संहारकी तुलना वेदकाल के युद्धों से करना अनुचित है। इसमें कोई संदेह नहीं कि, आजकल के साधन हमारे धनुर्वेदोक्त साधनों से कई गुणा बढे चढे हैं। अतः आज के युरोप के युद्ध में जो संहार हो रहा है, वह बहुतही अधिक है। वैसा संहार होने का वर्णन न वेदमें है और नाही महाभारतीय युद्ध में है। थोडासा रामरावण के युद्धमें इसका सादृश्य दीखता है, उसका वर्णन हम किसी समय आगे करेंगे। परन्तु वहां भी आजकल के जैसा संहार नहीं हुआ था। तो भी वेदों में उक्त तीनों प्रकार के युद्धों के वर्णन हैं, उनका विवरण इस लेख में करना है। अश्विनीदेवों के पराक्रमों के वर्णन में दर्याई युद्ध के कई प्रसंग हैं, उनमें एक प्रसंग ऐसा है—

तुग्र नामक एक बडा आर्यराजा वैदिक धर्मी था। इस राजा का साम्राज्य बडा भारी था। इसके राज्य को किसी विदेशी परद्वीपस्थ राजा का बडा उपद्रव होता था। इस उपद्रव देनेवाले शत्रु का राज्य समुद्र के पार किसी रेतीले स्थान में था। वहां से आकर वह शत्रु तुग्र के राज्य को उपद्रव देता था। एक बार राजा तुग्र ने सोचा कि इस शत्रु का नाश करना अच्छा है। शत्रु का नाश होनेसे हमारे राज्य की अच्छी सुरक्षा होगी और प्रजा का उपद्रव दूर होगा। ऐसा विचार कर महाराजा तुग्रने अपने युवराज भुज्यु को साथ बडी सेना और बहुत जहाजों का बडा बेडा देकर, उस शत्रु पर हमला करने के लिये भेजा। परन्तु वहां भुज्यु के पहुंचते ही शत्रुने ऐसा इस पर हमला किया कि, उस दर्याई युद्ध में भुज्यु का पूर्ण पराभव हुआ, भुज्यु के जहाज टूटे और सब सैनिक समुद्र में डूबने लगे। इतनेमें भुज्युने संदेश भेजा, वह अश्विनीकुमारों को मिला। वे अपने हवाई जहाजों से आये, उन जहाजों में भुज्यु की सब सेना को बिठलाया, जखमी सैनिकोंको आवश्यक चिकित्सा-द्वारा आराम पहुंचाया और लगातार ३ दिनरात्र हवाई यानों को दौडाकर तुग्र की राजधानी को उन सबको पहुंचाया। यह बात आगे के मंत्रोंमें पाठक देखें--

> वीळुपत्मभिराशुहेमभिर्वा देवानां वा जूतिभिः
> शाशदाना। तद्रासभो नासत्या सहस्रमाजा
> यमस्य प्रधने जिगाय॥ (ऋ० १।११६।२)

(वीळु-पत्मभिः) बडे वेगसे आकाश में उडनेवाले और (आशु हेमभिः) प्रबल त्वरित गतिसे दौडनेवाले तथा (देवानां वा जूतिभिः) दैवी शक्तियोंसे प्रेरित होनेवाले साधनों से युक्त हुए (नासत्य) अश्विनी देव बडेही पराक्रम करनेवाले हैं, क्योंकि उनके वाहन ने ही (आजा) युद्धमें सहस्रों शत्रु के सैनिकों का नाश करके (प्रधने जिगाय) युद्ध में प्रभावशाली विजय प्राप्त किया।

इस मन्त्रमें 'वीळु-पत्मन्' शब्द विशेष महत्त्व का है। 'वीळु' शब्द बडे सामर्थ्य का वाचक है और 'पत्मन्' शब्द उड्डाण का अर्थ दर्शाता है। बडे सामर्थ्य से प्राप्त होने-वाले प्रचंड वेगसे उड्डाण करनेवाले हवाई जहाजों का वर्णन यहां हो रहा है। 'पत्मन्' शब्द उड्डाण अर्थ बताता है और यह उड्डाण सदा आकाश में हि होता है। इसके साथ-वाला शब्द 'आशु-हेमभिः' है। 'आशु' का अर्थ है शीघ्र, त्वरा, सत्वर, और 'हेम' का अर्थ है गति। अर्थात् 'आशुहेम' का अर्थ है त्वरा से शीघ्र और सत्वर होने-वाली महागति। आगेपीछे का सम्बन्ध देखने से पता लगता है कि, ये दोनों शब्द हवाई जहाजों के लियेही यहां प्रयुक्त हुए हैं। जो वेग और जो गति यहां इन शब्दों द्वारा दर्शायी जा रही है, वह बैल की या घोडे की गति निःसन्देह

नहीं है। साथहि साथ यहां 'देवानां जूतिभिः' शब्द पडे हैं, जो इस बातकी विशेष स्पष्टता करते हैं।

जहाजों की गति देवोंकी सहायता से (देवानां जूतिभिः) होने का वर्णन यहां है। गति देनेवाले देव 'जल, अग्नि, वायु, सूर्य, विद्युत्' ये ही हैं। उक्त विमानों में इन देवों की सहायता वेग प्राप्त करने के लिये ही थी, ऐसा यहां के शब्द देखने से स्पष्ट हो जाता है। उक्त मंत्र में अश्विदेवों के वाहन के द्वारा हि युद्ध में सहस्रों शत्रुसैनिकों का वध होने का वर्णन विशेष सूक्ष्म दृष्टि से देखने योग्य है। अब अगला मन्त्र देखिये—

तुग्रो ह भुज्युं अश्विनोदमेघे रयिं न कश्चिन्ममृवां अवाहाः। तमूहथुः नौभिरात्मन्वतीभिः अन्तरिक्षप्रुद्भिः अपोदकाभिः॥

(ऋ० १।११६।३)

"तुग्र नामक सम्राट्ने अपने भुज्यु नामक पुत्र को (उदमेघे) समुद्रमें (अर्थात् समुद्रके पारके शत्रुपर हमला करने के लिये) भेजा था। जैसा कोई मरनेवाला मनुष्य अपने धनकी आशा छोडता है, वैसा ही यह हुआ। उस समुद्र में डूबनेवाले भुज्यु नामक राजकुमार को आपने (नौभिः) ऐसी नौकाओं से (ऊहथुः) उठाया जो नौकाएं (अन्तरिक्षप्रुद्भिः) अन्तरिक्ष-आकाश में संचार करनेवाली थीं और साथसाथ (अपोदकाभिः) पानी में भी चलती थीं और वह नौकाएं ऐसी थीं कि, (आत्मन्वतीभिः) जो सुदृढ और जैसी चाहे वैसी चलायी जानेवाली-आत्मावाली-सजीव जैसी थी।"

हवाई जहाजों का विचार करने के समय यह मन्त्र बडा ही उपयोगी है। पहिले तो ये नौकाएं (अन्तरिक्षप्रुत्) अन्तरिक्ष में— आकाश में संचार करनेवाली थीं। निःसन्देह यह शब्द हवाई जहाज—वायुयानों का वाचक है। यह शब्द आकाश में संचार करनेवाले विमानों का वाचक है, क्योंकि इसका दूसरा कोई अर्थ हो ही नहीं सकता। इससे हवाई जहाज का ही यह वर्णन है, यह बात सिद्ध होती है।

साथ साथ ये हवाई जहाज—वायुयान—आवश्यकता होने पर पानी में भी चलाये जाते थे, यह बात इस मन्त्र के 'अप-उदकाभिः' इस शब्द से स्पष्ट हो जाती है। चाहे जिस समय ये जहाज हवा में वेग से उडते थे और आकाश में संचार करते थे, और चाहे उस समय समुद्र में भी पानी को काटते हुए, (अप-उदक) चलते थे। पानी में, समुद्र में और हवा में चलनेयोग्य कला-यन्त्र की योजना इन जहाजों में भी थी, यही इनकी विशेषता है। जहाज हवा में भी चले और पानी में भी चले और (देवानां जूतिभिः) पानी, अग्नि, सूर्य, विद्युत्, वायु आदि दैवी शक्तियों की सहायता से उनको गति मिले। पाठक इन शब्दोंको अतिसूक्ष्म दृष्टि से देखें। म० ग्रिफिथ महोदय इन शब्दों के ऐसे अर्थ करते हैं–

अन्तरिक्षप्रुद्भिः = Traversing Air,
अपोदकाभिः = unwetted by the billows,
आत्मन्वतीभिः = animated (vessels).

'आत्मन्वती' शब्द का अर्थ है आत्मावाली, जैसा आत्मावाला देह अनेक गतियां कर सकता है, वैसी हि ये नौका भी आत्मावाली होने के समान विविध गति करने में समर्थ थी। आगे, पीछे, ऊपर, नीचे, तिरच्छी, वक्र, गोलाकार आदि जैसी जिस समय गति आवश्यक होगी, वैसी वहां इन से प्राप्त होती थी। इस तरह गति मिलने के सब साधन इन हवाई जहाजों में थे। यह बात इन शब्दों से स्पष्टतया सिद्ध होती है।

ये यान तो पानी पर से भी चल सकते थे, और समुद्र की लहरियों से, इनमें बैठनेवालों को कोई कष्ट नहीं होता था। इनमें ऐसी योजना कलायंत्रोंद्वारा की गयी थी, कि जिनसे समुद्र के पानी का कोई डर इनको तथा इनमें बैठनेवालों को न हो। इनकी गति आकाश में होती थी, यह तो ऊपर बताया ही है। यह आकाशयान बडे भारी वेगके साथ चलते थे, इसका वर्णन इससे पूर्व आ चुका है। ये नौकाएं जैसी समुद्र के पानी में, वैसी हि हवामें चलती थीं। तथा भूमिपर भी इनकी गति थी, इसका प्रमाण हम आगे बतावेंगे। जमीनपर चलने के लिये इनको सौ चक्र भी लगाये थे। सौ चक्र लगानेयोग्य ये रथ बडे थे, यह इससे स्पष्ट ही होता है। मोटारको चार चक्र होते हैं, जिन में ६ से २५ तक मनुष्य बैठते हैं। अतः सौ चक्र लगानेयोग्य वाहनों में दो-तीन सौ मनुष्य बैठने में सन्देह ही क्या हो सकता है?

उक्त तथा आगे आनेवाले अनेक मंत्रों में भुज्यु की सब सेना अश्विदेवों के इन वायु-यानों में बिठलाई गई थी, उनमें कुछ जखमी भी थे, युद्ध के बचे शस्त्रास्त्र भी रखे गये थे, तथा अश्विदेवों के अपने युद्ध-साधन भी अन्दर थे। अर्थात् इतना सब सामान रहने योग्य ये नौकाएं बडी थीं। देखिये—

तिस्रः क्षपस्त्रिरहातिव्रजद्भिः नासत्या भुज्युं ऊहथुः पतंगैः। समुद्रस्य धन्वन्नार्द्रस्य पारे त्रिभी रथैः शतपद्भिः षडश्वैः॥ (ऋ० १।११६।४)

" भुज्यु नामक राजपुत्र जिस शत्रु का नाश करने के लिये समुद्र के पार गया था, वह शत्रु (समुद्रस्य पारे) समुद्र के पैलतीर पर रहनेवाला था। वहां (धन्वन्) जो रेतीला प्रदेश है वहां का वह राजा था। वहां भुज्यु राज-पुत्र गया था। पर वहां उसका पराभव हुआ। वहां (शतपद्भिः) सौ चक्र लगे हैं ऐसे और (षड् अश्वैः) छः अश्वशक्तियों से युक्त (त्रिभिः रथैः) तीनों रथों के साथ (तिस्रः क्षपः त्रिः अहा) तीन रात्री और तीन दिन इतने समय तक (अतिव्रजद्भिः) अति वेगसे दौडनेवाले (पतंगैः) पक्षी के समान हवाई यानों से (भुज्युं ऊहथुः) भुज्यु को उठाया और उसके घर को पहुंचाया। "

यहां तीन रथों का वर्णन है। इन रथोंका नाम 'पतंग' कहा है। पतंग पक्षी का वाचक शब्द है और कागज का पतंग करके लडके खेलते हैं, वह पतंग भी आकाश में उडता है। इससे पतंग-संज्ञक यान आकाश में उडते हैं, अर्थात् वे वायुयान वा विमान ही हैं, यह सिद्ध है। यद्यपि इनको ' रथ ' कहा है, जैसा विमान को ' हवाई जहाज ' कहते हैं, वैसीहि यह बात है। रथ भूमिपर चलनेवाला है, तथापि जलरथ नौका है, और आकाशरथ विमान है। अतः रथ शब्द से इन पतंगों के वायुयान होने में संदेह नहीं है। पतंग शब्द का दूसरा कोई अर्थ नहीं है।

इन पतंग संज्ञक वायुयानों को (शत्-पत्-भिः) सौ पांव जैसे चक्र लगे हुए थे। पांवोंसे चलना भूमि-परहि होता है। इसलिये भूमिपर से यह रथ दौडता रहे, इस लिये इस वायुयान को सौ चक्र लगे थे।

चक्र छोटे से छोटा भी माना जाय तो एक हाथ लंबा चौडा माना जा सकता है। दो कतारों में रथ के चक्र होते हैं, इसलिये ५० चक्र एक ओर और ५० दूसरी ओर लगाये होंगे, जैसो मोटार लारी को छः या आठ लगे होते हैं। वैसे ही इस अश्विदेवों के यानों को ये चक्र लगे होंगे। ऐसी कल्पना करने पर ये यान कमसे कम ५०।६० हाथ लंबे होंगे, इसमें संदेह नहीं हो सकता। चक्रों के स्थान को छोडकर विमान के पंख और पुच्छ ये भाग इससे दुगणे या तीन गुणे लंबाई में होंगे हि। ६० हाथ लंबी मोटार लारी बनाई, तो उसमें निःसंदेह सौ मनुष्य आराम से बैठ सकेंगे। यह तो हम कमसे कम इस यान के प्रमाण की कल्पना कर रहे हैं। संभव है कि, ये यान उक्त वर्णन से बहुतही बडे होंगे।

ये यान (समुद्रस्य आर्द्रस्य पारे धन्वन्) जलसे भरे समुद्र के पार रेतीले प्रदेशतक पहुंचे थे। समुद्र के पार रेतीला प्रदेश अरबस्तान, आफ्रिका, मिस्र ये देश तो हमारी कल्पना में आते हैं, संभव हैं कोई दूसरे देश भी होंगे। मिस्र देश के राजे भारतीय राजाओं के साथ लडते भी थे और मिस्र देश रेतीला भी है। हमें निश्चय नहीं है कि; उक्त मन्त्र में जो रेतीला प्रदेश है वह कौनसा है। पर मन्त्रस्थ वर्णन की कल्पना प्रकट करनेके लिये हम मिस्र देश पर हि भुज्युने चढाई की थी, ऐसी कल्पना करते हैं। कोई दूसरा देश होगा तो न्यून वा अधिक अन्तर हो जायगा।

भुज्यु अपने बेडे के साथ, अपनी सेनाके साथ मिस्र देश देश पर हमला करने के लिये गया था, वहां पहुंचते ही जो शत्रु का हमला हुआ उसमें भुज्यु का पराभव हुआ और वह अपनी सेना के साथ डूबने लगा। भुज्युने अश्वि-देवों की प्रार्थना की, वह अश्वियों को मालूम हुई और अश्विदेव अपने उक्त जहाजों के साथ वहां पहुंचे, और भुज्यु को सेना के साथ अपने जहाजों में लेकर तीन दिन और तीन रात्रियों के समय में अति वेग से दौडते हुए, भुज्यु की राजधानी में पहुंचे। अर्थात् तीन दिन और तीन रात्रियों के घण्टे ७२ होते हैं। ७२ घण्टों का प्रवास आश्विनी देवों के वायुयानों ने किया। आज कलके वायु-यान प्रति घण्टा १०० से ३०० मीलतक के वेग से आकाश में दौडते हैं। सौ मील से कम वेग रहनेपर आकाश में रहना आज के यानों को असम्भव है। यदि प्रतिघण्टा सौ मील वेग से अश्वि देवों के वायुयान दौडे

ऐसा मान लिया जाय तो ७२०० मीलों के प्रवास के अन्तर पर भुज्युका शत्रु था ऐसा प्रतीत होगा। मन्त्र में 'अतिव्रजद्भिः' पद है। अतिवेग से वे यान जाते थे, ऐसा इस पदसे भाव दीखता है। हम आजकल के वेग के आधा वेग भी मान लें, तो उक्त अश्विदेवों के वायुयानों का प्रवास करीब ३००० मीलोंका हुआ था, ऐसा सिद्ध हो सकता है।

अर्थात् इतनी दूरीपर के शत्रुपर नौकाद्वारा सेना ले जाना और वहां उस के समुद्र में हमला करके उसका पराभव करना, यह कार्य बडा कठिन है। शत्रुपर आक्रमण-हमला-करने के लिये दसगुनी सेना आवश्यक होती है। शत्रुसेना से कम फौज होनेपर आक्रमक युद्ध कदापि नहीं हो सकता।

भुज्यु का शत्रु अपने राज्य में था, उसके कीले आदि के आश्रय से हि वह वहां होगा, भुज्युको परदेश में जाकर लडना था। यह अत्यंत कठिन कार्य था। शत्रु के बलका विचार करके हि भुज्युने अपने साथ फौज तथा युद्ध-साधन लिये होंगे। भुज्यु या उसका पिता तुग्र साम्राज्य करते थे और वे कोई पागल आदमी नहीं थे। इस कारण अपने स्थान से चलने के पूर्व अपने और शत्रु के बल का विचार उन्होंने अवश्य किया होगा और उतने पर्याप्त बल और साधन अपने साथ लिये होंगे कि, जितने अपने विजय के लिये पर्याप्त हो सकते हैं। साधारण विचार करनेवाला वीर भी ४।५ सहस्र वीर सैनिक अपने साथ लिये बिना, दो तीन सहस्र मील दूरीपर के आक्रमक युद्ध के लिये, बाहर नहीं निकलेगा। विदेश में अपने को कोई साधन प्राप्त नहीं हो सकते, इसलिये सब युद्धसाधन, सब भोजनान्नादिके साधन तथा कपडेलत्ते इतने सैनिकों के लिये, इतना तो लेना आवश्यक हि है। हमारा ख्याल यह है कि इतनी सामग्री तो भुज्यु के साथ अवश्य होगी। भुज्यु कब चला और वहां कितने समयमें पहुंचा, इसका कोई लेख वेदग्रन्थ में नहीं है; परन्तु अश्विदेवों के वायुयान तीन अहोरात्र प्रवास करके वापस आये, ऐसा ऊपर के मन्त्र में कहा है। जिससे शत्रुके रेतीले प्रदेशकी दूरीकी कल्पना हो सकती है।

इतने दूर देश को पहुंचने के लिये भुज्यु को दस-गुने दिन अवश्य लगे होंगे, क्योंकि भुज्यु नौकाओं से गया था, वायुयान उसके पास नहीं थे। वायुयान की अपेक्षा नौका की यात्रा के लिये दिन अधिक लगते हैं। आज भी विमान से विलायत की यात्रा ५ दिन में होती है और नौकाओं की १५।२० दिनों में। अतः अश्विदेवोंके वायुयान तीन अहोरात्र में आये थे, वहां भुज्यु को जाने के लिये १५।२० दिन अथवा अधिक दिन अवश्य लगे होंगे।

इतने दिन समुद्रमें रहने के लिये सहस्रों मनुष्यों के लिये कितना अन्न और पानी लगा होगा और उसको रखने के लिये कितना स्थान आवश्यक होगा, इसकी कल्पना पाठक कर सकते हैं। अर्थात् भुज्यु की नौकाएं भी पर्याप्त बडी होंगी और सब साधनों से संपन्न होंगी।

भुज्यु का पराभव हुआ। तब भुज्युने अश्विदेवों को संदेश भेजा। वह उनको मिला। यह संदेश केवल प्रार्थना से हि भेजा ऐसा मानना योग्य है, वा कोई वैद्युत संदेश-वाहक साधन उसकी नौकापर था, उसकी खोज होनी है। परन्तु यदि वैद्युत यंत्रद्वारा संदेश भेजा गया था ऐसा माना जाय, तो और एक संदेशप्रेषणविद्या भी उस समय थी ऐसा उससे सिद्ध होगा। पाठक इसका अधिक विचार करें।

कम से कम ३००० मीलों पर समुद्र के अज्ञात प्रदेश में भुज्यु पहुंचा था। वहां से उसने मानसिक संदेश भेजा अथवा वैद्युत संदेश भेजा, पर संदेश अश्विनी-देवोंको पहुंचा यह सच है। अश्विदेव अपने हवाई जहाज में बैठकर चले। यहां एक विचारणीय बात है कि, समुद्र के फलाणे स्थान पर भुज्यु अपने बेडे के साथ डूब रहा है, यह अश्विदेवोंको कैसा विदित हुआ? और यदि यह विदित न हुआ तो वे वहां कैसे पहुंचे? अक्षांश-रेखांश (Latitude and longitude) का ठीक पता न लगा, तो समुद्र में किस स्थान पर कौन है इसका पता लगना संभवहि नहीं है। यह एक बडा शास्त्र है और वह शास्त्र अश्विदेवों के यान चलाने वालों को विदित था इसमें संदेह नहीं। दिशा-दर्शक यंत्र भी इन वायुयानों पर होगा। नौका में भी इसकी आवश्यकता रहती है। अश्विदेव अतिशीघ्रही उस समुद्र के भाग में पहुंचे कि जहां भुज्यु और उसके सैनिक डूब रहे थे। ये लोग जहाजों के टुकडों के आश्रय से वहां पडे होंगे, तो भी यदि अश्विदेव शीघ्र न पहुंचते, तो भुज्यु को जीवित दशा में प्राप्त करना असंभव था। अर्थात् भुज्यु

का संदेश मिलने से एक दो दिनों के अन्दरहि वे वहां पहुंच चुके होंगे।

पाठक इस तरह विचार करके जान सकते हैं कि, कौनसी विद्या आश्विदेवों के पास थी और कौनसी नहीं। सूक्ष्म-विचार से हि यह जाना जा सकता है।

अश्विदेवों के (त्रिभिः रथैः) तीन यान थे, और इन तीन यानों में भुज्यु को तथा उसके सब सैनिकों को बिठलाया गया था, यह बात निश्चित है। श्री रामचन्द्र पुष्पक विमान से लंकासे अयोध्या में १२ घण्टों से पहुंचे थे। यह गति भी घण्टे में सौ मीलकी हि होती है, क्योंकि लंकासे अयोध्या करीब १२०० मीलही है। इसलिये अश्विदेवों के यान प्रति घण्टा १०० मील चलते होंगे, ऐसा जो हमने ऊपर अंदाज किया है वह बहुत अशुद्ध नहीं होगा।

इस मन्त्र में (षड् अश्वैः=षळ् अश्वैः) पद है; छः अश्वों से ये अश्विदेवों के यान चलते थे ऐसा इससे सिद्ध होता है। पतंग जैसे अर्थात् पक्षियों जैसे आकाश में उडनेवाले यान, जो (अप-उदक) जल में भी चलते हैं, और जो (अन्तरिक्ष-प्रुत्) आकाश में भी चलते हैं, वे छः घोडोंसे चलते होंगे, ऐसा कभी माना नहीं जा सकता, क्योंकि घोडे न तो जल में चलते हैं और नाही आकाश में दौडते हैं। अतः यहां का 'षडश्व' शब्द किसी प्रकार के अश्वशक्ति का वाचक है न कि घोडेका। आज कल Horse-power शब्द इंजिनों की शक्ति के प्रमाण के लिये प्रयुक्त होता है, इस शब्द का अर्थ 'अश्वशक्ति' हि है। इंजिन इतने अश्वशक्तिवाला है ऐसा कहते हैं। यहां 'षळश्व' शब्द छः अश्वशक्ति का वाचक है। पर आजकल की परिभाषानुसार छः अश्वशक्ति के इंजिन द्वारा इतने बडे वायुयान इतने वेगसे चलना सर्वथा असंभव है। इसलिये 'षळश्व' शब्द का कुछ सांकेतिक अर्थ होना संभव है, जो इस समय कोई जान नहीं सकता। अतः यह खोज करने योग्य है। यह वैदिक परिभाषा इस समय प्रायः लुप्त हो चुकी दीखती है।

इस मन्त्र के विधान में जो बातें खास संकेत के विना समझ में नहीं आती वे ये हैं, (१) 'षळश्व' शब्द का आजकी 'Horse-Power' की परिभाषामें क्या अर्थ हो सकता है? (२) भुज्युने जो सन्देश अश्विदेवों को भेजा वह किस तरह भेजा? (३) भुज्यु का सन्देश अश्विदेवों को मिला, परन्तु उनको भुज्यु के समुद्र के अन्दर के स्थान का पता कैसा लगा? (४) इस विद्या का पता आज लग सकता है वा नहीं, इत्यादि बातें जानना आवश्यक हैं, पर इनकी खोज करने के साधन इस समय हमारे पास नहीं हैं। कोई इसकी खोज कर सकता है, तो वह करे। भुज्यु बहुत ही बडे अथांग महासागर में पहुंचा था, इस में सन्देह ही नहीं हैं, क्योंकि वैसा वर्णन निम्नलिखित मन्त्र में है—

अनारम्भणे तदवीरयेथामनास्थाने अग्रभणे समुद्रे। यदश्विना ऊहथुर्भुज्युमस्तं शतारित्रां नावमातस्थिवांसम्॥ (१।११६।५)

'जिस समुद्र के (अन्-आरम्भणे) आदि अन्त का पता नहीं लगता, (अन्-आस्थाने) जिस के अन्दर ठहरने के लिये बिलकुल स्थान नहीं है, और (अग्रभणे) जिसका ग्रहण हो नहीं सकता, ऐसे अथांग महासागर में भुज्यु डूब रहा था, वहां अश्विदेव पहुंचे और उन्होंने अपने (शतारित्रां नावं) सौ बल्लियोंवाली नौका पर (आतस्थिवांसं) बिठला कर उसको (अस्तं ऊहथुः) घर तक पहुंचाया।'

यहां अथांग समुद्र का वर्णन है। यह वर्णन न बडी नदी का है और नाही छोडे से समुद्र का, परन्तु यह बडे भारी महासागर का वर्णन है। जहां जाने से, जहां पहुंचने पर आगे पीछे और अपने चारों ओर समुद्र ही समुद्र दीखता है, किसी भी तरफ भूमि का नाम-निशान भी दीखता नहीं, ऐसे महासागर का यह वर्णन है!

यहां 'शतारित्रां' शब्द पडा है। सौ बल्लियां इनकी नौका में लगी थीं। एक एक बल्ली को एक, दो, चार, पांच और दस तक मनुष्य खींचने के लिये लगते हैं। यह उनकी लंबाई, जहाज की मोटाई और वेग की आवश्यकता पर निर्भर है। दस आदमी एक एक बल्ली के लिये लगे, तो सौ बल्लियों के लिये सहस्र मनुष्य लग सकते हैं। हजार मनुष्यों द्वारा चलायी जानेवाली नौका छोटी नहीं हो सकती। सौ मनुष्य जिन में बैठते हैं ऐसी नौका को पांच मनुष्य अच्छी तरह चला सकते हैं। इससे अनुमान हो सकता है कि अश्विदेवों के जहाज कितने बडे थे और उनमें कितने मनुष्य बैठते होंगे।

यहां प्रश्न हो सकता है कि, यदि यहां सौ बल्लियां चलाने के लिये लगी होंगीं, तो ये नौकाएं हाथ की शक्ति से हि चलती होंगी। पर यह कथन ठीक नहीं। पहिले अश्वशक्ति का वर्णन है, और षडश्व नामक कोई शक्ति चलाने के लिये वहां लगी थी, यह वहां स्पष्ट हुआ है। इसके अतिरिक्त दैवीशक्ति से ये नौकाएं चलती थीं, ऐसा भी ऊपर कहा गया है, अर्थात् पानी, अग्नि, वायु, सूर्य, विद्युत् आदि में से किसी एक या अनेक देवों की शक्तियों का प्रयोग इनमें होता था, ऐसा वर्णन पूर्व-स्थल में हो चुका है। सूर्य-किरणों की शक्ति लेकर, विद्युत् की शक्ति लेकर ये यान चलते होगे। यदि यह वर्णन है तब तो सौ बल्लियां रहने का क्या प्रयोजन है? यह शंका यहां हो सकती है और इसका विचार यहां करना अत्यंत आवश्यक है।

युद्ध में जब नौका जाती है और जब वह नौका भूमि, जल और अन्तरिक्ष में चलने वाली है, तब तो उसको तीनों प्रकार के शत्रुओं से सामना करने की आवश्यकता है। युद्ध में किस समय कैसी आपत् आवेगी, इसका पता किसी को नहीं हो सकता। यदि किसी कारण यांत्रिक इंजिन बंद हो गये, और नौका जलमें रही, तो मनुष्यों से चलाना आवश्यकहि है। अर्थात् यह बल्लियों की योजना, यह हाथ से चलाने की योजना, आपत्काल के लिये ही है। यन्त्रशक्ति बंद होने पर इसकी आवश्यकता होगी। यह एक दूरदर्शिता की योजना है।

आजकल भी इतने इतने बडे जहाज होते हैं तौ भी उन पर छोटी होडियाँ, छोटी नौकाएं होती हैं, इतना नहीं, परन्तु उनपर हरएक आदमी का जीव बचाने के लिये गले में डालने के गोल गोल जीवक भी होते हैं। बडा जहाज किसी कारण टूट गया, तो उस परके प्रवासी इन साधनों से अपना जीव बचाते हैं। ऐसेही समय पर उपयोग होने के लिये अश्विदेवों के यानों में सौ बल्लियां लगी थीं। हमें इसका पता नहीं कि, जिस तरह जलचारिणी नौका में बल्लियां होती हैं, वैसीहि वायुयान में भी किसी कला-विशेष से प्रयुक्त हो सकती है वा नहीं। आजकल तो ऐसी कोई कला नहीं है। अतः हम तो इस समय यही समझ रहे हैं कि यह युक्ति जल के अन्दर की आपत्ति का निवारण करने के लिये ही होगी। अस्तु।

भुज्यु को तो समुद्र हि में अश्विदेवोंने पकडा और वहीं से उसको पिता के पास पहुंचाया, इस विषय में देखिये—

युवं तुग्राय पूर्व्येभिरेवैः पुनर्मन्यावभवतं युवाना।
युवं भुज्युं अर्णसो निः समुद्राद्विभिरूहथुर्ऋज्रेभिरश्वैः॥ (ऋ० १।११७।१४)

हे अश्विदेवो! आप (तुग्राय) राजा तुग्र के लिये (पूर्व्येभिः एवैः) पहिली सहाय्यताओं से तो पूज्य और प्रिय थे हि, पर आप (पुनः) फिर भी (मन्यौ अभवतं) मान्य हो गये हैं, क्योंकि आपने (भुज्युं) तुग्र के युवराज राजपुत्र भुज्यु को (अर्णसः समुद्रात्) बडे महासागर में से (ऋज्रेभिः अश्वैः) बडे वेगवान् वाहनों से आपने ऊपर उठाया और घर को पहुंचाया। अश्विदेव और तुग्र राजा इनका सख्य तो पहिलेसेहि था, पर इस समय अश्विदेवोंने उसके पुत्रका बचाव करनेके कारण उस मित्रता की बडी वृद्धि हुई है। तथा—

युवं भुज्युं भुरमाणं विभिर्गतं स्वयुक्तिभिर्निवहन्ता पितृभ्य आ। यासिष्टं वर्तिर्वृषणा विजेन्यं० ॥ (ऋ० १।११९।४)

'आपने (भुरमाणं भुज्युं) जलों में डूब मरनेवाले भुज्यु नामक राजपुत्र को (विभिः गतं) उडनेवाले पक्षियों जैसे यानोंसे पहुंचकर (स्व-युक्तिभिः) अपनी खास युक्तियों से (पितृभ्यः आ निवहन्ता) पिता के पास लाया। आप (वृषणा) बलवान् हैं, अतः (विजेन्यं) अति दूर देशतक (यासिष्टं) आप गये और उसको बचाया।'

यहां 'विभिः' पक्षियों जैसे यानों का प्रयोग स्पष्ट है। म० ग्रिफिथ भी इसका अर्थ 'With flying birds' ऐसा करते हैं। जैसे पक्षी उडते हैं, वैसे उडते हुए यानोंसे ये गये थे। '**स्वयुक्ति**' शब्द का अर्थ बडा ही बोधप्रद है। अश्विदेवों के यानों में अश्विदेवों के अपने निज युक्तियों से कुछ खास प्रबंध किया हुआ था। जो अन्य यानों में नहीं था। इसी खास प्रबंधों के कारण ये यान ऐसे विशेष कार्य करने में समर्थ होते थे। अश्विदेव शीघ्र भुज्यु के पास पहुंचे और उसको अतिशीघ्र अर्थात् तीन दिनकी अवधि में पिताके घर पहुंचाया, यह सब अश्विदेवों से हि होनेवाला कार्य है। तथा—

ता भुज्युं विभिरद्भ्यः समुद्रात्तुग्रस्य सूनुं ऊहथू रजोभिः। अरेणुभिर्योजनेभिर्भुजन्ता पतत्रिभिः अर्णसो निरुपस्थात्॥ (ऋ० ६।६२।६)

'(तुग्रस्य सूनुं भुज्युं) राजा तुग्र के पुत्र भुज्यु को आपने (निरुपस्थात् अर्णसः समुद्रात् अद्भ्यः) अथांग महासागर के बडे जलों से (अरेणुभिः रजोभिः) जहां धूली नहीं होती ऐसे अन्तरिक्ष के मार्गों से (ऊहथुः) उठाकर (योजनेभिः) विविध प्रकार के योजनाओं से युक्त (विभिः) पक्षियों जैसे (पतत्रिभिः) पक्षिरूप यानों के द्वारा तुमने पहुंचाया।'

यहां समुद्र का वर्णन करते हुए (निरुपस्थात्) निराधार जैसे समुद्र से ऐसा वर्णन आया है। यह वर्णन पीछे आये वर्णन के साथ देखने से समुद्र के अथांग भाव की स्पष्टता प्रकट होती है। (विभिः पतत्रिभिः) ये दो शब्द वे यान पक्षी जैसे थे, यह स्पष्ट होता है। तथा (अरेणुभिः रजोभिः) ये शब्द धूलीरहित आकाश के मार्गों का बोध करते हैं। 'रजोलोक' अन्तरिक्ष लोक ही है। इससे स्पष्ट ही है कि ये यान आकाश में चलनेवाले विमान ही हैं। वायुयान या हवाई जहाज ऐसा ही इनको कह सकते हैं। इनका आकार पक्षियों का जैसा था, ये आकाश में दौडाये जाते थे, और बडे वेग से चलते थे। इनकी गतिके लिये किसी भी अन्य आधारकी आवश्यकता नहीं थी।

युवं भुज्युमवविद्धं समुद्र उदूहथुरर्णसो अस्रिधानैः। पतत्रिभिरश्रमैरव्यथिभिर्दंसनाभिरश्विना पारयन्ता॥ (ऋ० ७।६९।७)

'आपने (समुद्रे अवविद्धं भुज्युं) समुद्र में जखमी होकर पडे हुए भुज्यु नामक राजपुत्रको (अस्रिधानैः) जिनमें कुछ न्यूनता नहीं है, सब साधनों से जो परिपूर्ण हैं, (अश्रमैः) जिनमें बैठनेवालों को श्रम नहीं होते, (अव्यथिभिः) जिनमें बैठनेवालों को कोई व्यथा नहीं होती, ऐसे (पतत्रिभिः) पक्षी जैसे यानों से (अर्णसः उत्-ऊहथुः) समुद्र से ऊपर उठाकर अनेकानेक युक्तियों से (पारयन्ता) समुद्र पार करके पहुंचाया।'

यह मंत्र बडा स्पष्ट है। 'अवविद्धं भुज्युं' इन पदों से पता चलता है कि, भुज्यु राजपुत्र विद्ध अर्थात् शत्रुके शस्त्रों से जखमी होकर (समुद्रे) समुद्र में पडा था। युद्ध में न केवल परास्त ही हुआ, परन्तु यह घायल भी हुआ था। उस राजपुत्रको (उत्-ऊहथुः) ऊपर उठाकर अश्विदेवों ने अपने आकाश-यानों में लिया। यहां ऊपर उठानेका वर्णन स्पष्ट है। अर्थात् अश्विदेवों के यान आकाश में खडे रहे, और कुछ युक्तियों से उन्होंने इस घायल राजपुत्र को ऊपर उठाया और अपने यानों में लिया। 'पतत्रिभिः' पक्षी जैसे यान ये थे, यह तो इसका आशय स्पष्टहि है। पहिले भी अनेक वार यह शब्द आया है और साथ साथ 'विभिः' शब्द भी उसी अर्थ का वाचक है। इससे ये यान वायुयान हि थे यह स्पष्ट हो जाता है।

ये यान बनावट की दृष्टि से उत्तमोत्तम ही थे। क्योंकि इनमें बैठने से कोई श्रम नहीं होते थे, न कोई कष्ट होते थे, और इनमें सब साधन भी मौजूद थे। रोगियों की चिकित्सा करना, जखमी वीरों को उपचार करना, शस्त्रक्रिया करना, तथा अन्य आवश्यक साधन भी इन यानोंपर थे। 'पारयन्ता' शब्द समुद्र के पार ले जाने का यहां सूचक है। ये सब शब्द निःसंदेह इन यानों का स्वरूप बता रहे हैं। तथा और देखिये—

युवं भुज्युं समुद्र आ रजसः पार ईंखितम्।
यातमच्छा पतत्रिभिर्नासत्या सातये कृतम्॥ (ऋ० १०।१४३।५)

उत त्यं भुज्युमश्विना सखायो मध्ये जहुर्दुरेवासः समुद्रे। निरीं पर्षदरावा यो युवाकुः॥ (ऋ० ७।६८।७)

'आपने डूबनेवाले भुज्यु को समुद्र से उठाकर (रजसः) अन्तरिक्ष के मार्ग से पार पहुंचाया। आप (पतत्रिभिः) पक्षियों जैसे वाहनों से वेगसे वहां पहुंचे थे।'

'आपने समुद्र के बीच में जो कठिन अवस्था में पडा था उस भुज्युको मित्रभाव से उठाकर सुरक्षित पहुंचाया।'

इत्यादि मन्त्रों से यह बात स्पष्ट प्रतीत होती है कि, वायुयानोंसे हि अश्विदेव भुज्यु के डूबने के स्थानपर पहुंचे थे और समुद्र में से हि उन्हों ने उसको ऊपर उठाया था। समुद्र तो अथांग था हि, और शत्रु तो रेतीले प्रदेश का राजा था। वहांतक अश्विदेवोंके वायुयानों को पहुंचना था।

भुज्यु राजपुत्र के पिता तुग्र हैं। ये अश्विदेवों के मित्र

थे। अश्विदेवों ने उन को बहुतवार सहायता की थी। और अब राजकुमार की रक्षा करने के कारण अश्विदेवों के बडे ही उपकार भुज्युपर हुए थे। इस कारण तुग्र के मन में अश्विदेवों की भक्ति (पुनर्मन्या) बहुत बढ गयी थी।

अश्विनीकुमार वैद्य होने की प्रसिद्धि है, पर वे यहां वायुयानों के मालिक और जलयुद्ध, स्थलयुद्ध और वायु-युद्ध में प्रवीण दीखते हैं। उनकी नौकाओं पर इन युद्धों के साधन उपस्थित थे। साथ हि साथ घायलों की परि-चर्या तथा चिकित्सा के साधन भी थे हि।

उक्त मंत्र में '**स्वयुक्तिभिः**' शब्द है। इससे पता चलता है कि वायुयानों में विविध प्रकार का सुधार करने करवाने में अर्थात् यन्त्र के सुधार में भी वे प्रवीण थे।

इस तरह का वर्णन वेद में है। इससे उत्तम वायुयानों की तथा दर्याई युद्ध की कल्पना पाठकोंको हो सकती है। अब अन्य प्रकारके युद्धका विचार हम अगले लेखमें करेंगे।

श्रुति संज्ञक मन्त्र।

हमने '**वेदमन्त्रों का वर्गीकरण**' नामक लेख (मार्गशीर्ष, वर्ष १९ अं० १२ में) लिखा था। और उस लेख में हमने अन्य मंत्रों से '**श्रुति**' संज्ञक मंत्र भिन्न हैं, अतः उनका अभ्यास स्वतंत्र रीति से करना चाहिये, ऐसा लिखा था। श्रुति संज्ञक मंत्रों में 'ऐसा ऐसा वृत्तांत हुआ था, ऐसा हम सुनते आये हैं,' ऐसे शब्द-प्रयोग आते हैं। इस के कई उदाहरण भी हमने उस लेख में दिये थे।

परन्तु इस लेख का पर्याप्त उपहास श्री. पं. जयदेव शर्माजीने 'आर्य' मासिकके अप्रैल १९४० के '**देवता-बोधांक**' के पृ० ७०९ से ७१७ तक किया है। देवता-बोधांक के एक लेख की समालोचना हमने एकवार की थी और स्थाली-पुलाक न्याय से उन लेखों का स्वरूप भी बताया था। अब इसमें पं० जयदेव शर्माजी के लेख की समालोचना करने का विचार नहीं है। क्योंकि जो लेख तत्त्व को न समझते हुए हि लिखा और छापा गया है, उसकी समालोचना क्या करनी है? लोग वेदों का अध्य-यन कर रहे हैं, और एक दिन आ जायगा, जब कौनसा अर्थ सत्य है और कौनसा विपरीत है, इसका प्रकाश पाठकों के सामने स्वयं हो जायगा।

यहां इतना ही बताना है कि, इस लेख में (१) '**विश्पला के युद्ध के मंत्र**' तथा (२) '**तुग्र-पुत्र भुज्यु के मंत्र**' वेद में जितने आगये हैं, वे सब के सब दिये हैं। इन विषयों के मन्त्र वेदों में इतने ही हैं। जो पाठक संस्कृत जानते हैं, वे इन मन्त्रों के पद और पदार्थ को अच्छी तरह देखें और इनमें जो विषय हमने इस लेख में प्रतिपादन किया है, वह उनमें है वा नहीं, इसका स्वयं विचार करें।

हमारे मत से ये सब मन्त्र '**श्रुति संज्ञक**' हैं, इस का प्रमाण इन मंत्रों के क्रियापद '**जिगाय, ऊहथुः यासिष्टं, यातं, कृतं, ईखितं, जहुः, निःपर्षद्**, भूत-कालवाचक हैं, यह है। यह वृत्त हुआ था, ऐसा ऐसा आपने किया था, ऐसा इसका अर्थ है। इसी का नाम श्रुति है, और इन श्रुति-मंत्रोंका अर्थ '**ये श्रुति हैं**' ऐसा मान कर हि करना चाहिये।

शब्दोंको तोड मरोड कर मनमाना अर्थ करना योग्य नहीं है। इन सब मन्त्रों के पं० जयदेव शर्माजी के अर्थ यहां देनेके लिये हमें अवकाश नहीं है, तो भी पाठकों के मनमें उक्त बात को स्थिर करने के लिये हम तीन मंत्रोंका उनका अर्थ यहां देते हैं। (ये मंत्र इस लेखमें आ चुके हैं)—

× × ×

पं० जयदेव शर्माजी का अर्थ।

'**वीळुपत्मभिः**' (ऋ० १।११६।२) मंत्र का अर्थ--

हे (नासत्या) सेना के नासिका या प्रमुख स्थान पर स्थित, कभी असत्य न देखनेवाले चक्षुओं के समान अध्यक्ष पुरुषो! आप दोनों (वीळुपत्मभिः) बलवान् चक्रों या पैरों वाले (आशुहेमभिः) शीघ्र गतिशील रथों से (वा) और (देवानां) युद्धविजिगीषु पुरुषों की (जूतिभिः) वेगवती सेनाओं से (शाशदाना) शत्रु-सेनाओंको छिन्न भिन्न करते हो। (तत्) तब (रासभः) घोर गर्जनकारी तोप आदि यंत्र (यमस्य) सर्वनियामक राजा के (प्रधने आजा) प्रचुर धन देनेवाले संग्राम में (सहस्रं जिगाय) सहस्रोंको विजय करो अथवा (यमस्य सहस्रं) उपराम को प्राप्त हुए शत्रुके सहस्रों सेनाबलों का विजय करे।

'**तुग्रो ह भुज्युं**' (ऋ० १।११६।३) मन्त्र का अर्थ-

(कश्चित् ममृवान्) जैसे कोई मरता हुआ पुरुष अपने जीवन रक्षाके लिये (रयिं अवाहाः) धन का त्याग कर दे, उस समय जिस प्रकार दो नाविक (अन्तरिक्ष-प्रुद्भिः) जलों पर चलने वाली और (अपोदकाभिः) पानी को भीतर न जाने देनेवाली सुदृढ नावों से पार उतार देते हैं । इस प्रकार (तुग्रः) शत्रुहिंसक और प्रजापालक पुरुष भी रणमें (ममृवान्) मरने पर उतारू होकर (भुज्युं) अपने भोक्ता या पालक (रयिं) राष्ट्ररूप ऐश्वर्य को (उदमेघे) समुद्र के महान् संकट दशा में त्याग देता है । ऐसी दशा में (अश्विना) शीघ्रगामी अश्वों और रथों के स्वामी अध्यक्ष जन (तं) उसको (आत्मन्वतीभिः) अपने आत्मिक बल और विचार और मन्त्रणायुक्त (नौभिः) वाणियों रूप नावोंसे (ऊहथुः) उठा लें, उसे संकट से पार करे ।

'तिस्रः क्षपस्त्रिरहाति व्रजद्भिः।' (ऋ० १।११६।४)

इसका अर्थ–

(तिस्रः क्षपः) तीन रात और (त्रिः अहा) तीन दिन लगातार (अति व्रजद्भिः) अतिवेगसे चलनेवाले (पतंगैः) अश्वों के समान वेगसे जानेवाले (शतपद्भिः) सैकडों चरणोंवाले और (षडश्वैः) छः अश्व अर्थात् वेगवान् यन्त्र-कलाओं से युक्त (त्रिभिः रथैः) समुद्र, रेता और कीचड तीनों प्रकारकी भूमियोंमें अथवा जल, स्थल और अन्तरिक्ष तीनों स्थानोंपर चलनेवाले (नासत्या) सदा सत्य विज्ञान-वाले दो विद्वान् (भुज्युं) समस्त राष्ट्रके पालक और भोक्ता स्वामी तथा भोग्य ऐश्वर्य को (समुद्रस्य) समुद्र के (धन्वन्) रेती स्थान और अन्तरिक्ष के तथा (आर्द्रस्य) जलसे युक्त कीचडवाले स्थल के (पारे) पार (ऊहथुः) पहुंचाया करें । अध्यात्ममें– ' भुज्यु ' आत्मा है । ' अश्व ' शरीर में लगे मनसहित पांच इंद्रियें हैं । ' शत ' सौ वर्ष हैं । ' नासत्य ' नासिकास्थ प्राण अपान हैं । तीन रात तीन-दिन बाल्य यौवन जरावस्था तथा उनके प्रारंभ के तीन काल शैशव, नवयौवन, नई बुढौती हैं । समुद्र धन्व और आर्द्र तीनों ज्ञान कर्म और उपासना हैं ।

* * *

समालोचना ।

इस अर्थके विषय में अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं हैं । इस अर्थ में पं० जयदेव शर्माजीने ' समुद्र, धन्व, आर्द्र ' इन तीन शब्दोंके अर्थ **' ज्ञान, कर्म, उपासना '** किये हैं !!! ये अर्थ पाठक देखें और अर्थका अनर्थ यहां हुआ है वा नहीं देखें । ऐसे अर्थोंसे वैदिक सिद्धांतों की रक्षा होनेवाली है, तो वेदके सिद्धान्तका नाश किस प्रयत्न से होनेवाला है, इसका विचार विद्वान् लोगहि करें ।

वस्तुतः वेद के ' श्रुति ' संज्ञक मंन्त्रों में अश्विनौ आदि देवताओं ने उपासकों तथा साधकों को किस तरह सहाय्य किया, उस का वर्णन किया है । यदि वेद की भाषा **' कर्ता कर्म विशेषण और क्रियापदों से युक्त है '** तो वेद-मंत्रों के अर्थ वाक्यों को देख कर हि होने चाहिये । **' समुद्र धन्वन्, आर्द्र '** के अर्थ **' कर्म, ज्ञान, उपासना '** बनने लगे तो **' खुर्सी, टेबल और चक्कू '** भी बनने में देरी नहीं लगेगी !!! वेद का अर्थ करनेवालों को उचित है कि वे वेद को न तोडें ।

पं० जयदेव शर्माजी ने इस सूक्त में **' अश्विनौ '** के अर्थ ' (मन्त्र १) प्रमुख शिल्पी, दो सेनाध्यक्ष, (मंत्र० २) अध्यक्ष पुरुष, (मं० ३) अश्वों के स्वामी, (मं० ४) दो विद्वान्, (५) शिल्पवान् पुरुष, (६) कुशल शिल्पी, (७) शिक्षक, विद्वान् पुरुष, (८) आकाश, पृथिवी, दिनरात्र, (९) सूर्यवायू, (१०) स्त्रीपुरुष, (११) नायक-नायिका, (१२) उपदेशक–अध्यापक, (१३) असत्य आचरण न करनेवाले, (१४) प्रमुख पुरुष, (१६) नायक पुरुष, (१८) सेनापति और सैन्यवर्ग, (१९) राजपुरुष, इत्यादि किये हैं ।

अश्विनीदेवों को इन अर्थों से बडी घबराहट होगी इस में संदेह नहीं है । ' विश्पला ' की दुर्दशा इन्होंने कैसी की है वह भी (१।११६।१५ में) देखिये । **' विश्पला '** का अर्थ–– **' प्रजा–वर्ग की पालन करनेवाली नीति, '** और **' आयसीं जघां '** का अर्थ है– ' लोहे की बनी, शत्रुको मारनेवाली सहस्र सेनाको ' !!!

जब **' आयसी जंघा '** शब्द का अर्थ **' सशस्त्र सेना '** हुआ तब तो पं० जयदेव शर्माजी के यत्न से वेद की रक्षा हो चुकी है !!!

सुननेवाला कोई हो या न हो, हम घोषणा करके कहते हैं कि, इस तरह के जो प्रयत्न हो रहे हैं, उन प्रयत्नों के कारणहि वेदके तत्वज्ञान से जनता बहुतही दूर चली जा रही है । परमेश्वरहि इनसे वेदकी रक्षा करे ।

अकाट्य शंका।

' तीन अज। '

(लेखक- श्री० धर्मपालसिंह तेवतिया, B. Sc. (Ag) क्वास, बुलन्दशहर, यू० पी०)

' **द्वा सुपर्णा** इत्यादि वेद मंत्रों के आधार पर ' **अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां** ' तथा ' **ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशावजाह्येका** ' इत्यादि उपनिषद्-मन्त्रों में ईश्वर, जीव, प्रकृति तीनों को ' **अज** ' अर्थात् अजन्मा यानी अनादि अथवा नित्य (Eternal) कहा है और ' **पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा** ' तथा ' **अत्रान्तरं ब्रह्मविदो विदित्वा** ' श्वेताश्वतरोपनिषद् (१।६।१) में जीव ईश्वर को परस्पर ' पृथक् ' अर्थात् भिन्न स्वरूप तथा ईश्वर जीव प्रकृति में परस्पर 'अन्तर' माना है। और चूंकि ईश्वर, जीव, प्रकृति तीनों ही ' अज ' अर्थात् अनादि स्वरूप नित्य सत्तायें हैं, तब यह समझ में नहीं आता कि ' **त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत्** ' के इस अर्थ में कि " जब तीनों- ईश्वर, जीव, प्रकृति- (एक रूपमें) मिल जाते हैं तब वह ब्रह्म कहलाता है " यह बात कैसे संगत हो सकती है, कि तीन पदार्थ जो अपने स्वाभाविक स्वरूप से अज- अनादि-नित्य हैं, उन का एकीकरण-एकीभाव-हो जावे और वे तीनों फिर भी ' अज ' अनादि नित्य रहे चले जावें, यानी उन तीनों का नित्यत्व सान्त न हो। यदि तीनों अनादि हैं तो तीनों अनन्त भी होने चाहियें। वरन् तो फिर ब्रह्मको अनादि अनन्त कारण और ईश्वर-जीव-प्रकृति तीनों को सादि सान्त कार्य ही क्यों न मान लिया जावे, जिससे कि संगति युक्तियुक्त लग सके। ऐसा मानने में न जाने क्या आपत्ति है।

मान्यवर सम्पादक ' **वैदिक धर्म** ' का यह ' **त्र्यैक्यवाद** ' (Tri-unity) का सिद्धांत अभी समझ में पूरी तरह से नहीं आया, कि तीन अजों अर्थात् नित्य पदार्थों का एक अज ब्रह्म अथवा एक अज ब्रह्म से तीन अज ईश्वर, जीव, प्रकृति कैसे बन सकते हैं। अतः सम्पादकजी से मेरी यह अन्तिम प्रार्थना है कि वह उपर्युक्त मेरी ' **तीन अज** ' वाली पहेली की शंका को युक्तियुक्त व सोदाहरण सुलझाने की कृपा करके अपने पूर्ण समाधान को वैदिक धर्म में प्रकाशित करने की महान् कृपा करें जिससे मानव-समाज को पूर्ण लाभ पहुंच सके। इत्योमलम्॥

\+ \+ \+

(संपादकीय विचार)

श्री लेखक महाशयजीने अपनी शंका को ' **अकाट्य शंका** ' कहा है। यदि यह अकाट्य है, तब तो यह कदापि दूर नहीं हो सकती, और यह शंका लेखक के मन में सदा वैसी हि रहेगी। शंका का सदा रहना, और अपनी शंका कभी दूर होनेवाली नहीं है, ऐसा शंका करनेवाले को प्रतीत होना योग्य नहीं है। सदा शंका का अर्थ है, ' सदा संशय, ' ' सदा सन्देह '। ' **संशयात्मा विनश्यति** ' ऐसा गीताने कहा है। इसलिये लेखक महाशयजीने जो शीर्षक पसन्द किया है, वह अच्छा नहीं है। इसके स्थानपर ' **अकाट्य सिद्धान्त** ' ऐसा शीर्षक वे लिखते तो अच्छा होता। यदि वह शंका है तो वह कभी न कभी दूर होनी हि चाहिये।

लेखक महाशयजीने '**त्र्यैक्यवाद** (Tri-unity) यह **वैदिक धर्म** के सम्पादक का अपना सिद्धान्त है, ऐसा लिखा है। ऐसा वैदिक धर्म के सम्पादकने कभी कहा नहीं, ना ही उनका ऐसा मन्तव्य है।

वैदिक धर्म के सम्पादक बहुत वर्षों तक प्रकृति-जीव-ईश्वर को सदा भिन्न माननेवाले थे। करीब २५ वर्ष इस द्वैत को या इस त्रैत को उन्होंने माना। पर जब वेद और उपनिषदों का अभ्यास पर्याप्त हुआ, तब वेद और उपनिषदों का ' **एकतत्त्व-वाद** ' का सिद्धांत अटल है, यह ज्ञान उनके मन में प्रकट हुआ। जब यह वारंवार परीक्षा करनेपर वेद का अकाट्य सिद्धांत है ऐसा निश्चित हुआ तब वैदिक धर्म के सम्पादकने वह माना है। ' त्र्यैक्यवाद ' शब्द का प्रयोग 'वैदिक धर्म' के सम्पादक को पसंद नहीं

है। वेद में ' एकत्वमनुपश्यतः ' (यजु० ४०।७) इस मंत्र में ' एकत्व ' शब्द का प्रयोग है, इसलिये ' **एकत्व का सिद्धान्त** ' यह नाम वैदिक धर्म के सम्पादक को मान्य है, न कि ' ऐक्यवाद '।

पुरुषसूक्त का अर्थ इसी अंक से इसी मासिक में प्रकाशित होने लगा है। कृपा करके शंका के लेखक उस को पढें और उस सूक्त का क्या सिद्धांत है, यह देखें और विचारें। इस पुरुषसूक्त में ' **पादोऽस्य विश्वा भूतानि, त्रिपादस्यामृतं दिवि** ' (मं० ३) कहा है। (विश्वा भूतानि) सब भूत अर्थात् सब प्राणी, पंचभूत, सूर्यचन्द्रादि गोलक अथवा सब विश्व (अस्य पादः) इस परमात्मा का एक अंश है, और इस परमात्मा का शेष अवशिष्ट त्रिपाद भाग (त्रिपाद् अमृतं दिवि) द्युलोक में है।

परमात्मा त्रिपाद	
	एकपाद विश्व

परमात्माका ही एक अंश यहां वारंवार विश्वरूप होता है। " **पादोऽस्येहाऽभवत्पुनः** । (मं० ४) (अस्य) इस परमात्मा का (पादः) अंश (इह) यहां (पुनः) पुनः पुनः, वारंवार, (अभवत्) बनता है, विश्वरूप में प्रकट होता है।

क्या ये मंत्र स्पष्ट नहीं हैं ! और इससे परमात्मा ही विश्वरूप में प्रकट हुआ है, यह निश्चित नहीं होता है ? जो परमात्मा का एक अंक विश्वरूप में प्रकट होता है, वह किसी दूसरे का अंश नहीं, ' **त्रिपाद्** ' और ' **एकपाद्** ' ये परमात्मा के हि वाचक हैं। विश्वरूप में प्रकट होने का तात्पर्य भूमि, आप, अग्नि, सूर्य, नक्षत्र, वायु, आकाश रूप में प्रकट होना ही है। इसीलिये मंत्र में कहा है-

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥
(वा० यजु० ३२।१)

(तत्) वही ब्रह्म अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र, आप और प्रजापति के रूपों में अर्थात् विश्वरूप में प्रकट हुआ है। यहां दूसरी कोई वस्तु है हि नहीं। इसीलिये-

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः
अथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्॥
एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति।
अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥ (ऋ० १।१६४।४६)

(एकं सत्) एक ही सत् ब्रह्म है, उस एक को ज्ञानी लोग अग्नि, यम, वायु, इंद्र, मित्र, वरुण, सुपर्ण कहते हैं। एक सद्वस्तुहि इतने अनेक रूपोंमें प्रकट हुई है, किसी प्रकार भी तीन पदार्थों की सनातन सत्ता नहीं है। नहीं तो यदि तीन सत् माने जांयगे तो-

' एकं सत् '

का कोई अर्थही नहीं होगा। जो तीन अजों का वर्णन है वह भी इसी एक सद्वस्तु का ही वर्णन है। क्योंकि-

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः।
आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः।
अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः।
ओषधिभ्योऽन्नं। अन्नाद्रेतः। रेतसः पुरुषः।
(तै० उ० २।१।१)

' आत्मासे आकाश हुआ और आकाशसे वायु-तेज-जल पृथ्वी-औषधि-रेत और मनुष्य उत्पन्न हुए '। केवल आत्मा से यह सब हुआ है जैसा भांपसे जल और बर्फ होता है। यहां कोई दूसरी या तीसरी सत्ता नहीं है। सत् तो सदा एकहि है। यह वेद, उपनिषद् तथा सब शास्त्रों का अटल सिद्धान्त है।

व्यवहार में बोलने में, तथा अज्ञानी शिष्य को पढानेके लिये ' **तीन अज** ' ' प्रकृति-जीव-ईश्वर ' ऐसी भाषा बोलते हैं, और वेद और उपनिषदों में भी प्रथम द्वैत के उपदेश से प्रारम्भ करके, द्वैत का वर्णन करते करते, आगे अन्त में शुद्ध अद्वैत अथवा ' **एकात्मवाद** ' का उपदेश सर्वत्र किया है। एक भी उपनिषद् ऐसा नहीं कि जहां ऐसा न हो। ईशोपनिषद् वेदकाहि मंत्र उपनिषद् है, इसमें प्रारम्भ द्वैत से करके, सातवें मंत्र में (**एकत्वमनुपश्यतः**) एकत्व-दर्शन में हि तत्त्वज्ञान की समाप्तिकी है। इसी तरह सब अन्य उपनिषदों में तथा वेदमें भी यही व्यवस्था सर्वत्र है। इस विषय के अनेक वचन इससे पूर्व के लेखों में दर्शाये हैं। अतः पुनः पुनः लिखनेकी आवश्यकता नहीं, जो वेदका तत्त्वज्ञान सचमुच जानना चाहे, वह वे लेख देखे।

ईश्वरवाद का वास्तविक स्वरूप।

[पं० रामावतार विद्याभास्कर, रतनगढ]

"जिसके दर्शन वर्तमानमें न होकर भविष्यत् में होंगे वह ईश्वर ही नहीं होगा।"

[२५] ईश्वरको इसी समय प्राप्त न करके उसकी प्राप्ति को फिर के लिये स्थगित करना भक्ति नहीं है।

जो अभी ईश्वरको प्राप्त न करके उसे फिर कभी भविष्य में पाना चाहता है, वह अपने को 'ईश्वरभक्त' मानने के धोकेमें न रहे । क्योंकि 'ईश्वर' को 'ईश्वरभक्त' के पास नित्य उपस्थित रहना चाहिये। ईश्वर जिस भक्ति से अनुपस्थित है, उसे ईश्वरभक्ति समझना भ्रांति है। भक्तोंके प्रिय भगवान् भक्तोंके पास कर्तव्यादि किसी न किसी रूप में प्रत्येक समय उपस्थित रहते हैं। जब वे प्रत्येक समय मनुष्यके पास उपस्थित रहते हैं, तब उन्हें अब न देखकर फिर देखने की इच्छा क्यों करते हो ? वे ईश्वर फिर कभी या जन्मान्तर में मिलेंगे, यह मनुष्य की भ्रमपूर्ण धारणा मनुष्य को ईश्वरतत्त्व के लाभसे सौभाग्यवान् होने का आनन्द नहीं भोगने देती। बहुतसे मनुष्यों को 'ईश्वर' केवल इसीलिये नहीं मिलता कि उन्हें ईश्वर के अनिश्चित भविष्यमें मिलने की बात पूर्ण दृढतासे समझा दी गई है और उसे वर्तमानके कामोंसे बहिष्कृत कर दिया गया है, वर्तमानकालका और ईश्वरदर्शनका सम्बन्ध तोड दिया गया है। सब लोग इतने अधिक समझा दिये गये हैं, कि अब सब के सब उसे भविष्यत् में लेने को सहमत हो गये हैं। ईश्वर को भविष्यत् में लेना चाहनेवाला मनुष्य समझता है कि वर्तमान के लिये तो मेरे पास बहुतसा काम है। इस समय मुझे ईश्वरदर्शन का अवकाश भी नहीं और आवश्यकता भी नहीं। यों जब किसी काल्पनिक भविष्य में वर्तमान के कामोंसे अवकाश मिलेगा, तो तब के लिये अपने को ईश्वरसे भेंट करने की काल्पनिक अवस्था की उपासनासे बहकाया जाता है। परन्तु मनुष्यने यह नहीं समझा कि जिसके दर्शन वर्तमानमें न होकर भविष्यत् में होंगे वह ईश्वर नहीं होगा। यदि कोई ईश्वर है, तो उसे मनुष्य को वर्तमानमेंही शांति का अमृत चखाकर अपने अस्तित्व को सार्थक करके दिखाना चाहिये। भविष्यत् तो 'धोके' का पर्यायवाची शब्द है। भविष्यत् केवल काल्पनिक है। वह नहीं है।

ईश्वरदर्शन उदात्त मानवजीवनका नित्यसंगी है। उस 'ईश्वरदर्शन' या 'ईश्वरभक्ति' से एक क्षण को भी विच्छेद होना सच्चे मनुष्य के लिये अस्वाभाविक और अवांच्छनीय अवस्था है। ईश्वरदर्शन की उदार अवस्था को न पाकर केवल इसकी आशामें बैठे रहना (अर्थात् वर्तमानकालमें भविष्यत् के किसी काल्पनिक शुभ क्षण के लिये या किसी अनिश्चित जन्मान्तर के भ्रम के लिये ईश्वरदर्शन न होनेकी बात का सह्य हो जाना) ईश्वर को न पाने के लिये है। यह ईश्वरसे बचे रहनेका प्रयत्न है। क्योंकि मनुष्यने जिसे पाने के लिये यह मानवदेह धारण किया था, उसीको पाना स्थगित कर दिया और अपने को उसके विरोधी 'आपातमधुर' दुःखदायी पदार्थों के 'मोहबन्धन' में फाँस डाला। इसीसे ऐसी भ्रांतिपूर्ण स्थिति उत्पन्न हो गई।

मनुष्य किसी भी वासना की तृप्ति को जन्मान्तर के लिये स्थगित करना नहीं चाहता। वह उसे अभी इसी क्षण पूरा कर लेना चाहता है। वह केवल अत्यन्त स्पष्ट शब्दोंमें ईश्वरप्राप्ति को और विषयवासना की काल्पनिक त्यागेइच्छा को पूरा करने को ही दूसरे जन्म के लिये स्थगित करने की इच्छा करता है। वह इसके लिये यह बहाना बनाता है कि ईश्वरभक्ति एक जन्म में सिद्ध नहीं होती। मनुष्य आज नहीं कल, कल नहीं परसों कर करके टालता रहता है। मनुष्यसमाजने ईश्वरभक्ति

नामके पवित्र कार्यको आगे ही आगे हटाते रहने की अनर्थ ढानेवाली परिपाटी स्वीकार कर ली है।

इस ढंगसे ईश्वरदर्शन को स्थगित रखने के मूलमें यह भाव है कि जबतक ईश्वर विषय से अधिक मीठा होकर दर्शन नहीं देगा, तबतक वह हमारे लिये कडवा ही रहेगा, और हमसे दूर ही भागता फिरेगा। तबतक हम भी उससे बचते रहेंगे। जब विषयों को भोगकर हमारे भोग समाप्त हो जायेंगे, अर्थात् जब हमारे पास भोगने के लिये कोई विषय शेष नहीं रहेगा, और पास विषय न रहनेके कारण पूर्ण विषयतृप्ति की एक 'मनोदशा' आ जायेगी, और जब हमारे पास ईश्वर के अतिरिक्त कोई भी विषय न रहेगा, अर्थात् जब ईश्वर भी हमारे पास एक विषय बनकर आयेगा, तब हम विवश होकर ईश्वरलाभ की इच्छा करेंगे, तब हम ईश्वरसे नाता जोडना चाहेंगे, तब हम अन्य विषयों की ओरसे निश्चिन्त होकर भक्ति का स्वाद लेना चाहेंगे और उस समय ईश्वर भी पेडसे अकस्मात्, अनायास गोद में गिरे हुये फल के समान स्वयं हमसे पकडा जायेगा। ऐसे एक अनिश्चित काल के लिये 'ईश्वरदर्शन' को स्थगित रखने में और 'ईश्वरदर्शन' की इच्छा के सर्वथा न होने में कोई अन्तर नहीं है। इस मनोवृत्ति रखनेवाले का हृद्गत भाव यह है कि जब हमें विषयभोग की आवश्यकता न रहेगी, तब हम 'ईश्वरदर्शन' की आवश्यकता मानेंगे।

ऐसी 'मनोवृत्ति' रखनेवाले को सोचना चाहिए कि जब तुम्हें विषयभोग आजतक 'मीठा' लग रहा है और जब कि तुम आजतक उसकी आवश्यकता स्वीकार कर रहे हो, तब भविष्य में उसके कडवे हो जाने की सम्भावना कहाँ है? आज विषयभोग कडवा नहीं है, तो तुम बुढापे में या दूसरे जन्ममें उसके कडवे हो जानेकी 'कल्पना' पर विश्वास क्यों करते हो? जब कि आज भोग करके विषयतृप्ति नहीं हो रही है, तब भविष्य में भोग करते करते विषयतृप्ति की अवस्था आ जायेगी, इस बात का 'अन्धा' विश्वास क्यों करते हो? भोग्य पदार्थ का भोग करने से उसके कडवे हो जाने का कौनसा कारण है? भोग से तो तृप्ति मिलती है। देखते हैं कि दूध को निरन्तर पीते रहनेसे उसमें कडवापन नहीं आता। पानी को निरन्तर पीते रहने पर भी पानी की शीतलता और स्निग्धता लुप्त नहीं होती। हां, एक बात इस सम्बन्ध में अवश्य होती है कि इस तृप्ति के स्थायी न होने से मनुष्य को भोगों का अस्थायित्व कडवा लगता है। विषय तो भोगी के लिये मीठा है। उसके लिये विषय कडवा नहीं है। बुढापे में या जन्मान्तर में इसके कडवे हो जाने की कल्पना करके तब तक 'ईश्वरदर्शन' को स्थगित रखने का यही अभिप्राय है, कि जब तक हो सके, तब तक वर्तमान जीवन को विषयभोगमें व्यतीत करने का बहाना बनाया जा रहा है, और इस बहाने को बनाकर मनुष्य के 'ईश्वरभक्त' बनने के अत्यावश्यक कर्तव्य से मुँह मोडा जा रहा है। अपने ईश्वरदर्शी होने के उत्तरदायित्व को पूरा न करने से अपने मनमें या सभ्य मानवसमाजमें जो अपनी अप्रतिष्ठा होती, उससे बचने के लिये ऐसा बहाना बनाया जाता है। ऐसे बहाने यशोऽभिलाषा और आत्मवंचना के सूक्ष्म रूप हैं।

ऐसे अवसरों पर इस बात का विचार करना चाहिए कि क्योंकि इस जीवन को विषयभोगों में व्यतीत कर देने का निश्चय कर लिया है, इसीलिये ऐसी बातें बनायी जा रहीं हैं। यह विचारना चाहिये कि क्या 'जीवनधारण' का अभिप्राय 'विषयभोग' करने से पूरा होता है या ईश्वरलाभ से? यदि तुम्हारे जीवन का उद्देश्य ईश्वरलाभ हो, तो जीवन के एक क्षण को भी 'ईश्वरलाभ' के बिना जाने देना अत्यन्त अनुचित और भारी मूढता है। यदि किसी के जीवन का अभिप्राय विषयभोग करना हो, तो भी ईश्वरदर्शन को आगे के लिये स्थगित करने की बात कहना उचित नहीं है। तब यह एक बिना अभिप्राय की बात हो जाती है। तब ईश्वरदर्शन तो अब के लिये ठीक नहीं है और फिर के लिये भी ठीक नहीं है।

जो परमात्मा को चाहते हैं, वे उसे चाहते ही पा लेते हैं। आत्मदर्शन के साधनों को लेकर प्रकट होने का नाम ही 'जन्म' है। इस साधन के द्वारा इसी जन्म में, इसी दिन और इसी क्षण ईश्वरलाभ नहीं कर लिया जायगा, तो यह स्वीकार करना पडेगा कि इस देहरूपी साधनका सदुपयोग करने में पूर्ण प्रमाद किया गया है। यदि तुम इस जन्म में और अभी दुरुपयोग करने की इस प्रवृत्ति को नहीं छोडोगे और क्षणक्षणका दुरुपयोग करके एक लम्बेचौडे जीवनकाल को यों ही बिता डालोगे, तो

अपने अगले समझे हुये जन्म में या वृद्धावस्था में इस देहरूपी साधनका दुरुपयोग अनिवार्य रूपसे करोगे। तुम दुरुपयोग करना सीख रहे हो। जब दुरुपयोग करनेकी प्रवृत्ति इस जन्म में जीवित रक्खी जा रही है, जब कि उसे हटाने की दृढता नहीं दिखाई जा रही है, तब दूसरे जन्म में इसे छोडोगे, इस आशा पर इस जन्मको विषय-भोग की व्यर्थता में विनष्ट कर डालने की इच्छा 'अपने आपको धोकेमें रखना' है। थोडी देर के लिये मान लेते हैं कि दूसरे जन्म का अवसर अवश्य आयेगा। तब तुम में उसे भी व्यर्थ न बिताकर उसे सुअवसर बनाने के लिये देहका सदुपयोग करने की प्रवृत्ति कहाँ से आ जायेगी? और तब दुरुपयोग करनेकी तुम्हारी वर्तमान प्रवृत्ति तुमको छोडकर कहाँ चली जायेगी?

याद रक्खो कि दुरुपयोग करने की प्रवृत्ति को त्यागना, और ईश्वर को प्राप्त करना एक ही बात है। इस प्रवृत्ति को इसी क्षण न त्यागना और इसे स्थायी बना लेना भी एक ही बात है। जब तुम किसी प्रवृत्ति को इसी क्षण नहीं त्यागते हो। तो समझ लो कि तुम इसे स्थायी बनाते चले जा रहे हो। कल कल करते रहना 'आत्मवंचना' है। यदि तुम्हारी इस देहरूपी साधन से आत्मदर्शन करनेकी बात मिथ्याचर्या नहीं है, यदि तुम्हें इस देहरूपी साधन का दुरुपयोग करने की प्रवृत्ति को कभी न कभी हटानेका संकल्प है, तो उस सङ्कल्प को अब ही पूरा क्यों नहीं करते हो? और यदि तुम्हें दुरुपयोग करने की प्रवृत्ति को इसी जन्म में और अभी त्याग देनेकी इच्छा नहीं है; तो अपने मन में अगले जन्म में ऐसी इच्छा आ जायेगी, ऐसी अनिश्चित आशा को स्थान क्यों देते हो? ऐसी अनिश्चित आशाको मन में स्थान देना 'आत्मवंचना' करना है। यह साधनों का दुरुपयोग करते रहने के लिये आत्मा को फुसला लेना है! यदि तुम दुरुपयोग करनेकी प्रवृत्तिको इसी क्षण नहीं त्यागोगे तो समझ लो कि तुम इसी को आग्रह के साथ अपना रहे हो और इसे स्थायी बनाने में लगे हुये हो।

जिस सत्य से हमारा स्वरूप-सम्बन्ध है इसलिये जिस सत्य में तथा हम में लेशमात्र भी दूरी सम्भव नहीं है, उसी सत्य के और हमारे बीच में पहले तो किसी दूरपने की कल्पना कर लेना और फिर इस दूरपने को पार करने के काल्पनिक प्रयत्न करते रहनेका नाम 'माया' या 'माया-निवास' है। सत्य के और हमारे बीच में जिस दूरी की कल्पना कर ली गई है, यही सत्यसे दूर रहने की और सदा असत्य बने रहने की दूषित इच्छा है। सत्य को पाने की इच्छा का यदि अभिप्राय हो सकता है कि सत्य सदा अप्राप्त बना रहे, और अपने को सदा सत्य में अनवस्थित (न ठहरा हुआ असत्यनिष्ठ) समझता रहे। यह आठों पहर सत्य में निवास कर रहे हैं, सत्य हमारी 'माता' है, और हम उसके बालक हैं। वह हमें गोद में लिये हुये बैठा है। इन बातों को न समझना ही 'माया' है। सत्य पर अवस्थित होते ही इस माया का अन्त हो जाता है। असत्य अवस्था में डूबे रहकर सत्य की प्राप्ति की नपुंसक इच्छा करते रहने को 'माया' कहते हैं। इसी को स्पष्ट शब्दों में असत्य के लिये 'महा मोह' कहा जाता है। इस प्रवृत्ति का स्वरूप यह है कि मनुष्य का मोह मनुष्य को फुसला कर सत्य के प्रति कपट श्रद्धा का रूप दिखाकर 'आत्मवंचना' करता रहता है।

जब कोई मनुष्य सत्य को अपने आचरण में नहीं ला सकता और वचन में सत्य को अस्वीकार करने का साहस भी नहीं कर सकता, अर्थात् जब मनुष्य से सत्य नहीं पाला जाता, और स्पष्ट झूँठ नहीं बोला जाता, तब 'ईश्वर' को फिर पायेंगे, इस प्रकार की कपटश्रद्धा उत्पन्न होती है।

(२६) पतित-जन-सुलभ दीनता दिखाना या अपने को पापी कहना भक्ति नहीं है।

मैं अशान्त हूँ, पापी हूँ, खल हूँ, कामी हूँ, पतित हूँ, मन में इस प्रकार की भावना रखकर तुम शांति का दर्शन या भक्ति का लाभ नहीं कर सकोगे। जिस समय तुम साहस करके दृढता के साथ कह सकोगे कि, मैं शांत हूँ, तब तुम देखोगे कि तुम शांत हो, और तुम्हें शांति का दर्शन हो चुका है। तब तुम देखोगे कि तुम पापी नहीं हो, पतित नहीं हो, तुम महान् हो, पूर्ण हो, परब्रह्म हो, नारायण हो, तुम भूल कर सकनेवाली सत्ता नहीं हो। प्रत्युत तुम भूलों को अस्वीकृत करने का बल दिखाकर आनंदलाभ करनेवाली पवित्र सत्ता हो।

यदि तुम कभी भविष्य में शांत अवस्था मिलेगी ऐसी आशा लगाकर अशांत बनकर बैठे रहोगे, तो तुम्हारी अपनायी हुई यह अशांति शांति को तुम्हारे पास से भगाती रहेगी। यदि तुम सचमुच कभी शांत होने की आशा रखते हो तो इस 'कभी' को भविष्य की बात मत रक्खो। तुम इस वर्तमान मुहूर्त को ही वह शुभ मुहूर्त बनाने का साहस करो। अपने को अशांत कहना बडा भारी अपराध करना है। जब तक तुम अपने को अशांत मान रहे हो, तब तक तुम अपनी ही इच्छा और अपने ही प्रयत्न से शांति को दूर भगा रहे हो।

बहुधा मनुष्य यह कहते पाये जाते हैं, कि हमारा मन चंचल है, हम अशांत हैं, इस भ्रांत धारणा पर भले प्रकार विचार किया जाना चाहिये। जहाँ विषयवासना नहीं रहती, वहाँ ब्रह्मानंद अथवा भगवद्भजन रहता है। जहाँ ब्रह्मानंद या भगद्भजन नहीं होता, वहाँ विषयवासना का राज्य तपता है। विषयवासना और ब्रह्मानंद ये दोनों एक मन में नहीं बसते। सब के मन में इन दोनों में से एक न एक अवश्य रहता है। जो कहता है कि मुझे ब्रह्मानंद नहीं मिलता, इसी से मुझ में विषयवासना है, वह दूसरे शब्दों में यह कहना चाहता है कि, मैं ब्रह्मानन्द से परिचित हूँ। इसी कारण अपने मन में ब्रह्मानन्द का अभाव देखकर दुःखी हो रहा हूँ।

यह विचार भ्रान्तिओं से भरा हुआ है। जो एक बार ब्रह्मानन्द से परिचित हो जाता है, वह वहाँ से कभी च्युत नहीं होता। ब्रह्मानन्द प्रारम्भ होकर नष्ट होने वाली घटना नहीं है। ब्रह्मानन्द की माधुरी विषय के कडवे रस की ओर मुँह नहीं करने देती। तुम अपने मन को चंचल या बुरा कहकर ब्रह्मप्रेम का परिचय देने की प्रवृत्ति को त्याग दो। मन को गाली देकर ब्रह्मप्रेमी होने की भ्रान्ति में मत फंसो। तुम्हारे मन में ब्रह्मानन्द के लिये कोई आकर्षण नहीं है। किन्तु तुम्हारे मन में विषयवासना भरी पडी है। तुम अपने मन की इस भ्रान्तिमूलक स्थिति को तबही समझ सकोगे जब तुम ब्रह्मानन्द से परिचित अर्थात् उस में स्थित हो जाओगे।

जब तक तुम अपने को ब्रह्मानन्द के न रहने पर भी मुझमें ब्रह्मानन्द के लिये प्रेम है, ऐसी एक काल्पनिक ऊँची स्थिति में समझते रहोगे, तब तक तुम्हें इस भ्रान्तिमें फंसा रहना पडेगा; और कभी ब्रह्मानन्द का परिचय नहीं मिलेगा। जिसे जिस अवस्था का परिचय नहीं होता, वह कभी उस अवस्था के न होने से दुःखी नहीं हो सकता। चाहे हुये विषय-सुख का न मिलना ही दुःख है। विषय-सुख में ही अतृप्ति रहती है। विषयसुख ही अतृप्ति के रहने का स्थान है। ब्रह्मानन्द बडी आश्चर्यपूर्ण स्थिति है। इसके साथ सुख-दुःख का कोई सम्बन्ध नहीं है। ब्रह्मानन्द से सुख भी नहीं मिलता और ब्रह्मानन्द न मिलने से दुःख भी नहीं हो सकता। ब्रह्मानन्द के न होने का ज्ञान नाम की किसी मनोदशा का होना अत्यन्त असम्भव है। किसी मनुष्य की इस ढंग की मनोदशा नहीं हो सकती कि, मुझे ब्रह्मानन्द नहीं मिल रहा है।

इस स्थिति में तुम ब्रह्मानन्द न मिलने का नाम लेकर वृथा दुःखी मत बनो। तुम अपने दुःखी होने के साथ ब्रह्मानन्द न मिलने का नाम मत जोडो। तुम्हारी बात में केवल इतनी सचाई है कि, तुम दुःखी हो। मनुष्य केवल विषयवासना में ही दुःखी हो सकता है। जो वस्तु कभी आती है और कभी नहीं आती, जो अवश्य आती हैं और आकर भी नष्ट हो जाती है, जो नष्ट होने पर नष्ट होने का दुःख देती है, और न आने पर न आने का दुःख देती है, ऐसी किसी वस्तु का चित्त में रहना ही दुःखका स्वरूप है। तुम मैं दुःखी हूँ यह कहकर (१) अपने में विषयवासना के घुसे रहने का, (२) विषयवासना को छोडने की इच्छा का तथा (३) अबतक ब्रह्मानन्द से अपरिचित होने का परिचय देते हो।

क्योंकि ब्रह्मानन्द नहीं है, इसलिये अपने को दुःखी समझ लेनेवाली कोई अवस्था किसी मनुष्य में नहीं हो सकती। जहाँ ब्रह्मानन्द के लिये प्रेम होता है, वहाँ वह अवश्य रहता है। वह प्रेमके स्थान से अनुपस्थित रहना नहीं जानता। जहाँ उसके लिये प्रेम है, वहाँ उसके लिये दुःख नहीं रह सकता। दुःख का होना केवल विषयवासना के होने पर ही सम्भव है। मनुष्य को सदा इस धोके से बचकर रहना चाहिये कि, वह विषयवासना से तो दुःखी होता रहे और उस दुःख को विषयवैराग्य का सुभावना नाम देकर उसे अपने मन की एक ऊंची

स्थिति मानकर उसी से दुष्ट सन्तोष माने, तथा उसी में बालाङ्गुष्ठपान के समान भक्तिदुग्ध का मिथ्या स्वाद चखने लगे। यह स्थिति विषयवैराग्य की स्थिति नहीं है। यह विषयानुराग की स्थिति है। विषयवैराग्य में दुःख नहीं हो सकता।

जब दुःख का होना असम्भव हो जाता है, तब ही विषयवैराग्य की स्थिति आती है। विषयवैराग्य में दुःख के न हो सकने का यही कारण है कि, विषय बन्धन है। जिसे उन बन्धनों से 'वैराग्य' है, उसे निश्चय ही 'बन्धन-मुक्ति' से प्रेम हो गया है। 'बन्धनमुक्ति' से प्रेम होने को ही 'ब्रह्मानंद' कहते हैं। इस ब्रह्मानंद में दुःख का लेश भी नहीं है। अब यदि किसी को वैराग्य समझी जानेवाली स्थिति भी दुःख देती हो, तो समझना होगा कि उसे विषयों से वैराग्य नहीं है, किन्तु मुक्ति से 'वैराग्य' और बन्धनों से 'अनुराग' है। इसी को दूसरे शब्दों में 'विषयानुराग' और इसीको तीसरे शब्दों में 'ब्रह्मानन्द' से दूर रहनेवाला 'वैराग्य' कहा जाता है।

किसी प्रिय वस्तु का वियुक्त हो जाना या किसी हाथ से बाहर की प्रिय समझी हुई वस्तु का हाथ में न आना ही दुःख का स्वरूप है। विषयों के दोषों को समझ जाना ही 'वैराग्य' है। विषयों में अनुराग का शेष न रहना ही 'वैराग्य' है। विषयों को न चाहने की अवस्था का आ जाना ही 'वैराग्य' है। अप्रिय वस्तु से ही 'वैराग्य' हो सकता है। अप्रिय वस्तु से वैराग्य हो जाने की अवस्था दुःख से हीन अवस्था है। दुःख का भाग जाना ही वैराग्य होने का भाव है। वैराग्य का दुःखदायी होना कभी सम्भव नहीं है। दुःख भी देता हो, और वह वैराग्य भी हो, ऐसी किसी स्थिति का होना उतना ही असम्भव है, जितना कि किसी वस्तु में अनुराग विराग दोनों का होना।

तुम्हें जिस वस्तु में वैराग्य है, उसे तुम्हें अवश्य ही दुःखदायी वस्तु समझना चाहिये। जब तक कोई वस्तु प्यारी है, तब तक उस में वैराग्य होना असम्भव है। अप्रिय वस्तु को प्रिय समझने की भूल का मिट जाना ही 'वैराग्य' है। जो मनुष्य अपनी विषय-वैराग्य समझी हुई स्थिति को दुःखदायी बताता हो, वह उसे दुःखदायी बता कर यह सिद्ध करता है, कि मुझ में से अभी तक विषयानुराग नहीं हटा। ऐसी मनोदशा सचमुच विषय 'वैराग्य' नहीं है। यह विषय-वैराग्य से विपरीत ब्रह्मानन्द से 'वैराग्य' है। यह प्रिय समझे जानेवाले विषयों को अप्रिय समझने के लिये उद्यत न होना है।

इस विवेचना के अनुसार अपने मन को पढकर देखो कि तुम सचमुच विषयों के न आने से दुःखी हो या विषयों के अपने पास आने में देर करने से दुःखी हो रहे हो। जहां विषयवासना रहती है, वहाँ स्वभाव से उसे पूरा करने का प्रयत्न किया जाता है। वहाँ उसे छोडने का प्रश्न कभी नहीं उठता। जहाँ विषयवासना को छोडने का प्रश्न उठ खडा होता है, वहाँ उसे रखने का प्रयत्न नहीं रहता। जिसे तुम प्रयत्नपूर्वक नहीं रक्खोगे, वह तुम्हारे पास नहीं रहेगा। इसलिये मनुष्य में वासना को छोडने का प्रयत्न करना नाम की किसी 'मानसिक स्थिति' का होना असम्भव है। हाँ, मन में स्वाभाविकरूप से वासना का रहना, या वासना का न रहना, इन दोनों स्थितियों में से कोई एक स्थिति हो सकती है। विषयों के समीप होते हुये विषयभोग से बचने या विषयभोग करने की इच्छा ये दोनों इच्छा एक मन में एक साथ नहीं रह सकती। इसलिये विषय की समीपता छोडने की इच्छा का अर्थ विषय-भोग न करने की इच्छा है। विषय-भोग न करने की इच्छा का उत्पन्न हो जाना ही 'भोगेच्छा का भाग जाना' है। विषय-भोगेच्छा का न रहना ही 'विषय-वासना' का न रहना है। विषय--वासना का न रहना ही 'ब्रह्मानंद' है। यही 'ईश्वरदर्शन' है।

जहाँ विषयवासना है, वहाँ अवश्य ही विषयभोग की चेष्टा हो रही है। यदि कोई मनुष्य भक्ति-ग्रन्थ पढते हुये और सत्सङ्ग करते हुये भी कहता है कि, मुझमें विषयवासना हैं, तो वह या तो—

(१) अपने मन को ठीक न समझकर ऐसा कहता है। क्योंकि यदि उसमें विषयवासना होती तो वह अपने समय को भक्ति--ग्रन्थ--पठन या सत्संग में न लगाकर उस समय में विषयतृप्ति की चेष्टा करता। जब कि वह ऐसा न करके भक्तिशास्त्र-श्रवण-भजन-कीर्तन आदि विषयविरोधी मार्ग में विचरण कर रहा है तो उससे यह निश्चय होता है कि,

उसके मन में विषयवासना नहीं है। यदि—

(२) उस के मन में सचमुच विषयवासना है, तो उसका यह भक्तिग्रन्थावलोकन सत्संग, भजन, कीर्तनादि सब कुछ विषयोपासना का कपटपूर्ण रूपान्तर है। वह इन रूपोंमें विषयों का ही भजन-कीर्तन कर रहा है। क्या वह यह सीधी सच्ची बात भी नहीं जानता, भक्तिग्रन्थाध्ययन से सत्संग या कीर्तन से विषयसुख नहीं मिल सकता? क्या वह यह नहीं समझता कि, किसी छपी पुस्तक को या किसी छन्दोबद्ध वचनावली को रट लेना भक्ति-ग्रन्थावलोकन नहीं है? किसी व्यक्ति विशेष के साथ रहना उस का सत्संग करना नहीं है! किन्तु विषयवासनाहीन मनोदशा की रक्षा करना ही सद्ग्रन्थावलोकन और सत्संग करना है। तुम विषयवासना-हीन मनोदशा की रक्षा न करके चाहे जहाँ चले जाओ, चाहे जो कुछ करो, चाहे संस्कृत-प्राकृत किसी भी बोली की आवृत्ति करते रहो, सब विषयवासना की तृप्ति की चेष्टा है।

मनुष्य मृत्युके बाद कहां जाता है ?

भूत-प्रेतों के अविश्वासियों के लिए खोजकी जरूरत।

खंडवाकी एक सच्ची घटना।

[लेखक- श्री० शिवचरणलाल मालवीय]

भूत-प्रेतों के विश्वासियों की जहां कमी नहीं है वहां ऐसे व्यक्तियों की भी विपुलता है जो भूतप्रेतों को शंका के सिवा और कुछ नहीं समझते। दीप-शिखा, एक दूसरी दीपशिखा से प्रज्वलित की जा सकती है और बुझा भी दी जा सकती है। और उसके बुझ जानेपर उस प्रज्वलित शिखा का कोई अस्तित्व ही नहीं रहता जो अभी कुछ देर पहिले प्रकाशित थी। ठीक इसी तरह, अनेकों का विश्वास है, और मैंभी उन्हीं में से एक हूं कि, मनुष्य की आत्मा मृत्यु के बाद शून्य हो जाती है, अस्तित्वहीन बन जाती है। गत ता० २९ जौलाई को मेरे एक मित्र के यहां एक घटना घटी है। उसकी वास्तविकताओं को सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो पता लगेगा कि उक्त घटना उपर्युक्त बातों का खंडन है- प्रतिवाद है। मेरे मित्र लिखते हैं—

अभी उस दिन ता. २९-७-४० की घटना है। स्थानीय एक सरकारी कर्मचारी की पत्नी रात को करीब दो बजे किसी भय से चिल्ला उठी। उक्त स्त्री कनाडा प्रान्त की है और लगभग १५ माह पहले बम्बई से विवाह करके यहां लाई गई है। अवस्था करीब १६ वर्ष की है। गत ता. १४-७-४० की रात को करीब दो बजे एक पुत्री को जन्म दिया है। जन्म-दिन के ६ दिन बाद लड़की 'रोनी' की बीमारी से बीमार हुई, रात-दिन रोने के सिवा कुछ नहीं। उसी को लिये हुये उक्त स्त्री अपनी सास सहित पलंग पर उक्त ता. २९ को बैठी हुई थी। अचानक रात को दो बजे वह स्त्री चिल्लाई और अपनी सास से कहने लगी--"अम्मा, वो देखो कोई काला-काला मनुष्य इधर को ही आ रहा है। उसके साथ में अंगुली पकडे हुए एक बच्चा भी है। और मेरे ये पैर लाल किसने कर दिये ?" ऐसा कहकर वह बेहोश हो गई और बेहोशी में लगी चीखें मारने। चीखें सुनकर मैं भी वहां गया, क्योंकि वे लोग मेरे मकान में ही रहते हैं। बहुत प्रयत्न करने पर करीब एक घण्टे बाद वह स्त्री होश में आई और चीखना-चिल्लाना कम हुआ।

दूसरे दिन ता. ३० को दिन भर भी वे अर्धमूर्च्छितावस्था ही में रही। रात को ८ बजे उनकी हालत कुछ विकृत हुई। बहुत कुछ पूछने के बाद इन्होंने अपना नाम गंगादेवी बतलाया, और लगी अपनी दो लडकियों का नाम ले-लेकर रोने:--'मेरी गोमती कहां है? मेरी मनु कैसी है? मुझे एक बार उनसे मिला दो।' जब उन्होंने 'गंगा, गोमती, मनु,' आदि के नाम लिये तब मुझे वहां बुलाया गया। मुझे देखते ही वह स्त्री बोल उठी--'ये तो मेरे देवर है।' इसके पहले उक्त स्त्री कभी मेरे सामने नहीं आई थी। मुझे देखकर फिर उन्होंने गोमती और मनु के देखने की इच्छा की। मेरे यह कहने पर कि गोमती तो उसके 'सासरे' में है और मनु उसकी मौसी के यहां है, वे कहने लगीं--उनकी सौतेली मां उन्हें तकलीफ तो नहीं देती? मेरे यह पूछने पर कि तुमने उस छोटी बच्ची को क्यों सताया, वे बोलीं-मैंने नहीं सताया, मगर वह शीघ्र अच्छी हो जायगी। मेरे यह पूछने पर कि तुम्हारी इस बाई से कैसे जान-पहिचान हुई, तुम्हें इससे क्या करना था, कहां बंबई और कहां खण्डवा, उन्होंने कहा-'मैं घूमते-घूमते यहां आई थी, यह मुझे मिल गई और मैं लग गई। मैं यहां हमेशा आती हूं। मुझे एक गिलास पानी पिलाओ तो मैं चली जाऊंगी क्योंकि इस बाई को तकलीफ हो रही होगा।' एक दूसरे व्यक्ति ने उन्हें एक गिलास पानी दिया। पानी पीने से इनकार करते हुए वे बोलीं "मैं अपने 'ससुर' के हाथ का पानी पिऊंगी।" अखिर उन्हें 'ससुर' के हाथ से पानी दिया गया। पानी पीते ही उक्त स्त्री होश में आ गई और

इतने आदमियों को अपने पास बैठे देखकर हैरत भरी आंखों से इधर उधर देखने लगी।

जिन गंगादेवी का उक्त स्त्री ने नाम लिया था वे मेरी भावज हैं। आज से करीब १३ साल पहले (मार्च सन १९२७ में) खण्डवा में उसी कमरे में (जिसमें यह घटना घटी थी) उनकी मृत्यु हुई थी। उन्हें प्रसूत का रोग था। उनकी मृत्यु के समय मनु (अब मनोरमा) केवल ३ मास की और गोमती करीब ४ वर्ष की थी। माता की मृत्यु के बाद मनोरमा (मनु) का पालन उसकी मौसी ने किया। वह स्त्री या पडौस के तो क्या, स्वयं मेरे घर के कई व्यक्ति भी मनु के विषय में कुछ नहीं जानते। क्योंकि वह छः मास की अवस्था से आज तक उसकी मौसी के यहां दूसरे गांव में है।

अब प्रश्न यह है कि इस स्त्री को यदि वे 'ढोंग' कर रही थीं तो ये १३ साल पहिले की समस्त बातों का पता कैसे लगा? और यदि वास्तव में उक्त स्त्री के शरीर में गंगादेवी की आत्मा ने प्रवेश पाया था, तो क्या इन १३ वर्षों में आज तक भी उनकी आत्मा को शांति नहीं मिली।

ता. २९ की रात को दिखाई देने वाले काले काले आदमी का सवाल तो अधूरा ही है कि वह कौन था। कनाडियन होने के कारण उन्हें हिंदी बोलते नहीं आता है, पर आश्चर्य है कि जब वे 'गंगा' बनी हुई थीं तब निमाडी मिली हिंदी बोल रही थीं। कहना नहीं होगा कि मेरी भावज निमाडी ही थीं। उन्होंने और भी कई बातें बतायीं। जैसे 'गंगा' की बडी लडकी तुलसीबाई का नाम लेकर भी वे रोई थीं। तुलसीबाई की मृत्यु ८-९ वर्ष पहले हो चुकी है, जिसके विषय में मुहल्ले में बहुत कम व्यक्ति जानते हैं। बोली, पता नहीं मेरी तुलसी कहां है आदि। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि, उसी दिन से छोटी बच्ची मजे में है और उक्त स्त्री भी।

\+ \+ \+

मुझे आशा है कि इस विषय के अधिकारी सज्जन इस घटना के तथ्यातथ्य का पता लगाएंगे। मैं आदरवीर श्री रामदासजी गौड और कल्पवृक्ष-कार्यालय उज्जैन का ध्यान इस ओर विशेष रूप से खींच रहा हूं। विस्तृत जानकारी, M. मारफत स्वराज्य-आफिस, खंडवासे प्राप्त की जा सकती है।

मातार्जीसे वार्तालाप।

मनोमय जगत्–मनःशक्ति कैसे काम करती है–बाधाएं–शारीरिक व्याधियोंका मूल कारण,

[अनुवादक- श्री मदनगोपाल गाडोदिया]

="विचार के अन्दर जो शक्ति है, वह किस कोटि की है? क्या प्रत्येक मनुष्य स्वयं अपने जगत् का कर्ता है? यदि हां, तो कैसे और किस हदतक?"

बौद्ध मत के अनुसार, प्रत्येक मनुष्य अपने ही रचे हुए जगत् में रहता और विचरण करता है, उसका यह जगत् दूसरे मनुष्य के जगत् से सर्वथा स्वतंत्र होता है; और इन विभिन्न जगतों में जब एक प्रकार का सामंजस्य हो जाता है केवल तभी ये जगत् एक दूसरे में अंतःप्रविष्ट हो सकते हैं और तभी मनुष्य परस्पर-संपर्क में आते और एक दूसरे के विचारों को समझ सकते हैं। जहां तक मनसे संबंध है वहां तक यह बात ठीक है; कारण प्रत्येक व्यक्ति अपने ही मानसिक जगत् में, जो उसके अपने ही विचारोंद्वारा स्पष्ट किया हुआ होता है, विचरण करता रहता है। यह बात यहांतक सच है कि सदा ही, जब कभी कोई बात कही जाती है तब, प्रत्येक व्यक्ति उस एक ही बातको विभिन्न रूप में समझता है; कारण जो कुछ कि कहा गया है उसको वह ग्रहण नहीं करता, बल्कि वह किसी ऐसी चीजको ग्रहण करता है, जो उसके मगज में पहले से ही भरी हुई है। परन्तु यह सत्य मनोमय भूमिकाकी गतियों से ही संबंध रखता है और उसी भूमिका पर लागू होता है।

कारण, मन कर्म करने और आकार बनाने का कारण है, ज्ञान का कारण नहीं। यह प्रत्येक क्षण आकारों की रचना करता रहता है। विचार आकारमय होते हैं और इनका अपना व्यक्तिगत जीवन होता है जो उनके स्रष्टा से सर्वथा स्वतंत्र होता है। स्रष्टा जब इन विचारमय आकारों को जगत् में भेज देता है तो उसके बाद ये अपने अस्तित्व के प्रयोजन को पूरा करने के लिये जगत् में विचरण करने लगते हैं। जब तुम किसी व्यक्ति के विषय में विचार करते हो तब तुम्हारा विचार एक आकार धारण कर लेता है और उस व्यक्ति को खोजने के लिये निकल पडता है, और यदि तुम्हारे विचार के साथ-साथ उसके पृष्ठवर्ती कोई संकल्प लगा रहता है, तो तुम्हारे अन्दर से निकला हुआ यह विचारमय आकार अपने आपको चरितार्थ करने की चेष्टा करता है।

उदाहरण के लिये मान लो कि तुम्हारी यह तीव्र इच्छा है कि अमुक मनुष्य तुम्हारे पास आवे, और इच्छा के इस प्राणमय आवेग के साथ साथ यदि तुम्हारे बनाये हुए इस मनोमय आकार के संग एक जोरदार कल्पना भी जुडी हुई है तो, तुम कल्पना करोगे कि "यदि वह आवेगा तो, वह ऐसा होगा अथवा वह वैसा होगा।" अब मान लो कि कुछ काल के बाद इस विचार को तुम सर्वथा त्याग देते हो, लेकिन तुम यह नहीं जानते कि इस बात को भूल जानेके बाद भी, तुम्हारे विचार का अस्तित्व बना हुआ है। वास्तव में अभी भी उसका अस्तित्व है और वह तुमसे सर्वथा स्वतंत्र रहकर अपना काम कर रहा है, और उसको उसके इस काम से वापस बुला लेनेके लिये एक महान् शक्तिकी आवश्यकता होगी। वह उस विचार से संबंध रखनेवाले व्यक्ति के वातावरण में प्रविष्ट होकर अपना काम करने लगता है और उसमें तुम्हारे पास आनेकी इच्छा उत्पन्न करता रहता है। और यदि तुम्हारे विचारमय आकार में अपने कार्य को सिद्ध कर लेनेकी पर्याप्त इच्छाशक्ति है, यदि उस आकार का गठन भली भांति हुआ है। तो वह अपना काम करके ही छोडेगा।

परन्तु इस आकार-रचना और उसके कार्यकी सिद्धि के बीच में कुछ समय लगता है और यदि इस कालके बीच तुम्हारा मन बिलकुल दूसरी ही चीजों में लगा रहा हो तो,

जब तक तुम्हारा यह भूला हुआ विचार कार्य में परिणत होता है तब तक हो सकता है कि, तुमको यह याद भी न रहे कि एक दिन तुमने ही इसको आश्रय दिया था, तुमको यह पता ही न हो कि तुम्हींने इसको क्रियान्वित होनेके लिये प्रेरित किया था और आज जो परिणाम हुआ है वह तुम्हारे ही कारण है। और बहुधा यह भी होता है कि, इन विचारमय आकारों का जब फल प्राप्त होता है तब उस विषयकी इच्छा करना या उससे दिलचस्पी रखना तुमने छोड दिया होता है। कुछ लोग ऐसे हैं जिनमें इस प्रकार की रचना-शक्ति बहुत ही बलवान् होती है और उनकी मनोरचनाएं सदा कार्यान्वित होती हैं, लेकिन चूंकि उनकी मनोमय और प्राणमय सत्ता खूब अच्छी तरह सधी हुई नहीं होती, इसलिये वे कभी इस चीजकी इच्छा करते हैं तो कभी उस चीजकी, अतः उनकी ये भिन्न भिन्न अथवा विरोधी रचनाएं और उनके परिणाम, एक दूसरे से टकराते और भिडते रहते हैं। और ऐसी अवस्था देखकर ये लोग आश्चर्य करते हैं कि उनका जीवन इतना अधिक अव्यवस्थित और असामंजस्यपूर्ण क्यों रहता है! वे इस बातका अनुभव नहीं करते कि उनके अपने ही विचारों और इच्छाओंके कारण ही यह हुआ है कि उनके इर्दगिर्द एक इस प्रकारकी परिस्थिति निर्मित हो गयी है जो उनको इतनी बेमेल और परस्परविरोधी जान पडती है और जिसके कारण उनका जीवन प्रायः असह्यसा हो गया है।

यह ज्ञान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है, यदि इसको इसके सदुपयोग किये जानेके रहस्य को साथ-साथ दिया जाय। आत्मसंयम और आत्म-शासन ही इसके रहस्य हैं। सत्यके मूलको तथा भागवत संकल्प के अनवरत शासनको-कारण केवल भागवत संकल्प का अनवरत शासन ही प्रत्येक विचारमय आकारको उसकी पूर्ण शक्ति तथा उसकी संपूर्ण और सामंजस्यपूर्ण सिद्धि प्रदान कर सकता है- अपने आपमें खोज निकालना ही यह रहस्य है। साधारणतया, मनुष्य इस बातको जाने बिना ही कि उनकी ये विचाररचनाएं किस प्रकार विचरण और क्रिया करती हैं, विचारोंको रचा करते हैं। इस प्रकार की अज्ञानमय और विश्रृंखल अवस्था में गढे हुए ये विचार परस्पर टकराते रहते हैं और तुमपर इस प्रकार का प्रभाव डालते हैं, मानो तुम कोई जोर लगा रहे हो, कोई प्रयास कर रहे हो, मानो इस कार्य में तुम क्लांत हुए जा रहे हो, और तुमको ऐसा महसूस होता है मानो तुम किन्हीं असंख्य बाधाओं के बीचसे अपना मार्ग परिष्कार कर रहे हो। अज्ञान और असंगतिकी इन अवस्थाओंके कारण एक विश्रृंखलित संग्राम प्रारंभ हो जाता है और इस संग्राम में जो विचारमय आकार सबसे अधिक बलवान् होते हैं तथा जो सबसे अधिक देरतक टिक सकते हैं, वे दूसरोंपर विजयलाभ करते हैं।

मन और उसके कार्य के विषय में एक बात निश्चित है और वह यह कि तुम केवल उसी बातको समझ सकते हो जिसका तुम्हें अपने अन्तरात्मा में पहले से ही ज्ञान होता है। किसी पुस्तक के पढनेपर उसकी जो बात तुमपर असर करती है वह वही होती है जिसको तुमने अपने अन्दरकी गहराई में पहले ही अनुभव कर लिया होता है। मनुष्य, किसी पुस्तक या उपदेश को अत्यंत अद्भुत पाते हैं और बहुधा यह कहते हुए सुने जाते हैं कि, "यहां जो कुछ कहा गया है वह ठीक वैसा ही है जैसा कि इस विषयके सम्बन्ध में मैं स्वयं अनुभव करता और जानता हूं, किंतु इस विषयका वर्णन इस स्थलपर जितने सुंदर ढंगसे किया गया है वैसा मैं नहीं कर सका था।"

जब मनुष्य किसी सत्यज्ञान की पुस्तक का पारायण करते हैं तो उस में प्रत्येक अपने आपको पाता है, और उस के प्रत्येक नवीन पाठ में उसको कुछ ऐसी बातें मिलती हैं जिन्हें वह पहले नहीं देख सका था, प्रत्येक आवृत्ति में यह ग्रंथ उस के सामने ज्ञान के एक नवीन क्षेत्रको, जिसको वह अभीतक उस में नहीं पा सका था, खोलकर दिखा देता है। परन्तु यह इसलिये होता है कि उस मनुष्य की अवचेतना में ज्ञान के जो स्तर अभिव्यक्त होने की प्रतीक्षा कर रहे थे, यह पारायण उन का स्पर्श करता है और वह देख पाता है कि उस ज्ञान की अभिव्यक्ति किसी दूसरे व्यक्तिद्वारा ही हो गयी है, और वह भी, जैसी कि वह स्वयं कर सकता था, उस से कहीं अधिक सुंदर ढंगसे। परन्तु यह अभिव्यक्ति जहां एकबार हुई कि तुरंत ही, वह उसको पहचान जाता है कि, यही सत्य है। जो ज्ञान तुम्हें बाहर से आता हुआ दिखायी देता है, वह तो उस ज्ञान को, जो तुम्हारे अन्दर ही है, बाहर ले आने का

केवल एक अवसर मात्र है।

यह एक साधारण अनुभव है कि हम जो कुछ कहते हैं उसे प्रायः दूसरे ही रूप में समझा या प्रदर्शित किया जाता है, इस का कारण भी उपर्युक्त प्रकार का ही है। जो कुछ हम कहते हैं, वह सर्वथा स्पष्ट होनेपर भी लोग उस बात को जिस प्रकार समझते हैं उसे देखकर आश्चर्यचकित हो जाना पडता है। प्रत्येक व्यक्ति उस में कुछ ऐसी ही बात देखता है, जो कहनेवाले के अभिप्राय से अलग होती है अथवा यहांतक होता है कि वह उस में कोई ऐसी चीज मिला देता है जो उस के आशय के सर्वथा विपरीत होती है। यदि तुम किसी बात को सत्यरूप में समझना और उपर्युक्त प्रकार के भ्रम से बचना चाहते हो तो, तुम्हें कथन की ध्वनि और उस के शब्दों की जो गति होती है उस के पीछे जाकर उसे अपने अन्दरकी निस्तब्ध नीरवता में सुनना सीखना चाहिये। यदि तुम इस तरह सुनोगे तो ही तुम्हें ठीक-ठीक सुनाई पडेगा, ठीक-ठीक समझ में आवेगा। परन्तु जबतक तुम्हारे सिर में कोई चीज घूम रही और कोलाहल कर रही हो तबतक तुम केवल वही बात सुनोगे जो तुम्हारे अपने सिर में घूम रही है, न कि वह जो कही गयी है।

="योगसे प्रथम परिचय होते ही विरोधी अवस्थाओं की एक फौज सी क्यों पीछे पड जाती है? किसीने कहा है कि योग-साधनाका द्वार खोलते ही अनगनित बाधाएं सामने आ खडी होती हैं, क्या यह बात ठीक है?"

यह कोई सार्वत्रिक नियम नहीं है, और बहुत कुछ व्यक्ति विशेषपर निर्भर करता है। बहुतों के पास विरोधी अवस्थाएं इसलिये आती हैं कि उनकी प्रकृति के जो कमजोर स्थान हैं, उनकी परीक्षा हो जाय। योगमार्गपर तुम स्वतंत्रतापूर्वक चल सके, इस के पहले तुम में जिस वस्तु की अच्छी तरह स्थापना हो जानी चाहिये, जो योग के लिये अनिवार्य आधार है, वह है समचित्तता। अतः, इस दृष्टि से देखनेपर, सभी क्षोभ साधक की परीक्षा के लिये होते हैं और तुमको इन परीक्षाओं में सफल होना ही पडेगा। इसके अतिरिक्त तुम्हारे मनने जो सीमाएं तुम्हारे चारों ओर बना ली होती हैं, उनको तोडने के लिये भी इनकी आवश्यकता है, कारण ये सीमाएं दिव्य ज्योति और सत्य के प्रति तुम्हारे उद्घाटन को रोकती हैं। तुम्हारा समग्र मनोमय जगत्, जिस में कि तुम रहते हो, एक सीमा में बंधा हुआ है, फिर चाहे उसकी सीमाओं का तुम्हें ज्ञान या अनुभव हो या नहीं, और यह आवश्यक है कि, कोई चीज आवे और इस भवनको, जिस के अन्दर तुम्हारे मनने अपने आपको बंद कर रखा है, तोड डाले और उसको इस बंधन से मुक्त कर दे। उदाहरणार्थ, तुम्हारे कुछ बंधे हुए नियम, विचार अथवा सिद्धान्त होते हैं, जिन्हें तुम सर्वोपरि महत्त्व देते हो। अधिकांशतः, ये किन्हीं नैतिक सिद्धांतों अथवा उपदेशवचनों के आधारपर होते हैं, जैसे कि "अपने माता-पिताका आदर कर" (मातृदेवो भव-पितृदेवो भव) या "तुझे हिंसा नहीं करनी चाहिये" (अहिंसा परमो धर्मः) इत्यादि इत्यादि। प्रत्येक मनुष्यकी अपनी कुछ धुन होती है अथवा वह दूसरोंकी अपेक्षा अपने संप्रदायमें कुछ विशेषता मानता है। प्रत्येक मनुष्य यह समझता है कि, दूसरे लोग जिन अमुक अमुक सांप्रदायिक रूढियोंमें बंधे हुए हैं उनसे वह सर्वथा मुक्त है और वह इस प्रकारके सांप्रदायिक मताग्रहोंको बिलकुल मिथ्या समझने के लिये भी तैयार रहता है। परन्तु वह सोचता है कि उसका अपना मतवाद दूसरोंकी तरह का नहीं है, वह तो बिलकुल सत्य ही है, वास्तविक सत्य है।

मनके बनाये हुए किन्हीं भी नियमोंमें आसक्ति होना इस बातका सूचक है कि अभी भी कहीं पर अंधापन छिपा हुआ है। उदाहरणके लिये उस सार्वत्रिक अंधविश्वासको ले लो, जो समस्त जगत् में फैला हुआ पाया जाता है कि वैरागी जीवन और योग एकही बात है। यदि तुम किसी का योगी अथवा योगिनी कहकर वर्णन करो तो तुरंत उस व्यक्ति के बारेमें लोग यही कल्पना करने लगेंगे कि वह कोई ऐसा व्यक्ति होगा जो खाता न हो अथवा समस्त दिन एक आसनसे अडोल बैठा रहता हो; जो किसी कुटिया में अत्यंत दरिद्रतापूर्वक रहता हो, जिसने अपना सब कुछ दे दिया हो और जो अपने लिये कुछ भी न रखता हो।

जब किसी आध्यात्मिक मनुष्य के सम्बन्ध में किसीसे कुछ कहा जाता है तो सौमें निनानवें आदमियों के मनमें उस व्यक्ति के सम्बन्ध में इसी प्रकारका चित्र खींच जाता

है, इनके लिये आध्यात्मिकताका एकमात्र सबूत है दरिद्रता तथा जो कोई भी चीज सुखदायक या आराम पहुंचानेवाली हो उससे परहेज। यह एक मनोनिर्मित धारणा है और यदि तुम आध्यात्मिक सत्य का साक्षात्कार और अनुसरण करने के लिये स्वतन्त्र हो जाना चाहते हो तो तुम्हें इस प्रकारकी कपोलकल्पना को नष्ट कर देना होगा। कारण आध्यात्मिक जीवन में तुम सच्ची अभीप्साके साथ आते हो और तुम चाहते हो कि तुम अपनी चेतना और जीवन में भगवान् से भेंट करो तथा उनका साक्षात्कार करो; अब होता यह है कि तुम एक ऐसे स्थान में पहुंचते हो जिसको किसी तरह भी कुटिया नहीं कहा जा सकता और वहां तुम्हारी एक ऐसे भागवत पुरुष से भेंट होती है जो सुखमय जीवन व्यतीत कर रहे हैं, सब कुछ खाते हैं, उनके चारों ओर सुंदर या अमीरीकी चीजों का ठाठ लगा हुआ है, जो कुछ उनके पास है उसको वे गरीबोंको बांट नहीं दे रहे हैं, बल्कि लोग जो कुछ उनकी भेंट चढाते हैं उसको वे स्वीकार करते और उसका उपभोग करते हैं। यह देखकर तुम अपने बंधे हुए मनोनिर्मित नियम के अनुसार घबडा जाते हो और चिल्ला उठते हो कि "क्यों, यह सब क्या है? मैंने तो सोचा था कि मेरी किसी योगीसे भेंट होगी, पर यहां तो ऐसी कोई बात नहीं है।"

इस प्रकारकी मिथ्या धारणा को नष्ट कर देना चाहिये, ऐसा करना चाहिये जिसमें इसका तुममें अस्तित्व तक न रह जाय। एकबार जहां यह चली गयी कि तुम्हें कुछ ऐसी चीज प्राप्त होगी जो तुम्हारे वैराग्य के संकीर्ण सिद्धांत से बहुत ही श्रेष्ठ है, तब तुम्हारा पूर्ण आत्मोद्घाटन हो सकेगा जिसके फलस्वरूप तुम्हारी सत्ता मुक्त रहेगी। यदि कोई चीज तुमको दी जाती है तो उसे तुम्हें स्वीकार करना चाहिये और यदि उसी चीजको तुम्हें छोड देना होता है तो तुम्हें उसको उसी तत्परता के साथ छोड देना चाहिये। तुम्हारा भाव तो यह होना चाहिये कि अगर कोई चीज आयी तो तुमने उसको ग्रहण किया, अगर कोई चीज चली गयी तो तुमने उसको जाने दिया और इन दोनों ही समय, अर्थात् लेते समय और छोडते समय तुम्हारी मुसकान में वही समता बनी रहे।

अथवा फिर, मान लो कि तुमने "तुझे हिंसा नहीं करनी चाहिये" (अहिंसा परमो धर्मः) को अपना आचारसर्वस्व स्वीकार कर लिया है, और क्रूरता तथा हत्या से तुम कांप उठते हो। अब यदि तुम तुरंत ही अपने आपको वहां पाओ जहां हत्या होती हो और वह भी एकबार नहीं किंतु बारंबार, उस समयतक जबतक कि तुम यह नहीं समझ जाओ कि तुम्हारा आदर्श केवल एक मानसिक सिद्धांत है और कुछ नहीं और तुम यह अनुभव न करने लगो कि आध्यात्मिक सत्य के जिज्ञासुको किसी भी मानसिक नियम में आसक्त या उस से बंधा हुआ नहीं रहना चाहिये तो–तुम्हें इसपर आश्चर्य नहीं करना चाहिये। और एकबार जहां तुम इस आसक्ति या बंधन से मुक्त हो गये तो संभवतः तुम यह पाओगे कि ये हिंसामय दृश्य जो तुम्हें दुःख देते थे— और वास्तव में ये तुम्हें दुःख देने के रूप में तुमको अपने मनोनिर्मित जाल से निकाल लाने के लिये ही भेजे गये थे — अब तुम्हारे सामने नहीं होते, ये आश्चर्यजनक रीति से बंद हो गये हैं।

जब तुम भगवान् के पास जाते हो तो तुम्हें अवश्य ही अपनी समस्त मानसिक धारणाओं का त्याग कर देना चाहिये, किंतु ऐसा करने के बदले उलटे तुम अपनी ही धारणाओं को भगवान् पर लादना चाहते हो और यह चाहते हो कि भगवान् उन का अनुसरण करें। योगी के लिये सच्चा भाव तो केवल यही है कि वह नमनशील बना रहे और भगवान् की ओर से जो भी आदेश मिले उस का पालन करने के लिये तैयार रहे; उस के लिये कोई चीज भी ऐसी न होनी चाहिये जिस के बिना उस का काम ही न चले तथा कोई भी चीज उसको भाररूप भी नहीं होनी चाहिये। जो लोग आध्यात्मिक जीवन बिताना चाहते हैं, उन का पहला आवेश यह होता है कि जो कुछ भी उन के पास हो उसको वे फेंक दें, किंतु वे ऐसा इसलिये करना चाहते हैं, जिस से वे एक बोझ से छुटकारा पा जाय, न कि इसलिये कि वे अपना सब कुछ भगवान् के अर्पण कर दें। जिन के पास धन है तथा जिन के इर्दगिर्द अमीरी और भोग की सामग्रियां भरी पडी हैं, वे जब भगवान् की ओर मुंह करते हैं तो तुरंत उनकी प्रवृत्ति इन सब चीजों से दूर भागने की ओर होती है, अथवा जैसा कि वे कहते हैं, "इनके बन्धन से निकल आने" की

होती है। परन्तु यह गलत प्रवृत्ति है, तुमको यह कभी नहीं सोचना चाहिये, कि जो चीजें तुम्हारे पास हैं वे तुम्हारी हैं— वे तो भगवान् की हैं। यदि भगवान् चाहते हैं कि तुम किसी चीज का भोग करो तो उस का तुम भोग करो, किंतु दूसरे ही क्षण यदि उसको छोडना पडे तो उस के लिये प्रसन्न चित्त से तैयार रहो।

= शारीरिक व्याधियां क्या हैं? क्या ये आक्रमण-विरोधी शक्तियोंके हैं और क्या ये बाहरसे होते हैं?

इस विषयमें दो बातें हैं जिनपर विचार करना चाहिये। एक वह जो बाहर से आता है और दूसरा वह जो तुम्हारी आंतरिक अवस्थाओं से आता है। तुम्हारी आंतरिक अवस्था रोग का कारण बनती है, जब वहांपर कोई प्रतिरोध या विद्रोह होता है अथवा जब कि तुम्हारे अन्दर कोई ऐसा भाग होता है जो भागवत संरक्षण का प्रत्युत्तर नहीं देता अथवा वहां कुछ ऐसी चीज भी हो सकती है जो इच्छा-पूर्वक और जान-बूझकर विरोधी शक्तियों को अन्दर बुलाती है। इस प्रकार की मामूली-सी गति भी तुम्हारे अन्दर हो तो वह पर्याप्त है, विरोधी शक्तियां तुरंत तुमपर चढ आती हैं और उनका आक्रमण बहुधा रोग का रूप धारण करता है।

= "परन्तु क्या यह ठीक नहीं है कि कभी-कभी रोगजनक कीटाणुओं के कारण ही रोग होते हैं, योग-साधनाकी क्रिया के अंगभूत होकर नहीं?"

कहां से भला योग का आरंभ समझें और कहां अंत? क्या तुम्हारा सारा जीवन ही योग नहीं है? तुम्हारे शरीर में और उस के आस-पास रोग की संभावनाएं सदा बनी रहती हैं, तुम्हारे अन्दर या तुम्हारे चारों तरफ सब प्रकार की बीमारियों के कीटाणु या रोग-जन्तु विद्यमान होते हैं, अथवा ये तुम्हारे चारों ओर मंडराते रहते हैं। जो रोग तुमको वर्षों से नहीं हुआ होता उस के तुम एकाएक क्यों शिकार हो जाते हो? तुम कहोगे कि इस का कारण "प्राणशक्ति का सुस्त पड जाना" है। परन्तु यह प्राणों की सुस्ती कहां से आती है? यह सत्ता में किसी प्रकार का असामंजस्य होने से, भागवत शक्तियों के प्रति ग्रहणशीलता का अभाव होने से आती है। जब तुम उस शक्ति और ज्योति से जो तुम्हारा साधारण-पोषण करती है, अपने आपको जुदा कर लेते हो तब यह सुस्ती होती है, तब जिस को वैद्यक शास्त्र "रोग के लिये अनुकूल क्षेत्र" कहते हैं वह तैयार हो जाता है और कोई चीज इस का फायदा उठा लेती है। सन्देह, निरुत्साह, विश्वास का अभाव, स्वार्थ के लिये भगवान् की ओर से मुंह फेरकर पुनः अपनी ओर पलट आना—ये हैं जो ज्योति और दिव्य शक्ति से तुम्हें अलग कर देते हैं और आक्रमण को इस प्रकार का लाभ पहुंचाते हैं। यही है तुम्हारे बीमार पडने का कारण, न कि रोग के कीटाणु।

= "परन्तु क्या यह सिद्ध नहीं हो चुका है कि स्वच्छता और सफाई आदि रखने में सुधार करने से औसत नागरिक का स्वास्थ्य सुधरता है?"

औषध और सफाई साधारण जीवन के लिये अपरिहार्य हैं, किंतु इस समय मैं औसत नागरिक के संबंध में नहीं कह रही हूं, मैं तो उनके बारेमें कह रही हूं, जो योग-साधना करते हैं। फिर भी सफाई आदि की पद्धति से यह घाटा होता है कि जहां तुम इस के द्वारा रोग के पकड में आने की संभावना में कमी ले आते हो वहां रोग का प्रतिरोध करने की तुम्हारी जो अपनी स्वाभाविक शक्ति है, उसको भी तुम क्षीण कर देते हो। अस्पताल में काम करनेवाले, जो सदा अपने हाथ निःसंक्रामक औषधियों से धोते रहते हैं, यह पाते हैं कि उनके हाथ औरों की अपेक्षा सहज में संक्रामक जंतुओं के शिकार हो जानेवाले और कहीं अधिक प्रभावग्राही हो गये हैं। इनके विपरीत, उन लोगों को ले लो जो स्वास्थ्यकर सफाई आदि के विषय में कुछ भी नहीं जानते और अत्यंत अस्वास्थ्यकर काम करते रहते हैं, फिर भी वे संक्रामक दोषों से मुक्त रहते हैं। उनका अज्ञान ही उनकी सहायता करता है, कारण आरोग्यशास्त्र की बातों के ज्ञान के कारण जो ऐसे विचार हमारे मन में बैठ जाते हैं कि ऐसा होने से यह रोग होता है और वैसा होने से वह रोग, वैसे ख्यालों की वहां कोई सम्भावना ही नहीं होती। दूसरी ओर, स्वास्थ्यकर संरक्षण में जो तुम्हारा विश्वास होता है वही इन विचारों को भी कार्य करने में सहायता पहुंचाता है। कारण, तुम समझते हो कि, "अब मैंने निःसंक्रामक औषध का प्रयोग कर लिया और मैं सुरक्षित हूं," तो उस हदतक ही यह तुमको सुरक्षित रखता भी है।

= तब फिर हमें स्वास्थ्यकर सावधानी-जैसे कि छाना हुआ पानी पीना-क्यों रखनी चाहिये ?

क्या तुममेंसे कोई भी इतना शुद्ध और बलवान् है जिस पर सुझावों का कुछ भी असर न होता हो ? यदि तुम विना छाना हुआ पानी पीओ और सोचो कि " अब मैं अस्वच्छ जल भी रहा हूं " तो तुम्हारे बीमार पडने की बहुत कुछ संभावना हो जाती है। और यद्यपि इस प्रकार के सुझाव सचेतन मनके द्वारा न भी पहुंचे तो तुम्हारी समग्र अवचेतना तो पडी ही है जो किसी भी ऐसे सुझाव को ग्रहण करने के लिये बुरी तरह खुली रहती है। जीवन में अवचेतना के कार्य का भाग अधिक होता है और सचेतन भागों की अपेक्षा अवचेतना सौगुनी शक्तिशालिता के साथ कार्य करती है। साधारण मानव-अवस्था वह अवस्था है जो भय और आशंकाओं से भरी हुई है। यदि तुम अपने मनको दस मिनट तक गहरी दृष्टि डालकर देखो तो तुमको यह पता लगेगा कि उसके दसमें से नौ विचार भयसे भरे हुए हैं, वह अपने अंदर, बृहत् और क्षुद्र, समीपवर्ती और दूरवर्ती, देखी हुई और बिना देखी हुई, अनेक चीजोंके भयको लिये रहता है, और यद्यपि यह बात साधारणतया तुम्हारी सचेतन दृष्टिमें नहीं आती, पर तुम्हारे अंदर ये भय तो होते ही हैं। समस्त भयसे मुक्त हो जाना,- यह अवस्था तो अनवरत प्रयास और साधनाद्वारा ही आ सकती है।

और, साधना और प्रयास के द्वारा यदि तुमने अपने मन और प्राण को आशंका तथा भय से मुक्त भी कर लिया हो तो भी शरीर को मना लेना अधिक कठिन होता है। परन्तु यह भी करना ही पडेगा। एकबार तुमने योग-मार्ग में प्रवेश किया कि तुमको समस्त भयोंसे मुक्त हो जाना चाहिये,-अपने मनके भयोंसे, अपने प्राण के भयोंसे, अपने शरीर के भयोंसे, जो उसके एक एक लोम-कूपमें भरे पडे हैं, मुक्त हो जाना चाहिये। योगमार्गमें तुम्हें जो ठोकरें खानी पडती हैं और आघात सहन करने पडते हैं उनका एक उपयोग यह भी है कि वे तुम्हें समस्त भयोंसे मुक्त कर दें।

जिन कारणों से तुम्हें भय होता है वे उस समय तक तुम पर बारंबार हमला करते रहते हैं जब तक कि तुम इस योग्य न हो जाओ कि तुम उनके सामने स्वतन्त्र और उदासीन, अनासक्त और शुद्ध होकर खडे रह सको। किसीको समुद्र से भय होता है, कोई आगसे डरता है। अब हो सकता है कि जो व्यक्ति अग्नि से भय खाता हो उसको एकके-बाद-एक अनेकों भीषण अग्निकांडों को उस समय तक अपनी आंखों के सामने होते हुए देखना पडे जब तक कि वह इतना अभ्यस्त न हो जाय कि इस कांडसे उसके शरीरका एक लोम-कूप तक न कांपे। जिस चीज से तुमको त्रास पैदा होता है वह उस समय तक बारंबार आती रहती है जब तक कि उससे तुममें त्रास होना बिलकुल बंद न हो जाय। जो रूपांतरित होना चाहता है और जो इस मार्गका साधक है उसे तो सर्वांशत: भयमुक्त होना ही पडेगा, उसे ऐसा बन जाना पडेगा कि कोई भी घटना उसकी प्रकृति के किसी भी भागको छू या हिल न सके।

वैदिक शासन-पद्धति।

[लेखक- श्री० ला० खुशालचंदजी, पंजाबकेसरी]

शासन-पद्धति का प्रश्न।

आधुनिक युग विभिन्न शासन-पद्धतियों के तजुर्बे कर रहा है। अनेक देशों में तरह-तरह की पद्धतियां बरती जा रही हैं। किंतु अनुभव ने हमें बताया है कि उनमें से कोई भी सही अर्थों में सफल नहीं हो सकी। हमारे अपने देश में शासन-पद्धति का प्रश्न बडी बिकट समस्या उपस्थित कर रहा है।

मेरा इशारा वैदिक-शासन पद्धति की ओर है, जिसका आधार समानता पर है। ऋग्वेद का आदेश है-

'समानो अध्वा प्रवतामनुष्यदे।' (ऋग् २।१३।२)

अर्थात् संसार में विचरने वाले सब व्यक्तियों के समान अधिकार हैं। कितने स्पष्ट शब्दों में साम्यवाद का प्रचार है यह। केवल इतना ही नहीं, वेद भगवान् ने तो 'अकेला खानेवाले को पाप खाने वाला और मृत्यु को पास बुलानेवाला, कहा है।' जहां समानता होगी, कोई एक दूसरे से 'बडा' न होगा, वहां न तो ईर्षा पैदा होगी और न स्पर्धा। संसार के लोग सुख और चैन की बंसी बजाते हुए अपना जीवन व्यतीत करेंगे। विश्वव्यापी शांति के लिये सब से आवश्यक वस्तु सब के समानाधिकार हैं। न किसी के पास 'व्हेटेज' हो और न ही कोई अपने 'प्रिविलेजिज' का इस्तेमाल कर सके। वेद आगे कहता है-

विश्वो देवस्य नेतुर्मर्तो वुरीत सख्यम्।
विश्वो राय इषुध्यति द्युम्नं वृणीत पुष्यसे।

(ऋक् ५।५०।१)

अर्थात् प्रत्येक मनुष्य सब के नेता, प्रकाशस्वरूप भगवान् की मित्रता प्राप्त करे और संसार के हर एक धन को पाने की चेष्टा करे और पुष्टि के लिये पर्याप्त वस्तुएं प्राप्त करे। दूसरे शब्दों में यदि मैं कहूं तो इस का सीधा मतलब यह है कि संसार की सुखसामग्री को भोग करने का अधिकार प्राणीमात्र को है। किसी व्यक्तिविशेष को इस से वञ्चित रखने का किसी को कोई हक नहीं। वेदने उसे खुली छुट्टी दी है कि वह अपनी शक्ति और योग्यता बढाये और सब विघ्न-बाधाओं को पैरों तले रौंदता बढता चला जाय। लेकिन उसने किसी को यह अधिकार नहीं दिया कि वह औरों के अधिकारों को रौंदता हुआ बढे। देखिये, अथर्ववेद में कहा है-

" मैं तुम सब को एक दूसरे का साथी, एक मन वाला और एक समान भोगों वाला बनाता हूं। देवताओं की भांति अमरजीवन की रक्षा के लिए सायं और प्रातः परस्पर प्रेम और शुभ विचारों को बढाओ।" (अथर्व ३।३०।७)

स्पष्ट शब्दों में कहा है कि तुम एक दूसरे को कुचलने की कोशिश न करो। आपसी प्रेम और प्यार को कम न होने दो।

केवल इतना ही नहीं, वेद ने गुलामी को पाप बताया है। अपने अधिकारों का छिनना, किसी के आश्रय पर जीना-ऐसे परतंत्र जीवन को वेद ने घृणित कहा है। वेद का आदेश है-

'अदीनाः स्याम शरदः शतम्,
अजिताः स्याम शरदः शतम्।'

हम अपने जीवन में किसी के गुलाम न हों, हम आयु पर्यन्त किसी से जीते न जाँय। इस के साथ ही भगवान् से प्रार्थना है कि-

'जो हमें गुलाम बनाना चाहता हो, वह अपना हो या पराया, उसे अपनी शक्ति से परास्त कर दो, चाहे उस की शक्ति आकाश की तरह फैली हुई ही क्यों न हो। तुम हमारे शत्रुओं के धनुषों की तनी हुई डोरियां वहीं पर काट दो!'

(ऋक् १०।१३३।५)

किसी भी राष्ट्र अथवा राज्य का आधार होती है,

जनता। जनता के सब सदस्यों को समानाधिकार देने और उन्हें सदा स्वतन्त्र रहने को कह कर वेद कहता है कि '**सब मनुष्य एक जैसे आंख कान रखते हुए भी एक, जैसी शिक्षा लेते हुए भी मानसिक विचारों में असम (आगे पीछे) हो जाते हैं।**' + इसलिए सारे कार्य को सुचारु रूप से चलाने के लिये; सारे देश को एक नियंत्रण में रखने के लिये और बाह्य आक्रमण एवं अनुचित हिंसा के विरुद्ध लडने के लिये वेद ने एक राजा की आवश्यकता बताई है।

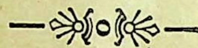
आप कहेंगे मानर्की (राजा की हकूमत) सदा असफल रही है और इस के अधीन प्रजा को बहुत दुःख झेलने पडे हैं। मैं मानता हूं; लेकिन जैसे राजा का उल्लेख वेद में है, उस के राज्य में ऐसी कोई संभावना नहीं। वैदिक राजा बनता नहीं; बनाया जाता है। प्रजा उसे चुनती है और वेद उस के सम्बन्ध में कहता है कि '**सर्वप्रेरक राजन्! तू तमाम प्रजा के अधीन होकर रह और सारी प्रजा तेरे अधीन होकर रहे।**' × वेद के इस आदेश में 'सर्वप्रेरक राजा' और 'राजा तमाम प्रजा के अधीन' की ओर विशेष ध्यान दीजिये। राजा के कर्तव्यों का उल्लेख करते हुए लिखा है-

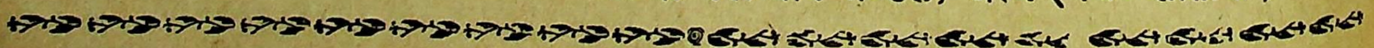
कृष्यै त्वा, क्षेमाय त्वा, रय्यै त्वा, पोषाय त्वा।
(यजु. ९-२२)

अर्थात् 'हम अपनी उपज की वृद्धि के लिए, अपने देश के कल्याण के लिये, अपनी सम्पत्ति की रक्षा के लिये और अपनी पुष्टि के लिए तुझे अपना राजा चुनते हैं।' इसके साथ ही वेद ने प्रजा को अधिकार दिया है कि यदि राजा इन कर्तव्योंको पालन न करे तो उसे बदल दिया जाय।

जैसे जैसे मनुष्य ने उन्नति की, वैसे वैसे समाज के अंगों में वृद्धि होती रही। इस लिये एक राजा के लिये सब विभागों की देखरेख करना असम्भव हो गया। ऐसी परिस्थिति के लिये वेद तथा मनुस्मृति ने समाज का पथप्रदर्शन करते हुये मन्त्री अथवा मिनिस्टर बनाने की योजना रखी। अथर्ववेद में असैम्बली अथवा धारा सभा बनाने का भी उल्लेख है।

+ ऋग्वेद १०। १७। ६
× यजुर्वेद ६।२३





वेदोंसेही वेदोंका स्वाध्याय

क्या यह संभव है ?

(लेखक- श्री० पं० नरदेवशास्त्री वेदतीर्थ, महाविद्यालय, ज्वालापुर)



वेदों को समझने के लिए हमारे शास्त्रकार, स्मृतिकार, ब्राह्मणकार आदियोंने अनेक प्रकार के साधन उपस्थित किये। वेद-वेदाङ्गों की सृष्टि इसीलिए हुई। नेक धर्मशास्त्र इसीलिए बनाये गये। स्मृतिग्रन्थोंकी, उपनिषदों की, ब्राह्मण-अनुब्राह्मणों की सृष्टि इसीलिए हुई। हमारे पूर्वजोंने वेदों की रक्षा के निमित्त अनेक प्रकार के मन्त्रपाठप्रकार नियत किये, जिससे वेदोंमें किसी प्रकार का भी मिश्रण न हो सके- उन पर स्वर बैठाये जिससे अर्थ का झमेला होकर कहीं अनर्थ न हो जाय।

वेदों की परम्परा इतनी प्राचीन, इतनी लम्बी रही है कि उस जैसी परम्परा संसार के इतिहास में कहीं भी देखने को न मिलेगी। वेदों की रक्षा के लिए ही वेदों के स्वाध्याय में ही जीवन अर्पण करनेवाले वेदपारग ब्राह्मणों की परम्परा भी इतनी विस्तृत है कि, यदि कोई उस इतिहास को लिखने बैठ तो एक विशालकाय ग्रन्थ बन सकता है। विचारणीय विषय यह है कि, इन सब साधनों के होते हुए भी वेदोंकी मीमांसा क्यों एक अज्ञेय मीमांसा हो रही है ? यदि वेद ईश्वरीय ज्ञान है- (नहीं नहीं, मैं भूलता हूं। मुझे यदि शब्दका प्रयोग नहीं करना चाहिए) तो फिर वेदोंके भाष्यकारोंमें इतनी विप्रतिपत्तियाँ क्यों? किसीने वेदोंको यज्ञपरक लगाया, किसीने इतिहासपरक लगाया, किसीने पुरातत्त्वकी अथवा पुराकालकी बात कहकर पुराकल्प के नाम पर इतिहास का समर्थन किया, किसीने आधिभौतिक, किसीने आधिदैविक, किसीनेआध्यात्मिक अर्थ कर डाला। विचारणीय बात यह है कि वेदों के विषयमें भाष्यकारों की ये विभिन्न दृष्टियाँ क्यों हैं ?

क्या इससे हम यह न समझ लें कि उस उस समय के भाष्यकारों ने जिस जिस परम्परा में जैसी शिक्षा प्राप्त की, वेदभाष्य का प्रतिबिम्ब भी उसी प्रकार का पडा। वेदामृत-पिपासु जन जब वैदिक ज्ञानपानद्वारा अपनी ज्ञान-पिपासा बुझाना चाहता है, तब वह यह देखकर चकित रह जाता है कि, वेदपारग विद्वान् भी वेदार्थ-प्रक्रिया के विषय में कितनी विभिन्न पद्धतियाँ का अनुसरण करते हैं !

वेद व्याख्यारूप अथवा शाखारूप ब्राह्मण-अनुब्राह्मण ग्रन्थों को देखिये, एक वार तो आप स्तम्भित हो उठेंगे। सायण देखिए, महीधर देखिए, उवट देखिए, आप चकित होंगे कि ये क्या हैं ? सायणाचार्य ने यज्ञपरक अर्थ करके एक विशिष्ट परम्परा की रक्षा की है- ये उनके उपकार हैं। अन्य भाष्यकारोंके विषय में विशेष चर्चा करने का यह अवसर नहीं। इस युग के प्रवर्तक स्वा० दयानन्दजी ने उसी प्राचीन साधनों से एक नई पद्धति का निर्माण किया है सही, पर अर्थक्रम देखकर जिज्ञासु अचम्भे में पड जाता है कि साधारण से साधारण ग्रन्थों में भी एक सुसंगत अर्थक्रम चलता है, क्या वेदों में कोई अर्थक्रम, विषयक्रम नहीं ? वेद ईश्वरीय ज्ञान है, इस अटल सिद्धांत को माननेवाले होने के कारण स्वामिजी ऐसा अर्थ, संसार के संमुख रखने की चिन्ता में थे जिसमें इतिहासमिश्रित यज्ञ अथवा यज्ञपरक इतिहास न हों।

उसके आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक अर्थ हों,

ऐसे अर्थ हों जिसमें से यह न निकले कि वेद किसी देश-विशेष, जातिविशेष की सम्पत्ति न हों, उसका ज्ञान त्रिकालाबाधित सत्य सिद्ध हो, वेदों के विषय में पाश्चात्य तथा पौरस्त्यों में जो अनेक कल्पनाएं प्रचलित हैं उनका निराकरण हो। सारांश, वेदों को सर्वथा निष्कलङ्क करनेकी चिन्ता के कारण श्री स्वामीजीने जिस पद्धति का आश्रय लिया वह एक प्रकार से ठीक था, किन्तु ऐसा करने में कुछ अंशों में पूर्वपरम्परा (जैसी भी प्रचलित थी) छोडनी पडी और कुछ अंशों में स्वीकार करनी पडी। 'ब्रह्मा से लेकर जैमिनि' पर्यंतकी पद्धतिको माननेवाले स्वामीजी स्वयं चकित रहे होंगे कि क्या करूं और क्या न करूं ! उनके अनुयायी तो अब भी चक्कर में पडे हुए हैं कि ब्रह्मा से लेकर जैमिनिपर्यन्त क्या क्या मानते थे, इसका निर्णय कैसे होगा, कौन कर सकेगा ? सारांश वेदार्थ-प्रक्रिया की बात आज भी अत्यन्त दुरूह हो रही है।

इसी को देखकर कभी कभी मेरे मनमें यह प्रश्न उठता है कि, क्या यह संभव है कि वेदों के अर्थों में सहायक सभी ग्रन्थों का आश्रय छोडकर केवल वेदों से वेदों का स्वाध्याय संभव है कि नहीं ?

जब वेद ही वेद थे, न वेदवेदाङ्ग थे, न और कोई साधन थे, तब भी तो उस समय के ऋषि मुनि वेदों को वेदों-द्वारा ही समझते होंगे। जैसे जैसे वैदिक पुरुषोंकी परम्परामें बुद्धि और पुरुषार्थका ह्रास होने लगा, नये नये वेदोपकरण बनते गये, वेदोपबृंहणकी पद्धति भी नये ढंगसे बन गई।

यदि वाचकवृन्द मैंने जो लिखा है उसका अनुसरण कर रहे हैं तो क्या मैं उनसे पूछ सकता हूं कि, आपकी समझमें वेदों को वेदों से ही समझना संभव है कि नहीं? मैं तो समझता हूं कि संभव है। इस लिखनेका यह अर्थ नहीं कि आप वेदवेदाङ्गों को न पढिए या अन्य साधन-सामग्री को एकत्रित न कीजिए, या अन्य पद्धतियों को न देखिये। यह भी अभिप्राय नहीं कि सर्वथा निरालम्ब हो बैठिए, या अन्य भाष्योंका अध्ययन न करें। इन सबको देखिए अवश्य, इन पर विचार करिए अवश्य, पर जब एक वार इनको देख जाइये और जब वेदों को हाथ में लीजिए तब इन ग्रन्थों का आश्रय छोड दीजिए - तब तपोध्यान-पूर्वक वेदों से ही वेदों को समझने का प्रयत्न कीजिए। मैं समझता हूं तब आपको विशेष आनन्द प्राप्त होगा।

वेदोंको वेदोंसे कैसे समझे ?

जैसे धातुपाठ में 'भू सत्तायाम्' इस से 'भू' धातु का अर्थ 'सत्ता' स्पष्ट रूपमें प्रतीत होता है और उसी से दूसरे धातु का अर्थ 'अस् भुवि' लग जाता है, इसी प्रकार धातुपाठ की रीतिसे जब हम मन्त्रों को मनन (मंत्रा मननात्) करने बैठेंगे, तब एक मन्त्रके शब्द दूसरे मन्त्रों के अर्थों को स्वयं खोलेंगे। एक वेद दूसरे वेद को समझने में सहायक होगा। ऐसा करने में हमको अद्या-वधि प्रचलित किसी भी वेदभाष्यकार का आश्रय लेने की आवश्यकता नहीं रहती। मैंने इस पद्धति का आश्रय लेकर यत्न किया है और मुझे तो अवर्णनीय आनन्द मिला है। उस आनन्द को मैं अन्यों तक पहुंचाने में अ-समर्थ हूं, क्योंकि मेरे पास उस प्रकारके साधन नहीं हैं। वेदोंसे वेदों को समझने की पद्धति से कोई विद्वान् किसी सम्प्रदाय से चिपटा नहीं रहता, प्रचलित किसी पद्धति से चिपका नहीं रहता, वह किसी व्यक्तिविशेष के विचारों से, समुदायविशेष के विचारों से व्यर्थ बंधा नहीं रहता, यह है मथितार्थ मेरे लिखनेका-यह है अभिप्राय इस प्रश्नको वैदिक विद्वानों के संमुख रखनेका। मैं आशा करता हूं कि वेदानुरागी विद्वान् इसप्रश्न पर गम्भीर रीतिसे विचार करें। कृपया मन में यह विचार कभी न लाइये कि ऐसा लिखने से मैं पूर्वपरम्परा का अनादर कर रहा हूं। मेरे शीर्षक को ध्यानपूर्वक पढिए। उसमें वेदोंसे ही वेदों की स्वाध्याय की बात है।

जो लोग विद्वान् हैं, कृतपरिश्रम हैं, वे इस पद्धतिसे आनन्द-लाभ करेंगे। यह तो अपने आनन्द लूटने की बात है। चाहे हम अन्यों को समझाने में भले ही असमर्थ हों। इसमें हमारा क्या घटताहै- 'वेदोऽखिलो धर्ममूलं'-वेद ही समस्त धर्मों का मूल है, 'सर्वं वेदे प्रतिष्ठितम्' भूत भविष्य वर्तमान का समस्त मनुष्योपयोगी ज्ञान वेद में ही है। 'वेदश्चक्षुः सनातनम्' वेद ही सनातन चक्षु है, इत्यादि बातों को स्वयं समझकर (वेदों से वेदों को जानकर) आनन्द प्राप्त करना हो तो आप हमारे बताए हुए उपाय को काम में लाकर देखिए- बस आज इतनाही। विशेष व्याख्या फिर कभी। आवश्यकता होगी तो, लिखने के लिए समय मिला तो, भीतरवालेने लिखने के लिए विवश किया तो लिखेंगे।

रूस में दो हिन्दू मन्दिर।

[लेखक- श्री० पं० प्रतापनारायण चतुर्वेदी]

"It is there (India) we must seek not only for the cradle of the high civilization of the Hindus, which gradually extended itself in the west to Ethiopia to Egypt, to Phoenicia, in the East to Siam to China and to Japan, in the South, to Ceylon, Java and Sumatra, in the North, to Persia to Calde and to Colchis whence it came to Greece and to Rome and at length to the remote abode of the Hyperboreans." Theogoney of Hindus.

अर्थात् "हिन्दुओं की उच्चतम सभ्यता के इस मूल स्रोत का उद्गम हमें भारतवर्षमें ही मिलेगा जो धीरे धीरे पश्चिममें ईथियोपिया (अबीसीनिया) मिश्र, फिनीशिया; पूर्वमें स्याम, चीन और जपान, दक्षिणमें लंका, जावा और सुमात्रा, उत्तर में ईरान, कालडिया और कोलचिस जहाँसे उसका फैलाव ग्रीस और रोम तक ही नहीं, बल्कि सुदूर हाइपर बोरियन लोगों तक में प्रचलित हो गया था।"

इस लेख में हम रूस के दो हिन्दू मन्दिरों का वर्णन करते हैं।

रूस में कास्पियन सागर के तट पर बाकू नाम का एक शहर है, जो अपने मिट्टी के तेल के कारखानों के कारण संसार में प्रसिद्ध है। महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने अभी हाल में रूस की यात्रा की थी और बाकू के हिन्दू मन्दिर का जो वर्णन उन्होंने लिखा है, उसे हम उनकी पुस्तक **सोवियत भूमि** से उद्धृत करते हैं-

"अब मैं उसी ज्वालामाई के मंदिर के द्वार पर हूँ! मंदिर के फाटक पर नीचे का लेख (पाँच पंक्तियों) में इस प्रकार है—

"॥६०॥ ओं श्रीगणेशाय नमः॥ इलो १
क॥ स्वस्ति श्री नरपति विक्रमादित रा २
ज साके॥ श्री ज्वालाजी निमत दरवा ३
जा वणायाः अतीकेचन गिर सन्यासी ४
रामदहा वासी कोटेश्वर महादेव का॥ ...
आसोज बदि ८। संवत् १८६६॥" ५

चान्द्र तिथि, 'निमित' और 'बणाया' पर ख्याल करने से मालूम होता है, अतीकेचन गिर हरियाना या कुरुक्षेत्र के समीप के रहनेवाले थे। दरवाजा खोलते वक्त तवारिश अना ने कहा— "यह न-जाने कब के और कहाँ के अक्षर हैं। बडे बडे प्रोफेसर देखने आये; किन्तु कोई नहीं पढ सका।"

मैंने कहा—"यह उत्तरी भारत में सर्वत्र प्रचलित हिन्दी भाषा तथा नागरी लिपि का लेख है। सन् १८०९ में-सवा सौ वर्ष पूर्व—दरवाजा बनवानेवाले साधु ने इसे लगवाया है।"

अना ने बहुत आश्चर्य प्रकट किया मेरे अगाध लिपि-ज्ञान पर।

"आश्चर्य की कोई बात नहीं। यह अक्षर भारत में इतने ही सुपरिचित हैं, जितने रूसी अक्षर रूस में! आपके साथ आनेवाले प्रोफेसर लोगों का विषय भारतीय लिपि न रहा होगा।"

बुढिया ने दरवाजा खोला। भीतर बडा आँगन है, जिसके बीच में एक चौकोर पक्का मण्डप है। भारत के सभी मठों की भाँति आँगन चारों ओर से साधुओं के रहने की कोठरियों से घिरा है। शायद लकडी की महँगाई से अथवा मजबूती के खयाल से सभी कोठरियों की छतें चुने-पत्थर के पटाव या लदाव की मेहराबदार बनी हैं। कितनी ही कोठरियों पर बनवानेवाले दाताओं के नाम के शिलालेख लगे हैं। इनकी संख्या दस-ग्यारह होगी, जिनमें दो गुरुमुखी के भी हैं। इनके लेखक पंजाब के उदासी साधु थे। समय इतना नहीं था कि मैं और लेखों को पढता और नकल करता। मण्डप में जाकर खडा हुआ। वहाँ चौकोर हवनकुण्ड सा अब भी मौजूद है, पर अब ज्वालामाई नहीं हैं। तवारिश अना ने बतलाया— "दस वर्ष तक यहाँ अग्निज्वाला निकलती थी।"

मैंने पूछा- "ज्वाला बन्द कैसे हुई?"

" स्वाभाविक गैस यहाँ से धरती फोड कर निकलती रही होगी, जैसा कि अकसर तेल-क्षेत्रों में देखा जाता है। धरती के नीचे रगड खाकर या बाहर से किसी के आग लगाने से गैस जल उठी होगी। एक बार जल जाने पर ऐसी गैस का रोकना है तो चलती बारूद के ढाँकने जैसा ही खतरनाक; पर अब कुछ उपाय मालूम हो गये हैं, जिनसे इस ज्वाला को शान्त किया गया होगा। "

मुझे ज्वालामाई के अन्त पर बडा अफसोस हुआ-- विशेष कर यह ख्याल करके कि बडी ज्वालामाई यही थी, काँगडेवाली तो छोटी ज्वालामाई हैं।

कितनी ही कोठरियों को भीतर से जाकर देखा। किन्हीं किन्हीं की दीवारों पर अब भी प्लास्तर है; जिस पर कुछ भद्दी मूर्तियाँ अँकित हैं। किन्हीं किन्हीं में साधुओं के आसन लगाने के चबूतरे भी हैं। कहीं कहीं धूनी की आग की राख भी मौजूद है। यहीं चलती धूनी के किनारे विशाल जटाधारी साधु दिग्दिगन्त से घूमते आकर बैठते होंगे। यहीं सुल्फे और गाँजे की चिलम पर चिलम चढती होगी, और सन्तजन पल्थी मारे अपनी अपनी यात्रा के अतिरंजित वर्णन सुनाते रहे होंगे। इसमें तो शक ही नहीं कि अहिन्दू देशों में से होकर भारत से बाकू आना, उस समय बडी हिम्मत का काम था।

हमने ज्वालामाई के मंदिर से बिदाई ली।

दूसरा मंदिर रूस साम्राज्य के अन्तर्गत कैस्पियन नामक प्रान्त में है। उस प्रान्त में रेस्ट नाम का एक नगर है। उसी नगर में प्राचीन एक देव-मंदिर है। इसमें सन्देह नहीं कि मंदिर पुराना है। पर उसमें प्राचीन समय के चिह्न अब नहीं रहे। क्योंकि उसकी कई बार मरम्मत करवायी जा चुकी है और बार बार की खुदाई, बनवायी से उस मन्दिर की बनावट का प्राचीनत्व लोपसा हो गया है।

उस मन्दिर के चारों ओर छारदीवारी है। उसका प्राचीन हिस्सा पत्थर का और नया भाग, ईंट, चुना, मिट्टी और लकडी का है। मन्दिर में एक पुराने किवाडों की जोडी है। उसे वहाँवाले उस समय की बनी बतलाते हैं-- जिस समय वह मन्दिर बना था। उस जोडी की लकडी इतनी पुरानी हो गयी है कि उसकी लकडी चुटकी से मलने पर मैदा की तरह पिस जाती है।

मन्दिर का शिखर ४० फीट ऊँचा है। मन्दिर के सभा-मण्डप में २० फीट की ऊँचाई पर लोहे के कडे के एक घण्टा लटक रहा है। उस घण्टे पर एक ओर पाँच पंक्तियों में एक लेख खुदा हुआ है। प्रत्येक पंक्ति में लगभग १९ अक्षर हैं। पर उन अक्षरों की लिखावट भारतवर्ष की किसी भाषा की लिखावट से नहीं मिलती।

मन्दिर के भीतर की दीवालों पर चारों ओर अनेक प्रकार की देव-मूर्तियाँ हैं। उनकी आकृति और बनावट आर्यों की मूर्तियों जैसी है। उस मन्दिर के बीच में एक पिण्डी है-- जिसे लोग शिव-पिण्डी कहते हैं। उसकी बनावट यहाँ की शिव-पिण्डियों से बहुत कुछ मिलती भी है। इसके अतिरिक्त विष्णु के चौबीस कच्छ-मच्छ आदि के अवतारों की भी मूर्तियाँ वहाँ हैं। इसके अतिरिक्त गणेश, भैरव और दश महा-विद्या भी हैं।

इस मन्दिर में सबसे बढ कर आश्चर्य की बात यह है कि यक एक ज्वालामुखी पहाड के ऊपर बनाया गया है। रात के समय जब छोटी छोटी अग्नि की लपटों से उस मन्दिर में उजेला होता है, तब दृश्य को देख कर, मन बहुत प्रसन्न होता है। मन्दिर के सिंह-द्वार पर एक पत्थर जडा हुआ है। उस पर भी घंटे जैसी लिखावट की पाँच पंक्तियों में कोई लेख खुदा हुआ है। उस पत्थर में वर्ष-सूचक संख्या भी खुदी हुई है। लोग उस मन्दिर को गाण्डीवधनुषधारी अर्जुन का बनवाया हुआ बतलाते हैं। जो हो इसमें सन्देह नहीं कि मन्दिर बहुत पुराना है।

एक बार अमेरिका के एक थियासोफिस्टसाहब वहाँ पहुँचे थे। वे लिखते हैं कि, उस मन्दिर की पूजा भारत-वर्ष के ब्राह्मण द्वारा करायी जाती है। पूजा का ढङ्ग भी यहाँ की पूजा के ढङ्ग से बहुत कुछ मिलताजुलता है। उस मन्दिर में गृहस्थ ब्राह्मण नहीं रहने पाते। ब्रह्मचारी ही का वहाँ निर्वाह होता है। इसीलिये समय समय पर भारतवर्ष से पूजा करने के लिये ब्राह्मण बुलाने पडते हैं। उस मन्दिर का सारा खर्च उस इलाके का जमींदार देता है। "

यज्ञचिकित्साके संबंधमें कुछ सूचनाएं।

डा० फुन्दनलालजी, M. D., बरेली, आज कल यज्ञ-द्वारा तपेदिक आदि की चिकित्सा का प्रयोग करने के यत्न में हैं। उन्होंने आज तक कई लेख इस विषयपर प्रकाशित किये हैं, और कई वार रोगियों पर यज्ञचिकित्सा के प्रयोग भी किये हैं।

डा० फुन्दनलालजी अपने लेख **वैदिक धर्म** मासिक में प्रकाशनार्थ भेजना चाहते हैं, जो अगले महिने से क्रमपूर्वक प्रकाशित होते रहेंगे। जो पढकर पाठक उनका प्रयोग भी स्थान स्थान पर कर सकते हैं और लाभ भी उठा सकते हैं।

डा० फुन्दनलालजी के लेखों से यह सब को विदित हो चुका है कि, जहां अन्य चिकित्सा कार्य नहीं करती, वहां यज्ञचिकित्सा से बडा लाभ होता है।

पं०रामप्रतापजी आर्य, लाहौर, लगभग पद्रह वर्षोंसे दमा के रोगसे बहुत कष्ट उठाते रहे, चलना फिरना भी असंभव हो गया था। बहुत ओषधियां करने पर भी आराम न हुआ। पर एक विशेष प्रकार की सामग्री से हवन करनेसे १॥ वर्ष में बिलकुल आराम हो गया। कई ऐसे उदाहरण हैं।

इन सब का विचार और प्रचार करनेके लिये "**यज्ञ-चिकित्सा प्रचारक-मण्डल, भूड, बरेली**" में स्थापन हुआ है। यह मण्डल स्थान स्थान में मुफ्त यज्ञचिकित्सा-लय खोलकर यज्ञचिकित्सा-पद्धतिका खूब प्रचार करेगा। स्थान स्थान पर रोगियों के लिये विविध यज्ञ करने का प्रबन्ध करेगा। रोगियों की चिकित्सा विना फीज लिये होगी। इस विषय में उनका प्रसिद्धि-पत्रक जो प्रकाशित हुआ है, वह हम नीचे देते हैं—

"आप लोगों में से बहुतों को क्या यह मालूम नहीं है कि हमारे सब प्राचीन ग्रन्थ यज्ञ की प्रशंसासे भरे पडे हैं, तथा उस समय में महान् से महान् कार्य यज्ञों द्वारा ही सिद्ध होते थे। हर्ष की बात है कि इस कलिकाल में भी जब कि हम यज्ञ से विमुख हो दुखी हो रहे हैं, श्री० **डा० फुन्दनलालजी**, एम्. डी. डी. एस. एल. एम. आर. ए. एस (लन्डन) विशेषज्ञ अर्श तथा तपेदिक चिकित्सक भूड, बरेली ने बीसों वर्ष के कठिन परिश्रम के पश्चात् यज्ञ-चिकित्सा से तपेदिक (राजयक्ष्मा) इत्यादि कठिन रोगों को दूर करके यज्ञ की महिमा को पुनः जीवित कर दिया है।

परन्तु इस चिकित्सा-विधि में एक एक रोगी की पृथक् पृथक् चिकित्सा करने पर व्यय अधिक पडता है। जिससे जन साधारण लाभ नहीं उठा रहे हैं। चूं कि इस समय देश में तपेदिकसे बहुतसे होनहार नवयुवकों की मृत्यु हो रही हैं, अतः 'यज्ञ-चिकित्सा-प्रचारक मण्डल,' बरेली ने निश्चय किया है कि स्थान स्थान पर इसके बिलकुल मुफ्त चिकित्सा-लय व स्वास्थ्य-गृह (Sanitorium) खोले जावें। जिन में अखण्ड यज्ञ हुआ करे और रोगियों के रहने तथा चिकित्सा की प्रत्येक वस्तु बिलकुल मुफ्त दी जावे। प्रशंसित डा० साहब ने ऐसी संस्थाओं में बिना किसी फीस के चिकित्सा करना स्वीकार कर लिया है जिससे बहुत बडे व्यय की बचत हो गई है। बस अब मकान और यज्ञ-सामग्री की आवश्यकता है, जिसके लिये पुष्कल दान देकर अखण्ड यज्ञ को शीघ्र प्रारम्भ कराइये और निराश रोगियों का आशीर्वाद लीजिये।"

सदस्य बनने का फार्म।

श्रीमान् मन्त्री जी!

यज्ञ-चिकिसा-प्रचारक मण्डल, भूड, बरेली।

मैंने आप के मण्डल के उद्देश्य व सदस्य बननेके नियम समझ लिये हैं। कृपया मेरा नाम संरक्षक, परमहितैषी, हितैषी, प्रतिष्ठित, साधारण सभासदों में लिख लीजिये।

हस्ताक्षर.......................

पूरा पता

उद्देश्य— यज्ञचिकित्साका प्रचार करना और इसके लिये स्थान स्थान पर मुफ्त चिकित्सालय खोलना तथा एक बडी प्रयोगशाला व स्वास्थ्य-गृह (Sanitorium) स्थापित करना।

सब पत्रव्यवहार निम्न लिखित पतेपर किया जाय—

विश्वमित्र मंत्री- यज्ञचिकित्सा-प्रचारक मंडल,
भूड (बरेली)

विशेष रोगसम्बन्धी निवेदन करना हो तो निम्न लिखित पतेपर करें—

डा० फुन्दनलालजी, M. D., बडा बाजार, बरेली।

अरुन्धती।

(लेखक- श्रीयुत वासुदेवशरण अग्रवाल, एम. ए., लखनौ)

विवाह-संस्कार के समय वधू को अरुन्धती, सुमंगली, सम्राज्ञी, प्रजावती, स्योना, शंभू आदि अनेक विशेषणों से पुरस्कृत किया जाता है। समाज के सब प्रतिनिधि, ऋत्विक्, पुरोहित लोग, दोनों परिवारों के कुटुम्बी जन, आदि समस्त उपस्थित सदस्य उस नव अवगुण्ठिता कुमारी पर अपने शुभ वचनों की वर्षा करने में स्पर्धा करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि स्वर्ग और मर्त्य लोकमें जितनी शांति और सुखसमृद्धि है, सब एक साथ ही यज्ञ-मंडप में नववधू के रूप में मूर्तिमती हो जाती है। सब लोकों की प्रतिष्ठा, सब आचार-धर्मों की प्रतिष्ठा, समाज और जाति की दृढ स्थिति और आश्रमों की सुन्दर अवस्थिति का पुञ्जीभूत हेतु जिस समय लोगों के सम्मुख उपस्थित होता है, सबके अन्तस्तल से आशीर्वाद की मधु-धाराएं यह कहती हुई बहने लगती हैं कि, " हे भगवन्! आज जिन शिव आयोजनों का सूत्रपात हुआ है वे जन्मपर्यंत असम्बाध रूपसे चलते रहें, जिससे वर-वधूकी यह मंगलमयी मूर्ति तीनों ऋणों का अपाकरण करके स्वहित और परहित में पारंगत हो। "

इन सब सदाशाओंका एक-मात्र रहस्य-सूत्र 'अरुन्धती' शब्द है। ध्रुव-दर्शन से पूर्व वधू को अरुन्धती का दर्शन भी कराया जाता है, पौराणिक उपाख्यानों में अरुन्धती का दर्शन भी कराया जाता है। पौराणिक उपाख्यानों में अरुन्धती महर्षि वशिष्ठ की धर्मपत्नी हैं, जिनके लिये महाकवि भवभूतिने-

'त्रिलोकीमांगल्यामुषसमिव वंदे भगवतीम्।'

कह कर प्रणामाञ्जलि अर्पित की है। ध्रुव-दर्शनका प्रयोजन यह बताने का है कि, इस भंगुर और परिवर्तनशील जगत् में नाश को प्राप्त हो जानेवाली भौतिक वस्तुओं के बीच में आत्म-तत्त्व ध्रुव है, जिसकी अशेष अभिव्यक्ति और साधना वधू के प्रेम आदर्श में है। अध्रुव वस्तुओं के द्वारा जिसने उस ध्रुव वस्तु को नहीं पा लिया, उसने जन्म लेकर और सामाजिक संस्कारों के प्रपञ्चों में पड कर भी क्या किया? इस ध्रुव सौभाग्य की प्राप्ति का मूल-मन्त्र अरुन्धती है। यदि विवाह के अनन्तर जीवन के सब व्यवहारों में स्त्री अरुन्धती बनकर रहे, तो विवाह-यज्ञ से जिन पुण्य-फलों के फलने की आशा की गई थी, उनकी अबाध संपत्ति हो।

अरुन्धती= Unresisting.

अरुन्धती के शब्दार्थ में ही स्त्री के लिये उपदेश का सागर भरा हुआ है। इसी में उसका जीवन-विधान (Code) है। अरुन्धती वह है जो मनसा, वाचा, कर्मणा किसी भी तरह अपने पति की इच्छा, ज्ञान और क्रिया को रूंधे नहीं। जिस पत्नीने अन्नमय, प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय कोषों में अपने पति को अरुंधती (Unresisting) रहने का मर्म जान लिया है, उसने ही अध्रुव काय-संयोग में ध्रुव आनन्द की संप्राप्ति की है। पति की इच्छा ज्ञान क्रिया या त्रिविध शक्ति का विकास इन्हीं कोषों में है, यथा-

अन्नमय }
प्राणमय } = क्रिया
मनोमय = इच्छा
विज्ञानमय = ज्ञान

जो पत्नी सदैव सर्वत्र अरुन्धती अर्थात् अनुकूल है वह ही पति के साथ सौ फी सदी तन्मयता प्राप्त कर सकी है।

विवाह क्या है?

भारतीय आदर्शों के अनुसार विवाह ऐसी तन्मयता की स्थिति या सम्मिलन (Fusion) हैं, जिसमें पति और पत्नी दो से एक हो जाते हैं। यह तन्मयता (Fusion) जितनी ही सर्वाङ्गीण हो, वैवाहिक आदर्श की उतनी ही ऊँची विजय है। प्रत्येक पति-पत्नी को यह अपने लिये स्वयं निर्धारित करने की बात है कि वह किस

कोटि की तन्मयता प्राप्त करेंगे। संसार में किसी तीसरे व्यक्ति के लिये इसमें जगह है ही नहीं। प्रेम के आदर्श में सब को यथाशक्ति ऊँची उडान भरने का मार्ग खुला है, जो जहाँतक पहुँच सके।

यदि हम भारतीय विवाह-संस्कार को ध्यान से देखें तो उसमें कितनी ही तरह से पति-पत्नी के इस एकीभाव सम्मिलन की ओर संकेत किया गया है। पति और पत्नी जिस पुरोडाश को यज्ञमें डालते हैं वह कपाल में संस्कृत होता है। यज्ञ की लाक्षणिक परिभाषाओं में कपालों का बडा महत्त्व है। पति पत्नी से एक कपाल संस्कृत पुरोडाश में एकत्वभाव की चरमव्यञ्जना है। यदि जीवन के सब कर्मों को यज्ञ कहा जाय, तो गृहस्थ के सब प्रयत्न उसमें पुरोडाशरूप हैं। यह सदा स्मरण रहे कि, उस पुरोडाश की सामग्री और यज्ञ से पुण्यफलों में प्रत्यक्षतः पति चाहे कितना ही अग्रणी क्यों न प्रतीत हो, वस्तुतः पति पत्नी दोनों का ही उसमें समांशभाग है।

एकत्व के अन्य निदर्शन द्यावापृथिवी, उत्तरारणि, अधरारणि, शमीगर्भ, अश्वत्थ आदि हैं। द्यावापृथिवी माता-पिता रूप हैं। द्युलोक पिता और पृथिवी माता है, जिनके संमनस् होने से ही वृष्टि आदि प्रजोत्पादक कर्म होते हैं। यज्ञ में दोनों अरणियों के संयोग से ही यज्ञाग्नि निर्मथित होती है। पति उत्तरारणि और पत्नी अधरारणि है। विवाह-यज्ञ में पति के साथ संयोग को प्राप्त होने से स्त्री की पत्नी संज्ञा होती है। पति-पत्नीरूप अरणियों के परस्पर निर्मथन से संतानरूप अग्नि उत्पन्न होती है। छान्दोग्य उपनिषद् के शब्दों के भाव के अनुसार विधाता की ब्रह्माण्ड-व्यापी प्रयोगशाला (Laboratory) में पुरुष-रूप धनविद्युत् और योषारूप ऋणविद्युत् के सम्मिलन से जो अग्निस्फुलिंग प्रदीप्त होता है, वही संतान है, जिससे सृष्टियज्ञ विस्तीर्ण होता है। शतपथ-ब्राह्मण में इसी एकता का और भी सुन्दर वर्णन है।

यथा—

योषा वै वेदिर्वृषा अग्निः। (श० ब्रा० १।२।५।१५)

अर्थात् जैसे विधिपूर्वक चयन को प्राप्त हुई वेदि सुसमिद्ध अग्नि से मिलकर ही फलवती होती है, वैसे ही विवाह-यज्ञ के द्वारा वृषशक्तिसम्पन्न पुरुषके साथ तन्मयता को प्राप्त हुई योषित् ही प्रजावती होती है।

इस प्रकार विवाह के द्वारा पत्नी पति से संयुक्त होकर उसके साथ अधिक से अधिक तन्मयता की स्थिति प्राप्त करने का आदर्श अपने सामने रखती है। वह अपने शरीर का उसके शरीर के साथ सम्पर्क होने से किसी दिव्य सुख का अनुभव करती है। परन्तु शारीरिक संयोग विवाहोदित सम्मिलन का केवल एक परिमित अंश है। हिन्दू आदर्शों ने विवाह-सम्बन्ध को बहुत ही अभ्यर्हित और पुनीत माना है। पत्नी पति के प्राणमय, मनोमय और विज्ञान-मय कोष के साथ भी अभिन्न हो जाती है। इस एकात्म-भाव का नाम प्रेम है। यदि उसकी जडें विज्ञानमय कोष तक पहुँच चुकी हैं, तो पत्नी अपने आपको सर्वांश में पति की सत्ता में विलीन करके अपनी पृथक् सत्ता के आभास को खो देती है। उसे इसी भावना में आनन्द प्राप्त होता है। जब प्रेम की बहिया भरपूर हो, तब यदि पत्नी को अपनी प्रथम सत्ताको अनुभव करने पर बाध्य किया जाय तो उसको मर्मस्पर्शी दुःख होता है। प्रेमकी इस स्थिति में यदि पति पत्नी को आप कह कर सम्बोधन करें, तो उसे वेदनात्मक अनुभूति होती है। यदि ध्यान के साथ देखा जाय तो पुरुष के साथ तन्मय होने के लिये स्त्री अपनी पृथक् सम्पत्ति, बुद्धि, विचार सब की तिलाञ्जलि दे देती है। धर्मशास्त्रों ने इसी के लिये कहा है —

यो भर्ता सा स्मृतांगना।

कुमारसम्भवमें ऋत्विक् ने अग्नि को साक्षी करके पार्वती को उपदेश दिया है—

वधूं द्विजाः प्राह तवैष वत्से
वह्निर्विवाहं प्रति कर्मसाक्षी।
शिवेन भर्त्रा सह धर्मचर्या
कार्या त्वया मुक्तविचारयेति।

अर्थात् हे पुत्रि! आज अग्नि को साक्षी करके तुमने विवाह-व्रत की दीक्षा ली है। देखो, आयुपर्यंत मुक्त विचार होकर शिव के साथ धर्माचरण करते रहना।

इस उपदेश में मुक्तविचारपद विशेष अर्थ की प्रतीति कराता है। स्त्री को पति के साथ जीवन-धर्म का पालन करने में अपने विचार को छोड देना है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि वह सब काम बुद्धि-हत के समान जडता

के साथ करे, बल्कि इसका प्रयोजन यह है कि वह पति के साथ मानसिक क्षेत्र में (Psychological Plane) ऐसी संमनस् हो कि उस में विपरीत और विरोधी विचारांकुर कभी न फूटने पावें, और प्रेममय जीवन की सरसता सदा अक्षुण्ण बनी रहे। वह मुक्त-विचारता की स्थिति ऐसा अभिलषित दास्य भाव है जिसे स्त्रीने बडे चाव से स्वयं ओढ लिया है (या शब्दों के मूर्ति शिकञ्जे में कस कर उसे दास्य-भाव भी क्यों कहा जाय) यह एक ऐसी विलक्षण स्थिति है जिसकी कालिदासने ' गृहिणीः सचिव सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ ' (रघुवंश ८। ६७) आदि अमर शब्दों में की है। यह स्थिति तभी प्राप्त हो सकती है जब स्त्री वाङ्मनःकाय से पति की अविरोधिनी या अरुन्धती बन जाती है। इसी हालत में वह मुक्तविचारवाली होकर भी परम स्वतंत्रता और आनन्द का उपभोग करती है। स्त्री के इस प्रकार आत्मसमर्पण करने का कारण क्या है? इस प्रश्नका उत्तर पानेके लिये हमें यह विचारना चाहिये कि—

पति कौन है ?

यदि हम जान पावें कि स्त्री के मन में उस पुरुष के प्रति क्या भाव होते हैं जिसे वह अपना हृदय-सम्राट् मानकर पतित्व के उच्चासन पर अधिष्ठित करती है, तो हमें इस रहस्य का भी कुछ ज्ञान हो सकेगा कि क्यों उसकी एकान्त आराधना में वह एकदम अपनी सारी सुधबुध खो देती है। यह याद रखने की बात है कि विवाहोत्तर काल में पति के दास्य या सख्य-भाव प्राप्त करने की बात केवल भारतवर्ष के विचारकों की कल्पना ही नहीं है, वरन् यह बात इतनी स्वाभाविक है कि पाश्चिम देशों में भी विवाह के प्रारम्भिक वर्षों के दाम्पत्य-जीवन में पत्नी को ऐसी ही आत्मसमर्पणता पाई जाती है। वस्तुतः पति का जो आदर्श स्त्री के मन में बैठा होता है, उसका फल सिवाय ऐसी स्थिति के स्त्री के लिये और कुछ हो ही नहीं सकता। तटस्थ व्यक्ति के विचार में स्त्रियों की अधिकार की दृष्टि यह स्थिति कितनी ही विषाद-मिश्रित क्यों न मालूम हो, स्वयं पत्नी के वैवाहिक मधु-जीवन का सार इसी में है कि वह पति के साथ अधिकाधिक तन्मय होकर अपनी कही जानेवाली चीजों के पृथक अस्तित्व को उसी में विलीन कर दे।

भारतीय ऋषियों ने इस सम्मिलन की कल्पना एक के रूप में की और यह सिद्धान्त स्थिर किया कि प्रेम की यह प्रगाढ घनिष्ठता यौवनेन्द्र के चपल क्षणों तक ही परिमित न रह कर धर्म के अलंघ्य बन्धनों और व्रतों से दृढी-भूत होकर, आयुपर्यंत गृहस्थ-सत्र की प्रफुल्ल शांति को बढाने-वाली हो, यौवन-कुसुम जरा के फल-परिपाकों तक पहुंचे, बिना बीच में ही न कुम्हलाते पावे। इस बात की चिंतामें भारत के जरठ मनीषियों ने गृहस्थ--नौका को तरुण प्रेम के अनिश्चित थपेडों पर निर्भर छोडना उचित नहीं समझा। उसे एक निश्चित लक्ष तक पहुंचा सकने में ही ऋषिऋण (Cultural heritage), पितृऋण (Race-propagation) और दैव-ऋण (Material needs of life) से एक साथ उऋण होकर समन्वय-प्रधान धर्मकी रक्षा सम्भव थी। इस यात्रामें जब तक स्त्री–पुरुषका अरुन्धती-भाव अक्षुण्ण बना है, तभी तक उनका प्रेम अखंडित रहता है। भारतीय आदर्श यह है कि, ऐसा अखंडित प्रेम न केवल इस जीवनकी ही सामग्री हो बल्कि जन्मान्तरमें भी उसके बन्धन विश्लथ न होने पावें। जीवन, शरीर और इस जगत् की वस्तुओं को संतत परिवर्तनशील और भंगुर मानते हुए भी प्रेम के अमर साम्राज्य में काल की नश्वरता को सदा सदा के लिये बन्दी बना डालने का कैसा सुन्दर भाव एतद्देशीय वैवाहिक आदर्श में पाया जाता है।

एक बार का उत्पन्न हुआ प्रेम कभी मरने के लिये नहीं होता, क्योंकि उसके श्रीगणेश करनेवाले विवाह-यज्ञ में अग्नि को साक्षी देकर हमने जिस सत्य-संधिता के साथ दाम्पत्य-ग्रन्थि को बांधा था, वह सत्य स्वयं भगवान् के रूप में अजर अमर है। यदि शारीरिक जरा से आक्रान्त होने पर भी मनुष्य की मानसिक सत्य-संधिता में कोई विकार नहीं हो पाया है, तो काल में क्या सामर्थ्य है कि वह प्रेम के दीप को बुझा सके? मृत्यु का प्रभाव शरीरपर है। प्रेम तो मन की वस्तु है, इसलिये जन्म-जन्मान्तर में भी उसकी विजय-वैजयन्ती अपनी उषःकालीन भाषित कान्ति के साथ शश्वत् फहराती रहती है। इसलिए भारतीय विवाह-विधि में सम्बन्ध-विच्छेद की गुंजायश नहीं है। विषयविलास की उन्मादिनी प्रवृत्तियों पर संयम का

बंधन नितान्त आवश्यक है; यदि विषय-भोगों के अपस्मारिक कुचक्रों में पडकर प्रेम-ग्रन्थि के झटपट तोड डालने को हम एक बार भी न्याय्य और धर्म मान लेते हैं, तो इस उच्छृङ्खलता का कहाँ अन्त होगा, इस प्रश्न का उत्तर बडा निराशापूर्ण और विषादमय है।

पति।

जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सबसे कठिन समस्या अनुरूप मनुष्य को पा लेने की है। बिना उपयुक्त मनुष्य की प्राप्ति के कोई भी आयोजन या संस्था सफल नहीं हो सकती। राजनीति में मुख्य प्रश्न शासन की एकतन्त्रता या प्रजातंत्रता नहीं है। इस झगडे को मिटा लेना आसान है। यह तो युग-विशेष के आदर्शों के साथ बदलता रहता है। कभी लोग राजतंत्र में प्रीति रखते, कभी संघ-शासन में। परन्तु इन क्षुल्लक झगडों से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण उपयुक्त राजा या राष्ट्रपति की प्राप्ति है। यह प्रश्न सदा एकसा बना रहता है। क्या हुआ जो आज सर्वत्र डेमोक्रैसी का दुन्दुभिघोष है, यदि हमारे शासक या प्रतिनिधि उस ढंग के जितेन्द्रिय और परार्थनिरत पुरुष नहीं हैं, जिनके चरणों में सर्वस्व अर्पण करके हम निश्चिन्त हो सकें। प्रजातन्त्र के पृष्ठपोषकों का यही रोना है कि प्रजारञ्जन को प्रमुख धर्म माननेवाले त्यागी तपस्वी व्यक्तिओं को हमारे आधुनिक संगठन में जगह नहीं मिल पाती। कुटिल राजनीतिज्ञ और अपनी जाति का स्वार्थ साधने में सने हुए शासकों को प्रजा अपना गणपति (Republican Head) कैसे मान सकती है? संगीनों के बल पर प्रजा के शरीर का स्वामित्व आधुनिक राष्ट्रपतियों को प्राप्त है, प्रजा के मनोमय कोष के साथ उनका तादात्म्य नहीं है।

इसलिये उन्हें अरुन्धती प्रजा का पति नहीं कहा जा सकता। भारतीय लोग भी गणपति की उपासना करते थे। उनके गणपति के आदर्श, ऋषि या रघु-सदृश नृपति थे। वेदों में लिखा है-

गणानां त्वा गणपतिं हवामहे,
प्रियानां त्वा प्रियपतिं हवामहे,
निधीनां त्वा निधिपतिं हवामहे,

अर्थात् समाज में जितने वर्ण, आश्रम, पूग, श्रेणी, संघ, आचार्य, ग्राम, नगर, जनपद, आदि अथवा अज्ञात गण (Groups) हैं, उनका गणपति (Leader, Head) अवश्य होना चाहिये। जिसका हम गणपतिरूपसें आह्वान करते हैं, वही हमारे समस्त प्रियों (Interests) का भी प्रियपति या प्रतिनिधि है। ऐसे व्यक्ति के हाथ में ही प्रजा अपनी सारी निधियों को निश्चिन्त भाव से सौंप देती है। गण की समस्त निधि यदि मुक्त-विचार होकर प्रजाने गणपति को नहीं सौंपी, तो दोनों का सम्बन्ध मानो अभी द्वादशवर्णी सुवर्ण के समान निखरा हुआ नहीं है, उसमें कहीं ओखापन बाकी है। गणपति और प्रजा के उस संगठन में कहीं पर त्रुटि है। यह सत्य है कि इस प्रकार के आदर्श-गणपति की संप्राप्ति बहुत दुर्लभ है। परन्तु इस कठिणता के होते हुए भी इस प्रश्न की महिमा वैसी ही बनी रहती है कि वैयक्तिक और सामाजिक क्षेत्रों में आदर्श उपयुक्त पुरुष को ढूंढ लेना (Choice of right person) सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है।

आज शिक्षा के क्षेत्र में भी भारतीय आदर्श के ओझल हो जाने से हम अजीब मखौल देख रहे हैं। हमारे यहाँ सबसे बडी बात सच्चे गुरु को पा लेना है ' ऐसे आचार्य को पाकर शिष्य अपना सर्वस्व- तन, मन, धन उसके चरणों में रख देता है। वह स्वयं उसी का हो रहता है। यदि आचार्य को माँ कहा जाय तो शिष्य मानो उसके गर्भ में बास करने लगता है, जिससे उसके पाँचों कोषों का संवर्धन और पोषण होता है। विपुल धन को स्वाहा करके ईंट गारे के परकोटे खींच देने से देश में तिल भर भी शिक्षा की उन्नति नहीं होती। इनमें जगह भरने के लिये वैश्य-वृत्ति-प्रधान लोगों को अध्यापक और नौकर रखकर हम शिक्षा की ओर से निश्चिन्त हो जाते हैं। इस आत्मवंचना का कोई ठिकाना है। इस ढकोसलों से देशहित का स्वप्न देखनेवाले लोगों को भगवान् जल्दी सुबुद्धि दें। विदेशी शासकों ने नौकरी का चुग्गा रख कर बडे बडे जाल बिछा दिये हैं जिनमें देश के युवक आ फंसते हैं।

पर इसमें नैतिक, आध्यात्मिक शिक्षा का प्रबन्ध कितना है इसे सब जानते हैं। पश्चिमी ढंग पर चलाई हुई एतद्देशीय शिक्षा-संस्थाओं में वहाँ के दोष तो सब आगये हैं, गुण कुछ भी नहीं। इमारतों की सजधज बहुत है; शिष्य की आत्मा को कुचलने के लिये नियंत्रण, जुर्माने और

ऊपरी टीमटाम की मात्रा भी प्रचुर है, पर वास्तविक जीवन वही है जिसमें आचार्य और अन्तेवासी और उसके बीचमें विद्या की संधि प्रधान हो। पति-पत्नी का सम्बन्ध जैसे यज्ञस्थ दो अरणियों के समान कहा गया है, वैसे ही आचार्य और अन्तेवासी दो अरणी हैं, जिनके परस्पर संघर्ष से विद्या की अग्नि प्रज्वलित होती है। तैत्तिरीय उपनिषद् में इसी को यों कहा है—

आचार्यः पूर्वरूपम्। अन्तेवासी उत्तररूपम्।
विद्या संधिः। प्रवचनं संधानम्॥

यही अधिविद्य या शिक्षा-शास्त्र का मूल सिद्धान्त है। इसमें आचार्य का वही स्थान है जो विवाह में पति का है। एक बार आचार्य के सदृश पुरुष को पाकर शिष्य उसको ईश्वर ही मान लेता है। उसकी सेवा करने में उसे आनन्द आता है। दास्य-भाव का कोई कर्म ऐसा नहीं जिसके करने में शिष्य को उत्साह और प्रसन्नता न हो। इस प्रकार के तादात्म्यके साथ यदि आधुनिक छात्रों के अधिकारों की तुलना करें तो ठीक वही भेद मालूम होता है, जो प्राचीन विवाह आदर्श की तन्मयता (Fusion) और वर्तमान सभ्यता में पत्नी के पृथक् अधिकारों का है। विद्या-क्षेत्र के सदृश ही विवाह-क्षेत्र में उपयुक्त पुरुष को पा लेने के बाद उसकी आराधना विहित है। जो स्त्री जिस पुरुष को अपना पति मानती है, जगत् की सब विभूतियोंकी आदर्श-निधि स्त्री के लिये वही है। यदि ऐसा न समझे तो अपना हृदय अशेष रूप से उसे अर्पण कर ही नहीं सकती। उसकी दृष्टिमें वह पुरुष-सिंह ही जगत् के सब नररत्नों में शिरोमणि है। तुलसीदासजी ने इसी उच्च मनोभाव की इस चौपाई में व्याख्या की है—

'उत्तम के अस बस मन माहीं।
सपनेहु आन पुरुष जग नाहीं।'

प्रेम के प्रथम धडाके में जो गर्मी रहती है, वह आयुपर्यन्त वैसी ही प्रज्वलित रहे, तब तो प्रेम सच्चा है। यदि प्रेम उत्तरोत्तर बढता नहीं तो प्रेम में कायिक संयोग ही प्रधान है। वस्तुतः प्रेम के स्वर्गीय पथ में एक बार पैर बढा कर कभी पीछे लौटना अच्छा नहीं। इसलिये प्रेम का पथ अनन्त होना चाहिये, जो जन्मभर चलते रहने पर भी चुके नहीं। केवल भोगसमिद्ध प्रेम अन्नमय कोष तक ही रहता है। उसका क्षय अवश्यंभावी है। इसलिये शरीर के साथ ही स्त्री-पुरुष के मन-बुद्धि और आत्मा का भी सम्मिलन आवश्यक है। शरीर के मांस की लालसा आसुरी है; दैवी यज्ञ का विधान संस्कृत मनोभावों से संपन्न होता है। 'मांस के भूखे राक्षस होते हैं, भाव के भूखे देव।' भावों की अनन्त परितुष्टि और विकास के लिये मन, बुद्धि और आत्मा के क्षेत्र ही उपयुक्त हैं। वहीं पहुंच कर हम शरीर का अन्त करनेवाले काल के दारुण दुःखदायी पाशों पर विजय प्राप्त कर सकते हैं। बडे सोच-विचार के बाद ही ऋषियों ने स्त्री-पुरुष के विवाह-संबंध को ऐसे यज्ञ के रूप में कल्पित किया था जिसका कभी विध्वंस न हो। उस आदर्श की गहरी छाप समस्त हिन्दू जाति पर आज तक लगी हुई है। भोग की सामिधाओं को संयम के जल से प्रोक्षित किया गया है।

यह हो सकता है कि, पश्चिमी शब्दाडम्बरोंके दबाव में पडकर बहुत दिनों की बंधी हुई इन पुनीत व्यवस्थाओं को हम तोड डालें और मन की निरंकुश वृत्तियों को चाहे जितनी बार नई-नई घास की ओर विचारने का मौका दें, पर सच बात तो यह है कि, पश्चिमी जगत् स्वयं ही अपनी विवाह-सम्बन्धी उच्छृङ्खलता से बहुत परेशान है। और उसका मार्ग व्यक्ति और समाज दोनों के लिये कल्याण-कारी सिद्ध नहीं हुआ। भारतवर्ष को फिरसे अपने आदर्शों को तोल लेने की जरूरत है। उनके तिरस्कार का फल आत्मविनाश ही हो सकता है। सभी क्षेत्रों में एतद्देशीय आदर्श सर्वोत्कर्षशाली है, विशेषतः स्त्रियों के पतिव्रत-धर्म-सम्बन्धी आदर्शों की उपमा जगत् में है ही नहीं। सीता, दमयन्ती, अरुन्धती, गान्धारी- सब के इतिहास में **अरुन्धती** यह विशेषण सुवर्ण-अक्षरों में लिखा हुआ है।



श्राद्ध और तर्पण पर विचार।

[श्री०पं० रामचन्द्रजी आर्य, हेडमास्तर (रिटायर्ड), अम्बाला शहर, पञ्जाब]

इस विषयमें सनातन धर्मावलम्बी तथा आर्यसमाजियोंमें मतभेद है। कई बार शास्त्रार्थ भी हुए। लेखबद्ध प्रश्नोत्तर-द्वारा भी आन्दोलन हुआ। परन्तु अबतक सन्तुष्टिजनक कोई निर्णय नहीं हुआ। क्या यह शोक की बात नहीं कि, दोनों ही धिर्रे (पार्टियां) वेदानुयायी हैं, दोनों ही ब्राह्मणग्रन्थोंसे लेकर स्मृतियों, दर्शनों, पुराणों, रामायण, महाभारतादि ग्रन्थों तक से वेदों को समझने के वास्ते सहारा लेते हैं। तथा इन ग्रन्थों से प्रभावित होते हैं। परन्तु तो भी कई एक विषयों पर उनमें वादविवाद चला आता है। जिससे हिन्दू जाति का वातावरण कलुषित रहता है।

चिरकालसे यह दास इस विषय पर मनन और विचार कर रहा था। बहुत से पुस्तक और ग्रन्थ भी अवलोकन किये। उनसे जो विचार मेरे दिलमें उत्पन्न हुए, वह मैं इन दोनों यज्ञावलम्बियों के सन्मुख रखता हूं और आशा करता हूं कि वह पक्षपात छोडकर ठंडे दिलसे उसपर विचार करें। और जो भाव उनके मनमें मेरे इस लेखसे उत्पन्न हो, उस को प्रकट करें। ताकि पक्षपातरहित मनुष्यों को पता लग जाए कि सत्य क्या है।

ऐसा करने का मेरा उद्देश्य यह है कि, आर्यसमाज और सनातन धर्मी भाई दोनों मिलकर अपने मतभेदोंको वेदादि सच्छास्त्रों द्वारा निर्णय करके एक सिद्धान्तपर आ जाएं। मेरा हार्दिक भाव यही है कि, अब हमको मिल जाना चाहिये। वादविवाद का अब समय नहीं है। जिन जिन सिद्धान्तोंमें उनका मतभेद है, मैंने यथाशक्ति उन सबपर विचार कर लिया है और अब यथावकाश उन विचारोंको 'वैदिक धर्म' द्वारा प्रकाशित करके आशा करता हूं, ताकि दूसरे मुझे से अधिक विद्वान् भाई भी इनपर प्रकाश डालने की कृपा करें।

यह काम निस्सन्देह विद्वानोंका ही है। मुझ जैसे तुच्छ बुद्धि अल्पज्ञ पुरुष के वास्ते यह साहस करना हास्यपद बनना है। परन्तु यह ख्याल करके कि जिस तरह एक बून्द की देखादेखी सारे का सारा बादल खेत में बर्ष गया था, इसी तरह मुझ नाचीज की त्रुटियोंको देखकर कोई समर्थ विद्वान् महानुभाव अपनी लेखनी उठानेकी कृपा करेंगे, यह तुच्छबुद्धि दास यह साहस करने को उद्यत होता है।

मनुष्यजीवन (Anthropology) के अध्ययन करनेसे यह ज्ञात हो जाता है कि प्रत्येक मनुष्य के अन्दर कोई न कोई भाव (Sentiment) प्रधानतासे विद्यमान रहता है। यही भाव उसके सारे जीवन के कार्यक्रम को बनाने और चलानेवाला होता है। बहुत से समान-भावोंवाले समूह का नाम जाति है। अतः जाति में भी कोई न कोई भाव-विशेष प्राधान्य रूपसे विद्यमान रहता है, जो उस सारी जाति का जीवनाधार होता है। जिन लोगों ने विविध जातियों के इतिहास तथा संस्कृति की समालोचना की है, वह कहते हैं कि पुराने समयके मिश्रदेशवासियोंके जीवन में कर्मकांड को, फारिसवालों के जीवन में पवित्रता को, केलडियन के जीवन में भौतिक विज्ञान को (science) यूनानियों के जीवन में सौन्दर्य को, रोमनिवासियेके जीवन में नियम (Law) को प्रधानता थी। इसी तरहसे जिन्हों ने आर्य (हिन्दू) जाति के पुरातन जीवन पर समालोचना की है वह कहते हैं कि यह जाति सदा धर्मप्रधान रही है।

यह भी नियम सर्वमान्य है कि जो भाव (feeling or sentiment) किसी जातिमें प्रधान होता है, उसीसे प्रेरित होकर वह जाति अपने साहित्य, अपने नित्य और नैमित्तिक कर्म, अपने दैनिक व्यवहार, इत्यादि अनेक संस्थाओं (institution) या रिवाजों को अपने अन्दर स्थापित करती है। और उनको सदैव संजीवित रखती है। वह भाव मानो उनके जातीय जीवन का प्राण है। वह भाव निकला, और उस जातिका स्वरूप भी बदला समझो। या यों कहो कि, उस भावके निकलते ही जाति का जीवन भी निकल जाता है*।

* जो नेता कई रिवाजों को, उनके अन्तरीय भावोंको समझे बिना, बुरा समझकर दूर करना चाहते हैं, उनको उचित है कि वह इस नियम को ध्यान में रक्खें। पहिले उनको समझना चाहिये कि, इन रिवाजों की तह में क्या भाव काम

❀

और फिर यह भी देखा गया है कि, जबतक उन रिवाजों का उन उन भावों के साथ सीधा (Direct) सम्बन्ध रहता है, तब तक वह रिवाज उस जाति के जीवनमें नए नए उद्रेक (Impulse) भरते रहते हैं। और जब कालके वक्र चक्रमें पडने के कारण रिवाजों और भावों के सम्बन्ध को लोग भूल जाते हैं, तो वह रिवाज केवल निर्जीव कलेवर (Lifeless skeleton) ही रह जाते हैं। उस समय उन रिवाजों के अन्तर्गत भावों को समझ कर उनको पुनरुज्जीवित करना चाहिये या उनको सर्वथा त्याग देना चाहिये। यह एक बिकट समस्या है, जिसका समाधान कोई धर्ममर्मज्ञ आर्षबुद्धिही कर सकती है, अन्य नहीं।

अब हम यह विचार करना चाहते हैं कि इस प्राचीन कालसे आदरणीय श्राद्ध और तर्पण की प्रथा की तहमें कौन कौनसे भाव काम कर रहे हैं। और उन भावोंसे प्रभावित होकर हिन्दू जातिपर जातिगत तथा व्यक्तिगत क्या क्या भले या बुरे प्रभाव (असर) पड रहे हैं।

यदि हम भावदृष्टि से पशुओं और मनुष्यों में भेद या अन्तर (तमीज) देखना चाहें, तो हमें जहां खाने, पीने, सोने, सन्तानोत्पादन करने, डरने, आत्मरक्षा करने आदि भाव इन दोनोंमें समान मिलेंगे। वहां दो भाव ऐसे भी मिलेंगे, जो केवल मनुष्यों में ही पाए जाते हैं। पशुओंमें नहीं। वह भाव यह है– एक आस्तिक्यता, दूसरा कृतज्ञता। आस्तिक्यता अर्थात् अतीन्द्रिय वस्तुमें विश्वास, और श्रद्धा, जो केवल मनुष्यों में ही पाई जाती है। हां, कृतज्ञता का भाव वाजे पशुओंमें भी देखा गया है।×

अब जरा आस्तिक्य भाव की छानबीन करते हैं। साम्प्रतिक (Present life) और भौतिक जीवन (Physical life) से परे भविष्यत् जीवन या आत्मिक जीवनमें आस्था (Faith) तथा इस जीवन के आधारभूत विश्वजीवन (Universal or cosmic life) अर्थात् भगवान् पर श्रद्धा और विश्वास रखना और उस विश्वास और श्रद्धा के अनकूलही जीवन बिताना आस्तिक्यता है। जो मनुष्य यही जानते हैं कि "यही जीवन सब कुछ है, यह मृत्युपर समाप्त (खतम) है। इससे परे कुछ नहीं। मनुष्य का ध्येय यही होना चाहिये कि ऐसे ऐसे साधन सम्पन्न करे कि जिससे उसका 'यह जीवन' सुखी रहे, आगे किसने देखा है।+" इत्यादि। वह पुरुष आकारसे मनुष्य है, परन्तु मनुष्यत्व अभीतक उसके अंदर जागा नहीं।

ऐसे मनुष्यों को उपनिषत्कार बालक ही कहते हैं।* ऐसा जीवन सचमुच पाशविक जीवन ही है। इस जीवन में पाशविक वासनाओं (Cravings) से अधिक और कुछ नहीं। आत्मसंयम (Self-control) आत्मसमर्पण (Self-denial) स्वार्थत्याग (Self-sacrifice), आदि उच्च भाव और उल्लासको वह क्या जाने? शोकसे कहना पडता है कि यही भाव हमारे नवशिक्षित पुरुषों में बडी तेजी से घट कर रहा है। भगवान् कृपा करें कि, यह आसुरी भाव हमारे अन्दर से शीघ्रातिशीघ्र दूर हो!

किसीके उपकारको (ऐहसान) को न भूलना, अपितु सदा उसको याद रखते हुए यथाशक्ति उसका बदला देना,

---

कर रहा है, उनका जातीय जीवन पर क्या प्रभाव था और अब क्या हो रहा है। ऐसी छानबीन किये बिना जो नेता दूसरी जातियों की देखादेखी किसी रिवाज को, जो प्राचीन काल से चला आ रहा है, उखाडेंगे, बहुत संभव है कि वह जातीय जीवनमन्दिर की आधारशिला को उखाडकर जाति को नाश के पथ पर डाल दें।

× कभी कभी कुत्ते, घोडे, हाथी, तोते, कबूतरादि पशुओं में कृतज्ञता का भाव अच्छे समृद्ध रूपमें देखा गया है। परन्तु वह पशु बहुधा पालतू (Domestic) होते हैं। और यह भाव उनके अन्दर मनुष्य के सहवास से ही आया हुआ दीखता है। हो सकता है कि 'आरूढपतन-न्याय' भी इसका कारण हो; अर्थात् कोई पशु किसी कर्मविशेष से मनुष्ययोनि से गिरकर पशुयोनि में आया हो, जिस से उस पशुयोनि में भी मनुष्यत्वका भाव हो।

+ यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्। भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥

* न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्। अयं लोको, नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे॥ (कठोपनि०)

या देने की चेष्टा करना कृतज्ञता है।

ये दोनों भाव श्राद्ध और तर्पण की प्रथा की तह में काम कर रहे हैं। यही नहीं अपितु हिन्दू का सारा ही जीवन इन दो भावों से पूर्णतया प्रभावित है। हिन्दुओं का व्यावहारिक या परमार्थिक कोई भी काम ऐसा नहीं, जिस में यह भाव काम न करते हों!

एक हिन्दू का प्रातःकाल उठतेही भगवान् का तथा देवताओं, ऋषिमुनियों, सच महात्माओं का स्मरण करना+ उसके स्नान, खान, दानादि सबकाही आरम्भमें भगवान् को आवाहन करना, तथा उसका विवाह करना,◎ सन्तानोत्पत्ति करना, उसका यज्ञ, दान, हवन, जप, तप, सब ही कर्म इन भावों से प्रभावित हैं ×।

किम्बहुना एक हिन्दु जन्मते ही अपने ऊपर तीन ऋण (देवऋण, ऋषिऋण, पितृऋण) समझता है। वह इन तीन ऋणों से अऋण होकर ही परमार्थ के वास्ते पग उठा सकता है ❀

बस एक हिन्दू आर्य का जीवन एक ऋणमय तथा व्रतमय जीवन है ☙।

अब हम यह देखने की चेष्टा करते हैं कि, दोनों भाव (आस्तिक्यता और कृतज्ञता) श्राद्ध और तर्पण में किस तरह काम करते हैं।

पहिले तो श्राद्ध शब्द का अर्थ ही यह सूचना करता है कि, श्राद्धमें श्रद्धा अर्थात् आस्तिक्य भाव कूट कूट कर भरा है। आओ, जरा इसका विश्लेषण करके देखें।

श्राद्धका व्युत्पत्त्यर्थ या यौगिक अर्थ है कि श्रद्धा से जो कर्म किया जाय, वह श्राद्ध है। यद्यपि और भी बहुतसे कर्म श्रद्धा से किये जाते हैं, परन्तु यह श्राद्ध शब्द मृत पितरों तथा दिव्य पितरों के उद्देश्य से जो कर्म किये जाते हैं, उन्हीं में रूढी हो गया, अर्थात् और कर्मों को छोडकर (Exclusively) केवल इसी कर्म में लागू होता है। बहुधा यौगिक शब्द रूढी हो जाते हैं। वाक्यों का अर्थ करते समय हमको शब्द का रूढी ही अर्थ लेना पडता है। यथा 'गो' शब्द का यौगिक अर्थ है चलानेवाला। परन्तु यह शब्द विशेष रूपसे पशुविशेष 'गाय' तथा कभी कभी

◎ "ॐ। प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे, प्रातर्मित्रावरुणा प्रातरश्विना। प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं प्रातः सोममुत रुद्रं हवामहे ॥" तथा– ओम्। ब्रह्मा मुरारिस्त्रिपुरान्तकारी भानुः शशी भूमिसुतो बुधश्च, गुरुश्च शुक्रः शनिराहुकेतवः कुर्वन्तु नः पूर्णं मनोरथं सदा ॥

+ देखो उपनिषत्॥

× जब एक आर्य हिन्दूभोजन करने लगता है तो वह भोजनशाला की अग्निमें कुछ आहुतियां देवताओंके निमित्त डालता है, कि उनकी ही कृपासे संसार में अन्नादि अनेक खाद्य पदार्थ उत्पन्न होते हैं। फिर वह बलि वैश्वदेव-यज्ञ करता है, अर्थात् गौ, कुत्ते, कव्वे आदि पशुपाक्षियों के लिये बली निकालता है, यह कृतज्ञता प्रकट करनेके लिये कि बैल आदि पशुओं की सहायता से ही उसको अन्नादि भोग्य पदार्थ मिलते हैं। फिर वह अन्नरूप भगवान को नमस्कार करके यह मन्त्र पढता है--

अन्नपते अन्नस्य नो देहि अनमीवस्य शुष्मिणः। प्र प्र दातारं तारिष ऊर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे ॥ (यजु० ११।८३)

फिर अतिथि को यथाशक्ति भोजन देता है--

शुनां च पतितानां च श्वपचां पापरोगिणाम्। वायसानां कृमीणां च शनकैर्निर्वपेद् भुवि ॥ (मनु०)

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य। नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी॥ (ऋग० १०।११६।२३)

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्। यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ (गी० ९।२७)

❀ ऋणानि त्रीणि अपाकृत्य मनो मोक्षे निविशयेत्। अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यधः ॥ (मनु० ६।३५)

अधीत्य विधिवद् वेदान् पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः। इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत् ॥ (६।३६)

☙ देखो उपनयनसंस्कार जहां ब्रह्मचारी पांच बार यह प्रतिज्ञा करता है– ओं अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्। प्रब्रवीमि तच्छकेयम्। तेनर्ध्यासमिदमहमनृतात्सत्यमुपैमि ॥

इन्द्रिय, वाणी, और पृथिवी में भी रूढी हो गया। अर्थ करते समय प्रसंगके अनुसार ही रूढी अर्थ लिया जाता है।

यदि हम यौगिक अर्थ को ही मुख्य रखकर मंत्रों का अर्थ करेंगे, तो बहुधा अनवस्थादोष आ जाएगा। क्योंकि चलती तो कीडी भी है। बकरी भी, भैंस भी, और सब से अधिक चलानेवाली रेल है। परन्तु इन में से किसी को भी गौ नहीं कहते।

ऐसेही श्रद्धा से नामकरण, उपनयन, विवाहादि संस्कार भी जो किये जाते हैं, परन्तु हमने आजतक इनमें से किसी को भी 'श्राद्ध' का नाम दिया गया हो, ऐसा नहीं सुना।

प्रत्येक हिन्दुको यह विश्वास दिलाया गया है कि, मनुष्य केवल शरीरही नहीं है, शरीर तो केवल उसके अन्दर रहनेवाले जीवात्मा का घर है। इस शरीर को जो वह ऐसे उतार देता है, जैसे एक कोट या किसी दूसरे कपडे को। उसके शास्त्रों ने उसको यह भी समझाया है कि आत्मा अमर है, अचल है, शाश्वत (सदा रहनेवाला) है; और इस शरीर के मरने पर उसकी मृत्यु नहीं होती, अपितु यह आगे अपनी "जैवी यात्रा," (Soul-life) के जारी रखता है। अर्थात् या तो यह भौतिक शरीरों को छोडकर × सीधा मोक्ष को जायगा। या क्रममोक्षको प्राप्त होता है देवयान-रास्ते से। और या अपने इष्टापूर्त कर्मबल से प्रेरित होकर पितृयान को, और या कुछ काल अन्तरिक्ष में रहकर फिर भूलोक में जन्म लेता है। +

इस आस्तिक्य भावके साथ जब कृतज्ञताका भाव भी मिल जाता है, तब इन धार्मिक भावों से युक्त हिन्दू समझता है कि, मेरे लिये उचित नहीं कि मैं अपने मातापितादि सम्बन्धियों को मरने के पीछे काष्टलोष्ठ की भांति फैंक कर उस कि विस्मरण कर दूं। उन मातापिता आदि को जिन्हों ने न केवल मुझे जन्म ही दिया है, अपितु बचपन में मेरा पालनपोषण भी किया है, जरा बडा होनेपर मुझे विद्या, शिक्षा, सदाचारादि अनेक बहुमूल्य गुणों से अलङ्कृत किया है। तथा मेरे लिये धन, धान्य, वस्त्र, भूमि, मकान, इत्यादि सामग्री सम्पादन कर के मेरे जीवन को सुखमय बनाने का पूरा प्रयत्न किया है। अतः मेरा धर्म है कि मैं न केवल उनको यादही करूं, बल्कि उनमें श्रद्धा करूं, ताकि उनके शुभ गुण भी मेरे भीतर आ जावें। क्योंकि 'यो यच्छ्रद्धः स एव सः' अतः वह अपना कर्तव्य समझता है कि मरनेके पीछे भी वह अपनी मानसिक शक्तिद्वारा वेदमन्त्रोंकी सहायता तथा ब्राह्मणों के आशीर्वादसे उनको कुछ सहायता पहुंचावे* और यदि वह भावज्ञ और मर्मज्ञ

× आर्यशास्त्रों की शिक्षा यह है कि जीवात्मा के ऊपर पांच कोष (खोल) होते हैं। वे हैं-

१. अन्नमय कोष (भौतिक शरीर), २. प्राणमय कोष (आकाशशरीर) [Etheric double], ३. मनोमय कोष (इच्छाशरीर- Desire-body), ४. विज्ञानमय कोष (Boudhic body), ५. आनन्दमय कोष (Atmic body). पहिले दो अर्थात् अन्नमय और प्राणमय शरीर को भौतिक या स्थूल शरीर कहते हैं। अर्थात् Physical body. मनोमय कोषको सूक्ष्म शरीर। तथा विज्ञानमय और आनन्दमय को कारणशरीर भी कहते हैं। जब कोई प्राणी मरता है, तो पहिले उसका अन्नमय कोष क्षीण होता है। जीवात्मा बाकीके कोषोंमें लिपटा हुआ कुछ दिन इस भूलोकमेंही भ्रमण करता रहता है। क्योंकि उसके प्राणमय कोष की प्रवृत्ति इस अन्नमय कोष की तरफ कुछ देर पीछे रहती है। यह प्राणमय कोष अग्निमें भी क्षीण नहीं होता। जब ३।४ दिनमें प्राणमय कोष भी जीवनाधार न मिलने से क्षीण हो जाता है, तो फिर मनोमयादि बाकी कोषोंके साथ लिपटा हुआ जीव अपनी अतृप्त मानसिक वासनाओं से बन्धा हुआ उनकी तृप्त्यर्थ इस भूलोकमेंही भ्रमता रहता है। इस मनोमय कोषके क्षीण होने में १०।१२ दिन लगते हैं। इसके बाद जब वह सूक्ष्म शरीर भी क्षीण हो जाता है, तो कारण-शरीरमें लिपटा हुआ जीव या तो देवयानमार्गसे क्रममोक्ष का रास्ता लेता है, या पितृयान-मार्ग से स्वर्गादि लोकों को, और या अपने कर्मानुसार कुछ काल अन्तरीक्ष में रहकर जन्म लेता है। (छा० ५-१०-१-७ तथा ४-१५-५)

+ सोऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो, न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति। ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्नोति॥ (बृहदा०४-४-६)

* यह सहायता पहुंच सकती है या नहीं, इसका विवरण हम आगे चलकर करेंगे। अभी तो केवल श्राद्ध का स्वरूप मात्रही निर्दिष्ट कर रहे हैं।

पुरुष है तो जबसे उसको यह ज्ञान हो जाता है कि अब इनका शरीर अवश्य छूटेगा, तभीसे उनकी सहायता का प्रबन्ध करने लग जाता है। उनके हाथसे दान-पुण्यादि करवाता है, उनके सरहासे किसी श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ व्यक्तिद्वारा उनको उपनिषद् या गीतादि धर्मपुस्तकोंका पाठ सुनवाता है+ ।

जब वह मर जाता है तब उसकी प्रेत संज्ञा होती है।× ॐदशदिन तक जब कि वह प्रेत सूक्ष्म शरीरसे लिपटा होता है, सम्भव है कि वह अपनी किसी मन्द वासना के कारण आगे न जावे और यहां ही भूलोक में अपनी अतृप्त वासनाओं को तृप्त करने की इच्छासे भ्रमता फिरता हो, और अपने सम्बधियोंके सूक्ष्म शरीरोंसे मिलताजुलता हो, अतः उस कुटुम्ब में प्रेत अशुद्धि का पातक अशुद्धि समझी जाती है।॥॥ और जो क्रिया दश दिनमें की जाती है, उसे प्रेतक्रिया कहते हैं। ग्यारहवें दिन जो क्रिया होती है, वह पितृक्रिया होती है, जिसको सपिंडीकरण भी कहते हैं। प्रेतक्रिया का मतलब यह है कि प्रेतात्मा को जो सम्भवतः उस दशामें अपनी भूलोकाभिमुखी वासनाओंके कारण तडपना फिरना हो शान्ति देना, तथा उसके सूक्ष्म शरीर को जल्दी विकीर्ण करने में सहायता देना है। और पितृक्रिया का मतलब है कि उस प्रेतात्मा को अपने पहिले पितरोंमें शामिल करना और पितृलोक ●में पहुंचाना। इसको सपिंड श्राद्ध और जो केवल मृत पितर के लिये हो, उसे एकोद्दिष्टा कहते हैं। इनके सिवाए और भी कई श्राद्ध हैं, जिनको पार्वण, क्षयी श्राद्धादि नामोंसे पुकारते हैं ☛।

आश्विन के महिने में १६ दिनमें श्राद्ध किये जाते हैं। इस पक्षको पितृपक्ष कहते हैं अर्थात् वह पक्ष (Fortnight) जो केवल पितृकर्ममेंही लगाया जावे। यह प्रथा कबसे चली, इसके बारे में अभी हम कुछ नहीं कह सकते।

श्राद्धकर्म दक्षिणाभिमुख होकर किया जाता है। ब्राह्मणों को मध्याह्न कालमें भोजन कराया जाता है, इत्यादि अनेक विषय है, जिनको पाठक स्वयं अन्य ग्रन्थोंसे देख सकते हैं।

यही नहीं, बल्कि कभी कभी उत्सव (खुशी) के मौकेपर भी श्राद्ध किया जाता है, जिस तरह नामकरणादि उत्सवों पर हम अपने भूलोकवासी इष्टमित्रोंको बुलाते हैं, इसी तरह श्राद्धमें विश्वास करनेवाले हिन्दू इन मौकोंपर कुछ दिन पहिले श्राद्ध करके पितृलोकवासी पितरों को भी बुलाते हैं। उनकी प्रसन्नता और उनका आशीर्वाद चाहते हैं। इस श्राद्धको नान्दीमुख (खुश मुखवाला) श्राद्ध कहते हैं।

किम्बहुना एक हिन्दू यह समझता है कि, वह भूलोक में रहता हुआ भी भुवर्लोकवासी पितृलोकादिमें भी अपनी रसाई (पहुंच) कर सकता है। तथा उनमें अपनी श्रद्धा को दृढ करके अपने आचरणमें उनके शुभ गुणोंको सम्पादन कर सकता है।

यह दूसरा भाव तो करीब करीब सभी जातियोंमें पाया जाता है। श्रद्धेय पुरुषोंकी यादगार मनाना, उसकी कबरों या भस्मपर मकबटे या समाधियां बनाना, उनके नामपर कूप, तडाग, हस्पताल, स्कूल, कालिज, सदावर्तादि अनेक संस्थाएं कायम करना, इसी भावको प्रकट करता है।

यह कृतज्ञताका भाव सबही मनुष्योंमें किसी न किसी रूपमें अवश्य प्रकट होगा। हां जो हृदय इस भावसे शून्य है, वह वास्तवमें मनुष्यहृदयही नहीं। और जो पुरुष अपने मातादिकी कृतज्ञताको नहीं मानते, वह भला फिर किसकी

+ यद्यपि उस समय उसकी बाह्य चेतना (Outer consciousness) बेहोश (Inaction) होती है, परन्तु उसकी आन्तर चेतना (Inner consciousness) जाग्रत तथा क्रियावती (Active) होती है। See 'Man at death, before death and after death.' अतः चाहे वह बेहोश हो, परन्तु उसकी आन्तर चेतना सब कुछ समझती है।

× तं प्रेतं दिष्टमितोऽग्नय एव हरन्ति यत एवेतो यतः संभूतो भवति। (छां० ५।९।२)

ॐ देखो यजु० ३९।६।

॥॥ दशाह शावमाशौचं सपिंडेषु विधीयते। अर्वाक् संचयादस्थ्नां त्र्यहमेकाहमेव च ॥ (मनु० ५।५९)

● देखो शांखायन गृहसूत्र- ४.२.५, तथा-४-३; यजु० १९।४५-४६।

☛ आपस्तम्बसूत्र २।७।१६ (३), वीरभाषासूत्र (६०), मनुस्मृति- ३।२०६, २४२, ९७, १६८; ३।२०४-२३७, २६५।

कृतज्ञता को स्वीकार करेंगे× । भला मातापितासे बढकर हमारा और कौन उपकारी हो सकता है, जो इन उपकारोंको याद नहीं रखते, वह निश्चय पशुओं से भी नीच हैं।

अब हम यह देखना चाहते हैं, कि इस प्रथा से हिन्दू जातिपर क्या प्रभाव (असर) पडा है।

हमारा विश्वास है कि, इस प्रथा ने अधिकतर अच्छाही प्रभाव डाला है × प्रथम इसने पितृभक्ति की जड इतनी दृढ तथा गहरी कर दी कि ऐसी हम किसी ओर जातिमें नहीं पाते। लाखों वर्ष के इतिहासमें हमें एक भी ऐसी मिसाल (उदाहरण) नहीं मिलती, जहां किसी पुत्रने राज्य-लोभमें पडकर अपने पिता को कैद कर लिया हो। या पिता से सलामें करवाई हों। अपितु इसके विरुद्ध हम यह देखते हैं कि पुत्रोंने अपने पिता की प्रसन्नता के वास्ते बडी बडी कुर्बानियां (स्वार्थत्याग) की हैं। राजा पुरु को अपने पिता ययाति को प्रसन्न करनेके वास्ते अपनी जवानी देकर बुढापा लेना, श्रवण का अपने अंधे मातापिता को वहंगेमें बिठाकर तीर्थयात्रा करवाना, भीष्म पितामहका सारी आयुभर ब्रह्मचर्य व्रत धारण करना; श्रीराम का राज्याभिषेक के बदले १४ वर्षका वनवास स्वीकार करना; इत्यादि अनेक ऐसे उदाहरण हैं, जो आर्यजातिके इतिहासको चार चान्द लगाते हैं। जबतक दुनिया कायम है, जबतक आकाशमें सूर्य और चन्द्रमा चमकते हैं, यह महानुभाव हिन्दू जातिके इतिहास को चमकाते रहेंगे।

भला इससे बढकर और क्या प्रशंसापत्र (certificate) हो सकता है जो मुगल बादशाह शाहजहांने हिन्दू जाति को दिया है। जब शाहजहां अपने पुत्र औरंगजेब की कैद में तडप रहा था, तो उसके मुख से इस प्रकार के शब्द निकले थे।

ऐ पिसर तू अजब मुसलमानी-जिन्दगाँरा व आवतरसानी आफरी हिन्दुबाँरा सद्वार-मुर्दगाँ रा दिहन्द दयमेव आव॥

जिसका तरजुमा यह है—

देखो बेटा! अजब तेरी यह मुसलमानी।
कि देता है बापको दुःख और परेशानी॥
तुमसे बेहतर है वह हिन्दू काफर।
जो देता है मुर्दों को भी हर रोज़ पानी॥

दूसरा प्रभाव जो इस सुन्दर प्रथा का आर्य-जातिपर पडा है, वह हिन्दुओंका प्राचीनताप्रियता (कदामत परस्ती) अर्थात् प्राचीन प्रथाओं का आदर करना है। वह आसानी से अपनी पुराने रिवाजों को छोडनेवाली नहीं। यदि यह भाव उसके अन्दर न होता, तो आज आर्यजाति का पता निशान भी न पाया जाता। हजार बारह सो वर्ष से भी अधिक समयतक विदेशीय आक्रमण, विदेशीय राज्य-शासन, और विदेशीय सभ्यता और संस्कृति के साथ विकट संग्राम और संपर्क रहने पर भी हिन्दू जाति १६ आनेमें १२ आने अपनी पुरानी प्रथाओं को पकडे हुए हैं। यद्यपि 'यथा राजा तथा प्रजा' यह बात बहुत कुछ ठीक है, परन्तु इस पुराणप्रियता की सिमेंटड चार दीवारी ऐसी दृढ निकली कि १२०० वर्ष की पादाक्रांतता भी एक हिन्दू को अपने बाप-दादा के मार्ग से न हिला सकी। जो लोग जबरदस्ती या प्रलोभनवश मुसलमान या ईसाई किए गए थे, वे भी वर्षों तक और अब तक भी अपनी पुरानी प्रथाओं को पकडे हुए हैं।

[क्रमशः]

× म० भा० शां० प० १७२। इसमें कृतघ्नताको बडा पाप लिखा है। बताया गया है कि, कृतघ्न पुरुष के मांस को मांसाहारी पशु भी नहीं खाते—

दस्यवश्चापि नेच्छन्ति नमन्तुं पापकारिणम्। क्रव्यादा अपि राजेन्द्र कृतघ्नं नोपभुञ्जते॥
ब्रह्मघ्ने च सुरापे च चौरे भग्नव्रते तथा। निष्कृतिर्विहिता राजन्! कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः॥
मित्रद्रोही कृतघ्नश्च नृशंसश्च नराधमः। क्रव्यादैः कृमिभिश्चैव न भुज्यन्ते हि तादृशाः॥

वेदोपदेशः ।

द्वितीयो भागः ।

पुरुष-सूक्तम् ।

[ऋ० मं० १०, सू० ९०; वा० यजु० ३१।१-१६। काण्व० ३५।१-१६; साम० ६१७-६२१; अथर्व० १९।६।१-१६] ऋषिः- नारायणः । देवता- पुरुषः । छन्दः- अनुष्टुप्, १६ त्रिष्टुप् ।

स॒हस्र॑शीर्षा॒ पुरु॑षः सहस्रा॒क्षः स॒हस्र॑पात् । स भूमिं॑ वि॒श्वतो॑ वृ॒त्वात्य॑तिष्ठद्दशाङ्गु॒लम् ॥१॥

पदानि— स॒हस्र॑ऽशीर्षा । पुरु॑षः । स॒हस्र॒ऽअ॒क्षः । स॒हस्र॑ऽपात् । सः । भूमि॑म् । वि॒श्वतः॑ । वृ॒त्वा । अति॑ । अ॒ति॒ष्ठ॒त् । द॒श॒ऽअ॒ङ्गु॒लम् ॥१॥

अन्वयः— सहस्रशीर्षा सहस्राक्षः सहस्रपात् पुरुषः (आस्ति), सः भूमिं विश्वतः वृत्वा, दशांगुलं अति-अतिष्ठत् ॥१॥

अर्थ— (सहस्र-शीर्षा) **सहस्रों मस्तकोंसे युक्त, (सहस्र-अक्षः) हजारों आंखोंसे युक्त, और (सहस्र-पात्) हजारों पांवों से युक्त (पुरुषः) एक पुरुष-एक परमात्माहि है । (सः) वह (भूमि विश्वतः वृत्वा) भूमिको चारों ओरसे घेरकर (दश-अंगुलं) दश इन्द्रियोंके क्षेत्रका (अति) अतिक्रमण करके (अतिष्ठत्) ठहरा है ।**

भावार्थ— जिसको हजारों (या लाखों) मस्तक, आंख, पांव आदि अवयव हैं, वह परमात्मा पृथिवी आदि लोकलोकांतरों को घेर कर, चारों ओरसे व्यापकर, दस इंद्रियोंसे जिसका ग्रहण होता है, उस सृष्टिका अधिष्ठाता हुआ है।

मनुष्य, पशु, पक्षी आदि प्राणिमात्रोंके जितने सिर, आंख, नाक, कान, मुख, हात, पांव, पेट, जंघा, घुटने आदि अवयव हैं, वे सब अवयव उसी परमात्मा के अवयव होनेसे, उसके लाखों अवयव हैं ऐसा वर्णन यहां किया है । यहां का 'सहस्र' शब्द अनंतवाचक है ।

मन्त्रस्थ पदोंका अर्थ ।

१ **सहस्र**= हजारहां, लाखों, अनंत, असंख्य ।

२ **पुरुषः**=(पुरि-शयः)=(पुरि) नगरीमें (शयः) सोनेवाला, रहनेवाला, (पुरि) शरीरमें (शयः) रहनेवाला, आत्मा, परमात्मा, ब्रह्म, परब्रह्म । ईश्वर । प्रकृतिमें सर्वत्र व्यापनेवाला पुरुष ।

३ **भूमि**=पृथ्वी, प्रकृति ।

४ **विश्वतः**= सर्वत्र, सब ओरसे ।

५ **वृत्वा**= घेरकर ।

६ **अत्यतिष्ठत्**= राज्य करता है, नियमन करता है, अधिष्ठाता हुआ है, परे ठहरा है, उल्लंघन करके रहा है।

७ **दश-अंगुलम्**= दस इंद्रियोंका विषय होनेवाली सृष्टि, जिसका ग्रहण दस इंद्रियोंसे होता है। नाक, जिह्वा, नेत्र, त्वचा, कर्ण, हाथ, पांव, मुख, शिश्न, गुदा इन दस इंद्रियोंका व्यवहार जिसमें होता है। अथवा दो नाक, दो नेत्र, दो कान, एक जिह्वा, त्वचा, मन और बुद्धि से जिस में व्यवहार होता है, वह सृष्टि ।

पाठभेद।

स॒हस्र॑बाहुः पुरु॑षः० । (अ० १९।६।१)

यहां '**सहस्रबाहुः**' ऐसा अथर्ववेदमें पद है । "जिसके लाखों बाहु हैं," यह अर्थ पूर्वोक्त अर्थके साथ संगत है । '**शीर्षा**' के स्थानपर '**बाहु**' पद है ।

स भूमिं॒ स॒र्वत॑: स्पृ॒त्वा । (वा० य० ३१।१)

यह यजुर्वेद का पाठ है। इसका वही अर्थ है, जो पूर्वोक्त मन्त्रके '**स भूमिं विश्वतो वृत्वा**' का है। ऋग्वेदके मन्त्र-भाग का अर्थहि यजुर्वेदके मन्त्रने यहाँ दर्शा दिया है।

(पुरुषः) The universal Soul (सहस्रशीर्षा) hath a thousand heads, (सहस्राक्षः) a thousand eyes, and (सहस्रपात्) a thousand feet. (भूमिं विश्वतो वृत्वा) Pervading earth on every side, (सः) He (अति अतिष्ठत्) governs from behind (दश-अंगुलं) [The world perceived by] ten organs.

विश्वरूपी परमात्मा ।

पुरु॑ष ए॒वेदं सर्वं॒ यद्भू॒तं यच्च॒ भव्य॑म्। उ॒ताम॑ृत॒त्वस्येशा॑नो॒ यद॒न्नेना॑ति॒रोह॑ति ॥२॥

पदानि– पुरु॑षः। ए॒व। इ॒दम्। सर्व॑म्। यत्। भू॒तम्। यत्। च॒। भव्य॑म्। उ॒त। अ॒मृ॒त॒ऽत्वस्य॑। ईशा॑नः। यत्। अन्ने॑न। अ॒ति॒ऽरोह॑ति ॥२॥

अन्वयः– यत् भूतं, यत् च भव्यं, इदं सर्वं पुरुषः एव। उत अमृतत्वस्य ईशानः, यत् अन्नेन अतिरोहति ॥२॥

अर्थ— (यत् भूतं) जो भूतकालमें हुआ था, (यत् च भव्यं) और जो भविष्य में होगा, तथा (इदं) यह जो वर्तमानकाल में है, वह (सर्वं) सब (पुरुषः एव) अकेला परमात्मा ही है। (उत) और वह (अमृतत्वस्य ईशानः) उस अमरपनका स्वामी है, (यत्) जो अमरपन (अन्नेन) अन्न के द्वारा [प्राप्त होनेवाले सुखसे] (अति रोहति) बहुत ही ऊपर, ऊंचा, है ॥२॥

भावार्थ— भूत, वर्तमान और भविष्य कालों में रहनेवाला जो विश्व है, वह सब विश्व परमात्मा ही है। यही परमात्मा अमरत्व देनेवाला है। और यही अमरत्व भोगोंसे प्राप्त होनेवाले सुखसे बहुतहि उच्च और श्रेष्ठ आनन्द देनेवाला है।

पाठभेद ।

अथर्ववेद में यह मन्त्र सूक्त में चवथा है—

'उ॒ताम॑ृत॒त्वस्येश्व॒रो यद॒न्येना॒भव॑त् स॒ह।' (अथर्व० १९।६।४)

ऐसा पाठ है। यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेदमें '**भाव्यं**' पाठ है। सामवेद में दूसरे और तीसरे मन्त्रों के आधे भाग उलटपुलट हुए हैं।

'**अमृतत्वस्य ईशानः**' का ही अर्थ '**अमृतत्वस्य ईश्वरः**' में स्पष्ट हुआ है। सायण इस मन्त्र में '**अन्येनाभवत्सह**' ऐसा पाठ मानते हैं। और '**अन्न के साथ जो उत्पन्न या प्रकट होता है,**' ऐसा अर्थ करते हैं। पर मन्त्र में पाठ '**यत् अन्येन सह अभवत्**' ऐसा है, जिसका आशय '**जो अन्य के साथ प्रकट होता है।**' अर्थात् '**जो अन्य भाव से द्वैतभाव के साथ प्रकट होता है,**' उस स्थितिका भी वही स्वामी है, अर्थात् 'द्वैतभावमय जगत् और अद्वैतभावमय अमरत्व इन दोनों अवस्थाओं का वही अकेला एक स्वामी परमात्मा ही है।' आत्मा ही द्वैत और अद्वैत का अनुभव करनेवाला है, यह इसका आशय है। अन्य भाव के साथ साथ ही अनन्यभाव रहता है। क्योंकि 'अन्य और अनन्य' ये सापेक्ष भाव हैं।

मन्त्रस्थ पदोंका अर्थ ।

१. **अमृतत्व**= अमरपन, मोक्ष।
२ **ईशानः, ईश्वरः**= स्वामी, मालिक, अधिष्ठाता।
३ **अन्न**= भोग्य वस्तु, खानेकी वस्तु।
४ **अतिरोह्**= अतिक्रमण करके बढना, अत्यंत बढना, परे अथवा ऊंचा रहकर बढना।

(पुरुषः) The universal Soul is (एव) in truth (इदं सर्वं) this all, (यत् भूतं) what hath been, what is, and (यत् च भव्यं) what yet shall be; (उत) and He is (अमृतत्वस्य ईशानः) the Lord of immortality, which (अतिरोहति) far transcends (यत्) what is obtained (अन्नेन) by food.

एतावा॑नस्य महि॒मातो॒ ज्याया॑ँश्च॒ पूरु॑षः । पादो॑ऽस्य॒ विश्वा॑ भूतानि॑ त्रि॒पाद॑स्या॒मृतं॑ दि॒वि ॥३॥

पदानि— ए॒तावा॑न् । अ॒स्य । म॒हि॒मा । अतः॑ । ज्याया॑न् । च॒ । पुरु॑षः । पाद॑ः । अ॒स्य॒ । विश्वा॑ । भूतानि॑ । त्रि॒ऽपात् । अ॒स्य॒ । अ॒मृत॑म् । दि॒वि ॥३॥

अन्वयः— अस्य एतावान् महिमा । अतः च पुरुषः ज्यायान् । अस्य पादः विश्वा भूतानि । अस्य त्रिपाद् दिवि अमृतम् ॥३॥

अर्थ – (अस्य) इस परमात्माकाहि (एतावान् महिमा) यह सब महिमा है। परंतु (अतः ज्यायान्) इससे बहुतहि बडा (पुरुषः) वह परमात्मा है। क्यों कि (अस्य पादः) इसका एक अंश हि (विश्वा भूतानि) ये सब भूतमात्र हैं और (अस्य त्रिपात्) इसका शेष तीन भाग (दिवि अमृतं) द्युलोक में अमर है ॥३॥

भावार्थ— इस विश्व में जो प्रकट हो रहा है, वह महिमा इसी परमात्मा का है, परन्तु वह परमात्मा इससे बहुत ही बडा है। अर्थात् इस विश्वमें जो कुछ दीखता है, वह उसकी महान् शक्तिका एक अल्पसा अंश है। यह सब विश्व उसका एक अंशमात्र है। शेष अनन्त द्युलोक में अमृतरूप में रहता है।

परमात्मा का एक अल्प अंश इस विश्व के रूप में प्रकट होता है, परन्तु इससे बहुत बडा भाग सदा द्युलोकमें अमृत रूपमें रहता है। विश्वका रूप बनने बिगडनेवाला है, अर्थात् मृत और अमृत रूप है, परन्तु जो द्युलोक में उसका अनन्त रूप है, वह अमृत स्थितिमें सदा एक जैसा रहता है। ब्रह्म के दो रूप हैं (**द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे, मूर्तं चैवामूर्तं च**) मूर्त और अमूर्त।

पाठभेद ।

अथर्ववेद में '**तावन्तो अस्य महि॒मानः॑**' (अथर्व० १९।६।३)

सामवेद का पाठ ऐसा है—

तावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पूरुषः । (साम० ६२०)

पादोऽस्य सर्वा भूतानि ॥ (साम० ६१९)

साम का पाठ वही अर्थ बताता है, जो ऊपर दिया है। अथर्ववेदके पाठ में महिमा बहुवचन में है इससे स्पष्ट होता है कि, परमात्मा के अनन्त महिमा हैं।

मन्त्रस्थ पदोंका अर्थ ।

१ **महिमा**= सामर्थ्य, महत्त्व, शक्तिविशेष, प्रभाव।
२ **पादः**= अंश, चौथा भाग, अल्प अंश।
३ **भूत**= प्राणिमात्र, पञ्च महाभूत, विश्व बना हुआ।
४ **अमृतं**= अमर।
५ **दिवि**= द्युलोकमें, प्रकाशमें स्वर्गमें।

(एतावान्) So mighty is (अस्य महिमा) His grandeur; yea, (अतः ज्यायान्) greater than this (च पूरुषः) truely is the Supreme Being. (विश्वा भूतानि) All the creatures are (अस्य पादः) onefourth of Him, and His (त्रिपाद्) three fourths (अमृतं) eternal Blissful Life-force is in heaven.

त्रि॒पादू॒र्ध्व उदै॒त्पुरु॑षः॒ पादो॑ऽस्ये॒हाभ॑व॒त्पुनः॑ । ततो॒ विष्व॒ङ् व्य॑क्रामत्साशनान॒शने॑ अ॒भि ॥४॥

पदानि— त्रि॒ऽपात् । ऊ॒र्ध्वः । उत् । ऐ॒त् । पुरु॑षः । पाद॑ः । अ॒स्य॒ । इ॒ह । अ॒भ॒व॒त् । पु॒न॒रिति॑ । ततः॑ । विष्व॑ङ् । वि । अ॒क्रा॒म॒त् । सा॒श॒ना॒न॒श॒ने इति॑ । अ॒भि ॥४॥

अन्वयः— त्रिपात् पुरुषः ऊर्ध्वः उत् ऐत् । अस्य पादः इह पुनः अभवत् । ततः विष्वङ् साशनानशने अभि वि अक्रामत् ॥४॥

अर्थ — (त्रिपात् पुरुषः) तीन भाग परमात्मा (ऊर्ध्वः उदैत्) उच्च भाग में ऊपर प्रकाशता है और

(अस्य पादः) इस परमात्माका एक भाग (इह) इस विश्वमें (पुनः अभवत्) वारंवार विविधरूप बनता है। अर्थात् (ततः) इससे (विष्वङ्) विविधरूप में (साशन-अनशने) खानेवाले और न खानेवाले का (अभि) लक्ष्य रख कर, स्वयं (व्यक्रामत्) विभक्त होता है ॥ ४ ॥

भावार्थ— परमात्मा का तीन भाग ऊपर अमृतस्वरूप में प्रकाशता है। उसका केवल एक अल्पसा अंश इस विश्व में वारंवार इस सृष्टिके विविध रूपोंमें प्रकट होता हैं। अर्थात् वह छोटासा अंश विश्व में खानेवाले और न खानेवाले (चेतन और जड के) अनेक रूपोंमें अपने आपको विभक्तसा करता है ॥४॥

पाठभेद।

अथर्ववेद में यह मन्त्र निम्नलिखित पाठान्तर के साथ आया है—

त्रिभिः पद्भिर्द्यामरोहत् पादस्येहाभवत्पुनः।
तथा व्यक्रामद्विष्वङशनानशने अनु ॥

(अथर्व० १९।६।२)

अर्थ — (त्रिभिः पद्भिः) अपने तीनों भागोंके साथ वह (द्यां अरोहत्) द्युलोक पर चढा है और इसके (पादस्य) एक भागका (पुनः) वारंवार (इह) यहां इस सृष्टि के रूप में (अभवत्) बनता है, अर्थात् (अशन-अनशने) खानेवालों और न खानेवालों के रूप के किंवा चेतन और जड के रूप के अनुकूल (तथा) जैसा चाहिये वैसा (विष्वङ् वि अक्रामत्) चारों ओर उस अपने भाग को विभक्त करता है।

इसका आशय वही है, जो ऊपर के मन्त्र का है, केवल पदोंकाहि भेद है।

मन्त्रस्थ पदोंका अर्थ।

१. **उदैत्**= ऊपर गया है। उदयको प्राप्त हुआ है।

२. **विष्वङ्**= (विषु-अञ्च्) = चारों ओर जाना, व्यापना, अनेक दिशाओंमें बिखरना।

३. **व्यक्रम्** = (वि-क्रम्) = जाना, बढना, विभक्त होना।

४. **साशनानशन**= (साशन-स+अशन) भोजन करनेवाला, चेतन; (अनशन-अन्+अशन्) भोजन न करनेवाला, अचेतन, जड।

(त्रिपाद्) With threefourths (पुरुषः) the Supreme Being (ऊर्ध्वः उदैत्) rose up. (पादः) One fourth (अस्य) of Him (पुनः) again and again (अभवत्) comes into being (इह) here. (ततः) Thence (वि अक्रामत्) He becomes devided (विष्वङ्) into every form & in every direction, i.e, into (साशन-अनशने अभि) what eats & what eats not (into animate and inanimate creations).

तस्माद्विराळजायत विराजो अधि पूरुषः। स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः ॥५॥

पदानि— तस्मात्। विऽराट्। अजायत। विऽराजः। अधि। पुरुषः। सः। जातः। अति। अरिच्यत। पश्चात्। भूमिं। अथो इति। पुरः॥५॥

अन्वयः— तस्मात् विराट् अजायत। विराजः अधि पुरुषः। सः जातः अति अरिच्यत। पश्चात् भूमिं अथो पुरः ॥५॥

अर्थ— (तस्मात्) उस एकपात् परमात्मासे (विराट्) विराट् [जिससे सूर्यचन्द्रादि विविध पदार्थ प्रकाशते हैं ऐसा] पुरुष (अजायत) प्रकट हुआ। इस (विराजः अधि) विराट् [पुरुष के ऊपर] एक अधिष्ठाता (पुरुषः) पुरुष हुआ। (सः जातः) वह प्रकट होते हि (अति अरिच्यत) अतिरिक्त अर्थात् विविध रूपोंमें विभक्त हुआ। (पश्चात् भूमिं) पहले भूमि बनी और (अथो पुरः) उसके नंतर पृथ्वीके ऊपरके विविध देह बने ॥५॥

भावार्थ— [परमात्मा के एक अल्पसे अंशसे यह सब सृष्टि बनी, ऐसा पूर्व मन्त्र में कहा, उसके अनुसंधानसे इस मन्त्रका आशय देखना योग्य है] उस अंशसे ये सूर्यचन्द्रादि सब दैदीप्यमान गोल बने, इन सबका नियमन करनेवाला एक अधिष्ठाता निर्माण हुआ। वह प्रकट होतेहि अनेक

वस्तुओं की निर्मिति हुई । प्रथमतः पृथ्वी बनी, उसके पश्चात् उस पृथ्वीपर रहनेवाली विविध वस्तुएं बनीं, अर्थात अनेक छोटेमोटे देह बने ॥५॥

यजुर्वेद और सामवेद का पाठ **'ततो विराडजायत'** ऐसा है (सा० ६२१ । अथर्ववेद का पाठ ऐसा है—

विराडग्रे समभवद् विराजो अधि पूरुषः ।

(अथर्व० १९।६।९)

'(अग्रे) प्रारंभ में (विराट्) विराट् पुरुष (सं अभवत्) उत्तम रीतिसे उत्पन्न हुआ और इस विराट् के ऊपर अधिष्ठाता, नियामक अथवा शासक भी हुआ है ।'

मन्त्रस्थ पदोंके अर्थ ।

१. विराट्= (विविधानि राजन्ते) जिसमें अनेक वस्तुएं प्रकाशती हैं । सूर्य, चन्द्र, अग्नि, नक्षत्र आदि का प्रकाश इस में है, अतः इसको विराज् कहते हैं ।

२. अतिरिच्यत् (अति+रिच्)=बडा होना, विशेष शक्ति से युक्त होना, पृथक् पृथक् होना ।

३ पुरः= (पूर्यते इति) = जो स्वयंपूर्ण हैं, सप्तधातुओंसे परिपूर्ण हैं (देह), अन्नादि साधनोंसे जो पूर्ण हैं (नगर, पुरियां)।

(तस्मात्) From Him this (विराट्) shining universe (अजायत) was born, and (विराजः अधि) upon this universe (पुरुषः) a governor was appointed; (स जातः) as soon as He come into being He (अति अरिच्यत) first predonmiated over (भूमिं) the earth (पश्चात् अथो पुरः) and then over the different bodies (on it).

यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत ।
वसंतो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः
शरद्धविः ॥६॥

पदानि– यत् । पुरुषेण । हविषा । देवाः । यज्ञं । अतन्वत । वसंतः । अस्य । आसीत् । आज्यं । ग्रीष्मः । इध्मः । शरत् । हविः ॥६॥

अन्वयः– यत् देवाः यज्ञं पुरुषेण हविषा अतन्वत, (तदा) अस्य आज्यं वसंतः, इध्मः ग्रीष्मः, हविः शरत् आसीत् ॥६॥

अर्थ — (यत्) जब (देवाः यज्ञं) देवोंने यज्ञ को (पुरुषेण हविषा) परमात्मा से बने सृष्टिरूप हविके द्वाराहि (अतन्वत) फैलानेका कार्य किया, उस समय (अस्य) इस यज्ञ का (आज्यं वसन्तः) घी वसन्त ऋतु था, (इध्मः ग्रीष्मः) इन्धन ग्रीष्म था और (हविः शरत् आसीत्) हवनसामग्री शरदृतु ही थी ॥ ६ ॥

भावार्थ— देवोंने परमात्मा से बने हुए सृष्टिरूप हवन-द्रव्यसे हि सबसे प्रथम यज्ञ किया। उस समय वसन्तऋतुमें उत्पन्न पदार्थ घीके स्थानमें, ग्रीष्म ऋतुमें उत्पन्न पदार्थ इन्धन के स्थानमें, तथा शरदृतुमें उत्पन्न पदार्थ हविके स्थानमें बर्ते गये थे ॥६॥

परमात्मा का एक अंश इस संसारमें वारंवार उत्पन्न होता है, विविध रूपोंमें प्रकट होता है, ऐसा पूर्व स्थानमें (मन्त्र ४में) कहा, तथा (मन्त्र ५में) कहा कि वही अंश पृथ्वी और पृथ्वीपर के विविध शरीरोंके रूपोंमें प्रकट हुआ। इस तरह विश्व निर्माण होते ही देवताओंने यज्ञ का प्रचार किया । इस यज्ञमें ऋतुओं में उत्पन्न होनेवाली वस्तुएंही यज्ञार्थ बर्ती जाती थीं । कोई कृत्रिम पदार्थ बर्ते नहीं जाते थे ।

मन्त्रस्थ पदोंका अर्थ ।

१. हविष्= ग्रहण करनेयोग्य वस्तु, यज्ञके लिये योग्य पवित्र पदार्थ ।

२. आज्यं = घृत, घी ।

३. इध्मः = जलने की लकडी, समिधा ।

यजुर्वेद वा० संहिता में यह मंत्र १४ वां है। पाठ ऐसाहि है। अथर्ववेद में यह मन्त्र १० वां है। सामवेदमें पुरुषसूक्त के केवल ५ ही मंत्र हैं। अतः इस मन्त्रसे आगेके मन्त्र सामवेद में नहीं हैं ।

(यत्) When (देवाः) the deities (यज्ञं अतन्वत) prepared their sacrifice (हविषा) with offering (पुरुषेण) of manifestations of the

universal Being, (अस्य) its (आज्यं) melted butter was (वसन्तः) spring, (हविः) holy oblation was (शरत्) autumn and (इध्मः) the wood was (ग्रीष्मः) summer.

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन्पुरुषं जातमग्रतः। तेन देवा अयजंत साध्या ऋषयश्च ये ॥७॥

पदानि– तं। यज्ञं। बर्हिषि। प्र। औक्षन्। पुरुषं। जातं। अग्रतः। तेन। देवाः। अयजंत। साध्याः। ऋषयः। च। ये ॥७॥

अन्वयः– अग्रतः जातं तं यज्ञं पुरुषं बर्हिषि प्र औक्षन्। तेन देवाः साध्याः ये च ऋषयः ते अयजन्त ॥६॥

अर्थ— वे (अग्रतः जातं) सबसे प्रथम प्रकट हुए (तं यज्ञं पुरुषं) उस यज्ञस्वरूपी परमात्माको (बर्हिषि) मानसयज्ञमें (प्रौक्षन्) संकल्पित करते रहे। (तेन) उससे हि (देवाः साध्याः ऋषयः) देव, साध्य और ऋषि (ते) ये सब (अयजन्त) यज्ञ करते रहे।

भावार्थ— परमात्मा का जो एक अंश विश्वके विविध रूपोंमें प्रकट हुआ था, उसी को यज्ञ करनेके लिए देव, साध्य और ऋषिलोग लिया करते थे। मानसिक संकल्पसे ही यह यज्ञ होता था। यज्ञ के क्रियाकलाप संकल्पमात्र थे।

इस प्रारंभिक यज्ञ में संकल्प हि मुख्य था। संपूर्ण विश्वरूपोंमें परमात्मा का एक अंश प्रकट हुआ। इसी को लेकर संकल्पसे ही यह यज्ञ होता था। परमात्मा की उपासना परमात्मासे उत्पन्न विश्वान्तर्गत पदार्थोंके समर्पणसे ही होती थी।

अथर्वपाठ।

तं यज्ञं प्रावृषा प्रोक्षन् पुरुषं जातमग्रशः।
तेन देवा अयजन्त साध्या वसवश्च ये ॥

(अथर्व० १९।६।११)

अर्थ— (अग्रशः जातं तं पुरुषं) प्रारंभमें प्रकट हुए उस पुरुष को (प्रावृषा प्रोक्षन्) वृष्टिद्वारा प्रोक्षण करके, साध्य, वसु और जो देव थे, वे (तेन अयजन्त) उसीके साधनसे उसीका यजन करते थे।

यज्ञपुरुष से सब सृष्टि उत्पन्न हुई, अतः सृष्टि परमात्मा का ही रूप है। इस विश्वात्मा से परमात्मा का यज्ञ किया जाता था।

मन्त्रस्थ पदोंका अर्थ।

१ बर्हिष् = मानसयज्ञ, कुश, दर्भ।
२ साध्यः = साधन करनेवाले, साधक।
३ ऋषिः = मन्त्रद्रष्टा, मन्त्रपति, कवि।
४ देवः = सूर्यचन्द्रादि देवतागण, ज्ञानी जन।

(ते) They (प्रौक्षन्) consecrated (यज्ञं पुरुषं) their sacrificial Being (जातं) manifested [in many forms] (अग्रतः) in earliest times, (बर्हिषि) in their mental sacrifice; and (तेन) by Him alone (देवाः) the deities (साध्याः) sacrificers and (ऋषयः) seers (अयजन्त) made their sacrifice.

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः संभृतं पृषदाज्यम्। पशून्तांश्चक्रे वायव्यानारण्यान् ग्राम्याश्च ये ॥८॥

पदानि– तस्मात्। यज्ञात्। सर्वऽहुतः। संऽभृतं। पृषत्ऽआज्यं। पशून्। तान्। चक्रे। वायव्यान्। आरण्यान्। ग्राम्याः। च। ये ॥८॥

अन्वयः– तस्मात् सर्वहुतः यज्ञात् पृषदाज्यं संभृतम्। वायव्यान् आरण्यान्, ये च ग्राम्याः तान् पशून् चक्रे ॥८॥

अर्थ — (तस्मात्) उस (सर्वहुतः यज्ञात्) सर्व पवित्र यज्ञसे (पृषद्-आज्यं) दही और घी (संभृतं) बना है। तथा (वायव्यान्) वायु में संचार करनेवाले पक्षी, (आरण्यान्) अरण्यमें रहनेवाले पशु

और (ये च ग्राम्याः) जो ग्राममें रहनेवाले पशु हैं, (तान् पशून्) उन सब पशुओंको भी (चक्रे) बनाया ॥८॥

भावार्थ— वह यज्ञपुरुष परमात्मा ही सबसे पवित्र और यजनीय है। उसके अंशसे उत्पन्न हुए विश्वान्तर्गत वस्तुओंके योग्य समर्पणसेहि उसका यजन होता है। इस यज्ञसे दूध, दही, घृत आदि भोगके पदार्थ उत्पन्न हुए हैं। ये पदार्थ गौ आदि पशुओं से प्राप्त होते हैं। ये पशु भी उसी परमात्मा से उत्पन्न हुए हैं। आकाशसंचारी सब पक्षी, जंगली पशु और गौ आदि ग्रामीण पशु ये सब उसी से उत्पन्न हुए हैं। सभी पदार्थ उसी परमात्माके एक अंशसे हुए हैं॥

अथर्ववेदमें यह मन्त्र १४ वाँ है।

मन्त्रस्थ पदोंका अर्थ।

सर्वहुत् = सबका सर्वतः जिसमें हवन होता है। सबसे पूजनीय। परमात्मा की पूजा यज्ञ से की जाती है, परंतु यज्ञ में परमात्मा के अंश से बने विश्वान्तर्गत पदार्थहि बर्ते जाते हैं, इसलिए परमात्मा की पूजा परमात्मासेहि परमात्मा द्वारा होती है। यहां यज्ञकर्ता, यज्ञसाधन और यजनीय देव एक ही होता है। यह उच्चतम यज्ञ की कल्पना है। गीता में **'ब्रह्मार्पणं०'** (गीता० ४।२४) **'अहं क्रतु०'** (गीता० ९।१६) इन श्लोकोंसे यही यज्ञ दर्शाया है। इस परमात्माके पूर्ण यज्ञ से हि यह सब विश्व बना है।

२ यज्ञ = (देवपूजा-संगतिकरण-दानं) = पूज्यों की पूजा, सबकी एकता होने का उत्तम साधन और जनता का हित जिस सत्कर्म से होता है, उसका नाम यज्ञ है। परमात्मा, ब्रह्म, ईश्वर।

(तस्मात्) From that (सर्वहुतः यज्ञात्) general Holy Sacrifice (पृषद् आज्यं) curds and ghee (सं भृतं) was gathered up. He (चक्रे) formed (तान् पशून्) the creaturs (वायव्यान्) of the air, and animals both (आरण्यान्) wild and (ये ग्राम्याः च) tame, that live in villages.

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे। छंदांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥९॥

पदानि— तस्मात्। यज्ञात्। सर्वऽहुतः। ऋचः। सामानि। जज्ञिरे। छंदांसि। जज्ञिरे। तस्मात्। यजुः। तस्मात्। अजायत ॥९॥

अन्वयः— तस्मात् सर्वहुतः यज्ञात् ऋचः सामानि जज्ञिरे। तस्मात् छंदांसि जज्ञिरे। तस्मात् यजुः अजायत ॥९॥

अर्थ— उस सर्वपवित्र यज्ञपुरुष से (ऋचः) ऋग्वेदमन्त्र, (सामानि) सामगान, (जज्ञिरे) हुए। (छन्दांसि) छन्द अथवा अथर्ववेद (जज्ञिरे) हुए और (यजुः) यजुर्वेद उसीसे (अजायत) हुआ है ॥९॥

भावार्थ— उस परमात्मा के अंशसे सब विश्व हुआ, उसमें ज्ञानी लोग भी उसीसे बन गये। यज्ञ भी प्रारंभ हुए। यज्ञ और ज्ञानी लोगोंके द्वारा ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद प्रकट हुए।

(तस्मात् सर्वहुतः यज्ञात्) From that great general Sacrifice (ऋचः सामानि जज्ञिरे) Richas and Samans were produced and (तस्मात् छन्दांसि जज्ञिरे) from it charms (of Atharva veda) are pruoduced (तस्मात् यजुः अजायत) and from it Yajus are also produced.

तस्मादश्वा अजायंत ये के चोभयादतः। गावो ह जज्ञिरे तस्मात् तस्माज्जाता अजावयः ॥१०॥

पदानि— तस्मात्। अश्वाः। अजायंत। ये। के। च। उभयादतः। गावः। ह। जज्ञिरे। तस्मात्। तस्मात्। जाताः। अजावयः ॥१०॥

अन्वयः— तस्मात् अश्वाः अजायन्त। ये के च उभयादतः। तस्मात् ह गावः जज्ञिरे। तस्मात् अजावयः जाताः ॥१०॥

अर्थ— (तस्मात्) उसीसे (अश्वाः) अजायन्त घोडे उत्पन्न हुए। (ये के च उभयादतः) जो कोई दोनों

ओर दांतवाले हैं वे भी उसीसे हुए। (तस्मात् गावः ह जज्ञिरे) उसीसे गौवें भी उत्पन्न हुईं। (तस्मात् अजावयः जाताः) उसीसे बकरीयां और भेड भी उत्पन्न हुए ॥१०॥

भावार्थ— सब सृष्टि और अन्तर्गत सब पदार्थ उसी परमात्मा के एक अंश से उत्पन्न हुए।

(तस्मात्) From Him (अश्वाः अजायन्त) horses were born, from Him all cattle (ये के च उभयादतः) that has got two rows of teeth, were born; (तस्मात्) from Him (गावः ह जज्ञिरे) cows were generated, (तस्मात्) from Him (अजावयः जाताः) goats and sheep were born.

यत्पुरु॑षं॒ व्यद॑धुः कति॒धा व्य॑कल्पयन्। मुखं॒ किम॑स्य॒ कौ बा॒हू का ऊ॒रू पादा॑ उच्यते ॥११॥

पदानि— यत्। पुरु॑षं। वि। अद॑धुः। क॒ति॒धा। वि। अ॒क॒ल्प॒य॒न्। मुखं॑। किं। अ॒स्य॒। कौ। बा॒हू इति॑। कौ। ऊ॒रू इति॑। पादौ॑। उ॒च्ये॒ते॒ इति॑ ॥११॥

अन्वयः— यत् पुरुषं वि-अदधुः, (तं) कतिधा वि-अकल्पयन्। अस्य मुखं किं? कौ बाहू? कौ ऊरू? कौ पादौ उच्येते? ॥११॥

अर्थ— (यत्) जब (पुरुषं) इस पुरुष की (वि-अदधुः) विशेष रीतिसे धारणा की गयी, तब उसकी (कतिधा) कितने प्रकारोंसे (वि अकल्पयन्) कल्पना की गयी थी? (अस्य मुखं किं) इसका मुख क्या है, (कौ बाहू) इसके बाहू कौन हैं, (कौ पादौ उच्येते) दोनों चरण कौन कहलाते हैं?

भावार्थ— जिस पुरुष का वर्णन किया गया, उसके मुख, बाहू, ऊरू और पांव कौन कौन हैं?

(यत्) When they (व्यदधुः) described the (पुरुषं) universal Being, in (कतिधा व्यकल्पयन्) how many parts did they conceive Him? (अस्य मुखं किं) What is His mouth? (कौ बाहू) What are His arms! (कौ ऊरू) and His thighs? and (पादौ कौ उच्येते) what are called His feet?

अथर्ववेद का पाठ।

'मुख॒ किम॑स्य॒ किं बा॒हू किमू॒रू पादा॑ उच्येते।'
(अथर्व० १९।६।५)

ब्रा॒ह्म॒णो॑ऽस्य॒ मुख॑मासीद्बा॒हू रा॑ज॒न्यः॑ कृ॒तः। ऊ॒रू तद॑स्य॒ यद्वैश्यः॑ प॒द्भ्यां शू॒द्रो अ॑जायत ॥१२॥

पदानि— ब्रा॒ह्म॒णः। अ॒स्य॒। मुखं॑। आ॒सी॒त्। बा॒हू इति॑। रा॒ज॒न्यः॑। कृ॒तः। ऊ॒रू इति॑। तत्। अ॒स्य॒। यत्। वैश्यः॑। प॒त्ऽभ्यां। शू॒द्रः। अ॒जा॒य॒त॒ ॥१२॥

अन्वयः— ब्राह्मणः अस्य मुखं आसीत्। राजन्यः (अस्य) बाहू कृतः। यत् वैश्यः तद् अस्य ऊरू। पद्भ्यां शूद्रः अजायत ॥१२॥

अर्थ— ब्राह्मण इसका मुख है। (राजन्यः) क्षत्रिय इसके (बाहू कृतः) बाहू किये गये हैं। (यत् वैश्यः) जो वैश्य हैं (तत् अस्य ऊरू) वे इसकी जंघाएँ हैं और इसके (पद्भ्यां) पावोंके लिये (शूद्रः अजायत) शूद्र हुआ है ॥१२॥

भावार्थ— इस परमात्मा के मुख, बाहू, ऊरू और पांव क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये चार वर्ण हैं। यही चातुर्वर्ण्यमय जनतारूपी नारायणहि सबका उपास्य देव है।

अथर्वपाठ।

ब्रा॒ह्म॒णो॑ऽस्य॒ मुख॑मासीद् बा॒हू रा॑ज॒न्यो॑ऽभवत्। मध्यं॒ तद॑स्य॒ यद्वैश्यः॑ प॒द्भ्यां शू॒द्रो अ॑जायत ॥
(अथर्व० १९।६।६)

'ब्राह्मण इसका मुख हुआ, बाहू क्षत्रिय बन गया, मध्य भाग वह हुआ जो वैश्य है, और पांवोंके लिये शूद्र हुआ है।'

मन्त्रस्थ पदोंका अर्थ ।

१. ब्राह्मणः = (ब्रह्म जानाति) ब्रह्मज्ञानी मनुष्य । ज्ञान प्रसार करनेवाले ।

२. राजन्यः = (मूर्धाभिषिक्तः) राज्य चलानेके कार्यमें नियुक्त क्षत्रिय । प्रजाका रक्षण करनेवाले वीर ।

३. वैश्य = पशुरक्षा और खेती करनेवाले । व्यापारी और किसान ।

४. शूद्र = कारीगर । सेवक ।

५. मध्यं = मध्य भाग ।

(ब्राह्मणः) The Brahmin (आसीत्) was (अस्य मुखं) His mouth. (राजन्यः) The Kshatriya (कृतः) was made of (बाहू) both of His arms. (यत् वैश्यः) The Vaishya became (तत् अस्य ऊरू) His thighs and (पद्भ्यां) from His feet (शूद्रः) the Shudra was (अजायत) born.

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत । मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत ॥१३॥

पदानि— चन्द्रमाः । मनसः । जातः । चक्षोः । सूर्यः । अजायत । मुखात् । इन्द्रः । च । अग्निः । च । प्राणात् । वायुः । अजायत ॥१३॥

अन्वयः— मनसः चन्द्रमाः जातः । चक्षोः सूर्यः अजायत । मुखात् इन्द्रः च अग्निः च । प्राणात् वायुः अजायत ॥१३॥

अर्थ-- (मनसः) मनसे (चन्द्रमाः जातः) चन्द्र बना, (चक्षोः सूर्यः अजायत) आंखोंसे सूर्य हुआ । (मुखात्) मुखसे (इन्द्रः अग्निः च) इन्द्र और अग्नि बन गये और (प्राणात्) प्राणसे (वायुः अजायत) वायु उत्पन्न हुआ है ॥१३॥

भावार्थ-- परमात्मा के मनसे चन्द्रमा, आंखसे सूर्य, मुखसे अग्नि और इन्द्र, और प्राणसे वायु बना । (अथवा ११ वें मंत्र के प्रश्नों के अनुसंधान से इसका आशय ऐसा होता है-) चंद्रमा इस प्रभु का मन है, सूर्य इसकी आंख है, इंद्राग्नी इसका मुख है और वायु इसका प्राण है ।

यजुर्वेद-पाठ ।

श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत ॥

(वा०य० ३१।१२)

(श्रोत्रात् वायुः प्राणः च) इसके कानसे वायु और प्राण तथा मुखसे अग्नि हुआ है । (मंत्र ११ के प्रश्नों के अनुसंधान से इसका आशय यह है-) वायु ही प्राण और कान हैं और अग्निहि इसका मुख है । शेष मंत्र ऋग्वेदवत्‌ही है ।

(चन्द्रमाः) The moon (जातः) was generated from (मनसः) His mind, (चक्षोः) and from His eyes the (सूर्यः अजायत) Sun was born; (इन्द्रः च अग्निः च) Indra and Agni were born from His (मुखात्) mouth and (वायुः) the wind (अजायत) was born from His (प्राणात्) breath.

नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत । पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकाँ अकल्पयन् ॥१४॥

पदानि— नाभ्याः । आसीत् । अन्तरिक्षं । शीर्ष्णः । द्यौः । सं । अवर्तत । पत्ऽभ्यां । भूमिः । दिशः । श्रोत्रात् । तथा । लोकान् । अकल्पयन् ॥१४॥

अन्वयः— नाभ्याः अन्तरिक्षं आसीत् । शीर्ष्णः द्यौः सं अवर्तत । पद्भ्यां भूमिः । श्रोत्रात् दिशः । तथा लोकान् अकल्पयन् ॥१४॥

अर्थ— (नाभ्याः) नाभिसे (अन्तरिक्षं) अन्तरिक्ष (आसीत्) उत्पन्न हुआ, (शीर्ष्णः) सिरसे (द्यौः) द्युलोक (सं अवर्तत) उत्पन्न हुआ । (पद्भ्यां) पांवों से (भूमिः) पृथिवी, (श्रोत्रात् दिशः) कानोंसे दिशाएं उत्पन्न हुईं । (तथा) इसी तरह (लोकान्)

अन्यान्य लोकों की (अकल्पयन्) कल्पना की गई है ॥१४॥

भावार्थ-- नाभि, सिर, पांव और कानों से क्रमशः अंतरिक्ष, द्यु, पृथ्वी और दिशाएं बनीं। (अथवा ११ वें मंत्रके प्रश्नोंके अनुसंधानसे ऐसा आशय होगा-) अंतरिक्ष इस प्रभु की नाभि है, द्युलोक सिर है, पृथ्वी इसके पांव है। और दिशाएं इसके कान है, तथा अन्य लोकलोकान्तर इसके अन्यान्य अवयव हैं ॥१४॥

(नाभ्यः) From His navel (अन्तरिक्षं आसीत्) mid-air was made, (द्यौः) the sky (सं अवर्तत) was fashioned (शीर्ष्णः) from his head, (भूमिः) the Earth (पद्भ्यां) from His feet, and (श्रोत्रात्) from His ear (दिशाः) the regions. (तथा लोकान् अकल्पयन्) Thus they imagined the worlds in His body.

सप्तास्यासन्परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः। देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन्पुरुषं पशुम् ॥१५॥

पदानि-- सप्त। अस्य। आसन्। परिऽधयः। त्रिः। सप्त। संऽइधः। कृताः। देवाः। यत्। यज्ञं। तन्वानाः। अबध्नन्। पुरुषं। पशुम्॥१५॥

अन्वयः-- यत् यज्ञं तन्वानाः देवाः पुरुषं पशुं अबध्नन् अस्य सप्त परिधयः आसन्। त्रिः सप्त समिधः कृताः ॥१५॥

अर्थ-- (यत्) जब (यज्ञं तन्वानाः) यज्ञ का प्रचार करनेवाले (देवाः) देवोंने (पुरुषं पशुं) परमात्मा रूपी सर्वद्रष्टा को अपने मानस यज्ञमें (अबध्नन्) बांध दिया अर्थात् अपने मनमें ध्यानसे स्थिर किया, उस यज्ञ की (सप्त परिधयः आसन्) सात परिधियां थीं और (त्रिः सप्त) इक्कीस-तीनगुणा सात-- (समिधः कृताः) समिधायें बनायी थीं।

भावार्थ-- सर्वद्रष्टा सर्वसाक्षी परमात्माको मनमें सुस्थिर करनेका यह मानस यज्ञ है। मनके अन्दर बुद्धि और बुद्धि के अन्दर यह आत्मा है। यही यज्ञ-पुरुष है, इसलिए इस यज्ञपुरुष के बुद्धि, मन, अहंकार, वासना, स्थूल देह, समाज (मानव-समष्टि), विश्व (स्थिरचर-समष्टि) ये सात इस यज्ञके परिधि हैं। ये सात कार्यक्षेत्रकी मर्यादाएं हैं। इस प्रत्येकमें सात्त्विक, राजस, तामस भावोंसे इक्कीस प्रकारके यज्ञसाधन होते हैं और उतने यज्ञ भी अनेकविध होते हैं।

मन्त्रस्थ पदोंका अर्थ।

१. **परिधिः** = परिघ, आवरण, परिखा, घेर, दिवार, कीलेकी भित्ती।

२. **समित्**= जलानेकी लकडी, यज्ञकी लकडी, अग्निमें जो लकडियाँ डाली जाती हैं। ये सप्त वृक्ष की सूखी कडीयाँ होती हैं।

३. **पशुः**= (पश्यति इति) द्रष्टा, जो केवल देखता है, जो (पशु-बन्धने) बांधा जाता है। देवता। गौ आदि पशु। मनुष्यादि प्राणी।

(अस्य सप्त परिधयः आसन्) He had seven fencings [for his sacrifice], (त्रिः सप्त समिधः कृताः) & thrice seven kinds of fuel were prepared, (यत्) then the Devas (यज्ञं तन्वानाः) offering sacrifice, (अबध्नन्) bound (पुरुषं पशुं) the Univeirsal Seer (in their mental sacrifice).

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्। ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥१६॥

पदानि-- यज्ञेन। यज्ञं। अयजन्त। देवाः। तानि। धर्माणि। प्रथमानि। आसन्। ते। ह। नाकं। महिमानः। सचन्त। यत्र। पूर्वे। साध्याः। सन्ति। देवाः ॥१६॥

अन्वयः- देवाः यज्ञेन यज्ञं अयजन्त । तानि धर्माणि प्रथमानि आसन् । ते महिमानः नाकं ह सचन्त । यत्र पूर्वे साध्या देवाः सन्ति ॥१६॥

अर्थ--(देवाः) देवोंने (यज्ञेन यज्ञं) यज्ञसेहि यज्ञदेवका (अयजन्त) यजन किया था। (तानि धर्माणि) वे विधि (प्रथमानि आसन्) सबसे प्रथम थे। (ते) वे देव (महिमानः) महत्त्वको प्राप्त करते हुए (नाकं सचन्त ह) स्वर्गको प्राप्त हुए। (यत्र) जहां (पूर्वे साध्याः देवाः) प्राचीन कालके साधक देव (सन्ति) पहुंचे थे ॥१६॥

भावार्थ--- मुख्य यज्ञपुरुष परमात्मा है। उसका यजन देव करते रहे। उस यजनकी सामग्री उन यज्ञकर्ताओंने वही ली कि जो उसी परमात्मा से सृष्टिरूप बनी थी। यही यज्ञके द्वारा यज्ञका यजन है। यह यज्ञ सब यज्ञोंमें मुख्य है। इस यज्ञ के कर्ता स्वर्ग को प्राप्त करते हैं, जहां प्राचीन यज्ञकर्ता पहुंच रहते हैं।

मन्त्रस्थ पदोंका अर्थ।

१. **यज्ञः**= यज्ञपुरुष, परमात्मा, परब्रह्म। ईश्वर। जिसके लिये यज्ञ किया जाता है।

२. **यज्ञः** = परमात्मा से विराट् पुरुष और विराट् पुरुष से सब सृष्टिकी उत्पत्ति हुई। यह परमात्मासे उत्पन्न होने के कारण इसका भी नाम 'यज्ञ' है। इस साधन से यजन किया जाता है। यज्ञका साधन।

३. **प्रथम**= मुख्य, पहिला। प्रसिद्ध।

४. **नाक**= (न+अ+क) जहां असुख नहीं, जहां केवल सुख ही सुख है।

(देवाः) Devas (अयजन्त) honoured (यज्ञं) the Holy One (यज्ञेन) by their sacrifice. (तानि धर्माणि प्रथमानि आसन्) These were the earliest holy ordinances. (ते महिमानः) The mighty ones (नाकं सचन्त) attained the heaven (यत्र पूर्वे साध्याः देवाः सन्ति) where Sadhyas & the Devas of old, were dwelling.

अथर्ववेद में यह १६ वाँ मन्त्र इस सूक्त में नहीं है। परन्तु अ० ७।५।१ में है। परन्तु इस (१९।६।१६) के स्थानमें निम्नलिखित मन्त्र है-

मूर्ध्नो देवस्य बृहतो अंशवः सप्त सप्ततीः ।
राज्ञः सोमस्याजायन्त जातस्य पुरुषादधि ॥
(अ० १९।६।१६)

अर्थ-- (बृहतः) इस बडे देव (पुरुषाद् अधि जातस्य) पुरुष--विराट् पुरुष के अधिष्ठाता रूप बने हुए (राज्ञः सोमस्य देवस्य) राजा सोम देव परमेश्वरके (मूर्ध्नः) सिरसे (सप्त सप्ततीः) सात और सत्तर (अंशवः) किरण अजायन्त प्रकट हुए हैं।

भावार्थ-- सबसे बडा एक देव है, उससे विराट् पुरुष प्रकट हुआ, उस विराट पुरुष पर एक अधिष्ठता भी उसीसे हुआ। इस सर्वाधिष्ठाताके सिर स्थानीय द्युलोकसे सात और सत्तर किरण चारों ओर फैले हैं और येही किरण सर्वत्र विश्वभर कार्य करते हैं।

यहां नारायण ऋषिके १६ मन्त्रोंका पुरुषसूक्त समाप्त होता है। अब इसका आशय देखना है।

पुरुषसूक्तका आशय।

परमात्माकी महत्ता।

(बृहतः देवस्य। अ० १९।६।१६) एक महान् देव है। **(ज्यायान् च पुरुषः।** ऋ० १०।९०।३) जो सबसे बडा है, उससे श्रेष्ठ दूसरा कोई नहीं है। इसीको **'पुरुष, परमात्मा, परब्रह्म, महादेव'** आदि नाम हैं। (मं० ३)

(पादोऽस्य विश्वा भूतानि। ऋ० १०।९०।३) इस परमात्मा का एक अंशही ये सब भूत है अर्थात् वही सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, ग्रह, तारा, भूमि आदि वस्तु मात्र के रूपमें प्रकट हुआ है। **(अस्य त्रिपाद् अमृतं दिवि।** ऋ० १०।९०।३**)** इसका शेष सब अमृत-स्वरूप द्युलोकमें विराजता है। (मं० ३)

त्रिपाद
अमृत
विश्वं। पादः
साशन-चेतन अनशन-जड

(त्रिपाद् ऊर्ध्व उदैत् पुरुषः ॥४॥) अमृत पुरुष उच्च द्युस्थानमें सदा प्रकाश रहा है। परन्तु उसका **(पादः इह पुनः पुनः अभवत्।** (जो अंश विश्वके

रूप में प्रकट होता है वह **(पुनः)** वारंवार विश्वका रूप धारण करके प्रकट होता है। अर्थात् जैसा वह इस समय विश्वके रूपमें प्रकट हुआ है, वैसा हि भूतकालमें प्रकट हुआ था और उसी प्रकार आगे भविष्य कालमें भी विश्वरूपमें प्रकट होगा। **(पुरुषः साशन-अनशने विष्वङ् अभि-व्यक्रामत्)** परमात्मा ही चेतन और जडके प्रत्येक रूपमें प्रकट हुआ है। (मं० ४)

(पुरुषः एव इदं सर्वं) यह परमात्माही यह सब अर्थात् इस विश्वमें जो दिखाई देता है, वह सब है, **(यत् भूतं)** जो भूत कालमें प्रकट हुआ था, जो इस वर्तमान कालमें प्रकट हुआ है और **(यत् च भव्यं)** जो भविष्य कालमें प्रकट होनेवाला है, वह सब उसी परमात्माका रूप है, इसी लिये इसको **'विश्वरूप'** कहा जाता है। (मं० २) वह परमात्मा **(भूमिं अथो पुरः अति अरिच्यत** । मं० ५) प्रथम भूमिके रूपमें पश्चात् विविध शरीरोंकेरूपोंमें प्रकट हुआ।

नारायणका स्वरूप।

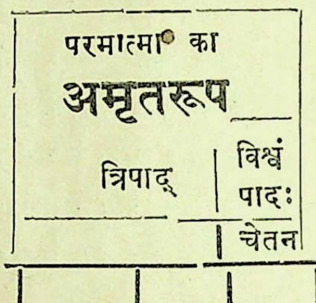
चतुर्थ मन्त्रमें चेतन रूपोंमें परमात्मा प्रकट हुआ, ऐसा कहा, उसको स्पष्ट करते हैं—

(सहस्रशीर्षा) परमात्माको लाखों सिर, **(सहस्रबाहुः।** अथर्व०) लाखों बाहु, हात, **(सहस्राक्षः)** लाखों आंख, और **(सहस्रपात्)** लाखों पांव हैं। अर्थात् परमात्मा को हजारों, लाखों, करोडों सिर, आंख, नाक, कान, मुख, गले, छातियां, बाहु, हाथ, पेट, कमर, मध्यभाग (गुप्त इंद्रिय), जंघाएं, घुटने, पिंडरियां और पांव हैं। जितने प्राणी इस भूमण्डल में हैं, तथा अन्यान्य लोकलोकान्तरोंमें होंगे, वे सब उसी परमात्माके रूप होनेसे, उन प्राणियों के जितने अवयव हैं, वे सब उसी परमात्मा के अवयव कहे गये हैं। इसलिये सहस्रों सिर कहे हैं। ये सिर केवल सहस्र हि नहीं अपितु लाखों करोडों, अब्जावधि होंगे। (मं० १)

जिस पुरुषका आपने वर्णन किया **(कतिधा व्यकल्पयन्)** उस पुरुषकी आपने किस प्रकार कल्पना की है? **(अस्य मुखं किं)** इस पुरुषका मुख क्या है? **(कौ बाहू)** इस पुरुषके बाहू कौन हैं? **(का ऊरू)** इसकी जंघाएं कौन हैं? और **(कौ पादौ उच्येते)** भला इसके पांव कौन कहलाते हैं? कृपा करके इस परमेश्वरके इन अवयवोंका वर्णन करके हमें इसका स्वरूप बताईये। (मं० ११)

(ब्राह्मणः अस्य मुखं) ब्राह्मण इसका मुख है, **(राजन्यः अस्य बाहू)** क्षत्रिय इसके बाहू हैं, **(अस्य ऊरू वैश्यः)** इसकी जंघाएं वैश्य हैं और **(पद्भ्यां शूद्रः)** पांवोंके लिये शूद्र हैं। इस तरह यह + नारायण सबका उपास्य देव है। (मं० १२)

जो परमात्मा मनुष्यों का उपास्य, सेव्य, पूज्य, सत्कर्तव्य, यजनीय है वह यही है, **ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र** रूपी नारायण ही सबका उपास्य है। साथवाले चित्रमें परमात्मा अमृत स्वरूप और परमात्माका विश्वरूप स्पष्ट करके बताया है। विश्वरूप भी उसीका है और चारों वर्णों में प्रकट होनेवाला सब मानवीरूप भी परमात्माका ही रूप है। परमेश्वरका यह अर्थात् नारायण-स्वरूप चारों वर्णोंमें **'विभक्त'** अलगअलग टुकडे होकर नहीं प्रकट हुआ। परन्तु जैसे एक शरीर के सिर-बाहू-जंघा-पांव ये चार अवयव होते हैं, इनका परस्पर अखण्ड संबंध रहता है, तद्वत् **'ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र'** ये चार अवयव नारायण के अखंड एक देह के हैं। इसलिए जो सेवा करनी है, वह अखण्ड भाव से करनी चाहिये। कोई वर्ण अपने आपको अन्यों से सर्वथा पृथक् न समझे, परन्तु चारों वर्ण मिलकर हम सब परमात्मा के विराट् देह के अवयव हैं, ऐसा समझकर, अनन्यभाव से [कोई किसी को अन्य न मानता हुआ] अपने आपको उसकी सेवासे कृत कृत्य करे।



विराट् पुरुष।

परमात्मा **(अनशन)** भोजन न करनेवालों के रूपमें प्रकट हुआ यह चतुर्थ मन्त्र में कहा, उसका स्पष्टीकरण करते हैं—

+ नरों के समूहको **'नार'** कहते हैं। नरसमूहके रूपमें यह होता है इस कारण इसको **(नार-अयन)** नारायण कहते हैं।

नारायण का मानवी स्वरूप बताया, अब उसीका विश्वरूप बताया जाता है। चन्द्रमा उस परमात्मा का मन है, सूर्य उस की आंखें हैं, अग्नि उसका मुख है, वायु उसका प्राण है, नाभि अन्तरिक्ष है, द्युलोक शिर है, भूमि पांव हैं, और इसी तरह अन्य लोकलोकान्तरोंको परमात्मा के शरीर के अन्यान्य अवयवों के स्थानपर आप कल्पना करिये। (मं० १३।१४)

परमात्माका **अमृत** स्वरूप — विश्व —

सिर= द्यौः, नक्षत्र, तारकागण,
आंख= सूर्य
मुख= अग्नि, इन्द्र,
कान= श्रोत्र= दिशा,
प्राण= वायु,
मन= चन्द्रमा, सोम,
उदर, नाभि, मध्य= अन्तरिक्ष लोक,
रुधिर, वीर्य=जल, समुद्र,
धमनियां= नदियां,
बाल= वृक्ष, वनस्पति, सोमादि औषधि,
पांव= भूमि।

संक्षेपसे यह विराट् पुरुष उसी परमात्माके एक छोटेसे, अंशसे हुआ है। इसीमें (**भूमिं विश्वतो वृत्वा**) भूमिके चारों ओर पूर्वोक्त हजारों मस्तकोंवाला नारायण हमारी सेवा स्वीकारनेके लिए विराज रहा (मं० १)। यह सब मिलकर परमात्माका एक छोटासा अंश है। शेष अमृत-स्वरूप अखण्ड है। परमात्मा के अखण्ड अमृत-स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करके उसकी अगाध अनन्त शक्तिको जानना चाहिए। परन्तु जो उसकी सेवा करनी है, वह पूर्वोक्त मानवसमाज की हि सेवा है। परमात्मा की सच्ची सेवा, उपासना अथवा यजन यही है।

यज्ञपुरुष, यज्ञदेव, यज्ञ ये सब इसीके नाम हैं। इसीसे आरण्यक वन्य सिंहव्याघ्रादि पशु, तथा ग्रामीण गौ, बैल, घोडा, बकरी, मेंढी आदि पशु तथा सब प्रकारके पक्षी (**वायव्यान्**) जो वायु में अन्तरिक्षमें संचार करते हैं, वे सब उत्पन्न हुए। (मं० ८;१०)

गौ आदि घरेलु पशु उत्पन्न होनेपर उनसे दूध, दूधसे दहि, दहीसें मख्खन, मख्खनसे घी, आदि अनेक पदार्थ बनें। (मं० ८)

पृथ्वीपर सूर्यकिरण आदि पडनेसे वसंत, ग्रीष्म, वर्षा, शरद् आदि ऋतु हुए और प्रत्येक ऋतुमें विविध वस्तुओं की सृष्टि होने लगी। वसंत ऋतु में फूल और फल, वर्षासे खेती, शरद् में धान्य, ऐसी अनन्त वस्तुओं की उत्पत्ति होने लगी और इन वस्तुओं के समर्पण से यज्ञ होने लगे। (मं० ६-८) चार वर्णरूपी नारायण की सेवा उक्त निसर्गनिर्मित वस्तुओं के समर्पण से शुरू हो गयी।

यह सब यज्ञीय वस्तुमात्र उसी परमात्मा के अंशसे ही उत्पन्न होने के कारण ये सब पदार्थ पृथक् दीखने पर भी स्वरूपतः अथवा मूलतः परमात्मरूप, यज्ञपुरुषरूप किंवा यज्ञरूपहि हैं। क्योंकि '**पुरुष एव इदं सर्वं**' (मं० २) परमात्मा ही यह सब है। ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र रूपी सेव्य देव भी वही है, और जिन वस्तुओंके समर्पण से उसकी सेवा करनी है, वह भी उसीका स्वरूप है। इसलिए कहा है कि (**पुरुषेण हविषा यज्ञं अतन्वत**। मं० ६) परमात्मारूपी हविर्द्रव्य से ही यज्ञ किया जाता है। **यज्ञकर्ता, यज्ञीय हविर्द्रव्य, यज्ञ और यजनीय देव** इन सब शब्दों में विविधता दीखने पर भी वस्तुतः मूलतः स्वरूपतः एकही परमात्माके ये सब रूप हैं।

महावाक्य।

इस पुरुषसूक्त में '**पुरुष एवेदं सर्वं**' (मं० २) परमात्मा ही सब कुछ है, परमात्मा ही सब विश्व के अनन्त रूपोंमें प्रकट हुआ है, यह महावाक्यहै। वेद का सब सार इसमें समाया है। इसकी कसौटी से सब मानव-धर्मोंकी परीक्षा होती है, मनुष्य के कर्तव्य इसी महावाक्य से निश्चित होते हैं। अतः पाठक इसका अच्छी तरह मनन करें। यही वेद का सर्वस्व है। इसको कभी न भूलें, इसके अर्थ के विषय में कभी भ्रम में न पडे। यदि संदेह हुआ तो पद-पदार्थ-पूर्वक इसका अर्थ जानकर मननपूर्वक अपनी शंका दूर करें। परन्तु महावाक्य को न भूलें। अथवा महावाक्यको खींचातानी द्वारा न मरोडें इस विषय में सावध रहें।

वेदोंकी उत्पत्ति।

इसी यज्ञपुरुष से ऋचा, साम, और यजु की अर्थात् चारों वेदों की उत्पत्ति हुई है, देखिए—

परमात्माका **अमृत** स्वरूप	विश्व	—**ब्राह्मण**= वसिष्ठ, अंगिरा, आदि ब्रह्मर्षि
		—**क्षत्रिय**=विश्वामित्र,पुरुरवा आदि राजर्षि
		—**वैश्य**
		—**शूद्र**= कवलऐलूषादि ऋषि

ये ही वेदमंत्रों के द्रष्टा ऋषि चारों वेदों में हैं, इनके कुल, वंश, इनके नामोंसेहि वेदमन्त्रोंमेंहि दर्शाये है।

परमात्माके एक अंशसे सब विश्व, सब मानव, सब मंत्रद्रष्टा ऋषि हुए हैं। और इन ऋषियोंके अंतःकरणों में यह मंत्ररूपी ब्रह्म प्रकट हुआ है।

सुख और आनन्द।

(अन्नेन प्राप्नोति। मं० २) जो अन्नसे अर्थात् जो भोगोंसे प्राप्त होता है, वह भोगसुख है, यह बाह्य वस्तुओंपर अवलंबित है। परन्तु दूसरा **(अमृतत्वं)** अमरत्व है, जो परमात्मा की सेवा से मिलता है, वह (भोगसुखं **अतिरोहति**) भोगोंसे प्राप्त होनेवाले सुख से कई गुणा श्रेष्ठ आनंद है। यह आनंद परमात्माकी **(पुरुष एव इदं सर्वं)**सर्वभावसे, अखण्डभावसे सेवा करनेसेहि प्राप्त होता है। भोगोंसे प्राप्त होनेवाला सुख खण्डभाव से मिलता है, परन्तु यह आनंद अखण्डभावसे, अनन्यभावसे अर्थात् सर्वभावसे सेवा करनेसेहि मिलता है। जो पाठक अपने आपको कृतकृत्य करना चाहते होंगे, उनको यही मार्ग ठीक तरह समझनेका यत्न करना चाहिये और आचरण करना चाहिए।

उक्त उपदेश अत्यंत रहस्यमय है, इसलिये एक उदाहरण देकर समझा देते हैं। देखिए, राष्ट्र में रहनेवाले सब लोग जब अपने राष्ट्र को दूसरों से पृथक् मानेंगे और दूसरोंका नाश करके अपनी उन्नति करनेके मार्ग से प्रयत्न करेंगे, तब परस्पर राष्ट्रों का संघर्ष बढ जायगा। जैसा इस समय युरोपमें हो रहा है, प्राचीन कालमें असुर, रावण, कौरव आदि इसके उदाहरण हैं।

पर जब सब मानवों को परमात्मा नारायण का अखण्ड स्वरूप मानकर उसकी सेवा करके, मानवों के हितके लिये आत्मसमर्पण करना अपना धर्म है, ऐसा वैदिक धर्म का सिद्धांत इस भूमण्डलपर सब मानव सर्वत्र आचरण में लाने लगे, तब सब राष्ट्र परस्पर सहाय्यकारी होंगे, सब एक दूसरों के हितचिंतक बनेंगे, तब परमात्मा की अखण्ड और अनन्य सेवा होगी और सर्वत्र शांति स्थापन होगी, और सबका कल्याण होगा।

अनन्य-भावसे उपासना और अन्य-भावसे उपासनामें भेद है। यही धर्म और अधर्म का मूल हेतु है।

विराट् और उसका अधिष्ठाता।

परमात्माके अल्प अंशसे **(तस्मात् विराट् अजायत।** मं० ५) सूर्य चन्द्र आदि विश्वव्यापी विराट् पुरुष-विश्वपुरुष-उत्पन्न हुआ। **(विराजः अधि पुरुषः।** मं० ५) इस विराट् पुरुषपर इस विश्वपर एक अधिष्ठाता उत्पन्न हुआ, जो इसके अन्दर की सब व्यवस्था देखता है। इस विराट् पुरुष से, इस अधिष्ठाता से, अर्थात् इन दोनोंसे मूल परमात्मा **(ज्यायान् पुरुषः।** मं० ३) बहुतही महान् है। क्योंकि यह सब विश्व उसके एक अल्प अंशसेहि उत्पन्न हुआ है, अतः अंशसे अंशी अधिक बडा होनाही चाहिये।

यज्ञ।

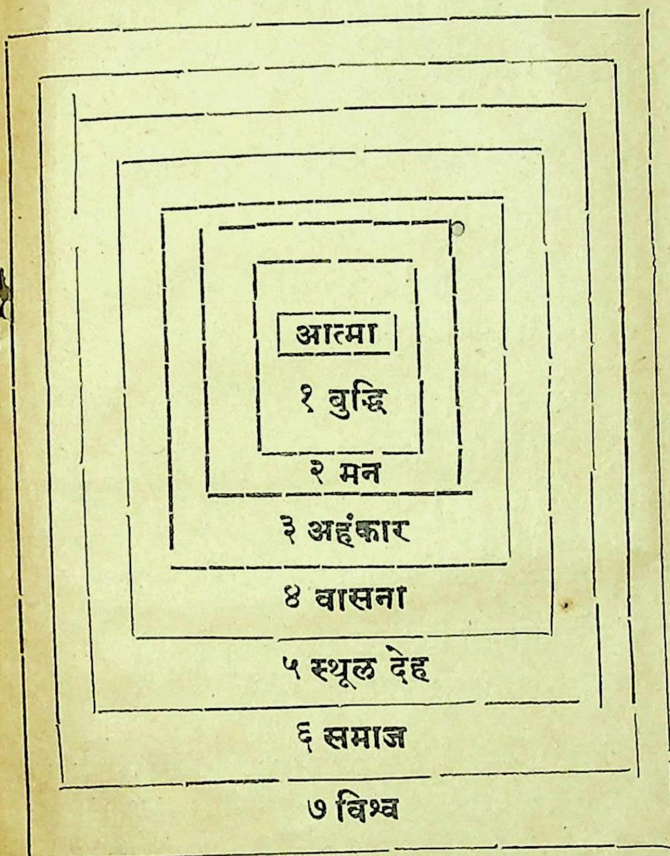
परमात्माके अंशसेहि विश्व, मानवसमाज, प्राणीसमूह, स्थिर चर–समूह, वृक्षवनस्पति, समिधा, दुग्धघृतादि पदार्थ, मन्त्र (चारवेद), यज्ञविधि, यज्ञ इन सबकी उत्पत्ति हुई। मानवसमाजमें ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र संमिलित हैं। ये सब बाह्यतः विभिन्न दीखते हैं, तो भी मूलतः अभिन्न अर्थात् एक ही हैं। यज्ञका यह एकत्व का भाव जानना चाहिए। इस विषयके भगवद्गीता के श्लोक यहां देखने योग्य है—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥
(भ० गी० ४।२४)

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्
(भ० गी० ९।१६)

'अर्पण, हवि, अग्नि, हवनकर्म, हवनकर्ता यह सब ब्रह्म है। क्रतु, यज्ञ, स्वधा, औषधि, मन्त्र, घृत, अग्नि, आहुति यह सब (अहं) मैं स्वयं ही हूं।' यहां के ब्रह्म अथवा (अहं) मैं के स्थानपर परमात्मा, पुरुष, नारायण ये शब्द रखने से पुरुषसूक्त का आशय स्पष्टरूप से ध्यान में आ सकता है। इस पुरुषसूक्तमें सबकी एकता अति स्पष्ट रीतिसे दर्शायी है।

सप्त मर्यादा ।



(सप्त अस्य परिधयः । मं० १५) ये सात मर्यादाएं इस सत्य सनातन यज्ञ की हैं। हमारे प्रत्येक कृत्यका, प्रत्येक कर्म का संबंध इन सात मर्यादाओंसे सदा आता है, इसलिए हरएक साधक को इनका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये।

प्रत्येक साधक अपने कर्म का इन सात क्षेत्रों में होनेवाला परिणाम देखे और उतनी जिम्मेवारीके साथ अपना कर्म करे। यज्ञविधिके अनुसार प्रमाद न करते हुए जो कार्य होंगे, वे ही इन सातों परिधियों में हितकारी सिद्ध होंगे।

यज्ञ से यज्ञ का यजन करना चाहिये । **(यज्ञेन यज्ञं अयजन्त ।** मं० १६) मूलतः सब यज्ञसाधन एक कैसे हैं, यह पूर्वस्थलमें दर्शा दिया है। **(प्रथमानि धर्माणि)** ये यज्ञविधिहि मुख्य हैं। सात परिधी का ज्ञान प्राप्त करना और सर्वभाव से यज्ञ करना यह श्रेष्ठ यज्ञ-सिद्धि का साधन है। और इसी प्रकार के यज्ञ से **(नाकं सचन्त)** स्वर्गधाम की प्राप्ति होती है।

पुरुषसूक्त का यह आशय है। इस दृष्टि से जो पाठक इस पुरुषसूक्तका मनन करते रहेंगे, और इस तरह से अपना सब जीवन यज्ञरूप बनावेंगे, वेही कृतकृत्य होंगे।

इसके आगे **उत्तर नारायण** ऋषि के छः मन्त्र है, उनका विवरण अब करते हैं।

उत्तरनारायण ऋषिः । देवता-आदित्यः । त्रिष्टुप्; २०, २१ अनुष्टुप् ॥

अ॒द्भ्यः संभृ॑तः पृथि॒व्यै रसा॑च्च वि॒श्वक॑र्मणः॒ सम॑वर्त॒ताग्रे॑ । तस्य॒ त्वष्टा॑ वि॒दध॑द्रू॒पमे॑ति॒ तन्मर्त्य॑स्य दे॒वत्वमा॒जान॒मग्रे॑ ॥१७॥

पदानि— अ॒द्भ्यऽइत्य॒त्ऽभ्यः । सम्भृ॑त॒ऽइति॒ सम्ऽभृ॑तः । पृ॒थि॒व्यै । रसा॑त् । च॒ । वि॒श्वक॑र्मण॒ऽइति॑ वि॒श्वऽक॑र्मणः । सम् । अ॒व॒र्त॒त॒ । अग्रे॑ । तस्य॑ । त्वष्टा॑ । वि॒दध॒दिति॑ वि॒ऽदध॑त् । रू॒पम् । ए॒ति॒ । तत् । मर्त्य॑स्य । दे॒व॒त्वमिति॑ दे॒व॒ऽत्वम् । आ॒जान॒मित्या॒ऽजान॑म् । अग्रे॑ ॥१७॥

अन्वयः— अद्भ्यः (रसः) संभृतः । (तस्मात्) रसात् पृथिव्यै अग्रे विश्वकर्मणः समवर्तत । तस्य रूपं विदधत् त्वष्टा अग्रे एति । तत् मर्त्यस्य आजानं देवत्वम् ॥१७॥

अर्थ— (अग्रे) सबसे प्रथम (अद्भ्यः) जलों से सारभूत रस (सं-भृतः) इकट्ठा हुआ। उस (रसात्) सारभूत अंशसे (पृथिव्यै) पृथ्वी की रचनाके लिए (विश्व-कर्मणः) विश्वकर्माके नियमसे (सं अव-र्तत) सम्यक् मीलन हुआ, पोषण प्राप्त हुआ।

(तस्य रूपं) उसका रूप (विदधत्) धारण करता हुआ (त्वष्टा) रूपोंका निर्माता देव (अग्रे एति) आगे चलता है। (तत्) वही (मर्त्यस्य) मरणधर्मा मनुष्य का (आजानं देवत्वं) श्रेष्ठ देवत्व है॥१७॥

भावार्थ-- जलों का सारभूत अंश इकठ्ठा होता है, वही पृथ्वीमें संग्रहित होकर सबकी पुष्टि करता है। ये सब अटल नियम विश्वकी रचना करनेवाले ईश्वरने बनाये हैं। इस पृथ्वी-जलके संयोगसे अथवा पृथिव्यादि पञ्चभूतोंके संयोगसे सब को रूप देनेवाले ईश्वरने सब पदार्थों के रूप बनाये हैं। इसीसे यह विश्वरूपवान् हुआ है। पञ्चमहाभूतों के संमेलन में परमेश्वर की रचनाकुशलता मिलकर यह विश्वका रूप हुआ है। यह ज्ञान प्राप्त करनेसे मनुष्यको श्रेष्ठ देवत्व की प्राप्ति होती है। अर्थात् इस ज्ञानसे मनुष्य सर्वत्र परमेश्वर की शक्ति देखता है और सर्वत्र प्रभुको प्राप्त कर मर्त्य का देव होता है।

मर्त्यको देवत्वकी प्राप्ति का हेतु इस मंत्रमें जो बताया है, वह यह है कि, वह पञ्चमहाभूतों में परमेश्वरकी कुशलताका प्रभाव देखे, और प्रभुकी सर्वत्र उपस्थिति जाने।

मन्त्रस्थ पदोंका अर्थ।

१. **रसः=** सारभूत अंश।

२. **विश्वकर्मा=** विश्वका निर्माता। सब कर्म करनेवाला।

३. **त्वष्टा=** रूप बनानेवाला कारीगर। विश्वकी रचना करनेवाला। कारीगर।

४. **आजानं=** श्रेष्ठ, उच्च। ज्ञानमूलक श्रेष्ठता।

(अग्रे) In the beginning, the essence (संभृतः) was collected (अद्भ्यः रसात्) from the waters, by the wonderful process (विश्वकर्मणः) of the Creator of the Universe. (सं अवर्तत) It was revolved (पृथिव्यै) for the benefit of the earth. (विदधत्) Shaping (तस्य रूपं) its form there of, (त्वष्टा) the Maker of forms (अग्रे एति) proceeds further, (तत्) that is (मर्त्यस्य) the mortal's (आजानं) higher (देवत्वं) Godliness.

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्। तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥१८॥

पदानि- वेद। अहम्। एतम्। पुरुषम्। महान्तम्। आदित्यवर्णमित्यादित्यऽवर्णम्। तमसः। परस्तात्। तम्। एव। विदित्वा। अति। मृत्युम्। एति। न। अन्यः। पन्थाः। विद्यते। अयनाय ॥१८॥

अन्वयः- एतं महान्तं आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् पुरुषं अहं वेद। तं एव विदित्वा मृत्युं अति एति। अयनाय अन्यः पन्थाः न विद्यते ॥१८॥

अर्थ-- (एतं) इस (महान्तं आदित्यवर्णं) बडे सूर्य के समान तेजस्वी और (तमसः परस्तात्) अन्धकारसे सदा परे रहनेवाले (पुरुषं) परमात्मा को (अहं वेद) मैं जानता हूं। (तं एव विदित्वा) उसही को जानकर साधक (मृत्युं अति एति) मृत्यु के परे पहुंचता है। इस (अयनाय) गति के लिये (अन्यः पन्थाः) दूसरा मार्ग (न विद्यते) नहीं है॥१८॥

भावार्थ-- सूर्य के सदृश तेजस्वी और जिसके पास अन्धेरा रह नहीं सकता, ऐसे परमात्मा को पूर्वोक्त स्वरूपमें जाननेसेहि साधक अमर होता है। इस साधनाके लिए दूसरा कोई मार्ग नहीं।

परमात्माका एक अंश इस विश्वके रूपमें प्रकट होता है, सब मानवजाति, सब प्राणी तथा सब अन्य विश्व यह सब उसके उसी एक अल्प अंशके रूप हैं। परमात्माका शेष अमृतस्वरूप बहुत बडा है, पर विश्वरूपही साधकोंसे सेवा लेनेके लिए यहां प्रकट हुआ है। इस विश्वरूपमें साधक भी संमिलित हैं। परमात्मा की कारीगरीका प्रत्यय विश्वके हरएक स्थान आता है। उसको जानना, तथा अनन्य भावसे उसकी सेवा करनाही एकमात्र अमरत्वप्राप्तिका साधन है। मुक्तिका कोई दूसरा उपाय नहीं है।

स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा) की हिंदी पुस्तकें।

	मू.	डा०व्य०
१ ऋग्वेद-संहिता	५)	१।
२ यजुर्वेद-संहिता	२)	॥)
३ सामवेद	३)	॥)
४ अथर्ववेद	३)	॥)
महाभारत आदिपर्व	६)	१।)
,, सभापर्व	२॥)	॥)
संस्कृतपाठमाला।	६॥)	।॥=)
वै. यज्ञसंस्था भाग १	१)	।)
अथर्ववेदका सुबोध भाष्य।		
१ प्रथम काण्ड सजिल्द	२)	॥)
२ द्वितीय काण्ड ,,	२)	॥)
३ तृतीय काण्ड ,,	२)	॥)
४ चतुर्थ काण्ड ,,	२)	॥)
५ पंचम काण्ड ,,	२)	॥)
६ षष्ठ काण्ड ,,	२)	॥)
७ सप्तम काण्ड ,,	२)	॥)
८ अष्टम काण्ड ,,	२)	॥)
९ नवम काण्ड ,,	२)	॥)
१० दशम काण्ड ,,	२)	॥)
११ एकादश काण्ड ,,	२)	॥)
१२ द्वादश काण्ड ,,	२)	॥)
१३ त्रयोदश काण्ड ,,	१)	॥)
१४ चतुर्दश काण्ड ,,	१)	॥)
१५ १५ से १८ तक ४ काण्ड	२॥)	॥)
छूत और अछूत	१॥।)	॥)
भगवद्गीता (पुरुषार्थबोधिनी)	९)	१॥)
महाभारतसमालोचना। (१-२)	२)	॥)
वेदस्वयंशिक्षक भा. १-२	३)	॥)
योगसाधनमाला।		
१ संध्योपासना।	१॥)	।-)
२ योगके आसन। (सचित्र)	२)	।≡)
३ ब्रह्मचर्य।	१)	।-)
४ योगसाधनकी तैयारी।	।॥)	=)
यजु. अ. ३६ शांतिका उपाय	॥=)	≡)
शतपथबोधामृत	।)	-)

देवतापरिचय-ग्रंथमाला।		
१ रुद्रदेवतापरिचय	॥)	=)
२ ऋग्वेदमें रुद्रदेवता	॥=)	=)
३ देवताविचार	≡)	-)
४ अग्निविद्या	१॥)	-)
बालकधर्मशिक्षा।		
१ प्रथम भाग।	-)	-)
२ द्वितीय भाग	=)	-)
३ वैदिक पाठमाला। प्रथम पुस्तक	≡)	-)
आगमनिबंधमाला।		
१ वैदिक राज्यपद्धति।	।-)	-)
२ मानवी आयुष्य।	।)	-)
३ वैदिक सभ्यता।	।॥)	≡)
४ वैदिक चिकित्साशास्त्र	।=)	-)
५ वैदिक स्वराज्यकी महिमा	॥)	=)
६ वैदिक सर्पविद्या।	॥)	=)
७ मृत्युको दूर करनेका उपाय।	॥)	=)
८ शिवसंकल्पका विजय।	॥)	=)
९ वेदमें चर्खा।	॥)	=)
१० वैदिक धर्मकी विशेषता	॥)	=)
११ तर्कसे वेदका अर्थ	॥)	=)
१२ वेदमें रोगजंतुशास्त्र	≡)	-)
१३ वेदमें लोहेके कारखाने	।-)	-)
१४ वेदमें कृषिविद्या	≡)	।-)
१५ ब्रह्मचर्यका विघ्न	=)	-)
१६ इंद्रशक्तिका विकास	॥)	=)
उपनिषद्-माला। १ ईशोपनिषद्	१)	।-)
२ केन उपनिषद्	१।)	।-)
१ वैदिक अध्यात्मविद्या	॥)	=)
२ गीता-लेखमाला १ से ७ भाग	५॥)	१॥)
३ गीता-समीक्षा	=)	-)
४ यज्ञोपवीत-संस्काररहस्य	१॥)	॥)
५ भगवद्गीता (प्रथम भाग) (मायानन्दी भाष्य)	१)	।-)
६ भक्तके भगवान्	॥)	=)
७ वेदोक्त प्रजननशास्त्र	।॥)	-)

Regd. No. B. 1463

मुद्रक और प्रकाशक— व० श्री० सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध

151402

